ॐ आनन्दमय

ॐ शान्तिमय

परम पूज्य महाराज कृत

गीताभाष्य

श्रीकृष्णायन

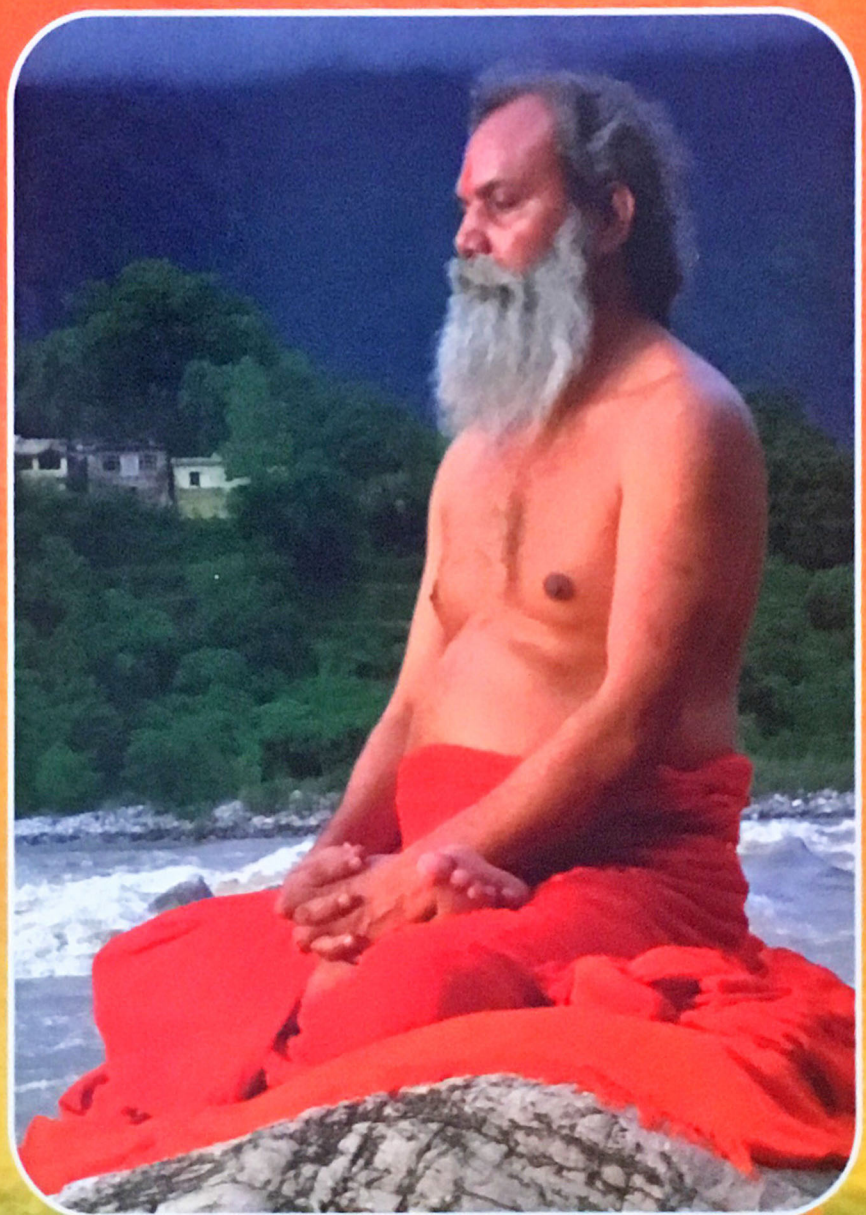

श्री भागीरथी धाम
गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), पौड़ी, उत्तराखण्ड, हिमालय, पिन-२४९३०४

श्री भागीरथी धाम
हरिपुरकला, प्रेम बिहार चौक, हरिद्वार, उत्तराखण्ड, पिन-२४९२०५

प्रथम संस्करण ४१००
मार्गशीर्ष, मोक्षदा एकादशी
श्री गीता जयन्ती, सम्वत् २०६६
सन् २८ नवम्बर २००९

द्वितीय संस्करण २१००
महाशिवरात्रि, सम्वत् २०६९
सन् १० मार्च २०१३

© सर्वाधिकार सुरक्षित —

श्री भागीरथी धाम समिति
श्री भागीरथी धाम
गंगा लाईन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पौड़ी
उत्तराखण्ड, हिमालय, पिन-२४९३०४

कम्प्यूटर — रजत कम्प्यूटर
१/४६४९/१००-बी, गली नं० ४, न्यू मॉडर्न शाहदरा, शाहदरा, दिल्ली-३२
९८११५७४६६९, ८४४७५३१३५७

मुद्रक —

प्रस्तावना

युग बीत जाता है किन्तु उसकी कहानी शेष रह जाती है। उसकी कहानी प्रभु अवतार की कहानी के साथ-साथ ऋषि-मुनियों, मानव-दानव, देव-पितरों, यक्ष, भूत-प्रेतों, गन्धर्व, किन्नर, नागों, पशु-पक्षियों तथा कीट आदि सबसे गायी जाती है; किन्तु उन कहानियों को हम सबके बीच प्रकाशित करने वाले होते हैं एकमात्र ऋषि-महर्षि। यद्यपि आगम-निगम, पुराण, उपनिषद्, स्मृतियों तथा रामायण आदि सद्ग्रन्थों, मन्त्रों के कर्ता तो मात्र सर्वव्यापक भगवान ही हैं किन्तु उन मंत्रों के द्रष्टा तो ऋषि-महर्षि ही हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में हुए सप्तर्षियों के साथ-साथ महर्षि व्यास, वाल्मीकि, जैमिनी हों या आधुनिक युग के ऋषि-महर्षि भगवत् भक्त तुलसीदास, एकनाथ, तुकाराम, मीरा, नानक आदि हों- ये सभी मंत्रद्रष्टा ही हैं। इन्हीं ऋषि-महर्षियों में हम समस्त भक्तगण परम पूज्य गुरुदेव महाराजजी को देख रहे हैं, जिन्होंने ब्रह्म विद्यामयी श्रीमद्भगवद्गीता को अपने हृदय में पुनः भगवान नारायण को गाते हुए देखकर वैसे ही काव्य का रूप दिया है जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस अर्थात् रामायण को। इस ब्रह्मविद्या 'श्रीकृष्णायन' में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवं अर्जुन की वार्ता के साथ-साथ अन्य दिव्य गाथाओं के माध्यम से जितना स्पष्टीकरण किया गया है वह देखते ही बनता है। भगवान श्रीकृष्ण के मुख से प्रकट होने से ही इसका नाम 'श्रीकृष्णायन' पड़ा है। इसमें श्रीरामचरितमानस की परम्परा में ही छन्द, सोरठा, दोहा एवं चौपाइयों के माध्यम से विषय की प्रस्तुति की गयी है, जिनका हम सुगमता से गान कर सकते हैं। हाँ, समय को देखते हुए इसके प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में सरल-सुबोध संस्कृत पदों के द्वारा भगवान का स्तवन किया गया है जिसे हमसब हिन्दी पदों की तरह सुगमता से ताल-मात्राओं के साथ गा सकते हैं। श्रीमहाराजजी का कहना है कि यह विश्व का पहला ग्रन्थ है जिसमें विषाद को भी योग की संज्ञा दी गयी है जैसा कि 'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः' से स्पष्ट है। ऐसा क्यों न हो, क्योंकि भक्त अर्जुन द्वारा भगवान के पास रोना-धोना भी ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का कारण बन जाता है। अतः हम सबका भी विषाद एकमात्र प्रभु के चरणों में ही प्रकट हो इसके लिए परम पूज्य महाराजजी ने महात्मा अर्जुन के माध्यम से सुगम रास्ता बताया है।

दूसरा अध्याय भी भक्त अर्जुन जैसे शिष्य के आक्षेप से प्रारम्भ हो रहा है किन्तु उसका समाधान भगवान के द्वारा व्यंग्यात्मक बाणों का प्रहार करके किया जा रहा है; जहाँ सद्गुरु अपने शिष्य को कितना प्रताड़ित कर सकता है यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

इतना ही नहीं जब भगवान ने महात्मा अर्जुन को दीक्षित करना प्रारम्भ किया है तो पूज्यश्री ने उस दीक्षांत समारोह में हम जैसे दीन-हीन भक्तों के साथ-साथ सन्तों-साधकों, देवता, गन्धर्व, किन्नरों, पशु-पक्षियों तक को आमंत्रित किया है।

चौपाई— सुनहु सकल भगतहु सुर बृंदा। साधक सिध सुचि संत मुनिंदा॥
बैष्णव सैव साक्त सब सुनहू। मेरो कथन मनहिं निज गुनहू॥
पार्थ लहहिं दिक्षा प्रभु पाहीं। देउँ निमंत्रण उत्सव माहीं॥
आवहु सुनि सब मोर निहोरा। पुरवहु आइ मनोरथ मोरा॥
यह आमंत्रण एक न मेरो। गुडाकेस अर्जुन प्रभु केरो॥
समारोह यह दिब्य अनूपा। आये जहँ सगरे नर भूपा॥
कौरव सहित नाग नर देवा। दिक्षोत्सव महँ लावहिं सेवा॥
प्रभु पारथ हितकर जग भारो। दोउ आवाहन करत तुम्हारो॥

सोरठा— आवहु अस जिय जानि निज आतम कल्यान हित।
महामंत्र सुनि मानि सहजहि भवसागर तरहु॥

अब आप सब उन मंत्रों को भी देखें जिनसे प्रभु ने अपने परम प्रिय शिष्य को दीक्षित किया है-

छंद— जेहि भाँति अहई बस्त्र तन पर जेहि समय पर छोड़ई।
तेहि भाँति यह तन बस्त्र सम सच जीव नित जेहि ओढ़ई॥

सिसु सों युवा महँ अरु युवा सों बृद्ध महँ जो जावई।
पुनि बृद्ध सों मृत्यू मरण सों जन्म गहि पुनि आवई॥
पर जीव जो रह बचपना महँ सो जवानी महँ रहै।
जो रह जवानी महँ बुढ़ापा माँहिं सोई रह कहै॥
जो रह बुढ़ापा माहिं सोई मृत्यु महँ सच बासई।
जो मृत्यु महँ रह पुनर्जन्महिं सोइ नित्यहिं भासई॥
क्योंकै अहइ सो अज अमर सास्वत सनातन अब्ययम्।
घट घट बसइ अबिनासि सो अरु नित पुरातन सुखमयम्॥
अस आज सों गुरु के कहे निज रूप देह न मानऊँ।
बस आतमा जीवातमा अरु अंतरातम जानऊँ॥

उत्तम अधिकारी के लिए पहले ज्ञान है फिर कर्म- इस तत्त्व को पैनीदृष्टि के द्वारा दिव्य गाथाओं के माध्यम से इस अध्याय में परोसा गया है। 'राजमाता लीलावती ने राजभवन में ही घोर जप-तप करके माँ सरस्वती से वरदान प्राप्त कर अपने पति राजा पद्म को मृत्यु से जीवित करके उन्हें भगवती सरस्वती से कैसे ब्रह्मज्ञान दिलाया' यह सब देख गृहस्थाश्रम भी एक योगभूमि ही है- ऐसा प्रतीत होता है। पुनः माँ कुन्ती द्वारा संदेश रूप में भेजे गये 'वीर क्षत्राणी माँ विदुला और उसके पुत्र संजय के संवाद' की भगवान द्वारा महात्मा अर्जुन के सम्मुख की गयी प्रस्तुति अपूर्व है।

तीसरा अध्याय भी भक्त अर्जुन के प्रश्न से प्रारम्भ हो रहा है जिसे पूज्यश्री ने प्रश्न करने की आदर्श परम्परा नहीं बतायी। उस सन्दर्भ को एक आदर्शवान शिष्य को सद्गुरु के पास कैसे उठाना चाहिए इसके लिए पूज्यश्री ने जो विधि दी है उसके लिए हम सब कृतज्ञ हैं। इस अध्याय में भगवान नारायण का कहना है कि जिस प्रकार भगवान श्रीराम ने भगवती शबरी के पास नवधा भक्ति की बात की है उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने महात्मा अर्जुन से कहा है कि जिसके पास १२ प्रकार के यज्ञों में से एक भी यज्ञ नहीं है उसे इस लोक में ही शान्ति नहीं मिलेगी तो परलोक में क्या मिलेगी? अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम सद्गुरु की शरण में जाय फिर वे जैसा कहें वैसा करता जाय।

अध्याय चार तक दयानिधि भगवान की बात महात्मा अर्जुन को मिली-जुली ही लगी। वे इसका निर्णय नहीं कर पाये कि ज्ञानयोग और कर्मयोग में कौन श्रेष्ठ है। अतः पाँचवें अध्याय में गुरु के पास रहने वाले एक ब्रह्मचारी के द्वन्द्वमय चित्त को महाराजजी ने उजागर किया है जिससे इसका निर्णय सहज ही हो जाता है। इतना ही नहीं मुनिजनों द्वारा देवर्षि नारद के पास यह पूछना कि 'संन्यास का अधिकारी कौन है,' और इसके समाधानार्थ ब्रह्माजी के पास देवर्षि कृत निवेदन के पश्चात् उनके द्वारा प्राप्त उत्तर को देखने से इसका रहस्योद्घाटन भलीभाँति हो जाता है। इस अध्याय में परम पूज्य ने एक अत्यन्त अनुपम कहानी दी है, वह है भक्त गौतमी, व्याध, सर्प एवं काल आदि के सम्वाद की, जिसके द्वारा संसार में दोषदृष्टि हो ही नहीं सकती।

हम भक्त क्या जानें ध्यान-ज्ञान-विज्ञान को, किन्तु परम-पूज्यगुरुदेव महाराज ने छठे अध्याय के ध्यानयोग का जो वर्णन किया है उससे तो लगता है कि किसी भी भक्त में यदि थोड़ी-सी भी श्रद्धा है तो ध्यान में बैठ सकता है। इतना ही नहीं बल्कि महात्मा अर्जुन तो जानते ही नहीं हैं कि वे संन्यासी की गिनती में आते हैं और बहुधा ऐसा ही होता है कि गृहस्थ भक्त अपने पर विश्वास नहीं कर पाता। अरे! जब राजा जनक को याज्ञवल्क्य जैसा सद्गुरु मिल गया तो उन्हें सभी विदेहराज कहने लगे फिर हम सब भी उनके जैसे क्यों नहीं हो सकते? इस अध्याय में भगवान ने स्पष्ट किया है कि कब तक कर्म करना चाहिए और कब कर्मों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। महाराजजी ने ध्यानयोग को समझाते हुए उद्दालक ऋषि का चिंतन भी दिया है जो ध्यानयोग का आधार है। इतना ही नहीं इस अध्याय में किस क्रम से कब-कब ध्यान करते हुए समय को बढ़ाया जाता है इसे देखकर आप पायेंगे कि ध्यानयोग आपके लिए भी अत्यन्त सुगम है। प्रभु ने इसमें यह भी दिया है कि आप जन्म-जन्म के योगी ही हैं तभी आपका पुनः जप, तप, योग में मन लग रहा है।

सातवें अध्याय में परा एवं अपरा प्रकृति का व्यापक स्वरूप प्रकाशित कर महाराजजी ने आश्चर्य चकित कर दिया है। उसी प्रकार आठवें अध्याय में अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ की मधुर झाँकी के

साथ-साथ उत्तरायण एवं दक्षिणायन की अद्‌भुत झाँकी देखने को मिलेगी। नवम अध्याय में अशुभ भावों का स्वरूप देखकर तो हम सब अवाक् रह जायेंगे। वैसे ही आगे के अध्यायों में भी परम पूज्य महाराजजी ने भगवान नारायण एवं महात्मा अर्जुन के गूढ़ सम्वाद को आध्यात्मिक गाथाओं एवं अलौकिक झाँकियों के माध्यम से सुस्पष्ट किया है, जो सहज ही हृदयंगम हो जाता है।

पन्द्रहवें अध्याय में लोक-लोकान्तरों का स्वरूप देखकर हम सबका मन ठगा रह जाता है। सुना जाता है कि केवल तीन लोक एवं चौदह भुवन ही हैं, किन्तु इस अध्याय में आप पायेंगे कि समस्त योनियों के जीव भी एक-एक लोक ही हैं। इन्हीं दिव्य अनुभूतियों के लिये श्रीमहाराजजी ने सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी प्रकृति के लोगों का साथ छोड़कर सत्रहवें अध्यायानुसार यज्ञ-दान और तप आदि करने की महत्ता को प्रकाशित किया है। अठारहवें अध्याय में उपसंहार करते हुए पूज्यश्री ने भगवान के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि किसी भी कर्म के पूर्ण होने में पाँच कारण कहे गये हैं। इस प्रकार ब्रह्म की प्रकृति से भिन्न कोई भी कर्ता नहीं है। अन्तिम चरण में साधकों को आध्यात्म प्राप्ति हेतु यथार्थ मार्ग का बोध कराते हुए परम पूज्य महाराजजी ने भगवान के द्वारा महात्मा अर्जुन के उद्धार की सत्य प्रतिज्ञा को प्रकाशित कर मानवमात्र को यह संदेश दिया है कि यदि आप भी भक्त अर्जुन जैसे बनें तो आपके उद्धार के लिये भी यही सत्य एवं दृढ़ प्रतिज्ञा है। जहाँ दया के सागर भगवान की प्रतिज्ञा सुनते ही महात्मा अर्जुन दिव्य स्तवन से प्रभु की स्तुति करके यह कहते हुए कि 'अब मुझे आत्मस्वरूप की स्मृति प्राप्त हो गयी', गाण्डीव उठा लेते हैं। फिर तो क्या! ध्वजा पर आसीन भक्तप्रवर हनुमान, नभमण्डल स्थित ऋषि-महर्षि, देवतागण, गन्धर्व, किन्नर आदि अति प्रसन्न और महर्षि व्यास बारम्बार समाधिस्थ हो जाते हैं। इन सभी लक्षणों को देखकर भक्त संजय धृतराष्ट्र के पास बोल पड़ते हैं- हे राजन्!

छंद— का बहुत अब राजन कहउँ जिहिं पक्ष हरि योगेस्वरः।
मतिमान सरनागत भगत जहँ पार्थ श्रेष्ठ धनुर्धरः॥
तहँही बिजय श्री भूति नीतिहु अचल रह निस्चित लखौं।
यासों न अधिक लखाय मोहिं जासों नृपति इतनोइँ भखौं॥

तो आयें हमसब परम पूज्य महाराजजी के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम करके इस ब्रह्मविद्यामय 'श्रीकृष्णायन' में नित्य गोते लगाते हुए अशुभ जगत से अपना उद्धार कर लें।

आपके परम कल्याण के आकांक्षी

परम पूज्य महाराजजी के भक्तगण

सम्माननीय

माताओं, पिताओं एवं प्रिय भाई-बहनों, बेटे-बेटियों

प्रभु कृपा से 'श्रीकृष्णायन' के दूसरे संस्करण का मुद्रण कराने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। मैं साठ वर्ष की उम्र तक भौतिक जीवन (सामाजिक जीवन) जीता रहा। कुछ वर्ष पहले महाराजजी ने मेरे हाथ में 'महाराजभाष्य' (गद्यात्मक गीताभाष्य) एवं 'श्रीकृष्णायन' (पद्यात्मक गीताभाष्य) देकर इसका रोज पठन-पाठन एवं मनन-चिन्तन करने को कहा। मैं आप सबसे सच कहता हूँ कि जब मैंने इन दोनों ही ग्रन्थों का स्वाध्याय किया तो आध्यात्मिक जीवन का पता चला। फिर तो क्या जैसे भौतिक विषयों के रसिकों को उपन्यास पकड़े रहता है वैसे ही इन दोनों ग्रन्थों ने मुझे अच्छी प्रकार पकड़ लिया और गृहस्थाश्रम में भगवान का होकर दिव्य जीवन जीने की कुशलता देने लगा। अब तो मुझे जो दिव्य शान्ति और संतोष की प्राप्ति हुई है वह आप सबको प्राप्त हो। इसके लिए मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे ऐसी कृपा करें जिससे आप सबके हाथों में ये दोनों ग्रन्थ आ जायँ। मैं स्वयं महाराजजी से कहता रहता हूँ कि मुझे मुक्ति नहीं चाहिये बल्कि एक बार और मनुष्य रूप में जन्म चाहिये जिसमें आजीवन बाल ब्रह्मचारी रहते हुये इन दोनों ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार करता रहूँ। पुन: मैं आप सबसे बारम्बार प्रार्थना करता हूँ कि इन दोनों ग्रन्थों को एकबार अवश्य पढ़ लें, फिर तो मुझे विश्वास है कि आप सबका ये ही दोनों ग्रन्थ जीवन बन जायेंगे।

मुझे विश्वास है कि प्रभु ने जैसे कृपा करके मेरे स्वार्थ एवं परमार्थ को पूरा किया है वैसे ही आप सबकी पूरा करेंगे। आप सबको प्रणाम एवं प्यार।

आप सबका
संसार चन्द्र गुप्ता
श्री भागीरथी सदन
३२-ए, पूजा विहार, अम्बाला कैंट
हरियाणा, पिन-१३३००१

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

अथ प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण, गुरु, भगवान कृष्ण एवं श्रीगणेशादि की वन्दना १
महाराजजी को गुरुदेव द्वारा गीता पाठ करने की आज्ञा देना तथा गीताजी की महिमा १०
आर्यभूमि का माहात्म्य एवं यहाँ जन्म लेने वालों की महत्ता २७
राजा धृतराष्ट्र का युद्ध विषयक प्रश्न तथा भक्त शूर-वीरों आनन्दकन्द की शंख-ध्वनि से दिव्य मंत्रों के प्राकट्य का कथन ४२
भगवान नारायण का महात्मा अर्जुन की प्रार्थना पर रथ को आगे बढ़ाना एवं उस दिव्य झाँकी का शोभा वर्णन ४५
मोह से व्याप्त अर्जुन की शोकाकुल स्थिति का वर्णन ४९
एक दिव्य पुरुष के स्वरूप का वर्णन ६८

अथ द्वितीयोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ७२
भगवान का महात्मा अर्जुन को धिक्कारना एवं उनके बारह नामों द्वारा उनका उत्साह वर्धन ७३
भगवान द्वारा विदेश एवं अपने घर-गाँव जाने वाले पतित संन्यासियों की निन्दा करते हुए भक्त अर्जुन के स्वधर्म त्याग पर डाँट-फटकार लगाना ७८
भगवान राम की पितृ-भक्ति और श्रीकृष्ण की गुरु-भक्ति का उदाहरण देकर अर्जुन द्वारा युद्ध न करने का निर्णय ८०
भक्त अर्जुन का भगवान से शिष्यत्व एवं ज्ञान की याचना करना तथा भगवान के द्वारा ब्रह्मविद्या गायन प्रारम्भ ८९
यथार्थ पाण्डित्य निरूपण एवं पुण्य और पावन की कथा १०४
आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर एवं राजा सेनजित् की कथा १२०
सत्-असत् वस्तु विवेचन के अन्तर्गत महर्षि वसिष्ठ, भगवान श्रीराम का प्रसंग एवं अष्टावक्र, उषस्त तथा कहोल का संवाद १३३
भक्त अर्जुन के दीक्षोत्सव समारोह में महाराजजी द्वारा मनुष्य से देवगण पर्यन्त सभी का आमंत्रण १५१
विभिन्न संशयों के परिहार के संदर्भ में राजा पद्म एवं लीला की कथा १६९
क्षत्रिय धर्म निरूपण के अन्तर्गत वीर क्षत्राणी माँ विदुला एवं पुत्र संजय की कथा १९४
कर्मयोग का उपदेश १९९
स्थितप्रज्ञ के लक्षण, जड़भरत की कथा और सनत्कुमार एवं मुनिवर नारद संवाद २२९
मोहरूपी रात्रि एवं ज्ञानरूपी दिन का विवेचन २५२
ज्ञानमय पुरुष के स्वरूप का वर्णन २५७

अथ तृतीयोऽध्यायः

मङ्गलाचरण २६०

भक्त अर्जुन का भगवान से ज्ञान एवं कर्म के विषय में निश्चित श्रेय मार्ग बताने का निवेदन २६०
भाग्य और कर्म का विशद विवेचन..... २७२
समस्त कर्मों को यज्ञ भाव से करने का उपदेश एवं विश्वयज्ञ के अन्तर्गत चराचर प्राणी–पदार्थ की अन्नरूपता का वर्णन २८३
समरयज्ञ के अन्तर्गत राजर्षि अम्बरीष एवं देवराज इन्द्र का सम्वाद..... २९४
स्वधर्म पालन के अन्तर्गत शंख, लिखित और धर्मव्याध तथा विप्र कौशिक की कथा २९८
दो पाखण्डी पतियों की कथा..... ३०८
प्रकृति एवं गुणों के स्वरूप का निरूपण ३१२
काम के स्वरूप का निरूपण..... ३२४
काम गीता ३३१
एक अलौकिक पुरुष की झाँकी ३३४

अथ चतुर्थोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ३३५
भगवान का स्वयं को सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म सिद्ध करना..... ३३७
भगवान का अपना भजन करने वाले के प्रति स्वयं द्वारा उसको उसी प्रकार भजने का कथन..... ३५०
गुण कर्म विभागानुसार वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन..... ३५४
कर्म, अकर्म और विकर्म का विवेचन ३५८
कर्मफल का स्वरूप एवं उसके त्याग का निर्देश ३६५
विविध प्रकार के यज्ञों के स्वरूप का विवेचन ३७४
ज्ञानयज्ञ के स्वरूप वर्णन के अन्तर्गत ब्राह्मण दम्पती संवाद एवं ज्ञान की सात भूमिकाओं का निरूपण ३९१

अथ पञ्चमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ३९४
सांख्य एवं कर्मयोग की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में अर्जुन का प्रश्न तथा भगवान के द्वारा दोनों के फल के एकत्व का निरूपण ३९४
संन्यास अधिकार के अन्तर्गत भगवान ऋषभदेव की संन्यासचर्या का विवेचन..... ३९९
संसार में कर्ता कौन है– इस सम्बन्ध में भक्त माँ गौतमी की कथा ४०१
कामरूपी वृक्ष के सम्बन्ध में शिव–पार्वती संवाद ४०५

अथ षष्ठोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ४०८
संन्यास तत्त्व का निरूपण तथा आत्म उद्धार के लिए प्रेरणा..... ४०८
ध्यानयोग की विधि तथा उसका अधिकार निरूपण..... ४११
अहिंसादि व्रतों के साथ ब्रह्मचर्य के आठ अंगों का वर्णन ४२१
ध्यानयोग का विशद वर्णन..... ४२७
ध्यानयोग के अन्तर्गत उद्दालक मुनि का चिंतन ४३८
मन की चंचलता, उसका स्वरूप तथा मनोनिग्रह का साधन..... ४५०
योगभ्रष्ट पुरुष की दुर्गति का निषेध, शब्दब्रह्म का स्वरूप तथा उससे अतीत हुए योग की स्थिति.. ४५६
निष्काम कर्मयोगी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ४६०

अथ सप्तमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ४६५
श्रद्धा की महत्ता तथा अपरा एवं परा प्रकृति के स्वरूप का वर्णन ४६६
सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थों में कारणरूप से भगवान की व्यापकता का कथन ४७२
आकाशमंडल में देवताओं एवं इन्द्र का संवाद तथा भगवान नारायण की वन्दना ४७४
चार प्रकार के भक्तों के स्वरूप का वर्णन करते हुए ज्ञानी पुरुष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ४७७
भक्त के लिए अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ की प्राप्ति का कथन करते हुए भगवान का भक्त अर्जुन को संतुष्ट करना तथा भगवान की वन्दना ४८२

अथाष्टमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ४८५
ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के आठ प्रश्न एवं भगवान का उत्तर ४८५
अभ्यासयोग के द्वारा परमब्रह्म की उपासना करते हुए अन्तकाल में एक अक्षर ॐकार का चिंतन करते हुए ब्रह्म प्राप्ति का कथन ४९२
ऋषिपुत्र नचिकेता की कथा के माध्यम से ॐकार की ब्रह्मरूपता का निरूपण ४९८
समस्त लोकों को पुनरावर्ती बतलाना तथा भगवत्प्राप्ति से पुनर्जन्म का निषेध ५०१
शुक्ल एवं कृष्णमार्ग का वर्णन ५०४
सर्वत्र ब्रह्मदर्शी योगी के लिए पुण्य फलों के अतिक्रमण का निरूपण ५०९

अथ नवमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ५१३
सद्गुरु का स्वरूप एवं भक्त अर्जुन की क्षमाशीलता ५१३
अशुभ भाव का विवेचन ५१६
राजयोग की महिमा ५२१
राजयोग प्राप्ति में सद्गुरु की अनिवार्यता तथा देवता, गंधर्व एवं किन्नरों के संवाद द्वारा पुष्टि ५२४
भगवान नारायण द्वारा महात्मा अर्जुन को राजयोग प्रदान करना ५२९
शिखिध्वज एवं चूडाला का उपाख्यान ५३८
प्रभु विमुख मनुष्यों पर माया का प्रभाव ५५१
साधकों के प्रति वीतहव्य मुनि का चिंतन ५५४
राजयोग द्वारा होने वाले फल की प्राप्ति ५७४
अनन्य चिंतन का स्वरूप एवं वैसे भक्तों के प्रति भगवान की योगक्षेम वहन करने की प्रतिज्ञा तथा दो साधकों का दृष्टांत ५७८
विभिन्न उपासनाओं की समीक्षा से राजयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ५८७
पत्र, पुष्प, फल आदि के विषय में शिव-पार्वती संवाद ५९०
देहाभिमानी ही सर्वश्रेष्ठ पापी है- इसका निरूपण ५९४
महाराजजी के द्वारा मानवमात्र को आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु प्रोत्साहन ५९६

अथ दशमोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ६००

भक्त अर्जुन एवं देवता, सिद्ध, मुनियों द्वारा भगवान की महत् उदारता को देखकर अपने सौभाग्य की सराहना करना तथा भगवान द्वारा अपनी ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन ६००
साधकों के प्रमादरहित होने तथा प्रभु की प्रार्थना करने की विधि ६०४
भगवान के द्वारा अपनी मुख्य विभूतियों का वर्णन, महाराज जनक की सभा में मुनिवर शाकल्य एवं याज्ञवल्क्य संवाद के अन्तर्गत द्वादश आदित्यों, ग्रह-अतिग्रह आदि का कथन ६०५
कामधेनु का प्राकट्य, गोमाता (देशी गो) की विशेषता एवं गो सेवा का माहात्म्य ६०९
जपयज्ञ की विधि, उसका माहात्म्य एवं पीपल वृक्ष की महिमा ६१३
मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के संदर्भ में भगवान शंकर एवं माता पार्वती का संवाद..... ६१७
शक्तियों के रूप में भगवान की विभूतियों का वर्णन ६२१

अथैकादशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ६२५
विश्वरूप के दर्शन हेतु भक्त अर्जुन की प्रार्थना तथा भगवान के द्वारा विश्वरूप दिखाना ६२७
विश्वरूप को देखकर भक्त अर्जुन का भयभीत होना..... ६३०
विश्वरूप भगवान की देवता, सिद्धों तथा महात्मा अर्जुन द्वारा की गई प्रार्थना ६३३
भयभीत अर्जुन द्वारा भगवान से पूर्व रूप में प्रकट होने की प्रार्थना..... ६३७
भगवान के द्वारा अनन्य भक्ति के द्वारा ही विश्वरूप दर्शन प्राप्ति का कथन ६४०

अथ द्वादशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ६४१
भगवद्दर्शन से कृतार्थ अर्जुन का साकार और निराकार उपासकों की उत्तमता के विषय में प्रश्न तथा भगवान का उत्तर ६४१
भगवान द्वारा शरणागत भक्तों के उद्धार की प्रतिज्ञा करते हुए साधना के चार घेरे बताना..... ६४४
संन्यासी के गुणों और व्रतों का वर्णन तथा तितिक्षु ब्राह्मण की कथा ६५१
एक अमृतमय दिव्य देव पुरुष का वर्णन..... ६६१

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ६६४
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विषय तथा शिव-पार्वती का संवाद ६६५
हृदयरूपी क्षेत्र में बोने योग्य पारमार्थिक बीजों का निरूपण..... ६६८
अव्यभिचारिणी भक्ति की व्याख्या ६७२
ब्रह्म के सत्य-असत्य से परे होने का स्पष्टीकरण..... ६७५
संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति समझाते हुए समग्र जगत की ब्रह्मरूपता का निरूपण..... ६७७
परमात्मा और आत्मा की एकता का प्रतिपादन ६८५
साधकों के प्रति सर्वत्र आत्मदर्शन का उपदेश ६९०

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ६९३
प्रकृति-पुरुष के संयोग से सर्वभूतों की उत्पत्ति का कथन..... ६९५
तीनों गुणों द्वारा जीवात्मा के बाँधे जाने का कथन तथा इस विषय में सौभरि आदि ऋषियों का दृष्टांत ... ६९७

सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषों की गति का वर्णन ७०६
ब्रह्माजी के द्वारा तीनों गुणों के कार्य का कथन ७०८
गुणातीत पुरुष के सन्दर्भ में महात्मा अर्जुन का प्रश्न एवं भगवान का उत्तर..... ७१३
गुणों के प्रकरण में महाराजजी का चिन्तन ७१८

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ७२५
संसार को पीपल वृक्ष सदृश बताते हुए गुरु के शरणागत होकर अनासक्ति रूपी शस्त्र से उसके छेदन का कथन..... ७२६
संसाररूपी पीपल वृक्ष की व्यापकता का वर्णन ७३०
ब्रह्म की सर्वव्यापकता ७३९
विषयों की प्रीति ही पुनर्जन्म का हेतु है– इस संदर्भ में ऋषि पिप्पलाद, आश्वलायन एवं सौर्यायणी मुनि का संवाद ७४०
लोकोपाख्यान ७४४
पुरुषोपाख्यान का निरूपण करते हुए ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन ७५२

अथ षोडशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ७६०
सिद्धों एवं देवताओं द्वारा भगवान का स्तवन..... ७६०
दैवी एवं आसुरी सम्पदा का निरूपण..... ७६१
राजर्षि जनदेव एवं महर्षि पंचशिख का संवाद ७६८
विधि–निषेध के निर्णय में शास्त्र की प्रमाणिकता ७७५

अथ सप्तदशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ७७७
श्रद्धा विषयक प्रश्न एवं भगवान का उत्तर ७७७
कालचक्र का वर्णन ७८२
आहार, यज्ञ, तप एवं दान की तीनों गुणों के अनुसार व्याख्या ७८३
ॐ, तत्, सत् की विशद व्याख्या ७८६

अथाष्टादशोऽध्यायः

मङ्गलाचरण ७९३
संन्यास और त्याग का रहस्य..... ७९५
कर्म के पञ्च हेतुओं का निरूपण ७९९
कर्म–प्रेरणा एवं कर्म–संग्रह का स्वरूप..... ८०५
वर्ण–धर्म के अनुसार स्वधर्म निरूपण..... ८११
स्वधर्म पालन के सम्बन्ध में एक साधक का दृष्टांत..... ८१३
संन्यासयोग द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्ति का कथन..... ८१७
संन्यास धर्म के सन्दर्भ में देवर्षि नारद एवं पितामह ब्रह्मा का संवाद ८२२
पराभक्ति का स्वरूप निरूपण ८२४

शिव–पार्वती संवाद के अन्तर्गत निषिद्ध कर्म का गूढ़ार्थ ८२५
भगवान नारायण के सम्मुख महात्मा अर्जुन का निरुत्तर होना ८२८
प्रभु द्वारा भक्त अर्जुन से मन माँगते हुए सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर अपने शरणागत होने की आज्ञा देना ८३०
गीतोपदेश प्राप्ति का अधिकार निरूपण ८३३
मोहमुक्त भक्त अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति करते हुए गाण्डीव उठाना ८३५
श्रीकृष्णायन माहात्म्य ८४१
श्रीकृष्णायनजी की आरती ८४३
दीक्षा मंत्र ८४४
मनः प्रबोधः ८४५
प्रार्थना ८४६
स्वरूपं दर्शनं ८४७
सम्पुट पाठ के लिए चौपाइयाँ ८४८

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

अध्याय सूची

अध्याय		*पृष्ठ संख्या*	*अध्याय*		*पृष्ठ संख्या*
प्रथमोऽध्यायः	.....	०१	दशमोऽध्यायः	.....	६००
द्वितीयोऽध्यायः	.....	७२	एकादशोऽध्यायः	.....	६२५
तृतीयोऽध्यायः	.....	२६०	द्वादशोऽध्यायः	.....	६४१
चतुर्थोऽध्यायः	.....	३३५	त्रयोदशोऽध्यायः	.....	६६४
पञ्चमोऽध्यायः	.....	३९४	चतुर्दशोऽध्यायः	.....	६९३
षष्ठोऽध्यायः	.....	४०८	पञ्चदशोऽध्यायः	.....	७२५
सप्तमोऽध्यायः	.....	४६५	षोडशोऽध्यायः	.....	७७०
अष्टमोऽध्यायः	.....	४८५	सप्तदशोऽध्यायः	.....	७७७
नवमोऽध्यायः	.....	५१३	अष्टादशोऽध्यायः	.....	७९३

नवाह्नपारायण के विश्राम - स्थान

पहला विश्राम	.....	९३	छठा विश्राम	.....	५५१
दूसरा ''	.....	१८४	सातवाँ ''	.....	६५०
तीसरा ''	.....	२७६	आठवाँ ''	.....	७४३
चौथा ''	.....	३७३	नवाँ ''	.....	८४२
पाँचवाँ ''	.....	४५७			

मासपारायण के विश्राम - स्थान

पहला विश्राम	.....	३०	सोलहवाँ विश्राम	.....	४४३
दूसरा ''	.....	५५	सत्रहवाँ ''	.....	४६४
तीसरा ''	.....	८४	अठारहवाँ ''	.....	४९३
चौथा ''	.....	११२	उन्नीसवाँ ''	.....	५२१
पाँचवाँ ''	.....	१४०	बीसवाँ ''	.....	५५१
छठा ''	.....	१६७	इक्कीसवाँ ''	.....	५८०
सातवाँ ''	.....	१९२	बाईसवाँ ''	.....	६०९
आठवाँ ''	.....	२२४	तेईसवाँ ''	.....	६४०
नवाँ ''	.....	२५१	चौबीसवाँ ''	.....	६६९
दसवाँ ''	.....	२७६	पचीसवाँ ''	.....	६९९
ग्यारहवाँ ''	.....	३०६	छब्बीसवाँ ''	.....	७२४
बारहवाँ ''	.....	३३४	सत्ताईसवाँ ''	.....	७५९
तेरहवाँ ''	.....	३५८	अट्ठाईसवाँ ''	.....	७९२
चौदहवाँ ''	.....	३९३	उनतीसवाँ ''	.....	८१७
पंद्रहवाँ ''	.....	४१५	तीसवाँ ''	.....	८४२

पुरश्चरण विधि

स्वाध्याय के साथ ज्ञानयज्ञ करने वाले साधकों के लिए विशेष अनुष्ठान की बात आध्यात्मिक ग्रन्थों में की गयी है। जिस प्रकार ध्यानयोगी आसन में बैठकर दिन-रात यौगिक क्रियाओं को सम्पन्न करता है उसी प्रकार ज्ञानयोगी दिन भर स्वाध्याय करता है और रात्रि में सोने के पूर्व तक स्वाध्याय किये हुए विषयों पर वैसे ही चिंतन करता है जैसे पशु चारा खाकर जुगाली करता है। ऐसे साधक का कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम यह संकल्प करे कि जब तक तन, मन, वचन एवं हृदय अत्यन्त निर्मल नहीं हो जाएँगे तब तक इस स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ को नहीं छोड़ूँगा। इस संकल्पानुसार रात्रि तीन बजे ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्याग कर चार बजे तक नित्य क्रिया (शौच, स्नानादि) करने के उपरान्त आधा घंटा प्राणायाम, आधा घंटा ध्यान करे, पुनः आधा घंटा से एक घंटा जप या आत्मचिन्तन के साथ योगासन करे। उसके उपरान्त एक घंटा टहलकर स्वाध्याय में बैठ जाय। लगभग सात या साढ़े सात बजे से साढ़े ग्यारह बजे तक स्वाध्याय (पाठ) करके स्नान करे। पुनः बारह बजे से एक बजे के बीच आधा घंटा ध्यान करे तथा हल्का शाक या फल आदि पाकर दो बजे से पाँच-छः बजे तक स्वाध्याय करे, उसके उपरान्त एक घंटा टहलकर स्नानोपरान्त आधा-एक घंटा ध्यान करे। रात्रि को पूरा भोजन पाकर दो-तीन घंटा आत्मचिन्तन करके सो जाय.....।

स्वाध्याय के समय जब बैठे-बैठे थक जाय तो खड़े होकर, टहलकर पुनः बैठकर उसे करे। सद्गुरु का सानिध्य है तो उनसे सत्संग के लिए कम से कम एक-डेढ़ घंटा समय निकाले। अभ्यास हो जाने पर दिन का आहार समाप्त हो जायेगा तथा रात्रि में आधा पेट में सन्तुष्टि हो जायेगी। इसी क्रम से जब स्वाध्याय करते-करते अपने आप ध्यान प्रकट होने लगेगा तब भोजन और नींद दोनों ही बहुत कम हो जायेंगे। उस अवस्था में सद्गुरु जैसा कहें वैसा करें।

ध्यान रहे कि विधिवत् आसन लगाकर स्वाध्याय करने पर कुछ दिनों-महीनों के उपरान्त सहज ही ध्यान प्रकट होने लगेगा। उस अवस्था में आप ध्यान तबतक करें जबतक अपने-आप ध्यान टूट न जाय। जैसे-जैसे ध्यान बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे स्वाध्याय कम होता जायेगा। इस प्रकार के यज्ञ में दिनभर का तो संकल्प करना चाहिए किन्तु इतना 'दोहा करूँगा' ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वाध्याय किया ही जाता है ध्यान के लिए, ध्यान प्रकट होता है आत्मचिन्तन के लिए, आत्मचिन्तन प्रकट होता है संशय-भ्रम का नाश करने के लिए और संशय-भ्रम का नाश होता है सदा आत्मस्वरूप में स्थित रहने के लिए।

इस प्रकार यह 'श्रीकृष्णायन' सद्गुरु कृपा से आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए हर तरह से सामर्थ्यवान है।

ॐ

शंखं दध्मौ प्रभु अद्य इदृशम्॥
स्तब्धोऽभवन् पाण्डुपुत्राः वीरा नभे स्थिता देव सन्ताः धीरा।
स्तब्धोऽभवन् च धृतराष्ट्र संजय कमलासनस्थ ब्रह्माणमीशम्॥
स्तब्धोऽभवन् तस्य लिखितं मुनि व्यास सर्वस्यातिष्ठन् स्वासः प्रस्वासः।
स्तब्धोऽभवन् लोकलोकाः सर्वाः दृष्ट्वा गिराज्ञान गोतीतमीशम्॥
स्तब्धोऽभवन् मूढ दूर्योधनश्च विकर्णः महाशूर कुरुवृद्ध भीष्मः।
स्तब्धोऽभवन् कृप आचार्यद्रोणः शिविरे स्थितं च महावीर कर्णम्॥
स्तब्धोऽभवन् राज दृष्ट्वा महाराज करयोः शंखं शिरे च किरीटं।
पीताम्बरं च धरं स्यंदने यः शरणं गमित्वा नमामीशमीशम्॥

प्रभु ने आज इस प्रकार शंख बजाया कि पाण्डुपुत्रों सहित सभी धीर-वीर, आकाशमण्डल में स्थित देवता और संत (सिद्धगण) स्तब्ध हो गये। राजा धृतराष्ट्र, बुद्धिमान संजय तथा कमल के आसन पर विराजमान ब्रह्माजी एवं भगवान शंकर भी स्तब्ध हो गये। इस शंख ध्वनि को सुनकर गीताजी की रचना करने वाले महर्षि व्यास भी स्तब्ध हो गये, सबके श्वास-प्रश्वास थम से गये। वाणी तथा [इन्द्रियों के] ज्ञान से परे ब्रह्म के इस स्वरूप का दर्शन कर [एवं उनके द्वारा की गयी शंख ध्वनि सुनकर] सभी लोक तथा उसके वासी भी स्तब्ध हो गये। आचार्य द्रोण, कुलगुरु कृपाचार्य, शिविर में बैठा वीर कर्ण, मूर्ख दुर्योधन, महान योद्धा विकर्ण, कुरुवृद्ध पितामह भीष्म भी स्तब्ध हो गये। युद्ध भूमि में उपस्थित सभी राजा-महाराजा, पीताम्बर पहने, सिर पर मुकुट धारण किये हाथ में लिये शंख को मधुर होठों से लगाये [अर्जुन के] रथ पर [सारथि रूप में] विराजमान भगवान की इस दिव्य छवि को स्तब्ध हो देखते रह गये। महाराज परमब्रह्म की इस अलौकिक सगुण छवि को देखते हुये उनकी शरण में जाकर चरणों में बारम्बार प्रणाम करता है।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

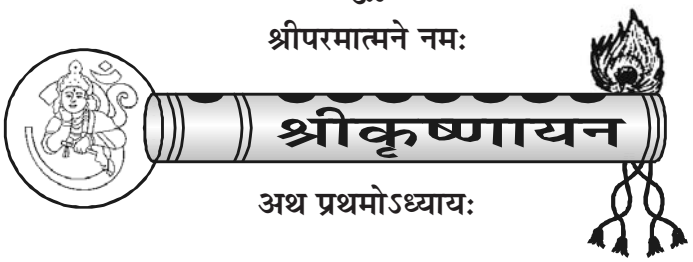

अथ प्रथमोऽध्यायः

हरिं स्मरामि हरिं स्मरामि हरिं स्मरामि हरिं स्मरामि॥
येन सर्वः भवति येन सर्वं भवति येन सर्वःचरति येन सर्वं चरति।
तेन सर्वतः नमामि तस्य सर्वतः नमामि तेन सर्वतः नमामि तस्य सर्वतः नमामि॥
येन पश्यन्ति सर्वे वदन्ति जन्तवः येन सर्वे कुर्वन्ति क्रीडन्ति जन्तवः।
तेन प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि तस्य प्रणमामि प्रणमामि प्रणमामि॥
येन अन्तरिक्ष वायु स्फुरन्ति सर्वदा येन वह्नि नीर वसुधा वहन्ति सर्वदा।
तेन शरणं गमामि शरणं गमामि तस्य शरणं गमामि शरणं गमामि॥
येन ब्रह्मा सृजति पालति विष्णुदेव शिव संहरति यस्मिन् वसति सर्व देव।
तेन आह्वामि आह्वामि आह्वामि तस्य आह्वामि आह्वामि आह्वामि॥
येन मुनिजन ध्यायन्ति गायन्ति सर्वदा तस्य रूपं अरूपं चरन्ति सर्वदा।
तेन तस्मिन् महाराज रमति सर्वदा अतः स्मरामि हरिं स्मरामि॥

मैं नित्य ही परम प्रभु परमात्मा का स्मरण कर रहा हूँ जिनके द्वारा समस्त चराचर जगत प्रकट होकर व्यवहार करता है। मैं उन्हीं की कृपा द्वारा सब ओर से उन्हीं की प्राप्ति के लिए उन्हीं को नमस्कार कर रहा हूँ। इतना ही नहीं जिनकी सत्ता से सारे जगत के प्राणी देखते, बोलते तथा समस्त क्रियाएँ एवं व्यवहार करते हैं [मानो सारे देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतंग आदि क्रीड़ा कर रहे हों,] मैं सदा उनके द्वारा ही उनकी प्रसन्नता के लिए उन्हीं को प्रणाम करने में समर्थ हो रहा हूँ। जिस सच्चिदानन्द भगवान के द्वारा नित्य ही आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी आदि भी प्रकट होकर सदा अपने-अपने नियत कर्म में लगे हुए हैं, मैं उन्हीं परम प्रभु की शरण को उनके लिए ही स्वीकार कर रहा हूँ। जिनके द्वारा प्रकट होकर भगवान ब्रह्मा सृष्टि का सृजन, भगवान विष्णु पालन और भगवान शंकर संहार करते हैं तथा समस्त देवगण जिनमें वास करते हैं, मैं उन्हीं प्रभु का उनके द्वारा उनके लिए ही बारम्बार आवाहन कर रहा हूँ। जिन प्रभु के द्वारा उन्हीं की प्राप्ति के लिए मुनिजन उन्हीं के निर्गुण एवं सगुण रूप का सदा ध्यान करते हैं तथा उन्हीं के गुणों का गायन करते हुए सदा विचरण करते हैं, उन्हीं परब्रह्म परमात्मा में महाराज सदा-सर्वदा उन्हीं का स्मरण करते हुए रमण करता है।

दोहा— ब्रह्म बिरज अज होइ नित प्रगट बिस्वरुप जोइ।
भये तेइ मम सदगुरू बंदउँ तिन्हि पद दोइ॥ (क)॥

जो परमब्रह्म परमात्मा निर्विकार, अजन्मा एवं नित्य हैं तथा जो विश्वरूप में भी प्रकट हुए हैं, वे ही मेरे सद्गुरु बने हुए हैं, जिनके युगल चरणों की मैं वन्दना करता हूँ।

पतित उधारन प्रभु बिरद सदगुरु रूप लखाय।
सगुन भये जो अगुन सों नमन करउँ गुन गाय॥ (ख)॥

पतितों का उद्धार करना ही जिन प्रभु का सुयश (स्वभाव) है, जो मेरे लिए निर्गुण से सगुणरूप होकर सद्गुरु के रूप में प्रकट हुए; मैं उनके दिव्य गुणों का गायन करते हुए उनकी वन्दना करता हूँ।

जो सदगुरु सिव बिष्णु अज करिवर बदन महान।
अरु प्रगटत गहि सुरन्ह बपु बंदउँ तिन्हि भगवान॥ (ग)॥

जो सद्गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं देवताओं में अग्रगण्य भगवान गणेश तथा अन्य देवताओं का भी रूप

धारण कर प्रकट होते हैं, मैं उन गुरुदेव भगवान की वन्दना करता हूँ।

जो सदगुरु बागीस्वरी लक्ष्मी दुर्गा रूप।
गहि प्रगटत सुर संत हित बंदउँ अलख अरूप॥ (घ)॥

जो सद्गुरु सरस्वती, लक्ष्मी एवं दुर्गा का रूप धारण कर देवताओं एवं सन्तों के हितार्थ प्रकट होते हैं, उनके अलख एवं निराकार स्वरूप की मैं वन्दना करता हूँ।

चौपाई— जिननैं जग सों मोहिं निकारी। बंदउँ उन्ह मम माया मारी॥
जिननैं निज सुत सम मोहिं देखी। पालि पोषि किये कृपा बिसेषी॥

जिन गुरुदेव ने संसार सागर से निकालकर मुझे मोह-माया से रहित कर दिया, जिन्होंने अपने पुत्र के समान समझकर मेरा पालन-पोषण करके मुझपर विशेष कृपा की, [मैं उन गुरुदेव की वन्दना करता हूँ]।

भलो बुरो माप्या नहिं मोखो। बंदउँ उन्ह गुरु कीन्हीं चोखो॥
प्रथमहिं निरखि ब्रह्मपद दीन्हें। बंदउँ तिन्ह गुरु अपुनो कीन्हें॥

जिन्होंने मैं भला हूँ या बुरा, इसका आकलन करके देखा ही नहीं बल्कि अत्यन्त पावन बना दिया, उन गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ। प्रथम बार देखते ही जिन्होंने मुझे ब्रह्मपद देकर अपना बना लिया, मैं उन गुरुदेव की वन्दना करता हूँ।

जग सों कहे न अवगुन मेरो। बंदउँ तिन्हिं प्रगटे गुन ढेरो॥
कृष्णायन हित निमित बनाये। बंदउँ जिन्हके मंत्र सुहाये॥

जिन्होंने मेरे अवगुणों को जगत में प्रकट न करके केवल सद्गुणों को ही प्रकट किया तथा 'कृष्णायन' के लिए मुझे निमित्त बनाया एवं जिनके सिद्धान्त अत्यन्त दिव्य हैं, ऐसे गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ।

जिन्ह बिनु तरइ न कोउ भव सागर। जदपि होय सिव अज सम नागर॥
जासु बिरद गावहिं जग साधक। बंदउँ जो सबके अवराधक॥

जिनके बिना कोई भवसागर पार नहीं कर सकता, भले ही वह शिव और ब्रह्मा के समान अत्यन्त दक्ष ही क्यों न हो, जिनकी विरदावली (सुयश) जगत के सारे साधक गाया करते हैं तथा जो सबकी सुध-बुध लेने वाले हैं, ऐसे गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ।

जो प्रभु गुरु महँ मानहिं भेदा। तिन्ह प्रति मम उर तनिक न खेदा॥
पर जब लगि यह भेद न जावे। तब लगि ब्रह्मज्ञान नहिं पावे॥

जो भगवान एवं सद्गुरु में भेद मानते हैं मेरे मन में उनके प्रति थोड़ा भी खेद नहीं होता किन्तु जब तक यह भेद नहीं मिटेगा तब तक कभी भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

बंदत चरन सरन तिन्ह आवउँ। मोह कलिल तारक जिन्ह गावउँ॥

मैं उन गुरुदेव के चरणों की वन्दना करते हुए उनकी शरण में आया हूँ जिन्हें मैं मोहरूपी कीचड़ से भक्तों का उद्धार करने वाला कहता हूँ।

दोहा— सदगुरु सबके मात पितु सुहृद हीत मित भाय।
आत्मरूप गहि बसत उर ध्यावत करत सहाय॥ १॥

यथार्थ में सद्गुरु ही सबके सुहृद, माता-पिता, हित-मित्र एवं भाई-बन्धु हैं और आत्मरूप होकर हृदय में वास कर रहे हैं जो स्मरण करते ही रक्षा करते हैं।

चौपाई— जय जय जय गुरुदेव दयानिधि। सरन तुम्हारिहिं होउँ सकल बिधि॥
जुग जुग सों तव चरननि चेरो। भयो सरन गुन गावत तेरो॥

हे दयानिधि गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! मैं सब प्रकार से आपकी शरण में आया हूँ! युगों-युगों से आपके चरणों का सेवक आपका गुणगान करते हुए आपकी शरण में आ गया है।

जय जय जय प्रभु सदगुरु मेरो। थोरी दृष्टि मोहिं दिसि फेरो॥
तव पद पंकज जग जिन्ह धारहिं। बिनु कारन भवसिंधु उबारहिं॥

हे मेरे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! आप अपनी थोड़ी-सी कृपादृष्टि मेरी ओर भी फेरें! [हे प्रभो!] आपके कमलवत् चरणों की जय हो जिन्होंने [अपने में ही] सम्पूर्ण जगत को धारण किया है और अकारण ही संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं।

जय तव नयन नलिन जन हेरी। तिहिं छन तेहि अघ देत निबेरी॥
जय कर कमल पकरि सरनागत। उर लावतहि ताप त्रय भागत॥

हे नाथ! आपके कमलवत् नेत्रों की जय हो, जो भक्त को देखते ही उसी समय उसके समस्त पापों का नाश कर देते हैं। हे जगत्पते! आपके कर-कमलों की जय हो जिनके द्वारा शरणागत भक्त को उठाकर हृदय से लगाते ही उसके त्रिविध ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) नष्ट हो जाते हैं।

जय उर सरसिज आसन धारहिं। होइ आतमा मोहिं पुकारहिं॥
जय गुरुदेव सदासिव रूपहिं। कृपा करन हित सब उर छूपहिं॥

हृदय-कमल पर दृढ़तापूर्वक आत्मरूप से आसीन होकर मुझे पुकारने वाले गुरुदेव! आप ही सदाशिव रूप होकर कृपा करने के लिए सबके हृदय में छिपे हुए हैं। अत: आपकी जय हो, जय हो, जय हो।

जय निर्गुन अरु सगुन निकेता। महाराज तव चरनन्हि चेता॥
निर्गुन होइ सगुन बपु धारत। महामोह घन पटल निबारत॥

हे दयानिधे! आपकी जय हो, जय हो! आप ही निर्गुण और सगुण रूप के धाम हैं, महाराज आपके चरणों [के प्रताप] से ही प्रबुद्ध हुआ है। आप निर्गुण होकर भी सगुण रूप धारण करते हैं और महामोह रूपी घनीभूत आवरण को दूर कर देते हैं।

दोहा— तव आज्ञा परिभाषऊँ भगवद्गीता आज।
यह साँची प्रभु बात तो सेवत सँवरे काज॥ २ (क)॥

हे नित्यानन्द! यदि यह बात सम्पूर्णतया सत्य है कि मैं आपकी आज्ञा से ही आज भगवद्गीता का यह भाष्य कर रहा हूँ तो जो इसका पठन-पाठन करें, उनके सारे कार्य सिद्ध हों-

बाल बृद्ध नर नारि कोउ जाति बरन कुल खोयँ।
पाठ करहिं तो सुर पितर हिय प्रसन्न अति होयँ॥ २ (ख)॥

और बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष अथवा कोई भी जाति, वर्ण, कुल का अभिमान त्यागकर इसका नित्य पाठ करे तो उसपर समस्त पितर और देवता हृदय से अति प्रसन्न हों।

देव दनुज प्रेतहु पितर ग्रह कृत बाधा जोयँ।
पाठ करत नित दाहिने अति प्रसन्न हिय होयँ॥ २ (ग)॥

हे शरणागत रक्षक! देवता, दानव, प्रेत, पितर एवं ग्रह आदि जीवन में जो भी बाधक हों, इसके नित्य पाठ करने से वे सभी हृदय से प्रसन्न होकर अपने अनुकूल हो जायँ।

छंद— भजु मन कह कृष्ण कृष्ण। भजु मन कह कृष्ण कृष्ण॥
खावत कह कृष्ण कृष्ण। पीवत कह कृष्ण कृष्ण॥

हे मन! 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए निरन्तर भगवान का भजन करो। खाते-पीते हुए भी 'कृष्ण' नाम लेते रहो-

सोवत कह कृष्ण कृष्ण। जागत कह कृष्ण कृष्ण॥
ऊठत कह कृष्ण कृष्ण। बइठत कह कृष्ण कृष्ण॥

इसी प्रकार सोते-जागते, उठते-बैठते 'कृष्ण' नाम कहते रहो।

बोलत कह कृष्ण कृष्ण। मौनत कह कृष्ण कृष्ण॥
रोवत कह कृष्ण कृष्ण। बिहँसत कह कृष्ण कृष्ण॥

हे मन! जब भी बोलो 'कृष्ण' नाम ही बोलो और जब मौन रहो तब भी 'कृष्ण' नाम लेते रहो। वैसे ही रोते तथा हँसते हुए भी 'कृष्ण' नाम कहते रहो।

धारत कह कृष्ण कृष्ण। छोरत कह कृष्ण कृष्ण॥
आवत कह कृष्ण कृष्ण। जावत कह कृष्ण कृष्ण॥

इतना ही नहीं, जब भी कुछ ग्रहण या त्याग करो उस समय तथा आते-जाते हुए भी निरन्तर भगवान के 'कृष्ण' नाम का स्मरण करते रहो।

छंद— भजु कृष्ण केसव क्लेसहर करुणानिधान जनार्दनम्।
जे कंस बंस बिध्वंसि केसी मुष्टि चाणुर मर्दनम्॥
सिसुपाल भाल बिदीर्ण करि नरराज बिच कर गर्जनम्।
महराज तेहिं बस नमत बहुबिधि असुरबंस निकंदनम्॥

हे मन! जो कृष्ण और केशव नाम से विख्यात हैं एवं जो समस्त दु:खों का हरण करने वाले, अनायास ही करुणा करने वाले, कंससहित उसके वंश का नाश करने वाले तथा केशी, मुष्टिक एवं चाणूर का मर्दन करने वाले जनार्दन भगवान श्यामसुन्दर हैं, उनका भजन करो। जिन्होंने राजाओं के बीच गर्जना करते हुए शिशुपाल के मस्तक को छिन्न-भिन्न कर दिया था, जो असुरवंश का नाश करने वाले हैं, महाराज अनेक प्रकार से केवल उन्हीं प्रभु को नमन करता है।

जहँ कृष्ण माधव मुरलिधर कहि भक्त मुनि अनुरागते।
गोबिंद हे गोपाल सुनि तहँ असुर दहुँ दिसि भागते॥
जे गोप गोपिन्ह बिदुर उद्धव भक्त चित्तहिं चोरई।
महराज तेहि बस नमत बहु बिधि जगत बंध जो छोरई॥

जहाँ भक्त एवं सन्त 'हे कृष्ण, हे माधव, हे मुरलीधर'- ऐसा कहते हुए प्रेममग्न हो जाते हैं वहीं 'हे गोविन्द, हे गोपाल' आदि नाम सुनते ही असुरगण दसों दिशाओं में भागने लगते हैं। जो गोप-गोपियों, विदुर, उद्धव आदि भक्तों के चित्त को चुराने वाले तथा सहज ही संसाररूपी बन्धन को काट देने वाले हैं, महाराज अनेक प्रकार से केवल उन्हीं प्रभु को नमस्कार करता है।

सिर मुकुट तन पीताम्बरी कर रास चाबुक राजहीं।
समरांगणे करि नृपन्हि बिस्मित पार्थ रथ बहु भ्राजहीं॥
अपलक लखत अति चकित चित सकुनीहु दुर्योधन असुर।
महराज तेहिं बस नमत बहु बिधि भक्त मुनि सँग सिद्ध सुर॥

जिनके सिर पर दिव्य मुकुट, तन पर पीताम्बर, हाथों में [घोड़े की] रास एवं चाबुक शोभा पा रहे हैं, जो युद्धभूमि में राजाओं को विस्मित करते हुए अर्जुन के रथ पर सुशोभित हैं, यहाँ तक कि शकुनि एवं दुर्योधन जैसे असुर भी अपलक उनकी छटा को आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं; महाराज भक्तों, सन्तों, सिद्धों एवं देवताओं के साथ विविध प्रकार से एकमात्र उन्हीं प्रभु को प्रणाम करता है।

सामहु सकुच अति हृदय प्रभु जस राग गीता गावतो।
मुनि ब्यास सिद्धहु ठिठुकि नभ जटजूट सीसहिं नावतो॥
जनु नवहिं कज्जल मेघ तहँ अस दिब्य सोभा बरसई।
महराज तेहिं बस नमत बहु बिधि पुलक तन मन हरषई॥

भगवान जैसी गीता गा रहे हैं उसे सुनकर सामवेद भी अपने हृदय में अत्यन्त लज्जित हो रहा है। उस समय ऋषिवर व्यास के साथ-साथ सभी सिद्ध क्षणभर के लिए स्तंम्भित हो रहे हैं। तत्पश्चात् अपने जटा-जूट युक्त मस्तक को झुकाकर आकाशमण्डल से प्रभु को नमस्कार कर रहे हैं तो वहाँ ऐसी दिव्य शोभा हो रही है मानो बहुत-से काले मेघ भगवान को झुककर प्रणाम कर रहे हों। महाराज पुलकित शरीर और हर्षित मन से उन्हीं प्रभु की वन्दना कर रहा है।

जब मातु जसुमति घालि पलने मधुर गीत सुनावतीं।
तब मातु देवकि बंदिगृह सों अंतरिक्ष निहारतीं॥

जब धाइ धरि उर हरिहिं लावतिं रूप निज बिसरावतीं।
महराज बस तेहि नमत बहु बिधि बंदि गृह सों पुकारतीं॥

जब माँ यशोदा भगवान को पालने में सुलाकर लोरी सुनाने लगती हैं तब [स्वत: ही] माँ देवकी कारागार से अन्तरिक्ष की ओर देखने लगती हैं। जब माँ यशोदा वात्सल्य में भरकर भगवान को [ओ! मेरे लाल!! कहते हुए दौड़कर] हृदय से लगाते हुए अपने स्वरूप को भूल जाती हैं तब कारागार से ही माँ देवकी 'आई मेरे लाल! आई.....!'- कहते हुए पुकारने लगती हैं। महाराज तो बस हर प्रकार से उन्हीं प्रभु को नमस्कार कर रहा है।

जब चलत धरि कर तर्जनी तब नंद उर न अघावतो।
बसुदेव लखि सो दृस्य तबहीं देवकी सन गावतो॥
सुनु देवकी अब तोर लाला चलन लाग्यो कर पकरि।
महराज तेहिं बस नमत जेहि गहि जायँ सब भवसिंधु तरि॥

भगवान जब नन्दबाबा की तर्जनी उँगली पकड़ कर चलने लगते हैं तो उनका (नन्दबाबा) हृदय प्रेम से अघाता नहीं है। महात्मा वसुदेव उस दृश्य को देखकर माँ देवकी से कहते हैं कि अरे देवकी! देवकी!! देखो, तुम्हारा लाला अब नन्दजी की अँगुली पकड़ कर चलने लगा है। भगवान के जिस बाल रूप का स्मरण कर भक्त भवसागर पार कर जाते हैं, महाराज बस हर प्रकार से उन्हीं प्रभु को प्रणाम कर रहा है।

अस युद्ध भूत भविष्य महँ नहिं देखियत सुनियत कहीं।
संग्राम हित जहँ स्वजन सब तहँ पार्थ गुनियत ब्रह्महीं॥
जहँ सगुन निर्गुन ब्रह्म कहँ सब कृष्ण कहि जु पुकारते।
महराज बस तेहिं नमत बहुबिधि सुमिरि जन्म सँवारते॥

ऐसा युद्ध अतीत में न कहीं देखने-सुनने में आया है, न भविष्य में आयेगा। जहाँ संग्राम के लिए सारे स्वजन ही तत्पर हैं, वहीं [उन्हीं में से] महात्मा अर्जुन ब्रह्मचिन्तन कर रहे हैं। जहाँ साक्षात् सगुण एवं निर्गुण निराकार ब्रह्म को सभी 'हे कृष्ण'- कहकर पुकार रहे हैं, वहीं भगवान के स्मरण से भक्त अपना जन्म सार्थक कर लेते हैं, महाराज तो बस हर प्रकार से उन्हीं प्रभु की अर्चना-वन्दना कर रहा है।

दोहा— कृष्ण कृष्ण कहु दिवस निसि स्वाँस न रीती जाय।
बिनु प्रयास सोइ रूप हिय आवत आपुहिं धाय॥ ३॥

जब दिन-रात 'कृष्ण-कृष्ण' का जप करते हुए एक भी श्वास खाली नहीं जाय, तब भगवान का स्वरूप बिना प्रयास हृदय में स्वत: ही प्रकट हो जाता है।

चौपाई— मातु देवकी पितु बसुदेवा। आज करउँ तिन्ह चरनन्हि सेवा॥
प्रकृति पुरुष सम जानउँ गानउँ। जगत मातु पितु इन्ह कहँ मानउँ॥

अब मैं भगवती माँ देवकी एवं पिता वसुदेव को ही प्रकृति एवं पुरुष के समान जगत का माता-पिता मानकर इनके चरणों की वन्दना करते हुए इनका गुणगान कर रहा हूँ।

जिनहिं कृष्ण कहि जग गुन गाये। जिनि निरगुनहिं सगुन करि लाये॥
जुग जुग जनमि प्रभुहिं अवराधे। द्वापर युग कंसहु अति बाधे॥

जिन्होंने [अपने प्रेम एवं समर्पण से] निर्गुण निराकार ब्रह्म को सगुण रूप में प्रकट होने के लिए विवश कर दिया, जिनका (उसी सगुण ब्रह्म का) सारा जगत 'कृष्ण-कृष्ण' पुकारते हुए गुणगान किया करता है, वे माता-पिता युग-युगान्तरों से जन्म लेकर भगवत् आराधना करते आये हैं किन्तु द्वापर युग में कंस ने उसमें अत्यन्त व्यवधान पहुँचाया।

जग हित सहि दुख हरि प्रगटाई। दिये जसोदा अंक दुकाई॥
बाल केलि सुख कछु नहिं लीन्हें। प्रभुहिं दोष तउ कबहुँ न दीन्हें॥

इन्होंने जगत-हितार्थ [घोर जप-तप आदि करते हुए] भारी कष्ट सहन किया और भगवान को प्रकट

करके [उनके लालन-पालन के लिए] माँ यशोदा की गोद में छिपा दिया। इस प्रकार बाललीला के सुख से सर्वथा वंचित रहने पर भी इन्होंने भगवान पर कभी भी दोषारोपण नहीं किया।

ऐसो त्याग कियो नहिं कोऊ। महाराज बंदत इन्हि दोऊ॥

[जगत में] ऐसा त्याग तो किसी ने किया ही नहीं, अत: महाराज इन त्यागमूर्तियों की वन्दना करता है।

छंद— अब नंद बाबा मातु जसुमति दैं सरन महराजहीं।
जिन्हि सुमिरि प्रगटै भाष्य गीता राज कछु ब्रजराजहीं॥
सिसु चरित प्रभु सब जब किये तब आँखि तुम्हरी देखतीं।
केहि जनम की किरिपा भई सौभाग्य अपुनों लेखतीं॥

अब बाबा नन्द एवं माँ यशोदा महाराज को शरणागति प्रदान करें [जिन्होंने भगवान के प्रकट होने में अपना प्राण-पण लगा दिया था] जिनका ध्यान करके महाराज भगवान ब्रजराज के कुछ रहस्यों को गीता-भाष्य के माध्यम से प्रकट करे। भगवान नारायण ने जब सम्पूर्ण बाललीला की तो उस समय आप दोनों सजल, प्रेम-विह्वल एवं वात्सल्यमय दृष्टि से उन्हें भलीभाँति देखते हुए विचार करते थे कि यह कृपा किस जन्म के पुण्यों के कारण हुई है। इस प्रकार बारम्बार अपने सौभाग्य की सराहना करते थे।

सिसु चरित जब जब भाष्य महँ यह लिखत अटकि भटकि पड़े।
तब आइ दोऊ मातु पितु एहि लेखनी कहँ कर खड़े॥
पुनि दिब्य चरित बुझाइ याको स्वयं धाम सिधारिहौ।
तुम्ह सुहृद बर महराज उर सच ज्ञान दीपहिं बारिहौ॥

अत: जब जब यह महाराज आपके पुत्र का बाल-चरित्र, भाष्य में लिखते समय अटक-भटक जाय तो [प्रार्थना है कि] आप दोनों आकर इसकी लेखनी का आलम्बन बन जाना और [भगवान की] उस दिव्य झाँकी को स्पष्ट करके भाष्य पूर्ण होने पर ही स्वधाम गमन करना। आप दोनों परम उदार हैं, अत: निश्चित ही महाराज के हृदय में [भगवद् चरित्ररूपी] ज्ञान-दीपक जलायेंगे।

ऋषि गर्ग पद पावन नमत यह नंद जसुमति सदगुरू।
जे नाम राखे कृष्ण प्रभु कर भगत दुख दारुन हरू॥
एहि नाम सों खिझि कंस अति कह परम ऋषिहिं बुलाइके।
क्यों नाम राख्यो कृष्ण सिसु कर दपटि अति हटकाइके॥

अब महाराज नन्दबाबा एवं माता यशोदा के सद्गुरु महर्षि गर्ग के श्री चरणों की वन्दना करता है, जिन्होंने [अपार हर्ष में निमग्न होकर] शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अवतरित होने पर उनका मधुरातिमधुर 'कृष्ण नाम' रखा, जो भक्तों के घोर क्लेश का हरण करने वाला है। कृष्ण नाम पर खीझकर कंस ने गर्ग ऋषि को [राजसभा में] बुलाकर अति रोषपूर्वक अपमानित करते हुए कठोर वचनों में कहा था कि आपने उस बालक का नाम ['क'- अक्षर से प्रारम्भ होने वाला] कृष्ण क्यों रखा? [क्या आप नहीं जानते थे कि मेरा भी नाम कंस 'क'- अक्षर से सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाला है?]

ब्रह्मर्षि तब उठि हटकि दपटी सिर भुजा झटकाइके।
तू श्रापहू के जोग नहिं कहि चलत पद पटकाइके॥
तब कंस कह चाणूर एहि मुनि बंदिगृह महँ डालि दै।
बसुदेव देवकि उग्रसेन समान बहुबिधि सालि दै॥

ऐसा सुनते ही ब्रह्मर्षि गर्ग अति रोषपूर्वक डाँटते-फटकारते हुए तथा सिर, हाथ आदि को झटकने की मुद्राओं से उसे अपमानित करते हुए यह कहकर पैर पटकते हुए चल पड़े कि 'अरे नीच! तू तो शाप का भी पात्र नहीं है।' तब उसने अत्यन्त विकल हो चाणूर से कहा कि इस ऋषि को बन्दीगृह में डाल दो और वसुदेव, देवकी एवं उग्रसेन के समान ही अनेक प्रकार से यातना दो।

चाणूर कह नहिं करनो अस राजन न करनो भूलिके।
नहिं करि सकत समता कबहुँ हम इनके पद की धूलिके॥
मुनि गाधि सुअन बसिष्ठ की सबहीं कहानी जानते।
नहिं ब्रह्मदंडहु टरि सक्यो बिभु सक्ति इनि पहिं मानते॥

चाणूर ने कहा- नहीं-नहीं राजन्! नहीं! ऐसा [दु:साहस] भूलकर भी मत करना; क्योंकि हम [लाख प्रयत्न करने पर भी] इनके चरणरज की कभी बराबरी नहीं कर सकते। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ एवं विश्वामित्र [के परस्पर युद्ध] की कथा सर्वविदित है कि [विश्वामित्र के] अथक प्रयत्न करने पर भी [ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का] ब्रह्मदण्ड टल न सका। ये सन्त ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न होते हैं- इस बात को सभी मानते हैं।

दोहा— जेहि सुमिरत असुरहु कँपहिं सूझ न उन्ह मग कोय।
महाराज तिन्हि प्रभु नमत जिनसों बर सुख होय॥ ४॥

जिनका स्मरण करने मात्र से असुरगण काँप उठते हैं और उन्हें [भागने के लिए] कोई मार्ग नहीं सूझता। महाराज [बस] उन प्रभु को नमस्कार करता है जिनसे परम सुख की प्राप्ति होती है।

चौपाई— आदि सक्ति बंदौं श्रीराधा। जासु सरन नासइ भव बाधा॥
जाहि बिना ब्रह्महु सच आधा। अरु तेहि जीवन बाधा बाधा॥

मैं आदिशक्ति भगवती श्रीराधा जी की वन्दना करता हूँ जिनकी शरण में जाते ही आवागमन नष्ट हो जाता है (जन्म-मरण रूपी महान भय से मुक्ति मिल जाती है) जिनके बिना यथार्थ में ब्रह्म भी आध-अधूरा ही है तथा उसका जीवन सूना-सूना है।

कृष्ण माहिं आकर्षण जोई। सत्य कहउँ श्रीराधा सोई॥
कृष्ण ब्रह्म तहँ राधा सक्ती। भेद न कछु जिमि ज्ञानहिं भक्ती॥

मैं सत्य कहता हूँ कि 'कृष्ण' नाम में जो आकर्षण की शक्ति है वह एकमात्र भगवती राधा ही हैं। जहाँ भगवान कृष्ण ब्रह्म हैं वहाँ भगवती राधा शक्ति हैं। इनमें वैसे ही भेद नहीं हैं जैसे ज्ञान और भक्ति में।

कृष्ण राधिका सीव सक्ति सम। भेद न तिन्ह महँ सिखा दीप्ति सम॥
राधा प्रकृति कृष्ण बिभु राजें। जिमि मति धृति एक रूप बिराजें॥

भगवान श्रीकृष्ण एवं भगवती राधा को ब्रह्म एवं शक्तिके समान जानना चाहिए। उनमें भेद वैसे ही नहीं है जैसे दीपक की लौ और उसके प्रकाश में। [अत: मैं कह रहा हूँ कि] भगवान श्रीकृष्ण निर्गुण ब्रह्म हैं तो भगवती राधा उनकी प्रकृति हैं। इन दोनों में भेद वैसे ही नहीं है जैसे बुद्धि और बुद्धि की धारणशक्ति धृति में।

कृष्ण बिस्वरुप राधा योनी। भेद न बीज बृक्ष सम होनी॥
सुरति राधिका जीव कृष्ण तहँ। भेद न अनल तेज सम इनमहँ॥

भगवान श्रीकृष्ण विश्वरूप ब्रह्म हैं तो भगवती राधा महत् योनि हैं। उनमें भेद वैसे ही नहीं है जैसे बीज ही वृक्ष बन जाता है। भगवान श्रीकृष्ण जीव बने हुए हैं तो भगवती राधा [जीव की] स्मृति बनी हैं उनमें भेद वैसे ही नहीं है जैसे अग्नि और उसके तेज में [भेद नहीं है]।

कृष्ण बुद्धि राधा मन रूपा। जिमि जल माहिं दिब्य रस छूपा॥
कृष्ण प्राण तन इंद्रीं राधे। दोउ बिना नहिं जग कछु साधे॥

भगवान श्रीकृष्ण बुद्धि हैं तो भगवती राधा मन बनकर उसमें वैसे ही छिप गयीं हैं जैसे जल में रस छिपा हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण प्राण हैं तो भगवती राधा शरीर एवं इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार इन दोनों के अभाव में जगत कुछ भी नहीं कर सकता।

कृष्ण अहहिं स्वर राधा ब्यंजन। इनि दोउन्ह सों कर जग रंजन॥
सब्द अरथ नहिं जस पृथकावें। राधे कृष्ण न तस बिलगावें॥

भगवान श्रीकृष्ण स्वर हैं तो भगवती राधा व्यंजन हैं। इन्हीं दोनों से संसार प्रसन्नता प्राप्त करता है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार भगवती राधा एवं भगवान श्रीकृष्ण को

[एक-दूसरे से] पृथक् नहीं किया जा सकता।

अस अभेद लखि बंदन करऊँ। इनहिं छाँड़ि चित अपर न धरऊँ॥

इन दोनों में ऐसी अभिन्नता देखकर मैं इनकी वन्दना कर रहा हूँ किसी अन्य को चित्त में धारण नहीं कर रहा हूँ।

छंद— हे आदिसक्ति दे भक्ति बरे। जग कृष्णायन सों राग करे॥
हे दुर्गा काली सरस्वती। तू छमा कृपा माँ धृती मती॥

हे आदिशक्ति माँ भगवती! ऐसी निर्मल भक्ति प्रदान करें, जिससे समस्त जगत 'कृष्णायन' से प्रेम करे। हे माँ! आप ही दुर्गा, काली तथा सरस्वती हैं। आप ही क्षमा, कृपा, धृति एवं मति हैं।

हे ब्रह्मसक्ति सिवसक्ती माँ। हे कृष्णायन अनुरक्ती माँ॥
हे पार्थ परम कल्यान करनि। भक्तन्ह हित माँ बहु रूप धरनि॥

हे ब्राह्मीशक्ति! हे माहेश्वरीशक्ति माँ! हे कृष्णायन में रमण करने वाली माँ! आप ही महात्मा अर्जुन का परम कल्याण करने वाली तथा भक्तों के हितार्थ अनेक रूप धारण करने वाली हैं।

जे काम क्रोध सम चंड मुंड। मद मोह महिष कर दमति रुंड॥
हे परमानंदिनि परम सक्ति। दै सब भक्तन्ह माँ बिमल भक्ति॥

हे काम-क्रोधरूपी चण्ड-मुण्ड तथा मद-मोहरूपी महिषासुर आदि भयंकर असुरों का मस्तक विदीर्ण करने वाली माँ! हे परमानन्द देने वाली परमशक्ति माँ! सभी भक्तों को अपनी विमल भक्ति देने की कृपा करें।

सोरठा— कृष्णायन बनु मातु महाराज उर निःसरू।
सो पुलकित मन गातु याहि भाष्य करि दै जगत॥ ५॥

हे माँ! कृष्णायन बनकर महाराज के हृदय से प्रकट होओ! जिससे वह पुलकित तन, मन से गीताभाष्य कर [कृष्णायन रूप में] जगत को समर्पित करे।

चौपाई— आदिदेव गणपति पद बंदउँ। इनकी सरन आइ आनंदउँ॥
जिन्ह बिनु जग्य पुरै कोउ नाहीं। सुर नर मुनि बंदत पद जाहीं॥

अब मैं आदिदेव भगवान श्रीगणेश के चरणों की वन्दना करता हूँ और इनकी शरण में आकर आनन्दित हो रहा हूँ; जिनके बिना [जगत में] कोई भी यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता, जिनकी देवता, मनुष्य एवं ऋषिगण आराधना किया करते हैं-

बिघन हरन सु सरन सुखदाता। जिन्ह बिनु सृष्टि न रचत बिधाता॥
चरन सरन सिव सिवा भवानी। बंदउँ जग कह अवढर दानी॥

जो समस्त विघ्नों का हरण करने वाले हैं, जिनकी शरणागति अत्यन्त सुख प्रदान करने वाली है, जिनके बिना भगवान ब्रह्मा भी सृष्टि रचना नहीं कर सकते। मैं अब भगवती पार्वती और जगत के द्वारा अवढर दानी कहे जाने वाले भगवान शिव के चरणों की शरण लेकर उनकी वन्दना करता हूँ।

चतुरानन बागीश्वरि साथा। बेद स्वरूपहिं नावउँ माथा॥
श्री समेत बिष्णू भगवानहिं। ध्यानउँ पग जिन्ह सब जग ध्यानहिं॥

अब मैं वेदस्वरूप चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ वाणी की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती को प्रणाम करता हूँ। पुनः भगवती लक्ष्मी के साथ भगवान श्रीहरि के श्रीचरणों का ध्यान करता हूँ जिनकी समस्त जगत आराधना करता है।

ते सब एक संग रन देखत। प्रभु महिमा निज भाग्यहिं लेखत॥
ब्रह्मज्ञान सुनि प्रभु मुख बानी। करत बिचार परस्पर ज्ञानी॥

ये सभी एक साथ युद्ध देख रहे हैं और अपने सौभाग्य की सराहना करते हुए प्रभु की महिमा का अनुभव कर रहे हैं। भगवान के श्रीमुख द्वारा निकली वाणी से ब्रह्मज्ञान सुनकर वे सभी ज्ञानी परस्पर विचार कर रहे हैं।

सोरठा— करैं कृपा हरषाइ गुरु आज्ञा पालन करउँ।
गीता भाषउँ धाइ कृष्णायन जग जेहि कहै॥ ६॥

वे हर्षित होकर मुझ पर कृपा करें जिससे मैं गुरु-आज्ञा का पालन करते हुए प्रेमपूर्वक गीताजी का भाष्य कर सकूँ जो जगत में 'कृष्णायन' नाम से विख्यात हो।

चौपाई— जगत बंद्य प्रभु श्रीहनुमाना। बंदउँ तुव पद कृपानिधाना॥
हे हनुमान अद्वितिय बीरा। आपु सरिस जग नहिं मतिधीरा॥

हे जगतपूज्य प्रभु श्री हनुमान! हे कृपानिधान! मैं आपके चरणों की वन्दना करता हूँ। हे बजरंगबली! जगत में आप अद्वितीय वीर हैं, आपके समान धैर्ययुक्त बुद्धिवाला कोई नहीं है।

प्रभु पद प्रीति बढ़ावन वारे। सेवक पाठ पढ़ावन हारे॥
पल महँ आवत भगत दुवारे। आपति बिपति मिटावत सारे॥

हे प्रभो! आप भगवान के चरणों में प्रीति उत्पन्न करने वाले एवं सेवक के आदर्श व्यवहार की शिक्षा देने वाले हैं। आप पल भर में भक्त के द्वार पर उपस्थित हो सारी आपत्ति-विपत्तियों का निवारण कर देते हैं।

ध्वजा बैठि धारहु प्रभु सेवा। करउ कृपा हे हनुमत देवा॥
महाराज बंदत पद तेरो। कृष्णायन पुरवावहु मेरो॥

हे [युद्धभूमि में महात्मा अर्जुन के रथ की] ध्वजा पर विराजमान होकर प्रभु की सेवा में रत भगवान महावीर! [मेरे ऊपर भी] कृपा करें। महाराज आपके चरणों की वन्दना करता है, अब आप मेरे 'कृष्णायन' को पूर्ण करायें।

आपु समान न कोउ तप धारी। सुर मुनि गावत महिमा भारी॥
प्रभु मारग भक्तन्हि गहि लावत। अस बर सुजस जगत सब गावत॥

आपके समान तो कोई तपस्वी है ही नहीं, देवता एवं ऋषिगण भी आपकी महती महिमा का गान करते रहते हैं। आप समस्त भक्तों को बरबस भगवान के मार्ग में लगा देते हैं, इसी से सभी आपके निर्मल यश का गुणगान करते हैं।

दोहा— महाबीर हे दयानिधि बंदउँ बारम्बार।
अब बिलम्ब नहिं करउ प्रभु हरउ सकल भुवि भार॥ ७॥

हे दया के सागर! हे महावीर! मैं आपकी बारम्बार वन्दना करता हूँ। अब आप देर न करें और वसुन्धरा के समस्त भार को दूर कर दें।

चौपाई— तुलसीदास आस महराजहिं। काब्य जगत बंदत कबिराजहिं॥
मारग सुगम देत कबिता को। सुभ सोपान किये सरिता को॥

मैं सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी की वन्दना करता हूँ जो इस भाष्य हेतु महाराज के लिए दिव्य आशा बनकर खड़े हैं, जिन कविराज की सम्पूर्ण काव्यजगत वन्दना करता है, जिन्होंने कविता का अत्यन्त सुगम मार्ग प्रदान किया है तथा कवितारूपी दिव्य नदी [में स्नान करने] के लिए दिव्य सोपानों (सीढ़ियों) को भी रचकर दिखाया है।

रामचरित मानस दिये सदगुरु। कहे पाँच दोहा नित उर धरु॥
तबसों रामचरित नित गाई। पायों ऐसी कला सुहाई॥

हे सज्जनो! सर्वप्रथम मेरे परम पूज्य गुरुदेव ने ही मुझे रामचरितमानस दिया और कहा- तुम नित्यप्रति पाँच दोहा पाठ करना। तभी से (तुलसीदासकृत) श्रीरामचरितमानस का गायन कर मैंने ऐसी दिव्य कला प्राप्त की,

उर प्रगटै दोहा चौपाई। छंद सोरठा अति मधुराई॥
एहि बिधि मैं कृष्णायन गावउँ। तेइ रिन सों तिन्ह सीस नवावउँ॥

जिससे हृदय द्वारा दिव्य दोहा, चौपाई, छन्द एवं सोरठा प्रकट होने लगे। इस प्रकार [इन्हीं के दिखाए हुए मार्ग से] दोहा आदि पदों के माध्यम से मैंने गीताजी (कृष्णायन) गाने का प्रयास किया है। इसी ऋण का आभार प्रकट करते हुए मैं इन्हें बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ।

पद गुरु सूर बिरहिणी मीरा। बंदत प्रभु गुन बहुबिधि धीरा॥
गीता भाषउँ सीस नवाई। निज गुनि होवहिं मोरि सहाई॥

मैंने पद रचना [की कला] का आचार्य भगवद्भक्त सूरदास एवं श्रीकृष्ण-विरहिणी मीराबाई आदि भक्तों एवं सन्तों को बनाया, जिन्होंने प्रभु की महती महिमा का विविध प्रकार से बखान किया है। मैं उनके चरणों की वन्दना करते हुए गीताभाष्य कर रहा हूँ वे अपना समझकर मुझे शक्ति प्रदान करें।

गीता भाष्यकार जग जोऊ। भये अहइँ अरु होवहिं सोऊ॥
नमउँ तिन्हहिं हरि भगत सयाने। जिनहिं दयानिधि आपुन माने॥

अब तक श्रीमद्भगवद्गीता के जितने भाष्यकार अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं तथा भविष्य में होने वाले हैं, मैं प्रभु के उन सभी श्रेष्ठ भक्तों को सादर प्रणाम कर रहा हूँ जिन्हें करुणासागर भगवान ने अपना समझ लिया है।

बालमीकि मुनि नावउँ माथा। भाष्य करन महँ दैं नित साथा॥
आद्यसंकराचार्यहिं बंदउँ। संतसिरोमणि पद आनंदउँ॥

मैं [आद्यकवि] महर्षि वाल्मीकि के चरणों में प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि [कम से कम] भाष्य करते समय वे मेरे साथ रहें। सन्तों में सिरमौर आद्यगुरु शंकराचार्य के चरणों में प्रेमपूर्वक आनन्द के साथ प्रणाम करता हूँ-

जिन्हकर भाष्य काम बहु आयो। सरल सुगम कबिता करि पायो॥
भाष्य किये जिनि सास्त्रन्हि साँचो। सून्यवाद निरवारे काँचो॥

जिनका गीता-भाष्य (शांकर-भाष्य) अति सुगम एवं सरल कविता कर पाने में बहुत काम आया। जिन्होंने सत्-शास्त्रों (ज्ञानकाण्डीय उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र आदि) पर यथार्थ टीका करके अधकचरे शून्यवाद को [भारत से] उखाड़ फेंका।

पुनि पुनि ब्यास मुनिहिं पद ध्यानत। जिनसों गीता सब जग जानत॥
प्रभु चरित्र गावत न अघावत। यासों महाराज बहु भावत॥

अब महाराज बारम्बार महर्षि व्यास का गुणगान कर रहा है जिनके माध्यम से ही श्रीमद्भगवद्गीता को जगत के लोग जानते एवं पहचानते हैं। वे भगवान के चरित्र को गाते हुए थकते नहीं हैं इसी कारण महाराज को बहुत भाते हैं।

सगुण ब्रह्म प्रगटें महभारथ। आतम कृष्ण प्रान जेहिं पारथ॥
प्रभु कर बचन मंत्रमय कीन्हें। अति करुना करि जग कहँ दीन्हें॥

उन्होंने इस जगत में महाभारतरूपी सगुण ब्रह्म को प्रकट किया जिसकी आत्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द तथा प्राण महात्मा अर्जुन को बनाया। उन्होंने ही भगवान की वाणी ब्रह्मविद्यामयी भगवती गीता को मंत्रमय करके जगत को अति करुणा करके दिया है।

दोहा— चिरंजीवि होइ बिचर जग गावत प्रभु गुन गाथ।
तिन्ह कहँ आवाहन करइ महाराज दै माथ॥ ८ (क)॥

जो आज भी चिरंजीवी होकर भगवान की निर्मल यशोगाथा का गुणानुवाद करते हुए जगत में [अज्ञात रूप से] विचरण कर रहे हैं, महाराज उनके चरणों में शीश रख कर उनका आवाहन कर रहा है [कि वे भाष्य के समय सदा साथ रहें]।

गीता गीता कहत जब उलटहु त्यागी होय।
भाष्य करइ महराज तेहिं पढ़इ गुनइ सब कोय॥ ८ (ख)॥

यदि आप बारम्बार गीता-गीता कहेंगे तो उलटकर सहज ही 'त्यागी-त्यागी' ऐसा शब्द प्रतिध्वनित होगा। महाराज ऐसी महिमामयी गीताजी का ऐसा [सरल] भाष्य कर रहा है जिसे सभी पढ़ एवं समझ सकते हैं।

सत्तर अस्सी दसक बिच महाराज कहुँ जात।
गुरुवर प्रेम मगन मन रोम रोम हर्षात॥ ८ (ग)॥

सत्तर-अस्सी दशक के मध्य (लगभग सन् १९७५-७६ ई०) महाराज [गुरुदेव के पास से] कहीं जा रहा था। प्रणाम करके आज्ञा लेते समय गुरुदेव प्रेममग्न हो अत्यन्त पुलकित होते हुए-

भगवत गीता लेइ कर देन लगे तेहि हाथ।
मन न लगत कहि पढ़न महँ लेत न नावत माथ॥ ८ (घ)॥

अपने हाथ में भगवद्गीता लेकर उसके (महाराज के) हाथ में देने लगे, तब '[हे प्रभो! कुछ भी] पढ़ने में मन नहीं लगता'- ऐसा कहकर भगवद्गीता को न लेते हुए पुनः प्रणाम कर जाने की आज्ञा माँगी।

बहुरि बहुरि तउ प्रभु कहहिं नित्य पाठ करु एक।
कर बढ़ाइ ल्यो ल्यो कहत गीता हाथनि टेक॥ ८ (ङ)॥

तो भी गुरुदेव भगवान बारम्बार हाथ बढ़ाकर कहते रहे- लो-लो गीता जी को हाथ में लो और नित्यप्रति एक पाठ करते रहो।

चौपाई— निसदिन ध्यानहि मनहिं सुहावे। बेद पुरान ताहि कस भावे॥
यहि सोचत गीता नहिं लेऊँ। सुरभि छाँड़ि कस अन्यहिं सेऊँ॥

[गीताजी लेने के पहले मेरे मन में ऐसा भाव था कि] जब मन को अहर्निश ध्यान-समाधि के आनंद में रहना ही अच्छा लगता है फिर उसे वेद-पुराण कैसे अच्छा लगेगा। यही सोचकर मैं गीताजी नहीं ले रहा था कि भला गोमाता को छोड़कर अन्य की सेवा क्यों करूँ।

लियों न जब तब आयसु दीन्हीं। ताहि सुनत गीता मैं लीन्हीं॥
मन प्रसन्न भयो आज्ञा सुनि कै। गयो कुतर्क दया तिन्ह गुनि कै॥

उसके उपरान्त भी जब गीताजी को नहीं लिया, तब गुरुदेव ने उसके लिए आज्ञा दी। उस आज्ञा को सुनते ही मैंने सहर्ष गीताजी को स्वीकार कर लिया। क्योंकि आज्ञा सुनते ही मन प्रसन्न हो गया और गुरुदेव की महती दया देखकर कुतर्क चला गया।

अस बिपरीत बुद्धि भइ मोरी। गीता कहँ समुझ्यों बस कोरी॥
जब अग्या भइ पाठ करन की। जनु कह प्रभु एहि सरन परन की॥

इस प्रकार [ध्यान-समाधि में आसक्ति के कारण] मेरी बुद्धि अत्यन्त विपरीत हो गयी थी और [व्यर्थ के सिद्धान्तों को धारण करने से] श्रीगीताजी को कोरा ही मान बैठी थी; किन्तु जब पाठ करने की आज्ञा मिल गयी तब ऐसा लगा मानो गुरुदेव इस ब्रह्मविद्या की शरण में जाने को कह रहे हैं।

मनहुँ जपन हित मंत्रहिं दीन्हीं। पुनि न परउँ भव साधन कीन्हीं॥
ब्रह्मकवच जनु गुरुवर दीन्हीं। महा अभय जग सों मोहिं कीन्हीं॥

[गुरुदेव ने जप के लिए कोई मंत्र दिया ही नहीं था, अतः कोई सामान्य शास्त्र नहीं बल्कि] ऐसा लगा मानो जप के लिए मंत्र ही दे रहे हैं जिस गीताजी को यथार्थ रूप से जान लेने पर पुनः संसार-सागर में नहीं पड़ना पड़ेगा। पुनः मानो ऐसा लगा कि परम पूज्य गुरुदेव साक्षात् ब्रह्मकवच देकर मुझे इस संसार से अभय कर रहे हैं।

मानो कहत बेद एहि जानहु। सास्त्र पुरान छंद श्रुति मानहु॥
देबि भागवत गुनि एहि गावहु। करि नित पाठ सक्ति बर पावहु॥

मानो वे कह रहे हों कि इसे ही वेद, शास्त्र, पुराण एवं श्रुतियों के छन्द समझना तथा देवी भागवत समझकर इसी का गान करना और नियमित पाठ करके ब्रह्मशक्ति का वरदान प्राप्त कर लेना।

दोहा— अस्त्र सस्त्र दिब्यास्त्र अरु जनु देवें ब्रह्मास्त्र।
कह ल्यो ल्यो नहिं देर करु यहि जानहु सूलास्त्र॥ ९॥

मानो [गीतारूप में विविध] अस्त्र-शस्त्र तथा दिव्यास्त्र ही थमा रहे हों। ऐसा लगा कि वे बिहँसते हुए मेरे हाथों में ब्रह्मास्त्र दे रहे हों और कह रहे हों कि लो-लो! देर न करो, इसी को भगवान शंकर का त्रिशूल समझ लेना।

चौपाई— थामि लियों अंजुलि पसारि के। जनु पिनाक पायों पुरारि के॥
चक्र सुदर्सन जनु प्रभु दीन्हीं। जग मम जनम कृतारथ कीन्हीं॥

मैंने गीताजी को अंजुलि पसारकर ऐसे धारण किया मानो भगवान शिव से उनका पिनाक नामक धनुष ले रहा हूँ। ऐसा लगा मानो भगवान विष्णु मेरे हाथों में सुदर्शन-चक्र दे रहे हों और इस जगत में मेरा जीवन कृतार्थ कर रहे हों।

मनहु दीन्हि प्रभु चरक संहिता। आयुर्बेदहिं जगत बंदिता॥
जाहि पाठ नित रोग नसावें। बात पित्त कफ सम होइ जावें॥

मानो वे मुझे सम्पूर्ण जगत द्वारा वन्दनीय आयुर्वेद की चरक संहिता दे रहे हों, जिसका नित्य श्रद्धापूर्वक पाठ करने से वात, पित्त, कफ सम हो जाते हैं जिससे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

कामधेनु जनु ता दिन पायों। लै पुनि पुनि सिर आँखि लगायों॥
दिब्य गंग जनु कर अवतरिणी। सबहिं दोष दुख भव भय हरिणी॥

उस दिन मुझे लगा मानो [समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली] कामधेनु गाय ही प्राप्त हो गयी हो जिसे लेकर मैं बारम्बार सिर और आखों से लगा रहा था। ऐसा लगा कि मेरे हाथों में [गुरुकृपा से] दिव्य गंगाजी ही प्रकट हो गयीं जो सम्पूर्ण दु:ख-दोषों और संसाररूपी भय का नाश करने वाली हैं।

करिनि सकल मुद मंगल जीवन। गीता सुधा लग्यों नित पीवन॥
महामृत्युंजय एहि कहँ जानउँ। गायत्री नवार्ण सब मानउँ॥

यह सम्पूर्ण जीवन को आनन्दमय एवं मंगलमय बना देने वाली है, इसलिए इस गीतारूपी अमृत का नित्य पान करने लगा तथा उसी दिन से इस गीताजी को ही महामृत्युंजय, गायत्री एवं नवार्णमंत्र अर्थात् सर्वस्व मानने एवं जानने लगा।

जोग जाग जप भगवतगीता। पढ़त सुनत जो सब जग जीता॥
ब्रह्मज्ञान यह तम घन नासे। महराजहिं सच ऐसो भासे॥

एकमात्र भगवद्गीता ही योग, यज्ञ एवं जप है तथा जो इसका प्रेम-पूर्वक पाठ करेगा और [सद्गुरु द्वारा] श्रवण करेगा, वह जगत विजेता हो जायेगा। महाराज को तो ऐसा स्पष्ट दीख रहा है कि यह ब्रह्मज्ञान घोर अविद्या का नाश करने वाला है।

दोहा— हरति कठिन कलिकाल कहँ भेदति प्रकृति कुचक्र।
महाराज अस देखि कह पावहु तुम्हहु सुचक्र॥ १० (क)॥

यह प्रकृति के कुचक्रों का भेदन करती हुई इस घोर कलिकाल के प्रभाव अर्थात् सम्पूर्ण दोषों का हरण कर लेती है। महाराज इस रहस्य को देखकर ही [यह सब] कह रहा है जिससे आप भी इसका नित्य पाठ करके कल्याण प्राप्त कर लें।

देव दनुज असुरादि एहि पूजत प्रभु सम जानि।
गावहु गीता तुम्हहु अस महाराज बच मानि॥ १० (ख)॥

देवता, दानव एवं राक्षस आदि सभी [जो इसकी थोड़ी भी महिमा जानते हैं] साक्षात् ब्रह्मस्वरूप जानकर इसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार महाराज के वचनों को मानकर आप भी गीताजी का नित्य पाठ करें।

चौपाई— पंचाक्षर कहि मनहु गहायो। तब याकी महिमा मन भायो॥
धार्‌यों चित सत बार नमन करि। अब गुन गावउँ भवसागर तरि॥

मानो गुरुदेव ने इसे पंचाक्षर (नम: शिवाय, कृष्णाय नम:) कहकर दिया हो, तब इसकी महिमा के प्रति मन में बहुत आदर भाव हो गया। अत: सैकड़ों बार नमस्कार कर इसे हृदय में धारण कर लिया और अब [स्वयं ही] संसार-सागर से मुक्त होकर इसकी महिमा का गान कर रहा हूँ।

साबर तंत्र मंत्र एहि जानउँ। सच बिरंचि हरि हर एहि मानउँ॥
कालि कपालिनि खप्पर धारिनि। श्री बानी दुर्गा संघारिनि॥

यथार्थ में मैं इसे ही साबरतंत्र, मंत्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा साक्षात् नरमुण्डों की माला और खप्पर धारण करके असुरों का संहार करने वाली माँ काली, लक्ष्मी, सरस्वती एवं भवानी दुर्गा के रूप में जानता एवं मानता हूँ।

एकाक्षरहिं ॐ धुनि गावति। ब्रह्मज्ञान बनि हिय महँ आवति॥
अहंकार महिसासुर मर्दति। महामोह चंडहिं अति गर्दति॥

यह एकाक्षर अर्थात् ॐ-ध्वनि का गायन करती रहती है और ब्रह्मज्ञान बनकर हृदय में प्रकट होती है। यह अहंकाररूपी महिषासुर तथा महामोहरूपी चण्ड का वध कर धूल में मिला देती है।

लोभ मुंड के हृदय बिदारति। माया कटक सबहिं संहारति॥

लोभरूपी मुण्ड के हृदय को छिन्न-भिन्न कर माया की समस्त सेना का संहार कर देती है।

दोहा— रक्त बीज सम कल्पना जल्पत बहु बिधि आइ।
भस्म करति ज्ञानाग्नि सों खप्पर भरि भरि खाइ॥ ११॥

मानो [भक्तों के हृदय में] रक्तबीज नामक राक्षसों के समान उठने वाली नाना प्रकार की अनचाही कल्पनाओं को, जो बहुत प्रकार से ललकारती रहती हैं, ज्ञानाग्नि से भस्म कर देती है और जो शेष बचती हैं उन्हें खप्पर में भर-भर कर पी जाती है।

चौपाई— नृत्य करति बहुबिधि चित भावति। सामबेद के छंदन्हिं गावति॥
पूरन होत जीव कर स्वारथ। तबहिं करत बहुबिधि परमारथ॥

[उसके उपरांत यह हृदय में] सामवेद के छन्दों को अनेक प्रकार से गा-गाकर दिव्य नृत्य करती हुई मन को अति सुहावनी लगती है, तब कहीं जाकर जीवात्मा का स्वार्थ पूर्ण होता है और वह भलीभाँति पारमार्थिक कार्य करने लगता है।

अर्जुन जस बिषाद उर तेहिं जब। बिरह बेदना महँ तड़पत तब॥
रुदन करत जब अश्रु न सूखें। प्रभु दरसन हित निसदिन भूखें॥

जब महात्मा अर्जुन जैसा विषाद उसके हृदय में प्रकट हो जाता है, तब वह [भगवान के लिए] विरह वेदना में तड़पने लगता है। जब भगवान के दर्शन के लिए रोते हुए उसकी अश्रुधारा नहीं सूखती और [उसी के निमित्त] प्रायः सदा अनशन में ही रहता है।

तब गुरु कृपा प्रभुहिं लखि बिहरत। पूरब सरिस न पुनि कहुँ कहँरत॥
डसति न कबहूँ माया सर्पिनि। चढ़ति न दुखद लहरि मति कर्तिनि॥

तब वह सद्गुरु की कृपा से भगवान का दर्शन कर आनन्द से जगत में विचरण करता है और फिर कभी पूर्व की भाँति [शोक-सन्तप्त होकर क्लेश में] आहें नहीं भरता; क्योंकि अब कभी उसे संशयरूपी सर्पिणी नहीं डँसती जिससे बुद्धि को छिन्न-भिन्न कर देने वाली दुःखद लहर नहीं चढ़ पाती।

त्रिबिध ताप संताप नसावे। सबहिं सोक भ्रम संसय जावे॥
तब प्रगटति हिय भगवद गीता। दरसन करत सकल जग जीता॥

उस अवस्था में तीनों प्रकार के तापों (दैहिक, दैविक और भौतिक) का नाश हो जाता है तथा सभी प्रकार के संशय, शोक एवं मोह आदि समाप्त हो जाते हैं और तब हृदय में प्रकट हुई भगवद्गीता का दर्शन करते ही वह समस्त संसार [अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि समस्त लोकलोकान्तरों] पर विजय प्राप्त कर लेता है।

दोहा— परम चतुर यह ज्योतिषी भूत भविष्य बखान।
सहज सँवारति काल त्रय पाठ करहु अस मान॥ १२॥

[अरे! कहाँ तक कहा जाय!] यह भगवती स्वयं अत्यन्त निपुण ज्योतिषी भी है जो भूत, भविष्य और वर्तमान की यथार्थ जानकारी देती रहती है। इस प्रकार आपके तीनों कालों को सहज ही कल्याणमय कर देती है -ऐसा जानकर आप इसका नित्य ही पाठ करें।

चौपाई— महाराज कह सबहिं पुकारी। भयो मोहिं सँग अचरज भारी॥
जा दिन गुरु सों गीता तरनी। पायों ता दिन सों अस करनी॥

महाराज अब सभी को पुकारकर कह रहा है कि मेरे साथ एक अद्भुत आश्चर्य हुआ- जिस दिन से मैंने गीतारूपी दिव्य नाव गुरुदेव से प्राप्त की तो उस दिन से ऐसा हुआ कि-

तेहि पढ़ि करत मनन अरु चिंतन। पतो नाहिं कहँ गयो ध्यान धन॥
जप तप योगहु कहाँ पराने। गीता आवति मनहुँ लजाने॥

गीता जी का पाठ, मनन और चिन्तन करते ही मेरा ध्यानरूपी धन, जप, तप एवं योग पता नहीं कहाँ चले गये! मानो गीताजी के आते ही वे सभी लज्जित हो गये हों।

जनु उन्हकर पूरन भयो स्वारथ। दए हाथ गीता परमारथ॥
सच भव सिंधु नाव फँसि जबहीं। खेवन लागे सदगुरु तबहीं॥

मानो उनका स्वार्थ ही पूरा हो गया हो क्योंकि उन्होंने मेरे हाथ में स्वयं परमार्थरूपी गीताजी को दे दिया। मैं सच कह रहा हूँ कि जब संसार-सागर में मेरी जीवन नौका फँस गयी तब मेरे गुरुदेव आकर स्वयं ही अपने हाथों से उसको खेने लगे-

देखत सदगुरु खेवनवारो। डरि पराय भवसागर हारो॥
पायों सहज किनारो भाई। अब मोसों कछु कहि नहिं जाई॥

और भव-सिन्धु [मेरी नौका पर] सद्गुरु को ही खेवनहार देख, पराजित होकर भय से भागने लगा। हे मित्रो! इस प्रकार मैंने सहज ही किनारा पा लिया और अब मुझसे कुछ कहते नहीं बनता।

दोहा— भये ज्ञान गीता गुरू जबहीं एक समान।
महाराज भयो मौन तब ब्रह्म सकल जग जान॥ १३॥

[इतना ही नहीं] जब गीता, ज्ञान और गुरु एक ही रूप हो गये तो महाराज समस्त जगत को ब्रह्मरूप देखकर मौनी हो गया।

चौपाई— चाहे जबहिं जाउँ गुरुधामा। लिखि गुरुलेख लहउँ बिश्रामा॥
तहँ नित ज्ञान ध्यान बिज्ञाना। बर उपदेस करहिं भगवाना॥

मैं चाहे जब [सद्गुरु का दर्शन करने] गुरु-आश्रम जाता और गुरुदेव के आध्यात्मिक लेखों को लिखकर अत्यन्त सन्तुष्टि का अनुभव करता। वहाँ पर गुरुदेव भगवान नित्य ही ज्ञान, ध्यान, विज्ञान आदि पर गूढ़ आध्यात्मिक प्रवचन किया करते थे।

सोइ सब लेख लिखावहिं मोसें। महूँ लिखउँ उर सों अति तोसें॥
इक दिन मोरि परिच्छा लीन्हीं। उपमा दिब्य बोलि प्रभु दीन्हीं॥

वे अपने समस्त लेखों (दिव्य प्रवचनों) को मुझसे लिखवाया करते थे और मैं भी हृदय से अत्यन्त प्रेम के साथ लिखा करता था। एक दिन गुरुदेव ने मेरी परीक्षा ली जिसमें उन्होंने बोलते समय एक दिव्य उपमा भी बोल दी।

सुनि गुरु बचन चकित चित देखउँ। लेखनि ठिठुकि गई नहिं लेखउँ॥
जदपि सो उपमा हुती अलौकिक। परम दिब्य परमार्थिक यौगिक॥

गुरुदेव के उन वचनों को सुन मैं हतप्रभ होकर देखने लगा, मेरी लेखनी ठिठक गयी तथा मैंने लिखना बन्द कर दिया। यद्यपि वह उपमा योग के अनुरूप, अत्यन्त दिव्य, परमार्थ पथ को प्रकाशित करने वाली एवं अलौकिक थी-

पर तेहि लिखन जोग नहिं मानउँ। गुप्त रहस्य जदपि सच जानउँ॥
तब गुरुवर बोले हटकाई। तू का देखसि काह देखाई॥

परन्तु मैं उसे [गुरुदेव के लेख में] लिखने के योग्य नहीं मान रहा था जबकि गोपनीय रहस्य को भलीभाँति समझ रहा था, [कि यह अधिकारी के सामने ही प्रकट होने योग्य है] तब गुरुदेव भगवान ने डाँटकर कहा कि तुम क्या देख रहे हो और क्या दिखाना (कहना) चाहते हो?

भयो तोहिं का लिखसि न काहे। गिरी कवन मणि जिहिं अवगाहे॥

लिख क्यों नही रहे हो? तुम्हें हो क्या गया है? तुम्हारे हाथ से कौन-सी मणि गिर गयी है जिसे खोजने लगे हो।

दोहा— तब मैं कह्यों दयानिधि क्षमा चहउँ कर जोरि।
यह उपमा नहिं लिखउँ प्रभु मानहु बिनती मोरि॥ १४॥

तब मैंने गुरुदेव से कहा हे दयानिधे! आपसे करबद्ध प्रार्थना कर क्षमा चाहता हूँ। मैं यह उपमा [आपके लेख में] नहीं लिख सकता, मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करें।

चौपाई— एहि पढ़ि मूढ़ कहहिं का स्वामी। कहहु कृपानिधि अंतर्यामी॥
उपमा जदपि नाथ बहु भ्राजइ। पर प्रभु लिखत मोर मन लाजइ॥

हे अन्तर्यामी! हे कृपासागर! आप ही बतायें कि इसे पढ़कर अज्ञानीजन क्या कहेंगे [क्या अर्थ लगायेंगे]? हे स्वामिन्! यद्यपि यह उपमा [अपने आप में] अति दिव्य है परन्तु हे प्रभो! इसे लिखने में मुझे बहुत लज्जा लग रही है।

नाटक करि प्रभु पुनि हटकारत। उपमा लिखी देखु महभारत॥
तब हँसि कह्यों सास्त्र की आसा। करउँ काह मोहिं तव बिस्वासा॥

गुरुदेव भगवान ने पुनः डाँटने-फटकारने का नाटक करते हुए कहा कि अरे! तुम देख सकते हो, यह उपमा महाभारत में भी लिखी हुई है। तब मैंने हँसते हुए कहा- गुरुदेव! मैं किसी शास्त्र की आशा क्यों करूँ! उसे क्यों देखूँ! मेरा तो आप पर ही सम्पूर्ण विश्वास है।

सास्त्र कहइ का तबहीं मानउँ। सगुन ब्रह्म का प्रभुहिं न जानउँ॥
अस दर्सन नहिं देखउँ स्वामी। काह पढ़उँ मैं तव अनुगामी॥

[हे गुरुदेव!] क्या जब शास्त्र कहेगा तभी मैं मानूँगा? क्या मैं आपको सगुण ब्रह्म के रूप में नहीं देखता! हे स्वामिन्! ऐसा दार्शनिक तथ्य तो मैंने देखा ही नहीं है। मैं तो एकमात्र आपका ही अनुगमन करने वाला सेवक हूँ, अतः अन्य [महाभारत आदि] ग्रंथ क्यों पढ़ूँ।

पर तव ग्रंथ माहिं नहिं भ्राजे। प्रभु बचनामृत महँ बस छाजे॥
कह प्रभु लिखु बकवास न करई। प्रज्ञावान बुद्धि परिहरई॥

परन्तु [हे जगत्पते!] आपके द्वारा निर्मित ग्रन्थ में यह उपमा शोभा नहीं देगी बल्कि यह तो एकमात्र आपके श्रीवचनों के द्वारा [अधिकारी भक्तों के सम्मुख] ही शोभायमान होगी। तब गुरुदेव भगवान ने पुनः कहा- लिखो-लिखोऽ! बकवास मत करो, प्रज्ञावानों की बुद्धि का परित्याग कर दो।

तब हँसि कह्यों लिखन का परई। कह गुरु सत्य बचन नहिं टरई॥
हाँ हाँ हाँ त्रै बार सुनाये। तब मेरो मन अति हरषाये॥

मैंने हँसकर कहा- गुरुदेव! क्या सच में इसे लिखना ही पड़ेगा? तब गुरुदेव ने कहा- हाँ, मेरा यह वचन सत्य और अटल है, [तुम्हे लिखना ही पड़ेगा]। [पुनः पूछा-क्या लिखना ही पड़ेगा?] तब प्रभु ने हाँ, हाँ, हाँ, तीन बार कहते हुए कहा- हाँ, इसे लिखना ही पड़ेगा। तब मेरा मन अति हर्षित हो उठा-

दोहा— राख्यों कागज कलम तब प्रभु सन्मुख सिरु नाइ।
चल्यों कपाटहिं खोलनो उनसों गयो हँसाइ॥ १५॥

और मैंने गुरुदेव भगवान के [चरणों के] सामने कागज-कलम रख दिया और प्रणाम करके दरवाजा खोलने चला तो गुरुदेव को हँसी आ गयी-

चौपाई— ठहरो कहत बैठु अब आई। लगी मोहिं अति गिरा सुहाई॥
बैठ्यों पुनि प्रभु पद सिरु नाई। लगे कहन तब अति हरषाई॥

और बोले- ठहरो! आओ बैठो! उनकी वह प्रेमरस से सनी हुई वाणी बहुत अच्छी लगी तथा पुनः गुरुदेव के चरणों में प्रणाम कर बैठ गया। तब गुरुदेव ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा-

अस तव किये भयो संतोसा। तो पर मम दृढ़ भयो भरोसा॥
समुझी बूझि परिच्छा लीन्हों। यासों तव बिपरीतहिं कीन्हों॥

आज तुम्हारे इस व्यवहार से मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ तथा तुम पर मेरा पूर्ण विश्वास हो गया। मैंने जान

बूझकर तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही इस प्रकार का विपरीत व्यवहार किया था।

करहु सुरति पूरब एक मासा। तुम्हसों कही एक अभिलासा॥
अब सब लेख एकांत लिखावउँ। गूढ़ मरम अति तोहिं लखावउँ॥

याद करो, एक माह पूर्व जब मैंने तुम्हारे सम्मुख एक इच्छा व्यक्त की थी कि आज से मैं सारे लेखों को तुमसे एकान्त में लिखाऊँगा और तब तुम्हें अति गूढ़ात्मक रहस्यों को दिखाऊँगा।

परम दिब्य तव मानस देखी। मम उर भा परितोष बिसेषी॥
अस प्रसंग जेहि सब जग जाना। ब्यास मुनी गणपति भगवाना॥

ऐसा करके मैंने तुम्हारे दिव्य मानस पटल को देख लिया है जिससे मेरे हृदय को अत्यन्त सन्तोष हो गया है। ऐसा ही प्रसंग एक बार भगवान गणेश और महर्षि व्यास के बीच खड़ा हो गया था जिसे सारा जगत जानता है।

चिंतन समय न देहिं गणेसा। तब मुनि कर उलटे उपदेसा॥
लिखत न पारबती सुत सोचत। सोइ संदर्भ बहुत बिधि मोचत॥

पुराण लेखन के समय जब भगवान गणेशजी महर्षि व्यास को चिन्तन करने का अवसर नहीं देते थे तो वे कोई उलटा ही प्रसंग बोल देते थे। तब भगवान गणेश [प्रतिज्ञानुसार] लिखना छोड़कर विचारमग्न हो उस सन्दर्भ की बहुत प्रकार से विमोचना (मन्थन) करने लगते।

तबलौं मुनि चिंतन कर बोलइ। तब लेखनि तिन्हकर बहु डोलइ॥

तब तक मुनिवर व्यास [यथार्थ] चिन्तन कर बोलने लगते थे और तब गणेश जी अत्यन्त उत्साहित होकर लिखना प्रारम्भ कर देते थे।

दोहा— कीन्हेउ साँचहिं ताहि तुम्ह जस मैं चाहउँ आज।
थोरेहि अब उपदेसऊँ तुम्ह बिस्तारहु राज॥ १६॥

आज उसी घटना को तूने सत्य करके दिखा दिया जैसा कि मैं चाहता ही था। अबसे मैं [मंच पर] पाँच-दस मिनट ही उपदेश दिया करूँगा जिसके रहस्यों की व्याख्या तुम स्वयं कर दिया करना।

चौपाई— यद्यपि गीता पर दुइ भाषा। मम गुरुवर पहिलेहिं लिखि राखा॥
पर तेहि दिन प्रभु कह हरषाई। जो गीता मैं तोहिं सुनाई॥

यद्यपि मेरे गुरुदेव ने गीताजी पर दो भाष्य पहले ही लिख रखे थे [जिसमें से प्रथम का नाम 'गीता सुबोध' और दूसरे का 'गीता तत्त्वबोध' है] किंतु उस दिन गुरुदेव ने अति हर्षित होते हुए कहा कि जिस गीता को मैंने तुम्हें सुनाया है-

तेहि भाषहु तुम्ह बहुबिधि गाई। लोक बेद सब जुगुति बनाई॥
गीता मम प्रिय प्रान समाना। अस जिय जानि करउ तेहि गाना॥

उसका तुम भी लोकमत, वेदमत एवं अन्यान्य युक्तियों द्वारा समझाकर पुनः भाष्य करना। 'गीता मुझे प्राणों के समान प्रिय है'- ऐसा तुम हृदय से जानकर उसका प्रचार-प्रसार करना।

मिलउँ तोहिं एहि सुगम उपाई। तब स्वीकार्यों मैं सिरु नाई॥
सोइ यह भाष्य न अपुनो होई। साँच कहउँ नहिं राखउँ गोई॥

[तुम्हारे लिए] मुझे प्राप्त करने का यह अत्यन्त सुगम उपाय है- तब ऐसा सुनते ही मैंने नतमस्तक होकर इस आज्ञा को शिरोधार्य किया। [हे सज्जनो!] यह वही भाष्य है जिसमें मेरा अपना कुछ नहीं है [सब गुरुदेव का ही कहा हुआ है]- यह मैं सत्य कह रहा हूँ, कुछ भी छिपा नहीं रहा हूँ।

प्रथम सुभाष्य गद्य महँ आही। जग महाराज भाष्य कह जाही॥
यह दूसर कबिता महँ गायों। ज्ञानहिं अगम सुगम करि लायों॥

[गीताजी का] प्रथम भाष्य गद्य में हुआ है जिसे जगत के लोग 'महाराजभाष्य' कहते हैं और यह जो दूसरा भाष्य काव्यरूप में रच रहा हूँ जिसमें दुर्गम ज्ञान को सुगम करके रख रहा हूँ-

कृष्णायन याकर रखि नामा। करउँ समर्पित गुरु अभिरामा॥
निर्गुन सगुन होइ प्रभु वक्ता। श्रोता गुडाकेस सम भक्ता॥

इसका नाम 'कृष्णायन' रखकर मैं अपने अभिराम परम पूज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर रहा हूँ। इसके वक्ता निर्गुण निराकार से सगुण साकार रूप में प्रकट हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द हैं तथा श्रोता निद्राविजयी अर्जुन जैसे भक्त हैं।

तेहि सुनि संजय नृपहिं सुनावत। जेहि सुनि सो सुत दुख बिसरावत॥
सुनहिं ब्यास मुनि मन अति भावत। लिखत हरषि सोइ जग सों गावत॥

[महर्षि व्यास की कृपा से] उसी को सुनकर भक्त सञ्जय राजा धृतराष्ट्र को सुना रहे हैं और वे सुनकर अपने पुत्र-वध जनित दु:ख को भुला देते हैं। उस समय महर्षि व्यास भी उसके श्रोता हैं और अत्यन्त भाव से सुन-सुनकर लिखते जा रहे हैं तथा अत्यन्त हर्षपूर्वक जगत को सुना रहे हैं।

सोइ सुनि गुरु सन मैं अति मूढ़ा। पायों मर्म गूढ़ सों गूढ़ा॥
प्रभु भगतन्ह महँ ताहि सुनावउँ। कृष्णायन गीता कहि गावउँ॥

उसे ही मेरे जैसे मूढ़ ने अपने गुरुदेव द्वारा सुनकर गूढ़ से भी गूढ़ रहस्य को जान लिया और उन्हीं गूढ़ात्मक रहस्यों को इस 'कृष्णायन' नामक गीता भाष्य द्वारा गाकर मैं प्रभु-भक्तों के बीच सुना रहा हूँ।

दोहा— आगम निगम पुरान उर गहि एहि चलउँ सुपाथ।
होयँ सहायक भाष्य महँ जासें होउँ सनाथ॥ १७॥

वेद-पुराण एवं शास्त्रों के मत को अपने हृदय में धारण कर अब मैं इस दिव्य पथ पर चल रहा हूँ वे कृपा करके आशीर्वाद दें और इस भाष्य में सहायक हों जिससे मैं सफल हो जाऊँ।

चौपाई— युग बीतत बस बचत कहानी। जेहि परमान देत मुनि ज्ञानी॥
जस निज बात कृष्ण सों गावें। दुर्गा देबी सों समुझावें॥

युग तो बीत जाता है किन्तु कहानी शेष रह जाती है जिसका प्रमाण सभी ऋषि-महर्षि देते हैं; जैसे कोई अपनी बात भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के माध्यम से कहता है तो कोई भगवती दुर्गा एवं अन्यान्य देवियों के चरित्र का आश्रय लेकर समझाता है।

अज अनंत सिव अधर अधर पर। राम लखन सिय डोलत घर घर॥
नरहरि मत्स्य बराहहिं ध्यावत। यति प्रभु दत्तात्रेय बुलावत॥

यही कारण है कि जन-जन के होठों पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश विद्यमान हैं तथा भगवान राम, लक्ष्मण एवं भगवती सीता घर-घर में व्याप्त हैं। कोई भगवान मत्स्य, वाराह एवं नरसिंह के माध्यम से अपनी बात कहता है तो संन्यासीगण [अपने उदाहरण में] आद्यगुरु भगवान दत्तात्रेय को लाकर खड़ा करते हैं।

जब कोउ करत संत की हाँसी। जय अरु बिजयहिं डारहिं फाँसी॥
जब निज प्रभुता बलहिं बखानें। रावण कहि तेहि नहिं सनमानें॥

[आप सब देखते ही हैं कि] जब कोई सन्त की हँसी उड़ाता है तो लोग जय-विजय को बलि का बकरा बनाते हैं अर्थात् कहते हैं कि जय-विजय की भाँति तुम भी राक्षस ही हो जाओगे। इसी प्रकार जब कोई अपने बल एवं प्रभुता का बखान करने लगता है तो लोग उसे रावण की उपमा देकर सम्मान नहीं करते।

निसिदिन घर बन सोवत जेई। कुम्भकरन कहि निंदत तेई॥
गुरु पितु मातु नाहिं जो मानत। कहि कहि कंस ताहि अपमानत॥

जो घर हो या वन कहीं भी दिन-रात [खा-पीकर आलस, प्रमाद और] नींद में पड़ा रहता है तो कोई भी कुम्भकर्ण कहकर उसकी निंदा करता है। जो माता-पिता एवं गुरु के अनुसार नहीं चलता [बल्कि उनका अपमान करता रहता है] तो लोग उसे कंस कह-कहकर अपमानित करते हैं।

दोहा— निदरत पितु पुत्रहिं जबहिं देत दुहाई राम।
एक पुत्र ते जग भये दए पितहिं धन धाम॥ १८॥

पिता पुत्र की निंदा करते हुए राम की दुहाई देकर कहता है कि इस संसार में प्रभु श्रीराम भी एक पुत्र थे जिन्होंने अपने पिता के लिए धन और राज्य सब कुछ न्योछावर कर दिया-

चौपाई— तू एक सुत तन मन धन जारत। चाहे जहँ तहँ मान उतारत॥
तब सुत कहत पिता भये भारे। सुतहिं राज दै बनहिं सिधारे॥

और एक पुत्र तुम हो जो मेरे तन, मन और धन में आग लगाते रहते हो तथा चाहे जहाँ भी मेरा अपमान करते रहते हो। तब पुत्र कहता है कि ऐसे बहुत-से पिता भी हुए हैं जिन्होंने पुत्र को राज्य सौंपकर [भगवद्भजन के लिए] वन-प्रदेश को प्रस्थान किया-

तुम्ह इक पिता न कबहुँ अघाते। बस दिन रात बिषय मद माते॥
जाहु न बन तो गृह प्रभु भजहू। भये जरठ अब कामहिं तजहू॥

और एक पिता आप हैं कि कभी सन्तोष ही नहीं होता, दिन-रात विषयों के मद में ही चूर रहते हैं। अरे! वन नहीं जाना है तो घर में ही भगवान का भजन करें, आप बूढ़े हो गये अब तो समस्त कर्मों को त्याग दें।

बिषय बस्य जब होत बिरागी। ब्यंग करत सब कहि कहि त्यागी॥
गिरिवर गुहा साधु सब बसहीं। जप तप जोग सों तन मन कसहीं॥

उसी प्रकार जब कोई संन्यासी विषयों के वशीभूत हो जाता है तो सभी लोग 'ऐ त्यागीजी' कह-कहकर कटाक्ष करते हैं तथा परस्पर कहते हैं कि अन्य सभी साधक-सन्त पर्वत की गुफाओं में रहकर जप, तप और योग के द्वारा तन-मन को निर्मल बनाते हैं-

प्रभु इन्हि राज ऋषी उपजाये। देखहु बैभव बहुत बसाये॥
कोउ माने नहिं मान कहानी। पर सबसों अस जाय बखानी॥

लेकिन इन्हें तो भगवान ने राजर्षि बनाकर ही उत्पन्न किया है; आप देखें तो इन्होंने कितने धन-वैभव का संग्रह कर लिया है! इस प्रकार भले कोई उन कहानियों को माने या न माने परन्तु जाने-अनजाने सभी के द्वारा कहने में तो बातें आ ही जाती हैं।

कहि न जाय पुनि क्यों सो गाथा। जुर्‌यो अपुन जीवन जेहि साथा॥
जाइ अतीत कथा सब गावत। सुनि गुनि निज परिताप मिटावत॥

आखिर वह कहानी क्यों न कही जाय जिसके साथ अपना सम्पूर्ण जीवन जुड़ा हुआ है? लोग अतीत में जाकर इन कथाओं को कहते हैं जिन्हें सुन एवं समझकर अपना शोक-सन्ताप दूर कर लेते हैं।

कोउ न कोउ सबै मुख गाथा। कहि सुनि सब संतोषत माथा॥
जिनि स्वरूप कर झाँकि दिखावति। प्रतिपल बदलति जो मन भावति॥

इस प्रकार सबके मुख पर किसी न किसी की कहानी रहती ही है, जिसे कह-सुनकर वे सभी अपने मन-मस्तिष्क को शान्त कर लेते हैं। जिन स्वरूपों की झाँकी वह कथा दिखाती है वे अतिवेग से प्रतिपल बदलते रहते हैं जो मन को अति प्रिय लगते हैं।

अस जिवंत गाथा कर आश्रय। लेइ न को जो होय निराश्रय॥
का मानुष का सुर गंधर्बा। प्रेत पितर किन्नर अरु सर्बा॥

[महाराज तो कहता है कि] ऐसी जीवन्त गाथा का आश्रय कौन नहीं लेता? वही जो निराश्रय होता है अर्थात् जो भगवान के आश्रित नहीं होता। अत: क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या गन्धर्व, प्रेत, पितर एवं किन्नर तथा अन्य सभी-

मातु पिता सुत मित का भ्राता। रंक नृपति मूढ़हु का ज्ञाता॥
कथा बसति सबही की बानी। जेहि गावत दिन रैन सिरानी॥

क्या माता-पिता, क्या पुत्र, भाई या मित्र, क्या रंक, क्या राजा, क्या मूर्ख, क्या ज्ञानी -इन सभी की वाणी पर [अतीत की] कथाएँ रहती हैं जिनके कहने-सुनने में ही दिन-रात व्यतीत हो जाते हैं।

इक इक दिब्य कथा अवतरती। अनुपम राग रागिनी झरती॥
जेहिं सुनि सब अवाक होइ जाहीं। निज जीवन तेहि माझ समाहीं॥

इस प्रकार एक-एक दिव्य कथाएँ अवतरित होती रहती हैं जिनसे अनुपम राग-रागिनियाँ अनवरत प्रवाहित होती रहती हैं जिन्हें सुनकर सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं क्योंकि इनमें उनका अपना जीवन भी समाया रहता है।

दोहा— ऐसो काहे होय नहिं निज जीवन अति दिब्य।
अस जीवन नहिं सृष्टि महँ तातें सबहिं अदिब्य॥ १९ (क)॥

ऐसा हो भी क्यों नहीं क्योंकि अपना जीवन अति दिव्य है, ऐसा जीवन तो सृष्टि में किसी अन्य का है ही नहीं, इसी से तो सबका जीवन [अपने जीवन के सामने] सारहीन लगता है।

हर पल की नित जीवनी लिखि निरखे कोउ धीर।
होहिं दिब्य संकेत तब मिलइ भाव गम्भीर॥ १९ (ख)॥

[महाराज तो कहता है कि] यदि कोई धैर्यवान पुरुष अपने हर पल, हर क्षण की आत्मकथा को लिखकर देखे तो प्रतिदिन कुछ न कुछ दिव्य संकेत होगा और अत्यन्त गम्भीर भावों की प्राप्ति होने लगेगी-

चौपाई— जेहि आश्रय लै होत निराश्रय। सब जानत दुख देइ पराश्रय॥
सोइ पराश्रय ब्रह्म बिमुख करि। निस दिन राखति स्वयं जकड़करि॥

जिसका आश्रय लेने से निराश्रयता प्राप्त हो जाती है। यह तो सभी जानते हैं कि पराश्रयता अत्यन्त दु:ख देने वाली होती है। वही पराधीनता ब्रह्म से विमुख कर रात-दिन अपने को बलात् वश में किये रखती है।

अस जिय जानि दिब्य एक गाथा। आवउ कहउँ तुम्हहिं लै साथा॥
जो पतितहुँ कहँ पावन करई। अरु त्रयताप जगत महँ हरई॥

अत: आयें, मन में ऐसा सोचकर आपको भी अपने साथ लेकर एक दिव्य कथा कहने जा रहा हूँ, जो अत्यन्त पतित को भी पावन बनाकर जगत के तीनों तापों को हर लेती है-

जो गाथा सर्बांग सुंदरी। सच महँ अपुनि अपंग निंदरी॥
हरि अपंग सर्बांग दिलावे। जेहितें भगत अभंगहु भावे॥

और जो कथा समस्त अंगों से दिव्य है लेकिन अपनी जीवनी तो निश्चित ही अपंग एवं निन्दनीय है। यह अपंगता का हरण कर समस्त अंगों को सुन्दर बना देगी जिससे अंगहीन भक्त भी अत्यन्त शोभा पाने लगेगा।

अपुनि दीनता सब पहिचानहिं। अंगहीनता सब बिधि जानहिं॥
जानहिं मतिहीनता बधिरता। नेत्रहीनता अवरु अधिरता॥

हम अपनी अंगहीनता एवं दीनता को भलीभाँति जानते हैं, यही नहीं बल्कि अपनी बुद्धिहीनता, बधिरता, नेत्रहीनता एवं अधीरता को भी समझते हैं।

भुक्खड़ अरु लोलुप हम भारी। देहिं बिबिध बिधि दैवहिं गारी॥

हमलोग बहुत ही भुक्खड़ एवं विषय लोलुप हैं और नाना प्रकार से दैव को ही भला-बुरा कहते रहते हैं!

दोहा— पर दुरायँ हम जतन करि दोष न लखि सक कोय।
कथा सुधा अस एहि पियत दिब्य सबहिं अँग होय॥ २०॥

लेकिन हम बड़ी युक्ति से इन सब दोषों को छिपाते हैं कि कोई इन्हें जान न सके। अत: इस दिव्यकथा रूपी अमृत का पान करने से आपके सम्पूर्ण अंग [मन, बुद्धि, चित्त आदि] दिव्य हो जायेंगे।

चौपाई— याहि कथा निज प्रान बनावें। जासों प्रतिपल त्राणहिं पावें॥
एहिकर नेत्र बनहिं निज नयना। निज कुनेत्र बनि जायँ सुनयना॥

महाराज कहता है कि इस कहानी को हम सब अपना प्राण बना लें और इसी का गायन करें जिससे यह सदैव हमारी सुरक्षा करती रहे। यदि इस [कथा] के दिव्य नेत्र अपने नेत्र बन जायँ तो हमारे कुनेत्र भी सुनेत्र हो जायेंगे।

यदि एहि श्रवन सुनहिं जग माहीं। बधिर होहिं बरु सब सुनि पाहीं॥
एहिके पाँव चलहिं सब पाहीं। तौ निज पाँव सबल होइ जाहीं॥

यदि इसी के दिव्य कानों से जगत में सुनें तो भले ही हम कान से बहरे हों लेकिन उसी समय सबकुछ सुनने लगेंगे [अर्थात् समझने लगेंगे], यदि इस [दिव्य कथा] के दिव्य पाँवों से चलने लगें तो अपने पाँव अति सबल हो जायेंगे [अर्थात् इस कथा के अनुसार चलने लग जायें तो हम संकल्पवान बन जायेंगे]।

एहिके हाथ करें सब काजा। लूलोपन नसाइ बर भ्राजा॥
एहिकर पौरुष जो चित धारहिं। निज कायरता सहज निबारहिं॥

इसी प्रकार यदि इसी के दिव्य हाथों से सम्पूर्ण कर्म करने लग जायँ तो हमारा लूलापन दूर हो जायेगा और हमारे दिव्य हाथ शोभा पाने लगेंगे। यदि इसकी सामर्थ्य को हृदय में धारण कर लें तो यह हमारी कायरता को सहज ही छिन्न-भिन्न कर देगी।

स्वाभिमान सों एहि यदि गहहीं। पुनि आतम अभिमानहिं लहहीं॥

वैसे ही यदि हम इसको स्वाभिमान से धारण करें तो आत्म-अभिमान से भर जायेंगे।

दोहा— एहिके मन मति चित्त सों करहिं जगत ब्यवहार।
तौ यह मन बुधि चित्तहीं बेगि करइ उद्धार॥ २१॥

यदि इसी के मन, बुद्धि, चित्त से जगत में व्यवहार करने लगें तो यह शीघ्र ही हमारे मन, बुद्धि, चित्त का उद्धार कर देगी।

चौपाई— कहहु कवन सो मधुर कहानी। जेहि महँ सब अध्यात्म समानी॥
जिमि सरिता सागर महँ जावें। तिमि सब कथा याहि महँ आवें॥

अरे! तो बताएँ कि ऐसी मधुर कहानी कौन-सी है [किसकी है], जिसमें समस्त अध्यात्मविद्या समायी हुई है; जिसमें समस्त [अपनी या परायी] कथाएँ वैसे ही समा जाती है जैसे समुद्र में नदियाँ।

सकल ज्योति जिमि रबि सनमानहिं। अपर कथा तिमि एहि कहँ मानहिं॥
जिमि सब प्रजा नृपति कहँ ध्यावें। तिमि सब कथा याहि गुन गावें॥

जिस प्रकार समस्त ज्योतियाँ सूर्य का सम्मान करती हैं अर्थात् उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अन्य सारी कथाएँ इसका सम्मान करती हैं। जिस प्रकार सारी प्रजा राजा का अनुगमन करती है, उसी प्रकार सारी कथाएँ इसी का अनुगमन करती हैं।

जिमि नभ महँ सब लोक समावें। तिमि सब कथा याहि महँ जावें॥
इंद्रिय सबहि मनहिं जिमि बंदतिं। तिमि सब कथा याहि अति नंदतिं॥

जिसप्रकार आकाश में समस्तलोक विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार सारी कथाएँ इस कथा में विलीन हो जाती हैं तथा जिस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ मन की ही वन्दना करती हैं, उसी प्रकार सारी-की-सारी कथाएँ एकमात्र इस कथा की शरण लेती हैं।

देवबृंद जिमि प्राणन्हिं आश्रित। तिमि एहि बिनु सब कथा निराश्रित॥

जिस प्रकार समस्त देवगण प्राणों के आश्रित रहते हैं उसी प्रकार इस दिव्यकथा के बिना सभी कथाएँ असहाय एवं निराश्रित हैं।

दोहा— जगत चराचर ब्रह्म सों प्रगटइ तहइँ समाहिं।
तस एहि कथा सों सब कथा निकसि निकसि तहिं जाहिं॥ २२॥

[इतना ही नहीं बल्कि] जिसप्रकार चराचर जगत ब्रह्म से प्रकट होकर ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है उसी प्रकार सारी कथाएँ इस दिव्य कथा से निकल-निकलकर पुनः इसी में विलीन हो जाती हैं।

चौपाई— करहु सजग होइ निज गुरु बंदन। जेहितें आइ सकहु मम स्यंदन॥
सुनहु कथा मन बुधि चित लाई। धरहु ध्यान अहमिति बिसराई॥

अब आप सब भी सजग होकर अपने-अपने सद्गुरु की वन्दना करें जिनकी कृपा से आप मेरे रथ पर आकर बैठ सकें। [अब तक आप सोच रहे होंगे कि वह कौन-सी कथा है और किसकी कथा है! जिसकी इतनी बड़ाई की जा रही है, वन्दना की जा रही है।] तो अपने मन, बुद्धि, चित्त को एकाग्र करें और अहंकार त्यागकर ध्यान देते हुए उसे सुनें-

गुरुहिं बंदि अब खोलउँ गाथा। जेहिं नावत सुर नर मुनि माथा॥
सो गाथा मम प्रभु पारथ की। बीज स्वार्थ अरु परमारथ की॥

अब मैं सद्गुरुदेव भगवान के चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम करके इस दिव्य कथा को खोल रहा हूँ जिसकी वन्दना देवता, मनुष्य एवं सन्त सभी करते हैं। वह दिव्य कथा मेरे प्रभु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवं महात्मा अर्जुन की है, वह कथा है- स्वार्थ और परमार्थ के मूल की।

सो गाथा प्रभु मधुसूदन की। जानहु सब कुंतीनंदन की॥
सो गाथा श्रीस्यामसुँदर की। गुडाकेस सम गांडिव धर की॥

वह कथा है- भगवान मधुसूदन एवं कुन्तीनन्दन अर्जुन की जिन्हें आप सब भलीभाँति जानते हैं। वह कथा है भगवान श्रीश्यामसुन्दर एवं गाण्डीवधारी निद्राविजयी अर्जुन की।

सो गाथा द्वारिकाधीस की। महाबाहु भारत असीस की॥
सो गाथा गोपालाच्युत की। सब जेहिं जानहिं पांडूसुत की॥

वह श्रेष्ठ गाथा है- भगवान द्वारकाधीश एवं भारत के वरद पुत्र महाबाहु महात्मा अर्जुन की। वह कहानी है अच्युत भगवान गोपाल की तथा पाण्डुपुत्र भक्त अर्जुन की, जिन्हें सभी जानते हैं।

सो गाथा गोपी बल्लभ की। सब्यसाँचि सम सबहिं सुलभ की॥
सो गाथा जप कृष्ण नाम की। दिब्य परंतप भक्ति धाम की॥

वह गाथा है- भगवती स्वरूपा गोपियों के प्राणवल्लभ की तथा महात्मा सव्यसाची की, जो उनके ही जैसी सबके लिए सुलभ है। वह गाथा है 'कृष्ण-नाम' के जप की तथा भक्ति के धाम परम तपस्वी अर्जुन की।

सो गाथा गोबिंद माधव की। गांडिव धारी सम साधव की॥
सो गाथा गिरिधर केसव की। भक्त धनंजय के बैभव की॥

वह गाथा है- गोविन्द माधव की तथा गाण्डीवधारी जैसे सन्त की। वह गाथा है गिरिधारी भगवान केशव की तथा भक्त धनञ्जय के आध्यात्मिक ऐश्वर्य की।

सो गाथा पारथ सारथि की। कृष्ण प्रेम रत बर महारथि की॥
सो गाथा प्रभु मुरलीधर की। भक्त जनन के आरत हर की॥

वह गाथा है- पार्थ के सारथि की एवं कृष्ण प्रेम में मग्न रहने वाले श्रेष्ठ महारथी अर्जुन की। वह गाथा है भगवान मुरलीधर की जो भक्तजनों की आर्तता को दूर करने वाली है।

सो गाथा श्रीभगवद्गीता। जो एहि पढ़े सोइ जग जीता॥

वह गाथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' है; जो इसका पाठ करेगा वह सम्पूर्ण जगत को जीत लेगा।

दोहा— सो गाथा संसार हित रचउँ अमल अस जानि।
परम प्रेम भरि गावहू नित्य परमहित मानि॥ २३॥

उसी गाथा को मैंने अति दिव्य एवं निर्मल जानकर जगत कल्याण के लिए इस रूप में रचा है, अत: परम प्रेम में भरकर, परम कल्याणकारी मानते हुए आप सब इसका नित्य पाठ करें।

चौपाई— इनि दोउनि महँ कृष्ण कहानी। परम बिमल नहिं जाइ बखानी॥
पितु बसुदेव सत्यब्रत धारी। देवकि माँ पतिब्रत अनुहारी॥

इन दोनों में भगवान श्रीकृष्ण की कहानी परम श्रेष्ठ एवं निर्मल है जिसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। मात्र इतना ही जान लें कि सत्य का व्रत धारण करने वाले महात्मा वसुदेव उनके पिता हैं और पातिव्रत्यधर्म धारण करने वाली भगवती देवकी उनकी माता हैं।

एक मंत्रमय गर्भ सों आवत। जग महँ अर्जुन पार्थ कहावत॥
दुर्बासा जस संत बिरागी। माँ कुंती जिन्ह पद अनुरागी॥

एक दिव्य मंत्रमय गर्भ से प्रकट होता है जो जगत में अर्जुन, पार्थ आदि नामों से पुकारा जाता है। दुर्वासा जैसे परम वैराग्यवान सन्त की शिष्या माँ कुन्ती ने उनकी अति निष्ठा के साथ सेवा की थी-

अति मन मुदित मंत्र तिहिं दीन्हा। जासों ऐसो बर सुत लीन्हा॥
प्रगटत एक बंदिगृह त्यागे। माखन मिश्री गोकुल रागे॥

जिससे उन्होंने उसे प्रसन्न होकर दिव्य मंत्र दिया जिसके माध्यम से उस माँ ने ऐसे पुत्र को प्राप्त किया। एक कारागार में प्रकट होता है और उसे त्यागकर गोकुल में प्रेमपूर्वक माखन-मिश्री खाता है।

एक हस्तिनापुर महँ आवत। सिसुपन महँ निज पिता गँवावत॥
एक पिता वात्सल्य न पावत। नंद जसोदा मन अति भावत॥

एक शैशवावस्था में ही अपने पिता को खो देता है और हस्तिनापुर में आकर फलता-फूलता है तो दूसरा अपने माता-पिता दोनों के वात्सल्य को छोड़कर [पुत्र के रूप में] बाबा नन्द एवं माँ यशोदा के मन को बहुत प्रिय लगता है।

मनहुँ मंत्रणा करि दोउ आये। गर्भ बास महँ नहिं जग छाये॥

मानो दोनों यह मंत्रणा करके अवतरित हुए थे कि जब हम गर्भ में रहेंगे तो जगत के बीच नहीं रहेंगे [अर्थात् जगत की छाया हम पर नहीं पड़नी चाहिए]।

दोहा— बसत जगत महँ कलियुगी मनुज दनुज सम होयँ।
बचन न तिन्हकर हम सुनहिं जबहिं गर्भ बिच सोयँ॥ २४॥

क्योंकि जगत में कलियुगी मानव भी बसते हैं जिनका स्वभाव असुरों के समान होता है; अत: गर्भवास के समय हम उनकी वाणी सुनेंगे ही नहीं।

चौपाई— बात अलग यह एक चरित महँ। कंस बिम्ब नित बास करत जहँ॥
किंतु चरित बिकसत गो माँ बिच। ताकर दिब्य प्रेम सों सिंच सिच॥

यह बात अलग है कि एक के चरित्र में सदा ही कंस की छाया का वास है लेकिन उनका सम्पूर्ण चरित्र गोमाताओं के बीच में पूर्ण होता है जिसे वे दिव्य वात्सल्यमय प्रेम से सींच-सींच कर बड़ा करती हैं।

बाल युवा इक दुर्योधन सँग। सो द्वेषत कर भींचत प्रति मग॥
संदीपनि एक सिक्षत दिक्षत। सो माँ पितु सम बहु बिधि रक्षत॥

एक की बाल्य और युवावस्था दुर्योधन के साथ फल-फूल रही है, जहाँ वह द्वेषवश जिधर जाता है, वहीं हाथ भाँजता रहता है। एक को महर्षि संदीपनि शिक्षित-दीक्षित करते हैं तथा माता-पिता के समान हर प्रकार से सुरक्षा करते हैं।

कृपाचार्य एक राखत सरने। पक्षपात कर राजा करने॥
द्रोनहिं टेरि भीष्म तब राखें। पक्षपात बिनु सिक्षहु भाषें॥

तो एक को कृपाचार्य अपनी शरण में रखते हैं किन्तु राजा धृतराष्ट्र के कारण पक्षपात करते हैं [अर्थात् पाण्डवों पर विशेष ध्यान नहीं देते]। तब पितामह भीष्म ने आचार्य द्रोण को आमन्त्रित कर यह निवेदन किया कि आप पक्षपातरहित होकर इन्हें शिक्षित करें।

दोउन्ह की गुरुभक्ति अपुर्बा। गुरुहिं लखहिं प्रभु सर्बेसर्बा॥
तन मन धन प्राणहिं गुरु अर्पण। ब्रह्म समुझि दोउ कीन्हि समर्पण॥

इन दोनों की ही गुरुभक्ति अपूर्व थी; वे गुरु को ही भगवान मानते थे। गुरु को ब्रह्म समझकर ही दोनों ने समर्पण किया था तभी तो उनका तन, मन, धन और प्राण गुरु के प्रति ही अर्पित था।

एहितें इन्ह जीवन सालीना। एहि बर गीता भयउ बिलीना॥
एहितें सिद्धत गीता रूपा। सगुन अगुन दोउ पुरुष अनूपा॥

इसी से इनका शालीन जीवन भगवद्गीता में ही विलीन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ये दोनों गीता रूप हैं, ये दोनों ही पुरुष अनुपम स्वरूप वाले एवं सगुण के साथ-साथ निर्गुण भी हैं।

दोहा— प्रभु गीता कर आतमा अर्जुन एहिकर प्रान।
प्रभुहिं बुद्धि इव जब लखहु पारथ मनहिं समान॥ २५॥

अत: यदि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द गीताजी की आत्मा हैं तो महात्मा अर्जुन इसके प्राण हैं और यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी की बुद्धि हैं तो महात्मा अर्जुन को मन जानना चाहिए।

चौपाई— यदि ज्ञानेन्द्रि कृष्ण गीता की। तौ कर्मेन्द्रि परंतप याकी॥
कारण तन कृष्णहि गीता कर। तौ सूक्षम तन अर्जुन एहि कर॥

यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तो परन्तप अर्जुन इसकी कर्मेन्द्रियाँ हैं और यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी के कारण शरीर हैं तो महात्मा अर्जुन इसके सूक्ष्म शरीर हैं।

कृष्ण बने गीतहिं अस्थुल तन। तौ अर्जुन बस्त्रादि सुनहु जन॥
बानी परा कृष्ण गीता कर। तौ पस्यंती गुडाकेस बर॥

यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी के स्थूल शरीर हैं तो आप सब जान लें कि भक्त अर्जुन इसके समस्त दिव्य वस्त्र हैं। यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी की परा वाणी हैं तो पश्यन्ती वाणी गुडाकेश महात्मा अर्जुन हैं।

गीता कृष्ण मध्यमा बानी। तौ बैखरि पार्थहिं मैं जानी॥
सुनहु सकल मम साधक बृंदा। जबहिं गहहु तुम्ह दृष्टि अनिंदा॥

यदि भगवान श्रीकृष्ण गीताजी की मध्यमा वाणी हैं तो बैखरी वाणी मैं भक्त अर्जुन को समझता हूँ। अब सारे साधकवृन्द मेरी बात को ध्यान देकर सुनें। यदि आप दोषरहित दृष्टि को धारण करेंगे-

तौ कृष्णहिं जीवन करि अर्पित। गीतामय होइ करु जग कर्षित॥
अस जिय जानि साथ मम आवहु। दोउन्ह बहु करि बिनय रिझावहु॥

तभी [अपने] जीवन को भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को समर्पित कर सकेंगे जिससे गीतारूप होकर आप सम्पूर्ण जगत को अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे [अर्थात् जगत विजेता बन जायेंगे]। अत: हृदय से ऐसा जानकर आएँ हम सब मिलकर प्रार्थना करके इन दोनों को प्रसन्न करें।

जासों प्रभु अरु पार्थ द्रवित हों। हमरो मन मति नाहिं भ्रमित हों॥
गीता दिब्य सजीवन मूरी। धृतराष्ट्रहु सम तारत पूरी॥

जिससे भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन हम पर द्रवित हों [कृपा करें] हमारे मन-बुद्धि भ्रमित न हों। [महाराज तो कहता है कि] भगवती गीता दिव्य संजीवनी जड़ी के समान हैं जो धृतराष्ट्र जैसे मोह से ग्रसित पुरुष को भी पूर्णतया मुक्त कर देती हैं।

प्रथम रुलावति मारति भारी। हरति सर्ब लखि बर अधिकारी॥
बहुरि बनाइ दिब्य संन्यासी। बोध करावति पद अबिनासी॥

यद्यपि प्रथम चरण में यह मार-पीटकर बहुत रुलाती है तथा उत्तम अधिकारी समझकर सर्वस्व छीन लेती है परन्तु अन्तिम चरण में यह उन्हें दिव्य संन्यासी बनाकर अविनाशी परमपद का बोध करा देती है।

नृप धृतराष्ट्र याहि परमाना। पुत्र सकल रणभूमि नसाना॥
इक सुत मरे रात दिन रोवहिं। अर्ध बिछिप्त मातु पितु होवहिं॥

इसके प्रमाण स्वयं राजा धृतराष्ट्र ही हैं जिनके समस्त पुत्र रणभूमि में धराशायी हो गये जबकि एक पुत्र के मरने से ही माता-पिता रात-दिन रोते कलपते हुए अर्धविक्षिप्त हो जाते हैं।

पर धृतराष्ट्र न पागल मुर्च्छित। भये न कहे किये को अनुचित॥
अस मन गुनि नरनाह उदासी। नगर त्यागि भये तब संन्यासी॥

किन्तु धृतराष्ट्र न तो पागल होते हैं न मूर्च्छित बल्कि कहते हैं कि आखिर अनुचित भी किसने किया था [अर्थात् मेरे पुत्रों ने ही किया था और उसका उन्हें दण्ड मिला]। ऐसा मन में समझते हुए हस्तिनापुर नरेश अनासक्त हो नगर का त्याग करके संन्यासी हो गये।

सोरठा— उनहिं नमत महराज द्वेषयुक्त गीता सुनेउ।
यहउ बड़ो एक राज गीता मातु प्रताप यह॥ २६ (क)॥

उन महात्मा धृतराष्ट्र को भी महाराज नमस्कार कर रहा है जिन्होंने [कम से कम] द्वेषपूर्वक ही सही

किन्तु गीता जी को सुना तो! यह भी एक दिव्य रहस्य है- जो गीता माता की महिमा ही है।

अस जिय जानि सुजान गीता सुमिरहु दिवस निसि।
यह अति दयानिधान देइ परम पद जो तुम्हहिं॥ २६ (ख)॥

हे बुद्धिमानो! ऐसा मन में समझकर आप रात-दिन भगवती गीता का मनन, चिन्तन और स्मरण करें। यह दया का अक्षय भण्डार है जो आपको परमपद देगी।

छंद— इहँ ब्रह्मबिद्या सुर सुरभि सम चारि थन सँग प्रगटई।
कछु कर्मयोग सों थन पिवत कछु ज्ञानयोग सों झटकई॥
कछु राजयोग सों पिवत अरु कछु ध्यानयोग सुँ ध्यावई।
महराज हिय भावति बहुत सो याहि महिमा गावई॥

यहाँ पर ब्रह्मविद्या [भगवती गीता] माता कामधेनु के समान चार दिव्य स्तनों के साथ प्रकट हुई है। उन थनों में से कुछ भक्त (कर्मयोगी) कर्मयोगरूपी स्तन का पान करते हैं तो कुछ ज्ञानयोगरूपी स्तन का और वैसे ही कुछ राजयोगरूपी एवं कुछ ध्यानयोगरूपी स्तन का पान करते हैं [इस प्रकार चारों ही ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं]। महाराज के हृदय को तो यह गीता माता ऐसी भा रही है कि सदा इसकी दिव्य महिमा गाता ही रहता है।

अर्जुन बिषादहिं दिब्य जेर सो सच बनावति मानहू।
बरु कृष्ण प्रभु हिय गर्भ सों तुम्ह जाहि प्रगटति जानहू॥
सबहीं पिलावति पार्थ सम यह ब्रह्मरस पावन महा।
तो आइ बइठहु अंक एहि जो सरस मन भावन कहा॥

मानो वह [प्रकट होते समय] महात्मा अर्जुन के विषाद को ही वास्तव में अपना दिव्य जेर बना लेती है जिसे भले ही भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के हृदयरूपी गर्भ से आप प्रकट हुआ जानते हैं। यह [इसकी दयालुता तो इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि जो इसकी शरण में आते हैं उन] सभी को अर्जुन के समान ही [वात्सल्यपूर्वक] अत्यन्त पावन ब्रह्मविद्यारूपी अमृत का पान कराती रहती है। तो आयें! जिसे सरस और मन-भावन कहा गया है, इसकी गोद में बैठ जायँ।

दोहा— एहिकर बोध करावन हेतु तुम्हहिं महाराज।
एहि बर देबी अंक महँ साँच चलत लिए आज॥ २७ (क)॥

इसका यथार्थ बोध कराने के लिए महाराज आज आपको इसी दिव्य भगवती की गोद में ले चल रहा है-

भगवदगीता नाम जिहिं सोइ कृष्णायन आहि।
साधक भक्त संत सब अंक रात दिन जाहि॥ २७ (ख)॥

जिसका [संसार में] 'श्रीमद्भगवद्गीता' नाम विख्यात है, वही यह 'कृष्णायन' है जिसकी गोद में दिन-रात सारे साधक, भक्त एवं सन्त पड़े रहते हैं [आश्रय लिये रहते हैं]।

चौपाई— कृष्णायन अति दिब्य मनोहर। ब्याप्त हुतो उर जगत चराचर॥
प्रगट्यो द्वापर महँ हरि हिय सों। भ्राजत मनहु चराचर पिय सों॥

कृष्णायन अत्यन्त दिव्य एवं मन को प्रिय लगने वाला है। पूर्व में यह सम्पूर्ण चराचर जगत के हृदय में व्याप्त था, जो द्वापर में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के हृदय से प्रकट हुआ और ऐसा शोभायमान हुआ मानो चराचर जगत का स्वामी हो।

भगत संत हिय गयो दुकाई। समय समय उनसों प्रगटाई॥
बिपुल नाम याकर जग आहीं। जो भगतन्ह हियँ अतिहिं सुहाहीं॥

उस समय यह भक्तों एवं सन्तों के हृदय में छिप गया जो समय-समय पर उनसे प्रकट होता रहता है। जगत में इसके अनेक नाम हैं जो भक्तों के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगते हैं।

मोरेउ हिय गुरु कृपा सों आयो। प्रगटि जो कृष्णायन कहलायो॥
दोइ सहस सम्बत चौंसठ महँ। ज्येष्ठ मास कर कृष्णपक्ष कहँ॥

मेरे हृदय के द्वारा परम पूज्य गुरुदेव की कृपा से ही प्रकट हुआ है जो कृष्णायन कहला रहा है। संवत् दो हजार चौसठ में ज्येष्ठ माह कृष्णपक्ष के अन्तर्गत-

सोमवार तिथि त्रयोदसी जहँ। प्रगटन लग अभिजित मुहूर्त महँ॥
दोइ सहस सम्बत छाछठ सुचि। अगहन तिथि एकादसि जग रुचि॥

त्रयोदसी तिथि सोमवार के दिन अभिजित मुहूर्त में यह प्रकट होने लगा और संवत् दो हजार छाछठ के अगहन मास की जगत को प्रिय लगने वाली पवित्र मोक्षदा एकादशी-

गीता मातु जयंती जा दिन। पूर्ण होइ प्रगटायो ता दिन॥

जिस दिन गीता माता की जयन्ती थी, उसी दिन यह पूर्णत: प्रकट हो गया।

छंद— गीता जयंती जाहि दिन सुचि संत भक्त मनावते।
कुरुभूमि रथ की कल्पना करि कृष्ण पार्थहिं ध्यावते॥
तिहिं दिवस मैं अति प्रेम सों हरिभक्त संत बुलाइके।
अर्पित कियों कर माहिं कृष्णायनहिं अति हरषाइके॥

जिस दिन पावन गीता जयन्ती थी जिसे सन्त एवं भक्त विधिवत् मनाते हैं तथा कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत रथ की कल्पना करके भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का स्मरण करते हैं उसी दिन मैंने भी अत्यन्त हर्षित होकर भगवद् भक्तों एवं सन्तों को बुलाकर अत्यन्त हर्षित होकर उनके हाथ में 'कृष्णायन' को समर्पित किया।

सोरठा— आयो तुम्हरेउँ हाथ तुम्हहु भये सौभागि अति।
अब न तजउ एहि साथ चाहउ जो निर्बान पद॥ २८॥

अब तो यह आपके भी हाथ में आ गया, अत: आप भी अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गये, इसलिए यदि निर्वाणपद चाहते हैं तो आप भी इसे धारण किये रहें, इसका साथ न छोड़ें।

चौपाई— यह गाथा अब करउँ अरम्भा। पल छिन होवे मनहिं अचम्भा॥
एक बार द्वापर युग अंता। मनहीं मन अस सोच अनंता॥

आपके मन को प्रतिपल आश्चर्यचकित करने वाली इस गाथा को अब मैं आरम्भ कर रहा हूँ। एक बार जब द्वापर युग का अन्त हो रहा था तो भगवान नारायण ने मन ही मन विचार किया कि-

त्राहि त्राहि करि सबहि पुकारत। दूर करउँ भक्तन्ह कर आरत॥
प्रगट होइ असुरन्हि सब मारउँ। दुख निवारि सब भक्तन्ह तारउँ॥

सभी भक्त त्राहि-त्राहि (रक्षा करो-रक्षा करो) पुकार रहे हैं, अत: प्रकट होकर असुरों का संहार करके भक्तों की आर्तता एवं दु:खों को दूर कर उन्हें मुक्ति प्रदान करूँ।

अस बिचारि जेहि भाँति कृपाला। प्रगट भये प्रभु दीनदयाला॥
सब जानत सोइ कथा अनूपा। नहिं बिस्तारउँ ताहि स्वरूपा॥

ऐसा विचार कर दीनों पर दया करने वाले कृपालु भगवान जिसप्रकार प्रकट हुए उस अनुपम कथा को सभी जानते हैं, इसलिए उसके स्वरूप का सविस्तार वर्णन नहीं कर रहा हूँ।

द्वापर कलियुग संधिहिं माहीं। प्रभु प्रगटे अर्जुन रथ पाहीं॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल में [युद्धभूमि में] भक्त अर्जुन के रथ पर प्रकट हुए।

दोहा— सुद्ध सच्चिदानंदमय परम परावर नाथ।
प्रगटे प्रभु संसार हित हनूमान लिये साथ॥ २९॥

जो अतिशय शुद्ध, सत्, चित् एवं आनन्दमय हैं, प्रकृति से परे एवं सबके स्वामी हैं, वे भगवान सम्पूर्ण संसार के कल्याणार्थ भक्त हनुमान को साथ लेकर प्रकट हुए।

चौपाई— पीताम्बर प्रभु तन अति राजत। जाहि निरखि सब जग पट लाजत॥
दिब्य मुकुट भ्राजत प्रभु माथें। अगणित रबि ससि चमकत साथें॥

उन भगवान नारायण के शरीर पर पीताम्बर अति शोभायमान हो रहा है, जिसे देखकर संसार के समस्त वस्त्र शोभाहीन प्रतीत होते हैं; मस्तक पर दिव्य मुकुट ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो असंख्य सूर्य और चन्द्रमा एकसाथ प्रकाशित हो रहे हैं।

चहुँ दिसि दिब्य ज्योति अति छिटकइ। मम बानी कैसे तेहिं प्रगटइ॥
उर बैजंती माल बिराजत। श्रवननि महँ कुंडल अति भ्राजत॥

दसों दिशाओं में अत्यधिक दिव्य ज्योति छिटक रही है, जिसका वर्णन मेरी वाणी किस प्रकार करे! गले में वैजयंतीमाला विराजमान है और कानों में कुण्डल अति शोभायमान हो रहे हैं।

कर एक रास संख एक हाथें। लये मनोहर मुरली साथें॥
रत्न जड़ित जूती पद मोहे। काहु चरन ऐसो नहिं सोहे॥

एक हाथ में [घोड़े की] रास तथा दूसरे हाथ में शंख [शोभा पा रहा] है एवं एक मनोहारिणी मुरली भी अपने साथ में रखे हुए हैं। पैरों में रत्नों से जड़ी हुई जूती धारण किये हुए हैं जो मन को मोह लेती है। सृष्टि में ऐसे किसी के भी चरण नहीं हैं जो इस भाँति शोभा देते हों।

मधुनासिका कमलवत नैना। सोहति भृकुटि कहइ किमि बैना॥
परम सांति मुख मंडल भ्राजत। जोगी जती संत मुख लाजत॥

अति दिव्य नाक, कमल के समान नेत्र तथा भृकुटि- ये सब ऐसे सुशोभित हो रहे हैं कि वाणी किस प्रकार उसका वर्णन करे! प्रभु के मुख-मण्डल पर जो परम शान्ति विराजमान है वह योगियों, संन्यासियों एवं सन्तों के मुख मण्डल की शान्ति को भी लज्जित कर रही है।

हिय आनंद मनहु मुख आवत। महाराज कछु सोभा गावत॥

मानो उनकी हृदयगत प्रसन्नता मुख-मण्डल पर छा गयी है जिस शोभा का महाराज ने कुछ वर्णन किया है।

दोहा— पुनि निरखउँ तिन्हके दृगनि बिस्वरूप प्रभु एक।
परिकरमा करि बंदना करउँ माथ पद टेक॥ ३०॥

जो प्रभु एक होते हुए विश्वरूप भी हैं [और इस रूप में भी हैं], उनके नेत्रों में बारम्बार देखकर परिक्रमा करके चरणों में माथा टेकते हुए वन्दना करता हूँ।

छंद— बंदउँ अब पुनि कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
गोपी बल्लभ यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
भक्त प्रान यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
सुर रंजन यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥

अब पुनः [मैं सच्चिदानन्द भगवान के] 'कृष्ण' नाम की वन्दना करता हूँ। यह 'कृष्ण' नाम गोपियों को अत्यन्त प्रिय है, सगुणोपासक भक्तों का प्राण है तथा देवताओं के मन को प्रसन्न करने वाला है, ऐसे 'कृष्ण' नाम वाले प्रभु के चरणों में मेरा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

ॐ बीज यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
ऐं बीज यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
ह्रीं बीज यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
श्रीं बीज यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
क्लीं बीज यह कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥

यह 'कृष्ण' नाम ही 'ॐ' बीज है, यही 'ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं' बीज भी है। ऐसे महिमामय 'कृष्ण' नाम वाले प्रभु के चरणों में मेरा बारम्बार नमस्कार है।

महामृत्युंजय कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
गायत्री बर कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
बेदमंत्र यहि कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
बसुदेव देवकी उद्धारक सुभ कृष्ण नाम कृष्णाय नमः॥

यह 'कृष्ण' नाम ही 'महामृत्युञ्जय, श्रेष्ठ गायत्री तथा वेद-मंत्र' है। यही 'कृष्ण' नाम महात्मा वसुदेव एवं भगवती देवकी का उद्धार करने वाला है, ऐसे दिव्य एवं पावन 'कृष्ण' नाम वाले प्रभु के चरणों में मेरा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

नंद यसोदा मन रंजन कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
कंस बिदारण कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
चाणूर बिनासन कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
सिसुपाल बिध्वंसन कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥

यह 'कृष्ण' नाम नन्दबाबा एवं यशोदा माँ के मन को प्रसन्न करने वाला तथा कंस, चाणूर और शिशुपाल आदि असुरों का संहार करने वाला है। इस 'कृष्ण' नाम वाले परम समर्थ प्रभु के चरणों में मेरा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

सब असुर निकंदन कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
सब कहँ यह कर्षत कृष्ण नाम कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
हे बिस्वरूप हे अखिलेस्वर हे मधुसूदन तुव नमो नमः॥
आनंदकंद हे परम बिभू तुव नमो नमः तुव नमो नमः॥

यह 'कृष्ण' नाम समस्त असुरों का संहार करनेवाला तथा सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाला है। हे विश्वरूप! हे अखिलेश्वर! हे मधुसूदन! हे आनन्दकन्द! हे परमब्रह्म! आपके चरणों में मेरा बारम्बार नमस्कार है।

बिहरहु सिव ब्रह्मा मुनि मानस हे पार्थ सारथी नमो नमः॥
ब्यास मुनिहुँ भगवदमय छंदन्हि लिखत कहत प्रभु नमो नमः॥
पावन गीतामय परम सुहृद तुव नमो नमः तुव नमो नमः॥
भाषै कृष्णायन महाराज अस बर दो हे प्रभु नमो नमः॥

हे शिव, ब्रह्मा एवं सन्तों के चित्त में विहार करने वाले! हे पार्थसारथि! आपको नमस्कार है। महर्षि व्यास भी आप परमात्मा के महिमामय छंदों को लिखते हुए निरन्तर 'कृष्णाय नमः' 'कृष्णाय नमः' कहते रहते हैं। आप ही परमपावन गीतामय एवं परम सुहृद हैं, आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। हे प्रभो! आपके चरणों में [बारम्बार] नमस्कार करते हुए महाराज ऐसा वरदान माँग रहा है जिससे वह 'कृष्णायन' की रचना करने में समर्थ हो सके।

दोहा— अवयव रहित अनामय तुव महँ नहिं कछु भेद।
भाषउँ गीता नमन करि तुम्हहिं न जानत बेद॥ ३१॥

हे निरवयव (विभागरहित) अनामय प्रभो! आप में किसी भी प्रकार के द्वैत की सम्भावना नहीं है, आपको वेद भी नहीं जानते हैं [आप जिसको जना दें वही जानता है]; अतः मैं आपकी वन्दना करके गीताभाष्य कर रहा हूँ।

चौपाई— नमउँ सपूत कपूतन्हि सारे। आर्यभूमि महँ जनम जे धारे॥
आजहिं राजसुअन जे आहीं। बुद्ध कहाहिं कालि जग माहीं॥

अब [मैं पवित्र] आर्यभूमि में जन्म लेनेवाले समस्त सपूत एवं कपूतों की वन्दना करता हूँ, जो आज राजपुत्र हैं तो कल इस जगत में भगवान बुद्ध कहे जाते हैं।

बरण गोत्र जिन्ह आज न जानहिं। संत कबीर कालि सब मानहिं॥
आज कहत तुलसी जेहि लोगा। कल जब होवें बिषय बियोगा॥

जिनके आज वर्ण और कुल का पता नहीं है, कल वे ही [इस धर्मभूमि में] भक्त कबीर कहे जाते हैं। आज लोग जिन्हें तुलसी कहकर पुकारते हैं, कल जब वे निर्मल वैराग्य से सम्पन्न हो गये और-

रामचरित मानस रचि राखें। तुलसीदास समुझि तब भाषें॥
करहिं नमन साधक अरु सिद्धा। भगत जगत कर कोउ न बिरुद्धा॥

श्रीरामचरितमानस की रचना कर दी तो सारे लोग उन्हें सन्त समझ [सन्त शिरोमणि] तुलसीदास कहने लगे, उसके उपरान्त जगत के साधक, सिद्ध एवं भक्त उनकी वन्दना करने लगे, फिर उनके विरुद्ध कोई नहीं रहा।

अहै बहू कल आज बियोगन। बंदहिं कहि मीरा भइ जोगन॥
रत्नाकर आजहिं के हर्ता। कहत सबहिं यह बहु अघकर्ता॥

कल की जो बहू है वह आज प्रभु वियोग में वियोगिनी हो जाती है, जिसे सभी योगिनी मीराबाई कहकर नमस्कार करने लगते हैं। आज के जो रत्नाकर डाकू हैं जिनके विषय में सभी कहते हैं कि ये महापापाचारी हैं,

मारु काटु जो कह दिन राती। तउ कटि पट नहिं क्षुधा अघाती॥

जो दिन-रात मारो-काटो, मारो-काटो कहते रहते हैं तो भी न कटि पर वस्त्र होता है और न क्षुधा तृप्ति ही हो पाती है।

दोहा— जदपि प्रगट भये ब्रह्मकुल तदपि असुभ ब्यवहार।
झपटत दपटत काटत करहिं मारु बस मार॥ ३२ (क)॥

यद्यपि उन्होंने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है तथापि उनका व्यवहार आसुरी हो गया है। वे सदा छीना-झपटी, डाँट-डपट, काट-पीट और मार-मार ही करते रहते हैं।

कल करि जप तप घोर ते ब्रह्मपदहिं जब पायँ।
बंदत तिन्ह सब आदि कबि बालमीकि कहलायँ॥ ३२ (ख)॥

कल के दिन जब उन्होंने घोर जप-तप करके ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया तब जगत में सभी उनकी वन्दना करने लगे इसप्रकार वे आदिकवि ब्रह्मर्षि वाल्मीकि कहलाये।

चौपाई— रचि रामायण ते जग दीन्हें। सकल भुवन निर्मल जस कीन्हें॥
तबसों बही काब्यमय सरिता। साधक सिद्ध सुमानस भरिता॥

जब उन्होंने रामायण की रचना करके जगत को समर्पित कर दिया तब उनका सुयश चौदहों भुवनों [एवं तीनों लोकों] में छा गया। तबसे यह काव्यमयी नदी बह चली जो साधकों एवं सिद्धों के हृदय को आनन्द से आप्लावित (सराबोर) करने लगी।

रचि अस्लोक प्रभुहिं गुन गावहिं। सहजहिं मंत्र रागमय आवहिं॥
नृपति आज सो कल राजर्षी। पुनि तजि गृह कहलायँ महर्षी॥

फिर तो सभी श्लोकों (रागबद्ध मंत्रों) में ही रचना करके भगवान का गुण गाने लगे तथा सबके हृदय से सहज ही मंत्र रागबद्ध हो प्रकट होने लगे। [इस धर्मभूमि में] जो आज का राजा है वही कल का राजर्षि होता है, पुनः यदि वही गृह त्यागकर संन्यास ले ले तो महर्षि कहलाता है।

बिप्र आज कल ऋषि पद पावहिं। ब्रह्महिं लखि ब्रह्मर्षि कहावहिं॥
आज असंत कालि कर संता। बंदइ जग कहि प्रभु भगवंता॥

आज का वैदिक ब्राह्मण कल का ऋषि पद प्राप्त कर लेता है, यदि वही ब्रह्मप्राप्ति कर लेता है तो ब्रह्मर्षि कहलाता है। आज का असन्त कल का संत कहलाता है, जगत जिसकी हे प्रभो, हे भगवन् आदि कहकर वन्दना करता है।

आजहिं जो आतम जिज्ञासू। ब्रह्म होइ कल जग कर बासू॥
अति बिषई जो आज कहावत। कल निर्बिषइ होइ हरि ध्यावत॥

[इस आर्यभूमि में] जो आज का आत्मजिज्ञासु है, वही कल ब्रह्म होकर जगत में वास करता है। जो आज अत्यन्त विषयी कहा जाता है वही कल निर्विषयी होकर प्रभु का ध्यान करने लगता है।

आज जगत जो गृही कहावे। कल बनि बटुक बेद पढ़ि ध्यावे॥
बानप्रस्थ रत नर कोउ आजहिं। बनि यति फिरत कालि बिभु काजहिं॥

आज जो गृहस्थ कहलाता है वही कल ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन करने लगता है। आज जो वानप्रस्थाश्रम धारण करता है वही कल संन्यासी होकर भगवान के लिए जगत में विचरण करता है।

यहि कारन धृतराष्ट्र नरेसा। मोह ग्रसित तउ कर उपदेसा॥
पूजहिं धर्मभूमि कहि पावन। अस संज्ञा एहि देत सुहावन॥

यही कारण है कि धृतराष्ट्र जैसा मोहग्रस्त राजा भी यह उपदेश करने लगता है कि इस आर्यभूमि की पावन धर्मभूमि कहकर पूजा की जाती है। इस प्रकार वह [स्वयं भी] इसे ऐसी संज्ञा (धर्मभूमि) से विभूषित करता है।

छंद— सिसु होत तेहितें युवक पुनि बिद्वान बैज्ञानिक महा।
मरि जायँ बृद्धत अपर राष्ट्रन्ह मनुज संन्यासी कहा॥
पर आज कर बालक इहाँ कल के बटुक सच होवहीं।
यति होइ परसों ब्रह्मबिद्या देइ जग मल धोवहीं॥

यही कारण है कि अन्य (पाश्चात्य आदि) देशों के मनुष्य बच्चे से जवान होते हैं, विद्वान अथवा महान पदार्थवादी एवं प्रकृतिवादी वैज्ञानिक होते हैं, फिर वृद्ध होकर मर जाते हैं- ऐसा यह संन्यासी (महाराज) कह रहा है; किन्तु यथार्थ में यहाँ (इस धर्मभूमि में) आज का बालक कल ब्रह्मचारी होता है। वही परसों दिव्य संन्यासी होकर तत्त्वज्ञान (परम विज्ञान / सनातन ज्ञान) का दान देते हुए जगत के [अज्ञानजनित दु:ख आदि] दोषों को धोता फिरता है।

एहि भाँति जन्मत जे इहाँ मानहिं भले द्विज ही सही।
अरु बैस्य छत्रिय सूद्र स्वपच किरात खस आभीर ही॥
खल चोर लंपट कपटि खम्पट नीच बरु निज मानहीं।
पर मूल महँ ब्रह्मर्षि बटु राजर्षि निज कहँ जानहीं॥

इस प्रकार जो यहाँ जन्म लेते हैं, वे भले ही स्वयं को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, श्वपच, कोल-भील, खस या आभीर मानते रहें अथवा [वैसे ही कोई अपने को] खल, चोर, लम्पट, कपटी, उत्पाती या नीच ही क्यों न समझते रहें परन्तु वे मूल में ब्रह्मचारी, राजर्षि या ब्रह्मर्षि ही हैं।

सोरठा— करहु न निज मन मैल भक्त संत अरु सिद्ध तुम्ह।
आर्यभूमि की गैल अहउ न कल्पहु समुझि अस॥ ३३॥

अत: आप अपने मन को बोझिल न करें क्योंकि आप आर्यभूमि के (सनातन) मार्ग पर हैं, [पुन:] मन में ऐसा जानकर आप दुखी न होवें क्योंकि आप कल के भक्त, सन्त एवं सिद्ध महात्मा हैं।

चौपाई— बरद सुअन हे आर्यभूमि के। गहु संकल्पहिं याहि चूमि के॥
तजहु अबहिं निज हीन दीनता। अति घातक अस छुद्र खीनता॥

अत: हे आर्यभूमि के वरद पुत्रो! आप उठें, इस आर्यभूमि (भारतभूमि) को प्रणाम करके अपनी संकल्प शक्ति को धारण करें, अपनी [हृदय की] दीन-हीन वृत्तियों को त्याग दें, क्योंकि ये क्षुद्र वृत्तियाँ बड़ी घातक होती हैं।

झाँकहु तुम्ह निज रूप निहारी। अति अध्यात्म सूरता भारी॥
दुक्यो चित्त तेहिं अवसर देहू। होइ अकाम जगत जस लेहू॥

आप अपने स्वरूप में झाँककर देखें तो महत् अध्यात्म और अभूतपूर्व शौर्य को अपने चित्त में छिपा हुआ पायेंगे, अत: उन्हें अवसर दें और निष्काम होकर जगत में निर्मल यश प्राप्त करें।

करि जपयोग यज्ञ प्रभु देहू। प्रतिफल उनहिं माँगि बस लेहू॥
जब पुर्बज अर्जुन प्रभु माने। तब निज दिब्य सूरता जाने॥

योग, जप, तप एवं यज्ञादि का सम्पादन कर भगवान को समर्पित कर दें तथा इसके बदले एकमात्र उन्हीं को माँगें। आपके पूर्वज महात्मा अर्जुन ने भी जब भगवान की बात मानी तभी अपनी दिव्य शूरता एवं वीरता को पहचान सके।

रनथल महँ प्रगटी जिज्ञासा। लिये ज्ञान गइ हृदय पिपासा॥

फिर तो वे युद्धभूमि में ही आत्मजिज्ञासु बन गये और [भगवत कृपा द्वारा प्राप्त] ब्रह्मज्ञान से उनके हृदय की समस्त पिपासा (प्यास) शान्त हो गयी।

दोहा— जानि लिये जब आर्यथल महिमा अपरम्पार।
तब जीवन बहुमूल्य अति अस मन करहु बिचार॥ ३४ (क)॥

इस प्रकार जब आपने इस धर्मभूमि आर्यावर्त की अपरम्पार महिमा जान ली तो अपने जीवन की अमूल्यता पर भी मन में भलीभाँति विचार करें।

मासपारायण, पहला विश्राम

याज्ञबल्क्य जस गुरु मिलत आतमज्ञान पिलाय।
राज सिंहासन लेत नहिं देत बिदेह बनाय॥ ३४ (ख)॥

आपने सुना है कि राजा जनक को जब याज्ञवल्क्य जैसा सद्गुरु मिलता है और आत्मज्ञान का पान कराता है तो राजसिंहासन छुड़ाये बिना अर्थात् गृहस्थाश्रम में ही ब्रह्मज्ञान देकर विदेह बना देता है।

चौपाई— नृप बिदेहता अस तन सोहत। निर्गुण आइ सबहिं जनु मोहत॥
सुद्ध सच्चिदानंद दिनेसा। राज करत तन गहि मिथिलेसा॥

फिर तो उन राजा (जनक) में विदेहता [नामक सिद्धि] ऐसी सुशोभित हुई मानो उनकी देह में आकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म सबको मोहित कर रहा हो और [इतना ही नहीं मानो दीनों पर दया करने वाला]शुद्ध सच्चिदानन्द भगवान ही राजा जनक के रूप में शरीर धारण कर राज्य कर रहा हो।

तब तुम्हारि जस अहइ अवस्था। तेहि अनुरूप जो मिली ब्यवस्था॥
तेहिं महँ मौलिक जीवन खोजहु। आत्मज्ञान सों सब बिधि ओजहु॥

तब आपको आपकी अवस्था के अनुसार जो और जैसी व्यवस्था मिली हुई है उसी में अपने मौलिक जीवन की खोज करें तथा आत्मज्ञान प्राप्त कर सब प्रकार से शक्ति सम्पन्न (ओजवान) हो जाएँ।

आपु जनक सों कम कस माप्यो। निज जननी कर पय नहिं ताक्यो॥
का तव जननि न दूध पिलायो। जनक जननि सों दूध लजायो॥

आप स्वयं को राजा जनक से कम क्यों आँकते हैं ? क्या आपने अपनी माँ के दूध की ओर झाँककर नहीं देखा! क्या आपको आपकी आर्या माँ ने दूध नहीं पिलाया कि राजा जनक की माँ [के दूध] के सामने आपकी माँ का दूध लज्जित हो रहा है ?

बत्सलता सम मातन्ह केरी। सम आदर इहँ लहहिं घनेरी॥
बरु होवे माँ राजरिषी की। ब्यास परासर कपिल रिषी की॥

अरे! [भारतवर्ष की] समस्त माताओं की वात्सल्यता (स्नेह) एक ही समान है। यहाँ सभी माताओं को विशेष रूप से एक ही समान आदर-सम्मान प्राप्त होता है, भले ही वह माँ किसी राजर्षि (जनकादि) की हो या ब्रह्मर्षि व्यास, पराशर, कपिल की।

भरद्वाज बाल्मीकि अत्रि की। अनुसुइया अरु गार्गि पुत्रि की॥
बरु माँ बर सबरी मीरा की। ध्रुव प्रहलाद भगत धीरा की॥

वह श्रेष्ठ माँ भरद्वाज, वाल्मीकि ,अत्रि [आदि मुनियों] की हो या अनुसूया एवं योगिनी गार्गी की अथवा

शबरी, मीरा या ध्रुव, प्रह्लाद आदि धैर्यवान भक्तों की।

सब माँ दूध पिलावतिं जबहीं। जगत जननि ते होवतिं तबहीं॥

[भारतवर्ष की] प्रत्येक माँ जब अपने बच्चे को दूध पिलाती है तभी वह जगज्जननी हो जाती है।

छंद— निज मातु दुग्धहु मानहू तुम्ह जगत जननी दुग्ध सम।
जो ब्रह्मबिद्यामय पिलावति छीर हरति असुद्ध तम॥
बिस्वास करि अस सुरति धरि निज प्रबल सक्ति पुकारहू।
कछु मास कीधौं बर्ष महँ महराज सम हुंकारहू॥

अत: आप सब भी अपनी माता के दूध को जगत जननी [भगवती सीता, कौसल्या एवं यशोदा आदि] के दूध के समान ही मानें, जो ब्रह्मविद्यामय दूध पिलाकर अशुद्ध अज्ञान का हरण कर लेती है। अत: विश्वास के साथ इस रहस्य का स्मरणकर अपनी प्रबल शक्ति (आत्मशक्ति) का आवाहन करें तो कुछ ही मास या वर्षों में आप महाराज के समान हुंकार भरने लगेंगे।

यह सत्य कीधौं सत्य सो जेहि दिन हृदय सच आवई।
भुख प्यास नींद बिलाय तेहि दिन जनक सम बिकलावई॥
नहिं बोलनो अरु सूननो कछु जाननो जग भावई।
तेहि दिनहिं अष्टावक्र सम ज्ञानी परम प्रभु आवई॥

आपके हृदय में जिस दिन राजा जनक की भाँति 'यह सत्य है या वह सत्य है'- ऐसी जिज्ञासा प्रकट हो जायेगी, उसीदिन से आप भूख-प्यास और नींद को भूलकर [उन्हीं के समान] अति विकल हो जायेंगे फिर आपको जगत में कुछ बोलना, सुनना या जानना नहीं भायेगा। उसी दिन अष्टावक्र जैसे परम ज्ञानी सद्गुरु भगवान प्रकट होकर-

हुंकार भरि अस कहइ सो सुनु आत्मजिज्ञासू महा।
नहिं सत्य दोऊ ही असत जो सत्य अपर परे कहा॥
सुनि तिन्ह बचन आस्चर्यवत निरखहु बचन नहिं आवई।
महराज कह तब गुरु बचन बस दिवस निसि सच भावई॥

हुंकार भरते हुए आपको पुकारेंगे कि हे महत् आत्मजिज्ञासु! सुनो! न यह सत्य है, न वह सत्य है बल्कि ये दोनों ही असत्य हैं। जो सत्य है वह तो दूसरा ही है, जो दोनों से परे कहा जाता है। तब उनके वचनों को सुनकर आप आश्चर्यचकित हो देखते रह जायेंगे, वाणी ही नहीं निकलेगी। महाराज सत्य ही कहता है कि तब अहर्निश एकमात्र गुरुवचन ही प्रिय लगेगा।

सोरठा— बैठै अस क्यों सोच बिषई मो सम नाहिं जग।
कामी क्रोधी पोच पुनि कस बनउँ बिदेह सम॥ ३५ (क)॥

अत: आप ऐसा क्यों सोच बैठे हैं कि मेरे जैसा जगत में कोई विषयी है ही नहीं; मैं ऐसा कामी, क्रोधी एवं पददलित हूँ तो फिर विदेहराज जैसा कैसे बन सकता हूँ।

महामोह मन माँहिं गुडाकेस चित कस गहौं।
समुझउँ अपुनो थाहिं ऋषि महर्षि नहिं बनि सकउँ॥ ३५ (ख)॥

मन में महामोह समाया है, फिर गुडाकेश को चित्त में (आदर्श रूप में) कैसे धारण करूँ? मैं अपनी थाह [कि कितने पानी में हूँ,] भलीभाँति जानता हूँ कि ऋषि-महर्षि नहीं बन सकता।

चौपाई— सोचहु जेहि थल तृन बहु जामहिं। उपजइ अन्न बहुत सच तामहिं॥
ऊसर थलहिं बीज नहिं प्रगटत। तिमि अनार्यथल के नर भटकत॥

आप क्यों नहीं विचार करते कि जिस खेत में विशेष घास होती है उसी भूमि में अन्न उपजने की भी विशेष सम्भावना होती है; ऊसर खेत में [डाला हुआ] बीज तो जमता ही नहीं, इसी से तो अनार्य (जिन्होंने

भारतभूमि पर जन्म नहीं लिया) सदैव भटकते रहते हैं।

ब्रह्मचाह बिज तिन्ह उर माहीं। उगे न कबहुँ जहाँ अवगाहीं॥
सत्य असत्य खोज नहिं करहीं। मनगढ़न्त धर्मन्हिं आचरहीं॥

क्योंकि उनके हृदय में ब्रह्म इच्छारूपी बीज कभी प्रकट होता ही नहीं जिससे कि वे डुबकी लगायें। वे सत्य-असत्य की खोज कभी नहीं करते हैं अपितु [सनातन मार्ग से भ्रष्ट] मनोकल्पित धर्म में मोहित होते रहते हैं।

साँच कहउँ तुम्हरे उर नीती। दुर्योधन पितु सम न अनीती॥
गये बिते तुम्ह उन सम नाहीं। पुनि कस सोक करहु मन माहीं॥

मैं सत्य कहता हूँ कि आपके हृदय में नीति है, धृतराष्ट्र के समान अनीति नहीं है। आप उनके समान गये-बीते तो हैं नहीं, फिर मन में शोक-सन्ताप क्यों कर रहे हैं?

जब तेहि नेत्रहीन कहँ गीता। ब्यास सुनाइ किये सुपुनीता॥
जब ऋषि करत उनहिं जस सार्थक। पुनि किमि समुझहु स्वयं निरर्थक॥

जब व्यास मुनि ने उस नेत्रहीन को गीता सुनाकर पावन बना दिया और उनके जैसे को ये ऋषि सार्थक बना सकते हैं तो फिर आप स्वयं को निरर्थक क्यों समझते हैं!

दोहा— आर्यभूमि महँ अहहु जे सिद्ध संत अरु भक्त।
आवहु तिन्ह बहु काज तुम्ह बुझहु न स्वयं अभक्त॥ ३६॥

आप आर्यभूमि में जो भी सिद्ध, सन्त और भक्त हैं उनके बहुत काम आ सकते हैं; इसलिए स्वयं को असन्त न समझें।

चौपाई— मोहग्रसित धृतराष्ट्रहु ध्यावहिं। आर्य थलहिं सुभ भूमि बतावहिं॥
अस इहँ के सब गृह यगसाला। गर्भ मातु यग कुंड बिसाला॥

मोहग्रस्त धृतराष्ट्र भी जब कुछ [गहरे में उतरकर विशेष] चिन्तन करते हैं तो आर्यभूमि को धर्मभूमि की संज्ञा देते हैं, वह इसलिए कि यहाँ प्रत्येक घर यज्ञशाला है जिसमें माताओं का गर्भ विशाल यज्ञ-कुण्ड है।

जप तप योग समिधि जहँ डारतिं। परमयोग आगिहिं तहँ बारतिं॥
पति जेहि यज्ञ पुरोहित बृंदा। नित प्रति भजहिं सच्चिदानंदा॥

जिसमें वे जप, तप और योगरूपी समिधा को डालती हैं और [यथासमय] उस गर्भ रूपी यज्ञकुण्ड में श्रेष्ठ योगरूपी अग्नि जला देती हैं। धर्मपति ही उस यज्ञशाला के पुरोहित वृन्द हैं जो अहर्निश एकमात्र सच्चिदानन्द भगवान के ध्यान-भजन में लगे रहते हैं।

परमबीर्य की आहुति देहीं। श्रेष्ठ सुअन जनमावत एहीं॥
ते बर ओज तेजमय बालक। जपी तपी योगी कुल पालक॥

वे पावन वीर्य की [गर्भरूपी कुण्ड में] आहुति देकर यहाँ श्रेष्ठ पुत्रों को जन्म देते हैं जो बालक परम ओजस्वी, तेजस्वी, जपी, तपी, योगी तथा अपने कुल की वृद्धि एवं रक्षा करने वाले,

गो पालक सुर संतन्ह चेरो। दीन जनन्हि सुख देहिं घनेरो॥

गौरक्षक, देवताओं तथा सन्तों के सेवक होते हैं एवं दीनजनों की तो आत्मा ही होते हैं।

दोहा— धर्मभूमि एहि अवतरेउ सूर्यबंस महँ राम।
जिनसों रावन मृत्यु बर माँगि गयो निज धाम॥ ३७(क)॥

इसी धर्मभूमि में सूर्यवंश के अन्तर्गत भगवान श्रीराम का अवतरण हुआ जिनसे मृत्यु का वरदान माँगकर दशग्रीव-रावण अपने धाम सिधार गया।

दुर्योधन सिसुपाल जहँ जरासंध अरु कंस।
प्रभु कृष्णहिं प्रगटायँ जग चंद्रबंस अवतंस॥ ३७(ख)॥

जिस धर्मभूमि में दुर्योधन, शिशुपाल, जरासंध और कंस [जैसे दुरात्मा] भक्तों के हितार्थ चन्द्रवंश के

भूषण स्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को प्रकट कर लेते हैं।

चौपाई— जिनसों मृत्यु माँगि सुख मानत। तुम्ह क्यों मौन गुरुहिं अपमानत॥
चरन सरन अर्जुन सम गहहू। धरम दुहाइ देइ भव तरहू॥

जिन [भगवान] से मृत्यु माँगकर भी आनन्द ही प्राप्त होता है तो आप मौन होकर गुरु का अपमान क्यों कर रहे हैं? आप भी अर्जुन के सदृश शरणागत हो जायँ और अति प्रेमपूर्वक अपने धर्म की दुहाई देकर भवसागर से पार हो जायँ।

करउ बाध्य दैं आतमज्ञाना। ध्यान समाधिहिं सुखद सुजाना॥
महाराज कह साधक बृंदा। असुरहु करत न एहि थल निंदा॥

आप [अपनी श्रद्धा-भक्ति से] उन्हें सुखद ध्यान-समाधि और परम पावन आत्मज्ञान देने के लिए बाध्य कर दें। महाराज कहता है कि हे साधकगण! इस भूमि की तो असुर भी निन्दा नहीं करते।

कुम्भ लंकिनी रावन सारे। धर्मभूमि महिमा उजियारे॥
एहि थल अस बिस्वासहिं धरहीं। तबहिं आइ इहँ जप तप करहीं॥

रावण, कुम्भकरण और लंकिनी आदि समस्त असुर भी इस धर्मभूमि की महिमा को [भलीभाँति] जानते हैं। इस भूमि पर उन्हें इतना विश्वास है, तभी तो वे यहीं आकर जप-तप सम्पन्न करते हैं।

असुर करत सुभ जानि अखाड़ा। सक्ति केन्द्र कर सुंदर बाड़ा॥

समस्त असुर शक्तिकेन्द्र के इस सुन्दर बाड़े को सर्वथा उपयुक्त स्थान जानकर अपने समस्त शुभ कर्मों [योग, जप, तप आदि] का अखाड़ा बनाते हैं।

दोहा— महापुरुष अस कौन जग सक्ति केन्द्र नहिं मान।
नास्तिक सठ अति मूढ़हू धरमभूमि पहिचान॥ ३८॥

जगत का ऐसा कौन महापुरुष है जिसने इसे आध्यात्मिक शक्तियों का केन्द्र न माना हो? अरे! [कहाँ तक कहा जाय!] महामूर्ख एवं नास्तिक भी इस धर्मभूमि की महिमा को जानते हैं।

चौपाई— यदि जानन चाहउ एकबारा। मौलिक रूपहिं लेउँ सँवारा॥
पावहुगे तब पवन इहाँ पर। बहत ब्रह्मबिद्या लै सर सर॥

यदि एक बार आप अपने मौलिक रूप को जानकर उसे सँवार लेना चाहते हैं तो आप पायेंगे कि यहाँ की वायु ब्रह्मविद्या लेकर सरसराती हुई बहती रहती है।

इहाँ नीर महँ बसत सुधारस। अवरु अगिनि महँ लसत ब्रह्मरस॥
रबिहु ब्रह्मबिद्या बरसावइ। इहँ माटिहु सक्ती उपजावइ॥

यहाँ जल में अमृतरस का वास है और अग्नि ब्रह्मरस से सुशोभित होती है। यहाँ पर भगवान सूर्य नारायण ब्रह्मविद्या की बरसात करते हैं और यहाँ की मिट्टी भी शक्ति अर्थात् भगवती सीता को प्रकट करती है।

इहाँ अन्न फल औषधि उपजत। खावत पीवत ब्रह्महि प्रगटत॥
गोमातुहिं जानत प्रभुरूपा। नमत ऋषी सेवत सुर भूपा॥

यहाँ पर जो अन्न, फल, औषधि उपजती हैं, उनको खाने-पीने से ब्रह्मविचार आता है, यहाँ ऋषिगण गोमाता को भगवत्स्वरूप समझकर प्रणाम करते हैं तथा देवता एवं राजागण उसकी सेवा करते हैं।

पय मिस ब्रह्मज्ञान बरसावति। ब्रह्मसक्ति नित दै हरषावति॥
तब काहे तुम्ह होउ निरासा। महाराज कह धारउ आसा॥

[गोमाता] दूध के बहाने ब्रह्मविद्या की बरसात करती है पुनः वह [अपने भक्तों को ब्रह्मविद्या के साथ-साथ] नित्य ब्रह्मशक्ति देकर अति हर्षित होती है। महाराज का कहना है कि फिर आप क्यों निराश हो रहे हैं? धैर्य धारण करें!

जनमत इहँ नहिं कोउहु नास्तिक। देव दनुज पसु पक्षिहु आस्तिक॥
कोउ निर्गुन कोउ सगुनहिं मानत। देबि देवतन्ह ही कोउ जानत॥

यहाँ जन्म लेने वाले नास्तिक नहीं होते बल्कि देवता-दानव, पशु-पक्षी आदि भी आस्तिक ही होते हैं। कोई यहाँ निर्गुण तो कोई सगुण को मानता है और कोई तो देवी-देवता की ही उपासना करता है।

असुरन महँ कोउ ब्रह्मा ध्यावहिं। निसिहिं दिवस कोउ सिव गुन गावहिं॥
मनवांछित पावत बरदाना। एहि बिधि करत सबहि गुन गाना॥

असुरों में भी कोई ब्रह्माजी का ध्यान करता है तो कोई रात-दिन भगवान शिव का ही गुणगान करते हुए मनोवांछित फल प्राप्त कर लेता है; इस प्रकार सभी [अपने-अपने इष्ट की] उपासना करते हैं।

पूजत कोउ गणेस हनुमाना। कोउ पूजत अनंत भगवाना॥
दत्त राम प्रभु लै अवतारा। बहुतहि किये धरम परचारा॥

कोई भक्त यहाँ गणेश भगवान और कोई भक्त हनुमानजी को पूजता है तो कोई भगवान विष्णु की उपासना करता है। यहाँ भगवान दत्तात्रेय और प्रभु श्रीराम ने अवतार लेकर धर्म का सांगोपांग प्रचार-प्रसार किया है।

पाहन पूजि इहाँ के बासी। प्रगटहिं परम ब्रह्म सुखरासी॥

[अरे! इतना ही नहीं] यहाँ के लोग तो पत्थर की भी पूजा करके उसमें से आनन्दघन परम ब्रह्म को प्रकट कर लेते हैं।

दोहा— दुर्गा काली सरस्वती तंत्र मंत्र कोउ ध्याव।
खग पसु सरि गिरि तरु पुजत सब महँ ब्रह्म बताव॥ ३९ (क)॥

यहाँ कोई माँ दुर्गा तो कोई सरस्वती एवं कोई भगवती काली तथा कोई सात्विक तन्त्र-मंत्रों की उपासना करता है। इतना ही नहीं, यहाँ के भक्त तो पशु, पक्षी, नदी, पहाड़ एवं वृक्ष आदि सबकी उपासना करते हैं और कहते हैं कि सभी में ब्रह्म है।

सोरठा— ऐसो करि बिस्वास अब कृष्णायन सुनहु तुम्ह।
मोहिं तुम्हहिं बहु आस पढ़ि गुनि भवसागर तरहु॥ ३९ (ख)॥

ऐसा विश्वास करके अब आप सब ध्यानपूर्वक कृष्णायन सुनें। मुझे भी आप सब पर बहुत भरोसा है कि इसको समझ-बूझकर पाठ करके भवसागर पार कर जायेंगे।

चौपाई— नृप धृतराष्ट्र अतिहिं गम्भीरत। बरु पीरत पुनि वाको चीरत॥
देइ प्रेम अति कह प्रिय संजय। धर्मभूमि कुरुछेत्र न जहँ भय॥

राजा धृतराष्ट्र अति गम्भीर हो गये हैं। भले ही वे अत्यन्त पीड़ित हैं तो भी उस पीड़ा को दूर हटाते हुए अत्यन्त प्रेमपूर्वक सञ्जय से बोलते हैं- हे प्रिय सञ्जय! कुरुदेश की धर्ममय भूमि में जहाँ [किसी के लिए भी] किसी प्रकार का भय नहीं है-

तहँइ पांडु अरु मम सुत आई। रन अभिलास करहिं का भाई॥
दिब्य दृष्टि तोहिं मुनिवर दीन्हा। बड़भागी अस जग महँ कीन्हा॥

वहीं [कुरुक्षेत्र में] युद्ध की इच्छा से उपस्थित हुए मेरे तथा पाण्डु के पुत्र क्या कर रहे हैं? महर्षि व्यास ने इसे बताने के लिए तुम्हें दिव्यदृष्टि देकर जगत में सौभाग्यशाली बनाया है।

प्रगट भई का एहि छन ताता। तौ दिखाउ जो रच्यो बिधाता॥
अभय करउँ सच मोहिं बतावहु। उर महँ भय थोरेउँ नहिं लावहु॥

[महर्षि व्यास द्वारा दी गयी] क्या वह दिव्यदृष्टि प्रकट हो गई है? यदि हाँ, तो मैं तुम्हें अभय करता हूँ, मन में तनिक भी भय न लाते हुए वह सारा हाल मुझे सच-सच बताओ और ब्रह्मा ने मेरे भाग्य में जो लिखा है वह दिखाओ (सुनाओ)।

बरु कितनो डाटउँ हटकारउँ। कबहुँ दुखित होइ गारिउ पारउँ॥
पर जो कछु देखइ मन गुनई। जिन्हसों जो कछु जब कछु सुनई॥

मैं तुम्हें कितना भी डाटूँ-डपटूँ, भगाऊँ अथवा कभी दुःखी होकर गाली भी देने लगूँ, परन्तु तुम [दुःखी न

होते हुए] कोई भी दृश्य देखकर जो कुछ मन में विचार करो तथा जिससे जो कुछ जब भी सुनो,

सो सब कहु मोसों अति धीरा। दुखित दृगन्ह चाहे बह नीरा॥

हे धैर्यवान! वह सब मुझसे स्पष्ट बताते रहना भले ही सुनकर दु:खी होने के कारण मेरे नेत्रों से अश्रुधारा ही क्यों न बहने लगे।

दोहा— मान्यो नहिं दुर्योधना सब मतिधीर मनायँ।
भृगुपति अरु माधव बिदुर मन मारे फिरि जायँ॥ ४० (क)॥

अरे! [सञ्जय!] समस्त बुद्धिमानों के मनाने पर भी दुर्योधन नहीं माना। यहाँ तक कि भगवान परशुराम, मधुसूदन और अनुज विदुर भी निराश होकर चले गये।

देखी जाये ताहि अब जो होवे होनहार।
बिधि करनी समुझै नहीं कोउ जग समुझनहार॥ ४० (ख)॥

अत: अब जो होनहार है, वह तो होकर ही रहेगा, उसे देखा जायेगा। [सञ्जय!] विधाता की करनी को संसार का कोई बुद्धिमान भी नहीं समझ सकता।

चौपाई— प्रथम बताउ कृष्ण यदुनाथा। केहि के सँग जो परम सनाथा॥
करहिं काह पांडव कित अहहीं। मो सँग जग जिन्हिं साधव कहहीं॥

सर्वप्रथम यह बताओ कि यदुनाथ श्रीकृष्ण किस परम भाग्यशाली के साथ हैं? पुन: बताओ कि पाण्डव कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं, जिन्हें मेरे साथ-साथ सारा संसार भी साधु (सज्जन)कहता है?

कहउ पितामह अति गम्भीरा। केहि मुद्रा महँ सो मतिधीरा॥
गंगा सुअन करहिं का संजय। आह भरहिं का यदुनंदन भय॥

यह भी बताओ कि अत्यन्त गम्भीर स्वभाव वाले धैर्यवान पितामह भीष्म [इस समय] किस मुद्रा में हैं? हे सञ्जय! वे गंगानन्दन क्या कर रहे हैं, क्या वे यदुनन्दन श्रीकृष्ण के भय से आहें भर रहे हैं?

जो माधव कहँ ब्रह्म बखानहिं। अब केहि संग अहहिं केहि ध्यानहिं॥
कृष्णहिं कीधौं बीर सिखंडी। उन्हकर काल सो कहहिं घमंडी॥

जो मधुसूदन को साक्षात् ब्रह्म कहते हैं, वे इस समय किसके साथ हैं और किसका ध्यान कर रहे हैं? वे कृष्ण का ध्यान कर रहे हैं या महारथी वीर शिखण्डी का, जिसको सभी अहंकारी कहते हैं कि वह पितामह का काल है?

ऐसोइ कहत देव मुनि जाही। पतो न ते एहि सोचहिं काही॥

पता नहीं वे (पितामह) इस विषय में क्या सोचते हैं जिसके विषय में देवता एवं मुनिगण भी ऐसा ही कहते हैं।

दोहा— द्रोण चितव केहि ओर अब कहाँ बिराजहिं आय।
कहत पितामह जोइ जब जिनकें मन सोइ भाय॥ ४१॥

आचार्य द्रोण किसकी ओर देख रहे हैं और कहाँ विद्यमान हैं जिनके मन को पितामह जब जो कुछ भी कह देते हैं, वही अच्छा लगता है?

चौपाई— भीम कहाँ केहि केहि दिसि हेरत। केहि केहि देखि गदा कर फेरत॥
दु:सासन कहु केहि निहारत। मन महँ का सोचत केहि मारत॥

[और अब यह बताओ] भीम कहाँ है, किस-किस दिशा की ओर देख रहा है, किस-किसको देखकर अपनी गदा को हाथ में घुमा रहा है। यह भी बताओ कि दु:शासन किसको देख रहा है और मन में क्या सोच रहा है तथा [मन से] किसको मार रहा है?

कहउ अभय दुर्योधन चित की। जो नहिं मानइ गुरु हित मित की॥
केहिके संग कहाँ रथ ताकर। चिंता मोह अजहुँ मोहिं जाकर॥

सञ्जय! भयरहित दुर्योधन के हृदय की बात बताओ जो न गुरु की मानता है, न हित-मित्रों की। वह किसके

साथ है, उसका रथ कहाँ है? आज भी [मेरे हृदय में विशेष रूप से] जिसके लिए मोह और चिन्ता है।

ज्यों सब अंगहीन सुत माँ के। तउ सब दिन मन रह सँग ताके॥
त्यों मम मन दुर्योधन चिंतत। जदपि मनहिं मन मोसोहुँ खिंदत॥

जैसे किसी माँ का कोई अंगहीन पुत्र हो तो भी माता का मन उसी में दिन-रात लगा रहता है वैसे ही मेरा मन भी दुर्योधन के लिए ही चिन्तित रहता है; जबकि मैं जानता हूँ कि वह मुझसे भी मन ही मन चिढ़ता ही रहता है-

दोहा— ताकर मोह न तजि सकउँ मोर बिधाता बाम।
यो जीवन ऐसोइ गयो आयो नहिं प्रभु काम॥ ४२॥

तो भी मुझसे विधाता ऐसा विपरीत हो गया है कि मैं उसके प्रति मोह को त्याग नहीं सकता। अहो! यह जीवन व्यर्थ ही चला गया, भगवान के काम न आ सका।

चौपाई— सुनत प्रस्न संजय रन दृग करि। देखत ये तो बिहरत रथ हरि॥
सिर नवाइ पुनि अंजलि जोरहिं। मनहीं मन बहुभाँति निहोरहिं॥

धृतराष्ट्र के इन प्रश्नों को सुनकर सञ्जय ने जब युद्ध की ओर दृष्टि की तो देखा कि ये साक्षात् ब्रह्म ही रथ पर विराजमान हैं। अत: वे सिर झुकाते हुए हाथ जोड़कर मन ही मन बहुत प्रकार से प्रार्थना करने लगे।

अंतरजामी हे जगधाता। हे भक्तन संतन सुखदाता॥
जुग जुग महँ हे हरि अवतरहू। धरा मुक्त असुरनि सों करहू॥

हे अन्तर्यामी! हे जगत को धारण करने वाले! हे भक्तों और सन्तों को सुख देने वाले! हे युग-युग में अवतार लेकर दैत्यों से इस धरा को मुक्त करने वाले!

चरित दिब्य करि सब हित सारौ। तुम्हरी रीति को जाननवारौ॥
आदि पुरुष अबिगत अबिनासी। नाथ कृपा मम बुद्धि प्रकासी॥

आप सबके हितार्थ दिव्य चरित्र की स्थापना करते हैं; अत: आपके व्यवहार को कौन जानने वाला है! हे आदिपुरुष! हे अविगत! हे अविनाशी! हे नाथ! आपकी ही कृपा से मेरी बुद्धि [आज] प्रकाशित हुई है।

बृषभ बकी बक ब्योम अघासुर। तृनावर्त केसी सकटासुर॥
चाणुर कंस जरा सिसुपालहिं। बधि हरि अब आये रनसालहिं॥

अब आप वृषभासुर, पूतना, बकासुर, व्योमासुर, अघासुर, तृणावर्त, केशी, शकटासुर, चाणूर, कंस, जरासंध और शिशुपाल को मारकर इस युद्धभूमि में आये हुए हैं और-

दोहा— अब समुझउँ इहँ होय का तुम्हरी कृपा लखाय।
कृपा करहु अस मोहिं पर जगत देउँ बिसराय॥ ४३॥

अब यहाँ क्या होगा उसे भी मैं समझ गया हूँ। आपकी कृपा से मुझे यह दृष्टिगोचर हो रहा है। हे प्रभो! अब आप मुझ पर [ऐसी] कृपा करें कि यह जगत विस्मृत हो जाय।

चौपाई— निरखत रहउँ तुम्हहिं नित साईं। माँ सिसु चंद्र चकोरहिं नाईं॥
धन्य धन्य अर्जुन गुनरासी। निज बस कीन्हें ब्रह्म उदासी॥

हे प्रभो! मैं आपका उसी प्रकार दर्शन करता रहूँ जैसे शिशु माँ को और चकोर चन्द्रमा को देखता रहता है। [समस्त] गुणों की राशि अर्जुन धन्य हैं, जिन्होंने आज उदासीन ब्रह्म को भी अपने वश में कर लिया है।

अमित कला बेदहुँ सों न्यारे। सो हरि तिन्ह के रथहिं बिहारे॥
दैत्यबंस निरबंस करावन। निज रथ लाये जग मन भावन॥

जो अनन्त कलाओं वाले हैं, जो वेदों से भी नहीं जाने जाते, वे ही भगवान आकर उनके रथ पर विहार कर रहे हैं। वे (अर्जुन) दैत्यवंश को निर्वंश कराने के लिए ही अपने रथ पर जगत के मन को प्रिय लगने वाले भगवान को लाये हुए हैं।

बिनवत प्रभु बिलम्ब कछु होयो। तबहिं नृपति निज धीरज खोयो॥
कहत काह संजय तू निरखे। का अबलौं मोको नहिं परखे॥

जब [सञ्जय को] भगवान की वन्दना करते हुए कुछ देर हो गयी तो राजा धृतराष्ट्र धैर्य खोते हुए बोल पड़े- सञ्जय! तुम क्या देख रहे हो? क्या अभी तूने मेरी दशा को पहचाना नहीं?

मो सम को आजहिं हतभागी। जाके चहुँ दिसि आगिहिं लागी॥
तासों उत्तर दै ततकालहिं। पुनि जग भजु कै निज प्रतिपालहिं॥

अरे! आज मेरे समान कौन भाग्यहीन है, जिसके लिए चारों दिशाओं में आग लगी हुई है। अत: पहले उत्तर दे दो फिर चाहे जगत को भजो या अपने भगवान को।

दोहा— लखि अधैर्य भूपाल कर संजय प्रभुहिं निहारि।
पुलकित तन लोचन सजल किये प्रगट उदगारि॥ ४४॥

सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र की विकलता को देखकर भगवान नारायण को पुलकित शरीर और सजल नेत्रों से बार-बार देखा फिर अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट करने लगे।

चौपाई— देखउँ नृप एक दिब्य अचम्भा। जेहि सों जग सब भयो अरम्भा॥
प्रगट्यो सोइ ब्रह्म संग्रामा। लखि चित मोर लहइ बिश्रामा॥

हे राजन्! मैं एक दिव्य आश्चर्य देख रहा हूँ, वह यह कि जिसके द्वारा सारा जगत प्रकट हुआ है, वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म [सगुण-साकार रूप में श्रीकृष्ण नाम एवं रूप होकर] संग्राम भूमि में प्रकट हो गया है जिसे देखते हुए मेरा हृदय अत्यन्त विश्राम प्राप्त कर रहा है।

देखउँ राजन जो हरिराई। निज भक्तन्ह नित देत बड़ाई॥
गहि जिन्ह पद सरोज सरनाई। ध्रुव भये मुकुत अचल पद पाई॥

हे राजन्! मैं देख रहा हूँ कि जो प्रभु प्रसन्नता के साथ सदा अपने भक्तों को बड़ाई देते रहते हैं, जिनके चरण कमलों की शरण लेकर भक्त ध्रुव ने तीनों तापों से मुक्त होकर अचल पद प्राप्त कर लिया।

जो प्रभु हिरनाकुस संघारी। लये भगत प्रहलाद उबारी॥
सिव अज जिनहिं बिपुल बर दीन्हें। दानव दनुज अभय जनु कीन्हें॥

जिस प्रभु ने हिरण्यकशिपु को मारकर भक्त प्रवर प्रह्लाद की रक्षा की थी। [आप तो जानते ही हैं राजन्! कि] भगवान शिव एवं ब्रह्मा ने दानवों एवं असुरों को अनेक वरदान देकर मानो उन्हें अभय ही कर दिया था-

तिन्ह रावन कंसादिहिं मारे। किये भगत गो संत सुखारे॥
जो प्रभु गज पुकार सुनि धाये। हनि ग्राहहिं तिहिं बिपति मिटाये॥

उन्हीं रावण एवं कंस आदि को मारकर भक्त, सन्त और गो माता की रक्षा कर उन्हें सुखी कर दिया था। जिन प्रभु ने भक्त गजराज की पुकार सुन शीघ्रातिशीघ्र आकर ग्राह का वध करके घोर विपत्ति से मुक्त कर दिया।

जिनि प्रभु अम्बरीष नृप काजे। चक्र गहे दुर्बासा भाजे॥
कृपा कटाक्ष पाइ जिन्ह माया। सबहिं नचावति होइ अदाया॥

जिन प्रभु ने राजर्षि अम्बरीष की सुरक्षा के लिए महर्षि दुर्वासा के पीछे अपना चक्र छोड़ दिया, जिससे वे भाग चले। जिस प्रभु की कृपा कटाक्ष से दयाहीनता के साथ माया सभी को नचाया करती है (कष्ट पर कष्ट देती रहती है)-

जासु कृपा जग सृजत बिधाता। पालत जाहि बिष्नु जनत्राता॥
प्रलयकाल जेहि सिव संघारत। जासु कृपा सेषहु महि धारत॥

जिसकी कृपा से ब्रह्मा जी सृष्टि रचना करते हैं, सबकी रक्षा करने वाले भगवान विष्णु पालन करते हैं तथा जिसकी कृपा से भगवान शंकर प्रलय काल के अवसर पर सृष्टि का संहार करते हैं और शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुए हैं-

छंद— अवतरि जो जुग जुग धर्म रक्षत पार्थ रथ सो हरि अहैं।
अस चितव जनु कह लै फिरौती तजउँ नाहीं सब दहैं॥
अर्जुन हृदय संतोष परम अदोष ब्रह्म बिराज रथ।
महराज कह जेहि जिवनरथ प्रभु राज यहि अध्यात्म पथ॥

इतना ही नहीं राजन्! जो प्रभु युग-युग में अवतरित होकर धर्म की रक्षा करते हैं [और अधर्म का नाश करते हैं] वे ही भक्त अर्जुन के रथ पर विराजमान हैं। वे चारों ओर सैनिक वीरों को, रथी-महारथियों को ऐसे देख रहे हैं मानो कह रहे हों कि मैं किसी प्रकार की फिरौती लेकर भी अब आप सबको छोड़ने वाला नहीं हूँ, अब तो आप सभी मृत्यु को प्राप्त होने वाले हैं। भक्त अर्जुन के हृदय में परम सन्तोष है कि निर्दोष ब्रह्म ही मेरे रथ पर विराजमान हैं। महाराज भी कह रहा है कि [ऐसे ही] जिसके जीवन रथ पर भगवान शोभित हो रहे हों तो उसके लिए यही अध्यात्म पथ है अर्थात् उसे आध्यात्मिक मार्ग प्राप्त है।

दोहा— पैदल रथी महारथी निरखहिं एहि रथ ओर।
थमी सबहिं की प्रान गति कतहुँ नाहिं कछु सोर॥ ४५॥

पैदल वीर, रथी एवं महारथी इस रथ की ओर देख रहे हैं, सभी के प्राणों की गति स्तम्भित हो गयी है, कहीं से कोई ध्वनि नहीं आ रही है [सभी सम-शान्त खड़े हैं]।

चौपाई— गंगा पुत्र करहिं मन बंदन। राखहु सरन मोहिं यदुनंदन॥
हे गोबिंद हे कृष्ण मधुर तन। सेवउँ सदा लेहु चरननि मन॥

हे नरेश्वर! गंगापुत्र भीष्म मन ही मन भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे यदुनन्दन! अब आप मुझे अपनी शरणागति प्रदान करें। हे गोविन्द! हे कृष्ण! हे दिव्यस्वरूप वाले! आप अपने चरणों में मेरे मन को स्थान दें, मैं सदा आपकी सेवा किया करूँ।

आइ इहाँ दै कौरव साथा। करुँ अपराध बिबस हौं नाथा॥
सकउँ न टारि पिता कर बैना। पर तुम्ह बसहु हृदय मम नैना॥

हे प्रभो! यद्यपि मैं यहाँ (युद्ध भूमि में) आकर कौरवों का साथ देकर महा अपराध कर रहा हूँ; किन्तु क्या करूँ विवश हूँ! मैं तो अपने पिता की आज्ञा को टाल नहीं सकता, परन्तु [आपसे यह विनती है कि मेरे इन दोषों को न देखकर] आप मेरे हृदय एवं नेत्रों में वास करें।

छंद— हे गोबिंद हे गोपाल। राखहु पन प्रनतपाल॥
दीनन के हे दयाल। कालहु के महाकाल॥

हे गोविन्द! हे गोपाल! हे शरणागत रक्षक! हे दीनों पर दया करने वाले! हे काल के भी महाकाल! आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करें।

सरन लेउँ अब कृपाल। मैं भयों सबसों बेहाल॥
चाहउँ पद रहन साथ। नावउँ सब ओर माथ॥

हे कृपासागर! अब मैं आपकी शरण में आया हूँ क्योंकि मैं सारे जगत से हार चुका हूँ। इसलिए मैं सदा आपके चरणों में ही रहना चाहता हूँ; अतः सब ओर से आपकी वन्दना कर रहा हूँ।

एहि रन जब तन गिराय। आवउँ मैं धाय धाय॥
लेवहु तब तुम्ह उठाय। आवउँ तुव नाम गाय॥

[हे नाथ!] इस युद्धभूमि में जब मेरा शरीर छूटे तो मैं [सूक्ष्म शरीर के माध्यम से] आपके पास दौड़ता हुआ आ जाऊँ और जब आपके मधुर नामों ['हे गोविन्द! हे गोपाल! हे कृष्ण!] का गान करूँ [तथा आपके चरणों में लोट जाऊँ] तो आप मुझे उठाकर शरण में ले लें।

संकर मानस मराल। भक्तन्ह तन कवच ढाल॥
देवकी जसु एक लाल। माँगउँ पद नंदलाल॥

हे भगवान शंकर के हृदय में हंस की तरह विहार करनेवाले! हे भक्तों के शरीर के कवच एवं ढाल बनने वाले! हे भगवती देवकी एवं माँ यशोदा के दिव्य पुत्र! हे नन्दलाल! मैं आपके चरणों की शरण माँगता हूँ।

दोहा— छोड़उँ एहि रन जाहि दिन तन तुव मन लिए आस।
नैनन्ह सन्मुख रहउ तब प्रभु जनि करउ निरास॥ ४६॥

हे प्रभो! मैं ऐसी आशा करता हूँ कि जब रणभूमि में शरीर छोड़ूँ तब आप मेरे नेत्रों के सम्मुख रहें! हे नाथ!

[मेरी प्रार्थना है कि] मुझे निराश न करें!

चौपाई— नृप देखहु गुरु द्रोनहिं हाला। चितवत भीष्महिं होइ बेहाला॥
सुमिरत मन अर्जुन मधुराई। सोचत हृदय बहुत बिकलाई॥

हे पृथ्वीनाथ! अब आचार्य द्रोण की स्थिति को देखें! वे अति व्याकुल होकर पितामह भीष्म की ओर देख रहे हैं और अपने मन में परम प्रिय शिष्य अर्जुन के मधुर आचार, विचार, व्यवहार को स्मरण करके हृदय में अति व्याकुल होकर सोच रहे हैं कि-

अबलगि कियो मोरि सेवकाई। बिनय सील कछु बरनि न जाई॥
मम अपकार न एहि सहि जाई। द्रुपदराज कहँ बाँधेसि लाई॥

अर्जुन ने मन, वचन और कर्म से अब तक शीलता एवं विनम्रता के साथ मेरी ऐसी सेवा की है जिसका मुझसे वर्णन नहीं हो सकता। [स्वप्न में भी] इसे मेरा अपकार सहन नहीं हो सकता। तभी तो [मेरा अपमान करने के कारण] इसने राजा द्रुपद को बन्दी बनाकर मेरे सामने खड़ा कर दिया था।

मोरे हित एहिकर तन प्राना। तापर चलिहिं मोर किमि बाना॥
हित मित बंधु मातु पितु मान्यो। ब्रह्मा सिव अनंत मोहिं जान्यो॥

इसका शरीर और प्राण एकमात्र मेरे लिए अर्पित था, अत: इसके ऊपर मेरे बाण कैसे चलेंगे! यह जीवनपर्यन्त मुझे ही अपना माता-पिता, भाई-बान्धव और हित-मित्र मानता रहा तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश भी मुझे ही समझता रहा।

मम हित तजि निज हित नहिं इच्छा। बिपुल बार मैं लीन्हि परिच्छा॥
पुत्रमोह मैं तजि नहिं पायों। तेहि तें युद्ध भूमि महँ आयों॥

मैंने बहुत बार परीक्षा लेकर देखी है कि इसे मेरी भलाई को छोड़कर अपनी भलाई की इच्छा कभी नहीं हुई; किन्तु मैं अपना पुत्र मोह नहीं छोड़ पाया। इसी कारण मैं [भाग्यहीन आज] इसका विपक्षी होकर युद्धभूमि में आया हूँ।

दोहा— जिमि लैं घेरि मलेच्छ बहु आर्य नृपति की गाय।
घेरहिं तिमि हम पांडवन्हि ऐसो पाप समाय॥ ४७॥

ओह! जिसप्रकार बहुत-से म्लेच्छ किसी धर्मात्मा राजा की गायों को [पकड़कर वध करने के लिए] घेर लेते हैं, उसी प्रकार [हमारे हृदय में] ऐसा पाप समा गया है कि हम सबने भी इन पाण्डवों को [वध करने के लिए] घेर लिया है।

चौपाई— नैननिं नीर न जानइ कोई। दैवहिं दोष लगावहिं रोई॥
पुनि गुनि इनहिं रक्ष यदुराई। जो कालहु कर कालहिं खाई॥

इस प्रकार वे रोते हुए दैव को ही दोषी ठहरा रहे हैं, उनकी आँखों के आँसुओं को कोई देख नहीं पा रहा है। पुन: ऐसा विचार करके कि इनके रक्षक तो साक्षात् भगवान यदुनाथ हैं जो काल के भी काल का भक्षण करने वाले हैं-

होइहिं जय इनकर मनमाना। हम सब स्वर्गहिं करहिं पयाना॥
भीम कबहुँ दुर्योधन हेरत। कबहुँ दुसासन कहँ सिर फेरत॥

उनके मन में विश्वास हो गया कि पाण्डवों की ही विजय होगी और हम लोग [युद्धभूमि में शरीर छोड़कर] स्वर्ग चले जायेंगे। [हे आर्य!] गदाधर भीम कभी दुर्योधन की ओर देखते हैं तो कभी दु:शासन की ओर सिर घुमा लेते हैं।

पुनि पुनि देखि गदा कर फेरत। मन महँ महाकाल सम टेरत॥
एक हाथ सों उरु सहलावत। जनु निज पन युवराज बतावत॥

वे उन दोनों को देख-देखकर अपने हाथों में गदा घुमा रहे हैं तथा मन में महाकाल के समान आवाज दे रहे हैं [कि हे दुर्योधन! हे दु:शासन सावधान हो जाओ!]। वे एक हाथ से जाँघ भी सहला रहे हैं मानो युवराज

दुर्योधन को अपनी प्रतिज्ञा की याद दिला रहे हों।

कबहुँ मनहिं मन बिटप उपारत। जनु दुःसासन्ह भुजा उखारत॥
इनहिं देखि रन अति संतोसत। रक्तपान करि बहु बिधि तोसत॥

कभी वे मन ही मन अपने हाथों से वृक्ष उखाड़ रहे हैं, मानो [अपनी कल्पना द्वारा] दुःशासन की भुजाओं को उखाड़ रहे हों। युद्धभूमि में आपके इन पुत्रों को देखकर उन्हें अति सन्तोष हो रहा है। वे मन ही मन [दुःशासन की छाती का] रक्त पान कर तृप्त हो रहे हैं।

दोहा— महाकाल सम चितव इत उनहिं दुसासन बीर।
दृगन्हि दुकावत इत उत मन महँ बहुत अधीर॥ ४८॥

इधर वीर दुःशासन उन्हें महाकाल के समान देख रहे हैं और मन में अत्यन्त व्याकुल होकर इधर-उधर देखते हुए [भीम से] आँखें चुरा रहे हैं।

चौपाई— जिनि दुर्योधन अभय बखानहु। जिन्ह कारन यह रन तुम्ह ठानहु॥
एहि छन जम्बुक सम चित उनकौ। देखत भीमहिं बाँको बाँकौ॥

हे राजन्! जिन युवराज दुर्योधन को आप अभय बता रहे हैं, जिनके कारण आपने यह युद्ध ठान लिया है, इस समय उनका चित्त गीदड़ जैसा हो गया है। वे गदाधर भीम की ओर टेढ़ी-तिरछी आँखों से देख रहे हैं।

लागत रूप भयानक भारी। सनमुख सों नहिं सकत निहारी॥
कह संजय पुनि धीर भुआला। देखत पांडव सैन्य बिसाला॥

उन्हें भीम का शरीर अति भयानक लग रहा है, इसी से सामने होकर उनके रूप को नहीं देख पा रहे हैं। सञ्जय ने आगे कहा- हे महाबुद्धिमान भूपाल! पाण्डवों की विशाल सेना को देखते ही-

दुर्योधन मन भयो बेहाला। मानहु खड़ो सेन बनि काला॥
सोक लिए उर महँ अब जाहीं। छाँड़ि पितामह गुरुवर पाहीं॥

आपके पुत्र दुर्योधन मन में अति हतोत्साहित हो गये हैं [उन्हें लग रहा है कि] मानो इस सेना का रूप धारण किये हुए काल ही खड़ा है। [हे राजन्!] शोक भरे हृदय से वे पितामह भीष्म को छोड़कर गुरुवर द्रोणाचार्य के पास जा रहे हैं।

कहहिं लखहु प्रभु पांडव बाहिनि। धृष्टद्युम्न रचना अवगाहिनि॥
मनहुँ भीष्म अरु तुम्हहिं हँकारी। दियो चुनौती मूरख भारी॥

वहाँ पहुँचकर आचार्य द्रोण से कह रहे हैं- गुरुदेव! पाण्डवों की इस सेना को आप देखें! इसकी व्यूह रचना धृष्टद्युम्न ने की है जो गहराई से निरखने-परखने योग्य है। मानो इस महामूर्ख ने [ऐसी व्यूह रचना करके] आपको और पितामह भीष्म को ललकारते हुए चुनौती दी है।

पृथक पृथक मोर्चा गहि बीरा। चितवहिं हमहिं सिंह सम धीरा॥
एहि रन कुसल भीम अर्जुन सम। सात्यकि द्रुपद न लागहिं कछु कम॥

इस प्रकार अलग-अलग मोर्चे पर खड़े सिंह के समान धैर्यवान वीर हम सबको देख रहे हैं। इस युद्ध में रणकौशल दिखाने वाले भीम और अर्जुन के समान अजेय सात्यकि और महारथी द्रुपद [उनसे] थोड़े भी कम नहीं लग रहे हैं।

नृप बिराट पुरुजित अति बीरा। धृष्टकेतु सैब्यहु रनधीरा॥

वैसे ही महाबलवान राजा विराट, पुरुजित् तथा युद्धभूमि में धैर्य के साथ युद्ध करने वाले धृष्टकेतु एवं शैब्य भी हैं।

दोहा— चेकितान कासी नृपति कुंतीभोजहु सूर।
युधामन्यु अभिमन्युहीं कौन लगावे धूर॥ ४९ (क)॥

महावीरों में चेकितान, काशिराज, कुन्तिभोज, युधामन्यु और अभिमन्यु भी रणभूमि में हैं जिन्हें कौन पराजित कर सकता है!

उतमौजा द्रौपदि सुअन अतिहिं बीर बरिबंड।
महारथी छन महँ करहिं प्रतिपक्षिन्ह सतखंड॥४९ (ख)॥

वैसे ही द्रौपदी के पाँचों पुत्र और उत्तमौजा अत्यन्त बलवान हैं। ये सभी महारथी पलभर में ही विपक्षियों के सैकड़ों टुकड़े कर सकते हैं।

चौपाई— द्विजबर अपनोहु सूर प्रधाना। समुझि बूझि अब लेहु सुजाना॥
अति प्रिय मोहिं जिन्हहिं गुन गावउँ। तव जानन हित नाम बतावउँ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! हे महाबुद्धिमान्! जो अपने पक्ष के प्रधान महारथी हैं अब आप उन्हें भी अच्छी प्रकार समझ-बूझ लें। अब जो मुझे अति प्रिय हैं उनकी सामर्थ्य का वर्णन करते हुए आपकी जानकारी के लिए उनके नाम बता रहा हूँ।

प्रथम आपु अरु भिष्म पितामह। जिनके सन्मुख काल जाइ दह॥
सखा कर्ण मेरो अति बीरा। जेहि लखि सत्रु धरहिं नहिं धीरा॥

प्रथम तो आप और पितामह भीष्म हैं जिनके सामने यदि काल भी आ जाय तो भस्म हो जायेगा। वैसे ही मेरा परमप्रिय मित्र कर्ण भी महाबलवान है जिसको देखते ही शत्रु अपना धैर्य खो बैठते हैं।

कृपाचार्य प्रभु परम बिजेता। जिनहिं बिलोकि न बैरिहिं चेता॥
अस्वत्थामा भूरिश्रवाहू। धीर बिकर्ण लगें जनु राहू॥

वैसे ही कुलगुरु कृपाचार्य भी परम विजेता हैं जिनको देखकर वैरी की चेतना जाती रहती है। अश्वत्थामा, भूरिश्रवा एवं विकर्ण ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे शत्रुसेना को ग्रसित करने के लिए राहु खड़े हों।

औरउ सूर असंख्य सुजाना। आये देन मोहिं निज प्राना॥
कटक अजेय पितामह रक्षित। रक्षित भीमसेन अति भक्षित॥

गुरुदेव! और भी बहुत से अति बुद्धिमान महारथी हैं जो यहाँ मेरे लिये अपना प्राण देने आये हैं। इस प्रकार पितामह भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है जबकि भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना जीतने में अति सुगम है।

दोउ पक्षन्ह के बीर गिनावहिं। निज बाहिनिहिं अजेय सुनावहिं॥
पर एक बात कहहिं बिकलाई। भीष्म ध्यान सब राखहु साँई॥

[इस प्रकार वे] दोनों पक्षों के वीरों का नाम लेकर गिनती करा रहे हैं और यह भी बता रहें हैं कि हमारी सेना [हर प्रकार से] अजेय है; लेकिन एक बात व्याकुलता के साथ कह रहे हैं कि गुरुदेव! आप सभी पितामह भीष्म की [सब ओर से] सुरक्षा का ध्यान रखें।

करहिं सिखंडी सों नहिं जुद्धा। अबहुँ बतावहिं नीति बिरुद्धा॥
पांडु सुतन्हि मारहिं नहिं कबहूँ। धर्म बिरुद्ध करहिं कछु तबहूँ॥

पितामह तो शिखण्डी से युद्ध करेंगे नहीं क्योंकि अभी भी वे इसे (उसके साथ युद्ध करना) नीति के विरुद्ध बता रहे हैं तथा पाण्डुपुत्रों का कभी वध नहीं करेंगे, भले ही वे [युद्ध में] कुछ धर्म विरुद्ध व्यवहार क्यों न करें [उनकी इस प्रतिज्ञा से तो आप सब परिचित ही हैं]।

दोहा— मम सेनापति कर सुनेउ गुरुवर एहि रन हाल।
अब तुम्हरेहिं पर आस करि चलउँ सबै सब चाल॥५०॥

गुरुदेव! मेरे सेनापति का इस युद्धभूमि में क्या व्यवहार रहेगा इसे तो आपने सुन ही लिया। अब तो एकमात्र आप पर ही आशा एवं विश्वास करके मैं किसी भी नीति का प्रयोग करूँगा।

चौपाई— नृप अब गंगसुअन हुंकारत। संख फुँकहिं जनु सिंह दहारत॥
दुर्योधन हिय हर्ष बढ़ावत। जनु तिन्हकर उतकरष चढ़ावत॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! अब आप पितामह भीष्म को तो देखें जो हुंकार भरते हुए ऐसा शंख बजा रहे हैं मानो सिंह दहाड़ रहा हो। [ऐसा करके] मानो वे दुर्योधन के हृदय में हर्ष बढ़ाते हुए उनका उत्साहवर्धन कर रहे हों।

कहत नाद सों सोक करत क्यों। सूरन्हि गहुँ रन सिंह गहत ज्यों॥
जा रन कौसल देख तहीं सों। निर्धारित तव जगह जहीं सों॥

वे शंखनाद के माध्यम से मानो कह रहे हों कि [हे वत्स!] तुम शोक क्यों कर रहे हो? मैं इस रणभूमि में वीरों को ऐसे पकड़ूँगा जैसे शेर [अन्य पशुओं को] पकड़ता है। अत: जाओ, मेरी रणकुशलता वहीं से देखो जहाँ तुम्हारा स्थान नियत है।

संका कर अब समय न साँचो। यासों निज मन कर मत काँचो॥
सूरन्ह लक्षण अस भय नाहीं। जामें होय सो भीरु कहाहीं॥

हे वत्स! यथार्थ में अब शंका करने का समय नहीं है, ऐसा करके अपने मन को कमजोर मत करो। शूरवीर का यही लक्षण है कि उसे भय नहीं लगता, जिसमें भय है वह [शूरवीर नहीं अपितु] कायर कहलाता है।

तबहिं संख बहु बाजन लागे। बिपुल मृगेन्द्र मनहु बन जागे॥
ढोल मृदंग भेरि सहनाई। बाजत मनहुँ होइ पहुनाई॥

हे राजन्! उसी समय एक साथ बहुत-से [वीरों के] शंख बज उठे, मानो वनप्रदेश में बहुत-से सिंह एकसाथ जाग उठे हों। साथ में ढोल-मृदंग, भेरी एवं शहनाई आदि बजने लगे हैं मानो [वाद्यों द्वारा वीरों का] स्वागत हो रहा हो।

दोहा— तबहिं दिब्य रथ स्वेत हय जुरो भयो प्रभु बैठ।
गहे संख निज पानि महँ गइ दुर्योधन ऐंठ॥ ५१॥

[हे भूपाल!] उसी समय श्वेत घोड़ों से जुते हुए दिव्य रथ पर बैठे भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने अपने हाथों में शंख उठा लिया जिसे देख युवराज दुर्योधन की सारी ऐंठ चली गयी।

चौपाई— पाञ्चजन्य प्रभु कर बहु सोहत। लखि सब सुर नर मुनि मन मोहत॥
मधुर अधर धरि जनु चुम्बति हरि। रथी महारथि कहँ बिस्मय करि॥

अब मैं देख रहा हूँ कि भगवान श्रीकृष्ण के हाथों में पाञ्चजन्य नामक शंख अति सुशोभित हो रहा है, इसे देखकर समस्त देवता, मनुष्य एवं मुनियों का मन मोहित हो रहा है। अब सभी रथी-महारथियों को विस्मित करते हुए प्रभु ने शंख को मधुर अधरों से ऐसे लगा लिया है मानो उसका चुम्बन ले रहे हों।

चुमति जसोदा हरि अधरन्हिं जिन्हिं। संख प्रबोधेउ अति परसत तिन्हिं॥
गरजि प्रलय घन जिमि जल बरसत। दिब्य राग जनु एहि सों सरसत॥

वात्सल्य में भरकर माँ यशोदा जिन मधुर अधरों को चूम कर आनन्द विभोर हो जाती थीं; प्रभु के उन अधरों का स्पर्श कर शंख अति प्रबुद्ध हो गया है। शंख से दिव्य रागयुक्त ध्वनि ऐसे ही निकलने लगी है मानो प्रलय काल के बादल घोर गर्जना करते हुए जल की वर्षा कर रहे हों।

महाकाल जनु मधुर बेस धरि। अर्जुन रथ गर्जत हुँकार भरि॥
हुं हुं हुं हुंकारत बाजत। कौरव संख सबहिं बिधि लाजत॥

[ऐसा प्रतीत होता है] मानो महाकाल स्वयं दिव्य वेष धारण कर महात्मा अर्जुन के रथ पर बैठा है और हुंकार भरते हुए भीषण गर्जना कर रहा है। हुं हुं हुं का हुंकार भरते हुए जब प्रभु का पाञ्चजन्य शंख बजा तो कौरव पक्ष से बजने वाले सभी शंख लज्जित (प्रभाहीन) हो गये।

तड़ तड़ तड़ तड़ तड़तड़ात अब। दुर्योधन सँग छटपटात सब॥
भैरवनाद होय जनु अबहूँ। बिस्मित चितवति बाहिनि सबहूँ॥

शंख से निकलने वाली तड़-तड़ की तड़तड़ाती ध्वनि सुनकर दुर्योधनसहित उनके पक्ष के सभी लोगों में छटपटाहट व्याप्त हो गयी है, सारी सेना आश्चर्यचकित होकर इधर-उधर इस प्रकार देखने लगी है मानो इसी समय भैरवनाद प्रकट हो गया हो।

हनुमानहु दीन्हें किलकारी। भयो नाद तब अति भयकारी॥
घुं घुं घुं घहरात नाद अस। जनु खाये कोउ भाजि जाय कस॥

[अर्जुन के रथ की ध्वजा पर विराजमान] भक्तप्रवर हनुमान जी भी [उसी समय प्रभु की शंख ध्वनि सुनकर] किलकारी भरने लगे हैं। [शंख के गर्जन से मिलकर] उनका यह नाद इतना प्रबल एवं भयंकर है मानो घुं घुं की ध्वनि से घहराता हुआ सबको निगल जायेगा, कोई किसी प्रकार भी भाग नहीं सकता।

सोरठा— स्वर सों झंकृत साम ब्यंजन सों उपबेद सब।
अरु मंत्रन्ह कर नाम निसरत जनु सब आयँ इहँ॥ ५२॥

ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो शंख ध्वनि द्वारा स्वर के माध्यम से सामवेद झंकृत हो रहा है और व्यंजन के माध्यम से अन्य वेद, उपवेद तथा मंत्रों के नाम ध्वनि के रूप में इस युद्धभूमि में प्रकट हो रहे हैं।

चौपाई— गं गं सों गायत्री लावत। मं सों महामृत्युंजय आवत॥
ऐं गरजि जग बिज प्रगटावें। हुँकरि ह्रीं सब सक्ति बुलावें॥

'गं गं' की ध्वनि से गायत्री मंत्र तथा 'मं' की ध्वनि से महामृत्युञ्जय मंत्र का प्रभु आवाहन कर रहे हैं। 'ऐं' की गर्जना के साथ सृष्टि के बीज को प्रकट कर रहे हैं तथा 'ह्रीं' हुंकार के द्वारा सभी शक्तिओं को बुला रहे हैं।

क्लीं फुँकत कीलक उपराजत। चामुण्डायै चां सों गाजत॥
वीं नाद भरि विच्चे बोलत। मनहुँ पिटारा सक्तिन्ह खोलत॥

'क्लीं' मंत्र से कीलक की स्थापना करते हुए 'चां' बीज से चामुण्डायै गरज रहे हैं। 'वीं' बीज से विच्चे बोल रहे हैं मानो शक्तियों का पिटारा खोल रहे हों।

प्रगटाए फुँकि कां सों काली। दुं सों दुर्गा जग प्रतिपाली॥
सं सं सों सरस्वती बिराजें। एहि बिधि रन सब सक्तिहुँ छाजें॥

शंख से 'कां' काम बीज फूँककर भगवती काली को प्रकट कर दिया तो 'दुं' बीज से जगत की रक्षा करने वाली दुर्गा को। 'सं सं' से माँ सरस्वती का आवाहन हो रहा है इस प्रकार [महाकाली, दुर्गा एवं सरस्वती] सभी शक्तियाँ युद्धभूमि में [शंख ध्वनि के माध्यम से प्रकट होकर] सुशोभित हो रही हैं।

गर्जि संख सों मंत्रहिं सारे। जनु रनथल घेरन्ह उपचारे॥
राग भरत अर्जुन सँग पांडव। नृत्य करत मानहु सिव तांडव॥

भगवान नारायण अपने दिव्य शंख से समस्त मंत्रों की गर्जना करके मानो रणभूमि को घेरने का उपक्रम कर रहे हों। वीर अर्जुन के साथ सभी पाण्डव अपने शंख में राग भर रहे हैं, (उनका मन प्रसन्नता से नाच रहा है) मानों साक्षात् भगवान शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हों।

देवदत्त संखहिं अर्जुन गहि। फूँकत जनु हरि सँग कोउ सुर महि॥
अस लखि धर्मराज हरषाये। संख अनंतबिजय गरजाये॥

[भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा शंख बजते ही] महाबाहु अर्जुन अपना देवदत्त नामक शंख हाथ में लेकर फूँक रहे हैं मानो पृथ्वी पर कोई देवता प्रकट होकर प्रभु के स्वर में स्वर मिला रहा है। ऐसा देखकर धर्मराज युधिष्ठिर भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ शीघ्रता से अपना अनन्तविजय नामक शंख हाथों में उठाकर बजा रहे हैं।

पौण्ड्र महा भीमहु गरजाये। नकुलहु संख सुघोष बजाये॥
मणिपुष्पक सहदेव उठाई। फूँकि दिये हर्षित गरजाई॥

महापराक्रमी भीम अपना पौण्ड्र नामक शंख भीषण गर्जना के साथ बजा रहे हैं तथा प्रसन्नता में भरकर नकुल ने सुघोष एवं सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख गरजते हुए बजा दिया है।

पुनि कासी नृप बर धनुधारी। महारथी सीखंडि हुँकारी॥
धृष्टकेतु सात्यकी बिराटा। गर्जि संख सों नभ महि पाटा॥

पुनः श्रेष्ठ धनुर्धर काशी नरेश, महारथी शिखण्डी, अजेय वीर सात्यकि, महाराज विराट तथा धृष्टकेतु आदि महारथियों ने अपने-अपने शंख के गर्जन से पृथ्वी एवं आकाश को गुंजायमान कर दिया है।

छंद— पुनि बर धनुर्धर कासि नृप सात्यकि बिराट हुँकारहीं।
अति छुभित सीखंडी महारथि संख सों फुंकारहीं॥

नृप द्रुपद द्रौपदि सुअन पाँचहु बीर अभिमन्यू परम।
अति गर्जि फूँकहिं संख ते तव सुतन्हि बेधहिं उर मरम॥

[सञ्जय ने कहा- हे राजन्!] श्रेष्ठ धनुर्धर काशीनरेश विराट एवं सात्यकि अपने-अपने शंख बजाकर हुंकार भर रहे हैं। महारथी शिखण्डी अत्यन्त क्षुब्ध हो शंख बजाकर [सर्प की तरह] फुफकार भर रहे हैं। महाराज द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, श्रेष्ठ महावीर अभिमन्यु शंख की भीषण गर्जना से आपके पुत्रों के हृदय के मर्मस्थल को वेध रहे हैं।

दोहा— संख बजे अस तिन्ह नृपति महि नभ गयो गुँजाय।
दुर्योधन अति अभय जो उनकेउँ उर फटि जाय॥ ५३॥

हे राजन्! उनके (भगवान श्रीकृष्ण, पाण्डव एवं उनके पक्ष के वीरों के) शंख ऐसे बज उठे कि उस ध्वनि से पृथ्वी एवं आकाश गूंज रहा है। जिन दुर्योधन को आप अत्यन्त अभय समझते हैं, इस ध्वनि को सुनकर उनका भी हृदय विदीर्ण हो गया है।

चौपाई— सुत पक्षन्हि का सूर न संजय। जिनकें कोउहु संखहु गरजय॥
सच राजन तिन्ह नाद न निरखउँ। यहि तो महूँ जहाँ तहँ परखउँ॥

[सञ्जय द्वारा पाण्डव पक्ष की शंखध्वनि का ऐसा वर्णन सुनकर] राजा धृतराष्ट्र ने पूछा- सञ्जय! क्या मेरे पुत्र के पक्ष में ऐसा कोई वीर ही नहीं है जिसका शंख भयंकर गर्जना करते हुए बजा हो? सञ्जय बोले- हे महिपाल! यही तो मैं भी ध्यान देकर चारों ओर सुनने का प्रयत्न कर रहा हूँ परन्तु सत्य यह है कि ऐसी कोई भी ध्वनि सुन नहीं पा रहा हूँ।

खीझहु जनि हे धीर नरेसा। दिब्य नेत्र सों लखुँ परमेसा॥
जो अवतार लेइ महि आये। अर्जुनहूँ सों अबहुँ दुराये॥

हे धैर्यवान नरेश! आप खीझें नहीं [अपितु सुनें] मैं अपनी दिव्य दृष्टि से महाप्रभु भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन कर रहा हूँ जो पृथ्वी पर [सगुण ब्रह्म होकर] अवतरित हुए हैं परन्तु उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को महात्मा अर्जुन से अभी भी छिपा रखा है।

लख्यों न संखनाद महिराई। नादब्रह्म दीन्हें हरिराई॥
जीवनाद तहिं गयो छुपाई। अब कोउ नाद न देत लखाई॥

हे पृथ्वीपते! मुझे कौरव पक्ष के वीरों का शंखनाद कहीं भी सुनाई नहीं पड़ रहा है। भगवान श्रीकृष्ण ने [अपने शंख द्वारा] ऐसा ब्रह्मनाद प्रकट कर दिया है जिसमें सभी जीवों के नाद विलीन हो गये हैं, इसीलिए अब कोई अन्य नाद (ध्वनि) सुनाई नहीं पड़ रहा है।

मुरली ध्वनि सों गोपि बुलाये। बृन्दाबन जो रास रचाये॥
संखनाद करि सूर सुलावें। कुरुक्षेत्र तेइ युद्ध करावें॥

जिन भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी मुरली की मनोहर ध्वनि से गोपियों को मोहित करके बुलाया और वृन्दावन में रास रचाया, उन्हीं प्रभु ने आज इस कुरुक्षेत्र के प्रांगण में शंखनाद करके वीरों को स्तब्ध कर दिया है और अब आगे वे ही युद्ध भी करायेंगे।

दोहा— नाद न परलय सूचनो प्रकृति मिलन हरि चाह।
ठहरउ तनिक बताउँ मैं होय लखउँ इहँ काह॥ ५४॥

यह प्रभु का मात्र शंखनाद ही नहीं है बल्कि प्रलय की सूचना है। [इस शंखनाद द्वारा] विराट पुरुष से प्रकृति [अपने व्यक्त रूप को समेट कर] मिलना चाहती है। हे नृपश्रेष्ठ! आप थोड़ा ठहरें, मैं अभी देखकर बता रहा हूँ कि आगे क्या हो रहा है।

चौपाई— नृप अब सस्त्र चलन छन आयो। लखुँ अर्जुन कपिध्वज फहरायो॥
मनहुँ पितामह सों कहि दीन्हें। ठहरहु ते संकेतहिं चीन्हें॥

राजन्! अब शस्त्रों के चलने का समय आ गया है। मैं देख रहा हूँ कि वीर अर्जुन का कपिध्वज फहर रहा है,

मानो वह पितामह से संकेत द्वारा कह रहे हैं कि पितामह थोड़ा ठहरें! और इस संकेत को उन्होंने भी समझ लिया है।

बहुरि कहहिं नभ धनुष उठाई। अच्युत अब रथ देहु चलाई॥
रोकहु रथ बाहिनि बिच लाई। सब महिपालन्हि देउ दिखाई॥

पुनः वे (वीर अर्जुन) आकाश की ओर धनुष उठाकर भगवान श्रीकृष्ण से कह रहे हैं- हे अच्युत! अब आप रथ चलायें और उसे दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ाकर [युद्ध के लिए उपस्थित] सभी राजाओं को मुझे दिखायें।

जहँ प्रतिद्वंद्वी बीर निहारउँ। किन किन सों मैं युद्धहिं धारउँ॥
जो दुर्मति दुर्योधन कारन। आये करन इहाँ हमसों रन॥

जहाँ मैं विपक्षी वीरों का अवलोकन कर सकूँ कि किन-किन से मुझे युद्ध करना है जो दुर्बुद्धि दुर्योधन के कारण यहाँ हमसे युद्ध करने आये हुए हैं।

जो जानत यह घोर अधर्मी। मुनि समुझाये भयो न नर्मी॥
तउ रन महँ एहि सँग सब आये। अहो बिधाता बिधि न लखाये॥

जो जानते हैं कि यह घोर अधर्मी है और सन्तों के समझाने से भी यह नहीं झुका, तो भी इसके साथ ये युद्ध में आये हुए हैं। अहो! विधाता का विधान समझ में नहीं आता!

किन किन के कहु प्रान हरउँ मैं। अरु किन किन पर दया करउँ मैं॥
यहि निरखउँ बाहिनि बिच जाई। हाँकहु रथ अब हे यदुराई॥

माधव! आप ही बतायें कि अब मैं किन-किन का प्राण हरण करूँ और किन-किन पर दया करूँ- यही देखने के लिए मैं सेनाओं के मध्य जाना चाहता हूँ, अतः हे यदुनाथ! अब आप रथ को आगे बढ़ायें।

छंद— अर्जुन बचन सुनि बिहँसि प्रभु रथ हाँकि रन बिच चलि परे।
महराज सो प्रभु छबि बिलोकत त्रिबिध तापन्हि जो हरे॥
जो छबि महासिव उर बसति सागरसुता हिय नहिं टरे।
तेहि छबि निहारत सुर असुर नर सिद्ध रन कौतुक भरे॥

भक्त अर्जुन का वचन सुनकर भगवान हँसते हुए दोनों सेनाओं के बीच रथ को लेकर चल पड़े। महाराज भी भगवान की उस [अनुपमेय] छवि को देखता जा रहा है जो त्रिविध (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों का हरण करने वाली है, जो छवि भगवान सदाशिव के हृदय में वास करती है तथा जो सिन्धुसुता भगवती महालक्ष्मी के हृदय से निकलती नहीं है, आज उसी छवि को रणभूमि में देवता, असुर, मनुष्य एवं सिद्धगण कौतूहलपूर्वक देख रहे हैं।

जेहि छबि निरखि सुरसरि बहति जाके दरस सब अघ टरे।
जेहि छबि निरखि नृग ब्याध गनिका ऋषि त्रिया पतितहु तरे॥
जेहि छबि निरखि ब्रज अंगना पति सुत सदन सुख भुलि गयीं।
तेहि छबि निरखि सुर असुर नर रन आँखि सहजहिं तरि गयीं॥

जिस छवि को देखकर माँ गंगा बह रही हैं जिनके दर्शन से समस्त पाप दूर हो जाते हैं, जिस छवि को देखकर ही राजा नृग, व्याध, गणिका और महर्षि गौतम की पत्नी अहिल्या आदि पतितों का उद्धार हो गया, जिस रूप-माधुरी को देखकर ब्रज-वनिताएँ अपने पति-पुत्र एवं घर-बार के सुख को भूल गयीं, आज उसी छवि को युद्धभूमि में देखकर देवता, असुर, मनुष्य आदि के नेत्र सहज ही तर गये [अर्थात् नेत्रेन्द्रिय सार्थक हो गयी]।

जेहि छबि निरखि प्रहलाद पितु रिस सहत अतिहिं भयावने।
जेहि छबि निरखि जसुमति झुलावहिं धरि हिंडोल लुभावने॥
जेहि छबि निरखि ब्रज रिपु मरे प्रभु कर सरोज सुहावने।
तेहि छबि लगे कौरव सुतन्हि अरु अधम सकुनि डरावने॥

जिस [भगवान की अवर्णनीय] छवि का पान करते हुए भक्त प्रह्लाद अपने पिता के अत्यन्त भयावह क्रोध को [प्रेमपूर्वक] सहन कर जाते हैं, सबको लुभाने वाली जिस छवि का दर्शन करते हुए माँ यशोदा उन्हें पालने में

डालकर झुलाती हैं, जिस छवि को देखकर ब्रज के शत्रु [कंस एवं उसके गण] भगवान के मनोहारी हाथों द्वारा मारे गये, वही दिव्य एवं मधुर छवि आज दुर्योधन, दु:शासन तथा नीच शकुनि आदि को डरावनी लग रही है।

जेहि छबि निरखि अघि पूतना पर गति जननि की पावई।
जेहि छबि निरखि बंदी गृहे पितु मातु दुख बिसरावई॥
जेहि छबि निरखि कल्यानि हरि मन ध्याइ चीर बढ़ावई।
तेहि छबि निरखि रथ चलत रन महँ सिद्ध सुर हरषावई॥

[भगवान की] जिस मधुर छवि को देखकर पूतना पापिनी होते हुए भी [मातृभाव के कारण] माता की गति को प्राप्त कर गयी, जिस छवि को देखते ही बन्दी माता-पिता देवकी और वसुदेव का सारा शोक-सन्ताप जाता रहा तथा भगवती द्रौपदी के द्वारा भगवान की जिस छवि का हृदय से स्मरण करते ही उसका चीर बढ़ने लगा, आज उसी छवि को युद्धभूमि में चलते हुए रथ पर देखकर समस्त देवता एवं सिद्ध-महर्षि हर्षित हो रहे हैं।

जेहि छबि निरखि ब्राह्मण सुदामा ताहि छन धनपति भयो।
जेहि छबि निरखि सब सुर भगे प्रहलाद मन सोइ छबि बस्यो॥
जेहि छबि निरखि अति दिब्य अस उपमा न बेदहु लावतो।
तेहि छबि निरखि रथ सारथी महराज मन अति भावतो॥

जिस रूपमाधुरी का दर्शन करते ही विप्र सुदामा धनपति बन गये, जिस छवि को देखते ही समस्त देवतागण भाग खड़े हुए किन्तु वही छवि भक्त प्रह्लाद के मन में बस गयी, जिस दिव्य छवि को देखकर समस्त वेद भी कोई उपमा नहीं प्रकट कर सके [अत: अरूप की संज्ञा दे बैठे], भगवान की वह दिव्य छवि जो रथ पर सारथि के रूप में विद्यमान है, महाराज के मन को अति प्रिय लग रही है।

दोहा— सो सोभा नहिं जाय कहि बरु कह सारद सेस।
महाराज तेहि कस कहे सच जेहि जान महेस॥ ५५ (क)॥

भगवान की उस दिव्य शोभा का वर्णन करते नहीं बनता, भले ही भगवती सरस्वती एवं शेषनाग ही क्यों न कहें! फिर महाराज उसे कैसे कह सकता है, उसे तो [सदा अपने हृदय में धारण करने वाले] भगवान सदाशिव ही यथार्थ में जान सकते हैं।

पार्थ बचन सुनि बिहँसि प्रभु तब रथ दीन्हिं चलायँ।
बहुरि बहुरि तिन्हि तन चितव मनहुँ बहुत कहि जायँ॥ ५५ (ख)॥

महात्मा अर्जुन का वचन सुनते ही प्रभु ने विहँसते हुए रथ को आगे बढ़ा दिया। वे बार-बार [पीछे सिर घुमा-घुमाकर] भक्त अर्जुन को देख लेते हैं मानो उनसे बहुत कुछ कहना चाहते हों।

करत बतकही मनहि मन जेहि बिधि जग हित होय।
सोइ सब करउँ उपाय अब नहिं राखउँ कछु गोय॥ ५५ (ग)॥

प्रभु अपने-आपसे मन ही मन कह रहे हैं कि जिसप्रकार जगत का हित होगा अब मैं वही उपाय करूँगा, भक्तों से कुछ भी छिपाकर नहीं रखूँगा।

प्रगटि ब्रह्मबिद्याहिं अब दैहउँ युद्ध कराय।
एहि सों नव सृष्टी रचउँ गीता कहि सब गाय॥ ५५ (घ)॥

अब मैं ब्रह्मविद्या को प्रकट करके ही युद्ध कराऊँगा तथा इस ब्रह्मशक्ति से एक नवीन सृष्टि की रचना करूँगा; जिसका सभी सन्त एवं भक्त गीता कहकर गायन करेंगे।

गगन मध्य सुर सिद्धगन नमन करत बहुबार।
ब्यास मुनिहुँ मन लुभत अस निरखहिं बारम्बार॥ ५५ (ङ)॥

आकाश मण्डल से देवता एवं सिद्धगण भगवान को बार-बार प्रणाम कर रहे हैं। उधर महर्षि व्यास के मन को यह [दृश्य] इतना भा गया है कि वे बारम्बार उसका दर्शन कर रहे हैं [मानो उनके नेत्र तृप्त ही नहीं हो रहे हों]।

चौपाई— प्रभु छिन कबहुँ पार्थ दृग हेरत। तेहि छन बिहँसि भीष्म सन फेरत॥
चितइ कृपहिं द्रोनहिं गम्भीरत। पुनि पार्थहिं देखन हित फीरत॥

भगवान कभी महात्मा अर्जुन की आँखों में देखते हैं और उसी क्षण विहँसते हुए पितामह भीष्म की ओर दृष्टि कर लेते हैं। कभी अति गम्भीर होकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्य को देखते हुए पुनः अर्जुन को देखने के लिए घूम जाते हैं।

गंगा सुअन सील संकोचत। बहु बिधि कल्पि कल्पि अति सोचत॥
प्रभुहिं नमत हियँ बारहिं बारा। मैं सरनागत परम उदारा॥

उधर गंगापुत्र पितामह भीष्म अति शीलवश संकोच में पड़कर अनेक प्रकार की कल्पना करते हुए चिन्तित हो रहे हैं। वे मन ही मन भगवान को बार-बार प्रणाम करते हुए कह रहे हैं कि हे परम उदार प्रभु! मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

मो सम भीर आज कहुँ नाहीं। मम कारन रन होवन जाहीं॥
मोसों भयो कोउ अघ भारी। जेहिं सों दैव आज मोहिं मारी॥

हे नाथ! मेरे समान घोर संकट में आज कोई नहीं है क्योंकि इस समय यह युद्ध एकमात्र मेरे ही कारण होने जा रहा है। अवश्य ही मुझसे कोई घोर अपराध हुआ है जिससे दैव आज मुझे यह कष्ट दे रहा है।

निरखि कुंतिसुत हिय भरि आये। मन चाहत भरि अंक लगाये॥

अपने प्रिय कुन्तीपुत्र अर्जुन [जैसे शीलवान एवं विनम्र पोते] को देखकर उनका हृदय भर आया है, उनका मन कर रहा है कि उसे अंक में भर लें।

दोहा— महाबाहु पहिं मन भगत पुनि पुनि गले लगाइ।
चूमत चाटत मातु सम दृग सों अश्रु बहाइ॥५६(क)॥

[अरे यह क्या!] उनका मन भागकर बारम्बार अर्जुन को गले लगाते हुए माता के समान चूम-चाट रहा है उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है।

गहन चहत भजि प्रभु चरन अरु अर्जुन लिपटाइ।
हटकहिं नभ सों सांतनु बिधि सन कछु न बसाइ॥ ५६ (ख)॥

[अब और भी आश्चर्य हो गया है] वे रथ से कूदकर भगवान के चरणों में प्रणाम कर अर्जुन के गले से लिपटना ही चाहते थे कि अन्तरिक्ष में प्रकट होकर महाराज शान्तनु ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया, [तब वे सोच रहे हैं कि] दैव के सामने किसी का वश नहीं चलता।

हेरि तिन्हहिं मन गति हरी चलहिं होइ गंभीर।
पुनि भिष्महिं पाछे लखहिं उन्ह हिय होय अधीर॥ ५६ (ग)॥

प्रभु उनके मन की गति को देखते हुए अति गम्भीरता के साथ चल रहे हैं पुनः पीछे पितामह भीष्म को देखने लगे तो देखा कि उनका हृदय अत्यन्त अधीर हो रहा है।

चौपाई— गुरु ढिंग रथ हाँकत प्रभु आवत। गुडाकेस सिर तबहिं नवावत॥
मिलतहि दृग द्रोनहु अति लाजहिं। मन अस करत कहाँ पर भाजहिं॥

जब आचार्य द्रोण की तरफ भगवान रथ को हाँककर ला रहे हैं तो [उन्हें देखते ही] निद्राविजयी अर्जुन ने सिर झुकाकर प्रणाम किया। [जब अर्जुन ने उनकी आँखों में आँखें डालकर प्रेम करना चाहा तो] नेत्रों के परस्पर मिलते ही गुरु द्रोणाचार्य अति लज्जित हो उठे, उनका मन कर रहा था कि [इस समय] कहाँ भाग जायँ।

कबहुँ मनहिं मन सिर कर फेरत। कबहुँ पार्थ सन कहि कछु टेरत॥
सिष्य परम प्रिय मनहिं दुलारत। पार्थ पार्थ कहि मनहुँ पुकारत॥

कभी वे मन ही मन अपने परमप्रिय शिष्य अर्जुन के सिर पर हाथ फेर रहे हैं तो कभी उनको पुकारकर कुछ कह रहे हैं। वे कभी अपने परम प्रिय शिष्य को मन ही मन अति प्यार कर रहे हैं तो कभी मानो 'हे पार्थ! हे पार्थ! हे धनञ्जय!' ऐसा कहकर पुकार रहे हैं।

प्रेम अमिय सींचत न अघावत। परम परम प्रिय सुत सम भावत॥
करत अतीत सुरति बहु कर्मा। एहि सम नहिं कोउ होय सुधर्मा॥

वे अमृतमय प्रेमरस से शिष्य अर्जुन को सींचते हुए तृप्त नहीं हो रहे हैं क्योंकि उन्हें वे परमप्रिय पुत्र की भाँति बहुत भा रहे हैं। वे पूर्व की बहुत-सी सेवाओं को याद कर रहे हैं और सोच रहे हैं इसके समान कोई श्रेष्ठ धर्मात्मा शिष्य है ही नहीं।

द्रुपद पछारि दियो मम चरने। मिल्यो राजपद याके करने॥
माँगउँ देइ प्रान सब कोषा। यह मम सिष्य सदा निरदोषा॥

[इतना ही नहीं अपितु गुरुदक्षिणा देने के लिए] इसने राजा द्रुपद को बन्दी बनाकर मेरे चरणों में डाल दिया, अरे! इसी के कारण मुझे राजपद की प्राप्ति हुई! यदि मैं इससे प्राण और समस्त सम्पत्ति भी माँगू तो यह [अति हर्ष के साथ] दे देगा, सच में मेरा यह शिष्य सदा से निर्दोष है।

दोहा— कौन करम एहि सन्मुख करउँ समर मैं आज।
मोहिं निलज को लाज नहिं लागति लाजहिं लाज॥ ५७॥

वह कौन-सा कर्म सामने आ गया कि आज मुझे इसी के साथ युद्ध करना पड़ रहा है, ऐसा करते हुए मुझ निर्लज्ज को कुछ भी लज्जा नहीं लग रही है जबकि ऐसा करने में लाज को भी लाज आ जायेगी।

चौपाई— निरखत प्रभु गुरु सिष्य प्रेमरस। मगन भये तब निज गुरुवर अस॥
दोउन्ह मूरति सहज निहारे। चलत न दृग सुमधुर दुइ तारे॥

इधर भगवान मधुसूदन, गुरु एवं शिष्य के परम प्रेम को देखकर ऐसे प्रेममग्न हो गये जैसे आचार्य द्रोण ही संदीपनि ऋषि हैं और अर्जुन ही भगवान हैं। वे दोनों गुरु शिष्यों को एक रूप मानकर सहज ही देख रहे हैं जिससे उनके नेत्र अचल होकर दो मनोहारी तारों की भाँति शोभा दे रहे हैं।

महाराज मन सुख न समावे। प्रभु गुनगान सहज कस गावे॥
संजय सहज समाधि हटावत। सिष्य गुरू प्रभु छबि बहु भावत॥

[इस दृश्य को देखकर] महाराज के मन में सुख की बाढ़ आ गयी है, अत: प्रभु का गुणानुवाद सहजता से कैसे गा सकता है? उधर सञ्जय सहजता से प्राप्त इस समाधि को हटाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार शिष्य अर्जुन, आचार्य द्रोण एवं भगवान की छवि अति शोभित हो रही है।

सकुनी दुर्योधन झल्लावत। दु:सासन मन भय बहु आवत॥
प्रभु मन तबहिं जगत महँ आवत। प्रेम मगन मन रथहिं बढ़ावत॥

उस दृश्य को देखकर दुर्योधन एवं शकुनि अति झल्ला रहे हैं तथा दु:शासन का मन अति भयभीत हो उठा है। तब तक भगवान की चेतना जगत में लौट आती है और प्रेममग्न मन से रथ हाँकने लगते हैं।

बीरहु अपर चकित चित चितवत। आवति सुरति काहु हित मितवत॥
बहुत बीर गांडीव निहारें। सोचत मनहिं मरहिं बिनु मारें॥

अन्य वीर इस [मनोहर छवि] को आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं, जिससे (भगवान और अर्जुन) किसी को अपने हितैषी तो किसी को मित्र के समान दिखायी पड़ रहे हैं। बहुत-से वीर गाण्डीव को देखकर सोच रहे हैं कि हम सब तो बिना मारे ही मर जायेंगे।

दोहा— हाँकत रबि सम दिब्य रथ प्रभु सु प्रभा बिखरायँ।
महाकाल सों पार्थ जनु महाप्रलय दिखरायँ॥ ५८ (क)॥

[हे श्रोताओ! भक्तो एवं साधको!] भगवान श्रीकृष्ण सूर्यदेव की भाँति दिव्य ज्योत्स्ना बिखेरते हुए रथ को [धीरे-धीरे] हाँक रहे हैं। उधर महावीर अर्जुन महाकाल के समान दिखायी दे रहे हैं जैसे वे महाप्रलय करने वाले हैं।

नृप अस तहँ पितु तिन्ह अनुज तिन्ह पितु पितामहान।
गुरुजन मामन्ह मित ससुर पुत्र पौत्र सुहृदान॥ ५८ (ख)॥

हे आर्य! इस प्रकार वहाँ उन ताऊ, चाचा, पितामहों, परपितामहों, गुरुजनों, मामाओं, मित्रों, श्वसुरों, पुत्रों, पौत्रों और सुहृदों-

सब भ्रातन्हि लखि कुंतिसुत अति दयार्द्र चित होइ।
सोक युक्त बिह्वल बचन बोले आपा खोइ॥ ५८ (ग)॥

तथा समस्त भाइयों को देखकर भक्त अर्जुन अत्यन्त दयार्द्र चित्त के साथ आपा खोते हुए शोकयुक्त विह्वल वचन बोले।

चौपाई— कृष्ण इहाँ निज कुटुम लखाये। रोमांचित तन अतिहिं कँपाये॥
भई सिथिलता मुखहु सुखाये। त्वचा जरति मन अति भरमाये॥

हे कृष्ण! इस रणभूमि में अपने ही परिवार को देखकर मुझे रोमांच हो रहा है, मेरा शरीर अत्यन्त काँपते हुए शिथिल हुआ जा रहा है तथा मुख भी सूख रहा है, त्वचा [अत्यन्त] जल रही है एवं मन अति भ्रमित हो रहा है।

कर सों अब गांडीव गिराये। खड़ो नाहिं मोसों रहि जाये॥
सब लक्षण बिपरीत लखावत। स्वजन हते भल नाहिं जतावत॥

हाथ से गाण्डीव गिरा जा रहा है और अब तो मुझसे खड़ा भी नहीं रहा जा सकता। समस्त [प्राकृतिक] लक्षण विपरीत दिखाई दे रहे हैं [मानो स्पष्ट कह रहे हैं] कि स्वजनों का वध करना कल्याणप्रद नहीं है।

मैं न चहउँ अस बिजय राज सुख। बरु पावउँ बन जाइ बिपुल दुख॥
जोपै मिलइ राज सुख ऐसो। नहिं लखाय कोउ लाभहु कैसो॥

अत: [हे यदुनाथ!] मैं ऐसी विजय और राज्य लक्ष्मी नहीं चाहता, भले ही वन जाकर अनेक दु:ख ही प्राप्त करूँ। यदि ऐसा राज्य सुख प्राप्त भी हो जाय तो किसी भी प्रकार का लाभ प्रतीत नहीं होता।

जिन्हके हित चाहहिं सुख भोगा। तेइ मरन हित आये लोगा॥
गुरुजन पुत्र पितामह पितरहु। स्याला मामा पौत्रउ स्वसुरहु॥

जिनके लिए हम राज्य भोग का सुख चाह रहे हैं, वे ही सब यहाँ मरने के लिए उपस्थित हैं। गुरुजन, पितामह, पुत्र, ताऊ, साला, मामा, पौत्र, श्वसुर-

अरु सबरें सम्बंधिहु आये। माधव अस मोहिं देत लखाये॥
पावउँ राज त्रिलोकहुँ जबहूँ। हतउँ न कृष्ण इनहिं मैं तबहूँ॥

और अन्य समस्त सम्बन्धी उपस्थित हैं। हे माधव! यहाँ मुझे ऐसा ही दिखायी पड़ रहा है। हे कृष्ण! भले ही मैं तीनों लोकों के राज्य को प्राप्त कर लूँ तो भी मैं इनका वध नहीं करूँगा।

छंद— महिराज का त्रैलोक राजहु नहिं चहउँ इन्हि मारि के।
कौरव सुअन जे मृतक सम का पायँ इन्हि रन पारि के॥
इनि आततायिन्ह मारि के तो पाप लागे अति महत।
पुनि सांति सुख कैसे मिले सब सास्त्र संतहु अस कहत॥

हे माधव! पृथ्वी का राज्य क्या है, मैं तो इन लोगों का वध करके तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहता। मृतक तुल्य इन कौरव पुत्रों का युद्ध में वध करने से क्या प्राप्त होगा? इन आततायियों को मारकर अत्यधिक पाप ही लगेगा फिर सुख-शान्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है! ऐसा ही समस्त सन्तों एवं शास्त्रों का भी कहना है।

सोरठा— यद्यपि निरखहिं नाहिं लोभ मोह अति भ्रमित चित।
स्वजन बधे होइ जाहिं बिपुल पाप ते नहिं गनैं॥ ५९ (क)॥

यद्यपि अत्यन्त लोभ, मोह और चित्त भ्रमित होने के कारण ध्यान न देते हुए स्वजनों के वध से होने वाले महान पाप को ये कौरव कुछ भी नहीं समझ रहे हैं-

हमहिं लखाये दोष नास करन महँ कुलहिं निज।
पुनि क्यों तिन्ह सम रोष हमहु गहें हे देव कहु॥ ५९ (ख)॥

किन्तु हमें तो अपने कुल के नाश करने में दोष स्पष्ट ही दिखायी पड़ रहा है। फिर हे प्रभो! आप ही बताएँ कि

उनके ही जैसे हम भी क्रोध क्यों धारण करें ?

चौपाई— एहि जगमहँ सुख कौन गुसाँईं। जासों मन मति चित्त अघाईं॥
छनभंगुर भोगहिं सब जानत। मूढ़ ताहि महँ सुख बहु मानत॥

हे नाथ! इस जगत में कौन-सा सुख है जिसके द्वारा मन, बुद्धि और चित्त सन्तुष्ट हो जायेंगे। यह तो सभी जानते हैं कि [समस्त] विषय-भोग क्षणभंगुर हैं तो भी मूर्ख उसी में अत्यन्त सुख समझते हैं।

सब सम्पति मैं अघमय जानउँ। घेरति बिपति चहूँ दिसि मानउँ॥
जस मरीचिका महँ जल नाहीं। भ्रमबस तस सुख इहउँ लखाहीं॥

मैं तो समस्त सम्पत्तियों को पाप रूप समझता हूँ, जिसके कारण चारों ओर से विपत्तियाँ घेर लेती हैं। जैसे मरीचिका में जल नहीं होता [किन्तु दिखायी पड़ता है] उसी प्रकार इन सम्पत्तियों में भ्रम से ही सुख की प्रतीति होती है।

तेहिं सुखमहँ कौरव सुख मानत। तेहिंतें अजहुँ हमहिं अपमानत॥
इत जानहिं हम माया साँपिनि। माया कर हमरे मिस पापिनि॥

उसी सुख में कौरव सुख मानते हैं इसी कारण वे आज भी हमारा अपमान कर रहे हैं। इधर हम जानते हैं कि यह मायारूपी पापमय सर्पिणी हमारे बहाने ही लीला करना चाहती है।

आकृष्टहिं तउ लोभ सों हमहूँ। अहो खेद खिन्नहिं नहिं अबहूँ॥

तो भी लोभवश हम सब खिंचे जा रहे हैं। अहो! खेद है कि हमें अभी भी इसका क्षोभ नहीं हो रहा है।

दोहा— बनहिं घिरत जिमि ब्याध सों बहु प्रकार मृगराज।
जब जानइ कछु काल महँ कर न सकत बस गाज॥ ६०॥

जैसे बहेलिये द्वारा वन में सब ओर से सिंह घिर जाता है और कुछ समय के बाद जब यह जान जाता है तो मात्र गर्जना ही करता है, कुछ कर नहीं पाता।

चौपाई— तिमि यह जानउँ माया घेरा। मम बंधन हित डारइ डेरा॥
हम सिंहन्ह सम नहिं असमर्था। तोरहिं घेर याहि के ब्यर्था॥

उसी प्रकार मैं जान गया हूँ कि यह [युद्ध रूप में] माया का घेरा है जिसने हमें बाँधने के लिए डेरा डाल रखा है; परन्तु हम सिंहों के समान असमर्थ नहीं हैं अत: इस व्यर्थ के घेरे को [सहजता से] तोड़ डालेंगे।

का एहि राज सों लेनो देनो। खाइ बितावउँ चना चबेनो॥
अब जान्यों सब भोगन्हि मिथ्या। तेहितें सेवउँ जग सच पथ्या॥

मुझे इस राज्य से क्या लेना देना है! मैं तो चना-चबेना भी खाकर जीवन व्यतीत कर लूँगा। अब मैं समझ गया हूँ कि समस्त भोग मिथ्या हैं इसलिए जगत में जो सच में पथ्य है, उसी का सेवन करूँगा।

हौं मैं कौन ब्रह्म कस रूपा। जानउँ बस यहि ज्ञान अनूपा॥
जिमि कोउ मरुथल घुमि थकि जावे। तेहि कर दुखद दोष बहु गावे॥

'मैं कौन हूँ, ब्रह्म किस रूपवाला है'- अब एकमात्र इसी अनुपम ज्ञान को जानूँगा। जिसप्रकार मरुभूमि में विचरते-विचरते कोई थककर उसके दु:ख देने वाले दोषों को अनेक प्रकार से बताता है-

तिमि बिषयनि महँ होइ अनुरक्ता। भयो हुतो मम मन तिन्ह भक्ता॥
अब तिन्हि भोगन्ह दोष बिचारी। भयो बिरक्त संत अनुसारी॥

उसी प्रकार सारे भोगों में अनुरक्त रहने वाला मेरा मन उन्हीं का भक्त हो गया था। परन्तु [अब वह] उन भोगों के दोषों पर विचार करके सन्त की तरह विरक्त हो गया है।

सब्दोच्चार पवन के साथा। करि कस सबरें धूनहिं माथा॥

सभी प्राणी वायु के सहारे शब्दोच्चार करते हुए कैसे व्यथित हो रहे हैं-

दोहा— कीचक बाँस भरे पवन सब्द मुरलि सम होय।
तिमि सुख देइ जग बिभव ठग पुन्य नसत दुख रोय॥ ६१॥

जैसे कीचक (कच्चे) बाँस में छिद्र द्वारा हवा भर जाने से [उसमें से] बाँसुरी की-सी अवाज आती रहती है वैसे ही जगत की सारी सम्पत्तियाँ सुख देकर सभी को ठग रही हैं किन्तु जब पुण्य समाप्त हो जाता है तो दुःख देते हुए भाग जाती हैं और पुरुष रोता रह जाता है।

चौपाई— होत गर्त गिरि जिमि गज ब्याकुल। तिमि मम हृदय भयउ सोकाकुल॥
मोह धूँध तम निसि जब छावे। तासों ज्ञान ज्योति सब जावे॥

जिस प्रकार गड्ढे में गिरा हुआ हाथी व्याकुल हो जाता है उसी प्रकार मेरा हृदय शोकाकुल हो गया है। हे नाथ! अज्ञानरूपी रात्रि में मोहरूपी कुहरे के छा जाने से जब ज्ञानरूपी ज्योति सर्वथा नष्ट हो जाती है-

तबहिं चतुर बिषयादिक चोरा। करहिं आक्रमण सब दिसि ओरा॥
छीनि बिबेक रतन भगि जाहीं। निज पौरुष तब काम न आहीं॥

तो विषयरूपी [शब्द, स्पर्श आदि] चतुर चोर सब ओर से आक्रमण कर बैठते हैं और विवेकरूपी रत्न को छीनकर भाग जाते हैं तब अपना पुरुषार्थ काम नहीं आता।

अस मन जानि युद्ध नहिं करिहउँ। कोउ बर संत सरन अनुसरिहउँ॥
बहु बिचारि अब अस जिय जाना। होइहिं तहँइ परम कल्याना॥

इसलिए मन में ऐसा जानकर मैं युद्ध नहीं करूँगा बल्कि किसी ज्ञानी सन्त की शरण में जाऊँगा। मैंने अब हृदय में ऐसा अच्छीप्रकार से विचार करके देख लिया है कि वहीं मेरा परम कल्याण होगा।

माधव अब न लगउँ तुव हाथा। राज छुधित भ्रातन्हि तजुँ साथा॥

हे माधव! अब मैं आपके हाथ नहीं आ सकता तथा राज्य के भूखे इन भाई-बन्धुओं का भी साथ छोड़ दूँगा।

दोहा— करउँ जतन परमार्थ कर जेहि बिधि मन थिर होय।
गहउँ ज्ञान बिज्ञान होइ उदासीन जग जोय॥ ६२॥

अब जिस प्रकार मन स्थिर हो वही पारमार्थिक यत्न करूँगा। इसके लिए ज्ञान, विज्ञान धारण कर जगत में किसी से भी सम्बन्ध नहीं रखूँगा।

चौपाई— अति उत्कृष्ट अहइ धन सम्पति। यहि सुख साधन स्वर्गहु की गति॥
प्रभु ऐसो मत मूढ़ कलपना। नासत मति करि ऐसि जलपना॥

'धन सम्पत्ति ही अति उत्कृष्ट वस्तु है क्योंकि यही सुख एवं स्वर्ग प्राप्ति का साधन है'- ऐसी धारणा तो हे दयालु! मूढ़ पुरुषों की कल्पना मात्र है। वे ऐसा बकवास करके अपने विवेक का नाश कर लेते हैं।

रहति न थिर यह कबहुँ सम्पदा। इहाँ उहाँ दै जाइ आपदा॥
बिबिध रूप बनि आवइ भोगा। जर्जर तन मन करि बहु रोगा॥

यह लक्ष्मी कभी स्थिर नहीं रहती बल्कि अनेक विपत्तियाँ देकर आज यहाँ कल वहाँ जाती रहती है। यह नाना प्रकार के भोगों का रूप धारण कर आती है तथा मन एवं शरीर को अनेक प्रकार के रोगों से जर्जर कर देती है।

नसति स्वयं सब पुन्यहिं छय करि। अस जियँ जानि न पकरहु भय करि॥
धर्मसील उपराजत बहुबिधि। आवतिं धावतिं सबरें ऋधि सिधि॥

'यह पुण्य का क्षय करके स्वयं भी नाश को प्राप्त हो जाती है'- ऐसा समझकर इस सम्पत्ति को कभी भी पकड़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, बल्कि इससे डरना चाहिए। यद्यपि धर्मात्मा पुरुष नाना प्रकार के यत्न करके उसका उपार्जन करते हैं तथा [उसी के चलते] नाना प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ बलात् आ जाती हैं।

आय समय जब भोग करन को। यह मुर्खा चलि भागि गगन को॥
ज्यों नृप काहुहिं अपुन बनावे। पतो नाहिं कब ताहि भगावे॥

लेकिन जब इसके उपभोग करने का समय आता है तो यह महामूर्खा सम्पत्ति आकाश में चली जाती है अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाती है। जैसे राजा किसी को भी कब अपना बना ले और कब उसका परित्याग कर दे इसका पता नहीं चलता-

नृपति प्रकृति सम कछु न बिचारति। चाहे काहू के पग धारति॥
पुनि कब ताहि तजति न लखावे। काह करइ कब जानि न जावे॥

राजा के ही स्वभाव की भाँति यह भी कुछ विचार नहीं करती, चाहे किसी का भी वरण कर लेती है और पुन: कब उसका त्याग कर देती है, यह पता नहीं चलता। इस प्रकार कब क्या कर देगी, कुछ भी समझ में नहीं आता।

हम सब बन पर्बतहिं ढहाये। इंद्रप्रस्थ रजधानि बसाये॥

वन-पर्वतों को बराबर कर हमने [हस्तिनापुर से भी सुन्दर] इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया था-

दोहा— छन महँ कौरव पास सो गयी बहुत हरषाइ।
अब न चहउँ अस सम्पदा पायँ परउँ यदुराइ॥ ६३॥

किन्तु थोड़े समय में ही वह अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कौरवों के पास चली गयी। अत: हे यदुनाथ! मैं आपके पैर पड़ता हूँ, अब मुझे ऐसी सम्पदा नहीं चाहिए।

चौपाई— यह सम्पदा पिसाचिनि घोरा। पकरति भीतर बाहर ओरा॥
कबहुँ गुरू कोउ आइ भगावे। अरे बाप अब मोहिं न भावे॥

यह सम्पत्ति घोर पिशाचिनी के समान है जो भीतर-बाहर सब ओर से पकड़ लेती है। जब कभी कोई सद्गुरु आकर इसे भगाता है तब वह कहता है कि अरे! बाप रे बाप! अब मुझे यह प्रिय नहीं लगती!

जबलौं धन बैभव गृह माँहीं। तबलगि हित मित बंधु रमाहीं॥
आवे दारिद अति जब घर महँ। सबहिं दुकत जिमि मूसक दर महँ॥

जब तक घर में धन-वैभव रहता है तब तक भाई-बान्धव, हित-मित्र वहाँ रमते रहते हैं। किन्तु जब घर में अत्यन्त दरिद्रता आ जाती है तो सभी उसी प्रकार [किसी अन्य के आश्रित हो] दुबक जाते हैं, जैसे चूहे [बिल्ली के भय से] बिल में छिप जाते हैं।

आवत ही हिय बज्र बनावति। दया सील धनवान न आवति॥
थोरेउँ रज कर मनिहिं मलीना। तिमि थोरें धन करत अदीना॥

अरे! यह [सम्पत्ति] जिसके पास आती है उसके हृदय को वज्र बना देती है। धनवान को दया-शीलता तो आ नहीं सकती। जिसप्रकार थोड़ी-सी धूल भी मणि को मैला कर देती है उसी प्रकार थोड़ा-सा धन भी पुरुष को अहंकारी बना देता है।

सुग्रीवहु कर बिगरेउ माथा। हनुमत सम मंत्री जेहि साथा॥
बिष बेलिहिं कोउ करइ सहेली। मृत्यु हेतु सो बनति अकेली॥

इसी [राज एवं सम्पत्ति] से सुग्रीव जैसे की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गयी थी जिसके साथ हनुमानजी जैसे परम बुद्धिमान मंत्री थे। यदि कोई विष की बेल को अपना साथी बनाता है तो वह अकेले ही [कभी न कभी किसी न किसी की] मृत्यु का कारण बनती है-

दोहा— तिमि राखत कोउ सम्पदा प्रभुता मिलि हरषाय।
सोइ बिनास कारन बनति इक दिन देति फँसाय॥ ६४॥

उसी प्रकार कोई सम्पत्ति को रखता है और प्रभुता प्राप्त होने पर अति प्रसन्न होता है तो फिर वही सम्पत्ति एक दिन उसे फँसाकर उसके विनाश का कारण बनती है।

चौपाई— यह धन केहि सम उपमा कहऊँ। जासों मौन रहन अब चहऊँ॥
यह धन कानन गुफा बिसाला। काम उरग जहँ बसत कराला॥

हे प्रभो! यह धन किसके समान है इसके लिए कौन-सी उपमा दूँ इसलिए अब मैं उदासीन ही रहना चाहता हूँ। यह धन तो वन की विशाल गुफा के समान है जिसमें कामरूपी भयंकर सर्प वास करता है।

लोभ नदिहिं भर यह बनि बर्षा। चिंता बिष बढ़ाइ बहु हर्षा॥
गहन गुहा धन दुख सर्पन की। गदा घोर दर्पित असुरन की॥

यह धन लोभरूपी नदी को वर्षा बनकर भर देता है और चिन्तारूपी विष को बढ़ाकर अत्यन्त हर्षित होता

रहता है। यह धन दु:खरूपी सर्पों [के वास] के लिए गहन गुफा है और दर्प में भरे हुए असुरों के लिए प्रचंड गदा के समान है।

मोह मतंग निवास गहन बन। ज्ञानदीप हर बेगि पवन बन॥
काम उलूक निसा होइ धारत। क्रोध कृसानु वायु सम बारत॥

मोहरूपी हाथियों के वास करने के लिए गहन वन है तथा ज्ञानरूपी दीपक को शीघ्र ही वायु बनकर बुझाने वाला है। यह कामरूपी उल्लुओं को रात्रि बनकर सुख देता है तो क्रोधरूपी अग्नि को वायु बनकर प्रज्वलित करता है।

ग्रसत बिबेक मयंक राहु सों। हार न मानत सहसबाहु सों॥
अब एहि पापिहिं संग न लावउँ। बन भिक्षा करि हरि गुन गावउँ॥

यह विवेकरूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिए राहु के समान है तथा सहस्रबाहु जैसा कितना भी बलवान हो उससे हार नहीं मानता। अब इस धनरूपी पापी को मैं स्वीकार नहीं करूँगा अपितु वन में भिक्षाटन करके मात्र प्रभु का भजन करूँगा।

अर्जुन उदगारत बहु भाँती। तन सुख नहिं मन अतिहिं असाँती॥

महात्मा अर्जुन इस प्रकार विविध रूप से उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं, न उनके शरीर में सुख है, न मन में शान्ति ही है।

दोहा— सब दुख कर दुख एक यह धन मिस सब पहिं जाय।
नहिं आवत कछु हाथ महँ सिर धुनि धुनि पछिताय॥ ६५॥

[भक्त अर्जुन आगे कहते हैं इतना ही नहीं बल्कि] यह वैभव समस्त दु:खों के बराबर एक ही दु:ख है जो धन के बहाने सबके निकट जाता है। किन्तु अन्त में हाथ कुछ नहीं लगता, अत: सभी माथा पीट-पीटकर पश्चात्ताप करते हैं।

चौपाई— जिन्हके हित सुख भोगहिं चहहीं। ते सब युद्ध माँझ लरि मरहीं॥
इन्हके जीवन पर अधिकारा। कस हम सबकर करहु बिचारा॥

हे अच्युत! जिनके लिए हम सब भोग और सुख चाहते हैं वे सब तो युद्ध में संग्राम करते हुए मर जायेंगे। इनके जीवन पर हमारा अधिकार कैसे है, यह विचार करने का विषय है।

नर जीवन अमूल्य सब कहहीं। मुनि हरि भजहिं सरन गहि रहहीं॥
तेहि जीवन हम भक्षन्ह चाहत। धिग जीवन अस काह निबाहत॥

'मनुष्य का जीवन अमूल्य है'- ऐसा सभी कहते हैं। ऋषि-मुनि इसी से भगवान की शरण में रहकर भजन किया करते हैं और हमलोग उसी जीवन का भक्षण करना चाहते हैं। हमारे ऐसे जीवन को धिक्कार है! इस प्रकार पता नहीं हम कौन-सा प्रयोजन पूरा करना चाहते हैं।

एहि आयु कर कौन भरोसो। पुनि का प्रभु अस देइ परोसो॥
छनभंगुर एहि गुनि प्रभु दासा। करहिं न कबहुँ याहि बिस्वासा॥

इस आयु का विश्वास ही क्या है, [यदि अभी चूक गये तो] क्या भगवान पुन: ऐसा अवसर प्रदान करेंगे! 'यह अति क्षणभंगुर है'- ऐसा विचार कर भगवान के भक्त इस पर कभी भी विश्वास नहीं करते।

तृन सिर जल कन जस थिर नाहीं। यह बिछिप्त सम कबहुँ बिलाहीं॥
आयुहिं तन छोरत नहिं लाजा। जग महँ याकर कछु नहिं काजा॥

जिस प्रकार तृण के अग्रभाग पर स्थित जल बिन्दु की स्थिरता पर विश्वास नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह आयु पागल के समान कभी भी जा सकती है, शरीर को छोड़ने में इसे लज्जा भी नहीं लगती। अरे! जगत में इस आयु का इसके अतिरिक्त और कोई काम ही क्या है?

बिषय नाग जिन्हके चित संगा। आत्म बिबेकहु जरजर भंगा॥
आयु तिन्हहिं हित अति दुखदावनि। मोह सोक संताप बढ़ावनि॥

विषयरूपी नागों के संसर्ग से जिन लोगों का चित्त जर्जर हो गया है और आत्म-विवेक छिन्न-भिन्न हो गया है, उनकी आयु अत्यधिक दु:ख देने वाली तथा मोह, शोक एवं सन्ताप को बढ़ाने वाली है।

जिननैं ज्ञात ज्ञेय बहु भाँती। अबिकल ब्रह्म पाय बर साँती॥
सुख दुख हानि लाभ महँ समता। थिर नित रहहिं न तनिक बिसमता॥

जिन्होंने जानने योग्य मायारहित ब्रह्म को भलीभाँति जानकर परम शान्ति प्राप्त कर ली है, जो सुख-दु:ख, हानि-लाभ में सम और स्थिर रहते हैं, उनमें कभी विषमता नहीं आती।

दोहा— जिनकीं करनी संत सम बिषय भोग नहिं भाय।
सुखद आयु तिन्ह जिवन महँ चारिहिं चाँद लगाय॥ ६६॥

सुनें, जिनका कर्म सन्तों के समान है जिन्हें विषय भोग प्रिय नहीं लगते उनकी सुखदायिनी आयु उनके जीवन में चार-चाँद लगा देती है।

चौपाई— बरु प्रतिबिम्ब लहर गहि जाई। बरु कोउ बिद्युत हाथ गहाई॥
पर नहिं हाथ लगे यह आयू। जो न मान अस सोइ अघायू॥

हे केशव! भले कोई लहर में बने प्रतिबिम्ब को पकड़ ले, भले ही कोई हाथ में विद्युत को धारण कर ले परन्तु यह आयु कभी भी पकड़ी नहीं जा सकती; जो ऐसा नहीं मानता वह निश्चित ही पापात्मा है।

तेल रहित दीपक जिमि बूझत। तिमि चंचल आयू नहिं सूझत॥
गर्भ गहति दुख हेतु खच्चरी। तस बहु आयू मूर्ख संचरी॥

जिसप्रकार तेलरहित दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार चंचल आयु को कुछ सूझता ही नहीं है [अर्थात् शरीर की अवधि पूरी होते ही वह निकल भागती है]। जिसप्रकार खच्चरी एकमात्र दु:ख प्राप्त करने के लिए ही गर्भ धारण करती है उसी प्रकार मूर्ख ही विशेष आयु के संचय की चाहना करते हैं।

खात पियत पसु पक्षिहु रहहीं। यदि उन्ह सम मनसा हम करहीं॥
तौ बड़ि बात न दीखत मोहीं। पुनि सच बहु भल हमसों ओहीं॥

खाते-पीते हुए तो पशु-पक्षी भी जीते हैं, उन्हीं के समान यदि हम भी ऐसी ही कामना करें तो इसमें (मनुष्य होने में) मुझे कोई विशेषता नहीं दिखती; फिर तो यह सत्य है कि हमसे वे ही बहुत अच्छे हैं।

सफल जनम जग उनकर अहई। एहि जीवन महँ जो बिभु लहई॥
नहिं जिमि भार बहहिं खर बृंदा। तिमि जीवन नहिं पाव अनंदा॥

हे जनार्दन! उनका ही जीवन अति सफल है, जिन्होंने इसी जीवन में सच्चिदानन्द ब्रह्म को जान लिया है। अन्यथा जिसप्रकार गधे भार ढोते-ढोते दु:खी होते रहते हैं उसी प्रकार जीवन में आनन्द की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् जीवन भार स्वरूप हो जाता है।

दोहा— जस मूढ़न्ह हित आयु मन बुद्धि रूप हंकार।
दुखदायक तिमि मनुज सिर ऐसो जीवन भार॥ ६७॥

जिस प्रकार मूढ़ पुरुष के लिए आयु, मन, बुद्धि, रूप और अहंकार दु:ख देने वाले होते हैं, उसीप्रकार [जिन्होंने ब्रह्म को नहीं जाना] ऐसे मनुष्यों का जीवन भार स्वरूप और दु:खदायी हो जाता है।

चौपाई— जिमि गँव ताकइ मुसक बिलाई। निकसत बिबर झपटि तेहि खाई॥
तिमि अतिकालहु ताकत आयू। अवसर पावत ग्रसत अघायू॥

जिसप्रकार बिल्ली बिल के पास चुपचाप चूहे की प्रतीक्षा करती रहती है, बिल से निकलते ही उसे झपटकर खा जाती है, वैसे ही पापी महाकाल आयु की ओर देखता रहता है और समय पाकर क्षण मात्र में ही उसका ग्रसन कर जाता है।

देन कहउ प्रभु हमहिं राजसुख। पतो न कब तजि हमहिं देहिं दुख॥
महासर्प जिमि वायु पान करि। बिबर करत बिश्राम गरल धरि॥

हे कल्याणमूर्ते! आप हमें राजसुख और भोग देने को कह रहे हैं, किन्तु पता नहीं कब ये हमारा परित्याग कर

दु:ख देने लगेंगे। जिसप्रकार भयंकर सर्प वायु का पान करके विष को धारण कर बिल में विश्राम करते हैं-

काटत जबहिं प्रान हरि लेहीं। मुक्ति न पाव जीव दुख देहीं॥
तिमि तन बिल महँ भीषण रोगा। बसत सदा आयूकर भोगा॥

और जब ये काटते हैं तो प्राण हर लेते हैं, जिससे [अकाल मृत्यु होने से] जीव को मुक्ति भी नहीं मिलती, वह [बहुत समय तक] दु:ख पाता रहता है; उसी प्रकार शरीररूपी बिल में नाना प्रकार के भीषण रोग रूपी सर्प आयु का उपभोग करते हुए वास करते हैं।

दारुकीट जिमि काटत कण कण। मन बिश्राम न पावत इक छण॥
तेहि आयू यौवन सुख कारन। युद्ध करावहु हृदय बिदारन॥

जिसप्रकार लकड़ी का कीड़ा [भीतर ही भीतर] एक-एक रेशे को काटता रहता है उसी प्रकार [इन रोगों के चलते] मन को क्षण मात्र के लिए भी विश्राम नहीं मिलता। हे माधव! आप उसी आयु और यौवन के सुख के लिए हृदय को विदीर्ण करने वाला युद्ध कराना चाहते हैं।

दोहा— अब कानन महँ खोजऊँ तेहि कर मैं उपचार।
केसव अस रन करउँ नहिं यह मम हृदय बिचार॥ ६८॥

अब तो मैं वन में जाकर उसी का निदान खोजूँगा। अत: हे केशव! मैं ऐसा युद्ध नहीं करूँगा, मेरा हृदय से यही निर्णय है।

मासपारायण, दूसरा विश्राम

चौपाई— बोलत नहिं प्रभु अति गम्भीरा। बिहँसत हृदय धीर के धीरा॥
अर्जुन मन बिश्राम न पावत। अहंकार कर दोष बतावत॥

[महात्मा अर्जुन की बात सुनकर] धीरों के धीर भगवान नारायण कुछ भी बोल नहीं रहे हैं अति गम्भीर बने हुए हैं तथा हृदय में हँस रहे हैं किन्तु महात्मा अर्जुन के मन को शान्ति नहीं मिल रही है, अत: वे पुन: अहंकार का दोष बताने लगते हैं।

अहंकार एहि जगहिं नचावत। जीवन जीवन बहु भरमावत॥
मानस रोग बिपुल एहि कारण। महामोह कहँ कर बिस्तारण॥

यही अहंकार सम्पूर्ण जगत को नचाते हुए जन्म-जन्म तक भ्रम में डाले रहता है। इसी कारण अनेक मानसिक रोग होते रहते हैं तथा महामोह का विस्तार होता है।

भिलनि मृगन्ह हित जाल बिछावति। हमहिं गहन हित माया गावति॥
युद्ध जाल महँ हमहिं फँसावे। स्वर्ग देन मिस इक इक खावे॥

जिसप्रकार मृगों को पकड़ने के लिए भीलनी जाल बिछाती है उसी प्रकार हमें युद्धरूपी जाल में फँसाने के लिए माया गीत गा रही है; जो हमें स्वर्ग का प्रलोभन देकर एक-एक कर सबको खा जायेगी।

तंत्रजाल जिमि तांत्रिक लावत। भैरवनाद करत बहु धावत॥
मारण उच्चाटन सिधि सिद्धत। निज बैरी कहँ ताहि सों बिंद्धत॥

जैसे कोई [तांत्रिक] तंत्र-मंत्र का जाल बिछाकर मारण और उच्चाटन को सिद्ध करके भैरवनाद करते हुए उसी से अपने वैरी को मार डालता है।

दोहा— दारा सुत हित मीत सब तंत्र मंत्र बिनु जाल।
डारत घेरत सबहिं बिधि अहंकार खल हाल॥६९॥

किन्तु दुष्ट अहंकार की तो यह दशा है कि उसने बिना तंत्र-मंत्र के ही स्त्री-पुत्र, हित-मित्र रूपी जाल डालकर सब प्रकार से सबको फँसा रखा है।

चौपाई— अहंकार सम खल नृप नाहीं। जाकर कबहुँ न पेट अघाहीं॥
सेनापति कामहिं हुंकारत। लोभ मोह क्रोधहिं परचारत॥

अहंकार के जैसा तो कोई दुष्ट राजा नहीं है जिसका पेट कभी नहीं भरता। वह अपने [प्रधान] सेनापति काम

को बुलाकर कहता है कि तुम [अपने योद्धाओं] क्रोध, मोह और लोभ को ललकार [कर जीव पर आक्रमण कर] दो।

जप तप योग हरत ते तबहीं। जीव सताइ जायँ सब गवहीं॥
होय बिपुल तब जीव बियोगा। सोचत अस अब बने न जोगा॥

तब वे [आक्रमण करके] जीव के जप, तप, योग आदि दिव्य सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं और दु:ख देकर चुपचाप विदा हो लेते हैं। तब जीव उस वियोग से अत्यन्त दु:खी होकर सोचने लगता है कि अब ऐसा शुभ संयोग नहीं बन पायेगा।

आपतकाल महा परितापा। अहंकार कारन सच भाँपा॥
अहंकार घन जबहिं बिलावे। मोह कुहासा तबहिं नसावे॥

विपत्तिकाल में जो महा दु:ख होता है, यथार्थ बात तो यह है कि उसका कारण अहंकार ही देखा गया है। यह अहंकाररूपी बादल जब नष्ट हो जाता है तभी मोहरूपी कुहरा समाप्त होता है।

ज्ञान रबिहिं यह ग्रसत राहु सों। पुण्य ऋषिहिं बध सहसबाहु सों॥
सतगुन बिपिनहिं दह दवारि सों। साधुहिं छिंदत दुष्ट गारि सों॥

यह दुष्ट अहंकार दिव्य ज्ञानरूपी सूर्य को ग्रसने के लिए राहु के समान है तथा पुण्यरूपी ऋषि (जमदग्नि) का वध करने के लिए सहस्त्रार्जुन के समान है, सतोगुणरूपी वन को जलाने के लिए दावानल के समान है और सज्जनों के मर्म स्थल भेदने के लिए दुष्टों के अपशब्द के समान है।

दोहा— अच्युत खोजउँ जगत तजि अहंकार उपचार।
पाइ परमपद आइ पुनि करउँ ज्ञान परचार॥ ७०॥

हे अच्युत! अब मैं जगत को त्याग कर इस अहंकार का ही उपचार खोजूँगा एवं परम पद प्राप्त करके पुन: जगत में आकर ज्ञान का प्रचार-प्रसार करूँगा।

चौपाई— यह तृष्णा का कबहुँ नसावे। जो सब जगतहिं नाच नचावे॥
मो सम धीर अधीर बनावे। कालराति सम मोहिं डरावे॥

अब आप ही बतायें कि यह तृष्णा जो समस्त जगत को नाच नचा रही है, मेरे समान धैर्यवान को भी अधीर बना रखी है तथा मुझे कालरात्रि के समान भयभीत कर रही है, [बिना प्रयत्न किये] कभी जा सकती है क्या?

जदपि हुती मम दृष्टि बिसाला। तउ मोहिं अंध कीन्ह एहि काला॥
एहि काली नागिनि सम जानउँ। गहउँ न काटि खाइ अस मानउँ॥

यद्यपि मेरी दृष्टि अति सूक्ष्म थी तो भी इस समय इसने मुझे अन्धा बना दिया है। मैं तो इस [तृष्णा] को काली नागिन के समान समझता हूँ परन्तु पकड़ना नहीं चाहता; क्योंकि मैं अच्छी प्रकार मानता हूँ कि यह काट खायेगी।

बौरी कुतरी सम चकरावति। जेहि देखइ तेहि काटन धावति॥
सब बिधि क्रूर अमंगल कारिनि। सुख संतोष अभयता हारिनि॥

यह [तृष्णा] पागल कुतिया के समान चक्कर काटती रहती है, जिसको देखती है उसे ही काटने दौड़ पड़ती है। यह सब प्रकार से क्रूर, अमंगल करने वाली एवं सुख-सन्तोष तथा अभयता का हरण करने वाली है।

बिसरि गयों एहि सों निज रूपा। बन भजि जानउँ ब्रह्म अनूपा॥
यह अनिष्ट अवसर एहि कारन। जुगुति होय तौ करहु निबारन॥

इसके कारण ही मैं अपना वास्तविक स्वरूप भूल गया था; किन्तु अब वन में भजन करके अनुपमेय ब्रह्म को जानूँगा। इसके कारण ही यह अनिष्टकारी युद्ध का अवसर आ गया है। अत: आपके पास कोई उपाय हो तो इसका निवारण करें।

दोहा— बरु नृप कोउहु होउ अति धीर बीर परबीन।
यह तृष्णा छन माँहिं तेहिं करति भिखारी दीन॥ ७१॥

हे मधुसूदन! मैं तो समझता हूँ चाहे कोई कितना ही धीर, वीर एवं परम प्रवीण राजा क्यों न हो, यह तृष्णा थोड़े

ही समय में उसको भी दीन-हीन भिखारी बना देती है।

चौपाई— कछु नहिं देखउँ एहि रन स्वारथ। अपितु भ्रष्ट होवे परमारथ॥
चारि पाँचि गिनती के लोगा। जिन्हके कारन अस दुर्योगा॥

मैं तो इस युद्ध में कुछ भी स्वार्थ [सिद्ध होता] नहीं देख रहा हूँ अपितु इसके कारण तो मेरा परमार्थ ही नष्ट हो जायेगा। इस युद्ध में चार-पाँच ही गिनती के लोग हैं जिनके कारण ऐसा दुर्योग बना हुआ है।

अवरु काहु कर कछु नहिं दोषा। मैं हति जिनहिं निकारउँ रोषा॥
मो सम नहिं कृतघ्न जग माँहीं। यह पछितावा कबहुँ नहिं जाहीं॥

अन्य लोगों का तो मुझे कुछ दोष ही नहीं दिखायी दे रहा है जिन्हें मारकर मैं अपना क्रोध शान्त करूँ। [यदि मैं इन्हें मारता हूँ तो] मेरे समान कोई कृतघ्नी नहीं होगा। [परिणाम होगा कि] मेरा यह पश्चात्ताप कभी नहीं जा सकता।

पिंडदान जब दैहउँ मारी। तब सब जग अस देइहिं गारी॥
पितर पुजारी देखहु भाई। स्वजन सगे सब बध करि खाई॥

जब मैं इन्हें [युद्ध में] मारने के बाद पिण्डदान दूँगा तो समस्त जगत मुझे इस प्रकार अपशब्द कहेगा कि अरे भाइयो! पितरों के इस अनोखे पुजारी को तो देखो जो समस्त सगे-सम्बन्धियों और स्वजनों का वध करके उन्हें खा गया [और अब उनका पूजन कर रहा है]।

अस को पितर पिंड लै हाथा। छिः छिः करि सब पीटहिं माथा॥
अस पापी कर कौन भरोसो। दया धरम नहिं मनहिं खरोसो॥

ऐसा कौन पितर होगा जो इसके हाथ का पिण्डदान स्वीकार करेगा। इस प्रकार सभी छिः-छिः करके माथा पीटेंगे कि इस पापी का क्या विश्वास जिसके मन में तनिक भी दया-धर्म नहीं है।

दोहा— सबहिं पितर मिलि देहिं तब मो पापिहिं अति साप।
बिपुल जनम बनु प्रेत अब करि न सकेगो दाप॥७२॥

तब सभी पितर मिलकर मुझ पापी को भयंकर शाप देंगे कि जन्म-जन्मान्तरों तक भूत-प्रेत बने रहो जिससे कि अब कभी दर्प नहीं कर पाओगे।

चौपाई— तुम्हहु न चाहउ अस संग्रामा। यासेइ गये द्वारिकाधामा॥
यह बिप्लव क्यों चहउ मुरारी। मोहिं अब संसय होत अघारी॥

[हे मुरलीधर!] आप भी इस प्रकार का संग्राम नहीं चाहते हैं तभी तो [जरासंध द्वारा बारम्बार आक्रमण करने पर] द्वारिकाधाम जा बसे; किन्तु हे मुरारे! इस युद्ध को आप क्यों चाहते हैं? हे अघारि! मुझे अब संशय हो रहा है।

तुम्ह जो चहहु करइ सब कोऊ। नातरु तिन्हहिं मरावन होऊ॥
इन्हि दुइ चारि दंड कछु देहू। औरनि पर अब कृपा करेहू॥

हे प्रभो! जो आप चाहते हैं, सबको वही करना होता है अन्यथा [जो ऐसा नहीं करता] उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः इन दो-चार लोगों (दुर्योधन, शकुनि, अश्वत्थामा, कर्ण आदि) को थोड़ा-बहुत दण्ड देकर औरों पर अब कृपा करें।

सबहिं मनावन तुम्ह तो जानउ। दुर्योधन केहि लेखे आनउ॥
छोह करहु अब मोर निहोरा। सरनागत पन रखि निज ओरा॥

हे माधव! आप तो सभी को मनाना जानते हैं फिर दुर्योधन आपके लिए किस गिनती में है? मेरी ऐसी प्रार्थना है कि अब आप सभी पर कृपा करें और अपनी शरणागत-वत्सलता की प्रतिज्ञा को याद करें!

मृतक बधे लागत अति पापा। बहुत समय लगि मन अनुतापा॥
कौन सास्त्र अस कहत गुँसाई। स्वजनहिं हति कोउ जाय अघाई॥

मरे हुए को मारने से महापाप ही लगता है जो लम्बे काल तक हृदय को जलाता रहता है। अरे! ऐसा कौन-सा शास्त्र कहता है कि कोई स्वजनों का वध करके अति सन्तुष्ट हो सकता है।

दोहा— एहिसों तीरथ महँ गये बड़ भ्राता बलराम।
करन कहउ प्रभु हमहिं रन का मन लह बिश्राम॥ ७३॥

इसी कारण बड़े भैया बलराम तीर्थ यात्रा के लिए निकल गये; और आप हमें युद्ध करने को कह रहे हैं, क्या मन को इससे शान्ति मिल जायेगी ?

चौपाई— करहिं इनहिं सम हमहू जबहीं। इनि हम महँ का अंतर तबहीं॥
अबलगि कर इतिहास बतावत। असुर परस्पर घोर सतावत॥

यदि हम भी इन्हीं लोगों के समान मूर्खता पूर्ण व्यवहार करें तो हममें और इनमें क्या अन्तर रह जायेगा ? अब तक का इतिहास तो यही कहता है कि असुर ही परस्पर (एक-दूसरे को) घोर दु:ख देते आये हैं।

असुरन्ह माहिं नारि धन काजैं। सुत पितु बंधु परस्पर बाजैं॥
अस सुमिरत मन अति संकोचत। बहु बाधत रन करउँ न रोचत॥

असुरों में ही 'कामिनी और कंचन' के कारण पुत्र-पिता एवं भाइयों में लड़ाइयाँ हुई हैं- ऐसा स्मरण करके मन में अत्यन्त संकोच हो रहा है और यही संकोच इस युद्ध को करने में बाधा बन रहा है, अत: युद्ध करने में मेरी रुचि नहीं है।

कछुक कहहिं पांडव बड़ त्यागी। आज भये क्यों नृप पद रागी॥
कछुक कहहिं सब कृष्ण करावैं। करहु जुगुति अस दोष न पावैं॥

कुछ तो ऐसा कहेंगे कि पाण्डव बड़े ही त्यागी पुरुष थे किन्तु आज राजपद के लोभी क्यों हो गये ? और कुछ लोग यह भी कहेंगे कि [पाण्डव तो युद्ध चाहते ही नहीं थे,] यह सब तो मधुसूदन की करनी है। अत: [इस कलंक से बचने के लिए] आप ही कोई ऐसी युक्ति निकालें जिससे हम पाप के भागी न बनें।

सब कलंक मढ़ि हमरे माथा। गावहिं बिपुल काल यह गाथा॥
यासें घृणित मृत्यु का होई। युद्ध करहिं हम कीरति खोई॥

सभी इस कलंक को हमारे ही माथे मढ़कर बहुत काल तक इस गाथा को गाते रहेंगे, जगत में इससे घृणित मृत्यु क्या होगी। हम अपनी सम्पूर्ण कीर्ति खोकर अब युद्ध करने जा रहे हैं!

दोहा— अबलौं कियों न पाप कछु जियउँ जिवन मधुराहिं।
किंतु करउँ यह युद्ध तौ कुल सद्धर्म नसाहिं॥ ७४॥

अब तक मैंने कुछ भी पाप नहीं किया है अपितु धर्मपूर्वक जीवन जीता रहा किन्तु अब यदि यह युद्ध किया तो कुल के साथ-साथ धर्म का भी नाश हो जायेगा।

चौपाई— यासों भल बन धुनी रमावउँ। निसिवासर बस हरिगुन गावउँ॥
अर्जुन उर बिलपहिं कलपाहीं। तन मन अवाँ भाँति दहकाहीं॥

इससे तो अच्छा है कि वन में धुनी रमाकर दिन-रात एकमात्र भगवान का ही गुणानुवाद करूँ। इस प्रकार महात्मा अर्जुन अत्यधिक विलाप करते हुए दु:ख प्रकट कर रहे हैं, उनका तन-मन अवाँ की भाँति धधक रहा है।

मौनहिं साधि रहे तउ स्वामी। चितव चकित तिन्हि अंतरजामी॥
बहुरि पार्थ नृप नीति सुनावें। सुतहिं राज दै कानन जावें॥

तो भी अन्तर्यामी भगवान मौन साधे रहे और उन्हें आश्चर्यचकित होकर देखते रहे। महात्मा अर्जुन पुन: कह रहे हैं कि राजा तो अपने पुत्र को राज्य के नीति-नियमों को बताते हुए राज्य सौंपकर जंगल में चले ही जाते हैं।

अंत प्रभुहिं चित देइ न आवत। ब्रह्म अनामय बर पद पावत॥
उनकर गुन गावत सुर नर मुनि। पुर परिवार पितर जग हित गुनि॥

अन्तकाल में भगवान को चित्त समर्पित कर पुनरागमन को प्राप्त नहीं होते तथा अतिशय श्रेष्ठ अनामय ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेते हैं। उनका गुणगान देवता, मनुष्य, ऋषिगण, राज्य तथा परिवार के लोग एवं समस्त पितर जगत का कल्याण समझकर करते रहते हैं।

ऐसो जीवन अब मोहिं भावत। कहउँ न मैं अस सास्त्रहु गावत॥
यासों सोइ मग गहि बन जावउँ। जोग जाप तप करि प्रभु पावउँ॥

अब ऐसा ही जीवन मुझे प्रिय लग रहा है, यह मैं ही नहीं कह रहा हूँ अपितु समस्त शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं। इसलिए उन्हीं महापुरुषों के मार्ग पर चलते हुए वन में जाकर योग, यज्ञ, तप का सम्पादन करके भगवत् प्राप्ति करूँगा।

दुर्योधन कहँ नृप पद टीका। देउँ सबहिं लागइ अति नीका॥
बिप्र प्रजा गुरु मान बड़ाई। देइ बन जाउँ आसिषा पाई॥

दुर्योधन को राजपद पर अभिषिक्त कर दूँगा जो सभी को अति प्रिय लगेगा; ब्राह्मणों, प्रजा एवं गुरुजनों को मान-सम्मान देकर [भगवत्प्राप्ति का] आशीर्वाद प्राप्त कर वन को प्रस्थान कर जाऊँगा।

उनकीं सुनि बिहँसत जनत्राता। कहहिं करहु तुम्ह आपुनि बाता॥

भक्तों की रक्षा करने वाले भगवान उनकी बातों को सुनकर मन में मुस्कुरा रहे हैं और कह रहे हैं कि हे तात! तुम केवल अपनी बात करो।

दोहा— धरमराज कर राज यह दुर्योधन कहँ देउँ।
अस कहि लगति न लाज तुम्ह अरु कह कानन सेउँ॥ ७५ (क)॥

यह राज्य तो महाराज युधिष्ठिर का है, मैं इसे दुर्योधन को दे दूँगा- ऐसा कहते तुम्हें लज्जा नहीं आ रही है! फिर यह भी कह रहे हो कि वन में वास करूँगा!

सोरठा— जाहु बिपिन कस भागि मैं देखउँ उर कहत प्रभु।
मम चरने अनुरागि कोउ निज मन सों नहिं चलै॥ ७५ (ख)॥

भगवान ने हृदय में कहा- मैं देखता हूँ कि तुम वन में कैसे जाते हो, मेरे चरणों में प्रेम करके कोई भी अपने मन से नहीं चल सका।

चौपाई— दिब्य योग लखि छन मधुराई। गगनांगन नारद मुनि आई॥
रूप रासि हरि कर लखि पागे। पियत नयन पुट अति अनुरागे॥

दिव्य समय और परम योग देख देवर्षि नारद ने आकाश मण्डल में प्रकट होकर प्रभु को देखा [फिर तो] वे मस्ती में आकर (अत्यन्त प्रेम में भरकर) अपलक नेत्रों से प्रभु की दिव्य छवि का पान करने लगे।

लखि अर्जुन चित मोह समायो। ऐसोइ कबहुँ हृदय मम आयो॥
मोरें मोह भयो हित मोरा। इनसों होवे हित चहुँओरा॥

फिर उन्होंने देखा कि भक्त अर्जुन का हृदय स्वजन मोह से व्याप्त हो गया है जैसा कभी मेरा हृदय भी मोह ग्रस्त हो गया था। [हाँ यह सत्य है कि] मेरे मोह से [भगवान द्वारा] एकमात्र मेरा ही कल्याण हुआ था किन्तु इनके मोह से तो सारे जगत का कल्याण होने वाला है।

हरि छबि धामहिं निरखि बहोरी। करत प्रनाम जुगल कर जोरी॥
पुलक गात अस्तुति बर गावहिं। हरि सों आपुनि सुरति करावहिं॥

[ऐसा सोचकर] भगवान नारायण की अत्यन्त मधुर छवि का पुनः पुनः दर्शन करते हुए दोनों हाथ जोड़ प्रणाम करते हुए पुलकित हृदय से दिव्य स्तवन करने लगे मानो ऐसा करके वे भगवान को बार-बार अपनी याद दिला रहे हैं।

जय सुर असुर चराचर साँईं। सब बिधि सुखद तोरि सरनाँईं॥
सब संतन भगतन्ह के भर्ता। त्रिविध ताप दुख दारिद हर्ता॥

हे देवताओं, असुरों एवं चराचर जगत के स्वामी! आपकी जय हो! हे नाथ! आपकी शरणागति हर प्रकार से सुखदायी है। आप ही सभी सन्त एवं भक्तों के भरण-पोषण करने वाले और उनके दुःख-दारिद्र्य को दूरकर तीनों तापों का नाश करने वाले हैं!

दोहा— अखिल भुवन अधिकारि प्रभु सबकर तुम्हहिं अधार।
दीन दयाल सुजान बर अहउ परम अबिकार॥ ७६॥

हे प्रभो! हे दीनों पर दया करने वाले! आप समस्त लोकों के आधार एवं शासक भी हैं, आप ही समस्त लोकों में श्रेष्ठ, चतुर और परम निर्विकार हैं।

चौपाई— दनुजन्ह मोहित करउ हुँकारी। संत भक्त सुर लेहु उबारी॥
पर सुत बैभव तिय हित औरें। जियत जो आयँ न तुम्हरे धौरें॥

आप राक्षसों को हुँकार भरते हुए मोहित कर देवताओं, भक्तों एवं सन्तों का भवसागर से उद्धार कर देते हैं। किन्तु जो पुरुष पुत्र, धन, स्त्री एवं हित-मित्रों आदि के निमित्त ही जीते हैं, वे आपके पास नहीं आ सकते।

माया सिंधु भँवर तिन्ह पारहु। निकसन देहु न बहु बिधि मारहु॥
अस भ्रम भँवर पार्थ सम दक्षहु। फँसे लखउँ एहि मिस जग रक्षहु॥

उन्हें आप माया सागर के भँवर में फँसाकर पीड़ित करते रहते हैं। कभी वे निकलना चाहते भी हैं तो निकलने नहीं देते। भक्त अर्जुन जैसे कुशल भक्त भी उसी माया के भ्रमरूपी भँवर में फँस गये हैं किन्तु मैं [आपकी कृपा से ही] जानता हूँ कि आप इसी संशय-भ्रम के बहाने जगत की पुनः रक्षा करेंगे।

अहो बिदित बिरिदावलि तुम्हरी। हम बिसरहिं पर सुधि ल्यो हमरी॥
सकृत कहे प्रभु जेहि कहँ मेरो। बरु तासों अघ होय घनेरो॥

अहो! आपका ऐसा यश विख्यात है; अतः भले ही हम भक्त आपको भूल जायँ पर आप हमारी सुध-बुध लेते रहते हैं। हे नाथ! आपने एक बार भी जिसे अपना कह दिया, भले ही उसके द्वारा घोर पाप हो जाय,

ताहि न तजहु सुभाउ निरखि यहि। पतितहु सरन आयँ तुव जय कहि॥

आप उसे त्यागते नहीं हैं। आपके ऐसे स्वभाव को देखकर ही अत्यन्त पतित भी; हे प्रभो! आपकी जय हो-जय हो कहते हुए आपकी शरण में आ जाते हैं।

दोहा— रन क्रीड़ा करवावहू प्रभु मैं देखउँ ताहिं।
पढ़ि सुनि बिमल भक्त जेहि भव सागर तरि जाहिं॥ ७७ (क)॥

हे नाथ! अब आप [भक्त अर्जुन से] युद्धक्रीड़ा करावें जिसे मैं भी देखूँ! जिसे पढ़-सुनकर निर्मल चित्त वाले भक्त भवसागर से पार हो जायँ।

महाराज एक मरम लखि जग हितार्थ बतलाय।
पार्थ कथन सुनि नाथ अस सोचत जस दिखलाय॥ ७७ (ख)॥

महाराज एक रहस्य को देखकर जगतहितार्थ बता रहा है- 'भगवान नारायण भक्त अर्जुन का कथन सुनकर मन ही मन ऐसा सोच रहे हैं' जैसा कि उसका वर्णन भी कर रहा है।

चौपाई— बिधि बस स्वान रथहिं तर आवत। रथ सँग कछुक दूरि सो धावत॥
सोचत यदि न चलउँ एहि संगा। तौ रथ खींचि न सकहिं तुरंगा॥

एक बार एक कुत्ता संयोग वश रथ के नीचे आ गया और रथ के साथ कुछ दूर तक दौड़ता रहा। वह सोचने लगा कि यदि मैं इस रथ के साथ न चलूँ तो घोड़े इस रथ को नहीं खींच सकते [इसे तो मैं ही खींच रहा हूँ]।

तबहिं तुरग लागत इक लाता। रथ चढ़ि गयो ताहि के गाता॥
कायँ न करि सक प्रान पखेरू। उड़ि गये बनत रह्यो बड़ सेरू॥

तभी किसी घोड़े की ऐसी लात लगी कि वह रथ के चक्के के नीचे आ गया और रथ उसके शरीर पर चढ़ गया। वह कायँ-कायँ भी नहीं कर सका और उसके प्राण पखेरू उड़ गये, जो [कुछ ही समय पूर्व] बड़ा शेर बन रहा था।

तस अर्जुन बर पदवी पायो। महामोह उर माहिं समायो॥
जानत को जग मो सम जोधा। बूझत रन निज बीर पुरोधा॥

उसी प्रकार श्रेष्ठ पद मिल जाने से अर्जुन के मन में महामोह प्रवेश कर गया है। यह समझ रहा है कि मेरे समान जगत में कौन योद्धा है, मानो युद्ध में इसने स्वयं को योद्धाओं का मुखिया मान लिया हो।

पर यह मोह आय मम कामा। समुझ्यों भयो न अबहुँ अकामा॥
प्रथम ब्रह्मबिद्याहिं सुनावउँ। अस करि याकर मोह नसावउँ॥

किन्तु [हे मन! चलो,] यह मोह मेरे काम ही आयेगा, परन्तु अब मैं समझ गया कि यह अभी भी निष्काम

नहीं हुआ है। अब मैं सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या सुनाकर इसके मोह का नाश कर दूँगा।

दोहा— मोहउँ असुरन्हि ताहि सों करउँ संत सुर काज।
धरउँ छत्र सिर साधु सिध राजयोग अति भ्राज॥७८॥

उसी से मैं असुरों को मोहित कर दूँगा और देवताओं तथा सन्तों का कार्य सम्पन्न करूँगा। वह यह कि साधकों एवं सिद्धों के मस्तक पर राजयोगरूपी मुकुट पहनाऊँगा जो उनकी अत्यन्त शोभा बढ़ायेगा [अर्थात् उन्हें ब्रह्मविद्या दूँगा]।

चौपाई— पुनि पुनि हरिहिं प्रबोधहिं पारथ। देइ दुहाइ धरम परमारथ॥
खिन्नत खिन्नत सो बहु खिन्नत। हिन्नत हिन्नत बहु बिधि हिन्नत॥

भक्त अर्जुन बारम्बार अनेक प्रकार से धर्म की दुहाई देते हुए भगवान को परमार्थ का उपदेश करने लगे। वे अत्यधिक खिन्न हो गये हैं, उनके हृदय में अत्यधिक हीनता भी आ गयी है।

भिन्नत माखी इव बहु भिन्नत। चिन्हत स्वजनहिं अब अति चिन्हत॥
गिन्नत पापिन्ह पापहिं गिन्नत। मिन्नत तिन्ह हित सुर बहु मिन्नत॥

वे मक्खियों के समान बहुत भिन-भिना रहे हैं [बकवास कर रहे हैं], अब वे [अपने भूले-बिछड़े] स्वजनों को पहचानने लगे हैं, पापियों के पापों की गणना करने लगे हैं एवं बहुत-से देवताओं से उनके (स्वजनों के) कल्याण के लिए विनती करने लगे हैं।

झटकत झटकत निज मन झटकत। दपटत दपटत आपुहिं दपटत॥
झपटत झपटत बन महँ झपटत। ता छन रपटत बहु बिधि रपटत॥

वे अपने मन को बारम्बार झटक रहे हैं तथा अपने-आप को ही धिक्कारते जा रहे हैं। वे [रथ से कूदकर] वन की ओर तेजी से जाना चाहते हैं किन्तु उसी समय सोच में पड़कर वे बहुत प्रकार से रपट (फिसल) जाते हैं।

नटत नटत प्रभु सों बहु नटत। कटत कटत रन सों बहु कटत॥
हटत हटत निज धर्म सों हटत। फटत फटत मन बहु बिधि फटत॥

वे भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द से बारम्बार नटते हुए युद्ध करने से सर्वथा मना कर रहे हैं। वे स्वधर्म से बारम्बार हट रहे हैं, क्योंकि उनका मन [स्वजनों को देखकर] युद्ध से विरत हो गया है।

छंद— नहिं करउँ जुद्ध बिरुद्ध छुब्धत मन अबुद्धत सम महा।
कोउ सिद्ध सिद्धत जोग बिद्धत हौं असिध्यों अस कहा॥
करि करि अलाप प्रलाप बहुबिधि कहन लागे धर्महीं।
महराज प्रभु सोचत इहाँ नहिं जान मेरो मर्महीं॥

इस प्रकार वे महा अज्ञानी के समान क्षुब्ध मन से 'युद्ध नहीं करूँगा'- ऐसा कहकर भगवान के विरूद्ध हो गये हैं। जैसे कोई साधक योग-सिद्धि के मार्ग में विघ्न आने पर इस प्रकार कहता हो कि मैं तो असिद्ध हो गया अब साधना मेरे वश की बात नहीं है। इस प्रकार महात्मा अर्जुन बहुत प्रकार से आलाप-प्रलाप करते हुए भगवान के ही प्रति धर्मोपदेश करने लगे। महाराज स्पष्ट देख रहा है कि भगवान सोच रहे हैं कि [यह ऐसा क्यों न करे, क्योंकि] यह मेरे मर्म को तो जान नहीं रहा है।

अर्जुन दसा तेहि बटुक सम गुरु साथ आयो ग्राम महँ।
जिनि स्वजन बिष इव कहि तज्यो तेइ अमिय सम भये धाम महँ॥
जब चलत बिछुरहिं मातु पितु प्रिय बंधु अरु हित मीत जे।
अति बिलखि बिलखि न चहत जानो हृदय महँ अति प्रीत जे॥

अर्जुन की दशा उस ब्रह्मचारी के समान हो गयी है जो अपने गुरुदेव के साथ अपने गाँव आया हुआ है। जिन स्वजनों को उसने [कभी संन्यास लेते समय भगवत् प्राप्ति के मार्ग में] विषरूप समझकर त्याग दिया था वे ही अब घर में आने पर अमृत के समान लग रहे हैं। जब वह [गुरुदेव के साथ वापस] चलता है तो माता-पिता, भाई-बन्धुओं एवं हित-मित्रों को बिछुड़ता हुआ देख अत्यधिक व्याकुल हो उठता है और जाना नहीं चाहता क्योंकि उसके हृदय में [स्वजनों के प्रति] अत्यधिक आसक्ति हो गयी है।

तब गुरुहिं उपदेसत महा कहि ब्रह्मबिद्या ज्ञान सों।
सब ब्रह्म तो ये जीव कस प्रभु पुछत अति अभिमान सों॥
बहु सास्त्र उपमा दै कहत का श्रेष्ठ भयउँ बिदेह सों।
पाये परम पद गृह बसत कछु राग नहिं जन गेह सों॥

तब वह गुरु को ही ब्रह्मविद्या सुनाकर अति उपदेश देने लगता है कि [गुरुदेव!] सभी ब्रह्म हैं तो ये स्वजन जीव कैसे हो सकते हैं? अत्यधिक अभिमान के साथ बहुत-से शास्त्रों का उदाहरण देकर ऐसा पूछता है कि क्या मैं राजा जनक से श्रेष्ठ हो गया हूँ? उन्होंने तो घर में रहते हुए ही ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया और उन्हें प्रजा-परिवार से कुछ आसक्ति भी नहीं हुई।

दोहा— महाराज ऐसोइ लखै कुरु समरांगण माहिं।
महा धनुर्धर हरिहिं सों ऐसो बचन सुनाहिं॥ ७९ (क)॥

महाराज कुरुक्षेत्र के समरांगण में ऐसा ही देख रहा है। परम धनुर्धर अर्जुन भी भगवान नारायण से इस प्रकार कहने लगे-

जदपि लोभ सों पतित चित कौरव देत न ध्यान।
पाप लगे कुल हनन सों हमहिं याहि कर ज्ञान॥ ७९ (ख)॥

हे गोविन्द! यद्यपि लोभ से पतित चित्त वाले कौरव इस बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं कि कुल-परिवार का वध करने से अत्यधिक पाप लगता है, किन्तु हम सबको तो इसका भलीभाँति ज्ञान है!

कुल गुरु हित मित बधहिं तो एहु पर करहु बिचार।
लागि ब्रह्महत्या हमहिं जनम जनम बहु मार॥ ७९ (ग)॥

हे मधुसूदन! इस पर तो विचार करें कि कुल-परिवार, गुरुजन तथा हित-मित्र का वध करने पर हमें ब्रह्महत्या का पाप लग जायेगा जो जन्म-जन्म तक सताता रहेगा।

चौपाई— सगर सुतन्ह ब्रह्महत्या लागी। कपिल साप भये भस्म अभागी॥
बहुत काल भरमायी जिन्हहीं। आइ भगीरथ तारेउ तिन्हहीं॥

राजर्षि सगर के पुत्रों को ऐसी ब्रह्महत्या लगी कि महर्षि कपिल के शाप से वे अभागे भस्म ही हो गये और उन्हें बहुत काल तक भरमाती रही। तब राजर्षि भगीरथ ने अवतरित होकर उन्हें मुक्ति प्रदान की।

स्वजन बधे कुल धर्म नसावे। कुलनारिन्ह मन पाप समावे॥
तजि पतिब्रत उपजावहिं संकर। करहिं करम जो असुभ भयंकर॥

स्वजनों के वध से कुलधर्म का नाश हो जाता है, उसके उपरान्त कुल की स्त्रियों के मन में पाप प्रवेश कर जाता है। वे पतिव्रत धर्म का परित्याग कर [पराये पुरुषों से] वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न करती हैं जो जगत में अति अशुभ कर्म करने वाली होती हैं।

अंतर जाति गाय जिमि छीरा। नहिं उपयोगहिं सुर मुनि धीरा॥
तेहिंके आज्य दधिहु नहिं मानत। कछु असुद्ध कहि याहि बखानत॥

जिसप्रकार अन्तर्जातीय गायों (विदेशी मूल की गायों) का दूध देवता, ऋषिगण और साधकजन उपयोग में नहीं लेते हैं तथा उसके घी और दही आदि को भी स्वीकार नहीं करते बल्कि कुछ अशुद्ध होता है यह कहकर उसकी बात करते हैं।

अस जब नर संकर जनमाहीं। जाति बंस कर धरम नसाहीं॥
तर्पण श्राद्ध जो संकर करहीं। पितर न लेहिं न आनँद भरहीं॥

ऐसे ही यदि वर्णसंकर जन्म लेने लगते हैं तो कुल और जाति का धर्म नष्ट हो जाता है तथा वर्णसंकरों द्वारा दिये गये तर्पण और पिण्ड को पितर न स्वीकार करते हैं और न प्रसन्न ही होते हैं।

तर्पण पिंड लुप्त होइ जावहिं। पुनि सब पितर अधोगति पावहिं॥
स्वारथ सिद्ध होय का हमरैं। जब कुल पितर नसावैं सबरैं॥

इस प्रकार तर्पण एवं पिण्डदान की क्रिया ही लुप्त हो जाती है जिससे पितरगण अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं। इससे हमारा क्या स्वार्थ सिद्ध हो जायेगा, जब कुल के सारे पितर नष्ट ही हो जायेंगे।

कोउ काहू पर जात रिसाई। कहहिं बरनसंकर यह भाई॥
जगत न आदर संकर केरी। नाक भींचि लखि लैं मुँह फेरी॥

जब कोई किसी पर क्रुद्ध होता है तो कहता है कि अरे भाई! यह दोगली जाति का है। जगत में वर्णसंकर का कहीं भी सम्मान नहीं होता अपितु लोग उसे देखकर नाक सिकोड़ते हुए मुँह फेर लेते हैं।

हम जग इन्ह उत्पादक बनहीं। जो तजि धरम सतावहिं सबहीं॥
लाभ न कछु रन हानिहिं जानउँ। स्वजनहिं बधे घोर गति मानउँ॥

जगत में हम ही इनके उत्पादक बनेंगे जो धर्म का त्याग कर सभी को सताते फिरेंगे। [हे कृष्ण!] इस युद्ध से मुझे कुछ भी लाभ प्रतीत नहीं हो रहा अपितु हानि ही दिखाई पड़ रही है; स्वजनों के वध से मेरी दुर्गति ही होगी- ऐसा मानता हूँ।

दोहा— होहिं बरनसंकर बिपुल सुभ न कतहुँ दिखलाय।
जप तप योग न करन दैं आर्यभूमि बिकलाय॥ ८०॥

इस प्रकार [इस धर्मभूमि पर] जब भारी संख्या में वर्णसंकर उत्पन्न हो जायेंगे तो कहीं भी शुभ कर्म नहीं दिखायी पड़ेगा; वे जप, तप, योग नहीं करने देंगे जिससे आर्यभूमि विकल हो उठेगी।

चौपाई— कल्पित करहिं धरम परचारा। मेटहिंगे सब सास्त्र अचारा॥
पुनि यह युद्ध करहिं केहि कारन। तुम्हहि कहहु माधव भयटारन॥

वे मन: कल्पित (मनगढ़ंत) धर्म का ही प्रचार करेंगे तथा शास्त्र-पुराण एवं वेदों के व्यवहार का लोप कर देंगे। हे भयनाशक प्रभु! हे माधव! फिर आप ही बतायें कि यह युद्ध हम किस कारण से करें?

गुरु हंताहु पितामह हंता। सुत हंता द्विज हंता कंता॥
हित हंता मित हंता मंता। हमहिं कहहिं सब ये जग हंता॥

लोग हमें कहेंगे कि ये गुरु, पितामह, पुत्र, ब्राह्मण, स्वामी एवं हित-मित्र तथा समस्त जगत का वध करने वाले हैं।

तेहि कारन मैं युद्ध न करिहौं। बरु इन्हकें कर मारें मरिहौं॥
महाराज अर्जुन की कहनी। लखि लागत यह सज्जन रहनी॥

इस कारण मैं युद्ध नहीं करूँगा भले ही इनके हाथों मारा जाऊँ। इस प्रकार हृदय को विदीर्ण कर देने वाले उनके ये कथन महाराज के अनुसार [अहिंसा और तितिक्षा आदि कठिन व्रतों को धारण करने वाले] सन्त के ही व्यवहार हैं।

छमासील अस को जग माहीं। प्रभु मन बहुत सराहत जाहीं॥
संजय नृपहिं सों बात सुनावहिं। अर्जुन बचन उनहिं बहु भावहिं॥

भगवान मन ही मन उनकी सराहना कर रहे हैं कि जगत में ऐसा कौन क्षमाशील होगा! सञ्जय समस्त बातों को राजा धृतराष्ट्र से कहते जा रहे हैं। राजा धृतराष्ट्र को भी अर्जुन की बातें अच्छी लग रही हैं।

पर एक बात न तिन्हहिं सुहाई। पितर कुपित क्यों होवहिं भाई॥

पर एक बात उन्हें प्रिय नहीं लग रही है कि योद्धाओं की वीरगति से पितर क्यों कुपित हो जायेंगे?

दोहा— समर माहिं बध होत जब मिलत स्वर्ग कहलाय।
तब केहि कारन कुंतिसुत अस ब्यर्थहिं बिकलाय॥ ८१॥

जब युद्धभूमि में वध होता है तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है ऐसा कहा जाता है फिर किस कारण अर्जुन इस प्रकार व्याकुल हो रहा है?

चौपाई— नहिं राजन मैं देखउँ नीकें। उर संताप अहइ सच इनकें॥
कछुक पितर यह आस लगाई। बैठि रहत मन महँ अरगाई॥

[सञ्जय ने कहा-] नहीं पृथ्वीनाथ! ऐसा नहीं है। मैं दिव्यदृष्टि से देख रहा हूँ कि इनके हृदय की वेदना सही अर्थों

में है; क्योंकि कुछ पितर मन में बड़े अभिमान के साथ यह आशा लगाये बैठे रहते हैं कि-

कोउ पुत पौत्र जोग जप करई। हमहिं इहाँ सों अब निस्तरई॥
परसुराम की गाथा जानउ। कहउँ बहोरि सुनहु मन ध्यानउ॥

हमारे [निमित्त] कोई पुत्र-पौत्र योग-जप आदि करेगा और हमारा यहाँ से उद्धार करेगा [जिससे हम उच्चलोक को चले जायेंगे]। हे नरेश! आप परशुरामजी की गाथा को तो जानते ही हैं जिसे मैं थोड़े में कह रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनें!

पितु बध भा तब गये रिसाई। सब जानत तिन्ह पन प्रभुताई॥
छत्रिय कुल बहु बार नसाये। पंचकुंड तिन्ह रक्त भराये॥

जब [सहस्त्रार्जुन के पुत्रों द्वारा] उनके पिता का वध हो गया तब वे अति क्रुद्ध हो उठे। उनकी प्रतिज्ञा की महत्ता सभी जानते हैं कि उन्होंने बहुत बार इस धरा के क्षत्रियकुल का संहार कर उनके रक्त से पाँच कुण्ड भर दिये।

कुपित होइ करि तहिं अस्नाना। वासेइँ कीन्हें तर्पन नाना॥
ऋचिक पितामह पितर पान करि। बर माँगन हित कहे हरष भरि॥

उन्होंने क्रुद्ध हो उसी में स्नान कर उसी से भलीभाँति [पितरों का] तर्पण किया। उनके पितामह ऋचीक और अन्य पितरों ने उस [तर्पण किये हुए रक्त] का अत्यन्त प्रसन्न मन से पान कर उन्हें वरदान माँगने को कहा-

दोहा— निर्दोषहु छत्रिन्ह बध्यों लग न पाप बर देहु।
तीर्थ रूप यह थल बने सब जग जानइ एहु॥८२॥

उन्होंने माँगा कि हे पितृगण! यद्यपि मैंने निर्दोष क्षत्रियों का भी वध किया है परन्तु उसका पाप न लगे तथा यह वर भी प्रदान करें कि यह स्थान तीर्थरूप होकर समस्त जगत में प्रसिद्ध हो जाय।

चौपाई— ऐसे होउ तीर्थ यह पावन। सेवहिं तिन्हके पाप नसावन॥
तजहु परंतु तुम्हहु अब हिंसा। ब्रत धारहु जग बिदित अहिंसा॥

पितरों ने कहा- ऐसा ही होगा, जो इस पवित्र तीर्थ का सेवन करेंगे उनके सम्पूर्ण पापों का नाश हो जायेगा; परन्तु हे वत्स! तुम अब हिंसा का परित्याग कर दो और जगत प्रसिद्ध अहिंसा व्रत धारण करो।

तेहि गाथा बर अर्जुन ध्यावहिं। सोचहिं पुनि पुनि थाह न पावहिं॥
अहो बचे बन महँ भृगुनंदन। इहाँ न रन रह एकउ चंदन॥

उसी श्रेष्ठ कथा का अर्जुन स्मरण कर रहे हैं और बारम्बार चिन्तन कर रहे हैं किन्तु थाह नहीं पा रहे हैं। अहो! उस युद्ध के समय तो वन में घोर जप-तप करने के कारण परशुरामजी बच गये थे किन्तु इस युद्ध में तो कोई भी कुल दीपक बचने वाला नहीं है।

तेहि कुरुथल महँ हम सब ठाढ़े। सोचत हृदय बिरह बहु बाढ़े॥
पितर साप बर दैंगे काहीं। तड़पहिंगे पुनि पुनि पछिताहीं॥

उसी कुरुक्षेत्र में हम सब खड़े हैं,- ऐसा सोचते ही उनके हृदय में विरह वेदना की बाढ़ आ गयी। पितृगण शाप या वरदान किसे देंगे [जब कोई बचेगा ही नहीं], वे तो बारम्बार पश्चात्ताप करते हुए तड़पते रहेंगे।

अस सुनि भयउ नृपहिं परितापा। गयउ हृदय कर रोषहु दापा॥
अब संजय मोहिं इनहिं भरोसा। तजिहहिं ये पांडव निज रोसा॥

ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र के हृदय में महादु:ख छा गया और दर्प एवं रोष चला गया। [उन्होंने कहा-] हे सञ्जय! मेरा तो अब एकमात्र इन्हीं पाण्डवों पर विश्वास है [निश्चित ही अब] ये अपने क्रोध का परित्याग कर देंगे।

दोहा— तबहिं कहहिं अस पार्थ तहँ अहो लोभ की मारि।
कौरव सँग हम पर परइ जेहि कारन यह धारि॥८३॥

तभी वहाँ महात्मा अर्जुन इस प्रकार कहने लगे कि अहो! [कैसा आश्चर्य है कि] लोभ की मार कौरवों के

साथ-साथ हम पर भी पड़ रही है जिस कारण यह सेना खड़ी है।

चौपाई— लोभ पास महँ सबहिं फँसाई। काल हँसी हँस अति करुआई॥
ऐ सुनु काल न आवउँ पासा। जा घर रन न होइ तजि आसा॥

[आश्चर्य है कि] लोभरूपी फाँस में सभी को फँसाकर काल व्यंग्यात्मक हँसी हँस रहा है। तो हे काल! सुन लो! मैं तुम्हारे पाश में बँधने वाला नहीं हूँ, अत: आशा का परित्याग कर घर चले जाओ, यह युद्ध नहीं होगा।

हमेउँ लोभ पर निपट धरम कर। तेहि तजि रन न करहिं जीवन भर॥
अस उच्छिष्ट राज नहिं लेऊँ। अति लोभी दुर्योधन देऊँ॥

हे काल! हमें भी लोभ है किन्तु धर्म का लोभ है, उसको छोड़कर हम जीवन भर ऐसा युद्ध नहीं करेंगे। ऐसे जूठे राज्य को मैं नहीं लूँगा अपितु अत्यन्त लोभी दुर्योधन को ही सौंप दूँगा।

माधव हमहु तुम्हहिं बहु जानत। तुम्हहु पितामह गुरु बहु मानत॥
क्यों इनसों रन आज्ञा देहू। अस नहिं मोरि परीक्षा लेहू॥

हे माधव! हमलोग आपको भलीभाँति पहचानते हैं कि आप पिता-पितामहों एवं गुरुजनों को बहुत मान देते हैं। फिर आप मुझे इनसे युद्ध करने की आज्ञा क्यों दे रहे हैं, आप मेरी ऐसी परीक्षा न लें।

मोहिं नि:सस्त्रहिं बरु ये मारहिं। सबके सन्मुख रन महँ पारहिं॥
यहउ करत हित हमरेउँ माना। तजउँ प्रान उर धरि हरि ध्याना॥

भले ही ये मुझ नि:शस्त्र को सबके सामने युद्ध में मार डालें, उनका ऐसा करना भी मैं हितकारक मानता हूँ। [कम से कम] भगवान को हृदय में धारण कर प्राणों का त्याग तो करूँगा।

छंद— मोहिं सस्त्रहीन बधहिं समर प्रभु पद सुमिरि गहुँ पद महा।
जौं छाँड़ि दैं तौ करउँ बन जप जोग जीवन लदि रहा॥
सब जात चौथेपन नृपति मैं जाउँ जौवन धारिके।
कोउ धीर जोगी संत सँग सत्संग करुँ मन मारिके॥

हे हृषीकेश! मुझ नि:शस्त्र को ये [कौरव] यदि इसी युद्धभूमि में मार देते हैं तो मैं भगवच्चरणों का स्मरण करते हुए महत् परम पद प्राप्त कर लूँगा; और यदि ये छोड़ देंगे तो वन में जप, तप, योग करूँगा। जीवन का बहुत समय व्यतीत हो गया। समस्त राजा चतुर्थावस्था (वृद्धावस्था) में वन जाते हैं किन्तु मैं युवावस्था में ही वन को प्रस्थान करूँगा, जहाँ मन को संयमित कर किसी धीर योगी एवं सन्त से सत्संग प्राप्त करूँगा।

धिग धिग जिवन परमार्थ बिनु ऐसो गयो केहि काम कौ।
जग मान अरु सम्मान पायों राजसुख बस नाम कौ॥
बहु कल्पि कल्पत बिकल फेंकत धनुष बान रिसाइके।
बइठहिं दुखित रथ पृष्ठ महँ जनु मूल ब्याज गँवाइके॥

अहो! धिक्कार है! धिक्कार है! परमार्थ के बिना जीवन ऐसे ही व्यतीत हो गया- ऐसा जीवन किस काम का! जगत में मान-सम्मान और राजसुख प्राप्त किया जो नाममात्र का ही है [यथार्थ में उसमें कुछ भी सार तत्त्व नहीं है]। इस प्रकार बहुत कलपते एवं विकल होते हुए धनुष-बाण को दुखित होकर [महात्मा अर्जुन ने] फेंक दिया और रथ में पीछे की ओर बैठ गये, मानो [किसी व्यापारी का] मूल और ब्याज- सब चला गया हो।

सब चकित चितवत सिद्ध मुनि नभ एक एकन्हि देखते।
नभ भीति जनु अंकित किये यह चित्र सबके लेखते॥
मुनि ब्यास थामत हृदय निज प्रभु चरन बस अनुरागहीं।
संजय कहहिं हँसि पार्थ सों तव इहिं न माया लागहीं॥

[इस दृश्य को देखकर] सभी सिद्ध एवं सन्त आकाश मण्डल में आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरे को देखने लगे। [उनका उस समय एक-दूसरे को देखना ऐसा लग रहा था] मानो किसी चित्रकार ने आकाश में सन्तों एवं सिद्धों की मूर्ति बनायी हो। मुनिवर व्यास ने अपना हृदय पकड़ लिया तथा एकमात्र भगवान के चरणों की वन्दना

करने लगे। सञ्जय मन ही मन हँसते हुए महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि यहाँ [रोने-धोने से युद्ध टलने वाला नहीं है, भगवान के सामने] आपकी माया नहीं चलेगी।

महराज देखत दिब्य रथहिं बिषाद जेर सों सिसु पर्‌यो।
प्रभु हेरि हेरत हहरि हिय जनु मातु सम प्रिय हँसि भर्‌यो॥
सिसु जेर चाटइ धेनु तिमि प्रभु ताहि चाटि निबारिहैं।
दै ब्रह्मबिद्या भक्त रक्षक ज्ञानदीपहिं बारिहैं॥

महाराज भी देख रहा है कि विषादरूपी जेर से लिपटा हुआ एक भयभीत शिशु दिव्य रथ पर पड़ा हुआ है। ऐसा लगता है मानो भगवान मधुसूदन हृदय में अत्यन्त वात्सल्य से भरकर माता के समान [उस नवजात शिशु को] देखते हुए मधुर हँसी हँस रहे हों। जिसप्रकार गाय बछड़े का जेर चाट जाती है उसी प्रकार भगवान भी मोह से उत्पन्न हुए विषाद रूपी जेर को चाटकर उसका निवारण कर देंगे। इस प्रकार भक्त रक्षक भगवान ब्रह्मज्ञान देकर उनके हृदय में ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित कर देंगे।

जेहि सिद्ध साधक संत सुर मुनि लेन हित सब धावतो।
नित बंदि सदगुरु पद कमल तिन्हकी कृपा सों पावतो॥
अर्जुन बिनहिं जप जोग तप भवसिंधु पारहिं जाइहैं।
लै अभयपद बिचरहिं जगत बर ब्रह्मबिद्या गाइहैं॥

जिस [ब्रह्मविद्या] को प्राप्त करने के लिए सिद्ध, साधक, सन्त, देवता और मुनिगण दौड़ लगा देते हैं और सदा सद्‌गुरु के कमलवत् चरणों का पूजन कर उनकी कृपा से उसे प्राप्त करते हैं; किन्तु महात्मा अर्जुन बिना योग, जप, तप और यज्ञ आदि किये ही भवसागर को पार कर जायेंगे तथा अभय पद को प्राप्त कर जगत में [भक्तों एवं सन्तों के मध्य] परम श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या को गाते हुए विचरण करेंगे।

दोहा— एक एक सों चकित चित चितवहिं बारहिं बार।
भयउ काह यह बीर सब मन महँ करहिं बिचार॥ ८४॥

[महात्मा अर्जुन के रथ के पिछले भाग में बैठ जाने के उपरान्त] समस्त योद्धा एक-दूसरे को आश्चर्यचकित होकर बारम्बार देखते हुए मन में विचार कर रहे हैं कि यह क्या हो गया!

चौपाई— दुर्योधन हँसि कहत डर्‌यो रे। दुम दबाइ रथ स्वान पर्‌यो रे॥
एहि सम सेर नाहिं तिहुँ लोका। जान्यों पर मुस सों डरपोका॥

दुर्योधन हँसते हुए कह रहा है- अरे! डर गया, डर गया! यह भयभीत हो कुत्ते के समान दुम दबाकर रथ में दुबक गया है। मैं तो समझता था कि इसके समान तीनों लोकों में कोई बलवान सिंह है ही नहीं, किन्तु यह तो चूहे के समान डरपोक निकला।

ऐ मामा एहि लेहु उबारी। भयो स्वान एक सरन हमारी॥
सकुनि ठठाइ हँसत दै बाहीं। बिनु मारे ये जाहिं पराहीं॥

[वह हँसते हुए शकुनि से कह रहा है-] अरे मामा! एक कुत्ता हमारी शरण में आया हुआ है, अब इस पर दया करें! शकुनि ठहाका मारकर हँसते हुए दुर्योधन के कंधे पर हाथ रखकर बोला- [अरे भानजे! देखता जा, भय के कारण] बिना मारे ही ये सभी भाग जायेंगे।

पर धरि धीर कहत एक बाता। कृष्ण हृदय एहि महँ अनुराता॥
ताकी चाल देखु अब भानज। थोरें कालहिं कर्णहिं लै भज॥

परन्तु तभी उसने गम्भीर होकर एक बात कही कि [अभी वह सम्पूर्णतया शरणागत हो गया है, ऐसा विश्वास नहीं कर लेना चाहिए क्योंकि] कृष्ण का हृदय एकमात्र इस अर्जुन में ही आसक्त है [वह इसकी प्रतिष्ठा बचाने का हर प्रयास करेगा]। हे भानजे! अब तो यह देखना है कि वह क्या चाल चलता है, तब तक तुम थोड़े समय के लिए कर्ण को याद कर लो।

दूत भेजि कह सुभ संदेसहिं। अर्जुन उर डरि गयो बिसेसहिं॥
तब सुनि कर्ण हँसै बहु हाँसी। बिनु छोरे गर छूटइ फाँसी॥

दूत से यह शुभ संदेश भिजवा दो कि अर्जुन अत्यधिक भयभीत हो गया है। तब कर्ण ऐसा सुनकर बहुत प्रसन्न हो जायेगा कि मेरे गले की फाँसी बिना छुड़ाये छूट गयी।

दोहा— अस मामाश्री कहउ जनि महाबीर कहलाय।
तेहि कहँ यह नहिं भावई युद्ध बिना पछिताय॥ ८५॥

मामाश्री! आप ऐसा न कहें! आप जानते हैं कि वह महावीर कहा जाता है। उसे यह अच्छा नहीं लगेगा और पश्चात्ताप करने लगेगा कि [अर्जुन जैसे वीर से] मुझे युद्ध करने का अवसर नहीं मिला।

चौपाई— करण दूत सों सुनि संदेसो। गयो सोक मन भयो भरोसो॥
प्रभु राखे हम सब की लाजा। भ्रातन्ह सँग अब होइ न बाजा॥

दूत द्वारा यह संदेश सुनकर अंगराज कर्ण के मन का शोक-सन्ताप जाता रहा और भगवान पर यह विश्वास हो आया कि उन्होंने हम सबकी लाज रख ली। अब मुझे भाइयों के साथ युद्ध नहीं करना पड़ेगा।

पार्थ न सोक भई उर ममता। मम अनुजन्ह हिय सील सु समता॥
उत गुरु द्रोन भीष्म अकुलाहीं। लाज सिंधु महँ डुबि उतराहीं॥

अर्जुन के हृदय में शोक-सन्ताप नहीं अपितु ममता प्रकट हुई है, क्योंकि मेरे सभी अनुजों के हृदय में अति शीलता एवं समता है। उधर आचार्य द्रोण एवं पितामह भीष्म अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं, लज्जारूपी समुद्र में गोते लगा रहे हैं कि-

सोचहिं गुडाकेस कह जैसो। होनो चहिए हम उर ऐसो॥
उत संजय धृतराष्ट्र सुनावत। अर्जुन मन महँ दुख न समावत॥

अर्जुन जैसा सोच रहा है एवं कह रहा है वह तो हमारे हृदय में होना चाहिए था! उधर सञ्जय राजा धृतराष्ट्र को सुना रहे हैं कि अर्जुन के मन में शोक-सन्ताप की बाढ़ आ गयी है और-

डारि दिये गांडीव धरा पर। देखि अचम्भित सकल चराचर॥
बैठे रथ अस बरनि न जाई। मनहुँ सबहिं कुल गयो नसाई॥

उन्होंने गाण्डीव को पृथ्वी पर फेंक दिया है जिसे देखकर समस्त चराचर जगत अचम्भित है। वे रथ में इस प्रकार बैठे हुए हैं कि वर्णन करते नहीं बनता, मानो उनके समस्त कुल का ही नाश हो गया हो।

नृपति हृदय तब भयो हुलासू। मनहुँ दृगनि महँ भयो प्रकासू॥

तब ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र के हृदय में ऐसा हर्षोल्लास हुआ मानो उनके नेत्रों में ज्योति आ गयी हो।

छंद— प्रगटी नृपति दृग मनहु ज्योती सिव सराहत पुनि पुनी।
गहि कहत संजय निरखु मम सुत पार्थ सम नहिं कोउ गुनी॥
जानत हुतों यह संत कोऊ सुत बन्यो इहँ आइके।
मोसों अधम अति बिबस पितु कर लाज राख्यो धाइके॥

ऐसा लगा मानो राजा धृतराष्ट्र के नेत्रों की ज्योति प्रकट हो गयी, वे भगवान शिव की बारम्बार वन्दना करने लगे। सञ्जय को पकड़कर उन्होंने कहा- [हे सञ्जय!] मेरे पुत्र अर्जुन को देखो जिसके समान कोई बुद्धिमान नहीं है। मैं तो जान ही रहा था कि यह कोई सन्त है जो यहाँ आकर पुत्र बन गया है, जिसने मेरे समान पापात्मा और असहाय पिता के प्रतिष्ठा की भी यत्नपूर्वक रक्षा कर ली है।

कह धन्य हे सुत धन्य तू आ अंक भरि भेटउँ इहाँ।
अस लाइ मन सों चूमि कह कछु काम नहिं तोकों उहाँ॥
डूबत हुतों मोहित हुवो इहँ काह करुँ का नहिं करौं।
तूने बचायो आज कुंती पांडु पद पुनि पुनि परौं॥

उन्होंने पुनः कहा- हे पुत्र! धन्य हो! तुम धन्य हो! आओ-आओ, तुम्हें मैं जी भरकर गले लगा लूँ। इस प्रकार

भक्त अर्जुन को मन: कल्पना में चूमते हुए उन्होंने कहा कि तुम्हारा वहाँ कोई काम नहीं है। हे तात! मैं तो मोहित हुआ डूब रहा था कि यहाँ क्या करूँ क्या न करूँ, किन्तु तुमने मेरी रक्षा कर ली। अत: मैं तुम्हारी माँ कुन्ती और पिता पाण्डु के चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

सोरठा— अहो लोभ अरु मोह कस कहि संजय नृप लखहिं।
तुम्हरे उर अस छोह हरि निरखहिं सच कस अहइ॥ ८६॥

अहो! यह कैसा लोभ और मोह है, [मन ही मन] ऐसा कहकर सञ्जय राजा को देखने लगे। आपके हृदय में यह मोह कहाँ से प्रकट हो गया, इसे तो यथार्थ में भगवान ही देख सकते हैं कि यह कैसा है!

चौपाई— अब इक पुरुष लखउँ जेहि कहऊँ। होवहु सजग दिखावन चहऊँ॥
दुर्योधन सिर नैन बिहीना। संजय दिब्य नेत्र अति दीना॥

अब आप सब सावधान हो जाएँ, मैं एक ऐसे पुरुष को देख रहा हूँ जिसका वर्णन कर आप सबको भी दिखाना चाहता हूँ- 'दुर्योधन' उसका सिर है, जो नेत्रों से हीन है तथा 'सञ्जय' उसके दिव्य नेत्र हैं किन्तु अति असहाय हैं।

दाहिन बाम पक्ष दोउ सोभत। ऋषिहु महर्षी बहु मन लोभत॥
भीष्म द्रोण दोउ भुजा सों दीखहिं। कृप सकुनी दुइ श्रवननि लीखहिं॥

उसके दायें और बायें दोनों पक्ष [दोनों सेनाओं के रूप में] शोभायमान हो रहे हैं, जो ऋषि-महर्षियों के मन को भी अति लुभा रहे हैं। 'पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण' इस पुरुष की दो भुजाओं के रूप में दीख रहे हैं तथा 'कृपाचार्य और शकुनि' को दो कान के रूप में बताया गया है।

चरन बिकर्ण द्रोन सुत आहीं। भूरिश्रवा नृप उदर कहाहीं॥
दु:सासन सैलहु दुइ नासा। स्वान समान सुँघत रन भासा॥

'अश्वत्थामा और विकर्ण'- इसके दो पैर हैं तथा राजा भूरिश्रवा पेट के समान हैं। 'दु:शासन एवं शल्य' उसके दो नासा छिद्र हैं जो कुत्ते के समान युद्ध के सम्पूर्ण लक्षणों (प्राकृतिक संकेतों) को सूँघ-सूँघकर कुछ समझने की चेष्टा कर रहे हैं।

ब्रह्म जीव सम प्रभु अरु भारत। जिनहिं निरखि जग भगत बिसारत॥
प्रान समान युधिष्ठिर जानउँ। भीम अपान भाषि गुन गानउँ॥

भगवान श्रीकृष्ण [इस पुरुष के भीतर-बाहर व्याप्त] ब्रह्म हैं तथा महात्मा अर्जुन ही इसकी जीवात्मा हैं जिनका दर्शनकर भक्तगण जगत को भुला देते हैं। युधिष्ठिर को इस पुरुष के प्राण के समान समझ रहा हूँ तथा भीम को अपान कहकर, इसके गुणों का बखान कर रहा हूँ।

पुनि सहदेव समान प्रान सम। नकुल उदान न मानउँ जिहिं कम॥
सात्यकि ब्यान लगें बहु नीका। सो यहि पुरुष करउँ जेहि टीका॥

सहदेव समान वायु की भाँति हैं तथा नकुल उदान हैं जिन्हें मैं किसी से कम नहीं मानता। [इस पुरुष में] सात्यकि व्यानवायु के समान अत्यधिक शोभा दे रहे हैं। यही वह पुरुष है जिसके स्वरूप का मैंने बखान किया है।

बीरन्ह अपर अन्य तन अंगा। रचि निरखहु कस अद्भुत दंगा॥
चिदाकास समझहु बिच भागा। जीव ब्रह्म सँग सँग अनुरागा॥

[अब आप सब] अन्यान्य वीरों को शरीर के अन्य अंग-उपांगों के रूप में रचकर देखें कि [इस दिव्य शरीर में] कैसा संग्राम छिड़ जाता है। इस दिव्य पुरुष के चिदाकाश को ही मध्यभाग समझें जिसमें ब्रह्म (श्रीकृष्ण) और जीवात्मा (अर्जुन) एक साथ सुशोभित हो रहे हैं।

दिब्य पुरुष अस प्रकृति बनाई। जनु यासों चह करन सगाई॥
ब्रह्म जिवहिं जनु बृत्ति दिखावत। केहि बिधि मरे काम समुझावत॥

लगता है कि इस दिव्य पुरुष की रचना प्रकृति ने की है जिससे वह अपना ब्याह रचाना चाहती है। इस दिव्य

शरीर के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव को मानो वृत्तियाँ दिखा रहा है और युक्ति बता रहा है कि [दुर्योधन रूपी] कामवृत्ति को कैसे मारा जायेगा।

दोहा— निरखहु रज तम बृत्ति सब घेरि ठाढ़ चहुँ ओर।
प्रबिसहु कस बृति सेन महँ का लखाइ कोउ छोर॥८७(क)॥

[मानो वह कह रहा है कि] देखो चारों ओर से राजस एवं तामस वृत्तियाँ घेरकर खड़ी हैं, अत: तुम इस वृत्तिरूपी सेना में किस ओर से प्रवेश करोगे, क्या कोई छोर दिखाई दे रहा है ?

बृत्ति समर महँ काहि बिधि प्रबिसहु देखहु धीर।
मोह बृत्ति प्रथमहिं हतहु प्रतिनिधि भीष्महिं बीर॥८७(ख)॥

हे धैर्यवानो ! वृत्ति रूपी सेना में कैसे प्रवेश करेंगे, इसे देखें- सर्वप्रथम मोहरूपी वृत्ति का संहार कर दें जिसके प्रतिनिधि के रूप में सेनापति पितामह भीष्म स्थित हैं।

चौपाई— छुद्र सील संकोच निवारहु। चरन द्वितिय द्रोनहिं संघारहु॥
दु:सासन इहँ लोभ लखावत। जाहि संग भवकूपहिं आवत॥

उसी प्रकार दूसरे चरण में क्षुद्र शील एवं संकोच का त्याग करें और [इसके प्रतिनिधि स्वरूप] आचार्य द्रोण का वध कर दें। दु:शासन ही लोभ के रूप में प्रतीत हो रहा है जिसको स्वीकार करने से संसार सागर में निश्चित आना पड़ता है।

दिब्य गदा निर्लोभहिं धारे। हनि हनि ताहि धरा पै डारे॥
वक्षस्थल एक पाँव जमावहु। भक्तिभाव बर भुजा उठावहु॥

अत: निर्लोभतारूपी दिव्य गदा को धारणकर, उसे बार-बार मारकर पृथ्वी पर गिरा दें, फिर एक घुटने को उसकी छाती पर जमायें और भक्तिभावरूपी श्रेष्ठ भुजा को उठाकर-

तासों ताकी भुजा उपारहु। बार बार ॐकार हुँकारहु॥
जानुहिं टेकि मध्य तन धारहु। मुष्टि प्रहार सों वक्ष बिदारहु॥

बारम्बार ॐकार का हुंकार भरते हुए उसकी भुजाओं को उखाड़ लें। उसके उपरान्त एक घुटने को पृथ्वी पर और दूसरे को पेट पर टेककर उसकी छाती पर घूँसे से प्रहार करें जिससे उसकी छाती फट जाए।

पिवत रक्त काली हुंकारहु। एहि बिधि लोभ दमन करि डारहु॥
चरण तृतीय लोभ निर्मूला। मिलत जगत जातें बहु सूला॥

तत्पश्चात् [उसके छाती का] रक्तपान करके भगवती काली की भाँति हुंकार भरते हुए लोभरूपी शत्रु का दमन कर दें। [इस प्रकार आपसब देख चुके होंगे कि] जिसके द्वारा जगत में नाना प्रकार के दु:ख प्राप्त होते हैं तृतीय चरण में वह लोभ समूल नष्ट हो जाता है।

द्वेष बृत्ति जब करण पधारे। दिब्य प्रेम दिब्यास्त्रहु धारे॥

पुन: जब द्वेषवृत्ति रूप कर्ण आ जाय तो प्रेमरूपी दिव्यास्त्र को धारण कर लें।

दोहा— कल बल छल से मरइ सो सापित गुरु सन आहि।
जब निसस्त्र रथहीन तब मारहु सिर बिलगाहि॥८८॥

वह कल, बल एवं छल के द्वारा मारने पर मर जायेगा क्योंकि वह गुरु द्वारा शापित है। अत: जब वह नि:शस्त्र होकर रथहीन हो जाय तब उसके सिर को धड़ से अलग कर, उसका वध कर दें।

चौपाई— चतु: चरण अस बृत्ति ढहावहु। करि संतोष प्रमाद न लावहु॥
ईर्ष्या बृत्ति बूझि सकुनी को। मुसक समान जान तकनीको॥

इस प्रकार चौथे चरण की वृत्ति (कर्ण) मर जाय तो सन्तोष करके न बैठें, कहीं प्रमाद न हो जाय। शकुनि को ईर्ष्यारूपी वृत्ति समझें जो चूहे की भाँति [सबका अहित करने की] युक्ति जानता है-

बृक्षमूल कुतरत बिनु कारन। पंचम चरन लगउ तब मारन॥
घेरहु दुरे न बहुबिधि धावउ। दया बर्छि सों मारि गिरावउ॥

और अकारण ही वृक्ष की जड़ काटता रहता है। अब उस पाँचवें चरण की वृत्ति को मारने के लिए, उसे नाना प्रकार के उपायों से घेर लें ताकि वह छिप न जाये; फिर दयारूपी बरछी से उसे मारकर धराशायी कर दें।

सैल्यहु प्रेम बृत्ति एक रूपा। सेनापति ये बचहिं अनूपा॥
त्याग बृत्ति दिब्यास्त्र चलावउ। छन महँ मारि धरापर लावउ॥

उसके उपरान्त शल्य भी प्रेमरूपी एक वृत्ति हैं, [उस अवस्था में] ये अनुपम सेनापति बचते हैं, जिनको त्यागवृत्तिरूपी दिव्यास्त्र चलाकर, क्षण भर में ही मारकर धरा पर गिरा दें।

षष्ठम चरन जबहिं ढहि पावे। काम धरा तजि जल छिपि जावे॥
एहि प्रतिनिधि दुर्योधन मानहु। बज्र समान जाहि तन जानहु॥

जब छठा चरण ढह जायेगा तो [शेष बचा] काम, धरती को त्यागकर जल में छिप जाता है। उसका ही प्रतिनिधित्व दुर्योधन कर रहा है जिसका सम्पूर्ण शरीर वज्र के समान है।

सब जानत यह महाप्रतापी। सप्तम बृत्ति यहइ बड़ पापी॥

सभी जानते हैं कि यही महाशक्तिमान सातवीं वृत्ति पापियों का भी पापी है [जो सारे जगत को कष्ट पर कष्ट देता रहता है]।

दोहा— मानत नाहीं काहु सों बरु सिव अजहु मनाव।
बड़ो हठीलो हटत नहिं ऋषि मुनि सास्त्रहु गाव॥८९(क)॥

यह किसी से नहीं मानता भले ही प्रजापति ब्रह्मा एवं भगवान शिव ही क्यों न मनावें। यह बड़ा ही हठीला है, बड़ा प्रयास करने पर भी नहीं हटता- [इसके विषय में] सभी ऋषि-महर्षि तथा शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं।

माया जानत प्रबल सत तासों यह दुकि जाय।
अहं ब्रह्म उदघोषणत सुनतहिं सनमुख आय॥८९(ख)॥

यह प्रबल काम अनेक प्रकार की माया जानता है उसी का आश्रय लेकर यह [चाहे जब जहाँ भी] छिप जाता है किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' की उद्घोषणा सुनते ही सामने आ जाता है।

चौपाई— ग्यान गदा लागउ परहारन। पल छिन मारहु मारहिं मारन॥
एहि न देउ एक छन बिश्रामा। नातरु छल करि भागइ कामा॥

तब आप ज्ञानरूपी गदा को लेकर प्रतिपल प्रहार करते हुए इस महापापी काम को तब तक मारते रहें जब तक यह मर न जाय। इसे आप एकपल भी विश्राम न दें नहीं तो यह छलपूर्वक भागकर छिप जायेगा।

नारीभाव ताहि कटि जंघा। ब्रह्मभाव सों टूटत अंगा॥
जहँ जब दीखत स्त्री रूपा। दरस लेहु सोइ ब्रह्म अनूपा॥

स्त्री भाव ही उस महापापी की कटि (कमर) और जाँघ हैं। ब्रह्मभाव रूपी गदा [के प्रहार] से यह अंग भी टूट जायेगा। इसलिए जहाँ भी [किसी माँ में] स्त्री रूप दिखाई पड़े तो अनुपमेय ब्रह्म समझकर उसका दर्शन करें।

मारेउ ताहि खेलाइ खेलाई। एहि मारें जग होइ भलाई॥
कुलिस समान कठिन हिय करहू। एहि पापी पर दया न धरहू॥

इस प्रकार उसे खेला-खेलाकर मार डालें, क्योंकि इसके मरने से ही जगत का कल्याण होगा। आप निष्ठुर एवं कठोर होकर हृदय को वज्र बनाकर विश्व को सताने वाले इस (काम) पर थोड़ी भी दया न करें।

तड़पत बिलपत आह करे जब। गुप्त अंग पर गदा जड़हु तब॥
जब उड़ि जावें प्राण पखेरू। अष्टम बृत्ति तबहिं गहि हेरू॥

जब यह विकल होकर तड़पते हुए आह भरने लगे तभी उसके गुप्त अंग पर गदा से प्रहार कर दें। जब इसके प्राण-पखेरू उड़ जायँ, तब आठवीं वृत्ति को खोजकर पकड़ लें।

दोहा— अस्वत्थामा बृत्ति यह प्रबल क्रोध की धारि।
मारहु एहि संकल्प सों तीसर नयन उघारि॥९०॥

यह [आठवीं वृत्ति] अश्वत्थामा ही क्रोध की प्रबल धार है। अत: इसे संकल्पबल के द्वारा तीसरे नेत्र

(आत्मचिन्तन) को खोलकर मार डालें।

चौपाई— बिस्वामित्रहु इहिं अकुलाने। दहि रम्भा तप गहन भुलाने॥
दुर्बासा कहँ बहुत नचायो। तिन्हकर तप बहु बार दहायो॥

[यह क्रोध रूपी महापाप एक ऐसा दरवाजा है कि] महर्षि विश्वामित्र भी इस से व्याकुल हो गये थे और ज्ञान को भूलकर तपस्या द्वारा रम्भा जैसी अप्सरा को जला डाले। इस क्रोध ने महर्षि दुर्वासा को भी बहुत बार नचाया है, इसने उनके तप को बहुत बार नष्ट किया है।

बार बार सापत जेहि तेहीं। तपहिं नसाइ आह भरि देहीं॥
महराजहिं बहुबार गिरायो। जबहिं प्रेम भयो तबहिं हिरायो॥

वे बार-बार [क्रोध में भरकर चाहे] जिस-तिस को शाप दे बैठते और तप का नाश कर आहें भरने लगते। इस महापापी क्रोध ने महाराज को भी बहुत बार पछाड़ा है लेकिन जब [भगवत्] प्रेम प्रकट हो गया तब यह स्वयं ही नष्ट हो गया।

दुकी सक्ति याकेहिं मणि माथे। जो सबके नहिं आवत हाथे॥
गहि अद्वैत छूरिका भाई। लेहु निकारि हृदय हरषाई॥

इस [क्रोध के प्रतिनिधि अश्वत्थामा] के मस्तक में शक्तिरूपी मणि छिपी हुई है जो सबके हाथ नहीं आती। हे सज्जनो! अद्वैतरूपी कटार को धारण कर प्रसन्न मन से इसे निकाल लें।

अहं सेष तब अहं मिलावे। चेतन अहं आत्मगत आवे॥

फिर जब अहं (मैं शरीर हूँ) शेष रह जाय तो उसे चेतन अहं में मिला दें, इस प्रकार 'अहं' आत्मगत चेतन में विलीन हो जाता है।

दोहा— उपदेसत प्रभु याहि मिस भगतन्हिं बिबिध प्रकार।
एहि रूपक सों भक्तजन करैं चित्त उपचार॥ ९१ (क)॥

[हे साधको! हे भक्तो!] इस [रूपक] के बहाने से भगवान सभी साधकों एवं भक्तों को नाना प्रकार के उपदेश दे रहे हैं। अत: इस रूपक द्वारा भक्तजन अपने चित्त को निर्मल कर लें।

महाराज अस लखि हँसै गृह गृह यह संबाद।
पर पाठत अध्याय यह उर कर मिटइ बिबाद॥ ९१ (ख)॥

इस दृश्य को देखकर तो महाराज को हँसी आ रही है कि यह तो घर-घर की कहानी है। किन्तु यदि कोई इस अध्याय का पाठ करे तो उसके हृदय का द्वन्द्व मिट जायेगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं अर्जुन विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय: ॥१॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

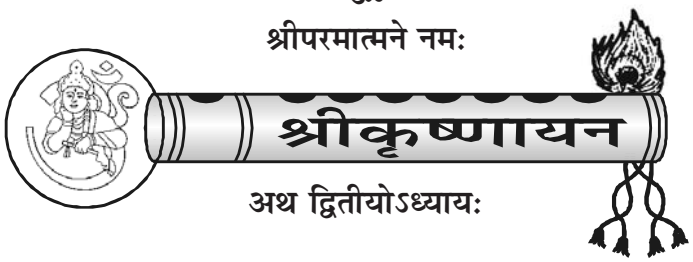

अथ द्वितीयोऽध्यायः

भजसि न मन किं दीनदयालम्॥
निर्विकारं निराकारं यस्य यशोबल अपरम्पारम्।
भूत्वा सो साकारं तिष्ठति पार्थ स्यन्दने इव प्रतिपालम्॥
यस्य पदाम्बुज संत सेवितं पिबन्ति कृष्णनामामृतम्।
तान्मनित्वा पार्थ सारथि भवति बहुः विकलं विकलम्॥
पार्थ प्रबोधति यं सद्गुरु इव विहसति सः आश्चर्य विशालम्।
ददति ब्रह्मविद्या तस्योऽपि महाराज भजु कालंकालम्॥

जो निर्विकार हैं, निराकार हैं, जिनका यश एवं बल अपरम्पार है, वही प्रभु सगुण-साकार रूप में भक्त अर्जुन के रथ पर परम रक्षक होकर बैठ गये हैं। हे मन! ऐसे दीन दयालु प्रभु को तुम क्यों नहीं भजते?

सन्त जिनके चरण कमलों की निरन्तर सेवा करते हैं एवं कृष्ण नामरूपी अमृत का पान करते हैं, उन्हीं प्रभु को अपना सारथि मानकर महात्मा अर्जुन अत्यन्त विकल हो रहे हैं।

यह महान आश्चर्य है कि ऐसे महिमामय प्रभु को भक्त अर्जुन ही सद्गुरु की भाँति उपदेश दे रहे हैं, फिर भी वे हँसते हुए उन्हें ब्रह्मविद्या का दान कर रहे हैं। महाराज का कहना है कि जो प्रभु [भक्तों के रक्षक एवं उनका दोष न देखने वाले परम कृपालु] काल के भी महाकाल हैं, हे मन! तू उन्हें ही भज।

दोहा— सुनहु नृपति धरि ध्यान अब जाहि कहहिं यदुनाथ।
अस कहि संजय हरि चरन हर्षित नायउ माथ॥ (क)॥

सञ्जय ने कहा- हे राजन्! अब भगवान यदुनाथ जो कह रहे हैं, उसे ध्यान देकर सुनें! ऐसा कहकर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक भगवान नारायण के चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम किया।

स्वजन मोह पूरित हृदय बिकल नयन भरि नीर।
अति उपदेसे पार्थ तिहिं हटकारहिं यदुबीर॥ (ख)॥

हे नरेश! स्वजनों के प्रति मोह से पूरित हृदय वाले भक्त अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को बहुत उपदेश किया है, उनकी अश्रुपूर्ण आँखों और विकल हृदय को देखकर वे ही यदुकुल भूषण भगवान अब उन्हें डाँट-फटकार रहे हैं।

चौपाई— जदपि न हरि हिय दुख लवलेसा। प्रकृति पार ब्यापक अखिलेसा॥
अबिचल भेद रहित तम पारा। सोइ प्रभु लीन्ह मनुज अवतारा॥

यद्यपि [भक्त अर्जुन के धर्मोपदेश देने का] भगवान के हृदय में रंचमात्र भी दुःख नहीं हुआ है, क्योंकि जो प्रकृति से परे, सर्वव्यापी, सबके स्वामी, अविचल, द्वैतरहित तथा मोह से परे हैं, वे ही प्रभु मनुष्य रूप में अवतरित हुए हैं।

जिन्हके पद सरोज उर माहीं। निरखत बिदुर न पल बिसराहीं॥
जिन्हके पद सरोज दुर्लभ अति। सहज सुलभ नहिं मुनिहुँ बिमल मति॥

जिनके चरण कमलों का स्मरण महात्मा विदुर अपने हृदय में निरन्तर किया करते हैं, एक क्षण के लिए भी भूल नहीं पाते, जिनके चरण कमलों का दर्शन अति दुर्लभ है यहाँ तक कि विमल बुद्धि वाले मुनियों को भी सहजता से प्राप्त नहीं होता,

जिन्हके पद सरोज उर माहीं। सुमिरि सुमिरि अज सृष्टि रचाहीं॥
जिन्हके पद सरोज सिव धारत। पल छिन माहिं जगत संघारत॥

जिनके चरण कमलों का हृदय में स्मरण करते हुए भगवान ब्रह्मा सृष्टि की रचना करते हैं, जिनके चरण कमलों को भगवान शंकर अपने हृदय में धारण कर पल भर में जगत का संहार कर देते हैं,

तिन्ह पद पदुम पार्थ नहिं जानैं। अस लखि मुनि सुर संत लजानैं॥
तेइ प्रभु तिन्ह कातर दृग देखी। करत नाट्य जनु बिकल बिसेषी॥

उनके [महिमामय] चरण कमलों को भक्त अर्जुन नहीं पहचान पा रहे हैं, ऐसा देखकर देवता, सिद्ध एवं सन्तजन संकोच में भरे जा रहे हैं। वे ही परम कृपालु प्रभु उन्हें कातर दृष्टि से देखने की लीला कर रहे हैं मानो [अर्जुन की स्थिति से] अत्यन्त विकल हों।

दोहा— अर्जुन ढिंग मुख मोड़ि प्रभु भृकुटी कछुक तरेरि।
डारि नयन तिन्ह नयन महँ कहत मातुवत हेरि॥१॥

भगवान अर्जुन की ओर मुख करके भृकुटि को कुछ टेढ़ी करते हुए उनकी आँखों में आँखें डालकर माँ की भाँति देखते हुए कह रहे हैं-

चौपाई— आज परंतप का भयो तोहीं। अस करि छुब्ध करउ नहिं मोहीं॥
घृणित नपुंसकता अब त्यागहु। धरा धिकारति अस लखि जागहु॥

हे परंतप! आज तुम्हें क्या हो गया है ऐसा करके मुझे क्षुब्ध न करो! इस घिनौनी नपुंसकता का सर्वथा त्याग कर अब सजग हो जाओ क्योंकि तुम्हारी ऐसी दीन दशा देखकर यह वसुधा तुम्हें अत्यन्त धिक्कार रही है।

गृह बन नहिं तुम्ह रन थल ठार्‌यो। संखनाद करि सूर पचार्‌यो॥
ओछे उर की ये सब बातैं। तजहु सूर ऐसो नहिं मातैं॥

हे वीर! तुम घर या वन में नहीं बल्कि संग्राम-भूमि में खड़े हो तथा शंखनाद करके तुमने विपक्षी वीरों को ललकार भी दिया है। ये सब क्षुद्र हृदय की बातें हैं अत: इन्हें त्याग दो, ऐसे पागल मत बनो!

चेतहु अबहुँ संत सुर प्यारो। सोहइ तुम्हहिं न अस ब्यवहारो॥
उर छुद्रता तजहु तपधारी। हँसहिं बिपक्षी दै दै तारी॥

हे देवताओं, मनुष्यों एवं सन्तों के प्रिय पार्थ! तुम अभी भी सावधान हो जाओ क्योंकि तुम्हारे द्वारा ऐसा व्यवहार शोभा नहीं दे रहा है। हे तपोमय जीवन जीने वाले! हृदय की क्षुद्रता त्याग दो अन्यथा ये विपक्षी वीर ताली पीट-पीटकर तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे।

तजहु काह रनभूमि भद्रता। बीरोचित यह नाहिं नम्रता॥
अबलौं आर्यबीर कोउ ऐसो। कियो न तुम्ह करनो चह जैसो॥

तुम रणभूमि की मर्यादा का उल्लंघन क्यों कर रहे हो, तुम्हारी यह विनम्रता वीरोचित नहीं है। अब तक किसी भी आर्यवीर ने ऐसा नहीं किया है जैसा तुम करना चाह रहे हो।

दोहा— अस तौ स्वर्गहु जायेगो पाय मोक्ष कहँ तात।
अछय होय अपकीर्ति जग कहहु काह बौरात॥ २ (क)॥

हे प्रिय! ऐसा करने से मोक्ष पाना तो दूर की बात है, तुम्हारे हाथ से स्वर्ग भी चला जायेगा और जगत में सदा रहने वाली अपकीर्ति फैल जायेगी। अत: तुम्हीं बताओ कि ऐसा पागलपन क्यों कर रहे हो?

चंडी सम हुंकार भरि प्रिय गांडीव उठाउ।
असुर समुझि हतु रिपुन्ह पुनि प्रभु हित कानन जाउ॥ २ (ख)॥

हे प्रिय! उठो! गाण्डीव उठाओ और जैसे भगवती चण्डी ने हुंकार भरते हुए असुरों का संहार किया था वैसे ही इन समस्त विपक्षियों को असुर समझकर मार डालो उसके उपरान्त भगवत् प्राप्ति हेतु वन को चले जाना।

धर्मधरा के बीर सब देखत तुम्हहिं बिचारु।
मरनैं आये स्वर्ग हित अब बर धनुष सम्हारु॥ २ (ग)॥

हे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर! इस धर्मभूमि में उपस्थित सभी रथी-महारथी तुम्हारी ओर देख रहे हैं इस बात पर भी विचार करो। ये इस रणभूमि में स्वेच्छा से मरकर स्वर्ग प्राप्त करने आये हुए हैं; अतः हे वीर! अब अपना श्रेष्ठ गाण्डीव उठाओ।

चौपाई— जब बहु कहे न धनुष उठाये। तब हरि ब्यंग बचन बरसाये॥
अहो दैव जो जगहिं नचावत। सोइ तुम्ह सम तपसिहिं भरमावत॥

भगवान के बहुत कहने पर भी जब भक्त अर्जुन ने धनुष-बाण नहीं उठाया तो प्रभु व्यंग्यात्मक वचनों की वर्षा करते हुए बोले- अहो! जो दैव सारे जगत को नचाता है उसी ने इस समय तुम्हारे जैसे तपस्वी को भी भ्रमित कर दिया है।

अस बहु बार भयो जग माहीं। समर देखि बहु बीर पराहीं॥
तव सन्मुख उत्तर एक बारा। कौरव सेन देखि बहु भारा॥

[किन्तु मुझे कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि] इस धरा पर ऐसा बहुत बार हुआ है कि बहुत से योद्धा युद्ध को सामने देखकर भाग खड़े हुए हैं। एक बार तुम्हारे सामने ही महाराज विराट का पुत्र उत्तर, कौरवों की विशाल सेना को देखकर-

थर थर काँपत गयो सुखाई। स्यंदन तजि सो चल्यो पराई॥
पकरि बाँह तुम्ह रथ पर लाये। पूर्ब कही बतकही सुनाये॥

भयभीत हो थर-थर काँपने लगा और उसका शरीर सूख सा गया। वह रथ से कूदकर भाग चला किन्तु तुम उसका हाथ पकड़कर पुनः रथ पर ले आये और कुछ समय पूर्व उसी की कही हुई बातों से उसे समझाने लगे।

उत्तर माँ पितु पहिं डिंग हाँकत। लगी न लाज बहुत बिधि फाँकत॥
सूरन्ह धरम साँच तू जानत। बधें बधायें रन महँ ठानत॥

हे राजकुमार उत्तर! नगर में जब तुम माता-पिता के सम्मुख डींग हाँकते हुए उनसे बड़ी-बड़ी बातें बना रहे थे उस समय तुम्हें लज्जा नहीं लगी? तुम तो वीरों का यथार्थ धर्म जानते हो, उनके जीवन का एक ही लक्ष्य होता है, युद्धभूमि में मारना या मरना।

जीतत बनहिं धरा कर स्वामी। मरतहिं होहिं स्वर्गपथ गामी॥

[युद्ध में] यदि वे जीत जाते हैं तो धरा के स्वामी बन जाते हैं और मरते हैं तो स्वर्गपथ का अनुगमन करते हैं।

दोहा— करु न बीर संग्राम अब रथ चढ़ि थामु लगाम।
जीति इनहिं दउँ तोहिं जस किधौं जाउँ सुरधाम॥ ३॥

हे वीर! अब तुम युद्ध मत करो बल्कि रथ पर मेरे सारथि बनकर घोड़ों की रास पकड़ो। मैं इनपर विजय प्राप्त कर तुम्हें यश दूँगा अथवा [मरकर] देवलोक को चला जाऊँगा।

चौपाई— लखु मम सौर्य तेज जग जाना। गांडिवहु सम अस्त्र न आना॥
एक लक्ष आयुधन्हि बराबर। तात जानु यह अमित गुनाकर॥

अब तुम मेरे शौर्य और तेज को देखो जिसे सारा जगत जानता है। मेरे दिव्य गाण्डीव को भी देखो जिसकी समानता करने वाला कोई दूसरा अस्त्र है ही नहीं। हे तात! ऐसा जान लो कि यह (गाण्डीव) एक लाख दिव्यास्त्रों के बराबर एवं असंख्य गुणों का भण्डार है।

सहस बरस ब्रह्मा कर भ्राज्यो। प्रजापती पहिं पँच सत राज्यो॥
पंचसतक ससि हाथ सुहायो। बरुन एक सत बरस उठायो॥

यह एक हजार वर्ष ब्रह्माजी के पास सुशोभित हुआ, पाँच सौ वर्षों तक प्रजापति के पास रहा, पाँच सौ वर्ष ही चन्द्रदेव के हाथों की शोभा बढ़ाता रहा और एक सौ वर्षों तक वरुण देवता ने इसको धारण किया।

इंद्र गहे एहि बरस पचासी। बरुन दए मोहिं गुनि बिस्वासी॥
बत्तिस बरष मास छः काला। रहि मों पहिं हर बिपति बिसाला॥

इन्द्र ने पचासी वर्षों तक इसे धारण किया। इसे वरुण देवता ने मुझे विश्वासपात्र समझकर दिया था जो बत्तीस

वर्ष छः माह मेरे पास रहकर मुझे घोर विपत्तियों से मुक्ति दिलाता रहा है।

बीर कुँवर कायरता त्यागहु। सूर धरम महँ अब अनुरागहु॥
तब उत्तर कह धीर धनंजय। केहि बिधि पावहुगे इनसों जय॥

अतः हे वीर [उत्तर]! तुम नपुंसकता को त्यागकर अब वीरों के धर्म से प्रेम करो। [हे पार्थ!] तब तुमसे उत्तर ने कहा था- हे धैर्यवान धनञ्जय! आप इन महारथियों से किस प्रकार विजय प्राप्त करेंगे?

दोहा— महारथी बहु एक तुम्ह किमि करिहौ संग्राम।
याहि सुमिरि भय लगत अति भाजि चलैं निज धाम॥ ४॥

आप अकेले हैं और ये महारथी अनेक हैं फिर इनसे किसप्रकार युद्ध करेंगे? मुझे इसका विचार करते ही अत्यन्त भय लग रहा है, अतः हम अपने घर भाग चलें।

चौपाई— कह्यो तबहिं तुम्ह उत्तर पाहीं। बीर समुझि अस भागहु नाहीं॥
उत्तर तू मोको नहिं बूझे। गंधर्बन्ह कौरव जब जूझे॥

तब तुमने उत्तर से कहा था कि हे वीर! मन में ऐसा समझकर तुम भागो मत! हे उत्तर! तुम मुझे पहचानते नहीं हो! अरे! जब कौरवों का [घोष यात्रा निकालते समय किसी कारणवश] गन्धर्वों के साथ युद्ध ठन गया था,

तबहुँ रह्यों मैं बीर अकेले। तउ गंधर्ब भगे मम पेले॥
हुतों इंद्र पहिं एकइ भाई। हत्यों निवातकवच समुदाई॥

हे वीर! उस समय मैं [कौरवों की रक्षा में] अकेला ही था, तो भी गन्धर्व मुझसे पराजित होकर भाग गये थे। देवराज इन्द्र के लिए जब मैं निवातकवच दैत्यों से युद्ध कर रहा था तो भी अकेले ही था लेकिन मैंने उन सभी का वध कर दिया।

द्रौपदि केरि स्वयम्बर माहीं। मैं अकेल नृप हारि पराहीं॥
कृप कुबेर अगिनी अरु सुरपति। आसुतोष सिव यम अरु अपपति॥

[इतना ही नहीं] द्रौपदी के स्वयंवर में सभी राजाओं के बीच मैं अकेला ही था लेकिन वहाँ भी मुझ अकेले से ही परास्त होकर वे भाग खड़े हुए। कुलगुरु कृपाचार्य, कुबेर, अग्निदेव, देवराज इन्द्र, भगवान शिव, यमराज और वरुण देवता-

इनहिं प्रसन्न कियों बर पायों। द्रोण सिस्य जग माहिं कहायों॥
अस जग सुभ पुरुषारथ मेरो। पुनि कस भय प्रगट्यो उर तेरो॥

इन सबको मैंने प्रसन्न करके वरदान प्राप्त किया है और जगत में आचार्य द्रोण का शिष्य कहा जाता हूँ, इस जगत में मेरा ऐसा शुभ पुरुषार्थ है फिर तुम्हारे हृदय में भय कैसे आ गया।

कहहु काह इनसों भय मानउँ। सबहिं जीति तव सुरभिहिं आनउँ॥

अतः तुम्हीं बताओ कि इनलोगों से क्यों डरूँगा? अरे! [तुम्हारे देखते ही देखते] इन सबको जीतकर तुम्हारी समस्त गायों को ला दूँगा।

दोहा— मोह भंग किये तासु तुम्ह बहुरि तुम्हहिं कस मोह।
अब बर योधा धर्म गहि छाँड़हु सबकर छोह॥ ५॥

हे कुरुश्रेष्ठ! तुमने तो उसका मोह भंग कर दिया था, फिर तुम्हें कैसे मोह हो रहा है? अतः [ऐसा न करो] श्रेष्ठ योद्धा का धर्म धारण कर अब इन स्वजनों का मोह त्याग दो।

चौपाई— द्वादस नाम जगत तव सोहत। धीर बीर सत्रुन्ह मन मोहत॥
जग निधि जीति कहाय धनंजय। नाम बिजय रन किये सदा जय॥

तुम धीर, वीर, गम्भीर योद्धा हो इसी से शत्रु भी तुम्हें देखकर मोहित हो जाते हैं। तुम्हारे बारह नाम जगत में विख्यात हैं- तुमने जगत के समस्त राजाओं का धन जीत लिया था इसलिए 'धनञ्जय' कहे जाते हो और सदा युद्ध में विजयी होने से तुम्हारा दूसरा नाम 'विजय' पड़ा।

स्वेत बरन अति सुंदर घोरे। भूषित कनक कवच रथ जोरे॥
अस रथ चढ़ि बहु रन जग ठयऊ। नाम स्वेतबाहन तव भयऊ॥

सोने के कवच से अलंकृत श्वेत रंग के अत्यन्त सुन्दर घोड़े जिस रथ में जुते हुए हों, ऐसे दिव्य रथ पर चढ़कर संसार में तुमने बहुत-से युद्ध किये, इसलिए तुम्हारा नाम 'श्वेतवाहन' हो गया।

उत्तरफाल्गुनि तव अवतारा। फाल्गुनि कहि जग तुम्हहिं पुकारा॥
युद्ध बिभत्स कबहुँ नहिं कीन्हो। नाम बिभत्सु तबहिं जग दीन्हो॥

तुम्हारा जन्म उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुआ है, इसी से जगत तुम्हें 'फाल्गुनि' नाम से पुकारता है। तुमने कभी भी [अनीतियुक्त] भयावह युद्ध नहीं किये, इसीलिए जगत ने तुम्हारा नाम 'बीभत्सु' रख दिया।

भानु कांति सम मुकुट कांतिमय। इंद्र धरे तव सीस धनंजय॥
जाहि धारि तुम्ह असुरन्हि मार्‌यो। नाम किरीटी जग बिस्तार्‌यो॥

देवराज इन्द्र ने तुम्हारे शीश पर भगवान सूर्य के समान कान्तिमान मुकुट रखा था जिसको धारणकर तुमने [युद्ध में] समस्त दानवों का वध कर दिया, इसी कारण तुम्हारा 'किरीटी' नाम जगत में विख्यात हो गया।

दोउ करन्हि सायक संधाने। यासों सब्यसाँचि जग जाने॥
सबसों अजय इंद्रसुत कारन। जिष्णु नाम सब लगे उचारन॥

तुम दोनों हाथों से बाण चलाते हो, इसीलिए जगत तुम्हें 'सव्यसाची' नाम से भी जानता है। तुम किसी से भी जीते नहीं जा सकते और देवराज इन्द्र के पुत्र हो इसलिए सभी [देवता और मनुष्य] तुम्हें 'जिष्णु' नाम से पुकारने लगे।

सम आचरहु करम सुभ करहू। अति दुर्लभ द्युति जग महँ धरहू॥
सुभ आचरण सुभग तन ताता। अर्जुन नाम भयउ बिख्याता॥

तुम सबके साथ समान व्यवहार एवं शुभ कर्म करते हो तथा तुम्हारी जैसी मुखकान्ति जगत में अति दुर्लभ है। हे तात! शुभ आचरण तथा सुन्दर शरीर के कारण ही संसार में तुम्हारा 'अर्जुन' नाम विख्यात हो गया।

स्वेत बरन चित कृष्ण समायो। दसम नाम तव कृष्ण कहायो॥
पृथापुत्र सों पार्थ कहायो। गुडाकेस जब नींद भगायो॥

यद्यपि तुम्हारा शरीर उज्जवल (धवल वर्ण का) है तो भी कृष्णमय चित्त होने से, तुम्हारा दसवाँ नाम 'कृष्ण' भी है। उसी प्रकार तुम पृथापुत्र (माता कुन्ती के पुत्र) होने से 'पार्थ' एवं नींदविजेता होने से 'गुडाकेश' कहे जाते हो।

दोहा— सकल नाम निर्दोष तव दोष यहइ कस आव।
सुर नर मुनि रणबीर को जेहि अस तव गुन भाव॥ ६॥

हे महाबाहो! इस प्रकार तुम्हारे ये सभी नाम अति निर्दोष हैं, फिर तुम्हारे में यह दोष कैसे आ गया! अरे! देवताओं, मनुष्यों, सन्तों एवं योद्धाओं में ऐसा कौन है जिसे तुम्हारा यह व्यवहार अच्छा लगेगा?

चौपाई- आत्मरूप निज सुमिरहु बीरा। पुनि करु युद्ध महा रनधीरा॥
तुम्ह पन कीन्ह सभा बिच भाई। बधउँ कर्ण दै सत्य दुहाई॥

हे महावीर! तुम अपने आत्मस्वरूप का स्मरण करो फिर युद्ध करो। हे युद्ध में अपार धैर्य धारण करने वाले प्रिय भ्राता! तुमने भरी सभा में सत्य की दुहाई देकर यह प्रतिज्ञा की है कि मैं युद्ध में कर्ण का वध करूँगा।

दुर्योधन कर सेन सहाई। मारउँ समर खेलाइ खेलाई॥
डगइ हिमालय बरु अस्थाना। रबि महँ तम छावे मनमाना॥

दुर्योधन की सहायता में आयी हुई सम्पूर्ण सेना को युद्ध में खेला-खेलाकर मार डालूँगा। भले ही हिमालय अपने स्थान से हट जाय, सूर्य में घोर अंधकार छा जाय,

ससि बरु बने आग अंगारा। पर पन झूठ न होय हमारा॥
तेहि पन कर अब होइहिं काहा। जेहि हित बर नर निज तन दाहा॥

भले ही चन्द्रमा आग का अंगारा बन जाय परन्तु आज मैं जो प्रतिज्ञा कर रहा हूँ वह झूठी नहीं हो सकती। [तुम्हीं बताओ पार्थ कि] अब उस प्रतिज्ञा का क्या होगा जिसकी रक्षा के लिए महापुरुषों ने अपना प्राण तक होम कर दिया है!

गर्भवास महँ सब अकुलाई। पन करि हरिहिं दें सत्य दुहाई॥

[हे वीर! तुम जानते ही हो कि] माँ के गर्भ में सभी अत्यन्त व्याकुल होकर भगवान के पास सत्य की दुहाई देकर प्रतिज्ञा करते हैं कि-

दोहा— दीनानाथ दयानिधी साँच कहउँ मैं आज।
सहसबार जनम्यों मर्‌यों जग महँ स्वजनन्हि काज॥ ७॥

हे दीनानाथ! हे दयानिधे! आज मैं सत्य कह रहा हूँ कि मैंने जगत में हजारों बार स्वजनों के लिए ही [धर्म-कर्म करते हुए] जन्म-मृत्यु को स्वीकार किया है।

चौपाई— मम करमन्ह फल भोगि गये सब। जेहि कारन मैं जरउँ इहाँ अब॥
नरक कुंड सों त्रान जो पावउँ। मुक्ति प्रदाता तव गुन गावउँ॥

वे सभी स्वजन मेरे किये हुए धर्म-कर्म का फल भोगकर पता नहीं कहाँ चले गये, जिसका परिणाम है कि अब मैं यहाँ [गर्भ में] आकर दु:ख से जल रहा हूँ, यदि इस नरक कुण्ड से मेरा छुटकारा हो जाता है तो हे मुक्तिदाता! मैं आपका ही गुणगान करूँगा।

करुँ अभ्यासहि सांख्ययोग कर। प्रभु तव ध्यान धरउँ जीवन भर॥
तिहिं दलदल सों बाहर आवत। सो मूरख निज पन बिसरावत॥

हे प्रभो! मैं सांख्ययोग का अभ्यास करता हुआ जीवनपर्यन्त आपका ही ध्यान करूँगा। [किन्तु हे पार्थ!] जैसे ही वह मूर्ख उस गर्भरूपी दलदल से बाहर आता है, अपनी की हुई प्रतिज्ञा भूल जाता है।

तिहिकर होवति जग अस हाला। पावत पल छिन बिपति बिसाला॥
सखे तोर पन देखउँ तैसे। गर्भवास सिसु कर पन जैसे॥

ऐसा करने से उसकी जगत में ऐसी दुर्दशा होती है कि वह हर पल घोर विपत्तियों में फँसा रहता है। हे मित्र! मैं तो तुम्हारी प्रतिज्ञा भी वैसी ही देख रहा हूँ, जैसे उस गर्भस्थ शिशु की प्रतिज्ञा होती है।

धर्म सों तेरह बरष बितायो। ताहि कृपा सों यह छन आयो॥
तदपि करहु तुम्ह अस कदराई। नासहु सुजस स्वर्ग सुखदाई॥

तेरह वर्ष तुमने धर्मानुसार [वन में] समय बिताया है उसी की कृपा से ऐसा मधुर समय आया है। यदि इस पर भी ऐसी कायरता करते हो तो अब तक की सारी कीर्ति और सुखदायी स्वर्ग का नाश कर डालोगे।

दोहा— मनुज टरत निज बात सों कपिहु पतत जब डार।
दोउ निकारत जाति सों यापर करहु बिचार॥ ८॥

[अरे! क्या तुम यह नहीं जानते कि] बात से चूका हुआ मनुष्य और डाल से चूका हुआ बन्दर दोनों ही अपनी जाति से बाहर कर दिये जाते हैं; थोड़ा इसपर भी विचार करो!

चौपाई— का मानउँ मैं तव पन वैसो। पतित जती अरु बटुकन्हि जैसो॥
गृह तजि एक चलत बन माहीं। एक जाइ गुरु चरननि पाहीं॥

[हे भरतश्रेष्ठ!] क्या मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा वैसी ही मान लूँ, जैसे कि पतित ब्रह्मचारी और पतित संन्यासी की होती है। [वे दोनों ही ब्रह्म जिज्ञासा से घर त्याग करते हैं] उनमें से एक [जो अपने को संन्यासी समझता है] वन में चला जाता है जबकि दूसरा [इस जीव जगत में] सद्‌गुरु के चरणों का आश्रय लेता है।

तिन्ह महँ संन्यासी सब त्यागत। एकमात्र ब्रह्महिं अनुरागत॥
कछु दिन गये सतोगुण छायो। सबन्हि माँझ एक ब्रह्म लखायो॥

उन दोनों में संन्यासी सबकुछ त्यागकर एकमात्र ब्रह्मचिन्तन में ही मन लगाता है। कुछ दिन बीतने पर [उसके तन, मन, वचन, हृदय में] सतोगुण छा जाता है जिससे सबके भीतर ब्रह्म ही है- ऐसी अनुभूति होने लगती है,

सत्य मानि त्यागत बन तबहीं। आइ जगत कह सब जन जनहीं॥
घर बन महँ कछु अंतर नाहीं। तजि गृह बादि बिपिन सब जाहीं॥

तब उसी ब्रह्मदर्शन को वह सम्पूर्ण सत्य मानकर [ब्रह्मसिद्धि प्राप्त किये बिना ही] वन का परित्याग कर लोगों के बीच आकर प्रसन्नतापूर्वक कहता है कि अरे! [घर क्यों छोड़ते हो? क्योंकि भगवान के लिए] घर और वन में कुछ अन्तर नहीं है, [भगवान तो साधु-असाधु, पशु-पक्षी सबमें समान रूप से वास करता है।] व्यर्थ ही सभी घर त्यागकर वन में जाते हैं।

कहत सुनत अस नसत बिरागा। मन तब भोग बिषय महँ लागा॥
बिषय भोग महँ जोग दिखावे। निज घर देस बिदेसहु जावे॥

इस प्रकार कहते-सुनते जब निर्मल वैराग्य समाप्त हो जाता है, तब उसका मन विषय-भोगों में अनुरक्त हो जाता है। वह [ढोंगी] विषय-भोगों में ही योग दिखाने की बात करने लग जाता है। उसके उपरान्त वह अपने शरीर की जन्मभूमि और विदेश भी जाने लगता है।

दोहा— प्रभुप्रदेस कर होइ पुनि घर बिदेस यति जाय।
सास्त्र ब्रह्महत्या कहत जीवन तासु नसाय॥ ९॥

वह ब्रह्मदेश का होकर भी यदि अपने घर या विदेश जाता है तो शास्त्र उसे ब्रह्महत्या का पाप बताता है जिससे उसका जीवन ही नष्ट हो जाता है।

चौपाई— करत कर्म यति धर्म बिरुद्धा। कोउ कह साँच ताहि पर क्रुद्धा॥
तेहि बिधि बटुक बनत गुरुसेवक। जानि तिन्हहिं भवसागर खेवक॥

वह समस्त व्यवहार संन्यासधर्म के विरुद्ध करने लगता है; जब कोई सत्य कहता है [कि महाराज संन्यासी को तो घर-गाँव आना मना है लेकिन आप आ रहे हैं?] तो उसके द्वारा ऐसा कहते ही वे संन्यासी बाबा आग बबूले हो जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी सद्गुरु के चरणों का सेवक, उन्हें भवसागर से पार करने वाला जानकर बनता है।

करत त्याग तपसों सेवकाई। सदगुरु कृपा सिद्धि कछु पाई॥
तेहि कारन पावत बहु माना। साधन पथ जो बिघन सुजाना॥

अत: वह तप और त्याग के साथ उनकी सेवकाई में जुट जाता है तब [कुछ समय के उपरान्त] सद्गुरु कृपा से कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है उसके कारण उसे मान-सम्मान प्राप्त होने लगता है; हे बुद्धिमान्! जो साधन-पथ में अत्यन्त विघ्नस्वरूप है।

मान पाइ जप तप ब्रत त्यागत। जग माया महँ बहु अनुरागत॥
पहिरत कुँवर सरिस पहिरावा। गृह परिचर्या तब तेहिं भावा॥

मान-सम्मान पाकर वह जप, तप, व्रत त्यागकर जगत की माया से अत्यन्त मोहित हो जाता है उसके उपरान्त उसे राजकुमारों जैसी वेश-भूषा बनाकर गृहस्थाश्रम के अनुरूप कर्म करना प्रिय लगता है।

प्रथम बटुक हित बर्णित नेमा। आठहु पालि लियो पथ छेमा॥
पर यह नियमहिं ताख धराई। बिषय माहिं मन गयो रमाई॥

पहले तो वह वेद-शास्त्रों में कहे हुए ब्रह्मचारी के आठ व्रतों को नियमपूर्वक नित्य धारण किये रहता था जिससे उसे अध्यात्म-पथ में निर्विघ्नता प्राप्त हो गयी थी, किन्तु अब उन नियमों को ताख पर रख देने से उसका मन विषयों में ही रमण करने लगा।

दोहा— नहिं नहिं तजहु न पार्थ पन तव कुल धर्म नसाहिं।
सत्य कहउँ तुव मातु पितु सुनतहिं लाज लजाहिं॥ १०॥

नहीं-नहीं पार्थ! [ऐसा मत करो,] तुम अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग मत करो [क्योंकि तुम्हारा कुल तथाकथित संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों जैसा नहीं है] ऐसा करने से तुम्हारे कुल-धर्म का नाश हो जायेगा। मैं सत्य कहता हूँ कि ऐसा सुनते ही तुम्हारे माता-पिता अत्यन्त लज्जित हो जायेंगे।

चौपाई— कहे परंतप अति अकुलाई। गुरुजन सन कस करउँ लराई॥
एकबार काहू सन लरऊँ। मारउँ किधौं ताहि कर मरऊँ॥

[ऐसा सुनकर] महात्मा अर्जुन ने अत्यन्त व्याकुल होकर कहा कि हे माधव! एक बार तो मैं किसी के साथ भी युद्ध कर सकता हूँ चाहे उसे मारूँ अथवा उसके हाथों मारा जाऊँ किन्तु मैं गुरुजनों से कैसे युद्ध करूँ!

गुरु सन द्रोह करउँ नहिं कबहूँ। अज सिव बिष्णु कहहिं बरु तबहूँ॥
जिन्हकी कृपा जगत जस पायों। तीनि लोक महँ बीर कहायों॥

हे माधव! मैं कदापि गुरुद्रोह नहीं कर सकता, भले ही इसके लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही आकर क्यों न कहें। जिन गुरुजनों की कृपा से संसार में मेरी कीर्ति फैली हुई है और तीनों लोकों में महावीर कहा जाता हूँ -

बनउँ न भस्मासुर परचारी। जासे देहिं मोहि ये जारी॥
यदि तुम्हरे बल इनकहँ मारउँ। जनम जनम हिय सांति न धारउँ॥

मैं उन्हें ललकार कर भस्मासुर नहीं बन सकता जिससे ये मुझे [कुपित होकर अपनी क्रोधाग्नि से] जला डालें। यदि आपके बल से मैंने इनका वध कर भी दिया तो हृदय में जन्म-जन्मान्तर तक शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

यह गृहकोष पितामह केरो। भलें मोहबस कह सब मेरो॥
इन्हकर राज ये काहुहिं देहीं। अस न लोभ मन हम एहि लेहीं॥

हे केशव! [मैं सत्य कहता हूँ,] इस राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति पितामह की है, भले ही मोह के वशीभूत होकर हम उसे अपनी कहते रहें। अत: यह उनका राज्य है, वे चाहे जिसे भी दें, हमारे मन में ऐसा लोभ नहीं है कि हम ही इसे प्राप्त कर लें।

उग्रसेन मन महँ अस भायो। तुम्हहिं द्वारिकाधीस बनायो॥
आपु करहुगे यदि मनमानी। होवइ नीति धरम की हानी॥

[मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके महात्मा स्वरूप नाना] महाराज उग्रसेन के मन को ऐसा ही प्रिय लगा तभी तो आपको [हर प्रकार से योग्य समझकर] द्वारिकाधीश बना दिया लेकिन यदि आप [शास्त्रीय व्यवहार को छोड़कर] मनमाना व्यवहार करने लगेंगे, फिर तो नीति और धर्म की हानि होने लगेगी।

कहहु उनहिं मन लागइ कैसो। का न भाव उर आय अनैसो॥
दुर्योधन बरु उनहिं न मानहिं। पर हम राजन्ह राजा जानहिं॥

[यदि ऐसा होगा] तो आप ही बतायें कि उनके मन को कैसा लगेगा, क्या उनके (महाराज उग्रसेन के) हृदय में कुछ अन्यथा विचार नहीं आयेगा! भले ही दुर्योधन पितामह को कुछ न समझे किन्तु हम सब तो इन्हें राजाओं का भी राजा मानते हैं!

दोहा— राज देहिं दुर्योधनहिं होय नीति नहिं दोषु।
यह सुहाय कस मूढ़ता ब्यर्थ करहिं हम रोषु॥ ११॥

[इस न्याय से] यदि ये अपना राज्य दुर्योधन को दे दें तो भी यह नीतियुक्त ही है इसमें कोई दोष नहीं है। अहो! हमलोगों की यह मूर्खता कैसी सुशोभित हो रही है कि हम [बुद्धिमान होकर भी गुरुजनों से] व्यर्थ ही द्रोह कर रहे हैं।

चौपाई— इन्हके मन दुर्योधन भायो। हमरें रहत राजपद पायो॥
भरतबंस कर काज सँवारत। पितु अग्या बहुबिधि अनुसारत॥

इनके विचार से दुर्योधन ही योग्य है, जिसने हमारे रहते ही राजपद प्राप्त कर लिया। ये (पितामह) अपने पिता की आज्ञा का अनुसरण करते हुए भरतवंश का राज-काज भलीभाँति व्यवस्थित किये हुए हैं।

नृप सांतनू राज्य की रक्षा। सेनापति बनि करहिं सुरक्षा॥
अब करिहउँ मैं उनहिं सहाई। अस न करउँ जग होय हँसाई॥

ये अपने पिता महाराज शान्तनु के राज्य की रक्षा के निमित्त सेनापति बनकर उसकी सुरक्षा कर रहे हैं। अब मैं भी इन्हीं का सहयोग करूँगा, यदि ऐसा नहीं करता हूँ तो जगत में मेरी हँसी होगी।

भूल्यो भोर साम घर आयो। तेहिं न कहे कोउ भूलि परायो॥
अति उपकार बिधाता केरी। करउँ न ब्रह्मघात मति फेरी॥

यदि सबेरे का भूला शाम को घर आ जाता है तो कोई उसे भूला हुआ नहीं मानता। हे माधव! [इस न्याय से] विधाता ने हमारे ऊपर बड़ा उपकार किया कि ब्रह्महत्या करने की ओर से मेरी मति को फेर दिया।

धेनु मारि तृन करइ सुरक्षा। यह कस नाथ धरम की रक्षा॥
इनसों राज छीनि यदि लावहिं। रुधिर सनित भोगहिं हम पावहिं॥

हे नाथ! जैसे कोई गाय की हत्या करके उसके चारे की सुरक्षा कर रहा हो, तो यह उसकी कैसी धर्मरक्षा है! यदि इनका यह राज्य हम छीन भी लेते हैं तो निश्चित ही रक्त से सने हुए भोगों को ही तो भोगेंगे!

दोहा— भीख माँगि बरु जियउँ जग इनसन करउँ न रारि।
कस सुख की करुँ कल्पना बंदित गुरुजन मारि॥ १२॥

अत: भले ही जगत में भिक्षा माँगकर जीऊँ किन्तु इनसे युद्ध नहीं करूँगा। अरे! [आपही बतायें कि] इन वन्दनीय गुरुजनों को मारकर सुख की कल्पना कैसे करूँ?

चौपाई— दसरथ सुअन राम इक भयऊ। पितु अग्या यति बेषहिं लयऊ॥
लखनहिं भयो तहाँ तब रोषू। पितु सिर मढ़े सबुइ सब दोषू॥

हे मधुसूदन! अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के राम नामक एक ऐसे पुत्र हुए, जिन्होंने पिता की आज्ञा से तपस्वी का वेश धारण कर लिया। वहाँ उस समय महात्मा लक्ष्मण पिता के सिर पर सारा का सारा दोष मढ़कर उनपर अति कुपित हो गये थे।

कहे राम सन देइ दुहाई। प्रभु अग्या तुव सपथ सुहाई॥
इन्ह सम पिता बंदिगृह डारउँ। राज करहु सुबंधु पथ सारउँ॥

उस समय उन्होंने भगवान श्रीराम से कहा था कि हे प्रभो! मैं आपकी दुहाई देकर सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आप आज्ञा दें तो इनके समान [विषयी] पिता को मैं कारागार में डाल दूँ और आप प्रसन्नतापूर्वक राज्य करें। इस प्रकार मैं एक अच्छे भ्राता के मार्ग का निर्वहन करूँ।

नारि बिबस जे नृप जग आहीं। तिन्ह सन धर्म धरा अकुलाहीं॥
जिमि मदपायी की कोउ बाता। नहिं मानइ बरु धर्म बिधाता॥

[हे प्रभो!] जगत में जो भी राजा स्त्री के वशीभूत होता है, उससे धर्म और धरती दोनों ही व्याकुल हो जाते हैं। जिसप्रकार मद्यपान किये हुए व्यक्ति की बात कोई नहीं मानता, भले ही वह ब्रह्मा के समान धर्म धारण करने वाला ही क्यों न हो।

तिमि पितु महामोह करि पाना। तुम्ह सम सुअन कहहिं बन जाना॥
एहि कारन इन्ह बचन न मानहु। नृपपद धारि धरा सनमानहु॥

उसी प्रकार हमलोगों के [धर्मात्मा] पिता महाराज दशरथ महामोहरूपी मदिरा का पान कर चुके हैं, तभी तो आप जैसे पुत्र को वन जाने के लिए कह रहे हैं। इसलिए आप इनके वचनों का पालन न करें, राजपद स्वीकार कर इस धरा का सम्मान करें।

दोहा— भरत आइ पद लोभ बस जबहिं करहिं संग्राम।
सत्य सपथ प्रभु तव चरन उनहिं पठउँ सुरधाम॥ १३॥

जब भरत राजपद के लोभ में आकर संग्राम करेंगे तो हे नाथ! मैं आपके चरणों की सत्य शपथ लेकर कहता हूँ कि तब मैं उन्हें मारकर स्वर्ग भेज दूँगा।

चौपाई— तब प्रभु राम कहे बिकलाई। लागइ पाप गुनत अस भाई॥
राज प्रजा धन सेन सहाई। नृपति अंग सब जानहु भाई॥

तब भगवान श्रीराम ने अति विकल होकर भ्राता लक्ष्मण से कहा था कि ऐसा मन में विचारने मात्र से भी पाप लगेगा। हे तात! राज्य, प्रजा, सम्पत्ति, सेना तथा सेवक- ये सभी राजा के ही अंग होते हैं।

जेहि चाहइ तेहिं आपुहिं देई। सो स्वीकारि सुजसु जग लेई॥
पितु कर अंग राम कर प्राना। माँगहिं देउँ अबहिं पन ठाना॥

वह जिसे चाहता है अपनी इच्छानुसार उसे [राज्य एवं सम्पत्ति आदि] देता है और वह (लेने वाला) उसे स्वीकार करके जगत में यश का भागी होता है। [हे लक्ष्मण! यदि सच पूछो तो इस] राम का प्राण भी पिता महाराज दशरथ का ही अंग है, यदि वे इसे भी माँगें तो मैं सहर्ष दे दूँगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

पुरु पितु हित निज जौवन दीन्हें। जगत अजगत धवल जस लीन्हें॥
नृप मयूरध्वज सुत हरसाई। देह चिरायो पितु हित भाई॥

[हे लक्ष्मण!] महात्मा पुरु ने अपने पिता [ययाति] के लिए [उनके द्वारा माँगने पर] अपनी जवानी ही दे दी थी जिससे लोक-परलोक में उनका निर्मल यश फैल गया था। राजा मोरध्वज के पुत्र ने पिता के हित के लिए अपने शरीर को [आरे से] सहर्ष चिरवा डाला था।

जियहिं मरहिं जग पुत्र अनेको। पितु हित ब्रत धारइ कोउ एको॥
अस यह राम कहत हरषाई। अबहिं जाय बन पितु हित भाई॥

जगत में अनेक पुत्र जन्म लेते हैं और मरते हैं किन्तु कोई विरला ही पिता के लिए जीवन धारण करने का व्रत लेता है। हे लक्ष्मण! उन्हीं पुत्रों में से एक पुत्र राम भी है जो सहर्ष कहता है कि अपने धर्मात्मा पिता के लिए अभी वन को जायेगा।

दोहा— मधुसूदन एक राम जस पुत्र भये जग माहिं।
हम इक सुअन पितामहहिं धन हित मारन जाहिं॥ १४॥

हे मधुसूदन! इस जगत में एक भगवान राम जैसे पुत्र हुए हैं [जिनका जीवन अपने धर्मात्मा पिता के लिए ही था] एक हम ऐसे पुत्र हैं जो धन-सम्पत्ति के लोभ में अपने पितामह का वध करने को उद्यत हैं।

चौपाई— एक तुम्हरि अस गुरु सेवकाई। दिये लाइ मृत पूत जिलाई॥
सिष्य हमहुँ गुरुसुतहिं सुलाई। रन गरजहिंगे धन जसु पाई॥

[इतना ही नहीं हे माधव!] एक आपकी भी ऐसी गुरु-सेवकाई रही है कि [गुरुमाता की प्रसन्नता के लिए] गुरु के मृत पुत्र को जीवित लाकर सौंप दिया दूसरी ओर हम एक ऐसे शिष्य हैं जो इस युद्ध में गुरुपुत्र का वध कर धन और यश प्राप्त करके गर्जना करेंगे।

कौन बीर की गाथा ऐसी। गावेगो जग हमरी जैसी॥
आग लगे अस छत्रि धरम महँ। रन चढ़ि आये बीर करम महँ॥

अत: हे माधव! हमारी जैसी [कलंकित] गाथा किस वीर की होगी, जिसे संसार [हर्षित होकर] गायेगा। अरे! ऐसे क्षत्रिय धर्म में आग लग जाय जहाँ रणभूमि में आ जाने मात्र से [गुरुजनों से भी] युद्ध करना वीरों का धर्म हो जाता है।

आग लगे अस सिष्य बनन महँ। तन मन धन अरु मोर जनन महँ॥
आग लगे मम गुरू सरन महँ। सस्त्र सास्त्र दिब्यास्त्र सिखन महँ॥

अरे! आग लग जाय ऐसे शिष्य बनने में, तन, मन, धन में, मेरे जन्म लेने में और मेरे गुरु की शरण में जाकर शस्त्र, शास्त्र एवं दिव्यास्त्रों की शिक्षा-दीक्षा लेने में।

आग लगे मम सत कर्मनि महँ। अर्जुन पारथ सब नामनि महँ॥
आग लगे मम बल पौरुष महँ। मोरे सम अस बीर पुरुष महँ॥

आग लग जाय मेरे अब तक के सत्कर्मों में, अर्जुन, पार्थ आदि समस्त नामों में; आग लग जाय मेरे बल एवं पौरुष में तथा मेरे समान [आचरण करने वाले] जगत के समस्त वीर पुरुषों में।

आग लगे तव मित्र पार्थ महँ। मोरे सब परमार्थ स्वार्थ महँ॥
आग लगे तप जोग जाग महँ। बिमल बिराग सु त्याग राग महँ॥

हे माधव! आग लग जाय आपके मित्र पार्थ में, मेरे समस्त स्वार्थ-परमार्थ में, जप, तप, योग एवं यज्ञ तथा विमल वैराग्य, त्याग एवं राग में।

ऋषिहु कहत आपुहिं करुनानिधि। अस कठोर हिय भयो कवन बिधि॥
मम हित गहहु बिरद की लाजा। कुलिस सरिस हिय तुम्हहिं न भ्राजा॥

हे प्रभो! आपको तो ऋषिगण करुणा का भण्डार कहते हैं फिर इतना कठोर हृदय किस प्रकार बना लिया है। हे नाथ! आज मेरे लिए आप अपनी विरद की लाज रखें, ऐसा वज्र हृदय आपमें शोभा नहीं देता।

दोहा— पूछउँ हे प्रभु पायँ परि सिष्य बनाइ बुझाउ।
मोहित चित मम धर्म महँ सत पथ मोहिं सुझाउ॥ १५॥

हे प्रभो! मैं आपके चरणों का शरणागत होकर पूछ रहा हूँ- आप मुझे शिष्य बनाकर ज्ञान का उपदेश करें क्योंकि धर्म के विषय में मेरा चित्त अति मोहित हो गया है, अत: जो सत्य का मार्ग है (जिससे शान्ति प्राप्त होती है) मुझे वही दिखाइए।

चौपाई— जेहि बिधि होइ परम हित मेरो। करहु सोइ कहु सिष्यहु तेरो॥
बरु जगपति सुरपति मैं होऊँ। तउ एहि सोक जनम भरि रोऊँ॥

चाहे जिसप्रकार मेरा परम हित हो, आप वही करें और वही कहें क्योंकि अब मैं आपका शिष्य हो गया हूँ। [मैं समझता हूँ कि इस संग्राम में विजयी होकर] भले ही मैं देवाधिपति ही क्या जगत्पति भी हो जाऊँ तो भी इस [स्वजनवधजनित] शोक-सन्ताप से जीवन भर रोता-कलपता रहूँगा।

एहि उर दाह न पावउँ पारा। बरु बहु जनम करउँ तप भारा॥
नहिं नहिं माधव युद्ध न करिहौं। अरु कछु कहउ सीस सब धरिहौं॥

भले ही मैं अनेक जन्मों में चाहे जितना घोर तप कर लूँ किन्तु हृदय के इस घोर सन्ताप (जलन) से मैं मुक्त नहीं हो पाऊँगा। अत: नहीं, हे माधव! नहीं, मैं युद्ध नहीं करूँगा! हाँ, इसके अतिरिक्त आप जो कुछ भी कहेंगे वह सब सिर-आँखों धारण करूँगा।

अस कहि मौन परंतप धारे। बीर चकित चित चितवहिं सारे॥
महराजहिं यहु छबि अति भावइ। ताकर बीज अबिद्या गावइ॥

ऐसा कहकर परंतप अर्जुन मौन हो गये, सभी योद्धा आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। महाराज को यह छवि अति प्रिय लग रही है, वह उसका (अर्जुन के मोहमय व्यवहार का) मूल कारण एकमात्र अविद्या बता रहा है।

अबलौं अर्जुन कर उपदेसो। जीवदसा कर यह संदेसो॥
सुनहु सजग सुचि साधक जोऊ। राग द्वेष त्यागहु अब दोऊ॥

अब तक महात्मा अर्जुन द्वारा जो उपदेश किया गया है वह एकमात्र जीवदशा का संकेत कर रहा है। अत: जो पवित्र साधक हैं सजग होकर सुनें, अब [भक्त अर्जुन की स्थिति को देखते हुए] राग-द्वेष दोनों का त्याग कर दें।

जितनो द्वेष जगत महँ बाधत। उतनोइ राग ताहि बिधि साधत॥
बंधन हेतु असुभ ब्यवहारा। तस बाधक सब सुभ आचारा॥

जगत में जितना द्वेष बाधक है, उतना ही [साधक के चित्त को] राग भी बाँधता है। यद्यपि अशुभ व्यवहार ही बन्धन का हेतु कहा जाता है परन्तु [अध्यात्म पथ में तो] शुभ व्यवहार भी उसी के समान बन्धन-कारक कहा गया है।

बाँधति जीव क्रूरता जितनी। दया दिलाय अधिरता उतनी॥
असुर भाव जिमि जीव नचावत। तिमि दैवी भावहु भरमावत॥

जीव को जितनी क्रूरता बाँधती है, उसी के समान दया भी अधैर्य उत्पन्न कर देती है [और अध्यात्म से विमुख कर देती है]। जिसप्रकार आसुरी भाव जीव को नचाते रहते हैं उसी प्रकार दैवीभाव भी [अध्यात्म पथ में कभी-कभी] जीव को भ्रमित कर देते हैं (भ्रम में डाल देते हैं)।

सुभ अरु असुभ सबहि सम होई। संत बिसुद्ध जान कह जोई ॥
भक्तियोग महँ हरिहि बताये। तहँ लखु सत्रह मंत्र सुहाये॥

इसलिए जो यथार्थ मर्म को जानने वाले भगवत् सिद्ध सन्त हैं, वे शुभ और अशुभ दोनों को एक समान समझने के लिए कहते हैं। स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द भी भक्तियोग (बारहवें अध्याय) में ऐसा ही कहते हैं, जिसे वहाँ सत्रहवें मंत्र में देखें (शुभाशुभपरित्यागी.....)।

देखहु गति दुर्योधन केरी। दीन्ह द्वेष कस तेहि मति फेरी॥

[स्वयं आप] दुर्योधन की दशा देखें कि द्वेष ने उसकी बुद्धि को किस प्रकार विपरीत कर दिया है।

दोहा— जहँ चाहत सो द्वेष बस करन महासंग्राम।
तहँ पांडव निज राग बस अस न चहत कोउ काम॥ १६॥

जहाँ वह द्वेष के वशीभूत होकर महासंग्राम करना चाहता है, वहीं पाण्डव (महात्मा अर्जुन) राग के वशीभूत होकर इस प्रकार का कोई भी कार्य (संग्राम) नहीं करना चाहते।

चौपाई— आज मोह बस अर्जुन भागत। मानत नहिं निज धर्महिं त्यागत॥
राग द्वेस सत्रू अस बीरा। घेरे द्रोन भीष्म सम धीरा॥

आज महात्मा अर्जुन राग के कारण ही भगवान की भी न मानते हुए स्वधर्म का परित्याग कर धर्मयुद्ध से भाग रहे हैं। ये राग और द्वेष रूप महाशत्रु ऐसे बलवान योद्धा हैं जिन्होंने आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जैसे धीर बुद्धि वालों को भी अपने घेरे में ले लिया है।

नहिं संदेह सास्त्र बिद्वाना। नृप धृतराष्ट्र मनाव न माना॥
पर निज मनहिं मनाइ न पाये। जानि बूझि अघ करनैं धाये॥

इसमें सन्देह नहीं कि ये शास्त्र एवं पुराणों के विद्वान हैं, इन्होंने राजा धृतराष्ट्र को [हर सम्भव प्रयत्न करके] मनाया, किन्तु वे नहीं माने। परन्तु ये (दोनों) अपने मन को भी तो नहीं मना पाये बल्कि राग (मोहासक्ति) के कारण जान-बूझकर पाप कर्म करने को तत्पर हैं।

कहत रहे यह नृप अबिबेकी। निज पन राखत अस बड़ टेकी॥
धर्म गूढ़ता अस ये जानहिं। पर नहिं अपुनि मूढ़ता मानहिं॥

राजा धृतराष्ट्र को तो ये कहते रहे कि यह महा अविवेकी और ऐसा हठी है कि अपनी ही बात रखना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि ये धर्म के गूढ़ रहस्यों को जानते हैं परन्तु अपनी अज्ञानता नहीं मान रहे हैं।

तातें द्रोण भीष्म नृप मोहा। महाबीर अर्जुन कर छोहा॥
मोह सबनि के एक समाना। कहउँ बिचारहु सिद्ध सुजाना॥

इसलिए मोह चाहे आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र का हो अथवा महावीर अर्जुन का, मैं कहता हूँ मोह तो सबका एक समान ही है। मेरे इस कथन पर सिद्ध एवं बुद्धिमान विचार करें।

द्रोण नृपहिं निज सुत सों मोहा। गंगापुत्रहिं पितु कर छोहा॥
मोहित अर्जुन स्वजन सगे सों। धर्म दुहाई देत ठगे सों॥

[आप देखें तो सही कि] आचार्य द्रोण एवं राजा धृतराष्ट्र का मोह अपने-अपने पुत्रों से है, गंगापुत्र भीष्म का मोह अपने पिता से है तथा अर्जुन का मोह अपने स्वजन-सम्बन्धियों से है जिस मोह के द्वारा ठगे जाकर वे धर्म की दुहाई दे रहे हैं।

मोह धनंजय कर बरु ब्यापक। यहउ महाबाधक अरु तापक॥
अर्जुन मोह भलेइ कोउ भाई। सुभ अरु सास्त्रिय कह हरषाई॥

यद्यपि भक्त अर्जुन का मोह थोड़ा व्यापक है किन्तु यह भी महाबाधक और शोक-सन्ताप देने वाला ही है। भले ही कोई भक्त अर्जुन के मोह को प्रसन्नतापूर्वक शास्त्रीय एवं शुभ कहता रहे-

पर सुभ असुभ मोह एक बाता। तातें भगत न एहिं मन राता॥

परन्तु मोह शुभ हो या अशुभ, बात तो एक ही है। इसलिए भक्त का मन इसमें (शुभ या अशुभ- किसी भी प्रकार के मोह में) आसक्त नहीं होता।

दोहा— अपुनेइँ ढंग नचावइ मोह बिबस जग नाच।
महाराज कह झूठ यदि पंच कहहु का साँच॥ १७॥

मोह सारे जगत को अपने ढंग से नचाता है और लोग विवश होकर नाचते हैं, यदि महाराज झूठ कह रहा है तो पंचजन निर्णय करके सत्य क्या है उसकी घोषणा करें।

मासपारायण, तीसरा विश्राम

चौपाई— स्वयं कहइ महाराज सचाई। बहुत जनम यह मोहिं भरमाई॥
यह करुणा सदगुरु की भाई। ज्ञान देइ अब लीन्हि छुड़ाई॥

स्वयं महाराज सत्य कह रहा है कि बहुत जन्मों तक इस मोह ने मुझे भी भरमाया है। हे सज्जनो ! यह तो सद्गुरु की अपार करुणा है कि उन्होंने अब ज्ञान देकर मुक्त करा लिया।

राग द्वेष बर सुत तम केरे। भुजा मरोरि बनावहिं चेरे॥
नित्य बिषय कर इनिकहँ आसा। मन बुधि चित महँ इनिकर बासा॥

राग और द्वेष अविद्या के दो वरद पुत्र हैं, जो बलपूर्वक सबको अपना दास बना लेते हैं, इन्हें सदा विषय की आशा लगी रहती है क्योंकि सभी के मन, बुद्धि, चित्त में इनका बसेरा है।

तिन्हकर नास करावहु जाई। ब्रह्मरूप सदगुरु सरनाई॥
नातरु भीष्म द्रोण सम मरहू। हाय हाय अंधे जस करहू॥

उन [राग-द्वेषरूपी शत्रुओं] का आप ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु के शरणागत होकर [उन्हीं से] नाश करा लें अन्यथा आप भी भीष्म और द्रोण के समान तड़पते हुए मरेंगे, अन्धे धृतराष्ट्र के समान हाय-हाय करते रहेंगे।

बाहर जुद्ध हृदय बिच जुद्धा। यदि त्यागहु सब होहिं बिरुद्धा॥
आपुन सदन सबहिं बरु भावत। किंतु सोउ रणभूमि कहावत॥

बाहर (संसार में) तो युद्ध हो ही रहा है किन्तु आपके हृदय के भीतर भी ऐसा ही युद्ध हो रहा है, यदि इन दोनों युद्धों को त्याग देते हैं तो सभी [निश्चित ही आपके] विरोध में खड़े हो जायेंगे। भले ही अपना घर सबको अत्यन्त प्रिय लगता है परन्तु वह भी तो संग्राम-भूमि ही है!

दोहा— जहँ उनसों लरि बन भगैं पुनि भय बस अज्ञात।
भवनहिं आवहिं लौटि निज कलह होय दिन रात॥ १८॥

जहाँ उन लोगों से लड़-झगड़कर [बहुत-से लोग] वन को भाग जाते हैं किन्तु पुनः किसी अज्ञात भय के कारण अपने घर लौट आते हैं; इस प्रकार दिन-रात कलह होता रहता है।

चौपाई— घरिनि करइ रिपु सम ब्यवहारा। सोचइ कब पावउँ निस्तारा॥
पतिहु न चहत नारि अस भाई। मन चाहइ यह जाइ पराई॥

[ऐसा भी होता है कि] पत्नी अपने पति से शत्रु के समान व्यवहार करती है, सोचती है कि कब इस [पिशाच] से छुटकारा मिले। पति भी ऐसी स्त्री नहीं चाहता, मन ही मन कामना करता रहता है कि कब यह [डाकिनी] कहीं अन्यत्र चली जाय।

सुत सों बैर पितहिं तब होई। माँगइ जबहिं स्वामिपद सोई॥
सपनेहुँ सुतहिं न पिता सुहाई। निज कर्मन्हि जब देइ दुहाई॥

वैसे ही पिता को पुत्र से तब वैर हो जाता है जब वह उससे गृहस्वामी का पद माँगता है। पुत्र को पिता स्वप्न में भी प्रिय नहीं लगता, जब अपने कर्मों की दुहाई देते हुए-

कहत न लखु कस लाइ खिलावउँ। निसदिन करि करि मरि मरि जावउँ॥
मोरे भाग्य जियै सठ कबलौं। चेतु निलज्ज करै कछु अबलौं॥

कहता है कि नहीं देखते हो किस प्रकार लाकर खिला रहा हूँ। अरे! रात-दिन कर-करके मरा जा रहा हूँ।

अरे सठ! मेरे भाग्य से कब तक जिओगे। अरे निर्लज्ज! अभी भी तो चेत कर कुछ कर्म करो।

बंधु बंधु महँ छनिक दुलारो। बड़े भये सुत होयँ निआरो॥
मित्र धरम निज मन सों रचई। झगरत झगरत निस दिन बचई॥

भाई-भाई में भी दो दिन का ही [दिखावे का] प्रेम होता है। [विवाह होने के उपरान्त] बाल-बच्चों के बड़े होने पर वे अपनी-अपनी रोटी अलग सेंकने लगते हैं। उसी प्रकार [मित्रों की भी यही कहानी है] वे मैत्री धर्म की अपने मन से व्याख्या करके दिन-रात झगड़ते-झगड़ते बचते रहते हैं।

पूर्ब बैरि जमघट गृह लागा। तउ हरिसरन न जाहिं अभागा॥

इस प्रकार गृहस्थाश्रम में [प्रारब्धानुसार] पूर्व जन्म के बहुत-से वैरियों का जमघट लगा हुआ है तो भी वे अभागे भगवान की शरणागति स्वीकार नहीं कर पाते।

दोहा— दुखित परस्पर पांडवहु कौरव आह भराहिं।
झगरि झगरि पसु पक्षि अस जुग जुग बीतत जाहिं॥ १९॥

ठीक वैसे ही पाण्डव और कौरव भी परस्पर दु:खी होकर आहें भर रहे हैं। इसी प्रकार सभी परस्पर पशु-पक्षियों की तरह लड़ते-झगड़ते रहते हैं ऐसा करते युग-युगान्तर बीत जाते हैं।

चौपाई— अब देखहु गृह की कस झाँकी। टेढ़ी खीर रहन जहँ आँकी॥
दुर्योधनहु नृपहिं अति प्यारा। पर नहिं प्रिय ताकर ब्यवहारा॥

अब गृहस्थाश्रम की कैसी झाँकी है इसको देखें, जहाँ रहना टेढ़ी खीर माना जाता है। दुर्योधन अपने पिता राजा धृतराष्ट्र को अत्यन्त प्रिय है परन्तु उसका व्यवहार उन्हें प्रिय नहीं है।

धुनहिं सीस निसि दिन तेहि कारन। मन लरि मरहिं न होइ निबारन॥
पितु सन दुर्योधन नित लरई। मनहीं मन उनसों अति जरई॥

उसीकारण वे दिन-रात माथा पीटते रहते हैं तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो मन ही मन [द्वन्द्व में पड़े हुए] मृत्यु तुल्य कष्ट उठाते रहते हैं। उसी प्रकार दुर्योधन भी पिता से नित्य लड़ता-झगड़ता रहता है तथा उनसे मन ही मन बहुत ईर्ष्या करता रहता है।

डरत पितामह सों उर भारी। नातरु पितहिं गरल दै मारी॥
गंधारिहु बिकलाति मनहिं मन। आग लगे प्रभु अस तन मन धन॥

[सच पूछा जाय तो] वह पितामह भीष्म से मन ही मन बहुत डरता रहता है अन्यथा वह [कभी का] अपने पिता को विष देकर मार दिया होता। उसकी माँ गान्धारी [उसके व्यवहार से] मन ही मन विकल होकर प्रार्थना करती रहती है कि हे प्रभो! ऐसे तन, मन, धन में आग लग जाय।

नृप गंधारी सों बहु चीड़त। सत जब कहति बहुत बिधि पीड़त॥
सकुनी कर्ण कटत मन अंदर। मानहु दुइ एक राज पुरंदर॥

राजा धृतराष्ट्र साध्वी गान्धारी से बहुत चिढ़ते रहते हैं। जब वह सत्य कहती है तो वे अत्यन्त पीड़ित हो उठते हैं। शकुनि और कर्ण मन ही मन एक-दूसरे से कटते रहते हैं, मानो एक ही लोक के दो इन्द्र हों।

दोहा— रहहिं संग सब मोहबस कोउ तजि काहु न जाहिं।
बन पसु जिमि चाटत चुटत तिमि रहि दिवस बिताहिं॥ २० (क)॥

इस प्रकार सभी मोह के वशीभूत होकर एकसाथ रहते हैं, एक-दूसरे को छोड़कर कहीं जा भी नहीं पाते। जिसप्रकार वनपशु परस्पर चाटते-चूटते दिन बिताते हैं, वैसे ही सभी लोग [मात्र औपचारिकता वश झूठे ही गले मिलकर हालचाल पूछकर] समय व्यतीत करते रहते हैं।

बिदुर बसहिं गृह संत सम करहिं सोइ ब्यवहार।
जब न सुनेउ कोउ तिन्ह बचन गये बिपिन हरि धार॥ २० (ख)॥

हाँ, महात्मा विदुर गृहस्थाश्रम में सन्तों के समान व्यवहार करते हुए निवास कर रहे हैं। जब उनकी बात को

किसी ने (धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोणाचार्य एवं पितामह भीष्म आदि ने) नहीं सुना तो वे प्रभु को हृदय में धारण कर वन चले गये।

चौपाई— बिदुर सरिस सबके बिच रहहू। प्रभु चित लाइ सबन्हि हित कहहू॥
जब न सुनहिं तब जाहु पराई। बिदुर गये अस तुम्हहिं सिखाई॥

[महाराज तो आप जैसे भक्तों से कहता है कि] आप विदुर जैसा [व्यवहार करते हुए] सबके बीच में रहें तथा भगवान को हृदय में धारण कर सबके हित की बात कहें। जब कोई न सुने तो आप [संन्यास लेकर उन्हीं के जैसा] कहीं अन्यत्र चले जायँ- महात्मा विदुर आपके लिए यही शिक्षा देकर गये हैं।

महाराज पूछत सब पाहीं। अस न होय का तव गृह माहीं॥
पुनि काहे नहिं करहु चिकित्सा। एहि जीवन महँ का बड़ लिप्सा॥

महाराज आप सबसे पूछता है कि क्या आपके घर में ऐसा [कलहमय वातावरण] नहीं है? [यदि है तो] फिर आप उसकी चिकित्सा क्यों नहीं कर रहे हैं? [ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त] इस जीवन में आपकी कौन बड़ी इच्छा है [जिसके लिए सबके उत्पातों को सहन कर रहे हैं]।

जब सब साधत बैर पुरानो। तब काहे नहिं होत परानो॥
सदगुरु बैद्य सरन गहु भाई। जहाँ गये सब भाँति भलाई॥

जब सभी अपने पूर्व जन्म के वैर को ही साध रहे हैं, तब आप उनलोगों से दूर क्यों नहीं भाग जाते। हे भाइयो! आप सद्गुरुरूपी वैद्य की शरण में चले जायँ, जहाँ जाने से सर्वथा कल्याण ही होगा।

कथा सुनहु इक साधक बृंदा। सुमिरहु ब्रह्म सच्चिदानंदा॥
देख्यों मैं एक भगत सुजाना। जो नित करइ हरिहिं गुन गाना॥

हे साधकगण! एक कथा सुनें और उससे प्रेरणा लेकर आप सच्चिदानन्द भगवान के स्मरण में लग जायँ। मैंने एक परम बुद्धिमान भक्त को देखा जो निरन्तर प्रभु के गुणगान में लगा रहता था।

तेहि एक संत मिलहिं मग जातहिं। बंद्यो सो प्रभु पद जलजातहिं॥
चलेउ संग सुनतहिं सतसंगा। कह मुनि बहु आये मम संगा॥

रास्ते में जाते हुए उसकी एक सन्त से भेंट हो गयी, उस भक्त ने उन सन्त के कमलवत् चरणों की बारम्बार वन्दना की। कुछ दूर तक सत्संग सुनते हुए गया, तब सन्त ने कहा कि तुम मेरे साथ बहुत दूर तक चले आये हो।

दोहा— प्रमुदित मन अब जाहु गृह सुमिरहु ब्रह्म अनंत।
सुद्ध सच्चिदानंदघन जाहि भजहिं सब संत॥ २१ (क)॥

अत: प्रसन्न मन से घर लौट जाओ वहीं शुद्ध सच्चिदानन्दघन अनन्त परमात्मा का भजन करते रहो जिसके ध्यान में सभी सन्त रमण करते रहते हैं।

सोरठा— भगत कह्यो कर जोरि कस गृह माँ पितु स्वजन मम।
प्रभु मोहिं कहउ बहोरि जाउँ लौटि तब भवन निज॥ २१ (ख)॥

भक्त ने अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा कि हे प्रभो! घर, माता-पिता और स्वजन मेरे कैसे हो सकते हैं? यदि आप मुझसे इस रहस्य को बता दें तो मैं अपने घर लौट जाऊँ।

चौपाई— को मैं पुत्र काहि कस भ्राता। किहिं कारन बस ये सब नाता॥
केहि नाते मैं उन्ह पहिं जावउँ। खात पियत सुख सांति न पावउँ॥

हे प्रभो! मैं कौन हूँ, किसी का पुत्र क्यों हूँ तथा किस कारण से किसी का भाई हूँ? किस प्रकार ये सब नाते (सम्बन्ध) बने हुए हैं? मैं किस नाते उनके पास जाऊँ? [ऐसा सोचते हुए] मैं [घर में रहकर] खाता-पीता तो हूँ किन्तु शान्ति नहीं मिल रही है।

ते सब खावत पीवत सोवत। पतो न काह बोझ सिर ढोवत॥
मैं इक अहउँ सबहिं बिधि दीना। सांति न उर गृह कारज लीना॥

वे सब [सदा] खाते-पीते, सोते हुए [दिन व्यतीत कर रहे हैं] पता नहीं किन कर्मों का बोझ सिर पर ढो रहे

हैं। एक मैं ही हर प्रकार से ऐसा दीन-हीन हूँ, जो समस्त कार्य तो कर रहा हूँ किन्तु हृदय में शान्ति नहीं है।

क्षण भंगुर सब जानत भोगहिं। पापरूप अरु अंतहुँ रोगहिं॥
सब महँ सुख खोजहिं ते मृगवत। अंतहिं गति होवे नृप नृगवत॥

सभी जानते हैं कि भोग क्षणभंगुर हैं, पापरूप हैं और अन्तकाल तक रोग ही देते रहते हैं तो भी वे मृग [के द्वारा मृगमरीचिका में जल खोजने] के समान सर्वत्र सुख खोजते रहते हैं तथा अन्तिम समय में राजा नृग की दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

बरु स्वतंत्र अपुने कहँ मानहिं। पर परतंत्र उनहिं मुनि जानहिं॥
सब जानत जग माया खेला। फिरत तोउ सिर धरे झमेला॥

भले वे अपने को स्वतंत्र मान रहे हों पर सन्त उन्हें परतंत्र ही जानते हैं। सभी जानते हैं कि यह सारा जगत माया का ही खेल है, फिर भी सिर पर नाना प्रकार के झंझट-झमेले का बोझ ढोते हुए घूम रहे हैं।

याकर कारन जान न पायों। तातैं अबलौं दुख भटकायों॥
अब बताइ एहि आपु कृपाला। हरहु मोर दुख दीनदयाला॥

हे प्रभो! मैं आज तक इसका कारण नहीं जान पाया, इसी कारण अब तक दु:खों में भटक रहा हूँ। अत: हे कृपा के सागर! हे दीनों पर दया करने वाले! आप इसका समाधान कर मेरे दु:खों का हरण करें?

कहे संत सुनि मन मुसुकाई। जब तोरी मति ऐसी भाई॥
तब चलु बिपिन संग मम ताता। कछु दिन महँ बूझइ सब बाता॥

ऐसा सुनकर सन्त मन ही मन मुस्कराते हुए बोले- हे तात! जब तुम्हारी ऐसी ही निर्मल बुद्धि है तो मेरे साथ वन को चलो, वहाँ कुछ काल के उपरान्त इन सभी रहस्यों को जान जाओगे।

दोहा— ब्रह्मचरज ब्रत पालि सो गुरु ढिंग रह हरषाय।
सेवइ मन बच करम सों गूढ़ नित्य दरसाय॥ २२ (क)॥

वह भक्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके प्रसन्नतापूर्वक गुरु के पास रहने लगा। वह मन, वचन एवं कर्म से सन्त की सेवा-शुश्रूषा करने लगा जिससे उसे नित्य ही गूढ़ रहस्यों की अनुभूतियाँ होने लगीं।

ध्यानयोग सों ध्यावई संसय सोक नसाय।
योग समाधिहिं पावई तेहि सुख मन रमि जाय॥ २२ (ख)॥

वह [नित्य ही] ध्यानयोग से ब्रह्म का ध्यान करने लगा, जिससे संशय-शोक आदि का नाश होने लगा। उसके उपरान्त उसे योगसमाधि प्राप्त हो गयी फिर तो उसी सुख में उसका मन रमण करने लगा।

चौपाई— एहि बिधि गयो मास षट बीती। बिघ्न करइ माया जस रीती॥
ताकर ज्येष्ठ बंधु इक आहीं। तेज प्रताप सील गुनग्राहीं॥

इस प्रकार छ: माह व्यतीत हो जाने पर माया ने विघ्न उपस्थित किया, जैसी कि परम्परा है। [हुआ ऐसा कि] उस साधक का एक बड़ा भाई था जो तेज, प्रताप, शील तथा गुणों में बढ़ा-चढ़ा था।

धीर बीर अरु धर्म जुझारू। सबहिं प्रान प्रिय गृह परिवारू॥
सोवतही बैरी तिन्हि मारे। सब परिहरि सुरधाम सिधारे॥

वह धीर-वीर एवं धर्म के लिए मर-मिटने वाला था, इसीकारण घर परिवार के साथ-साथ सभी को प्राणों से भी प्रिय था; निद्रावस्था में ही वैरियों ने उसकी हत्या कर दी और वह सब कुछ छोड़कर देवलोक चला गया।

इहँ सुनि साधक मति बिकलानी। मनहुँ साँप मनि गई हिरानी॥
जप तप ब्रत सब जोग भुलाना। लखि गुरु हँसैं ताहि बिकलाना॥

यहाँ [सन्त के पास रहने वाले] साधक ने जब यह सुना तो उसकी बुद्धि मोह से अति व्याकुल हो गयी, मानो किसी सर्प की मणि खो गयी हो। अब वह जप, तप, योग सब भूल गया। उसकी ऐसी विकलता देखकर सद्गुरु मन ही मन हँस रहे थे।

पूछत भयो काह मन मारे। क्यों चुप बैठ्यो जोग बिसारे॥
तुव सम कोउ बिरले बैरागी। केहि कारन माया यह जागी॥

उन्होंने पूछा- अरे! ऐसी क्या बात हो गयी कि उदास रहते हो, [जप-तप] योग आदि त्याग कर चुपचाप क्यों बैठे रहते हो? अरे! तुम्हारे समान वैराग्यवान तो कोई विरला ही होता है, फिर किस कारण से यह माया प्रकट हो गयी है?

सिष्य कहत गुरु सों मुरुझाई। जेष्ठ बंधु मम गये मराई॥
मेरो मन गृह उनसेइँ लाग्यो। औरनि सों न कबहुँ अनुराग्यो॥

शिष्य ने मुरझाये हुए मन से बताया- गुरुदेव! मेरे बड़े भाई मार डाले गये हैं। [घर में] मेरा मन मात्र उन्हीं से लगा था किसी अन्य के प्रति अंशमात्र भी आसक्त नहीं था।

मातु पितहिं सुत तिय नहिं जान्यों। मन महँ मात्र उनहिं बहु मान्यों॥
उनकेउँ मो पर अति बिस्वासा। याहि सुमिरि मन भयो उदासा॥

मैंने माता-पिता, स्त्री, पुत्र को कभी महत्त्व नहीं दिया, हृदय में केवल उन्हें ही विशेष महत्त्व देता रहा। उनका भी मुझ पर बड़ा विश्वास था, यही स्मरण कर मन उदास हो गया है।

दोहा— कहाँ गये का करि रहे अब प्रभु मोहि लखाव।
बेद ब्यास सम लाइ उन्ह मोरी तपन बुझाव॥ २३॥

हे प्रभो! वे कहाँ गये हैं, इस समय क्या कर रहे हैं? यह सब मुझे आप दिखा दें। महर्षि व्यास के समान आप उन्हें मेरे सामने लाकर मेरे सन्ताप को दूर करें [जैसे उन्होंने महाभारत के युद्ध में मृत कुरुवंश की आत्माओं को पुनः दिखाकर सबका शोक-सन्ताप दूर कर दिया था]।

चौपाई— कह गुरु का जान्यो निज गातुहिं। जानन चाहउ जो अब भ्रातुहिं॥
प्रथमहिं मिलन सुरति करु ताता। मग महँ कही जोइ जोइ बाता॥

तब गुरुदेव ने उस भक्त से कहा कि क्या तुम अपने आप को जान गये हो जो अब भाई को जानने की इच्छा कर रहे हो? हे प्रिय! अपने प्रथम मिलन की बातें याद करो कि तुमने रास्ते में आते हुए मुझसे क्या-क्या कहा था?

सो कहँ गयो आज बैरागा। महामोह केहि कारन जागा॥
तब न कह्यो बंधुहिं तव प्राना। अस मति हुती काह पन ठाना॥

अरे! आज वह वैराग्य कहाँ चला गया, यह महामोह किस कारण से प्रकट हो गया? उस समय तो तुमने यह नहीं कहा था कि मेरा बड़ा भाई ही मुझे प्राणों से प्रिय है! जब तेरी ऐसी ही बुद्धि थी तो [ब्रह्म, माया एवं स्वयं को जानने की] प्रतिज्ञा क्यों की थी?

जप तप योगभूमि महँ आई। करहु अलौकिक जहाँ लराई॥
एक पक्ष मायामय योधा। अपर पक्ष तव हृदय प्रबोधा॥

तुम जप, तप, योग की भूमि में आये हो, जहाँ अलौकिक युद्ध कर रहे हो। एक तरफ मायामय योद्धा हैं तो दूसरी तरफ तुम्हारा [अब तक का] ज्ञान है।

जो माया उर भीतर रहई। सोइ सगुन होइ बाहर बहई॥
ताकोइ नाम मातु पितु भाई। हित मित सुत धन मान बड़ाई॥

अरे! जो माया हृदय के भीतर वास करती है, वही सगुणरूप धारण कर बाहर भी प्रवाहित होती रहती है। उसी माया का नाम माता, पिता, पुत्र, भाई, हित, मित्र, धन तथा मान-सम्मान है।

अस जिय जानि करहु यह युद्धा। बंधु मोह एहि काल बिरुद्धा॥
होय चित्त जब परम बिसुद्धा। तब जावे यह मोह असुद्धा॥

ऐसा हृदय में जानकर इस [आध्यात्मिक] युद्ध में लगे रहो। इस समय भाई के प्रति होने वाले मोह को स्वीकार करना धर्म विरुद्ध है। जब चित्त अति निर्मल हो जायेगा तो यह अशुद्ध मोह [स्वतः ही] चला जायेगा।

दोहा— तब देखहु धरि ध्यान महँ ज्येष्ठ बंधु कहँ आहि।
सन्मुख आइ बतायेगो करहु प्रेम तब ताहि॥ २४॥

तब तुम ध्यान में ही संकल्प करके देख लेना कि तुम्हारा बड़ा भाई कहाँ है और जब वह [तुम्हारे आवाहन से] सामने आकर तुम्हें बतायेगा तब उससे प्रेम कर लेना।

चौपाई— साधकगन एहि चिंतन धारी। गति मति मन निज लेहिं निहारी॥
सत्य दिसा का इन्हकीं आही। यदि नहिं तो अतिहीं पछिताही॥

इस प्रसंग पर विचार करके साधकगण अपने व्यवहार, बुद्धि तथा मन को अच्छी प्रकार देख लें कि क्या इनकी दिशा उचित है ? यदि ऐसा नहीं है तो अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

बिमल भक्त अर्जुन सम धाई। बिनय करउ गुरुसन बिकलाई॥
हे दयालु सरणागत रक्षक। महाकाल मम कालहिं भक्षक॥

अत: विमल भक्त महात्मा अर्जुन के समान शीघ्रता से सद्गुरु के सामने जाकर अपनी व्यथा को समर्पित कर प्रार्थना करें कि हे दयालु! हे शरणागतों की रक्षा करने वाले! हे महाकाल! हे मेरे काल के भी भक्षक!

आरत हरु प्रभु आर्तजनन की। देहु मार्ग परमार्थ गमन की॥
सबके हित लगि तव अवतारा। उन्ह महँ मोर उतारहु भारा॥

हे प्रभु! आर्तजनों की आर्तता को आप हरण करें और अब मेरे परमार्थपथ पर चलने का मार्ग प्रशस्त करें। आपका अवतार तो सबके उपकार के लिए ही हुआ है, उन्हीं में से एक मैं भी हूँ अब मेरा भार उतार दें।

सब जग सों आयउँ भयभीता। तुम्ह पितु मातु बंधु सच मीता॥
भव सागर अब पार उतारहु। पतित उधारन नाम सम्हारहु॥

हे गुरुदेव! मैं समस्त जगत से भयभीत होकर आपकी शरण में आया हूँ, अब आप ही मेरे माता-पिता, बन्धु और सच्चे मित्र हैं। अत: अब मुझे इस भवसागर से पार उतारकर अपने पतितपावन नाम को सार्थक करें।

दया करहु हे दीन दयाला। निज बालक पालहु प्रतिपाला॥

हे दीनों पर दया करने वाले! हे शरणागत रक्षक! अब दया करके अपने इस बालक की रक्षा करें।

सोरठा— लखि आगे कर हाल महाराज तुम्ह सों कहत।
जहँ अर्जुन बेहाल दसा नाहिं देखत बनइ॥ २५॥

हे श्रोताओ! महाराज अब आगे की स्थिति देखकर आपसे कह रहा है, जहाँ महात्मा अर्जुन की दशा ऐसी दयनीय हो गयी है कि देखते नहीं बनती।

चौपाई— गुडाकेस जब सरनहिं भयऊ। तब हरि अभयदान तिन्ह दयऊ॥
जय गोबिंद कहि नाये माथा। आज सिष्य भयों तुम्हरें नाथा॥

जब निद्राविजयी अर्जुन भगवान के शरणागत हो गये और भगवान नारायण ने भी उन्हें अभयदान दे दिया तब उन्होंने 'जय गोविन्द!' कहकर प्रणाम किया और कहा कि हे नाथ! आज मैं आपका शिष्य होता हूँ।

अब लगि गयों न सदगुरु सरना। जद्यपि भव तारक तिन्ह चरना॥
आज भयों जग महँ निष्पापा। हरहु मोर प्रभु उर संतापा॥

अब तक मैं सद्गुरु की शरण में नहीं गया था, जबकि उनके ही चरण-कमल संसार-सागर से तारने वाले हैं। हे प्रभो! आज मैं जगत में निष्पाप हो गया, अत: आप मेरे हृदय का शोक-सन्ताप दूर करें।

प्रभु यह घोर बिपति भयदायक। याहि बिनासि करहु निज लायक॥
कोमलचित कृपालु कहलावहु। हरहु बिपति अब नहिं बिकलावहु॥

हे नाथ! यह अत्यन्त भय को देने वाली विपत्ति आ पड़ी है, अत: इसका नाश करके मुझे अपने योग्य बना लें। आप तो कोमलचित्त वाले एवं कृपालु कहे जाते हैं इसलिए इस विपत्ति का नाश करें अब और व्यथित न करें।

अस कहि पार्थ रहे अरगाई। प्रभुहु मनहिं मन दिन्हिं बड़ाई॥
हे राजन तब प्रभु मुसुकाई। गावन लगे ज्ञान मधुराई॥

ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन मौन हो गये, तब प्रभु ने मन ही मन उनकी प्रशंसा की। हे राजन्! तब शुद्ध सच्चिदानन्दघन भगवान मुसकुराते हुए ज्ञानमय मधुर गीत गाने लगे।

उभय सेन बिच गावहिं गीता। जेहि गावत नर सब जग जीता॥

दोनों सेनाओं के मध्य भगवान जो गीत गा रहे हैं, वही 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। जिसका गायन (पाठ) करके मनुष्य सारे जगत पर विजय प्राप्त कर लेता है।

छंद—　गावन लगे प्रभु गीत गीता ब्रह्मबिद्या मुनि कहें।
बिहँसत बदन नहिं बनइ बरनत संत सुर मन गुनि रहें॥
पद पद्म उर महराज धरि लिख भाष्य भाग्य सराहिके।
संजय कहहिं सब नृपति सों ते सुनत हृदय कराहिके॥

जब भगवान नारायण गीतारूपी गीत गाने लगे तो महर्षि व्यास ने उस गीत को ब्रह्मविद्या नाम दिया। गीता गाते हुए प्रभु की मुखछवि का वर्णन करते नहीं बनता, सन्त तथा देवता भी मन ही मन उसका अनुभव कर रहे हैं। महाराज तो भगवान के पादपद्मों को हृदय में धारण कर अपने भाग्य की सराहना करते हुए यह भाष्य लिख रहा है। उधर सञ्जय भी राजा धृतराष्ट्र से यह सब यथावत् कह रहे हैं, जिसे वे हृदय से कराहते हुए सुन रहे हैं।

दुहुँ सेन बिच प्रभु पार्थ सोभत दिब्य दूलहु बतकई।
जनु ब्याहने बारात लाये बंस कुरु कछु कसकई॥
अगवान हित जनु नृपति कौरव पक्ष सों बहु आवहीं।
ब्याहहिं बिजय कीरति सुता दोउ कृष्ण अर्जुन भावहीं॥

दोनों सेनाओं के मध्य भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवं महात्मा अर्जुन ऐसे शोभा दे रहे हैं जैसे [बारातियों एवं घरातियों के मध्य एक ही रथ पर] दो दिव्य दूल्हे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। मानो वे बरात लेकर ब्याहने आये हैं जिससे कुरुवंशियों का हृदय कुछ दबाव में आ गया है। ऐसा भी प्रतीत हो रहा है कि बरातियों की आगवानी करने कौरव पक्ष से [विविध राज्यों के] अनेक राजा आये हुए हैं, जिन्हें [दोनों दूल्हे] भगवान श्रीकृष्ण एवं महात्मा अर्जुन भा गये हैं; जिनसे वे [कौरवों की] दोनों कन्याओं 'विजय एवं कीर्ति' का पाणिग्रहण सम्पन्न करायेंगे।

सब चकित चितवत दुलह दुइ पर प्रभुहिं अतिहिं बिलोकहीं।
सुधि बुधि गयी आपुहिं न जानहिं छबिहिं कबि सक को कहीं॥
जहँ सिव बरातहिं देखि भागे जात अगवानी करे।
तहँ पार्थ प्रभुहिं बरात देखत सांत द्रष्टा होइ परे॥

वे सभी आश्चर्यचकित हो दोनों दूल्हों को देख रहे हैं किन्तु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को तो विशेष ही देख रहे हैं; देखते-देखते उनकी सुध-बुध जाती रही और वे अपने आपको ही भूल गये हैं। वहाँ ऐसी छवि बनी हुई है जिसका वर्णन कौन कवि कर सकता है! जहाँ भगवान शिव की बरात को देखकर [हिमवान के पक्ष से] आगवानी करने वाले भाग खड़े हुए, वहीं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवं महात्मा अर्जुन की बरात को देखकर आगवानी करने वाले सारे के सारे घराती सम-शान्त द्रष्टा होकर खड़े हैं।

जब दुलह दुइ आगे चलैं तब सब चलैं हहराइके।
पुनि पुनि मिलहिं गलमहँ परस्पर बान धनु लहराइके॥
जनवास करि कछु रात रहि प्रभु पार्थ दुलहिनि ब्याहिके।
लै जाहिं पुर तब मातु कुंती चुम्ब चुम्मबि धाइके॥

[ऐसा लग रहा है कि सभी घराती बरात की आगवानी करने आये हुए हैं किन्तु] जब दोनों दूल्हे आगे बढ़ें तब तो दोनों पक्ष हर्षित होकर आगे बढ़ें और बारम्बार धनुष-बाण लहराते हुए गले मिलें! [यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि यह बरात मात्र एक-दो दिन ही ठहरने वाली नहीं है अपितु] यह बरात पन्द्रह-बीस दिन रहकर जनवास मनायेगी। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द तथा महात्मा अर्जुन वधुओं का पाणिग्रहण करके जब

अपने नगर में ले जायेंगे तो माता कुन्ती [गो-माता के समान वात्सल्य से प्रेमातुर हो] दौड़कर उन्हें चूमने-चाटने लगेगीं।

तब प्रभु परंतप दोउ कहहिं ले मातु लाये बर बहू।
एकनाम त्रिभुवन महँ बिजय एक कीर्ति नामहिं तहुँ कहू॥
तब मातु कह सब बाँटि लेवहु कृष्णचंद्रहिं अग्र करि।
इन्हकी कृपा जब ये मिलहिं तब गहहु मन निःब्यग्र करि॥

उस समय भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन [बड़े आदर-मान से] कहेंगे कि माँ! तुम्हारे लिए हम दो दिव्य वधुओं को लाये हैं जिन्हें स्वीकार करो। इनमें से एक का त्रिभुवन में 'विजय' तो दूसरी का 'कीर्ति' नाम [विख्यात] है अतः तुम भी इन्हीं नामों से इन्हें पुकारना। तब माँ कुन्ती [इसबार सावधान होकर] कहेंगी कि बेटे! तुम इन्हें भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को समर्पित कर दो और [जब ये तुमलोग को दें] तब परस्पर वितरित कर इनका उपभोग करो। इनकी सम्पूर्ण कृपा तो मैं तब मानूँगी जब ये स्वयं ही तुम लोगों को प्राप्त हो जायेंगे। उस समय तुम लोग इन्हें ही सम-शान्त चित्त से स्वीकार कर लेना।

सोरठा— अब आगे कर हाल लखहु ब्रह्मबिद्या सुरभि।
बनि प्रगटे प्रतिपाल करत काह इहँ पार्थ हित॥ २६॥

हे बुद्धिमान सज्जनो! भगवान यहाँ ब्रह्म विद्यारूपी गाय बनकर प्रकट हो गये हैं। अब आगे का प्रसंग देखें कि वह गाय पार्थ के हित के लिए क्या कर रही है!

छंद— स्यंदन पर जनु बर धेनु बसति। अर्जुन सावक जनमाइ लसति॥
अम्बे अरु ॐ हुँकार भरति। दं दं दमकति दुत्कार करति॥

रथ के ऊपर मानो एक दिव्य गाय वास कर रही है, वह अर्जुनरूपी अपने दिव्य बछड़े को जन्म देकर परम शोभा पा रही है। वह बारम्बार 'ॐ और अम्बे' का उच्चारण करती हुई हुंकार भर रही है तथा दं दं कर दमकते हुए सबको दुत्कार रही है।

चं चं चमकति चित्कार करति। फुं फुं फुँकरति फुंकार करति॥
झं झं झंकार करति आवति। पं पं पुचकारति अति भावति॥

वह चं चं कर चमकते हुए चीत्कार कर रही है तथा फुं फुं करते हुए नवजात शिशु की रक्षा में फुँकार भर रही है। वह दिव्य गहनों से अलंकृत होकर झं झं शब्द के साथ झंकार करती हुई प्रकट हो रही है तथा अपने शिशु को पं पं करते हुए बारम्बार पुचकारती हुई अत्यन्त सुशोभित हो रही है।

धं धं धं धावति धमकावति। डं डं डं डं डं डरपावति॥
अं अं अं अं अं अकुलावति। वं वं वं वं वं ब्यकुलावति॥

धं धं शब्द के साथ [कौरव पक्ष को] दौड़-दौड़कर धमका रही है, डं डं शब्द से उन्हें डराती है तथा अं अं शब्द से उनमें आकुलता एवं वं वं शब्द करके व्याकुलता उत्पन्न कर रही है।

झं झं झं झं झं झुँझुलावति। फं फं फं फं फं फुसलावति॥
तेहि मुख निसरति बानी झटपट। झंकृत दृग जिह्वा अरु रदपट॥

अर्जुनरूपी बछड़े की छटपटाहट को देखकर वह झं झं शब्द के साथ झुँझला रही है तथा फं फं शब्द करते हुए उसे चाट-चाटकर फुसला रही है। उसके मुख से शीघ्रता पूर्वक वाणी निकल रही है जो नेत्र , जिह्वा एवं होठों से झंकृत होने लगी है।

अं अं अं आह अकार धरे। हेरत हेरत चित्कार करे॥
निःसोचं सोच असोचं सोच। असोचं सोच करे क्यों पोच॥

वह आह-ओह! करते हुए 'अकार' मात्रा को धारण कर बार-बार अर्जुनरूपी शिशु की ओर देखकर चीत्कार कर बैठती है- अरे मूढ़! जो पारमार्थिक दृष्टि से नित्य ही अशोच्य हैं, तुम उन [पितामह भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि] के लिए क्यों शोक करते हो।

पंडित सी बात करे खंडित। समुझे निज कहँ महिमा मंडित॥
दं दंडित दंडित सो पंडित। बिनु ज्ञानहिं खंडित पाखंडित॥

तुम तो पण्डितों (प्रज्ञावादियों) की भाँति बकवास कर रहे हो अर्थात् यथार्थ बात नहीं कर रहे हो तो भी अपने-आप को महिमावान समझ रहे हो। वैसा पण्डित तो अत्यन्त दण्डनीय है जो बिना ज्ञान के पाखण्ड के द्वारा छिन्न-भिन्न हो गया है।

जिन्हके गए प्रान रहे जिन्हके। नहिं सोच करें पंडित तिन्हके॥
अस चाटत जिह्वा दिब्य लिये। तब फाटत जेर सु पार्थ हिये॥

अरे! जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके नहीं गये हैं, उनके लिए भी बुद्धिमान शोक नहीं करते। इस प्रकार दिव्य ज्ञानमयी जिह्वा से वह अलौकिक गाय जेर को चाटने लगी, तब भक्त अर्जुन के हृदय का अज्ञानरूपी जेर फटने लगा।

सोरठा— बहुरि बहुरि धिक्कारि हेरि हेरि हुंकार तिहिं।
चहुँ दिसि सो भिनकारि चाट न लख कोउ कहहिं का॥ २७॥

वह दिव्य गाय पुनः-पुनः धिक्कारती हुई हुंकार भरते हुए उस शिशु को वात्सल्य भाव से देख रही है तथा चारों दिशाओं से [उसके क्षुद्रभावरूपी लार आदि को] भिनभिनाते हुए चाट रही है, वह यह नहीं देख रही है कि लोग क्या कहेंगे।

छंद— सुर नर मुनि बंदत सिद्ध महा। महराज तहाँ पर कछु न कहा॥
बस देखत देखत देखि रहे। बस देखत देखत देखि रहे॥

[भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दरूपी उस दिव्य गाय को देखकर] समस्त देवता, मनुष्य, मुनि एवं सिद्ध महात्मा वन्दना कर रहे हैं। महाराज तो वहाँ पर कुछ कह ही नहीं पा रहा है; बस देखता का देखता ही रह जा रहा है, एकमात्र देखते-देखते दर्शन ही करता रह जा रहा है।

नभ सों सब पुष्प चढ़ाइ रहे। गुन गावत प्रभुहिं बढ़ाइ रहे॥
अस सावक हम कबहूँ न भये। बस ऋद्धिहुँ सिद्धिहुँ माँहि गये॥

सन्त, सिद्ध एवं देवगण- सभी आकाश मण्डल से पुष्पों की वर्षा द्वारा अर्चन-वंदन कर गुणगान करते हुए भगवान को प्रसन्न कर रहे हैं [हे प्रभो!] हम भक्त अर्जुन जैसे दिव्य बछड़े तो कभी हुए ही नहीं, मात्र ऋद्धियों-सिद्धियों में ही फँसे रह गये।

अस को जग महँ बिपरीत कहै। प्रभु पाहिं बिषादत प्रीति लहै॥
अस कौन सुभाव सों खीझि भरे। पर स्वामी वापे रीझि परे॥

[भक्त अर्जुन को छोड़कर] जगत में ऐसा कौन है जो भगवान के पास असामयिक (धर्म विरुद्ध) बात कह रहा हो और [जिसका तन, मन, वचन और हृदय] शोक से आच्छादित हो तो भी भगवान से प्रेम प्राप्त कर रहा हो। ऐसा उसका कौन-सा स्वभाव है जिससे वह खीझ रहा है फिर भी स्वामी (भगवान) उस पर रीझ रहे हैं।

अवसाद कवन काटत मन कौ। प्रभु धेनु बने चाटत तन कौ॥
अस जेर हमहिं मन घेरि रह्यो। अरु जनम जनम महँ फेरि रह्यो॥

अरे! वह कौन-सा विषाद है जो मन को अत्यन्त पीड़ित कर रहा है तो भी भगवान गाय बनकर उसके शरीर [पर से विषादरूपी जेर] को चाट रहे हैं! [हे प्रभो!] ऐसा ही जेर हमलोगों के मन को घेर रखा है जो जन्म-जन्म भरमाता रहता है।

अर्जुन अनुरागहिं माँगि रहे। अब साधन महँ नहिं पागि रहे॥

हम भक्त अर्जुन के अलौकिक प्रेम को माँग रहे हैं क्योंकि अब साधना करने में हमें आनन्द नहीं आ रहा है।

दोहा— बरदायक बर देहु सब गुडाकेस ब्यवहार।
जासों हमरेउँ जिवनरथ अब तुम्ह लेउ सम्हार॥ २८॥

हे वरदाता! अब निद्राविजयी महात्मा अर्जुन का सम्पूर्ण व्यवहार एवं गुण हमें वरदान रूप में प्रदान करें जिससे हमारे जीवनरथ को भी आप सँभाल लें।

नवाह्नपारायण, पहला विश्राम

छंद— संजय क्यों मौनहिं साधि रहे। हम का तोकों कछु बाँधि रहे॥
नहिं नृप अस दृस लखि भूलि भयों। इक दिब्य झुला महँ झूलि गयों॥

[इधर धृतराष्ट्र सञ्जय से पूछ रहे हैं कि] हे सञ्जय! तुमने मौन क्यों साध लिया है! क्या मैंने तुम पर कुछ बन्धन डाल रखा है? [सञ्जय ने कहा-] नहीं राजन्! मैं एक दिव्य दृश्य देखकर [जगत को] भूल गया था और दिव्य झूले में झूल रहा था।

एक धेनु अलौकिक आइ गई। मोरे मन कहँ अति भाइ गई॥
नवजात सिसू अस चाट रही। भगवत वात्सल्यहिं बाँट रही॥

हे प्रजानाथ! एक अलौकिक गाय रणभूमि में प्रकट हो गयी है। वह मेरे हृदय को अति प्रिय लग रही है जो [अर्जुनरूपी] नवजात बछड़े को चाटते हुए उसे भगवत् वात्सल्य दे रही है।

बस देखि छटा लटक्यों भटक्यों। भवसागर माँझहिं क्यों अटक्यों॥
उत्तर का नृप कह प्राप्त भयो। का सब संसय अनुताप गयो॥

बस उसी छटा को देखकर [चिदाकाश में ही] लटक-भटक गया था और सोच रहा था कि इस भवसागर में क्यों पड़ा हूँ। राजा धृतराष्ट्र ने कहा- क्या तुम्हें सारे उत्तर प्राप्त हो गये तथा उससे तुम्हारा समस्त संशय एवं शोक-सन्ताप चला गया?

हे राजन अब सब जाइ रह्यो। इक ज्ञान सरित महँ धाइ बह्यो॥
अर्जुन बर दृग अब खूलि पर्‌यो। पलभर पहिलें जे भूलि पर्‌यो॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! अब वह सब जा रहा है। एक दिव्य ज्ञानरूपी नदी में वह सब (संशय-भ्रम एवं शोक-सन्ताप आदि) वेगपूर्वक बहा जा रहा है; तथा भक्त अर्जुन के अलौकिक चक्षु जो कुछ क्षण पूर्व अज्ञान वश बंद थे अब खुल गये हैं।

दोहा— प्रभु सन चितवत चकित चित अस्तंभन मन माँहिं।
कहत न कछु अब सुनहिं बस श्रुति श्रोता सम आहिं॥ २९॥

[हे भरतकुल भूषण!] अब वे केवल भगवान को चकित चित्त से देख रहे हैं, [ऐसे अलौकिक दर्शन से] उनके मन में स्तम्भन हो गया है। वे अब कुछ कह नहीं पा रहे हैं, मात्र सुन रहे हैं। अब वे श्रुतियों के श्रोता की भाँति दिखाई दे रहे हैं।

चौपाई— हँसि कह प्रभु अब सुनु बड़ पंडा। खड़ो करत क्यों बाद बितंडा॥
महाबाहु सोचत क्यों ऐसो। ज्ञान बघारत पंडित जैसो॥

भगवान ने हँसते हुए कहा कि हे महान पण्डे! अब मेरी बात सुनो! वितण्डावाद क्यों खड़ा कर रहे हो? हे महाबाहो! तुम ज्ञान तो पण्डितों की तरह बघार रहे हो फिर ऐसा शोक-सन्ताप क्यों कर रहे हो?

सोचत कौन कौन अस बोलत। जानत आपुनि पोल न खोलत॥
सोच करइ मूरख मन माहीं। पर बकवास करत जग जाहीं॥

इस प्रकार तुम्हारे समान शोक करने वाले और बोलने वाले कौन-कौन लोग हैं जो अपनी हर पोल जानते तो हैं किन्तु किसी से कहते नहीं हैं? मैं तुम्हें बता रहा हूँ ध्यान से सुनो- मूर्ख मन ही मन शोक-सन्ताप करता रहता है किन्तु [साथ ही साथ] जगत में थोथा ज्ञान भी बघारता रहता है।

आह भरत मन निसदिन ढोंगी। बहुरि बतावत स्वयंहि जोगी॥
सोच करति मन कुलटा नारी। पर पतिब्रत नारिन्ह दै गारी॥

उसी प्रकार ढोंगी पुरुष दिन-रात आहें भरता रहता है, परन्तु अपने को [जगत में] योगी बताता रहता है।

चरित्रहीन स्त्री भी [अपने कुकर्मों से] मन ही मन चिंतित रहती है परन्तु पतिव्रताओं को भला-बुरा कहती रहती है।

सोचत बहुबिधि बेस्यागामी। पर परचारत ब्रह्म अनामी॥
बेद सास्त्र रटि पंडित मानत। मंच बैठि सो ज्ञान बखानत॥

वेश्यागामी भी अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करता है परन्तु [लोगों के सामने] निर्गुण निराकार ब्रह्म की व्याख्या भी करता रहता है। [वैसे ही] वेद-शास्त्रों को रटकर अपने को पण्डित मानते हुए कोई मंच पर बैठकर ज्ञान की झड़ी लगा देता है।

पर बिषई लोलुप अति कामी। सोचत मन माया अनुगामी॥
बेद सास्त्र सब बेचि अघाई। यहउ लोक परलोक नसाई॥

किन्तु वह विषयी, लोभी और महाकामी होता है, वह माया का अनुगमन करने वाला मन ही मन शोक-सन्ताप करता रहता है। [ऐसा हो भी क्यों न] क्योंकि वह समस्त वेद-शास्त्रों को बेचकर पेट पालता है और इहलोक एवं परलोक का भी नाश कर लेता है।

जो बटु गुरुहिं ब्रह्म नहिं जानत। बस उपरोहित सम तिन्ह मानत॥
बरु कर जोग जज्ञ जप भारी। पर माया तेहि देति पछारी॥

इसी प्रकार जो ब्रह्मचारी अपने सद्गुरु को पुरोहित के समान ही मानता है, ब्रह्मरूप में नहीं पहचानता, वह चाहे जितना भी घोर जप-तप करे परन्तु माया उसे परास्त कर ही देती है।

ब्रह्मचारि तउ सो बतलावत। स्वयंहिं प्रज्ञावान जतावत॥

तो भी वह अपने को ब्रह्मचारी ही घोषित करता है और बहुत बड़ा बुद्धिमान भी बताता है।

दोहा— ब्रह्मचरज ब्रत खंडित सोचत दिवस बिलाहिं।
निघटत जल जिमि ताल कर मनहिं मीन सकुचाहिं॥ ३० (क)॥

[जिसका परिणाम होता है कि] उसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है, शोक-सन्ताप करते हुए उसके दिन ऐसे व्यतीत हो जाते हैं, जैसे ताल-तलैय्या का जल घटने लगता है तो उसमें रहने वाली मछलियाँ मन ही मन शोक-सन्ताप करने लगती हैं।

इन्ह महँ तू नहिं एकऊ पुनि कस मन बिलखाय।
काहे सोचत सोचिया मोहिं काह झुठलाय॥ ३० (ख)॥

हे सोच करने वाले! क्यों शोक कर रहे हो, इन लोगों में से तो तुम एक भी नहीं हो, फिर तुम्हारा मन कैसे बिलख रहा है, और मुझे क्यों झुठला रहे हो?

चौपाई— चेदि नृपति कंसहु बहु सोचे। जरासंध मिलि जगतहिं नोंचे॥
मंत्र तंत्र तप बहु बिधि साधे। सिव अरु सक्तिहिं बहु अवराधे॥

[तुमने देखा है कि] शिशुपाल, कंस और जरासंध आदि शोक-सन्ताप करते ही रहे फिर भी मिल-जुलकर उन्होंने जगत को बहुत क्षति पहुँचायी। उन सबने बहुत प्रकार के तंत्र-मंत्र एवं तप सिद्ध किये, शिव एवं शक्ति की भी घोर उपासना की-

अंत समय कोउ काम न आयो। मैं नचाइ तिन्हिं मारि गिरायो॥
सोचत मनहिं पतित संन्यासी। बन तजि आइ होइ घरबासी॥

लेकिन अन्तकाल में कोई भी काम नहीं आया और मैंने उन्हें बहुत प्रकार नचा-नचाकर मार डाला। उसी प्रकार पतित संन्यासी जो वन से आकर गाँव-घर में रहने लगता है, मन ही मन शोक-सन्ताप करता रहता है।

लाजत मन सोचत न बतावत। गाँव नगर महँ ज्ञान सिखावत॥
जात बिदेस धरम परचारत। धन याचन कहँ झोलि पसारत॥

मन में लज्जित वह अपना शोक-सन्ताप [किसी के सामने] प्रकट नहीं करता बल्कि गाँव और नगर में ज्ञान बघारता रहता है। वह [ढोंगी] धर्मप्रचार के बहाने विदेश जाता रहता है और [जहाँ-तहाँ] धन की भिक्षा माँगते हुए झोली फैलाता रहता है।

मठ मंदिर धन लाइ बनावत। अस यति सिष्यन्हि बहु भरमावत॥

उस भिक्षा के धन को लाकर मठ-मन्दिर बनवाता है। ऐसा संन्यासी अपने शिष्यों को अत्यधिक भ्रमित करता रहता है।

दोहा— संत हिमालयि भार भै नहिं आवहिं जग काम।
अस कहि हाँकत डींग बहु तिन्हहिं नाहिं प्रभुधाम॥ ३१॥

इस प्रकार [वह निर्लज्ज मंच पर अपने भक्तों से] बकवाद करता हुआ बहुत डींग हाँकते हुए कहता है कि हिमालय में रहने वाले सन्त भार स्वरूप हैं जो जगत के किसी काम नहीं आते। ऐसे [ढोंगी-पाखण्डी] लोगों के लिए भगवान का दरवाजा बन्द हो जाता है।

चौपाई— घर तिय कहति कहउ क्यों ऐसो। निंदत संत डरउ नहिं कैसो॥
हौ तुम्ह कवन बहुत मैं जानउँ। पाखंडी ढोंगी बस मानउँ॥

घर में उसकी स्त्री कहती है कि आप ऐसा क्यों कहते हैं ? क्या आपको सन्तों की निन्दा करते हुए भय नहीं लगता! आप कितने पानी में हैं, इसे मैं भलीभाँति जानती हूँ। मैं तो आपको पाखण्डी और ढोंगी ही मानती हूँ।

काम क्रोध के बस तुम्ह चेरो। तजि संन्यास किये घर डेरो॥
छिः धिक्कार लाज नहिं लागति। सपनेहुँ धर्म बुद्धि नहिं जागति॥

आप तो काम-क्रोध के ही दास हैं तभी तो संन्यास का परित्याग कर घर आ गये! छिः ! धिक्कार है ! आपको लज्जा नहीं लगती ? स्वप्न में भी धर्मबुद्धि नहीं जगती ?

धन संकोच सोक संतापहु। पुनि क्यों तुम्ह सब पहिं बहु दापहु॥
यति कह अस न करउँ तब मारहिं। सब लखि मोकों आँखि निकारहिं॥

धन के थोड़े से अभाव में आप शोक-संतप्त हो जाते हैं, फिर आप सभी के पास इतने गर्व का प्रदर्शन क्यों करते हैं ? तब वह [पतित] संन्यासी कहता है कि यदि मैं ऐसा न करूँ तो लोग मुझे देखते ही क्रोधित होकर मेरी पिटाई करने लगेंगे।

हँसिहैं तब सब दै दै तारी। लगिहि लाज तब मम उर भारी॥
ब्यंग कसहिं संन्यासी बाबा। अब तुम्ह कब कानन महँ जाबा॥

तब सभी ताली पीट-पीटकर हँसी उड़ायेंगे उस अवस्था में मेरा हृदय लज्जा से भर जायेगा। वे व्यंग में कहेंगे कि हे संन्यासी बाबा! अब आप जंगल में कब जायेंगे ?

दोहा— नैननि सैन बुझाइ कह यति तो ऐसो होय।
पुनि लाजत गृह आयेंगो बैठि रहउँ मुहँ गोय॥ ३२ (क)॥

लोग आँखों के संकेत से कहेंगे कि संन्यासी हो तो ऐसा हो। फिर मैं लज्जा के मारे मुँह छिपाकर घर में ही बैठा रहूँगा।

हित मित करिहहिं बतकही गृह गृह मम संबाद।
तब नहिं घर बन रहि सकउँ मरउँ न सहि अपबाद॥ ३२ (ख)॥

[इतना ही नहीं] मेरे हित-मित्र भी घर-घर जाकर मेरे विषय में ऐसी ही चर्चा करेंगे, जिससे सर्वत्र मेरी निन्दा होने लगेगी, तब तो मैं न घर में रह पाऊँगा न जंगल में अपितु कलंक न सहन कर पाने से मर ही जाऊँगा।

चौपाई— अर्जुन सोचत चोर जुवारी। किंतु सबहिं उपदेसत भारी॥
रावन सम सोचहिं अपहर्ता। निसि न नींद दिन पंडित भर्ता॥

हे निष्पाप अर्जुन! उसी प्रकार चोर और जुआरी भी दिन-रात शोक सन्तप्त रहते हैं किन्तु वे भी सभी को उपदेश देने में चूकते नहीं हैं। जो रावण की तरह अपहरण करने वाले होते हैं वे भी इतने शोक-सन्तप्त रहते हैं कि उन्हें रात्रि में नींद नहीं आती किन्तु दिन में पण्डित और स्वामी बने रहते हैं।

हिरनाकुस सोचत दिन राती। सुत बिरोध सों नित जर छाती॥
ताहि मरे प्रहलाद न सोचत। प्रभु सों मुक्ति पाइ अति रोचत॥

पुत्र से विरोध के कारण हिरण्यकशिपु दिन-रात शोक-सन्ताप में ही रहता था, पलभर के लिए भी उसे शान्ति नहीं मिलती थी। परन्तु आसुरी पिता के मरने पर प्रह्लाद को [अंशमात्र भी] शोक नहीं हुआ बल्कि भगवान से मुक्ति का वरदान प्राप्त कर अति आनन्दित हो गये।

धृतराष्ट्रहिं सम सोच भुआला। जाकर मोह ताहि कर काला॥
तेहिकर पाप पुत्र बनि आवत। महाकाल होइ बंसहिं खावत॥

वैसे ही धृतराष्ट्र जैसा राजा भी शोक-सन्ताप करता रहता है जिसका मोह उसी का काल बन जाता है (वह यह कि) उसका [पूर्वकृत] पाप ही पुत्र बनकर आ जाता है जो महाकाल बनकर सम्पूर्ण वंश का भक्षण कर जाता है।

सनत्सुजातहु तिन्ह पहिं आये। उनसों बहु अस दोष गिनाये॥
सोचन योग अकारन क्रोधी। कामी लोभी अतिहिं अबोधी॥

ऋषिवर सनत्सुजात भी उनके (धृतराष्ट्र के) यहाँ आकर बहुत-से दोषों को दर्शाते हुए उनसे बोले- हे राजन्! शोक करने योग्य तो अकारण ही क्रोध करने वाला, अति कामी, लोभी और मूर्ख ही होता है।

ईर्ष्यालू निंदक अघखानी। गुणमहँ दोष लखहिं जे प्रानी॥
लोलुप क्रूर कृपन कटुभाषी। आत्म प्रसंसक मिथ्या साखी॥

वैसे ही जो मनुष्य ईर्ष्यालु, निंदा करने वाला, पाप की राशि, गुणों में दोष देखने वाला, लोलुप, क्रूर, कृपण, कटुवचन बोलने वाला, अपनी प्रशंसा करने वाला, झूठी गवाही देने वाला है-

करत सोक सोई मन माहीं। पाप सकल दुर्योधन माहीं॥

वही पुरुष मन में शोक-सन्ताप करता रहता है। हे नरेश! ये सभी दोष दुर्योधन में विद्यमान हैं।

दोहा— एहि बिधि सनत्सुजात मुनि गाये नाना दोष।
तव मन नहिं नृप एकऊ पुनि काहे कर रोष॥ ३३॥

इस प्रकार मुनिवर सनत्सुजात ने नाना प्रकार से दोषों का वर्णन करते हुए कहा- हे राजन्! आपके मन में जब इन दोषों में से एक भी नहीं हैं, फिर आप क्षुब्ध क्यों होते हैं?

चौपाई— पुनि सुनु अर्जुन ये नहिं स्वारथि। भीष्म द्रोन दोउहु परमारथि॥
जिन्ह कारन तैं युद्ध न करई। होय अधर्म चित्त अति डरई॥

[भगवान ने] फिर कहा- हे अर्जुन! पितामह भीष्म और गुरुवर द्रोण- दोनों ही स्वार्थी नहीं अपितु परमार्थी जीव हैं जिनके कारण अधर्म की आशंका से तुम मन में अत्यन्त भयभीत होने से युद्ध नहीं कर रहे हो।

तेउ चहहिं यह युद्धहिं भाई। दुष्ट दुयोधन सों अकुलाई॥
निज सुत द्रोन भीष्म नृप जानहिं। धरनिभार नहिं प्रगट बखानहिं॥

हे प्रिय! वे दोनों स्वयं इस युद्ध को चाह रहे हैं, क्योंकि ये दुष्ट दुर्योधन की अनीति से व्याकुल हो गये हैं। आचार्य द्रोण, अपने पुत्र अश्वत्थामा को तथा पितामह, धृतराष्ट्र को पृथ्वी का भार समझ रहे हैं परन्तु इस बात को सबके सामने प्रकट नहीं करते हैं।

तव गुरु सुत दुर्योधन साथा। तजइ न द्रोन धुनहिं बहु माथा॥
जदपि भयउ तव कृपा सनाथा। द्रुपद मुकुट राजत एहि माथा॥

तुम्हारा गुरुपुत्र अश्वत्थामा दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ रहा है इसलिए आचार्य द्रोण घोर पश्चात्ताप कर रहे हैं। यद्यपि तुम्हारी कृपा से ही वह राजा बना हुआ है और महाराज द्रुपद का मुकुट इसके मस्तक पर शोभायमान हो रहा है-

पर मन ताहि असुरता छाई। हारि गये द्रोनहु समुझाई॥
अब रन तेहि मराइ कै मरहीं। तिहिं सँग लेइ स्वर्ग अनुसरहीं॥

फिर भी उसके मन में असुरता छा गयी है। आचार्य द्रोण उसे समझाते-समझाते हार गये हैं, अतः अब युद्ध में उसका वध कराकर स्वयं मृत्यु को प्राप्त होंगे तथा उसी के साथ स्वर्ग चले जायेंगे।

गंगासुतहु भरे उर ग्लानी। आपु अछत भइ धर्महिं हानी॥
उत पितु बचन नृपति इत कथना। तजि न सकत सम्भव नहिं बचना॥

वैसे ही पितामह भीष्म भी मन में ग्लानि से भर गये हैं कि उनके रहते ही धर्म पर कुठाराघात हुआ है। उधर पिता को दिया हुआ वचन है तो इधर राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा को त्याग नहीं सकते हैं। अत: उनका किसी भी प्रकार बच पाना सम्भव नहीं है।

कौरव सिसुपन सोंहि सतावहिं। तउ तुम्हसों आदर नित पावहिं॥
कबहुँ न कियउ उन्हहिं पर रोषा। सदा सराहउ कहि निर्दोषा॥

यद्यपि बाल्यावस्था से ही कौरव तुम लोगों को सताते रहे, तो भी तुम सबसे सर्वदा आदर प्राप्त करते रहे फिर भी कभी इन पर क्रोध नहीं किया अपितु निर्दोष कहकर सदा प्रशंसा ही करते रहे।

दोहा— दुर्योधन रचि लाखगृह तुम्हहिं जरावन चाह।
बनि भिक्षुक बन बन फिरे सो सब गुनि पछिताह॥ ३४॥

दुर्योधन ने लाक्षागृह की रचना कर तुमलोगों को जलाना चाहा था। तुमलोग भिक्षुक बनकर वन-वन भटकते रहे, उन्हीं सब बातों पर विचार कर इन्हें पश्चात्ताप हो रहा है।

चौपाई— चीरहरण देखे निज आँखिन्ह। दाबि रहे प्रचंड धनु काँखिन्ह॥
धर्मदूत बनि मैं गयों जबहीं। बंदि बनावन सो चह तबहीं॥

इन्होंने अपनी आँखों से [अपनी वधू का] चीर-हरण होते देखा है, उस समय भी इनके प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र कन्धे पर ही रह गये। इतना ही नहीं, जब मैं [धृतराष्ट्र के पास] धर्मदूत बनकर गया तो दुर्योधन ने मुझे बन्दी बनाना चाहा-

तबहुँ न इन्हकर पौरुष जाग्यो। मोर प्रताप दुष्ट बरु भाग्यो॥
यहि सब नाचइ दृग पहिं आई। सांति मिलइ नहिं बहु पछिताई॥

तो भी इनका पौरुष नहीं जगा। भले ही मेरे प्रताप से दुष्ट दुर्योधन भाग गया [कुछ कर नहीं पाया]। यही सब इनकी आँखों के सामने आकर नाच रहा है जिससे इन्हें शान्ति नहीं मिल रही है, ये घोर पश्चात्ताप कर रहे हैं।

जबहिं मरहिं तव हाथनि पारथ। तब पावहिं बिगरे परमारथ॥
नर नारायण कर अवतारा। तुम्हहिं हमहिं जानहिं हिय सारा॥

हे पार्थ! जब ये तुम्हारे हाथों से मृत्यु को प्राप्त होंगे, तब इन्हें इनके बिगड़े परमार्थ की पुन: प्राप्ति हो जायेगी। ये इस बात को भलीभाँति जान गये हैं कि तुम और मैं नर-नारायण के अवतार हैं।

मरन चहहिं तव कर रन माहीं। अघ प्रायस्चित अस होइ जाहीं॥
भीष्म द्रोण दोउ बीर कहानी। कहिहउँ मैं एक कथा बखानी॥

इसलिए ये तुम्हारे हाथों से युद्ध में मरना चाहते हैं। ऐसा करने से इनके पापों का प्रायश्चित्त हो जायेगा। मैं एक कथा के माध्यम से भीष्म और द्रोण- इन दोनों ही वीरों की कहानी कहूँगा।

दोहा— मेधावी इक नाम सुत प्रज्ञावान सुजान।
मोक्ष धरम महँ अति कुसल पूछ पितहिं सों ज्ञान॥ ३५॥

एक बार मेधावी नाम के एक पुत्र ने, जो अत्यन्त बुद्धिमान, सज्जन एवं मोक्षधर्म में अत्यन्त कुशल था, अपने पिता से यह जानने की इच्छा से पूछा-

चौपाई— पितु मोहिं आज बतावहु बाता। आयू बीत रही दिन राता॥
एहि महँ काह करउँ नहिं ज्ञाना। काह करउँ आचरन सुजाना॥

हे पिताजी! कृपया आज आप मुझे बतायें कि आयु दिन-रात बीत रही है ऐसे में मैं क्या करूँ, इसका ज्ञान नहीं है। अत: आप जैसे परम बुद्धिमान पिता से पूछता हूँ कि मुझे कैसा आचरण करना चाहिए?

पितु स्वाध्यायसील नित रहहीं। हरिगुन जो भक्तन्ह बिच कहहीं॥
सो कह वत्स प्रथम गुरुपाहीं। रहहु ब्रह्मचारी ब्रत माहीं॥

उसके पिता भी नियमित स्वाध्याय-परायण थे। वे भक्तों के मध्य भगवान का गुणगान किया करते थे। उन्होंने कहा कि हे पुत्र! सर्वप्रथम [तुम्हारा कर्तव्य है कि] गुरु के पास जाकर वहाँ पर सम्पूर्णतया ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए-

बेद सास्त्र पढ़ि पुनि गृह आवहु। पानिग्रहण करि तिय गृह लावहु॥
पितरन्हि हित सुचि सुत जन्मावहु। पुनि कछु बानप्रस्थ अपनावहु॥

वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करो, फिर गृहस्थाश्रम में आकर किसी सुयोग्य कन्या का पाणिग्रहण करके घर लाओ और उससे पितरों के कल्याण के लिए धर्मात्मा पुत्र की प्राप्ति करो [जो देवताओं एवं पितरों को हव्य एवं कव्य से सन्तुष्ट करे]। तत्पश्चात् [वह पुत्र जब योग्य हो जाय तो तप करने के लिए] कुछ काल तक वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करो।

बहुरि गहहु संन्यास महाब्रत। निज स्वरूप महँ रहहु सदा रत॥
एहि बिधि पावहु सहज परमगति। इतनोइँ जानति मोरि बिमल मति॥

उसके अनन्तर [चित्त शुद्ध हो जाने के पश्चात्] संन्यासरूपी महाव्रत स्वीकार कर निरन्तर अपने स्वरूप में ही स्थित रहना। हे पुत्र! इस प्रकार सहज ही परमगति प्राप्त कर लोगे, [स्वाध्याय से] निर्मल हुई मेरी बुद्धि तो इतना ही जानती है।

दोहा— सुनहु पिता अस उचित कस दुखित लोक सब आहिं।
घिरइँ सदा सब ओर सों बस्तु अमोघहु जाहिं॥ ३६॥

[तब पुत्र ने कहा-] पिताजी! कृपया सुनें, आपका ऐसा कहना उचित कैसे है? क्योंकि यह सारा जगत दु:खी है तथा सब ओर से [किसी के द्वारा] घिरा हुआ है एवं अमोघ वस्तु हाथ से निकली जा रही है।

चौपाई— कहत पिता सुत क्यों डरपावै। केहितें ताड़ित यह जग गावै॥
कासों जग सब ओर सों घिरई। कवन अमोघ बस्तु नित छरई॥

पिता ने कहा- हे वत्स! [ऐसा कहकर] मुझे भयभीत क्यों कर रहे हो? बताओ तो सही कि यह जगत किसके द्वारा प्रताड़ित हो रहा है? किससे यह जगत सब ओर से घिरा हुआ है और वह कौन सी अमोघ वस्तु है जिसका निरन्तर क्षय हो रहा है?

सुनु पितु मातु कहउँ कर जोरी। मृत्यु सदा सब बाँह मरोरी॥
दहुँ दिसि घेरइ जरा अवस्था। बितत रात दिन थिर न ब्यवस्था॥

हे पिताजी! सुने मैं आपके साथ-साथ माँ से भी हाथ जोड़कर कह रहा हूँ कि मृत्यु प्रतिपल सबको ग्रसने के लिए तत्पर है, दसों दिशाओं से वृद्धावस्था ने घेर रखा है, दिन-रात प्रतिपल व्यतीत होते जा रहे हैं इस प्रकार कोई भी व्यवस्था स्थिर नहीं है।

रात्रि अमोघ नित्य प्रति आवे। पुन्य खाइ सहजहिं सो जावे॥
इकपल मृत्यु रोकि नहिं जावे। बहु बिनवउँ कै मन बिलखावे॥

हर रोज अमोघ रात्रि आती है और पुण्य को सहजता से खाकर चली जाती है। मृत्यु को एक पल के लिए भी रोका नहीं जा सकता, चाहे मैं जितनी भी प्रार्थना करूँ अथवा मन चाहे जितना रोना-धोना करे।

यह सब लखि जो जगत रिझाऊँ। निज कर्मनि सों मूढ़ कहाऊँ॥
अब न जियउँ जग हित पितु माता। काल डरावइ दिन अरु राता॥

यह सब जानते हुए भी यदि मैं जगत को रिझाता हूँ तो अपने ही कर्मों द्वारा मूर्ख सिद्ध होता हूँ। अत: अब मैं माता-पिता और जगत के लिए नहीं जीऊँगा, क्योंकि रात-दिन मुझे मृत्यु डरा रही है।

दोहा— उदर भरन हित कर्म करि निसि अरु दिवस बिलाहिं।
आयु छिजति इमि रात दिन कस न आपु बिलखाहिं॥ ३७॥

पिताजी! एकमात्र उदर-पूर्ति के लिए कर्म करते हुए दिन-रात व्यतीत होते जा रहे हैं। इस प्रकार रात-दिन आयु क्षीण हो रही है तो भी आप इस विषय में चिन्तित क्यों नहीं होते?

चौपाई— जिमि जिमि सूख सरोवर पानी। तिमि तिमि मीन सबहिं अकुलानी॥
मनहिं मारि कछु करि नहिं पावहिं। हम क्यों तस असहाय कहावहिं॥

जैसे-जैसे तालाब का जल सूखता जाता है वैसे-वैसे समस्त मछलियाँ चिन्तित होने लगती हैं; लेकिन वे कर भी क्या सकती हैं, बस मन मारकर उसी में पड़ी रहती हैं। परन्तु हम उनके समान असहाय क्यों कहलायें।

करम मोक्षदायक अब करऊँ। मृत्यु कबहुँ आवे उर डरऊँ॥
पूर्ण अपूर्ण कर्म नहिं जानति। चाहे जब प्रानहि लै मानति॥

अब मैं मोक्ष देने वाला कर्म ही करूँगा, पता नहीं मृत्यु कब आक्रमण कर दे, ऐसा सोचकर मैं हृदय से अति भयभीत हूँ। वह [जब आती है तो] यह नहीं देखती कि आपका कार्य पूरा हुआ या अधूरा है चाहे जब प्राण लेकर ही मानती है।

बालक बृद्ध जुवा नहिं देखे। मृत्यु आयु पल इक इक लेखे॥
सो पापिनि नहिं कोउ सन डरई। एक ब्रह्म के मारे मरई॥

मृत्यु बालक, वृद्ध अथवा युवक का विचार नहीं करती अपितु जीव के आयु की प्रतिपल गणना करती रहती है। वह पापिनी किसी से भी भयभीत नहीं होती, मात्र ब्रह्म के मारने से मरती है।

पुनि काहे नहिं जीवन सेसा। जाइ भजउँ कानन अखिलेसा॥
मोहिं ममता बस आपुन मानहु। नाचत काल सीस नहिं जानहु॥

फिर क्यों न वन प्रदेश में जाकर शेष बची हुई आयु भगवान के भजन में व्यतीत करूँ। मुझे ममतावश अपना मानने के कारण ही मेरे सिर पर मँडराते हुए काल को आप दोनों नहीं जान पा रहे हैं।

दोहा— यासों त्यागउँ आपु सँग सुहृद सकल परिवार।
चहउँ न एहि जग खाउँ अब महाकाल की मार॥ ३८॥

इसी कारण मैं आप दोनों के साथ-साथ हित-मित्रों एवं समस्त कुटुम्ब का त्याग कर रहा हूँ, अब इस जगत में महाकाल की मार नहीं खाना चाहता।

चौपाई— मोह कलिल महँ डूबेउ जोई। सदन स्वजन बिच जीवइ सोई॥
धर्म अधर्म जाहि बिधि होवे। उदर भरे तिन्ह पापहिं ढोवे॥

जो मोहरूपी कीचड़ में डूबे रहते हैं, वे ही घर में बाल-बच्चों एवं स्वजनों के बीच [प्रसन्नतापूर्वक] जीवन-यापन करते हैं। धर्म या अधर्म चाहे जैसे भी उनका पेट भरे, उसे करने में चूकते नहीं हैं, भले उन सबका पाप भी अपने सिर पर ढोते रहते हैं।

संचय करत बिषय कर साधन। बिसरत तेहि महँ प्रभु अवराधन॥
तेहि बिच काल ब्याघ्र सम आवे। लै प्रानहिं चुपचाप परावे॥

वे विषय-भोग के समस्त साधनों का संचय करने में लगे रहते हैं। यह सब करने में ही भगवान का ध्यान-भजन [सर्वथा] भूल जाते हैं। इसी बीच किसी दिन बाघ की तरह काल आता है, चुपचाप प्राणों को लेकर चलता बनता है।

यहउ करउँ अरु यहउ करावउँ। आध अधूरो करम पुरावउँ॥
एहि धुनि मस्त पुरुष रह जबहीं। काल प्रान लै भागत तबहीं॥

वे सोचते हैं कि इसे भी कर लूँ, उसे भी कर लूँ तथा उस काम को और सारे आधे-अधूरे कर्मों को पूरा करा लूँ,- इसी कर्म की धुन में जब लोग मस्त रहते हैं तब तक काल आता है प्राण लेकर भाग जाता है।

लखत न सो दुर्बल बलवाना। मूढ़ धीर बिद्वान सुजाना॥
पूर्ण मनोरथ होन न पावे। तबहिं काल लै जीव परावे॥

वह दुर्बल, बलवान, मूर्ख या विद्वान, धैर्यवान, चतुर कुछ नहीं देखता बल्कि अभी सारी इच्छा पूरी भी नहीं हुई रहती है कि तभी काल जीवात्मा को लेकर भाग जाता है।

एहि बिधि जरा मृत्यु अरु ब्याधी। क्रम बस होयँ बिपुल दुख आँधी॥

इस प्रकार बुढ़ापा, मृत्यु, आधि-व्याधि एवं नाना प्रकार के दु:खों का ताँता क्रमानुसार लगा हुआ है।

दोहा— तात तऊ निस्चिंत तुम्ह ऐसे बैठे काह।
सहि दुख पर दुख दहउ कस निसदिन भरि भरि आह॥ ३९॥

हे पिताजी! तो भी आप ऐसे निश्चिन्त क्यों बैठे रहते हैं तथा इस प्रकार दु:ख पर दु:ख सहन करते हुए दिन-रात आहें भरकर क्यों जल रहे हैं?

चौपाई— अमृत मृत्यु बसत तन दोऊ। कोउ गह मृत्यु सुधा गह कोऊ॥
सम दम उपरति महति तितिक्षा। जाइ बिपिन पालउँ हरि इच्छा॥

इसी शरीर में अमृत एवं मृत्यु- दोनों ही वास करते हैं, किन्तु कोई मृत्यु को तो कोई अमृत (ब्रह्म) को ग्रहण करता है। अत: अब मैं वन में भगवान को प्राप्त करने की इच्छा से शम, दम, उपरति एवं महत् तितिक्षा आदि साधनों का पालन करूँगा।

सत सम तप दुख राग समाना। ज्ञान सरिस दृग कोउ न आना॥
त्याग समान कहाँ सुख कोऊ। तुम्हहु पालि इन्ह प्रभु प्रिय होऊ॥

सत्य के समान कोई तप नहीं है और न मोह के समान कोई दु:ख है। ज्ञान के समान कोई अन्य नेत्र नहीं है। आप ही बताएँ कि त्याग के समान श्रेष्ठ सुख कहाँ है, अत: आप भी इन (साधनों) का पालन कर भगवान के प्रिय हो जायँ।

सत समता निबृति आचारा। सरिस न धन कोउ एहि संसारा॥
कबहुँ न कबहुँ मरण तव होई। पुनि क्यों मरउ स्वजन सिर ढोई॥

ऐसा हम नित्य ही देखते हैं कि सत्य, सदाचार, समता तथा निवृत्ति के समान कोई श्रेष्ठ सम्पत्ति नहीं है। कभी न कभी आपकी भी मृत्यु होनी है फिर स्वजनों का बोझ ढोकर क्यों मर रहे हैं!

जो प्रभु दीन्हे देह अभंगा। कीन्ह न कछु असहाय अपंगा॥
अंध बधिर जन्मावइ हीना। चित्त बिछिप्त सबहिं बिधि दीना॥

जिस परमात्मा ने आपको समस्त अंगों से स्वस्थ बनाया है किसी भी अंग से हीन तथा तनिक भी असहाय नहीं बनाया; जबकि वह अन्धों-बहरों, मन्दमति और हर प्रकार से दीन-हीनों को भी जन्म देता है।

रच्यो जोइ अस सुभग सरीरा। प्रति उपकार किये का धीरा॥
सुनि सुत बचन पिता हरषायो। अस कहि ताको कंठ लगायो॥

हे धैर्यवान पिताजी! फिर ऐसे सुन्दर शरीर की रचना करने वाले का आपने उसके बदले में कौन-सा उपकार कर दिया है? पुत्र के वचनों को सुनकर पिता प्रसन्न हो गये और यह कहते हुए उसे गले लगा लिया-

दोहा— त्यागु त्यागु अब त्यागु सुत हमहिं अबहिं तू त्यागु।
परम प्रेम सों जाहु बन हरिपद सों अनुरागु॥ ४० (क)॥

त्यागो बेटे त्यागो! अब जल्दी करो हम दोनों को त्यागकर प्रेमपूर्वक अभी वन को चले जाओ, वहाँ अतिशय प्रेमपूर्वक भगवान के श्रीचरणों में मन लगाओ।

बध अरु त्याग समान सुत बेद सास्त्र मुनि गाव।
तुम्हसों अस बध भाव प्रिय प्रभु हित तजि अब जाव॥ ४० (ख)॥

हे वत्स! वेद-शास्त्र तथा सन्तजन कहते हैं कि वध और त्याग दोनों एक समान हैं, किन्तु आज तुम्हारे द्वारा किया हुआ ऐसा वध (त्याग) बहुत प्रिय लग रहा है। अत: अब भगवत् प्राप्ति के निमित्त हमारा परित्याग कर [वन को] प्रस्थान करो।

चौपाई— हरि दरसन करि आवहु भइया। तब तोहिं साँच दुलारइ मइया॥
झूँठ सनेह अबहिं कर ताता। प्रभुहिं मिलाव लाइ पितु माता॥

[पुन: साध्वी माँ ने कहा-] हे भइया! जब भगवान तुम्हें मिल जायें तो [एकबार] अवश्य आना, तब तेरी माँ तुझे सच में प्यार करेगी। हे तात! अभी का प्यार तो झूठा है। अत: जाओ! जाओ और भगवान को लाकर हमलोगों को भी दर्शन कराओ।

हमसों कानन जाय न जाई। तोपर कृपा कीन्हि हरिराई॥
तो सम सुअन न एहि जग ताता। तोरी लेति बलैया माता॥

बेटे! हम दोनों तो वन जाने में हर तरह से असमर्थ हैं किन्तु तुम पर तो भगवान ने महती कृपा की है। हे तात! इस समय जगत में तुम्हारे जैसा भाग्यवान पुत्र कोई है ही नहीं। अत: यह माता तुम्हारी बलैया लेती है (भगवान से तुम्हारे मंगल की कामना करती है)।

हम गृह भजि खोजहिं हरि चरना। तुम्ह बन देहु हरिहिं हित धरना॥
अबलौं जेहि सुत आपुन माने। सो प्रभु सुत नित आजहिं जाने॥

हे पुत्र! हम घर पर ही भगवान के चरणों का भजन करते हुए उनकी खोज करेंगे और तुम वन में जाकर भगवान के लिए कठिन व्रत धारण करो। अब तक हम जिसे मोहवश अपना पुत्र मानते रहे, वह तो सदा से भगवान का ही पुत्र था, इस बात को हमने आज जाना।

बहु अपराध भयो सुत जानी। तुम्हरे पथ बहु बाधा आनी॥
करहु छमा सो सब प्रिय ताता। तुम्हहिं मिलहिं सच हरि सुखदाता॥

बेटे! तुम्हें अपना पुत्र मानने से [तुम्हारे प्रति] बहुत अपराध हो गया, जिससे हमने तुम्हारे मार्ग में अनेक बाधाएँ खड़ी की। हे तात! हमारे उन सभी अपराधों को क्षमा करो! तुम्हें अवश्य ही सबको आनन्द देने वाले भगवान की प्राप्ति होगी।

दोहा— माँ पितु कह अस मृत्यु सुत हमहिं भयो बरदान।
आज मरहिं पर जिअहिं कल जब पावहु भगवान॥ ४१॥

माता-पिता ने पुन: कहा- हे पुत्र! तुम्हारे द्वारा हमलोगों की ऐसी मृत्यु हमारे लिए वरदान सिद्ध हो रही है। आज तो मानो हम मर रहे हैं किन्तु कल जब तुम भगवान को प्राप्त कर लोगे तो हम पुन: जीवित हो जायेंगे।

चौपाई— हनइ चोर सुत माँ पितु नितहीं। भाइ बंधु बिषई हित मितहीं॥
हनइ सराबी अउर जुवारी। हति हति देइ मातु पितु गारी॥

[बेटे! तुम्हारे मारने अर्थात् त्यागने में और औरों के मारने में बहुत ही अन्तर है। वह यह कि] चोर पुत्र भी अपने कर्मों से नित्य माता-पिता का वध ही करता रहता है, दु:ख देता रहता है तथा विषयी भाई-बान्धव, हित-मित्र, शराबी और जुआरी भी माता-पिता को भला-बुरा कहकर प्रताड़ित करते हुए वध ही करते हैं।

हनइ मातु पितु बेस्यागामी। तिन्हहिं बनाव नरक अनुगामी॥
हनइ सबहिं बिधि अति मनमानैं। कबहुँ न सो कछु माँ पितु जानैं॥

उसी प्रकार वेश्यागामी पुत्र तो माता-पिता को ऐसा मारता है कि उन्हें नरकगामी ही बना देता है। जो सर्वथा [शास्त्र विरुद्ध] मनमाना आचरण करता रहता है, कभी भी माता-पिता को कुछ नहीं समझता वह भी उनका वध ही करता रहता है।

हनइ मातु पितु पर अपकारी। निर्दय कुटिल कलह प्रिय भारी॥
हनइ मातु पितु गुरुतिय गामी। बेदमार्ग निंदक अति कामी॥

हे पुत्र! जो अत्यन्त निर्दयी, कुटिल, झगड़ालू और दूसरे का अहित ही करता रहता है, वह अपने माता-पिता का वध ही करता है। वैसे ही अत्यन्त कामी, वैदिक मत की निन्दा करने वाला, गुरुपत्नी से गमन करने वाला भी माता-पिता का वध ही करता रहता है।

हनइ जरावस्था बपु ताता। करइ मृत्यु तस प्रानहिं घाता॥
हनइ क्रोध लक्ष्मी कहँ जानहु। लाज नसाय काम सों मानहु॥

हे तात! यह जान लो कि जैसे वृद्धावस्था रूप का, मृत्यु प्राणों का, क्रोध लक्ष्मी का, काम का वेग शील-संकोच का,

हनइ दोषदर्सन धर्मन्ह कर। नीच चाकरी सत कर्मन्ह कर॥
हनइ ज्ञान सब बाग बिलासा। बुद्धिहिं मारइ जग अभिलासा॥

दोष-दर्शन धर्म का, नीच पुरुषों की सेवा सत्कर्मों का, वाग्विलास (चतुर बनने का प्रयत्न) ज्ञान का तथा जगत [के सम्पूर्ण वैभव एवं ऐश्वर्य] की कामना बुद्धि का नाश कर देती है-

दोहा— हरिहिं बिमुख माँ पितुहिं तस हनइ भगत सुत जोय।
तुम्ह हम बिषइन्ह तस हनौ धन्य न तुम्ह सम कोय॥ ४२॥

हे पुत्र! उसी प्रकार भगवान से विमुख माता-पिता का वध भगवद्भक्त पुत्र भी [उन्हें त्यागकर] करता है, अत: अब तुम भी हम जैसे विषयी लोगों का इसी तरह वध (परित्याग) कर दो, आज तुम्हारे समान कोई भी सौभाग्यशाली नहीं है।

चौपाई— जप तप योग करहु मन लाई। गहि हरि सुरति हमहिं बिसराई॥
स्वजन सगे हित मित कोउ भइया। सुरति करहु नहिं कह पितु मइया॥

बेटे! प्रभु प्राप्ति का लक्ष्य लेकर जप, तप, योग में ही मन लगाना और हमारा स्मरण न करते हुए एकमात्र भगवान का ही स्मरण करना। हम तुम्हारे माता-पिता तुम्हें आज्ञा दे रहे हैं कि सगे-सम्बन्धियों, स्वजनों, हित-मित्रों अथवा किसी को भी याद मत करना [क्योंकि ये सभी तुम्हारे परमार्थ में बाधा बनेंगे]।

जब प्रभु पावउँ यह पन ठानउ। तब सब बिसरि उनहिं गुन गानउ॥
बज्र हृदय करि यह जग त्यागहु। ब्रह्म अनामय पद अनुरागहु॥

जब तुमने ब्रह्म प्राप्ति की प्रतिज्ञा कर ही ली है तब सबकी याद भुलाकर उन्हीं प्रभु के नाम एवं गुणों का गान करना। हे वत्स! अब अपना हृदय वज्र का बनाकर जगत का परित्याग कर अनामय ब्रह्म के चरणों में ही प्रीति करो।

गुरुहिं मातु पितु हित मित निरखउ। सगुन ब्रह्म सुत उन्ह कहँ परखउ॥
जा बिधि कहें करन बिभु ध्याना। ता बिधि करहु न कछु मनमाना॥

हे पुत्र! आज से अपने गुरुदेव को ही माता-पिता तथा हित-मित्र समझना एवं उन्हें ही सगुण ब्रह्म जान लेना तथा वे जिस विधि से परमात्मा का जप, तप, ध्यान करने को कहें उसी विधि से करना, कुछ भी मनमाना मत करना।

बार बार चुम्बहिं पितु माता। करहिं तिलक पर मन न अघाता॥
अंक लाइ चितवहिं बहु भारा। प्रेम अमिय सींचहिं दृग धारा॥

इस प्रकार [भाव विह्वल होकर] माता-पिता बारम्बार उसे [गोमाता की भाँति] चूमते-चाटते हैं, तिलक करते हैं किन्तु हृदय को [इतने ही प्रेम से] तृप्ति नहीं हो रही है। वे दोनों उसे गोद में लेकर वात्सल्यमय दृष्टि से देखते हुए प्रेमाश्रुओं की अमृत धारा से उसका तन-मन भिगो रहे हैं।

दोहा— जाहु जाहु तुम्ह जाहु अब जाहु बनहिं मम लाल।
सुमिरि सच्चिदानंदघन सुत काटहु जगजाल॥ ४३ (क)॥

[वे कह रहे हैं-] जाओ-जाओ! मेरे लाल, जाओ! अब तुम वन के लिए शीघ्र प्रस्थान करो। हे पुत्र! सच्चिदानन्दघन भगवान का स्मरण करके संसाररूपी बन्धन को काट डालो।

करि परिकरमा माँ पितुहिं तिन्ह पद रज धरि सीस।
गयो बिपिन सौभागि सुत पाइ परम आसीस॥ ४३ (ख)॥

इस प्रकार वह परम सौभाग्यवान पुत्र अपने माता-पिता की परिक्रमा करके उनके चरणों की धूलि अपने माथे से लगाकर, उनसे परम आशीर्वाद प्राप्तकर वन प्रदेश चला गया।

चौपाई— तिन्ह दम्पति सम पार्थ लखाई। भीष्म द्रोन कह मन बिकलाई॥
तोरे रथ कालहु कर काला। हतु सुत अब हम भये बेहाला॥

हे पार्थ! उन्हीं दम्पती के समान दिखाई पड़ रहा है कि पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य मन में विकल होकर कह रहे हैं कि हे पुत्र (अर्जुन)! तुम्हारे रथ पर काल के काल- महाकाल [भगवान मधुसूदन] विद्यमान हैं, अत: [शोक-मोह का परित्याग कर] हमारा वध कर दो, क्योंकि अब हमारी दशा अति दयनीय हो गयी है।

तोरे बान मरन हम चहहीं। निरखि स्याम छबि भव नहिं बहहीं॥
तोर बान छेदइ बस गाता। प्रभु मूरति भेदइ हिय ताता॥

हे वत्स! तुम्हारे बाणों द्वारा ही हम मरना चाहते हैं क्योंकि भगवान श्रीश्यामसुन्दर की छवि का दर्शन करते हुए मरने से हम भवसागर से मुक्त हो जायेंगे। तुम्हारे बाण तो एकमात्र इस शरीर को बेधेंगे किन्तु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की मधुर छवि तो हमारी हृदय-ग्रन्थि का भी भेदन कर देगी।

अस संयोग न लेहु छड़ाई। आसिष दै पुनि देहिं बड़ाई॥
मैं इन्हके मन की सब जानउँ। तातैं इन्ह बध पाप न मानउँ॥

[हमारे मरने के] इस दुर्लभ संयोग को तुम मत छीनो, [तुम यदि ऐसा करते हो तो] हम तुम्हें विजय का आशीर्वाद देकर यश प्रदान करेंगे। हे महाबाहो! मैं इनके मन की समस्त बातें जानता हूँ, इसीकारण इनका वध करने में पाप नहीं मानता।

धरमजुद्ध सिष्यनि गुरु माहीं। भयो बहुत जानत जग जाहीं॥
परसुराम भीष्महिं रन भयऊ। निज पन दोउ दृढ़ सुजस न गयऊ॥

भौतिक गुरुओं और शिष्यों में [परम्परा से] बहुत से धर्मयुद्ध होते आये हैं, जिसे समस्त जगत जानता है। [एक बार] भीष्म पितामह और [इनके गुरुदेव] भगवान परशुराम में भी युद्ध हो चुका है किन्तु दोनों ही अपने प्रतिज्ञामय धर्म में स्थित थे इसलिए ऐसा करने पर भी उनका सुयश बना का बना रह गया।

दोहा— भीष्म सोच नहिं कीन्ह तब कारन कौन बताउ।
तजहु सोक अस जानि जिय नहिं निज नाक कटाउ॥ ४४॥

तब तो पितामह भीष्म ने शोक किया ही नहीं इसका कारण क्या था बताओ! हृदय में ऐसा जानकर शोक-सन्ताप त्याग दो, अपनी प्रतिष्ठा नष्ट मत करो।

चौपाई— लव कुस जब रामहिं परचारे। ते जानत सुत तउ धनु धारे॥
बालमीकि मुनि दीन्हि बचाई। छात्र धरम कहुँ रेख खँचाई॥

एक बार जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम को उनके पुत्र लव-कुश ने युद्ध की चुनौती दे डाली तब भलीभाँति पहचानते हुए कि ये मेरे ही पुत्र हैं तो भी उन्होंने युद्ध किया। [यह बात अलग है कि] वाल्मीकि मुनि ने आकर बीच-बचाव कर दिया। इस प्रकार मैं चुनौती के साथ कह रहा हूँ कि क्षत्रिय धर्म ऐसा ही है।

निज पन हेतु राम एक बारा। लखन दंड हित सभा पुकारा॥
निज कर बधउँ बंधु नहिं दोषा। तुम्ह सब करहु न मो पर रोषा॥

एक बार उन्हीं अयोध्यापति श्रीरामचन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा हेतु लक्ष्मण को मृत्युदण्ड देने के लिए भरी सभा के बीच बुलाकर सभासदों से कहा- मैं अपने हाथों से आज लक्ष्मण का वध करूँगा। ऐसा करने से मुझे थोड़ा भी दोष नहीं लगेगा, अत: आप सब मुझ पर रोष न करें।

तब गुरु संत कहहिं हरषाई। त्याग करहु इन्ह कहँ रघुराई॥
बध अरु त्याग एक सम अहहीं। बेद पुरान सास्त्र सब कहहीं॥

तब गुरुदेव वसिष्ठ एवं अन्यान्य सन्तों ने प्रसन्नतापूर्वक कहा- हे रघुनाथ! आप इन्हें त्याग दें; क्योंकि वेद-पुराण एवं शास्त्र सभी कहते हैं कि मृत्युदण्ड और त्याग एक समान ही हैं।

त्याग कीन्ह तेहि छन रघुनाथा। अनुज बधे पर पाप न माथा॥
यह सब समुझि न सोचु परंतप। पाप लगे जब एहि छन करु तप॥

उसी क्षण रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्र ने उनका परित्याग कर दिया। इस प्रकार अनुज लक्ष्मण का वध (परित्याग) करने पर भी उन्हें पाप नहीं लगा। हे परंतप! ऐसा विचार कर तुम शोक-सन्ताप का परित्याग कर दो, यदि इस समय तुम जप-तप करते हो तो पाप ही लगेगा। [क्योंकि इस समय तुम्हारे लिए युद्ध करना ही भजन, ध्यान, जप, तप सबकुछ है]।

सोच न गयो जबहिं इतनै पर। तब प्रभु ब्यंग बान लीन्हैं कर॥
महाराज देखत प्रभु रोषत। कह पंडित सम तू बहु घोषत॥

इतने पर भी जब [महात्मा अर्जुन का] शोक-सन्ताप नहीं गया तब भगवान ने हाथ में व्यंग बाण उठा लिया। महाराज देख रहा है कि भगवान कुपित हो [नाटक करते हुए] कह रहे हैं कि तुम पण्डितों की सी बहुत घोषणा कर रहे हो।

दोहा— पर पंडित नहिं मानऊँ कर बौरे सी बात।
कबहुँ बदत तू मूढ़ सों कबहुँ ज्ञान बरसात॥ ४५॥

परन्तु मैं तुम्हें पण्डित नहीं मानता हूँ क्योंकि तुम्हारी सारी बातें तो वास्तव में उन्मत्त के जैसी ही हैं। कभी तो मूर्खों के समान प्रलाप करते हो, तो कभी पाण्डित्य की झड़ी लगा देते हो।

चौपाई— पंडित बन कै मूढ़ कहाऊ। अबहिं दोउ महँ इक मग जाऊ॥
जो बकवास करइ गुरुपाहीं। सो मूरख जग माहिं कहाहीं॥

अरे! तुम पण्डित बनो या मूर्ख ही रहो, इस समय दोनों में से किसी एक रास्ते का ही चुनाव करो। जो अपने सद्गुरु के पास बकवास करता है वह जगत में मूर्ख कहा जाता है।

बेद मरम नहिं एकउ जानसि। पर आपुहिं पंडा बहु मानसि॥
पंडित सोइ परमारथ जानत। निज पर हरि माया पहिचानत॥

तुम्हें वेदों के रहस्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है परन्तु अपने को बहुत बड़ा पण्डित मान रहे हो! पण्डित तो वही कहलाता है जो परमार्थ (सत्य) को जानता है; अपने एवं पराये को तथा माया और ब्रह्म को स्पष्ट रूप से पहचानता है।

कै सब जानन हित सब त्यागी। गुरु पहिं जाये होइ बिरागी॥
ब्रत निष्काम लेइ जग जीयत। गुरु मुनि संत सों अमृत पीयत॥

अथवा [यदि नहीं जानता तो] सबकुछ जानने के लिए सबको त्याग कर वैरागी हो सद्गुरु के पास जाता है। वह जगत में निष्कामता का व्रत लेकर जीवन जीने लगता है तथा गुरु, मुनिजन एवं सन्तों से परम ज्ञानामृत का पान करता रहता है।

करत प्रयोग जाहि सो जानत। ताहि संत सुर पंडित मानत॥
हा माँ बाप करत जो ज्ञाता। तेहिं सम मूढ़ न एहि जग जाता॥

वह जो जानता है उसे प्रयोग में भी लाता है उसी को देवता एवं सन्त यथार्थत: पण्डित मानते हैं, किन्तु जो अपने को ज्ञानी एवं पण्डित समझता है और आपत्ति-विपत्ति में हाय माँ! हाय बाप! भी करता रहता है, उसके समान तो जगत में कोई मूर्ख ही नहीं हुआ।

दोहा— भाषइ तू पंडित सरिस सो पंडित नहिं होय।
बेद सास्त्र रटि खात बस प्रान जाइ तब रोय॥ ४६॥

यद्यपि तुम पण्डितों जैसा बोल रहे हो लेकिन वह पण्डित नहीं होता जो केवल वेद-शास्त्रों को रटकर अपनी जीविका चलाता है परन्तु जब प्राण जाने लगते हैं तो व्याकुल हो उठता है।

चौपाई— आगम निगम जो कछु नहिं जानइ। पर निसि दिन बस प्रभु कहँ ध्यानइ॥
करत जोग जप तप उपवासा। प्रभु तजि करइ न दूसरि आसा॥

जो शास्त्र-पुराण आदि कुछ नहीं जानता परन्तु दिन-रात भगवान के ही स्मरण में लगा रहता है, योग, जप-तप और उपवास किया करता है तथा भगवान को छोड़कर किसी अन्य की आशा नहीं करता-

सुख त्यागत दुख हरि कर मानत। ता महँ रहि निर्गुन गुन गानत॥
काहु रहनि बाधइ नहिं जेही। कहहिं सास्त्र जग पंडित तेही॥

वह [आये हुए] सुख को [भगवद्भक्ति में बाधक समझकर] त्याग देता है तथा दु:ख को भगवान का प्रसाद मानता है। उसी में रहकर वह निर्गुण ब्रह्म की आराधना करता है, किसी का भी आचार-विचार जिसके लिए

बाधा नहीं बनता है- उसी को समस्त शास्त्रों में पण्डित कहा गया है।

मैं तू यह वह मधुर पहेली। खोजत घर बन सुख दुख झेली॥
मान अमान माहिं रहि मौनी। बहत न बहु मत सरि एहि छौनी॥

हे भारत! मैं-तू, यह-वह एक मधुर पहेली है जिसे वह घर अथवा वन में सुख-दुःख सहन करते हुए खोजता रहता है, मान-अपमान में मौन रहता हुआ इस धरा पर बहुत-से सिद्धान्तरूपी नदी में [उसका चित्त] नहीं बहता।

जीवन मरन सो कछु नहिं मानत। यह सब मायामय पहिचानत॥
माखी मरे स्वजन बरु कोऊ। हिय संताप करइ नहिं जोऊ॥

वह जीवन-मरण को महत्त्व नहीं देता अपितु इन सबको मायामय समझता है। मक्खी मरे या किसी प्रिय स्वजन की मृत्यु हो [इन दोनों को समान समझता है तथा] इससे उसके मन में शोक-सन्ताप नहीं होता।

दोहा— तेहि कहँ पंडित मानऊँ तुव सम मूढ़हिं नाँय।
ब्यर्थ करत बकवास अरु थोरें महँ बिलखाय॥ ४७॥

मैं तो उसे ही पण्डित मानता हूँ न कि तुम्हारे जैसे मूर्ख को जो व्यर्थ ही बकवास करता है और थोड़ी-सी बात में व्याकुल हो जाता है।

चौपाई— परिभाषत तू पंडित भासा। जेहि महँ लागइ आसहिं आसा॥
एक बिदुर बर पंडित लक्षण। परिभाषत जो अतिहिं बिलक्षण॥

पण्डितों की एक परिभाषा तो तुम दे रहे हो जिसमें इच्छाओं का अन्त नहीं है और एक महात्मा विदुर ने [राजा धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्म आदि के पास] श्रेष्ठ पण्डितों के लक्षण को परिभाषित किया है जो अति विलक्षण है।

सोहमस्मि ज्ञानहु बिनु त्यागा। बाग्बिलास यहउ इक रागा॥
कर्म प्रीति बिनु आतमनिष्ठा। नहिं कहाय निज धर्म प्रतिष्ठा॥

'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान त्याग के बिना वाणी का विलास मात्र है, अतः यह भी एक भौतिक आसक्ति ही कही जायेगी। आत्मप्राप्ति के विपरीत कर्म में प्रीति, स्वधर्म में भलीप्रकार स्थिति नहीं कही जाती।

जग हित अहइ तितिक्षा जोऊ। भौतिक चाह कहावति सोऊ॥
भारत जगत इनहिं गुन मानत। पर पुरुषारथ तत्व न जानत॥

जगत के भले के लिए जो तितिक्षा है वह एकमात्र भौतिक कामना ही कही जाती है। हे भारत! जगत के लोग इन्हें गुण ही मानते हैं किन्तु पुरुषार्थ तत्त्व को नहीं जानते।

सेवत सुभ नहिं निंदित कर्मा। श्रद्धालू अरु आस्तिक धर्मा॥
ये सब सदगुन जाहि सुहावे। सोइ पंडित एहि जगत कहावे॥

वैसे ही जो शुभ कर्मों का ही सेवन करता है, अशुभ कर्मों का नहीं तथा श्रद्धालु, आस्तिक एवं धार्मिक है, ये सब सद्गुण जिसको प्रिय लगते हों वही इस जगत में पण्डित कहा जाता है।

क्रोध हर्ष दर्पहु अरु लाजा। अति अभिमान उच्छृंखल राजा॥
नासहिं नहिं कुभाव पुरुषारथ। जानहु पंडित सोइ यथारथ॥

क्रोध, हर्ष, दर्प, लज्जा, अभिमान की प्रबलता तथा उद्दण्डों का स्वामीपना- ये सब निकृष्ट भाव जिसके पुरुषार्थ का नाश नहीं करते, यथार्थ में वही पण्डित है।

सुनु मन गुनउ ताहि तुम्ह भ्राता। एहि तें अधिक कहउँ का बाता॥

हे प्रिय! उसे सुनो और मन में विचार करो! [उनके पास मेरे ही सिद्धान्त हैं,] इससे अधिक और मैं क्या कहूँ!

दोहा— गुप्त रखइ निज मंत्रणा बुझै न कोउ कर्तब्य।
कर्म पूर्ण भये जान सब सोइ पंडित मंतब्य॥ ४८॥

वह अपने कर्तव्य एवं मंत्रणा [और पूर्व में किये हुए गुप्त विचारों] को इतना गुप्त रखता है कि कोई भी नहीं

जानते अपितु कार्य पूर्ण होने पर ही सभी जानते हैं, वही जगत में पण्डित है।

चौपाई— सर्दी गर्मी भय अनुरागी। सम्पति किधौं दरिद्री लागी॥
बिघन करहिं नहिं जाकें काजै। सोइ पंडित एहि जग बहु भ्राजै॥

सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग, सम्पत्ति या दरिद्रता आदि जिसके कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है एवं जगत में अत्यन्त शोभायमान होता है।

धर्म चरति लौकिक मति जाकी। कबहुँ न चलति लोकमग बाँकी॥
छाँड़ि भोग पुरुषारथ धारत। पंडित सोइ जग संत उचारत॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म का ही अनुसरण करती है, कभी भी लोक मर्यादा के विरुद्ध नहीं चलती, जो विषय-भोगों को छोड़कर पुरुषार्थ को धारण करता है, इस जगत में सन्तों के द्वारा वही पण्डित कहा जाता है।

यथा सक्ति चाहत बहु करनो। करत सदा नहिं कछु भय धरनो॥
तुच्छ समुझि नहिं कोउ अवहेलत। आत्मरूप महँ बहु बिधि खेलत॥

जो शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार बहुत करने की कामना करता है तथा वैसा ही करता है, भय को अंशमात्र भी स्वीकार नहीं करता, तुच्छ समझकर किसी की अवमानना नहीं करता और अपने स्वरूप में अच्छीप्रकार निमग्न रहता है,

बिज्ञ पुरुष बहु काल सों सूनत। पर सीघ्रहिं मन महँ बहु गूनत॥
पुनि निष्काम करत पुरुषारथ। सोइ पंडित एहि जग सुनु पारथ॥

जो बुद्धिमान पुरुष बहुत काल तक [धैर्य पूर्वक दूसरों की बातों को] सुनता रहता है किन्तु अति शीघ्र ही मन में बहुत कुछ समझ लेता है; पुनः निष्काम कर्म करते हुए पुरुषार्थ का परिचय देता है, हे पार्थ! सुनो, इस जगत में वही पण्डित कहा जाता है।

दुर्लभ बस्तु न चाहत कबहूँ। गई बस्तु नहिं सोचत जबहूँ॥
निस्चय करि पुनि करत अरम्भा। तिहिं सों डिगत न जिमि दृढ़ खम्भा॥

वह कभी दुर्लभ वस्तु की कामना नहीं करता, जब कोई वस्तु नष्ट हो जाती है तो उसके लिए शोक भी नहीं करता। वह दृढ़प्रतिज्ञ होकर कार्य को प्रारम्भ करता है तथा [किसी व्यवधान के कारण उससे डिगता नहीं] लौह स्तम्भ की भाँति कर्तव्य पथ पर अडिग रहता है।

दोहा— श्रेष्ठ कर्म अभिरुचि रखत करत सबन्हि हित काज।
भारत सोइ पंडित अहै साँच बतावउँ आज॥ ४९॥

जो श्रेष्ठकर्म में ही अभिरुचि रखता है और सबके हित का कार्य करता है। हे भारत! आज मैं सत्य कहता हूँ कि वही पण्डित है।

चौपाई— समय ब्यर्थ खोवत नहिं धीरा। चित संयत होवत गम्भीरा॥
उपकारी महँ दोष न देखत। पंडित सोइ सब सास्त्रहु लेखत॥

जो धीर पुरुष व्यर्थ में समय व्यतीत नहीं करता, गम्भीर तथा चित्त को वश में रखने वाला होता है तथा उपकार करने वाले में दोष-दर्शन नहीं करता, उसे ही समस्त शास्त्र पण्डित कहते हैं।

मान मिलत हर्षित नहिं होवे। अवमानत मन महँ नहिं रोवे॥
गंग कुंड सम उर नहिं छोभा। सो पंडित जग पावइ सोभा॥

वह सम्मान मिलने पर हर्षित नहीं होता और अपमान मिलने पर दुःखी नहीं होता, भगवती गंगा के कुण्ड के समान जिसके चित्त में क्षोभ नहीं होता, वही इस जगत में पण्डित के रूप में अत्यन्त शोभित होता है।

जानत सर्बभूत कर मर्मा। कार्य कुसल सबसों बर सर्मा॥
तर्क निपुन प्रतिभा सम्पन्ना। ताकर मति सुनु प्रतिउत्पन्ना॥

वह सम्पूर्ण जीवों के यथार्थ मर्म का ज्ञान रखने वाला होता है, सभी कार्यों में कुशल होता है तथा विद्वानों में श्रेष्ठ होता है। वह तर्क-विशारद तथा प्रतिभा सम्पन्न होता है, उसकी मति सुनते ही तत्काल निर्णय लेकर उत्तर देने वाली होती है।

सास्त्र मरम अति सीघ्र बतावत। पंडित सोइ मुनिजन अस गावत॥
अनुसर ज्ञान श्रेष्ठ मति जाकी। गहइ ज्ञान बुद्धिहु बर बाँकी॥

जो शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को अति शीघ्र बता देता है वही पण्डित है, सन्तजन ऐसा कहते हैं। जिसका ज्ञान श्रेष्ठ बुद्धि का अनुसरण करता है और जिसकी सूक्ष्म बुद्धि श्रेष्ठ ज्ञान को धारण करती है,

लाँघति नाहिं साधु मर्यादा। पंडित सोइ एहि जग अपवादा॥

जिसकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती, वही पण्डित कहा जाता है जो अपवाद स्वरूप इस जगत में पाया जाता है।

दोहा— जद्यपि सब गुन तोहिं महँ आत्मज्ञान एक नाहिं।
डूबहु उतरहु याहि सों सोक सिंधु के माहिं॥ ५०॥

[हे जितेन्द्रिय!] यद्यपि तुझमें पण्डित के समस्त गुण हैं पर एकमात्र आत्मज्ञान से ही वंचित हो; इसीकारण तुम शोक-समुद्र में गोते लगा रहे हो।

चौपाई— प्रथमहिं सब तव सोक निबारउँ। पुनि पाछें युद्धहिं सुधि धारउँ॥
तो सम सोक करइ एक काला। मुनि कुमार सुनु जाकर हाला॥

अब मैं सर्वप्रथम तुम्हारे समस्त शोक-सन्ताप को दूर करूँगा उसके उपरान्त युद्ध की सुध-बुध लूँगा। एक बार तुम्हारे ही समान एक मुनिकुमार शोक-सन्तप्त हो गया था, उसकी दशा को सुनो!

सुनु तैं सो पुनीत इतिहासा। सुनतहिं होय सोक भ्रम नासा॥
दीर्घतपा ऋषि सँग निज नारी। बसहिं गंगतट दृढ़ व्रत धारी॥

अब तुम वह पवित्र कथा सुनो, जिसके सुनते ही शोक-भ्रम का नाश हो जायेगा। दीर्घतपा नामक एक दृढ़व्रती सन्त थे जो गंगाजी के तट पर अपनी धर्मपत्नी के साथ वास करते थे।

आत्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। राग द्वेष दुख निसा नसानी॥
तन तजि मुनि निज धाम सिधाये। द्वन्द्वातीत परम पद पाये॥

वे विज्ञानवेत्ता मुनि आत्मज्ञान परायण थे, उनकी राग-द्वेषरूपी दु:खद रात्रि का नाश हो गया था। जब वे जर्जर तन का परित्याग कर अपने लोक को चले गये और द्वन्द्व से परे परमपद प्राप्त कर लिए तो-

मुनि पतिनिहिं मन भयो बिरागा। दीर्घतपा मुनिपद अनुरागा॥
योगक्रिया सों सोउ तन त्यागी। पति अनुसरन कीन्हि सौभागी॥

ऋषिपत्नी के मन में वैराग्य हो गया जिसका एकमात्र अनुराग दीर्घतपा मुनि के चरणों में ही था। अत: उस सौभाग्यशालिनी ने भी यौगिक क्रिया द्वारा शरीर त्यागकर पति के मार्ग का अनुगमन किया।

दोहा— अस्त होत जिमि गगन ससि प्रभा जाय तहँ साथ।
कीन्हि पतिहिं अनुगमन तिमि जेहि सुत नाये माथ॥ ५१॥

जिसप्रकार आकाश मण्डल में चन्द्रमा के अस्त होने पर उसकी ज्योत्स्ना उसी के साथ चली जाती है उसी प्रकार उस साध्वी ने भी अपने पति का अनुगमन किया; जिसका उसके पुत्रों ने अत्यन्त स्वागत किया।

चौपाई— ज्येष्ठ सुतहिं नहिं कछु संतापा। पुण्य नाम जाकर जग ब्यापा॥
पावन नाम हुते लघु भाई। तिन्ह हिय सोक बरनि नहिं जाई॥

[उन दोनों के शरीर छोड़ने पर] पुण्य नाम से जगत विख्यात ज्येष्ठ पुत्र को कोई शोक-सन्ताप नहीं हुआ, परन्तु पावन नामक जो उनके छोटे भाई थे उनके मन में ऐसी असह्य वेदना हुई, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

मृतक कर्म सब पुण्य कराये। सोकाकुल पावन पहिं आये॥
कह प्रिय मोह सोक कर कारन। एहि तम घन निसि करहु निबारन॥

जब बड़े भाई पुण्य ने [अपने माता-पिता का] श्राद्धकर्म सम्पन्न कर लिया तो शोकग्रस्त पावन के पास आकर बोले- हे प्रिय! मोह ही शोक का कारण है अत: इस अज्ञानमय घोर रात्रि को त्याग दो।

तुव पितु मातु मोक्षपद पाये। संत जाहि निज रूप बताये॥
सोइ सब जग प्राणिन्ह कर आश्रय। ताहि बिना सब जीव निराश्रय॥

तुम्हारे माता-पिता उस मोक्षपद को प्राप्त कर चुके हैं जिसे सन्तजन आत्मस्वरूप बताते हैं। हे प्रिय! वही परमपद समस्त जगत के प्राणियों का आश्रय है उसके बिना सभी जीव आश्रयरहित हैं।

जब आतमजित ब्रह्मस्वरूपा। अनघ अचिन्त्य न गै भवकूपा॥
निजस्वरूप भये जब पितु माता। तब पुनि पुनि सोचहु कस ताता॥

हे तात! जब माता-पिता जो जितात्मा एवं ब्रह्मवेत्ता थे, संसाररूपी कुएँ में न पड़कर अनघ अचिन्त्य ब्रह्म को प्राप्त होकर आत्मस्वरूप हो गये तब तुम उनके लिए व्यर्थ में बार-बार शोक-सन्ताप क्यों करते हो?

दोहा— मोह जनित ममताभरे भाव गहे तुव आज।
सोचनीय नहिं मातु पितु तिन्ह सोचत नहिं लाज॥ ५२॥

मोह से उत्पन्न हुई ममतारूपी भावना ने तुम्हें आज अच्छी तरह से बाँध लिया है। जो माता-पिता [स्वप्न में भी] शोचनीय नहीं थे उनके विषय में शोक-सन्ताप करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं लगती?

चौपाई— ते न मातु पितु तुम्हरें भाई। बादि बिषाद करहु दुखदाई॥
जिमि बन नीर बहन हित नारो। होहिं तात तुम्ह समुझ हजारो॥

हे भाई! यथार्थ में वे तुम्हारे माता-पिता नहीं थे, अत: तुम व्यर्थ में विषाद कर रहे हो जो दु:ख ही देने वाला है। तुम यह समझ लो कि जिसप्रकार वन-प्रदेश में जल बहने के लिए हजारों नाले होते हैं-

तिमि तुम्ह बहुत जनम लिए ताता। तहँ तहँ भये बिपुल पितु माता॥
उननैं तहँ बहु सुत जनमाये। एक न तुम्हहि जो अस बिलखाये॥

उसी प्रकार तुमने बहुत से जन्म लिये हैं और उन-उन जन्मों में तुम्हारे असंख्य माता-पिता हो चुके हैं। उन्होंने वहाँ असंख्य पुत्रों को जन्म दिया है। एकमात्र तुम्हीं उनके पुत्र नहीं हो जिससे मन में इतने विकल हो रहे हो।

जिमि तरंग प्रगटहिं बिनसाहीं। तिमि बहु जनम आयँ सुत जाहीं॥
कहति नीति यदि सोक करन को। अरु तुव सम चित मोह धरन को॥

जिसप्रकार जल में तरंगें प्रकट होकर विलीन होती रहती हैं उसी प्रकार अनेक जन्मों से असंख्य पुत्र आते और चले जाते हैं। यदि नीति सच में शोक करने को कहती है एवं तुम्हारे समान मोह को चित्त में धारण करने को कहती है-

तौ बहु जनम मातु पितु केरी। चिंतहु काह न हृदय घनेरी॥
अस जिय जानि बिषादहिं त्यागहु। अनघ अरोष रूप अनुरागहु॥

तो अनेक जन्मों में जो [हमारे] बहुत से माता-पिता हो चुके हैं उनके लिए हृदय में विशेष शोक-सन्ताप क्यों नहीं करते? अत: ऐसा जानकर अपने हृदय का विषाद त्यागकर अपने निष्पाप एवं दु:खरहित स्वरूप का चिन्तन करो।

दोहा— जगत कलपना निमित यह सब प्रपंच चित भास।
करि न सकत अस मातु पितु स्वजनहु कोउ उर बास॥ ५३॥

हे प्रिय! इस जगत भाव की कल्पना के कारण ही यह सब प्रपंच हृदय में भासमान हो रहा है अन्यथा माता-पिता और स्वजन आदि कोई भी हृदय में वास कर ही नहीं सकते।

चौपाई— ज्ञान दृष्टि सों चिंतहु ताता। अहइ काह जग महँ सच बाता॥
सबकर मिलन कहाँ सों आहीं। तन तजि सबहिं कहाँ पुनि जाहीं॥

अत: हे तात! तुम ज्ञानदृष्टि से चिन्तन करो कि इस जगत में सत्य क्या है? सबका मिलन कहाँ से हुआ है तथा शरीर त्यागकर सभी पुन: कहाँ जायेंगे?

सबके आदि मध्य अवसानहिं। तुम्हरें पहिं नहिं कछु परमानहिं॥
अबसों तुम्ह खोजहु यह भाई। मोह सोक संताप गँवाई॥

सबके आदि-अन्त और मध्य के विषय में तुम्हारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है। हे अनुज! अब से भी तुम शोक, मोह और सन्ताप भुलाकर इस रहस्य की खोज करो।

खोजत निज सरीर नहिं पावहु। पुनि उर सोक सकल बिसरावहु॥
जग लखाय भ्रम सों चित माहीं। आतमचिंतन करत बिलाहीं॥

खोजने पर तो अपने को भी शरीररूप में नहीं पाओगे, फिर तो हृदय के समस्त शोक-सन्ताप को भूल जाओगे। भ्रम से चित्त में जगत की प्रतीति हो रही है जो ब्रह्मचिन्तन करने से नष्ट हो जायेगी।

यह अब मरइ जनम भयो याको। ये सब बंधु मातु पितु वाको॥
अस कुदृष्टि तम चित सों आई। जा महँ सकल जगत भरमाई॥

अब इसका जन्म हो गया, अब यह मृत्यु को प्राप्त होगा, ये सब उसके माता-पिता, बन्धु-बान्धव हैं- इस प्रकार की क्षुद्रदृष्टि अज्ञानमय चित्त से ही उत्पन्न हुई है, जिसमें सारा जगत भ्रमित हो रहा है।

दोहा— सत्य कहउँ जिमि रबि उदित अंधकार चलि जाय।
चिंतत आत्मस्वरूप तिमि माया ठगिनि पराय॥ ५४॥

हे अनुज! मैं सत्य कहता हूँ- जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होते ही अन्धकार चला जाता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करते ही मायारूपी ठगिनी न जाने कहाँ भाग जाती है!

चौपाई— सत्य कहउँ पावन मत रोसहु। अपुनें हृदय नाहिं बहु कोसहु॥
माता पिता हीत मित भ्राता। दारा सुअन सुहृद निज गाता॥

प्रिय पावन! मैं सत्य कहता हूँ- तुम दुःखी मत होओ और न ही मन को अत्यधिक क्षुब्ध करो! [इतना जान लो कि] माता-पिता, हित-मित्र, भाई, पत्नी-पुत्र, सुहृद और अपना शरीर-

कुल कुटुम्ब अरु मान बड़ाई। धन परिजन अति बरनि न जाई॥
राग द्वेषमय इन्हकर रूपा। संत कहत परपंच अनूपा॥

कुल-परिवार, मान-सम्मान, धन-परिजन आदि अपार हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता; इन सबका स्वरूप राग-द्वेषमय है। सन्तजन कहते हैं कि यही आश्चर्यमय माया है।

सरग नरक बंधन अपबर्गा। जाग्रत सपन अपर बहु सर्गा॥
जगत अजगत जहाँ लगि भेदा। गुन अवगुन गावहिं जिन्ह बेदा॥

स्वर्ग-नरक, बन्धन-मोक्ष, जाग्रत, स्वप्न [सुषुप्ति] तथा नाना प्रकार की अन्य सृष्टियाँ एवं लोक-परलोक के जहाँ तक भेद एवं गुण-अवगुण हैं जिनका वेदों ने निरूपण किया है-

राग द्वेष सोकउ अरु मोहा। दिब्य बिषयकर सुख संदोहा॥
ये मायामय रोग कहाहीं। बहुतहि जतन करत नहिं जाहीं॥

तथा राग-द्वेष, शोक और मोह एवं दिव्य विषयों के सुखों का समूह- ये सब मायामय रोग कहे जाते हैं। इनको हटाने के लिए चाहे जितना प्रयास किया जाय किन्तु ये जाते नहीं हैं।

दोहा— मातृभाव जिहिं तन भयो तिहिं मन माता भाव।
पितृ भाव जब जाहिं सन ताहि पिता अनुभाव॥ ५५ (क)॥

जिस शरीर के प्रति मातृभाव हो जाता है उसी को मन माता मान लेता है तथा जब जिसके प्रति पितृभाव हो जाता है उसी को पिता मान लेता है।

जिहि तन प्रति जस भावना सो तस भावै ताहि।
अस बिचित्र परपंच यह ब्रह्मचित्त महँ आहि॥ ५५ (ख)॥

[हे पावन!] जिस शरीर के प्रति जैसी भावना हो जाती है वह उसे वैसा ही प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार यह विचित्र माया [एकमात्र] शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के ही चित्त में वास करती है।

चौपाई— पर सब तन महँ एकइ रूपा। ब्रह्म अभिन्न अनादि अनूपा॥
तेहि महँ मैं तू मम अरु तोरा। कस कल्पइ मन भाय न मोरा॥

परन्तु सभी शरीरों में एक ही स्वरूप वाला अभिन्न, अनादि और अनुपम ब्रह्म वास करता है, अत: उसमें मैं-तू, मेरे-तेरे आदि की कल्पना तुम कैसे कर रहे हो, यह मेरे मन को अच्छा नहीं लग रहा है!

जब सब रूप सर्बगत अहई। ब्रह्म अगोचर सब तन बहई॥
तब कस कहउ मित्र अरु भ्राता। इहइ स्वजन बैरी पितु माता॥

जब इन्द्रियातीत ब्रह्म ही सर्वरूपों में, सब जगहों में तथा सब शरीरों में वास करता है; तब तुम यह बात कैसे कह रहे हो कि ये माता-पिता, भाई-बहन, हित-मित्र एवं वैरी हैं।

हे पावन यह छुद्र कलपना। अस बिचारि मन तजहु जलपना॥
यह तन अस्थि मांस कर रूपा। करहु खोज निज सत्यस्वरूपा॥

हे अनुज पावन! ये मात्र मन की क्षुद्र कल्पना है; मन में ऐसा विचार करके समस्त बकवास का परित्याग कर दो। यह शरीर तो मांस और अस्थि का ढाँचा मात्र है अब तुम अपने सत्यस्वरूप की खोज करो।

मज्जा रक्त पीब अरु लारा। त्वचा रोम सों कर सिंगारा॥
एहि पंजर इंद्रिय दस द्वारा। करइ वायु सब महँ संचारा॥

इसमें मज्जा, रक्त, पीव और लार की बहुतायत है, जिस पर चमड़े और बाल से शृंगार किया गया है। इस अस्थि-पंजर में दस इन्द्रियरूपी दरवाजे दिखाई दे रहे हैं जिनमें वायु का संचार हो रहा है।

इन्ह महँ तुम्हरो को पितु माता। जासे तुम्ह अतिहीं बिलपाता॥
तुम्हहि कहहु सोनित पित माँसा। हाथ पावँ अरु पृष्ठ बतासा॥

इन [उपरोक्त अंग-उपांगों] में तुम्हारे माता-पिता कौन हैं जिससे तुम इतने विकल हो रहे हो! अब तुम्हीं बताओ कि रक्त, पित्त, मांस, हाथ, पाँव, पीठ और वायु-

दस इंद्रियनि अपर सब अंगा। इन्ह महँ को तुम्ह कहउँ असंगा॥
जनम मरण बढ़नो घटनोई। भूख प्यास एहि तन कर होई॥

दस इन्द्रियों तथा अन्य दूसरे अंगो में से तुम कौन हो? मेरे अनुसार तुम इन सबसे असंग हो। हे पावन! जन्म लेना, मरना, घटना-बढ़ना, भूख एवं प्यास लगना- ये सब तो शरीर के धर्म हैं।

दोहा— अब खोजहु निज धर्म तुम्ह यहि जीवन कर सार।
मैं पावन तुम्ह पुण्य यह मिथ्याज्ञान तुम्हार॥ ५६॥

अब तुम अपने धर्म की खोज करो यही जीवन का सार है। मैं पावन हूँ, तुम पुण्य हो- यह तुम्हारा झूठा ज्ञान है।

चौपाई— आत्मभिन्न यदि लिंग सरीरा। जो बहु योनि जगतमहँ फीरा॥
जो बहु जनम पर्‌यो भवकूपा। तेहि तुम्ह मानहु आपुन रूपा॥

आत्मा से भिन्न जो लिंग (सूक्ष्म) शरीर है, जो बहुत-सी योनियों में जगत में घूमता-फिरता रहता है और जो बहुत जन्मों से जगत रूपी कुँए में पड़ा हुआ है, यदि उसे ही तुम अपना स्वरूप मानते हो-

तउ तुम्ह तात न सोचन जोगू। तुम्हरो तहउँ हुते बहु लोगू॥
तहुँ पितु मातु बंधु सुत दारा। स्वजन सगे बैभव बहु भारा॥

तो भी हे तात! तुम सोच करने के योग्य नहीं हो क्योंकि उन योनियों में भी तुम्हारे बहुत सारे लोग थे। वहाँ भी तुम्हारे माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री एवं स्वजन, सम्बन्धी थे तथा अपार वैभव भी था।

सबहिं नसाइ गये तेहि काला। जब आये तुम्ह इहिं जगसाला॥
तिन्हकर करहु न काहे सोका। का तुम्ह जानहु सबहिं असोका॥

उनका उसी समय नाश हो गया, जब तुम इस जगतरूपी यज्ञशाला में आये। तुम उन सभी की चिन्ता क्यों नहीं कर रहे हो, क्या तुम समझते हो कि वे सब शोकरहित (आत्मज्ञानी) थे?

पूरब योनि बंधु पितु माता। तजि निज प्रान भये मृग ताता॥
बिचरहिं एहि बन जिनहिं न जानहु। बृथा ज्ञान गहि इन्हि पसु मानहु॥

अरे! वे पूर्वयोनि के माता-पिता, बन्धु-बान्धव तो अपने प्राण त्यागकर वन्यपशु हो गए हैं, वे इसी वन-प्रदेश

में विचरण कर रहे हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते हो और अज्ञान के कारण इन्हें पशु समझ रहे हो।

दोहा— जे त्रिकाल नहिं आपुनें यह बिचित्र अज्ञान।
यासें माँ पितु समुझि तिन्ह बिलपहु नाहिं सुजान॥ ५७॥

हे बुद्धिमान्! यह मायामय अज्ञान अति विचित्र है। अत: जो तीनों कालों में कभी भी अपने नहीं थे, उन्हें माता-पिता, बन्धु-बान्धव मानकर इतना शोक-सन्ताप मत करो।

चौपाई— तुम्ह एहि जग जनमहु बहु बारा। मैं देखउँ सबकर बिस्तारा॥
महुँ बहु योनि भरमि जग आयों। ज्ञानदृष्टि सों अब लखि पायों॥

तुम भी इस संसार में बहुत बार जन्म ले चुके हो इस जन्म-मृत्यु के क्रम को मैं भलीभाँति देख रहा हूँ। मैं भी बहुत-सी योनियों से घूमता-फिरता इस संसार में आया हूँ, जिसे अब अपने ज्ञाननेत्रों से देख पा रहा हूँ।

पूर्ब बासना तन गहि भाई। नृत्य करहिं जो कर्म कहाई॥
ये सब रूप बासना केरी। स्वजन सगे सम दीख घनेरी॥

हे तात! पूर्वजन्म की सारी वासनाएँ ही शरीर धारण कर नाना प्रकार से नृत्य कर रही हैं जिसे कर्म कहा जाता है। [यही नहीं] ये सब वासना के ही रूप हैं जो बहुत से स्वजनों, सगे-सम्बन्धियों के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं।

अब की मातु कालि की दासी। तिसरे जनम होय अघरासी॥
होय चौथ महँ सुत अपनोई। पंचम अरि बनि मारति सोई॥

इस जन्म में जो माँ है वह दूसरे जन्म में दासी बन जाती है तो तीसरे जन्म में महापापात्मा हो जाती है। चौथे जन्म में वही अपना पुत्र बन जाती है तो पाँचवें जन्म में शत्रु बनकर वध कर डालती है।

छठे जनम तेहिकर हय होऊँ। सो असवार बने मैं रोऊँ॥
सप्तम जनम स्वान बनि आवति। करि सेवकाई रिनहिं चुकावति॥

छठे जन्म में कभी मैं ही उसके यहाँ घोड़ा बनकर आता हूँ तो वह मुझपर सवारी करती है और मैं रोता रहता हूँ। सातवें जन्म में वही [माता] कुत्ता बनकर आ जाती है और सेवकाई कर ऋण चुकाती है।

काहु जनम होवउँ मछुआरो। मीन बनें तब स्वजन हमारो॥
जाल डारि जल सबहिं फँसाऊँ। बहुबिधि राँधि पेटभरि खाऊँ॥

किसी जन्म में मैं मछुआरा बन जाता हूँ तो ये सभी बन्धु-बान्धव मछलियाँ बनकर मेरे द्वारा जल में डाले गये जाल में फँस जाते हैं, फिर मैं उन्हें अच्छी प्रकार पकाकर भरपेट खाता हूँ।

अब के स्वजन कालि के काला। हतहिं सत्रु गुनि हनि बहु भाला॥
भये कबहुँ सब मोर अहारा। ये भै पसु तब मैं भयों चारा॥

इस प्रकार आज के स्वजन ही अगले जन्म में काल बन शत्रु समझकर भाले-बर्छे से मार डालते हैं। अत: कभी ये सभी मेरे भोजन बन गये और जब ये पशु बने तो इनके लिए मैं घास-पात बन गया।

एहि बिधि बहुत जनम भरमाये। इच्छा रूप कहाँ लगि गाये॥
किन्हके सोक करहिं हम ताता। किन्ह हित तनिक न बिलपहिं भ्राता॥

इस प्रकार वासनारूप ये सभी [माता-पिता, बन्धु-बान्धव एवं हित-मित्र] अनेक जन्मों में चक्कर काट रहे हैं जिसे कहाँ तक कहा जाय। हे तात! हम किनके विषय में शोक-सन्ताप करें और किनके विषय में थोड़ी भी चिंता न करें।

दोहा— अब भरमउँ कोउ जनम नहिं पायउँ सहज स्वरूप।
कहत सच्चिदानंद जेहि अबिगत अलख अरूप॥ ५८॥

हे प्रिय! मैं तो अब किसी जन्म में भ्रमण नहीं करूँगा [आवागमन से मुक्त हो जाऊँगा] क्योंकि जिसे अज्ञेय, निर्गुण-निराकार तथा सच्चिदानन्द कहा जाता है मैंने अपने उस सहज स्वरूप को प्राप्त कर लिया है।

चौपाई— तुम्हसों आज निहोरउँ ताता। अहं रूप माया सब भ्राता॥
मन महँ फुरित होय दिन राती। त्यागहु तुम्हरो नाहिं सँघाती॥

हे तात! मैं आज तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि जो कुछ भी अहं रूप है वह सब माया ही है जो मन में

दिन-रात 'मैं-तू,' 'मेरा-तेरा' के रूप में प्रकट होती रहती है, अत: तुम इसका सर्वथा त्याग कर दो, यह प्रपंच तुम्हारा मित्र नहीं हो सकता।

नित स्वरूप सुमिरहु अपनोई। जनम मरण जाकर नहिं होई॥
परम बुद्धिवारे हे पावन। स्वजन न कोउ तुम्हरो मनभावन॥

उसके उपरान्त तुम सदा अपने आत्मस्वरूप का स्मरण करते रहो जिसका कभी जन्म-मरण नहीं होता। हे परम बुद्धिमान पावन! तुम्हारे मन को प्रिय लगने वाले तो कोई स्वजन हैं ही नहीं, [तुम तो अपने-आप से अपने स्वजन हो]।

दीप न जिमि प्रकास बिखरावे। बस जोती निमित्त दिखरावे॥
जरइ दीप तउ सबरें भाषें। पर प्रकास मन कर्ता राखें॥

जिस प्रकार दीपक प्रकाश नहीं करता अपितु प्रकाश बिखरने में निमित्त मात्र दिखाई पड़ता है तो भी लोग कहते हैं कि दीपक जल रहा है लेकिन मन के भीतर यह भाव रहता है कि प्रकाश ही प्रकाशित हो रहा है अर्थात् प्रकाश ही किसी पदार्थ या वस्तु को प्रकाशित करता है।

तिमि ज्ञानिहु जगहित ब्यवहारा। करत नित्य सम सुद्ध अचारा॥
किंतु न मानइ कर्मन्हि कर्ता। निज कहँ जानइ नित्य अकर्ता॥

उसी प्रकार ज्ञानी भी लोकसंग्रह के लिए सदा सम एवं शुद्ध व्यवहार करता है फिर भी अपने को कर्मों का कर्ता न मानकर सदा अकर्ता ही मानता है।

दोहा— काम कलंक न जाहि चित निर्बिकार गत भेद।
परमारथ पथ निपुन जो जान मरम सब बेद॥ ५९ (क)॥

जिसके हृदय में कामरूपी कलंक का वास नहीं है, जो निर्विकार एवं भेदबुद्धि से रहित है, जो परमार्थ पथ में अति कुशल है, वही सम्पूर्ण वेदों के रहस्य को जानता है।

आत्मरूप परमारथी गुरु सों भरम मिटाय।
निजानंद होइ बिचरहु बहुरि सोक नहिं आय॥ ५९ (ख)॥

हे पावन! तुम आत्मरूप किसी परमार्थी गुरु से संशय एवं भ्रम का समाधान कराकर अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप में स्थित होकर जगत में विचरण करो जिससे पुन: इस प्रकार का शोक-सन्ताप नहीं होगा।

मासपारायण, चौथा विश्राम

चौपाई— एहि बिधि पार्थ पुन्य समुझाये। ज्ञान पाइ पावन हरषाये॥
परम बिबेक मिलइ जेहि मीता। बुद्धि सयानी सखी नमीता॥

हे पार्थ! इस प्रकार जब पुण्य ने [अनुज पावन को] ज्ञानोपदेश द्वारा समझाया तब पावन उस अमृतमय ज्ञान से अति हर्षित हो गये [उनका शोक-सन्ताप जाता रहा]। उसी प्रकार जिसको परम विवेकरूपी मित्र मिल गया है, जिसको अति शीलवान चतुर बुद्धिरूपी सहेली मिल गई है-

ज्ञान बिराग बिमल दोउ नयनाँ। सबसों सरसइ अमृत बयनाँ॥
तेहि पर कबहुँ बज्र दुख परई। तबहुँ सोक सो नहिं कछु करई॥

जिसके पास ज्ञान और वैराग्यरूपी अति निर्मल दो नेत्र हैं, जो सबसे अमृतमय वचन ही बोलता है, उसके पास यदि कभी वज्र के समान दु:ख आ भी जाय तो वह [हृदय में] थोड़ा भी शोक-सन्ताप नहीं करता।

निज स्वरूप जो आहि अनंदा। तेहि सम्मुख त्रय जग सुख मंदा॥
सुधा सरिस मन सुद्ध होत जब। परमानंद रसति बसुधा तब॥

अपने स्वरूप में जो आनन्द है उसके सामने तो तीनों लोकों का सुख अति तुच्छ है। हे पार्थ! जब अपना मन विशुद्ध अमृतमय हो जाता है तब यह धरती भी सब ओर से परमानन्द रस का संचार करने लगती है।

देउँ ब्रह्मबिद्या तुम्ह लेहू। धीर तजहु अस झूठ सनेहू॥
त्यागहु तन मन उर बिकलाई। प्रमुदित लेहु जनमफलु भाई॥

हे धैर्यवान! मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान दे रहा हूँ इसे स्वीकार करो और इस प्रकार की झूठी ममता त्याग दो। अब तन, मन एवं हृदय की व्याकुलता को त्याग दो और प्रसन्नतापूर्वक जन्म लेने का उद्देश्य प्राप्त कर लो।

ज्ञान परम पावन जब पायो। ता छन सबरें सोक नसायो॥
सुनि प्रभु सों बर गाथा पारथ। बोलहिं जनु बोलइ परमारथ॥

हे वीर! जब पावन को परम ज्ञान की प्राप्ति हो गयी तो उसी समय उसका समस्त शोक-सन्ताप नष्ट हो गया। भगवान से इस अमृतमय आख्यान को सुनकर महात्मा अर्जुन ऐसे बोले, मानो परमार्थ ही [मूर्तरूप धारण कर] बोल रहा हो।

माधव मानउँ अनुपम पाथा। अबलौं गाये जो प्रिय गाथा॥
पर उननैं न बधे सुत काहू। स्वजन सगे गुरु बंधु पिताहू॥

हे माधव! मैं मान रहा हूँ कि अब तक आपने जो गाथा सुनायी है वह मेरे लिए अलौकिक पथ्य है; किन्तु उन भाइयों ने किसी पुत्र, स्वजन, सगे-सम्बन्धी, गुरु या पिता आदि का वध तो किया नहीं था।

उनहिं सोक संतापहु कैसो। तिन्हकर दुख नहिं मेरो जैसो॥
उन महँ पुन्य ज्ञान बर धार्‌यो। माँ पितु रहतहिं काज सँवार्‌यो॥

उन्हें शोक-सन्ताप किस बात का होगा? उनका दु:ख तो मेरे समान नहीं है क्योंकि उनमें से पुण्य ने तो माता-पिता के रहते ही आत्मज्ञान प्राप्त करके अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

दोहा— माँ पितु हित पावन बिकल ताहि धरम कह बेद।
तेहितें पाये ज्ञानघन जासे रह्यो न खेद॥ ६०॥

और जो पावन माता-पिता के वियोग में अति विकल हुआ उसे वेद धर्म ही कहते हैं जिसका परिणाम हुआ कि उसने अपने बड़े भ्राता पुण्य से परमज्ञान प्राप्त कर लिया और उसका शोक-सन्ताप नष्ट हो गया।

चौपाई— मोरेहुँ पिता मरे यदुनाथा। भयों बिकल कछु गयों न साथा॥
जानउँ जग जो आव सो जावे। सरग नरक निज कर्मन्हि पावे॥

हे यदुनाथ! मेरे पिताजी जब स्वर्गवासी हो गये तो मैंने भी विकल होकर कुछ रो-गा लिया लेकिन साथ तो नहीं गया! मैं इसे जानता हूँ कि जो जगत में आया है वह जायेगा और अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक प्राप्त करेगा।

पर सुत पौत्र बधें पितु माता। स्वजन पितामह गुरु मित भ्राता॥
तौ गति पावत असुभ भयंकर। कहत संत सुर जगत अचर चर॥

किन्तु पुत्र या पौत्र अपने माता-पिता, स्वजन, पितामह, गुरु, मित्र या अपने भाई का वध करें तो उसे [लौकिक-पारलौकिक दोनों ही दृष्टि से] महाभयंकर अशुभ गति प्राप्त होगी- ऐसा सभी सन्त, देवता एवं चराचर जगत कहता है।

अबलौं प्रभु उपदेसेउ जोई। सुनि संसय अस मम मन होई॥
येन केन बिधि चाहउ जुद्धा। संत बेद अरु लोक बिरुद्धा॥

हे माधव! अब तक आपने जो कुछ भी ज्ञानोपदेश दिया है, इसे सुनकर मेरे मन में ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप जैसे भी हो युद्ध ही चाहते हैं, जो सन्त, वेद तथा लोकविरुद्ध है।

मैं माँग्यों बस सम संतोषा। देन लगे तुम्ह पद निर्दोषा॥
मोक्ष परमपद मोहिं न चहई। पुनि माधव एहि महँ क्यों कहई॥

मैंने तो एकमात्र आप से शान्ति एवं सन्तोष माँगा था लेकिन आप तो मुझे ब्रह्मपद ही देने लगे। जब मैं इस महत्-पद को चाहता ही नहीं तो [हे यदुनन्दन!] फिर आप इस विषय में क्यों कुछ कह रहे हैं?

तब मृदु बचन कहत यदुराई। लीन्हें तुम्ह मोहिं गुरू बनाई॥
देन चहउँ तोहिं प्रभु पद ताता। जाहि दिये बिनु मन न अघाता॥

तब यदुनाथ ने मधुर वाणी में कहना प्रारम्भ किया कि तुमने मुझे सदगुरु बना लिया है न! इसीलिए हे प्रिय! मैं तुम्हें ब्रह्मपद देना चाहता हूँ जिसे दिये बिना मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है।

सदगुरु पहिं जो अहइ सो देही। सरणागत पन आपु निबेही॥
जाके तन मन गृह महँ जोई। पाइ परम प्रिय दै सब सोई॥

[हे जितेन्द्रिय!] सद्गुरु के पास तो जो होगा वही देगा, और [शिष्य के लिए] अपनी शरणागत रक्षण की प्रतिज्ञा का निर्वहन करेगा। [यह तो नियम ही है कि] जिसके तन, मन एवं घर में जो कुछ भी रहता है, वह अपने प्रिय को पाकर उत्तराधिकार में वही सब देता है।

दोहा— यह नइ रीति न सास्वत गुडाकेस सच जानु।
सुर नर मुनि असुरहु कहत मुक्तकंठ सों मानु॥ ६१॥

हे गुडाकेश! यह कोई नया नियम तो है नहीं, अपितु इस बात को सच मानो कि यही शाश्वत नियम है। इस बात को भी हृदय से स्वीकार करो कि देवता, मनुष्य, असुर एवं मुनिगण, इसे मुक्तकण्ठ से कहते हैं [कि जिसके पास जो होता है वही देता है]।

चौपाई— अज्ञ मातु पितु निज सुत केहीं। भौतिक सकल सम्पदा देहीं॥
स्वजन हीत मित आदिक जेई। इनि पहिं प्रभु जो दये सो देई॥

अरे! अज्ञानी माता-पिता अपने पुत्र को अपनी समस्त भौतिक सम्पत्ति उत्तराधिकार में दे देते हैं। [इस नियमानुसार] स्वजन, हित-मित्र आदि जो भी हैं, इनमें जिसको जो कुछ भगवान ने दिया है वह [अपने प्रिय को] वही देता है।

सदगुरु पहिं बस गुरुता अहई। अध्यात्मिक सम्पति जो लहई॥
ता कहँ सिष्य पूत सम ताता। यदि परमारथ महँ मनराता॥

सद्गुरु के पास तो एकमात्र गुरुता रहती है, उस आध्यात्मिक सम्पत्ति को जो चाहे ले ले। हे तात! यदि शिष्य का मन परमार्थ में ही लगा है तो वह गुरु के लिए पुत्र के समान होता है!

सिष्य बिबेकी परम सुजाना। सगुन ब्रह्म सदगुरु जिय जाना॥
मन क्रम बचन करइ सेवकाई। तजि सब प्रिय सुख मान बड़ाई॥

जो शिष्य परम विवेकी एवं बुद्धिमान है वह अपने सद्गुरु को हृदय से सगुण ब्रह्म ही जानता है और अपनी प्रिय समस्त सुख-सुविधा तथा मान-सम्मान त्यागकर मन, कर्म और वचन से एकमात्र उनकी ही सेवकाई करता है-

गुरु पावत अस सिष्य सुजाना। तेहि रक्षहिं दै आतमज्ञाना॥
ब्रह्मसक्ति अरु भगति अनूपा। दै बनायँ तेहि ब्रह्मसरूपा॥

जब ऐसा बुद्धिमान शिष्य मिल जाता है तो गुरुदेव आत्मज्ञान देकर उसकी सब ओर से रक्षा करते हैं तथा ब्रह्मशक्ति एवं अनुपम भक्ति देकर उसे सच में ब्रह्मस्वरूप ही बना देते हैं।

सोरठा— संसय उर अस जान करहु न मानहु बचन मम।
हृदय धरहु यह ज्ञान सोक मोह सब परिहरहु॥ ६२॥

ऐसा जानकर हे प्रिय! अब मन में संशय मत करो, मेरा कहना मान लो। हृदय में इस ज्ञान को धारण कर समस्त शोक-मोह त्याग दो।

चौपाई— पार्थ परम बिज्ञान स्वरूपा। माँ मदालसा हुति बिभुरूपा॥
सो निज सुतन्हि देइ बर ज्ञाना। भेज्यो बिपिन जाहि जग जाना॥

हे पार्थ! परमज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न एक मदालसा नाम की माँ हो चुकी है जो ब्रह्मरूप ही थी। सारा जगत जानता है कि वह अपने पुत्रों को [बाल्यावस्था में ही] परमज्ञान देकर वन को भेज देती थी।

ज्ञान चहहिं का ताकर पूता। तिन्हहिं बनायो तउ अवधूता॥
उन्ह सम तुम्ह न चहहु बरु ज्ञाना। पर दउँ तुम्हहिं हरषि बरदाना॥

[तुम्हीं बताओ] क्या उनके पुत्र उनसे ज्ञान की माँग करते थे? [ऐसा तो नहीं था!] लेकिन तो भी उन्हें वह अवधूत बना ही देती थी। उन्हीं के समान तुम भी ज्ञान भले ही नहीं चाहते हो किन्तु मैं तुम्हें प्रसन्न होकर उस [ज्ञान] का वरदान दूँगा ही दूँगा।

भौतिक सुतन्हि द्वारिका देऊँ। तुम्हहिं ज्ञान दै निर्गुन सेऊँ॥
तात त्याग तव जानउँ नीके। भयउ अतिहिं प्रिय जासे जीके॥

मैं अपने भौतिक पुत्रों को द्वारिकापुरी दे दूँगा और तुम्हारे जैसे परम भक्त को आत्मज्ञान देकर निर्गुण-निराकार हो जाऊँगा। हे तात! तुम्हारे निर्मल त्याग को भलीभाँति जानता हूँ यही कारण है कि तुम मेरे हृदय को अति प्रिय हो।

श्रेय समर जय तुम्ह पहिं आवहिं। नृपपद धर्मराज पुनि पावहिं॥
दै नृपपद करिहउ सेवकाई। उनहिं प्रीति मो पर अति भाई॥

हे प्रिय! इस युद्ध में विजय का श्रेय तुम्हें ही प्राप्त होगा किन्तु राजपद तो [तुम्हारे द्वारा] युधिष्ठिर को ही प्राप्त होगा। मैं मानता हूँ कि राजपद देकर तुम जिनकी सेवकाई करोगे उनकी मुझमें विशेष प्रीति है।

दोहा— बरु द्युत हारहिं राज पुनि तुम्हहिं करहिं परतंत्र।
पर तुम्ह अर्जुन धरहुगे उनहीं के सिर छत्र॥ ६३॥

भले ही वे पुनः जूआ खेलकर तुमलोगों के साथ ही विजय स्वरूप प्राप्त हुआ राज्य हार जायँ और तुमलोगों को परतंत्र बना दें किन्तु तुम उन्हीं के सिर पर राजमुकुट रखकर उन्हें ही राजा बनाओगे।

चौपाई— भलेइ रचहिं अस बिप्लव दूजा। किंतु करहुगे तिन्हकीं पूजा॥
लेहु न जानउँ याहि राजपद। एहि कारन दउँ तुम्हहिं परमपद॥

भले ही वे ऐसा उलट-फेर करके पुनः इस प्रकार का संग्राम क्यों न खड़ा कर दें किन्तु तुम तो उन्हीं की पूजा करोगे। मैं जानता हूँ कि तुम इस राजपद को स्वीकार नहीं करोगे, यही कारण है कि मैं तुझे परमपद दे रहा हूँ।

बरु पद पाइ परम निर्वाना। इमि जग बिचरहु जिमि हनुमाना॥
निर्गुन निराकार गति त्यागी। सगुन देह महँ रहउ बिरागी॥

भले ही तुम परम निर्वाणपद प्राप्त कर जगत में ऐसे ही विचरण करो जैसे भक्त हनुमान। तुम निर्गुण-निराकार गति का त्यागकर [उन्हीं की भाँति] इसी शरीर के साथ संन्यासी वेश में रहो [इसमें मुझे आपत्ति नहीं है]।

ज्ञान भगति जप तप अरु ध्याना। कपि सम करउ प्रचार सुजाना॥
प्रभु बचनामृत सुनि हनुमाना। पुनि पुनि प्रमुदित मन कछु आना॥

हे बुद्धिमान्! हनुमान जी की ही भाँति ज्ञान, भक्ति, जप-तप तथा ध्यान का प्रचार प्रसार करो। प्रभु के इस वचनामृत को सुनकर हनुमानजी बारम्बार प्रसन्न हो रहे हैं। उसी समय उनके मन में [अर्जुन के प्रति] कुछ विचार आये।

तेहि छन अर्जुन मन अस आवा। कहहिं पवनसुत बचन सुहावा॥
महाबाहु तव हित प्रभु कहहीं। इन्ह सम मीत न जग तुव अहहीं॥

उसी समय अर्जुन के मन में ऐसा विचार प्रकट हुआ मानो हनुमान जी मधुर वाणी में कह रहे हैं कि हे बुद्धिमान अर्जुन! भगवान जो कुछ भी कह रहे हैं वह आपके हित के लिए ही है। इनके समान तो आपका जगत में कोई हितैषी है ही नहीं [जो आपका इस जगत से उद्धार करे]।

मानहु सिर धरि इन्हकर बाता। सुनत धनंजय पुलकित गाता॥
बार बार हनुमान नमन करि। सुनहिं सजग होइ उर हरि बच धरि॥

अतः इनकी बात को आप समर्पित होकर स्वीकार करें। ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन का शरीर पुलकित हो उठा। उन्होंने हनुमान जी को बार-बार प्रणाम किया तथा सावधान होकर भगवान के वचनों को हृदय में धारण कर सुनने लगे।

छंद— महराज पुनि पुनि नमत तीनिहुँ सजल दृग पुलकित बदन।
एहि झाँकि लखि अज अरु बसिष्ठहिं झाँकि आवति मुदित मन॥
कह बिधि बनउ रबिकुल पुरोहित जाइ कौसल पुरि भली।
अस सुनि किये प्रतिबाद ते तब ब्रह्मसक्ति गिरा चली॥

महाराज [भगवान श्रीकृष्ण, भक्त अर्जुन एवं भक्त प्रवर हनुमानजी] इन तीनों की सजल नेत्रों एवं पुलकित हृदय से बारम्बार वन्दना कर रहा है। महाराज के प्रसन्न मन में इस दिव्य छवि को देखकर ब्रह्मा जी एवं महर्षि

वसिष्ठ [के बीच हुए संवाद] की झाँकी का स्मरण हो रहा है। ब्रह्माजी ने [अपने मानस पुत्र वसिष्ठ से] कहा- तुम श्रेष्ठ कोशल पुरी (अयोध्या) जाकर सूर्यवंश के पुरोहित बन जाओ। ऐसा सुनकर [उसे निन्दित कर्म बताते हुए] वसिष्ठ जी ने जब प्रतिवाद किया, तब ब्राह्मीशक्ति उनके हृदय में स्फुरित हुई-

मानहु बचन निज जनक अज कर लाभ तव आगे अहै।
परब्रह्म निरगुन सगुन बनि श्रीराम रबिकुल बपु गहै॥
सुनि अवध धाये हरषि हिय रबिबंस कर कुलगुरु भये।
तिमि करहिं रन अर्जुन सुमिरि हरि पवनसुत मत चित दये॥

कि तुम अपने पिता ब्रह्माजी की बात स्वीकार कर लो इसमें तुम्हें आगे लाभ ही लाभ है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण कर श्रीराम के रूप में सूर्यवंश में अवतार लेगा। अपनी अन्तरात्मा की ऐसी पुकार सुनकर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने शीघ्रता से अयोध्या की ओर प्रस्थान किया और प्रसन्न हृदय से सूर्यवंश का पुरोहित पद स्वीकार कर लिया। उसी प्रकार हनुमानजी की प्रेरणा को चित्त में धारण कर महात्मा अर्जुन भगवान का स्मरण करते हुए युद्ध करेंगे।

दोहा— पुनि कह प्रभु जो सोचहू कंस बंदिगृह दीन्ह।
तिन्ह मातामह माँ पितुहिं मुक्त जो निजकर कीन्ह॥ ६४॥

पुनः भगवान कहने लगे कि हे पार्थ! तुम जो अपने मन में यह सोच रहे हो कि जिन्होंने कंस द्वारा कारागार में डाले गये अपने माता-पिता तथा नाना उग्रसेन को अपने हाथों हथकड़ी एवं बेड़ियों से मुक्त कर दिया,

चौपाई— सोइ कह मोहिं पितामह मारउ। भाइ बंधु मित्रहिं उद्धारउ॥
तौ तेहि अरु एहि महँ बहु अंतर। यासों मन नहिं करहु बिकलतर॥

वे ही माधव मुझसे कह रहे हैं कि अपने पितामह, भाई-बन्धु एवं हित-मित्रों का वध कर उद्धार करो। तो सुनो, उसमें और इस घटना में बड़ा अन्तर है; इसलिए मन को इतना क्षुब्ध मत करो।

मातामह तहँ हुते भगत बर। कंस असुर सुत तिन्ह उलटें चर॥
उन्ह सुनि ताहि धरम हित मार्‌यों। राजतिलक पुनि तिन्ह कहँ सार्‌यों॥

वहाँ तो मेरे नाना उग्रसेन परम भक्त थे और उनका पुत्र राक्षस कंस उनके विपरीत ही व्यवहार करता था। इसलिए उनकी विनती सुनकर ही धर्मरक्षार्थ उसे मारकर, पुनः उन्हें राजपद पर अभिषिक्त कर दिया।

तुम्ह जानत सुत लखि संन्यासी। तेहि प्रनवहिं पितु कहि अबिनासी॥
जेहि बंदत सुर नर हर्षावत। सोइ यति जननिहिं सीस नवावत॥

तुम जानते हो कि पिता अपने पुत्र को जब संन्यासी के रूप में देखता है तो हे सच्चिदानन्द! कहकर उसको साष्टांग दण्डवत् करता है, जिसकी वन्दना करके देवता एवं मनुष्यगण प्रसन्न हो उठते हैं,वही संन्यासी अपनी माँ को प्रणाम करता है।

परसुराम पितु आयसु धारी। दये जननि बिनु इच्छा मारी॥
तीनिहु लोक भये बिख्याता। धर्म न गयो भये जनत्राता॥

[धर्म के और भी गूढ़ तत्त्व को देखो! कि] भगवान परशुराम ने अपने महात्मा पिता की आज्ञानुसार अपनी माँ का वध इच्छा न होते हुए भी कर डाला। किन्तु उनका धर्म नष्ट होना तो दूर वे तीनों लोकों में अति प्रसिद्धि प्राप्तकर सबके रक्षक हो गये।

दोहा— रामहिं पाइ सुकंठहू भाइहिं बहु परचार।
मैत्रि धरम लखि बालिहीं दिये ब्याध जिमि मार॥ ६५ (क)॥

[तुम जानते हो कि] श्रीराम को पाकर सुग्रीव ने बड़े भ्राता बाली को युद्ध के लिए ललकार दिया। तब मैत्रीधर्म को देखते हुए प्रभु श्रीराम ने बाली को व्याध के समान मार डाला।

तेइ बिभीषन के कहे दिये दसानन मार।
दोउन्ह लग्यो न पाप कछु कस तुम्हरें उर भार॥ ६५ (ख)॥

उसीप्रकार विभीषण के कहने से उन्होंने ही रावण का भी वध कर डाला, किन्तु [धर्म की गति को तो देखो कि सुग्रीव और विभीषण] दोनों को अंशमात्र भी पाप नहीं लगा फिर तुम्हारा हृदय दु:खी क्यों हो रहा है।

चौपाई— प्रभु प्रहलाद कहे जग आये। तिन्ह पितु बधि निज धाम सिधाये॥
तिन्हहिं भई नहिं कछुक गलानी। तुम्हरि बुद्धि अस किमि अकुलानी॥

भगवान नरसिंह भक्त प्रह्लाद की प्रार्थना सुनकर जगत में प्रकट हुए और उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु को मारकर अपने धाम चले गये; किन्तु भक्त प्रह्लाद को थोड़ी भी ग्लानि नहीं हुई फिर तुम्हारी बुद्धि ऐसी विकल क्यों हो रही है।

अब रहि बात न सोक धरन की। अपितु मधुर संग्राम करन की॥
तौ सच अर्जुन नाम सरीरा। भयो न अहइ कबहुँ तव धीरा॥

अब रही बात शोकरहित होकर कुशलतापूर्वक संग्राम करने की तो हे धैर्यवान! यह सत्य जान लो कि तुम्हारा अर्जुन नामक यह शरीर न तो कभी था और न अब है [फिर युद्ध करने में आपत्ति कैसी]।

द्रोन भीष्म अरु बहु महिपाला। आये रन सुमिरत निजकाला॥
मैं अरु मम सेना के बीरा। औरउ इनि महँ सैनिक धीरा॥

आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म एवं अन्यान्य राजागण, जो इस रणभूमि में अपनी मृत्यु का स्मरण करते हुए आये हैं तथा मैं और मेरी नारायणी सेना के धीर-वीर एवं अन्य भी जो इन सेनाओं में धैर्यवान सैनिक हैं-

इन्हहिं स्वयं मोहिं लखहु अनामय। नित्य निरंजन सहज निरामय॥
तीनहुँ काल न हम महँ भेदा। आत्मरूप सब गावत बेदा॥

इन्हें, अपने आपको तथा मुझे नामरहित, नित्य, निरंजन एवं सहज ही मायारहित जानो। हममें तीनों कालों में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है, अपितु हम सभी आत्मरूप ही हैं, ऐसा वेद कहते हैं।

अजर अमर हम सबहि सनातन। अब्यय अबिनासीहु पुरातन॥
सदा एकरस हम निर्दोषा। अस जिय समुझि तजहु सब रोषा॥

हम सभी अजर, अमर, सनातन, अव्यय, अविनाशी एवं पुरातन हैं तथा सदा एक रस और निर्दोष ब्रह्म हैं- ऐसा हृदय से जानकर समस्त क्षोभ का त्याग कर दो।

दोहा— नाम रूप जग स्वप्नवत निरखु बिबेकु बिचारि।
सकल जीव यामें दुखित भ्रम न सकहिं ते टारि॥ ६६॥

[हे पुरुषश्रेष्ठ!] तुम स्वयं विवेकपूर्वक विचार करके देख लो नाम,रूप और जगत- ये स्वप्नवत् ही हैं। किन्तु सारे जीव इसी [नाम एवं रूप] में आसक्त होकर दु:खी हैं और वे स्वयं से इस भ्रम को हटा नहीं सकते।

चौपाई— तुम्ह देखहु औषधि तरु भारे। महि सों उपजि नसहिं तहिं सारे॥
पर न रंच दुख उर महँ तेही। जानइ सो न रूप मम एही॥

तुम नित्य देख रहे हो कि बहुत-सी औषधियाँ एवं वृक्ष पृथ्वी से प्रकट होकर उसी में विलीन हो जाते हैं किन्तु उसके हृदय में [पृथ्वी को] लेशमात्र भी दु:ख नहीं होता क्योंकि वह जानती है कि मैं ऐसे नाम-रूप वाली नहीं हूँ।

इन्हके जन्मत मैं जन्मउँ नहिं। मरत इनहिं सम कबहुँ मरउँ नहिं॥
तिमि जलजंतु प्रगट जल माहीं। तेहि महँ रहि तेहि माँहिं नसाहीं॥

इनके जन्म लेने से न मेरा जन्म होता है और न इनके समान मरने से कभी मेरी मृत्यु ही होती है। उसी प्रकार जलजन्तु जल से प्रकट होकर उसी में वास करते हैं तथा उसी में नष्ट हो जाते हैं।

मरन जियन तिन्ह कबहूँ अपनो। सलिल हृदय सोचत नहिं सपनो॥
मंत्राहुति पावक महँ देहीं। यागिक भगत प्रगटि सुर लेहीं॥

किन्तु जल कभी भी, यहाँ तक कि स्वप्न में भी उनके मरने-जीने को हृदय से अपना नहीं मानता। वैसे ही याज्ञिकभक्त अग्नि में मंत्रों द्वारा आहुति दे-देकर बहुत-से देवताओं को प्रकट कर लेते हैं [तथा जब तक मंत्र का प्रभाव रहता है अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं]।

मंत्र प्रभाव नसावे जबहीं। होहिं अगिनिमय पुनि सब तबहीं॥
प्रगटत दुरत अनल महँ भ्राता। सो नहिं कबहूँ अस बिलपाता॥

किन्तु हे प्रिय! जब मंत्र का प्रभाव समाप्त हो जाता है तब पुनः वे [देवता] अग्निमय हो जाते हैं। वे अग्नि से प्रकट होकर अग्नि में ही समा जाते हैं लेकिन अग्निदेव कभी इस प्रकार विलाप नहीं करते [जैसा कि तुम कर रहे हो]।

दोहा— जनम मरण सो मानई यहइ मंत्र ब्यवहार।
निज स्वरूप सो सपनेहुँ नहिं उन्ह हेतु बिसार॥ ६७॥

वे [अग्निदेव] मंत्रों द्वारा ही उन देवताओं का प्रकट होना और पुनः अग्निमय हो जाना मानते हैं, इसलिए वे उनके कारण स्वप्न में भी अपने स्वरूप को नहीं भूलते।

चौपाई— करि कुम्भक संयत बर वायू। योगि जियत इच्छित गहि आयू॥
ऋद्धि सिद्धि प्रगटइ बहु तासे। कबहुँ न आय पवन तिहिं झाँसे॥

हे पृथापुत्र! योगीगण कुम्भक प्राणायाम आदि [यौगिक क्रियाओं] से वायु का स्तम्भन करके अपनी इच्छा अनुसार आयु धारण कर जगत में जीते हैं। उससे ही वे नाना प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वायु देवता कभी भी उनके भुलावे में नहीं आते।

निज रूपहिं जानत निर्लेपा। होत न यासें चित्त बिछेपा॥
नभ महँ नित्य घनहु घहराहीं। दमकति दामिनि पुनि बरसाहीं॥

वे अपने स्वरूप को [उन ऋद्धि-सिद्धियों से सदा ही] निर्लेप मानते हैं इसलिए उनके चित्त में कभी भी विक्षेप नहीं होता। आकाश में बादल नित्यप्रति [प्रकट होकर] गरजते रहते हैं, बिजली चमकती है, पुनः बरसात हो जाती है।

प्रगटत दुरत तहाँ बहु लोका। रहत गगन पर नित्य बिसोका॥
उदासीन सम सांतहि रहई। कबहुँ न ताकर चित कछु दहई॥

[इतना ही नहीं] उसमें अनेक लोक प्रकट और विलीन होते रहते हैं किन्तु आकाश सदा शोकरहित ही रहता है। वह सदा ही उदासीन एवं सम-शान्त रहता है, उसका चित्त कभी तनिक भी क्षुब्ध नहीं होता।

सो न गहत काहू गुन दोषा। अति बिसाल उर सम निर्दोषा॥
होन चहिय तिन्ह सम तव गाथा। पार्थ याहि बिधि धारहु माथा॥

आकाश [उन लोकों के तथा बादल एवं विद्युत आदि] किसी के गुण और दोषों से दूषित नहीं होता क्योंकि उसका हृदय अति विशाल, सम-शान्त एवं अति निर्दोष है। अतः तुम्हारा भी व्यवहार इन्हीं [पाँचो तत्त्वों] के समान होना चाहिए। हे पार्थ! इसी प्रकार तुम भी चिन्तन करो।

तात द्रोण अरु भीष्म पितामह। भ्रात मित्र मातुल मातामह॥
तव निर्गुण आतम सों उपजत। बरु इन्हि मारहु तुव महँ बिनसत॥

[सच पूछो तो] तुझ निर्गुण-निराकार आत्मा से ही यह पार्थ और द्रोण, भीष्म, भाई, हित-मित्र, मामा एवं नाना आदि पुरुष प्रकट हो-होकर तुझमें ही विलीन हो जाते हैं, भले ही इनका वध करो [या न करो]।

दोहा— सुद्ध सच्चिदानंद तुम्ह तुम्हरे महँ जग छाँव।
उपजत बिनसत सच कहउँ काह रुदन कै ठाँव॥ ६८॥

मैं सत्य कहता हूँ, तुझ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही असंख्य जगत छाया की तरह प्रकट हो-होकर विलीन हो जाते हैं, फिर रोने-कलपने का स्थान ही कहाँ है ?

चौपाई— तिमि कौरव हित मित गुरु भ्राता। छाया रूप स्वजन सब ताता॥
छिपन समय यहि युद्ध बहानौ। अपुने मन महँ दोष न आनौ॥

उसी प्रकार हे तात! युद्ध के बहाने स्वजनों, गुरुजनों, हित-मित्रों तथा कौरव आदि छायारूप भाइयों के छिपने का (अन्तर्ध्यान होने का) यही समय है; अतः अपने मन में [व्यर्थ] दोष को स्थान मत दो।

अहहिं साँच हम आतमरूपा। अबिगत अलख अलेप अरूपा॥
अहहिं सदा सों रहहिं सदाई। संत सास्त्र अस बेदहु गाई॥

यथार्थ में तो हम सभी अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप सम-शान्त और निराकार आत्मा ही हैं। [मैं ही ऐसा नहीं कहता अपितु] सन्त, शास्त्र और वेद भी ऐसा ही कहते हैं कि हम सदा से हैं और सदा ही रहेंगे।

भीष्म द्रोण अस जानहिं बहुबिधि। बरु न भई जग महँ याकी सिधि॥
सुनत नित्य तुम्ह लौकिक भाषा। बालक युवा होत पुनि माखा॥

इसे आचार्य द्रोण एवं पितामह भीष्म अच्छीप्रकार जानते हैं, भले उन्हें संसार में इसकी सिद्धि न हुई हो। तुम प्राय: लौकिक भाषा में सुनते ही हो कि बालक युवा होकर दम्भ भरता है और वही-

जुवा जरठ बनि पुनि मरि जावे। सरग नरक निज कर्मनि पावे॥
कोउ कह सिसु निज कर्मनि आयो। युवा बृद्ध होइ पुनि कहुँ धायो॥

युवा, वृद्ध होकर पुन: मर जाता है तथा अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक प्राप्त करता है। कोई कहता है कि इस शिशु ने अपने कर्मानुसार यहाँ जन्म लिया है पुन: जवान तथा वृद्ध होकर कहीं प्रयाण कर जायेगा।

अपर कहत केहि योनि सों आयो। पतो नाहिं क्यों जग भरमायो॥

कुछ अन्य कहते हैं कि पता नहीं यह शिशु किस योनि से आया है और क्यों इस जगत में भ्रमित हो रहा है ?

दोहा— अपर कहहिं हँसि कौन अस पुरुष मोर घर आय।
अहइ बाल होवइ युवा बृद्ध होइ मरि जाय॥ ६९॥

[कुटुम्ब के] अन्य लोग [उसे देखकर] हँसते हुए कहते हैं कि कौन-सा पुरुष इस रूप में हमारे घर आया हुआ है जो बालक है, युवा होगा और फिर वृद्ध होकर मर जायेगा।

चौपाई— मूढ़ कहत अस झूठ परंतप। जे चित सुध न किये करि जप तप॥
रथ अति बेग चलत छिति माहीं। बालक तब कह जगत भ्रमाहीं॥

हे परंतप! वे मूढ़ पुरुष ही ऐसी झूठी बातें कहते हैं, जिन्होंने जप, तप, योग से चित्त को शुद्ध नहीं किया है। जब रथ अति वेग से धरती पर दौड़ता है तो [उस पर बैठे हुए] बालक कहते हैं कि सारा जगत भाग रहा है।

सागर तो कोउ सरि सम नाहीं। जेहि महँ तेहि सम नीर बहाहीं॥
पर कह अज्ञ सिंधु जल बहहीं। तउ सब मूढ़ चतुर तिन्ह कहहीं॥

इसी प्रकार समुद्र किसी नदी के समान तो है नहीं जिसमें उसके समान जल का बहाव हो; परन्तु अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि समुद्र का जल बह रहा है तो भी सभी मूर्ख उन्हीं लोगों को चतुर मानते हैं।

तिमि नहिं गुनत पुरुष कस अहई। जो सिसु युवा जरठपन लहई॥
एहि जड़ देह न अस बल आहीं। जो सिसु युवा बृद्ध बनि जाहीं॥

उसी प्रकार कोई इस बात पर विचार नहीं करता कि [यथार्थ में] वह पुरुष कैसा है, जो शिशु, युवा और वृद्ध जैसा प्रतीत होता है। अरे! इस जड़ शरीर में तो ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह शिशु, युवा और वृद्ध बन जाय-

यहउ न बल जन्मे मरि जावे। पुनि एहि महँ कोउ काह बतावे॥
सब देखत जो एहि सँग आवइ। बाल जुवा अरु जरठ कहावइ॥

इसमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि जन्म ले और मर जाय फिर इसके विषय में कोई क्या कह सकता है! सभी देखते हैं कि जो इसके साथ रहता है वही शिशु, युवा और वृद्ध [हो गया, ऐसा] कहा जाता है।

सो सच जा दिन एहि तजि धावे। इक दुइ दिन महँ सड़ि गलि जावे॥
अपर देह सिद्धत अस यासे। अपर पुरुष कोउ एहि महँ बासे॥

सच यह है कि वह जिस दिन इसे छोड़कर चला जाता है तो एक-दो दिन में ही यह सड़-गल जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर कोई अन्य है तथा इसमें वास करने वाला पुरुष कोई अन्य।

तू जिमि पार्थ द्रोन भिष्मादी। नाम रूप दोउ लखत बिषादी॥

जैसे तुम अर्जुन, भीष्म, द्रोण आदि नाम एवं रूपों को विषादी होकर देख रहे हो-

दोहा— पर न बिलोकहु कौन अस पुरुष देह महँ आहि।
नाम रूप दुइ आपुहीं समुझि बैठ मन माँहि॥ ७०॥

परन्तु यह नहीं देख रहे हो कि इस शरीर में वह कौन-सा पुरुष है, जो मन में अपने को ही नाम एवं रूप- दोनों समझ बैठा है।

चौपाई— प्रथम तुम्हहिं एहि ज्ञान करावउँ। प्रबल बिषादहिं तव बिनसावउँ॥
जेहि जानत त्यागत एहि देहा। रह न लेस मन माहिं सनेहा॥

अब सर्वप्रथम तुम्हें इसी का बोध कराकर तुम्हारे प्रबल विषाद को नष्ट करूँगा जिसे जान लेने पर इस शरीर को त्यागते हुए मन में अंशमात्र भी मोह नहीं होता-

अपर देह धारत न कराहत। होत न जीवन भर उर आहत॥
ताकर नाम जीव सुनु ताता। चेतन सक्ति ब्रह्म सम गाता॥

और न अन्य शरीर की प्राप्ति में आहें भरता है, न जीवन भर उसका हृदय ही आहत होता है। हे तात! सुनो, उसका नाम जीवात्मा है, वह चैतन्य, शक्तिरूप तथा ब्रह्म के स्वरूप वाला है।

देहयोग सों देही जानत। सिसु जौवन बृद्धहु तेहिं मानत॥
सोइ संकल्प करत तन छोरत। अपर देह सों नाता जोरत॥

वही शरीर के संयोग से शरीरी समझा जाता है तथा बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था को भी उसी में आरोपित किया जाता है। वही संकल्प करते हुए शरीर को छोड़कर अन्य [नये] शरीर को धारण करता है।

करि आयू निस्चित तन धारइ। ताहि तजन हित कारन डारइ॥
इनि सब तन कर आयु सिरानी। इन्हहिं तजन कारन रन ठानी॥

वही आयु की सीमा निर्धारित करते हुए शरीर को धारण करता है तथा [साथ में] उसको त्यागने का कोई कारण भी बना लेता है। अब इन सारे शरीरों की आयु समाप्त हो गयी है [दो-चार दिन के ही ये अतिथि हैं], इन्हें त्यागने का कारण उसने इस युद्ध को ही बनाया है।

एकइ जीव जगत बनि आवत। सुर नर तिर्यग देह समावत॥
सो अस चरित करत सुनु कैसे। बहुबिधि कहउँ धरहु मन जैसे॥

एक ही जीवात्मा जगतरूप भी होता है और वही मनुष्य, देवता एवं पशु-पक्षी आदि शरीरों में भी रहता है। इन समस्त चरित्रों को वह किस प्रकार करता है, उसे सुनो-मैं अनेक प्रकार से कह रहा हूँ जिसे तुम मन में धारण करो।

जेहि बिधि होइ सोक निर्मूला। सोइ सब कहउँ सुमंगल मूला॥

हे भारत! जिस प्रकार तुम्हारे समस्त शोक-सन्ताप का पूरी तरह नाश हो जायेगा, मैं मंगलों के मूल उस विधि को विधिवत कहूँगा-

दोहा— ब्रह्म सच्चिदानंदघन चेतन अमल अरूप।
सोइ प्रगटत चिदसक्ति जग गहि गहि नाना रूप॥ ७१॥

जो निर्गुण-निराकार, निर्मल, परम चेतन सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, वही जगत में चिद्शक्ति (जीव) के रूप में जगत में प्रकट होकर नाना प्रकार के रंग-रूपों को धारण करता रहता है और-

चौपाई— देस काल अरु कर्म अधीना। रहत करत पर परम प्रबीना॥
तजत न निज चेतनता कबहूँ। घोर बासनामय रह जबहूँ॥

देश-काल एवं कर्म के वशीभूत हुआ सब कुछ करता रहता है; परन्तु वह ऐसा परम चतुर है कि कभी भी अपनी चेतनता का त्याग नहीं करता चाहे अपार वासना में ही क्यों न फँसा रहे।

भूत भविष्य लखत एहि काला। जासे तेहि कह नेत्र बिसाला॥
सघन बासना कर गहि रूपा। अहं गहे तब निज बपु छूपा॥

वह भूत, भविष्य एवं वर्तमान को भलीभाँति जानता है, जिससे उसे विशाल नेत्रों वाला कहा जाता है। वही जब दृढ़ वासनाओं का रूप धारण कर लेता है तो अहंकार को धारण कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को भूल जाता है।

निस्चय बृत्ति जबहिं सो धारत। बुद्धि बिसारद कह तेहिं भारत॥
पुनि बिकल्प गहि मन कहलावे। सनै सनै इंद्रिय बनि जावे॥

और हे भारत! जब वही निश्चयात्मिका वृत्ति को धारण करता है तो चतुर बुद्धि वाला कहलाता है। पुनः जब विकल्प को धारण करता है तो 'मन' भी कहा जाता है और धीरे-धीरे [वासनाओं की स्थूलता के कारण] इन्द्रिय बनकर-

पेट पीठ सब इंद्रिन्ह युक्ता। मानहिं तन तेहिं संत बिमुक्ता॥
सोइ सबहिं अनुभव महँ आवइ। मरत जियत एहि जगत कहावइ॥

पेट-पीठ आदि समस्त इन्द्रियों से युक्त हो जाता है तो उसे ही जीवनमुक्त सन्त 'शरीर' कहते हैं। वही शरीर सबके अनुभव में आता है तथा इस जगत में मरने-जीने वाला कहा जाता है।

दोहा— बँधि सनेह रजु जाल दुख जीव जगत अनुभाय।
पके अधिक फल कोउ जिमि अपर रंग बनि जाय॥ ७२ (क)॥

मोहरूपी रस्सी तथा दुःखरूपी जाल से बँधे रहने के कारण जगतरूप से जीवात्मा का अनुभव होता है। जैसे कोई फल अति पक जाने से दूसरे ही रंग को धारण कर लेता है-

बदलति आकृति किंतु नहिं फलहु अपर ना होय।
तिमि जीवहु होइ मोह बस निज स्वरूप नहिं खोय॥ ७२ (ख)॥

परन्तु उसकी आकृति में परिवर्तन नहीं होता, वह कोई दूसरा फल नहीं हो जाता, उसी प्रकार यह जीव ममता-मोह के वशीभूत होने पर अपने मौलिक स्वरूप का त्याग नहीं करता।

प्रथम स्वयं गहि गहत पर परम प्रबीनहु सोय।
गहत नाम रुप बिबिध सोइ जेहि जानत नहिं कोय॥ ७२ (ग)॥

उसकी परम चतुरता ऐसी है कि सर्वप्रथम वह स्वयं को मानकर (स्वीकार) ही अन्य को मानता है। वही विविध प्रकार के नाम-रूपों को धारण करता है जिसे कोई जान नहीं पाता।

चौपाई— आपुहिं मानि अपर कस मानत। कहे पार्थ अस जाइ न जानत॥
प्रभु कह याहि सुनउ धरि ध्याना। जो भ्रम हारक महत सुजाना॥

महात्मा अर्जुन ने कहा कि स्वयं को मानकर पुनः दूसरे को कैसे मानता है? हे प्रभो! यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। तब भगवान ने कहा- हे बुद्धिमान यह सत्य है पुनः इस रहस्य को ध्यान देकर सुनो, जो भ्रम को सर्वथा नष्ट करने वाला है।

नाम बरन कुल पूछत कोऊ। जब मग मीत तुम्हारो होऊ॥
मोर नाम अर्जुन तुम्ह गावहु। हौं क्षत्रिय कुल तबहिं बतावहु॥

[हे अर्जुन!] जब मार्ग का कोई मित्र तुमसे तुम्हारे नाम, वर्ण एवं कुल का परिचय पूछता है तो तुम कहते हो कि मेरा नाम अर्जुन है, मैं क्षत्रिय कुल का हूँ।

एहि परिचय महँ गहि अहमाई। पुनि पाछें अर्जुन कहु भाई॥
हौं छत्रिय महँ दुइ पद आवे। अहं पृथक पद छत्रि लखावे॥

हे प्रिय! इस परिचय में सर्वप्रथम 'मैं' को स्वीकार कर तत्पश्चात् 'अर्जुन' हूँ, ऐसा कहते हो। 'मैं क्षत्रिय हूँ'- इस वाक्य में दो पद हैं। दोनों पद 'मैं' और 'क्षत्रिय' के रूप में पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ रहे हैं।

कहउ हस्तिनापुर मम ग्रामा। दुइ पद तेहि महँ मम गृह धामा॥
हमरें पिता पांडु सुर लोका। गये छाँड़ि जग भये असोका॥

इसी प्रकार बताते हो कि मेरा गाँव हस्तिनापुर है तो इसमें भी 'मेरा' और 'गाँव हस्तिनापुर'- ये दो पद हैं। जब तुम कहते हो कि 'मेरे पिता महात्मा पाण्डु जगत को छोड़कर शोकरहित होकर स्वर्गलोक चले गये हैं'-

एहि महुँ मेरो पितु पद दूजा। जासे करइ जीव निज पूजा॥
प्रथम पूजि निज अन्यहिं ध्यावइ। यासें परम चतुर तेहि गावइ॥

इस वाक्य में भी 'मेरे' और 'पिता पाण्डु'- ये दो पद हैं जिससे सिद्ध है कि जीवात्मा सर्वप्रथम स्वयं को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह पहले स्वयं को स्वीकार करने के पश्चात् ही दूसरे का परिचय देता है। इसी कारण उसे परम चतुर कहा जाता है।

दोहा— मानि प्रथम आपुहिं तुम्हहु सब गुरुजन उपरांत।
निर्बिकार अस काल तिहुँ अब न होउ उर क्लांत॥ ७३॥

सर्वप्रथम तुम अपने को स्वीकार करके तत्पश्चात् गुरुजनों [एवं पितामह] को स्वीकारते हो [अत: किसी प्रकार भी तुम पहले उनको स्वीकार नहीं कर सकते]। इस प्रकार हे तीनों काल में निर्विकार आत्मा! अब हृदय से शोक-सन्तप्त न होवो।

चौपाई— जिहिं जिहिं पात्र नीर जब डारइ। तासु रूप सो तेहि छन धारइ॥
पर सो पात्र बनत नहिं कबहूँ। जानउ जीव चरित तस अबहूँ॥

[जीवात्मा की कहानी तो ऐसी है कि] जैसे जल जब जिन-जिन पात्रों में डाला जाता है, वह उसी समय उसी पात्र के आकार वाला हो जाता है परन्तु कभी भी वह पात्र नहीं बन जाता। [हे जितेन्द्रिय!] यह जान लो कि जीव का चरित्र [अनन्तकाल से] आजतक वैसा ही है।

अहं बुद्धि गो तन मन धारे। पर निज कहँ नित पृथक हँकारे॥
बहुरि कहउँ इन्हि सब बिलगाई। जासे सोक मोह भ्रम जाई॥

यह अहंकार बुद्धि, इन्द्रिय, तन-मन को धारण तो करता है किन्तु अपने आपको [वही रूप नहीं बना लेता बल्कि] नित्य पृथक् ही किये रहता है। अब पुन: अहंकार, बुद्धि आदि को आत्मा से पृथक्-पृथक् करके कह रहा हूँ, जिससे शोक-मोह एवं भ्रम जाता रहेगा।

जीव अहं भावहिं जब धरई। तबहिं अहं बुद्धी महँ चरई॥
बुद्धि बनति तब मानस रूपा। सो संकल्पि बिपुल बनि छूपा॥

हे महाबाहो! जीवात्मा जब अहं भाव धारण कर लेता है तब अहं बुद्धिमय हो जाता है। उसके उपरान्त बुद्धि मन का रूप धारण कर लेती है तब वही (मन) अपने संकल्प से असंख्य रूप होकर छिप-सा जाता है।

जिमि सरिता सागर मग धारहिं। तिमि इच्छा सब मन अनुसारहिं॥
जासे काम क्रोधादिक लोभा। तेहि सँग होइ करहिं तिहिं सोभा॥

जिसप्रकार नदियाँ सागर की ओर दौड़ती हैं उसी प्रकार समस्त कामनाएँ मन का अनुसरण करती हैं जिससे काम-क्रोध, लोभ, राग-द्वेष और भय तथा शोक-सन्ताप आदि अशुभ शक्तियाँ मन के साथ होकर उसकी शोभा बढ़ाने लगती हैं।

इन्हके बल मन अति अभिमानी। प्रबल प्रतापी आपुहिं जानी॥
पाटकीट इव कछु न बिचारत। निज इच्छा बंधन स्वीकारत॥

इन्हीं के बल से मन अति अभिमानी हो जाता है और अपने आपको बड़ा प्रतापी मानने लगता है। इस प्रकार वह कुछ भी विचार न करते हुए रेशम के कीड़े की भाँति स्वेच्छा से स्वयं को ही बन्धन में डाल लेता है।

निज इच्छा तन जाल फँसाई। जिमि रोवत पक्षी दुख पाई॥
तिमि मन इच्छाहित दुखदाई। स्वयं फँसत जग फंदहिं आई॥

जिसप्रकार पक्षी अपने शरीर को स्वेच्छा से जाल में फँसाकर दु:ख पाता हुआ रोता है उसी प्रकार मन भी दु:ख देने वाली इच्छा पूरी करने के लिए स्वयं ही जगतरूपी फंदे में आकर फँस जाता है।

दोहा— गज फँसि जिमि बहु कीच महँ छटपटात दुख पाय।
मोह कलिल तिमि फँसत मन हाय हाय बिलपाय॥ ७४॥

अथवा जिस प्रकार हाथी दलदल में फँसकर दु:ख पाते हुए छटपटाता रहता है, उसी प्रकार यह मन भी मोहरूपी दलदल में फँसकर हाय-हाय करता हुआ अति विकल होता रहता है।

चौपाई— धारि अबिद्या इंद्रजाल सों। जग बिसाल रचि कर कुचाल सों॥
फिरत तहाँ जल भँवर समाना। जबलौं होय न निर्मल ज्ञाना॥

यह मन अविद्या द्वारा संसाररूपी विशाल इन्द्रजाल की रचना कुचालवश करता है तथा जल में भँवर के समान संसार में तब तक चक्कर काटता रहता है जब तक निर्मल ज्ञान नहीं हो जाता।

जो करि यत्न पाव निज रूपा। पुनि पुनि नाहिं परत भवकूपा॥
मूढ़ याहि जग बहु दुख पावत। कछु दिन हित बिबेक तिन्ह आवत॥

जो यत्नपूर्वक अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह पुन: इस संसाररूपी कुएँ में नहीं गिरता। जो मूर्ख हैं वे तो जगत में अत्यन्त दु:ख पाते ही हैं किन्तु उनके पास भी कुछ समय के लिए किसी निमित्त से विवेक आ जाता है।

तउ अबिबेकहिं जनम नसावें। निज प्रमाद बस एहि जग आवें॥
पावन कुल कछु जनमत भाई। करत भूल सिधि साधन पाई॥

तो भी अविवेक के कारण वे अपना जन्म नष्ट कर देते हैं और प्रमाद के वशीभूत होकर फिर संसार में आ जाते हैं। हे प्रिय! कुछ तो पवित्र कुल में जन्म लेकर साधन-शक्ति से सम्पन्न होने पर भी भूल कर जाते हैं।

ते जड़मति तहँ बिषयन्हि सुमिरत। त्रिजगजोनि महँ पुनि पुनि भरमत॥
तहउँ न रहहिं नरक महँ जावें। भूत प्रेत कबहूँ बनि धावें॥

वे अधम बुद्धि वाले वहाँ भी विषयों में ही रमण करते हैं, अत: त्रियग्योनियों (पशु-पक्षी, कीट-पतिंगे आदि) में आते-जाते रहते हैं। वे वहाँ भी नहीं रह पाते और [अपने अधमातिअधम कर्मों से] नरक में चले जाते हैं तथा कभी भूत-प्रेत बनकर भटकते रहते हैं।

सोरठा— कछु जग परम सुजान एकइ जनमहिं जतन करि।
पावहिं पद निर्बान उन्हके भाग्य सराहऊँ॥ ७५॥

हाँ, जगत में कुछ ऐसे परम बुद्धिमान होते हैं जो एक ही जन्म में पुरुषार्थ करके यत्न पूर्वक निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं। मैं उनके भाग्य की स्वयं सराहना करता हूँ।

चौपाई— जीव कछुक सुर बनि हरषावत। कछुक नागयोनी महँ आवत॥
जिमि दीखइ यह जगत बिसाला। अपर जगत कर तेहि सम हाला॥

कुछ जीव देवता बनकर प्रसन्न हो जाते हैं तथा कुछ नागयोनि में जन्म लेते हैं। हे पृथापुत्र! जिसप्रकार यह विस्तृत जगत दिखाई दे रहा है, उसी प्रकार अन्य सृष्टियों की भी स्थिति है।

औरउ अहहिं बिपुल ब्रह्मंडा। होवहिं औरहु प्रबल प्रचंडा॥
जस एहि जग होवइ ब्यवहारा। तस तहँ होय अचार बिचारा॥

[इतना ही नहीं बल्कि] और भी असंख्य ब्रह्माण्ड हैं तथा और भी प्रबल एवं प्रचण्ड ब्रह्माण्ड भविष्य में होंगे। जिस प्रकार इस जगत में आचार-विचार एवं व्यवहार हो रहा है, उसीप्रकार अन्य ब्रह्माण्डों में भी हो रहा है।

उन्हके रूप नाम कछु अंतर। नातरु एहि सम रहहिं निरंतर॥
जिमि जल बीचि परस्पर भिरहीं। बिबिध रूप ते प्रतिपल धरहीं॥

हाँ, उनके नाम-रूप, आकार-प्रकार में ही कुछ अन्तर होता है अन्यथा सदा इस जगत के समान ही उनकी स्थिति रहती है। जिसप्रकार जल की लहरें परस्पर टकराकर परिवर्तित होती रहती हैं उसी प्रकार उन सृष्टियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

बिपुल जगत तस सात्विक राजस। औरउ तामस निज स्वभाव बस॥
भिरत परस्पर का कर कोई। बदलत रूप किंतु मन सोई॥

वैसे ही अपने सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाववश अनेक जगत परस्पर संघर्ष करते रहते हैं; जिससे रूप तो रूपान्तरित हो जाता है किन्तु मन ज्यों का त्यों बना रहता है, इसमें कोई कर ही क्या सकता है।

बीर कछुक जग तुम्हहिं दिखावउँ। सोक मोह अस आज भगावउँ॥
अर्जुन नाम लोक एक रूपा। ब्रह्मलोक तेहिं कहउँ अनूपा॥

हे वीर! कुछ सृष्टियों को मैं तुम्हें दिखा रहा हूँ, इस प्रकार आज तुम्हारा शोक-मोह समाप्त कर दूँगा। इनमें अर्जुन नाम का जो लोक है, उसे मैं अनुपम ब्रह्मलोक कहता हूँ।

दोहा— कर्ण नाम एक सृष्टि जो अतिहिं रजोगुण रूप।
दुर्योधन सच सृष्टि इक अहइ तमोगुण भूप॥ ७६॥

कर्ण नाम का एक लोक है, जो अत्यन्त रजोगुणरूप [असुरलोक] है। आगे भी सुनो- दुर्योधन नामक एक लोक है, जो तमोगुणरूप [म्लेच्छ] लोकों का राजा है।

चौपाई— नागलोक सकुनी अघरूपा। दुःसासन तहँ तम भवकूपा॥
नृप धृतराष्ट्रहिं लख इह लोका। जिनकै मन निसदिन अति सोका॥

वहीं शकुनि नाम का लोक अति पापमय नागलोक है तथा दुःशासन अन्धकारमय संसाररूप कुआँ है। राजा धृतराष्ट्र को मृत्युलोक ही समझो जिनके मन में दिन-रात अत्यन्त शोक-सन्ताप बना रहता है।

अस्वत्थामा नरक लोक सुनु। जो चाहै अपुने मन महँ गुनु॥
भीष्म द्रोण एक अनुपम स्वर्गा। धर्मराज सच महँ अपवर्गा॥

यह भी सुनो कि अश्वत्थामा नरकलोक है, भले ही तुम मन में उसे कुछ भी समझा करो। पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण अनुपम स्वर्गलोक हैं तथा धर्मराज युधिष्ठिर तो साक्षात् वैकुण्ठलोक ही हैं।

भीम नकुल सहदेव जगतहित। दिब्य दिब्य यमलोक समुझु मित॥
लोक असुभ सुभ अपर नृपाला। यासे गहु धनु तू इन्हि काला॥

हे प्रिय! भीम, नकुल और सहदेव इस जगत के लिए यथार्थ में दिव्य यमलोक ही हैं, ऐसा समझो। अन्य सभी राजागण शुभ-अशुभ लोक हैं। इसलिए गाण्डीव को धारण करो, अरे! तुम तो इनके काल हो।

ये भुवि भार इनहिं संघारउ। जग कर बस यहि मरम बिचारउ॥
महाराज सुनि प्रभु उपदेसा। मिटेउ न सोक बिजय अंदेसा॥

इस धरा पर ये सब भारस्वरूप हो गये हैं, अतः इनका संहार करो। जगत का तो बस इतना ही रहस्य है। महाराज देख रहा है कि भगवान नारायण का ऐसा अनुपम उपदेश होने पर भी भक्त अर्जुन के मन का विजय के प्रति संदेह और शोक नहीं मिटा।

दोहा— कहहिं देह जड़ अहइ प्रभु जीव नित्य निर्दोष।
गहे तजे बहु देह पर तेहि अंसहु नहिं रोष॥ ७७ (क)॥

वे कह रहे हैं कि हे प्रभो! यह शरीर तो जड़ है जबकि जीवात्मा सदा ही निर्दोष है। यद्यपि यह असंख्य शरीरों को धारण करता तथा छोड़ता रहता है तो भी उसे अंशमात्र भी शोक-सन्ताप नहीं होता।

देह नसाय न आतमा ऐसो जाहि लखाय।
महामोह तेहि चित्त कर ताही समय नसाय॥ ७७ (ख)॥

इस प्रकार जो ऐसा जान लेता है कि शरीरों का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता तो ऐसा जानने मात्र से उसके चित्त में स्थित महामोह का उसी क्षण नाश हो जाता है।

चौपाई— किन्तु दयानिधि सब मन गाता। सीतहु ऊष्ण करहिं उतपाता॥
सुख महँ सुखी होयँ जग माहीं। दुख देखत सबहीं बिकलाहीं॥

[तब भक्त अर्जुन ने कहा-] हे दयानिधि! सर्दी-गर्मी से होने वाले उत्पात सबके मन और शरीर को विकल कर देते हैं। [यह तो देखा ही जाता है कि] जगत में सभी सुख में सुखी हो जाते हैं किन्तु दुःख देखते ही विकल हो उठते हैं।

सुख बियोग भय सदा सतावत। दुख हटायँ पर सांति न पावत॥
इनि सबकर अनुभव को करई। जो आतम मग बाधा परई॥

सुख के चले जाने का भय सदा ही बना रहता है तथा दुःख को हटाने का प्रयत्न करते रहते हैं, परन्तु [दोनों ही कारणों से] शान्ति प्राप्त नहीं होती। हे माधव! इन सबका (सुख-दुःख आदि का) अनुभव करने वाला कौन

है जो निर्विकार आत्मा के मार्ग में बाधा बना हुआ है ?

हरि कह धन्य धन्य मति तोरी। यहु रहस्य सुनु कहउँ बहोरी॥
इन्द्रिनि बिषय योग जब आवे। सीत ऊष्ण सुख दुख अनुभावे॥

भगवान ने कहा- धन्य है, धन्य है, तुम्हारी बुद्धि को धन्यवाद है ! तो लो मैं अब पुन: इस रहस्य को स्पष्ट कर रहा हूँ। हे तात ! जब इन्द्रियों और विषयों का मिलन होता है, तब सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख की अनुभूति होती है।

नियम तत्व जब दुइ मिल जावें। तीसर तत्व तबहिं उपजावें॥
जब टकरावें मेघ परस्पर। उपजति सक्ति सब्द अति घर्घर॥

हे जितेन्द्रिय ! यह नियम है कि जब दो पदार्थ मिलेंगे तो तीसरे पदार्थ (तत्त्व) की उत्पत्ति होगी। जैसे दो बादल परस्पर टकराते हैं तो विद्युत और गड़गड़ाहट का शब्द प्रकट होता है।

बिद्युत सन तन धन कर नासा। होय सबहिं जानहिं तेहि भासा॥
होवत योग जबहिं जल थलहीं। उपजि औषधी पुनि पुनि गलहीं॥

बिजली के गिरने से तन-धन की क्षति होती है, उसके इस लक्षण को सभी जानते हैं। [तुम देखते ही हो कि] जब जल एवं पृथ्वी का मिलन होता है तो असंख्य औषधियाँ प्रकट हो-होकर पुन: उसी में विलीन हो जाती हैं।

दोहा— मिलत परस्पर मित्र दुइ परम प्रेम प्रगटात।
द्वेषी जब दुइ मिलत तब होय द्वेष बरसात॥ ७८॥

इसी प्रकार जब दो मित्र परस्पर मिलते हैं तो प्रेम प्रकट हो जाता है। वैसे ही जब दो शत्रुओं का मिलन होता है तो द्वेष की बरसात होने लगती है।

चौपाई— ब्रह्म सक्ति जब मिलहिं परस्पर। उपजहिं बहुबिधि सृष्टि निरंतर॥
जीव अबिद्या कर संयोगा। प्रगटत अहं प्रबलतम रोगा॥

जब ब्रह्म और उसकी संकल्पशक्ति का परस्पर मिलन होता है तो नाना प्रकार की सृष्टियाँ सतत प्रकट होती रहती हैं। वैसे ही जीव और अविद्या का मिलन होता है तो तीसरा तत्त्व अहंकार प्रकट हो जाता है, जो जीव के लिए महारोग है।

प्रकृती अहं योग सों भाई। तीसर तत्व बुद्धि प्रगटाई॥
बुद्धि अहं जब होवें साथा। उपजत मन धूनत नित माथा॥

हे प्रिय ! जब अहंकार एवं मूल प्रकृति का योग होता है तो तीसरे तत्त्व बुद्धि की उत्पत्ति होती है। वैसे ही जब बुद्धि तथा अहंकार मिलते हैं तो मन प्रकट होता है जिससे नित्य ही लोग अपना सिर पीटते रहते हैं।

मन बुधि होय मित्रता जबहीं। होतिं बहिर्मुख इंद्रियँ तबहीं॥
अस संयोग बिषय इंद्रिनि कर। तीसर तत्व होय सुख दुख कर॥

जब मन और बुद्धि का संयोग होता है तो तीसरा तत्त्व बहिर्मुखी इन्द्रियाँ प्रकट हो जाती हैं। जब ऐसा ही संयोग विषयों एवं इन्द्रियों का होता है तो तीसरा तत्त्व सुख-दु:ख प्रकट होता है।

मधुर दृस्य दृग सों संयोगत। तीसर तत्व पाइ सुख भोगत॥
होय दृस्य आँखिन्ह प्रतिकूला। उपजत स्वयंहि दुख बुलबूला॥

जब नेत्र से मधुर दृश्य का संयोग होता है तब तीसरे तत्त्व सुख का अनुभव होता है तथा जब नेत्र के सामने प्रतिकूल दृश्य उपस्थित होता है तो स्वयं ही तीसरा तत्त्व दु:खरूपी बुलबुला उत्पन्न हो जाता है।

दोहा— मधुर सब्द श्रवननि परे तबहिं मधुरता होय।
जब कर्कस ध्वनि आय तौ सालइ उर सब कोय॥ ७९॥

जब मधुर शब्द कानों में पड़ते हैं तो सुख की अनुभूति होती है और जब कटु शब्द कानों में पड़ते हैं तो सबके हृदय में दु:ख प्रकट होता है।

चौपाई— घ्रान सुगंध योग जब पावे। तबहिं सहज सो सुख उपजावे॥
होत जोग दुर्गंध सों जबहीं। तहाँ तत्व दुख उपजत तबहीं॥

जब नासिका और सुगन्ध का योग होता है तो सहज ही सुख प्रकट हो जाता है तथा जब उसी से दुर्गन्ध का योग होता है तो वहाँ दु:खरूपी तत्त्व उत्पन्न हो जाता है।

जिह्वा जबहिं मधुर रस धारे। सुख सरसे सो कछु न बिचारे॥
कटु रस परत ताहि महँ जबहूँ। प्रगटत दुख अनचाहे तबहूँ॥

जब जिह्वा का मधुर रस से सम्बन्ध होता है तो उसके नहीं चाहने पर भी मधुर स्वादरूपी सुख की अनुभूति होने लगती है परन्तु जब उसका कटुरस से संयोग होता है तो न चाहते हुए भी दु:ख प्रकट हो जाता है।

त्वचा ताप संयोगत जबहीं। सहजहिं दुख अति प्रगटत तबहीं॥
जब बहु सीत गगन बरसावत। काँपत तन तब दुख उपजावत॥

जब त्वचा और भीषण गर्मी का संयोग होता है तो सहज ही अत्यन्त क्लेश प्रकट होता है। जब आकाश से भीषण सर्दी पड़ती है तो शरीर में कँपकपाहट होने लगती है जिससे अत्यन्त दु:ख उत्पन्न हो जाता है।

बरसे सीत ऊष्ण अनुपातिक। सुख बहु उपजत सो नहिं घातिक॥
इन्ह सुख दुख अनुभव मन करई। धर्म ताहिकर सो तेहि धरई॥

यदि अनुपातिक रूप में अर्थात् शरीर की सहनशक्ति के अनुरूप सर्दी-गर्मी पड़ रही है तो उससे विशेष सुख की अनुभूति होती है, वह [सर्दी-गर्मी] घातक भी नहीं होती है। [हाँ, अब यह जान लो कि सर्दी-गर्मी एवं सुख-दु:ख का अनुभव कौन करता है-] इन सुख-दु:खों का अनुभव मन को ही होता है क्योंकि सुख-दु:ख भोगना उसी का धर्म है, अत: वही इन्हें धारण करता है आत्मा नहीं।

जीव अबिद्या जब स्वीकारत। तन अभिमान होइ तेहि भारत॥

हे भारत! जैसे ही जीव अविद्या को स्वीकार करता है वैसे ही उसे 'मैं शरीर हूँ' ऐसा अभिमान हो जाता है।

दोहा— अहं भाव प्रगटाय पुनि जेहि कारन अस सूझ।
मैं अरु मोर तोर तू पार्थ मरम कोउ बूझ॥ ८०॥

हे बुद्धिमान्! उसके उपरान्त अहंकार प्रकट होता है जिसके द्वारा वह समझता है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह तुम हो, यह तुम्हारा है। हे पार्थ! इस रहस्य को एकाध पुरुष ही समझ पाते हैं।

चौपाई— तन कर सुख दुख मन अनुभावत। मूढ़ अहं बस अपनो गावत॥
प्रान तजत जिमि कोउ सुनु ताता। अपनो स्वजन मीत नहिं भ्राता॥

[विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न] शरीर के सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला तो मन ही है किन्तु अज्ञानी अहंकार के वशीभूत हुआ उन्हें अपना कहता है। हे तात! सुनो- जैसे कोई ऐसा व्यक्ति प्राण छोड़ता है जो अपना स्वजन, हित-मित्र या बन्धु नहीं है-

दुख न होय तब निज मन माहीं। तासु स्वजन बरु बहु बिलपाहीं॥
ताकर दुख निज मन कस नाहीं। यासें कै सो अपर कहाहीं॥

तो अपने मन में उसका दु:ख नहीं होता; भले ही उसके स्वजन बहुत दु:खी होते हैं। उसका दु:ख अपने मन को क्यों नहीं लगता? इसलिए कि वह [अपना नहीं अपितु] पराया कहा जाता है [अर्थात् माना जाता है]।

जिनहिं मानि लियो निज पितु माता। स्वजन सगे सुत हित मित भ्राता॥
उन महँ कोउ जाय सुरलोका। तब अपुनें मन सोकहिं सोका॥

किन्तु जिन्हें अपना माता-पिता, स्वजन, सगा-सम्बन्धी, हित-मित्र, पुत्र, भाई आदि माना गया है, यदि उनमें से कोई देवलोक चला जाता है [अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है], तो अपने मन में शोक का अथाह सागर उमड़ पड़ता है।

जस न सुप्ति महँ तन निज मानत। स्वप्न लोक माया महँ ध्यानत॥
बरु दुख होय घोर तन जनहीं। तउ अनुभवे न इन्हि सब मनहीं॥

अथवा जैसे नींद के आ जाने पर पुरुष इस शरीर को अपना नहीं मानता, स्वप्नलोक की माया में भ्रमण करता

रहता है, उस समय भले ही शरीर में घोर कष्ट (तीव्र ज्वर आदि) हो या स्वजनों पर भारी दु:ख आया हो तो भी इन सबका मन अनुभव नहीं करता।

दोहा— तजि तन मन अरु अहं जब भ्रमत अपर जग जाइ।
तब सुख दुख कर भान नहिं होय मानु अब भाइ॥ ८१॥

[क्योंकि] वह पुरुष जब शरीर के साथ-साथ मन, बुद्धि, अहंकार आदि [अन्त:करणों] को यहीं छोड़कर दूसरे जगत (स्वप्नलोक) में भ्रमण कर रहा होता है; तब उसे [इस लोक के] सुख-दु:ख का भान नहीं होता। अत: हे प्रिय! तुम अब भी इस बात को स्वीकार कर लो।

चौपाई— यह सब बस मानन कर खेला। जासे उपजत बिपुल झमेला॥
अस बिचारि तुम्ह तजु परमादा। अब परिहरु यह सकल बिसादा॥

[हे प्रिय!] यह सब तो एक मात्र मान्यता (मान लेने) का ही खेल है जिससे नाना प्रकार के झमेले उत्पन्न होते हैं। ऐसा विचार करके अब तुम प्रमादरहित होकर सम्पूर्ण शोक-सन्ताप त्याग दो।

एक बात निस्चित मानहु अब। सीत ऊष्ण सुख दुख अनित्य सब॥
आवत जात न कबहूँ थीरत। मूरख मन इनसों क्यों भीरत॥

हे भारत! अब एक बात तुम निश्चित ही मान लो कि सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि सभी अनित्य हैं। ये कभी स्थिर नहीं रहते अपितु आते-जाते रहते हैं परन्तु मूर्ख मन पता नहीं क्यों इन सबसे जूझता रहता है।

एक समय दुख देइ पराहीं। सुखद अपर छन मूढ़ सराहीं॥
इहइ बिषय इंद्रिनि कर हाला। बिनु चिंतन भये सबके काला॥

एक समय में ये दु:ख देकर चले जाते हैं तो दूसरे समय में सुख देते हैं, जिसकी मूढ़ सराहना करते हैं। यही इन्द्रियों एवं विषयों का स्वरूप एवं व्यवहार है, ये चिन्तन के अभाव में सबके लिए कालरूप हो गये हैं।

रोग रहित इंद्रियँ सुख देहीं। निर्मल मन निज बस करि लेहीं॥
पर जब बिषम रोग तिन्हि आवें। तब तेइ मन नहिं कछुक सुहावें॥

[तुम नहीं देखते हो कि] बिना रोग की इन्द्रियाँ सुख देकर निर्मल मन को अपने वश में कर लेती हैं, परन्तु जब उनमें भयंकर रोग लग जाता है तब वे ही मन को थोड़ी भी प्रिय नहीं लगतीं।

कहहिं बैद्य सों इनहिं निकारउ। इनहिं सरिस खोटउ कोउ डारउ॥
जबहिं असाध्य रोग अति पीड़त। बहु दिन गये तनहु सों घ्रीड़त॥

फिर तो लोग चिकित्सक से कहते हैं कि इनको निकाल कर इन्हीं के जैसी कोई नकली इन्द्रिय लगा दीजिये। [इतना ही नहीं] लम्बे काल तक जब कोई असाध्य रोग शरीर को अत्यधिक पीड़ा पहुँचाता है तो [मन में] शरीर के प्रति भी घृणा उत्पन्न हो जाती है।

माँगहिं मृत्यु बहुत बिकलाई। कहहिं आह भरि मरेहिं भलाई॥
देहिं दुहाई सुकृति सुरति करि। रुदन करहिं अँसुवनि नैननि भरि॥

अत: [भगवान से] वे अति विकल होकर मृत्यु की याचना करने लगते हैं और पूर्व के किसी पुण्य का स्मरण करके उसकी दुहाई देते हुए आहें भरकर कहते हैं कि अब तो मरने में ही कल्याण है। बस इसी प्रकार आँखों में आँसू भरकर रोते-कलपते रहते हैं।

दोहा— अस अनित्य तन इंद्रियनि बिषय सीत ऊष्णादि।
सहन करहु लखि स्वयंहिं नित्य अनंत अनादि॥ ८२ (क)॥

[हे पार्थ!] इस प्रकार तुम अपने को नित्य, अनन्त एवं अनादि जानकर तथा शरीर, इन्द्रियों एवं शीत-उष्ण आदि विषयों को अनित्य समझकर सहन करो।

सोरठा— होइ अतिहिं गंभीर गुडाकेस हरि सों कहैं।
अबहुँ न गइ उर पीर देखउँ नहिं अस जस कहउ॥ ८२ (ख)॥

निद्रा विजयी अर्जुन भगवान से अत्यन्त गंभीर होकर कह रहे हैं कि हे प्रभो! अभी हृदय की पीड़ा नहीं गयी

क्योंकि आप जैसा कह रहे हैं वैसा दिखाई नहीं दे रहा है।

चौपाई— बरु जो कहउ साँच लउँ मानी। पर इक बात न हिये समानी॥
तन बहु पर एकइ कस आतम। निराकार जो हइ परमातम॥

भले ही आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब सच मान लूँ लेकिन एक बात हृदय में बैठ नहीं रही है कि शरीर तो असंख्य हैं परन्तु आत्मा जो निराकार एवं परमात्मा कहा जाता है, वह सभी शरीरों में एक ही कैसे है।

अस सच मानउँ तौ यदुनाथा। जब दुख आयो मोरे माथा॥
तब सब पहिं दुख गयो न काहे। सूर सबै तो इहँ रन चाहे॥

हे यदुनाथ! यदि मैं इसे सच भी मान लूँ तो जब मुझ पर दु:ख आया है तब सब पर यह दु:ख क्यों नहीं गया जबकि यहाँ पर तो सभी योद्धा युद्ध ही चाह रहे हैं?

एक देह महँ सुख जब आवे। तब सबरें सुख काह न पावे॥
एहि कहि सोक मिटावहु नाथा। अब जासे मैं होउँ सनाथा॥

जब एक शरीर में सुख होता है तो उससे सभी को सुख की अनुभूति होनी चाहिए, फिर ऐसा क्यों नहीं होता? हे स्वामी! यह बताकर मेरा शोक दूर करें जिससे अब मैं कृतार्थ हो जाऊँ।

नहिं नहिं पार्थ जीव इक अहई। पृथक पृथक मन मति चित रहई॥
संघत बिषय होइ परिनामा। देह मनोमय ताकर नामा॥

नहीं, नहीं पार्थ! नहीं! अपने मन में ऐसा न सोचो, क्योंकि सबमें आत्मा एक ही है किन्तु सभी शरीरों में मन, बुद्धि, चित्त तो पृथक्-पृथक् ही हैं और जो [जन्म-जन्म के] विषयों (कर्मों) के संघात (समूह) रूप परिणाम को प्राप्त हुआ है, उसी का नाम मनोमय पुरुष अर्थात् वासनामय पुरुष है [जिसे सूक्ष्मशरीर भी कहा जाता है]।

सोइ अनुभव कर सुख दुख ताता। यह निस्चित संतन्ह की बाता॥
तन पुर बसि सोइ पुरुष कहावत। सोइ तिहुँ काल बिषय महँ धावत॥

हे तात! वही मनोमय पुरुष सुख और दु:ख का अनुभव करता है, यह सन्तों द्वारा निश्चित किया हुआ मत है। जो शरीररूपी पुर में रहता है वही पुरुष (जीव) कहलाता है तथा तीनों कालों में विषय का ही चिन्तन करता रहता है।

आपुनि नहिं ये ताकर धर्मा। सुख दुख सहि करु रन सत कर्मा॥
जिमि सर्दी गर्मी महँ एका। होय न कहुँ लख आत्मबिबेका॥

ये अपने नहीं बल्कि उसके धर्म हैं अत: सुख-दु:ख के आघातों को सहन करते हुए यह युद्धरूपी सत्कर्म करो। ऐसा आत्मविवेक से देखा जाता है कि जिसप्रकार सर्दी-गर्मी में कभी एकरूपता नहीं हो सकती,

तिमि जड़ देह आतमा माहीं। संगम जाग्रत सपनेहुँ नाहीं॥
एहि तन महँ अरु सूक्षम गेहा। आवत जात मनोमय देहा॥

उसीप्रकार जड़ शरीर और आत्मा का मिलन तो जाग्रत क्या स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। इस शरीर में और सूक्ष्म जगत में एकमात्र वासनामय सूक्ष्म शरीर ही आता-जाता सा प्रतीत होता है।

दोहा— मन पक्षी निज छाँड़ि तन सहज जाहि जग जाय।
सो नूतन तन प्रति तहाँ आत्मरूप अनुभाय॥ ८३ (क)॥

मनरूपी पक्षी अपने शरीर को छोड़कर सहजरूप से जिस जगत में जाता है, वहाँ [धारण किये हुए] नये शरीर के प्रति आत्मरूपता का अनुभव करने लगता है।

गगन लखाये मुकुर महँ जदपि अहइ सब ठाँव।
तिमि ब्यापक जो आतमा निर्मल हिय अनुभाव॥ ८३ (ख)॥

यद्यपि आकाश सर्वत्र विद्यमान है तथापि दर्पण में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जो आत्मा सर्वत्र व्याप्त है उसकी अनुभूति निर्मल हृदय में होती है।

पृथ्वी तल महँ बसत जिमि अर्जुन नीर अगाध।
तिमि निर्मल चित आतमा अनुभव होय अबाध॥ ८३ (ग)॥

हे अर्जुन! जिसप्रकार पृथ्वी के तल में अथाह जल का वास होता है, उसी प्रकार निर्मल चित्त में आत्मा का अबाध रूप से अनुभव होता है [अर्थात् निर्मल चित्त में ही आत्मा प्रतिबिम्बित होता है]।

चौपाई— ज्यों पक्षी इक तरुवर त्यागी। जाय अपर तरु मनहुँ बिरागी॥
त्यों यह पुरुष त्यागि एहि देहा। गहत अपर तन अरु कोउ गेहा॥

जिसप्रकार पक्षी एक वृक्ष को त्यागकर किसी दूसरे वृक्ष पर चला जाता है, मानो विरागी हो गया हो, उसी प्रकार यह जीव भी इस शरीर को त्यागकर किसी दूसरे शरीर और घर (परिवार) को ग्रहण करता है।

जीव साक्षि सत अक्षर रूपा। असुभ बासना गहि जनु छूपा॥
इच्छा रज्जू सों बँधि भाई। सो कलेस पावत बहुताई॥

यद्यपि जीव सत, साक्षी एवं अक्षर स्वरूप वाला है उसने अपने को मानो अशुभ वासनाओं से छुपा रखा है, परन्तु इच्छारूपी रस्सी से बँधकर वह अत्यधिक दु:ख पाता रहता है।

पाइ देह जड़ पर्बत तूला। आयु बितावत करि प्रतिकूला॥
गहि कुबासना बारहिं बारा। नरक निवास करत सो भारा॥

वह पर्वत के समान जड़ देह को पाकर प्रतिकूल व्यवहार करता हुआ अपनी आयु व्यतीत करते हुए बारम्बार नाना प्रकार की दुर्वासनाओं को धारण कर अनंत काल तक घोर नरक में वास करता रहता है।

जनमत तन नहिं जनमहु कबहूँ। मरउ न यह मरि जावे तबहूँ॥
निर्बिकार तव रूप सनातन। नित्य निरंजन सुद्ध पुरातन॥

अत: यह भी सत्य ही है कि शरीर के जन्म लेने से न तुम कभी जन्म लेते हो और न इसके मरने से मरते ही हो, तुम्हारा स्वरूप तो निर्विकार, विशुद्ध, नित्य, मायारहित, सनातन और पुरातन है।

तेहि महँ बसहु बिकल किमि होऊ। इहाँ न अहइ स्वजन तव कोऊ॥
नष्टत देह कहत मैं नष्टउँ। तेहि अंधहिं धिक्कारत भ्रष्टउँ॥

तुम उसी में स्थित ही हो, फिर विकल क्यों हो रहे हो? यहाँ तुम्हारा कोई स्वजन नहीं है। जो शरीर के नष्ट होने से कहता है कि मैं नष्ट हो रहा हूँ तो उस अन्धे को मैं धिक्कारते हुए छिन्न-भिन्न कर देता हूँ।

दोहा— सुख दुख ऊष्मा सीत महँ होय जो सम चित पार्थ।
धीर पुरुष सोइ पावत अमृतपद परमार्थ॥ ८४॥

हे पार्थ! जो सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख में समान चित्तवाला होता है, वही धीर पुरुष पारमार्थिक अमृतपद (परमपद) प्राप्त करता है।

चौपाई— सुख दुख महँ नहिं हर्ष बिषादा। मानत आपुनि कर्म प्रसादा॥
दुख दुख हेतु सुखहु दुख कारन। यासें सम रहि कर न निबारन॥

वह सुख में सुखी एवं दु:ख में दु:खी नहीं होता, इन्हें अपने कर्मों का ही फल मानता है और यह भी जानता है कि दु:ख तो दु:ख का हेतु है ही, सुख भी दु:ख का ही कारण है, अत: वह सम शान्त बना रहता है, इनका निवारण नहीं करता [अर्थात् दोनों से उदासीन रहता है]।

कबहुँ सुखद दुख कबहुँ दुखद सुख। अस जियँ जानि न करहु मलिन मुख॥
किंतु सबै सुख दुख मिलि भाई। धीर पुरुष नहिं सकत डिगाई॥

[आश्चर्य तो यह है कि] कभी दु:ख ही सुख देनेवाला हो जाता है तो कभी सुख ही दु:ख देने वाला हो जाता है- ऐसा जानकर अपना मुख मलिन मत करो। किन्तु हे प्रिय! संसार के सभी सुख-दु:ख मिलकर भी धीर पुरुष को [आत्मस्वरूप से] विचलित नहीं कर सकते।

जिमि सुख दुख लहि सपने डोलत। जागे दुहुँ कहँ इक सम मोलत॥
ज्यों सपनें कोउ सित सों काँपत। भीषण गरमी लहि बहु हाँफत॥

जिसप्रकार कोई स्वप्न में सुख-दु:ख भोगता हुआ विचरता रहता है लेकिन जागते ही दोनों को एक समान ही देखता है, जैसे कोई स्वप्न में सर्दी से अति पीड़ित हो जाता है, भीषण गर्मी से अति व्याकुल हो जाता है-

जागत सो प्रमुदित कह बाता। सीत ऊष्ण कहँ गये बिधाता॥
धीर पुरुष ऐसो जग जानत। सब स्वजनहिं सपने कर मानत॥

किन्तु जगते ही वह प्रसन्न होकर कहता है कि हे विधाता! सर्दी-गर्मी कहाँ चली गयी! उसी प्रकार धीर पुरुष इस जगत को भी ऐसा (स्वप्नमय) ही जानता है तथा समस्त स्वजनों को स्वप्न का ही मानता है।

तेहि कहँ सोक मोह नहिं अंसहु। बरु जग जरइ मरइ सब बंसहु॥
अस नर धीर पाव अमृत पद। अस जियँ जानि न तुम्हहु असत बद॥

इसीलिए उसे अंशमात्र भी शोक-मोह नहीं होता, भले ही समस्त कुल-परिवार या समस्त जगत ही नष्ट हो जाय। ऐसा धैर्यवान पुरुष ही परमपद पाता है। मन में ऐसा जानकर तुम भी ['मैं-मेरा,''तू-तेरा' करते हुए] झूठ मत बोलो।

दोहा— मरत जियत बहु सपन महँ जागत सबहिं समान।
भरतश्रेष्ठ तुम्ह ब्रह्म सम लखु सम मान अमान॥ ८५॥

हे भरतश्रेष्ठ! तुम स्वयं ही सम ब्रह्म हो। स्वप्न में बहुत-से लोग मरते-जीते हैं किन्तु जगने के उपरान्त सब एक समान हो जाते हैं, उसी प्रकार [जन्म-मृत्यु तथा] मान-अपमान को भी एक समान समझो।

चौपाई— दीन्हें दिब्य ज्ञान प्रभु एहि बिधि। पर न भई अर्जुनहिं याहि सिधि॥
देस काल अवसर प्रभु जानी। कहत पार्थ सन कथा पुरानी॥

इस प्रकार प्रभु ने महात्मा अर्जुन को दिव्य ज्ञान दिया पर उन्हें इसकी सिद्धि नहीं हुई। तब भगवान देश-काल, अवसर को देखते हुए पृथापुत्र अर्जुन से एक प्राचीन कथा कहने लगे।

भये सेनजित नृपति सुजाना। पुत्र बियोग अतिहिं दुख माना॥
सूखत मुख बानी नहिं आवे। आपुनि मृत्यु उनहिं मन भावे॥

सेनजित नामक एक बुद्धिमान राजा थे जो पुत्र के वियोग में अति दुःखी हो गये थे। [शोक-सन्ताप से] उनका मुँह सूख रहा था, वाणी भी नहीं निकल रही थी। बस, उन्हें तो अपनी मृत्यु ही अच्छी लग रही थी।

बिकल बिलोकि बदे एक द्विजवर। कस मोहउ मूरख सम नृपवर॥
सोक योग तो तुम्हहि भुआला। तव पाछें सो काल कराला॥

उन्हें विकल देख एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने कहा- हे नृपश्रेष्ठ! मूर्खों की भाँति ऐसा मोह क्यों कर रहे हैं? हे नरेश्वर! [सच पूछें तो] शोक के योग्य तो एकमात्र आप ही हैं क्योंकि वह महाकाल आपके पीछे पड़ा हुआ है।

पुनि कस करउ अपर कर सोका। का तुम्ह अवलोकहु निज लोका॥
मैं तुम्ह सबरे जन तहँ जाहीं। मनुज रूप गहि जहँ तें आहीं॥

फिर आप दूसरे के लिए शोक क्यों कर रहे हैं, क्या आप अपने जगत को जानते हैं? अरे! मैं, आप और जगत के सारे लोग वहीं जायेंगे, जहाँ से मनुष्य रूप धारण करके आये हुए हैं।

दोहा— तब काहे अस धुनउ सिर आरत बचन सुनाइ।
का तुम्हरे सँग आय सो गयो जो आज नसाइ॥ ८६॥

तब इस प्रकार आर्त वचन कहते हुए माथा क्यों पीट रहे हैं, क्या वह आपके साथ आया था जिसका आज नाश हो गया है?

चौपाई— सेनजीत तब कह धीरज धरि। चरन बंदि बहुबिधि बिनती करि॥
प्रभु तव पहिं अस को तप ज्ञाना। जासे होय न सोक सुजाना॥

तब राजा सेनजित् ने धैर्य धारण कर, चरणों में प्रणाम करके अनेक प्रकार से प्रार्थना करते हुए कहा-हे परम बुद्धिमान! आपके पास ऐसा कौन-सा तप और ज्ञान है जिससे आपको [किसी भी विषम समय में] शोक-सन्ताप नहीं होता?

तब कह बिप्र सनेह समेता। सुनहु सेनजित होइ सचेता॥
मानत सब जग निज घर द्वारहिं। कर्म करत बहु कल्पित खारहिं॥

तब ब्राह्मण देवता ने बड़े प्रेम पूर्वक कहा कि हे सेनजित राजन्! सावधान होकर सुनें, सारा जगत घर-द्वार को अपना मानकर नाना प्रकार के कल्पित खोटे कर्मों को करता रहता है-

मैं तन धरनि न आपुनि मानउँ। जस मोरे तस औरन्ह जानउँ॥
अस मति मोरि न सोकति कबहूँ। तन धन भवन जाइ बरु तबहूँ॥

किन्तु मैं तो इस शरीर और धरती को अपना मानता ही नहीं, बल्कि ऐसा समझता हूँ कि जिस प्रकार ये सब मेरे हैं उसी प्रकार औरों के भी हैं। अत: मेरी बुद्धि कभी भी शोक-सन्ताप नहीं करती, भले ही मेरा शरीर, धन तथा घर सब चला जाय।

जिमि दुइ काष्ठ सिंधु मिलि जाहीं। पुनि थोरे पल महँ बिलगाहीं॥
तिमि एहि जग सबरें संयोगत। कछु पल सँग रहि बहुरि बियोगत॥

[मैं तो समझता हूँ कि] जिसप्रकार दो लकड़ियाँ सागर में मिल जाती हैं और पुन: थोड़े ही समय में बिछुड़ जाती हैं, उसी प्रकार यहाँ पर सबका मिलन होता है तथा कुछ समय साथ रहकर पुन: सबका वियोग हो जाता है।

दोहा— हीत मीत सुत पौत्र इमि मातु पिता अरु भाइ।
होत समागम काल कछु समय पाइ बिलगाइ॥ ८७॥

इसी प्रकार हित-मित्र, पुत्र-पौत्र, माता-पिता और भाई आदि का कुछ काल के लिए मिलन होता है तथा यथासमय सबका वियोग हो जाता है।

चौपाई— बुधजन आत्मरूप महँ रहहीं। बहुत सनेह न काहुहिं करहीं॥
कोउ अज्ञात देस सों आयो। तव सुत होइ कतहुँ पुनि धायो॥

किन्तु बुद्धिमान पुरुष आत्मस्वरूप में ही रत रहते हैं, किसी से भी विशेष प्रेम नहीं करते। कोई जीवात्मा अज्ञात देश से आकर आपका पुत्र बन गया था और पुन: कहीं अज्ञात देश को चला गया।

तुम्ह न जान तेहि सोउ न तोहीं। दुख कस करहु मानि निज ओहीं॥
ताकर कौन लगत तुम्ह ताता। जासे तव मन अस बिलपाता॥

न तो वह आपको जानता था और न आप ही उसे जानते थे फिर उसे अपना मानकर शोक क्यों कर रहे हैं? हे प्रिय! आप उसके क्या लगते हैं जिससे आपका मन ऐसा विकल हो रहा है?

बिषय आस जग ब्याकुल होई। संत कहहिं साँचहिं दुख सोई॥
तेहि दुख नास होत सुख जानत। तेहिं सुख तें पुनि दुख अनुमानत॥

विषय की आशा से जगत व्याकुल हो रहा है, यथार्थ में उसी को ज्ञानियों ने दु:ख कहा है। उस दु:ख का नाश ही सुख कहा जाता है और उसी सुख से पुन: दु:ख का आना माना जाता है।

एहि बिधि सुख दुख बारहिं बारा। भ्रमत चक्र इव एहि संसारा॥
सुख सों दुख महँ एहि छन आयउ। पुनि दुख सों सुख महँ तुम्ह जायउ॥

इस प्रकार इस संसार में बारम्बार सुख एवं दु:ख चक्र की भाँति घूमते रहते हैं। आप भी इस समय सुख से ही दु:ख में आये हुए हैं, पुन: इसी दु:ख के पश्चात् सुख को प्राप्त कर लेंगे।

दोहा— सुख दुख काहु निरंतर होहिं नाहिं नरपाल।
सुद्ध सच्चिदानंद तुम्ह काहे होउ बेहाल॥ ८८॥

हे प्रजापालक! सुख-दु:ख तो सदा के लिए किसी के भी पास नहीं रहते। आप तो स्वयं ही शुद्ध सच्चिदानन्द हैं, अत: विकल क्यों हो रहे हैं?

चौपाई— ईर्ष्या द्वंद रहित चित जाही। कोउ दुख ब्यथित करइ नहिं ताही॥
यासें सुख दुख मिलन बियोगा। प्रिय अप्रिय सुभ असुभहु भोगा॥

जिसका चित्त ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित है उसे कोई दु:ख व्यथित नहीं कर सकता, इसलिए सुख-दु:ख, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय और शुभाशुभ भोग-

इन्हकीं मार सहत इहँ जोई। नृप पावन पद पावत सोई॥
तेहि पद पाइ बिलोकहु पुत्रहिं। माता पिता बंधु हित मित्रहिं॥

इनकी मार को जो यहाँ [अर्थात् इस कर्मभूमि में] सहन करता है, हे नरेश वही परम पावन पद को प्राप्त करता है। उस पद को प्राप्त करके आप अपने पुत्र, माता-पिता, भाई-बान्धव एवं हित-मित्रों को देखें तो-

अचरज मानहु लखि तिन्ह रूपा। जो सच महँ नहिं रूप बिरूपा॥
तेहितें प्रथम रूप निज ध्यावहु। तब सब रूप पाइ हर्षावहु॥

उनके रूप को देखकर आप आश्चर्य करेंगे; जो यथार्थ में न रूप है, न अरूप ही। इसलिए सर्वप्रथम आत्मरूप को प्राप्त करें और तब समस्त रूपों को प्राप्त करके हर्षित हो उठेंगे।

सोक करन कर अवसर नाना। आयँ बिपुल भय के अस्थाना॥
मोहत मूढ़न्ह कहँ ते सारे। ज्ञानिन्ह कर कहु काह बिगारे॥

शोक-सन्ताप तथा भय के अनेक अवसर आते हैं, जो सदा मूर्खों को ही मोहित करते हैं किन्तु आप ही बतायें कि ज्ञानियों का वे क्या बिगाड़ सकेंगे ?

दोहा— तत्व प्रलय उत्पत्ति कर जानत जो मतिधीर।
सोक मोह तेहि छुवत नहिं ताहि कहाँ कछु पीर॥ ८९॥

अत: जो धैर्यवान पुरुष उत्पत्ति तथा प्रलय के तत्त्व को जानता है उसे शोक-मोह तो छू ही नहीं सकते फिर उसे मानसिक व्यथा कैसे होगी ?

चौपाई— मोह रज्जु नाना बिधि फाँसी। लागि जगत मोहिं आवे हाँसी॥
जिमि जल सिकता सेतु बनावे। तेहिपर सपनेहुँ गमन न पावे॥

मुझे हँसी आ रही है कि सम्पूर्ण जगत को मोहरूपी रस्सी के द्वारा नाना प्रकार की फाँसी पड़ी हुई है। जिस प्रकार कोई जल पर रेत का पुल बनाने वाला उसके ऊपर स्वप्न में भी गमन नहीं कर सकता।

सेतु कलपना कर तिमि बाँधत। तबहीं आइ बिषम दुख साधत॥
जेहि जेहि जब जो आपुन मानत। सोइ दुख हेतु बनत बुध जानत॥

उसी प्रकार लोग नाना प्रकार की कल्पनाओं के पुल बाँधते रहते हैं तभी भयंकर दु:ख आकर सताने लगते हैं। जो जिस-जिस [वस्तु या पदार्थ] को अपना मानता है, वही उसके लिए दु:ख का हेतु बन जाता है, सभी सन्तों की ऐसी ही अनुभूति है।

तजत बिषय तिन्ह जस नर कोऊ। तेहि छन ताहि बिपुल सुख होऊ॥
पर अनुगमै बिषय नृप जोई। तासु नास सुनु तिन्ह सँग होई॥

अत: कोई पुरुष जैसे ही उन विषयों को त्यागता है वैसे ही उसे अपार सुख की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु हे नरेश्वर! जो विषयों का अनुगमन करता है तो यह जान लें कि उन [विषयों] के साथ ही साथ उसका भी नाश हो जाता है।

जितनैं लोक बिषय सुख उतनैं। स्वर्ग सुखहु जानहिं सब कितनैं॥
तृष्णा छय सम ते सुख नाहीं। अमृतपद दायक नहिं आहीं॥

हे तात! जितने लोक हैं उतने ही विषय सुख हैं तथा स्वर्ग का सुख कितना है सभी जानते हैं। वे सुख इच्छाओं के त्याग से प्राप्त होने वाले सुख के अंश मात्र भी नहीं हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी अमृतपद देने वाले नहीं हैं।

झूँठ साँच भय अभय प्रियाप्रिय। हर्ष सोक सम गुनत क्रियाक्रिय॥
सोइ नर मोक्ष जोगु जग अहई। कालछेप करि प्रभु पद लहई॥

किन्तु जो पुरुष सत्य-असत्य, भय-अभय, प्रिय-अप्रिय, हर्ष-शोक एवं कर्मठ और आलसी को भी एक समान देखता है, वही पुरुष जगत में मोक्षपद के योग्य होता है। वह कुछ काल व्यतीत होने पर भगवत् पद प्राप्त कर ही लेता है।

पार्थ नृपति सुनि द्विज संबादा। होइ सांत सम तजे बिषादा॥

हे पार्थ! श्रेष्ठ ब्राह्मण का संवाद सुनकर राजा सेनजित् ने सम-शान्त होकर [घोर] शोक-सन्ताप त्याग दिया।

दोहा— तजहु तिन्हहिं सम सोक सब नभ इव तुम्ह सम सांत।
धर्मयुद्ध करि दुख हरहु जगत भयो आक्रांत॥ ९०॥

तुम भी आकाश के समान सम-शान्त चित्त वाले हो; अत: उन्हीं के समान शोक-सन्ताप का परित्याग कर धर्मयुद्ध करके जगत के दु:ख को दूर करो, क्योंकि इस समय जगत अत्यन्त पीड़ित है।

चौपाई— आत्मबिज्ञ दुइ तत्व बखानत। त्रिकालज्ञ बहुबिधि सब जानत॥
नहिं अस्तित्व असत कोउ काला। अहइ भाव सत कर तिहुँ काला॥

[हे पार्थ!] तीनों कालों को अच्छी प्रकार से जानने वाले आत्मज्ञानी पुरुष दो प्रकार के तत्त्वों की बात करते हैं [वह यह] कि किसी काल में असत् का अस्तित्व नहीं है तथा ठीक इसके विपरीत तीनों कालों में सत्य का अभाव भी नहीं है [अर्थात् उसी की सत्ता है]।

इंद्रियँ बिषय सीत अरु घामा। सुख दुख इन्हकर कहुँ नहिं धामा॥
होय रुपांतर छिन पल इन्हकर। अहइँ बिकार समुझु मायाकर॥

इन्द्रियाँ, उनके विषय सर्दी-गर्मी तथा सुख-दु:ख आदि [द्वन्द्वों] का कहीं वासस्थान (कारण) नहीं है इनमें पल-पल बदलाव होता रहता है, अत: ये माया के विकार हैं ऐसा समझो।

नाम रूप ज्यों पट सों जावे। एकमात्र तहँ सूत लखावे॥
त्यों जग नाम रूप दुइ टारत। ब्रह्म अनामय बच रह भारत॥

हे भारत! जिसप्रकार वस्त्र में से नाम एवं रूप को निकाल दिया जाय तो वहाँ केवल सूत ही शेष दीखेगा, उसी प्रकार जगत से नाम और रूप निकाल दिया जाय तो मात्र मायारहित ब्रह्म ही बचा रह जायेगा।

सबकर कारण ब्रह्म अनूपा। कारण बिनु नहिं नाम न रूपा॥
भ्रम बस प्रेत भास ज्यों ठूँठो। ऐसोइ दृस्य जगत सब झूँठो॥

वास्तव में सबका कारण एकमात्र उपमारहित ब्रह्म ही है क्योंकि कारण के बिना न कोई नाम रहता है न कोई रूप अर्थात् नाम और रूप तो विकार मात्र हैं। जैसे भ्रम से ठूँठे पेड़ में प्रेत की प्रतीति असत् है, ऐसे ही समस्त दृश्यजगत असत् है।

सोरठा— भीष्म द्रोण द्वै नाम होइ सजग प्रथमहि तजहु।
बहुरि रक्त अरु चाम अस्थि मांस करु पृथक सब॥ ९१॥

अत: सर्वप्रथम तुम [जिन लोगों के कारण युद्ध नहीं करना चाहते हो] सजग होकर उनमें से भीष्म और द्रोण- इन दो नामों का त्याग कर पुन: [शरीर में से] रक्त, मांस, हड्डी एवं त्वचा को पृथक्-पृथक् कर दो-

चौपाई— तब खोजहु गुरु श्रेष्ठ पितामहँ। कौन अहहिं ये उन धातुन्ह महँ॥
पिंड देह कारण ब्रह्मंडा। ताकर कारन ब्रह्म प्रचंडा॥

और तब आचार्य द्रोण एवं भीष्म पितामह की खोज करो कि उन धातुओं में से ये कौन हैं? क्योंकि [शरीररूपी] पिण्ड का कारण तो ब्रह्माण्ड है, [अत: समस्त धातु उसके हुए] तथा ब्रह्माण्ड का कारण परम सामर्थ्यशाली निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

कहहु तुम्हहिं दोउन्ह कर कारन। जातें होवे सोक निबारन॥
अर्जुन चकित चितव सुरत्रातहिं। सुनत बचन मृदु मन न अघातहिं॥

अब इन दोनों गुरुजनों के कारण को तुम्हीं बताओ जिससे तुम्हारे शोक-सन्ताप का निवारण हो। महात्मा अर्जुन देवताओं के रक्षक भगवान की बात सुनकर चकित हो उन्हें देखने लगे, क्योंकि उनके अमृतमय वचनों को सुनने से उन्हें तृप्ति नहीं हो रही है।

उत कह नृप धृतराष्ट्र रिसाई। संजय अब ये करत ढिठाई॥
मोरें अनुज सुतहिं बहकावत। अस कहि मधुसूदन का पावत॥

उधर राजा धृतराष्ट्र दु:खी होकर कह रहे हैं कि हे सञ्जय! अब [तो तुम्हें मानना पड़ेगा कि] ये मधुसूदन अपने हठ पर उतर आये हैं। मेरे अनुज पुत्र अर्जुन को ऐसा कह कर धोखे में डालने से इन्हें क्या मिल रहा है?

गुरु कर धरम इहइ नृप चोखो। भाषत सत्य देत नहिं धोखो॥
जब अर्जुन दीक्षित भये इनसों। तब ये सत्यहिं जानहिं किनसों॥

[तब सञ्जय ने कहा] हे राजन्! सद्गुरु का उत्तम धर्म तो यही है कि वह [शिष्य को] धोखा नहीं देता अपितु जो सत्य है उसी को सदा [उसके सामने] कहता है। जब [आपके अनुज पुत्र] अर्जुन ने इन्हीं से दीक्षा ली है तो ये सत्य को किससे जानने जायेंगे?

दोहा— हिम कर कारन होइ का तुम्हहिं कहहु नरपाल।
संजय एहि मैं जानऊँ ताकर जल प्रतिपाल॥ ९२॥

हे प्रजारक्षक! आप ही बतायें कि बर्फ का कारण क्या है? [तब धृतराष्ट्र ने कहा कि] सञ्जय! इस बात को मैं भी जानता हूँ कि जल से ही उसकी उत्पत्ति है [इसलिए वही उसका कारण है]।

चौपाई— जब राजन जल देउँ निकारी। हिम जाये कहँ कहउ बिचारी॥
जल संघात होइ हिम भासे। तेहि बिलगात सो संजय नासे॥

हे राजन्! उस बर्फ में से यदि मैं जल निकाल दूँ तो आप विचार कर कहें कि बर्फ [आकृति और नामसहित] कहाँ चली जाती है? [तब धृतराष्ट्र ने कहा-] हे प्रिय सञ्जय! जल ही संघटित होकर बर्फ जैसा प्रतीत होता है अत: उसके निकलते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

संजय एहि महँ कोउ न गूढ़ा। बूझत सहज याहि अति मूढ़ा॥
जड़ चेतन जे तत्वहु दोऊ। यहि तन रहहिं हेतु जग जोऊ॥

हे सञ्जय! इसमें कोई गूढ़ रहस्य नहीं छिपा हुआ है, इसे मूढ़ पुरुष भी सहज ही समझता है। इस शरीर में जड़ और चेतन दो तत्त्व हैं, जिसमें जड़ शरीर का कारण मैं यहाँ जगत को मानता हूँ।

चेतन जो तन भीतर रहई। भीष्म द्रोण मैं अस सो कहई॥
कह अस सो चाहे जेहि कारन। मानत आपु न करत निबारन॥

परन्तु सञ्जय! शरीर में रहने वाला जो चेतन [आत्मा] है वह कह रहा है कि मैं द्रोण या भीष्म हूँ चाहे जिस कारण से वह ऐसा कह रहा हो परन्तु वह स्वयं को तो मान ही रहा है इसका निषेध नहीं कर रहा है।

याहि छाँड़ि सो कह कछु नाहीं। सुनइ न कछु सो निज मन माहीं॥
पुनि संजय मम सुत उर माहीं। कृष्ण बीज का बोवन चाहीं॥

इसके अतिरिक्त तो वह अपने मन में कुछ कह रहा है न सुन रहा है। तब हे संजय! मधुसूदन मेरे पुत्र अर्जुन के हृदय में कौन सा बीज बोना चाहते हैं।

नृपति तुम्हहु निज कुँवर मनाये। तउ ते तुम्हरें हाथ न आये॥
बिबस होइ अब देखहु हाला। आयो जनु उन्ह सबकर काला॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! आपने भी अपने पुत्र दुर्योधन को [धर्म के अनुसार] बहुत समझाया तो भी उन्होंने आपका कहना नहीं माना; और [परिणामस्वरूप] अब आप विवश होकर उन सबकी दशा को देख रहे हैं, मानो अब उन सबका काल सामने आ गया है।

दोहा— तुम्हरें सम असमर्थ नहिं प्रभु समरथ तिहुँ लोक।
जब लगि सिष्य न बोधई तिन्ह कहँ को कस रोक॥ ९३॥

तीनों लोकों में आपके समान असमर्थ और भगवान के समान सर्वसमर्थ कोई नहीं है। इसलिए जब तक वे अपने शिष्य को बोध नहीं करा देते तब तक ऐसा करने से उन्हें कौन रोक सकता है?

चौपाई— प्रथम सिष्य पाये यदुनाथा। दिब्य बनावहिं ताकर माथा॥
यासें धन जन दसा बिसारी। आपु सुनहु अब देहु न गारी॥

भगवान यदुनाथ ने [आज अपने जीवन में] प्रथम शिष्य को पाया है। अत: वे उसकी बुद्धि को अति दिव्य

(आध्यात्मिक) बना देंगे। इसलिए आप धन-वैभव तथा बाल-बच्चों की स्थिति (दशा) भूलकर यह दिव्य संवाद सुनें, प्रभु को अब भला-बुरा न कहें।

जग मंगल हित प्रभु उपदेसा। मानहु आयउ तव हृदयेसा॥
अस सुनि कह नृप अति झुँझलाई। लखु संजय रन काह लखाई॥

भगवान का यह दिव्य उपदेश जगत के कल्याण के लिए है। [सच कहता हूँ राजन्!] आप ऐसा मानें कि आपके हृदय का निर्गुण निराकार परमात्मा ही [द्वारिकाधीश बनकर] आया हुआ है। ऐसा सुनकर राजा ने सञ्जय से अति झुँझलाकर कहा- अच्छा! अच्छा! चलो अब देखो कि युद्धभूमि में क्या दिखाई पड़ रहा है!

इत अर्जुन सब तत्व अभावहिं। श्रेष्ठ जुगुति सों प्रभु सन गावहिं॥
पंचतत्व निर्मित यह देहा। जासों मम मन महँ अति नेहा॥

इधर महात्मा अर्जुन भगवान से तत्त्वों के अभाव को अति श्रेष्ठ युक्तियों द्वारा सिद्ध करने लगे- [हे प्रभो!] यह शरीर जिससे मुझे अति प्रेम हो गया है, पाँच तत्त्वों से बना हुआ है [जैसा कि अभी कुछ समय पूर्व आपने बताया है]।

जिन्ह महँ महि कर कारन नीरा। तेहिकर पावक ताहि समीरा॥
ताहि गगन अरु अक्षर तेहिकर। निमित सून्य सच तेहि अक्षर कर॥

जिन तत्त्वों में पृथ्वी का कारण जल है, जल का अग्नि है तथा उसका कारण वायु है और वायु आकाश से प्रकट होता है, आकाश का कारण अक्षर (ॐ) है एवं अक्षर का नैमित्तिक कारण शून्य कहा जाता है [अर्थात् अक्षर शून्य से प्रकट हुआ कहा जाता है]।

अस प्रभु सबकर सून्यहि कारन। पुनि क्यों कहउ युद्ध मोहिं धारन॥
हँसि कह हरि कस मति भइ तोरी। ब्रह्महिं लखति सून्य अस भोरी॥

हे प्रभो! इस तरह तो सबका कारण एकमात्र शून्य है फिर आप शून्य से मुझे युद्ध करने को क्यों कह रहे हैं? भगवान ने हँसकर कहा- तुम्हारी बुद्धि ऐसी बावरी हो गयी है कि परम चेतन ब्रह्म को प्रमादवश शून्य समझ रही है!

दोहा— ॐ प्रगट परब्रह्म सों जगत जहाँ सों आय।
एहि बिधि पूरण ब्रह्म सों पूर्ण ब्रह्म प्रगटाय॥ ९४ (क)॥

अरे! ॐ (अक्षर) तो परमचेतन ब्रह्म से प्रकट होता है जहाँ से समस्त चेतन जगत प्रकट होते हैं। पुनः प्रभु ने हँसकर कहा कि इस प्रकार पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण ब्रह्म ही प्रकट होता है [शून्य नहीं प्रकट हो सकता]।

यहइ परम चैतन्य नित अपर न कोउ चैतन्य।
जेहि मति यह मत मानइ सोइ इहाँ अति धन्य॥ ९४ (ख)॥

'यही ब्रह्म नित्य चैतन्य है इसके अतिरिक्त कोई अन्य चैतन्य नहीं है' जिसकी बुद्धि इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है वह पुरुष इस जगत में अत्यन्त सौभाग्यशाली है।

चौपाई— सून्य कतहुँ नहिं अहइ त्रिकाला। जासों प्रगटें जगत बिसाला॥
मुर्छा कहँ कोउ सून्य बतावे। अस मति लौकिक जगत कहावे॥

शून्य तो तीनों काल में कहीं है ही नहीं, जिससे अनेक विशाल चेतन जगत प्रकट हों, यदि कोई मूर्च्छा आने पर कहता है कि वे शून्य में चले गये तो ऐसी बुद्धि जगत में लौकिक कही जायेगी।

मूर्च्छाहू चेतन महँ आवइ। छूटत सोइ ताहि अनुभावइ॥
चेतन होय सून्य नहिं कबहूँ। होइ प्रगाढ़ सुषुप्ती जबहूँ॥

अरे! मूर्च्छा का भी तो आधार चेतन ही है क्योंकि वह जब हटती है तो पुरुष कहता है कि मूर्च्छा आ गयी थी। [इससे सिद्ध होता है कि मन, बुद्धि, चित्त अपने कारण में विलीन हो गये थे, चेतन (द्रष्टा) विलीन नहीं हुआ था]। जब प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था होती है तब भी चेतन शून्य नहीं होता।

कोउ कह सुख सों सोयों भाई। नींद प्रगाढ़ आज मोहिं आई॥
सिद्ध होय तहँ चेतन सोई। जाग्रत माहिं नित्य रह जोई॥

[हे पार्थ!] कोई कहता है कि अरे भाई! आज मैं अच्छे से सोया क्योंकि मुझे प्रगाढ़ निद्रा आयी थी। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ भी वही चेतन (आत्मा) था, जो सदा जाग्रत अवस्था में रहता है।

आध्यात्मिक मति सूतहिं देखति। बस्त्र नाम अरु रूप अलेखति॥
अस इहँ ज्ञानिन्ह मति अनुसारहु। द्रोण भीष्म सब स्वजन बिसारहु॥

आध्यात्मिक बुद्धि तो वस्त्र के नाम और रूप को हटाकर एकमात्र सूत को ही देखती है, इसी प्रकार तुम भी यहाँ ज्ञानियों की बुद्धि का अनुसरण करते हुए भीष्म, द्रोण एवं समस्त स्वजन भाव अर्थात् रूप और नाम को भुला दो [और स्वस्थ हो जाओ]।

दोहा— अस मिथ्या मति तजहु अब चेतन बिभु जग जानु।
आत्मरूप होइ करहु रन सोक मोह नहिं मानु॥ ९५॥

[हे वीर!] इस प्रकार अब तुम मिथ्या बुद्धि का त्याग कर दो और सम्पूर्ण [दृश्यमान] जगत को चेतन रूप जानो तथा शोक-मोह को अस्वीकार करते हुए आत्मरूप होकर युद्ध करो।

चौपाई— बरु लखु असतहिं सत की नाईं। तबहुँ असत सत होइ न जाईं॥
रज्जुहिं लाखु सिद्ध करु सर्पहिं। तउ सो उरग होइ नहिं दर्पहिं॥

[हे प्रिय!] तुम भले ही असत् को सत् के समान समझते रहो पर वह सत् नहीं हो सकता। जिसप्रकार तुम रस्सी को सर्प सिद्ध करने का लाख प्रयत्न करो तो भी वह सर्परूप होकर फुफकार नहीं मारेगी।

जिमि सिसु गुनै खिलौना उरगहिं। पर सो तेहि अनुरूप होय नहिं॥
तिमि सत रहत सतहि तिहुँ काला। बरु एहि मानइ कोउ जगसाला॥

जैसे कोई शिशु सर्प को भले ही खिलौना मानता रहे, तो भी वह कभी उसके अनुरूप खिलौना नहीं बन जाता। उसी प्रकार तीनों कालों में सत् तो सत् ही रहता है, भले ही इसे कोई जगतरूप मानता रहे।

सांख्यबादि बरु तत्व बतावे। तउ यह तत्व होइ नहिं जावे॥
अणुबादी अणु जोड़हि देखे। ब्रह्म ताहि सम होइ न पेखे॥

सांख्यमतावलम्बी भले ही इसे तत्त्व बताते रहें तो भी यह तत्त्व नहीं हो जाता। अणुवादी ब्रह्म को अणुओं का जोड़ बताता रहे किन्तु ब्रह्म उसकी बुद्धि के अनुरूप नहीं हो जाता।

तिमि कौरव सबरें अघरूपा। सकुनि करण सब अहइँ कुरूपा॥
ते नहिं सुर सब असुर सदोषा। भ्रातन्ह सँग तू अतिहिं अदोषा॥

उसी प्रकार समस्त कौरव, शकुनि और कर्ण आदि सभी पापरूप एवं कुरूप असुर ही हैं, तुम्हारे मानने से वे सब दोषयुक्त असुर निर्दोष देवता नहीं हो जायेंगे किन्तु हे पार्थ! तुम सभी भाइयों सहित अत्यन्त निर्दोष हो।

दोहा— नकुल भीम सहदेव अरु धर्मराज हे तात।
संत अहहिं तुव कहन सों होयँ न कबहूँ भ्रात॥ ९६॥

हे प्रिय! नकुल, भीम, सहदेव और युधिष्ठिर- ये परम सन्त ही हैं जो तुम्हारे मानने मात्र से तुम्हारे भाई नहीं हो सकते।

चौपाई— तस ये भीष्म द्रोण दुइ महिसुरु। बरु समुझहु तिन्हि दादा अरु गुरु॥
बरु आसुरी दृष्टि उर आनी। मो सम ब्रह्म जीव लेउ मानी॥

उसी प्रकार द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म इस धरती के दो देवता ही हैं, भले तुम इन्हें अपना गुरु एवं पितामह मानते रहो। उसी प्रकार हे प्रिय! [भले ही] तुम असुरों की दृष्टि को हृदय में धारण करके मेरे समान ब्रह्म को जीव मानते रहो,

बरु सारथि कि द्वारिकाधीसा। पर मैं अमल सांत परमीसा॥
अबलौं हित मित भ्रातहि माने। अब तुम्ह मो कहँ सदगुरु जाने॥

द्वारिकाधीश या अपना सारथि मानते रहो किन्तु मैं तो निर्मल, शान्त, परब्रह्म परमात्मा ही हूँ। अब तक तुम मुझे हित-मित्र, भाई-बान्धव समझते रहे और अब तुमने यथार्थ में मुझे सद्गुरु रूप में स्वीकार कर लिया है-

सीस देहु रावन सम जबहूँ। पर प्रभुरूप न त्यागउँ कबहूँ॥
यक्ष जबहिं कानन महँ आयो। तुम्ह चारिहु कहँ मारि गिरायो॥

किन्तु भले ही तुम रावण की भाँति अपना सिर ही अर्पित कर दो तो भी मैं अपनी ब्रह्मरूपता का त्याग नहीं कर सकता। [तुम भलीभाँति जानते हो कि] जब वन-प्रदेश में यक्ष ने आकर तुम चारों भाइयों को [जल भरने से रोकने के लिए] मूर्च्छित कर दिया था-

धर्मराज ता छन तेहिं परखे। यक्ष रूप आये हरि निरखे॥
तिन्हकर उत्तर देइ जिलाये। तुम्ह चारिहु मन महँ अति भाये॥

उस समय उस यक्ष को देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने पहचान लिया कि यक्ष रूप में भगवान ही आये हुए हैं। उनका उत्तर देकर उन्होंने चारों भाइयों को जीवित भी करा लिया जिससे सभी मन ही मन प्रसन्न हो उठे।

दोहा— तिन्हहिं लख्यो तुम्ह यक्ष पर ते तेहि रूप न होयँ।
तिमि त्रिकाल सत सत रहे बरु जानइ नहिं कोयँ॥ ९७॥

उन [भगवान] को तुमने यक्ष रूप में देखा परन्तु [तुम्हारे ऐसा देखने से] वे यक्ष नहीं हो गये, उसी प्रकार भले ही कोई समझे या न समझे किन्तु तीनों ही कालों में सत् तो सत् ही रहता है।

चौपाई— हिरनाकुस नरसिंह न जान्यो। एक अलौकिक जीवहि मान्यो॥
पर नहिं जीव भये भगवाना। भरि हुंकार लीन्ह तेहि प्राना॥

हिरण्यकशिपु ने भी नरसिंह भगवान को नहीं पहचानने के कारण एक अलौकिक जीव ही मान लिया था, पर [उसके ऐसा मानने से] भगवान नरसिंह जीव नहीं हो गये अपितु हुंकार भरते हुए उसके प्राण ही ले लिये।

ब्रह्म बराह रूप जब धार्‌यो। हिरन्याक्ष तिन्हहूँ परचार्‌यो॥
गन्यो न तिन्हि अहार निज जान्यो। आपुन गुन बहुभाँति बखान्यो॥

जब ब्रह्म ने वाराह रूप धारण किया तो हिरण्याक्ष ने उन्हें युद्ध के लिए चुनौती दे डाली। [नहीं पहचानने के कारण] उसने उन्हें कुछ भी न समझते हुए अपना आहार ही मान लिया और अपने गुणों की अनेक प्रकार से प्रशंसा करने लगा।

तब तेहि मर्दि दिये छन माहीं। तेहि अनुरूप भये प्रभु नाहीं॥
तिमि त्रिकाल महँ जगत न अहई। यासें याहि सत्य कस कहई॥

तब प्रभु ने क्षणभर में ही उसका वध कर डाला, उसके मानने से वे वाराह नहीं हो गये। उसी प्रकार तीनों कालों में जगत तो है ही नहीं, इसलिए इसे सच कैसे कहा जाय!

जो नित आदि मध्य अरु अंता। अहइ ताहि सत भाषहिं संता॥
जो मिथ्या तिहुँ कालहुँ माँहीं। सो जग जाके चित्त रमाहीं॥

जो आदि, मध्य और अन्त में सदा ही विद्यमान है, उसी को सन्तजन सत् कहते हैं। जो जगत तीनों कालों में मिथ्या है, वह जगत जिसके चित्त में वास करता है,

सो खग पसु कै कीट समाना। दियो जाय कस ताकर ज्ञाना॥
तुम्ह निर्द्वन्द्व कलपना अंता। चिंतहु निज कहँ अलख अनंता॥

वह पुरुष, पशु-पक्षी और कीट-पतिगों के समान है, उसे ब्रह्म का ज्ञान दिया भी कैसे जा सकता है? किन्तु तुम तो [राग-द्वेष, सर्दी-गर्मी आदि] द्वन्द्वों से रहित तथा क्षुद्र कल्पनाओं से अतीत हो, अत: अपने आपको आदि-अन्त से रहित निर्गुण निराकार ही समझो।

जिमि रज तें नभ जल सों कंजा। लिप्त न होहिं कबहुँ नहिं रंजा॥
तिमि आतम कर तन सों संगा। पर तिहुँ काल सो रहत असंगा॥

जिसप्रकार धूल से आकाश तथा जल से कमल लिप्त नहीं होता न उन्हें किसी प्रकार का क्षोभ होता है उसी प्रकार भले ही आत्मा का संसर्ग शरीर से है किन्तु वह तीनों कालों में उससे असंग ही रहता है।

दोहा— जस निर्मल नभ भासत अति मलीन प्रिय पार्थ।
आतम महँ अनुभाय तिमि सुख दुख अरु बहु स्वार्थ॥ ९८ (क)॥

हे पार्थ! जिसप्रकार निर्मल आकाश भ्रमवश अति मलिन दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार चेतन आत्मा में सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व और स्वार्थमय कल्पनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

सुख दुखादि सों आतमा रह असंग नित जानु।
भ्रम बस तेहि महँ ये सकल भासहिं प्रिय सच मानु॥ ९८ (ख)॥

किन्तु तुम यह जान लो कि आत्मा नित्य ही सुखदु:खादि से असंग है। अत: हे प्रिय! तुम यह सत्य मान लो कि ये सब उसके अंतर्गत भ्रम से ही प्रतीत हो रहे हैं।

चौपाई— यह सब होत मलिन मति कारन। ज्ञान भये सब होय निबारन॥
सुख दुख देह धरम नहिं ताता। अरु नहिं आतम कर सच भ्राता॥

यह जो कुछ भी प्रतीत हो रहा हैं वह सब एकमात्र बुद्धि के अशुद्ध होने से ही हो रहा है, जिसकी निवृत्ति ज्ञान होते ही हो जाती है। हे तात! मैं सत्य कहता हूँ कि सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व न देह के धर्म हैं और न ही निर्विकार आत्मा के।

तामस मति कारन अनुभावहिं। अस अज्ञानी सांति न पावहिं॥
नहिं कोउ दुखी नाहिं कोउ दीना। नहिं असांत कोउ नाहिं मलीना॥

ये तो तामस बुद्धि के कारण अनुभव में आते हैं और इसी कारण अज्ञानी शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। [सच पूछो तो] यहाँ तो न कोई दु:खी है, न दीन है, न कोई अशान्त है और न मलिन ही है-

सबही सांत दांत सम रूपा। लखहु चराचर आतमरूपा॥
लखत ब्रह्म महँ महत जगत तिमि। जल महँ आभासित तरंग जिमि॥

बल्कि सभी शान्त-दान्त एवं समब्रह्म ही हैं अत: चराचर जगत को आत्मरूप से देखो। यह विशाल जगत ब्रह्म में उसी प्रकार दिखाई पड़ रहा है जिस प्रकार जल में तरंगें दिखायी पड़ती हैं।

आत्मा जगत न एक अनेका। भ्रमबस द्वैतहिं लीन्हें टेका॥
बिनु प्रगटे जग मूढ़हिं दीखत। अस सब बेद संत मुनि लीखत॥

आत्मा और जगत न एक हैं न अनेक, मात्र भ्रम के कारण ही सभी अज्ञानी द्वैत पर अड़े हुए हैं। यह जगत बिना प्रकट हुए ही अज्ञानियों को दीख रहा है [अर्थात् जगत का अस्तित्व नहीं होने पर भी वे कहते हैं कि जो दीख रहा है वह जगत ही तो है]- ऐसा ही समस्त सन्त और मुनिगण भी लिखते हैं।

दोहा— यासों ब्रह्म अहइ सब निस्चय करु मन माहिं।
मैं अरु जगत अहइँ पृथक अस हिय महँ धरु नाहिं॥ ९९॥

इसलिए सब ब्रह्म ही है ऐसा मन में निश्चय करो, 'मैं और जगत पृथक्-पृथक् है'- ऐसा विचार मन में मत लाओ।

चौपाई— तव सत चित महँ सोक न मोहा। राग द्वेष इरिषा अरु द्रोहा॥
नहिं जन्मत अरु मरत न कोऊ। बस तुम्ह सांत ब्रह्म नित होऊ॥

हे पृथापुत्र! तुम्हारे शुद्ध चित्त में न शोक है, न मोह है, न द्रोह, न राग-द्वेष और न ईर्ष्या ही है; क्योंकि न कोई जन्म लेता है न मरता है, इसलिए हे प्रिय! तुम सदा एकमात्र सम-शान्त ब्रह्म ही हो।

यासों त्यागि सोक अस निंदित। निज गुन करहु सबहिं आनंदित॥
धर्मयुद्ध त्यागत नहिं सोभहु। मोरे कहे तजहु अस छोभहु॥

इसलिए ऐसे निन्दित शोक-सन्ताप को त्यागकर अपने सद्गुणों से तुम सबको आनन्दित करो। धर्मयुद्ध का त्याग करते हुए तुम शोभा नहीं पा रहे हो, अत: मेरे कहने से ऐसा शोक-सन्ताप त्याग दो।

एकबार गुरु सों रघुनाथा। पूछें तिन्हहिं चरन धरि माथा॥
जोपै दृस्य जगत सत आही। तब ये सांत न कबहुँ नसाही॥

एक बार प्रभु श्रीराम ने अपने गुरुदेव (ब्रह्मर्षि वसिष्ठ) के चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए पूछा- हे प्रभो! यदि यह सारा दृश्यमान जगत सत् एवं शान्त है तब तो कभी भी इसका नाश नहीं होगा।

सत अभाव कबहूँ नहिं होवे। अरु दरसन सों सब मल धोवे॥
पर जग असतहु दोष प्रदाता। मोरे मन यह नाहिं समाता॥

क्योंकि सत् का कभी अभाव नहीं होता और वह केवल दर्शन मात्र से सम्पूर्ण आसक्तिरूपी मल को धो डालता है। किन्तु यह जगत असत् एवं दोष देने वाला है, अतः [सत् है] यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।

पुनि यह भ्रम कस जाय गोसाईं। जासे पुनि न गिरउँ जग खाईं॥
होइ तुम्हहिं सम मति गतिवारो। महि बिचरउँ आतम बपु धारो॥

हे सर्वज्ञ! फिर यह भ्रम कैसे जायेगा जिससे मैं पुनः जगतरूपी खाई में न गिरूँ तथा आपके ही समान गति-मति वाला होकर आत्मरूप हुआ जगत में विचरण करूँ।

दोहा— अस सुनि परमारथ कुसल गुरु बसिष्ठ हरषाइ।
बोले मधुर बचन अति आतमज्ञान लखाइ॥ १००॥

ऐसा सुनकर परमार्थ के ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ हर्षित हो गये और अत्यन्त मधुर वचनों से आत्मज्ञान को प्रकट करते हुए बोले-

चौपाई— सुनहु राम तुम्ह परम उदारा। कहउँ संत श्रुति बेदन्ह सारा॥
जिहि पदार्थ कर सत्ता अहई। सो कोउ काल नास नहिं लहई॥

हे राम! आप परम उदार हैं, अतः मैं सन्तों, श्रुतियों एवं वेदों के सार को कहता हूँ, सुनें- जिस पदार्थ (विषय-वस्तु आदि) की सत्ता है, उसका किसी भी काल में नाश नहीं होता।

पंच भूत मन माहिं लखावे। जगत नाम निज हेतु रखावे॥
कै अज्ञानिन्ह हित यह नामा। रख्यो गयो पर सत्य अनामा॥

ये जो पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) हैं, वे मन में ही प्रतीत हो रहे हैं [बाहर तो हैं ही नहीं], जिसका अपने अथवा अज्ञानियों के व्यवहार के लिए जगत नाम रख लिया गया है, परन्तु यथार्थ में यह (दृश्यवर्ग) अनाम ब्रह्म ही है।

जग पूरन परमारथ रूपा। अपर अर्थ नहिं जाहि अनूपा॥
दीखत हमरें सन्मुख जोई। अजर अमर अब्यय बिभु सोई॥

यह जगत परमार्थ रूप से पूर्ण है, अनुपम है तथा जिसका कोई अन्य अर्थ नहीं है। जो हमारे सामने दीख रहा है, वह अजर, अमर एवं अव्यय ब्रह्म ही है।

सांत जगत थित सांत ब्रह्म महुँ। जिमि नभ महँ नभ अपर उदय कहुँ॥
ब्रह्म प्रतिष्ठित ब्रह्महि भासे। दृस्य असत सत नहिं कछु यासे॥

यह शान्त जगत शान्त ब्रह्म में उसी प्रकार स्थित है, जैसे आकाश में कोई दूसरा आकाश प्रकट हो गया हो। इस प्रकार ब्रह्म में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित होकर भास रहा है, अतः यह दृश्य प्रपंच न सत् है, न असत् ही है।

सत्य कहउँ द्रष्टा नहिं दर्सन। नहिं जड़ चित जहँ सत अस्पर्सन॥

मैं सत्य कहता हूँ कि जहाँ न द्रष्टा है, न दर्शन है और न ही कोई जड़ चित्त है, जिसका सत् से स्पर्श होता है।

दोहा— सुनहु राम बस सांत चित एक ब्रह्म सतरूप।
जो ब्यापइ सर्बत्र जग अगुनहु सगुन अरूप॥ १०१॥

हे राम! सुनो, एक ब्रह्म ही है जो सत् चित एवं शान्त स्वरूप कहलाता है, जो सारे जगत में व्याप्त है, वह सगुण भी है, निर्गुण भी है और निराकार भी है।

चौपाई— सृष्टि आदि जग प्रगटत नाहीं। तासों जग सत्ता कहँ आहीं॥
ग्राम नगर भासत जिमि सपनें। मन संकल्प करत सब अपनें॥

सृष्टि के आदि में तो जगत प्रकट हुआ ही नहीं, इसलिए जगत की सत्ता है ही कहाँ? जैसे स्वप्नलोक में भासमान ग्राम-नगर आदि का मन स्वयं ही संकल्प कर लेता है।

तिमि यह जग उपजत एहि मन तें। भासत इंद्रजाल तन धन तें॥
सृष्टि आदि महँ मनहु न उपजत। तासों असत कहउँ तेहि गरजत॥

उसी प्रकार यह जगत इस मन से वैसे ही उत्पन्न होता है, जैसे जादूगर की इन्द्रजालिक क्रिया द्वारा तन-धन आदि प्रकट होकर दीखते हैं। इस प्रकार सृष्टि के आदि में तो मन भी प्रकट नहीं हुआ है, यही कारण है कि उसे दृढ़ता के साथ असत् कह रहा हूँ।

अहइ असत कल्पित मन रूपा। तासों यह जग नहिं सत रूपा॥
अनुभव मन कर जेहि बिधि होई। तुम्हसों कहउँ सुनहु बिधि सोई॥

मन का स्वरूप कल्पित एवं असत् है, इसीकारण यह जगत भी सत् स्वरूप नहीं है। [हे राम!] इस बात का जिसप्रकार अनुभव होगा, उस विधि को आप से कह रहा हूँ, सुनें-

बरु मन असत जगत अस रचई। भास सत्य इव सब जहँ नचई॥
स्वप्न असत तउ लागत ऐसो। जनु सब तहाँ याहि जग जैसो॥

मन भले ही असत् है किन्तु यह ऐसे जगत की रचना करता है कि वह सत् जैसा ही प्रतीत होता है जिससे सारे लोग [कठपुतली की भाँति] नाचते रहते हैं। जैसे स्वप्न असत् होने पर भी ऐसा लगता है मानो वहाँ सबकुछ इस जगत के समान ही है।

दोहा— यहि मन सृजि ऐस्वर्यजुत अरु बिस्तृत जगजाल।
भासत उर चिरकाल सों यहइ याहि प्रतिपाल॥ १०२ (क)॥

यह मन अति ऐश्वर्य से पूर्ण एवं विस्तृत जगतरूपी जाल की रचना करके हृदय में चिरकाल से भास रहा है और इसका रक्षक भी यही है।

स्वयं फुरत अरु क्रिड़त मन स्वयं करत संघार।
उत्कर्षहु अपकर्ष लह राम इहइ जग सार॥ १०२ (ख)॥

यह चंचल मन स्वयं से प्रकट होता है, स्वयं से क्रीड़ा करता है तथा स्वयं से ही स्वयं का संहार करता है। यह बार-बार उत्कर्ष एवं अपकर्ष को प्राप्त होता है। हे राम! यही जगत का सम्पूर्ण रहस्य है।

मासपारायण, पाँचवाँ विश्राम

चौपाई— यह प्रसंग सुनि पार्थ जुड़ाने। पुनि पुनि प्रभुहिं बंदि सनमाने॥
सुनन चहहिं बस अमृत बचना। प्रभु की परम ज्ञानयुत रचना॥

इस प्रसंग को सुनकर महात्मा अर्जुन के हृदय को अति सन्तुष्टि हुई, उन्होंने बारम्बार भगवान की वन्दना करते हुए उनका सम्मान किया। वे केवल भगवान के परमज्ञान से युक्त अमृतमय वचनों को सुनना चाहते हैं।

अस नित सत कस मन महँ आये। तिन्हहिं दयानिधि बहुरि सुनाये॥
पार्थ ब्याप्त जग सब यह जासे। तेहिं अबिनासिहिं कोउ न नासे॥

यह सत् ब्रह्म सदा-सर्वदा कैसे मन में आये, परम दयालु भगवान ने उन्हें पुनः सुनाना प्रारम्भ किया- हे पार्थ! जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है उस अविनाशी का कोई भी नाश नहीं कर सकता।

ताहि कहत अब्यय सुर संता। आगम निगमहु यहइ भनंता॥
रहइ सोइ सत सदा एकरस। बरु ताके उर बिपुल जगत बस॥

उस परब्रह्म परमात्मा को देवता एवं सन्तगण अव्यय कहते हैं तथा वेद-पुराणों का भी यही कहना है। वही सत् परमात्मा सदा एकरस रहता है भले ही उसके हृदय में अनेक जगत वास कर रहे हों।

बाल युवा अरु जरा अवस्था। यह तन होत कबहुँ रुज स्वस्था॥
यह तन अवयव युक्त कहावत। निसरत प्रान तत्व बिलगावत॥

यह शरीर बालक, जवान और बूढ़ा होता है तथा कभी स्वस्थ एवं अस्वस्थ होता है। इस शरीर को

अवयवयुक्त (पंच तत्त्व से बना हुआ) कहा जाता है। प्राणों के निकलते ही वे सारे तत्त्व पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

छंद— जन्मत जबहिं यह देह तब नहिं स्वयं सों निज पालई।
अरु स्वयं सों तो मरत दीखत अपरहू एहि घालई॥
यह अपर कहनो सुनत बरु बाहर भितर सों कोउ भखै।
अरु लखत स्वयंहिं स्वयंसों पर यह अपर सोंहू लखै॥

यह शरीर जब जन्म लेता है तो स्वयं से अपना पालन-पोषण नहीं कर सकता [अत: कोई दूसरा ही इसका लालन-पालन करता है]। यह स्वयं से तो मरता हुआ देखा ही जाता है किन्तु अन्य के द्वारा भी इसकी मृत्यु होती देखी जाती है। यह दूसरे का कहना सुनता है, भले ही कोई बाहर से कहे अथवा भीतर से। हे अर्जुन! यह अपने द्वारा तो देखा ही जाता है, दूसरे के द्वारा भी देखा जाता है।

दोहा— किंतु ब्रह्म महँ बसत नहिं तात कबहुँ ये धर्म।
प्रगटत निज संकल्प सों ऐसोइ एहि कर मर्म॥ १०३॥

हे प्रिय! किन्तु ब्रह्म में ये धर्म कभी भी वास नहीं करते क्योंकि उसका तो ऐसा स्वभाव ही है कि वह स्वयं के संकल्प से प्रकट होता है।

चौपाई— एहि प्रतिपालइ को संसारा। जेहि पर सब ब्रह्मांडन्हि भारा॥
अस न अपर कह तब यह सुनई। यहु नहिं अपर कोउ जेहि गुनई॥

इस ब्रह्म का जगत में लालन-पालन कौन कर सकता है जिस पर समस्त ब्रह्माण्डों के लालन-पालन का दायित्व है। ऐसा नहीं है कि कोई दूसरा कहे तभी यह सुने तथा ऐसा भी नहीं है कि [स्वयं से भिन्न] कोई दूसरा हो जिसका यह चिन्तन करे।

सच यह निज सों निज कहँ सूनत। निज सों निज कहँ नित्यहि गूनत॥
निज सों निज महँ गमत सदाई। क्रीड़त निज सों निज महँ भाई॥

अरे! सच बात तो यह है कि यह ब्रह्म अपने आप से अपने आपकी सुनता है, अपने आप से अपने आपका नित्य चिन्तन करता है, अपने आप से अपने आप में सदा गमन करता है तथा अपने आप से ही अपने आप में नित्य क्रीड़ा करता रहता है।

निज सों निज कहँ नित्यहि दरसत। अस कौतुक एहि बिभु महँ सरसत॥
अवयव रहित न जानहिं मूढ़ा। को एहि मारइ गूढ़उ गूढ़ा॥

[इतना ही नहीं यह] अपने आप से ही अपने आपका नित्य दर्शन करता है- इस प्रकार का आश्चर्य इस अविनाशी ब्रह्म में प्रकट होता है। निरवयव अर्थात् अनेक घटकों (तत्वों) के संघात से रहित होने से इसे मूढ़ पुरुष नहीं देख पाते। अत: इस गूढ़ से भी गूढ़ (रहस्यमय) ब्रह्म को कौन मार सकता है?

एहि जग स्वजन याहि कोउ नाहीं। जेहि नासत तव सम बिलखाहीं॥
जिमि कोउ बिष पीवे मरि जावे। अस काहू बिधि यह न नसावे॥

इस जगत में इसका कोई भी अपना नहीं है जिसके नष्ट होने से यह तुम्हारे जैसा शोक-सन्ताप करे। जिसप्रकार कोई विषपान करके [स्वयं ही] अपना नाश कर लेता है, उस तरह [आत्मघात के द्वारा] अथवा किसी भी तरह यह (ब्रह्म) नाश को प्राप्त नहीं हो सकता।

कारन निज महँ अक्रिय अहई। बेद पुरान संत सब कहई॥
महाराज निरखत हे संता। आपुन रूप लखाइ अनंता॥

क्योंकि वेद पुराण एवं सन्त भी ऐसा ही कहते हैं कि यह अपने-आप में अक्रिय है [अत: क्रिया करेगा भी कैसे!]। हे सन्तो! सुनें, महाराज तो देख रहा है कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द भक्त अर्जुन से निर्गुण-निराकार की स्थिति एवं स्वरूप का वर्णन करके स्वयं के स्वरूप को दिखाते हुए-

दोहा— अखिल ब्याप्त अबिनासि अरु अब्यय अलख अरूप।
संकेतत परमाक्षरहिं अहउँ एक बहु रूप॥ १०४॥

ऐसा संकेत कर रहे हैं कि मैं सर्वव्याप्त, अविनाशी, अव्यय, अलख, निर्गुण तथा परम अक्षर एवं एक होते हुए भी अनन्त रूप वाला हूँ [कैसे ? वह ऐसे कि]-

चौपाई— एहि छन लग जनु सैनिक बीरा। पृथक पृथक नभ गहे सरीरा॥
होइ सम सांत खड़े हरि आगे। अहो भाग्य कस इन्हकर जागे॥

इस समय ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो समस्त वीर सैनिक पृथक्-पृथक् सम-शान्त आकाश रूप होकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के सामने खड़े हैं। अहो! इनका कैसा भाग्योदय हुआ है!

उन्हके हृदय एक यदुनंदन। पृथक पृथक भ्राजत जगचंदन॥
ते जनु कहत तात जनि सोचै। एहि जग तोहिं मोहिं को नोचै॥

जगत को शीतलता प्रदान करने वाले भगवान यदुनाथ ही एकमात्र उन सबके हृदय में पृथक्-पृथक् होकर शोभा दे रहे हैं। वे मानो कह रहे हों कि हे तात! तुम शोक-सन्ताप न करो। इस जगत में ऐसा कौन है, जो तुम्हें और मुझे मार सके!

नासवान तन सब देही कर। अप्रमेय नित सो काहे मर॥
नास रहित मंगल गुनरासी। युद्ध करउ तुम्ह सोइ अबिनासी॥

जीवात्मा के ये सारे के सारे शरीर नाशवान कहे गये हैं किन्तु जीवात्मा अप्रमेय एवं नित्य है अत: मृत्यु को कैसे प्राप्त हो सकता है। वह नाशरहित, मंगलमय गुणों का समूह है और वही अविनाशी तुम हो, अत: युद्ध करो।

पूछे पार्थ पितामह मेरो। इच्छा बिनु न मरहिं जग भेरो॥
सब तन नसत आपु प्रभु कहहू। मरहिं पितामह कस मन गहहू॥

[ऐसा सुनकर] महात्मा अर्जुन ने पूछा कि हे कृपालु प्रभु! यह तो समस्त जगत को पता है कि मेरे पितामह अपनी इच्छा के बिना मर ही नहीं सकते, अत: आप ऐसा कैसे कह रहे हैं कि जीवात्मा के सारे शरीर नाशवान हैं और आपके मन में यह धारणा कैसे हो गई है कि मेरे पितामह भी मरेंगे ?

सुनि अस अर्जुन सों प्रभु बोले। निज कथनी कर मरमहिं खोले॥
इच्छा मृत्यु तात जिन्हि समुझहु। उनकी बात कहउँ सच बूझहु॥

ऐसा सुनकर भगवान ने अपने कथन का रहस्य खोलते हुए अर्जुन से कहा- हे तात! जिन्हें तुम इच्छामृत्यु वाला समझ रहे हो अब मैं उनके बारे में यथार्थ बात कह रहा हूँ, सुनो-

दोहा— ते आये एहि कामना हरि सन्मुख तन त्यागि।
पापन्हि प्रायस्चित करउँ तिन्ह पद अति अनुरागि॥ १०५॥

वे इसी कामना से युद्धभूमि में आये हुए हैं कि भगवान के सम्मुख उनके चरणों में प्रेम करते हुए पापों का प्रायश्चित्त करके शरीर का त्याग करूँ।

चौपाई— मो पर यदि बिस्वास न होवे। जाइ तिन्हहिं पूछहु भ्रम खोवे॥
एहि छन बीर सबहिं रन माहीं। अवसि मरहिं बूझहिं मन माहीं॥

यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है तो जाकर उन्हीं से पूछ लो, तुम्हारा भ्रम मिट जायेगा। इस समय यहाँ उपस्थित सभी वीर मन ही मन जान रहे हैं कि हम इस रणभूमि में निश्चित ही मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे-

अंतवान तन तजि अनयासहिं। स्वर्गलोक लहि सुख सों बासहिं॥
तुम्ह पाँचहु अरु कछुक सरीरा। बचिहैं सेष समर धरु धीरा॥

और इस नाशवान शरीर को त्यागकर सहज ही देवलोक में जाकर अत्यन्त सुखपूर्वक वास करेंगे लेकिन तुम पाँचों और कुछ अन्य वीरों का शरीर इस युद्ध में शेष बचा रह जायेगा, इसलिए हे धैर्यवान! धैर्य धारण करो।

तुम्हरो तन धन गृह तुम्ह ताता। मेरो भये मोहिं सों नाता॥
तव तन नास न करि सक कोऊ। जौं बिरंचि संकर किन होऊ॥

क्योंकि तुम्हारा शरीर, वैभव, राज्य और स्वयं तुम- सब मेरे हो गए हैं तथा तुम्हें मुझसे ही स्नेह हो गया है; इसलिए तुम्हारे शरीर का नाश कोई नहीं कर सकता भले ही भगवान शंकर एवं ब्रह्माजी क्यों न हों।

नृप धृतराष्ट्रहु रहहिं न गेहा। जिन्ह पर तुव मन पितु सम नेहा॥

[युद्धोपरान्त] राजा धृतराष्ट्र भी घर पर नहीं रहेंगे जिनपर तुम्हारे मन में पिता के समान प्रेम है।

दोहा— जाइ बनहिं तप करहिं तब सुमिरि सच्चिदानंद।
तन तजि तहँ पुनि जाइहैं जहँ नित परमानंद॥ १०६॥

तब वे वन में जाकर सच्चिदानन्दघन परमात्मा का स्मरण करते हुए तप करेंगे तथा कुछ समय के उपरान्त शरीर छोड़कर वहाँ चले जायेंगे, जहाँ परम आनन्द ही आनन्द है।

चौपाई— मन बुधि चित सूक्षम तन आहीं। ज्ञान भयें पुनि सबुहिं नसाहीं॥
सप्त आवरण जोगिन्ह केरा। तेउ नसत सच जो जिव घेरा॥

हे गुडाकेश! मन, बुद्धि और चित्त आदि भी सूक्ष्म शरीर ही हैं, जो सबके सब ज्ञान होते ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं। यथार्थ तो यह है कि योगियों के मतानुसार शरीर के सात आवरण जो जीव के घेरे हैं, वे भी शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

अप्रमेय नित जीव कहावे। तनघट नसतहु सो न नसावे॥
अप्रमेय कस भारत कहई। श्रुति प्रमान तत्वन जस अहई॥

किन्तु जीवात्मा अप्रमेय और नित्य कहा जाता है, शरीररूपी घड़े के फूटने पर भी वह [आकाश की तरह] नष्ट नहीं होता। [यह सुनकर] भक्त अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो! आप इस आत्मा को अप्रमेय किस प्रकार कह रहे हैं जबकि वेद प्रमाण के अनुसार यह आत्मा भी किसी तत्त्व के जैसा ही है।

अर्जुन बचन सुनत यदुराई। उनसों कहत अतिहिं हरषाई॥
तव तन सरिस कोउ जग ताता। नहिं बिरंचि सिव सुर जगधाता॥

महात्मा अर्जुन के वचनों को सुनते ही भगवान यदुकुल शिरोमणि ने अति प्रसन्नतापूर्वक विहँसते हुए उनसे कहा- हे तात! तुम्हारे शरीर जैसा तो जगत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा देवगण आदि में से किसी का भी शरीर नहीं है-

पुनि उपमा कोउ देइहिं कैसे। यह नहिं बात हँसी के जैसे॥
तुम्ह जानहु कोउ आपुहिं मानी। पुनि खोजत प्रभु सुर नर ध्यानी॥

फिर कोई भी किस प्रकार [तुम्हारे शरीर, रूप एवं गुण की] उपमा देगा। [फिर आत्मा तो अति विलक्षण है] यह [आत्मतत्त्व की] बात परिहास करने वालों का विषय नहीं है। यह तो तुम अच्छीप्रकार जानते हो कि कोई भी उपासक सर्वप्रथम स्वयं को स्वीकार करने के पश्चात् ही किसी देवता, मनुष्य या भगवान को खोजता है।

अहं नाहिं त्रैकालहु गोपे। पुनि काहे कोउ उपमा थोपे॥
भाव अनात्म आत्म महँ जोई। तात सास्त्र निरबारइ सोई॥

'अहं' तो किसी भी काल में छिपा हुआ है ही नहीं [अपितु तीनों कालों में सदा-सर्वदा विद्यमान है], फिर उसपर क्यों किसी उपमा का [व्यर्थ ही] आरोप किया जाय। हे वीर! मैं सच कहता हूँ कि जो आत्मा में अनात्मा की भावना हो गयी है, शास्त्र [प्रमाणों द्वारा] उसी का निवारण करता है।

यासों याकर नहिं परमाना। मूढ़ देहिं गहि कोउ अनुमाना॥

इसलिए इसका कोई प्रमाण नहीं है। अज्ञानी ही किसी अनुमान को धारण कर इसका प्रमाण देते हैं।

दोहा— सर्बांतर जो सब लखै सोइ अपरोक्ष महान।
प्रगट भयो सोइ जगत बनि अन्य न कोउ परमान॥ १०७ (क)॥

जो सबके हृदय में वास करने वाला परमात्मा सबको देखने वाला है वही अपरोक्ष ब्रह्म है तथा वही जगतरूप में प्रकट हुआ है इसके लिए अन्य कोई उपमा नहीं है।

सोइ सांत सम रूप तुम्ह अस जिय समुझु सुजान।
अपर एक आख्यायिका कहउँ सुनहु दै कान॥ १०७ (ख)॥

हे बुद्धिमान्! तुम वही सम-शान्त रूप वाले हो, ऐसा हृदय में समझो। अब एक दूसरी आख्यायिका कहता हूँ, जिसे ध्यान देकर सुनो।

चौपाई— जागबलिक उषस्त संबादा। कह्यो जाय जो हरइ बिषादा॥
नित प्रभु कथा जनक पहिं होवे। जो साधक भक्तन्ह भ्रम खोवे॥

यह ब्रह्मर्षि अष्टावक्र एवं ऋषिवर उषस्त का संवाद है, जो विषाद का हरण करने वाला कहा जाता है। राजर्षि जनक की सभा में नित्यप्रति भगवत् चर्चा हुआ करती थी, जो साधकों एवं भक्तों के भ्रम का निवारण करने वाली थी।

मुनि उषस्त एकबार पधारे। जागबलिक सों बचन उचारे॥
मुनि अपरोक्ष ब्रह्म कस अहई। सर्बांतर सब हिय कस रहई॥

एक बार वहाँ उषस्त मुनि भी आए हुए थे। [प्रसंगवश] उन्होंने याज्ञवल्क्य मुनि से कहा- हे मुनिवर! अपरोक्ष ब्रह्म कैसा है तथा वह सर्वान्तर सबके हृदय में कैसे वास करता है?

सच सच कहहु न राखहु गोई। सुनत जाहि सबकर हित होई॥
जागबलिक प्रमुदित हुंकारत। अहं अहं अपरोक्ष उचारत॥

इसे आप विधिवत बतायें, थोड़ा भी छिपाकर न रखें, जिसको सुनने से सबका कल्याण हो। तब ऋषिवर याज्ञवल्क्य ने प्रसन्न होकर हुंकार भरते हुए कहा- 'अहं', अहं ही अपरोक्ष ब्रह्म है।

सबकर आतम यहि सर्बांतर। दोउ महँ नाहिं अल्पहू अंतर॥
निज निज काज प्रान जेहि आश्रित। करत ब्रह्म जो अहइ अनाश्रित॥

यही सबकी आत्मा तथा सर्वान्तर कहलाता है तथा इन दोनों [गुण-धर्मों -'सर्वान्तरता तथा अपरोक्षता'] में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। जो ब्रह्म अनाश्रित है जिसके आश्रित होकर प्राण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं-

आतम सोइ सर्बांतर तेरो। सुनु उषस्त सच मत यहि मेरो॥
नहिं लखाय दृष्टी कर द्रष्टा। जानहिं सब सोइ सबकर स्त्रष्टा॥

वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है, हे उषस्त! यही मेरा यथार्थ मत है। दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देखा जा सकता। सभी जानते हैं कि वही सबका स्त्रष्टा है।

जासों श्रवन सुनत दिन राती। ताहि न सुनि सक कोउ किहिं भाँती॥
मनन करे जासों मन सबकर। मनन न करि सक सो सच तेहिकर॥

जिससे कान दिन-रात सुनते हैं उसे कोई किसी भी प्रकार नहीं सुन सकता। मन जिससे सबका मनन करता है, यथार्थ में मन उसका मनन नहीं कर सकता।

दोहा— जेहि बिभु सों मति जानई बृथा सकल संसार।
सोइ उषस्ति तव आतमा सर्बांतर यह सार॥ १०८ (क)॥

जिस ब्रह्म के आश्रित होकर बुद्धि समस्त जगत को व्यर्थ (मायामय) जानती है, हे उषस्त! वही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, यही यथार्थ रहस्य है।

यासों अपर नसाय सब जो दीखइ संसार।
बैठत जबहिं उषस्ति सुनि तबहिं कहोल उचार॥ १०८ (ख)॥

इससे दूसरा जो भी कुछ संसार भाव से दीख रहा है, उस सबका नाश हो जाता है। इस प्रकार अपरोक्ष एवं सर्वान्तर ब्रह्म का स्वरूप सुनकर जब उषस्त मुनि सन्तुष्ट होकर बैठ गये तो कहोल मुनि उठकर बोले।

चौपाई— जागबलिक तुम्ह परम बिबेकी। कहउ ब्रह्म जो सब जग टेकी॥
को अपरोक्ष ब्रह्म सर्बांतर। कहहु सो कस जिहिं लखहिं निरंतर॥

हे याज्ञवल्क्य! आप परम विवेकी हैं, अत: आप उस ब्रह्म का वर्णन करें जो समस्त जगत का आधार है। आप मुझे बतायें कि अपरोक्ष एवं सर्वान्तर ब्रह्म कौन है, कैसा है जिसका हम सदा-सर्वदा दर्शन करते रहें?

सुनु कहोल पुनि ताकर रूपा। अगुन सगुन नहिं भद्र कुरूपा॥
छुधा पिपासा सोक मोह तें। जरा मरण अरु परे कोह तें॥

[ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि] हे कहोल! अब आप पुनः ध्यान देकर उसके स्वरूप को सुनें- वह न अगुण है, न सगुण है; न सुन्दर है, न कुरूप है; वह भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मरण एवं क्रोधादि [विकारों] से परे है।

सोइ अपरोक्ष ब्रह्म सर्बांतर। जेहि अन्वेषत बिज्ञ निरंतर॥
सुत बित लोक ईषिना त्यागी। परिब्राजक होइ रहत बिरागी॥

वही अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर है जिसकी ज्ञानी पुरुष निरंतर पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा का त्यागकर परिव्राजक होकर वैराग्यपूर्वक खोज करते रहते हैं।

सुत इच्छा बित इच्छा जोई। सच कहोल लोकेक्षा सोई॥
तेहि तजि बुध चाहत सत ज्ञाना। आतमज्ञान नाम जग जाना॥

हे कहोल! (इतना जान लें कि) जो पुत्र की इच्छा है वही धन की इच्छा कहलाती है तथा यथार्थ में वही मान-सम्मान की कामना भी है, उसी कामना का त्यागकर ज्ञानीजन यथार्थ ज्ञान की कामना करते हैं, जो जगत में ब्रह्मज्ञान नाम से विख्यात है।

तेहि पावत सो मुनी कहावत। मौन अमौनहि साधत भावत॥
सोइ ब्राह्मण कृतकृत्य धरा पर। तेहिकर सासन मृत्यु जरा पर॥

उस ब्रह्मज्ञान को जो प्राप्त कर लेता है, वही मुनि कहलाता है और मौन-अमौन से परे होकर सभी को अत्यन्त प्रिय लगता है। वही ब्राह्मण इस धरातल पर कृतकृत्य कहा जाता है और [सच पूछें तो] उसीका जरा-मृत्यु पर शासन होता है।

दोहा— बिप्र सोइ सोइ पंडित सोइ सुचि संत सुजान।
यासें अहइ जो अपर कछु सबरें समुझु नसान॥ १०९॥

वही आत्मज्ञानी इस धरातल पर ब्राह्मण है, पण्डित है, बुद्धिमान है तथा विशुद्ध सन्त है; इससे अन्य जो कुछ भी है, वह सब नाश को ही प्राप्त हो जाने वाला है, ऐसा समझें।

चौपाई— सुनि कहोल मुनि गये जुड़ाई। तुम्हहु बीर अस गहउ दृढ़ाई॥
सोइ अपरोक्ष ब्रह्म सर्बांतर। हृदय माहिं एहि आज हरषि धर॥

हे वीर! [ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा] ऐसा सुनकर मुनि कहोल अति सन्तुष्ट हो गए। अतः तुम भी आज दृढ़ता के साथ प्रसन्नतापूर्वक हृदय में यह धारण कर लो कि तुम वही अपरोक्ष एवं सर्वान्तर ब्रह्म हो।

इत नृप संजय सों हुंकारत। पार्थहिं क्यों माधव परचारत॥
होय रह्यो जब इनके मन की। अवरु जगत कर सब जन जन की॥

इधर राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से कहते हैं कि [सञ्जय!] ये मधुसूदन अर्जुन को बार-बार [युद्ध के लिए] क्यों उकसा रहे हैं? जबकि इनके मन के साथ-साथ समस्त जगत के मन की बात हो रही है [तब ऐसी विरुद्ध बात क्यों कर रहे हैं]!

जब मम पाहिं दूत बनि आये। रन बिरुद्ध कहकही सुनाये॥
परसुराम आये तेहिं काला। युद्ध होय नहिं कहे भुआला॥

जब ये मेरे पास [हस्तिनापुर में] दूत बनकर आये हुए थे तब इन्होंने सर्वथा युद्ध के विरुद्ध ही उपदेश दिया था। उसी समय भगवान परशुराम ने आकर कहा- हे राजन्! यह युद्ध नहीं होना चाहिए [इसमें किसी का भी कल्याण नहीं है]।

करइ किरीटी जब इन्ह मन की। पुनि काहे कह युद्ध करन की॥
जब इनके उर चिंता जग की। नीति कहइ अस सास्त्रन्ह मग की॥

[मेरा प्रिय] अर्जुन अब जब इन लोगों के मन की ही कर रहा है तो पुनः ये युद्ध करने को क्यों कह रहे हैं। जब इन्हें सारे जगत की चिन्ता है तो शास्त्रीय मार्ग तो इसी प्रकार की नीति कहता है कि-

दोहा— बचत गाँव इक नर बधे ताहि बधे भल होय।
तिमि इक गाँव जराय दै हो प्रदेस भल जोय॥ ११०(क)॥

यदि एक पुरूष का वध करने से गाँव की रक्षा होती हो तो उस एक का वध कर देने में ही कल्याण है, उसी प्रकार एक गाँव को जलाने से यदि समस्त प्रदेश का कल्याण होता हो तो उस गाँव को जला देना चाहिए।

नास प्रदेसहु कर करै जौं देसहिं हित होय।
तस त्यागइ सो देसहू प्रान बचे निज जोय॥ ११० (ख)॥

वैसे ही यदि राष्ट्र का कल्याण होता हो तो प्रदेश का बलिदान कर देना चाहिए, उसी प्रकार यदि स्वयं का प्राण बचता हो तो देश का परित्याग कर देना चाहिए।

चौपाई— पांडव बसत बनहिं एहि धर्मे। सुखी रहहिं तहँ ते सतकर्मे॥
एहि बिधि काज बनइ जग छूटे। साँप मरे लाठी नहिं टूटे॥

इस धर्म से तो यदि पाण्डव वन में वास करते हैं तो वे वहाँ भी अपने सत्कर्मों के कारण सुखी ही रहेंगे। इस प्रकार उनके द्वारा जगत को छोड़ देने से सारा काम वैसे ही बन जायेगा, जैसे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।

अस सुनि संजय कह सहरोषा। इहइ नृपति तुम्ह महँ इक दोषा॥
बेद पुरान सास्त्र बहु जानहु। पर निज मन तिन्ह रूप बखानहु॥

ऐसा सुनते ही सञ्जय दु:खी होकर बोल उठे कि हे राजन्! आपमें यही एक दोष है, आप समस्त वेद-पुराणों और शास्त्रों के ज्ञाता हैं लेकिन उनके स्वरूप की व्याख्या अपने मन के अनुकूल कर लेते हैं।

अहहिं नीति अस औरउ तेहि सम। चहइ करन नृप आपुहिं जेहि सम॥
बधत बिषयि नृप बच राजर्षी। ताहि बधे भल कहहिं महर्षी॥

हे पृथ्वीपति! उसी के समान और भी नीतियाँ [शास्त्रों में वर्णित] हैं, जिसके अनुरूप आपको व्यवहार करना चाहिए। [जैसे कि] विषयी राजा का वध कर देने से किसी राजर्षि की सुरक्षा होती हो तो उसके वध को महर्षिजन कल्याणकारी कहते हैं।

बधत असुर यदि देव सुरक्षित। तिन्हहिं बधे भल बेदन्हि लक्षित॥
बधत असंतन्हिं संत बचावत। यहि परमारथ न्याय सुहावत॥

वैसे ही समस्त असुरों का वध कर देने से देवताओं की सुरक्षा होती हो तो उन सबका वध कर देना कल्याणकारी है- ऐसा वेद में कहा गया है। उसी प्रकार यदि समस्त असन्तों का वध कर देने से किसी सन्त का बचाव हो जाता हो- तो यही अतिशय प्रिय लगने वाला पारमार्थिक न्याय है।

तस जे बटुक गुरुहिं नहिं मानहिं। बधि तिन्ह नैष्ठिक बटु सनमानहिं॥
बधत सबहिं पसु गो धन बचई। तिन्हहिं बधे भल श्रुति सब रचई॥

ठीक वैसे ही जो ब्रह्मचारी, गुरु के आदेशानुसार नहीं चलते हैं उनका वध (त्याग) कर नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का सम्मान करना चाहिए। समस्त पशुओं का वध कर देने से गोवंश की रक्षा हो तो उन सबका वध कर देने में ही कल्याण है, ऐसा ही समस्त श्रुतियाँ कहती हैं।

पीपल बचै जो पर तरु काटत। तिन्हि काटत भल मुनि उदघाटत॥
बासुकि बचे बधत अहि सबहीं। तिन्हहिं बधे भल आगम कहहीं॥

यदि समस्त वृक्षों को काट डालने से पीपल वृक्ष का बचाव होता हो तो उन सभी को काट देना चाहिए ऐसा समस्त सन्तों का कहना है। यदि समस्त सर्पों का वध कर देने से वासुकि सर्प की सुरक्षा हो तो शास्त्रानुसार उनका वध कर देने में कल्याण है।

दोहा— कानन लायक कौन नृप स्वयं कहउ अब सोचि।
दुर्योधन कै पांडुसुत इन महँ को जग पोचि॥ १११॥

हे नरेश! अब आप स्वयं ही विचार करके कहें कि कौन वन जाने योग्य है- पाण्डव या दुर्योधन [सहित कौरव]; इनमें से जगत में निकृष्ट कौन है?

चौपाई— अस कस भाषहु कृष्ण पचारत। सबन्हि ब्यंग बाणनि सों मारत॥
जस सोचउ तस नाहिं भुआला। प्रभु समरथ कालहुँ कर काला॥

आप ऐसा कैसे कह रहे हैं कि कृष्ण [अर्जुन को] ललकार कर सभी को व्यंग्य-बाणों से घायल कर रहे हैं? हे भूपति! जैसा आप सोच रहे हैं वैसा नहीं है, भगवान तो सर्वसामर्थ्यवान और काल के भी काल हैं।

हँसि कह नृपति तोहिं भय काहे। चक्र सुदर्सन नीति निबाहे॥
जानउँ मैं नहिं मारइ तोहीं। रहउँ असंक देखु जस मोहीं॥

[सञ्जय की बात सुनकर] राजा धृतराष्ट्र ने हँसते हुए कहा, सञ्जय! तुझे भय क्यों हो गया है? मैं तो जानता हूँ कि सुदर्शन चक्र इतनी अनीति नहीं करेगा कि तुम्हें मार डाले; जैसा कि मुझे ही देखो कि मैं सदा कैसे भयरहित रहता हूँ!

मोहिं काह भय सुनहु नृपाला। ब्यास ऋषी पहिं मेरो काला॥
बिनु तिन्ह आज्ञा मोहिं न मारे। जानत हौं भल मम होनिहारे॥

[सञ्जय ने कहा-] हे नरेश्वर! मुझे किस बात का भय है, मेरा काल तो परम पूज्य महर्षि व्यास के पास बैठा है, उनकी आज्ञा के बिना वह मुझे नहीं मार सकता। मैं तो जानता हूँ कि मेरा कुछ भला अवश्य होने वाला है।

नृप सो मोहिं न मारइ कबहूँ। होय कुपित कोउ कारन जबहूँ॥
सुनउँ ब्रह्मबिद्या एहि काना। जेहिकर काल करत गुन गाना॥

हे राजन्! यदि वह काल किसी कारण कुपित भी हो जाय तो भी वह मुझे कभी नहीं मार सकता क्योंकि मैं अपने इन कानों से ब्रह्मविद्या सुन रहा हूँ, जिसका काल भी गुणगान किया करता है-

चक्रहु नमत जाहि पद माथा। धूनउँ सिर क्यों तुम्ह सम नाथा॥
सुनहु बात अब पूछहु जोई। बिनहिं प्रमाद सुनावउँ सोई॥

तथा जिस [ब्रह्मविद्या] को सुदर्शन चक्र भी प्रणाम करता है। अत: हे नाथ! मैं आपके समान क्यों सिर पीटूँ? जो बात आप पूछ रहे हैं, उसे सुनें! बिना प्रमाद के मैं वही सुना रहा हूँ-

सोरठा— स्वयं पार्थ रन आयँ उनहिं नाहिं परचार प्रभु।
पर कर्तब्य बुझायँ सोक मोह निरबारहीं॥ ११२॥

हे आर्य! आपके अनुज पुत्र अर्जुन स्वयं ही इस रणभूमि में आये हुए हैं, भगवान उन्हें ललकार नहीं रहे हैं। हाँ, उनके कर्तव्य का बोध कराकर उनके शोक-मोह का निवारण अवश्य कर रहे हैं।

चौपाई— अब हरि बात सुनहु नरनाहा। जाहि मरम ब्यासहु अवगाहा॥
प्रभु हँसि कह हे कुंति दुलारो। तव मन सोक भयो कस भारो॥

हे नरेश्वर! अब प्रभु की बात को सुनें जिसके गूढ़ात्मक अर्थ को महर्षि व्यास भी खोजते रहते हैं। प्रभु हँसकर कह रहे हैं कि हे कुन्तीनन्दन! तुम्हारे मन में यह भयंकर शोक कैसे उत्पन्न हो गया है?

जो नर अस समुझइ मन याहीं। मैं समरथ आतम बध माहीं॥
अरु जो कहत मरउँ तन जातहिं। बूझहिं दोउ न गूढ़ अति बातहिं॥

जो पुरूष मन में ऐसा समझता है कि मैं आत्मा का वध करने में समर्थ हूँ तथा जो कहता है कि शरीर के मरने से मैं भी मर जाने वाला हूँ, [सच पूछो तो] वे दोनों ही [मूर्ख] अत्यन्त गूढ़ात्मक रहस्य को नहीं जानते।

जन्मत मरत न आतम कबहूँ। जनमति मरति सृष्टि नित जबहूँ॥
यहउ नाहिं कै जनम्यो जासे। पुनि जन्मेगो कह कोउ यासे॥

यह आत्मा किसी भी काल में न जन्म लेता है, न मरता है भले ही यह सृष्टि नित्य उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है अथवा ऐसा भी नहीं है जैसे कोई कहता है कि इस आत्मा ने जन्म ले लिया है अत: पुन: जन्म लेगा।

अजर अमर यह नित्य सनातन। तात नयो तन आत्म पुरातन॥
जनमि मरउँ मारउँ सो मारत। अस समुझत तेहि मूढ़ उचारत॥

हे धैर्यवान! यह शरीर तो नया है परन्तु यह आत्मा अजर, अमर, नित्य, सनातन तथा पुरातन है। मैं जन्म लेकर मर जाता हूँ, [किसी को] मारता हूँ तथा वह मुझे मारता है- ऐसा जो समझता है यथार्थ में उसे मूढ़ [अर्थात् अज्ञानी] कहा जाता है।

भाव बिकार ताहि यह अहई। नित निबिकार आतमा रहई॥

ये समस्त भाव-विकार उसी [शरीर] के हैं, [न कि आत्मा के क्योंकि] आत्मा तो सदा से ही निर्विकार है।

दोहा— दर्सन द्रष्टा दृष्य अरु कर्ता कर्म क्रियाहु।
आवत अनुभव माहिं सब प्रभु कस मिथ्या आहु॥ ११३॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा-] हे प्रभो! द्रष्टा, दृश्य, दर्शन तथा कर्ता, क्रिया, कर्म- ये सब तो अनुभव में आ ही रहे हैं फिर मिथ्या कैसे हैं? [क्या आपको यह सबकुछ ऐसा ही नहीं दिखाई पड़ता?]

चौपाई— सुनहु परंतप यह धरि ध्याना। कहत कठिन पर कहउँ सुजाना॥
पंच बिषय जग बीज कहावहिं। आदि सक्ति तिन्ह मूल बतावहिं॥

[भगवान ने कहा-] हे बुद्धिमान परंतप! यथार्थत: कहने में तो यह अति कठिन है तो भी मैं तुमसे कहता हूँ, अत: ध्यान देकर सुनो- पाँच विषय ही जगत के कारण कहे जाते हैं तथा आदिशक्ति [माया] उनका मूल कही जाती है।

जेहि सम्बंध ब्रह्म सों अहई। सोइ जग थिति महँ कारन कहई॥
मायाकृत जग बीज अजन्मा। जासे स्वप्न जगत अस जन्मा॥

जिसका सम्बन्ध ब्रह्म से रहता है, वह माया ही इस जगत की स्थिति में कारण कही जाती है। इसप्रकार अजन्मा ब्रह्म ही माया के द्वारा प्रकट हुए जगत का बीज है जिससे इसी जगत के समान ही स्वप्न जगत भी प्रकट होता है।

काहू बिधि माया हटि जावे। तब जो सत अनुभव महँ आवे॥
बनत स्वप्न जग बिनहिं बनाये। तिमि यह सृष्टि ब्रह्म हिय आये॥

यदि किसी प्रकार यह माया हट जाती है तब जो सत्य है, वह तुम्हारे अनुभव में आने लगेगा। अरे! जैसे स्वप्न जगत बिना बनाये ही बनता है, वैसे ही यह जगत भी ब्रह्म के चित्त में [स्वत: ही] प्रकट होता है।

जिमि जग रचत स्वप्नगत द्रष्टा। तिमि सिरिजत जग आतम स्त्रष्टा॥
यासे ब्रह्म अंग जग कहई। एहि बिधि अन्य कछुक नहिं अहई॥

जिसप्रकार स्वप्न का द्रष्टा ही स्वप्न जगत की रचना करता है, उसी प्रकार सृजन करने वाला ब्रह्म ही इस जगत का सृजन करता है। अत: ब्रह्म का संकल्प होने से ये सब दृश्य उसी चेतन के अंग हैं। इस प्रकार [उसके अतिरिक्त] अन्य कुछ है ही नहीं।

अस न कार्य कारण महँ भेदा। गावत संत सास्त्र अरु बेदा॥
बीज अहइ जो सोइ फल ताता। तातें सब जग ब्रह्महि धाता॥

अत: कार्य एवं कारण में [कभी भी कुछ] भेद है ही नहीं, ऐसा ही सन्त, शास्त्र एवं वेद कहते हैं। हे प्रिय! जो बीज होता है वही फल बन जाता है, इस न्याय से सबको धारण करने वाला ब्रह्म ही जगतरूप हो गया है।

तम घन कबहुँ न होय सबेरो। सच कस रूप कल्पना केरो॥
तन्मात्रा कारन बिभु जबहीं। जीव पंचभूतन्हि कस तबहीं॥

[हे पार्थ!] घनीभूत अंधकार कभी भी प्रभातकालीन आभा नहीं हो सकता, उसी प्रकार कल्पना का रूप सच कैसे हो सकता है? जब [पञ्चभूतों की] तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का कारण ब्रह्म है तो पंचभूतों का कारण जीव कैसे हो सकता है?

दोहा— कबहुँ न जनम्यो अस जगत होय नास तो काहि।
स्वप्न जगत इव जनम अरु मरण भास सुनु याहि॥ ११४॥

इस प्रकार जब यह जगत कभी प्रकट ही नहीं हुआ है तो बताओ नाश किसका होगा? अत: सुनो! इसका जन्मना और मरना स्वप्न-जगत के समान ही प्रतीत होता है।

चौपाई— जब निज मन जस भाव बनावे। चेतन जीव सोइ हो जावे॥
छुद्र जीव हौं अस जब माने। होत ताहि छन सोइ सयाने॥

चेतन जीवात्मा अपने चित्त में जब जैसा भाव बनाता है, वैसा ही हो जाता है। जब वह स्वयं को 'क्षुद्रजीव हूँ'- ऐसा मानता है तो वह अनुपम जीवात्मा तत्क्षण वैसा ही हो जाता है।

जब चिंतत आपुहिं अस्थूला। तस बनि स्वयं ताहि छन भूला॥
लख जस निजहिं बटोही सपने। तस कलपे थुल सूक्षम अपने॥

जब वह स्वयं का स्थूल रूप में संकल्प करता है तो उसी क्षण वह वैसा ही बनकर अपना स्वरूप आदि सबकुछ भूल जाता है। जिसप्रकार कोई स्वप्न में स्वयं को पथिक देखता है उसी प्रकार वह अपने में ही स्थूल एवं सूक्ष्म की कल्पना कर लेता है।

तन इव जल प्रतिबिम्बहु करई। तिमि कल्पित तन जिव अनुहरई॥
जिमि कल्पित रबि सत न कहावे। तिमि एहि देहहिं असत बतावे॥

जिसप्रकार जल में बना हुआ प्रतिबिम्ब शरीर की भाँति ही चेष्टा करता है, उसी प्रकार अपने में कल्पित शरीर जीव का अनुसरण करता है। जैसे काल्पनिक सूर्य सत्य नहीं कहा जाता, वैसे ही यह शरीर भी असत् कहा जाता है।

यदि सच माने सपन अनीको। तो यह सत सेनहु न अलीको॥
पुनि इनसों तुम्ह युद्ध करहु नहिं। कबहुँ न करन कहउँ कछु तुम्ह पहिं॥

हे कौन्तेय! यदि तुम स्वप्न की सेना को सत्य मानते हो तो यह [तुम्हारे सामने खड़ी हुई] सेना भी सत्य है, मिथ्या नहीं है। तो तुम इनसे युद्ध मत करो और मैं तुमसे कभी कुछ भी करने को नहीं कहूँगा।

स्वप्न नरन्हिं यदि झूठो मानहु। भीष्म द्रोण सब तिन्ह सम जानहु॥

वैसे ही यदि स्वप्न के मनुष्यों को तुम झूठा समझते हो तो उन्हीं के समान भीष्म-द्रोण आदि को भी समझो।

दोहा— यासों तव तन सोक अरु मोह सपन कर आहिं।
मायामय तस स्वजन सब ज्ञानहिं होत नसाहिं॥ ११५ (क)॥

इस न्याय से तुम्हारा शरीर, शोक और मोह स्वप्न का ही है उसी प्रकार समस्त स्वजन भी मायामय हैं जिनका [भयावह] रूप ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है।

गूढ़ मरम एक सुनहु तुम्ह साधक सिद्ध सुजान।
महाराज सच कहत तेहि मानहु होइ अमान॥ ११५ (ख)॥

हे साधको, सिद्धो एवं भक्तो! अब आप एक गूढ़ात्मक रहस्य [ध्यान देकर] सुनें, महाराज उसे यथावत् बता रहा है, जिसे आप मानरहित होकर स्वीकार करें।

चौपाई— नहिं कोउ बात महत की भाई। आत्मज्ञान रत मुनि ढिंग जाई॥
तिन्हकी कृपा त्यागि अभिमाना। सिष्य बने अरु पावे ज्ञाना॥

हे सज्जनो! यह कोई बड़े महत्त्व की बात नहीं है कि आत्मज्ञानी सन्त के पास जाकर, उनकी कृपा से [तन, मन, वचन आदि के] अहंकार का परित्याग कर शिष्य बनकर ज्ञान प्राप्त किया जाय-

पर बड़ि बात अहइ बड़ भ्राता। ज्ञानी परम राम सम दाता॥
सो लछिमन सम तेहि पहिं जाई। लहइ ज्ञान सदगुरू बनाई॥

परन्तु बड़ी बात तो तब हो जाती है जब अपना बड़ा भाई भगवान श्रीरामचन्द्र के समान ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न होकर ज्ञान देने वाला हो जाता है और वह [छोटा भाई] लक्ष्मण के समान उसके पास जाकर उसे सद्गुरु बनाकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

तासों महत बात होइ जावे। आत्मज्ञान रत अनुज लखावे॥
ताकी सरण गहै बड़ भाई। धुंधुकारि सम जगत नसाई॥

उससे भी महत्त्व की बात तब हो जाती है, जब कोई आत्मज्ञान से सम्पन्न गोकर्ण जैसा छोटा भाई हो और धुन्धुकारी के समान बड़ा भाई उसकी शरणागति ग्रहण करके भव-बन्धन का नाश कर डाले।

यह बड़ि बात ज्ञानि पितु पाहीं। कोउ सुत आतमज्ञान गहाहीं॥
यासेउ महत बात सुत ज्ञानी। तेहिं गुरु कर कोउ पिता अमानी॥

[हे भाइयो!] यह भी बड़ी बात है कि कोई पुत्र अपने आत्मज्ञानी पिता से [उन्हें सद्गुरु बनाकर] आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है परन्तु उससे भी बड़ी बात तब हो जाती है जब कोई अहंकार से शून्य पिता आत्मज्ञानी पुत्र को ही सद्गुरु बना लेता है-

आतमज्ञान गहइ हरषाई। अस बिरले पितु जगत लखाई॥
कोउ मदालसा जस बर माई। देति सुअन सब ब्रह्म बनाई॥

और प्रसन्नतापूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त करता है, ऐसे पिता जगत में विरले ही दिखायी पड़ते हैं। कोई [आत्मज्ञान से सम्पन्न] मदालसा जैसी श्रेष्ठ माँ अपने सभी पुत्रों को [आत्मज्ञान से विभूषित कर] ब्रह्मस्वरूप बना देती है-

यह बड़ि बात ताहि सनमानउँ। महत बात यासेउँ बखानउँ॥

यह तो बड़ी बात है, मैं उसका सम्मान करता हूँ किन्तु इससे भी महत्त्व की बात कह रहा हूँ कि-

दोहा— देवहूति सम मातु कोउ निज सुत गुरू बनाव।
नात मातु सुत ताक धरि तासों प्रभुपद पाव॥ ११६॥

जब देवहूति जैसी कोई माता अपने पुत्र को ही सद्गुरु रूप में स्वीकार कर माता एवं पुत्र के सम्बन्ध को त्याग कर उससे ही भगवत् पद प्राप्त कर लेती है।

चौपाई— उमा सरिस कोउ पति पहिं जाई। सिव सम पति निज गुरू बनाई॥
पावति ज्ञान ध्यान बिज्ञाना। यासेउँ कोउ अति महत बखाना॥

भगवान शंकर के समान पति के पास जाकर यदि कोई भगवती पार्वतीजी के समान धर्मपत्नी उन्हें गुरु बनाती है और ज्ञान, ध्यान, विज्ञान प्राप्त करती है [तो यह अत्यन्त महत्त्व की बात है] किन्तु यदि इससे भी कोई महत्त्व की बात कही जाय तो-

कोउ पति निज पतिनिहिं पहिचानी। अहइ साधु अरु आतमज्ञानी॥
ताकी सरण गहत गुरु जानी। परमज्ञान सो पाव अमानी॥

[वह यह है कि] कोई पति जब धर्मपत्नी को जान लेता है कि यह साधु स्वभाव एवं आत्मज्ञानी है तो उसे सद्गुरु समझकर उसके शरणागत हो वह मानरहित पुरुष परमज्ञान प्राप्त कर लेता है।

सिखिध्वज पद्म नृपति जग जेई। निज निज तियन्हि किये गुरु तेई॥
आतमज्ञान पाइ तिन्ह पाहीं। भव सागर सहजहि तरि जाहीं॥

उन्हीं [पतियों] में से राजा पद्म तथा शिखिध्वज ऐसे पति हैं, जो अपनी-अपनी साध्वी पत्नी [क्रमशः लीलावती एवं चूडाला] को अध्यात्म-मार्ग का गुरु बनाकर उन्हीं से परमज्ञान प्राप्त कर सहज ही भवसागर से पार हो जाते हैं।

महत न सबहीं ज्ञानहिं देनों। अपितु नित्य सबहीं सों लेनों॥
सब प्राणिन्ह सों जो लह सिक्षा। पावत प्रभु सन न्यारी दिक्षा॥

सभी को ज्ञान देना कोई बड़े महत्त्व की बात नहीं है अपितु [भगवान दत्तात्रेय की भाँति] सभी से ज्ञान ग्रहण करते रहना बड़े महत्त्व का है। जो समस्त प्राणियों से शिक्षा लेने वाला है, वह अनुपमेय पुरुष [अवश्य ही एक न एक दिन] भगवान से दीक्षित किया जायेगा।

बन्यो सोइ बानक रन माहीं। गये परंतप स्याला पाहीं॥
हित मित बंधु सारथी रूपा। लखे जिनहिं अब लखहिं अनूपा॥

वैसा ही महत्त्वपूर्ण दृश्य इस रणभूमि में भी उपस्थित हो गया है जहाँ भक्त परंतप अपने साले के ही शरणागत हो गये हैं। जिन्हें कभी भाई, हित-मित्र एवं सारथि के रूप में देखा था, उन्हें ही अब ब्रह्म के रूप में देख रहे हैं।

दोहा— सदगुरु मानहिं तिन्हहिं ते महत बात यहि आहि।
महाराज अस निति गहै अतिहिं सुगम हरि ताहि॥ ११७॥

उन्होने उन्हें ही अपना सद्गुरु मान लिया है, यही बहुत बड़ी बात है। महाराज का कहना है कि जो इस सिद्धान्त को स्वीकार करेगा उसके लिए भगवान अति सुलभ हो जायेगा।

चौपाई— सुनहु सकल भगतहु सुर बृंदा। साधक सिध सुचि संत मुनिंदा॥
बैष्णव सैव साक्त सब सुनहू। मेरो कथन मनहिं निज गुनहू॥

अब समस्त भक्त, देवगण, साधक, सिद्ध, परम पावन सन्तजन, मुनिगण और भगवान विष्णु, शिव तथा आदिशक्ति माँ भगवती के उपासको! आप सभी मेरे वचनों पर [ध्यान दें और उसपर] मन में विचार करें।

पार्थ लहहिं दिक्षा प्रभु पाहीं। देउँ निमंत्रण उत्सव माहीं॥
आवहु सुनि सब मोर निहोरा। पुरवहु आइ मनोरथ मोरा॥

यहाँ भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द से महात्मा अर्जुन दीक्षा ले रहे हैं। मैं आप सभी को इस उत्सव में आमंत्रित कर रहा हूँ। आप सभी मेरी विनम्र प्रार्थना सुनकर इस [दीक्षोत्सव] में आकर मेरे मनोरथ को पूर्ण करें।

यह आमंत्रण एक न मेरो। गुडाकेस अर्जुन प्रभु केरो॥
समारोह यह दिब्य अनूपा। आये जहँ सगरे नर भूपा॥

ऐसा न समझें कि यह आमंत्रण एकमात्र मेरा है बल्कि निद्राविजयी महात्मा अर्जुन एवं भगवान श्रीकृष्ण का भी है। यह समारोह दिव्य एवं अनुपम है जहाँ समस्त राजागण पधारे हैं।

कौरव सहित नाग नर देवा। दिक्षोत्सव महँ लावहिं सेवा॥
प्रभु पारथ हितकर जग भारो। दोउ आवाहन करत तुम्हारो॥

इस दीक्षा समारोह में कौरवों के साथ-साथ नाग, मनुष्य एवं देवगण भी [अपनी-अपनी] सेवा प्रस्तुत कर रहे हैं। [आप भलीभाँति जान लें कि] भगवान नारायण एवं महात्मा अर्जुन सम्पूर्ण जगत के शुभचिन्तक हैं, इसी से उन दोनों ने आप सभी का आवाहन किया है।

सोरठा— आवहु अस जिय जानि निज आतम कल्यान हित।
महामंत्र सुनि मानि सहजहि भवसागर तरहु॥ ११८॥

अत: मन में ऐसा समझकर आत्म-कल्याण के लिए आवें और [प्रभु द्वारा भक्त अर्जुन के लिए प्रकट होते हुए] महामंत्रों का श्रवण करें, उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार करें तथा सहज ही भवसागर से पार हो जायँ।

चौपाई— दिक्षा प्रभु न श्रवन महँ देहीं। गुप्त परंतप जेहि करि लेहीं॥
महामंत्र प्रभु जब हुंकारें। पार्थ सहित तुम्ह सब उच्चारें॥

यह दीक्षा ऐसी नहीं है कि प्रभु महात्मा अर्जुन के कान में दे रहे हों जिसे वे हृदय में छिपा लें, बल्कि भगवान नारायण जब महामंत्रों का हुंकार भरेंगे तो आप सब भी महात्मा अर्जुन के साथ-साथ उच्चारण करेंगे।

गावहिं प्रभु जब मंत्र अनूपा। सुनि गावत सूखहिं भवकूपा॥
रबि ससि नभ वायू अरु अगिनी। जल महि जड़ माया जग ठगिनी॥

भगवान जब अनुपम महामंत्रों का गायन करेंगे तो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा जगत को मोहित करने वाली अविद्या आदि सभी उसे सुनकर उसका गायन करने लगेंगे और उन सबकी मुक्ति हो जायेगी।

इनकै संग तुम्हहु सो गावहु। गाइ गाइ सोइ बर पद पावहु॥
लावहु अस जिय जानि कुटुम्बा। औरउ जे हित मित पितु अम्बा॥

इन्हीं के साथ आप सब भी उसे गायें और गा-गाकर परम पद प्राप्त कर लें। अत: हृदय से ऐसा जानकर आप अपने कुटुम्ब तथा अन्य जो हित-मित्र, माता-पिता आदि हैं, उन्हें भी यहाँ लायें।

सब कर इहाँ एक अस्थाना। बरु बर पापी अज्ञ सुजाना॥
उत्सव हरि कर गुप्त न कोऊ। लख सब गाँव नगर के जोऊ॥

भले ही कोई बुद्धिमान, अज्ञानी अथवा अतिशय पापी ही क्यों न हो, सभी के लिए यहाँ समान स्थान है। अरे! भगवान का कोई भी महोत्सव आजतक गुप्त नहीं रहा बल्कि गाँव-नगर के समस्त वासी उसे [एकसाथ] देखते हैं।

दोहा— किधौं होय नरमेध कोउ अस्वमेध कोउ होय।
महारास कै रास कोउ निरख नयन सब कोय॥ ११९॥

चाहे [उनके द्वारा किया जाने वाला] कोई नरमेध यज्ञ हो या अश्वमेध यज्ञ, महारास हो या सामान्य रास, वह सब सभी की आँखों के सामने होता है।

चौपाई— कृपा कोप प्रभु सबके आगें। करत भलेहि नहिं लखहिं अभागें॥
लगे बढ़ावन द्रौपदि चीरा। लखें असुर नर मुनि गम्भीरा॥

भगवान चाहे किसी पर कृपा करें या किसी को शाप दें यह सब सबके सामने करते हैं भले ही अभागे इसे न जान पायें। [जैसा कि भरी सभा में] जब वे भगवती द्रौपदी का चीर बढ़ाने लगे तो वहाँ उपस्थित समस्त असुर, मनुष्य एवं मुनिगण अति गम्भीर होकर देखने लगे।

मित्र सुदामा गले लगायो। सबके देखत सो सब पायो॥
चहत रुक्मिनी सठ सिसुपाला। पर तेहि भावत कृष्ण कृपाला॥

जब प्रभु ने अपने मित्र भक्त सुदामा को गले लगा लिया तो वे (सुदामा) सबके देखते-देखते सबकुछ पा गये। [इतना ही नहीं,] शठ शिशुपाल भगवती रूक्मिणी का वरण करना चाहता था किन्तु उसे तो कृपालु भगवान श्रीकृष्ण ही प्रिय लगते थे।

सब सम्मुख हरि हरि तेहिं लाये। बान जरा सिसुपाल लजाये॥
तिरिनावर्त पूतना माया। अवरु सकट वत्सासुर काया॥

तब भगवान सबके सामने ही उसे हर कर ले आये। वहाँ पर बाणासुर, जरासन्ध तथा शिशुपाल आदि की नाक ही कट गयी। वैसे ही तृणावर्त, मायावी पूतना, शकटासुर एवं वत्सासुर,

अधम बकासुर दंत अघासुर। संखचूड़ केसी धेनुकासुर॥
चाणुर कंसहिं असुर हजारो। सबके सम्मुख प्रभु संघारो॥

अधम बकासुर, दन्तवक्र, अघासुर, शंखचूड़, धेनुकासुर, केशी, कंस तथा चाणूर जैसे असंख्य असुरों का भगवान ने सबके सामने ही संहार किया।

दोहा— जगत भुपालन्हिं सम्मुखहिं दीन्हीं चक्र चलाय।
चकित चितव तब असुर सब जब सिसुपाल नसाय॥ १२०॥

जगत के समस्त राजाओं के सामने ही भगवान ने चक्र चलाकर दुरात्मा शिशुपाल का वध कर दिया, जिसे सभी असुर आश्चर्यचकित होकर देखते रह गये।

चौपाई— नहिं कोउ गुप्त रहनि प्रभु करनी। हति अधर्म भक्तन्हि बहु भरनी॥
यातें दिक्षोत्सव महँ आवहु। सोक मोह संताप मिटावहु॥

इस प्रकार भगवान की रहनी एवं करनी किसी से गुप्त नहीं है। वे [सबके सामने] अधर्म का नाश कर भक्तों का भलीभाँति भरण-पोषण करते हैं। इसलिए आप सभी इस दीक्षासमारोह में आकर अपना शोक-सन्ताप एवं मोह मिटा लें।

आवहु इमि दिक्षोत्सव माहीं। जिमि कोउ स्वजन महोत्सव जाहीं॥
जब तिन्हके उत्सव महँ जावहु। पुनि कस नहिं तुम्ह एहि महँ आवहु॥

आप सब इस दीक्षा-समारोह में उसी प्रकार आवें जैसे किसी स्वजन के समारोह में जाते हैं। अरे! जब आप उनके समारोह में जाते ही हैं तो फिर इस समारोह में क्यों नहीं आयेंगे!

प्रभु तुम्हरें हित भूमि बनाई। कुरूक्षेत्र अति दिब्य सुहाई॥
अस प्रांगण यह जहँ जग सारो। बइठहिं सहजहिं न्यारो न्यारो॥

[आप सब संकोच न करें क्योंकि] भगवान ने आप सबके हित के लिए ही कुरुक्षेत्र को अति दिव्य एवं सुहावना स्थान बना दिया है। यह एक ऐसा प्रांगण है जहाँ सारे जगत के लोग पृथक्-पृथक् सहजता से अपनी जगह पर बैठ सकते हैं।

नहिं सकुचउ महराज बुलावन। हरि महिमा चह तुम्हहि दिखावन॥
अहो धन्य तुम्ह आइ गये सब। महाराज हिय अति पुलकित अब॥

अत: आप संकोच न करें क्योंकि यह महाराज का बुलावा है, जो आप सबको भी भगवान की महिमा दिखाना चाहता है। अहो! धन्य है कि आप सब आ गये! अत: [ऐसा देखकर] महाराज का हृदय बारम्बार पुलकित हो रहा है।

दोहा— सुनहु ध्यान धरि सजग होइ पार्थ सुनहिं जिमि आज।
होउ त्रिबिध दुख रहित तुम्ह सवँरहिं सबरे काज॥ १२१॥

आप सब भी आज अति सजगता के साथ ध्यानपूर्वक [भगवान के द्वारा दिये जा रहे महामंत्रों का] वैसे ही श्रवण करें जैसे महात्मा अर्जुन करेंगे, जिससे आप त्रिविध तापों से रहित हो जायँ और आपके सारे [बिगड़े] कार्य बन जायँ।

चौपाई— महाराज मन बिहरन लागत। अर्जुन मन जब प्रभु पद रागत॥
अस संयोग जाहि बिधि देई। सो स्वारथ परमारथ लेई॥

जब महात्मा अर्जुन का मन प्रभु के चरणों में समर्पित होता है तब महाराज का मन भी आनन्दित होने लगता है। [महाराज की तो ऐसी अनुभूति है कि] विधाता जिसे ऐसा संयोग दे देता है वही स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों का लाभ प्राप्त कर लेता है।

कहहिं परंतप दुहुँ कर जोरें। प्रभु यह समझ आय नहिं मोरें॥
जनमउँ दीख जगत जन्मत जस। कस न गुनउँ मरुँ सबहिं मरत अस॥

पुन: महात्मा अर्जुन भगवान से दोनों हाथों को जोड़कर कह रहे हैं कि हे प्रभो! स्पष्ट दीख रहा है कि जैसे जगत जन्म लेता है वैसे ही मैंने भी जन्म लिया है अत: यह कैसे न समझूँ कि सभी मरते हैं तो मैं भी मरूँगा–यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।

जनमहिं मरहिं लखावे आगें। खायँ पियें सोयें अरु जागें॥
तुम्ह कस कहउ लखइ यह माया। तुम्हहिं करहु अब मोहिं अमाया॥

स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि सभी जनमते हैं, मरते हैं, खाते, पीते, सोते और जागते हैं। पुन: आप कैसे कह रहे हैं कि तुम इसे माया समझो। अत: अब आप ही मुझे मायारहित करें [मेरे भ्रम का निवारण करें]।

कहे दयानिधि सच कहुँ बाता। कबहुँ न जनम लिये तुम्ह ताता॥
यहि कारन तुम्ह कबहुँ न मरहू। आत्मरूप गहि सोक न करहू॥

तब दयानिधान भगवान ने कहा– हे प्रिय! मैं सत्य कहता हूँ कि तुमने तो कभी जन्म लिया ही नहीं है इसीलिए कभी मरोगे नहीं। अत: आत्मरूप में स्थित होकर शोक का परित्याग कर दो।

तैसेइँ इन्हकर जनम न आहीं। मरहिं न यासें आयँ न जाहीं॥
कह अर्जुन जनमे तौ मरहीं। होय सकत बिधिना अस करहीं॥

उसी प्रकार इन सबका भी जन्म हुआ ही नहीं है, इसीलिए ये सब भी न मरेंगे, न आयेंगे न जायेगें। महात्मा अर्जुन ने कहा– हे प्रभो! हो सकता है कि ऐसा विधाता का विधान ही हो कि जिसने जन्म लिया है वह मरेगा ही।

दोहा— कह प्रभु एहितें भद्र नर करउँ प्रयोग त्रिकाल।
पुनि काहे तव महत मति एहि बिधि चलति कुचाल॥ १२२॥

भगवान ने कहा – अरे भले पुरुष! इसी से तो मैं [जन्म मृत्यु के सन्दर्भ में] तीनों कालों का प्रयोग कर रहा हूँ, फिर तुम्हारी महत् बुद्धि इस प्रकार कुचाल क्यों चल रही है?

चौपाई— अस सुनि गुडाकेस अकुलाने। नहिं कछु सच अबलौं जो जाने॥
प्रभु पद गहि कह हे गुरुदेवा। सच सच कहउ करउँ तुव सेवा॥

भगवान के ऐसे वचनों को सुनकर महात्मा अर्जुन व्याकुल हो गये कि अब तक मैं जो कुछ भी जानता था, वह कुछ भी सत्य नहीं था। अत: उन्होंने भगवान के चरण–कमलों को पकड़ कर कहा– हे गुरुदेव! अब आप यथार्थ रहस्य बतावें, जिससे मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ आपकी सेवा करूँ।

तौ मैं को हौं कहँ सों आयों। कहउ काहि सों अस भरमायों॥
सिष्य बचन सुनि प्रभु संतोषत। दीक्षित करन लगे अति पोषत॥

अब आप बतायें कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ और किसके द्वारा इस प्रकार भ्रमित हो रहा हूँ। अपने परमप्रिय शिष्य के आध्यात्मिक प्रश्नों को सुनकर भगवान को अति सन्तोष हुआ, फिर तो वे उन्हें अति प्यार से दीक्षा देने लगे-

अहह धन्य भारत मति तोरी। पूरन किए मनोरथ मोरी॥
रह्यों ताक महँ एहि दिन केरी। देउँ ज्ञान तुव तमहिं निबेरी॥

[वे कहने लगे] अहो! धन्य है! हे अर्जुन! तुम्हारी बुद्धि धन्य है, तुमने आज मेरे मनोरथ को पूर्ण कर दिया। मैं तो इसी दिन की प्रतीक्षा में था कि कब ज्ञान का दान कर तुम्हारे अज्ञानान्धकार का निवारण करूँ।

सुनहु सजग होइ अब मम बानी। जाहि सुनत जग लाँघत प्रानी॥

अब तुम सावधान होकर मेरी बात सुनो, जिसको सुन लेने से ही भक्तजन [दुःख रूप] संसार-सागर को पार कर जाते हैं।

दोहा— जदपि आजलौं अपुन कहँ समुझत रह्यो सरीर।
पार्थ नाम मानत रहे पर ऐसो नहिं धीर॥ १२३॥

यद्यपि तुम अब तक अपने को शरीर ही समझते रहे तथा अर्जुन नाम वाला मानते रहे, परन्तु हे धैर्यवान्! ऐसा नहीं है; [अपितु]-

चौपाई— तुम्ह तो सच अज नित्य पुरातन। सुद्ध सच्चिदानंद सनातन॥
सास्वत सुभग सांत सुखरासी। साक्षी सत अक्षर अबिनासी॥

तुम तो यथार्थ में अजन्मा, नित्य, पुरातन, सनातन एवं शुद्ध सच्चिदानन्द, शाश्वत, शुभ, शान्त, सुख की राशि, साक्षी, सत्, अक्षर, अविनाशी,

निर्मम निराकार निर्दोषा। अगुन अलेप अखंड अरोषा॥
ॐ नाम अनुपम तव ताता। पुनि काहे तुम्ह अस बिलपाता॥

ममतारहित, निराकार, निर्दोष, निर्गुण, निर्लेप, अखण्ड एवं शोक-सन्ताप से रहित हो। हे प्रिय! तुम्हारा नाम ॐ है, जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती, फिर तुम इस प्रकार व्याकुल क्यों हो रहे हो?

अर्जुन नाम रूप नहिं तोरो। याहि कहउँ सच पीटि ढिंढोरो॥
पंच तत्व कर यह तन भाई। जग हित बिपुल नाम रखि जाई॥

मैं डंके की चोट पर यह सत्य कहता हूँ कि तुम्हारा नाम तो न अर्जुन है और न ही तुम इस रूप वाले हो। हे प्रिय! [जिसे तुमने अपना रूप मान लिया है] यह शरीर तो पंचतत्त्वों से बना हुआ है जिसके लोक व्यवहार के लिए अनेक नाम रख दिये जाते हैं।

यासों यह मर तुम्ह नहिं मरहू। सोक मोह पुनि काहे करहू॥
जो आतम कहँ जान पुरातन। अब्यय अज अबिनासि सनातन॥

इसलिए यही मरता-जीता है, तुम तो कभी मरते-जीते नहीं फिर शोक-मोह क्यों करते हो? हे पार्थ! जो पुरुष आत्मा को पुरातन, अव्यय, अजन्मा, अविनाशी एवं सनातन जानता है-

सो कस तात मरावत काही। कस केहि मारत मार न जाही॥

वह कैसे किसी को मरवाता है तथा कैसे किसी को मारता है; जिसको [कभी किसी भी काल में] मारा नहीं जा सकता।

दोहा— नूतन पट जिमि गहि पुरुष त्यागत बहुरि पुरान।
जीर्ण सीर्ण तन त्यागि तिमि जीवहु गहत नवान॥ १२४॥

[अरे! इसके विषय में तो तुम्हें ऐसा जानना चाहिए कि] जिसप्रकार पुरुष पुराने वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र पहन लेता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा जीर्ण-शीर्ण शरीर त्यागकर नया शरीर धारण कर लेता है।

चौपाई— बधे न अस्त्र सस्त्र कोउ याहीं। पावक कबहुँ जरावत नाहीं॥
जल न डुबावत वायु न मारत। इन्हहिं भले सो कबहुँ उधारत॥

इस आत्मा को न कोई अस्त्र-शस्त्र मार सकता है, न कभी अग्नि जला सकता है, न जल डुबो सकता है तथा न वायु ही मार सकता है, हाँ यह आत्मा भले ही कभी न कभी इनका ही उद्धार कर देता है। [प्रलय काल के समय यह आत्मा ही इन सबके शरणागत होने पर इनका उद्धार कर देता है]।

यासें यहइ अदाह्य अक्लेद्यः। जाय कहाय असोष्य अछेद्यः॥
ब्याप्त सकल जग नित्य सनातन। अचल सदा थिर कहत पुरातन॥

इसलिए यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य, अच्छेद्य, अशोष्य कहा जाता है तथा यह चराचर जगत में व्याप्त है, अतः इसे नित्य, सनातन, अचल, सदा रहने वाला तथा पुरातन कहा जाता है।

अकथनीय चिंतन नहिं जाको। निर्बिकार अस रूप न याको॥
सोइ परब्रह्म तात तव रूपा। अस जिय जानि न होउ कुरूपा॥

यह चिन्तन से परे होने के कारण अकथनीय है, क्योंकि यह निर्विकारी इस शरीर के समान रूप वाला नहीं है। अतः हे पार्थ! तुम वही परब्रह्म रूप वाले हो, अतः ऐसा हृदय में विश्वास करके तुम दिव्य रूप वाले होकर अदिव्य रूप वाले मत बनो।

अस कहि प्रभु भारत सन हेरत। कहत बचन मृदु कर सिर फेरत॥
अब बोलहु तुम्ह जस मैं बोलउँ। दीक्षित करउँ मरम सब खोलउँ॥

ऐसा कहकर भगवान अपने परम प्रिय भक्त अर्जुन की ओर बड़े प्यार से देखने लगे तथा उनके सिर पर हाथ फेरते हुए मधुर उपदेश देने लगे- [पार्थ!] अब मैं जैसा बोलता हूँ वैसा ही तुम बोलो क्योंकि अब मैं तुम्हें दीक्षामंत्र देकर समस्त गोपनीय रहस्यों को खोल दूँगा।

छंद— जेहि भाँति अहई बस्त्र तन पर जेहि समय पर छोड़ई।
तेहि भाँति यह तन बस्त्र सम सच जीव नित जेहि ओढ़ई॥
सिसु सों युवामहँ अरु युवा सों बृद्धमहँ जो जावई।
पुनि बृद्ध सों मृत्यू मरण सों जन्म गहि पुनि आवई॥

जिसप्रकार शरीर पर वस्त्र होते हैं जिन्हें समयानुसार बदल दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार यह शरीर भी जीवात्मा पर वस्त्र के समान होता है जो बचपन से जवानी में, जवानी से बुढ़ापे में, बुढ़ापे से मृत्यु में, मृत्यु से पुनर्जन्म में बदलता रहता है-

पर जीव जो रह बचपना महँ सो जवानी महँ रहै।
जो रह जवानी महँ बुढ़ापा माँहिं सोई रह कहै॥
जो रह बुढ़ापा माहिं सोई मृत्यु महँ सच बासई।
जो मृत्यु महँ रह पुनर्जन्महिं सोइ नित्यहिं भासई॥

किन्तु जीवात्मा जो बचपन में रहता है वही जवानी में रहता है, जो जवानी में रहता है वही बुढ़ापे में रहता है, जो बुढ़ापे में रहता है वही मृत्यु में रहता है, जो मृत्यु में रहता है वही पुनर्जन्म में रहता है।

क्योंकै अहइ सो अज अमर सास्वत सनातन अब्ययम्।
घट घट बसइ अबिनासि सो अरु नित पुरातन सुखमयम्॥
अस आज सों गुरु के कहे निज रूप देह न मानऊँ।
बस आतमा जीवातमा अरु अंतरातम जानऊँ॥

क्योंकि वह अजर है, अमर है, शाश्वत है, सनातन है, पुरातन है, अव्यय है, अविनाशी है, घट-घटवासी और सुख की राशि है। अतः आज से गुरु आदेशानुसार मैं अपने आपको शरीर न मानकर आत्मा, जीवात्मा, अन्तरात्मा मानूँगा तथा जानूँगा।

पुनि बोलहू नहिं मरउँ कबहूँ अस्त्र अरु कोउ सस्त्र सों।
पावक न जारे जल न मारे मोहिं कहुँ बरुणास्त्र सों॥
वायू न सोषे प्रान मेरो प्रबल वायब्यास्त्र सों।
कबहूँ न मरुँ तिहुँ काल महँ दिब्यास्त्र अरु ब्रह्मास्त्र सों॥

पुनः तुम बोलो कि मैं कभी किसी अस्त्र-शस्त्र से नहीं मर सकता और न ही मुझे अग्नि जला सकता है और न ही वरुणास्त्र से जल मुझे मार सकता है; न प्रचण्ड वायव्यास्त्र से वायु प्राणों का हनन कर सकता है। इस प्रकार मैं तीनों कालों में दिव्यास्त्र और ब्रह्मास्त्र से भी नहीं मर सकता।

पुनि बोलहू कोउ जाति कर नहिं कुल कुटुम्बउ हीन मैं।
नहिं हस्तिनापुर गाँव मम नहिं एकदेसिय भिन्न मैं॥
मैं सर्बदेसिय देसहीनउ एकरूप अनेकहू।
अरु एक बहु सब कल्पना मेरो न कोऊ भेषहू॥

पुनः बोलो कि मैं किसी भी जाति का नहीं हूँ तथा मैं कुल परिवार से भी रहित हूँ। हस्तिनापुर मेरा गाँव नहीं है, क्योंकि मैं एकदेशीय नहीं अपितु विलक्षण हूँ। अरे! मैं तो सर्वदेशीय और देशरहित भी हूँ तथा एक होते हुए भी अनेक रूपवाला हूँ। अहो! [मैं कहाँ तक कहूँ] मैं एक हूँ या बहुत हूँ- ये सब कल्पनामात्र है, क्योंकि मेरा तो कोई आकार-प्रकार है ही नहीं।

नहिं पुत्र काहू कर पिता अरु पौत्र सिष्य सखा सही।
भानज नहीं मामा नहीं स्याला नहीं जीजा नहीं॥
नहिं नाम मेरो पार्थ अर्जुन मोह ममता हीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

अहो! यथार्थ में मैं न किसी का पुत्र हूँ, न पिता; न किसी का पौत्र हूँ, न सखा तथा न शिष्य ही हूँ; न मैं किसी का भानजा हूँ, न मामा तथा न किसी का साला और जीजा ही हूँ। अरे! मेरा नाम न अर्जुन है, न पार्थ! इसलिए मैं मोह-ममता से रहित सम-शान्त, परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

पुनि बोलहू नहिं नेत्र श्रवनहु घ्रान जिह्वा मूखऊँ।
कर पद नहीं सिस्नउ गुदा मैं पेट पीठ न दीखऊँ॥
नहिं उर ग्रिवा सिर अरु त्वचा बिज रक्त मांसउ हीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

पुनः बोलो कि मैं न आँख हूँ, न कान हूँ; न नाक हूँ, न जिह्वा हूँ और न मुख ही हूँ; न मैं हाथ हूँ, न पाँव हूँ; न शिश्न हूँ, न गुदा हूँ और न पेट तथा पीठ रूप में ही दिखायी पड़ रहा हूँ; न छाती हूँ, न गर्दन हूँ; न सिर हूँ, न त्वचा हूँ; तथा मैं वीर्य, रक्त एवं मांस भी नहीं हूँ। अरे! मैं तो सम-शान्त परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

अस्थी न मज्जा प्रान ब्यान समान अवरु उदान हौं।
नागउ धनंजय देवदत नहिं कुर्म कृकल अपान हौं॥
मन बुद्धि चित्त न अहंहू अरु प्रकृति पुरुषउ हीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

न अस्थि हूँ, न मज्जा हूँ; न प्राण हूँ, न अपान हूँ; न व्यान हूँ, न उदान हूँ; न समान हूँ, न नाग हूँ; न धनञ्जय हूँ, न देवदत्त हूँ; न कूर्म हूँ, न कृकल हूँ; न मन हूँ, न बुद्धि हूँ; न चित्त हूँ, न अहंकार हूँ तथा मैं न तो प्रकृति हूँ और न पुरुष हूँ। अरे! मैं तो सम-शान्त परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

पुनि बोलहू न गृहस्थ मैं नहिं अज्ञ कोबिद दक्ष मैं।
नहिं सिद्ध साधक संत हौं नहिं रक्ष अवरु अरक्ष मैं॥

नहिं नीर छिति पावक पवन अरु गगन सोंहू हीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

पुनः बोलो कि मैं न गृहस्थ हूँ, न दक्ष हूँ; न अज्ञानी हूँ, न ज्ञानी हूँ; न सिद्ध हूँ, न साधक हूँ और न सन्त ही हूँ; न मैं रक्षित हूँ, न अरक्षित हूँ; न पृथ्वी हूँ, न जल हूँ; न अग्नि हूँ, न वायु हूँ और न आकाश हूँ। अरे! मैं तो सम-शान्त परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

स्थूल नहिं सूक्षम न हौं कारण महाकारण न मैं।
हंसहु परमहंसहु न हौं कैवल्य अवधारण न मैं॥
जाग्रत न हौं नहिं सपन मैं सूषुप्ति तुरियाहीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

न मैं सूक्ष्म हूँ, न स्थूल हूँ; न कारण हूँ, न महाकारण हूँ; न हंस हूँ, न परमहंस हूँ और न मैं कैवल्य की ही अवधारणा वाला हूँ; न मैं जाग्रत् हूँ, न स्वप्न हूँ तथा मैं न सुषुप्ति और न तुरीया ही हूँ। अरे! मैं तो सम-शान्त परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

नहिं रूप रस नहिं गंध हौं नहिं सब्द अरु स्पर्स मैं।
नहिं ह्रस्व दीर्घ न थूल सूक्षम नहिं निरस अरु सर्स मैं॥
कामी न क्रोधी अरु न लोभी राग द्वेषहु हीन मैं।
सम सांत अक्षर परम हौं आकास सम आसीन मैं॥

पुनः बोलो कि न मैं शब्द हूँ, न स्पर्श हूँ; न रूप हूँ, न रस हूँ तथा न गन्ध ही हूँ; न मैं छोटा हूँ, न बड़ा हूँ; न मोटा हूँ, न पतला हूँ; न नीरस हूँ, न सरस हूँ; न कामी हूँ, न क्रोधी हूँ और न लोभी हूँ तथा मैं न रागी हूँ न द्वेषी ही हूँ। अरे! मैं तो सम-शान्त परम अक्षर ब्रह्म तथा आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त हूँ।

दोहा— नित्य निरंजन याहि बिधि निर्गुन नाम न रूप।
सत साक्षी तिहुँ काल महँ जानउ अमल अनूप॥ १२५ (क)॥

[अब दीक्षा के समापन पर भगवान यह कह रहे हैं कि हे निष्पाप!] इस प्रकार यह जान लो कि तुम तो तीनों कालों में नाम-रूप से रहित, नित्य, निर्गुण-निराकार, निर्मल, निरुपम सत् तथा साक्षी हो।

पार्थ कहहु अब कहहु का सोकउ मोह नसाय।
यदि ऐसो तो करहु रन धनु अरु बान उठाय॥ १२५ (ख)॥

हे पार्थ! बोलो! अब बोलो कि क्या तुम्हारा शोक-मोह दूर हो गया, यदि हो गया हो तो धनुष-बाण उठाकर युद्ध करो।

सोरठा— पुलक प्रफुल्लित गात अर्जुन सिथिल सनेहमय।
गुरुहिं निरखि हरषात कहत न कछु बस मुदित मन॥ १२५ (ग)॥

[ऐसा सुनकर] भक्त अर्जुन का शिथिल हुआ तन-मन प्रेम में भरकर पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। आनन्दातिरेक के कारण वे भगवान से कुछ कह नहीं पा रहे हैं, एकमात्र प्रसन्न मन से अपने गुरुदेव [भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द] का दर्शन कर रहे हैं।

सुकृत प्रगट भै आइ मन सोचत केहि जनम कर।
करुनानिधि हरषाइ जेहिं कारन कीन्हीं कृपा॥ १२५ (घ)॥

वे मन में ऐसा सोच रहे हैं कि मेरे किस जन्म का पुण्य इस समय प्रकट हो गया है जिसके कारण करुणानिधान भगवान ने अति प्रसन्न होकर मुझपर कृपा की है।

चौपाई— सदगुरु कृपा समुझि मन माहीं। बंदत पद भारत न अघाहीं॥
जदपि मनहिं मन अति हरषाहीं। पर गांडीव उठावत नाहीं॥

महात्मा अर्जुन मन में सद्गुरु भगवान की कृपा का अनुभव कर बार-बार उनके चरणों की वन्दना करते हुए तृप्त

नहीं हो रहे हैं। यद्यपि [वे सद्गुरु के वचनामृत से] मन ही मन अति प्रसन्न हैं फिर भी गाण्डीव नहीं उठा रहे हैं।

गुरु पद बंदि अतिहिं अनुरागे। उर धरि धीर कहन अस लागे॥
नाथ कृपा तव दरसन पायों। निज स्वरूप सत सहज सुहायों॥

अपने सद्गुरु [भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द] के चरणों की वन्दना करके वे अत्यन्त प्रेम से भर गये तथा हृदय में धैर्य धारण कर ऐसा कहने लगे– हे प्रभो! आपकी कृपा से आज मैंने अपने मनभावन वास्तविक स्वरूप का सहज ही दर्शन प्राप्त कर लिया।

जदपि सहज निज रूप लखायो। मम मन मूरख तउ न अघायो॥
अहइ अबध्य ब्रह्म सब जानत। जो नहिं जानहिं सो अनुमानत॥

यद्यपि मैंने अपना स्वरूप देख लिया है तो भी मेरा मूर्ख मन पूर्णरूपेण तृप्त नहीं हुआ है। हे प्रभो! यह तो [मैं ही क्या] सभी जानते हैं कि ब्रह्म को कोई मार नहीं सकता, जो ऐसा नहीं जानते वे अनुमान से ऐसा मानते हैं।

सोइ परब्रह्म अहउँ नहिं जान्यों। अबलौं जीव स्वयं कहँ मान्यों॥
आज अबिद्या हरि हरि लीन्हीं। दुर्लभ ब्रह्मज्ञान मोहिं दीन्हीं॥

किन्तु अब तक यह नहीं जानता था कि मैं भी वही परब्रह्म परमात्मा हूँ, [ऐसा न जानने से] अपने को अब तक जीव ही मानता रहा। हे नाथ! आज आपने मुझे दुर्लभ ब्रह्मविद्या देकर मेरे अज्ञान का हरण कर लिया है।

पर इतनो जानत मम हाथा। चक्र न आय साँच यदुनाथा॥
काट न जासु भुवन दस चारी। नहिं त्रैलोकहुँ दीख अघारी॥

परन्तु हे यदुनाथ! हे पापनाशक! सच बात तो यह है कि मेरे द्वारा [मैं ब्रह्म हूँ] इतना जान लेने मात्र से आपका सुदर्शन चक्र मेरे हाथ में तो नहीं आ जायेगा जिसकी काट चौदहों भुवनों और तीनों लोकों में नहीं दिखायी पड़ रही है।

जेहि पावत मैं होउँ बिसोका। बिचरउँ अभय होइ सब लोका॥
प्रभु मुसुकाने सुनि अस बचना। तिन्हकर भयबृत्ती युत रचना॥

जिसको पाकर मैं शोक रहित तथा निर्भय होकर सम्पूर्ण लोकों में विचरण करूँ। प्रभु उनके भयवृत्ति युक्त वचनों को सुनकर मुस्कुरा पड़े।

दोहा— निज मायाहिं सराहहीं मन ही मन यदुनाथ।
भटक्यो एहि कारन बहुरि पार्थ न आयो हाथ॥ १२६॥

तब भगवान यदुनाथ मन ही मन अपनी माया की सराहना करने लगे कि इसी के कारण अर्जुन पुनः भटक गया, मेरे हाथ नहीं आया।

चौपाई— जदपि दीन्हि मैं सबु समुझाई। पर माया बल समुझ न आई॥
भलो भयो अरु भल होनिहारो। यासें अबहीं गुप्त निबारो॥

[भगवान सोचने लगे] यद्यपि मैंने इसे सब कुछ समझा दिया फिर भी माया के प्रताप से इसे [थोड़ा भी] प्रबोध नहीं हुआ! चलो! अच्छा ही हुआ और अच्छा ही होने वाला है, अतः अभी गुप्त बात छिपा ली जाय।

अस मन समुझि पार्थ सम बोलन। लगे ताहि छन तिन्ह सों डोलन॥
महाराज आवत तुव भूमी। प्रभुहिं परंतप रन थल चूमी॥

उस समय भगवान मन में ऐसा सोचकर भक्त अर्जुन के अनुरूप ही बोलने लगे और उन्हीं जैसा व्यवहार भी करने लगे। महाराज अब भगवान और महात्मा अर्जुन की रणभूमि को प्रणाम करते हुए आप सबकी भूमि में आ रहा है।

होत कौतुहल जहँ सुनि भारी। बूझहु नहिं कछु गइ मति मारी॥
अचरज कछु महराज न मान्यो। इक अवसर गुरु मरम न जान्यो॥

जहाँ [भगवान और अर्जुन की वार्ता को] सुनकर आप सबको अति कौतूहल हो रहा है, परन्तु बुद्धि जड़ हो जाने से कुछ समझ नहीं पा रहे हैं। [ऐसा देखकर] महाराज को कुछ भी आश्चर्य नहीं हो रहा है क्योंकि एक बार

वह भी [अपनी बुद्धि की जड़ता वश] अपने गुरुदेव के [द्वारा किये गये गूढ़ात्मक] संकेत को समझ नहीं पाया था।

एक बार गुरु कर संकेतो। इहइ सत्य लखु होय सचेतो॥
पर मैं मूरख समुझि न पायो। तब प्रभु मो सन हँसि अस गायो॥

एक बार गुरुदेव ने संकेत किया- देखो! देखो! सजग होकर देखो- यही सत्य है; परन्तु मैं मूर्ख उस संकेत को समझ नहीं पाया। तब गुरुदेव भगवान ने मुझसे हँसकर यह कहा-

समुझि परेगो कछु धरु धीरा। सुनि तोषेउँ गइ सब सिर भीरा॥

'कुछ समय धीरज रखो, समझ में अवश्य आयेगा'- यह सुनकर अति सन्तोष हुआ और ऐसा लगा कि सिर का बोझ उतर गया।

दोहा— ऐसोइ अचरज होय जू तुम्हरे मन सब भाइ।
बात कवन जो सिष्य सों प्रभु इहँ लीन्हि दुराइ॥ १२७॥

हे भाइयो! ऐसा ही आश्चर्य आप सबके मन में भी हो रहा है कि वह कौन-सी बात है जिसे प्रभु ने अपने शिष्य (अर्जुन) से छिपा लिया।

चौपाई— सुनहु सकल साधक मन लाई। महाराज सच कहत बुझाई॥
दिक्षामंत्रहिं बहुरि बिलोकउ। अनुबृत्ती करि करि अवलोकउ॥

हे साधको! आप सभी मन लगाकर सुनें- महाराज [भगवान के द्वारा छिपाये हुए तत्त्व को] यथार्थ रूप में प्रकाशित कर रहा है। एक बार फिर दीक्षा में दिये हुए मंत्रों की ओर आप देखें तथा बारम्बार उसे पढ़कर गम्भीरता से विचार करें।

मंत्र बीस सों अहहिं पचीसा। दिक्षे जिनसों पार्थहिं ईसा॥
जहँ प्रभु एनं अयं उचारे। प्रगटत गूढ़उ अर्थ बिचारे॥

उन मंत्रों की संख्या बीस से लेकर पच्चीस तक है, जिनके द्वारा भगवान ने महात्मा अर्जुन को दीक्षित किया है। जहाँ प्रभु ने 'एनं (इसे) तथा अयं (यह)'- पद का प्रयोग किया है जिनके अर्थ पर विचार करने से समस्त गूढ़ तत्त्व प्रकट हो रहा है।

प्रभु नैनं छिंदन्ति कहत जब। अर्जुन सन तर्जनी करहिं तब॥
अच्छेद्योयं कहत पुकारी। तेहि बिधि अयं देत उजियारी॥

जब भगवान 'इसे शस्त्र नहीं मार सकता' कहते हैं तो 'इसे' (एनं) कहते समय उनकी तर्जनी अंगुली महात्मा अर्जुन के शरीर की ओर संकेत कर रही है तथा जब 'यह अच्छेद्य है'- ऐसा कहते हैं तो यहाँ भी 'यह' (अयम्) पद उसी संकेत को प्रकाशित कर रहा है।

अयं सब्द अपरोक्षहिं पोषक। सः ब्यंजन परोक्ष कर तोषक॥
बार बार प्रभु कह यह देहा। मरइ न आतमज्ञानी गेहा॥

[आप सभी जानते हैं कि] यह (अयम्) शब्द जो सामने है, उसी के लिए प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वह (सः) शब्द दूर के लिए संकेत करता है। इसी बात को भगवान बार-बार कह रहे हैं कि तेरा यह शरीर तुझ आत्मज्ञानी का वास-स्थान होने से [अस्त्र-शस्त्र तथा पंचभौतिक प्रकोपों आदि से] मर नहीं सकता अथवा भगवान यह कह रहे हैं कि तुम्हारा यह शरीर मेरा घर हो गया है, [क्योंकि तुम मेरे शरणागत हो गये हो,] अतः इसे कोई मार नहीं सकता।

दोहा— सच कह हरि जहँ जब रहत तहँ कोउ कछु न बिगारि।
अगिनि पवन जल सस्त्र कोउ ताहि सकहिं नहिं मारि॥ १२८ (क)॥

भगवान सच ही कह रहे हैं कि वे जिस समय जहाँ रहते हैं वहाँ [उस जगह का या उस पुरुष का] कोई कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। यहाँ तक कि अग्नि, वायु, जल तथा कोई अस्त्र-शस्त्र भी उसे नहीं मार सकते।

सोरठा— याकर यहइ प्रमान रन समाप्त जबहीं भयो।
तब बोले भगवान थाप्यों अर्जुन धर्म अब॥१२८(ख)॥

इसका यही प्रमाण है कि जब धर्मयुद्ध समाप्त हो गया [तथा सन्तों एवं भक्तों का सारा काम बन गया,] तब भगवान ने भक्तअर्जुन से कहा कि अब मैंने अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना कर दी है।

चौपाई— यासें एहि रथ त्यागहु ताता। देखु करउँ इक अदभुत बाता॥
उतरहु प्रथम बहुरि मैं उतरउँ। तुम्हरि भलाई कबहुँ न बिसरउँ॥

इसलिए हे तात! इस रथ का त्याग कर दो और देखो मैं पुनः एक रहस्य दिखाने जा रहा हूँ। अच्छा तो पहले तुम इस रथ से उतर जाओ तभी मैं उतरूँगा क्योंकि मैं कभी भी तुम्हारा कल्याण करना नहीं भूल सकता।

अक्षय त्रोन दिब्य धनु बाना। लै उतरे भारत बलवाना॥
पुनि उतरे रथ तें भगवाना। तब हनुमत भये अंतर्ध्याना॥

[ऐसा सुनकर] अक्षय तरकश एवं दिव्य धनुष-बाण को लेकर पराक्रमी अर्जुन रथ से उतर गये, उसके उपरान्त भगवान रथ से उतरे तब भक्तप्रवर हनुमानजी भी [दिव्य ध्वजा से] अन्तर्ध्यान हो गये।

पावक प्रगट भयो रथ तबहीं। अचरज इव निरखहिं सब सबहीं॥
भस्म भयो रथ सबके आगे। तबहिं धनंजय पूछन लागे॥

तभी सहसा रथ में अपने-आप अग्नि प्रकट हो गयी [इस दृश्य को देखकर] सभी आश्चर्यचकित हो एक-दूसरे की ओर देखने लगे। फिर क्या सबके सामने ही रथ जलकर भस्म हो गया, तब भक्त धनञ्जय ने भगवान से पूछा-

यदि मोहिं प्रभु जानहु अधिकारी। कहहु मरम यहु जग हितकारी॥
प्रभु कह त्याग्यों एहि रथ भाई। अब यासें यह गयउ जराई॥

जगत का कल्याण करने वाले! हे नाथ! यदि मुझे अधिकारी समझते हैं तो इस रहस्य को बतायें कि इस दिव्यरथ में आग क्यों लग गयी? भगवान ने कहा हे प्रिय! अब मैंने इस रथ को सदा के लिए त्याग दिया, इसीलिए यह जलकर भस्म हो गया।

यह रथ एहि रन हित प्रगटायों। अपर दिब्य स्यंदन पर आयों॥

इस रथ को तो मैंने एकमात्र इसी युद्ध के लिए ही प्रकट किया था, अब दूसरे दिव्य रथ को धारण कर लिया है।

दोहा— लखु जब जहाँ बिराजऊँ तहँ न काल कोउ आइ।
जिमि जननी सिसु राखई तिमि जन राखउँ धाइ॥ १२९॥

अतः यह जान लो कि मैं जब जहाँ [जिसके हृदय में, जिस स्थान पर] वास करता हूँ वहाँ कोई भी काल नहीं आ सकता। जिसप्रकार माँ अपने शिशु की रक्षा करती है, उसी प्रकार मैं भी अहर्निश अपने भक्तों की रक्षा करता रहता हूँ।

चौपाई— महाराज सच कहत गोपाला। आय न कुंतिसुअन पहिं काला॥
परम भगत जग महँ जे भ्राता। बंदत काल सबन्हि के गाता॥

हे भाइयो! महाराज के अनुसार गोरक्षक भगवान सच ही कह रहे हैं कि कुन्तीपुत्र अर्जुन के पास कोई भी काल नहीं आ सकता; क्योंकि जगत में जो भी परम भक्त हैं, काल उन सबके शरीर की वन्दना करता है।

तिन्ह कायाहु अस्त्र नहिं मारे। जल न डुबाव अगिनि नहिं जारे॥
मरुतहु करत कबहुँ नहिं घाता। कोउ बिधि बिधि न हरत तिन्ह गाता॥

उनके शरीर को न कोई अस्त्र मार सकता है, न जल डुबो सकता है, न अग्नि जला सकता है और न वायु सुखा सकता है; [इस विषय में कहाँ तक कहा जाय] उनके शरीर को तो ब्रह्मा भी किसी निमित्त से नहीं ले (मार) सकते।

जब चाहत तब छोरत देहा। काल न आवत तिन्हके गेहा॥
भए प्रहलाद भगत जग माहीं। जिन्ह करनी जग सब मन आहीं॥

जब वे चाहते हैं तभी देह त्याग करते हैं, [उनके शरीर की तो बात ही क्या है] उनके तो निवास स्थान पर भी काल नहीं आ सकता। भक्त शिरोमणि प्रह्लाद जगत में हो चुके हैं, जिनकी भक्ति का प्रताप सबके हृदय में व्याप्त है।

पिता तिन्हहिं सागर महँ डार्‌यो। गरल दियो पावक महँ पार्‌यो॥
करि बहु जुगुति मारि नहिं पायो। तब सो उन्हपर अस्त्र चलायो॥

उनके पिता हिरण्यकशिपु ने उन्हें समुद्र में डलवाया, विषपान कराया, अग्नि से जलाने का प्रयत्न किया, उसने बहुत-से यत्न कर लिये पर मार नहीं पाया। तब उस [राक्षस] ने उन पर अस्त्र से प्रहार किया-

गहि नरसिंह रूप भगवाना। ताकर हरेउ प्रान जग जाना॥
रावन चह्यो बधन हनुमाना। पूँछ जराय प्रताप न जाना॥

फिर निर्गुण-निराकार भगवान ने नरसिंह रूप धारण करके उसका वध कर डाला, जिसे सारा जगत जानता है। उसी प्रकार रावण भी महात्मा हनुमान का वध करना चाहता था इसलिए पूँछ में आग लगा दी क्योंकि वह उनके प्रताप को नहीं जानता था।

सोइ पावक जार्‌यो सब लंका। बंद्‌यो उनहिं बज्यो जग डंका॥

उसी अग्नि देवता ने सम्पूर्ण लंका को जला डाला परन्तु हनुमानजी की वन्दना [करते हुए सब ओर से उनकी रक्षा] की जिससे उनकी जगत में पवित्र कीर्ति छा गई।

दोहा— कृष्ण बिरह महँ भक्त मति मीरा बिहरत जाहिं।
राणा बहुबिधि जतन करि मारि सक्यो नहिं ताहिं॥ १३०॥

उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण के वियोग में भगवद्भक्त मीरा विचरण कर रही थीं। राणा ने उनका वध करने का बहुत प्रकार से प्रयत्न किया पर वध न कर सका।

चौपाई- ऋषि मांडब्यहिं सूलि चढ़ायो। तउ तिन्ह तन सो छेदि न पायो॥
अति भय बिकल भूप सरनागत। तिन्ह सन अभयदान तब माँगत॥

वैसे ही [एक राजा ने] माण्डव्य ऋषि को [चोरी के झूठे आरोप में] शूली पर बैठा दिया तो भी उनके शरीर को वह छेद न सकी। ऐसा देखकर वह राजा अत्यन्त भय से विकल होकर उनके शरणागत हो अभयदान की याचना करने लगा।

जनि डरपहु कह संत कृपाला। साप देउँ नहिं तुम्हहिं भुआला॥
पर यम पर अब संयम करऊँ। उन्हके बिधि महँ कछु बिधि धरऊँ॥

तब उस कृपालु सन्त ने कहा- हे राजन्! आप डरें नहीं मैं आपको शाप नहीं दूँगा, परन्तु अब अवश्य ही यमराज पर शासन करूँगा तथा उनकी व्यवस्था में कुछ और भी नियम लागू करूँगा।

यम सों कह ऋषि केहि कर दंडा। जो मो सँग अस भयो बितंडा॥
कह यमराज सुनहु प्रभु देवा। बंदउँ चरन करउँ बहु सेवा॥

उसके उपरान्त ऋषि ने यमराज से पूछा- [हे काल!] यह मेरे किस कर्म का दण्ड था, जो मेरे साथ ऐसा वितण्डावाद (व्यर्थ का विवाद) खड़ा हो गया। तब यमराज ने कहा- हे प्रभो! मैं आपके चरणों की वन्दना करते हुए हर प्रकार से आपकी सेवा में प्रस्तुत हूँ [अतः आप प्रसन्न होवें] और जो कारण है उसे सुनें।

एकबार सिसुपनहिं गुसाईं। तुम्ह एक कीटहिं लीन्हि उठाईं॥
गुह्य अंग महँ सूज लगायो। भेदत भेदत सिरहिं भेदायो॥

हे प्रभो! एक बार आपने शैशवावस्था में एक कीड़े को हाथ में उठा लिया और उसकी गुदा से सूई लगाकर उसका भेदन करते हुए सिर से निकाल दिया था।

ताकर दंड नाथ तुम्ह पायो। मोरें बिधि बिधान अस आयो॥

हे मुनिवर! सुनें, उसी का यह दण्ड है, जो मेरे विधि-विधान द्वारा आपको प्राप्त हुआ है।

दोहा— कहेउ मुनी यह दोष अति बिधि बिधि महँ यमराज।
सिसुहिं लगे नहिं पाप कछु करुँ संकलपहिं आज॥ १३१॥

तब माण्डव्य ऋषि ने कहा कि विधाता के बनाये हुए नियमों में यह नियम अत्यन्त दोषयुक्त है। हे काल! मैं यह संकल्प करता हूँ कि आज से किसी भी बालक को [बारह वर्ष की अवस्था तक] भले-बुरे का थोड़ा भी पाप नहीं लगेगा।

चौपाई— अहइ अबध्य याहि बिधि देहा। जाहि सकल बिधि प्रभु सों नेहा॥
यासें अजहुँ होइ सरनाई। बिचरहु अभय जगत महँ भाई॥

इस प्रकार वह शरीर सदा ही अवध्य है जिसका सब प्रकार से प्रभु से ही प्रेम है। इसलिए हे सज्जनो! आज भी भगवान की शरण में आकर आप सब इस जगत में अभय होकर विचरण करें।

पालहु महाराज अनुभूती। झूठ होय तो मारहु जूती॥
उत दिक्षित करि प्रभु कह पारथ। मोहिं नाहिं कछु तुम्हसों स्वारथ॥

आप सब भी महाराज की इस अनुभूति का पालन करें और झूठी हो जाय तो जूते से मारें। उधर युद्ध के मैदान में महात्मा अर्जुन को दीक्षित करके भगवान कह रहे हैं- हे पार्थ! सुनो, मेरा तुमसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है।

सबकी प्रीति स्वार्थ संयुक्ता। पर मोरी निःस्वारथ युक्ता॥
तुम्हरे स्वारथ जगहित कारन। चाहउँ नहिं रन होय निबारन॥

सबका परस्पर प्रेम स्वार्थयुक्त होता है परन्तु मेरा प्रेम निःस्वार्थ है। मैं तुम्हारे [व्यक्तिगत] स्वार्थ और जगत के कल्याण के निमित्त इस युद्ध को रोकना नहीं चाहता।

यासों करहु युद्ध परचारी। अब करि सुरति स्वयं पन भारी॥

अतः अब अपनी महती प्रतिज्ञा का स्मरण करके चुनौतीपूर्ण युद्ध करो।

दोहा— यदि मानहु नहिं मोरि तुम्ह यामें नहिं कोउ बात।
तुम्हरी ही मैं मानऊँ एहि महँ नहिं अँझुरात॥ १३२॥

[हे पार्थ!] यदि तुम मेरी बात नहीं मानना चाहते हो तो इसमें कोई बात नहीं है। मैं इस बात को मनवाने के लिए इसमें उलझना नहीं चाहता। अतः चलो तुम्हारी ही बात मान लेता हूँ।

चौपाई— यदि तन मरै जियै अस मानहु। तउ मन दुख लवलेस न आनहु॥
जो जनमइ सो अवसि मरेगो। यामें कोउ पुनि काह करेगो॥

यदि तुम ऐसा मानते हो कि यह शरीर मरता-जीता है, तो मन में थोड़ा भी दुःखी मत होओ; क्योंकि जिसने जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा, इसमें कोई कर भी क्या सकता है।

याकर नहिं कोउ जग उपचारा। तुम्हरे सम बहु कर परचारा॥
भाग्य कर्मवादी दोउ अहहीं। मनतें करम करत जग रहहीं॥

इसका तो जगत में कोई समाधान है ही नहीं, तुम्हारे ही समान बहुत-से लोग ऐसा ही प्रचारित करते हैं। [अतः कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि]भाग्यवादी और कर्मवादी- दो प्रकार के पुरुष हैं, जो अपने मन के अनुसार ही व्यवहार करते हुए जगत में वास करते हैं।

पर प्रभुवादी कोउ मतिधीरा। अहइ जगत महँ अति गम्भीरा॥
करन करावन साइहिं मानत। जड़ चेतन सब महँ सोइ जानत॥

पर कोई बुद्धिमान [पुरुष] ऐसा भी होता है, जो भगवानवादी होता है, वह संसार में अति सम-शान्त रहता है [बकवास नहीं करता] क्योंकि करने-कराने वाला केवल भगवान को ही मानता है एवं जड़-चेतन समस्त रूपों में उसी को जानता है।

ये हनुमान न तव मत मानहिं। एहि तन रहत अजहुँ जग जानहिं॥
कहहिं बिभीषण एहि बकवासा। करहिं काह हम एहि तन आसा॥

हे वीर! सारा संसार जानता है कि ये हनुमानजी, जो उसी शरीर के साथ आज भी हैं, तुम्हारी बात नही मानेंगे तथा महात्मा विभीषण तो इसे बकवास मानते हुए कहेंगे कि हम इस शरीर पर विश्वास क्यों करें

[इसके अनुसार क्यों चलें] ?

दोहा— जनम्यो यह संकल्प सों मरइ करउँ संकल्प।
तजउँ अबहिं कै कालि मैं कै राखउँ बहु कल्प॥ १३३॥

क्योंकि इस शरीर ने मेरे संकल्प से जन्म लिया है अत: जब संकल्प करूँगा तभी मरेगा। चाहे इसे अभी त्याग दूँ या कल अथवा बहुत कल्पों तक इसे रखे रहूँ [यह तो मेरे ही अधिकार में है]।

चौपाई— जोपै तुम्ह नहिं मानहु ऐसो। तउ कोउ बात न आहि अनैसो॥
पर इक बात यहइ तुम्ह मानहु। जासे निज मन नित सत ध्यानहु॥

यदि ऐसा नहीं मान रहे हो तो भी कोई ऐसी बात नहीं है; परन्तु यह एक बात तो तुम मान ही लो, जिससे अपने मन के द्वारा इस सत्य को सदा के लिये स्वीकार करो कि-

प्रगट होत सब जिहिं अब्यक्ता। मरि पुनि जावें तहिं आसक्ता॥
परबस दिन दुइ चारि बितावहिं। जनम मरन बिच रोवहिं गावहिं॥

जिस अव्यक्त (अदृश्य) ब्रह्म से सभी भूत-प्राणी प्रकट होते हैं, वे विषयासक्त प्राणी मरकर पुन: उसीमें विलीन हो जाते हैं। केवल दो-चार दिन दूसरे (संस्कार) के अधिकार में रहते हुए जन्म और मृत्यु के मध्य में कभी रोते और कभी हँसते हुए दिखाई पड़ते हैं।

आतमज्ञान जिनहिं होइ जावे। काहु काहु अस दसा लखावे॥
कोउ निरखत अचरज की नाँई। कोउ अचरज यह कहत सुनाई॥

हे भारत! जिनको आत्मतत्त्व की अनुभूति हो जाती है, उनमें से किसी-किसी की ऐसी दशा हो जाती है कि कोई उस [आत्मा को] आश्चर्य की भाँति देखता रह जाता है और कोई [सबको] बताता है कि आश्चर्य है! आश्चर्य है! आश्चर्य है!

कोउ सुनि मानत अहइ अचम्भा। कोउ सुनि बुझे न कारन दम्भा॥
यासें मानहु एकइ देही। अहइ अबध्य सबै तन गेही॥

उसी प्रकार कोई [आत्मज्ञानी से] इसके विषय में सुनकर आश्चर्य की भाँति मानता है, तो कोई अत्यन्त दम्भ होने के कारण सुनकर भी नहीं समझ पाता। अत: इसे स्वीकार करो कि समस्त शरीररूपी घरों में एक ही आत्मा वास कर रहा है, जो कभी मारा नहीं जा सकता।

दोहा— मानि लेहु सच जो कहेउँ सब प्राणिन्ह के लागि।
सोचन जोगु न तात तुम्ह धर्मयुद्ध अनुरागि॥१३४(क)॥

हे प्रिय! मेरी कही हुई इस बात को सत्य मान लो कि तुम सभी प्राणियों के लिए शोक करने योग्य नहीं हो, अत: धर्मयुद्ध में मन लगाओ।

सब उपजत अब्यक्त सों सुनतहिं अर्जुन कान।
खड़े भये अति चकित चित अबलौं यह नहिं जान॥ १३४(ख)॥

सभी उस अव्यक्त ब्रह्म से ही प्रकट होते हैं, [भगवान के मुख से] ऐसा सुनते ही महात्मा अर्जुन के कान खड़े हो गये। वे आश्चर्यचकित हो उठे कि अहो! अब तक तो मैं इसे जानता ही नहीं था।

चौपाई— जानत हुतौं आज लगि योऊ। माँ पितु सों प्रगटहिं सब कोऊ॥
उठ्यो प्रस्न मन एकइ साईं। कस सबके तन बसत सदाईं॥

अब तक तो मैं यही जानता था कि माता-पिता द्वारा ही सभी जन्म लेते हैं। अत: उनके मन में प्रश्न उठा कि एक ही अन्तर्यामी भगवान सदा सबके शरीर में कैसे वास कर रहा है ?

सो अबध्य बध सब तन केरो। यह अचरज नहिं बुझउँ घनेरो॥
महाराज साधक उर माहीं। इहइ प्रस्न आवहिं अरु जाहीं॥

वह तो अवध्य है और समस्त शरीरों का वध होता है, मैं तो इस आश्चर्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहा हूँ। महाराज के अनुसार साधकों के हृदय में भी यही प्रश्न आते-जाते रहते हैं।

उत्तर सोइ देहिं भगवाना। देहु परंतप सँग सबु ध्याना॥
चुप्पी साधि रहे जब पंडा। तब खोलन लागे प्रभु भंडा॥

उसी का उत्तर अब अन्तर्यामी भगवान दे रहे हैं, अत: महात्मा अर्जुन के साथ-साथ सभी ध्यान दें। जब [स्वयं को] पण्डित समझने वाले भक्त अर्जुन चुप्पी साधे रह गये, तब भगवान समस्त रहस्यों को उद्घाटित (प्रकाशित) करने लगे।

अंतर्यामी तिन्ह मन जानी। कहन लगे अतिहीं सनमानी॥
जेहि कारन मानहु नहिं बाता। सो सब मैं जानउँ सच ताता॥

अन्तर्यामी भगवान उनके मन की बात जानकर उनका अत्यधिक सम्मान करते हुए कहने लगे कि हे तात! जिस कारण से तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, उन सभी को मैं सच-सच जानता हूँ।

दोहा— खड़े स्वजन सों प्रस्न कछु करहु मोरि यदि मान।
झूठ साँच की याहि बिधि करहु अबहिं पहिचान॥ १३५॥

परन्तु तुम मेरी मानो तो अपने सम्मुख खड़े स्वजनों से कुछ प्रश्न करो। इस प्रकार तुम सत्य और असत्य की पहचान अभी कर लोगे।

चौपाई— पूछ सकहु यदि तुम्ह तौ पूछहु। उत्तर दैं नहिं काटहु मूँछहु॥
सबसों पूछहु कहँ सों आये। पूरब स्वजनन्हि कहाँ भगाये॥

हे पार्थ! तुम पूछ सको तो पूछो और यदि उत्तर न दे सकें तो उनकी मूँछ काट लो। तुम सबसे पूछो कि आप सब कहाँ से आये हैं और पूर्वजन्म के स्वजनों को कहाँ भगा दिया है?

उनकी सुधि बुधि क्यों नहिं लेवें। का ते तुम्हहिं कछुक नहिं देवें॥
तेहि जग मातु पिता सुत परिजन। बिलपहिं अरु हरषहिं सब अरिजन॥

उनकी सुध-बुध आप सब क्यों नहीं ले रहे हैं? क्या उन्होंने आपको कुछ नहीं दिया? अरे! उस जगत के माता, पिता, पुत्र और परिवार के लोग अति विकल हो रहे हैं तथा उनके वैरी अति हर्षित हो रहे हैं!

प्रथम जाइ तिन्ह सोक उबारहु। करि रन तिन्ह अरिजन संघारहु॥
द्रोण पितामहु सों तू पूछै। यदि उत्तर बिनु आवइ छूँछै॥

अत: प्रथम आप सब जाकर उनके शोक को दूर करें तथा संग्राम करके उन सबके वैरियों का वध कर डालें। पुन: आचार्य द्रोण एवं पितामह से भी यही बात पूछो यदि उत्तर के बिना खाली हाथ आ गये-

तब उनसों कछु कस ब्यवहारा। सिष्य पौत्र कर तजहु अचारा॥

तब उनसे किसी भी प्रकार का व्यवहार कैसा? तब तुम उनके साथ शिष्य और पौत्र का व्यवहार त्याग देना।

दोहा— अबलौं जेहि तुम्ह गुरु कहे कहहु पितामह जाहि।
कछु न कहहु तिन्ह आज सों मोरी जौं पतियाहि॥ १३६॥

आजतक तुम जिन्हें गुरु तथा पितामह कहते थे, यदि मुझपर विश्वास है तो उन्हें आज से कुछ भी मत कहो।

चौपाई— मूल लखइ सत भाषइ जोई। सो गुरु मातु पिता प्रभु होई॥
मैं जानउँ सब जहँ सों आवें। मूल खोइ सब कहँ कब जावें॥

जो यथार्थ में सबके मूल को जानता है तथा [अधिकारी के पास] उसके मौलिक स्वरूप को प्रकाशित करता है, वही माता-पिता, गुरु तथा भगवान कहा जाता है। मैं उसे जानता हूँ जहाँ से सभी आये हुए हैं और उसे भी जानता हूँ कि [जिस महत् पुण्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उस] मूल को गवाँकर सब कब एवं कहाँ चले जायेंगे।

कहुँ जो करन करहु तुम्ह यासों। परहु न पुनि भवसागर जासों॥
अर्जुन सच भावति सब बाता। तातें प्रभु बचनहिं मन राता॥

इसलिए मैं जैसा करने को कह रहा हूँ वैसा करो जिससे पुन: भवसागर में न आना पड़े। महात्मा अर्जुन को भगवान की सारी बात सत्य तथा प्रिय भी लग रही है, इसीलिए उनका मन भगवान के वचनों को सुनने में ही अनुरक्त है।

भारत प्रथम मूल निज जानै। तब जग की सो नर कछु मानै॥
इहइ नीति सास्त्रन्ह संतन्हि की। सब स्मृति बेदन्ह मन्त्रन्हि की॥

हे भारत! सर्वप्रथम पुरुष अपने को तथा अपने मूल को जान ले, तभी वह जगत में किसी का कुछ कहना माने- यही समस्त वेद-शास्त्र, स्मृति के मंत्रों एवं सन्तों का कहना है।

कीन्ही इहइ अवधपति रामहु। कारुनीक बहु संत सुजानहु॥
प्रथम मोह निसि सों ते जागे। करम निबाह करन तब लागे॥

यही तो अयोध्या पति श्रीराम तथा कारुण्य आदि बहुत-से ज्ञानवान सन्तों ने भी किया है। [वह यह कि] पहले वे मोहरूपी रात्रि से जागे, तब जगत में कर्म का निर्वहन करने लगे।

नहिं संदेह कि तुव ब्यवहारो। अनचाहे उन सम भा सारो॥

इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारा समस्त व्यवहार अनचाहे में [ही सही किन्तु] उन्हीं लोगों के समान हुआ है।

दोहा— तेहि ब्यवहार सों अस कहउँ सब अदृस्य सों आहिं।
मैं तू करि दस पाँच दिन पुनि अदृस्य महँ जाहिं॥ १३७॥

तुम्हारे उसी व्यवहार को देखते हुए मैं यह कह रहा हूँ कि सभी अदृश्य से प्रकट हुए हैं और 'यह मैं हूँ, यह तू है'- ऐसा करते हुए पुनः दस-पाँच दिन में अदृश्य ब्रह्म में ही चले जायेंगे।

चौपाई— तेहितें उनसों कौन सगाई। सुखी होय कस बहुत बढ़ाई॥
नहिं इतनोइ बसुधा जल पावक। अरु समीर नभ रबि ससि धावक॥

इसलिए उनसे बहुत सम्बन्ध बढ़ाकर कोई कैसे सुखी हो सकता है? इतना ही नहीं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा अहर्निश [भूमण्डल का] चक्कर लगाने वाले सूर्य और चन्द्रमा भी-

प्रगट भये अब्यक्त सों मानै। अनजाने मग गहन भुलानै॥
प्रलय काल महँ ये अतिदीना। होहिं बहुरि अदृस्य बिलीना॥

अदृश्य से ही प्रकट हुए हैं- ऐसा मानो। ये अनजाने में ही भगवत्प्राप्ति के दुर्गम मार्ग से भटक गये हैं, अतः ये भी प्रलयकाल के समय अति दीन होकर पुनः अदृश्य ब्रह्म में ही विलीन हो जायेंगे।

यासें बहुरि बहुरि संसारो। कहहु तात कस अहइ हमारो॥
मूढ़उ बुझत सपन जग माया। तातैं तासों रहत अदाया॥

इसलिए 'यह संसार हमारा है'- ऐसा तुम बार-बार कैसे कहते हो? मूर्ख भी स्वप्न जगत को माया ही समझता है, तभी तो उसको उसके प्रति दयाहीनता रहती है।

सो जानत अदृस्य सों प्रगटत। पुनि तेहि माँहिं जाइ बहु भटकत॥
यदि स्वजनन्हिं सपने कर जानैं। अल्पहु नाहिं तिन्हहिं सनमानैं॥

वह जानता है कि स्वप्न जगत अदृश्य से प्रकट होकर पुनः उसी में जाकर भलीप्रकार भटकता रहता है। उसी प्रकार स्वजनों को स्वप्न का ही जान लें तो थोड़ा भी उनका सम्मान नहीं कर सकेंगे।

तिन्ह सँग रन अवसर यदि आवै। मारउँ मरउँ योग बनि जावै॥

यदि कभी उन सभी से संग्राम का अवसर आ जाय जिसमें मरने-मारने का प्रसंग खड़ा हो जाय तो-

दोहा— चुकत नाहिं सो मार तिन्ह माया महती जानि।
सुद्ध सच्चिदानंदघन निज स्वरूप पहिचानि॥ १३८॥

वह उन्हें बहुत बड़ी माया और अपने स्वरूप को शुद्ध सच्चिदानन्दघन समझकर मारने से चूकता नहीं है।

चौपाई— माधव समुझि गयों यह बाता। अब नहिं तस मम मन बिकलाता॥
अपर प्रस्न पुनि कहहु बुझाई। जासें उर संसय सब जाई॥

[भक्त अर्जुन ने कहा-] हे माधव! अब मैं इस बात को समझ गया, अतः अब मेरा मन पहले जैसा विकल नहीं हो रहा है। अब आप मेरे दूसरे प्रश्न को समझाकर कहें जिससे मेरे मन का समस्त संशय दूर हो जाय।

एकइ देही सब तन स्वामी। बसत काहि बिधि अंतर्यामी॥
अबलौं सच मैं अस नहिं जान्यों। पृथक पृथक देही अनुमान्यों॥

हे स्वामी! हे अन्तर्यामी! एक ही आत्मा सबके शरीर में कैसे वास कर सकता है? अब तक मैं सच में ऐसा नहीं जानता था अपितु अनुमान ज्ञान से ऐसा समझता रहा कि जीवात्मा सबके शरीरों में पृथक-पृथक ही है।

क्योंकै सब महँ मैं अरु मोरा। प्रगट होत नित तैं अरु तोरा॥
सुनहु धनंजय सहज सुजाना। देउँ तुम्हहिं अब सो बर ज्ञाना॥

क्योंकि सभी के भीतर से अहर्निश 'मैं-मेरा, तू-तेरा' प्रकट हो रहा है। [महात्मा अर्जुन के ऐसा कहने पर भगवान ने कहा-] हे धनञ्जय! सुनो, तुम्हारी बुद्धिमत्ता स्वाभाविक है। अब मैं तुम्हें उसी श्रेष्ठ ज्ञान का बोध करा रहा हूँ।

तुम्हहि कहहु जो सपुनहिं देखहु। तहँ नाना योनी तन पेखहु॥
का ते एक पुरुष के अहहीं। कीधौं बहुत जीव के कहहीं॥

हे प्रिय! तुम्हीं बताओ कि जब स्वप्न देखते हो तो वहाँ नाना प्रकार के योनियों के शरीर भी होते हैं, क्या वे एक ही पुरुष के शरीर होते हैं या बहुत-से जीवों के?

माधव तहँ तौ नर बस एका। भ्रमबस भासहिं रूप अनेका॥
कह प्रभु तात एक जब द्रष्टा। दर्सन दृष्य बन्यो अरु स्त्रष्टा॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा-] हे माधव! वहाँ [स्वप्न जगत में] तो बस एक ही पुरुष है, जो एकमात्र भ्रम के कारण अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। [भगवान ने कहा-] हे तात! जब एक ही द्रष्टा दर्शन, दृश्य और स्त्रष्टा भी बना हुआ है-

दोहा— याहि नीति पुनि आतमा जगत बन्यो पर एक।
स्वप्न जगत इव गहि लियो माया रूप अनेक॥ १३९॥

फिर तो इसी न्याय से आत्मा ही जगत बना हुआ है, इसलिए वह एक ही है। उसने स्वप्न जगत की भाँति अपनी ही माया से अनेक रूप धारण कर लिया है।

चौपाई— इमि बिभु एक बसत सब देहा। पुनि काहे अस असुभ सनेहा॥
तात सुनहु इक नृप एकबारा। दान देन हित भवन सँवारा॥

इस प्रकार समस्त शरीरों में एक ही आत्मा वास कर रहा है, फिर यह अशुभ मोह क्यों? हे तात! [इस दृष्टान्त को] सुनो- एक बार एक राजा ने दान देने के लिए एक भवन बनवाया।

ताहि भवन बहु चोर दुरायें। नृप चह पकरन हाथ न आयें॥
निकरन हित नृप तिन्हहिं मनायो। नहिं माने तब आग लगायो॥

संयोगवश उस भवन के बहुत-से कक्षों में चोर प्रवेश कर गये, जिन्हें राजा ने पकड़ना चाहा किन्तु पकड़ में नहीं आये। राजा ने उन्हें महल से निकल जाने के लिए बहुत समझाया-बुझाया तो भी उनलोगों ने नहीं माना तो महल में आग लगवा दी।

भवन समेत भस्म भये सारे। नृप संताप गयो बहु भारे॥
अब कहु कौन ताहि गृह स्वामी। गुडाकेस कह तुम्हहिं नमामी॥

जिससे वे सभी महल समेत राख हो गये। इस प्रकार राजा का बहुत भारी सन्ताप दूर हो गया। अब तुम्हीं बताओ कि उन कक्षों का स्वामी कौन था? [ऐसा सुनते ही समझते देर न लगी] अतः महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

सब कक्षन्हि स्वामी सोइ राजा। चोर करत जेहिं काज अकाजा॥
अब कछु समुझि परी तुव बानी। पर बिनवउँ अस अवसर जानी॥

[यह तो सत्य ही है कि] भवन के सभी कक्षों का स्वामी वही राजा था, जिसके कार्य में चोर बाधा बने हुए थे। [हे प्रभो!] मैं अब आपकी बात कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु ऐसे अवसर को देखते हुए मैं एक प्रार्थना कर रहा हूँ कि-

सबके तन गृह आग लगावउ। पर दुइ गुरुवन्ह आज बचावउ॥
करहु दया अब दीनदयाला। मोरे तुम्हहि एक प्रतिपाला॥

भले ही आप [इस रणभूमि में आए हुए] सभी के शरीररूपी घरों में आग लगा दें किन्तु इन दोनों गुरुजनों [आचार्य द्रोण एवं पितामह भीष्म] की आज रक्षा करें। हे दयानिधान! अब आप दया करें, मेरे तो एकमात्र आप ही रक्षक हैं।

दोहा— इन्हकर नहिं अपराध कछु जिन्ह पर प्रभु तव रोस।
बरु बिपक्षि बनि आइगै पर मोहिं इन्हहिं भरोस॥ १४०॥

हे जगत्पते! इन दोनों ही गुरुजनों का कुछ भी अपराध नहीं है जिन पर आप इतने कुपित हो गये हैं। भले ही ये हमारे विपक्ष में खड़े हैं किन्तु मुझे इन दोनों पर अत्यन्त विश्वास है।

चौपाई— लखि बर सील धनंजय तोरी। सीस नवाउँ कहति मति मोरी॥
पर इनि दोउन्ह की जड़ताई। सेष सारदा सकहिं न गाई॥

भगवान ने कहा- हे धनञ्जय! तुम्हारी महती शीलता को देखकर मेरी बुद्धि यह कह रही है कि मैं तुझे प्रणाम करूँ; परन्तु इन दोनों की जड़ता का वर्णन शेषनाग तथा सरस्वती भी अपने मुख से नहीं कर सकते।

सर्ब समर्थ सुनहु दोउ भाई। चीर हरण देखे मन लाई॥
तू करु छमा न मैं बिसराऊँ। एहि रन इन्हि तन आग लगाऊँ॥

हे प्रिय! ये दोनों सर्व सामर्थ्यवान होते हुए भी धैर्य के साथ [कल्याणी द्रौपदी का] चीरहरण देखते रहे। तुम भले ही क्षमा कर दो किन्तु मैं उसे भूल नहीं सकता, अत: इस युद्धभूमि में मैं इन लोगों के शरीरों में भी आग लगाकर ही मानूँगा।

भीष्म द्रोन सुनि प्रभु की बानी। मन महँ कहहिं सत्य सब मानी॥
परसुराम सुनि नभ गम्भीरत। सच कह प्रभु इत उत सिर फीरत॥

पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य ने भी भगवान के इन वचनों को सुनकर मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि प्रभु की बात तो सर्वथा सत्य ही है। ऐसा सुनकर [आकाशमण्डल में ऋषि-मुनियों के साथ युद्ध देखने आये हुए] भगवान परशुराम अति गम्भीर हो गये और भगवान यदुनाथ सच ही कह रहे हैं, ऐसा कहते हुए सिर घुमा-घुमाकर इधर-उधर [ऋषि-मुनियों की ओर] देखने लगे [कि ये लोग क्या कहते हैं]।

ब्यास मुनिहु बंदहिं प्रभु चरना। पर गम्भीर जाइ नहिं बरना॥
अश्रु ढरत दोउ संजय नयना। रुँध्यो कंठ मुख आव न बयना॥

दूसरी ओर महर्षि व्यास भगवान के चरणों की वन्दना तो कर रहे हैं परन्तु इतने गम्भीर हो गये हैं कि वर्णन करते नहीं बनता। उधर सञ्जय के दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है, गला रूँध गया है तथा मुख से वाणी नहीं निकल रही है।

दोहा— कह नृप संजय का भयो कोउ उतपात लखाउ।
यदि दीखै तौ अवसि तू हमहीं कछुक बताउ॥ १४१॥

तब धृतराष्ट्र ने पूछा- सञ्जय क्या हुआ? कोई उत्पात का संकेत दिखाई दे रहा है क्या? यदि हाँ तो अवश्य मुझे भी कुछ बताओ।

मासपारायण, छठा विश्राम

चौपाई— जस भयो संजय दये सुनाई। सुनि उनसों कह नृप भन्नाई॥
मानसि तैं बरु इन्हि भगवाना। पर मैं मानउँ जीव समाना॥

[उनके पूछने पर] जो कुछ भी हुआ था उसे सञ्जय ने कह सुनाया तब उनसे ऐसा सुनकर राजा ने झल्लाकर कहा- [सञ्जय!] तुम भले ही इनको भगवान मानते हो किन्तु मैं इन्हें जीव की तरह ही मानता हूँ।

बैर प्रेम जिव धर्म कहाहीं। इन्हके उर ये दोउ लखाहीं॥
इनि बातनि सों लग अनुमाना। भीष्म द्रोन सों बैर पुराना॥

क्योंकि वैर और प्रेम जीव के धर्म कहे जाते हैं जबकि इनके हृदय में ये दोनों दिखाई पड़ रहे हैं। इन बातों से स्पष्ट लग रहा है कि पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण से इनका कोई पुराना वैर है।

जेहि ये मानहिं ते नहिं जानैं। बहु बर्षहिं गये होयँ भुलानैं॥
नहिं राजन नहिं बैर पुरानो। यह अबकर जानौ पहिचानो॥

जिसे ये अब तक मान रहे हैं। किन्तु वे [दोनों] इसे नहीं जानते, बहुत वर्ष व्यतीत हो जाने से ये भूल गये होंगे। तब सञ्जय ने कहा- नहीं राजन्! यह पुराना वैर नहीं अपितु अभी का है और जाना-पहचाना भी है।

द्रौपदि चीर सुरति भइ इनहीं। बस दोउन्ह मृत्यू दिन गिनहीं॥
अस सुनि नृपति भये गम्भीरा। तिन्ह मन महुँ आयो सोइ चीरा॥

इन्हें आपकी पुत्रवधू द्रौपदी का चीर-हरण स्मरण हो आया है, इसलिए ये (माधव) दोनों के मृत्यु की बाट देख रहे हैं। ऐसा सुनकर राजा (धृतराष्ट्र) अति गम्भीर हो गये, उनके मन में भी चीर-हरण की बात स्मरण हो आई।

उत अर्जुन कछु बोल न सकहीं। अस सुनि मन महँ बहुत कसकहीं॥
उन्हकी दसा बिलोकि कृपाला। मधुर बचन कह दीनदयाला॥

उधर महात्मा अर्जुन भी कुछ बोल नहीं पा रहे हैं बल्कि ऐसा सुनकर मन में बहुत घायल हुए। उनकी ऐसी स्थिति को देखकर दीनों पर दया करने वाले कृपालु भगवान ने मधुर वचनों में कहा-

तुम्हरे मन भये प्रस्न अनेका। जे प्रतिपल छिन हरहिं बिबेका॥

हे वीर! तुम्हारे मन में बहुत-से प्रश्न उठ खड़े हुए हैं जो क्षणभर में ही विवेक का अपहरण कर लेते हैं।

दोहा— तातें गाथा सुनहु इक बहु ऋषि मुनि जेहि गाव।
संसय सकल निबारई जो मोकहुँ अति भाव॥ १४२॥

इसलिए एक कथा सुनो, जिसे बहुत-से ऋषि-मुनियों ने भी कहा है; वह तुम्हारे सम्पूर्ण संशय को दूर कर देगी जो मुझे भी अति प्रिय है।

चौपाई— पद्म नाम एक नृपति सुजाना। धर्म परायण जिन्ह जग जाना॥
गो द्विज दीनन्हिं अति हितकारी। सरनागत संतन्हि सुखकारी॥

[प्राचीनकाल में] एक पद्म नाम के बुद्धिमान् राजा हो चुके हैं, जिनकी धर्म-परायणता को समस्त जगत जानता है। वे गौ, ब्राह्मण, दीन-दु:खियों के हित में रत रहने वाले तथा शरणागतों एवं सन्तों को सुख प्रदान करने वाले थे।

जिन्हकी प्रिया नाम सुनु लीला। जप तप ब्रत रत अति नय सीला॥
पति अनुगमन करति जिमि छाया। ते सब भाँतिहि ताहि सहाया॥

हे जितेन्द्रिय! उनकी धर्मपत्नी का नाम लीला था, जो जप, तप, व्रतपरायण, अति विनम्र, शीलवती और छाया की भाँति पति का अनुगमन करने वाली थी। राजा भी हर प्रकार से उसकी सुरक्षा में तत्पर थे।

पति उदार सों अति अनुरागी। कबहुँ बिचार करन उर लागी॥
अजर अमर कस होवहिं भर्ता। जो सब भाँतिहिं पालन कर्ता॥

उसे अपने उदार पति से अति प्रेम था, वह किसी समय हृदय में विचार करने लगी कि मेरे पति जो सब प्रकार से मेरा पालन-पोषण कर रहे हैं, वे अजर-अमर कैसे होंगे।

प्रानहु प्रिय इन्हके सम नाहीं। सहि न जाय दुख जब मरि जाहीं॥
अस बिचारि सुचि संत बुलाई। अति सम्मान देइ हरषाई॥

ये मुझे प्राणों से भी विशेष प्रिय हैं, अत: इनकी मृत्यु के उपरान्त होने वाला वियोग मुझसे सहा नहीं जायेगा, ऐसा विचारकर वह पवित्र हृदय वाले सन्तों को बुलाकर अत्यन्त आदर-सम्मान देकर प्रसन्न हुई।

करि बहु बिनय प्रस्न तेहिं कीना। संत सुजन सुभ सास्त्र प्रबीना॥
अजर अमर मम पति किमि होवें। मृत्यु सेज पर कबहुँ न सोवें॥

उसने सज्जन एवं शुभ शास्त्रों में प्रवीण सन्तों का सम्मान करके प्रश्न किया- हे प्रभो! मेरे पति अजर-अमर कैसे हो सकते हैं, जिससे वे मृत्युशैय्या पर कभी न सोवें?

साधन कहहु करउँ मैं सोई। यहि इक इच्छा अपर न कोई॥

हे ऋषिवरो! आप सब वैसा ही साधन बतावें जिसे मैं करूँ, मेरी एकमात्र यही अभिलाषा है अन्य कुछ भी नहीं।

दोहा— संत कहें सुनु देबि सच जप तप करु बरु झारि।
अमर न निज पति करि सकति बरु बहु सिद्धिहिं धारि॥ १४३ (क)॥

सन्तों ने कहा- हे देवि! यह सत्य है कि चाहे तुम जितना भी घोर जप-तप कर लो, उनसे बहुत-सी सिद्धियाँ भले ही प्राप्त कर लो परन्तु उन सिद्धियों से तुम उनको अमर नहीं बना सकती हो।

जो जनमत संसार महँ कै लेवे अवतार।
सो चाहे जब जायगो काह करे करतार॥ १४३ (ख)॥

जो संसार में जन्म लेता है या अवतार लेता है, वह एक न एक दिन जायेगा ही जायेगा, इसमें ब्रह्मा भी क्या कर सकते है!

चौपाई— सुनि संतन्ह की सत्य सुबानी। लीला सहमि अतिहिं अकुलानी॥
मन ही मन पन ठान्यो सोई। पति सम्मुख मरुँ जेहि बिधि होई॥

उन सन्तों की सत्य एवं मधुर वाणी सुन लीला सहमकर भय से अति व्याकुल हो उठी। उसने मन ही मन ऐसी प्रतिज्ञा की कि जैसे भी हो मैं पति के रहते ही देह-त्याग करूँगी।

प्रान तजें यदि मोरे आगे। अस करुँ जतन जीव नहिं भागे॥
बास करै सुर सम गृह माहीं। नित तिन्ह पद सेवउँ मैं जाहीं॥

कदाचित् वे मेरे सामने ही देह-त्याग कर देते हैं तो ऐसा प्रयत्न करूँगी कि उनकी जीवात्मा यहाँ से न जाने पाये, इस घर में ही वास करे जैसे देवतागण [सूक्ष्म शरीर से वास करते हैं]; जिससे मैं नित्य ही उनकी चरणसेवा कर सकूँ।

अबसों ध्यावउँ बीणापाणिनि। बरदायिनि जे जग उद्धारिनि॥
तबलौं नाम जपउँ धरि ध्याना। जबलौं मातु न दैं बरदाना॥

अत: अभी से मैं वीणापाणि भगवती सरस्वती की आराधना करूँगी, जो वर देनेवाली तथा संसार से उद्धार करने वाली हैं। मैं तब तक ध्यानपूर्वक उनका नाम-जप करती रहूँगी, जब तक वे माँ आकर मुझे वरदान न दे दें।

लागि करन जप पतिहुँ न जानहिं। लखि ब्यवहार नाहिं अनुमानहिं॥
देव अतिथि द्विज दीन दुखारी। पूजति नित गृह कै अनुसारी॥

[ऐसा विचार कर] वह नाम-जप में प्रवृत्त हो गयी जिसे उसके पति भी नहीं जान पाये न हि उसके व्यवहार को देखकर ऐसा अनुमान ही कर सके। वह नित्यप्रति देवता, अतिथि, ब्राह्मण एवं दीन-दु:खियों की गृहस्थाश्रम धर्म के अनुकूल सेवा भी करती थी।

दोहा— समय सक्ति अनुरूप नित पति अनुकूलहि सेव।
अस दिनचर्या करइ सो नहिं जानइ कोउ भेव॥ १४४॥

उसने नित्यप्रति समय तथा शक्ति के अनुरूप पति के अनुकूल सेवा करती हुई ऐसी दिनचर्या बना ली थी कि कोई भी उसका भेद न जान सका।

चौपाई— जप तप करति सास्त्र जस रीती। दिन दुन निसि चौगुन बढ़ प्रीती॥
दिवस तीन बीते कछु खावति। तन कृस होइ तऊ हरषावति॥

वह शास्त्रों में बतायी विधि के अनुसार जप-तप करती थी जिससे उसमें [माँ सरस्वती के प्रति] दिन दूना

और रात चौगुना प्रेम बढ़ने लगा। तीन दिन के उपरान्त ही वह [हल्का सात्त्विक] आहार लेती थी, शरीर दुर्बल हो रहा था फिर भी वह प्रसन्न रहती थी।

करति उग्र जप तपहिं पिरीते। इमि दस मास सहजहीं बीते॥
गगन गिरा भइ अति गम्भीरा। जनु कोउ कह भवसागर तीरा॥

वह प्रेमपूर्वक कठोर जप-तप कर रही थी, इस प्रकार उसके दस माह एकपल के समान व्यतीत हो गये। उसके उपरान्त एक दिन अति गम्भीर आकाशवाणी हुई मानो कोई संसार-सागर के तट पर आकर बोल रहा हो-

दृग उघारि निरख्यो बागीसा। छीर सिंधु प्रगटत जिमि ईसा॥
बिहँसि बचन कह बीणापाणिनि। हे तपसील कंत अनुगामिनि॥

जैसे ही उसने अपनी आँखों को खोला, अपने सामने माँ सरस्वती का प्रत्यक्ष दर्शन किया, जैसे क्षीर-सागर से भगवान विष्णु प्रकट होते हैं। उन भगवती माँ वीणापाणि ने मधुर वाणी से कहा- हे पति का अनुगमन करने वाली तपस्विनि!

माँगु माँगु बर जे मन भावे। देउँ जाहि सच महँ तू पावे॥
मातु बंदना करि सिरु नाई। लीला बहु बिधि छंदन्हि गाई॥

माँगो! माँगो! जो मन को प्रिय लगे वही वरदान माँग लो। मैं निश्चित ही तुम्हें दूँगी जिसे तुम प्राप्त कर लोगी। तब लीला ने नाना प्रकार के छन्दों को गाते हुए माँ सरस्वती के सम्मुख नतमस्तक होकर वन्दना की।

छंद— जय जन्म जरा ज्वाला जारनि। ससि कांति सरिस मृदु तन धारनि॥
जय महामोह त्रय ताप हरनि। बिभुबिद्या दै निष्पाप करनि॥

जय हो! हे जन्म-मृत्यु एवं वृद्धावस्था रूपी ज्वाला को शांत करने वाली! चन्द्रकान्ति के समान दिव्य शरीर धारण करने वाली! आपकी जय हो। हे ब्रह्मविद्या देकर त्रिविध ताप और महामोह तथा समस्त पापों का हरण करने वाली देवि! आपकी जय हो।

जय हंसबाहिनी प्रभुबादिनि। नित कृपा करहु उर अह्लादिनि॥
जय उर तम हारनि सूर्य प्रभा। जय आत्म प्रकासिनि देवसभा॥

हे हंसवाहिनी! हे ब्रह्मतत्त्व का गायन करने वाली! हे सदा सब पर कृपा कर हृदय को अति आनन्दित करने वाली देवि! आपकी जय हो। हे हृदय के अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली ज्ञानरूपी सूर्य की प्रभारूपी देवि! हे देवताओं की सभा में भी आत्मज्ञान का प्रकाश करने वाली देवि! आपकी जय हो।

जय श्रद्धा मेधा रूप बरं। अज्ञहु उर प्रज्ञा श्रेष्ठ करं॥
नहिं आदि अंत मध्यहु तोरी। उद्धार करहु माता मोरी॥

हे श्रद्धारूप, हे मेधारूप! हे श्रेष्ठ स्वरूप धारण करने वाली! हे मूर्खों के हृदय में भी श्रेष्ठ प्रज्ञा प्रकाशित करने वाली देवि! आपकी जय हो। आपका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, अतः हे माँ! मेरा उद्धार करें।

तू बागीसा गौरी काली। सुर संत भक्त नित प्रतिपाली॥
हे अध्यात्मिक अधिभूत रूप। अम्बे अधिदैव अरूप रूप॥

आप ही वाणी की अधिष्ठात्री, पार्वती एवं काली हैं तथा देवता, सन्त एवं भक्तों का नित्य ही पालन करने वाली हैं। हे माँ! आप ही अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैव स्वरूप हैं और आप ही निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार हैं।

जय परा रूप पस्यंती माँ। तव सबरें सक्ति नमंती माँ॥
मध्यम अरु बैखरि रूप धरे। नित भक्तन्हि हृदय पुकार करे॥

हे परा एवं पश्यन्ती रूप माता! आपकी जय हो। समस्त शक्तियाँ आपको नमस्कार करती हैं। आप ही मध्यमा और बैखरी रूप धारण कर सदा अपने भक्तों के हृदय से पुकार करती हैं।

माँगउँ तुम्हसे दुइ बरदाना। हे मातु दातिरी दै दाना॥

हे वरदायिनी माँ! मैं आपसे दो वर माँगती हूँ जिसे आप देने की कृपा करें।

दोहा— प्रथम कंत तन जब तजें उन्हकर निर्मल जीव।
याहि भवन सों जाय नहिं नित दरसउँ निज पीव॥ १४५ (क)॥

पहला वरदान यह दें कि मेरे पति जब शरीर त्यागें तब उनकी निर्मल जीवात्मा इस घर से बाहर न जाय जिससे मैं अपने पति का सदा दर्शन करती रहूँ।

अपर देहु बरदान माँ जब जब चिंतउँ तोहिं।
तब तब तुम्ह बरदान हित दरसन दै प्रिय मोहिं॥ १४५ (ख)॥

हे माँ! दूसरा वरदान यह दें कि जब-जब मैं आपका स्मरण करूँ, तब-तब आप वरदान देने के लिए मुझे प्रसन्नतापूर्वक दर्शन दें।

चौपाई— अस होवे कहि अंतर्ध्याना। भइ जिमि लहरइ लहर समाना॥
भई मुदित अस सो नृप घरिनी। सुन्यो गीत बर जिमि कोउ हरिनी॥

एवमस्तु- कहकर माँ सरस्वती वैसे ही अन्तर्ध्यान हो गयीं जैसे एक लहर दूसरी लहर में समा जाती है। इस प्रकार राजरानी लीला भी वैसे ही प्रसन्न हो गयी जैसे किसी हिरणी ने मधुर गीत सुन लिया हो।

बरष बिते कछु युद्ध मझारी। नृप पदमहिं बैरी तिन्ह मारी॥
मृत पति देखि प्रिया अकुलानी। जिमि मीनइ सर सूखत पानी॥

कुछ वर्ष बीतने के उपरान्त राजा पद्म को उनके वैरी ने युद्ध के मैदान में मार डाला। अपने पति के शव को देखकर लीला ऐसे व्याकुल हो गई जैसे तालाब का जल सूख जाने पर मछली।

छन महँ करि चिग्घारहिं रोवे। लखि छन नभहिं बियोगिनि होवे॥
चक्रवाक ज्यों जब मरि जावे। चकविहिं ता छन मरन सुहावे॥

वह क्षण में तो [हथिनी की भाँति] चिग्घाड़ मारकर रोने लगती थी और क्षणभर में किसी वियोगिनी की तरह अन्तरिक्ष में देखने लगती थी। जैसे जब चकवा मर जाता है तो चकवी को उस समय मृत्यु ही सूझती है-

तस मानिनि लीला दुख सानी। मरन भलो अस निज उर ठानी॥
गगन गिरा तब सुनि हरषानी। तड़पत मीन पाइ जिमि पानी॥

वैसे ही वहाँ दु:ख में डूबी हुई लीला ने 'अब तो मरना ही श्रेयस्कर है'- ऐसा हृदय में निश्चय कर लिया। उसी समय मधुर आकाशवाणी हुई जिसे सुनकर वह वैसे ही प्रसन्न हुई जैसे तड़पती हुई मछली को जल प्राप्त हो गया हो।

पुत्रि पतिहिं सव पुष्पन्हि ढेरी। ढकु पुनि पाव पतिहिं कछु देरी॥
बीणापाणिनि की सुनि बानी। लीला तैसेइँ कीन्हि सयानी॥

हे पुत्रि! पति के शव को पुष्पों के ढेर से ढँक दो, ऐसा करने से तुम कुछ ही समय में अपने पति को पुन: प्राप्त कर लोगी। वीणापाणि माँ सरस्वती की वाणी सुनकर बुद्धिमती लीला ने वैसा ही किया।

सव दिसि इमि बैठी मुहँ फेरी। जिमि धन रासि दरिद्रा हेरी॥

वह शव की ओर मुहँ करके इस प्रकार बैठ गयी जैसे कोई दरिद्रा धन की ढेरी की तरफ देखती रहती है।

दोहा— अर्धरात्रि महँ ध्यावई लीला बीणापानि।
प्रगटीं तबहिं कृपालिनी सोकातुर तेहिं जानि॥ १४६॥

अर्धरात्रि में साध्वी लीला ने वीणापाणि माँ सरस्वती का स्मरण किया तब उसे अति शोकातुर देखकर कृपालिनी माँ सरस्वती प्रकट हो गयीं।

चौपाई— कह देबी अस क्यों सोकातुर। अहइ इहाँ तू कस अति आतुर॥
मुधा जगत मृगतृष्णा जल सम। भ्रम यह सब तिन्हकर तेरो मम॥

भगवती सरस्वती ने कहा- तुम ऐसी शोकातुर क्यों हो गयी हो? यहाँ तुझमें आर्तता कैसे आ गयी है? अरे! मृगमरीचिका के जल के समान यह सारा जगत मिथ्या है, यह तेरा-मेरा, उनका आदि सब भ्रमरूप ही है।

कह लीला कहँ पती सुजाना। तिन्ह बिनु माँ नहिं जिवन जिवाना॥
पुत्री नभ त्रै चित्ताकासा। चिदाकास अरु भूताकासा॥

लीला ने कहा- हे माँ! आप तो ये बताएँ कि मेरे बुद्धिमान पति कहाँ हैं, क्योंकि उनके बिना मेरा जीवन जीना दूभर हो गया है। तब देवी ने कहा- हे पुत्रि! चित्ताकाश, चिदाकाश और भूताकाश- ये तीन आकाश हैं।

चिदाकास जो संधि कहावे। तेहि महँ तव पति जीव बसावे॥
नाम मनोमय अपर कहावे। जहँ सूक्षम तन बिनु नहिं जावे॥

चिदाकाश जो कि [चित्ताकाश और भूताकाश का] संधिस्थल कहा जाता है, जहाँ सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं जाया जा सकता; वहीं तुम्हारे पति का जीवात्मा वास कर रहा है जिसका दूसरा नाम मनोमय शरीर (सूक्ष्मशरीर) है।

यदि अबिकल्प समाधी आवे। तब कोउ तिहिं नभ सहजहिं पावे॥
पुनि बर ज्ञान अबिद्या नासे। तबहिं सोइ पद ज्ञानिन्ह भासे॥

हे पुत्रि! कदाचित् निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो जाय तब कोई भी सहज ही उस चिदाकाश को प्राप्त कर सकता है। उसके उपरान्त तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्या का नाश हो जाता है, तभी वह निर्मल ब्रह्मपद ज्ञानियों के लिए सुलभ हो जाता है।

दोहा— पर तू लीला ध्यान महँ बैठि समाधि लगाउ।
बर प्रताप मम सीघ्रही तहँ निज भर्ता पाउ॥ १४७॥

परन्तु हे पुत्री लीला! तुम अभी ध्यान में बैठो। मेरे वर के प्रताप से तुम शीघ्र ही निर्विकल्प समाधि के द्वारा वहाँ अपने पति को प्राप्त कर लोगी।

चौपाई— अस कहि देबि गई निज लोका। तबहिं त्यागि लीला सब सोका॥
आसन गहि चिंत्यो निज रूपा। तबहिं जगत सब मन सों छूपा॥

ऐसा कहकर माँ सरस्वती अपने धाम को चली गयीं, तब साध्वी लीला ने समस्त शोक-सन्ताप छोड़ आसन जमाकर अपने स्वरूप का चिन्तन किया। उसी समय सम्पूर्ण जगत उसके मानस पटल से ओझल हो गया।

सून्य भयो तन सूक्षम प्रगट्यो। तेहि सों याहि तनहिं सो झट्क्यो॥
एहि तन पिंजरो सम सो त्यागी। गगन माँहि पक्षी इव भागी॥

उसके उपरान्त शरीर सुन्न हो जाने से सूक्ष्म शरीर प्रकट हो गया। वह उसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा इस [स्थूल] शरीर को पिंजरे के समान त्यागकर पक्षी की भाँति आकाश में उड़ चली।

एहि बिधि चिदाकास महँ अवनी। जहँ नृप नगर हुतो तहँ गवनी॥
राजभवन महँ जाइ निहारी। सोइ सब इहँ अस कौतुक भारी॥

इस प्रकार वह चिदाकाश के उस भूमि पर पहुँची जहाँ राजा पद्म का नगर था। राजभवन में जाकर उसने यहाँ के ही समान वही सब कुछ देखा [जो वह पूर्व के लोक में छोड़कर आयी थी], जो अत्यन्त आश्चर्यजनक था।

राजसभा जब लखी सुनयनी। अति अचरज कह मन मृदु बयनी॥
सोइ नृप पदम त्यागि तन बृद्धा। षोडष बरष भये जनु सिद्धा॥

जब सूक्ष्म दृष्टि एवं मृदु वचनों वाली लीला ने राजसभा को देखा तो मन ही मन बोल उठी कि घोर आश्चर्य है! अरे! वे ही राजा पद्म अपना वृद्ध शरीर छोड़कर सोलह वर्ष के राजकुमार हो गए हैं, मानो कोई सिद्ध पुरुष हों।

दोहा— सोइ राजा सोइ भृत्य सब सोइ मंत्री परिवार।
इक लीला अपनोइ सम दीख राज दरबार॥ १४८॥

वे ही राजा, वे ही सेवकगण, वे ही सब मंत्री एवं वही परिवार है एवं ठीक अपने ही रूप के समान एक और लीला राज-दरबार में दीख रही है।

चौपाई— करम बासना के अनुसारी। प्रगट देह अरु सम्पति भारी॥
सिंहासन बैठे नृप जोऊ। करत उनहिं जय जय सब कोऊ॥

अरे! प्रतीत होता है कि राजा की कर्म-वासना के अनुसार ही शरीर और विपुल सम्पत्ति प्रकट हुई है। सिंहासन पर जो राजाधिराज महाराज बैठे हुए हैं उनकी सभी लोग जय-जयकार कर रहे हैं-

चिरजीवी होवहु भूपाला। स्वस्ति बचन अस सुनहिं नृपाला॥
राज करत परजा सनमानी। बिरद बखानहिं सोइ भट ज्ञानी॥

'महाराज चिरंजीवी हों'- प्रजा का पालन करने वाले राजा ऐसे कल्याणकारी वचनों को सुन रहे हैं तथा राजा भी प्रजा का सम्मान करते हुए राज कर रहे हैं। वहाँ वे ही भट्ट एवं बुद्धिमान पण्डितजन उनकी विरुदावली गा रहे हैं।

ग्राम नगर सोइ कूप तड़ागा। सोइ सरिता बन पर्बत भागा॥
सब सोइ सोइ कछु अपर निहारे। सोइ गज बाजि पसू रथ सारे॥

वे ही गाँव-नगर, कुएँ-तालाब, वे ही नदियाँ-वन एवं पर्वतों के भाग तथा सबकुछ वैसा ही है, वे ही हाथी-घोड़े, पशुधन और रथ आदि [यहाँ भी] हैं, साथ ही साथ कुछ भिन्नता भी दिखायी पड़ रही है।

यहु लीला ध्यावति बागीसा। सोइ कुल देबी सोइ सब ईसा॥
भ्रमति सिद्ध जोगी सम सोई। जनु यम खोज ताहि सों कोई॥

अरे! यह लीला भी भगवती सरस्वती की ही उपासना कर रही है तथा वे ही कुलदेवियाँ और समस्त कुलदेवता भी हैं। इस प्रकार हे पार्थ! वह सिद्ध योगी की भाँति जहाँ-तहाँ भ्रमण कर रही थी मानो यमराज उसके शरीर द्वारा किसी की खोज कर रहे हैं।

दोहा— लखे न कोऊ सूक्ष्म तन भ्रमण करति सर्बत्र।
ज्यौं संकल्पित कामिनिहिं नर लख अत्र न तत्र॥ १४९॥

इस प्रकार वह सर्वत्र भ्रमण करती जा रही थी। सूक्ष्म शरीर में होने से उसे कोई देख नहीं पा रहा था जैसे संकल्पित कामिनी को पुरुष यहाँ वहाँ कहीं भी देख नहीं पाता।

चौपाई— सोइ सब देखत चिंता आँसी। मरे सबहिं का नगर निवासी॥
सोचति अस भइ भंग समाधी। पर दीख्यो नहिं तस कोउ ब्याधी॥

वही सब (अपने ही नगर तथा नगर के लोगों को) देखकर उसके मन में यह चिन्ता हो गयी कि क्या मेरे नगर के सारे लोग मृत्यु को प्राप्त हो गये? ऐसा सोचते ही उसकी समाधि टूट गयी परन्तु उसे ऐसा कोई भी परिस्थिति दिखाई नहीं दी।

राजभवन अरु नगर निवासी। सोये हुते आइ तेहि हाँसी॥
बैठि पतिहिं सव बहुरि निहारी। यह का कौतुक हृदय बिचारी॥

राजभवन और नगर के सभी लोग सुखपूर्वक सोये हुए थे, ऐसा देखकर उसे हँसी आ गयी। उसने बैठ कर पति के शव को पुनः पुनः देखा और हृदय में सोचा कि 'यह कैसा आश्चर्य है!

जो जस इहाँ उहाँ तस सारे। बिधिना कस माया बिस्तारे॥
जस दर्पन महँ दीखत सगरे। यहि जल थल नभ इहँ सम बगरे॥

जो जैसा यहाँ है, वही सबकुछ वहाँ (उस लोक में) भी है। विधाता ने यह कैसी माया फैलायी है! जैसे दर्पण में बाहर के ही जल, थल और आकाश ज्यों के त्यों फैले हुए दीखते हैं-

तस चित दर्पन महँ जग सारो। अहइ ब्याप्त यह अचरज भारो॥
अहइ सत्य को इन्ह दोउ माहीं। यह कै दीख समाधी पाहीं॥

वैसे ही चित्तरूपी दर्पण में यह जगत ज्यों का त्यों व्याप्त है; यह महान आश्चर्य है! इन दोनों ही लोकों में सत्य कौन-सा है, यह जगत या जो मैंने समाधि में देखा है वह!'

दोहा— अस बिचारि सो जोगिनी बीणापानिहिं धाइ।
प्रगट भई बागीस्वरी सो पूछ्यो सिर नाइ॥ १५०॥

ऐसा सोचकर उस योगिनी लीला ने माता सरस्वती का स्मरण किया। जब भगवती प्रकट हो गयीं तब उसने नतमस्तक होकर पूछा।

चौपाई— सुनि अर्जुन मन भयो अचम्भा। गयो कछुक पल सोकहु दम्भा॥
कहहिं होय का सबके साथा। हरि सों सुनि सच धूनहिं माथा॥

उधर ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन मन ही मन आश्चर्यचकित हो गये और कुछ समय के लिए उनका शोक एवं दम्भ चला गया। उन्होंने पूछा कि हे प्रभो! क्या यही सबके साथ होता है? भगवान ने जब कहा कि 'हाँ, यह सच ही है' तो ऐसा सुनकर वे पश्चात्ताप करने लगे।

कह महराज चहैं जे देखी। ध्यान करैं कछु काल बिसेषी॥
चौथे पहर भोर महँ जागैं। जब सबरें जन नीदहिं रागैं॥

महाराज कह रहा है कि जो इस रहस्य को देखना चाहते हैं वे कुछ वर्षों तक विशेष ध्यानयोग अपनावें। रात्रि के चौथे प्रहर अर्थात ब्रह्ममुहूर्त (लगभग तीन बजे रात्रि) में उठकर, जब सभी लोग सोये हुए हों-

निर्बिज ध्यान धरहु कछु काला। तब लखाय यह सब जग जाला॥
आतमचिंतन कै जप करिकै। पुनि कछु ध्यानउ भृकुटी धरिकै॥

उस समय बैठकर कुछ काल तक निर्बीज (बिना नाम एवं रूप की कल्पना किये एकमात्र अपने को द्रष्टा रूप समझकर) ध्यान करें, तब यह सम्पूर्ण जगत जाल दीखने लगेगा। सर्वप्रथम आत्मचिन्तन अथवा जप करके पुन: कुछ समय भृकुटि में ध्यान लगावें।

उठत समय कछु करहु सवासन। थोरेहुँ समय ध्यान सोइ आसन॥
करहु डरहु नहिं जो कछु आवे। तब देखउ सब जो मन भावे॥

प्रतिदिन ध्यान से उठते समय कुछ देर के लिए शवासन में लेट जायँ और उसी शवासन में कुछ समय (पाँच-सात मिनट) के लिए [पूर्ववत्] ध्यान करें। ऐसा करते समय जो कुछ भी दिखायी-सुनायी पड़े उससे आप भयभीत न हों। उस समय मन में जो कुछ भी संकल्प किया गया रहता है वह सब दिखाई पड़ने लगता है।

दोहा— इत लीला कह मातु सों कौन सृष्टि सच आहिं।
यह जग देखउँ सुनउँ कै दीख समाधी माहिं॥ १५१॥

इधर साध्वी लीला माँ सरस्वती से पूछती है कि [हे माँ!] कौन-सी सृष्टि सच है, यह जगत जो अभी देख-सुन रही हूँ या वह जो मैंने समाधि में देखा?

चौपाई— यह बुझाय मोरे मन माहीं। जो समाधि जग कृत्रिम आहीं॥
यह जग अहइ अकृत्रिम मइया। कहहु साँच अब जाउँ बलइया॥

हे माँ! मैं अपने मन में यह समझ रही हूँ कि जो जगत समाधि में देखा गया है वह झूठा है तथा यह जगत सच्चा है। हे माँ! मैं आपकी शरण होती हूँ अब आप बतायें कि कौन सच है?

पुत्रि अकृत्रिम जग सों कबहूँ। प्रगटि न सक अस कृत्रिम जगहूँ॥
साध्वि कार्य कारण सों भिन्ना। कबहुँ न होय तु होउ न खिन्ना॥

हे पुत्रि! कभी भी अकृत्रिम जगत से ऐसा कृत्रिम जगत प्रकट नहीं हो सकता क्योंकि हे साध्वि! कभी भी कार्य से कारण भिन्न नहीं होता, अत: तुम दु:खी मत होवो।

होहिं न कारन कारज भिन्ना। जो अस लखहिं भ्रमित मति छिन्ना॥
पर अम्बे मोहिं दीख बिलक्षण। दोऊ भिन्न आव अस लक्षण॥

उसी प्रकार कभी भी कारण से कार्य भिन्न नहीं होता। जिन्हें भिन्न दिखाई पड़ता है उनकी बुद्धि छिन्न-भिन्न समझो [वे अपनी बुद्धि के भ्रमवश ऐसा देखते हैं]। [तब लीला ने कहा-] हे माता! मुझे तो इसमें विलक्षणता ही दीखती है, कार्य तथा कारण दोनों भिन्न-भिन्न हैं, मुझे तो ऐसा ही लक्षण स्पष्ट प्रतीत होता है।

मृतिका पिंड गहे नहिं आपा। तेहिं निर्मित घट बहु जल मापा॥
नहिं पुत्री सहयोगि निमित सों। कारन कारज भिन्न दिखत सों॥

जैसे मिट्टी का पिण्ड (लोंदा) जल को धारण नहीं कर सकता, परन्तु उससे बना घड़ा अपने में पर्याप्त जल धारण कर लेता है। [तब माँ सरस्वती ने कहा-] नहीं पुत्रि! ऐसा नहीं है बल्कि जल के सहयोगी कारण होने से ही कार्य और कारण की भिन्नता प्रतीत हो रही है।

मृतिका सो काँचो घट होई। जल सहयोगी कारन सोई॥
पुनि पावक सहयोगी कारन। घट पकि करत नीर बहु धारन॥

[माँ ने और स्पष्ट करते हुए समझाया] पुत्रि! जल के सहयोगी कारण बनने से मिट्टी कच्चे घड़े का रूप ले लेती है। पुनः सहयोगी कारण अग्नि द्वारा वही कच्चा घड़ा पक कर जल धारण करने में समर्थ होता है।

कारन कार्य भिन्नता जोई। सहयोगी कारन सों होई॥

[इससे स्पष्ट जान लो कि] कार्य और कारण की जो भिन्नता है वह सहयोगी कारणों से ही प्रतीत होती है [सच में है नहीं]।

दोहा— माँटी सों मिलि अनल जल कर मौलिक रुप भंग।
सास्वत पुत्री सत्य अस कारन कारज संग॥ १५२॥

मिट्टी से मिलकर अग्नि और जल [सहयोगी कारण होने से] उसके मौलिक स्वरूप को बदल देते हैं। अतः पुत्रि! यह शाश्वत सत्य है कि कारण और कार्य अभिन्न हैं [ये कभी भिन्न-भिन्न नहीं होते]।

चौपाई— यदि दीपक सों दीप जलावे। सो दीपहु जल नहिं बनि जावे॥
दीपक सों जस होवे दीपा। तस जग द्वीपहु सों भयो द्वीपा॥

[अब इसे ऐसे समझो] यदि एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाय तो वह दीपक पानी तो नहीं बन जाता [बल्कि दीपक ही रहता है]। जैसे एक दीपक की लौ से दूसरे दीपक की लौ ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जगतरूपी द्वीप से दूसरा द्वीप ही प्रकट होता है।

जिमि द्वै दीपक महँ नहिं अंतर। तिमि सम सर्ग बाह्य अभियंतर॥
कारण दोउ कर एक बासना। जो बहु जगतहिं कर उपासना॥

जैसे दो दीपकों की लौ में कोई अन्तर नहीं होता, उसीप्रकार बाह्य और अन्तर सृष्टि एक समान ही हैं; क्योंकि उन दोनों का कारण तो एकमात्र वासना है, जो बहुत प्रकार से जगत की कल्पना किये रहती है।

पंच तत्वमय कह जग जाही। इन्ह महँ को कारण तहँ आही॥
तन स्मृति कारण मम पति कर। अम्बे तेहिं जग सोइ बहु रति कर॥

[अच्छा तो हे पुत्रि!] तुम्हीं बताओ कि जिस जगत को पंचतत्त्वों से निर्मित कहा जाता है, इन (पंचतत्त्वों) में से उस जगत का (समाधि वाले जगत का) कारण कौन है? [तब साध्वी लीला ने कहा-] हे माँ! 'मैं शरीर हूँ' यह स्मृति ही मेरे पति के दूसरे जगत में जन्म लेने में कारण है और वही [स्मृति वहाँ] बहुत-से भोगों को भोग रही है।

तब बोलीं सरस्वती भवानी। समुझी साँच तु सुमुखि सयानी॥
संसकारजा ज्ञानहिं केरो। कहहिं सुरति मुनिबृंद घनेरो॥

तब भगवती सरस्वती ने कहा- हे दिव्य स्वरूप वाली बुद्धिमति लीला! तुमने ठीक ही समझा है, क्योंकि समस्त सन्तों ने संस्कार से उत्पन्न होने वाले ज्ञान (स्मरण) को ही स्मृति कहा है।

वामें बस्तु कठोर न कोऊ। तैसे नभहू सून्यहि होऊ॥
अस जो जग समाधि महँ आवे। प्रगटि सुरति सों सून्य कहावे॥

उस [स्मृति] में तो कोई ठोस पदार्थ है ही नहीं, वैसे ही आकाश भी शून्य है। इसलिए समाधि में जो सृष्टि है, वह स्मृति से प्रकट होने के कारण शून्यरूप ही कही जाती है।

तेहिं सम यह सृष्टी नभरूपा। जो भासइ अज्ञहिं बहु रूपा॥
पूरन ब्रह्म अहइ बस जानउ। एहि बिनु कबहुँ कछुक नहिं मानउ॥

उसी के समान यह [दिखाई पड़ने वाली] सृष्टि भी आकाश रूप है, जो अज्ञानियों को विविध नाम-रूपों में दिखाई पड़ रही है। इस प्रकार यह जान लो कि सब कुछ एकमात्र पूर्णब्रह्म ही है, इसके अतिरिक्त कभी भी किसी के अस्तित्व को स्वीकार न करो।

दोहा— लीला कह माँ समुझि अब पति जग जस तहँ आहि।
सुरतिरूप यहु ताहि सम जगतहु मोहिं लखाहि॥ १५३॥

[हे पार्थ!] तब लीला ने कहा- हे माँ! अब मैं समझ गई कि जिसप्रकार मेरे पति का [वह दूसरा] जगत वहाँ स्मृतिरूप है, उसी के समान यह वर्तमान जगत भी स्मृति रूप ही है, ऐसा मुझे स्पष्टतया दिखायी पड़ रहा है।

चौपाई— सुनु पुत्री जेहि कहि नहिं जाई। सो तोरे मन सहजहिं आई॥
एहि बिधि सून्य सृष्टि जो अहई। सो तहँ आतम महँ बस रहई॥

[तब माँ सरस्वती ने कहा-] हे पुत्रि! सुनो, जिसे वाणी से कहा नहीं जा सकता, वह [गूढ़ात्मक तत्त्व] तुम्हारे मन में सहज ही प्रकट हो गया है। इस प्रकार जो सृष्टि शून्य है वह भी वहाँ आत्मा के अन्तर्गत ही है।

सोइ चेतन आतम जगरूपा। होइ दिखत तव पति नर भूपा॥
तस यहु सर्ग आतमा माहीं। प्रगटत यासों आतम आहीं॥

अत: वही चेतन आत्मा [वहाँ का] जगतरूप तथा तेरे पति राजा पद्म का रूप होकर दिखाई दे रहा है। उसी प्रकार यह [प्रत्यक्ष] जगत भी आत्मा में ही प्रकट होता है, इसलिए आत्मरूप ही है।

अब कहु अम्बे एहि जगमूला। जेहि नासउँ छूटै भवसूला॥
एहि कहि जगभ्रम नासहु मइया। अब नहिं मातु पिता पति भइया॥

[उसके उपरान्त लीला ने कहा-] हे माँ वागेश्वरी! अब इस जगत के मूल को बतायें जिसका नाश कर भवसागर से पार उतर जाऊँ। हे माँ! इस रहस्य को बताकर मेरे जगतरूपी भ्रम का नाश करें, अब तो मुझे कोई माता-पिता, भाई-बान्धव तथा पति आदि दिखाई ही नहीं दे रहे हैं।

सोउ सुनु आत्मज्ञान रस भ्रमरी। एहि जग मूल पूर्ब जग क्रम री॥
चिदाकास महँ बस एक सर्गा। तहुँ भ्रम बंध मोक्ष अपबर्गा॥

[तब माँ सरस्वती ने कहा-] हे आत्मज्ञान रूपी रस को चाहने वाली भ्रमरी! उसे भी सुनो, इस जगत का मूल पूर्व सृष्टियों का क्रम ही है, चिदाकाश के अन्तर्गत एक सृष्टि है, वहाँ भी बन्धन-मोक्ष तथा कैवल्यादि का भ्रम है।

दोहा— तहँ एक गाँव हुतै जहँ बैदिक बिप्र उदार।
सेवहिं सुत तिय संग बहु संत अतिथि सुख सार॥ १५४॥

वहाँ भी एक ग्राम है, जहाँ एक उदार वैदिक ब्राह्मण अपने पुत्र एवं धर्मपत्नी के साथ वास करते थे। वे सन्तों एवं अतिथियों की बहुत ही सेवा किया करते थे जो सम्पूर्ण सुखों का आधार है।

चौपाई— दम्पति नाम बसिष्ठ अरुन्धति। पूर्ब मुनी पतिनिहिं जस जिन्ह मति॥
पर त्रेता मुनि हुते बसिष्ठा। ब्रह्मज्ञानि तिय मतिहुँ सुनिष्ठा॥

उन दम्पती का नाम वसिष्ठ और अरुन्धती था जिनकी बुद्धि पूर्व में हुए [रघुवंशियों के] गुरु वसिष्ठ और अरुन्धती के समान ही थी; परन्तु त्रेतायुग के वसिष्ठ मुनि ब्रह्मज्ञानी थे तथा उनकी धर्मपत्नी की बुद्धि भी अत्यन्त निष्ठावान थी।

जदपि धरमरत नित दोउ प्रानी। पर उन्ह सम नहिं आतमज्ञानी॥
नृपति प्रजा प्रिय सुनु एकबारा। सहित सेन बल तेज अपारा॥

यद्यपि वे दोनों नित्य धर्म-कर्म में लगे रहते थे किन्तु पूर्व में हुए वसिष्ठ मुनि के समान आत्मज्ञानी नहीं थे। पुन: सुनो! एक बार एक प्रजा-प्रिय राजा अपार तेज-बल एवं सेना के साथ-

जात रह्यो आखेट करन हित। रथ गज बाजि संग बहु हित मित॥
ताहि देखि द्विजबर मन आयो। अहो राजपद बहुत सुहायो॥

आखेट (शिकार) करने जा रहा था। उसके साथ बहुत-से रथ, घोड़े, हाथी एवं हित-मित्र आदि थे। उसे देखकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मण के मन में आया कि अहो! राजपद कितने महत्त्व का है, यह तो मन को बड़ा अच्छा लग रहा है।

अस सौभाग्य महत कब पावउँ। चक्रवर्ति नृप बनि हरषावउँ॥
इहइ प्रबल इच्छा मन आई। बिप्र स्वधर्म करत नित जाई॥

ऐसा महत् सौभाग्य कब प्राप्त होगा जब चक्रवर्ती सम्राट बनकर इसी के समान हर्षित होऊँगा। यही प्रबल इच्छा मन में बार-बार आती रही और वे ब्राह्मण नित्यप्रति अपना स्वधर्म करते रहे।

मृत्यु निकट आई तिन्ह जबहीं। तिन्हकी तिय ध्यायो मोहिं तबहीं॥
प्रगट कीन्हि माँग्यो बरदाना। जबहिं मरें मम कंत सयाना॥

जब उनकी मृत्यु निकट आ गयी तो उनकी धर्मपत्नी ने [जो मेरी ही उपासिका थी] मेरा स्मरण किया और मुझे प्रकट करके वरदान माँगा कि मेरे पति जब मृत्यु को प्राप्त हों-

तब तिन्ह जीव न अनत सिधावे। कालहु नाहिं उनहिं लै जावे॥
नित्य बसैं मम गृह नभ माहीं। उन्हके बिनु कछु चाहउँ नाहीं॥

तब उनका जीव कहीं अन्यत्र न जाय और न काल ही उन्हें ले जा सके। अपितु सदा मेरे गृह के आकाश में ही वास करें, मैं उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहती।

दोहा— अस होवे बरदान दै गइ बीत्यो कछु काल।
बिप्र प्रान सहजहिं गयो महाकाल के गाल॥ १५५ (क)॥

'ऐसा ही हो'- यह वरदान देकर मैं चली गयी। कुछ समय के उपरान्त उसके पति का प्राण सहज ही महाकाल के मुख में चला गया।

चिदाकास महँ जाइ सो भे नृप निज संकल्प।
सोइ भुआल इहँ पद्म ये एहि महँ करु न बिकल्प॥ १५५ (ख)॥

इस प्रकार चिदाकाश के किसी कोने में जाकर वे ही अपने संकल्पानुसार [एक नगर के] राजा हो गये। यहाँ वे ही ये राजा पद्म हैं, इसमें तुम कुछ भी संशय मत करो।

चौपाई— महरि सोइ तन तजि अनयासा। बर प्रताप गइ निज पति पासा॥
पुत्रि समुझु सोइ सुमुखि सयानी। तू सोइ पद्म नृपति की रानी॥

वही अरुन्धती मेरे वर के प्रताप से सहज ही शरीर छोड़कर अपने पति के पास चली गई। हे पुत्रि! ऐसा जानो कि तुम ही वह दिव्य स्वरूप वाली बुद्धिमती हो जो राजा पद्म की धर्मपत्नी बनी हुई हो।

भ्रांतिमात्र सोइ परमाकासा। गहइ रूप इहँ जीवाकासा॥
चिदाकास महँ एहि जग धार्‌यो। बिम्ब समान अपर भ्रम पार्‌यो॥

हे पुत्रि! एकमात्र भ्रम के कारण ही उस परमाकाश ने (आत्मा) यहाँ जीवाकाश [अर्थात् जीवात्मा] का रूप धारण कर लिया है। उसने चिदाकाश के अन्तर्गत इस संसार को धारण कर लिया है, जो [दर्पण में बने] प्रतिबिम्ब की तरह दूसरे भ्रम के रूप में दिखाई पड़ रहा है।

एहि बिधि दोउ जग महँ को झूँठो। सच को यह भ्रम अतिहिं अनूठो॥
भइ अवाक लीला सुनि बानी। सो दृस्यहिं नहिं जाइ बखानी॥

[हे पुत्रि!] इसप्रकार [इस जगत और उस जगत] इन दोनों जगतों में कौन झूठा और कौन सच्चा है, यह अत्यन्त विचित्र भ्रम है। [माँ सरस्वती से] ऐसे रहस्य को सुनकर लीला अवाक् होकर देखने लगी। उस दृश्य का वर्णन करते नहीं बनता।

इत अर्जुन सुनि महत बिचारें। मैं मरि गयों इहाँ बिनु मारें॥
यहि अचरज का मोरे साथा। जो लखाय एहि थल यदुनाथा॥

इधर [भगवान से] इस अद्‌भुत रहस्य को सुनकर महात्मा अर्जुन ने भलीभाँति सोच-विचारकर कहा- [हे प्रभो!] मैं तो यहाँ बिना मारे ही मर गया! हे यदुकुल शिरोमणि! क्या यही आश्चर्य मेरे साथ भी है, जो इस स्थान पर दीख रहा है?

दोहा— पार्थ दसा तिहि छन निरखि हँसि कह प्रभु मन माहिं।
जावहु कहँ मोहिं छाँड़ि तुम्ह कहुँ गति दूसरि नाहिं॥ १५६॥

उस समय भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन की दशा को देखकर मन ही मन विहँसते हुए कहा कि [हे पार्थ!] तुम मुझे छोड़कर जा कहाँ सकते हो क्योंकि मुझे छोड़कर तुम्हारे लिए कोई अन्य गति भी तो नहीं है!

चौपाई— महाराज कह भगत सुजाना। सुनहु ध्यान धरि नहिं बिकलाना॥
कथा बिसद संक्षेप बतावउँ। पर जीवन गुत्थी सुलझावउँ॥

महाराज भी सभी सज्जनों एवं भक्तों से कह रहा है कि आप सब ध्यान देकर इस कथा को सुनें, विकल न हों। यद्यपि मैं इस विस्तृत कथा को संक्षेप में ही कह रहा हूँ परन्तु आप सबके जीवन की गुत्थी सुलझा रहा हूँ।

जब देखउँ तब मैं अरु मोरा। साँझ सकारे तू अरु तोरा॥
इन्ह चोरनि सों सदा लुटावहु। भरत आह निसदिन पछितावहु॥

जब देखता हूँ तब सुबह से शाम तक 'मैं-मेरा,' 'तू-तेरा' की ही गूँज सुनाई पड़ रही है। आप सदा इन चोरों द्वारा लूटे जा रहे हैं तथा आह भरते हुए दिन-रात पश्चात्ताप करते रहते हैं।

दया लागि उर प्रभु गुन गायों। कृष्णायन करि तुम्हहिं सुनायों॥
पढ़ि जेहि जीवन दिब्य बनावहु। प्रभु की कृपा परमपद पावहु॥

मेरे हृदय में [अकारण] दया प्रकट हो गयी, अत: मैंने कृष्णायन के माध्यम से भगवत् चरित्र का गुणगान करते हुए आप सबको सुनाया है जिसका मात्र पाठ करके ही आप अपना जीवन दिव्य बना कर प्रभु-कृपा से परम पद प्राप्त कर लें।

अब लीला देबी संबादा। सुनहु सजग जो हरइ बिषादा॥
जदपि सत्य समुझउँ सब बानी। तदपि प्रस्न एक करउँ भवानी॥

अब आप सभी पुन: सजग होकर साध्वी लीला और माँ सरस्वती का संवाद सुनें जो शोक-सन्ताप का हरण करने वाला है। [उपरोक्त बात सुनकर] राजरानी लीला ने कहा- हे स्वामिनी! हे भवानी! यद्यपि आपके द्वारा कही गयी सभी बातों को मैं सच मान रही हूँ फिर भी एक बात पूछ रही हूँ-

दोहा— यह कस भयो कि बिप्र जग अरु इहँ हमरो देस।
एकहि गृह महँ अपरहू जहँ पति बसहिं बिदेस॥ १५७ (क)॥

हे माँ! यह सब कैसे हो गया कि यहाँ इसी एक गृहाकाश में हमारा वह ब्रह्माण्ड और उस ब्राह्मण का ब्रह्माण्ड भी वास कर रहा है तथा इसी में रहते हुए एक दूसरा ब्रह्माण्ड भी है जहाँ पर मेरे पति का जीव वास कर रहा है।

यहिं सोइ महि सोइ सैल बन सूरज चंद्र प्रकास।
सोइ वायु सोइ अगिनि जल सोइ कस बसत अकास॥ १५७ (ख)॥

[इतना ही नहीं] इसी गृहाकाश में वही पृथ्वी, वन, पर्वत, सूर्य, चन्द्रमा, प्रकाश, वायु, अग्नि, जल तथा वही आकाश कैसे वास कर रहे हैं?

चौपाई— कोउ कह सर्प पिटारि एरावत। मसक सिंह रन भयो न भावत॥
पदमाक्षहिं महँ बसइ सुमेरू। निगल्यो भ्रमर ताहि भ्रम भेरू॥

[हे भगवती! यह बात तो वैसी ही लग रही है जैसे] कोई कहे कि सर्प की पिटारी में ऐरावत हाथी वास कर

रहा है अथवा मच्छर और सिंह में भयंकर युद्ध हुआ या कमलगट्टे के भीतर सुमेरु पर्वत वास कर रहा था जिसे भ्रमर ने भ्रमवश निगल लिया- यह उचित नहीं जान पड़ता।

तिमि गृह मंडप महँ कोउ देसा। अहइ सुनत अस लगत भदेसा॥
सुनु साध्वी नहिं मिथ्या बोलउँ। ध्यान धरहु सब मरमहिं खोलउँ॥

उसी प्रकार गृहाकाश में ही कोई देश है- ऐसा सुनकर स्वाभाविक ही अविश्वास हो रहा है। [तब माँ सरस्वती ने कहा-] हे साध्वी लीला! मैं झूठ नहीं बोलती, अत: तुम ध्यान दो क्योंकि मैं समस्त रहस्य को खोलने जा रही हूँ।

अहइ सपन महँ जेहि बिधि त्रिभुवन। बिप्र जीव महँ सो जग पुरजन॥
गृहाकास तेहिं कल्पित सारें। चिदाकास बनि जगत निहारें॥

हे पुत्रि! जिसप्रकार स्वप्न में त्रिभुवन वास करता है, उसी प्रकार उस ब्राह्मण के चिदाकाश में वह जगत एवं जगत के लोग वास कर रहे हैं। उस गृहाकाश में उस [ब्राह्मण]की समस्त कल्पित वासनायें ही चिदाकाश रूप होकर जगत को देख रही हैं।

जाग्रत सुरति सपन जिमि जावे। अन्य सुरति तहँ प्रगटत आवे॥
पूरब जनम सुरति तिमि खोई। नवो सुरति तुव दोउन्ह होई॥

जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था की स्मृति स्वप्न में नहीं रहती अपितु दूसरी ही स्मृति प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार तुम दोनों की पूर्व जन्म की स्मृति लुप्त हो गयी है तथा नयी स्मृति प्राप्त हो गयी है।

दोहा— यहइ मरण एहि देह कर अरु कछु मरनो नाहिं।
जो जानै यह मरम सुनु तेहिं कछु तरनो नाहिं॥ १५८॥

और भी सुनो यही इस देह की मृत्यु कही जाती है और तो कोई मरण है ही नहीं। अत: जो इस रहस्य को जान लेता है, उसके लिए तो कोई भवसागर पार करना है ही नहीं अर्थात् उसके लिए मुक्ति की बात करना निरर्थक है।

चौपाई— जिमि सपने त्रिभुवन अवलोकत। तिन्हहिं नसत तहँ बहु बिधि सोकत॥
यथा वारि मरुथल महँ अहई। जहँ मृग निरखत निरखत दहई॥

जिसप्रकार स्वप्न में तीनों लोक दिखाई पड़ते हैं तथा उनका नाश होते ही वहाँ बहुत ही शोक होता है अथवा जैसे मरुभूमि में भ्रमवश होने वाले जल को देखते-देखते हिरण की मृत्यु हो जाती है-

यह असत्य जिमि तीनहुँ कालैं। तदपि भास सच टलत न टालैं॥
तिमि यह थल बन पर्बत साथा। नगर याहि महँ जो कछु गाथा॥

जैसे यह सब तीनों कालों में असत्य है परन्तु सत्य जैसा प्रतीत होता है जो हटाये नहीं हटता, उसी प्रकार इस भूमि, वन, पर्वत तथा नगर के साथ-साथ इसमें लोगों की जो गाथाएँ गायी जा रही हैं-

चिदाकास महँ द्विजगृह माहीं। अहइ सुमुखि सच कहुँ तोहिं पाहीं॥
जदपि असत्य सत्य इव भासइ। तउ प्रानिन्ह निज बस अनुसासइ॥

ये सभी उस ब्राह्मण के घर में, उसी के चिदाकाश में वास कर रही हैं। हे सुन्दरि! मैं तुमसे यह सत्य कह रही हूँ कि यद्यपि यह सब असत्य ही है किन्तु सत्य-सा प्रतीत हो रहा है तो भी इस भ्रम ने समस्त जीवों को अपने वश में कर रखा है।

यासें तव गृह तैं मम रूपहु। अहहिं असत्य तोर पति भूपहु॥
चिन्मय ब्रह्म सबहिं मन माहीं। समुझु निरंतर जगत बिलाहीं॥

इसलिए तुम्हारा घर, तुम और मेरा यह रूप तथा तुम्हारे पति राजा पद्म- ये सब असत्य हैं, अत: मन में सभी को चिन्मय ब्रह्म ही समझो। ऐसा निरन्तर समझने से सदा-सर्वदा के लिए जगत का लोप हो जायेगा।

दोहा— भयो जदपि भूसुर भवन जग नव सृष्टी माहिं।
तदपि पूर्ब गृह बिप्र कर जस कर तस अनुभाहिं॥ १५९॥

हे पुत्रि! यद्यपि ब्राह्मण के घर के भीतर नवीन सृष्टि में वर्तमान जगत प्रकट हुआ है तो भी ब्राह्मण का पहला घर ज्यों-का-त्यों पड़ा हुआ है।

चौपाई— त्रसरेणू यदि बहु जग धरई। का अचरज कोउ एहि जग करई॥
तस परमाणू चिदआतम महँ। बसत अपर परमाणू तस तहँ॥

इसलिए यदि त्रसरेणु (धूल का वह सूक्ष्म कण जो छिद्र से आने वाले प्रकाश में दिखायी पड़ता है) के भीतर बहुत-से जगत वास कर रहे हैं तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? उसी प्रकार चिदात्मा में परमाणु और उस परमाणु में अन्य परमाणुओं का वास है।

तेहि अंतर महँ बस ब्रह्मंडा। जहँ अवकास न कछुहु प्रचंडा॥
यह सब जग तहँ बस कस कहई। अस संका मन काहे गहई॥

उसके अन्दर अनेकों ब्रह्माण्ड वास कर रहे हैं, जहाँ कि अंशमात्र भी अवकाश नहीं है जबकि अनन्त सामर्थ्य वाला ब्रह्म ज्यों का त्यों है। उसी में समस्त जगत वास कर रहे हैं, ऐसा कैसे कहा जा सकता है,- ऐसी शंका मन में क्यों धारण करती हो?

मरे आठ दिन बिप्रहिं भयऊ। पर इहँ बहुत बरष चलि गयऊ॥
अस कस होवे मातु भवानी। तब देबी बोली मृदु बानी॥

पुनः लीला ने कहा, हे देवि! वहाँ पर तो ब्राह्मण को मरे हुए आठ ही दिन हुए हैं परन्तु यहाँ [हमलोगों को राज करते हुए] बहुत वर्ष व्यतीत हो गये हैं, हे भगवती! ऐसा कैसे हो सकता है? तब देवी ने मधुर वाणी में कहा-

जिमि समस्त जग बुद्धि कलपना। तिमि छन कल्पहु तासु जलपना॥
चिन्मय बिभु महँ तेरो मेरो। भयउ जिन्हहिं अभ्यास घनेरो॥

जिसप्रकार सम्पूर्ण जगत बुद्धि की ही कल्पना है, उसी प्रकार कल्प, [वर्ष] एवं क्षण उसी की कल्पना मात्र है। चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के अन्तर्गत जिन्हें तेरा-मेरा आदि भावों का भलीभाँति अभ्यास हो गया है,

उनहिं कल्प क्षण होय प्रतीती। चित्रित चित्र दीख जिमि भीती॥
यह क्रम जेहि बिधि होवे भामिनि। ध्यान धरहु अरु सुनु गजगामिनि॥

उनको कल्प एवं क्षण आदि का अनुभव वैसे ही होता है, जैसे दीवाल पर खींचे गये चित्र का अनुभव होता है। हे भामिनि! हे गजगामिनि! यह क्रम जिसप्रकार होता है, उसे ध्यान देकर सुनो-

छंद— यह जीव जेहि छन मरउँ बूझत तबहिं सुरति सो जावई।
नव सृष्टि चिन्मय ब्रह्म महँ सब बासना बनि आवई॥
आधार अरु आधेय सों जद्यपि परे नभ रूप सो।
कर पाद सों संयुक्त तन हौं लखत नित सब रूप सो॥

यह जीव जिस क्षण [मृत्यु के समय भ्रम से] समझता है कि 'मैं मर रहा हूँ,' तो उसी भ्रम के कारण उसकी उस जन्म की स्मृति का लोप हो जाता है और चिन्मय ब्रह्म में उसकी समस्त वासना नवीन सृष्टि का रूप धारण कर प्रकट हो जाती है। यद्यपि वह जीवात्मा आधार और आधेय से परे है क्योंकि आकाश रूप है परन्तु उस समय वह स्वयं को 'हाथ-पैर से संयुक्त शरीर वाला हूँ'- ऐसा नित्य ही सभी शरीरों के साथ देखता है।

प्रारब्ध बस अनुभव करे याकर पिता अरु पुत्र हौं।
ये सब स्वजन अरु बंधु मोरे गाँव इन्हकर मित्र हौं॥
जनम्यों प्रथम बालक युवा भयों बृद्ध होयेंगो जहाँ।
कछु बरस महि रहि मरि बिधाता भेज जायेंगो तहाँ॥

वह पूर्वकृत् भावनाओं के वशीभूत हुआ अनुभव करता है कि मैं इसका पिता और इसका पुत्र हूँ, ये सभी मेरे स्वजन एवं भाई-बान्धव हैं तथा मैं इनका मित्र हूँ और यह मेरा गाँव है, जहाँ मैंने जन्म लिया और सर्वप्रथम बालक हुआ, बालक से युवा हुआ, अब वृद्ध हो जाऊँगा तथा पुनः कुछ वर्ष धरा पर रहकर मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा। उसके उपरान्त विधाता जहाँ भेज देगा, वहीं चला जाऊँगा।

जिमि सपन महँ सब बस्तु बनि सच दृस्य द्रष्टा भासई।
तहँ कछुहु नहिं बस एक आतम बिबिध बपु महँ आसई॥
यासे नहीं कछु प्रगट सुनु इहलोक कै परलोकहूँ।
त्रैलोक महँ कछु भेद नहिं आतम अहइ तजु सोकहूँ॥

जिसप्रकार स्वप्न में द्रष्टा एवं दृश्य रूप से समस्त पदार्थ अनुभव में आते हैं, जबकि वहाँ [सच पूछो] तो कुछ भी नहीं होता अपितु एकमात्र चेतन आत्मा ही विविध रूपों में प्रकट हो जाता है। इसलिए इस लोक या परलोक में कुछ भी प्रकट नहीं हुआ है। इस प्रकार तीनों लोकों (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) में कुछ भेद नहीं है अपितु सब चेतन आत्मा ही है, अत: शोक-सन्ताप का त्याग कर दो।

हे सुमुखि जल अरु लहर महँ कोउ भेद कछु नहिं पावई।
तिमि ब्रह्म महँ चेतन जगत यह नाम कर्म सों भावई॥
पुनि मोक्ष बंधन कल्पना मैं काहि बिधिहिं बतावऊँ।
त्रैकाल महँ अस समुझु लीले सांत सम तैं गावऊँ॥

हे दिव्य स्वरूप वाली! जिसप्रकार जल और तरंगों के मध्य कुछ भी भेद की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार शुद्ध चिन्मय ब्रह्म में यह चेतन जगत नाम और कर्म से ही प्रकट है। अत: मोक्ष और बन्धन की कल्पना को मैं किस प्रकार बताऊँ। इसलिए हे लीले! मैं तो तुम्हें तीनों कालों में शान्त एवं सम ब्रह्म ही कहती हूँ ऐसा जानो।

दोहा— अहो मातु प्रातः प्रभा सोभा सुखद सुहाइ।
तस तुम्ह सर्ग सृजन महँ परमदृष्टि दिखराइ॥ १६०॥

तब लीला ने कहा- अहो आश्चर्य है माँ! जैसे प्रात:कालीन आभा की शोभा अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ती है, उसीप्रकार आपने सृष्टि के उत्पत्ति प्रकरण में परम दृष्टि का अनुभव कराया है।

चौपाई— जबलौं होय न दृढ़ अभ्यासा। आत्मदृष्टि कर परम प्रकासा॥
तबलौं करु उपदेस निरंतर। कौतुक छेदु बाह्य अभियंतर॥

हे भगवती! मेरी प्रार्थना है कि जब तक मुझे परम प्रकाशरूप आत्मदृष्टि का दृढ़ अभ्यास न हो जाय तब तक आप निरन्तर उपदेश करते हुए मेरे भीतर-बाहर व्याप्त समस्त कौतूहल अर्थात् भ्रम एवं संशयों का छेदन करती रहें।

दम्पति बिप्र बसे जेहि ग्रामा। तेहि जग लै चलु देखउँ धामा॥
निर्बिकल्प चित लीले करई। एहि हित आतमचिंतन धरई॥

[हे माँ!] अब मुझे उस जगत के उस गाँव में ले चलो, जहाँ ब्राह्मण दम्पती वास करते थे जिससे मैं उनके देश तथा नगर को देख सकूँ। [तब माँ सरस्वती ने कहा-] हे लीले! तुम इसके लिए आत्मचिन्तन धारणकर अपने चित्त को निर्विकल्प बना दो।

बिस्मृत होवे जब यह देहा। तबहिं पाव तू सो जग गेहा॥
एहि तन सुरति अर्गला जैसो। जासों तेहि कोउ लखे न कैसो॥

जिस समय [अहर्निश आत्मचिन्तन करने से] इस शरीर की स्मृति सर्वथा जाती रहेगी, उसी समय तुम उस जगत को, घर-गाँव को [सूक्ष्म शरीर द्वारा] प्राप्त करोगी। इस शरीर की स्मृति [उस जगत में जाने में] एक दृढ़ फाटक के समान बाधा डालती है जिससे उस सूक्ष्म जगत को कोई किसी भी प्रकार देख नहीं सकता।

मातु न जावउँ क्यों एहि तन सों। आयउँ जब तव चरन सरन सों॥
जदपि पुत्रि यह जगहु अमुर्ता। पर तम गहत भयो सो मुर्ता॥

[तब लीला ने कहा-] हे माँ! जब मैं आपकी शरणागत हो गयी तो इसी स्थूल शरीर के द्वारा मैं वहाँ क्यों नहीं जा सकती? तब भगवती ने कहा- हे पुत्रि! यद्यपि यह जगत भी सूक्ष्म ही है किन्तु अज्ञान को [लम्बे समय तक] धारण करने से [तुम्हारे लिए] यह स्थूल हो गया है।

दोहा— जिमि सुबर्ण भासत बिपुल अलंकार कर रूप।
चेतन बिभु तिमि दीख जग बनि बहु रूप कुरूप॥ १६१॥

जिसप्रकार सोना ही बहुत-से गहनों के रूप में दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार [निरन्तर अज्ञान के अभ्यास से] चेतन ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में शुभाशुभ जगतरूप बना हुआ दिखायी पड़ने लगता है।

चौपाई— आभूषण बस नाम कहावे। सच महँ स्वर्णहि पहिनो जावे॥
तिमि कहनै कहँ जगत कहावत। थोरेहुँ तहाँ जगत नहिं पावत॥

आभूषण तो बस कहने के लिए होता है जबकि सभी के द्वारा सुवर्ण ही पहना जाता है, उसी प्रकार जगत एकमात्र कहने के लिए है, वहाँ अंशमात्र भी जगत की प्राप्ति नहीं होती।

यह प्रपंच इमि झूठइ झूँठो। दीख प्रेत इव जिमि कोउ ठूँठो॥
बेद वाक्य गुरुजन उपदेसा। निज अनुभव प्रमाण एहि देसा॥

हे पुत्रि! यह समस्त प्रपंच तो वैसे ही झूठा है, जैसे [भ्रमवश] कोई ठूँठा पेड़ प्रेत के समान दिखायी पड़े। इस विषय में वेद-वाक्य, गुरुजनों का उपदेश और स्वयं का अनुभव ही प्रमाण है।

एक ब्रह्म सोइ ब्रह्महि देखे। अपर ब्रह्म ब्रह्महिं नहिं लेखे॥
सर्ग सृष्टि जग अरु संसारा। सब यह नाम ब्रह्म एक धारा॥

ब्रह्म एक ही है, अतः वह ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता है, दूसरा कोई ब्रह्म तो है ही नहीं जो किसी अन्य ब्रह्म को देख सके। अतः 'सर्ग, सृष्टि, जगत और संसार'- इन समस्त नामों को एकमात्र निर्गुण निराकार ब्रह्म ने ही धारण कर रखा है।

ब्रह्म सुभाउ बनत बहु रूपा। जल तरंग जिमि पुनि जल रूपा॥

ब्रह्म का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बहुत-सा रूप धारण करता रहता है, जैसे जल, तरंग से पुनः जल रूप हो जाता है।

दोहा— जबलौं योगाभ्यास सों भेद बुद्धि नहिं जाय।
सच मैं हौं तन सुरति यह तबलौं नाहिं नसाय॥ १६२ (क)॥

उसी प्रकार जब तक योगाभ्यास के द्वारा भेदबुद्धि का नाश नहीं हो जाता, तब तक यथार्थ में 'मैं शरीर हूँ'- इस स्मृति का नाश नहीं हो सकता है।

जगभ्रम नासत पाय अस आत्मसुरति सर्बत्र।
जबलौं ऐसो होय नहिं तबलौं सब परतंत्र॥ १६२ (ख)॥

इस प्रकार जगतभ्रम के नष्ट होते ही सर्वत्र आत्म-स्मृति की प्राप्ति हो जाती है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक सभी परतंत्र हैं।

चौपाई— द्वैताद्वैत माँहि को माता। अबलौं बाँधि रखे दुखदाता॥
सुनु पुत्री जग जो अबिचारा। सोइ जिवहिं पुनि पुनि बहु मारा॥

[उसके उपरान्त लीला ने कहा-] हे माँ! वह दुःख देने वाला कौन है जिसने अब तक मुझे द्वैताद्वैत में बाँध रखा था। [माता सरस्वती ने कहा-] सुनो पुत्रि! जगत में जो अविचार (अविद्या) है, वही जीव को बारम्बार दुःख पर दुःख देता रहता है।

वासेइँ तू आकुल अरु ब्याकुल। भरमहु जग बितर्क बहु संकुल॥
जीव धरम कुबिचार कहावे। आत्म धरम चिंतनहि लखावे॥

उसी अविचार के कारण तुम बहुत-से तर्क-वितर्क (संशय) के समूह से युक्त हो जगत में अत्यन्त आकुल-व्याकुल होकर भटक रही हो। पुत्रि! तुम यह निश्चित जान लो कि जीव का धर्म कुविचार है तथा आत्मा का धर्म आत्मचिन्तन है, ऐसा दिखायी पड़ता है।

सो कुबिचार नसत पलमाहीं। ज्ञान बिचार गहत मन माहीं॥
सेष ब्रह्म सत्ता तब रहई। जिमि बिनु लहर सरित सम अहई॥

[हे पुत्रि!] मन में ज्ञानमय चिन्तन धारण करते ही वह कुविचार पल भर में चला जाता है, तब केवल ब्रह्म और ब्रह्म की सत्ता रह जाती है जैसे लहर के शान्त हो जाने पर नदी सम शान्त हो जाती है।

यासें सच न बिचार अबिद्या। बंध मोक्ष नहिं कोउ अनिंद्या॥
जदपि सूक्ष्म अति यह तव देहा। मम सरीर सम नहिं संदेहा॥

इसलिए हे अनिन्द्ये (निन्दारहित)! यही सच है कि न विचार है, न अविद्या है और न कोई बन्धन या मोक्ष ही है। यद्यपि तुम्हारा शरीर भी मेरे शरीर के समान ही अति सूक्ष्म है, इसमें लेशमात्र संदेह नहीं है-

दोहा— बूझइ अस बहुकाल सों जन्मे मर मम देह।
याहि भाव अस्थूलता भइ अरु तन सों नेह॥ १६३॥

परन्तु लम्बे काल से तुम ऐसा समझती आ रही हो कि यह मेरा शरीर है जो जन्म लेता और मरता है, अत: इसी भावना [के दृढ़ होने] से स्थूलता आ गयी है और शरीर से अति प्रगाढ़ प्रेम हो गया है।

चौपाई— होवै अबहिं न सो सूक्षमतर। हाँ सूक्षम तन सों मम सँग चर॥
ज्यों सपने जेहि यह अनुभावे। कै यह तो सच सपन लखावे॥

इसलिए इतना जल्दी तुम्हारा शरीर मेरे शरीर जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म नहीं हो सकता। हाँ, तुम सूक्ष्म शरीर के द्वारा मेरे साथ विचरण कर सकती हो। जिसप्रकार स्वप्न जगत में जिसे यह अनुभव हो जाता है कि यथार्थ में यह तो स्वप्न ही दिखायी पड़ रहा है-

तहँ दृग मूँदत सपन नसावे। अस जागत एहि जगतहिं पावे॥
तस एहि जग तन सपन समाना। लखइ अहर्निस कोउ सुजाना॥

तो वहाँ नेत्रों के बन्द करते ही स्वप्न का नाश हो जाता है और जागते ही इस जगत की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार कोई चतुर पुरुष दिन-रात इस जगत तथा शरीर को स्वप्नवत् जानता रहे तो-

छिजत चाह तन भाव नसावे। सो सुबिज्ञ पुनि जग नहिं पावे॥
होतहिं सपन देह कर अंता। जाग्रत तन पावत कह संता॥

वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं तथा शरीरभाव का भी नाश हो जाता है। अत: वह बुद्धिमान पुन: संसार को प्राप्त नहीं होता। सन्तजन कहते हैं कि स्वप्न शरीर का अन्त होते ही जाग्रत् शरीर की प्राप्ति हो जाती है,

त्यों जग भाव नसावे जबहीं। अहंभाव तन जावे तबहीं॥
तन प्रगटत अतिवाहिक तबहीं। एहि जानत सच मुनि जन सबहीं॥

वैसे ही जब जगतभाव का नाश हो जाता है तो देहभाव का भी नाश हो जाता है और उसी समय अतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भी प्रकट हो जाता है, यथार्थ में इसे साधकगण ही जानते हैं।

सपने इच्छा बीज नसावे। तबहिं सुषुप्ती सहजहिं आवे॥
तिमि जाग्रतहु बासना हीना। होइ नसत तब मनहि मलीना॥

स्वप्न में जब वासना का बीज नहीं रहता तो सुषुप्ति सहज ही प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार जब जाग्रदावस्था भी वासनाहीन हो जाती है तब क्षुद्र मन का नाश हो जाता है।

दोहा— बिमल अवस्था प्रगट जब जीवन मुक्त कहाय।
परम सांति संतोष सुख नित उर महँ अनुभाय॥ १६४॥

अत: जब निर्मल अवस्था प्रकट होती है तब वही जीवनमुक्त अवस्था कही जाती है और फिर निरन्तर परम शान्ति एवं सन्तोषरूपी सुख का हृदय में अनुभव होता रहता है।

चौपाई— सुप्त बासना जब होइ जावे। सो सुषुप्ति जहँ कछु न बसावे॥
सकल बासना जावे जबहीं। प्रगटति तुरियावस्था तबहीं॥

[हे पुत्रि!] जब वासना सर्वथा सुप्त हो जाती है तो उसे ही सुषुप्तावस्था कहा जाता है, जहाँ अपना कुछ भी वश नहीं चलता। जब वासना सर्वथा नष्ट हो जाती है तभी तुर्यावस्था प्रकट होती है।

ब्रह्म अनामय पद जब पावे। जाग्रदवस्था महुँ सो आवे॥
जीवनमुक्त अवस्था सोई। जाहि न मूढन्हि अनुभव होई॥

जब अनामय ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तो वही तुर्यावस्था जाग्रदावस्था में भी बनी रहती है और वही जीवनमुक्त अवस्था है जिसका अनुभव अज्ञानियों को नहीं होता।

तेहि लाने तोहिं दृढ़ अभ्यासा। करन परेगो करु बिस्वासा॥
एहि तन बहु सिद्धउ हनुमाना। सच बिचरहिं मो सम जग जाना॥

उसके लिए तुम्हें दृढ़ अभ्यास करना होगा, ऐसा विश्वास करो। अरे! यह सच है कि भक्त हनुमान तथा बहुत-से सिद्धगण मेरे समान ही इसी शरीर के द्वारा [समस्त सृष्टियों में] भ्रमण करते रहते हैं, जिसे सम्पूर्ण जगत जानता है।

चिन्मयरूप भयो तिन्ह देहा। बिचरत नहिं बाधत जग गेहा॥
जहँ चाहत तहँ मनतें प्रगटत। प्रकृति नियम ते पलमहँ झटकत॥

क्योंकि उनका [यही] शरीर चैतन्यरूप हो गया है, इसलिए उनके विचरण करने में कोई भी जगतरूपी गृह बाधा नहीं बनता। वे जब जहाँ चाहते हैं मन से अर्थात् अपनी इच्छा से इसी रूप में प्रकट हो जाते हैं और प्रकृति के नियम को पलभर में नकार देते हैं।

मिले न रूप तोहिं अस जबलौं। अतिवाहिक गहु रूपहिं तबलौं॥

अत: जब तक तुम्हें ऐसा रूप न मिल जाय, तब तक सूक्ष्मरूप धारण करो।

दोहा— यह तन तजु तू याहि थल गहु अतिवाहिक देह।
मोरे सँग चलु भामिनी तब लखाउँ द्विज गेह॥ १६५॥

हे भामिनि! इस शरीर को तुम यहीं छोड़कर अतिवाहिक शरीर धारण कर मेरे साथ चलो, तब तुम्हें उस ब्राह्मण का घर दिखाऊँगी।

नवाह्नपारायण, दूसरा विश्राम

चौपाई— तब लीला निबिकल्प समाधी। महँ भइ थिर पद्मासन बाँधी॥
जब यह जग अति भयो बिलुप्ता। प्रगट भयो द्विजबर गृह गुप्ता॥

तब लीला पद्मासन लगाकर निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गई। जब यह जगत [उसके मन से] सर्वथा विलुप्त हो गया तब उस लोक के श्रेष्ठ ब्राह्मण का घर प्रकट हो गया जो पहले अत्यन्त गुप्त था।

जहँ सब पुरजन सोक मनावत। कछु आवत अरु कछुवै जावत॥
अब भइ लीला सत संकल्पा। सो मन महँ अस कीन्ही कल्पा॥

जहाँ अभी भी घर-गाँव के लोग शोक मना रहे थे, कुछ लोग आ रहे थे और कुछ जा रहे थे। अब लीला सत्यसंकल्प हो चुकी थी, अत: उसने मन में ऐसा संकल्प किया कि-

हम दोउन्हिं देखहिं अस गृहजन। जिमि आईं समान्य कोउ तियगन॥
पार्थ प्रकास भयो तब अँगना। प्रगट भईं सन्मुख दिब्यँगना॥

ये गृहवासी हम दोनों को ऐसे देखें जैसे कोई सामान्य स्त्रियाँ आई हुई हैं। हे पार्थ! तभी आँगन में दिव्य प्रकाश छा गया और वे दोनों देवियाँ उनलोगों के सामने प्रकट हो गयीं।

बिप्र ज्येष्ठसर्मा सुत जोई। पुष्पांजलि पद धरि कह सोई॥
हे बनदेबी तुम्हरी जय हो। करहु कृपा मन मोर अभय हो॥

उस ब्राह्मण का जो ज्येष्ठशर्मा नामक पुत्र था, उसने उनके चरणों में पुष्पांजलि समर्पित करते हुए कहा- हे वनदेवियो! आप की जय हो! अब आप दोनों ऐसी कृपा करें कि मेरा मन अभय हो जाय।

दोहा— दुख उद्धारन आइँ तुम्ह सत्पुरुषन्हि यहि काम।
सोक हरहु हम सबनि के सुख सेवहिं निज धाम॥ १६६॥

[मैं समझ गया कि] आप दोनों देवियाँ मेरा समस्त दु:खों से उद्धार करने आयी हैं, [ऐसा क्यों न हो?] क्योंकि सत्पुरुषों का तो यही काम होता है। अत: हम सबके शोक-सन्ताप दूर करें जिससे हम अपने घर में सुखपूर्वक रह सकें।

चौपाई— तब परसति लीला सिर ताको। तेहिंतें दुख बिसर्‌यो सब वाको॥
लोप भईं तहँ तें दोउ अस करि। लीला बोलति मातु चरन परि॥

उसके बाद लीला ने उसके सिर पर हाथ रखा जिससे उसका सारा दु:ख जाता रहा। वे दोनों वहाँ से ऐसा चरित्र दिखाकर अन्तर्ध्यान हो गयीं। तब लीला ने माँ सरस्वती के चरणों की वन्दना करके कहा-

मातु कृपा तव कहउँ कहाँ लौं। दीख जनम मोहिं आठ सतक लौं॥
जदपि अहउँ मैं सचहि अजन्मा। तउ भ्रम भयो अबिद्या जन्मा॥

हे माँ! मैं आपकी कृपा कहाँ तक कहूँ; मुझे अपने [पूर्व के] आठ सौ जन्म दिखाई दे रहे हैं। यद्यपि मैं यथार्थ में अजन्मा ही हूँ तो भी इन अविद्यामय जन्मों का भ्रम हो गया है।

अब चलु पदम जहाँ भे भूपा। नाम बिदूरथ अदभुत रूपा॥
करि संकल्प तहाँ दोउ आईं। लखहिं बिपुल उन्हकी प्रभुताईं॥

अब [हे वागेश्वरी!] आप वहाँ चलें जहाँ राजा पद्म [दूसरे जन्म में] अद्‌भुत रूप वाले विदूरथ नाम से प्रकट हैं। इस प्रकार वे दोनों देवियाँ संकल्प करके वहाँ आकर उनकी अपरिमित प्रभुता को देखने लगीं।

पर तेहि मध्य बिदूरथ देसा। कियो आक्रमण सिंधु नरेसा॥
तेहि दिन करि संग्राम ताहि सों। थके नींद अति आइ याहि सों॥

परन्तु उसी समय राजा विदूरथ के देश पर सिन्धु नरेश ने आक्रमण कर दिया। उस दिन उससे संग्राम करने के कारण वे अत्यन्त थके हुए थे, अत: उन्हें प्रगाढ़ निद्रा आ गयी थी।

दोहा— जाइ जगाईं तिन्हहिं ते परम प्रभा बिखराइ।
परसे पुनि पद नृपति उठि देखि अतिहिं हरषाइ॥ १६७॥

उन दोनों देवियों ने वहाँ जाकर अपनी अलौकिक प्रभा बिखेरते हुए उन्हें जगा दिया। उन्हें देखते ही राजा ने अति प्रसन्नता के साथ उठकर प्रणाम किया-

चौपाई— चरन पूजि जय जय गुन गावत। धन्य धन्य निज जन्म मनावत॥
कह देबी नृप काह कहावहु। कब जन्मे को पिता बतावहु॥

तथा चरणों की वन्दना करके जय-जयकार कर उनका गुणगान करते हुए अपने जन्म को धन्य मानने लगे। तब देवियों ने कहा- हे राजन्! बतायें कि आप कौन हैं? आपका जन्म कब हुआ और आपके पिता कौन हैं?

सचिव जागि कह जीवन गाथा। कब ये भये काहि कुल साथा॥
सूर्यबंस महँ भये कुंदरथ। उन्हके सुत एक भये भद्ररथ॥

तब मंत्री ने जागकर, इन्होंने कब तथा किस कुल में जन्म लिया, यह सब बताते हुए उनका जीवन चरित्र कहना प्रारम्भ किया- हे देवियो! सूर्यवंश के अन्तर्गत एक [महाप्रतापी] कुन्दरथ नाम के राजा हो चुके हैं, उनके पुत्र भद्ररथ हुये-

भद्र नृपति के भये बिस्वरथ। तिन्हके सुअन सुजान बृहदरथ॥
एहि क्रम सिंधू सैल कामरथ। महाबिष्णु अरु भये नभोरथ॥

उन नरेश भद्ररथ के पुत्र विश्वरथ हुए तथा उनके पुत्र बुद्धिमान बृहद्रथ थे। इसी क्रम से उनके पुत्र सिन्धुरथ, सिन्धुरथ के राजा शैल, शैल के कामरथ, कामरथ के महा प्रतापी विष्णु तथा उनके पुत्र नभोरथ हुए।

देबि नृपति मम तिन्ह सुत आहीं। कार्तिकेय सम जग जस जाहीं॥
नाम बिदूरथ सब जग जानत। बिष्णु सरिस पालक पहिचानत॥

हे देवि! मेरे राजा उन्हीं राजर्षि नभोरथ के पुत्र हैं जिनका यश भगवान कार्तिकेय के समान इस जगत में फैला

हुआ है, जिनको सम्पूर्ण जगत विदूरथ नाम से जानता है और सारे लोग भगवान विष्णु के समान पालनकर्ता समझते हैं।

दोहा— दसहिं बरष के भूप जब पिता देइ इन्हि राज।
करहिं जाइ बन जोग जप तप अध्यात्मिक काज॥ १६८॥

[हे देवियो!] जब ये महाराज दस वर्ष के ही थे, तभी इनके पिता इन्हें सम्पूर्ण राज्य सौंप स्वयं वन में जाकर घोर जप-तप, योग आदि आध्यात्मिक अनुष्ठान करने लगे।

चौपाई— तुम्हरे दरसन नृप भये पावन। अस सुनि पद्म लगे गुन गावन॥
तबहिं देबि परसेउ नृप माथा। निरखहिं बिपुल जनम निज गाथा॥

आप देवियों के दर्शन से हमारे महाराज परम पावन हो गये- ऐसा सुनकर राजा पुनः उन देवियों का गुणगान करने लगे। तभी भगवती सरस्वती ने उनके सिर पर हाथ रख दिया जिससे वे अपने जन्म-जन्मान्तर की कहानी देखने लगे।

बहुत जनम की सुधि तिन्ह आई। बिस्मित हृदय कहहिं हरषाई॥
माँ जगदीस्वरि मैं का कहऊँ। जनम जनम जग भरमत रहऊँ॥

उन्हें बहुत सारे जन्मों की स्मृति आ गयी, अतः वे प्रेम में भरकर विस्मित हृदय से कहने लगे- हे जगदीश्वरी! अब मैं क्या कहूँ क्योंकि अब तक मैं बहुत-से जन्मों में भ्रमित होता रहा हूँ।

आज गयो उर संसय भारी। मातु महामाया तुम्ह मारी॥
कह देबी तुम्ह मरे न जीये। सुत पायो यहु अनुभव हीये॥

हे माँ! आज आपने मेरे हृदय में वास करने वाली महा अविद्या का नाश कर दिया, अतः समस्त हृदयगत संशय दूर हो गये हैं। तब भगवती ने कहा- हे वत्स! तुमने तो जन्म लिया ही नहीं फिर मरने की बात क्या है। अरे! तुमने तो हृदय में इस अनुभव को प्राप्त भी कर लिया है।

जस नभ बहु जग प्रगटत जाहीं। तस तव चित महँ यह जग आहीं॥
मरण काल जस तुम्हरि कलपना। तस यह जनम मरण इव सपना॥

जिसप्रकार निर्मल आकाश में बहुत-से जगत प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं उसी प्रकार तुम्हारे निर्मल चित्त में यह जगत रूपी भ्रम प्रकट है। मृत्यु के समय जैसी तुम्हारी कल्पना हुई थी उसी प्रकार स्वप्न की भाँति ये जन्म-मृत्यु हुए हैं।

दोहा— जिमि तरंग जल त्यागि पुनि धारत अपर तरंग।
तिमि सृष्टिहिं एक त्यागि मन गहत सृष्टि बहु रंग॥ १६९॥

जिसप्रकार जल एक तरंग को त्यागकर पुनः दूसरे तरंग को धारण कर लेता है उसीप्रकार मन एक सृष्टि को त्यागकर नाना प्रकार की सृष्टियों को ग्रहण करता रहता है।

चौपाई— यासें यह महि पर्बत ग्रामा। सत्रू मित्र बिदूरथ नामा॥
नहिं सच तुम्ह राजन जिमि निरखहु। सोच बिचारि बहुत बिधि परखहु॥

इसलिए हे राजन्! यह पृथ्वी, पर्वत, ग्राम, शत्रु, मित्र तथा विदूरथ नाम सत्य नहीं हैं जैसा कि आप देख रहे हैं। अतः इसे भली प्रकार सोच-विचारकर पहचान लें।

देख्यों मातु सबहिं सच माना। अब देबी माँगउँ बरदाना॥
रन तन तजि जावउँ निज धामहिं। ज्ञान ग्रहण करि होउँ अकामहिं॥

हे माता! मैंने सब कुछ देख लिया है और उसे सत्य मान रहा हूँ। अब तो हे भगवती! मैं यही वरदान माँगता हूँ कि इस युद्ध में शरीर छोड़कर अपने [पूर्व के] धाम जाऊँ तो ज्ञान धारण कर निष्काम हो जाऊँ।

ऐसो होउ जाहु संग्रामा। त्यागि तनहिं पावहु बिश्रामा॥
तबहीं भयो कोलाहल भारी। सत्रू सेन करति जयकारी॥

माँ सरस्वती ने कहा- एवमस्तु, अब तुम संग्रामभूमि में जाओ। वहाँ शरीर त्यागकर [अपने पूर्व के शरीर में]

विश्राम करो। उसी समय अत्यन्त कोलाहल होने लगा, शत्रु सेना [अपने स्वामी की] जय जयकार कर रही थी।

गयउ नृपति तहँ मातु नमन करि। करत जुद्ध तब परम ज्ञान धरि॥
इत नृप महिषी बंदि भवानी। होइ मुदित बोली बर बानी॥

तब राजा विदूरथ माँ सरस्वती को प्रणाम कर वहाँ (संग्राम भूमि में) चले गये और परमज्ञान धारण कर युद्ध करने लगे। इधर राजा की [उसलोक की] धर्मपत्नी ने माँ सरस्वती की अति प्रसन्नता के साथ वन्दना करके उनसे श्रेष्ठ वाणी में कहा-

देबि एक बस तोहिं अराध्यों। तुव दरसन हित जप तप साध्यों॥
सपने नित लखाय जो रूपा। अब तेहि रूपहिं लखउँ अनूपा॥

हे देवि! अबतक मैंने एकमात्र आपकी आराधना की, आपके दर्शन के लिए ही जप-तप आदि धारण किये। नित्यप्रति स्वप्न में जो रूप दिखायी पड़ता था, अब वही अनुपम स्वरूप प्रत्यक्ष देख रही हूँ।

दोहा— अब माँगउँ बरदान माँ तन तजि पति जहँ जाहिं।
एहि तन सँग तहँ जाउँ मैं देखि सोउ हरषाहिं॥ १७०॥

हे माँ! अब मैं आपसे वरदान माँग रही हूँ कि [इस युद्धभूमि में] मेरे पति महाराज विदूरथ अपना शरीर छोड़कर जहाँ जायें मैं वहाँ अपने इसी शरीर से चली जाऊँ और वे भूपाल मुझे देखकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करें।

चौपाई— एवमस्तु कह देबि पियारी। लीला सम तव गति मति सारी॥
बनु पुनि नृप पतनिहिं तहँ आई। लीला प्रथम सुनत हरषाई॥

तब मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली माँ सरस्वती ने कहा- ऐसा ही होगा, तुम्हारा रूप, बुद्धि तथा व्यवहार सबकुछ [मेरे साथ आई हुई] लीला के समान है, अतः तुम वहाँ आकर पुनः राजा पद्म की धर्मपत्नी बनो। [भगवती के द्वारा] ऐसा सुनते ही प्रथम लीला प्रसन्न हो गयी।

उत रन प्रबल सिंधु नृप कीन्हा। मारि बिदूरथ जय जस लीन्हा॥
नृपति जीव तब यमपुर गयेऊ। एहि छाड़हु दूतन्हि यम कहेऊ॥

उधर सिन्धु नरेश ने घोर संग्राम किया और रणभूमि में राजा विदूरथ का वध कर विजय एवं कीर्ति प्राप्त कर लिया। राजा विदूरथ की जीवात्मा यमपुरी में पहुँची तो यमराज ने दूतों से कहा कि इसे छोड़ दो।

पाप न कीन्ह कोउ कस राखउँ। पदम तनहिं प्रबिसे अभिलाषउँ॥
इहाँ पदम सव चवँर डुलावति। दूसरि लीला बहु बिधि भावति॥

क्योंकि इसने ऐसा कोई पाप नहीं किया है अतः मैं इसे यहाँ कैसे रखूँ! यह पुनः राजा पद्म के शरीर में ही प्रवेश करे, ऐसी मैं इच्छा करता हूँ। उधर राजा पद्म के शव के पास [पहले ही] दूसरी लीला पहुँचकर चवँर डुलाती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही थी।

लीला प्रथम भवानी साथा। कहत सुनत आई तहँ गाथा॥
मुरुछा गई तबहिं नृप जागे। होइ अचम्भित देखन लागे॥

उसके उपरान्त प्रथम लीला भगवती के साथ पारमार्थिक तत्त्व कहते-सुनते आई। उसी समय राजा पद्म की मूर्च्छा चली गई और वे जगकर आश्चर्यचकित हो सब ओर देखने लगे।

दोहा— देबिहिं लखि पुनि दोउ लखि लीला सम एक रूप।
तुम्ह दोउनि महँ महिषि को मेरो तब कह भूप॥ १७१॥

पुनः उन्होंने देवी को देखकर दो लीलाओं को देखा जो समान रूपवाली थीं। तब राजा ने [उन दोनों ही लीलाओं से] पूछा कि तुम दोनों में से मेरी धर्मपत्नी कौन है?

चौपाई— लीला प्रथम कहति हरषाई। मैं लीला जेहि साथ सगाई॥
अपर लोक की तव तिय लीला। मम सम अहइ रूप गुन सीला॥

ऐसा सुनकर प्रथम लीला ने हर्षित होकर कहा- हे राजन्! जिसके साथ आपका पाणिग्रहण हुआ है, वह

लीला तो मैं ही हूँ। यह दूसरे लोक की लीला भी आपकी ही भार्या है, जो मेरे ही समान रूपवती, गुणवती एवं शीलवती है।

बस तुम्हरे काजें जेहि लाई। मैं गहि ज्ञान बिषय बिसराई॥
यह मम मातु देबि बागीसा। सुनि पद कमल धरे नृप सीसा॥

जिसे मैं एकमात्र आपके लिए ही लायी हूँ, क्योंकि अब मैं ज्ञान धारण करके विषय-वासनाओं से विरक्त हो गयी हूँ। हे राजन्! ये मेरी माँ भगवती सरस्वती हैं, ऐसा सुनकर राजा पद्म ने उनके चरण कमलों में सिर रखकर प्रणाम किया-

बंदि कहे हे मातु भवानी। देहु जो माँगउँ तुम्ह बरदानी॥
दीर्घ आयु बुधि बल धन दीजै। सकल सोक दुख रहित करीजै॥

और वन्दना करते हुए कहा कि हे माँ भगवती! हे वरदायिनी! मैं जो वरदान माँग रहा हूँ उसे दें! आप मुझे बुद्धि, दीर्घ आयु एवं धन-बल देकर समस्त शोक तथा दु:खों से मुक्त करें।

अस सुनि बीणापाणिनि भाषति। परसि नृपति सिर कर निज राखति॥
जो माँग्यो सो दियों भुआला। अब न ब्याप तोहिं संसय ब्याला॥

ऐसा सुनकर वीणापाणि माँ सरस्वती ने राजा के सिर पर अपना हाथ रख दिया और कहा- हे राजन्! आपने जो माँगा मैंने वह प्रदान किया, अब आपको संशयरूपी सर्प नहीं डँसेगा।

दोहा— आत्मज्ञान सँग सर्ब सुख दीर्घ आयु मति धीर।
पाइ करहु पुनि राज नृप अब न आव कोउ भीर॥ १७२॥

हे बुद्धिमान राजन्! आपको आत्मज्ञान के साथ समस्त सुख एवं दीर्घ आयु भी देती हूँ जिसे स्वीकार कर आप पुन: राज्य करें, अब कोई भी संकट नहीं आयेगा।

चौपाई— अस कहि माँ भइ अंतरध्याना। तब नृप लीला सुजस बखाना॥
नृप दोउ लीला भये प्रबुद्धा। पावत परम ज्ञान अबिरुद्धा॥

ऐसा कहकर माँ सरस्वती अन्तर्ध्यान हो गयीं, तब राजा ने प्रथम लीला की भी महिमा गायी। इस प्रकार राजा के साथ-साथ दोनों लीलाएँ भी अखण्ड परम ज्ञान को पाकर प्रबुद्ध हो गयीं।

रहे काल बहु जीवनमुक्ता। समय पाइ सो भये बिमुक्ता॥
हरि सों सुनि अस अचरज बानी। मनहु पार्थ तम निसा नसानी॥

उसके उपरान्त राजा पद्म बहुत काल तक जीवनमुक्त होकर रहे तथा समय पाकर उन्होंने शरीर छोड़कर सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर ली। भगवान के द्वारा ऐसी आश्चर्यमय कथा सुनने से मानो महात्मा अर्जुन की अज्ञानरूपी घोर रात्रि का नाश हो गया।

कह प्रभु जगत सत्यता त्यागहु। परमार्थिक ज्ञानहिं अनुरागहु॥
चिदाकासमय सब जग जानी। निर्मल नभ सम निवसहु ज्ञानी॥

भगवान ने कहा- हे भारत! जगत के प्रति सत्यत्व बुद्धि का परित्याग कर पारमार्थिक ज्ञान में ही प्रीति रखो। हे बुद्धिमान्! इस जगत को चिदाकाशमय जानकर निर्मल आकाश की भाँति स्थित रहो।

जिमि सुवर्ण महँ द्रवता अहई। तिमि सब जगत ब्रह्म महँ रहई॥
बीज माहिं जिमि दल फल फूला। तिमि हरि माहिं सकल जग मूला॥

जिसप्रकार सोने में द्रवता रहती है, उसी प्रकार निर्गुण निराकार ब्रह्म में सारे लोक वास करते हैं। जिसप्रकार बीज के अन्तर्गत पत्ते, फूल एवं फल छिपे रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत भी अपने मूलसहित वास करता है।

ज्यों तन सों कोउ अंग न भिन्ना। त्यों बिभु सों यह जगत अभिन्ना॥
जिमि कोउ देख सपन चित माहीं। जागत अपुन पराया नाहीं॥

जिसप्रकार शरीर से कोई अंग भिन्न [अर्थात् पृथक्] नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म से यह जगत अभिन्न है। जैसे कोई मन में स्वप्न देखता है किन्तु जागते ही न कोई अपना होता है न पराया।

त्यों बिरंचि एक पुरुष कहावत। ताकर चित सब जग बनि आवत॥
मैं तू यह वह अपर भुआला। इनि रूपनि महँ सो प्रतिपाला॥

उसी प्रकार ब्रह्मा भी एक पुरुष कहा जाता है, उसी का चित्त इन सभी लोकों का रूप धारण कर लेता है। अत: मैं-तू, यह-वह और अन्य राजागण- इन सभी रूपों में वह ब्रह्मा ही प्रकट है।

तेहिं सपने यह रन तैयारी। तेहिकर होय न होय हमारी॥

उसी के स्वप्न में यह युद्ध की तैयारी है, अत: यह युद्ध उसका है न कि हमलोगों का।

दोहा— तेहि ब्रह्मा कर रूप सब अपुनें इन्हके काहि।
अस जिय जानि न सोक कर जासे सब दुख जाहि॥ १७३॥

[हे पार्थ!] ये समस्त रूप उसी ब्रह्मा के हैं, हमारे और इनके कैसे हो सकते हैं! इसलिए मन में ऐसा जानकर शोक त्याग दो जिससे तुम्हारा सभी दु:ख दूर हो जाय।

चौपाई— धन्य धन्य कह नभ सुर सिद्धा। प्रभु गाये जो कथा बिसुद्धा॥
सो सुनि हमरउ मोह नसायो। आपुन पर कछु अब नहिं भायो॥

तभी [भगवान के द्वारा ऐसा सुनकर] आकाश से देवता एवं सिद्धगण धन्य-धन्य कह उठे- हे प्रभु! जो आपने परम विशुद्ध गाथा गायी है उसे सुनकर हमारे भी मोह का नाश हो गया है। अब अपना-पराया, [कहना-सुनना] कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।

पार्थ गहहु गांडीव प्रचंडा। थापहु धरम याहि ब्रह्मंडा॥
जदपि सुने अर्जुन तिन्ह बानी। तदपि न गहे धनुष निज पानी॥

[फिर उन्होंने कहा-] हे महात्मा अर्जुन! आप श्रेष्ठ गाण्डीव धारणकर इस ब्रह्माण्ड में धर्म की स्थापना करें। यद्यपि महात्मा अर्जुन ने आकाश स्थित देवताओं एवं सिद्धों की वाणी सुनी फिर भी धनुष अपने हाथ में नहीं उठाया।

अस प्रभु लगेउ बीर मम हाथहिं। आइ गयो कछु भ्रम नहिं माथहिं॥
पुनि झुकि गयो धनंजय माथा। बर गांडीव लिये नहिं हाथा॥

भगवान को ऐसा लगा कि महावीर अर्जुन मेरे हाथ में आ गया है अब इसकी बुद्धि में थोड़ा भी भ्रम नहीं रहा; किन्तु पुन: भक्त धनञ्जय का मस्तक झुक गया। उन्होंने श्रेष्ठ गाण्डीव धनुष हाथ में नहीं लिया।

बाल चरित निज प्रभु उर आयो। नंद जसोदा मन बहु भायो॥
बाबा नंद बुलावत जबहीं। आइ आइ पुनि भाजउँ तबहीं॥

तब भगवान के मन में अपना ही बाल चरित प्रकट हो गया जो माँ यशोदा एवं नन्दबाबा को बहुत अच्छा लगता था, [उस समय] नन्दबाबा जब बुलाते थे तब उनकी ओर आ-आकर पुन: भाग जाता था-

ते न निरास होत पुनि धावत। अपर खिलौनो लाइ दिखावत॥
तिन्ह सम एहि स्वधर्म उपदेसउँ। पुनि यह काह करे तब देखउँ॥

किन्तु वे निराश नहीं होते थे बल्कि दौड़कर अन्य खिलौनों को लाकर दिखाते थे। अब मैं उन्हीं के समान इसे स्वधर्म का उपदेश दूँगा फिर देखूँगा कि यह क्या करता है।

महाराज कह साधक बृंदा। सुनहु करउँ नहिं काहुहिं निंदा॥
जो प्रभु करत छमा अपराधा। जाहि सरन नहिं एकउ बाधा॥

महाराज साधकों से पुन: कह रहा है कि आप सब मेरी बात सुनें, मैं किसी की निन्दा नहीं कर रहा हूँ। जो दयासागर भगवान [शरणागत के सभी] अपराधों को क्षमा कर देता है, जिसकी शरण में एक भी विघ्न-बाधा नहीं आती-

जो नहिं सरण आय अस स्वामिहिं। सुत बित लोक मान अनुगामिहिं॥
ताकर संग सदा दुखदाई। ताहि तजन महँ अहइ भलाई॥

इस प्रकार के स्वभाव वाले करुणानिधान भगवान की शरण में जो नहीं आता अपितु पुत्र, धन और

मान सम्मान के पीछे लगा रहता है, उसका संग सदा दु:ख देने वाला होता है, अत: उसका त्याग करने में ही कल्याण है।

दोहा— अस सुभाउ बरु मातु पितु सुत दारा मित कोय।
तिन्हहिं निकासउ हृदय सों तब प्रभु तुम्हरो होय॥ १७४ (क)॥

भले ही ऐसा स्वभाव माता-पिता, पुत्र-पत्नी या किसी मित्र का क्यों न हो, उन्हें हृदय से निकाल दें, तभी भगवान आपका हो सकेगा।

कबहुँ कीन्ह महराज अस यह पद पाइ सो गाय।
यहइ करहु जो कहउँ मैं जासे हरि हरषाय॥ १७४ (ख)॥

[ऐसा नहीं है कि एकमात्र आप लोगों से ही ऐसा कहा जा रहा है बल्कि] महाराज ने भी कभी ऐसा किया है, तभी तो वह इस पद को प्राप्त कर [अनुभूति के साथ इस बात को] कह रहा है कि आप सब भी यही करें जो मैं कह रहा हूँ जिससे भगवान नारायण प्रसन्न हो जायँ।

चौपाई— गुडाकेस गुरु प्रभुहिं बनावहिं। पर स्वजनन्ह गुन मन महँ गावहिं॥
तउ प्रभु दीन दयाल न रोषें। कहि मृदु बचन उनहिं परितोषें॥

इसी प्रकार निद्राविजयी भक्त अर्जुन ने भी भगवान को गुरु बना लिया है किन्तु मन में स्वजनों का ही गुणगान कर रहे हैं; तो भी दीनों पर दया करने वाले भगवान थोड़ा भी कुपित नहीं हुए बल्कि मधुर वचनों से उन्हें सन्तोष प्रदान करने लगे।

नहिं मानहु मेरो मत ताता। तउ यामें कछु कोउ न बाता॥
आज नाहिं कल परसों मानहु। एहि माने बिनु सांति न आनहु॥

हे प्रिय! यदि तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो तो भी इसमें कोई बात नहीं है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, इसको मान कर ही रहोगे, क्योंकि इसे माने बिना तो शान्ति प्राप्त होने वाली है नहीं।

पुनि सुनु यदि निज छत्रिय मानहु। अरु स्वधर्म बहु बिधि पहिचानहु॥
धर्मयुद्ध छत्रिन्ह निज धर्मा। तेहि लखि सोक न करहु सुकर्मा॥

पुन: सुनो! यदि स्वयं को क्षत्रिय ही मानते हो और उसके धर्म को भलीभाँति जानते हो तो क्षत्रियों के लिए धर्मयुद्ध करना ही स्वधर्म है। अत: हे श्रेष्ठ कर्म करने वाले पार्थ! उसे देखते हुए भी शोक मत करो।

करै प्रजा रक्षा महि जीती। परमधर्म यह तेहि की नीती॥
धर्मयुद्ध बिनु मग कोउ श्रेष्ठा। अहइ न ता कहँ अपर यथेष्ठा॥

वह पृथ्वी को जीतकर धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करे, यही नीति उसका परम धर्म है। धर्मयुद्ध से बढ़कर उसके लिए कोई अन्य श्रेष्ठ मार्ग नहीं है-

जेहि सों होय परम कल्याना। सेष रहइ नहिं तेहि कछु पाना॥

जिसके द्वारा उसका परम कल्याण हो जाय और उसे कुछ पाना शेष न रहे।

दोहा— स्वर्गद्वार यह युद्ध जेहि बिनु माँगे तुम्ह पाव।
भाग्यवान छत्रिय लहत संत सास्त्र अस गाव॥ १७५॥

यह स्वर्गप्राप्ति का द्वाररूप धर्मयुद्ध जो तुम्हें बिना माँगे प्राप्त है, इसे भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं; समस्त सन्तों एवं शास्त्रों द्वारा ऐसा ही कहा गया है।

चौपाई— परम सुजोग बीर अस पाई। यदि न करहु रन हिय हरषाई॥
धर्म कीर्ति सब तबहिं नसावे। पाप महत प्रतिफल महँ पावे॥

हे वीर! यदि ऐसा दिव्य अवसर पाकर भी तुम प्रसन्नतापूर्वक धर्मयुद्ध नहीं करते हो तब धर्म एवं कीर्ति तो जायेगी ही जायेगी, उसके बदले में तुम्हें महापाप की भी प्राप्ति होगी।

प्रीति करहिं तुम्ह सन नहिं कोऊ। सूर स्वजन सुचि सुहृद जे होऊ॥
अस महान अपकीरति पारथ। सहि न सकहु तुम्ह यहइ यथारथ॥

[और भी सुनो] जो वीर योद्धागण, तुम्हारे स्वजन तथा पवित्र हृदय वाले मित्र आदि हैं, उनमें से कोई भी तुम से प्रेम नहीं करेगा। हे पार्थ! यह भी यथार्थ है कि अपनी इस महान अपकीर्ति को तुम सहन नहीं कर सकोगे।

अब्यय अपकीरति तव होई। सदा सूर सब गावहिं सोई॥
जो जग पायो कीरति भारी। धर्मी सूरहु जाय पुकारी॥

इतना ही नहीं बल्कि वे ही महावीर योद्धागण सदैव तुम्हारी सदा रहने वाली अपकीर्ति का गायन करेंगे। जिसने जगत में महती प्रतिष्ठा पाई हो, जो धर्मात्मा एवं शूरवीर कहकर पुकारा जाता हो-

अस अपकीरति सों तेहि भाई। मरण श्रेष्ठ सब सास्त्रन्हि गाई॥
जिन्ह मत अहउ गुनी सुचि सीला। तिन्ह मन होवहु अवगुन टीला॥

हे वीर! उसके लिए तो ऐसी अपकीर्ति से मरना ही श्रेयस्कर है, ऐसा ही समस्त शास्त्रों ने कहा है। अत: जिनके विचार से तुम अत्यन्त गुणवान, पवित्र एवं शीलवान समझे जाते हो, उन्हीं की दृष्टि में तुम अवगुणों की खान हो जाओगे।

भागि गयो भय सों सब जानहिं। सकुनी दुर्योधन अस मानहिं॥
करुना कारन गयो न कहहीं। हँसहिं सबहिं बिनु हँसे न रहहीं॥

सभी समझेंगे कि वह तो भय के कारण भाग गया, [विशेषकर] दुर्योधन तथा शकुनि आदि तो ऐसा ही मानेंगे। वह दया के वशीभूत होकर भाग गया, ऐसा कभी नहीं कहेंगे अपितु वे सभी हँसेंगे ही हँसेंगे, हँसी किये बिना नहीं रहेंगे।

दोहा— अस निदरहिं तव बैरि बहु बल पौरुष धिक्कारि।
कहनो जोग न जो कहहिं जग महँ भरि चित्कारि॥ १७६॥

इस प्रकार वैरीजन तुम्हारे बल एवं पौरुष को धिक्कारते हुए तुम्हारी अत्यधिक निन्दा करेंगे। वे जगत में जो कहने योग्य नहीं है उसे भी चिल्ला-चिल्लाकर कहेंगे।

चौपाई— एहि सम जग महँ दुख को होऊ। जोग जाप करि सकहु न कोऊ॥
यासे महि भोगहु रन जीती। कै मरि स्वर्ग जाहु लै प्रीती॥

हे वीर! जगत में इसके समान दु:ख क्या हो सकता है? [इतना ही नहीं, यदि बिना युद्ध किये वन चले जाते हो तो वन में] तुम योग और जप भी नहीं कर पाओगे। इसलिए या तो युद्ध जीतकर पृथ्वी का उपभोग करो या मृत्यु प्राप्तकर सबकी प्रसन्नता प्राप्त करके स्वर्ग जाओ।

जियन मरन कर भावहिं त्यागहु। दृढ़ निस्चय करि रन सों रागहु॥
अबलौं लखि स्वधर्म रन कीन्हे। तब तौ अस उपदेस न दीन्हे॥

अत: जीने-मरने के भाव का परित्याग कर दो तथा दृढ़ प्रतिज्ञ होकर युद्ध करो। अब तक देखा गया है कि तुमने स्वधर्म का पालन करते हुए अनेक युद्ध किये, किन्तु तब तो इस प्रकार का उपदेश नहीं दिया!

यासे सुख दुख बिजय पराजय। हानि लाभ सम जानि त्यागि भय॥
युद्ध करहु तजि छोभहिं ताता। पाप न लागइ सच मम बाता॥

अत: सुख-दु:ख, जय-पराजय एवं हानि-लाभ समान समझकर भय का परित्याग कर दो। हे प्रिय! दु:ख का परित्याग कर युद्ध करो तथा मेरी इस बात को सच मानो कि इससे तुम पाप के भागी नहीं बनोगे।

कह प्रभु बहुत एक नहिं सुनहीं। तेहि बिपरीत मनहि मन गुनहीं॥
अब इन्हके मन काह भरानो। जो निस्चय चह युद्ध करानो॥

इस प्रकार भगवान नारायण ने उन्हें हर तरह से समझाया किन्तु समझना तो दूर उसके विपरीत भगवान के प्रति वे कुछ अन्यथा ही सोचने लगे कि न जाने माधव के मन में क्या भरा हुआ है जो निश्चयपूर्वक युद्ध कराना चाहते हैं।

दोहा— मोसों इनिकर स्वार्थ बड़ अजहूँ जाहि छुपायँ।
पर न सरै सो मोहिं सन बरु बहु बिधि भरमायँ॥ १७७॥

अवश्य ही इनका मुझसे कोई बड़ा स्वार्थ है जिसे ये अभी भी छिपा रहे हैं; परन्तु वह मुझसे सिद्ध नहीं होगा, भले ही कितना भी घुमा-फिरा कर बात कर लें।

मासपारायण, सातवाँ विश्राम

चौपाई— महाराज अस लखि उर आवै। जेहि सबके सन्मुख सो गावै॥
साधक मन संसय जब आवै। माया गुरु सों कपट करावै॥

यह दृश्य देखकर महाराज के हृदय में कुछ प्रकट हो रहा है जिसे वह सबके सामने कह रहा है- जब साधक के मन में भ्रम एवं संशय प्रकट हो जाता है तो माया उसके द्वारा सद्गुरु के प्रति भी छल करा देती है।

निर्मल मन बुधि चित के साधक। जो परमारथ पथ अवराधक॥
गुरु सों झटपट लै संन्यासा। जप तप जोग भिरहिं सँग आसा॥

[यहाँ तक कि] जो आध्यात्मिक पथ की आराधना करने वाले निर्मल मन, बुद्धि, चित्त के साधक होते हैं, वे भी वैसी अवस्था में शीघ्रता करते हुए सद्गुरु से संन्यास लेकर बहुत-सी आशाओं के साथ जप, तप, योग में लग जाते हैं।

उतरत जबहिं सतोगुन बेगा। तबहिं प्रकृति कर मन उदबेगा॥
जबरन भिरहिं मास कछु बीते। होत तबहुँ मन ध्यान सों रीते॥

किन्तु जब सतोगुण का वेग समाप्त हो जाता है तब प्रकृति ध्यान करते समय उनके मन में उद्वेग पैदा कर देती है फिर भी वे हठपूर्वक कुछ महीनों तक ध्यान प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रयत्न करते हैं परन्तु उनका मन ध्यान में नहीं लग पाता।

जदपि महत अति सो छन होई। धीर धरत पर बिरलै कोई॥
प्रकृति पार प्रभु सब सुखरासी। जो कहाय नित घट घट बासी॥

यद्यपि वही समय अत्यन्त महत्त्व का होता है [जब ध्यान नहीं लगता] किन्तु कोई विरला साधक ही वैसी अवस्था में धैर्य धारण कर पाता है; क्योंकि जो सनातन, प्रकृति से परे एवं घट-घट में वास करने वाला तथा सुख की राशि ब्रह्म कहा जाता है-

सोइ सतोमय ध्यान हटाई। प्रगट होन चह जान न पाई॥

वही ब्रह्म सतोमय ध्यान को हटाकर प्रकट होना चाहता है परन्तु इस रहस्य को वे जान नहीं पाते।

दोहा— तबहिं रजोगुन आइ पुनि करन लगत उतपात।
सहि नहिं जाय उचाट तब मन स्वजनहिं अनुरात॥ १७८॥

अत: उसी समय रजोगुण आकर पुन: उत्पात करना प्रारम्भ कर देता है, फिर तो उच्चाटन सहन न होने से मन स्वजनों में आसक्त हो जाता है।

चौपाई— हृदय बनाव भूमिका ऐसी। जस गृह जाउँ जुगुति करुँ तैसी॥
जब चिंता बढ़ि जाय बिसेषी। कह जननिहिं अब आवउँ देखी॥

तब वह साधक हृदय में ऐसी भूमिका बनाने लगता है कि अब जिस बहाने से मैं घर लौट जाऊँ वैसी ही युक्ति करूँ [वैसी अवस्था में बहाना भी सूझ जाता है]। जब उच्चाटन विशेष बढ़ जाता है तो सद्गुरु से कहता है कि अब मैं थोड़ा माँ का दर्शन करके आता हूँ।

कह गुरु तू आध्यात्मिक जोधा। बहु बिधि परमारथ पथ सोधा॥
पुनि घर जाय तो होइ हँसाई। यासें चिंतन करु गहराई॥

तब सद्गुरु उसे समझाता है कि [हे प्रिय!] तुम आध्यात्मिक योद्धा हो, तुमने पारमार्थिक मार्ग का भली प्रकार से शोधन किया है, अत: [संन्यास लेकर] पुन: घर जाओगे तो अत्यन्त हँसी होगी। इसलिए इस बात पर गम्भीरता से विचार कर लो।

बिबिध भाँति संन्यासहिं नीती। कहि हटायँ गुरु घर सों प्रीती॥
तबहिं सिष्य मन महँ भ्रम छावे। गृह न जाउँ इन्हि का मिलि जावे॥

इस प्रकार सद्गुरु नाना प्रकार से संन्यास के नियम बताकर घर के प्रति हुए उसके मोह को दूर करने का

प्रयत्न करता है। [फिर क्या, फिर तो] उस समय शिष्य के मन में और भी संशय-भ्रम हो जाता है कि मैं घर न जाऊँ तो इन्हें क्या मिल जायेगा ?

अवसि बुढ़ापै की मोहिं लाठी। करन चहत इन्हकी मति नाठी॥
तब करुँ क्यों न मातु पितु सेवा। जो सबु दये कछुक नहिं लेवा॥

अवश्य ही ये मुझे अपने बुढ़ापे की लाठी बनाना चाहते हैं; अरे! इनकी तो बुद्धि नष्ट हो गयी है! इससे तो अच्छा है कि मैं घर जाकर माता-पिता की ही सेवा क्यों न करूँ, जिन्होंने सबकुछ दिया लेकिन बदले में कुछ भी नहीं लिया।

दोहा— निरखत गुरु तब तासु मन राजस माया चाल।
मात्र रहइ कछु काल अस छुब्धत नहिं प्रतिपाल॥ १७९॥

तब गुरुदेव उसके मन में स्थित राजसी माया की चाल देखते रहते हैं, वे समझते हैं कि ऐसी स्थिति कुछ काल तक ही रहेगी; इसलिए वे उसके परम रक्षक बुरा नहीं मानते।

चौपाई— तिमि अर्जुन मन माया घेरी। इनहिं नचाइ बजावति भेरी॥
पर प्रभु ताहि नचाइ नचाई। पल महँ मारिहिं इहइ सचाई॥

ठीक उसी प्रकार अर्जुन के मन को भी माया ने घेर कर भेरी बजाते हुए अच्छी प्रकार नचाना शुरू कर दिया है, किन्तु सत्य तो यह है कि कृपालु प्रभु उसे (माया को) ही नचा-नचाकर पल भर में मार डालेंगे।

अवसर लखि माँ कर संदेसा। कहन लगे तबहीं हृदयेसा॥
सच रन हित न पार्थ मैं कहऊँ। माँ कुंती आयसु अनुसरऊँ॥

तब उचित अवसर भाँपकर भगवान यदुनाथ ने [वीरांगना] माताकुन्ती का सन्देश कहना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा- हे पार्थ! सत्य तो यह है कि मैं तुम्हें युद्ध करने के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि मैं तो माता कुन्ती की आज्ञा का अनुसरण कर रहा हूँ।

दियो सँदेस तुम्हारें लाने। ताकर बचन सीस धरि माने॥
सो कह सुत बलि जावे माता। अब जनि धीर धरहु हिय ताता॥

तुम पाँचों के लिए उसने एक सन्देश भेजा है, उसके वचनों को सिर-माथे से स्वीकार करो। उसने कहा है- हे परम प्रिय पुत्रो! यह माता तुम लोगों के लिए बलिहारी जाती है। अब हृदय में विशेष धैर्य धारण मत करो [अब धैर्य धारण करने का समय नहीं है]।

कौरव सों महि मुक्त करावहु। भई बिकल बरु रन मरि जावहु॥
एहि काजें जनमायों तुम्हहीं। पर बहु दुख तुम्ह दीन्हें हमहीं॥

यह पृथ्वी कौरवों के अत्याचार से अत्यन्त विकल हो गई है अत: इनसे इसे मुक्त कराओ अथवा युद्ध में मरकर स्वर्ग जाओ। मैंने तुम लोगों को इसीलिए जन्म दिया है किन्तु अब तक तुमलोगों ने मुझे दु:ख ही दु:ख दिया है।

कौरव करत अधर्म सदाई। तुम्हरि सीलता बाढ़त जाई॥
संतोषत बहु काल गँवाये। जो तव पितहिं कबहुँ नहिं भाये॥

कौरव सदा से अधर्म पर अधर्म करते आ रहे हैं परन्तु तुम लोगों की विनम्रता तथा शीलता बढ़ती ही जा रही है! सारा समय तुम लोगों ने सन्तोष में ही बिता दिया जो तुम्हारे [स्वर्गीय] पिता को कभी भी अच्छा नहीं लगा।

तुम्हरी करनी अब न सहावे। नाहिं पितामह नहिं मोंहि भावे॥

[इतना ही नहीं] तुम लोगों का सन्तोषपूर्वक बैठे रहने वाला व्यवहार अब सहा नहीं जा रहा है, यह न मुझे प्रिय लग रहा है और न ही पितामह को।

दोहा— प्रजापती अज छत्रियन्हि निज भुज प्रगटि सुनाय।
जाइ जगत रक्षहु प्रजा पइहौ प्रभु पद धाय॥ १८०॥

हे पुत्रो! प्रजापति ब्रह्मा ने अपनी भुजाओं से क्षत्रियों को प्रकट करके यह उपदेश दिया कि आप सब जगत में

जायें और [प्रमाद छोड़कर] प्रजा की रक्षा करें, मात्र इतने से शीघ्र भगवत् पद प्राप्त कर लेंगे।

चौपाई— साम दाम अरु दंड नीति सों। कोउ नृप धरम निबाह रीति सों॥
ऐसो करत सबहिं हित होई। तेहि काजें परमारथ सोई॥

साम, दाम, दण्ड और भेद- इन नीतियों के माध्यम से कोई राजा राजधर्म का पालन नियमानुसार करता है तो ऐसा करने से सभी का कल्याण होता है और उसके लिए वही परमार्थ कहा जाता है।

धन अर्जन नृप निज बल करई। प्रजा पोषि रक्षै दुख हरई॥
दीन्हि कुबेर दान महि सारी। नृप मुचुकुंद न तेहि स्वीकारी॥

वह राजा अपनी भुजाओं से धनोपार्जन करके सम्पूर्ण प्रजा का पेट भरे, उसकी रक्षा करे और उसके दु:खों को दूर करे। [प्राचीन काल में] कुबेर ने राजर्षि मुचुकुन्द को सम्पूर्ण पृथ्वी का दान कर दिया था लेकिन उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया,

उननैं निज बल महि सब जीती। चतु: नीति सों दहे अनीती॥
नृपति सुरक्षा महँ हरषाई। प्रजा धरम कर सुखद सुहाई॥

बल्कि उन्होंने अपनी भुजाओं के प्रताप से सम्पूर्ण धरा पर विजय प्राप्त कर ली। इन्हीं चारों नीतियों से [सबपर अनुशासन कर] समस्त अधर्म को दूर कर दिया। इस प्रकार उन राजर्षि मुचुकुन्द के संरक्षण में प्रजा प्रसन्नतापूर्वक अत्यन्त सुख देने वाले धर्म-कर्म का पालन करते हुए सुशोभित होने लगी।

प्रजा करै कछु सास्त्र कहावे। चौथो अंस नृपति पहिं जावे॥
ब्रह्म अंस तासों कहलावे। जो आजहुँ जग प्रगट लखावे॥

शास्त्र कहता है कि प्रजा जो कुछ भी करती है, उसका चौथा भाग राजा को प्राप्त हो जाता है। इसी कारण वह ब्रह्म का अंश माना जाता है जो जगत में आज भी प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है।

सुत पैतृक धन कौरव छीने। अस करि हमहिं बहुत दुख दीने॥

हे पुत्रो! इन कौरवों ने हमारी समस्त पैतृक सम्पत्ति छीनकर हमें बहुत दु:ख दिया है।

दोहा— यासों बड़ दुख होय का तुम्ह समान सुत पाइ।
इन्हके टुकड़न्हि लागि नित आस करति तव माइ॥ १८१॥

इससे बढ़कर दु:ख क्या हो सकता है कि तुम लोगों जैसे (परम प्रतापी) पुत्रों को पाकर भी तुम्हारी माँ रोटी के दो टुकड़ों के लिए सदा कौरवों की आस लगाये रहती है।

चौपाई— यासें युद्ध करहु मन लाई। मातु बचन पालहु हरषाई॥
बिदुला क्षत्राणी एक माता। संजय नाम तासु सुत ताता॥

इसलिए तुम लोग पूर्ण मनोयोग से युद्ध करो और अपनी माता के वचनों का सहर्ष पालन करो। हे पुत्रो! बिदुला नामक एक क्षत्राणी माँ थी जिसका सञ्जय नाम का एक पुत्र था।

भयो पराजित सो संग्रामा। दीन हीन आयो निज धामा॥
हटकि दपटि सुत सों कह माता। अधम नरन्हि करनी तव ताता॥

उसका पुत्र एक बार संग्राम भूमि में पराजित होकर दीन-हीन दशा में अपने महल में लौट आया। तब उसकी माँ (बिदुला) ने उससे डाँट-फटकार कर कहा- अरे बेटे! तुम्हारा यह कर्म तो नराधमों जैसा है!

मो सम क्षत्राणी कर सूता। अस कस भयो कलंक कपूता॥
प्रान अहइ पर मृतक समाना। मेरो सुत न अहइ का आना॥

मेरे समान क्षत्राणी के पुत्र होकर भी तुम आज ऐसे कलंकित करने वाले कुपुत्र कैसे हो गये? अरे! तुझमें प्राण तो है फिर भी तुम मृतक के समान दीख रहे हो! क्या तुम मेरे पुत्र नहीं हो, किसी दूसरी माँ के हो?

कुल कलंक रे अप्रिय दर्सी। मरु संग्राम मनावउँ बर्सी॥
स्वर्ग सिधारु बजै जहँ बाजा। इहँ कर राजा तहँ महराजा॥

अरे अप्रियदर्शी! कुलकलंक! तुम संग्राम भूमि में मर जाओ जिससे मैं प्रसन्नता के साथ तुम्हारा श्राद्ध करूँ।

[अरे मूर्ख! इससे तो अच्छा है कि] तुम मरकर स्वर्ग जाओ जहाँ तुम्हारे स्वागत में बाजे बजाये जाएँ। अब तक तुम यहाँ के राजा थे अब वहाँ के महाराजा बनो!

दोहा— कायर तव अस धर्म जस मिलि गै माटी माहिं।
नष्ट भयो सब राज पुनि जियत अहइ कहु काहिं॥ १८२॥

अरे कायर! इस प्रकार तेरा धर्म-सुयश सब मिट्टी में मिल गया, राज्य भी नष्ट हो गया फिर बताओ तुम किसलिए जी रहे हो?

चौपाई— रन महँ बिचरु बाज सम जाई। अभय होउ अस करु न हँसाई॥
बिद्या सत्य दान तप नाना। धन संग्रह बल अतुल सयाना॥

[बेटे सञ्जय!] युद्धभूमि में जाकर तुम अभय हो बाज पक्षी के समान विचरण करो, इस प्रकार हँसी मत कराओ। विद्या, सत्य, दान, नाना प्रकार का तप, धन-संग्रह, अतुलित बल एवं दक्षता-

इनि सबकर जब चलइ प्रसंगा। बहति न जिहिं बर नर जस गंगा॥
सो निज जननिहिं मलहि कहावत। जग महँ काहुहि नेकु न भावत॥

इन सबका प्रसंग चलने पर जिस श्रेष्ठ पुरुष के सुयश की गंगा प्रवाहित नहीं होती, वह अपनी माता का मल ही कहा जाता है। इसलिए वह जगत में किसी को तनिक भी प्रिय नहीं लगता।

ओ भीरू मम जिय अस आई। मैं कलिजुगी सुअन जनमाई॥
तुव महँ स्वाभिमान पुरुषारथ। नहिं कछु स्वारथ अरु परमारथ॥

ओ भीरु! ओ कायर! अब मेरे हृदय में ऐसा विचार आ रहा है कि मैंने साक्षात् कलियुगी पुत्र को जन्म दिया है, क्योंकि तुम्हारे अन्दर अपना स्वाभिमान, पुरुषार्थ, स्वार्थ एवं परमार्थ कुछ भी नहीं रह गया है।

हाय दैव जग को तिय ऐसो। जनन चहइ सुत एहि के जैसो॥
बाँझ भलो यासें जग रहनो। कोउ कछु कहइ ताहि सब सहनो॥

हाय विधाता! जगत में ऐसी कौन स्त्री होगी, जो इसके जैसे पुत्र को जन्म देना चाहेगी! क्योंकि ऐसे पुत्र को जन्म देने से तो जगत में बाँझ बनकर रहना अच्छा है, भले ही [बाँझपन के कारण] लोगों का ताना सहना पड़े।

जो नृप नाव प्रजा की खेवक। उचित नाहिं बन निज रिपु सेवक॥

हे प्रिय! जो राजा प्रजा की नाव खेने वाला है वह अपने शत्रु का सेवक बने, यह उचित नहीं है।

दोहा— जानत छत्रिय धरम जो महाबीर रन माहिं।
प्रबल सिंह सम भिरत सुत जीतहिं कै मरि जाहिं॥ १८३॥

हे पुत्र! जो क्षत्रिय-धर्म को जानते हैं, वे महावीर योद्धा युद्धभूमि में अत्यन्त बलवान सिंह के समान भिड़ जाते हैं। वे या तो विजयी होते हैं अथवा वीरगति प्राप्त करते हैं।

चौपाई— ते बस नवहिं बिप्र के आगे। होय धरम रक्षा जेहि जागे॥
मातु बचन सुनि सुत बिकलायो। तोरे मन कछु मोह न मायो॥

वे तो जिस प्रबुद्ध ब्राह्मण के चलते धर्मरक्षा होती है एकमात्र उसी के सामने झुकते हैं। अपनी माँ के ऐसे [व्यंग्यात्मक एवं धिक्कारमय] वचनों को सुनकर उसका पुत्र अत्यन्त विकल हो गया और कहा- हे माँ! [ऐसा कहते हुए] तुम्हारे मन में [मेरे प्रति] कुछ भी मोह-माया नहीं है!

सूर बुद्धि क्रोधी अति निठुरी। जिमि सुचि सरितनि माहिं सुरसरी॥
पबि हिय पर बिसुद्ध छत्राणी। बंदउँ चरण जोरि जुग पाणी॥

[अच्छा तो मैं निश्चितरूप से समझ गया कि] पवित्र नदियों में जैसे भगवती माँ गंगा हैं, तुम भले ही मुझपर अति क्रोधित होकर निष्ठुरता का व्यवहार कर रही हो परन्तु वीरांगना एवं बुद्धिमती माताओं में वैसी ही सर्वश्रेष्ठ माँ हो। यद्यपि तुम्हारा हृदय वज्र जैसा प्रतीत हो रहा है किन्तु अत्यन्त विशुद्ध हृदय वाली क्षत्राणी माँ हो। अतः दोनों हाथ जोड़कर मैं तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ।

छत्रिय धरम कहति निज सुत सों। जिमि कोउ मातु कहे पर पुत सों॥
पर इकलौतो सुत माँ तेरो। मरउँ तोहि तौ बिपति घनेरो॥

हे माँ! तुम अपने पुत्र से क्षत्रिय धर्म वैसे ही बता रही हो जैसे कोई माँ दूसरे के पुत्र से कहती हो; परन्तु मैं तो तुम्हारा इकलौता पुत्र हूँ! यदि मैं मर गया तो तुम पर घोर विपत्ति आ पड़ेगी।

तेहि छन मोहिं न लख महतारी। बरु लेइ जीति स्वयं रन झारी॥
सो सुख राजहु काह काम को। जब सुत जाये स्वर्ग धाम को॥

माँ! उस समय मुझे देख नहीं पाओगी। कदाचित मेरे मरने के बाद तुमने स्वयं संग्राम करके विजय प्राप्त कर लिया तो वह विशाल राज्य का सुख किस काम का, जब तुम्हारा पुत्र ही सुरलोक चला गया हो!

कह जननी बनाव जनि बाता। अस बोलै मम उर बिकलाता॥

तब माँ ने कहा कि बातें मत बनाओ, तुम इस प्रकार बोल रहे हो तो मेरे हृदय को अति कष्ट हो रहा है।

दोहा— तोरे सीस कलंक कर अवसर नाचत नीच।
खरी प्रेम मेरो कहहिं कहउँ न अस दृग मीच॥ १८४॥

अरे नीच! तुम्हारे सिर पर कलंक की छाया नाच रही है, यदि आँख बन्द कर ऐसा नहीं कहूँ तो मेरे प्रेम को लोग गधी का प्रेम कहेंगे।

चौपाई— निंदित गैल चलत जेहि मूढ़ा। तेहि मग जाइ न होउ बिमूढ़ा॥
बिनयहीन सठ निर्लज भीरू। पौरुषहीन अभक्त अधीरू॥

अत: जिस निन्दित मार्ग पर मूर्ख चलते हैं उस मार्ग का अनुसरण करके अतिशय मूढ़ मत बनो; क्योंकि जो विनयहीन, सठ, निर्लज्ज, डरपोक, सामर्थ्यहीन, धैर्यरहित और भगवत् विरोधी है-

अस सुत पौत्र पाइ हरषावे। सो तिय तिन्ह ब्यर्थहि जनमावे॥
चलत साधु मग तू मोहिं भावे। मोह निसा तजि अस जगि जावे॥

यदि कोई माँ ऐसे पुत्र-पौत्र को पाकर हर्षित होती है तो उसका पुत्र को जन्म देना व्यर्थ है [अच्छा हो वह बाँझ ही रहे]। तुम मुझे सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने से ही प्रिय लगोगे, इसलिए मोहरूपी रात्रि को त्यागकर जग जाओ।

माँ जस कहइ सकल सुख मूला। पर मोसों कह यह प्रतिकूला॥
दया दृष्टि तोहिं करनो चहिये। मोपे मुकवत जड़ होइ रहिये॥

[तब पुत्र ने कहा-] माँ! तुम जैसा कह रही हो सब कल्याणप्रद ही है परन्तु मुझसे कह रही हो, यही अनुचित है। तुम्हें तो मुझपर दया-दृष्टि करके गूँगे एवं जड़ के समान रहना चाहिए।

सुत कर्तब्य कहइ जस मेरो। मैं तस धर्म कहउँ सुनु तेरो॥
बधहु जबहिं तुम्ह सिंधु नरेसा। तब जस गावउँ मम हृदयेसा॥

[तब माँ ने कहा-] हे पुत्र! सुनो, जैसे तुम मुझे मेरे कर्तव्य का बोध करा रहे हो, वैसे ही मैं भी तुम्हें तुम्हारे धर्म-कर्म का बोध करा रही हूँ। अत: मेरे हृदय में वास करने वाले मेरे लाल! मैं तुम्हारा यशोगान तभी करूँगी जब तुम सिन्धु नरेश का वध कर दोगे।

दोहा— एहि रन तन तजि जाहु तुम्ह देवलोक हरषाइ।
तउ तव सुभ गति देखि यह आनंदित सच माइ॥ १८५॥

बेटे! यदि तुम इस युद्ध में [विजयी नहीं हो सके और युद्ध करते-करते यहीं] शरीर छोड़कर प्रसन्न मन से देवलोक चले गये तो भी तुम्हारी शुभ गति देखकर तुम्हारी माता सच में आनन्दित होगी।

चौपाई— कह सुत अब नहिं धन भंडारा। सकल सहायक कसे किनारा॥
पुनि जय होय काहि बिधि माता। सोइ जुगुति कह राखउँ बाता॥

तब पुत्र ने कहा- माँ! मेरे पास तो अब धन का भण्डार भी नहीं बचा है, सभी सहायक भाग खड़े हुए हैं, अत: अब किसप्रकार मेरी विजय हो सकती है, वही उपाय बताओ जिससे मैं तुम्हारी बात रखूँ।

लीनि मातु सुत गले लगाई। सास्त्र नीति कहि धैर्य बँधाई॥
सुत स्वधर्म अति बर भंडारो। जेहि जय होइ सुनहु जग सारो॥

तब माँ ने पुत्र को गले लगाकर शास्त्रनीति बताते हुए धैर्य बँधाया और बोली- अरे मेरे लाल! सुनो, जिससे सारे संसार पर विजय प्राप्त होती है, वह दिव्य खजाना तो कुछ और ही है- स्वधर्म को ही वह दिव्य सम्पत्ति मानो।

तेहि स्वधर्म पालत धन आवे। जिमि सरिता सागर महँ जावे॥
धर्म प्रथम पाछें सम्पत्ती। जहँ अस नहिं तहँ आयँ बिपत्ती॥

उस स्वधर्म का पालन करने से समस्त सम्पत्ति उसी प्रकार आती है, जैसे समस्त नदियाँ सागर में जाती हैं। अत: धर्म पहले है और सम्पत्ति बाद में, जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ आती हैं।

धन सों धर्म होय कह मूढ़ा। पर सिद्धांत भयो अति रूढ़ा॥
भगवत भक्त मातु पितु जिन्हके। आज्ञा हरषि गहें सुत तिन्हके॥

मूढ़ पुरुष ही कहते हैं कि धन से धर्म होता है, यह सिद्धान्त अति रूढ़ हो गया है। जिनके माता-पिता भगवद्भक्त होते हैं, उन माता-पिता की आज्ञा को तो उनके पुत्रों को प्रसन्नतापूर्वक पालन करना चाहिए।

गुरु द्विज धेनु प्रजा प्रिय सेवक। ताकी नाव जगतपति खेवक॥
पालि स्वधर्म करत बिभु अर्पित। सीलवान सपनेहुँ नहिं दर्पित॥

क्योंकि जो पुरुष गुरु, ब्राह्मण, गौ एवं प्रजा के प्रिय सेवक होते हैं, सच में उनकी नाव तो भगवान ही चलाता है। वे शीलवान अपने स्वधर्म का पालन कर अन्तर्यामी भगवान को समर्पित कर देते हैं, स्वप्न में भी अभिमान नहीं करते।

उन्हकी होय पराजय कबहूँ। मानउँ नाहिं कहहिं प्रभु तबहूँ॥
मातु बचन मोहादिक हरना। सुनि बंदत सुत गहि तेहि चरना॥

हे पुत्र! उनकी कभी पराजय हो जाय- ऐसा यदि भगवान भी कहें तो मैं नहीं मान सकती। इस प्रकार मोह-ममता आदि दोषों को हरने वाले माँ के वचन सुनकर पुत्र उसके चरण को पकड़कर वन्दना करने लगा-

छंद— सच मोरि माँ बीरांगना अस कहत सुत हरषावई।
तू भगवती देबी भवानी सारदा गुन गावई॥
हुंकार भरि जय जय कहत सो करत पुनि पुनि परिक्रमा।
श्रद्धा स्वधा मेधा छमा कीरति सुरति तू ही रमा॥

हे माँ! तुम सच में वीरांगना हो- ऐसा कहकर वह पुत्र हर्षित हो उठा। [हे माँ!] तू ही भगवती, देवी दुर्गा एवं सरस्वती हो- ऐसा कहकर वह माँ का गुणगान करने लगा। वह माँ की बारम्बार परिक्रमा कर हुंकार भरकर जय-जयकार करते हुए कहने लगा- हे माँ! तू ही श्रद्धा, स्वधा, मेधा, क्षमा, स्मृति, कीर्ति और लक्ष्मी भी हो।

पथ दर्सिका तू अम्बिका बैभव सकल दरसावनी।
आज्ञा चहउँ मैं जाउँ रन महँ हे जननि मन भावनी॥
करु करु छमा सिर हाथ परसु स्वधर्म पालन जावऊँ।
बरु जीति आवउँ स्वर्ग जावउँ तोर तहँ गुन गावऊँ॥

हे माँ! तू ही अम्बिका है। हे मेरे पारमार्थिक पथ को प्रकाशित करने वाली! हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य-वैभवरूप निधि को दिखाने वाली! हे मेरे मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली माँ! अब मुझे आज्ञा प्रदान करो, जिससे मैं युद्धभूमि में जाऊँ। माँ! अब क्षमा करो! क्षमा करो! क्षमा करो! अपना वरद हस्त मेरे सिर पर रख दो जिससे मैं स्वधर्म पालन करने जा सकूँ। भले ही मैं विजय प्राप्त कर आ जाऊँ या [वीरगति प्राप्त कर] स्वर्ग चला जाऊँ किन्तु वहाँ भी तुम्हारा गुण गाता रहूँ।

जानउँ सदा बैरागिनी अनुरागिनी तू प्रभु चरन।
तव चित्त महँ सम जय पराजय सुख दुखहु जीवन मरन॥
तोसों महत आज्ञा चहउँ यासें चल्यों बिपरीत माँ।
अमृत बचन बरदान तोऊ दीन्हि तू अस रीति माँ॥

हे माँ! मैं तुम्हें सदा जगत के प्रपंचों से उदासीन तथा प्रभु के चरणों की अनुरागिणी समझता था। तुम्हारे हृदय में सुख-दुःख, जय-पराजय और जीवन-मरण समान हैं। मैं तो तुमसे श्रेष्ठ आज्ञा प्राप्त करना चाहता था, इसीलिए ऐसा विरुद्ध व्यवहार कर रहा था, तो भी तुमने अमृतमय वचनों से मुझे [आज्ञारूपी] वरदान दे ही दिया, जैसी कि आर्ष (आर्य) माताओं की परम्परा है।

सोरठा— मातु चरन सिरु नाइ बार बार जयकार करि।
सो तेहिं तिलक लगाइ बिदा कीन्हि रणमहँ गयउ॥ १८६॥

इस प्रकार उसने माता के चरणों में प्रणाम कर बारम्बार जयकार किया। माता ने भी उसे तिलक लगाकर विदा किया, तब वह [महावीर योद्धा] रणभूमि में चला गया।

चौपाई— यह प्रिय कथा सुनै जो जननी। पुत्र महत जन्मावै अवनी॥
छत्रानी सुनि पुनि पुनि गावे। सुअन सूर अति सो जनमावे॥

जो [गर्भवती] माँ यह प्रिय कथा सुनेगी, वह इस धरा पर श्रेष्ठ पुत्र को जन्म देगी। यदि कोई क्षत्राणी माँ इसे बारम्बार सुनती अथवा पाठ करती है तो वह परमवीर पुत्र को जन्म देती है।

सो सुत बिद्या तप बल दाना। ओज तेज बिजयी जग जाना॥
गौ द्विज सुर संतन्ह कर रक्षक। दुष्ट दलन गुन ज्ञान बिचक्षक॥

वह पुत्र विद्या, तप, बल, दान तथा ओज एवं तेज में बढ़ा-चढ़ा होता है। वह हर क्षेत्र में विजयी होता है, जिसे सम्पूर्ण जगत जानता है। वह गौ, ब्राह्मणों, देवताओं, सन्तों की रक्षा करने वाला तथा दुष्टों का वध करने वाला एवं गुण तथा ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ होता है।

आर्य मातु कह सुतन्हि सुनावहु। याहि कथा उत्साह जगावहु॥
सो एक पूत पाँच तुम्ह पूता। तुम्हरें बल पुरुषार्थ अकूता॥

हे पार्थ! माँ कुन्ती ने मुझसे कहा था कि [हे कृष्ण!] जाओ! मेरे पुत्रों को यह कथा सुनाकर उन्हें युद्ध के लिए उत्साहित करना और कहना कि माँ बिदुला का वह सञ्जय नामक पुत्र तो अकेला था किन्तु तुम अपरिमित बल और पुरुषार्थ वाले मेरे पाँच पुत्र हो।

मोहिं न सोक द्यूत तुम्ह हारे। बिपुल बरस बन भटकि दुखारे॥
दुख इक उर सालत दिन राती। चीर हरण कीन्हें कुलघाती॥

[पुनः उसने कहा कि हे पुत्रो!] मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि तुम लोग जुए में हार गये और बहुत वर्षों तक दुःख प्राप्त करते हुए वन में भटकते रहे, परन्तु एक दुःख अहर्निश मेरे हृदय को पीड़ित करता रहता है कि कुलघाती कौरवों ने मेरी पुत्रवधू [द्रौपदी] का चीर-हरण किया।

दोहा— जेहि छन आरत बचन कहि पुत्रबधू बिलखाय।
दुर्योधन कर कटु बचन मम उर सों नहिं जाय॥ १८७॥

जिस समय मेरी पुत्रवधू रो-रोकर आर्तनाद कर रही थी, उस समय दुर्योधन ने जो कटु वचन कहा था उसे मेरा हृदय भूल नहीं पा रहा है।

चौपाई— कौरव सों यासें संग्रामा। बध करि देहु मोहिं बिश्रामा॥
कथा समेत मातु की बानी। सुनि अनसुनी किये बक ध्यानी॥

इसलिए कौरवों से युद्धकर उनका वध करके मेरे हृदय की पीड़ा दूर कर मुझे शान्ति प्रदान करो। इस प्रकार भगवान द्वारा कथा के माध्यम से माता कुन्ती के उपदेश को सुनकर जो अपने को बड़े ज्ञानी समझ रहे हैं, उन भक्त अर्जुन ने बगुले की तरह ध्यान में रहते हुए सुनी-अनसुनी कर दी।

तब प्रभु निज मन अस अनुमाना। दीन्हों ज्ञानयोग कर दाना॥
पर यह थोरेउँ दियो न ध्याना। अब दउँ कर्मयोग अनुपाना॥

तब प्रभु ने अपने मन में विचार किया कि मैंने इसे ज्ञानयोग का दान दिया किन्तु इसने थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया, इसलिए अब इसे कर्मयोगरूपी पथ्य दूँगा।

यह बड़ रोग गुनहिं मन माहीं। सल्य चिकित्सा बिनु नहिं जाहीं॥
जदपि भूमिका बनि एहि ज्ञाना। सच मोहिं यह सदगुरु पहिचाना॥

भगवान मन ही मन सोच रहे हैं कि इसका यह रोग तो बहुत भयंकर है, जो बिना शल्य चिकित्सा के जा नहीं सकता। किन्तु चलो इस ज्ञान से इसे समझाने के लिए भूमिका तैयार हो गयी! क्योंकि इसने मुझे सच में सद्गुरु रूप में पहचान लिया है।

महाराज निरखै हरिराई। जिन्हकी निरखनि अतिहिं सुहाई॥
पार्थहिं लख ज्यों बैद्य निहारे। औषधि पर औषधी निकारे॥

महाराज भगवान को देख रहा है, जिनकी चितवनि अत्यधिक सुहावनी लग रही है। वे महात्मा अर्जुन को ऐसे देख रहे हैं, जैसे वैद्य रोगी को देखकर एक पर एक औषधि निकालता रहता है।

छंद— एहि समय जस झाँकी भई तेहि सुनहु साधक भक्तहू।
कोउ मूढ़ सुत बित तिय गृहादिक माँझ अति अनुरक्तहू॥
तेहि समय सरिता बाढ़ महँ गृह स्वजन सम्पति सब बहे।
सो आइ एहि लखि सुनत सबसों मूक जड़वत होइ रहे॥

इस समय जैसी झाँकी बनी हुई है, उसे साधक एवं भक्त सुनें- [महात्मा अर्जुन को देखकर ऐसा लग रहा है] जैसे कोई मूर्ख पुरुष अपने पुत्र, धन, स्त्री तथा गृह आदि में अति आसक्त हो गया हो, उसी समय नदी की बाढ़ में घर, सम्पत्ति, स्वजन सब बह गये हों, वह आकर इस घटना को देख-सुनकर सहसा मूक तथा जड़वत् होकर रह जाय-

जब आइ बैद्य सुनाव कछु सो अंतरिक्ष निहारतो।
दै औषधी अस चेत आवे रोग सम अनुहारतो॥
तउ चेततो नहिं अपर औषधि तबहिं लाय पिलावतो।
दै औषधी झँकझोर कबहूँ प्रेम बाहु हलावतो॥

और उसके उपचार के लिए वैद्य को बुलाया जाय तथा वैद्य के द्वारा पूछने पर भी वह पूर्ववत् आकाश की तरफ देखता रह जाय तब वह वैद्य उसके रोग को समझकर ऐसी दवा दे रहा हो जिससे उसकी चेतना पूर्ववत् हो जाय। तो भी उसकी चेतना नहीं आने पर एक के बाद दूसरी दवा लाकर पिला रहा हो तथा दवा पिला-पिलाकर कभी उसके शरीर को झकझोर रहा हो और कभी प्रेमपूर्वक उसकी बाहों को पकड़कर हिला रहा हो।

दोहा— तस नाड़ी पहिचानि प्रभु कह तजु अपुनो स्वार्थ।
करमपास जेहि सों नसै करमयोग गहु पार्थ॥ १८८॥

उसी प्रकार भगवान महात्मा अर्जुन की नाड़ी पहचान गये और बोले- हे पार्थ! अपने स्वार्थ का परित्याग करो और जिससे कर्मबन्धन भलीभाँति नष्ट हो जाता है उस कर्मयोग को धारण करो।

चौपाई— अबलौं ज्ञानयोग कहि गायों। परमारथ पथ सहज सुनायों॥
पर यह ज्ञान सुहाय न तोहीं। अस बिस्वास भयो अब मोहीं॥

अब तक तो मैंने पारमार्थिक मार्ग के अनुरूप तुम्हें अत्यन्त सहज ज्ञानयोग का उपदेश दिया, परन्तु [तुम्हारी स्थिति को देखकर] अब मुझे यह भलीभाँति विश्वास हो गया है कि तुम्हें यह ज्ञानयोग अच्छा नहीं लगा।

तासों कर्मयोग कर रूपा। गुडाकेस अति तव अनुरूपा॥
याकर बीज न कबहुँ नसावे। भगतहिं आतमज्ञान दिलावे॥

इसलिए हे पार्थ! यह कर्मयोग का स्वरूप तुम्हारे स्वभाव के अनुरूप है, क्योंकि इसका थोड़ा भी साधनरूप

बीज कभी नष्ट नहीं होता बल्कि भक्त को आत्मज्ञान दिला देता है।

साधन मध्य होय जो खंडित। तउ कबहूँ कर महिमा मंडित॥
पर यग मंत्र तंत्र संकल्पित। टूटत जीवन करत बिकल्पित॥

[यह निष्काम कर्मयोग तो ऐसा साधन है कि] यदि यह साधना के बीच में खण्डित हो जाता है, तो भी कभी न कभी लक्ष्य की प्राप्ति करा ही देता है, परन्तु नैमित्तिक मंत्र-तंत्र तथा यज्ञादि समय के पूर्व ही यदि खण्डित हो जाते हैं तो जीवन को अस्त-व्यस्त कर देते हैं।

कृषि कर कृषक परम हरषाहीं। पर हिम उपल सो जाइ नसाहीं॥
बहु बिधि बैद्य जदपि उपचारे। रंच चूक रोगी कहँ मारे॥

जैसे किसान बड़े प्रेमपूर्वक खेती करते हैं किन्तु ओले गिरने पर सारी फसल नष्ट हो जाती है उसी प्रकार यद्यपि वैद्य किसी रोग का अनेक प्रकार से उपचार करना प्रारम्भ करता है लेकिन थोड़ी-सी भूल होने पर रोगी का प्राणान्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

दोहा— कर्मयोग महँ जाहि दिन होवे दृढ़ संकल्प।
करउँ करम निष्काम अब करति न प्रकृति बिकल्प॥ १८९॥

किन्तु इस निष्काम कर्मयोग में [ऐसी बात नहीं है क्योंकि] जिस दिन मन में ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा हो जाती है कि आज से मैं निष्काम कर्म ही करूँगा तो प्रकृति उसमें बाधा नहीं डालती।

चौपाई— कर्मबंध यासों तू नासै। प्रभु अस कहहिं इहाँ का भासै॥
महाराज मत यह कहि नाथा। जैसेइँ गह्यो पार्थ मम साथा॥

इसके द्वारा तुम कर्मबन्धन का भलीभाँति नाश कर डालोगे- ऐसा कहकर भगवान यहाँ क्या संकेत दे रहे हैं? महाराज के मत से भगवान ऐसा कहकर मानो यह सिद्ध कर रहे हैं कि पार्थ ने जैसे ही मेरी शरणागति स्वीकार की-

तेहि छन छुटी करम की फाँसी। सोइ सुमिरि मोहिं आवति हाँसी॥
आत्मरूप सत अक्षर रूपा। नहिं मानइ निज अगुन अरूपा॥

उसी समय उसका कर्मबन्धन नष्ट हो गया था; किन्तु अब उसी का स्मरण कर मुझे हँसी आ रही है कि यह अपने को आत्मस्वरूप, सत्, अक्षरस्वरूप तथा निर्गुण निराकार रूप नहीं मान रहा है।

तबहिं भयो नहिं यह संन्यासी। तासों लगि पुनि कर्मन्हि फाँसी॥
संन्यासी जग दोइ प्रकारा। संत सास्त्र बेदन्हि अनुसारा॥

तभी तो यह संन्यासी नहीं बन पाया यही कारण है कि यह पुनः कर्मरूपी बन्धन में फँस गया। हे साधको! सन्तों एवं शास्त्रों के अनुसार जगत में दो प्रकार के संन्यासी होते हैं।

गृह तजि एक आइ गुरु पाहीं। करि सेवा कछु काल बिताहीं॥
अहं ब्रह्म सुनि सदगुरु बानी। करि बिस्वास बहुत सनमानी॥

एक घर का परित्याग कर गुरु के पास आते हैं और उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए कुछ समय व्यतीत करते हैं एवं गुरुमुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' सुनकर अत्यन्त श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनकी विधिवत पूजा करके-

दोहा— पूछत करऊँ काह अब आज्ञा देहु कृपाल।
देउँ दक्षिणा काह मैं भक्त संत प्रतिपाल॥ १९०॥

पूछते हैं कि हे भक्तों एवं सन्तों की रक्षा करने वाले! अब आप आज्ञा करें कि मैं क्या करूँ और आपको दक्षिणा में क्या दूँ?

चौपाई— देखि ताहि निर्मल निर्दोषा। कह गुरु परम प्रेम परिपोषा॥
जा जग रहु अपनपउ छिपाये। कबहिं परीक्षित सम कोउ आये॥

उसे निर्मल एवं निर्दोष देख हृदय में अति सन्तुष्ट होकर परम प्रेम देते हुए गुरुदेव कहते हैं कि हे प्रिय तुम अब जाओ! जगत में अपने को छिपा कर रखना [कोई तुम्हारी सिद्धावस्था पहचान न ले] किन्तु कभी किसी परीक्षित

जैसे अधिकारी के आने पर-

तेहिं सम्मुख भाषहु निज ज्ञाना। यहइ दक्षिणा देहु सुजाना॥
उपमन्यू आरुणिहिं समाना। अपर करत गुरु कर्म सयाना॥

उसके सामने अपने परम ज्ञान को प्रकट कर देना, हे मतिमान्! मुझे यही दक्षिणा दो! दूसरा बुद्धिमान संन्यासी आरुणि और उपमन्यु के समान होता है जो सद्गुरु के शरणागत होकर निष्काम कर्म करने लगता है।

उनहिं सगुण ब्रह्महि पहिचानी। करत प्रसन्न करम मन बानी॥
सेवत मान अमानहिं त्यागी। अस गुरु माया तेहि न लागी॥

वह उन्हें सगुण ब्रह्म जानकर मन, वचन, कर्म के द्वारा [सेवा-शुश्रूषा करके] प्रसन्न करता है। वह मान-अपमान त्यागकर सेवा करता है, इसलिए गुरु की माया (सुख, ऐश्वर्य, वैभव एवं सम्पत्ति) उसके मन को स्पर्श नहीं कर पाती।

लखि ताकर अति बिमल बिरागा। कह सदगुरु भरि अति अनुरागा॥

जब उसके निर्मल वैराग्य को गुरुदेव देखते हैं तो अत्यन्त प्रेम में भरकर उससे कहते हैं -

दोहा— जब जो चाहइ तोहिं सो मिलइ दियों बरदान।
पराभक्ति अरु सक्ति सँग लै बर आतमज्ञान॥ १९१॥

हे प्रिय! तुम्हें जब जो कुछ चाहिए वह सब मिल जायेगा, ऐसा मेरा वरदान है [इतना ही नहीं] मैं तुम्हें पराभक्ति एवं ब्रह्मशक्ति के साथ-साथ आत्मज्ञान का भी वरदान दे रहा हूँ,इसे स्वीकार करो।

चौपाई— इनसों अपर जो लटकें भटकें। गुरु सिद्धांत जबहिं चह झटकें॥
सनै सनै तिन्ह कर्म नसावें। कछुक काल कै जन्म गँवावें॥

[हे साधको! हे भक्तो! महाराज स्पष्ट कह रहा है कि] इनसे अलग अन्य शिष्य जो सद्गुरु के सिद्धान्त की चाहे जब अवमानना करने वाले होते हैं, वे लटकते-भटकते रहते हैं। उन शिष्यों के कर्मों का नाश धीरे-धीरे बहुत वर्षों में या इस जीवन के उपरान्त दूसरे जीवन में हो जाता है।

गृह महँ दुइ संन्यासी बसहीं। गुरु आज्ञा तहँ तन मन कसहीं॥
बैस्य तुलाहु अजामिल गनिका। स्वपच किरात सदन जस बधिका॥

उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में भी दो प्रकार के संन्यासी वास करते हैं जो गुरु आज्ञानुसार वहीं अपने तन-मन का संयम करते हैं। जैसे कर्मयोगियों में भक्त तुलाधार वैश्य, अजामिल, गणिका, श्वपच, किरात तथा सदन कसाई [निष्काम भक्तियोग के साथ रहते हैं]-

जनकहु सुरघु चुडाला पारथ। पाये बहु गृह ज्ञान यथारथ॥
गाँव नगर घर बन सब जाती। बसहिं तहाँ भक्तन्ह कर पाँती॥

तथा दूसरी तरफ राजर्षि जनक, किरातराज सुरघु तथा चूडाला जैसे बहुत-से भक्त हुए हैं जिन्होंने गुरु आज्ञानुसार घर में ही रहते हुए ज्ञानयोग अपनाकर आत्मज्ञान प्राप्त किया है। उसी प्रकार गाँव-नगर, घर-वन तथा समस्त जातियों में जो भक्तों का समूह वास कर रहा है-

जहँ जेहि राखत जोइ करावत। गुरु अग्या तहँ प्रभु पद पावत॥
कहँलौं कहउँ सोइ संन्यासी। जाहि मिलेउ बर गुरु अबिनासी॥

उनमें से सद्गुरु जिसे जहाँ रखकर जो कुछ भी करवाता है, वह उसी की आज्ञानुसार (व्यवहार करते हुए) परम पद प्राप्त कर लेता है। अरे! मैं कहाँ तक कहूँ, जिसे परम श्रेष्ठ अविनाशी एवं आत्मज्ञानी सद्गुरु मिल गया है [वह घर में रहे अथवा वन में] वह तो संन्यासी ही है।

दोहा— गुरुहिं मिले कछु करन कहँ सेष रहइ तौ जानु।
हुती निकरि गर फाँस जो पुनि सो तहँइ फँसानु॥ १९२॥

और भी सुनें- यदि ऐसे सद्गुरु के मिल जाने पर भी कुछ करना शेष रह जाता है तो उनके प्राप्त होने पर जो कर्म की फाँसी गले से निकल गयी थी, वह पुन: वहीं लग जाती है।

चौपाई— जो पै अस तौ कस जग रहई। उत्तर याकर जस गुरु कहई॥
कठपुतली सम देह नचावें। जगत दिखाइ परम सुख पावें॥

यदि ऐसी बात है तो फिर जगत में कैसे रहें ? [यदि ऐसा कोई प्रश्न करे तो] उसका उत्तर यह है कि जैसा गुरुदेव कहें वैसे रहिए। वे आपके शरीर को कठपुतली की तरह नचावें तथा आपकी नाच जगत को दिखाकर अति प्रसन्न हों–

एहि समेत दरसक कर द्रष्टा। होइ रहउ हे सृष्टी स्त्रष्टा॥
अस ब्यवहार दक्षिणा देहू। तेहिं प्रतिफल हरि पद तुम्ह लेहू॥

हे संकल्प मात्र से सृष्टियों की रचना करने वाले आत्मा! इस प्रकार इस शरीर के व्यवहार तथा इसके दर्शकों के आप द्रष्टा बन जायें। ऐसे व्यवहार को गुरुदक्षिणा के रूप में देकर उसके बदले में आप ब्रह्मपद प्राप्त कर लें।

अबहिं ज्ञान दै युद्ध करावहिं। पुनि अर्जुन कहँ साधु बनावहिं॥
प्रथम देहिं घर बार छड़ाई। तब हरि निज पद दैं हरषाई॥

[आप सब यह जान लें कि] भगवान अभी भक्त अर्जुन को ज्ञान देकर धर्मयुद्ध करायेंगे फिर सर्वप्रथम उन्हें संन्यासी बनाकर घर–बार का त्याग करायेंगे तथा कालान्तर में हर्षित होकर ब्रह्मपद दे देंगे।

ज्ञान देइ हरि परम सनेहीं। धर्मयुद्ध दछिना महँ लेहीं॥
बरु ते उनसों नहिं प्रगटाये। महाराज यह मरम बताये॥

जो सबका परम हित चाहने वाले हैं, वे भगवान नारायण महात्मा अर्जुन को ज्ञान देकर उनसे दक्षिणा स्वरूप धर्मयुद्ध ही तो ले रहे हैं! भले वे उनके सामने प्रकट न कर रहे हों, लेकिन महाराज तो उसी रहस्य को खोल रहा है।

दोहा— यासेहु खोलत मरमु यह यदि जानइ कोउ आज।
कहत अहउँ मैं कलजुगी कस करि सकुँ अस काज॥ १९३॥

महाराज तो इस राज को इसलिए भी खोल रहा है कि यदि आज कोई इसे जान भी ले तो कोई बात नहीं क्योंकि वह कहेगा कि मैं कलियुगी मानव हूँ, अत: इस प्रकार का कार्य कैसे कर सकता हूँ।

चौपाई— अहो बात यह अति अचरज की। सिष्य कलजुगी गुरू बिरज की॥
यह अस भौ कोउ सुरपुरबासी। कहइ जहाँ तहँ नरपुर आसी॥

अहो! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि शिष्य अपने को कलियुगी और अपने गुरु को सतयुगी समझ रहा है। यह तो वैसा ही हो गया जैसे कोई स्वर्गलोक का वासी होकर जहाँ–तहाँ कहे कि मैं मृत्युलोक का वासी हूँ।

कै कोउ नृप कह अहउँ भिखारी। जासे हँसहिं सबहिं दै तारी॥
अस नहिं ज्ञानयोग की रीती। यामें गुरु उर आय जो प्रीती॥

या कोई राजा कहे कि मैं भिखारी हूँ जिससे सभी ताली पीट–पीटकर हँसने लगें। ज्ञानयोग का यह नियम नहीं है इसमें तो जब सद्गुरु के हृदय में प्रेम उमड़ जाता है–

तेहि छन सत्य बतावत ताही। तेरो रूप ब्रह्म कर आही॥
ता छन कछु नहिं सेष करन को। ब्रह्म धरम बस रहत धरन को॥

उस समय वह शिष्य से सत्य बताते हुए कहता है कि तेरा रूप ब्रह्म का ही है (तुम ब्रह्म ही हो)। तब उसके लिए कुछ करना शेष नहीं बचता, बल्कि एकमात्र भगवत् धर्म ही धारण करना होता है।

बहुरि अहइ का सो ब्यवहारहु। स्थितप्रज्ञ बिषय महँ धारहु॥
महाराज आवत रन माहीं। जहँ हरि पार्थहिं दिब्य लखाहीं॥

तो फिर वह भगवत् धर्म क्या है ? इसका उत्तर [इसी अध्याय में] स्थितप्रज्ञ के लक्षण में दिया गया है। अब महाराज युद्धभूमि में आ रहा है, जहाँ अर्जुन को भगवान दिव्य ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं।

प्रभु कह अबलौं सांख्य सुनायों। अब सुनु कर्मयोग हर्षायों॥

भगवान ने कहा- [हे पार्थ!] मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। अब तक मैंने ज्ञानयोग सुनाया अब कर्मयोग भी सुनो।

दोहा— अस कहि प्रभु बिलगावहिं ज्ञान कर्म दोउ मार्ग।
किंतु कहत कोउ कर्म सों ज्ञान करत अनुराग॥ १९४॥

[हे साधको!] ऐसा कहकर भगवान ने ज्ञानयोग और कर्मयोग- ये पृथक्-पृथक् मार्ग हैं ऐसी स्पष्ट घोषणा कर दी है; किन्तु कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान को कर्म से अति प्रीति है [अर्थात् इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है]!

चौपाई— यासें परम सुतंत्र न ज्ञाना। कर्म चहत यह नीति सुजाना॥
पर यह मत प्रभु सास्त्र बिरुद्धा। साधन पथ महँ अतिहिं असुद्धा॥

इसलिए हे बुद्धिमानो! ज्ञान परम स्वतंत्र नहीं है, वह कर्म की अपेक्षा रखता है, ऐसा ही नीति भी कहती है, परन्तु उनलोगों का यह सिद्धान्त भगवान और शास्त्र के सर्वथा विपरीत है, यह सिद्धान्त साधना के मार्ग में अति अशुद्ध है।

नभ इव सांत सूर्यवत द्रष्टा। बिचरै सर्ब कर्म तजि स्त्रष्टा॥
यह तौ कर्म कह्यो नहिं जावे। यासें ज्ञान सुतंत्र कहावे॥

अरे! समस्त कर्मों को त्यागकर कर्ता यदि आकाश की भाँति सम-शान्त और सूर्य के समान द्रष्टा होकर स्थित रहे; तो यह कर्म नहीं कहा जा सकता; इसी से ज्ञान स्वतंत्र कहलाता है।

चाहइ कर्म ज्ञान कर साथा। तेहि बिनु ताकर बनइ न माथा॥
यासें कर्महु योग कहावे। फल याकउ प्रभु पदहिं दिलावे॥

हाँ, [यह बात अवश्य है कि] कर्म को ज्ञान का साथ चाहिए क्योंकि उसके (ज्ञान के) बिना उसका (कर्म का) स्वरूप निखर नहीं सकता। यही कारण है कि वह कर्म भी योग कहलाता है तथा उसका भी फल यही होता है कि वह ब्रह्मपद दिला देता है।

पुनि क्यों ज्ञान योग संजुक्ता। जब यह परम सुतंत्र बिमुक्ता॥
कारन भक्त सजग होइ जावे। आत्मरूपता नहिं बिसरावे॥

तब ज्ञान के साथ योग को क्यों संयुक्त किया गया है जबकि यह परम स्वतंत्र एवं सदा से मुक्त है? हाँ, वह इसलिए कि साधक सजग हो जाय और आत्मरूपता की स्मृति न खो बैठे।

दोहा— अहं ब्रह्म भयो ज्ञान तौ अनासक्ति भइ योग।
सब प्रपंच निर्लेपता यासें भा संयोग॥ १९५॥

इस प्रकार 'मैं ब्रह्म ही हूँ'- यह तो हुआ ज्ञान एवं समस्त प्रपञ्चों (कर्मों) से अनासक्त हो जाना, उसमें लिप्त न होना- यह हुआ योग। इसी कारण ज्ञान और योग का संयोग हुआ है।

चौपाई— ज्ञानयोग महँ याही दृष्टी। मम बस रचइ प्रकृति सब सृष्टी॥
तन मन बचन कर्म कर कर्ता। यहइ प्रकृति अस गुनि अनुहर्ता॥

ज्ञानयोग के अन्तर्गत यही जानना-मानना होता है कि मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा की अध्यक्षता में ही प्रकृति समस्त सृष्टियों की रचना करती है तथा तन, मन, वचन के द्वारा समस्त कर्मों का कर्ता भी यही प्रकृति है, ऐसा सोचकर अपने स्वरूप के अनुसार बर्ताव करना चाहिए।

कर्मयोग महँ यह अवधारण। यद्यपि मैं आतम अवतारण॥
तउ तन मन बच कर्महिं गहऊँ। चित्त सुद्धि हित मैं सच कहऊँ॥

किन्तु कर्मयोग में यह समझना होता है कि यद्यपि मैं आत्मरूप से ही प्रकट हूँ तो भी यह सच कह रहा हूँ कि शरीर, वाणी और मन के द्वारा मैं एकमात्र चित्त शुद्धि के निमित्त कर्म कर रहा हूँ।

मैलो दर्पन रूप न आवत। तिमि असुद्ध चित बहु भरमावत॥
भगवत कर्म छुड़ावत ताही। पुनि निज रूपहु सत्य लखाही॥

जिसप्रकार मैले दर्पण में स्वयं का रूप प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार अशुद्ध चित्त भी [स्वयं को] बहुत भ्रमित

करता रहता है। भगवत् कर्म उस [चित्त के मैल] को छुड़ा देता है तब अपना वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगता है।

सच पुछाय तो उत रन माहीं। हरिहिं कृपा मोहिं साँच लखाहीं॥

सच पूछा जाय तो उधर रणभूमि में मुझे भगवान श्रीकृष्ण की कृपा का यथार्थ दर्शन हो रहा है।

दोहा— दिये बनाय हुते प्रभुहु रन संन्यासिहिं पार्थ।
कारन सबहीं त्यागनो कह्यो जाय परमार्थ॥ १९६॥

वह यह कि युद्धभूमि में प्रभु ने भक्त अर्जुन को संन्यासी ही बना दिया था क्योंकि सर्वस्व (सम्पूर्ण जगत) का त्याग ही परमार्थ (संन्यास) कहलाता है।

चौपाई— सच यति सोइ जाये गृह त्यागी। स्वजन बिमुख प्रभु पद अनुरागी॥
तबहिं कहहिं प्रभु यह सब देहा। एक ब्रह्म कर पुनि क्यों नेहा॥

यथार्थ में संन्यासी वही है जो गृह त्याग समस्त स्वजनों से उदासीन होकर एकमात्र ब्रह्म के चरणों में मन लगाता है। तभी तो भगवान कह रहे हैं कि ये सारे शरीर एक ब्रह्म के ही हैं फिर इनसे मोह क्यों कर रहे हो?

हनि इन्हिं सब यति बनि गृह त्यागू। मोह निसा बहु सूत्यो जागू॥
समुझि परइ न गुप्त हरि बानी। इहइ दसा सब जे अनुमानी॥

इन सबका वध करके गृहत्याग कर संन्यास ले लेना, मोहरूपी रात्रि में बहुत सो लिये [इसलिए ज्ञान रूपी दिन में] अब जग जाओ, किन्तु उन्हें भगवान की रहस्यपूर्ण वाणी समझ में नहीं आ रही है [अरे! कहाँ तक कहा जाय] समस्त अनुमानियों का भी यही हाल है।

पुनि हरि कह जग अति भय आही। कर्मयोग गहि नहिं बिलपाही॥
महाबाहु कह काह महत भय। कहहु नाथ मम चित अति बिस्मय॥

पुनः भगवान ने कहा कि हे प्रिय! जगत में अत्यन्त भय है किन्तु कर्मयोग धारण करने से तुम विकल (भयभीत) नहीं होओगे। तब भक्त अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो! यह महाभय क्या है, इसे आप बतावें? अब तो चित्त में अति आश्चर्य हो रहा है!

दीन दयाल कहत हरषाई। महाबीर लखु यहउ सचाई॥
मृत्यू भय सम जग भय नाहीं। कर्मयोग पथ मुक्त कराहीं॥

दीनों पर दया करने वाले भगवान ने हर्षित होकर कहा- हे महावीर! इस यथार्थ को भी जान लो कि जगत में मृत्यु के भय के समान कोई भय नहीं है किन्तु कर्मयोग का मार्ग उस भय से भी मुक्त कर देता है।

अस को जीव मरन जो चावै। बरु जग अति दारुन दुख पावै॥

[हे पार्थ! तुम्ही बताओ] ऐसा कौन-सा जीव है जो मरना चाहता है भले ही जगत में असह्य कष्ट पा रहा हो।

दोहा— सुनहु बीर अस मृत्यु भय अपबर्गहु बिसराइ।
तन समेत जानों चहहिं स्वर्गलोक हरषाइ॥ १९७॥

हे पार्थ! सुनो, इस मृत्यु का भय तो ऐसा है कि मोक्ष को भूलकर इसी शरीर के साथ लोग प्रसन्न मन से स्वर्ग जाना चाहते हैं।

चौपाई— जाय मृत्यु भय याके लाने। बहुत असुर तप गहन भुलाने॥
दसकंधर हिरनाकुस आदी। औरउ जो जग बहु भयवादी॥

इस मृत्यु के भय से बच जाऊँ, ऐसा सोचकर बहुत-से असुर घोर तपरूपी गहन वन में भ्रमित हो गये। रावण, हिरण्यकशिपु तथा और भी अनेक असुर जो जगत में मृत्युभय को ही सारे अनर्थों का कारण मानते थे-

अति भय बिकल घोर तपु कीन्हें। सिव ब्रह्मा तिन्ह बहु बर दीन्हें॥
ते माँगहिं हम मरहिं न मारे। होयँ अमर नित मृत्यु निवारे॥

उन्होंने भय से अति व्याकुल होकर घोर तप किया, जिससे उन्हें भगवान शंकर एवं ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर

नाना प्रकार के वरदान दिये। वे तो यही वरदान माँग रहे थे कि हम किसी के मारने से मरें ही नहीं अपितु सदा के लिए मृत्यु से परे होकर अमर हो जायँ-

पर ते भये अवरु भयभीता। जदपि धरनि सब लोकहु जीता॥
सूकर कूकर कृमी कबाड़ौ। तिन्ह कर प्रान पकरि यदि काड़ौ॥

किन्तु वे तो [मृत्यु के भय से] और भी भयभीत होते गये जबकि उन्होंने मृत्युलोकसहित समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर ली थी। [इतना ही नहीं पार्थ!] कुत्ते, सूअर एवं कीड़ों-मकोड़ों की बाढ़ इतनी है, मानो वे कूड़े-कचरे हों, यदि उन्हें पकड़कर उनके प्राण निकालना चाहो-

कहउ देउँ बर आजौं हरि पद। कै दिवि सुख अरु देवराज पद॥
तउ अति भीत कहहिं बिकलाने। चहहिं न हम तन तजन सयाने॥

और कहो कि मैं तुम्हें [इस शरीर के बदले] अभी श्रेष्ठ ब्रह्म पद देता हूँ अथवा स्वर्ग का सुख या देवराज इन्द्र का पद देता हूँ तो भी वे मृत्यु के भय से अत्यन्त भयभीत होकर व्याकुल होते हुए कहेंगे कि हे बुद्धिमान्! हमें आप छोड़ दें, हम यह शरीर छोड़ना नहीं चाहते।

दोहा— भय कारन जग बहुत पर मृत्यु महाभय जानु।
अब सुनु सकल प्रकार भय बहुरि तिन्हहिं पहिचानु॥ १९८॥

हे पार्थ! जगत में भय के बहुत-से कारण हैं किन्तु महाभय का तो एक ही कारण है वह है मृत्यु, ऐसा स्पष्टतया जानो। अब भय के विविध स्वरूपों को सुनकर उन्हें भलिभाँति पहचान लो।

चौपाई— कोउ दरिद्रता सों भयभीता। जाय न बहु श्रम सों एहि जीता॥
कोउ डर नित सुख जाय न मेरो। जेहि लखि मुनि जन हँसहिं घनेरो॥

कोई तो दरिद्रता के भय से भयभीत है क्योंकि दिन-रात परिश्रम करने पर भी उस पर विजय प्राप्त नहीं कर पा रहा है; मेरा सुख न चला जाय इसी भय से कोई सदा डरता रहता है, उसको यही डर लगा रहता है, जिसे देखकर सन्तजन ठहाका लगाकर हँसते हैं।

कोउ अपुनें सों बैरी भारो। निस दिन उर भय वाको धारो॥
मेरो मान भंग नहिं होवे। एहि भय कोउ निज नीदहिं खोवे॥

कोई अपने से वैरी को विशेष बलवान देखकर रात-दिन हृदय में उसी के भय से भयभीत रहता है तथा किसी को यह भय लगा रहता है कि मेरा मान-सम्मान न चला जाय, इसी भय से उसकी नींद उड़ जाती है।

बिपुल बुढ़ापा कर डर मानहिं। अरु तेहिं सरिस रोग नहिं जानहिं॥
कौन करिहिं तेहि छन सेवकाई। पतो न मन हरि नामहुँ आई॥

बहुत-से लोग बुढ़ापे के भय से भयभीत रहते हैं तथा उसके समान किसी रोग को नहीं मानते [और सोचते रहते हैं कि] उस समय हमारी सेवा कौन करेगा? पता नहीं उस समय भगवान का नाम भी मन में आयेगा या नहीं।

कोउ भय खावे स्वयं क्रोध सों। चाहे जब आवत अबोध सों॥
काम क्रोधादिक तें भयभीतो। साधक सों जग जाय न जीतो॥

वैसे ही कोई अपने क्रोध से भयभीत रहता है क्योंकि वह मूर्खों के क्रोध की तरह चाहे जब धावा बोल देता है। काम-क्रोध आदि से अति भयभीत साधक द्वारा तो मायारूपी जगत जीता ही नहीं जा सकता।

दोहा— यासें गहि गुरु सरन सो साधन करत अखंड।
उन्हकी महिमा सों जितै माया प्रबल प्रचंड॥ १९९॥

इसलिए वह [भगवद्भक्त साधक] सद्गुरु की शरण में रहते हुए [उनके द्वारा बताई हुई] साधना अखण्ड करता है तो उनकी कृपा से ही प्रबल एवं अति दुस्तर माया पर विजय प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— रावन सम सुत कोउ डरपावत। ताकें भय पितु बनहिं सिधावत॥
राम बिमुख कैकेइ सम माई। अस डराय सुत जाय दुकाई॥

कोई रावण के समान पुत्र [अपने दुर्व्यवहार से] पिता को भयभीत कर देता है और उसके भय से पिता वन को चला जाता है, उसी प्रकार भगवत् विरोधी कोई कैकेयी जैसी माता ही अपने पुत्र को ऐसा भयभीत कर देती है कि पुत्र उससे छिप जाता है [अर्थात् उसका त्याग ही कर देता है]।

कोउ सेवक भस्मासुर जैसो। जेहि भय भगे स्वामि सिव ऐसो॥
बेन कंस सम खल नृप जानी। प्रजा डरति निज कालहि मानी॥

उसी प्रकार भस्मासुर जैसा कोई सेवक मिल जाता है जिसके भय से उसका स्वामी भगवान शिव की तरह भाग खड़ा होता है। वैसे ही वेन तथा कंस जैसे दुष्ट राजा को देखकर प्रजा अपना काल समझते हुए उससे भयभीत रहती है।

लहरै नित जेहि बिरद पताको। हार न होय कबहुँ भय वाको॥
भर्ता परतिय गामि न होवे। एहि भय कोउ तिय आपा खोवे॥

वैसे ही जिसकी कीर्ति की ध्वजा नित्य फहरा रही हो उसको भय है कि कहीं मेरी पराजय न हो जाय। उसी प्रकार कोई स्त्री इसी भय से खोयी-खोयी रहती है कि मेरा पति परायी स्त्री के साथ सम्बन्ध न बना ले।

तैसेइ कोउ पति कर अंदेसो। यहि मानव मन कर संदेसो॥
कोउ छलि कपटी सों भयभीतै। मोह अनीक भीरु कस जीतै॥

वैसे ही किसी पति को भी [अपने पत्नी के प्रति] भय बना रहता है, यही तो मानव-मन का स्वभाव है। कोई छली-कपटियों के भय से भयभीत रहता है, अत: ये भीरु मोह रूपी सेना पर कैसे विजय प्राप्त कर सकते हैं।

दोहा— दुख न देहिं सब भय इतक जितक मृत्यु भय देइ।
प्राणिन्हि सकल डराइ यह अपुनें बस करि लेइ॥ २००॥

[हे पार्थ!] ये समस्त भय उतना दु:ख नहीं देते जितना अकेले मृत्यु भय देती है। अरे! उसने तो सम्पूर्ण योनियों के प्राणियों को भयभीत करके अपने वश में कर रखा है।

चौपाई— यासें सुगम करम पथ भाषउँ। जो अनुसर तेहि निज पद राखउँ॥
एहि महँ एक बुद्धि निर्नायक। अपर भेद बुद्धी भयदायक॥

इसलिए अब मैं अत्यन्त सुगम कर्मयोगरूपी मार्ग का उपदेश करने जा रहा हूँ जो इसका अनुसरण करता है उसे अपने पद पर प्रतिष्ठित कर देता हूँ। इस [कल्याण मार्ग] में निश्चयात्मिका बुद्धि तो एक ही है किन्तु जो दूसरी बुद्धियाँ हैं जिनमें बहुत ही भेद हैं वे [सच में] भय देने वाली ही होती हैं।

कहे पार्थ निस्चय बुधि स्वामी। काह कहहु तेहि बनुँ अनुगामी॥
प्रभु कह ब्रह्म एक मग दोऊ। ज्ञान कर्म कह मुनि सब कोऊ॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! कृपया यह बतायें कि वह निश्चयात्मिका बुद्धि क्या है जिससे मैं उसका अनुगामी बनूँ? भगवान नारायण ने कहा- हे पार्थ! ब्रह्म तो एक ही है किन्तु उसकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं, जिन्हें समस्त मुनिजन ज्ञानयोग एवं कर्मयोग कहते हैं।

मार्ग भेद पर लक्ष्य न भेदा। गावहिं सिद्ध संत अरु बेदा॥
ज्ञान भये मग दोउ नसावें। बाहन तजत लक्ष्य जिमि पावें॥

सिद्ध सन्त और वेद कहते हैं कि मार्ग में निश्चित रूप से भेद है किन्तु लक्ष्य में भेद नहीं है क्योंकि दोनों का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्म को पाना है। जिस प्रकार गन्तव्य आ जाने पर वाहन छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त दोनों मार्ग अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, जो बुद्धि ऐसा जानती है वही निश्चयात्मिका बुद्धि कही जाती है।

स्वर्ग सुखहु सबु आवहिं जावहिं। कोउ अनंत सुख कबहुँ न पावहिं॥
अहउँ ब्रह्म जग माया मोरी। निस्चयमति यह जान अँजोरी॥

निश्चयात्मिका बुद्धि यह भी जानती है कि स्वर्ग के समस्त सुख आने-जाने वाले हैं, अत: कोई भी अनन्त सुख प्राप्त नहीं कर सकता तथा यह भी जानती है कि मैं ही ब्रह्म हूँ और यह जगत मेरी माया है।

दोहा— ब्रह्म अनंत अनंत सुख सो सुख कबहुँ न जाय।
बूझति मति निस्चयात्मिका यासों ब्रह्महिं धाय॥ २०१ (क)॥

'ब्रह्म अनन्त है और ब्रह्मसुख भी अनन्त है, उस दिव्य सुख का कभी नाश नहीं होता'- निश्चयात्मिका बुद्धि ऐसा भलीभाँति जानती है इसलिए ब्रह्म की ओर ही गमन करती है।

अस उर समुझि भगत मम करम करत निःकाम।
पावत थोरेइँ काल महँ मोक्ष परम बिश्राम॥ २०१ (ख)॥

हृदय में ऐसा जानकर मेरे भक्तजन निष्काम कर्म करते हुए कुछ ही समय में परम विश्रामरूप मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

चौपाई— पर जिन्हकी मति एहि बिपरीता। नित्य रहत ते अति भयभीता॥
जानत ते अनंत संसारा। यासों कोउ न पावत पारा॥

किन्तु जो इस बुद्धि से विपरीत बुद्धि वाले हैं, वे सदा अत्यन्त भयभीत रहते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि यह संसार अनन्त है, अतः इसका कोई पार नहीं पा सकता।

अहउँ ब्रह्म दम्भी अस भाषहिं। अस बिपरीत बुद्धि सों माखहिं॥
जस तन बिपुल बिपुल प्रभु तैसो। होइ सकत पुनि एकहु कैसो॥

दम्भी पुरुष कहते हैं कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार विपरीत बुद्धि द्वारा आलाप-प्रलाप करते हुए कहते हैं कि जिसप्रकार शरीर अनेक है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक है फिर वह एक कैसे हो सकता है?

बेदमंत्र बहुभाँति उचारहिं। मधुर कथा सबसों कहि डारहिं॥
जनम करमफल जासों होवे। सुख सम्पति मन जाहि बिगोवे॥

वे बहुत प्रकार के वेद मंत्रों का उच्चारण करते हुए सभी के सामने मधुर कथा कहते रहते हैं जिससे कर्मफल को देने वाले पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है। जिनका मन पूर्णरूपेण सुख-सम्पत्ति में ही लिप्त है-

ते पुष्पित तरु सम सुनु ताता। कहत दिखाऊ माधुरि बाता॥
कोउ सुख नाहिं स्वर्ग सुख जैसो। मोक्ष सुखहु तेहि पाहिं अनैसो॥

हे तात! सुनो- वे केवल पुष्प देने वाले वृक्ष के समान दिखावटी मधुर बातें करते हैं तथा कहते हैं कि स्वर्ग के सुख के समान कोई श्रेष्ठ सुख है ही नहीं, यहाँ तक कि मोक्ष सुख भी उसके सामने तुच्छ ही है।

इच्छित फलहिं ते ईस्वर मानत। तेहि लाने जप तप ब्रत ठानत॥
सुख सम्पति महँ मन अनुरक्ता। ते किमि जानहिं प्रभुहिं अभक्ता॥

वे अपने इच्छित फल को ही अपना भगवान मानते हैं तथा सम्पूर्ण जप, तप, व्रत आदि एकमात्र उसी को प्राप्त करने के लिए करते हैं। अतः वे सुख एवं ऐश्वर्यों में आसक्त चित्त वाले, भक्ति से हीन [मूर्ख] ब्रह्म को क्या जानेंगे।

छंद— आसक्त जे बहु भोग अरु ऐश्वर्य महँ दिन रातहीं।
भइ बुद्धि जासे अति भ्रमित मानहिं न गुरु पितु मातहीं॥
उनकै हृदय नहिं ज्ञान योग कि बात कबहूँ आवई।
जासे न लहत समाधि अस मम सहित मुनिजन गावई॥

हे कौन्तेय! जो अहर्निश भोग एवं ऐश्वर्यों में अति आसक्त हैं जिससे उनकी बुद्धि अत्यन्त भ्रमित हो चुकी है, वे माता-पिता, गुरु आदि किसी की भी बात नहीं मानते। [सच पूछो तो] उनके हृदय में ज्ञानयोग और कर्मयोग की बातें कभी आ ही नहीं सकतीं, जिसके कारण वे कभी भी समाधि प्राप्त नहीं कर सकते- ऐसा मेरे सहित मुनिजन भी कहते हैं।

सोरठा— प्रभु यह काह समाधि जाहि लहै नहिं मूढ़ सो।
पूछउँ पद अवराधि तासु रूप मो सन कहहु॥ २०२॥

महात्मा अर्जुन ने पूछा- हे प्रभो! वह समाधि है क्या, जिसे वह मूर्ख प्राप्त नहीं कर पाता? मैं आपके चरणों

की वन्दना करते हुए पूछ रहा हूँ, अत: उसके स्वरूप को मुझसे बतायें।

चौपाई— अति सम सांत चित्त सुनु बीरा। ताकोइ नाम समाधी धीरा॥
जासु चित्त नहिं होवे ऐसो। समुझु तासु चित बंजर जैसो॥

हे महावीर अर्जुन! हे धैर्यवान्! सुनो- जो चित्त अति सम-शान्त है, उस चित्त की प्राप्ति का ही नाम समाधि है। जिसका चित्त ऐसा नही है उसका चित्त बंजरभूमि के समान है।

आत्मबिबेक न चित महँ आवे। निस्चित आश्रय मन नहिं पावे॥
ब्रह्म कामना उपज न कबहूँ। दुख पर दुख आवे बरु जबहूँ॥

उस चित्त में आत्म विवेक जागृत नहीं होता, न ही मन को किसी निश्चित आश्रय की प्राप्ति हो पाती है और न ही ब्रह्म प्राप्ति की कामना उत्पन्न हो पाती है, भले ही दु:ख पर दु:ख आते रहें।

औदक नीची गैल न सूझें। चलत कोउ मग काहु न बूझें॥
त्रिगुन बिषय तिन्ह बेद प्रकासे। अस उन्ह मतहु लबेदहि भासे॥

उन्हें ऊँचा-नीचा मार्ग दिखाई नहीं पड़ता चाहे जिस अनैतिक सिद्धान्त पर चल पड़ते हैं, किसी से परामर्श भी नहीं लेते। [अत: उन्हें समाधि का पता कैसे चले] हे महाबाहो! उनके वेद तो तीनों गुणों के कार्यरूप विषयों को ही प्रकाशित करते हैं अत: उनके वेद को लवेद (मनमाना सिद्धान्त) ही समझो।

कउन सो बेद कहहु प्रभु उन्हकर। आदिहुँ सों रुप निरखउँ जिन्हकर॥
गुडाकेस निर्मल मति तोरी। कटु सच सुनि मोहिं देहु न खोरी॥

हे प्रभो! उनके वे वेद कौन-से हैं आप बतायें जिन्हें प्रारम्भ से ही पहचान लूँ। भगवान ने कहा- हे निद्राविजयी! सुनो! तुम्हारी बुद्धि तो अति निर्मल है, इसलिए तुम उस कटु सत्य को सुनकर मुझे दोष न देना।

दोहा— जिनि बेदन्ह के मन्त्र सों बिषय भोग प्रगटाय।
समुझु तिन्हहि तू बेद सच जपहिं ते बहु मन लाय॥ २०३॥

जिन वेद-मन्त्रों से विषय-भोग की उत्पत्ति होती है अर्थात् जिन मंत्रों से विषय भोग की कामनाएँ पूरी होती हैं सच में उन्हें ही तुम उनका वेद समझो जिनका वे अति प्रेमपूर्वक अनुष्ठान करते हैं।

चौपाई— सुनु अब तिन्हि बिस्तार बतावउँ। पृथक पृथक करि तोहि लखावउँ॥
लोभहि बेद पिता एक रूपा। देत बिरासत महँ धनकूपा॥

सुनो! अब उनके वेदों को विस्तार पूर्वक बता रहा हूँ तथा पृथक्-पृथक् करके उन्हें तुम्हें दिखा भी रहा हूँ। अपना पिता ही लोभरूपी एक वेद है, जो अपने धन का उत्तराधिकारी बनाकर पुत्र को धनरूपी कुएँ में गिरा देता है।

बेद जननि जे ममता देवे। जासे सुत माया जग सेवे॥
काम बेद निज नारी रूपा। जेहि सेवत पति पर भवकूपा॥

माँ भी एक वेद है जो ममता का दान करती है जिससे पुत्र मायामय जगत की उपासना करता रहता है। अपनी पत्नी ही कामरूपी वेद है जिसका सेवन करने से पति संसार-सागर में पड़ता रहता है।

मोह बेद सुत मोह जतावे। जासे पितहिं जगत भरमावे॥
प्रेम बेद मित जाहि बासना। अंधो सम मति कर उपासना॥

पुत्र ही मोहवेद है जो मोह प्रकट करता रहता है जिससे पिता जगत में भ्रमित होता रहता है। वैसे ही मित्र भी एक वेद है जिसकी वासना प्रेम जैसी जान पड़ती है और बुद्धि अंधे के समान उसकी उपासना करती है।

द्वेष बेद बैरी तिन्ह जानउ। अम्बा सम भटकैं सच मानउ॥
स्वर्ग बेद कुलगुरू कहावत। कर्मकांड करि स्वर्ग दिलावत॥

वैसे ही वैरी को उनका द्वेषरूपी वेद जानो जिसके चलते अम्बा की भाँति [जन्म-जन्म] भटकना पड़ता है, इसे सच मानो। कुलगुरु ही स्वर्गरूपी वेद कहा जाता है जो कर्मकाण्ड के माध्यम से स्वर्ग की प्राप्ति कराता है।

दोहा— ज्ञानबेद पर सदगुरू सामबेद सोइ होय।
ब्रह्मज्ञान दै सिष्यहीं समुझै अर्जुन कोय॥ २०४॥

परन्तु हे अर्जुन! सद्गुरु ही अति श्रेष्ठ ज्ञानवेद तथा सामवेद है जो शिष्य को ब्रह्मज्ञान दे देता है, इसे कोई-कोई ही समझ पाते हैं।

चौपाई— सब्द बेद दोउ श्रवन कहावें। मृग सम सब्द सुनत अकुलावें॥
परसहि बेद त्वचा सुनु पारथ। जेहि गहि जीव बिसर परमारथ॥

दोनों कान ही शब्दरूपी वेद कहे जाते हैं, जो मृग की भाँति मधुर ध्वनि सुनते ही अति व्याकुल हो उठते हैं। हे पार्थ! यह भी सुनो कि त्वचा ही स्पर्शरूपी वेद है जिसे ग्रहण करने से जीव परमार्थ को भूल जाता है।

रूप बेद अँखियनि दोउ उन्हकी। मधुर दृस्य मन बाँधे जिन्हकी॥
रसहि बेद जिह्वा कहुँ तोसों। जासें जीव बिमुख भयो मोसों॥

जिनके मन को मनोहर दृश्य अपने वश में कर लेता है, उनकी दोनों आँखें ही रूप नामक वेद हैं तथा मैं तुमसे यह भी कहता हूँ कि जिह्वा रसरूपी वेद है जिसके कारण जीव मुझसे विमुख हो गया है।

गंध बेद दोउ घ्रानहु भावे। जीव भ्रमर सम सब बिसरावे॥
तीनि बेद लखु तुम्हरे आगे। भीष्म द्रोन कौरव रन जागे॥

दोनों नासिका ही गन्धरूपी वेद के रूप में सुशोभित हैं जिससे जीव भ्रमर की तरह सब कुछ भूल जाता है। तुम अपने सम्मुख खड़े भीष्म, द्रोण और कौरव रूपी इन तीनों वेदों को देखो जो युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सात्विक बेद पितामह तामें। बाँधि लये तोहिं निज गुन ग्रामें॥
राजस बेद द्रोन सुनु तेरो। प्रेम बिबस चित भयो घनेरो॥

उनमें पितामह भीष्म तो सात्त्विक वेद हैं जिन्होंने अपने शुभ गुणों से तुम्हें आकर्षित कर लिया है तथा आचार्य द्रोण ही राजस वेद हैं जिनके प्रेम में तुम्हारा हृदय विशेष रूप से फँसा हुआ है।

दोहा— तमस बेद गंधारि सुत करण सकुनि सब साथ।
जेहि महँ तुव मन फँसि गयो जनु यह भयो अनाथ॥ २०५॥

वैसे ही दुर्योधन के साथ-साथ कर्ण, शकुनि आदि सभी तामस वेद हैं जिनमें तुम्हारा मन ऐसा फँसा हुआ है, मानो यह अनाथ हो गया हो।

चौपाई— ये सब बेद बिषयता देहीं। अस करि अपुनो जीवन लेहीं॥
अस तुम्ह निर्गुनि अवरु अबेदा। होइ तजहु सबरें मन खेदा॥

उपर्युक्त वेद विषय-वासना ही प्रदान करते हैं तथा ऐसा करके अपना जीवन नष्ट कर देते हैं, इसलिए तुम तीनों गुणों से रहित एवं वेदों से परे होकर मन के समस्त शोक-सन्ताप का त्याग कर दो।

होइ रहउ निर्द्वंद्व सदाई। तुम्हहिं देउँ पुनि सत्य बधाई॥
योगछेम नहिं चाहउ कबहूँ। देहिं परम प्रभु लोभहिं जबहूँ॥

तुम सदा निर्द्वन्द्व होकर जगत में वास करो, फिर मैं तुम्हें यथार्थ में बधाई दूँगा। योगक्षेम की भी कभी चाह न करो भले परमात्मा ही उसका प्रलोभन क्यों न दें।

ब्रह्म अहउँ स्मृति गहि भाई। तुम्ह स्वतंत्र जग बिचरहु जाई॥
जिमि अति पावनि गंगा पाये। अन्य जलासय पहिं क्यों जाये॥

हे प्रिय! 'मैं ही ब्रह्म हूँ'- इस स्मृति को धारण कर तुम जगत में परम स्वतंत्र होकर विचरण करो। अरे! कोई पतित पावनी गंगा को पाकर अन्य जलाशय (कुएँ, तालाब आदि) के पास क्यों जायेगा?

तिमि नित बिचरइ जो बिभु माहीं। बेद सास्त्र कस भावइ ताहीं॥
ब्रह्मरूप गहि करत प्रयोगा। होइ जगत सों परम बियोगा॥

उसी प्रकार यदि कोई ब्रह्म में ही विचरण कर रहा है तो फिर उसे वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय क्यों प्रिय लगेगा। अरे! वह तो अपने ब्रह्मरूप को धारण कर जगत से परम अनासक्त हो सम-शान्त रहने का प्रयोग कर ही रहा है!

दोहा— सुद्ध सच्चिदानंद तुम्ह योगछेम तजु आज।
आत्मवान होइ करहु रन लख जेहि सेन समाज॥ २०६॥

[हे महाबाहो!] तुम शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा हो, अतः आज से योगक्षेम की चाहना त्याग दो और आत्मवान होकर युद्ध करो; जिसे सम्पूर्ण सैन्य समाज देखे।

चौपाई— कूप मिले बस होय सपरनो। खानो पीनों नाहिं तयरनो॥
नहिं जल केलि करे कोउ वामें। पसु पक्षिहु नहिं बिचरहिं तामें॥

यदि कुआँ उपलब्ध है तो उसके जल का उपयोग केवल खाने-पीने तथा स्नान करने में हो सकता है, उसमें तैरा तो जा नहीं सकता! [इतना ही नहीं] न कोई उसमें जल-क्रीड़ा कर सकता है और न ही पशु-पक्षी उसमें विहार कर सकते हैं।

बृहद सरोवर जो मिलि जावे। सो सब काज सहज होइ पावे॥
तिमि सुत सम्पति मान बड़ाई। सास्त्र जतन कोउ पावत धाई॥

परन्तु यदि अति विशाल सरोवर मिल जाय तो उसमें समस्त कार्य सहजतापूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं; उसी प्रकार कोई शास्त्रीय कर्मों [जप, तप, योग और यज्ञ आदि] का कठोरतापूर्वक आचरण करके पुत्र-सम्पत्ति तथा मान-सम्मान प्राप्त करता है-

तिन्हसों जो सुख सांतिहिं पावत। सो भोगत पुनि जाइ नसावत॥
वासेहुँ अति सुख परमानंदा। मिलत रूप निज सचिदानंदा॥

तो उनसे जो सुख-शान्ति प्राप्त होती है, वह उपभोग करने पर समाप्त हो जाती है किन्तु अपने सच्चिदानन्द रूप में स्थित होते ही उससे भी विशेष सुख अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

सो अपुने सों दूर न जावे। बेद सास्त्र निज छाया गावे॥
सुनहु सकल हरि भगत सयानौ। महाराज कछु बिनवे मानौ॥

वह परमानन्द अपने से दूर हो ही नहीं सकता क्योंकि वेद शास्त्र कहते हैं कि वह तो अपनी ही (आत्मा की) छाया है। अब समस्त भगवद्भक्त एवं बुद्धिमान ध्यान पूर्वक सुनें, महाराज कुछ प्रार्थना कर रहा है जिसे आप सब [प्रेमपूर्वक] स्वीकार करें।

दोहा— सब कहि दीन्हिं दयानिधी अब न कहन कहँ आजु।
यदि सच मानहु याहि तो तजु त्रिगुणात्मक काजु॥ २०७॥

[हे मित्रो!] दयानिधि भगवान ने आज जो कुछ भी कहना था, कह दिया। अब कुछ कहने को शेष नहीं रहा, यदि आप इसे सत्य मानते हैं तो तीनों गुणों द्वारा होने वाले समस्त कर्मों को त्याग दें।

चौपाई— जो आनंद आव पुनि जावे। सो त्रिकाल नहिं सत्य कहावे॥
रहत सर्बदा जो बिनु चाहे। ताहि सकल मुनि बृंद सराहे॥

जो आनन्द आकर चला जाय उसे तीनों कालों में [कभी भी] सत्य नहीं कहा जा सकता; किन्तु जो आनन्द बिना चाहे नित्य बना रहे उसी की प्रशंसा सभी सन्तजन करते हैं।

ज्यों धन लोलुप नर दिन राती। करम करत तेहि लाने माती॥
सोय न ज्यों दिन रात जुवारी। बाजी मारन चिंता भारी॥

जैसे धन का लोभी मतवाला होकर दिन-रात उसी के लिए कर्म करता रहता है और जुआरी दिन-रात अपनी बाजी मारने की अत्यधिक चिन्ता में सोता भी नहीं है,

बेस्यागामी सबहिं लुटावत। निसदिन सो ताकर गुन गावत॥
दीमक नहिं कोउ क्रीड़ा करई। अपुन अहार अहर्निस चरई॥

जैसे वेश्यागामी [वेश्या पर अपना] सब कुछ लुटाता रहता है तथा अहर्निश वह उसी का गुणगान करता रहता है, जैसे दीमक कभी कोई मनोरंजन नहीं करती बल्कि सदा अपना आहार ही लेती रहती है,

सदा करत रबि प्रभु सेवकाई। जगत माहिं अति मन मति लाई॥
प्राण न सोय करत हरि सेवा। जेहि कारन पूजहिं तेहिं देवा॥

जिसप्रकार सूर्यदेव जगत में सम्पूर्ण मन एवं बुद्धि से ब्रह्म की सेवा करते रहते हैं, जैसे प्राण कभी भी विश्राम

नहीं करता अपितु भगवान की सेवा करता रहता है जिसके कारण समस्त देवगण उसकी पूजा करते रहते हैं,

दोहा— आत्मज्ञान कै कारने उन्ह जस प्रतिपल चाव।
जतन करहु सब त्यागिके महाराज अस गाव॥ २०८ (क)॥

उसी प्रकार आत्मज्ञान के लिए उन्हीं लोगों की भाँति सदा प्रेमपूर्वक सब कुछ त्यागकर प्रयत्न में लगे रहें, महाराज का तो ऐसा ही कहना है।

उत कह प्रभु हे कुंतिसुत योगछेम चह काहि।
यह आवत तन संग सब जो प्रारब्ध कहाहि॥ २०८ (ख)॥

उधर भगवान कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तुम योग और क्षेम को क्यों चाहते हो? ये सब तो शरीर के साथ ही आते हैं जिन्हें प्रारब्ध कहा जाता है।

चौपाई— योगछेम यह का यदुनंदन। सत्य बतावहु करुँ अभिनंदन॥
पार्थ जे कछु निज पहिं नहिं होवे। जेहि काजें मन बहु बिधि रोवे॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे यदुनन्दन! यह योग-क्षेम क्या है? हे प्रभो! मैं आपको प्रणाम करता हूँ उसे यथार्थरूप से बतायें। [भगवान ने कहा-] हे पार्थ! जो वस्तु अपने पास नहीं है जिसके लिए मन अत्यन्त विकल रहता है-

ताकी इच्छा योग कहावत। सुनहु छेम जो बेद बतावत॥
अहइ स्वयं पहिं जो कछु कोऊ। तिहिं रक्षन हित जतन जो होऊ॥

उसी को प्राप्त करने की कामना को योग कहा जाता है, वेद-शास्त्र जिसे क्षेम कहते हैं अब उसे सुनो- अपने पास जो कुछ भी है उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करना-

छेम कहत एहि कहँ मुनि बृंदा। करउँ जासु तोसों मैं निंदा॥
माँगत भीख सबै मरि जाहीं। पर कबहूँ नहिं पेट अघाहीं॥

इसी को मुनिजन क्षेम कहते हैं जिसकी मैं तुमसे आलोचना कर रहा हूँ। [तुम प्रायः देखते ही हो कि] बहुत लोग भिक्षा माँगते-माँगते मर जाते हैं लेकिन उनका पेट कभी नहीं भरता।

उन्हकर योगछेम नहिं पूरे। यासें नित ते रहत अधूरे॥
पर दुर्योधन सकुनी जैसे। दुष्ट छली कपटी बहु ऐसे॥

उनका योगक्षेम कभी पूरा नहीं होता, इसलिए वे जीवनपर्यन्त अधूरे ही रह जाते हैं, परन्तु दुर्योधन और शकुनि की भाँति बहुत से ऐसे दुष्ट, छली-कपटी भी हैं-

दोहा— बैठी जिन्ह पहिं सोइ रमा आपुनि पैर पसारि।
बिपुल अचम्भो याहि सम चिंता तजहु बिचारि॥ २०९॥

जिनके पास वही लक्ष्मी [धन, वैभव, ऐश्वर्य के रूप में] पैर फैलाकर बैठी है। इसी के समान और भी अनेक आश्चर्य हैं, अतः तुम चिन्तन के द्वारा चिन्ता का त्याग कर दो।

चौपाई— कोउ जपयज्ञ करत धन जन को। बेगि आय नहिं सो दुख मन को॥
जतन करत तन रोग न लागे। स्वास्थ्य दिनहुदिन दूरहिं भागे॥

हे वीर! कोई धन-जन की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति के लिए जपयज्ञ का अनुष्ठान करता है किन्तु उसकी प्राप्ति शीघ्र नहीं होने पर मन में घोर दुःख होता है, उसी प्रकार [बहुत से लोग] यत्न करते हैं कि शरीर में रोग न लगे किन्तु दिन पर दिन स्वास्थ्य बिगड़ता जाता है।

योगछेम सों ब्रह्म अतीता। तेहि महँ सुख दुख हार न जीता॥
चिदानंद बिभु तुम्ह सच सोई। तुम्हरो नास कबहुँ नहिं होई॥

ब्रह्म, योग और क्षेम से परे है, उसमें सुख-दुःख तथा हार-जीत [की कल्पना] है ही नहीं। तुम वही सर्वव्याप्त, सत्स्वरूप, चिदानन्द ब्रह्म हो, अतः तुम्हारा नाश कभी नहीं हो सकता।

कह अर्जुन सोइ करन गुसाईं। कानन जाउँ संत की नाईं॥
योगछेम तजि यति बनि जाऊँ। एहि बिधि सब अघरासि नसाऊँ॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! मैं तो वही करने सन्तों की भाँति वन जा रहा हूँ कि योग-क्षेम की चिन्ता छोड़कर संन्यासी बन जाऊँ। इस प्रकार जन्म-जन्म के पाप समूहों का नाश कर दूँ।

यह रहस्य तुम्ह तात न जानहु। आपुनि छमता नहिं पहिचानहु॥
होइ जती तुम्ह तेहिकर धर्मा। पालि न सकहु यहइ सच मर्मा॥

हे परमवीर! इस रहस्य को तुम नहीं जानते हो क्योंकि तुम्हें अपनी क्षमता का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यथार्थ यह है कि तुम संन्यासी तो बन सकते हो परन्तु संन्यास धर्म का पालन नहीं कर सकते,

अस जस आज कर्म सों भागहु। कालि यती धर्महिं तुम्ह त्यागहु॥

क्योंकि आज तुम जिसप्रकार कर्मों से भाग रहे हो, उसी प्रकार कल संन्यास धर्म का भी परित्याग कर दोगे।

दोहा— कर्मयोग करि साँच तुम्ह सफल होएगो तात।
अधिकारी एहिकर अहउ यह रहस्य की बात॥ २१०॥

किन्तु हे प्रिय! रहस्यात्मक सत्य यही है कि तुम कर्मयोग करके ही [अपने स्वरूप की प्राप्ति में] सफल हो पाओगे क्योंकि तुम कर्मयोग के ही अधिकारी हो।

चौपाई— ज्ञानमार्ग महँ नहिं बस तेरो। निर्गुन पथ सुनु दुखद घनेरो॥
करम करन महँ तव अधिकारो। फल महँ नहिं यह आस निवारो॥

ज्ञानयोग में तुम्हारा अधिकार नहीं है क्योंकि निर्गुण मार्ग अति क्लेशयुक्त है। तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है फल में नहीं, अत: फल की आशा त्याग दो।

यदि फल चाहि करम कर ताता। कर्म सो बन्धन कारक भ्राता॥
जब न चहउ कर्मन्हि फल कोऊ। जग उद्धारक तब बन सोऊ॥

यदि तुम फल की इच्छा से कर्म करते हो तो वही कर्म, बन्धनकारक (फल देने वाला) हो जायेगा और जब किसी भी कर्मफल की इच्छा नहीं करोगे तब वही कर्म जगत से उद्धार करने वाला हो जायेगा।

यदि न करमफल चाहे कोऊ। पुनि क्यों कर्म करे दुख ओऊ॥
ऐसो सोचि न कर्म सों भागहु। करहु प्रेम सों तेहि फल त्यागहु॥

यदि कोई कर्मफल चाहेगा ही नहीं तो फिर वह दु:खरूप कर्म करेगा ही क्यों?- ऐसा सोचकर कर्तव्य कर्म से उदासीन मत हो अपितु फल की आशा त्यागकर प्रेमपूर्वक कर्म करो।

कर्म करहु क्यों औरे कारन। जेहि जानत भ्रम होय निबारन॥
अबलौं कर्म कियो तुम्ह जोऊ। उन महँ स्वार्थ अवसि कछु होऊ॥

तुम कर्म क्यों कर रहे हो, इसका कुछ और भी कारण है [उसे सुनो], जिसको जान लेने से तुम्हारे मन में जो भ्रम हो गया है [कि मैं ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं हूँ] वह समाप्त हो जायेगा। हे पार्थ! अब तक तुमने जो कुछ भी कर्म किया है, उसमें तुम्हारा कुछ न कुछ स्वार्थ अवश्य निहित रहा है।

दोहा— आपुनि इच्छा सों किये कै पर इच्छा कर्म।
सदगुरु बिनु भयो ताहि सों हुओ न भगवत धर्म॥ २११॥

तुमने अपनी या पराये की इच्छा से कर्म किया किन्तु सद्गुरु की आज्ञा द्वारा न होने से तुम्हारे वे कर्म भागवत धर्म नहीं बन सके।

चौपाई— तेरह बरष रहे बन ताता। तेहि महँ एक बरष अज्ञाता॥
भयो सो तुम्हरे कै पर मन सों। रीते हाथ तऊ धन जन सों॥

हे तात! तुमने तेरह वर्ष वनवास और उसी में एक वर्ष अज्ञातवास किया, वह तुम्हारे मन से या दूसरे के मन से हुआ, तो भी तुम अपार धन-जन से हाथ धो बैठे।

प्रथमहि सों बहु युद्ध किये तुम्ह। किंतु न अबहुँ निकाम भये तुम्ह॥
तिन्ह कर्मनि सों मोह गयो नहिं। नहिं आतम जिज्ञासु भयो कहिं॥

प्रारम्भ से ही तुमने बहुत-से युद्धरूपी यज्ञ किये लेकिन अभी तक तुम निष्काम नहीं हुए! उन कर्मों से न तुम्हारा मोह (आसक्ति) गया और न कभी तुम आत्मजिज्ञासु ही हुए।

तासों कहउँ करम निष्कामा। भयो न गयो मोह कर धामा॥
कर्म न जो निष्कामि बनावत। सो जग लौकिक कर्म कहावत॥

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि तुम्हारा कर्म निष्काम नहीं था क्योंकि अब तक तुम्हारे हृदय से मोहरूपी अंधकार नहीं गया। जो कर्म निष्कामी नहीं बनाता, वह जगत में लौकिक ही कहलाता है।

किये कर्म यद्यपि तुम्ह बैदिक। पर सो कर्म कहावे लौकिक॥
यासें कै तुम्हरो यह ज्ञाना। अबलगि पसुवत अहइ सुजाना॥

यद्यपि [अब तक] तुमने शास्त्रीय कर्म ही किया है किन्तु वह कर्म लौकिक कहा जायेगा क्योंकि हे बुद्धिमान्! तुम्हारा यह ज्ञान अभी तक पशुवत है।

दोहा— लौकिक बैदिक कर्म दोउ गृह द्वै भुजा कहाहिं।
कबहुँ गृहीजन याहि भुज ता भुज कर्म कराहिं॥ २१२॥

लौकिक और वैदिक- ये दोनों ही प्रकार के कर्म गृहस्थाश्रम में दो भुजाएँ कही जाती हैं। अतः गृहस्थाश्रमी भक्त समयानुसार कभी इस [लौकिक] भुजा से तो कभी उस [वैदिक] भुजा से कर्म करता है।

चौपाई— गुरु निर्देस भुजा इक आही। ब्रह्म भगत बस जानत जाही॥
होय जो गुरु इच्छा सों कर्मा। सोइ कहावत भगवत धर्मा॥

सद्गुरु की आज्ञा भी एक दिव्य भुजा है जिसे एकमात्र भगवद्भक्त ही जानते हैं। यदि गुरु की आज्ञा से कर्म किया जाता है तो उसे ही भगवत् धर्म कहा जाता है।

कर्म न तेहि भुज होवे जबलौं। कोउ अकामता पाय न तबलौं॥
सास्त्र करमबादी अस कहहीं। कर्मन्ह छाप अमिट अति रहहीं॥

जब तक उसके आज्ञानुसार कर्म नहीं होता तब तक किसी को निष्कामता की प्राप्ति नहीं हो सकती। हे पार्थ! कर्मवादी शास्त्र ही ऐसा कहते हैं कि कर्म की छाप अत्यन्त अमिट हो जाती है।

कोउ कोउ अज्ञ कहत उन्ह जैसो। पर कोउ साक्ष्य न देवें तैसो॥
गुरुबादी अस कहत हुँकारी। मिटत छाप कर्मन्ह की भारी॥

कुछ अज्ञानी उन्हीं शास्त्रों जैसा कहते हैं किन्तु उसका वे कोई प्रमाण नहीं देते; परन्तु गुरुभक्त तो हुंकार भरते हुए कहते हैं कि समस्त कर्मों की छाप अवश्य मिट जाती है।

करम करइ गुरु ऐच्छिक कोऊ। अमिट कर्म मिटि जावे सोऊ॥
जिमि कोउ जल अति निर्मल पावे। तउ गंगा जल नाहिं कहावे॥

[वह कैसे? ऐसे कि] यदि कोई गुरु-इच्छानुसार कर्म करे तो वे कर्म जो अमिट हैं उनकी भी छाप मिट जाती है। जैसे कोई चाहे जितना भी निर्मल जल का पान करे तो भी वह गंगाजल नहीं कहलाता-

दोहा— पर सुरसरि एक बूँद महँ काहु अपर जल डार।
गंगाजल सब होत तब यह मुनि सास्त्र बिचार॥ २१३॥

किन्तु यदि कोई गंगाजल की एक बूंद में भी किसी अन्य (कुएँ, तालाब, नाले आदि का) जल को डाल दे तो वह सब जल गंगाजल ही हो जाता है, यही मुनियों एवं शास्त्रों का कहना है।

चौपाई— तस तव बैदिक लौकिक कर्मा। होहिं अबहिं सच भगवत धर्मा॥
आजहुँ सों जो हमरी मानहु। पूर्ब करम प्रभु के सब जानहु॥

हे भद्र! मैं सच कहता हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे समस्त वैदिक-लौकिक कर्म इसी क्षण से भागवत-धर्म हो सकते हैं। यदि आज से भी मेरी आज्ञा का अनुपालन करते हो तो तुम्हारे पूर्व के समस्त कर्म भगवत् कर्म ही जाने जायेंगे।

फल तजि कर्म करउँ यह कैसे। सुनहु याहि कर उत्तर ऐसे॥
होइ करहु योगस्थित कर्मा। गृहयोगिन्ह कर यहि सच धर्मा॥

यदि तुम यह कहते हो कि कर्मफल का त्याग कर मैं कर्म कैसे करूँ तो इसका उत्तर सुनो- योग में स्थित होकर तुम कर्म करो, यथार्थ में यही गृहस्थाश्रमी योगियों का धर्म है।

अनासक्त होइ तजि सब आसा। तात करहु तुम्ह कर्म प्रकासा॥
सिद्धि असिद्धिहिं चिंता त्यागहु। योग समत्व माँहिं मन पागहु॥

अत: हे प्रिय! प्रभु प्रसन्नता के लिए अनासक्तिपूर्वक समस्त आशा का परित्याग कर कर्म का सम्पादन करो। कर्म की सफलता एवं असफलता की चिन्ता त्याग कर मन को समत्वयोग में लगाओ।

योग कउन प्रभु सो परिभाषहु। जेहि महँ कर्म करन परकासहु॥
पार्थ करम सिध होय असिद्धा। तेहि महँ सम मन रहइ बिसुद्धा॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा]- हे प्रभो! जिसमें स्थित होकर आप कर्म करने को कह रहे हैं वह योग क्या है, आप उसके स्वरूप को बतावें? [भगवान ने कहा-] हे पार्थ! कर्म में सफलता प्राप्त हो या असफलता उसमें अपना मन विशुद्ध एवं सम-शान्त बना रहे-

दोहा— सोइ समता एहि जगत महँ योग समत्व कहाय।
एहि महँ रहि कर कर्म जो सीघ्र परम पद पाय॥ २१४ (क)॥

हे अर्जुन! उसी समता को इस जगत में समत्वयोग कहा जाता है। इस (समत्वयोग) में स्थित होकर जो कर्म करता है, वह शीघ्र ही परम पद प्राप्त कर लेता है।

अहउँ ब्रह्म सम सांत मैं यहइ दृष्टि सच योग।
एहि बिधि होत समत्व सिध पुनि नहिं होय बियोग॥ २१४ (ख)॥

'मैं सम-शान्त ब्रह्म ही हूँ'- यही दृष्टि यथार्थ में योग है, इसी दृष्टि से समत्वयोग की प्राप्ति हो जाती है, जिसका पुन: वियोग नहीं होता।

चौपाई— अबलौं तुम्ह स्थित रहि जामें। कर्म किये बिकलाये तामें॥
स्थित मातु पिता गुरु माहीं। करि प्रिय करम कबहुँ हरषाहीं॥

अब तक तुम जिस भाव में स्थित होकर कर्म करते हुए विकल होते रहे, उसे सुनो- कभी तो तुम माता-पिता एवं भौतिक गुरुओं की आज्ञा में स्थित होकर धर्मगत कर्म करते हुए हर्षित होते रहे-

स्थित हित मित आयसु पाहीं। बहुतहि कर्म किये जग माहीं॥
स्थित पितर देव द्विज माहीं। किये कर्म बहु सो दुख नाहीं॥

तो कभी तुमने अपने भाइयों एवं मित्रों की आज्ञा में स्थित होकर जगत में बहुत-से कर्म किये, कभी तुम देवता, पितर एवं ब्राह्मणों की आज्ञा में स्थित होकर (मन के द्वारा) कर्म करते रहे जिसका तुमको कुछ भी शोक-सन्ताप नहीं है।

स्थित बैदिक लौकिक धरमे। करि बहु कर्म आजलौं भरमे॥
स्थित जाग्रत सपने ताता। कर्म किये भूले जनत्राता॥

हे प्रिय! इस प्रकार कभी लौकिक और कभी वैदिक धर्म में स्थित होकर बहुत-से कर्म करते हुए आजतक भ्रमित होते रहे, कभी जाग्रत और स्वप्न में स्थित होकर कर्म करते हुए भक्तों के रक्षक भगवान को ही भूल गये,

स्थित जोग जाप महँ धाये। सिव अरु देवन्ह सों बर पाये॥
स्थित एहि बिधि बहु अज्ञाने। कर्म झाड़ि बन गहन भुलाने॥

कभी योग एवं जप आदि में स्थित होकर भगवान शिव तथा अन्य देवताओं की ओर दौड़ पड़े और उन सबसे बहुत-से वरदान प्राप्त किये। इस प्रकार अज्ञान में भलीभाँति स्थित होकर कर्मरूपी झाड़ी के गहन वन में [तुम अपने आपको पूरी तरह] भूल बैठे।

दोहा— सुनि सोचत प्रभु सच कहहिं जाइ किरीटि अतीत।
भयो न काम निकाम कोउ बिकल जानि दिन बीत॥ २१५॥

भगवान से ऐसा सुन किरीटी अर्जुन अतीत में जाकर अपने सम्पूर्ण कर्मों का स्मरण कर सोचने लगे कि यह तो भगवान ने सत्य ही कहा है- मुझसे कभी कोई निष्काम कर्म हुआ ही नहीं। अत: मन ही मन अति विकल हो रहे हैं कि समय तो सब बीत गया।

चौपाई— महाराज लख साधक बृंदहिं। तिन्ह सम करि मन माँहि अनंदहिं॥
स्थित होइ सतोगुण माहीं। सहजहिं प्रभु कर ध्यान कराहीं॥

महाराज देख रहा है कि साधकगण भी उन्हीं जैसा कर्म करते हुए मन ही मन अति आनन्दित हो रहे हैं। जब सतोगुण प्रकट हो जाता है तो वे उसमें स्थित होकर सहज ही ब्रह्म का ध्यान करने लगते हैं।

स्थित होइ रजोगुण रूपा। करि मिथ्या गप होहिं बिरूपा॥
स्थित होइ तमोगुण सोवें। ब्रह्म मुहुर्तहिं नितप्रति खोवें॥

जब रजोगुण प्रकट होता है तो उसमें स्थित होकर झूठा गप-शप करके अपने स्वरूप को विकृत कर लेते हैं एवं तमोगुण के प्रकट होने पर उसमें स्थित होकर सोते रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्ममुहूर्त नित्य-प्रति व्यर्थ खो देते हैं।

सिद्ध न भयो जोग कह मेरो। सच ते अहहिं सिद्धि कर चेरो॥
स्वयं डारि भक्तन्ह घर डेरो। तहँइ करत बहु तेरो मेरो॥

वे जब कहते हैं कि अब तक मेरा योग सिद्ध हुआ ही नहीं तो सिद्ध है कि वे सच में सिद्धि के दास हैं। वे भक्तों के घर अपना डेरा डाल कर वहीं सदा तेरा-मेरा करते रहते हैं।

लख महराज तिन्हहिं गर फाँसी। तउ उन कहँ कछु आय न खाँसी॥
दुख अवसर दैवहिं दैं गारी। अस मन गुनि धुनि होहिं दुखारी॥

महाराज उनके गले में [माया की] फाँसी लगी हुई देख रहा है तो भी कैसा आश्चर्य है कि उन्हें थोड़ी भी चिन्ता नहीं होती। जब दु:ख आ घेरता है तो दैव को भला-बुरा कहते हैं इस प्रकार मन में गुनते-धुनते दु:खी होते रहते हैं।

दोहा— इत अर्जुन सों हरि कहत तुम्हरो कर्म न कोउ।
कर्मन्ह सिद्धि असिद्धि महँ कबहुँ हँसहु नहिं रोउ॥ २१६॥

इधर महात्मा अर्जुन से भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम यह निश्चित समझ लो कि कोई भी कर्म तुम्हारा नहीं है इसलिए कर्म की सिद्धि-असिद्धि में न कभी प्रसन्न होओ न खिन्न।

चौपाई— याहि अवस्था पहुँचत बीरा। मन सों जाय करम फल पीरा॥
तबहीं सिद्धि असिद्धि समाना। जानहुगे तुम्ह परम सुजाना॥

हे परम बुद्धिमान! चित्त की इस अवस्था में पहुँचते ही तुम्हारे मन से कर्मफल प्राप्ति की पीड़ा समाप्त हो जायेगी, तब तुम सिद्धि-असिद्धि को एक समान जानने लगोगे।

तजत करम फल चित सुध होवे। प्रगटइ ज्ञान हृदय तम खोवे॥
सिद्धि परम एहि समुझ धनंजय। जहँ कबहूँ नहिं बिजय पराजय॥

कर्मफल को त्यागते ही तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायेगा, हृदय में परम ज्ञान प्रकट हो जायेगा और हृदय का अज्ञान मिट जायेगा। हे धनञ्जय! इसे [चित्त शुद्ध होकर परम ज्ञान की प्राप्ति होने को] ही तुम परम सिद्धि जानो, जहाँ कभी भी जय-पराजय की कल्पना ही नहीं है।

योग समत्व सों निम्न सकामा। करत अनिष्ट देत सुरधामा॥
जनम मरन कर कारन योई। जीव भ्रमत जग तरत न सोई॥

हे भद्र! सकाम कर्म निष्काम कर्म (समत्वयोग) से अति निकृष्ट है। वह अनिष्टकारक और देवलोक को देने वाला है, वही जन्म-मृत्यु का कारण है जिसके चलते जीव संसार चक्र में भ्रमित होता रहता है, भवसागर से पार नहीं हो पाता।

परम समत्वयोग हिय धारउ। अपर योग सरनहिं निरबारउ॥
फल चाहत ते मूरख दीना। जल महँ बसि प्यासी जिमि मीना॥

इसलिए तुम परम समत्वयोग (पारमार्थिक ज्ञान) की शरण में आजाओ किसी अन्य योग (अज्ञान) की शरण त्याग दो। जो कर्मफल की चाहना करते हैं वे उन मछलियों के समान मूर्ख एवं दीन हैं जो जल के बीच रहते हुए भी प्यासी रहती हैं।

दोहा— आदि अंत अरु मध्य जहँ होय न कछु अनुमान।
तेहिं पाये बिनु मरत जो सो अति कृपन अजान॥ २१७ (क)॥

[हे महाबाहो!] जहाँ (जिस ब्रह्म में) आदि, अन्त और मध्य का कुछ भी अनुमान नहीं हो पाता, उसे प्राप्त किये बिना जो मृत्यु को प्राप्त हो जाता है वह महामूर्ख एवं अतिशय क्षुद्र है।

नृप कह संजय ब्रह्म जो आदि अंत सों हीन।
ताहि खोजि सक कोउ कस बरु कोउ होउ प्रबीन॥ २१७ (ख)॥

राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! जो ब्रह्म आदि, अन्त [और मध्य] से रहित है उसे भले ही कोई परम बुद्धिमान ही क्यों न हो वह कैसे खोज सकता है?

अस नहिं राजन संत मुनि प्रभु सम कहत हुँकारि।
नारद सों नभ महँ सुनहिं यहइ सिद्ध सुर झारि॥ २१७ (ग)॥

सञ्जय ने कहा- नहीं राजन्! ऐसा नहीं है क्योंकि समस्त सन्त-मुनि दृढ़ता के साथ ऐसा ही कहते हैं जैसा कि भगवान कह रहे हैं। इतना ही नहीं, इस समय आकाश मण्डल में समस्त सिद्ध एवं देवगण भी नारद मुनि से यही सुन रहे हैं।

चौपाई— गार्गी याज्ञबल्क्य संबादा। ऋषि कह सुनहु जो हरत बिषादा॥
कह मुनि एहि अक्षर आधीना। सूर्य चंद्र रह मन लवलीना॥

ऋषिवर नारद कह रहे हैं कि आप सब ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य (अष्टावक्र) और योगिनी गार्गी का संवाद सुनें जो विषाद का हरण करने वाला है। मुनिवर अष्टावक्र ने कहा- [हे गार्गि!] इस अक्षर ब्रह्म के शासन में ही सूर्य एवं चन्द्रमा प्रेमपूर्वक वास कर रहे हैं।

एहि आधीन स्वर्ग अरु धरनी। हर्षित धारहिं प्राणिन्ह करनी॥
एहि आधीन मास दिन राती। ऋतु मुहुर्त पल संबत जाती॥

इस अक्षर ब्रह्म के शासन में ही स्वर्ग और पृथ्वी सहज ही अपने में जीवों को एवं उनके कार्य को धारण किये हुए हैं, इस अक्षर ब्रह्म के शासन में ही मास, दिन, रात, ऋतु, मुहूर्त, पल तथा वर्ष आदि सम्पूर्ण कालवर्ग की शक्तियाँ अपने-अपने अस्तित्व में हैं-

एहि अधीन पर्बत थिर सारे। बहति सरित निज रूप बिसारे॥
एहि आधीन प्रसंसत सारे। दाता की नर बहुत बिचारे॥

इस अक्षर ब्रह्म के ही प्रशासन में समस्त पर्वत स्थित रहते हैं, सारी नदियाँ अपने रूप को भुलाकर बहती रहती हैं तथा इस अक्षर ब्रह्म के ही प्रशासन में समस्त मनुष्य दाता की बहुत सोच-विचारकर प्रशंसा करते हैं।

एहि आधीन देव यजमानहिं। दर्वीहोम पितर गुन गानहिं॥
एहि जाने बिनु जप तप भारे। अंतवान ते होवहिं सारे॥

इस अक्षर के ही शासन में देवता यजमान की तथा पितर अपने कव्यरूप होम की प्रशंसा करते हैं, अत: इसे जाने बिना समस्त योग, जप, तप आदि नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

दोहा— एहि जाने बिनु मरत जो सो सुनु कृपन महान।
याहि जानि जो तजत तन बिप्र सोइ मतिमान॥ २१८ (क)॥

[हे गार्गि!] सुनो! वह अत्यन्त दीन है जो इसे जाने बिना ही मर जाता है तथा जो इसे जानकर शरीर त्याग करता है, वही ब्राह्मण तथा बुद्धिमान है।

अस कहि नारद मुनि बहुरि कह निरखहु भगवान।
कर्मयोग परिभाषहिं सुनहिं पार्थ धरि ध्यान॥ २१८ (ख)॥

ऐसा कहकर देवर्षि नारद ने कहा- अब आप सब पुन: भगवान की सुनें जो कर्मयोग को परिभाषित कर रहे हैं जिसे भक्त अर्जुन बड़े ध्यान से सुन रहे हैं।

चौपाई— तात समत्वयोग अस धारी। तजि इहँ पाप पुन्य कोउ झारी॥
मुक्त होय सच कर्मपास सों। पाय ब्रह्मसुख हृदय बास सों॥

इसी प्रकार हे तात! जो समत्वयोग को धारण कर यहीं समस्त पाप-पुण्य का त्याग कर देता है वह कर्मपाश से यथार्थ में मुक्त होकर हृदय में वास करने वाले ब्रह्मसुख को प्राप्त कर लेता है।

गहहु ताहि तुम्ह बहुत सुहावे। कर्म कुसलता योग कहावे॥
कर्म होत जो बंधन कारक। योग बुद्धि सों सोइ निबारक॥

तुम उसी अत्यन्त दिव्य समत्वयोग को ग्रहण करो क्योंकि कर्म में कुशलता ही योग कहा जाता है। जो कर्म बन्धन का हेतु होता है वही कर्म बुद्धियोग से [समत्वयोग में स्थित होकर] करने पर बन्धन से मुक्त करने वाला हो जाता है।

सुख दुख हानि लाभ सम जाने। ताकी महिमा यहइ बखाने॥
याहि लोक महँ कै परलोका। गहत न पाप पुण्य अरु सोका॥

अत: जो सुख-दु:ख, हानि-लाभ को समान समझता है, उसकी महिमा ऐसी कही गयी है कि वह इसलोक या परलोक में पाप-पुण्य को ग्रहण नहीं करता और न शोक को ही प्राप्त होता।

इमि सुभ कर्म सो करत निकामी। फल त्यागत अति बिभु अनुगामी॥
हरि इच्छा होवे कछु पापा। लगे न दोष न मन अनुतापा॥

इस प्रकार शुभ कर्म करते हुए प्रभु की इच्छानुसार चलने वाला वह निष्कामी भक्त फल का सर्वथा त्याग कर देता है। उसके द्वारा यदि भगवत् इच्छा से कुछ पाप भी हो जाय तो उसे दोष नहीं लगता, न उसके मन में ग्लानि ही होती है।

दोहा— अहहिं सुभासुभ देह जे सबहिं करम फल आहिं।
तेहि तजि बंधन मुक्त सब होत संत पतियाहिं॥ २१९॥

[हे धैर्यवान!] जो भी शुभ और अशुभ [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, कोल-भील तथा म्लेच्छ आदि के] शरीर हैं, वे सब कर्मों के ही फल हैं। इसी सत्य को स्वीकारते हुए उन शरीरों को त्यागकर सभी सन्त बन्धन-मुक्त हो जाते हैं।

चौपाई— बिचरत जिन्हके कर्म ज्ञानमय। इहइँ मोक्षपद पाइ अनामय॥
जिहि स्वरूप महँ अंस न क्लेसा। देत फिरत नित जग उपदेसा॥

इस प्रकार कर्मों में विचरते हुए जिनके कर्म ज्ञानमय हो गये हैं, वे यहीं पर अनामय मोक्षपद को प्राप्तकर, जिसमें कि स्वरूप से अंशमात्र भी क्लेश नहीं है, सदा जगत में ज्ञान प्रदान करते हुए विचरण करते हैं।

प्रभु तुम्ह कह्यो होय कछु पापा। तेहि ज्ञानिहिं नहिं कछु अनुतापा॥
एकहि पाप न्याय कस स्वामी। इक हित दुखद अपर अनुगामी॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा-] हे प्रभो! आपने जो यह कहा कि यदि उस ज्ञानी (समत्वयोगी) से कुछ पाप भी हो जाय तो भी [उसे कुछ दोष नहीं लगता] उस ज्ञानी के मन में कुछ खेद नहीं होता! हे स्वामिन्! यह कैसा न्याय है कि एक ही पाप एक को दु:ख देता है किन्तु दूसरे का दास बन जाता है?

कर्म कुसलता कर फल सुनहू। ताहि परंतप निज उर गुनहू॥
गुरु पितु मातु मित्र अरु भ्राता। औरउ जो नातहिं जग जाता॥

[भगवान ने कहा-] हे अर्जुन! यह कर्म में कुशलता का ही फल है जिसे मैं बता रहा हूँ। उसे ध्यान देकर सुनो और मन में उस पर विचार करो- कुलगुरु, माता, पिता, मित्र एवं भाई तथा जगत में और भी जितने सम्बन्धी हैं-

देवबर्ग महँ ये सब आवत। अपुनें काजें सबहि लुटावत॥

ये सभी देवताओं की श्रेणी में आते हैं जो अपने लिए सब कुछ न्योछावर कर देते हैं।

दोहा— इन्हके सँग छल कपट करि जो अतिहीं दुख देत।
सो पापी सब देव अरु प्रभु सों सापहि लेत॥ २२०॥

जो इन सबके साथ छल-कपट करते हुए इन्हें अत्यन्त दु:ख देता है, वह पापात्मा समस्त देवताओं और भगवान से शाप प्राप्त करता है।

चौपाई— पर ये स्वजन स्वयं अभिमानी। होइ फिरें जग मान गुमानी॥
सदगुरु बचन न मानत सपुने। करत करम मनमानें अपुने॥

किन्तु जब ये स्वजन स्वयं अभिमानी होकर मान के गुमान में जगत में विचरण करते हैं, स्वप्न में भी सद्गुरु के वचनों को न मानकर मनमाना कर्म करते हैं-

तौ इन्ह सँग प्रिय भगत सयानें। करत कपट छल धरि हरि ध्यानें॥
समय पाइ सच कहि दुख देहीं। सुनि बनि मूक सबहिं सहि लेहीं॥

तो ऐसे लोगों के साथ प्रभु के चतुर भक्त भगवान का स्मरण कर छल और कपट पूर्ण व्यवहार करते हैं। [इतना ही नहीं] अवसर पाकर सत्य वचन कहकर अत्यन्त पीड़ित भी करते हैं, जिसे सुनकर वे सभी मूक (गूँगा) होकर सहन करते हैं।

ताकर अघ न लगत तिन्ह काहीं। कारन परमारथ मग जाहीं॥
स्वजन बिकल दुख पाइ पहाड़ौ। पर ते तजनो चह गृह गाड़ौ॥

तो भी उसका उन्हें पाप क्यों नहीं लगता, क्योंकि वे परमार्थ मार्ग के पथिक हैं। इधर स्वजन दु:ख के पहाड़ से दबकर आहें भरते रहते हैं परन्तु वे [भगवद्भक्त] दु:खरूप गृहस्थाश्रम को त्यागना चाहते हैं-

हरि बिमुखन्ह सँग इक मग आहीं। भगत बनाये कै बन जाहीं॥
गृह तजि जबहिं होहिं संन्यासी। तबहिं कटति कर्मन्हि की फाँसी॥

इस प्रकार उन भगवत् विरोधियों के साथ रहने पर एक ही मार्ग बचता है कि उन्हें भी भगवद्भक्त बना दे अथवा वन को चला जाय। जब वे घर-बार छोड़कर संन्यासी बन जाते हैं तब उनके कर्म का बन्धन छूट जाता है।

दोहा— परमार्थिक पुरुषन्हि हृदय नाहिं स्वजन कर बास।
उन्हके हिय प्रभु धरम बस सोइ अहार सोइ स्वाँस॥ २२१॥

पारमार्थिक पुरुषों के हृदय में स्वजनों का वास नहीं होता अपितु उनके हृदय में केवल भागवत-धर्म का वास होता है, वही उनका भोजन एवं श्वास होता है।

चौपाई— दुर्योधन कर जन्म भयो जब। खर रेंकन सम सब्द हुवो तब॥
सुनत अपर खर रेंकन लागे। स्वान सृकाल काक गिध भागे॥

[हे जितेन्द्रिय!] जब दुर्योधन का जन्म हुआ तब उसके मुख से गधे के रेंकने जैसी आवाज हुई, जिसे सुनकर दूसरे गधे भी रेंकने लगे तथा बहुत से कुत्ते, गीध, गीदड़ और कौवे इधर-उधर भागने लगे।

चलन लगी आँधी अति भाई। चहुँ दिसि दाह होइ दुखदाई॥
मन धृतराष्ट्र बहुत भयभीता। तउ बाहर गावहिं प्रभु गीता॥

हे प्रिय! उस समय बहुत जोरों की आँधी चलने लगी। चारों दिशाओं में अत्यन्त दु:खदायी आग लग गयी। [यह सब देखकर] धृतराष्ट्र मन ही मन बहुत भयभीत हो गये तो भी दिखावे के लिए [प्रसन्नता प्रकट करते हुए] भगवान का गुणानुवाद करने लगे।

बिदुर कहे भयो असगुन भारी। एहि सुत देउ नृपति कहुँ डारी॥
सकल अमंगल अबहिं नसावे। मंगल ही मंगल होइ जावे॥

तब विदुर ने कहा- हे राजन्! भयंकर अपशकुन हो रहे हैं, अत: इस पुत्र को कहीं छोड़ दें तो अभी समस्त अमंगलों का नाश हो जायेगा और मंगल ही मंगल हो जायेगा।

दोहा— कहे नृपति यह बालबध ब्रह्म हनन सम पाप।
ऐसो नहिं मोपे बनै मिलै मोहि जो साप॥ २२२॥

तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा- हे विदुर! बालक का वध ब्रह्महत्या के समान होता है, इसलिए ऐसा कर्म तो मुझसे होगा ही नहीं, जिससे मुझे शाप मिले।

चौपाई— बिदुर कहे नृप यह नहिं पापा। प्रगट करहु क्यों अस अनुतापा॥
परमार्थिक न रूप नृप तेरो। सूझ न यासों साँझ सबेरो॥

तब विदुर ने कहा- हे राजन्! यह (इसका त्याग करना) तो पाप है ही नहीं। अत: ऐसा दु:ख क्यों प्रकट कर रहे हैं? [किन्तु क्या कहा जाय] आपका स्वरूप तो पारमार्थिक है नहीं, इसलिए आपको न रात सूझ रही है न दिन अर्थात् आप जैसे स्वार्थी पुरुष को यह बात समझ में नहीं आ रही है।

बधत एक नृप सब कर प्राना। बचत करम सो यज्ञ समाना॥
पार्थ नीति अस चले ते ज्ञानी। तिन्हिं कर्मन्हि न जाय अनुमानी॥

हे नरेश! यदि एक का वध करने से बहुत लोगों के प्राण बच जाते हैं तो वह घोर कर्म भी यज्ञ के समान है। हे पार्थ! ठीक इसी नीति से जो व्यवहार करते हैं वे ज्ञानी हैं, उनके कर्मों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

सुत असमंजस कर्म अघोरो। लखि नृप सगर निकारे खोरो॥
पाप न लग्यो पार्थ कछु तिन्हहीं। भलो भयो बहु उल्टे उन्हहीं॥

[तुमने सुना होगा कि] अपने पुत्र असमंजस के पापमय कर्मों को देखकर राजा सगर ने उस दुष्ट को निष्कासित कर दिया। तो भी हे अर्जुन! उन्हें थोड़ा भी पाप न लगा उलटे उनका सर्वथा कल्याण ही हुआ।

द्विज साकल्यहिं साप सों मारे। याज्ञबल्क्य मुनि पाप न धारे॥
उल्टे आत्मज्ञान जस फैलो। दम्भिन्ह जस मैलो कौ मैलो॥

वैसे ही ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने शाप से शाकल्य नामक ब्राह्मण को मार डाला किन्तु उन्हें पाप नहीं लगा, उसके विपरीत उनके आत्मज्ञानी होने की कीर्ति फैल गयी और ढोंगियों की कीर्ति मैली की मैली रह गयी।

दोहा— साधक सिद्धहु साप बहु दिये सुअवसर पाइ।
लग्यो न पाप उन्हहिं कछु प्रकृति अतिहिं हरषाइ॥ २२३॥

इस प्रकार साधक-सिद्धों ने कुछ विशेष अवसरों पर घोर शाप तक दे डाला है किन्तु उन्हें तनिक भी पाप नहीं लगा बल्कि [भगवान की] प्रकृति अति हर्षित हो उठी।

चौपाई— नृपति सगर सुत अति गर्राये। कपिल मुनी तिन्हिं साप जराये॥
मुनिहि पाप नहिं कछुवै लाग्यो। उल्टें उन्हकर जस जग जाग्यो॥

उसी प्रकार राजा सगर के पुत्र जब [घमण्ड में चूर होकर] बकवास करने लगे तो महर्षि कपिल ने उन्हें शाप से भस्म कर दिया, तो भी मुनिवर को कुछ पाप नहीं लगा, उसके विपरीत सम्पूर्ण जगत में उनकी निर्मल कीर्ति फैल गयी।

जनक सामुहें जागबलिक मुनि। कहे समत्वयोग महिमा गुनि॥
जो अकाम मुनि परम निकामा। आप्तकाम भये आतम कामा॥

स्वयं याज्ञवल्क्य मुनि ने आत्मजिज्ञासु राजा जनक के पास समत्वयोग की महिमा बड़ी कुशलता के साथ गायी है। [वे कहते हैं-] जो निष्काम पुरुष आत्मा की कामना द्वारा परम निष्काम होकर आप्तकाम हो गया है-

ताकर प्रान कतहुँ नहिं जावे। ब्रह्म समुझि निज ब्रह्म समावे॥
सर्प काँचुरी तजि रह जैसो। सो नर रहत त्यागि तन ऐसो॥

वह अपने आपको ब्रह्म रूप ही समझता है, अत: उसका प्राण कहीं नहीं जाता अपितु [उस] ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। वह पुरुष शरीर को त्यागकर ऐसे रहता है, जैसे सर्प केंचुली त्यागकर रहता है।

परम तेजमय आय न जावे। अमिय प्रान तिहिं ब्रह्म कहावे॥

वह परम तेजोमय स्वरूप वाला है, अत: कहीं आता-जाता नहीं है। उसका अमृतमय प्राण [उसके ब्रह्मस्वरूप होने से] ब्रह्म ही कहा जाता है।

दोहा— मग समत्व कहँ कोउ कहे नील कोउ पित बर्ण।
कोउ रोहित अरु स्वेत कह भाषहिं संत अबर्ण॥ २२४॥

इस समत्वयोग के मार्ग को कोई नीला, कोई पीला, कोई लाल तो कोई श्वेत वर्ण वाला कहते हैं, किन्तु सन्तजन तो इस मार्ग को बिना वर्ण वाला ही बताते हैं।

चौपाई— मग न कहाय ब्रह्म अनुभूता। करत प्रबेस जहाँ अवधूता॥
बिषई करत करम की पूजा। मानत नहिं कोउ देवहिं दूजा॥

उसे मार्ग नहीं कहा जाता बल्कि वह ब्रह्म तो एकमात्र अपने से अनुभूत है, जहाँ अवधूत (आप्तकाम सन्त) ही प्रवेश पाते हैं। किन्तु विषयी पुरुष कर्म की पूजा करते रहते हैं, वे किसी अन्य देवता को स्वीकार नहीं करते।

पावहिं ते अतिहीं गति घोरा। जाहिं जहाँ सब लम्पट चोरा॥
करमयोग तजि मिथ्या ज्ञाना। धारहिं अपर चलहिं मनमाना॥

उन [कर्म के उपासक विषयी पुरुषों] को घोर नरक प्राप्त होता है जिसमें चोर और लंपट पुरुष प्रवेश करते हैं। दूसरे जो निष्काम कर्मयोग त्यागकर मिथ्या ज्ञान प्राप्ति के चक्कर में लगे रहते हैं, वे मनमाना व्यवहार करने वाले हैं।

ते तम महासिंधु महँ जावें। जुग जुग दारुण दुख तहँ पावें॥
सोहमस्मि अस जानत जोऊ। पुनि क्यों दास देह कर होऊ॥

वे महामोहरूपी सागर में प्रवेश कर वहाँ युग-युगान्तरों तक घोर दु:ख प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु जो 'मैं वही ब्रह्म हूँ'- ऐसा जान लेता है फिर वह शरीर का दास क्यों बनेगा?

कर्मज देह अनर्थन्हि मूला। परमज्ञान यासें सब भूला॥
सो कृतकृत्य जगत सुनु ताता। एहि महँ ब्रह्म अहइ जो ज्ञाता॥

अरे! यह कर्मों से उत्पन्न होने वाला शरीर समस्त अनर्थों का मूल है। इसी [में आसक्ति] के कारण परमज्ञान सर्वथा विस्मृत हो गया है। हे प्रिय! सुनो- इस जगत में वही कृतकृत्य है जिसने इस शरीर में स्थित ब्रह्म को जान लिया है।

दोहा— सोइ कर्ता सोइ लोक सब अरु ताकर सब लोक।
इहइँ जान तेहि लेत जो होवे परम बिसोक॥ २२५॥

वही [सच में समस्त कर्मों का] कर्ता तथा वही सम्पूर्णलोक है एवं समस्तलोक उसी के हैं। जो यहीं [अर्थात् शरीर रहते ही] उस ब्रह्म को जान लेता है, वह सदा-सर्वदा के लिए शोकरहित हो जाता है।

चौपाई— कर्म कुसलता होवे योगा। यदि ऐसो होवे संयोगा॥
अगुन अलेप अरूप अनामा। स्वयंहि बूझहु प्रभु सुचि धामा॥

[हे पार्थ!] कर्म में कुशलता ही योग है। यदि ऐसा संयोग बन जाय कि तुम अपने आप को ही निर्गुण, निराकार, निर्लेप, नामरहित ब्रह्म तथा परमधाम समझ लो-

याहि जगत मायामय जानहु। ऐसइ रंगमंच महि मानहु॥
तन्यो चँदोवा नभ कर वापे। रबि ससि दिब्य दीप जल तापे॥

और इस जगतको मायामय जान लो, इसी प्रकार पृथ्वी को रंगमंच मान लो जिसके ऊपर आकाश का चँदोवा (छत) तना हुआ है जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमारूपी दो दिव्य दीपक प्रकाश कर रहे हैं-

रूप त्रिजगजोनी मायामय। गहि नित अभिनय करत चिदामय॥
एहि छन कौरव पांडव बाहिनि। बन्यो पापमय बीर नसाविनि॥

[जिस पृथ्वीरूपी रंगमंच पर] सच्चिदानन्द ब्रह्म त्रियग्योनियों तथा अन्यान्य मायामय रूपों को धारण कर

अभिनय कर रहा है। वही ब्रह्म इस समय कौरव-पाण्डवरूप सेना बना हुआ है जो पापमय वीरों का नाश करने वाली है तथा-

जेहि महँ एक धनंजय चेतन। पल भर हित बनि गयो अचेतन॥
वाने माधव गुरू बनायो। उननैं सब तेहि मरम जनायो॥

जिसमें एक धनञ्जय नामक [मायामय] चेतन पुरुष थोड़े समय के लिए अचेतन अवस्था को प्राप्त हो गया था। उसने माधव को सद्गुरु बना लिया तथा उन्होंने उसे सम्पूर्ण रहस्यों को बता दिया।

दोहा— दिब्य मरम सुनि भा चकित निज माया पहिचान।
अभिनय करत न युद्ध कर यह माया परमान॥ २२६॥

अब वह सृष्टि के दिव्य रहस्यों को सुनकर, अपनी माया को पहचानकर आश्चर्यचकित हो गया है, तो भी युद्ध का अभिनय नहीं कर रहा है, यही माया का प्रमाण है।

चौपाई— अब तौ तुम्ह मायामय देहा। त्यागि सबन्हि सों करहु न नेहा॥
पूर्ब कर्म सब अभिनय रूपा। लखहु होय अनुभवहिं अनूपा॥

इसलिए अब भी तुम इस मायामय शरीर से अनासक्त होकर सभी से मोहरहित हो जाओ और पहले के समस्त कर्मों को अभिनय रूप समझो तो तुम्हें अलौकिक अनुभव होगा।

होइ याहि छन सेवक मेरो। नाट्य करहु निज आतम हेरो॥
क्रीड़त कोउ राम बनि ताता। पर न बिसर निज मौलिक गाता॥

इस समय तुम मेरे सेवक बनने का अभिनय करो किन्तु अपने को सदा शुद्ध आत्मा ही समझते रहना। हे प्रिय! जैसे कोई [मंच पर] राम का अभिनय करके क्रीड़ा करता है फिर भी अपने मौलिक स्वरूप को नहीं भूलता।

पाछें मंच होय सो होवे। सहजहिं साँचो रूप बिगोवे॥
तिमि तुम्ह ऐसो अभिनय करहू। जासों सोक मोह नहिं परहू॥

वह मंच पर जाकर अपने असली रूप को सहजतापूर्वक छिपा लेता है किन्तु पर्दे के पीछे जिस रूप वाला था उसी रूप वाला रहता है। उसी प्रकार तुम भी ऐसा अभिनय करो, जिससे शोक-मोह में न पड़ो।

कौन पुरुष हे प्रिय जग बाँको। सोहत मरन तात सुनु जाको॥
अति अज्ञानयुक्त चित जाकर। यदि दुख दुखी करत मन ताकर॥

हे प्रिय! इस जगत में कौन-कौन से पुरुष क्षुद्र (ओछे) हैं जिनका मर जाना ही शोभा देता है उसे सुनो- जिसका चित्त अति अज्ञानमय है, यदि उसके मन को दु:ख दु:खित करता रहता है तो-

दोहा— तेहि की मृत्यू होय अति सोभित जग महँ तात।
पुनि तेरो केहि कारने छुभित बचन मन गात॥ २२७॥

हे तात! उसी की मृत्यु जगत में अति शोभित होती है, फिर किस कारण से तुम्हारा तन, मन, वचन क्षुब्ध हो गया है?

चौपाई— मैं अति दीन हीन अरु मूढ़ा। किमि समुझउँ प्रभु बात निगूढ़ा॥
बँध्यो हृदय बहु आस पास सों। जासें मन चंचल निरास सों॥

'मैं अति दीन-हीन और मूर्ख हूँ, अत: ब्रह्म के रहस्यमय तत्त्वों को कैसे समझ पाऊँगा'? इस प्रकार जिसका हृदय बहुत ही आशारूपी पाश में बँधा हुआ है जिससे मन चंचल और हतोत्साहित रहता है-

ताकर मरन देत अति सोभा। पुनि क्यों तुम्हरो मन अति छोभा॥
हरति बिबेक चाह मथि मन कौ। हरित फसल जिमि मन पसुवन कौ॥

उसका तो मरना ही शोभा देता है, फिर तुम्हारा मन इतना क्षुब्ध क्यों हो रहा है? कामना जिसके मन को मथकर विवेक का उसी प्रकार हरण कर लेती है जिसप्रकार हरी फसल पशुओं के मन को अपनी ओर खींच लेती है-

तालोत्ताल राग मन बनमें। लता चित्तबृत्ती तहँ जनमें॥
फलित होइ सुख दुख दें जाको। सोभत मरन याहि जग ताको॥

तथा जिसके ताड़वृक्ष के समान ऊँचे मोहमय मनरूपी वन में चित्तवृत्तिरूपी लताएँ उत्पन्न होकर सुख-दु:खरूपी फल देती हैं, जगत में उसी की मृत्यु शोभा देती है।

चंचल अंग लता तन बन कौ। आधि ब्याधि दावाग्नि दहन कौ॥
गर्जत तन कामादिक अजगर। सोभित ताकर मरण निरंतर॥

जिसके चंचल अंगरूपी लता और शरीररूपी वन को आधि-व्याधिरूपी दावाग्नि जलाती रहती है एवं शरीर में काम-क्रोधादि अजगर फुफकारते रहते हैं, उसका मरना सदा ही शोभित होता है।

दोहा— जीवन जिनहिं सुहात जग उनहिं सुनहु अब बीर।
जेहि सुनि संसय जाय सब मैं सच कहुँ मतिधीर॥ २२८॥

जिनका [मरना अच्छा नहीं लगता बल्कि] जीवित रहना ही जगत में अच्छा लगता है, हे वीर! अब उनके विषय में सुनो- हे बुद्धिमान्! मैं सत्य कह रहा हूँ जिसके सुनने से समस्त संशय मिट जायेंगे।

चौपाई— देह त्याग जग मरण कहावत। जो आतम महँ होइ न पावत॥
असत देह निज तजि सक नाहीं। हलन चलन जिमि नहिं जड़ माहीं॥

जगत में शरीर का त्याग ही मरण कहलाता है जो चेतन आत्मा में हो ही नहीं सकता और असत् (अविद्यमान) शरीर अपना त्याग वैसे ही नहीं कर सकता जैसे जड़ पदार्थ में हिलने-डुलने की सामर्थ्य नहीं होती।

यासें आत्मज्ञान परमानै। देह असत होनै महँ जानै॥
अस समत्व योगी निजरूपा। पाइ करत अनुभवहिं अनूपा॥

अत: आत्मा का ज्ञान ही देह के असत् होने में प्रमाण है, ऐसा जानो। ऐसा अनुपम अनुभव समत्वयोग में स्थित योगी ही अपने स्वरूप को प्राप्तकर करता है।

ब्रह्मरूप मन मति चित जाकर। अति सोभत जग जीवन ताकर॥
अहं भावना तन महँ नाहीं। मति न लिप्त धन जन मन माहीं॥

इसलिए जिसके मन, बुद्धि, चित्त ब्रह्मरूप हो गये हैं उसी का जीवन इस जगत में अत्यन्त शोभा देता है। जिसे शरीर में अहं भावना नहीं है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसी भावना नहीं है तथा जिसकी बुद्धि धन, जन, मन आदि में लिप्त नहीं है-

समता सर्व भाव महँ जाही। सोभित जीवन जग महँ ताही॥
राग द्वेष बर्जित जो ज्ञानी। रहत याहि जग होइ अमानी॥

जिसे समस्त भावों में समता है उसी का जीवन इस जगत में सुशोभित होता है। जो आत्मज्ञानी पुरुष राग-द्वेष तथा मानरहित होकर इस जगत में रहता है-

दोहा— साक्षि होइ जो हृदय महँ जगत सूर्यवत देख।
सोभत जीवन ताहिकर कहत सास्त्र सब लेख॥ २२९॥

और जो हृदय में साक्षीभाव से स्थित होकर सूर्य की भाँति जगत को देखता है, उसी का जीवन सुशोभित होता है- ऐसा समस्त शास्त्र घोषणा के साथ कहते हैं।

छंद— जिमि रजत भासत सीप महँ तिमि ब्रह्म महँ जग भासई।
यासें नहीं आसक्त जो मतिधीर माया नासई॥
सम्पत्ति षट यम नियम त्याग बिराग अमृत गुन जहाँ।
अरु छीर नीर बिबेक बुद्धी सोभतो जीवन तहाँ॥

[हे पार्थ!] जैसे सीप में चाँदी की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत की प्रतीति हो रही है। इसलिए जो बुद्धिमान इसमें (जगत में) आसक्त नहीं होते उनकी माया नष्ट हो जाती है। जिसमें षट् सम्पत्ति (शम, दमादि साधन), यम, नियम, त्याग, वैराग्य आदि अमृत गुण तथा नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि है, उसी का जीवन सुशोभित होता है।

जाको लखत पावत सुनत उर हर्ष अति भरि जाय है।
सम्पत्ति जाकी सर्ब हित अस सबहिं उर अनुभाय है॥
सरिता सरोवर बिटप सम जीवन जिये जग आइके।
तेहि सोह जग जीवन परम सम सांत रूपहिं पाइके॥

इतना ही नहीं बल्कि जिसे देखने, पाने अथवा सुनने से हृदय अति प्रसन्न हो जाता है, जिसकी [आध्यात्मिक एवं भौतिक] सम्पत्ति सबके काम आ रही है- ऐसा सभी अपने हृदय में अनुभव करते हैं; साथ ही जो इस जगत में आकर नदी, सरोवर तथा वृक्षों के सदृश जीवन जीता है और अपने परम सम-शान्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी का जीवन सुशोभित होता है।

यासें न अब कौरव जियहिं जग औगुनन्हि अघखानि जे।
होइ आतमा मारहु तिन्हहिं नित मम किये अवमानि जे॥
सिसुपाल मगध नरेस आदिहु मैं बध्यों जिमि कंसहू।
मोरे कहे संग्राम करहु न पाप लागइ अंसहू॥

जिन्होंने मेरा सदा ही अपमान किया है, वे समस्त अवगुणों की खान कौरव अब इस जगत में जीने के अधिकारी नहीं हैं। अत: तुम आत्मरूप में स्थित होकर इनका वध कर दो। जैसे मैंने शिशुपाल, जरासंध तथा कंस आदि को मार डाला [परन्तु मुझे पाप नहीं लगा], वैसे ही मेरे कहने से युद्ध करने पर तुम्हें अंशमात्र भी पाप नहीं लगेगा।

दोहा— उपादेय अरु हेय की तजहु बात निःसारु।
साक्षी चेतन जो अहै जीवन सोभित चारु॥ २३० (क)॥

[हे अर्जुन!] ग्राह्य और त्याज्य की साररहित बात को त्याग दो क्योंकि जो साक्षी एवं चेतन रूप में स्थित है, उसी का दिव्य जीवन सुशोभित होता है।

करमयोग महँ बास करि होइ बासनाहीन।
गहउ जगत ब्यवहार तुम्ह मन नहिं करहु मलीन॥ २३० (ख)॥

[इतना ही नहीं] तुम समत्वयोग में स्थित हो वासना त्यागकर जगत के व्यवहार को स्वीकार करो, अपने मन को दूषित मत करो।

चौपाई— अहो बात मम समुझि न पाये। कारन कौरव संग रमाये॥
यासों तव मति भई मलीना। तन मन बचन भये अति दीना॥

[उसके उपरान्त भगवान ने कहा-] अहो! तुम मेरी बात नहीं समझ पा रहे हो, इसका कारण यही है कि अब तक तुमने कौरवों के साथ समय व्यतीत किया है, इसी से तुम्हारी बुद्धि मलिन और तन, मन, वचन अति दीन हो गये हैं।

कारन अपर न मानउ हमरी। मोह कलिल ब्यापइ मति तुम्हरी॥
ता कहँ पार करउ तब मानहु। मोर कही पुनि तुम्ह गुन गानहु॥

मेरी बात न मानने का दूसरा कारण यह है कि तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल में फँस गयी है। अब यदि तुम उसको पार कर जाते हो तभी तुम मेरी बातों को समझ पाओगे और उनपर विश्वास भी कर सकोगे।

ता छन सुनन योग कछु नाहीं। पूर्ब सुनी सब मन सों जाहीं॥
परम बिराग बिमल मन लहई। निज स्वरूप चह बरु सब दहई॥

उस समय कुछ भी सुनने योग्य नहीं रह जायेगा बल्कि पूर्व में जो कुछ भी [सत्य समझकर] सुना गया है, वह सब मन से चला जायेगा। उसके उपरान्त निर्मल मन में परम वैराग्य हो जायेगा [और ऐसा भी निश्चित होगा कि] भले ही सब कुछ नष्ट हो जाय तो भी अपने स्वरूप की ही चाह बनी रहेगी।

लोक बेद मत सुने बिसद अति। गुने न कछु कबहूँ निज मन मति॥
यदि तजि तिन्हहिं सुनहु मम बचना। तब बन बुद्धियोग संरचना॥

[हे पार्थ!] तुमने अति विस्तार से नाना प्रकार के लौकिक एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों को सुना है किन्तु अपने मन-बुद्धि से उनपर कभी कुछ चिन्तन नहीं किया है, यदि उन्हें त्यागकर मेरे वचनों को सुनोगे, तभी कर्मयोग (समत्वयोग) का संयोग बन पायेगा।

दोहा— बुद्धियोग महँ बास करि तुम्ह तबहीं हरषाइ।
धर्मयुद्ध करि सकहु सच स्वयं स्वरूपहिं पाइ॥ २३१॥

तभी तुम प्रसन्नतापूर्वक समत्वयोग में स्थित हो आत्मस्वरूप को प्राप्त कर यथार्थत: धर्मयुद्ध कर पाओगे।

मासपारायण, आठवाँ विश्राम

चौपाई— मोह कलिल का बूझउँ स्वामी। आप कहहु लखि मोहिं अनुगामी॥
पार्थ सुनहु अब भाषउँ ताही। समुझि न पावत ज्ञानिहु जाही॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा-] हे प्रभो! मैं आप से पूछता हूँ कि यह मोह कलिल क्या है? आप मुझे अपना सेवक समझकर बतायें। [भगवान ने कहा-] हे पार्थ! जिसे ज्ञानीजन भी नहीं समझ पाते अब उसे [एक आख्यायिका के माध्यम से] बता रहा हूँ, सुनो!

स्वेतकेतु रटि बेद पुराना। निज कहँ बड़ पंडित जिय जाना॥
गृह आयो बनि बड़ अभिमानी। अपुनो सम कोउ मान न ज्ञानी॥

श्वेतकेतु नामक ब्राह्मण वेद, पुराण एवं शास्त्र आदि को रट कर अपने घर आया। अपने को हृदय में बड़ा पण्डित जानने के कारण वह अत्यन्त अभिमानी होकर अपने समान किसी को ज्ञानी नहीं समझता था।

पितहिं प्रनाम किये बिनु बैठ्यो। गर्वित ज्ञान मूढ़ सम ऐंठ्यो॥
लखि अस निज सुत कर ब्यवहारो। पितु आरुणी चकित चित भारो॥

वह मूर्खों के समान अपने ज्ञान के अभिमान में ऐंठा हुआ पिता को प्रणाम किये बिना ही बैठ गया। पिता आरुणि उद्दालक अपने पुत्र के इस व्यवहार को देखकर हृदय में अत्यन्त चकित हो गये-

कह रे मूढ़ महा अभिमानी। नमै न काह भयो बर ज्ञानी॥
अस अबिनीत भयो केहि ज्ञाना। रटे काह बस बेद पुराना॥

और बोले- क्यों रे महा अभिमानी मूढ़! तू नमस्कार भी नहीं करता, इतना बड़ा ज्ञानी हो गया? तू किस ज्ञान से इस प्रकार अशिष्ट हो गया है; क्या एकमात्र वेद-पुराणों को रट लेने से?

दोहा— जानत का तेहि ब्रह्म तू जेहि जाने सब ज्ञात।
अरु श्रुत अश्रुत मत अमत होय जो अस इठलात॥ २३२॥

अरे! तुम इतने क्यों इठला रहे हो, क्या तूने उस ब्रह्म को जान लिया है, जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है तथा जिसके जान लेने से सुना हुआ न सुने हुए के बराबर हो जाता है एवं सारे सिद्धान्त धराशायी हो जाते हैं?

चौपाई— स्वेतकेतु सुनि पितु के बचना। सक्तिहीन भइ तिहिं मन रचना॥
पितहिं प्रनाम कियो अभिमानी। मोह कलिल निज मति फँसि जानी॥

श्वेतकेतु ने पिता के इस वचन को जैसे ही सुना वैसे ही उसके मन की कल्पनाएँ शक्तिहीन हो गयीं। अत: यह जानकर कि मेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल में फँस गयी है उस अभिमानी ने पिता को प्रणाम किया।

मोह कलिल श्रुति ज्ञान कहावत। यदि अभिमान धनंजय आवत॥
मोह कलिल मति भीष्म धँसानी। द्रोन कृपहु की यहइ कहानी॥

हे धनञ्जय! यदि वेद-शास्त्रों को जानने का अभिमान हो जाय तो वही मोहरूपी दलदल कहा जाता है। इसी मोहरूपी दलदल में पितामह भीष्म की बुद्धि फँसी हुई है तथा द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य का भी यही हाल है।

ऐसोइ नृप मन बुद्धि कहानी। इनि सम निज मति लखु रे ज्ञानी॥
तोरी मति भइ उन्ह सम आजउँ। लाज न तोहिं किंतु मैं लाजउँ॥

राजा धृतराष्ट्र के मन-बुद्धि की स्थिति भी ऐसी ही है और हे ज्ञानी! इन्हीं के सदृश तुम अपनी बुद्धि को भी जानो। तुम्हारी बुद्धि जो आज उनके समान हो गयी है, उससे भले ही तुम्हें लज्जा न लगती हो किन्तु मैं तो अति लज्जित हूँ।

उत धृतराष्ट्र अतिहिं अकुलाने। सुनि प्रभु बचन प्रगट झुँझुँलाने॥
संजय कछु क्यों कह सुनि ऐसो। तू मन मुदित बिदुर के जैसो॥

उधर धृतराष्ट्र भी अति व्याकुल हो गये और भगवान के वचनों को सुनकर प्रत्यक्ष में झुँझलाते हुए बोले-सञ्जय! ऐसा सुनकर भी [तुम कृष्ण को] कुछ क्यों कहोगे, क्योंकि तुम्हारा मन भी विदुर की ही भाँति प्रसन्न हो रहा है।

दोहा— पूज्य जनन सों सीलता मोह कलिल यदि होय।
पुनि परिभाषा प्रेम की काह देइ जग कोय॥ २३३॥

[हे सञ्जय!] पूज्यजनों के प्रति शीलता को भी यदि मोह-कलिल कहा जाय तो फिर इस जगत में प्रेम की कोई क्या परिभाषा दे सकता है?

चौपाई— इन्हके कहे न कोउ कर काहू। बंधु हीत मित मातु पिताहू॥
पुनि तो संजय जग गृहबासी। घर तजि होयँ अबहिं बनबासी॥

इनके वचनानुसार तो कोई किसी का है ही नहीं, चाहे वे हित-मित्र, भाई-बन्धु या माता-पिता ही क्यों न हों। फिर तो हे सञ्जय! जगत के सभी गृहस्थ घर छोड़कर अभी वनवासी हो जायँ!

संजय तेहि छन अवसर पाये। मोह कलिल परिभाषा गाये॥
ब्यंग करहु चाहे नृप कैसो। सच सोइ अहइ कह्यो तुम्ह जैसो॥

सञ्जय उसी क्षण अवसर भाँपकर मोह कलिल की परिभाषा दे बैठे- हे राजन्! चाहे आप कैसा भी व्यंग्य कर लें लेकिन सच तो वही है जैसा आपने अभी कहा है।

बानप्रस्थि जस गृह बस नाहीं। स्वान सुकर अस जीवन ताहीं॥
अनवेसइ नहिं अंतरजामी। मोह कलिल कर सो अनुगामी॥

जो पुरुष घर में वानप्रस्थी जैसा नहीं रहता, उसका जीवन कुत्ते एवं सूअर के समान ही है। यदि वहाँ (गृहस्थाश्रम में) अन्तर्यामी भगवान की खोज नहीं कर रहा है तो वह मोहरूपी दलदल की ओर ही जा रहा है।

अभयदान दैं तो इक बाता। पूछन चाहउँ हे जनत्राता॥
अभय कियों मैं तोहिं सारथी। हुते जे मेरो भये स्वारथी॥

हे प्रजापालक! यदि आप अभयदान दें तो मैं एक बात पूछना चाहता हूँ? [धृतराष्ट्र ने कहा-] हे सञ्जय! मैंने तुम्हें अभय किया क्योंकि जो अपने थे वे सभी तो स्वार्थी हो गये!

दोहा— एक समय रावन कह्यो सुनहु बिभीषण भ्रात।
मोहिं नाहिं भय अपर सों डरउँ स्वजन कर घात॥ २३४॥

एक बार रावण ने विभीषण से कहा- हे भाई! सुनो, मुझे किसी पराये से भय नहीं है, मैं तो स्वजनों के घात से ही डरता हूँ।

चौपाई— बुधजन संतन्ह कर अस कहनो। सत्रु सर्प सँग बरु भल रहनो॥
पर न रहे अस मित सँग कोऊ। अति प्रसन्न सेवइ अरि जोऊ॥

[हे विभीषण!] बुद्धिमानों एवं सन्तों का यह कहना है कि भले ही सर्प एवं शत्रु के साथ रहना पड़े तो अच्छा है किन्तु कोई उस मित्र के साथ कभी न रहे, जो अति प्रसन्न मन (गुप्त रूप) से शत्रु की सेवा में लगा हुआ है।

संकट परे स्वजन हरषावें। समय पाइ बैरी गुन गावें॥
मनोभाव निज रहत दुरायें। होहिं बिपति छन दायें बायें॥

स्वजनों का तो स्वभाव ही है कि वे बन्धु-बान्धवों पर संकट आने पर अति हर्षित हो जाते हैं तथा समय पाकर उसके वैरी के गुणों का बखान करते हैं। वे सदा अपने मनोभावों को छिपाये रहते हैं और विपत्ति के समय दायें-बायें हो जाते हैं।

ते अति क्रूर भयंकर होहीं। उनसों लगत बड़ो भय मोहीं॥
कही जाय एक कथा पुरानी। कहे पद्मबन गज निज बानी॥

[पुनः रावण ने कहा- हे विभीषण!] वे अति क्रूर एवं भयंकर होते हैं मुझे तो उनसे बड़ा भय लगता है। पूर्वकाल की एक कथा कही जाती है, जिसे पद्मवन में हाथियों ने स्वयं कहा था।

कछु जन फंद लिये बन डोलैं। आवत लखि अस कुंजर बोलैं॥
हमहिं नाहिं भय अग्नि पास सों। अस्त्र सस्त्र अरु असुभ रासि सों॥

कुछ लोग हाथ में फन्दे लिये हुए वन में घूम रहे थे, उन्हें अपनी ओर आते देखकर हाथियों ने ऐसा कहा था कि हमें अग्नि, फन्दों, अस्त्र-शस्त्रों तथा अमंगलमय समूह से भी भय नहीं है।

दोहा— अपुनेहि जाती बंधु सन भय अरु कष्ट अपार।
जुगुति बतावहिं सोइ सब पकरहिं फंद पसार॥ २३५॥

हमें तो अपने ही जाति भाइयों से भय और अपार कष्ट होता है, क्योंकि हमारे पकड़े जाने का समस्त उपाय वे ही बताते हैं, जिससे लोग फन्दे फैलाकर हमें पकड़ लेते हैं।

चौपाई— सोइ संजय तू करे सुनावे। बार बार बहु भय उपजावे॥
तउ बुझाउ कहि निज उर तापा। सुनि मम उत्तर करु अति दापा॥

हे सञ्जय! वही तुम मेरे साथ करते हुए बार-बार ये बातें सुनाकर [मेरे हृदय में] अत्यन्त भय प्रकट कर रहे हो; तो भी तुम अपनी बात कहकर अपने हृदय के ताप को बुझा लो और मेरे उत्तर को सुनकर अत्यन्त दम्भ भरते रहो।

कह संजय सुनु कुसल नृपाला। आय कबहिं यदि ऐसो काला॥
काहु नृपति सन्मुख तेहि नारी। यदि कोउ नगन करे अति मारी॥

सञ्जय ने कहा- हे बुद्धिमान राजन्! सुनें, यदि कभी ऐसा समय आ जाय कि किसी राजा के सामने उसकी रानी को कोई बहुत प्रताड़ित करते हुए नग्न करने का प्रयास करे-

काह करइ सो नृप तेहि काला। भड़क उठे यह सुनि महिपाला॥
तेहि हति तब यमपुरी पठावइ। ताहि गाँव गृह आग लगावइ॥

तो हे राजन्! उस समय वह क्या करेगा? ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र भड़क उठे और कहा- उसी समय उसे मारकर यमलोक पहुँचा देगा तथा उसके घर-गाँव में आग लगा देगा।

यहि राजन यदुनंदन कहहीं। सील कलिल पांडव फँसि रहहीं॥
चीरहरन छन किये न युद्धा। तुम्हहु कहउ यह नीति बिरुद्धा॥

हे राजन्! यही तो यदुनन्दन कह रहे हैं कि पाण्डवों ने शीलरूपी दलदल में फँसे होने के कारण ही चीरहरण के समय [इन लोगों से] युद्ध नहीं किया, जो आपके मतानुसार भी नीति विरुद्ध है।

सत्य कलिल महँ फँसे युधिष्ठिर। चीरहरण अवसरहिं रहे थिर॥
अर्जुन भीम नकुल सहदेवा। फँसे सील दलदल सब देवा॥

सत्यरूपी दलदल में फँसे होने से महाराज युधिष्ठिर चीरहरण के समय चुप बैठे रहे तथा अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव- ये चारों देवपुरुष मर्यादारूपी दलदल में फँसे रह गये।

काम क्रोध अरु लोभ कलीला। दुर्योधनहु धँसे अस्लीला॥
ईर्ष्या कलिल सकुनि नृप धँसेऊ। मैत्री कलिल कर्ण बहु फँसेऊ॥

दुर्योधन अश्लील काम, क्रोध और लोभरूपी दलदल में फँसे हुए हैं। उसी प्रकार ईर्ष्यारूपी दलदल में गान्धार नरेश शकुनि और मित्रतारूपी दलदल में कर्ण फँसे हुए हैं-

सुत ममता दलदल महँ आई। द्रोनाचार्यहु गये धँसाई॥

तथा आचार्य द्रोण पुत्रमोहरूपी दलदल में प्रवेश कर पूरी तरह धँस गये हैं।

दोहा— पितु पहिं पन करि कलिल महँ फँसे पितामह जाइ।
सेनापति पद कलिल पुनि धँसे अतिहिं हरषाइ॥ २३६ (क)॥

पिता से की हुई प्रतिज्ञारूपी दलदल में पितामह फँसे हुए हैं तथा इस समय तो सेनापति के पदरूपी दलदल में भी अति हर्षित होकर धँस गये हैं।

सास्त्र कलिल संसय कलिल युद्धकला कलिलाइ।
इच्छा मृत्यू कलिल बहु धँसे पितामह आइ॥ २३६ (ख)॥

[इतना ही नहीं] वे शास्त्रज्ञानरूपी दलदल, संशयरूपी दलदल, युद्धकलारूपी दलदल और इच्छामृत्युरूपी दलदल में भी बुरी तरह से फँस गये हैं।

चौपाई— सुनि धृतराष्ट्र कलिल गम्भीरा। समुझि सत्य उर भइ अति पीरा॥
महाराज अब कह सुनु संता। माया कलिल मिलत नहिं अंता॥

इस प्रकार [सञ्जय द्वारा] अथाह दलदल की व्याख्या सुनकर तथा मन में सच समझकर धृतराष्ट्र के हृदय में अत्यन्त पीड़ा हुई। हे सन्तो! सुनें, महाराज अब कह रहा है कि मायारूपी दलदल का तो अन्त मिल ही नहीं सकता।

कउन कलिल तुम्ह गये धँसाई। जासों ज्ञान समाधि न आई॥
काहु न काहू कलिल धँसाये। जासों निज स्वरूप नहिं पाये॥

[अत: विचार करें कि] आप सब किस दलदल में फँसे हुए हैं जिससे ज्ञान-समाधि नहीं आ पा रही है। [निश्चित रूप से] आप सब किसी न किसी घोर दलदल में फँसे हुए हैं जिससे अपने स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो रही है।

सदगुरु लखहिं कलिल तव सारें। लीला करि ते सहज निकारें॥
पूछहु निज कलिलहिं गुरु पाहीं। निज नयननि सों देखउ जाहीं॥

[भले आप उसे न देख पावें किन्तु] सद्गुरु तो आपके सम्पूर्ण दलदल को देख ही रहे हैं जिसमें से वे लीला द्वारा सहज ही निकाल लेते हैं। अत: आप अपने दलदल के विषय में उनसे पूछें जिससे वे अपनी आँखों से अपने को भी दिखाई दे।

अबलौं जेहि सुनि साँचहि मान्यो। पुनि तासों जो कछु अनुमान्यो॥
तिन्हहिं आपु करि उन्हके अर्पण। करहु बुद्धजन तेहि छन तर्पण॥

अत: अब तक आपने जिसे सुनकर सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है, फिर उससे जो कुछ भी अनुमान किया है, हे बुद्धजनो! आप उन सबको [अर्थात् सम्पूर्ण मान्यताओं को] उन्हें ही समर्पित कर उसी समय तिलाञ्जलि दे दें।

दोहा— करमयोग पुनि गहहु तुम्ह उन्हके पहिं हरषाय।
आत्मरूप होउ जाहि सों मोहउ कलिल नसाय॥ २३७॥

फिर प्रसन्नतापूर्वक उनकी अध्यक्षता में समत्वयोग को धारणकर आत्मरूप हो जायँ जिससे मोहरूपी दलदल का भी नाश हो जाय।

चौपाई— प्रस्न अबहुँ कर अर्जुन जैसो। तेहि कर समय नाहिं इत ऐसो॥
तउ प्रभु चित दै सुनहिं थकित सों। गुडाकेस मुख लखहिं चकित सों॥

अब भी महात्मा अर्जुन जैसा प्रश्न कर रहे हैं उसके लिए यहाँ उपयुक्त समय नहीं है, तो भी भगवान नारायण अनमने ढंग से सुन रहे हैं और आश्चर्यचकित हो महात्मा अर्जुन के मुख की ओर देख रहे हैं।

नित समाधि महँ रहे जो संता। ताकर लक्षण कहउ अनंता॥
कस ब्यवहार होय जग वाको। जासों भक्त लहहिं गुन ताको॥

हे प्रभो! जो सन्त सदा समाधि में रहता है उसके लक्षण आप बतायें, जगत में उसका कैसा व्यवहार होता है जिससे भक्तगण उसके गुणों को ग्रहण करते हैं?

यद्यपि तेहिकर कर्म न सेषा। कारन भयो सेष कर सेषा॥
पुनि क्यों नहिं त्यागे नर देहा। पायो जब अपुनो सच गेहा॥

यद्यपि उसे कुछ करने को बचा नहीं है क्योंकि वह शेष का भी शेष [सम-शान्त सच्चिदानन्द रूप] हो गया है; फिर जब उसने अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लिया है तो इस मनुष्य शरीर को क्यों नहीं छोड़ देता?

ज्योतिरूप जोई बर धामा। जहँ बस अहइ अतिहिं बिश्रामा॥
पुनि दुखरूप न त्यागत देहा। का कारण यासों अति नेहा॥

जो धाम परम ज्योति स्वरूप है, जहाँ एकमात्र विश्राम ही विश्राम है, तो भी [उसकी कामना न कर] इस दु:खरूपी शरीर को नहीं त्यागता, इससे अत्यन्त मोह होने का क्या कारण है?

दोहा— संजय पूछत याहि छन मुनि लक्षण क्यों पार्थ।
होय सिद्ध कछु स्वार्थ कै पुनि पावे परमार्थ॥ २३८॥

[सञ्जय द्वारा यह सब सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा-] सञ्जय! इस समय अर्जुन सन्त का लक्षण क्यों पूछ रहा है? क्या इससे उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होगा या फिर परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति हो जायेगी?

चौपाई— हाँ राजन होवे दोउ सिद्धा। प्रस्न न यह एहि समय बिरुद्धा॥
सिष्य धरम आपुनि ब्यवहारा। भलीभाँति यदि होउ निहारा॥

हाँ राजन्! यह प्रश्न इस समय के विरुद्ध नहीं है क्योंकि इससे [अर्थात् इसका उत्तर जान लेने पर स्वार्थ और परमार्थ] दोनों की सिद्धि हो जायेगी। यदि शिष्य ने अपने धर्म एवं व्यवहार को अच्छी प्रकार जान लिया है-

तौ सदगुरु ब्यवहारहु जाने। जासे उनहिं अतिहिं पहिचाने॥
जानि करइ तब तिन्हसों प्रीती। परमारथ पथ की यह रीती॥

तो उसे सद्गुरु के व्यवहार को भी जानना चाहिए जिससे उन्हें भलीभाँति पहचान सके। तब ऐसा जानकर उनसे प्रेम करे, परमार्थ मार्ग की यही नीति है।

सुचि सनेह उर महँ बिनु आये। अंतर मन सों गुरुहु न भाये॥
गुरूयोग नहिं प्रगटत तबलौं। स्वजन सनेह अंस रह जबलौं॥

जब तक हृदय में पवित्र प्रेम नहीं आ जाता तब तक सद्गुरु भी अन्तर्मन से प्रिय नहीं लगता और गुरुयोग तब तक प्रकट नहीं होगा जब तक स्वजनों के प्रति एक अंश भी प्रेम शेष रहेगा।

बिनु गुरुयोग तत्व परमारथ। मिलत न जग महँ बस रह स्वारथ॥
एक गुप्त कारन अरु होई। प्रभु की कृपा प्रस्न कर योई॥

बिना गुरुयोग के परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती अपितु जगत में एकमात्र स्वार्थ ही स्वार्थ दीख पड़ता है। [हे नरेश!] इसमें एक गुप्त रहस्य और भी है कि भगवान की कृपा से ही अर्जुन ऐसा प्रश्न पूछ रहे हैं।

इत प्रभु सोचहिं औषधि ऐसी। देउँ बासना जाय अनैसी॥

इधर भगवान सोच रहे हैं कि ऐसी औषधि दूँ जिससे इसकी अनावश्यक वासना समाप्त हो जाय।

दोहा— साधु बनन की लालसा एहि उर रही दुकाय।
कर्मयोग सुनि तबहि तौ नहिं गांडीव उठाय॥ २३९॥

क्योंकि इसके हृदय में अभी भी संन्यासी बनने की कामना छिपी हुई है तभी तो समत्वयोगरूपी तत्त्व को सुनकर भी गाण्डीव नहीं उठा रहा है।

चौपाई— सोचइ मुनि अरु मोमें अंतर। अहइ न कछु बाहर अभियंतर॥
संत सहत यदि दुखहिं अपारा। महूँ सहेउँ दुख अबलौं भारा॥

यह सोच रहा है कि सन्त में और मुझमें भीतर-बाहर से थोड़ा भी अन्तर नहीं है। सन्त यदि अपार दु:ख सहन करते हैं तो मैंने भी अब तक अपार दु:ख सहन किया है।

क्षमासील नित परम बिरागी। स्वयं स्वरूप संत अनुरागी॥
महुँ तो छमा करउँ सब आजउँ। ऐसो करत कछुक नहिं लाजउँ॥

सन्त नित्य क्षमाशील एवं परम वैरागी होते हैं तथा अपने स्वरूप से ही प्रेम करते हैं, फिर मैं भी तो आजतक सबको क्षमा ही कर रहा हूँ और ऐसा करने में मुझे थोड़ी भी लज्जा नहीं लग रही है।

काम क्रोध अरु नींद बिजेता। होत संत ते परम सचेता॥
अहइ न मम चित महँ कोउ दोषा। यह जीवन सब बिधि निर्दोषा॥

वे सन्त काम विजेता, क्रोध विजेता और नींद विजेता तथा सदा सजग चित्त वाले होते हैं तो उन्हीं के समान मेरे चित्त में भी कोई दोष नहीं है। मेरा यह जीवन सब प्रकार से निर्दोष है।

पुनि क्यों संत बनत मोहिं रोकत। कवन सो दोष देखि जेहि टोकत॥
जबकि सास्त्र अस नीति बतायो। यदि बधु ब्याहि आज घर लायो॥

फिर ये [कृष्ण] मुझे [संन्यास लेकर] सन्त बनने से क्यों रोक रहे हैं? वह कौन-सा दोष है जिसे देखकर [बार-बार] ये मुझे ऐसा करने से मना कर रहे हैं? जबकि शास्त्र ने ऐसी नीति बतायी है कि यदि आज ही ब्याह करके कोई अपनी पत्नी घर लाया है-

दोहा— तेहि छन होय बिराग तो लेहु बिमल संन्यास।
जब मोहिं भयो बिराग सोइ तब कस करहिं निरास॥ २४०॥

यदि उसी समय उसे निर्मल वैराग्य हो जाय तो वह पावन संन्यास ले ले। वही वैराग्य जब मुझे हो गया है तो ये मुझे [संन्यासी न बनने देकर] निराश क्यों कर रहे हैं?

चौपाई— तिन्ह मन जानि कहहिं यदुराई। सच यह नहिं सुनु मेरो भाई॥
स्थितप्रज्ञ न अबहुँ भये तुम्ह। अस मन गुनि पुनि क्यों खोये तुम्ह॥

अन्तर्यामी भगवान उनके मन की बात जानकर कह रहे हैं कि हे मेरे प्रिय! सुनो- [जैसा तुम सोच रहे हो] यह सत्य नहीं है। हे तात! तुम्हारा स्वरूप अभी स्थितप्रज्ञ सन्त-सा नहीं हुआ है। अत: ऐसा मन में सोच कर तुम पुन: क्यों खो गये?

मन की सकल कामना त्यागी। बहुबिधि जग सों होइ बिरागी॥
आत्मा सों आत्मा महँ ध्यावे। स्थितप्रज्ञ सोइ कहलावे॥

जो मन में स्थित समस्त कामनाओं को त्याग सारे संसार से भलीप्रकार विरक्त होकर आत्मा से आत्मा में ही रमण करता है, वही पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

तुव महँ ये गुन अहहिं न ताता। साधु बनन की क्यों कर बाता॥
ताकर देह न पुनि केहि त्यागे। अपर ब्रह्म नहिं जिहिं अनुरागे॥

हे तात! तुम्हारे अन्दर ये सब गुण नहीं हैं फिर तुम संन्यास लेने की बात क्यों करते हो? उस [स्थितप्रज्ञ] का तो शरीर भी अपना नहीं है फिर किस शरीर का त्याग करे? उसके लिए तो दूसरा कोई ब्रह्म भी नहीं है जिसकी उपासना करे।

त्याग ग्रहण तेहिं के मन नाहीं। केहिं तन घर रह केहिं बन माहीं॥
स्वयं प्रकास रूप सोइ धामा। बेदहु गावहिं तेहि गुनग्रामा॥

उसके मन में त्याग-ग्रहण की बात ही नहीं आती, फिर किस शरीर से घर में रहे किस शरीर से वन में रहे? वह स्वयं परम प्रकाश स्वरूप परम धाम कहा जाता है, और वेद भी उसके गुणों को गाते हैं।

दोहा— अलख निरंजन रूप जो अकथनीय सुनु तात।
ताकर कस ब्यवहार चह जानन तेहि कस बात॥ २४१॥

हे तात! सुनो- जो अलख, निरंजन रूप वाला ब्रह्म है, वह अकथनीय है, अत: उसका कैसा व्यवहार तथा कैसी बातें, जिन्हें तुम जानना चाहते हो?

चौपाई— भगत अराधहिं बहु तन जेहिकर। गुप्त रहनि अब सुनु तू तेहिकर॥
तेहिं भगतन्ह महँ तिहिं सम भाई। जबलौं कोउ मुनि होइ न जाई॥

हे प्रिय! जिसके शरीर की भक्तजन [सगुण ब्रह्म समझकर] उपासना करते हैं, अब तुम उसके गुप्त व्यवहार को सुनो- उसके भक्तों में से जब तक उसके समान कोई स्थितप्रज्ञ नहीं हो जाता-

तबलौं निज तन तजत न कबहूँ। काल निहोरे तासों जबहूँ॥
निर्गुन भयउ सगुन गुरु रूपहिं। भगत गायँ गुन ब्रह्म अनूपहिं॥

तब तक वह अपना शरीर कभी भी नहीं छोड़ता भले ही काल उसके सम्मुख आकर ऐसा करने को क्यों न कहे। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण बनकर सद्गुरु रूप में आया है ऐसा मन में जानकर उसके भक्त उसके अनुपम गुणों का गान किया करते हैं।

कहि परमातम ते तेहिं ध्यावहिं। आत्मा तासों तेउ कहावहिं॥
तासों ते सब चह जब खावै। देखै बोलै हँसे हँसावै॥

वे भक्तजन उसे इस जगत में परमात्मा कहकर उसकी उपासना करते हैं इसी न्याय से वे भक्त भी उसकी आत्मा कहे जाते हैं। अत: वे जब चाहते हैं तभी वह खाता है, देखता है, बोलता है, हँसता है और हँसाता है।

जिमि निरगुन बिभु बनि सुत काहुहिं। करि बिनोद देवे सुख ताहुहिं॥
तिमि भगतन्ह बिच करत बिनोदा। रहि सो अंतर प्रबल प्रबोधा॥

जिसप्रकार निर्गुण ब्रह्म किसी का पुत्र होकर विनोद करते हुए उसे अत्यन्त सुख देता है, उसी प्रकार वह सन्त भी अपनी आत्माओं (भक्तों) के बीच विनोद करते हुए रहता है, किन्तु वह अपने हृदय में परम चेतन ही बना रहता है।

अस सक्ती नहिं तोमें पांडव। पुनि करनो चह क्यों नृत तांडव॥

हे पार्थ! तुम्हारे अन्दर ऐसी शक्ति तो है ही नहीं फिर भगवान शिव की भाँति संन्यासी क्यों बनना चाहते हो?

दोहा— त्रिबिध ताप महँ तपत नहिं सुख महँ सुखी न संत।
क्रोध राग भय रहित सो स्थितप्रज्ञ अनंत॥ २४२॥

वह सन्त तीनों तापों में दु:खी नहीं होता, न सुख में सुखी होता है अपितु वह राग, क्रोध, भय आदि से रहित स्थितप्रज्ञ अनन्त ब्रह्म ही होता है।

चौपाई— दुख महँ तू बहु दुखी लखावे। सुख पावत मन महँ हरषावे॥
तोमें बरु न काम भय होवे। पर तू क्रोध मोह महँ सोवे॥

तुम तो दु:ख में अति दु:खी हो जाते हो और सुख को पाकर मन ही मन हर्षित हो उठते हो। भले ही तुममें भय और काम नहीं हैं किन्तु तुम क्रोध और मोह-ममता में डूबे हुए हो।

चिदानंदमय नित सो संता। तन मन बच आनंद अनंता॥
मन तेरो चाहत आनंदा। जदपि सत्य तू परमानंदा॥

वह स्थितप्रज्ञ सदा सच्चिदानन्द स्वरूप है, तन, मन, वचन आदि को उसी के द्वारा आनन्द मिलता है; परन्तु तुम्हारा मन आनन्द खोज रहा है जबकि तुम यथार्थ में परमानन्द ही हो।

स्थितप्रज्ञ न जीवन प्रीती। गरल सुधा सम तेहिं अस रीती॥
लहि अनुकूल सो हरषत नाहीं। तिमि प्रतिकूल न दुख मन माहीं॥

स्थितप्रज्ञ सन्त को तो शरीर और जीवन से प्रेम नहीं होता, वह विष तथा अमृत पीने में सम रहता है, मन की अनुकूलता में हर्षित नहीं होता, वैसे ही प्रतिकूलता में दु:खी भी नहीं होता।

स्थितप्रज्ञ कहाय याहि सों। सुख हित इत उत जाय नाहिं सों॥
स्थितप्रज्ञ इंद्रियनि माहीं। बिषय प्रबृत्ति न सपनेहु आहीं॥

वह सन्त सुख की कामना से इधर उधर नहीं जाता (प्रयत्न नहीं करता) इसीलिए उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। स्थितप्रज्ञ सन्त की इन्द्रियों में स्वप्न में भी विषयों की प्रवृत्ति नहीं होती।

ब्रह्म बिषय जब सन्मुख आवत। कच्छप इव इंद्रिनि सों पावत॥
सबहिं बिलोकहिं कूर्म सुभावहिं। बिषय ताहि सनमुख जब आवहिं॥

ऐसे सन्त के सम्मुख जब ब्रह्मरूपी विषय आता है तो कछुवे की भाँति वह उसे ग्रहण कर लेता है। कछुवे का स्वभाव सभी लोग जानते हैं-जब उसके सम्मुख विषय आता है-

तब सो इंद्रिन्हि लेत निकारी। खाइ पुनिहिं सिमटत तिन्हिं सारी॥
स्थितप्रज्ञहु याहि सुभावहि। बिचरे जग न कष्ट अनुभावहि॥

तब वह अपनी इन्द्रियों को अपने कवच से बाहर निकालकर उनको ग्रहण कर लेता है उसके पश्चात् पुनः इन्द्रियों को अपने कवच में समेट लेता है। स्थितप्रज्ञ सन्त का स्वभाव भी ठीक ऐसा ही होता है इसीलिए वह संसार में विचरण करते हुए सुशोभित होता है परन्तु उसे संसार की माया से रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता अर्थात् माया उसे प्रभावित नहीं करती।

दोहा— स्थितप्रज्ञ सु संत इक जिन्हकी कथा पबित्र।
एहि प्रसंग महँ तात सुनु एहि जग अतिहिं बिचित्र॥ २४३॥

हे तात! इसी प्रसंग के अनुरूप एक स्थितप्रज्ञ सन्त की कथा सुनो, जिनकी कथा पावन और जगत में अति अद्भुत है।

चौपाई— कहि जग उन्ह जड़ भरत सुजाना। बहु बिधि करत रहत गुन गाना॥
योगस्थित गृह बसें सो ऐसो। जल महँ कमलपत्र के जैसो॥

हे बुद्धिमान्! जगत के लोग उन्हें जड़भरत कहकर बहुत प्रकार से उनके गुणों का बखान करते हैं। वे सन्त गृहस्थाश्रम में ही स्थितप्रज्ञ होकर ऐसे रहते थे जैसे जल में कमल का पत्ता रहता है।

जड़ उन्मत्त बधिर कै जैसो। रहत करत सो कर्म अनैसो॥
कोउ कछु चाहत कर्म करत सो। ताके प्रतिफल मन न धरत सो॥

वे जड़, पागल एवं बहरे की तरह रहते हुए अनमने ढंग से कर्म करते थे। यदि कोई उनसे कुछ कर्म कराना चाहता तो वे कर देते थे किन्तु उसके बदले वे मन में कुछ भी चाह नहीं रखते थे।

जो बिनु माँगे मिलइ सो खावत। भलो बुरो कछुवै नहिं गावत॥
सीत ऊष्ण बरसे बहु क्रुद्धत। बृष इव पड़े रहत नहिं छुब्धत॥

बिना माँगे ही उन्हें जो कुछ भी प्राप्त हो जाता, उसे खा लेते, अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं कहते। सर्दी-गर्मी, बरसात के भीषण उत्पात में भी वे वृषभ (बैल) के समान चाहे जहाँ पड़े रहते, क्षुब्ध नहीं होते थे।

महि सोवत तन फटो पुरानो। एकइ बस्त्र न तेलुबटानो॥
रज बहु जमी रहति तन जासे। ब्रह्म तेज तिन्हकर नहिं भासे॥

वे शरीर पर एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए, बिना तेल आदि लगाये पृथ्वी पर ही लेटे रहते थे, उनके शरीर पर बहुत-सी धूल जमी रहती थी, जिससे उनका ब्रह्मतेज स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ता था।

दोहा— कोउ पागल कोउ बृषभ कहि मूढ़हु बधिर पुकार।
भलो बुरो कोउ कहि थुकै खानौ दै कोउ मार॥ २४४॥

उन्हें कोई पागल, कोई बैल, कोई मूर्ख तथा कोई बहरा कहता और कोई भला-बुरा कहकर उन पर थूक देता। कोई कुछ खाने को दे देता तो कोई पीट-पाट देता था।

चौपाई— एक समय चोरन्ह पति ध्यायो। पुत्र हेतु निज तंत्र जगायो॥
देन भद्रकाली बलि सोचो। एक पुरुष गहि लायो पोचो॥

एक समय चोरों के सरदार ने मन में पुत्र की कामना करके अपना तंत्र जागृत किया, इस हेतु भद्रकाली को [नर का] बलि देने की सोची। वह दुष्ट शीघ्र ही एक पुरुष को पकड़ लाया।

दैवयोग सो फंद छुड़ायो। निसि महँ भाग्यो हाथ न आयो॥
तेहि छन तहँ कोउ अपर न आये। उन्हहिं हाथ जड़ भरत धराये॥

दैवयोग से रात्रि में वह फन्दे को छुड़ाकर भाग गया और पुनः पकड़ में नहीं आया। उस समय वहाँ उसके हाथ कोई अन्य पुरुष नहीं लगा अपितु महात्मा जड़भरत ही हाथ लग गये।

बंधु कहे उत खेत रखावें। मृग बराह सों ताहि बचावें॥
देखि सकल लक्षण अति सुंदर। बाँधि लेइ गये चंडी मंदर॥

वहाँ वे अपने भाई की आज्ञानुसार हिरण एवं सूअरों से खेत की रखवाली कर रहे थे। उनमें [बलि के योग्य] समस्त शुभ लक्षणों को देखते हुए [उन्हें वे चोर] बाँधकर कालीजी के मंदिर में ले गये।

तहिं बहुबिधि अस्नान कराई। तिलक लगाय बस्त्र पहिराई॥
नाना ब्यंजन लाइ खिलावें। गावहिं अस्तुति ढोल बजावें॥

वहाँ पर वे सब उन्हें अच्छी प्रकार से स्नान कराकर, वस्त्र पहनाकर, तिलक लगाकर, नाना प्रकार के व्यंजन खिलाकर ढोल बजाते हुए [देवी का] स्तवन गाने लगे।

सिर नीचो कराय बैठारे। देबी सन्मुख मंत्र उचारे॥
बृषलराज तब खड्ग उठायो। पुनि जड़ भरतहिं मारन धायो॥

उन्हें भगवती के सामने सिर नीचे कराकर बैठा दिया और मंत्रोच्चार करने लगे। उसी समय चोरों का राजा हाथ में तलवार लेकर [बलि देने के लिए] महात्मा जड़भरत का वध करने दौड़ा।

साधु निरादर नाहिं सहायो। देबिहिं मूर्ति घोर गर्जायो॥
प्रगट भई काली बिकराला। रोहित नेत्र काल कर काला॥

अब भगवती से उस सन्त का अपमान सहा नहीं गया, अतः देवी की मूर्ति से घोर गर्जना के साथ अति भयानकस्वरूप वाली काल की भी काल, लाल-लाल नेत्रोंवाली भगवती काली प्रकट हो गई।

जनु संसार करइ संघारी। पुनि पुनि भीषण नाद उचारी॥
महानाद करि खंगहिं झपटी। पुनि पुनि ताहि बिबिध बिधि दपटी॥

वह बार-बार भीषण नाद कर रही थी, ऐसा लग रहा था कि सृष्टि का ही संहार कर देगी। पुनः महानाद करके [दस्यु के हाथों से] तलवार झटककर छीन लिया तथा बारम्बार उसे डाँट-फटकारकर-

धड़ सों सर उड़ाय तब दीन्हीं। रुधिर पान करि तांडव कीन्हीं॥
दस्यु सिरन्हि कर गेंद बनाई। खेलइ पुनि पुनि अति हरषाई॥

धड़ से सिर पृथक् कर दिया और रक्तपान करके ताण्डव नृत्य करने लगी। फिर वहाँ अन्य चोरों के भी सिरों को काटकर गेंद के समान क्रीड़ा करते हुए बारम्बार हर्षित होने लगी।

दोहा— यहु लखि हरषे नाहिं मुनि पूर्ब न भयो बिषादि।
यहि गति स्थितप्रज्ञ कर बूझत स्वयं अनादि॥ २४५॥

ऐसा देखकर भी मुनिवर जड़भरत हर्षित नहीं हुए, न उन्हें पूर्व की घटना से खेद ही हुआ। [हे पार्थ!] स्थितप्रज्ञ पुरुष का यही लक्षण है कि वह स्वयं को अनादि-अनन्त ब्रह्म ही समझता है।

चौपाई— जस कोउ करइ संत अपमाना। उलटि मिलइ निज कहँ सच माना॥
जदपि सो आपुनि करत न रक्षा। ताहि करति बहु सक्ति सुरक्षा॥

हे पार्थ! यह सच है कि जैसे कोई सन्त का अपमान करता है तो वह ठीक वैसा ही अपने को प्राप्त हो जाता है। वे अपनी रक्षा स्वयं से भले ही नहीं करते किन्तु उनकी सुरक्षा आदिशक्ति स्वयं ही करती है।

निज महिमा सच जानहिं सोई। उनहिं काह पहिचानइ कोई॥
सोइ जड़ भरत सुनहु एक बारा। इक्षूमती सरित के पारा॥

वे सन्त अपनी महिमा स्वयं ही जानते हैं उन्हें कोई क्या पहचान सकता है। पुनः सुनो- एक बार वे ही जड़भरत इक्षुमति नदी के तट पर-

बैठि रहे नृप रहुगण निकर्‌यो। हृष्ट पुष्ट लखि तिन्हि सो पकर्‌यो॥
सोच्यो खर अरु बृषभ समाना। भार बहइ यह बहुत युवाना॥

बैठे हुए थे कि राजा रहूगण निकला, उन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर पकड़ लिया। उसने सोचा कि यह युवक गधे और सांड के समान बहुत-सा भार ढो सकता है,

सिबिका महँ जोत्यो हरषाई। बरनि जाय नहिं सो निठुराई॥
जदपि न ते अस कर्मन्हि योगा। पर बिधि बस अस भा संयोगा॥

अत: हर्षित होकर अपनी पालकी में जोत लिया। इस प्रकार उस निर्दयता का वर्णन करते नहीं बनता। यद्यपि वे उस कर्म के योग्य नहीं थे, किन्तु विधि के विधानवश ऐसा संयोग ही आ गया था।

दोहा— ढोवत सिबिका महँ नृपहिं चले जाहिं चुपचाप।
ऐंड़ो बेंड़ो पग परै सो बोल्यो करि दाप॥ २४६॥

वे राजा को पालकी में ढोते हुए चुपचाप चले जा रहे थे, किन्तु [जीव रक्षा करने एवं अभ्यास न होने से] इधर-उधर पाँव पड़ने लगे तो वह अति अहंकार में बोला-

चौपाई— औदक नीचो देख चलौ रे। इतनो अंधो नाहिं बनौ रे॥
अपर कहार कहे हदसाई। नृप हमरी यह नहिं कदराई॥

अरे मूर्खों! ऊँचा-नीचा देखकर चलो, [कम से कम] इतने अंधे तो मत बनो। [ऐसा सुनकर] दूसरे कहारों ने डरकर कहा- हे राजन्! यह हमारी कमी नहीं है।

नवो आय चल पाँव भँवाई। छमा करहु नृप हमरि ढिठाई॥
एहिके संग न जाय पालकी। निकरे हमरी खाल बाल की॥

यह जो नया कहार आया है, वह पाँवों को घुमाकर चल रहा है। अत: हे राजन्! हमारे बोलने की धृष्टता को आप क्षमा करें, इसके साथ तो हमसे पालकी नहीं चल पायेगी [बल्कि] हमारी तो बालों की खाल निकल जायेगी।

दोष जोइ संसर्ग सों होई। सोचे नृप त्यागन हित सोई॥
नातरु दोष सबन्हि महँ आवें। जासे सब ब्यवहार गँवावें॥

तब राजा ने सोचा कि यदि दोष संसर्ग से होने वाला है तो वह संसर्ग तत्क्षण ही त्याग देने योग्य होता है अन्यथा वह दोष सभी में प्रवेश कर जाता है, जिससे सभी का व्यवहार दूषित हो जाता है।

अस बिचारि रहुगण मति धीरा। क्रोधित भयो जदपि गम्भीरा॥
रज सों ब्याप्त भई मति ताकी। गरज्यो तिन्ह पर थिर मति जाकी॥

मन में ऐसा विचारकर बुद्धिमान राजा रहूगण जो यद्यपि गम्भीर [स्वभाव वाला] था फिर भी क्रोधित हो उठा। उसकी बुद्धि रजोगुण से व्याप्त हो गयी अत: उन [मुनीश्वर जड़भरत] पर गरज उठा जिनकी बुद्धि अत्यन्त स्थिर थी अर्थात् जो स्थितप्रज्ञ थे।

दोहा— अनल ढँकइ जिमि भस्म सों पर न सकहिं सब जान।
ब्रह्मतेज तिमि आबृत सकेउ न तिन्हि पहिचान॥ २४७॥

जिसप्रकार अग्नि राख से ढकी होती है परन्तु उसे सभी जान नहीं पाते, उसी प्रकार [अशुभ वेश में रहने से] उनका ब्रह्म तेज छिपा हुआ था इसलिए उन्हें वह नहीं पहचान सका।

चौपाई— नृप कह क्यों खाये अस भइया। का तोसों कछु कह्यो न मइया॥
हृष्ट पुष्ट तुम्ह क्यों भै इतनो। बृषभ महिष अरु खर के जितनो॥

राजा ने कहा- अरे भाई! तुम इतना विशेष क्यों खाते हो? क्या तुम्हारी माँ ने तुमसे [खाने के अतिरिक्त] कुछ नहीं कहा? [खा-पीकर] भैंसे, सांड एवं गधे के समान इतने हट्टे-कट्टे क्यों हो गये-

जासे बने न कोऊ कर्मा। पर तुव लाने काह अधर्मा॥
खानो पीनो सोनो जगनो। धर्म इहइ सच तेरो कहनो॥

जिससे कि तुमसे कोई काम ही न बने? परन्तु तुम्हारे लिए अधर्म भी क्या है क्योंकि तुम्हारे अनुसार तो खाना-पीना, सोना-जागना ही सच्चा धर्म है!

पर यह धर्म राखु मन माहीं। काहु कहन महँ आवहु नाहीं॥
मनहु मातु पितु तोहिं भगाये। जासों आज इहाँ तक आये॥

परन्तु तुम यह धर्म अपने मन में ही रखो, किसी के कहने में मत आओ। लगता है तुम्हें [इसी कारण से] माता-पिता एवं भाई-बन्धुओं ने भगा दिया है जिससे आज तुम यहाँ तक आ गये हो।

एहि बिधि ब्यंग करइ बहु बोलइ। किंतु पालकी तेहि बिधि डोलइ॥
मुनि मन खेद पार्थ क्यों आवे। उन्हके मन सब माया भावे॥

इस प्रकार रहूगण नाना प्रकार से व्यंग करने लगा किन्तु पालकी तो उसी प्रकार डोल रही थी। हे पार्थ! [इतना होने पर भी] जड़भरत मुनि के मन में दु:ख क्यों हो क्योंकि उनके मन में यह सब माया ही जान पड़ रही थी।

उन्हके हिय पर अपर न सूझे। भलो बुरो बोलत कस बूझे॥

उनके हृदय में अपना और पराया तो प्रतीत हो ही नहीं रहा था फिर यह मुझे भला-बुरा कह रहा है- ऐसा कैसे प्रतीत होता!

दोहा— निजानंदमय बुद्धि मन ब्रह्मरूप प्रारब्ध।
हुतो न द्वैताद्वैत कछु पुनि क्यों रह आबद्ध॥ २४८॥

उनकी बुद्धि, मन तथा प्रारब्ध आदि स्वयं आनन्दमय ब्रह्मरूप हो गये थे। उनमें कुछ भी द्वैत और अद्वैत नहीं था, फिर वे राग-द्वेष के बन्धन में क्यों रहते?

चौपाई— सिबिका इत उत बहु बिधि डोलै। रहुगण भड़क उठ्यो अरु बोलै॥
क्यों रे खर तू मरनो चावे। मोरे कर यमलोक सिधावे॥

तो भी पालकी के इधर-उधर बहुत प्रकार से हिलने-डुलने पर राजा रहूगण भड़क उठा और बोला- क्यों रे गधे! तू मरना चाहता है? क्या मेरे हाथों से [शीघ्र ही] यमलोक जाना चाहता है?

पुनि पुनि करइ निरादर मेरो। इतनो साहस कैसो तेरो॥
जिमि यम दंड देहिं मूढ़न्ह को। तिन्ह सम दंड देउँ मैं तोको॥

तू मेरा बारम्बार अपमान कर रहा है, तेरा इतना साहस कैसे हो गया? अत: जिसप्रकार यमराज पापियों को दण्ड देते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हें दण्ड दूँगा।

अब मैं तोर करउँ उपचारा। तैं होयो एहि जग अति भारा॥
पार्थ मदान्ध नृपति अस बकई। मुनि चित बिमल न कछु कहि सकई॥

ठहरो! अब मैं तुम्हारा उपचार करता हूँ [तब तुम्हें चेत होगा], क्योंकि तुम इस जगत पर अत्यन्त भार स्वरूप हो गये हो। हे पार्थ! राजा रहूगण मदमत्त हो इस प्रकार बकवास कर रहा था किन्तु निर्मल मन वाले वे सन्त [जड़ भरत] कैसे कुछ कह सकते थे।

तुव सम पंडित आपुहिं मानइ। ब्रह्मभूत मुनि नहिं पहिचानइ॥
हुतो सो जात कपिल मुनि पासा। उन्हपर ताकर अति बिस्वासा॥

हे पार्थ! वह राजा रहूगण भी तुम्हारी तरह ही अपने को पण्डित मान रहा था, अत: ब्रह्मस्वरूप मुनि को पहचान नहीं पाया। वह भगवान कपिल के पास जा रहा था, क्योंकि उनपर उसे अत्यन्त विश्वास था।

दोहा— ताहि समर्पण संत पहिं लखि मुनि मन हरषाइ।
जगत सुहृद सुचि आतमा कहन लगे मुसुकाइ॥ २४९॥

अत: उसका सन्त के प्रति समर्पण देखते हुए मुनिवर जड़भरत के मन में [दु:ख की जगह] प्रसन्नता ही थी। अत: वे जगत के सच्चे हितैषी प्रिय आत्मा [उस राजा से] मुस्कुराकर कहने लगे-

चौपाई— नृप सच कह्यो कहन जो लायक। यामें नहिं कछु मन दुखदायक॥
भार अहइ ढोवन वारन को। मारग गमन करन वारन को॥

हे राजन्! आप वही कह रहे हैं जो सच में कहने योग्य है, इसमें तो कुछ मन को दुःख देने वाली बात है ही नहीं। अरे! भार तो ढोने वालों के लिए है, मार्ग आने-जाने वालों के लिए है,

अहइ मोटापा तनकर अंगा। आतम सब तन रहत अनंगा॥
आधि ब्याधि भय छुधा पिपासा। कलह सांति इच्छा बिस्वासा॥

और मोटापा शरीर का अंग है परन्तु आत्मा तो सभी शरीरों में अंगरहित ही रहता है। उसी प्रकार आधि-व्याधि, भूख-प्यास, भय-कलह, शान्ति, इच्छा, विश्वास-

प्रेम सोक क्रोधउ अभिमाना। नींद जरा मानउ अपमाना॥
जीव धरम ये देह निमित्ता। अंस न मो आतम महँ चिंता॥

प्रेम, शोक, क्रोध, अभिमान, नींद, वृद्धावस्था, मान तथा अपमान- ये सब देहाभिमान के कारण से जीव के ही धर्म हैं; अतः अंशमात्र भी मुझ आत्मा में शोक-सन्ताप नहीं है।

जिवन मरन जे नृपति सुनायो। आदि अंत बस्तुनि महँ भायो॥
सेवक सेब्य भाव नृप जबहीं। आज्ञा पालन होवइ तबहीं॥

हे राजन्! जो आपने जीवन-मरण के विषय में कहा है, वह तो आदि-अन्तवान वस्तुओं में ही दीख पड़ता है परन्तु जहाँ स्वामी और सेवक का भाव होता है वहीं पर आज्ञापालन दिखाई पड़ता है।

दोहा— अहउँ प्रजा तुम्ह नृपति सच यहि ब्यवहार कहाय।
चिदानंद मम रूप महँ भेद बुद्धि कस आय॥ २५०॥

मैं प्रजा हूँ और आप राजा हैं- हे राजन्! यह मात्र व्यवहार में सच कहा जाता है। अरे! मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप में भेद बुद्धि कैसे आ सकती है?

चौपाई— सच महँ को स्वामी को सेवक। अहइ जगत महँ कहु जन खेवक॥
पर तव हिय प्रभुता अभिमाना। सेवउँ अरु का नृपति सुजाना॥

हे प्रजापालक! आप ही बतायें कि सच में इस जगत में कौन स्वामी और कौन सेवक है? परन्तु आपको अपनी प्रभुता का अभिमान हो गया है, अतः हे बुद्धिमान! [आप ही बताएँ कि] मैं आपकी और क्या सेवा करूँ?

मैं जड़ अरु उन्मत्त समाना। निज स्वरूप महँ रहउँ सयाना॥
मोरि चिकित्सा करि का पावहु। पिसन पिसइ सम मिथ्या धावहु॥

हे बुद्धिमान्! मैं अपने स्वरूप में रहते हुए भी जड़ और उन्मत्त की भाँति रहता हूँ। अतः जिसप्रकार पिसे हुए अन्न को पीसना व्यर्थ है, उसी प्रकार मेरी चिकित्सा करके आपको क्या मिलेगा!

अर्जुन अस कहि बचन सुधा सम। मुनि गहि मौन चले बसुधा सम॥
पूर्ब करम छय हेतु गोसाईं। छाँड़ि चले अपुनी प्रभुताईं॥

हे पार्थ! वे पृथ्वी के समान धैर्यवान मुनीश्वर इस प्रकार के अमृतमय वचन कह मौन धारण कर चलने लगे। वे सन्त प्रारब्ध क्षय करने के लिए अपनी प्रभुता को त्यागकर चल रहे थे।

सुनि मुनि बचन ज्ञान रस सानी। बिकल भयो सो नृप अति मानी॥

इधर वह अत्यन्त अभिमानी राजा मुनि के ज्ञानरस से पगे हुए वचनों को सुनकर अति व्याकुल हो गया।

दोहा— आँखि खुली झट पालकी त्यागि मुनिहिं पद आइ।
माँगत छमा सो चकित चित पुनि पुनि अति पछिताइ॥ २५१॥

उसकी आँख खुल गयी (वह सजग हो गया) तथा तत्क्षण ही पालकी से उतरकर और भरत मुनि के चरणों में नतमस्तक हो क्षमा माँगने लगा। उन्हें उसने अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर देखा एवं बारम्बार पश्चात्ताप करते हुए-

चौपाई— पूछत को प्रभु तुम्ह अज्ञाता। काहि निमित अस रहु जनत्राता॥
दीन भेष महँ रहउ छुपाई। अति अगाध प्रभु जान न जाई॥

पूछा- हे प्रभो! इस अज्ञात रूप में रहने वाले आप कौन हैं? हे भक्तों के कष्ट को दूर करने वाले! आप इस वेश में किस कारण से रहते हैं? हे नाथ! आप इस भिखारी के वेश में ऐसे छिपे हुए हैं कि अथाह स्वरूप वाले होते हुए भी पहचान में नहीं आ रहे हैं।

कहुँ अवधूतन्ह के अवधूतो। दत्तात्रेय स्वामि अच्यूतो॥
किधौं करन मेरो कल्याना। आये आज कपिल भगवाना॥

कहीं आप अवधूतों के अवधूत अच्युत भगवान दत्तात्रेय तो नहीं हैं अथवा कहीं मेरा कल्याण करने के लिए आज कपिल भगवान ही तो नहीं प्रकट हो गये हैं?

इंद्र कुलिस सों नहिं भय मोरें। सिव त्रिसूल सों डरउँ न भोरें॥
यम कुबेर रबि अग्नि अस्त्र सों। भय नहिं कोऊ सुरन्हि सस्त्र सों॥

हे प्रभो! मुझे न इन्द्र के वज्र से भय है, न ही स्वप्न में भी भगवान शिव के त्रिशूल से, न यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि आदि देवताओं के अस्त्रों से और न ही किन्हीं अन्य देवताओं के शस्त्रों से ही भय है।

किंतु बहुत भय साधु संत सों। निगुन सगुन जो जग अनंत सों॥

किन्तु [हे प्रभो!] मुझे साधु-सन्तों से अवश्य ही अति भय लगता है जो सच में ही इस जगत में निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म हैं।

दोहा— उर दुकाय निज सक्ति अरु आत्मज्ञान बिज्ञान।
बिचरहु कस प्रभु जगत महँ अस जड़ मनुज समान॥ २५२॥

हे प्रभो! अपनी ब्रह्मशक्ति एवं ज्ञान-विज्ञान को छिपाकर आप जगत में इस प्रकार जड़ मनुष्यों की तरह क्यों विचरण कर रहे हैं?

चौपाई— अहउ सर्बथा बिषय अछूता। उर अनुभाय कोउ अवधूता॥
तुम्हरे वाक्य अतिहिं गम्भीरा। मम मति ताहि न समुझति धीरा॥

आप विषयों से सर्वथा परे हैं इसलिए मन में ऐसा विश्वास हो रहा है कि आप अवश्य ही कोई अवधूत हैं। हे धीरमति! आपके वाक्य अत्यन्त गम्भीर हैं, अत: मेरी बुद्धि उनको समझ नहीं पा रही है।

मम सम गृहासक्त तव रूपहिं। कस जानइ भगवत अनुरूपहिं॥
कीन्हेउँ बहुत अवज्ञा स्वामी। कृपा करहु अब अंतरजामी॥

हे प्रभो! मेरे जैसा घर-बार में आसक्त प्राणी आप के भगवत् स्वरूप को कैसे जान सकता है? हे नाथ! हे अन्तर्यामी! [यद्यपि] मैंने आपका बहुत अपमान किया है तो भी अब आप मुझपर कृपा करें।

मुक्त होउँ साधू अपराधा। प्रभु पथ गमन करउँ निर्बाधा॥
पुनि मम हरउ घोर अज्ञाना। सेवक जानि देहु निज ज्ञाना॥

[हे स्वामी!] सन्त के प्रति किये हुए अपराध से मैं मुक्त हो जाऊँ जिससे परमार्थ मार्ग में अबाध रूप से गमन करूँ। पुन: आप अपना सेवक जानकर मेरे घोर अज्ञान का हरण कर आत्मज्ञान प्रदान करें।

पार्थ मुनी सरनागत रक्षक। किये कृपा कालउ कर भक्षक॥

हे पार्थ! [उसके ऐसा कहने पर] भरत मुनि जो काल के भी काल थे उन शरणागत रक्षक ने [राजा रहूगण पर] कृपा कर दी।

दोहा— भ्रम न होय पुनि तेहि दिये आत्मज्ञान अवधूत।
समाधिस्थ अस लक्षनहिं सुनि मुनि मन अभिभूत॥ २५३॥

उस अवधूत मुनि ने उसे आत्मज्ञान दे दिया जिससे पुन: [उसे] भ्रम न हो। स्थितप्रज्ञ पुरुष के ऐसे लक्षणों को सुनकर मुनियों का मन भी कृतकृत्य हो जाता है।

चौपाई— जाकर मन प्रभु महँ अनुराता। महाराज उनसों कह बाता॥
त्यागहु तुम्हहु भरत जस त्यागे। जासे सुचि बिराग उर जागे॥

जिनका मन भगवान में ही लगा हुआ है उन [साधकों एवं भक्तों] से महाराज अब यह बात कह रहा है कि जैसा त्याग महात्मा जड़भरत ने किया था आप भी वैसा ही त्याग करें, जिससे हृदय में निर्मल वैराग्य प्रकट हो जाय।

त्याग सिद्धि तिन्ह तुम्ह कहँ साधन। महाराज अब कह अवराधन॥
अबसों तौ दुख सुख सम होवहु। मान अमान त्यागि चित धोवहु॥

महाराज अब साधकों से कहता है कि उनके (भरत मुनि) लिए उनका त्याग सिद्धि है किन्तु आपके लिए साधन है। अत: आप उसी त्याग की आराधना करें। अब से भी आप दु:ख-सुख में समान हो मान-अपमान त्यागकर चित्त को निर्मल कर लें।

अहं ब्रह्म निर्गुण मन धारी। जीव करम तजि दैं मद टारी॥
ब्रह्महिं बृत्ति अखंड न जबलौं। होय छिपउ अबसों जग तबलौं॥

'मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ'- मन में ऐसी धारणा करके जीव के कर्मों को त्यागकर अहंकार से रहित हो जायँ। जब तक यह ब्राह्मीवृत्ति अखण्ड न हो जाय तब तक के लिए आप अभी से जगत में अज्ञात हो जायँ।

ब्रह्मसक्ति अरु आतमज्ञानहिं। प्राप्त होय जब तब कछु मानहिं॥

[इस प्रकार] जब ब्रह्मशक्ति और आत्मज्ञान प्राप्त हो जाय तभी कुछ स्वीकार करें।

दोहा— राजर्षी सम बसहु तब कै जड़ भरत समान।
पुनि न कहइ महराज कछु सच ताकर मत जान॥ २५४॥

उसके उपरान्त आप [घर में हैं तो] राजर्षियों की भाँति रहें या [वन में हैं तो] मुनिवर जड़भरत की भाँति, फिर महाराज कुछ भी नहीं कहेगा। आप जान लें कि उसका तो सच में यही सिद्धान्त है।

चौपाई— प्रभु अर्जुन उर झाँकि बिचारत। बन तप करउँ अबहुँ मन धारत॥
यासें कछु तप दोष बताई। पुनि आध्यात्मिक पंथ जताई॥

भगवान ने भक्त अर्जुन के हृदय में झाँककर देखा कि अभी भी इसके मन में यह धारणा है कि मैं वन में जाकर तप करूँ। इसलिए वे [वन में जाकर] तप करने की आलोचना कर आध्यात्मिक पथ को पुन: समझाने लगे।

तात तपत अति कछु तपधारी। निराहार तन इंद्रिन्हि मारी॥
तजत बिषय रस अस तप बृद्धी। बेगि पायँ धन ऋद्धी सिद्धी॥

उन्होंने कहा- हे तात! कुछ ऐसे तपस्वी भी होते हैं जो शरीर और इन्द्रियों को बलपूर्वक रोककर निराहार रहते हुए घोर तप तपते हैं। विषय-रसों को त्यागकर तप करने से तप में ऐसी वृद्धि हो जाती है कि वे थोड़े ही समय में ऋद्धि-सिद्धिरूपी संपत्ति प्राप्त कर लेते हैं।

पर न जाय मन राग बिषय रस। परमारथ पथ ते पावहिं कस॥
याकर कारन कलह काहु सों। भयो नारि सुत कै पिताहु सों॥

किन्तु उनके मन से विषय रस की आसक्ति नहीं जाती, अत: वे पारमार्थिक पथ को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इसका एकमात्र कारण है कि उनका स्त्री-पुत्र, पिता अथवा किसी न किसी से कलह हुआ है [अर्थात् नैमित्तिक कारणों से उन्होंने तपस्या स्वीकार की है]।

जाजलि मुनि याकर परमाना। भवन कलह बन कीन्ह पयाना॥
निराहार तप कीन्हे घोरो। मिलतहिं सिद्धि बुद्धि भइ भोरो॥

इसका उदाहरण जाजलि मुनि से दिया जाता है जिनका घर में कलह के कारण वन जाना हुआ था। वहाँ उन्होंने निराहार रह कर घोर तप किया परन्तु जब सिद्धि मिली तो उनकी बुद्धि विपरीत हो गयी।

दोहा— सांति उनहिं नहिं मिलइ मन रह्यो सेष रसराग।
गृह आये मन मारि पुनि मातु पितहिं अनुराग॥ २५५॥

अत: उनको शान्ति नहीं मिली बल्कि मन में विषयासक्ति बची रह गयी। पुन: माता तथा पिता में प्रेम के चलते मन मारकर घर लौट आये।

चौपाई— तिन्हकी कथा सबहि जग जानत। यासें नहिं महराज बखानत॥
कहइ कोउ यदि ध्रुव सँग ऐसो। भयो कलह मुनि जाजलि जैसो॥

उनकी कथा [प्राय:] सम्पूर्ण जगत जानता है, इसलिए महाराज उसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं कर रहा है। यदि कोई कहता है कि 'भक्त ध्रुव के साथ भी तो इसी प्रकार जाजलि मुनि के समान कलह हुआ था,-

तौ तिन्ह क्यों भा आतमज्ञाना। निराहार तप किये सुजाना॥
नहिं नहिं ते न जान इतिहासा। आज्ञा मातु ध्रुवहिं मन बासा॥

फिर उन्हें आत्मज्ञान क्यों हो गया, जबकि उन बुद्धिमान ने भी वन में निराहार रहकर तप किया था?' नहीं-नहीं ऐसा नहीं है! जो ऐसा कहते हैं वे उनके सच्चे इतिहास को नहीं जानते, अरे भक्त ध्रुव के मन में तो माता की आज्ञा का वास था अर्थात् उन्हें तो माँ की आज्ञा मिल गयी थी।

सो न गये बन अस झुँझलाई। पुनि नारद मुनि आज्ञा पाई॥
कलह न तिन्हकर मातु पिता सों। आतमज्ञान भयो सच यासों॥

वे इस प्रकार (जाजलि मुनि की तरह) झुँझलाकर (विवशता वश) वन में नहीं गये थे, पुन: उन्हें देवर्षि नारद की आज्ञा भी प्राप्त हो गयी थी। उनका माता-पिता से कलह हुआ ही नहीं था इसी से उन्हें यथार्थ में आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई।

आतमज्ञान तत्व सुनु ऐसो। गुरु प्रसाद पावत कोउ कैसो॥
अब गुरु पर निर्भर यह ताता। काहि देहिं कैसे जनत्राता॥

[हे पार्थ!] सुनो! ब्रह्मज्ञान ऐसा तत्त्व है कि जिसे कोई कैसा भी हो, केवल गुरु-कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। हे प्रिय! अब यह सद्गुरु पर निर्भर करता है कि वे भक्तों पर कृपा करने वाले किसको और कैसे देते हैं।

दोहा— तप कराइ कै जनक सम महत कृपा करि देहिं।
मैत्रेई कै आरुणी सम सब माया लेहिं॥ २५६॥

घोर तप कराकर दें या 'महाराज जनक, मैत्रेयी एवं आरुणी' जैसे जिज्ञासुओं के समान महती कृपा कर [बिना तप कराए] समस्त माया हर लें।

चौपाई— बिनु तप देहिं जाहि बर ज्ञाना। पूर्ब जनम तप कियो सुजाना॥
तप कराय जेहि देवें ज्ञाना। यासें कै सो पचै सुजाना॥

वे बिना तप कराये जिसे श्रेष्ठ आत्मज्ञान दे रहे हैं, उस बुद्धिमान पुरुष ने पूर्व जन्मों में ही बहुत तप कर लिया है। हे बुद्धिमान पार्थ! जिसे तप कराकर दे रहे हैं, वह इसलिए कि उसे वह आत्मज्ञान पच जाय।

होतहि ज्ञान बिषय रस जावे। बहुरि जगत ज्ञानी नहिं आवे॥
बिषय आस सृष्टी उपजावे। जब सो जाय कहहुँ पुनि आवे॥

इस प्रकार आत्मज्ञान होते ही विषय की प्रीति चली जाती है फिर वह ब्रह्मज्ञानी जगत में जन्म नहीं लेता। विषय की प्रीति ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है; जिससे वह पुरुष कहीं भी [किसी भी योनि में] जाय तो उसे पुन: लौटना [अर्थात् जन्म लेना] पड़ता है।

मैं सोइ ब्रह्म न संसय जाही। बिषय राग सब नासइ ताही॥
होय न जबलौं अस बिस्वासा। तबलौं बिषय राग की आसा॥

'मैं वही ब्रह्म हूँ'- इस अनुभूति में जिसको अंशमात्र भी संशय नहीं है उसकी विषय के प्रति प्रीति चली जाती है; किन्तु जब तक ऐसा दृढ़ विश्वास न हो जाय, तब तक विषय के प्रति प्रीति बनी ही रहती है।

जो चाहत यह आतमज्ञाना। करै इन्द्रिं बस प्रथम सुजाना॥
यासें कै ये बहुत हठीलीं। बेगि न मानतिं अति गर्वीलीं॥

अत: जो यह आत्मज्ञान चाहता है, वह बुद्धिमान सर्वप्रथम इन्द्रियों को अपने वश में करे, क्योंकि ये अत्यन्त हठी स्वभाव वाली हैं तथा अत्यन्त दर्प में भरी होने से शीघ्र ही वश में नहीं होतीं।

दोहा— जतन करत बस करन हित यदि कोउ जग मतिमान।
बरबस ये मन खींचि लैं हे कौन्तेय सुजान॥ २५७॥

हे चतुर कौन्तेय! यदि कोई बुद्धिमान पुरुष इन्हें वश में करने का प्रयत्न करता है तो भी मन को ये बलात् अपनी ओर खींच लेती हैं।

चौपाई— यासों तिन्हहिं दमन करि आवे। मम आश्रित निज रूपहिं ध्यावे॥
इंद्रिय सकल जासु बस पारथ। सो जग स्थितप्रज्ञ यथारथ॥

इसीलिए मेरे आश्रित होकर इन्द्रियों को संयमित करके अपने स्वरूप का ध्यान करे। हे धनञ्जय! समस्त इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं, जगत में यथार्थत: वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

सुनि बचनामृत अर्जुन बीरा। कीन्हें प्रस्न होइ गम्भीरा॥
प्रभु जो तुव पथ सों निरवारहिं। कहहु बिषय रस तिन्ह बिस्तारहिं॥

ऐसे अमृतमय वचनों को सुनकर महावीर अर्जुन ने अत्यन्त गम्भीर होकर प्रश्न किया कि हे प्रभो! जो परमार्थ पथ से विमुख करते हैं, उन विषय रसों को विस्तार के साथ कहें?

सुनहु तात अब कहउँ बिषय रस। जाहि तजत सो मिलत परम रस॥
जदपि लखाय न सब्दादिक रस। परमारथ पथ यहइ सत्रु बस॥

हे तात! अब विषय रस के विषय में कहता हूँ, सुनो- जिसको त्यागते ही वह परमरस रूप ब्रह्म प्राप्त होता है। [हे परम वीर!] यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय रस दिखाई नहीं पड़ते किन्तु ये ही इस परमार्थ के मार्ग में शत्रु रूप से वास करते हैं।

लोभ मोह अरु क्रोध द्वेष रस। स्वप्न सुषुप्ती अभिनिवेस रस॥
मान अमान अपर सुख दुख रस। सास्त्र ज्ञान अरु बिपुल कला रस॥

लोभ-मोह, क्रोध-द्वेष रस, स्वप्न-सुषुप्ति तथा अभिनिवेश रस, मान-अपमान एवं अन्य सुख-दु:ख आदि रस, शास्त्र ज्ञान और अनेक कलाओं का रस-

छुधा तृषा सर्दी गर्मी रस। आलस अरु प्रमाद कर्मी रस॥
मातु पिता सुत त्रिया बृहद रस। बांधव जन हित मित्र सुहृद रस॥

भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आलस्य-प्रमाद, कर्मठता रस, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, हित-मित्र एवं सुहृद आदि अत्यन्त प्रबल रस,

सज्जन दुर्जन अरु बैरी रस। देव पितर अरु निर्बैरी रस॥
दिब्य भवन अरु अति बैभव रस। कहँ लौं कहुँ जे निरखउँ सो रस॥

सज्जन-दुर्जन, शत्रु-मित्र, देवता-पितर, दिव्य भवन एवं विपुल वैभव का रस; कहाँ तक कहूँ, जो कुछ भी दिखायी दे रहा है, वह सब विषय रस ही है।

दोहा— अधिष्ठान ये इंद्रियनि जिन महँ सब रस बास।
संयम कर जो इनहिं सब ताहि परम रस भास॥ २५८॥

हे महाबाहो! ये इन्द्रियाँ ही वह स्थान हैं जिनमें समस्त रसों का वास है। अत: जो इन सभी इन्द्रियों का संयम करेगा, उसे ही परम रस (ब्रह्म) की अनुभूति होगी।

चौपाई— तुम्ह प्रभु कहउ जे मोरे आश्रित। अहइ न जबलौं होय पराश्रित॥
इंद्रिन्ह बल अति तबलगि लागइ। जबलगि मम पद नहिं अनुरागइ॥

हे प्रभो! आप कह रहे हैं कि जब तक कोई पुरुष मेरे आश्रित नहीं है तभी तक दूसरे (इन्द्रियों) के आश्रित रहता है। उसके ऊपर इन्द्रियों का बल तभी तक काम करता है जब तक उसकी मेरे चरणों में प्रीति नहीं हो जाती।

सोइ सच इंद्रिन्ह दास कहावत। जासे जुग जुग जनम गवाँवत॥
जेहि बिधि करउँ इन्हहिं अनुकूला। सो बिधि कहउ सुमंगल मूला॥

यथार्थ में वही इन्द्रियों का सेवक कहलाता है, जिसके चलते युगों-युगों तक असंख्य जन्म व्यर्थ में व्यतीत कर देता है। अत: जिस विधि से मैं इन्हें अपने अनुकूल कर लूँ, आप वही विधि बतावें जो समस्त मंगलों की मूल है।

तात सुनहु न गुप्त बिधि कोऊ। तुम्हसों कही जाय नहिं जोऊ॥
कहउँ सो बिधि इक दिब्य कथा सों। मुक्त होउगे महत ब्यथा सों॥

हे प्रिय पार्थ! सुनो, ऐसी कोई भी गुप्त विधि नहीं है जो तुमसे कही न जा सके। अत: मैं उस विधि को एक दिव्य कथा के माध्यम से कह रहा हूँ जिससे तुम अत्यन्त क्लेश से मुक्त हो जाओगे।

एकबार नारद मुनि जाई। सनत कुमार ऋषिहिं सिरु नाई॥
कह मुनि देहु परम उपदेसा। जासे मन नहिं रहइ कलेसा॥

एक बार ऋषिवर नारद ने मुनिवर सनत्कुमार के पास जाकर नतमस्तक हो पूछा- हे मुनिवर! आप मुझे परम ज्ञान का उपदेश करें, जिससे मेरे मन में थोड़ा भी क्लेश न रह जाय।

अति हर्षित तब सनत उचारा। हे नारद तुम्ह ब्रह्म कुमारा॥
अबलौं जे जानहु सब कहहू। मोसों परमज्ञान पुनि लहहू॥

तब ऋषिवर सनत्कुमार ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कहा- हे नारद! आप ब्रह्माजी के मानसपुत्र हैं; अब तक आप जो कुछ भी जानते हैं पहले वह सब बतायें, पुन: मुझसे परम ज्ञान प्राप्त करें।

छंद— सुनि देव ऋषि नारद कहहिं हे जगतपति मैं का कहउँ।
तुव दरस करि सब आज जानउँ परम सुख सांती लहउँ॥
अस तो हे प्रभु ऋग्बेद रटि रटि सामबेद बखानतों।
रटि यजुरबेद अथर्वबेद पुराण सबरें जानतों॥

ऐसा सुनकर देवर्षि नारद ने कहा- हे जगत्पते! मैं क्या कहूँ! मैं तो जानता हूँ कि आपका दर्शन करके मैंने आज परम सुख-शान्ति प्राप्त कर ली है। ऐसे तो हे प्रभो! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा समस्त पुराण आदि को रट-रट कर जान गया हूँ और [भगवद्भक्तों के मध्य] उनकी व्याख्या भी करता हूँ।

प्रभु श्राद्ध कल्प गणीत निति उतपात ज्ञानहिं उर धरौं।
निधि सास्त्र तर्क सु सास्त्र अरु मैं देव बिद्यन्हि बहु चरौं॥
तस भूत बिद्या सर्प बिद्या छत्र बिद्या धारिके।
बहु नृत्य अरु संगीत बिद्या सिखि रहउँ मन मारिके॥

[इतना ही नहीं] हे प्रभो! श्राद्धकल्प, गणित, नीति शास्त्र, दैवी आपदाओं को बताने वाले शास्त्रों को भी हृदयंगम किया है; निधि-शास्त्र, तर्कशास्त्र और दैवी विद्याओं को भी अच्छी प्रकार जानता हूँ। उसी प्रकार भूतविद्या, सर्पविद्या, क्षात्रविद्या को भी मैंने हृदयंगम किया है, नाना प्रकार की नृत्य और संगीत विद्याओं को भी जानकर मैं मन मारकर ही रहता हूँ।

नक्षत्र बिद्या ब्रह्म बिद्या बिपुल बिद्या जानतों।
पर मंत्रवेत्ता ही अहौं नहिं आत्मवेत्ता मानतों॥
ऋषिमुख सुन्यों अस आत्मवेत्ता मोह पारहिं जावतो।
पर सोक करुँ वासों उबारहु अब न जग कछु भावतो॥

नक्षत्रविद्या, ब्रह्मविद्या आदि अन्य बहुत-सी विद्याओं को जानता हूँ; परन्तु मैं मंत्रवेत्ता ही हूँ, अपने को आत्मवेत्ता नहीं मानता। हे प्रभो! ऋषियों के मुख से मैंने ऐसा सुना है कि आत्मज्ञानी मोहरूपी सागर को पार कर जाता है, परन्तु मैं तो शोक-सन्ताप में ही रमण कर रहा हूँ, जगत में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, अत: अब आप मेरा उद्धार करें।

अस सुनत सनत कुमार ऋषि कह मन अतिहिं हरषाइके।
अब लगि जो जान्यो नाम जान्यो भल कियो इत आइके॥
ऋक साम यजुः अथर्व पंचमबेद बिद्या जे कला।
सब नाम पर एहि ब्रह्म जानउ अबहुँ सों होवे भला॥

[हे पार्थ! देवर्षि नारद से] ऐसा सुनकर ऋषिवर सनत्कुमार ने अति हर्षित मन से कहा- हे नारद! आप अब तक जो कुछ भी जानते हैं उसे नाम का ही जानना कहा जायेगा अर्थात् वह शब्द ब्रह्म ही है। अतः आपने यहाँ आकर बहुत ही अच्छा किया है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं पुराण आदि जितनी भी कलाओं को आप जानते हैं, वे सब नाम ही हैं किन्तु यदि इन्हें ब्रह्मरूप में स्वीकार कर लें तो अभी से कल्याण हो जायेगा।

दोहा— नाम ब्रह्म यह सब अहै अस जिय ध्यावे जोय।
जहँ लगि नाम गती अहै तहँ यथेच्छ गति होय॥ २५९॥

[हे देवर्षि!] समस्त विद्याएँ, कलाएँ आदि शब्दब्रह्म ही हैं, ऐसा जानकर जो उपासना करता है तो जहाँ तक शब्दब्रह्म की गति है वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति हो जाती है।

चौपाई— कह नारद प्रभु नाम सों श्रेष्ठा। यदि होवे तो कहउ यथेष्ठा॥
जासे तम घन जाइ नसावे। ऐसो सोक कबहुँ नहिं आवे॥

[उसके बाद] देवर्षि नारद ने कहा कि हे प्रभु! यदि नाम से भी कोई श्रेष्ठ वस्तु हो तो उसे आप यथावत् कहें, जिससे अज्ञान समूह का नाश हो जाय और पुनः ऐसा शोक कभी भी न आये।

नारद बर अति वाक नाम सों। ताहि बिना नहिं कोउ काम सों॥
एहि बानी सब जानहिं बेदा। सत्य असत्य करम कहँ भेदा॥

[तब ऋषिवर सनत्कुमार ने कहा-] हे नारद! नाम से श्रेष्ठ वाणी है, उसके बिना कोई भी नाम किसी काम का नहीं है। इस वाणी से ही सारे लोग वेदों तथा सत्य-असत्य आदि कर्मभेदों को जानते हैं।

त्रिजगजोनि अरु संत असंता। पंचभूत जे जीव अनंता॥
एहि के बिनु न जायँ पहिचानें। यासें एहि कहँ ब्रह्महि मानें॥

त्रियग्योनियाँ, सन्त-असन्त, पंचभूत एवं जो भी अनन्त जीव हैं- इस वाणी के बिना पहचाने नहीं जा सकते, इसलिए इसे ब्रह्म ही माना जाता है।

अहइ ब्रह्म बाणी अस पूजत। ताकर पाप समूलहिं छीजत॥
यासें गती वाक की जहँलौं। सच यथेच्छ गति ताकी तहँलौं॥

'वाणी ही ब्रह्म है'- जो ऐसी उपासना करता है, उसकी वाणी के समस्त दोष समूल नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जहाँ तक वाणी की गति होती है, यथार्थ में वहाँ तक उसकी भी इच्छानुसार गति हो जाती है।

कोउ उत्कृष्ट जगत बानी सों। हे प्रभु पूछउँ तुम्ह ज्ञानी सों॥

[पुनः नारदजी ने कहा-] हे प्रभो! मैं आप जैसे सर्वज्ञ से पूछता हूँ कि जगत में वाणी से भी कोई उत्कृष्ट है?

दोहा— नारद तासों मन महत जिमि कर बस्तु बसाइ।
तिमि बानी अरु नाम दोउ मन महँ रहइँ समाइ॥ २६०॥

[ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने कहा-] हाँ नारद! उससे श्रेष्ठ मन है। जिसप्रकार वस्तु हाथ में रहती है, उसी प्रकार 'वाणी और नाम'- दोनों ही मन में वास करते हैं।

चौपाई— जबहिं कोउ मन करत बिचारा। करउँ आज सों सास्त्र अचारा॥
तबहिं करइ सो धर्म अरम्भा। करै न या महँ कोउ अचम्भा॥

इसमें कोई भी आश्चर्य न करे कि जब कोई मन में विचार करता है कि आज से शास्त्रीय आचार-विचार के अनुसार व्यवहार करूँगा तो उसी समय से वह धर्माचरण प्रारम्भ कर देता है।

मन बिनु कोउ न कछु करि पावे। याके बिनु जड़वत होइ जावे॥
यहि मन ब्रह्म आतमा लोका। अस उर गहि तुम्ह होउ बिसोका॥

[हे नारद!] मन के बिना कोई कुछ भी नहीं कर पाता अपितु इसके बिना तो जड़वत् ही हो जाता है। अत: यह मन ही संसार, आत्मा और ब्रह्म है- ऐसा हृदय में धारण कर तुम शोकरहित हो जाओ।

मन कहँ ब्रह्म मानि जो ध्यावे। ताकी गति तेहि सम होइ जावे॥
यासों बर जो होय बतावहु। प्रभु मोहिं आज सबहिं समुझावहु॥

जो मन को ब्रह्म समझकर उपासना करता है, उसकी गति उसी [मन] के समान हो जाती है। [पुन: देवर्षि नारद ने कहा कि] हे प्रभो! आज मुझे सबकुछ समझा दें, यदि इससे भी कोई श्रेष्ठ हो तो उसे बतायें।

नारद यासों बर संकल्पा। जेहि महँ नहिं कछु होय बिकल्पा॥
उर संकल्प करत कोउ जबहीं। अतिहिं बिकल्प होय मन तबहीं॥

[महर्षि सनत्कुमार ने कहा-] हे नारद! इससे भी श्रेष्ठ 'संकल्प' है जिसमें कुछ विकल्प है ही नहीं। ऐसा देखा जाता है कि जब हृदय में किसी कार्य के लिए कोई संकल्प धारण करता है तभी मन में अत्यन्त हलचल प्रारम्भ हो जाती है,

सो बर बानिहिं जाइ जगावे। बहुरि नाम महँ प्रबृति करावे॥
होवे नाम मंत्र एक रूपा। तेहि महँ अहहिं कर्म सब छूपा॥

वह (मन) जाकर श्रेष्ठ वाणी को जगाता है, पुन: वह 'वाणी' नाम में प्रवृत्त कर देती है। इस प्रकार शब्द (नाम) और वाणी एक रूप ही हैं, उसी में समस्त कर्म छिपे हुए हैं।

दोहा— एहि बिधि सब संकल्पमय तेहि महँ बास कराहिं।
ब्रह्म अहइ संकल्प यह सबु मुनिजनहिं सुहाहिं॥ २६१॥

इस प्रकार (मन, वाणी, नाम आदि) सब संकल्पमय होने से उसी में वास करते हैं, अत: यह संकल्प ही ब्रह्म है जो समस्त सन्तों, भक्तों को प्रिय है।

चौपाई— निर्गुन ब्रह्म करत संकल्पा। जासों होवे जगत बिकल्पा॥
बिनु संकल्प करे का कोऊ। यासें अहइ ब्रह्म सम सोऊ॥

निर्गुण ब्रह्म संकल्प करता है जिससे विकल्पमय जगत प्रकट होता है। बिना संकल्प के कोई क्या कर सकता है, इसलिए वह (संकल्प) भी ब्रह्म के समान ही है।

यासेउ महत चित्त सुनु नारद। एहि बिनु कोउ न बुद्धि बिसारद॥
ब्रह्म चित्त सों ध्यान महत कौ। जगत ध्यानमय सदा रहत कौ॥

हे देवर्षि! इस संकल्प से भी चित्त महान है, इसके बिना कोई भी प्रखर बुद्धि वाला नहीं हुआ है। इस चित्तरूपी ब्रह्म से भी ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि जगत सदा ध्यानमय ही रहता है।

ब्रह्म ध्यान सों बर बिज्ञाना। जाके बिनु कछु जात न जाना॥
यासोंहु बल अति श्रेष्ठ सकल बिधि। जेहि बिनु जग न होय कौनउ सिधि॥

वैसे ही ध्यानरूपी ब्रह्म से विज्ञान (चिन्तन) श्रेष्ठ है, जिसके बिना कोई कुछ भी जान नहीं सकता। इससे (विज्ञान से) भी हरप्रकार से बल अत्यन्त श्रेष्ठ है, जिसके बिना जगत में कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

ब्रह्मसक्ति सों अन्न बिसिष्टा। याके बिनु सब लोक अदृष्टा॥
ब्रह्म अन्न सों जल जग पूजित। याके बिनु सब जग नहिं कूजित॥

बलरूपी ब्रह्म से अन्न श्रेष्ठ है, इसके बिना समस्त जगत देखा नहीं जा सकता। अन्नरूपी ब्रह्म से जग में जल विशेष सम्माननीय है क्योंकि इसके बिना समस्त जगत कुछ भी नहीं कर सकता।

दोहा— ब्रह्म नीर सों तेज जग पूजित सबसों जान।
तपत जबहिं नभ धरनि लगि तब बर्षा अनुमान॥ २६२ (क)॥

सभी के द्वारा जगत में जलरूपी ब्रह्म से तेज विशेष पूजित होता है, ऐसा जानो; क्योंकि जब नभमण्डल से लेकर भूमण्डल तक का भाग तेज से तप उठता है तभी वर्षा का अनुमान किया जाता है।

एहि प्रमान जल सों प्रथम सो स्वयंहिं प्रगटाव।
चमकत दमकत गरजि अति पुनि ताको बरसाव॥ २६२ (ख)॥

इसका प्रमाण है कि वर्षा के पहले वह स्वयं को प्रकट करते हुए चमकता-दमकता है फिर अति गर्जना करते हुए जल बरसाता है।

चौपाई— ब्रह्मतेज सों नभ सनमानें। सूर्य चंद्र तेहि महँ चमकानें॥
तेहि महँ सुनहिं रमहिं अरु बोलहिं। तेहि महँ उपजहिं तेहि महँ डोलहिं॥

तेजरूपी ब्रह्म से भी आकाश श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि सूर्य-चन्द्रमा आदि उसी में प्रकाशित होते रहते हैं। [सभी उसी के द्वारा] उसी में सुनते, रमण करते, बोलते, उसी में प्रकट होते और व्यवहार करते हैं।

तेहि बिनु नहिं अवकास काहु कौ। नारायण सिव जग पिताहु कौ॥
सुरति श्रेष्ठ जग ब्रह्म ब्योम सों। जिमि आश्रय सब मंत्र ॐ सों॥

उसके बिना किसी को अवकाश प्राप्त नहीं हो सकता, चाहे वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही क्यों न हों। जगत में आकाशरूपी ब्रह्म से स्मृति श्रेष्ठ है, जैसे समस्त मंत्र ॐ के आश्रित हैं।

सुरति न होवे को केहि जाने। सुने गुने किमि को अनुमाने॥
वासों पूज्य सबहिं की आसा। वाके बिनु जग बहुत निरासा॥

[सच पूछो तो] स्मृति न हो तो कौन किसको जान सकता है, कैसे सुन सकता है, मनन कर सकता है और कौन अनुमान कर सकता है। उस स्मृति से भी पूज्य सभी की कामना है, क्योंकि उसके बिना जगत पूर्णतया आशाहीन हो जायेगा।

बिनु इच्छा पूरे किमि नारद। जप तप जोगहु कर्म बिसारद॥
यासेहु पूज्य प्रान कह संता। बसत याहि महँ जगत अनंता॥

हे नारद! इच्छा के बिना जप, तप, योग तथा समस्त श्रेष्ठ कर्म कैसे हो सकते हैं! सन्तजन इस इच्छा से भी प्राण को श्रेष्ठ कहते हैं, क्योंकि इस प्राण में ही समस्त जगत वास करता है।

दोहा— ब्रह्म प्रान सों जगत महँ माँ पितु तिय सुत भ्रात।
हीत मित्र अरु सबहिं कर वाके बिनु नहिं गात॥ २६३॥

इस प्राणरूपी ब्रह्म से ही जगत में माता-पिता, स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव एवं हित-मित्र सभी का अस्तित्व है; उसके बिना कोई भी शरीर नहीं रह सकता।

चौपाई— तासों पूज्य सत्य सुनु गावे। जाके बिनु मन नाहिं अघावे॥
महिमा जाने जबहिं सत्य की। तबहिं न मानत कछु असत्य की॥

सुनो! उससे भी पूज्य 'सत्य' को कहा जाता है, जिसके बिना मन को तृप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जब कोई 'सत्य' की महिमा जानता है तभी असत्य का सर्वथा त्याग करता है।

ब्रह्म सत्य सों बर बिज्ञाना। जाके बिनु कोउ सत्य न जाना॥
तेहि बिज्ञान सों मति बर होई। जाके बिनु न जान कछु कोई॥

उसी प्रकार सत्यरूपी ब्रह्म से तो 'विज्ञान' (विवेक) श्रेष्ठ है, जिसके बिना कोई सत्य को नहीं जान सकता तथा उस 'विज्ञान' से 'बुद्धि' (प्रज्ञा) को श्रेष्ठ माना जाता है, जिसके बिना कुछ जाना नहीं जा सकता।

चिंतन करइ तबहिं कोउ जानत। अनुचित उचित सुभासुभ मानत॥
ब्रह्म बुद्धि सों महती श्रद्धा। तेहि बिनु मनन मार्ग अवरुद्धा॥

जब कोई चिन्तन करता है तभी उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ को समझकर स्वीकार करता है। बुद्धिरूपी ब्रह्म से श्रद्धा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके बिना कोई मनन को स्वीकार नहीं कर सकता।

श्रद्धा ब्रह्महु सों बर निष्ठा। जाके बिनु न मिलत बैकुंठा॥
निष्ठा ब्रह्म कृती सों नीचो। जाके बिनु सब जीवन कीचो॥

श्रद्धारूपी ब्रह्म से निष्ठा को श्रेष्ठ कहा जाता है, जिसके बिना वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु निष्ठारूपी

'ब्रह्म', 'कृति' (करनी) से निकृष्ट कहा जाता है, जिसके बिना सम्पूर्ण जीवन ही व्यर्थ है।

दोहा— जब कोउ करम करत बहु निष्ठा तेहि प्रति जाग।
काहुहि गहै न कोउ तो कृतिहीं सों अनुराग॥ २६४॥

जब कोई कर्म करता है तो उस [कृति] के प्रति विशेष निष्ठा जाग जाती है, इसके बिना कोई किसी को स्वीकार नहीं करता; अत: सभी कृति (कर्म करने वाले) से ही प्रेम करते हैं।

चौपाई— कृती ब्रह्म सों सुख बर अहई। बिनु सुख कोउ ताहि नहिं लहई॥
सो सुख कौन बसै प्रभु कितकों। जावउँ तहँइ बतावहु जितकों॥

कृतिरूपी ब्रह्म से सुख को महान कहा जाता है, क्योंकि बिना सुख प्राप्त हुए कोई उस कर्म करने वाले को भी नहीं स्वीकार करता। [पुन: नारदजी ने पूछा-] हे प्रभो! वह सुख कौन है, कहाँ वास करता है, आप बतायें, जहाँ वह है, मैं वहीं जाता हूँ!

नारद सच सुख भूमा अहई। सदा अहइ अरु सदा हि रहई॥
जहँ कछु अपर दीख नहिं सुनई। अपर न जानइ अपर न गुनई॥

[तब ऋषिवर सनत्कुमार ने कहा-] हे नारद! यथार्थ में तो वह सुख भूमा (ब्रह्म) ही है, जो सदा से है और सदा ही रहेगा। जहाँ न कुछ अन्य दिखायी पड़ता है, न सुनायी पड़ता है, न दूसरा जानने में ही आता है, न विचार करने में आता है।

सोइ सुनु ब्रह्म सुधा सोइ ताता। सदा अहइ सो आव न जाता॥
काहू महँ नहिं कहूँ प्रतिष्ठित। तेहि महँ सब जग सदा सों स्थित॥

हे तात! सुनो! वही ब्रह्म है, वही अमृत है, वही सदा से है, वह न कहीं आता है न जाता है। वह किसी में कहीं प्रतिष्ठित नहीं है बल्कि समस्त जगत सदा से उसी में प्रतिष्ठित है।

सोइ ऊपर नीचे अरु दायें। सोइ आगे पीछे अरु बायें॥
सोइ नारद भीतर अरु बाहर। सरनागत कर सब कलेस हर॥

हे नारद! वही भीतर-बाहर व्याप्त है, वही ऊपर-नीचे, दायें-बायें और आगे-पीछे है, वही शरणागत के समस्त क्लेशों का हरण करने वाला है।

कहौं कहाँ लौं सोइ सब रूपा। अकथनीय अनुभवहिं अनूपा॥

और कहाँ तक कहूँ, समस्त रूपों में वही है, उस अकथनीय ब्रह्म का अनुभव अति अनुपम है।

दोहा— ब्रह्म सच्चिदानंद सोइ नारद आपुहिं जान।
बास करहु सोइ रूप महँ मम मानहु मतिमान॥ २६५॥

हे नारद! आप अपने को वही सच्चिदानन्द ब्रह्म समझें। हे बुद्धिमान्! यदि मेरी बात को मानें तो अपने उसी ब्रह्मरूप में स्थित रहें।

चौपाई— पार्थ सुनउ सरनागति योई। मुक्त भये नारद सुनि जोई॥
यहि बर जुगुतिहि जगत धरन कौ। निज इंद्रिन्हि आधीन करन कौ॥

[अब भगवान कह रहे हैं कि] हे अर्जुन! सुनो; यही शरणागति है जिसे सुनकर देवर्षि नारद मुक्त हो गये। अत: अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए यही श्रेष्ठ युक्ति जगत में धारण करने योग्य है।

जो न करत अस बिषयन्हि ध्यावत। तिन्ह महँ राग ताहि उपजावत॥
उपजत राग बढ़े बहु कामा। यासों तेहि नित भजत सकामा॥

जो ऐसा न करके विषयों का ही चिन्तन करता रहता है उसकी उन्हीं विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति उत्पन्न होने से बहुत सी कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं; इसी से वह सकामी पुरुष सदा उन कामनाओं को ही पूरा करने के चक्कर में पड़ा रहता है।

क्रुद्धत वामें बिघन परन सों। आय मूढ़ता क्रोध करन सों॥
मूढ़भाव सों सुरति नसावे। बहुरि बुद्धि महँ कुढ़न समावे॥

कामनाओं में विघ्न पड़ने से वह क्रोधित हो जाता है, क्रोध होने से मूढ़ता प्रकट हो जाती है, मूढ़ता से स्मृति नष्ट हो जाती है तथा स्मृति नष्ट हो जाने के उपरान्त बुद्धि कुण्ठित हो जाती है।

बुद्धि नास सों मनुज नसावें। संत बेद सास्त्रन्ह सब गावें॥

बुद्धि के नष्ट होते ही मनुष्य का नाश हो जाता है [और वह मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जाता], समस्त सन्त, वेद-शास्त्र ऐसा ही कहते हैं।

छंद— पर जो कियो अन्तःकरण बस आपुनें बहु यतन सों।
सो राग द्वेषहु तजि कियो बस इंद्रिं लोभी रतन सों॥
तिन्हसों चरत तिन्ह बिषय जे अध्यात्म पथिक सहाय जू।
यासें सो परम प्रसन्नता हिय हरि कृपा सों पाय जू॥

परन्तु जिसने अथक प्रयास से अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है, वह इन्द्रियों को भी राग-द्वेषादि दोषों से रहित कर लोभी के धन की भाँति अपने वश में करके उनके द्वारा उन विषयों को स्वीकार करता है जो आध्यात्मिक पथिक के लिए कल्याणकारी हैं। इसी से वह भगवत् कृपा से हृदय की परम प्रसन्नता को प्राप्त कर लेता है।

दोहा— त्रिबिध ताप यासों मिटै मन प्रसादमय होय।
बुद्धि होय तब ब्रह्ममय तात करत अस कोय॥ २६६॥

इस प्रकार जब उसके तीनों तापों का नाश हो जाता है और मन भी आनन्दस्वरूप हो जाता है तब बुद्धि ब्रह्ममय हो जाती है। हे तात! ऐसा कोई-कोई ही कर पाता है।

चौपाई— गुडाकेस चित बस नहिं जाही। आत्मरूप मति होय न ताही॥
यासों आत्मज्ञान महँ प्रीती। होय न अतिसय अस कह नीती॥

किन्तु हे निद्राविजयी! जिसका अन्तःकरण अपने वश में नहीं है, उसे आत्मस्वरूप विषयक बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए उसे आत्मज्ञान में प्रगाढ़ प्रेम नहीं हो पाता, नीति ऐसा ही कहती है।

आत्मज्ञान साधन नहिं भावे। तब तेहि सांति कहाँ सों आवे॥
जाहि सांति नहिं सुख कहँ वाको। यासें अध्यातम मग बाँको॥

जब ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के साधन में प्रेम ही नहीं होगा तो उसको शान्ति कहाँ से प्राप्त होगी तथा जिसके पास शान्ति नहीं होगी उसे सुख कैसे मिलेगा? इसलिए अध्यात्म पथ ही परम श्रेष्ठ है।

मैं कहुँ काह जितेन्द्रिय तोसों। विषइन्ह दसा कहाय न मोसों॥
आतमज्ञान न तिन्हहिं सुहाई। एहि मग काह चलैं ते भाई॥

हे जितेन्द्रिय अर्जुन! मैं तुमसे क्या कहूँ! विषयी पुरुषों की दशा का तो मैं वर्णन ही नहीं कर सकता। विषयी पुरुषों को तो यह ब्रह्मज्ञान प्रिय ही नहीं लगता फिर वे इसकी प्राप्ति का प्रयत्न क्यों करेंगे।

आत्मबुद्धि नहिं होय अयुक्तहिं। क्यों सुनु तात सो कहत बिमुक्तहिं॥

हे तात! अयुक्त पुरुषों को आत्म विषयक बुद्धि क्यों नहीं होती, [इस विषय में] विमुक्त पुरुष जैसा कहते हैं उसे सुनो।

छंद— कुरुश्रेष्ठ साँची बात मोरी आज तू निज उर धरै।
नाविक प्रमाद सों ताहि नावहिं ज्यों पवन निज दिसि हरै॥
इंद्रीं चरहिं तिमि बिषय नित तिन्ह माँहि मन एकउ गहै।
सोइ एक इंद्रि अयुक्त नर मति आपुनो बस करि रहै॥

हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी इस सच्ची बात को तुम आज अपने हृदय में धारण कर लो कि जिसप्रकार नाविक के प्रमाद से उसकी नाव को वायु अपनी दिशा में खींच ले जाती है, उसी प्रकार नित्य विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों में से मन किसी एक को भी ग्रहण कर लेता है तो वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को अपने वश में कर लेती है।

दोहा— मन समेत सब इंद्रिगन जाके बस महँ आहिं।
अहइ बुद्धि थिर ताहि की तासों सब हरषाहिं॥ २६७॥

इसप्रकार मनसहित समस्त इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है [अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ है] तथा उसी से सब प्रसन्न रहते हैं।

चौपाई— अस कहि प्रभु अर्जुन पर ध्याना। दीन्हें सहजहिं कृपानिधाना॥
कहे साँच तुम्ह सुनहु सुजाना। अबहिं कह्यों जे तुहि परमाना॥

ऐसा कहकर सहज ही कृपालु भगवान ने महात्मा अर्जुन पर ध्यान देते हुए पुनः कहा- हे बुद्धिमान! सुनो, सत्य तो यह है कि अभी जो मैंने कहा है उसके तुम्हीं प्रमाण हो।

अबकै पूर्बहिं तव उर माहीं। हुतो समष्टि धर्म बस याहीं॥
यहि बाह्यान्तर दायें बायें। ऊपर नीचे ब्याप्त सुहायें॥

अब के पूर्व तुम्हारे हृदय में यही समष्टि धर्म वास कर रहा था और यही तुम्हारे बाहर-भीतर, दायें-बायें, ऊपर-नीचे व्याप्त होकर सुशोभित हो रहा था।

चिंतन मनन याहि कर पारथ। करत रह्यो एहि जानि यथारथ॥
इतनोइ नहिं तू याकेइ प्रेरे। आयो रन महँ सब कहँ घेरे॥

हे पार्थ! तुम इसी धर्म को वास्तविक धर्म जानकर एकमात्र इसी का चिन्तन-मनन कर रहे थे। इतना ही नहीं, तुम इस धर्म की प्रेरणा से ही सबको साथ में लेकर रणभूमि में आये हुए हो।

धर्म जगह अब उर गृह तेरे। बसे बिषय रुप स्वजन घनेरे॥
बिषय मनन चिंतन कर तेई। उर आसक्त स्वजन महँ होई॥

परन्तु अब तुम्हारे हृदयरूपी घर में समष्टि धर्म के स्थान पर इन स्वजनरूपी विषयों का सम्पूर्णतया वास हो गया है। वे ही मनन-चिन्तन के विषय हो गये हैं, हृदय उन्हीं स्वजनों के प्रति आसक्त हो गया है-

दोहा— तिन्ह जीवन सुखमय बने करत आज अस आस।
जिमि माता सुत पर करति गारिहु सुनि बिस्वास॥ २६८॥

तथा तुम उन्हीं स्वजनों के सुखमय जीवन के लिए आज अत्यन्त आशा बाँधे हुए हो [भले ही वे तुम्हारे जीवन की अमंगल कामना करते हों]। [यह बात वैसी ही है] जैसे पुत्र के द्वारा गाली देने पर भी माता कहती है कि [क्या हो गया! मेरा ही तो है तभी तो इसने गाली दी?] मेरा तो इसी पर विश्वास है।

चौपाई— बिसर्‌यो तू निर्गुन निज धामहिं। मोसों भयो बिघ्न तव कामहिं॥
आपुहिं आप आपुकौ कोस्यो। पुनि कुतर्क करि मोहिं उपदेस्यो॥

[हे पार्थ!] तुम अपने निर्गुण-निराकार स्वरूप को भूल ही गये थे उसमें भी मेरे द्वारा तुम्हारी कामनाओं में बाधा पड़ गयी जिससे तुम स्वयं से स्वयं को बहुत प्रकार से कोसते हुए बकवास कर मुझे ही उपदेश देने लगे।

आत्मरूपता पहिलेइँ भूलेहु। धर्मरूपता गइ अब चूल्हेहु॥
तव चित सों परमार्थ नसायो। कार्याकार्य बिबेक ढहायो॥

तुम अपनी आत्मरूपता तो पहले ही भूल गये थे, अब तुम्हारी [समष्टि] धार्मिकता भी चूल्हे में चली गयी है। तुम्हारे हृदय से परमार्थ नष्ट हो गया है तथा कार्य-अकार्य का [निर्णय करने वाला] विवेक भी चला गया है।

बुद्धि भ्रष्ट भइ तबहिं नसायो। तैं अब पुरुष नाहिं मैं गायो॥
अनासक्त यदि इंद्रिन्ह संगा। होय चरइ प्रभुबिषय अभंगा॥

मैं कहता हूँ कि अब तुम पुरुष नहीं रह गये हो क्योंकि बुद्धि के नष्ट होते ही तुम्हारा भी नाश हो गया है। यदि तुम इन्द्रियों के संग से अनासक्त होकर भगवत् विषय में अखण्ड रमण करते हो-

अबहुँ मानु यदि परम सुजाना। पावहुगे मो सन बरदाना॥

यदि अभी भी तुम मेरी बात मान लेते हो तो हे परम सुजान! तुम मेरे द्वारा वरदान प्राप्त कर लोगे।

दोहा— पुनि त्रैताप नसाहिं प्रिय तुम्ह सम सांत सुजानु।
होय ताहि छन मम कृपा बचन सत्य सब मानु॥ २६९॥

हे प्रिय! हे बुद्धिमान्! उसके उपरान्त तुम्हारे तीनों तापों का नाश हो जायेगा। मेरी समस्त बातें सत्य मानो कि उसी समय मेरी कृपा से तुम सम-शान्त हो जाओगे।

चौपाई— जो कह कुंतीसुतहिं दयाला। महाराज कह कछु सोइ हाला॥
गहत बिषय गृह त्यागी साधक। माया होति अतिहिं तब बाधक॥

कृपासिन्धु भगवान ने महात्मा अर्जुन से जो कहा है, महाराज भी उसी स्थिति का कुछ वर्णन कर रहा है। गृहस्थाश्रम का त्याग कर देने वाला साधक जब विषयों को स्वीकार कर लेता है, तब माया उसके लिए अत्यन्त बाधक बन जाती है।

तब सदगुरु जो ताहि बतावें। गहे सिष्य यदि दोसु नसावें॥
तुम्ह नहिं देह न देह तुम्हारो। चिदानंद सत रूपहि वारो॥

तब सद्गुरु उसे जो बताता है यदि साधक उसे मान लेता है तो निर्दोष हो जाता है अर्थात् उसके समस्त दोष समाप्त हो जाते हैं। सद्गुरु उसे बताता है कि न तुम शरीर हो और न ही शरीर तुम्हारा है, तुम तो सच्चिदानन्द रूप वाले हो।

अहं ब्रह्म अस निसदिन ध्यावहु। जबलौं सहज सिद्धि नहिं पावहु॥
तबलौं जग नहिं नेकु रिझावहु। गुप्त रूप सिव सम धरि ध्यावहु॥

अत: 'मैं ही ब्रह्म हूँ'- इसी स्मृति में दिन-रात तब तक स्थित रहो जब तक इसकी सहज सिद्धि न हो जाय। [इतना ही नहीं] तब तक जगत को अंशमात्र भी प्रसन्न करने का प्रयत्न मत करो बल्कि भगवान शंकर के समान गुप्त रूप धारण कर [आत्मस्वरूप में] विचरण करो।

पर जस आपु गहे मुनि बेसा। लगे देन तस जग उपदेसा॥

किन्तु आपने जैसे ही सन्त का वेश धारण किया वैसे ही मंच पर उपदेश करने लगे।

दोहा— तबहिं तुम्हारो एहि जगत बन्यो भगत परिवार।
सरणागत तिन्ह जानि जिय लगे करन उपचार॥ २७०॥

तभी आपका इस जगत में भक्तों का परिवार बन गया, उन्हें हृदय में शरणागत जानकर उनका उपचार करने लगे।

चौपाई— निज माँ छाड़ि जगत माँ धारे। ऐ माँ ओ माँ जाइ पुकारे॥
तजि निज पिता जगत पितु धाये। ऐसो करि नहिं अल्प लजाये॥

आपने अपनी सगी माँ को छोड़कर जगत की माताओं को स्वीकार कर लिया और जाकर 'ऐ माँ! ओ माँ!'- पुकारने लगे। अपने पिता को त्यागकर जगत के पिताओं को स्वीकार कर लिया, ऐसा करते हुए आपको थोड़ी भी लज्जा नहीं लगी?

तजि निज भगिनि कहे जग भगिनी। हित मित बंधु किये का कहिनी॥
तिन्हकर हित मित बैरी जोई। मन महँ माने निज उनसोंई॥

अपनी बहन को तो त्याग दिया और जगत की बहनों, हित-मित्रों और भाइयों को अपना बना लिया; अब क्या कहना है? आपने भी मन में उन्हीं के समान उनके हित-मित्र, वैरी आदि को अपना मान लिया।

निज गृह ग्राम त्यागि तुम्ह आये। भगत गाँव गृह मन महँ भाये॥
जाति बर्ग कुल धर्महिं त्यागे। बिषइन्ह धरम अतिहिं अनुरागे॥

आप अपना घर-गाँव छोड़कर आ गये किन्तु भक्तों के गाँव-घर को अपना समझने लगे। अपनी जाति-वर्ग एवं कुल के धर्म का त्याग कर दिया किन्तु विषयी पुरुषों के धर्म में मन लगा बैठे।

दोहा— ब्रह्मखोज तजि करत सच बस तिन्हके सुखखोज।
संत श्रेष्ठ आपुहिं समुझि जहँ तहँ पावहु भोज॥ २७१॥

आप ब्रह्म की खोज छोड़कर एकमात्र भक्तों के सुख की खोज करने लगे। अपने को श्रेष्ठ सन्त समझकर जहाँ-तहाँ भण्डारा खाने लगे।

चौपाई— तप पूँजी तव सबहि नसावे। गयो बिराग राग मन भावे॥
गुरु उपदेस प्रयोग न कीन्हे। ज्ञान ध्यान हित समय न दीन्हे॥

आपके ऐसा करने से तप की सारी पूँजी नष्ट हो गयी, वैराग्य चला गया तथा एकमात्र विषय में प्रीति हो गयी। ध्यान, ज्ञान के लिए अंशमात्र भी समय न देने से गुरु के उपदेश का प्रयोग भी नहीं कर पाये।

आत्मसुरति बिस्मृत तब होवे। अरु तन सुरति सघन होइ सोवे॥
टुटी नींद जब आय बुढ़ापा। सिथिल इंद्रिं तन थर थर काँपा॥

उसके उपरान्त तो आत्मस्मृति (मैं आत्मा हूँ की याद) नष्ट हो गयी तथा देह विषयक स्मृति (मैं शरीर हूँ) सघन हो गयी और उसी में सोते रहे। अब जब [प्रमादरूपी] नींद टूटी तो बुढ़ापा आने से समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, शरीर थर-थर काँपने लगा।

सोचि अतीत बहुत पछतावहु। निज प्रारब्धहिं दोष लगावहु॥
स्वजन इंद्रियन्हि यासों त्यागहु। तन मन संयम महँ पुनि लागहु॥

अब अतीत में जाकर अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए अपने भाग्य को कोसने लगे। इसलिए उन स्वजनरूपी इन्द्रियों को त्याग दें और पुनः तन-मन-वचन के संयम में लग जायँ।

अहं ब्रह्म चिंतन अभ्यासा। करहु न यासों लेहु उसाँसा॥
कछु दिन बीते आत्मप्रसादा। मिलइ मिटइ तब घोर बिषादा॥

'मैं ब्रह्म हूँ'- इसी चिन्तन का अभ्यास करें, इसमें कभी थोड़ा भी प्रमाद न करें। इससे कुछ समय पश्चात् ही आत्मलाभरूपी प्रसाद मिल जायेगा, तब घोर विषाद का नाश हो जायेगा।

दोहा— महाराज प्रगटत बहुरि संतन्ह पहिं इक राज।
हरि बचनामृत मुदित मन सुनहु सँवर सब काज॥ २७२॥

महाराज अब पुनः सन्तों के सम्मुख एक रहस्य प्रकट कर रहा है, अतः आप प्रसन्न मन से समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाले भगवान के वचनों को सुनें-

चौपाई— देह नाव की उपमा एहि थल। प्रभु संकेतत लखहु आपु बल॥
जिमि नाविक कछु करत प्रमादा। कै यात्रिन्ह बिच फँसत बिबादा॥

इस स्थान पर देह को नाव की उपमा देकर भगवान संकेत कर रहे हैं कि आप अपनी सामर्थ्य को तो देखें -जिसप्रकार नाविक कुछ प्रमाद कर जाता है अथवा [किसी कारण वश] यात्रियों के बीच विवाद में फँस जाता है तो-

तबहिं पवन अति हिय हरषावत। नौका गहि निज दिसा भगावत॥
तिमि प्रमाद अरु त्यागि बिबादा। लखि तन नौका प्रभु परसादा॥

उसी समय वायु अत्यन्त प्रसन्नता के साथ नौका को अपनी दिशा में भगा ले जाती है उसी प्रकार इस शरीररूपी नौका को प्रभु का प्रसाद समझकर प्रमाद एवं वाद-विवाद त्यागकर -

परमधर्म एहि जग आचरहू। फँसै न देहनाव भव तरहू॥
द्वौ नाविक एहि खेवन हारो। तुम्ह आतम अरु दैव असारो॥

इस जगत में परम धर्म का पालन करें जिससे यह शरीर रूपी नाव न फँसने पाये और आप सहज ही भवसागर पार कर जायँ। [अद्भुत बात तो यह है कि] इसे खेने वाले दो नाविक हैं- आप निर्विकार आत्मा और साररहित दैव (पूर्वकृत कर्म)।

एक दैव जिव सुरति बसावे। तुम्हहिं भोर करि नाव चलावे॥
अपर स्वयं तुम्ह ब्रह्मसुरति बसि। गहि संकल्प नाव खेवहु हँसि॥

उनमें से एक दैव (प्रारब्ध) जीव की स्मृति में स्थित होकर आपको भ्रमित कर यहाँ इस शरीर रूपी नाव को

चलाता है और दूसरा ब्रह्मस्मृति में स्थित हो स्वयं आप अपने संकल्प से विकल्परहित होकर प्रसन्नतापूर्वक इस देह रूपी नाव को खेते हैं।

जीवसुरति महँ सो बलवाना। ब्रह्मसुरति महँ आपु सयाना॥

इस प्रकार जीवस्मृति में वह (प्रारब्ध) बलवान है और 'ब्रह्म-स्मृति' में आप कुशल (बलवान) हैं।

दोहा— अहं ब्रह्म पतवार करि अरु समत्व कहँ पाल।
कामादिक भवसागरहिं पार करहु जगपाल॥ २७३॥

अत: हे जगत की रक्षा में समर्थ साधको! 'मैं ही ब्रह्म हूँ'- इसको पतवार तथा कर्मयोग को पाल बनाकर कामादिक संसाररूपी सागर को पार कर जायँ।

चौपाई— बहुत भगत महराज सुनावत। कारण कौन असुर सुख पावत॥
उन्हके सकल करम बिपरीता। तउ सुख सों गावत जग गीता॥

बहुत-से भक्त महाराज से कहते हैं कि वह कौन-सा कारण है कि असुरगण सुखी हैं, जबकि उनके समस्त कर्म शास्त्र विरुद्ध ही होते हैं तो भी वे जगत में सुख की बंसी बजाते रहते हैं।

अस पूछै महराज सों जोई। सच महँ सुख कर सेवक सोई॥
प्रभु की बात गुनहिं प्रभुदासा। जिन्हहिं न जग भौतिक सुख आसा॥

महाराज का कहना है कि ऐसा जो भी पूछते हैं, यथार्थ में वे सुख के ही दास हैं। प्रभु की बात पर उनके सेवक ही विचार करते हैं जिन्हें जगत के भौतिक सुख की कामना नहीं होती।

इहाँ न भौतिक सुख प्रभु भाषहिं। अध्यात्मिक सुख सांतिहिं राखहिं॥
देव सुखी पर बिषयन्हि ध्यावहिं। तासों ब्रह्मसुरति बिसरावहिं॥

इस स्थल पर भगवान भौतिक सुख की बात नहीं कर रहे हैं अपितु आध्यात्मिक सुख-शान्ति को ही महत्त्व दे रहे हैं। देवतागण तो सुखी हैं किन्तु वे विषय में रत रहते हैं इसलिए ब्रह्मस्मृति को सर्वथा भूले रहते हैं।

इहि कारण संतन्ह के सेवक। होवत इंद्रादिक सब देवक॥
जदपि भगत कोउ हो कंगाला। तउ तेहि के बस दीनदयाला॥

यही कारण है कि वे समस्त इन्द्रादि देवगण सन्तों के सेवक होते हैं। यद्यपि कोई भक्त अत्यन्त निर्धन होता है तो भी भक्तों पर दया करने वाले भगवान उसके वश में [स्वयं] रहते हैं।

तासु त्याग सों प्रभु भयभीता। जाइ कुटी महँ गावत गीता॥
ताहि निरखि श्रुतिहू सुख पावतिं। गद गद गिरा तासु जस गावतिं॥

उसके त्याग से तो भगवान भी भयभीत रहते हैं और [यही कारण है कि] उसकी कुटिया में जाकर स्वयं ही गीता सुनाने लगते हैं। उसे देखकर श्रुतियाँ भी सुख का अनुभव करते हुए उसकी महिमा का गद्गद वाणी से गायन करती हैं।

श्रुति कह तन मन मति बलवाना। बेद दक्ष कोउ साधु युवाना॥
आसिष्ठः निति निपुन भुआला। मानुष सुख अस अहइ बिसाला॥

श्रुतियों का कहना है कि कोई पुरुष, युवा हो, शरीर, मन तथा बुद्धि से बलिष्ठ हो, वेदों का ज्ञाता, विनम्र, नीति शास्त्र में अति कुशल, सज्जन और सबका स्वामी (राजा) हो तो यही मनुष्यलोक का सबसे बड़ा सुख (आनन्द) है।

दोहा— एहि सत गुन सुख सम लहै इक सुख नरगंधर्ब।
आतमज्ञानिहिं सहज महँ लह आनंदहिं सर्ब॥ २७४॥

किन्तु इस (भूपाल के) सुख का सौ गुना सुख मानुष गन्धर्व के एक गुना सुख के बराबर है जबकि आत्मज्ञानी को वह समस्त आनन्द सहज ही प्राप्त है।

चौपाई— सो सुख त्यागत दुख सम जानी। निज आनंद मगन मुनि ज्ञानी॥
तैसो जेहि सुख सर्बेसर्बा। पावत ते मानुषगंधर्बा॥

इसलिए उस मानुष गन्धर्व के सुख को सन्तजन दु:ख के समान जानकर त्याग देते हैं, क्योंकि वे तो अपने

ही आनन्द (आत्मानन्द) में मस्त रहते हैं। उसी प्रकार जिस अपने सर्वस्व सुख को मानुष गन्धर्व प्रेमपूर्वक भोगते हैं-

तेहि सतगुन लह सुरगंधर्बा। तिन्हके काजे एकइ सर्बा॥
सुरगंधर्ब लहत सुख जोई। सत गुन पितर लहहिं सुख सोई॥

उसी सुख का सौगुना सुख देव-गन्धर्वों को प्राप्त है जो उनके लिए एक ही गुना है। देव-गन्धर्व जिस सुख को प्राप्त करते हैं, उस सुख का सौ गुना सुख पितरों को प्राप्त होता है।

सो सुख सहज लहत निष्कामा। जो जग बिचरहिं पूरणकामा॥
जे सतगुन सुख पितरन्ह केरो। सो आजानज देवन्ह चेरो॥

वह (पितरों को प्राप्त) सुख आत्मज्ञानियों को सहज ही प्राप्त है, जो जगत में पूर्णकाम होकर विचरण करते हैं। जो पितरों का सौ गुना सुख है, वह आजानज देवताओं (स्मार्तकर्म विशेष के कारण आजान नामक देव लोक में जन्म प्राप्त किये हुए देवताओं) के लिए अत्यन्त तुच्छ है।

सो पावत सुख सहज बिरागी। जो निज ब्रह्म रूप अनुरागी॥
आजानज सुख जो सौ गूना। कर्मसुरन्ह कर एकइ गूना॥

जो अपने ही ब्रह्मरूप में प्रेम रखने वाला वैराग्यवान आत्मज्ञानी है, उसे वह सुख सहज ही प्राप्त है। आजानज देवताओं के सुख का सौ गुना सुख कर्म देवताओं के सुख का एक गुना है।

दोहा— स्थितप्रज्ञ सो पाइ मन कछुक नाहिं हरषाय।
तेहि के मन महँ सहज ही ब्रह्मानंद लखाय॥ २७५॥

स्थितप्रज्ञ सन्त उस सुख को पाकर मन में थोड़ा भी हर्षित नहीं होता, उसके मन में सहज ही एकमात्र ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती रहती है।

चौपाई— कर्मसुरन्ह सुख सुरगन्ह एको। सो सुख चाहत संतहिं टेको॥
सतगुन सुख जिहिं सुर सब धारहिं। सो एकइ गुन इंद्र बिचारहिं॥

कर्मदेवताओं का सौ गुना सुख देवताओं के लिए एक ही गुना है और वह सुख वीतरागी सन्त का आश्रय चाहता है। जिस सुख को देवता धारण करते हैं उसका सौ गुना सुख तो इन्द्र का एक ही गुना सुख कहा जाता है।

जेहि भोगत ते अति हरषाई। सो सुख देत संत ठुकराई॥
सौ गुन सुख सचिपति जो पाये। देवगुरुहिं सच एक कहाये॥

जिस सुख को इन्द्र प्रसन्नतापूर्वक भोगते हैं, ऐसे सुख को सन्त ठोकर मार देते हैं। शचिपति देवराज इन्द्र को प्राप्त सुख का सौ गुना सुख देवगुरु बृहस्पति के लिए एक गुना ही है।

सो सुख रहत संत मुख हेरे। जिमि भूपालन्हिं दास घनेरे॥
जे सतगुन सुख देवगुरू कर। न्योछावर सो प्रजापती पर॥

वह [देवगुरु बृहस्पति को प्राप्त] सौ गुना सुख सन्त का मुख वैसे ही देखता रहता है जैसे अनेक सेवक राजा के आज्ञा की बाट देखते रहते हैं। उसी प्रकार देवगुरु बृहस्पति के सुख का जो सौ गुना सुख है, वह प्रजापति पर सहज ही समर्पित है-

सो सुख तिन्ह हित एक अनंदा। मुनिहिं प्राप्त पर सो सुखकंदा॥
प्रजापतिहिं कर जो सतगुन सुख। सो एकइ सुख लहत चतुर्मुख॥

और वह [बृहस्पति का सौ गुना सुख] प्रजापति के लिए एक गुना है, जो सन्त को सहज ही प्राप्त है क्योंकि वह सन्त स्वयं ही आनन्दमय है। प्रजापति का जो सौ गुना सुख है, उसे एकगुना सुख के रूप में चतुर्मुख ब्रह्माजी प्राप्त करते हैं।

छंद— आनंद सोऊ प्राप्त सहजहिं आत्मज्ञानिहिं सच अहै।
आनंद कर आनंद परमानंद सहजहिं सो लहै॥

सो ब्रह्मभूत अभूत सच अवधूत जग महँ होइ रहै।
महराज तेहि कहँ सगुण निर्गुण ब्रह्म सचिदानँद कहै॥

वास्तव में ब्रह्मा जी का वह आनन्द भी आत्मज्ञानी को सहज ही प्राप्त है क्योंकि वह तो आनन्द के भी आनन्द परमानन्द को सहज ही प्राप्त कर चुका है। वह पञ्चतत्त्वों पर विजय प्राप्त किया हुआ ब्रह्मरूप सन्त अवधूत होकर जगत में स्थित रहता है। महाराज उसी को सगुण, निर्गुण, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहता है।

दोहा— सुख परिभाषा अस दियों अब तुम्ह करहु बिचार।
भौतिक सुख कर लालसा छाँड़ि गहउ सुखसार॥ २७६॥

इस प्रकार मैंने सुख की परिभाषा दे दी, अत: अब आप विचार करें और भौतिक सुख की लालसा छोड़ समस्त सुखों के सार ब्रह्म को धारण करें।

मासपारायण, नवाँ विश्राम

चौपाई— प्रभु कह जबहीं सुरति नसावे। तबहिं साधकन्हि मति भरमावे॥
ताहि सुरति महराज बखाने। साधक भक्तहु सुनहु सयाने॥

भगवान कह रहे हैं कि स्मृति का नाश हो जाने पर साधकों की भी मति भ्रमित हो जाती है। महाराज उस स्मृति का वर्णन कर रहा है जिसका बुद्धिमान साधक एवं भक्तगण श्रवण करें।

अहऊँ ब्रह्म सुरति महँ चेतन। नित निवसत नहिं होय अचेतन॥
एक समय तेहि सुरतिहिं आयो। बिपुल रूप अपनो प्रगटायो॥

'मैं ब्रह्म हूँ'- इस स्मृति में ही परम चेतन (आत्मा) सदा स्थित रहता है, कभी भी प्रमाद नहीं करता। एक समय उसकी स्मृति में आया कि मैं असंख्य रूप हो जाऊँ। अत: उसने स्वयं को असंख्य रूपों में प्रकट किया।

सोच्यो बहु बनि लीला करऊँ। पुरुष प्रकृति जीवहिं रुप धरऊँ॥
तबहिं सुरति भइ अंड अनेका। अतिहिं बिचित्र एक तें एका॥

उसने सोचा कि मैं पुरुष, प्रकृति और जीव रूप धारणकर असंख्य रूपों में प्रकट होकर लीला करूँ; तभी उसकी स्मृति अनेक ब्रह्माण्डों के रूप में प्रकट हो गयी, जो एक से एक बढ़-चढ़कर हैं।

जिमि सागर सरिता तरंगिनी। ब्रह्मसिंधु तिमि सुरति गंगिनी॥
चौदह भुवन त्रिजग जो जानहु। सुरति लहर बहु झोंका मानहु॥

जिसप्रकार सागर में तरंगरूपी नदियाँ बहती रहती हैं, उसी प्रकार सम-शान्त ब्रह्मरूपी सागर में अनेकानेक स्मृतिरूपी गंगा बहती रहती हैं। जिन्हें आप चौदह भुवन, तीन लोक समझ रहे हैं ये ब्रह्म की असंख्य लहरों के झोंके मात्र हैं।

सत रज तम निज रूप रचायो। अज महेस अच्युत बनि आयो॥
जिनसों सुर नर त्रियग्तरंगा। प्रगटहिं अजहूँ सुरति अनंगा॥

वह स्मृति ही सत्, रज, तम भेद से अपने रूप की रचना कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में प्रकट हो गयी है, जिससे देवता, मनुष्य तथा तिर्यग्योनि रूपी तरंगें प्रकट होती रहती हैं जो आज भी [अंग रूप दीखने पर भी] अंगरहित स्मृति रूप ही हैं।

चंद किरण जस नहिं कछु भेदा। तैसे सुरति सों ब्रह्म अभेदा॥
उन्ह महँ कोऊ सुरति तरंगिनि। स्वयंहि समुझति मानुष अंगिनि॥

जिसप्रकार चंद्रमा और उसकी किरणों में कुछ भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी स्मृति में भी अभेदता है। उनमें से कोई स्मृतिरूपी तरंग स्वयं को मनुष्यरूप में समझ रही है,

दोहा— रबि कुबेर यम अगिनि कोउ चेतइ अहउँ महेन्द्र।
असुर नाग पसु पक्षि कोउ कीट पतंग गजेन्द्र॥ २७७॥

कोई स्मृति स्वयं को यम, कुबेर, रवि, अग्नि, इन्द्र, असुर, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे और कोई अपने को हाथी आदि समझ रही है।

चौपाई— सुरति लहरि महँ कोउ बिसाला। जिमि ब्रह्मा बिष्णू सिव काला॥
अति लघु कोऊ मसक समाना। पर सब साथ लहर जिमि नाना॥

उन स्मृति रूपी लहरों में कोई-कोई तो अत्यन्त विशाल हैं, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यमराज आदि और कोई मच्छर के समान अत्यन्त छोटी हैं; किन्तु ये उसी प्रकार साथ में रहती हैं जैसे [समुद्र में छोटी-बड़ी] नाना प्रकार की लहरें।

जिमि जल लहर होय हरषावत। ब्रह्मसुरति तिमि जीव बतावत॥
गहि कोउ रूप कहति मैं माता। काहू रूप कहति मैं भ्राता॥

जैसे जल ही लहर के रूप में परिणत होकर हर्षित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म की स्मृति ही 'मैं जीव हूँ'- ऐसा कह रही है। कोई माता का रूप धारण कर कहती है कि मैं माता हूँ, कोई भाई का रूप धारण कर कहती है कि मैं भाई हूँ।

हीत मीत कहुँ जनक बतावति। ऐसो भाषि सबहिं भरमावति॥
गहति रूप कोउ सेवक स्वामी। कोऊ ब्रह्मरूप अनुगामी॥

वही कहीं स्वयं को हित-मित्र, कहीं पिता बताती है तथा ऐसा कहकर सबको भ्रमित करती रहती है। कोई सेवक का तो कोई स्वामी का रूप धारण कर लेती है, तो कोई 'मैं ब्रह्म का भक्त हूँ' ऐसा रूप धारण कर लेती है।

जिमि मकड़ी निज जाल फँसावति। छुद्र सुरति फँसि जीव लजावति॥
सोइ सुरति हित यत्न करत हरि। पार्थ जीव नहिं कहत दया करि॥

जैसे मकड़ी स्वयं के ही बनाये हुए जाले में फँस जाती है, उसी प्रकार निकृष्ट स्मृति ही जीवभाव में फँसकर लज्जित होती रहती है। उसी ब्रह्मस्मृति के लिए भगवान प्रयत्नशील हो, दया करते हुए कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुम जीव नहीं हो [अपितु ब्रह्म हो]।

ब्रह्मसुरति जग जनम मिटावति। जीवसुरति बहु जनम करावति॥

'मैं ब्रह्म हूँ' यह स्मृति यदि सदा बनी रहे तो जगत में जन्म-मरण का भ्रम मिट जाता है किन्तु 'मैं जीव हूँ' यह स्मृति अनेक जन्म कराती है।

दोहा— ब्रह्मसुरति कहँ ध्यावहू हे सुचि साधक बृंद।
बचन मानि महराज कर पावहु पदहिं अनिंद॥२७८॥

हे पवित्र साधकगण! आप महाराज के वचन मानकर उसी ब्रह्म स्मृति को धारण कर अनिन्द्य पद (ब्रह्मपद) को प्राप्त कर लें।

चौपाई— कहि हरि निसि जो जग हित भाई। सोइ भगत हित दिवस कहाई॥
मूढ़ जगन हित जो दिन होई। भगतन्ह सोवन हित निसि सोई॥

[भगवान कह रहे हैं कि] हे पार्थ! सम्पूर्ण जगत के लिए जो परमार्थ तत्त्व रात्रि के समान है, वही भगवद्भक्त के लिए दिन के समान है। जो अज्ञानियों के जागने के लिए दिन [मोह, अविद्या] है वही प्रभु-भक्तों के सोने के लिए रात्रि है।

स्थितप्रज्ञ बिषय परमारथ। तेहि घन निसि कह मूढ़ यथारथ॥
एहि कारन सो भगवत बुद्धी। मिलति न तिन्ह चित रहति असुद्धी॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषों का विषय केवल परमार्थ तत्त्व है, उसी को यथार्थत: अविवेकी पुरुष घोर रात्रि कहते हैं। इसलिए कि उनको तो अशुद्ध चित्त होने के कारण वह आध्यात्मिक बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती।

जागत जग महँ महत संयमी। मोह निसा तजि देत उद्यमी॥
पतो न क्यों सोइ रात सुहावे। तेहि महँ तुम्ह सोवन हित धावे॥

अत: [उस परमार्थ तत्त्वरूपी रात्रि में] मोहरूपी निद्रा त्यागकर अतिश्रेष्ठ जितेन्द्रिय एवं पुरुषार्थी पुरुष इस जगत में जागता है। पता नहीं क्यों वही मोह (अविद्या) रूपी रात्रि तुम्हें अति प्रिय लग रही है जिसमें तुम बारम्बार सोने का प्रयत्न कर रहे हो!

सोवन दै सांतनु सपूत को। दुर्योधन सकुनी कपूत को॥
सोवन दै आचार्य द्रोण को। दुःसासनहिं बिकर्ण कर्ण को॥

अरे! तुम तो [इस परमार्थ तत्त्वरूपी रात्रि में] शान्तनु-पुत्र भीष्म को तथा दुर्योधन, शकुनि जैसे कुपुत्रों को ही सोने दो; उसी प्रकार इसमें आचार्यद्रोण, दुःशासन, कर्ण और विकर्ण को सोने दो।

सोवन दै सैल्यहु मामा को। कौरव भगत अस्वथामा को॥
सोवन दै तू कृपाचार्य को। धृतराष्ट्रहिं जैसो अनार्य को॥

हे पार्थ! मामा शल्य, कौरव भक्त अश्वत्थामा, कुलगुरु कृपाचार्य और धृतराष्ट्र जैसे अनार्यों को तुम सोने दो।

सोवन दै कौरव बीरनि को। नारायणी सैन धीरनि को॥
सोवन दै तू जग असुरन को। अतिहिं मुदित जो आयँ मरन को॥

इस [ब्रह्मरात्रि] में कौरव पक्ष के वीरों तथा नारायणी सेना के धैर्यवान सैनिकों को सोने दो। उसी प्रकार तुम जगत के असुरों को सोने दो, जो अति प्रसन्नता के साथ मरने के लिए आये हुए हैं।

दोहा— सोवन चाहत धीर क्यों होइ मम भक्त महान।
महाबीर अब बधहु इन्ह गहि उर आतमज्ञान॥ २७९॥

हे धैर्यवान्! तुम मेरे महान भक्त होकर भी [जो परमार्थ तत्त्व मूढ़ों के लिए रात्रि और संयमी पुरुषों के लिए दिन के समान है उस दिन में] क्यों सोना चाहते हो। हे महावीर! अब हृदय में आत्मज्ञान धारण कर इनका वध करो।

चौपाई— जिमि उलूक भासइ दिन राती। जान सो सुखहिं दुखहिं की भाँती॥
तिमि बिषइन्हिं प्रभुरूप न भावे। यासों सोइ तिन्ह राति कहावे॥

जैसे उल्लू को दिन ही रात्रि जैसा दिखता है जिससे सबको सुख देने वाला दिन उसे दुःख देने वाला प्रतीत होता है; वैसे ही विषयी पुरुषों को ब्रह्म का रूप प्रिय नहीं लगता, इसलिए वही रूप उनके लिए रात्रि कहा जाता है।

तिन्हकी निसि भगतन्ह दिन लागत। यासों तेहि महँ नित्यहिं जागत॥
तैसे हरिमग मूढ़न्हिं राती। भक्तबुद्धि तेहि मगहिं अघाती॥

उन विषयी पुरुषों की रात्रि भक्तों को दिन के जैसी लगती है, इसीलिए उसमें वे सदा ही सावधान रहते हैं। वैसे ही भगवान का मार्ग उन अज्ञानियों के लिए रात्रि है जबकि उसी मार्ग में भक्तों की बुद्धि अत्यन्त तृप्त रहती है।

जप तप अज्ञन्हिं निसि सम लागत। ते सोवत सब साधक जागत॥
उन्हकहँ रात्रि साधु संसर्गा। साधक एहिसों लह अपबर्गा॥

अज्ञानियों को जप-तप रात्रि के समान प्रतीत होता है जिसमें वे सोते हैं और साधकगण [जप-तप करते हुए] जागते रहते हैं। साधु पुरुषों का संसर्ग उन मूढ़ पुरुषों के लिए रात्रि के समान है जबकि साधकगण उसी संसर्ग से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

बिषइन्हि राति लगे हरि चर्चा। सोइ दिन पाइ भगत कर अर्चा॥
बिषइन्हि निसि सज्जन की सेवा। भगतन्हिं दिन पावहिं प्रभु मेवा॥

वैसे ही विषयी पुरुषों को भगवत् चर्चा रात्रि के समान प्रतीत होती है, उसी को दिव्य दिन के रूप में प्राप्त करके भक्तगण उसका सेवन करते हैं। वैसे ही विषयी पुरुषों के लिए सज्जनों की सेवा करना रात्रि के समान है, जबकि वही सेवा भक्तों के लिए अलौकिक दिन के समान है जिससे वे भगवानरूपी मेवा प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— भगवत धरम निसा लगे बिषई तेहि महँ सोयँ।
जागत तेहि महँ साधुजन प्रभुहिं पाव चित धोयँ॥ २८०॥

[वैसे ही] भागवत्-धर्म रात्रि के समान लगने से उसमें विषयी पुरुष सोते हैं जबकि साधुजन उसमें जागते हैं और चित्तशुद्ध कर भगवान को प्राप्त कर लेते हैं।

चौपाई— ब्रह्मसुरति तिन्ह गहन निसा सम। संत गहहिं जगि जिहि महँ सम दम॥
समुझि समत्वयोग निसि मूढ़ा। सोवहिं तहँ लह मरम न गूढ़ा॥

वैसे ही उन [विषयी पुरुषों] के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप महामंत्र अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह स्मृति ही घोर रात्रि के समान है, जिसमें जगकर सन्तजन शम-दम आदि सिद्धियों को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। वैसे ही विषयी पुरुष समत्वयोग को रात्रि समझकर सोते रहते हैं इस रहस्य को नहीं जान पाते।

पर जगि तहँहि भगत मुनि बृंदा। अनुपम दिन बुझि लहहिं अनंदा॥
यह करनो अरु यह नहिं करनो। यह धरनो अरु यह नहिं धरनो॥

किन्तु उसी [समत्वयोग] में सजग होकर भक्त एवं साधकवृन्द उसे अनुपम दिन समझकर परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं। [हे पार्थ!] यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, यह धारण करने योग्य है, यह धारण करने योग्य नहीं है,

यह सच अहइ यहइ सब झूँठो। भूत अहइ यह तरु नहिं ठूँठो॥
अस भ्रम सपन जगत ते जागत। सपन लखनवारन सों पागत॥

यह सत्य है, यह सब झूठा है, यह प्रेत ही है ठूँठा पेड़ नहीं है- इस प्रकार वे इस भ्रमरूपी स्वप्नजगत में स्वप्न देखने वालों के समान जगते हुए अनुराग को प्राप्त होते हैं।

तहिं जग भ्रम निसि महँ मुनि सोवत। कबहुँ अबुध सम हँसत न रोवत॥

वहीं जगतभ्रम रूपी रात्रि में संयमी पुरुष उदासीन रहता है, उन मूढ़ों के समान कभी हँसता-रोता नहीं।

दोहा— द्वैत बुद्धि तम सघन निसि तेहि महँ जाग बिमूढ़।
दिवा सरिस अद्वैत मति भावत मुनिन्ह निगूढ़॥ २८१॥

हे पार्थ! द्वैतबुद्धि सघन रात्रि के समान है उसे दिन समझकर मूढ़ पुरुष [उसमें] जागते रहते हैं, किन्तु ज्ञानवान ऋषि अद्वैत बुद्धि को ही दिन के समान समझते हैं जो [ब्रह्ममय होने से] उन्हें अत्यन्त प्रिय लगती है [इसीलिए वे उसमें जागते रहते हैं]।

चौपाई— संजय कृष्ण कहहिं यो ऐसो। स्वपन जगत कोउ भाषइ जैसो॥
उन्ह मत अहइ न कर्म बिधाना। तब रन क्यों कर पार्थ सुजाना॥

[इधर धृतराष्ट्र ने पूछा-] सञ्जय! ये कृष्ण तो ऐसे बोल रहे हैं जैसे कोई स्वप्न जगत में बोल रहा हो। उनके वचनानुसार तो कोई कर्मविधान है ही नहीं फिर यह बुद्धिमान अर्जुन युद्ध क्यों करेगा?

सुनि संजय सों गयो हँसाई। राजन यह मति कहँ सों आई॥
सच यह युद्ध न करें धनंजय। तिन्हहिं निमित कर कृष्ण मृत्युंजय॥

ऐसा सुनकर सञ्जय को हँसी आ गयी और कहा- सच है राजन्! सच है, ऐसी बुद्धि आपको कहाँ से आ गयी? सच में इस युद्धरूपी कर्म को धनञ्जय नहीं करेंगे अपितु इनके माध्यम से मृत्युविजेता भगवान श्रीकृष्ण ही करेंगे।

यासों पाप पुन्य नहिं लागे। गुडाकेस अब ज्ञान सों जागे॥
तन मन ब्रह्म निमित जेहि होई। मायामय जग जीतइ सोई॥

इस [युद्धरूपी कर्म] से महात्मा अर्जुन को पाप-पुण्य नहीं लगेगा क्योंकि अब वे ज्ञान के द्वारा प्रबुद्ध हो गये हैं। [नीति कहती है कि] जिसके तन-मन आदि ब्रह्म के निमित्त ही हैं वही पुरुष मायामय जगत को जीत सकता है।

नृप हरि कह्यो दिब्य दिन राती। समुझत मनहिं मिलइ बहु साँती॥
कर्मबिधान अबिद्या माहीं। रंचहु सो न ज्ञान महँ आहीं॥

हे राजन्! प्रभु के द्वारा दिव्य दिन और रात्रि को बताया गया, जिसको समझते ही मन में अति शान्ति मिल जाती है। [यह बात सत्य है कि] कर्मविधान तो अविद्या (अज्ञान) के अन्तर्गत [अज्ञानियों के लिए] है, वह ज्ञान के अन्तर्गत रंचमात्र भी नहीं है।

दोहा— भानु उदय जिमि सहजही तिमिर जात बिनसाय।
उदय ज्ञान तिमि होत हिय बेगि अबिद्या जाय॥ २८२ (क)॥

जिसप्रकार सूर्य के उदित होते ही अन्धकार का सहज ही नाश हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाशित होते ही हृदय से अविद्यारूपी जगत का शीघ्र नाश हो जाता है।

नृप कोउ स्वप्न जगत लखि कर्म प्रबृत्त न होय।
अपितु बुझत बिधि बेद कृत मोरेइ लाने योय॥ २८२ (ख)॥

हे राजन्! कोई भी पुरुष इस जगत को स्वप्न जगत समझकर कर्म में प्रवृत्त नहीं होता अपितु वह समझता है कि वेदों द्वारा मेरे लिए यही विधान किया गया है।

चौपाई— जेहि लखाय जग निसा समाना। सब प्रपंच अज्ञान निधाना॥
तेहि बिधि इहइ तजे जग आसा। तजि सब करम गहे संन्यासा॥

जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है कि यह सम्पूर्ण जगत-प्रपञ्च अज्ञानरूपी घोर रात्रि के समान है, उसके लिए तो एक ही नियम है कि वह जगत की आशा छोड़कर सम्पूर्ण कर्मों [की चेष्टा] का त्याग करते हुए संन्यास धारण करे।

नृपति न समुझि परइ जौं ज्ञाना। तौ तम निसि महँ मन भरमाना॥
राजन रुकौ कहन प्रभु लागे। जासों महाबाहु भ्रम भागे॥

हे राजन्! यदि यह ज्ञान समझ में नहीं आ रहा है तो [इससे यह सिद्ध होता है कि] आपका मन मोहरूपी रात्रि में भ्रमित हो रहा है। ठहरें राजन्! भगवान पुन: कुछ कहने जा रहे हैं जिससे महावीर अर्जुन का संशय चला जाय।

साधक बहुरि सुनहिं धरि ध्याना। करहिं कृपालु संत गुन गाना॥
मोह निसा गुनि मुनि जब त्यागहिं। तेहिके सन्मुख सिधि सब जागहिं॥

अब भगवान ज्ञानी पुरुषों का गुणगान करने जा रहे हैं, अत: साधकगण ध्यान से सुनें। जो भक्त अज्ञान को रात्रि समझ कर त्याग देता है, उसके सामने समस्त ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं।

उनसेउँ बिमुख होयँ जब संता। ताकर फल अब कहहिं अनंता॥

जो पवित्र साधक उन सिद्धियों से भी अनासक्त हो जाते हैं, भगवान अब उसका फल बता रहे हैं कि-

छंद— जिमि पार्थ अचल अगाध सागर माहिं सरिता आयँ जू।
तेहिं बिनु किये रंचहु छुभित तजि नाम रूप समायँ जू॥
तिमि जासु स्थितप्रज्ञ नर की कामना नित प्रभुमयम्।
ते करि न सक तेहिं आपुने बस जग बिचर होइ बिभुमयम्॥

हे पार्थ! जिस प्रकार अचल अगाध समुद्र में अनेक नदियाँ आकर उसे बिना क्षुब्ध किये ही अपना नाम-रूप खोकर समा जाती हैं उसी प्रकार जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष की कामनाएँ नित्य ब्रह्ममय हो जाती हैं, वह कामनाओं के वश में नहीं होता अपितु [कामनाएँ उसमें ही समाहित हो जाती हैं] वह ब्रह्ममय होकर संसार में विचरण करता है।

दोहा— त्रिबिध कामना होत सिध तबहुँ नाहिं बिचलाय।
सोइ पावत सम सांति पद लुब्ध कबहुँ नहिं पाय॥ २८३॥

उसी प्रकार तीनों कामनाओं (पुत्रेषणा, वित्तेषणा एवं लोकेषणा) के सिद्ध होने पर भी जो विचलित नहीं होता, वही सम-शान्त मोक्ष पद प्राप्त करता है, किन्तु [इन कामनाओं को चाहने वाला] लोभी पुरुष कभी भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

चौपाई— ऋधि सिधि ताहि रूप लखि पागत। पर सो आत्मरूप अनुरागत॥
गहत न सो सपनेहु कोउ भोगा। बरु कोउ आव बिषम अति योगा॥

[सच पूछो तो पार्थ] समस्त ऋद्धि-सिद्धि उसी को देखकर प्रसन्न होती रहती हैं परन्तु वह तो आत्मरूप में

ही प्रतिष्ठित रहता है। [इतना ही नहीं] भले ही कोई विषम से विषम परिस्थिति आ जाय किन्तु वह स्वप्न में भी किसी विषय भोग को स्वीकार नहीं करता।

ज्ञानिहिं सांति बरइ बरियाई। कामिहिं जग बहु बिधि भरमाई॥
तुम्हहिं न चाहिय बिजय बिभूती। आयों तुम्ह पहिं तबहिं सप्रीती॥

कामनाओं को चाहने वाले पुरुष को जगत में सर्वथा भ्रमित करके परमशान्ति आत्मज्ञ पुरुष का ही बलात् वरण करती है। [हे धनञ्जय!] तुझे तो न विजय चाहिए न ऐश्वर्य, तभी तो मैं प्रेमपूर्वक तुम्हारे पास आ गया हूँ।

अबलौं बिप्र संत कुल पालक। तुम्ह सच रहे असुरकुल घालक॥
तासों मैं मरजाद मिटाई। भयों सारथी तुव रथ आई॥

सच में, अब तक तुम ब्राह्मणों (साधकों-भक्तों), सन्तों के कुल पालक और असुरकुल के संहारक रहे हो। इसीलिए मैं अपनी मर्यादा त्यागकर तुम्हारे रथ पर सारथि बनकर बैठा हूँ।

एहि छन अब तुम्ह होउ अकामी। मैं तुम्हरे हित होउँ सकामी॥
बरु न चहहु तुम्ह कबहुँ सांति पद। किंतु सोइ दउँ बुद्धि बिसारद॥

अत: अब तुम इस समय सम्पूर्णता से निष्कामी हो जाओ, मैं तुम्हारे लिए सकामी बन जाता हूँ। भले ही तुमने कभी भी परम शान्ति की चाहना नहीं की परन्तु हे महत् बुद्धिवाले! मैं तुम्हें वही [परम-शान्ति] प्रदान करना चाहता हूँ।

समय मिल्यो नहिं अध्यातम हित। करम धरम भयो स्वजन सगे मित॥
गो द्विज भगतन्ह हित अस धाये। ब्रह्म जीव कस सोचि न पाये॥

हे धर्मात्मा! तुम्हारे स्वजन, सगे-सम्बन्धी एवं मित्र ही तुम्हारे लिए धर्म-कर्म सब कुछ बन गये थे, जिससे अध्यात्मचिन्तन के लिए तुम्हें कभी समय नहीं मिला। तुम गो, ब्राह्मण एवं भक्तों के हित के कार्यों में ऐसे लीन रहे कि ब्रह्म क्या है, जीव क्या है इस विषय पर कभी विचार ही नहीं कर सके।

दोहा— सकल कामना त्यागु अब जीवन मोहहिं छोड़ि।
कारन जो मम अहं तजि बिचरत महि मुख मोड़ि॥ २८४ (क)॥

अत: अब समस्त कामनाओं का परित्याग कर जीवन के मोह को छोड़ दो; क्योंकि जो 'मैं और मेरा' को त्यागकर जगत से मुख मोड़कर विचरण करता है-

सोइ ब्रह्मपद पावइ दुख बर्जित जो आहि।
प्राप्त हेतु निसिबासर जोगि जतन कर जाहि॥ २८४ (ख)॥

वही ब्रह्मज्ञानी के पद को प्राप्त करता है जो समस्त दु:खों से रहित है जिसकी प्राप्ति के लिए योगीजन अहर्निश प्रयत्नशील रहते हैं।

चौपाई— ब्राह्मी थिती धनुर्धर याही। मोह न श्रेष्ठ पुरुष लहि जाही॥
अंतकाल एहि रूपहिं धारी। सायुज मुक्ति पाव नर नारी॥

हे धनुर्धर! यही ब्राह्मीस्थिति है [अर्थात् ब्रह्मरूप हुए पुरुष की स्थिति है], जिसे प्राप्त करके श्रेष्ठ पुरुष मोहित नहीं होता अर्थात् संशय से ग्रसित नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि स्त्री-पुरुष चाहे जो भी हों, प्रयाणकाल (मृत्यु) के समय इसी आत्मस्वरूप में स्थित होकर सायुज्य मुक्ति (कैवल्य पद, मोक्ष पद) प्राप्त कर लेते हैं।

पूछे तुम्ह जो रूप बखान्यों। स्थितप्रज्ञ बिसद गुन गान्यों॥
तात सत्य एहि दिब्य स्वरूपा। देउँ अबहिं जो तव अनुरूपा॥

हे प्रिय पार्थ! तुमने जो स्थितप्रज्ञ पुरुष का लक्षण (व्यवहार) पूछा था मैंने उसे बताकर उसके स्वरूप एवं दिव्य गुणों का सविस्तार वर्णन कर दिया है। सच में इस दिव्य स्वरूप को मैं तुम्हें अभी देने वाला हूँ जो तुम्हारे योग्य ही है।

ब्राह्मी थिति चाहहु तेहि दैहौं। वाके प्रतिफल सब कुछ लैहौं॥
यासे अब गांडीव पकरहू। इन्हहिं मारि भवपार उतरहू॥

जिस ब्राह्मीस्थिति को तुम चाहते हो मैं वही प्रदान करूँगा, किन्तु उसके बदले में तुम्हारा सब कुछ ले लूँगा। इसलिए अब तुम गाण्डीव उठाओ और इन सबका वध कर संसार-सागर से पार हो जाओ।

अर्जुन हरिहिं चकित चित चितवत। गुरु सम कबहुँ कबहुँ हित मितवत॥
प्रभु सों पूछत सेन लखाई। यह का मोरि कामना आई॥

[भगवान के द्वारा यह सब सुनकर] महात्मा अर्जुन आश्चर्यचकित चित्त से भगवान नारायण को कभी गुरु के समान तो कभी हित-मित्र के समान देख रहे हैं। उन्होंने पूछा कि हे प्रभो! जो [सगे-सम्बन्धियों के रूप में] दिखाई पड़ने वाली सेना है, क्या यह सेना के रूप में मेरी कामना (वासना) ही प्रकट होकर खड़ी है?

दोहा— बाह्य कामना तुम्हरि यह बाहिनि बनि गइ पार्थ।
जाहि मारि तुम्ह याहि छन पावहुगे परमार्थ॥ २८५॥

[भगवान ने कहा-] हाँ पार्थ! तुम्हारी बाह्य कामना ही यह सेना बनी हुई है, जिसको मारकर तुम इसी क्षण परमार्थ प्राप्त कर लोगे।

चौपाई— महाराज एक करत ढिठाई। निज बिचार दै तुम्ह पहिं भाई॥
प्रभु सिद्धांत अहइ बस एको। साधकगन लैं तेहि कहँ टेको॥

हे मित्रो! महाराज आप सबको अपना एक विचार देकर धृष्टता कर रहा है। भगवान का तो एकमात्र यही सिद्धान्त है, साधकगण उसी का आश्रय लें-

निर्गुण काम जगत सों दीखे। स्वप्न दृस्य सम मधु कै तीखे॥
कामरूप तन बहुत पियारो। मायामय यह भोरो भारो॥

स्वप्न दृश्य के समान भली-बुरी निर्गुण वासनाएँ ही जगत के रूप में दीख रही हैं। [इतना ही नहीं] भोला-भाला और बहुत प्यारा लगने वाला यह वासनामय शरीर भी मायामय ही है।

जगत साथ अब एहि कहँ त्यागहु। निजानंद रूपहिं अनुरागहु॥
भागहु जग सों अबहीं भागहु। मोह निसा सों सोवत जागहु॥

अत: जगत के साथ-साथ इसकी तरफ से भी उदासीन हो जायँ और अपने आनन्दस्वरूप आत्मा से ही प्रेम करें। भागें! जगत से अभी भाग जायँ, मोहरूपी रात्रि में सोते हुए से जग जायँ।

अब निरखउ इक पुरुष अनूपा। सांख्ययोग अध्यायहिं छूपा॥
ग्रहण करहु जेहि आज बतावउँ। लाइ तुम्हहिं तेहि रूप दिखावउँ॥

अब आप एक दिव्य पुरुष का दर्शन करें जिसे मैं आज बता रहा हूँ; जो इस सांख्ययोग नामक अध्याय में छिपा हुआ है, उसे आपसब धारण करें। अब मैं उसे लाकर आप सबको उसका रूप दिखा रहा हूँ-

दोहा— जाहि गहत मैं मुदित मन पाइ गयों निज धाम।
आपु गहउ तेहि सकल बिधि लहउ परम बिश्राम॥ २८६॥

जिसे प्रसन्न मन से धारण करके मैंने आत्मलोक प्राप्त कर लिया, उसी को आप सम्पूर्णता से धारण कर परम विश्राम प्राप्त कर लें।

चौपाई— दिब्य पुरुष एक ज्ञान नाम को। साधक भगतन्ह सिद्ध काम को॥
त्याग हि ताहि आतमा जानहु। सुभ बैराग्य प्रान बर मानहु॥

ज्ञान नामक एक दिव्य पुरुष है, जो साधकों, सिद्धों एवं भक्तों के बहुत काम का है। त्याग ही जिसकी आत्मा है, निर्मल वैराग्य उसका मुख्य प्राण है।

ज्ञानभूमिका सप्त महत को। महाराज उपप्राण कहत को॥
अति श्रद्धा मन सदगुरु बुद्धी। जेहि बल आपहु तजहु कुबुद्धी॥

महाराज ज्ञान की अतिशय श्रेष्ठ सात भूमिकाओं को ही उसका उपप्राण बता रहा है। सद्गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा ही मन है तथा सद्गुरु ही बुद्धि है, जिसके बल से आप अपनी कुबुद्धि का परित्याग कर दें।

भिक्षुकता सिर दिब्य सुहावे। महाराज मन जो बहु भावे॥
गुरु सिद्धांत नेत्र अति निर्मल। जिनसों निरखि नसावे कलिमल॥

भिक्षुक वेश उसके दिव्य सिर के रूप में सुशोभित हो रहा है जो महाराज के मन को अत्यन्त प्रिय लगता है। सद्गुरु का सिद्धान्त ही उसके अति निर्मल दिव्य नेत्र हैं जिनके द्वारा देखने से कलियुग के समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं।

श्रवण आत्मजिज्ञासा जाही। आतमचिंतन जिह्वा ताही॥
नित स्वाध्यायहि दिब्य नासिका। जो गुन अवगुन करइ भासिका॥

आत्मजिज्ञासा ही उसके दिव्य कान हैं तथा आत्मचिन्तन उसकी जिह्वा है। नित्य स्वाध्याय ही उसकी दिव्य नासिका है, जो गुण और अवगुणों का बोध कराने वाली है।

दोहा— सर्ब ब्रह्म आहार अति उदर दिब्य तप आहि।
भुजा सक्ति संकल्प अति चरण दिब्य दम जाहि॥ २८७॥

'सब कुछ ब्रह्म ही है,' [यह दर्शन ही] उस ज्ञानी पुरुष का दिव्य भोजन है तथा तप ही उसका दिव्य पेट है, दृढ़ संकल्पशक्ति दिव्यभुजा एवं इन्द्रिय दमन ही उसके दिव्य पाँव हैं।

चौपाई— उपरति ताहि दिब्य परिधाना। अतिहिं तितिक्षा कवच समाना॥
जग अज्ञात भवन तेहि भ्राजैं। जहँ सोऽहं सूरति सों राजैं॥

जगत से वैराग्य उसके दिव्य परिधान हैं, घोर तितिक्षा (असह्य क्लेशों को भी सहन करना) दिव्य कवच के समान है, और जगत से अज्ञात रहना ही उसके दिव्य महल के रूप में सुशोभित है जिसमें वह 'मैं वही ब्रह्म हूँ' [इस अनुभूति] में ही निरन्तर रमण करता रहता है।

सम संतोष बिचार अभंगा। नितप्रति लहै साधु सतसंगा॥
द्वारपाल ये दिब्य सुहावें। जो अज्ञान कपाट हटावें॥

शम, सन्तोष, अखण्ड चिन्तन तथा नित्यप्रति सन्तों से प्राप्त होने वाला सत्संग ही दिव्य द्वारपालों के रूप में सुशोभित हैं, जो अज्ञानरूपी आवरण को हटा देते हैं।

हे साधक आतम जिज्ञासू। महाराज कह देखि पिपासू॥
तुम्हरो मन अति गुनन्हि निधानूँ। तुम्हरी इच्छा ज्ञान बखानूँ॥

हे आत्मजिज्ञासु साधको! महाराज आप सबकी ज्ञानपिपासा को देखकर कह रहा है कि आप सभी का मन दिव्य गुणों का भण्डार है, आपकी [आन्तरिक] इच्छा से ही मैंने इस दिव्य ज्ञान की प्रस्तावना की है।

रज तम रहित बिसुद्ध बुद्धि सों। ज्ञान चहउ अति चित्त सुद्धि सों॥
मातृगर्भ सों गुन तिमि लाये। पद्म पुष्प जिमि गंध सों आये॥

आप सब रजोगुण एवं तमोगुण से रहित विशुद्ध बुद्धि तथा अत्यन्त निर्मल चित्त से इस ज्ञान को चाह रहे हैं। [इससे सिद्ध होता है कि] आप सब माता के गर्भ से ही उसी प्रकार इस गुण को लेकर प्रकट हुए हैं, जिसप्रकार कमल पुष्प सुबास को लेकर ही प्रकट होता है।

दोहा— कबहुँ कुमुदिनी खिलति नहिं चंद्र किरन बिनु पाइ।
तिमि एहि उत्तम ज्ञान बिनु परम सांति नहिं आइ॥ २८८॥

जिसप्रकार चन्द्रमा की किरणों को पाये बिना कुमुदिनी खिल नहीं सकती, उसी प्रकार इस श्रेष्ठ ज्ञान को पाये बिना परम शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

चौपाई— यदि यह सांति देय नहिं ज्ञाना। तौ कस जाय साधु अज्ञाना॥
होय न उर यदि ज्ञान प्रचारा। कौन सहइ दुख बिबिध प्रकारा॥

यदि यह ज्ञान परम शान्ति नहीं देता तो साधु पुरुषों की भ्रान्ति कैसे समाप्त होती ? वैसे ही यदि उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता तो नाना प्रकार के दु:खों को कौन सहन करता ?

होय जबहिं सो आतम दर्सन। तबहिं होय उर ग्रन्थिन्हिं घर्सन॥
प्रलय काल अति भानु तपावे। सैलसिला जिमि सोउ नसावे॥

हे साधको ! जैसे ही वह आत्मसाक्षात्कार होता है तो हृदय की ग्रन्थियाँ वैसे ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं जैसे प्रलय काल के समय सूर्य का प्रचण्ड ताप पर्वतों की शिलाओं को [पिघलाकर] छिन्न-भिन्न कर देता है।

संसय अहि जग बिष उपजावत। लहर दुखद बहु जनम भोगावत॥
सो नसाय अस बन संयोगा। गारुड़ि मंत्र जीव सिव योगा॥

संशयरूपी सर्प से जगतभावरूपी विष उत्पन्न होता है जिसकी भोगरूपी लहरें जीव को जन्म-जन्मान्तर तक दु:ख देने वाली होती हैं। वह [विष] तभी नष्ट होता है जब जीव और ब्रह्म के मिलन रूपी गारुड़ी मंत्र का संयोग हो जाय।

मंत्रज्ञान योगहिं तब आवे। सदगुरु चरन सरन जब पावे॥
गीता सास्त्र जबहिं समुझावहिं। बिस्वरूप तेहि समय लखावहिं॥

इस [ब्रह्म और जीव की एकतारूपी] मंत्र के ज्ञान का संयोग तभी होता है जब शिष्य को सद्गुरु के चरणों की शरण मिल जाय। जब वे गीताशास्त्र [के गूढ़ात्मक रहस्यों] को समझाते हुए उसी समय विश्वरूप का दर्शन करा देते हैं-

छंद— तब जाय संसय सोक मोह बिमोह छोभ न कछु रहै।
पावै परम पद सहज महँ महराज साँचो अस कहै॥
हे साधु संत सुजान भगताँ ज्ञान पुरुषहिं धारहू।
जो सदगुरू जब जब कहहिं सो प्रेम सों अनुसारहू॥

तब संशय, शोक, मोह, अज्ञान और क्षोभ- कुछ भी नहीं रहता, सब चला जाता है। महाराज सत्य कहता है कि इस प्रकार वह शिष्य सहज ही परम पद प्राप्त कर लेता है। हे साधको ! सन्तो ! बुद्धिमानो एवं प्रभु भक्तो ! आप सब [उपरोक्त] ज्ञानपुरुष को स्वीकार कर लें तथा सद्गुरु जब-जब जो कुछ भी कहें उसका प्रेमपूर्वक अनुसरण करें।

सोरठा— प्रभु अर्जुन संबाद सांख्ययोग अति महत कर।
जासे मन अवसाद मिटै होय निज पद सुरति॥ २८९॥

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द तथा महात्मा अर्जुन का सांख्ययोग नामक यह संवाद अति महत्त्व का है, जिससे मन का शोक-सन्ताप [सदा के लिए] समाप्त हो जाता है और आत्मस्वरूप की स्मृति प्राप्त हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय: ॥२॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

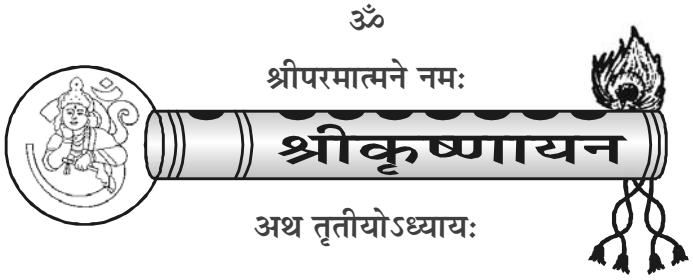

अथ तृतीयोऽध्यायः

अहो आश्चर्यमाश्चर्यम्॥
बहिरन्तश्च भूतानां यः ऊर्ध्वं अधः व्याप्तम्।
तं कृष्णं पार्थ इच्छति प्रश्न दम्ना बन्ध विषमम्॥
बहिश्चान्तः तु यः जगतः पूर्वापरं जगच्चयः।
तं कृष्णं अगुण सगुणः विभुः जानति न का धर्मम्॥
सर्वभुवनान्सुसंहृत्य तथैव च पुनः स्त्रष्टुं।
शक्तः तं विभुं कृष्णं महाराजः नित्य अर्चम्॥

अहो! आश्चर्य है! आश्चर्य है! जो समस्त भूतों के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सर्वत्र व्याप्त हैं; उन्हीं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को भक्त अर्जुन अपनी प्रश्नरूपी रस्सी से बाँधना चाहते हैं। जो जगत के भीतर-बाहर व्याप्त हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व एवं प्रलय के पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं, जो सगुण भी हैं एवं निर्गुण भी हैं, उन भगवान नारायण को महात्मा अर्जुन इस रूप में पहचान नहीं पा रहे हैं, उनका यह कैसा धर्म (व्यवहार) है? जो [अपनी योगमाया से] समस्त भुवनों का संहार करके पुनः वैसी ही रचना करने की सामर्थ्य रखते हैं, उन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की महाराज नित्य वन्दना करता है।

दोहा— कर्मयोग अरु ज्ञान पथ सुनि अर्जुन हरषाहिं।
पर उर अंतर भ्रम अबहुँ यासों पुनि बिकलाहिं॥ (क)॥

इस प्रकार [भगवान के द्वारा] ज्ञानयोग और समत्वयोग (कर्मयोग) की परिभाषा सुनकर महात्मा अर्जुन प्रसन्न तो हो रहे हैं किन्तु अभी भी हृदय में कुछ भ्रम होने से पुनः चिन्तित हुए जा रहे हैं।

कबहुँ निरखि गांडीव तर कबहुँ गगन महँ बीर।
कबहुँ निरखि हरि मुखकमल पार्थ होहिं गम्भीर॥ (ख)॥

महावीर अर्जुन कभी तो गाण्डीव की तरफ देख रहे हैं तो कभी अन्तरिक्ष की ओर और कभी भगवान के मुखकमल की ओर देखकर अत्यन्त गम्भीर हो जाते हैं।

कबहुँ चितव गुरु भीष्म सन कबहुँ कृपाहु बिकर्ण।
कबहुँ चितव दुर्योधनहिं कबहुँ सिबिर महँ कर्ण॥ (ग)॥

वे कभी आचार्य द्रोण को तो कभी पितामह भीष्म, कृपाचार्य एवं विकर्ण को और कभी दुर्योधन की ओर देखकर शिविर में बैठे हुए कर्ण को देखने लगते हैं।

दीन दसा महँ लखि सबहिं पुनि उपज्यो मन मोह।
सोचत उर सों काहि बिधि जाय स्वजन कर छोह॥ (घ)॥

उन सभी को दीन-दशा में देखकर उनके मन में [भगवान के उपदेश से गया हुआ] मोह पुनः प्रकट हो गया। वे सोच रहे हैं कि स्वजनों के प्रति होने वाला यह मोह हृदय से कैसे जायेगा!

धरि धीरज पुनि उठि गहे परम कृपालुहिं पाँव।
देइ उतर इक हरहु भ्रम प्रभु नहिं लग मम दाँव॥ (ङ)॥

इतने में ही उन्होंने पुनः [अपने आसन से] धैर्यपूर्वक उठकर परम कृपालु भगवान के चरण पकड़ लिये और कहा- हे प्रभो! आपके पास मेरा दाँव नहीं लगेगा, अतः आप एक प्रश्न का उत्तर देकर मेरे भ्रम का समाधान करें।

चौपाई— महत ज्ञान यदि तुव मत साईं। पुरुष श्रेय जेहिं माहिं सदाईं॥
पुनि क्यों घोर करम करवावहु। असुभ धरम महँ काह लगावहु॥

हे नाथ! यदि आपके अनुसार ज्ञान ही श्रेष्ठ है जिसमें मानवमात्र का सदा कल्याण छिपा हुआ है तो आप यह घोर (दुर्धर्ष) कर्म करने को बाध्य कर मुझे अशुभ धर्म में क्यों लगा रहे हैं?

करइ स्वजन बध तांत्रिक कबहूँ। तामस तंत्र सिद्ध कर जबहूँ॥
कंस कियो भानज बध ऐसो। पुनि यह धर्मयुद्ध कहु कैसो॥

ऐसा अशुभ अघोरियों जैसा स्वजन वधरूपी कर्म तो कभी कोई तांत्रिक ही करता है जब उसे कोई तामस तंत्र सिद्ध करना होता है। जैसा कि कंस ने ऐसा ही घोर कर्म किया था जिसमें वह भानजों का वध करता गया, फिर आप ही बतायें कि यह धर्मयुद्ध कैसे है?

माता पिता पुत्र प्रिय भ्राता। निज तिय मित्र गुरू अरु धाता॥
इनसों बात पहेली ऐसी। कियो न जाय किये तुम्ह जैसी॥

हे स्वामी! माता, पिता, पुत्र, पत्नी, प्रिय भाई, मित्र, गुरु और अपना पालन-पोषण करने वाला- इन सबसे ऐसी पहेली बुझाने जैसी बात नहीं करनी चाहिए, जैसी आपने अब तक की है।

मिश्रित बात बिपक्षी कहहीं। जब निज सत्रुहिं घेरन चहहीं॥

मिश्रित बात तो वैरी कहा करते हैं जब वे अपने शत्रु को घेरना चाहते हैं।

दोहा— मिश्रित बात न करहु तुम्ह मोरी दसा बिचारि।
मिश्रित बात सों मरउँ मैं तव हिय हरष अपारि॥ १॥

अत: मेरी दशा को देखते हुए कृपया आप मिली-जुली बातें न करें। अरे! मैं तो मिश्रित बातों से मरा जा रहा हूँ और आपका हृदय अत्यन्त हर्षित हो रहा है।

चौपाई— मिश्रित करत बिदूषक बाता। करे योइ बहुरुपिया ताता॥
मिश्रित बात परीक्षक करहीं। गुनि अवगुनी पुरुष निरवरहीं॥

हे पूज्य! मिली-जुली बात तो हास-परिहास करने वाले विदूषक किया करते हैं तथा बहुरूपिया भी ऐसा ही करता है एवं गुणी और अवगुणी पुरुष का विभाग करते समय परीक्षक भी मिश्रित बात करते हैं।

मिश्रित बात करत कोउ तबहीं। अवसर आय ब्यंग कर जबहीं॥
मिश्रित बात सभा बिच बोले। दूत आइ सहसा नृप तोले॥

जब व्यंग करने का अवसर आता है तभी कोई [सज्जन पुरुष] मिश्रित बात करता है, वैसे ही सभा के बीच [बैठे हुए राजा के पास] सहसा कोई दूत आकर मिश्रित बातों द्वारा कोई गुप्त तथ्य बताता है जिसे राजा समझ लेता है।

मिश्रित बात हास परिहासा। करहिं सबहि लखि अवसर पासा॥
पर न इहाँ अवसर कोउ ऐसो। मिश्रित बचन कहहु तुम्ह जैसो॥

उसी प्रकार हास-परिहास का अवसर देखकर तो सभी मिश्रित बात कहते हैं, परन्तु यहाँ पर तो ऐसा कोई अवसर है ही नहीं, जिससे आप मिश्रित बात कहें!

यासों कहउ श्रेय कर मारग। जेहि प्रतिपालउँ तजउँ कुमारग॥
प्रेय मार्ग मोको नहिं भावत। मूढ़ सबहिं जेहि लाने धावत॥

इसलिए आप मुझसे श्रेय (मोक्ष) मार्ग को स्पष्ट करें जिसका पालन कर मैं कुमार्ग का त्याग कर सकूँ। जिसकी प्राप्ति के लिए मूर्ख प्रयत्न में लगे रहते हैं वह प्रेय (स्वर्ग) मार्ग तो मुझे अच्छा नहीं लगता।

दोहा— मिश्रित बचन कहउ सदा अबलौं देख्यो जाय।
यह अस लागत सच कहउँ कोउ पहेलि बुझाय॥ २॥

हे माधव! अब तक देखा गया है कि आप निरन्तर मिले-जुले वचनों को ही कहते आ रहे हैं। मैं सच कहता हूँ- यह ऐसा प्रतीत होता है, मानो आप कोई पहेली बुझा रहे हों।

चौपाई— मिश्रित बात सपन महँ दीखे। जनु कोउ देव पहेली लीखे॥
मिश्रित बात करे कोउ संकर। यासें तेहि की बात न कोउ कर॥

ऐसी मिली-जुली बातें [एवं दृश्य] तो स्वप्न में ही दिखती हैं जैसे कोई स्वप्नदेवता पहेली लिख रहा हो। मिश्रित बात तो कोई वर्णसंकर ही करता है; इसी से उसकी बात को कोई महत्त्व नहीं देता।

मिश्रित बात सदा सों गावहु। मोसों अस करि का तुम्ह पावहु॥
मूढ़ बनावन हित मैं एको। अपर न कोउ का तुम्ह कहँ टेको॥

आप सदा से मिश्रित बातें ही करते आ रहे हैं, मुझसे ऐसा करके आपको क्या मिल रहा है ? क्या मूर्ख बनाने के लिए आपको एक मैं ही मिला, कोई दूसरा नहीं!

कहत संत मुनि तुम्हहिं जनार्दन। काहे बनन चहउ जनमर्दन॥
ज्ञान कर्म महँ बर जो होवे। कहहु ताहि जन संसय खोवे॥

सन्त एवं मुनिगण आपको जनार्दन कहते हैं किन्तु आज आप भक्त का मर्दन करने वाले क्यों बनना चाहते हैं ? अत: ज्ञान और कर्म में जो यथार्थत: श्रेयस्कर हो उसे बतावें, जिससे आपके इस भक्त का संशय मिट जाय।

अस कहि कहि हरि कहँ अपमानत। महाराज चित महँ यह आनत॥
कहेउ न प्रभु कोउ मिश्रित बानी। भारत कह अस पुनि का जानी॥

[हे साधको एवं सन्तो!] ऐसा कह-कहकर वे भगवान का अपमान कर रहे हैं। महाराज के मन में आया कि भगवान ने तो मिश्रित बात कही ही नहीं फिर महात्मा अर्जुन ऐसा क्यों कह रहे हैं ?

न हि कोउ पुरुष जो उपरि बखानें। निर्गुन ब्रह्म संत सब जानें॥
कृपा दया करुना कर सागर। सरनागत रक्षक नय नागर॥

और न ही भगवान पूर्वोक्त पुरुषों में से कोई पुरुष ही हैं, बल्कि वे तो साक्षात् निर्गुण-निराकार ब्रह्म हैं जिसे सभी सन्त जानते हैं। वे कृपा, दया तथा करुणा के सागर, शरणागत रक्षक एवं अत्यन्त नीति कुशल हैं।

दोहा— अचरज जगहित करत जो परमारथ दिन रात।
पार्थ स्वार्थ रत तिन्हहिं सों करत अनैसी बात॥ ३॥

आश्चर्य की बात है कि जो प्रभु दिन-रात संसार के कल्याण के लिए परमार्थ किया करते हैं, उन्हीं से अपने स्वार्थ में लगे रहने वाले भक्त अर्जुन उलटी-सीधी बात कर रहे हैं।

चौपाई— अस सुनि सिद्ध संत मुनि नारद। ब्यास मुनिहु बिज्ञान बिसारद॥
अतिहिं चकित चित मन महँ खिंदहिं। करि बहु बिनय प्रभुहिं अभिनंदहिं॥

अर्जुन द्वारा ऐसा सुनकर आश्चर्यचकित हो सिद्ध, सन्त, मुनिवर नारद एवं विज्ञान वेत्ता महर्षि व्यास मन ही मन खिन्न हो गये और नाना प्रकार से प्रार्थना करते हुए भगवान नारायण का अभिनन्दन करने लगे।

महाराजहू मन कछु खेदा। बूझहिं धीर न हरि कर भेदा॥
मन आयो अस कहैं न साधक। जो प्रभु सम सदगुरु अवराधक॥

[अर्जुन के ऐसे व्यवहार से] महाराज के मन में भी कुछ दु:ख तो लग ही गया है कि धैर्यवान अर्जुन भगवान नारायण के कथन का रहस्य नहीं समझ पा रहे हैं। अत: मन में विचार आया कि जो साधक सद्गुरु को ब्रह्म समझकर उनकी आराधना करते हैं, वे ऐसा न कहें।

भलेहि न सदगुरु मन दुख मानइ। किंतु प्रकृति सब कछु पहिचानइ॥
कहुँ सो होय दुखित उर माहीं। तौ साधन पथ बिघन कराहीं॥

[ऐसा करने पर] भले ही सद्गुरु के मन में दु:ख न लगे परन्तु उनकी प्रकृति (ईश्वरीय मायाशक्ति) तो सब कुछ जानती है; कहीं वह मन में दु:खी हो गयी तो साधन पथ में बाधा खड़ी कर देगी।

भलो भयो अस प्रस्न जो कीन्हें। सत बस्तुहिं जगतहिं ये दीन्हें॥
पर सच प्रस्न की रीति न ऐसी। पार्थ प्रभुहिं सन कीन्हीं जैसी॥

यद्यपि अच्छा ही हुआ जो [भक्त अर्जुन ने] यह प्रश्न किया, जगत को इन्होंने सद्वस्तु तो प्रदान की; परन्तु

यथार्थ में सद्गुरु से प्रश्न करने की यह [मर्यादित] विधि नहीं है, जैसा कि महात्मा अर्जुन ने भगवान से किया है।

दोहा— होत कोउ यदि भगत इहँ बिनय सील गुनवंत।
तब कहतो सो पुनि सकृत याहि कहउ भगवंत॥ ४(क)॥

[उनके स्थान पर] यदि यहाँ कोई विनम्र, शीलवान, गुणवान भक्त रहता तो कहता कि हे प्रभु! इसे एक बार पुनः कहें [पुनः एक बार इस ज्ञानगंगा को बहा दें]।

ज्ञान कर्म बिलगाइ प्रभु इनि दोउनि महँ श्रेष्ठ।
को है सो मम हित कहउ जानन चहउँ यथेष्ठ॥ ४(ख)॥

हे जगत्पते! ज्ञानयोग और कर्मयोग को पृथक् करके बतायें कि इन दोनों में मेरे लिए कौन श्रेष्ठ है; क्योंकि अब मैं उसे भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

चौपाई— मानहु दुख नहिं दीनदयाला। मोह ग्रसित भइ बुद्धि कृपाला॥
स्वजन माहिं मम चित अनुराता। यासों पकरि न पायों बाता॥

हे दीनों पर दया करने वाले! आप [मेरे पूछने का] दुःख न मानें, क्योंकि हे कृपालु! मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो गयी है, स्वजनों में ही मेरा मन लगा हुआ है, अतः मैं आपकी बात को [यथार्थ रूप में] ग्रहण नहीं कर पाया।

ऐसो ज्ञान सुधासम माधव। अबलौं कोउ न गायो साधव॥
बार बार तुम्हरें पग लागउँ। कहउ मरम तुम्हसों अनुरागउँ॥

हे माधव! अब तक किसी भी सन्त ने ऐसा अमृतमय ज्ञान नहीं दिया है। अतः आपके चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ; अब आप उसी मर्म को बतायें जिससे आप में ही मेरा नित्य प्रेम हो।

उत संजय धृतराष्ट्र सुनाये। मिश्रित बात प्रस्न कहि गाये॥
नृप कह खीझि कुंतिसुत मूरख। रंचमात्र नहिं हृदय ज्ञान रख॥

उधर सञ्जय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन का प्रश्न और मिश्रित बातों से युक्त उलाहना सुना दी। तब धृतराष्ट्र ने चिढ़कर कहा कि सञ्जय! अर्जुन कैसा मूर्ख है, वह थोड़ा भी विवेक नहीं रखता।

काह करै कोउ काह सुनावे। जब तेहि मति महँ समझ न आवे॥

अरे! कोई कर ही क्या सकता है और कोई क्या सुना सकता है जब उसकी बुद्धि समझ ही नहीं पा रही है!

दोहा— कृष्ण कहहिं स्पष्ट सब ज्ञान महत कर होय।
समुझ आय बुद्धिहिं सहज पार्थ सुनइ जनु सोय॥ ५॥

श्रीकृष्ण तो सर्वथा स्पष्ट ही कह रहे हैं कि कर्मयोग से ज्ञानयोग अति श्रेष्ठ है, यह बुद्धि को सहज ही समझ में आ रहा है; किन्तु लगता है अर्जुन सोकर सुन रहा है।

चौपाई— श्रेष्ठ न यदि होतो संन्यासी। तौ पुजाय नहिं जस सिव कासी॥
अस जानइ जग मूरख छोरा। पुनि यह भयो आज कस भोरा॥

[सञ्जय!] यदि संन्यासी श्रेष्ठ नहीं होता तो वह काशी विश्वनाथ के समान नहीं पूजा जाता। अरे! यह तो जगत का एक मूर्ख बच्चा भी जानता है, फिर अर्जुन आज ऐसा मूर्ख कैसे हो गया!

तहुँ जानत कोउ सुत हरि लाने। गृह तजि चलत साधु के बाने॥
पिता पितामह तेहि दिन सोई। पितामही अरु ताऊ जोई॥

ऐसा तो तुम भी जानते हो कि कोई पुत्र जब भगवत् प्राप्ति के निमित्त घर का परित्याग कर साधु वेश में वन को चल देता है, तो उसी दिन से उसके पिता, पितामह, दादी, ताऊ आदि जो कहे जाते हैं वे-

पूजनीय बर औरउ कोऊ। सगे सनेहि जननि महँ जोऊ॥
करहिं दंडवत ताकहँ धाई। करन चहिय अस सास्त्रहु गाई॥

और सगे-सम्बन्धियों माताओं में जो भी पूजनीय होती हैं, वे भी बड़े प्रेमपूर्वक उसे दण्डवत् प्रणाम करती हैं, ऐसा करने के लिए शास्त्रों ने भी कहा है।

नहिं राजन नहिं आपु न जानहु। अपुनें कहँ बस ज्ञानी मानहु॥
आपु चहउ तजि राज उदासी। होवे अर्जुन कब संन्यासी॥

तब सञ्जय ने कहा- नहीं राजन्! नहीं, आप नहीं जानते हैं, बस अपने को अत्यन्त ज्ञानी समझ बैठे हैं। आप तो चाहते हैं कि अर्जुन कब घर-बार का परित्याग कर उदासीन हो संन्यासी बन जाय-

दोहा— जेहिसों निष्कंटक बने सुतन्ह राज सब भाँति।
मिटइ रार बहु दिनन्ह कर उर होवे अति साँति॥ ६॥

जिससे आपके पुत्रों का राज्य भलीभाँति निष्कण्टक हो जाय तथा बहुत दिनों का कलह मिट जाय और आपके हृदय को शान्ति मिल जाय।

चौपाई— एक समय एक सुअन नरेसा। जानन चह्यो सेष कर सेसा॥
तेइ हित जाइ मातु पग लागी। बिपिन गमन हित आयसु माँगी॥

हे राजन्! एक बार एक पुत्र ब्रह्म को जानना चाहता था। उसके लिए उसने माँ के चरणों में प्रणाम कर वन जाने की आज्ञा माँगी।

पर बिस्वास न होय जननि को। कस बन जोग जे गाँव धरनि को॥
कबहुँ न देख्यो पर्बत माला। जहँ गज सिंह फिरहिं बहु ब्याला॥

परन्तु माँ को विश्वास नहीं हो रहा था कि मेरा बेटा वन जाने योग्य है; क्योंकि यह गाँव की धरती पर रहने वाला है। इसने कभी पर्वत मालाओं का दर्शन भी नहीं किया है, जहाँ हाथी, सिंह तथा अनेक प्रकार के सर्प विचरण करते रहते हैं।

बोली माँ तब सुनु मम लाला। रहइ घरहु बन सम प्रतिपाला॥
जग महँ सर्बब्याप्त बिभु जोई। का गृह दरसन देइ न सोई॥

अत: माँ ने कहा- हे मेरे लाल! सुनो, सबकी रक्षा करने वाला भगवान इस जगत के अन्तर्गत घर और वन में सर्वत्र एक समान व्याप्त होकर स्थित है, क्या वह घर में दर्शन नहीं देगा?

कह्यो सुअन जननी सच कहई। घर बन प्रभु जस मम उर अहई॥
पर मोहिं कहाँ मिलेगो साईं। एहि निर्नय कर गुरू सदाईं॥

पुत्र ने कहा- माँ! तुम सच कह रही हो, भगवान जैसे घर-वन में रहता है वैसे ही मेरे हृदय में भी विद्यमान है, परन्तु वह मुझे कहाँ प्राप्त होगा, इसका निर्णय सदा सद्गुरु ही करते आये हैं।

दोहा— नृप उतानपादहु कहे सुत सों तुव अनुसार।
तब ध्रुव कह जो गुरु कहेउ सो मत सब कर सार॥ ७॥

हे माँ! राजा उत्तानपाद ने भी [अपने पुत्र भक्त ध्रुव से] ऐसा ही कहा था। तब भक्त ध्रुव ने यही कहा था कि [पिताजी!] जो मेरे सद्गुरु ने कहा है, [मेरे लिए तो] वही मत यथार्थ है।

चौपाई— मम गुरुदेव देवऋषि नारद। त्रिकालग्य बिज्ञान बिसारद॥
उननैं मधुबन मोहिं पठायो। मैं जस हौं तस साधन गायो॥

मेरे गुरुदेव देवर्षि नारद सर्वज्ञ, आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक- समस्त ज्ञानों में अत्यन्त पारंगत हैं, उन्होंने मुझे मधुवन में जाने के लिए कहा है और मैं जैसी योग्यता वाला हूँ, वैसे ही योग, जप आदि साधनों का भी उपदेश कर दिया है।

मातु सुनीति मोरि अस भाष्यो। मिथ्या मोह हृदय महँ राख्यो॥
पुनि इनि बातन्ह पर मैं माता। क्यों जाऊँ गृह अहइ बिधाता॥

मेरी माता सुनीति ने भी ऐसा ही कहा है, उसने झूठे मोह को अपने हृदय में ही रहने दिया [बाहर नहीं आने दिया]। अत: हे माता! मैं आपकी इन बातों पर क्यों जाऊँ कि घर में ही भगवान है।

बहु भगतन्ह हित हरि गृह आये। पर गृह श्रेष्ठ न तेउ बताये॥
तस बन जाइ बिपुल संन्यासी। जप तप करि पाये अबिनासी॥

[पुनः सञ्जय ने कहा- हे राजन्!] बहुत से भक्तों के लिए भगवान गृहस्थाश्रम में भी अवतरित हो चुके हैं परन्तु उन्होंने भी यह नहीं कहा कि गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है। वैसे ही बहुत-से संन्यासियों ने वन-प्रदेश में जाकर जप-तप करके अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त किया।

उननेउँ बिपिन श्रेष्ठ नहिं गाये। सुलभ ब्रह्म गुरु कृपा बताये॥
यासों श्रेष्ठ अश्रेष्ठ कहानी। कोउ का कहइ न जाइ बखानी॥

परन्तु उन्होंने भी वन को श्रेष्ठ नहीं कहा बल्कि ब्रह्म प्राप्ति सद्गुरु की कृपा से ही अत्यन्त सुलभ है ऐसा बताया है। इसलिए [ज्ञानयोग और कर्मयोग में] श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की कहानी कोई क्या कह सकता है; क्योंकि [यथार्थ में] कुछ कहते तो बनता नहीं।

दोहा— महत ज्ञान गुरु सिष्य कर अबहिं सुनहु धरि ध्यान।
मनन करहु मन गहहु हिय खीझहु नाहिं सुजान॥ ८॥

इसलिए हे बुद्धिमान! आप केवल अब इन गुरु और शिष्य के दिव्य ज्ञान को ध्यानपूर्वक सुनें, मन से मनन करें एवं हृदय में धारण करें, खीझें नहीं।

चौपाई— राजन गूढ़ मरम हरि गावहिं। ज्ञान करम दोउ महत बतावहिं॥
किंतु अहइ को निज हित श्रेष्ठा। काहे कस अस सुनहु यथेष्ठा॥

अतः हे राजन्! गूढ़ रहस्य बताते हुए भगवान कह रहे हैं कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग दोनों श्रेष्ठ हैं किन्तु अपने लिए कौन, किसलिए और किसप्रकार श्रेष्ठ है- इसे आप भली प्रकार सुनें।

ऐसो प्रस्न करइ जो जाग्यो। आपु सुते अस मम मन लाग्यो॥
श्रेष्ठ ज्ञान जो सच महँ जानहु। तौ गृह प्रजा स्वजन क्यों ध्यानहु॥

ऐसा प्रश्न तो वही कर सकता है जो जगा हुआ है। मेरे मन में ऐसा लग रहा है कि आप ही सोये हुए [सुन रहे] हैं। यदि आपने यथार्थ में जान लिया है कि ज्ञान ही श्रेष्ठ है, तो घर-बार, प्रजाजनों और स्वजनों के ध्यान में क्यों रत हैं [इनके बीच में क्यों रह रहे हैं]?

क्यों न जाहु बन नृप गृह त्यागी। जहाँ जाहिं सब बिमल बिरागी॥
गुरु पद बंदि करत प्रभु ध्याना। अस करि पावत निर्मल ज्ञाना॥

[आप स्वयं] घर-बार का परित्याग करके वन प्रदेश में क्यों नहीं चले जाते हैं, जहाँ निर्मल वैराग्यवान साधक जाकर सद्गुरु के चरणों की वन्दना करते हुए भगवान का ध्यान करके निर्मल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं-

जासे यह जग अजग सुधरतो। अंत समय निर्बानहिं धरतो॥
जरा अवस्था हित यहि धरमा। चतुर नृपति कीन्हें अस करमा॥

जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधर जाता और अन्त काल में आप मोक्षपद प्राप्त कर लेते। वृद्धावस्था के लिए तो यही धर्म है, बहुत-से बुद्धिमान राजाओं ने भी ऐसा ही किया है।

दोहा— चतुर सिरोमणि पुरुष जे जग अस बास कराहिं।
बृद्ध भये गृह राज तजि प्रभु हित कानन जाहिं॥ ९॥

हे राजन्! जो बुद्धिमान पुरुषों में सिरमौर हैं, वे इसी प्रकार जीवन-यापन करते हुए जगत में वास करते हैं तथा वृद्धावस्था आने पर घर-बार का परित्याग कर भगवत्प्राप्ति के निमित्त वन में चले जाते हैं।

चौपाई— मौन भये नृप कछु नहिं बोलैं। जनु निज बल मन महँ बहु तोलैं॥
इत प्रभु पार्थ बेदना जानहिं। पर निज उर कछु खेद न आनहिं॥

[सञ्जय द्वारा ऐसा सुनकर] राजा धृतराष्ट्र मौन हो गये और [उनकी ऐसी जिह्वा कटी कि] कुछ भी बोल नहीं पाये। मानो मन ही मन अपनी सामर्थ्य को भलीभाँति तौल लिये हों। इधर भगवान के हृदय में महात्मा अर्जुन की वेदना को देखकर अंश मात्र भी दुःख नहीं हुआ-

अपितु कृपालु सुधा सम बानी। कहन लगे सरनागत जानी॥
पार्थ रच्यों जब सृष्टि अनूपा। साधन दियों पुरुष अनुरूपा॥

बल्कि परम कृपालु भगवान उन्हें (भक्त अर्जुन को) अपनी शरण में आया हुआ जानकर अमृतमय वचन कहने लगे- हे पार्थ! जब मैंने इस अनुपम सृष्टि की रचना की तभी पुरुषों की शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार साधना भी दे दी।

राजस पुरुष करम अधिकारी। सात्विक ज्ञान धरम अबिकारी॥
कीन्हों मैं यह ऐसो भेदा। कफ पितादि जस मनुज बिभेदा॥

उनमें राजसी पुरुष शास्त्रीय कर्म के अधिकारी हुए और सात्त्विक पुरुष निर्विकार ज्ञानयोग के। यह भेद मैंने ऐसा ही किया है जैसा कफ, पित्त आदि प्रकृति वाले पुरुषों में भेद है।

वात प्रकृति कर खाद्य न ऐसो। कफ अरु पित्त प्रकृति कर जैसो॥
बस्त्र बरण जिमि बिबिध प्रकारा। धवल हरित पितादि रतनारा॥

वात प्रधान प्रकृति वाले पुरुष का खाद्य-पदार्थ ऐसा नहीं होता जैसा कफ और पित्त प्रधान प्रकृति वाले का होता है। जैसे वस्त्रों के रंग सफेद, हरे, पीले तथा लाल आदि नाना प्रकार के होते हैं,

तिन्ह महँ जो जस तस तेहि भावत। पहिरि सो बस्त्रहिं सोभा पावत॥

उनमें जो जिस प्रकृति का होता है उसे वही वस्त्र प्रिय लगता है तथा वह वैसा ही पहनकर शोभा पाता है।

दोहा— ज्ञानिन्ह भावत ताहि बिधि ज्ञानयोग सिद्धांत।
कर्मयोगि तस करम गहि होहिं न जग आक्रांत॥१०॥

उसी प्रकार ज्ञानियों को ज्ञानयोग का ही सिद्धान्त प्रिय लगता है तथा कर्मयोगी कर्मयोग को ग्रहणकर जगत में भयभीत नहीं होते।

चौपाई— देख्यो जाय जगत जे जागे। तिन्ह महँ द्वै नर हरि पथ रागे॥
उनमहँ एक करम अनुरागी। अपर जगत सों सहज बिरागी॥

जगत में ऐसा देखा जाता है कि जो सजग हैं, उनमें दो प्रकार के पुरुष भगवत् पथ में अनुराग रखने वाले हैं। उनमें एक कर्म के प्रति अनुराग रखने वाले हैं तथा दूसरे संसार के प्रति सहज भाव से ही वैराग्यवान होते हैं।

इक गृह काज करत कुसलाई। रहत सजग नहिं मन चपलाई॥
अपर बेद सास्त्रन्हि स्वाध्याई। जप तप योग कुसलता पाई॥

उनमें से एक गृहस्थाश्रम में अति कुशलता एवं सजगता के साथ कर्म करते हैं जिससे मन की चंचलता जाती रहती है और दूसरे वेद एवं शास्त्रों के स्वाध्यायी होते हैं जिससे उन्हें जप, तप, योग में कुशलता [सहज ही] प्राप्त हो जाती है।

करि एक यासेइ जग सत कर्मा। हरिहिं समर्पहिं पालि स्वधर्मा॥
अपर बेद पढ़ि बनि संन्यासी। होहिं जगत सों नित्य उदासी॥

इसलिए इस जगत में एक (कर्मयोगी) शास्त्रीय कर्मों को कुशलता के साथ करके अपना स्वधर्मरूपी कर्म ब्रह्म को समर्पित कर देते हैं तथा दूसरे (ज्ञानयोगी) वेदाध्ययन करके संन्यासी बनकर जगत से सर्वथा उदासीन हो जाते हैं।

कर्म ग्रहण इक कुशल कहावें। अपर त्याग महँ दक्ष लखावें॥
कर्म ग्रहण महँ प्रिय तुव जैसो। लखुँ न एहि छन कोउ जग ऐसो॥

एक [भगवदर्थ] कर्मों को ग्रहण करने में कुशल होते हैं तो दूसरे कर्मों के त्याग में दक्ष देखे जाते हैं। हे तात! मैं इस समय ब्रह्मकर्म को ग्रहण करने में तुम्हारे जैसा कुशल जगत में किसी अन्य को नहीं देख रहा हूँ।

दोहा— यासों जगहित स्वजन बध करहु कहउँ मैं आज।
पाप न लागइ तुम्हहिं कछु सिद्ध होय मम काज॥११॥

इसीलिए मैं तुमसे कह रहा हूँ कि जगतहितार्थ आज स्वजनों का वध करो, ऐसा करने से तुम्हें कुछ भी पाप नहीं लगेगा और मेरा प्रयोजन भी सिद्ध हो जायेगा।

चौपाई— मेरोहि नियम न अर्जुन ऐसो। करत जगत सब मेरो जैसो॥
जाहि करम लायक सुत जोई। देहिं मातु पितु हर्षित सोई॥

हे अर्जुन! यह कोई मेरा ही नियम नहीं है बल्कि सारे जगत के लोग भी मेरे जैसा ही करते हैं। जो पुत्र जिस कर्म के योग्य होता है, माता-पिता प्रसन्नता के साथ उसे वैसे ही कर्म में लगाते हैं।

धनुबिद्या तुम्हरें मन भायी। यासें तव गुरु ताहि सिखायी॥
भीमहिं गदा युधिष्ठिर भाला। सीखि भये जग कालहिं काला॥

[तुम अपने को ही देखो] तुम्हें धनुर्विद्या हृदय से प्रिय थी, अत: आचार्य द्रोण ने तुम्हें उसी की शिक्षा प्रदान की। उसी प्रकार भीम को गदा तथा युधिष्ठिर को भाला ही प्रिय था जिसे सीखकर वे जगत में काल के भी काल बन गये।

कोउ सुत क्रीड़ा सों धन करई। अपर करम झंझट नहिं परई॥
नाचि गाइ कोउ जगत रिझाई। बहु सम्पति पावत हरषाई॥

कोई पुत्र होता है कि खेल-कूदकर ही अपार सम्पत्ति का संग्रह कर लेता है, वह अन्य कर्मों के झंझट में नहीं पड़ता। वैसे ही कोई नृत्य-संगीत के माध्यम से जगत को रिझाकर प्रसन्नतापूर्वक अपरिमित सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है।

कृषि गोपालन भावत कोई। अपर करम चित देइ न सोई॥
अस सब निज जीवनहिं बितावत। रुचि अनुरूप जगत महँ धावत॥

उसी प्रकार किसी का मन अन्य कर्मों में न लगकर खेती और गोपालन में ही रमता है। इस प्रकार सभी अपनी रुचि के अनुरूप ही बरतते हुए जगत में जीवन व्यतीत करते हैं।

छंद— जेहि भाँति सब पितु मातु अपुनें सुतन्ह की रुचि देखहीं।
बिनु झिझक सहज सुजान करम बिधान उनकहँ टेकहीं॥
तैसे करउँ महुँ तात दोउन्ह भगत पथ बिलगावऊँ।
उन्हके समर्पित कर्म सों उर माँहि अति हरषावऊँ॥

हे पार्थ! जिस प्रकार बुद्धिमान माता-पिता सहज ही अपने पुत्रों की अभिरुचि देखकर बिना झिझक के उनके लिए वैसे ही कर्म का विधान कर देते हैं। हे तात! उसी प्रकार मैं भी दोनों प्रकार के भक्तों के मार्ग को [उनकी अभिरुचि के अनुसार] पृथक् कर देता हूँ तथा उनके द्वारा समर्पित कर्म से हृदय में अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ।

दोहा— लह नैष्कर्म्य समाधि नहिं कबहुँ करम बिनु कोइ।
ज्ञान बिना कर्मन्हि तजे ज्ञान सिद्धि नहिं होइ॥ १२ (क)॥

जैसे कोई पुरुष [यज्ञभाव] से कर्म किये बिना कर्मशून्य स्थिति [अर्थात् समशान्त स्थिति] को नहीं प्राप्त कर सकता है, वैसे ही बिना ज्ञान के एकमात्र कर्मों का त्याग करने से परम ज्ञानरूपी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आत्मरूपता कहँ कहैं बर नैष्कर्म्य समाधि।
करमसून्य गति आतमा नाम रूप सु उपाधि॥ १२ (ख)॥

आत्मरूपता की स्थिति ही अतिशय श्रेष्ठ नैष्कर्म्य समाधि कही जाती है, जो कर्मशून्यता है वही आत्मरूपता है; नाम-रूप तो एकमात्र उपाधि है।

चौपाई— लगइ पाँव कंटक जब भारी। लेइ अपर तब देत निकारी॥
तिमि यज्ञादिक कर्मन्ह धारी। संचित मूल सों देत उपारी॥

जिसप्रकार पैर में काँटा लग जाने पर दूसरा काँटा लेकर उसे निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार यज्ञादिक कर्मों का आश्रय लेकर संचित कर्मों को समूल नष्ट कर दिया जाता है।

संचित करम रहत उर जबलौं। काम नसाएगो नहिं तबलौं॥
पको घाव जिमि देवे चीरा। निकरति पीब जाति सब पीरा॥

[हे पार्थ!] जब तक चित्त में संचित कर्म है तब तक कामनाओं का नाश नहीं होगा। जैसे पका हुआ फोड़ा चीर दिया जाय तो मवाद निकल जाने से सारी पीड़ा जाती रहती है-

काम घाव यदि चित पकि जावे। करम चीर बिनु नाहिं नसावे॥
तब गहि कर्मयोग दै चीरा। जासे जाय काम मद पीरा॥

वैसे ही यदि चित्त में स्थित सम्पूर्ण कामनारूपी घाव पक गया है तो वह बिना निष्काम कर्मयोगरूपी चीरा लगाये नष्ट नहीं होगा। इसलिए कर्मयोग धारण कर उस [संचित कर्म] में चीरा लगावें जिससे काम के अहंकार की पीड़ा चली जाय।

करे काह कोउ करम अरम्भा। जब न हृदय कामादिक दम्भा॥
बिनहिं प्रयास ज्ञान की गंगा। बहति रहति पुनि चित्त अभंगा॥

जब हृदय में काम, क्रोध, लोभ तथा दम्भादिक शत्रु होंगे ही नहीं तो कोई कर्म क्यों करेगा फिर तो बिना प्रयास के ही चित्त में ज्ञानरूपी गंगा अखण्ड बहती रहेगी-

जिहिं महँ मन नहाय दिन राती। ज्ञानसमाधि सों बुद्धि अघाती॥

जिसमें दिन-रात मन स्नान करता रहेगा और बुद्धि ज्ञान समाधि से अत्यन्त तृप्त होती रहेगी।

दोहा— आये बिनु गंतब्य कोउ चलनो छाँड़े नायँ।
तस कोउ करम न तजि सके निज स्वरूप बिनु पायँ॥१३(क)॥

जिसप्रकार कोई भी बिना अपने गन्तव्य को प्राप्त किये चलना नहीं छोड़ता उसी प्रकार अपने आत्मरूप को प्राप्त किये बिना कोई पुरुष कर्मों का त्याग कर ही नहीं सकता।

सोरठा— जबलौं जाय न चाह बरु सो होवे मुक्ति की।
तबलौं होइ अचाह करइ करम नित यज्ञमय॥१३(ख)॥

[हे तात!] जब तक [हृदय से] कामनाओं का लोप नहीं हो जाता, भले ही वह मुक्ति की ही कामना क्यों न हो, तब तक निष्काम होकर नित्य यज्ञमय कर्म करते रहना चाहिए।

चौपाई— कर्म सों बंधन योग सों मुक्ती। पाटकीट ते सीखहु जुक्ती॥
पाटसूत सो जबहिं बनावत। तहइँ बँधत कछु जान न पावत॥

सामान्य कर्मों [अर्थात् मन द्वारा किये गये कर्मों] से बन्धन और कर्मयोग [अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों] से मुक्ति होती है, इस युक्ति को रेशम के कीड़े से समझना चाहिए। जब वह रेशम के कोये (जाले) का निर्माण करता है तो उसी में बँधता जाता है, कुछ समझ नहीं पाता।

स्वयंहि फँस्यों जबहिं अस जानत। तउ उर लेस सोक नहिं आनत॥
अपितु तंतु सब छिन्न भिन्न करि। निकरत बाहर अति हुँकार भरि॥

जब वह जान जाता है कि मैं स्वयं ही फँस गया हूँ तो भी हृदय में लेशमात्र शोक को स्थान नहीं देता बल्कि समस्त तंतुओं को छिन्न-भिन्न करते हुए अत्यन्त हुंकार भरकर बाहर निकल जाता है।

बहुत मूल्य कर तंतु न जानत। अरु नहिं सोभामय पहिचानत॥
वाको परी मुक्त होवन की। तुम्हहिं मोह निसि महँ सोवन की॥

वह इसे महत्त्व नहीं देता कि यह तन्तु अत्यन्त मूल्यवान है और न ही उसे अत्यन्त शोभामय ही समझता है। उसे तो एकमात्र उससे मुक्त होने की पड़ी रहती है, किन्तु [हे पार्थ!] तुम्हें तो अभी भी एकमात्र मोहरूपी रात्रि में सोने की ही पड़ी है।

पाट तंतु सम स्वजन सनेहीं। पाट कीट इव फँसे तू एहीं॥
इन्हि अब काटि पीटि तुम्ह निकरौ। मोरें माथें फोरहु ठिकरौ॥

[तुम निश्चित ही यह जान लो कि] ये सगे-सम्बन्धी रेशम के तन्तुओं के समान हैं और तुम उनके बीच एक रेशम के कीड़े के समान स्वयं फँसे हुए हो। अत: [उठो!]अब इन तंतुओं को काटकर निकल जाओ और जगत में कह देना कि [मैंने तो कुछ किया नहीं, अपितु] सब कुछ कृष्ण ने ही किया और कराया है।

तब तजि राजहिं होइ बिरागी। जाहु बिपिन तुम्ह जग सों भागी॥
ज्ञानयोग सों पुनि तन तंतुहिं। काटि छाँटि तजु किंतु परंतुहिं॥

उसके उपरान्त राज्य का परित्याग कर वैरागी हो जगत का भी त्याग कर वन को चले जाना। फिर वहाँ ज्ञानयोग के द्वारा इस शरीररूपी तन्तु को काट-छाँटकर किन्तु-परन्तु (संशय एवं भ्रम) का परित्याग कर देना।

दोहा— देह गेह बिनु सांत सम होइ अगुन निर्दोष।
यति बनि नित बिचरहु जगत अहं ब्रह्म करि घोष॥१४॥

इस प्रकार बिना घर-बार के शरीर से सम-शान्त निर्दोष तथा निर्गुण रूप होकर पृथ्वी पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष करते हुए संन्यासी बनकर विचरण करना।

चौपाई— कह नृप संजय तव जगदीसा। जिनहिं बूझ तू ईसहु ईसा॥
ज्ञान कर्म दुइ मार्ग यथारथ। कहहिं पार्थ सों का इन्ह स्वारथ॥

राजा ने कहा- हे सञ्जय! तुम्हारे जगदीश जिन्हें तुम भगवान का भी भगवान समझते हो, वे अर्जुन से ज्ञान और कर्म दोनों को ही उचित मार्ग बता रहे हैं, इसमें इनका क्या स्वार्थ है?

सच नृप ज्ञान प्राप्ति कर हेतू। कर्मयोग होवे बस सेतू॥
करम सुतंत्र नाहिं कोउ काला। मोक्ष देइ सक जो कोउ हाला॥

हे नरेश! यथार्थ में परमज्ञान की प्राप्ति में कर्मयोग [स्वयं कारण नहीं बनता बल्कि] एकमात्र सेतु का कार्य करता है; क्योंकि कर्म किसी भी काल में स्वतन्त्र नहीं है जो किसी भी स्थिति में मोक्ष पद दे सके।

ज्ञान मुक्त तेहि देनै माहीं। संत कहत इहँ संसय नाहीं॥
ज्यों कोउ रथ सों यानहिं जावे। पुनि वासें गंतब्यहिं पावे॥

किन्तु मोक्ष देने में ज्ञान स्वतंत्र है संत कहते हैं कि इसमें संशय नहीं है। जैसे कोई पुरुष रथ द्वारा वायुयान तक पहुँचता है और पुनः उससे गन्तव्य तक पहुँच जाता है।

वायुयान कोउ मार्ग न चहई। नभ सों गमन ताहि कहँ अहई॥
तेहि मग बाधा नदी न नालो। नहिं गिरि औदक नीचो खालो॥

हे राजन्! वायुयान के लिए तो किसी मार्ग की आवश्यकता ही नहीं है उसके गमन के लिए तो आकाश ही मार्ग है। उसके मार्ग में न नदी है, न नाला है, न पर्वत है, न गड्ढा है और न ही ऊँचे-नीचे स्थान ही बाधक हैं।

एक समय रथ सों कै यानौ। होय जगत महँ आनौ जानौ॥

एक समय में रथ अथवा वायुयान में से किसी एक के द्वारा ही जगत में आना-जाना होता है [कर्म एवं ज्ञानयोग के विषय में भी ऐसा ही है]।

छंद— कालिन्दि जिमि सागर चलीं पर सुरसरी महँ आवईं।
जहँ नाम रूप बिहाय सोऊ देवसरि कहलावईं॥
तस करम पथ बरु है पुरातन तउ बरस कछु गमन कर।
चित होय जबहीं सहज पावन ज्ञानयोगहिं सहज धर॥

जिसप्रकार यमुनाजी सागर की ओर ही गमन करती हैं किन्तु [प्रथम वे] गंगाजी में प्रवेश करती हैं, जहाँ पर वे अपना नाम-रूप खोकर गंगा ही कहलाती हैं; उसी प्रकार कर्मयोग भले ही पुरातन मार्ग है किन्तु कुछ काल तक [उसके द्वारा] गमन करने से जब पुरुष का चित्त सहजरूप से पवित्र हो जाता है तो वह स्वाभाविक ही ज्ञानयोग को धारण कर लेता है।

दोहा— उत्तर एहि हरि सन सुनहु संसय जाइ नसाय।
पुनि देखउँ भल लाग घर कै बन तुम्हहिं सुहाय॥१५॥

इसका उत्तर अब आप भगवान से ही सुनें जिससे आपकी शंका दूर हो जायेगी और पुनः देखता हूँ कि आपको घर प्रिय लगता है या वन।

चौपाई— पार्थ सृष्टि महँ अस नहिं कोऊ। पलभर करम बिरत रह जोऊ॥
जिमि पसु सों जब जोइ करावें। प्रकृति गुणनि तिमि सबहिं नचावें॥

हे पार्थ! जगत में ऐसा कोई भी नहीं है, जो पलभर भी कर्म किये बिना रह सके। जैसे [पराधीन] पशु से चाहे

जो कुछ भी करा लिया जाता है वैसे ही प्रकृति के [सत्, रज, तम- ये तीनों] गुण सभी को अपने अनुसार कर्म करने को विवश कर देते हैं।

धरा धीर धरि बइठति नाहीं। किट तरु औषधि नित उपजाहीं॥
जल जलचर जनमाय निरंतर। अग्निहु दैं सुर जो तिन्ह अंतर॥

[तुम देखते ही हो कि] पृथ्वी कभी भी मौन नहीं होती अपितु कीड़े-मकोड़ों, वनौषधियों एवं वृक्षों आदि को जन्म देती रहती है। उसी प्रकार जल अपने अन्दर जलचरों को प्रकट करता रहता है तथा अग्निदेव भी [मंत्र एवं आहुति आदि पाने पर] अपने अन्तर्गत वास करने वाले देवताओं को प्रकट करते ही रहते हैं।

जो नभ नित सम सांत लखावत। सोउ बिपुल सृष्टिहिं उपजावत॥
भुवनेस्वर रबि ज्योति प्रकासहिं। कबहुँ न लेवें तेउ उसासहिं॥

जो आकाश सदा सम-शान्त दिखाई पड़ता है वह भी नाना प्रकार की सृष्टियों को उत्पन्न करता है। जगत के स्वामी भगवान सूर्य भी सदा प्रकाश बिखेरते रहते हैं, वे कभी भी विश्राम नहीं लेते हैं।

तजे अगिनि बरु सहज ऊष्णता। लह न करम बिनु कोउ तुष्णता॥
नीर तजे बरु निज सितलाई। कर्म बिना पर रह्यो न जाई॥

[यहाँ तक कि] भले ही अग्नि देवता अपनी स्वाभाविक उष्णता का परित्याग कर दें, किन्तु कर्म के बिना कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भले ही जल अपनी शीतलता को त्याग दे, परन्तु कर्म किये बिना किसी से रहा नहीं जा सकता।

धरति धीरता धरनि सदाई। तेहि तजि बरु सोउ जाइ पराई॥
जीवनदाता पवन कहावे। बरु सो सबहिं ग्रसन करि जावे॥

उसी प्रकार सदा ही धैर्य धारण करने वाली पृथ्वी भले ही उस धैर्य को त्यागकर भाग जाय अथवा जो वायु जीवनदाता कहा जाता है, वह भले ही सबका भक्षण कर जाय-

दोहा— पर कोउ रहे न कर्म बिनु करै जो कोटि उपाय।
आत्मरूपता मिलइ जब तबहिं करम बिनसाय॥ १६॥

परन्तु कोई भी पुरुष चाहे करोड़ों उपाय कर ले, कर्म के बिना नहीं रह सकता। हाँ, जैसे ही आत्मरूपता प्राप्त होती है वैसे ही समस्त कर्मों का नाश हो जाता है।

चौपाई— ता छन कर्महि तेहि बस होवे। तब सो कर्म करे कै खोवे॥
जीवन मृत्यु सकल बस ताहीं। परम सुतंत्र सो परबस नाहीं॥

उस समय कर्म ही उसके अधीन हो जाता है, तब वह कर्म करे या त्याग दे, जीवन मृत्यु सब उसके वशीभूत हो जाते हैं। वह परम स्वतंत्र हो जाता है, [किसी भी काल में] किसी के अधीन नहीं होता।

जेहि बिधि रहै याहि जग भाई। सोइ रहनि सब हृदय सुहाई॥
जो कर्मेंद्रिन्हि बस करि ल्यावे। मन सों नित सब बिषयन्हि ध्यावे॥

वह इस जगत में चाहे जिस विधि से रहे वह विधि सबके हृदय को अच्छी लगती है। जो पुरुष कर्मेन्द्रियों को वश में करके मन से समस्त विषयों का चिन्तन करता रहता है-

सो बिषई जग ढोंगि कहावत। मिथ्याचारि उपाधी पावत॥
तहँइ कोउ ज्ञानेंद्रिन्हि रोकी। अनासक्त चित होइ बिसोकी॥

वह विषयी पुरुष जगत में ढोंगी कहा जाता है तथा मिथ्याचारी की उपाधि प्राप्त करता है। वहीं पर यदि कोई पुरुष ज्ञानेन्द्रियों को संयमित कर शोकरहित तथा अनासक्त चित्त होकर-

करइ जो कर्मेंद्रिन्हि सों कर्मा। पुरुष जितेंद्रिय सोइ सुसर्मा॥
मन चंगा तो सब जल गंगा। तस तेहि मन बस ब्रह्म अभंगा॥

जो कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वही श्रेष्ठ पुरुष जितेन्द्रिय है। यदि मन पवित्र है तो चाहे जहाँ का भी जल हो वह गंगाजल ही है, वैसे ही उसके मन में सर्वत्र भगवान अखण्ड वास करता है।

कर पद सिस्न गुदा अरु बानी। हठ सों रोकि लहहिं का ज्ञानी॥
कारन तिन्हकर धरम बहिर्मुख। यासों होवें कर्मन्हिं अभिमुख॥

हाथ, पाँव, गुदा, वाणी और लिंग के धर्मों को हठपूर्वक रोककर बुद्धिमान पुरुष क्या प्राप्त करेंगे क्योंकि उन इन्द्रियों का धर्म-कर्म तो बहिर्मुख है। अत: वे कर्मयोग को स्वीकार करें।

दोहा— नातरु बिषयनि सब्द रस परस रूप अरु गंध।
ये हठ सों करि आक्रमण नरहिं बनावत अंध॥ १७(क)॥

अन्यथा [यह स्मरण रखें कि] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- ये विषय बलात् आक्रमण करके पुरुष को अविवेकी बना देते हैं।

मन ही मन झुँझुलात नृप सुनि इंद्रिन्ह कर धर्म।
संजय सों संसय कहैं समुझैं नहिं हरि मर्म॥ १७(ख)॥

[भगवान के द्वारा] इन्द्रियों के धर्म-कर्म को सुनकर राजा धृतराष्ट्र मन ही मन झुँझुला रहे हैं और सञ्जय से अपने संशय को व्यक्त कर रहे हैं क्योंकि वे भगवान के कथन का मर्म समझ नहीं पा रहे हैं।

चौपाई— संजय गृही याहि कस धारे। बिषय बासना तहँ कस मारे॥
जहाँ बिषय चहुँ ओरहिं बरसत। लोलुप इंद्रिनि जेहि हित तरसत॥

[धृतराष्ट्र ने कहा-] सञ्जय! [जैसा माधव कह रहे हैं] गृहस्थ इसे कैसे धारण कर सकता है? जहाँ चारों ओर से विषयों की ही बरसात होती रहती है, जिसके लिए सारी इन्द्रियाँ लोलुप होकर नित्य तरसती रहती हैं, वहाँ विषय-वासनाओं का दमन किस प्रकार किया जा सकता है।

ताहि उतर नृप अब हरि देवें। बड़भागी तेउ अमृत सेवें॥
सास्त्र नियत जो कर्मनि तेरो। सोइ कर अर्जुन कहनो मेरो॥

हे राजन्! भगवान अब उसी का उत्तर दे रहे हैं। वे अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं जो इस अमृत-वचन का पान कर रहे हैं। [प्रभु ने कहा-] हे पार्थ! जो क्षात्रकर्म तुम्हारे लिए शास्त्रों में नियत किया गया है उसी का पालन करो- ऐसा ही मेरा कहना है।

त्यागि करम बन यदि बस भाई। तौ मन सांति कबहुँ नहिं आई॥
यासों भल असांति रन केरी। करउँ सबहिं बिधि रक्षा तेरी॥

यदि तुम [साधुवेश बनाकर दु:खी हो] वन प्रदेश में कर्म त्यागकर बैठोगे तो तुम्हारे मन में कभी शान्ति नहीं आयेगी। इससे तो युद्ध के मैदान में होने वाली अशान्ति अच्छी है क्योंकि इसमें मैं हर प्रकार से तुम्हारी रक्षा करूँगा।

यदि न करेगो नियत करम यो। तन रक्षा नहिं होय धरम यो॥
करनो करम कि करनो नाहीं। का छति लाभ बिदित जग माहीं॥

[हे तात!] यदि तुम अपने लिए (वेद-शास्त्र, सन्तमत तथा गुण आदि के अनुसार) नियत किये हुए इस कर्म को नहीं करोगे तो धर्म यह कहता है कि तुम्हारे शरीर की रक्षा नहीं हो सकती। कर्मों के करने और न करने में क्या लाभ और हानि है, इसे सम्पूर्ण संसार जानता है।

दोहा— करमहीनता याहि जग सकल अमंगल मूल।
दीन हीन अति रंक सम नर जीवन महँ सूल॥ १८॥

[हे वीर!] इस जगत में अकर्मण्यता समस्त अमंगलों की मूल है क्योंकि मनुष्य जीवन में दीन-हीन होकर अत्यन्त रंक के समान जीवन जीना अतिशय कष्टकारी है।

चौपाई— साधक सुनें जगतपति कहनो। जगत सांति सुख सों यदि रहनो॥
महराजहिं बस तुम्ह सब दीखहु। नीति धरम सच प्रभु की सीखहु॥

यदि इस जगत में सुख और शान्ति से जीवन जीना है तो साधकगण भगवान की इस बात पर ध्यान दें क्योंकि महाराज को तो एकमात्र आप सब ही दिखायी दे रहे हैं। अत: भगवान के नीति और धर्म को यथार्थरूप से स्वीकार करें।

थापत इहँ पुरुषारथ साँई। निराकरण करि दैव सदाँई॥
जग प्रसिद्ध अस याकर योगा। यासे होय न सहज बियोगा॥

यहाँ भगवान नारायण बारम्बार दैव (संयोग, प्रारब्ध, संस्कार अथवा भाग्य) का निराकरण करके पुरुषार्थ की स्थापना कर रहे हैं। संसार में इस (दैव) का योग इतना प्रसिद्ध है कि इससे सहज में अनासक्ति नहीं हो पाती।

भीरु जनन्ह कर योइ अधारा। तबहिं तिन्हहिं सो मारत मारा॥
बृद्ध रुग्ण परमादिन्ह केरौ। माँ पितु बंधु याहि सब हेरौ॥

सदा भयभीत रहने वालों का तो यही आधार है, तभी उन्हें वह सदा मारता रहता है। [इतना ही नहीं] आप यह भी जानते हैं कि आलसी, रोगी और वृद्धजन इस दैव को ही माता-पिता, भाई-बान्धव सब कुछ समझते हैं।

अज्ञानिन्हिं बहुभाँति नचावत। अस करि जुग जुग सांतिहिं पावत॥
आत्मरूप जो निज नहिं मानत। सो एहि दैवकूप महँ आनत॥

अज्ञानियों को यह भलीभाँति नचाता रहता है और ऐसा करके वह युग-युग में शान्ति प्राप्त करता है। जो अपने को आत्मरूप नहीं मानता, वह इसी दैवरूपी कुएँ में गिरता है।

दोहा— जो नर दैवाधीन जग त्यागि परम पुरुषार्थ।
धर्म अर्थ अरु मोक्ष सँग नास करत निज पार्थ॥ १९ (क)॥

हे पार्थ! जगत में जो पुरुष परम पुरुषार्थ का परित्याग करके भाग्य के आश्रित है, वह धर्म, अर्थ और मोक्ष सुख का नाश तो करता ही है, स्वयं अपना भी नाश कर लेता है।

दैव कहत हनु याहि वहि हनु हनु कहि बस धाव।
सोउ स्वभावबस का करे तबहिं मुनिहु पहिं आव॥ १९ (ख)॥

यह दैव, इसको मारो और उसको मारो- कहता हुआ बस मारो-मारो कहकर दौड़ता रहता है। वह भी क्या करे, स्वभाव के वशीभूत है, तभी तो सन्तों और साधकों की ओर भी दौड़ पड़ता है।

चौपाई— पर उनसों अति मुहँ की खाई। यह निलज्ज जग जाइ पराई॥
ते सपुनें नहिं दैव भरोसो। कबहुँ प्रमाद न करत खरोसो॥

किन्तु यह निर्लज्ज [दैव] उनसे बुरी तरह परास्त होकर पुनः जगत में भाग जाता है, क्योंकि वे (सन्त एवं साधकगण) तो स्वप्न में भी इस दैव पर विश्वास नहीं करते। इसी से वे कभी अंशमात्र भी प्रमाद नहीं करते।

यासें नर तन पाइ बिलक्षण। बर पुरुषारथ गहे ततक्षण॥
याकर बल जग बस गुरु साँईं। दिब्य जिवनरथ हाँक सदाईं॥

इसलिए [भक्त का कर्तव्य है कि] यह विलक्षण मनुष्य-शरीर पाकर उसी समय महान पुरुषार्थ धारण कर ले। इस पुरुषार्थ का बल इस जगत में मात्र सद्गुरु भगवान हैं जो दिव्य जीवनरथ को सदा हाँकते रहते हैं।

रथ इव नर तन सास्त्र बखानत। जीव रथी मति सारथि मानत॥
इंद्रिं अस्व मन दिब्य लगामा। गहि एहि रथहिं जायँ जिहिं धामा॥

श्रुतियों का कहना है कि यह शरीर एक रथ के समान है, जीवात्मा रथी और बुद्धि सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े तथा मन अलौकिक लगाम है; इस प्रकार इस रथ के द्वारा जहाँ-जिस लोक को जाना चाहते हैं, चले जायँ।

एहि अलभ्य दृस लखि सुनि बानी। कह महराज सुनहु सब ध्यानी॥
जस अर्जुन निज सारथि त्यागी। हरि बिठाइ रथ भे बड़भागी॥

इस दुर्लभ दृश्य एवं वाणी को देख-सुनकर महाराज जो कह रहा है उसे प्रभु के ध्यान में रहने वाले भक्त गण सुनें जिसप्रकार महात्मा अर्जुन अपने सारथि को छोड़कर भगवान को रथ पर आसीन कर अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गये,

तैसेइँ निज मति त्यागि भरोसा। करहु सारथी सदगुरु ठोसा॥

उसी प्रकार आप अपनी बुद्धि का विश्वास त्यागकर शरणागत रक्षक आत्मज्ञानी गुरु को सारथि बना लें।

दोहा— अस जग बिजयी होहु तुम्ह दैव पराजित होय।
पुरुषारथ तुम्हरो यहइ जागहु रहउ न सोय॥ २०॥

इस प्रकार जगत में आपकी विजय हो जायेगी और दैव पराजित हो जायेगा; यही आपका पुरुषार्थ है, अत: सोये न रहें, जग जायँ।

चौपाई— तब हे आतम तुम्ह जो चाहहु। सोइ चह मन तेहि छन अनुभावहु॥
मन अनुरूप होय इंद्रिन्ह गति। पुनि तन उन्हके सँग सँग कर रति॥

तब हे चेतन आत्मा! आप जो चाहते हैं मन भी वही चाहने लगता है, उस समय आपको ऐसा अनुभव होगा। इन्द्रियों की गति मन के अनुकूल हो जाती है फिर शरीर भी उन्हीं के अनुकूल व्यवहार करने लगता है।

चाहत जीव मोक्ष जग जबहीं। त्यागि बिषय मन भागइ तबहीं॥
दैव बुद्धि तब जाय नसाई। अस मिलि जाय ब्रह्म सिधि भाई॥

जब जीव इस जगत में अपने स्वरूप को चाहने लगता है तो मन निश्चय ही विषय-वासनाओं को त्यागकर भाग खड़ा होता है। हे प्रिय! तब दैवबुद्धि का नाश हो जाता है इस प्रकार ब्रह्म सिद्धि मिल जाती है अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है।

जग जहँ जस पुरुषारथ चाहे। तस पुरुषारथ तहँ निरबाहे॥
जस मन पौरुष ध्यान प्रधानहि। आसन मौन अंग दुइ जानहि॥

जगत में जहाँ जैसे पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है, वहाँ वैसा ही पुरुषार्थ किया जाता है। जैसे ध्यान करने में मानसिक पौरुष प्रधान है जिसके आसन और मौन- दो अंग जानो।

प्रभु हित अस्तुति करनै माहीं। बाचिक पौरुष श्रेष्ठ कहाहीं॥
अभिमुखता निस्चलता अंगा। ये दोउ अहहिं जान मुनि चंगा॥

भगवत्प्राप्ति के लिए स्तवन करने में वाचिक पौरुष प्रधान है, जिसके सम्मुखता (भगवान के सम्मुख होना) और निश्चलता (मन, बुद्धि, चित्त की एकाग्रता)- ये दो अंग हैं जिसे श्रेष्ठ मुनिजन जानते हैं।

दोहा— मार्ग चलन महँ कायिक पौरुष होत प्रधान।
बानी मन निग्रह तेहि अंग दोइ सुभ जान॥ २१॥

मार्ग चलने में कायिक पौरुष प्रधान होता है। वाणी और मन का संयम- ये दो उसके शुभ अंग हैं, ऐसा जान लें।

चौपाई— सोइ पौरुष अरु ताकर अंगा। सिसु सों लै बृद्धन्हि कर चंगा॥
एहि बिधि कहुँ नहिं दैव लखाये। यासों असत सतत मुनि गाये॥

वही पौरुष और उसके अंग जगत में बालक से वृद्धों तक को प्रमादरहित करते हैं। इस प्रकार प्रारब्ध तो कहीं देखा ही नहीं जाता। इसलिए सन्तजन सदा ही कहते हैं कि दैव (प्रारब्ध) असत् है।

सुक्र बृहस्पति पौरुष सोधा। असुर सुरन्ह के बने पुरोधा॥
निज पुरुषार्थ बिष्णु भगवाना। दैत्यन्हि जिते सकल जग जाना॥

अपने महान पुरुषार्थ से ही शुक्राचार्य और बृहस्पतिजी ने असुरों और देवताओं का गुरुपद प्राप्त कर लिया। भगवान विष्णु ने अपने पुरुषार्थ से ही दैत्यों पर विजय प्राप्त की जिसे सारा जगत जानता है।

करि उद्योग सृष्टि उपजाये। प्रकृति गुणनि सों कर्म रचाये॥
बहु मुनि तन सँग स्वर्ग सिधारे। निज पौरुष दैवहिं संघारे॥

उन्होंने पुरुषार्थ करके ही सृष्टि की उत्पत्ति की और प्रकृति एवं गुणों के अनुसार कर्मों का सृजन किया। इसी प्रकार बहुत-से ऋषि अपने पौरुष से दैव का हनन कर सशरीर स्वर्ग चले गये।

तजि पुरुषार्थ नहुष सम भोगी। नरक गयो ऐस्वर्य बियोगी॥
बिस्वामित्र मुनिहु दुर्बासा। जस क्रोधी जिन्ह तप बिस्वासा॥

राजा नहुष जैसा विषयी पुरुष ऐश्वर्यों से वंचित होकर पुरुषार्थ के अभाव में नरकगामी हो गया तथा महर्षि दुर्वासा एवं विश्वामित्र जैसे क्रोधी जिन्हें तप पर विश्वास था-

दोहा— दोउहु पाये ब्रह्मपद करि पुरुषार्थ महान।
दैववाद निरवारि अस पावहु तुम्ह निर्बान॥ २२॥

वे दोनों ही परम पुरुषार्थ को धारण करके ब्रह्मपद पा गये। इस प्रकार आप सब भी दैववाद को अस्वीकार कर पुरुषार्थ से निर्वाण पद प्राप्त करें।

चौपाई— उत प्रभु कह जग कारज पारथ। एक मात्र चह निज पुरुषारथ॥
पर यग कर्म सास्त्र पुरुषारथ। उभयहिं चाहत यहइ यथारथ॥

उधर (युद्धभूमि)में भगवान कह रहे हैं– हे पार्थ! लौकिक कार्य तो एकमात्र व्यक्तिगत पुरुषार्थ से ही सिद्ध होता है, परन्तु यज्ञकर्म शास्त्र और पुरुषार्थ दोनों को चाहता है, यही यथार्थ रहस्य है,

पर यह आत्मज्ञान प्रगटे तब। मिलहिं सास्त्र गुरु पुरुषारथ जब॥
अस लौकिक बैदिक जो स्वारथ। आत्मज्ञान सम बर परमारथ॥

किन्तु यह आत्मज्ञान तब प्रकट होता है जब शास्त्र का चिन्तन, सद्गुरु का उपदेश और अपना पुरुषार्थ– इन तीनों का मिलन हो। इस प्रकार जो लौकिक एवं वैदिक स्वार्थ तथा आत्मज्ञान जैसे अतिशय श्रेष्ठ पारमार्थिक तत्त्व हैं–

सिद्ध होहिं पौरुष सों तीनउ। दैव सों कबहुँ न सिद्धत गीनउ॥
तृप्त होत जो पीवत खावत। चलत जो नित गंतब्यहिं पावत॥

ये तीनों पुरुषार्थ से ही सिद्ध होते हैं। इन्हें कभी भी दैव से सिद्ध होने वाला मत मानो। [हे पार्थ!] जो खाता-पीता है, वही तृप्त होता है तथा जो गमन करता रहता है, सदा वही गन्तव्य को प्राप्त करता है।

देव भये बिषई जब जबहीं। असुर किये पौरुष तब तबहीं॥
पौरुष सों स्वर्गहु तक छीने। बहुत बेहाल देवतन्हि कीने॥

[तुम देखते ही हो कि] जब-जब देवतागण विषयी हुए तब-तब असुर पुरुषार्थ करते रहे हैं। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से [देवताओं को जीतकर] स्वर्ग तक छीन लिया और उन्हें अत्यन्त कष्ट भी दिया।

गृह दरिद्रता आवति तबहीं। पौरुष हीन होय नर जबहीं॥

[सच पूछो तो] गृहस्थाश्रम में दरिद्रता तभी आती है जब मनुष्य पुरुषार्थहीन हो जाता है।

दोहा— दैव न दृग सों दीख जग ताकर लोक न कोय।
पर जग महँ जो करम फल दैव कहावत सोय॥ २३॥

जगत में दैव तो नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ता और न ही उसका कोई अन्य लोक ही है, परन्तु इस जगत में जो कर्म का फल दिखायी पड़ता है, वही दैव (प्रारब्ध) कहलाता है।

चौपाई— सुनि बद अर्जुन हे यदुनंदन। दैव कहहु पुनि जन उर चंदन॥
भाग्य श्रेष्ठ कै कर्म न जानउँ। कब केहि छन कस एहि पहिचानउँ॥

यह सुनकर महात्मा अर्जुन ने कहा– हे यदुनन्दन! हे भक्तों के हृदय में शीतलता प्रदान करने वाले! दैव की परिभाषा को आप एक बार पुनः परिभाषित करें। भाग्य बड़ा है या कर्म– मैं तो यह जानता ही नहीं, अतः कब, किस समय और कैसे इसे पहचानूँ?

कह कृपालु पुनि लै परिभासा। समुझि करहु मोपे बिस्वासा॥
आकृति करम न चेष्टा वाकी। रंच पराक्रम नहिं कहुँ हाँकी॥

भगवान ने कहा–[हे पाण्डुपुत्र!] पुनः इसकी परिभाषा सुनो और उस पर विचार करके मुझपर विश्वास करो। उस दैव का न कोई रूप है, न चेष्टा है, न कर्म है और न उसमें लेशमात्र पराक्रम ही है– ऐसा मैं चुनौती के साथ कह रहा हूँ।

मिथ्याज्ञान सरिस यह भासत। जासों सब याकर रस चासत॥
जेहि छन मूढ़ करमफल पावत। दैव दैव कहि गाल बजावत॥

यह (दैव) तो मिथ्याज्ञान के समान ही प्रतीत हो रहा है जिससे सबलोग इसका स्वाद ले रहे हैं। वस्तुतः जब कर्म फल प्राप्त होता है तब 'यही दैव है'– ऐसा कहकर मूर्ख बकवास करते हैं।

यहइ करमफल ऐसोइ बानी। दैव कहाय कहत मुनि ज्ञानी॥
रज्जू महँ भुजंग जिमि भासे। तिमि एहि गिरा दैव परकासे॥

'यही कर्मों का फल है'- ऐसी वाणी को दैव कहा जाता है ऐसा ज्ञानी मुनियों का कहना है। जिसप्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है उसी प्रकार इस वाणी के द्वारा दैव प्रकाशित होता है।

दोहा— करमहु असुभ अतीत के सुभ कर्मनि सों जाय।
बेद सास्त्र सब कहहिं अस करहु काज हरषाय॥ २४॥

बीते कल का अशुभ कर्म, शुभ कर्मों के करने से चला जाता है- समस्त वेद शास्त्र ऐसा ही कहते हैं। अत: तुम प्रसन्नतापूर्वक धर्मयुद्ध करो।

चौपाई— तात दैव मूढ़न्हि अनुमाना। यदि सच कहि करँ तेहि गुनगाना॥
तौ स्वयंहि देखैं गिरि पावक। अनल जरावै कै सुखदायक॥

हे तात! दैव तो मूर्खों की कल्पना मात्र है। यदि वे उसे सत्य कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो अपने आप अग्नि में कूदकर देखें कि अग्नि उन्हें जलाती है या छोड़ देती है?

वैसेइ आपुहि बनि परमादी। दैवहिं दोष देत बकवादी॥
पार्थ करे दैवहि जब कर्मा। तौ पुरुषारथ कर का धर्मा॥

उसी प्रकार व्यर्थ बोलने वाला पुरुष अपने आप प्रमादी बनकर दैव को दोष देता है। हे पार्थ! जब सब कुछ दैव ही करता है तो पुरुष के पुरुषार्थ का प्रयोजन ही क्या है?

पुनि तौ दैव करे अस्नाना। देवै दान करे जप ध्याना॥
मिथ्या सास्त्र गुरू उपदेसा। कारन जब नर मूक भदेसा॥

फिर तो दैव ही दान दे लेगा, स्नान जप और ध्यान कर लेगा। जब पुरुष मूक ही है, किसी काम का ही नहीं है, तो शास्त्र और गुरु का उपदेश भी मिथ्या ही सिद्ध होता है।

जब दैवहि आवत लै जावत। पुनि को काको ज्ञान सिखावत॥
नहिं नहिं पार्थ मृतक तन एको। चेष्टाहीन न जेहि कोउ टेको॥

अरे! जब दैव ही [कहीं से] ले आता और ले जाता है तो फिर कौन किसको उपदेश करता है?' नहीं-नहीं पार्थ! एक मृत शरीर ही ऐसा है, जो चेष्टाहीन है और जिसका कोई प्रयोजन नहीं है।

दोहा— महा धनुर्धर करत कोउ कर्महिं कोउ बिकर्म।
यासों कर पुरुषार्थ तू एहि छन यहइ स्वधर्म॥ २५॥

अत: हे धनुर्धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! कोई कर्म करता है और कोई विकर्म। इसलिए तुम भी पुरुषार्थ का आश्रय लो, क्योंकि इस समय तुम्हारा यही स्वधर्म है।

चौपाई— दैव होय कहुँ करम सहायक। तउ यह मत नहिं मानन लायक॥
कारन दैव न देत दिखाई। जग पौरुष सों आबृत भाई॥

कदाचित् दैव कर्मों में सहायक हो तो भी यह सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है; क्योंकि हे प्रिय! दैव तो दिखायी नहीं पड़ता, बल्कि यह जगत पुरुषार्थ से ही आच्छादित है।

अहइ जो सन्मुख महा सहायक। यातैं दैव न कछुवै लायक॥
लेखन छौर बने सच तबहीं। कलम उस्तरा हाथनि जबहीं॥

अत: जो अपने सामने उपस्थित है, वही महा सहायक है, इसलिए दैव किसी भी काम का नहीं है [अर्थात् व्यर्थ है]। लेखन और मुण्डन आदि कार्य तभी सम्पन्न होते हैं जब हाथ में लेखनी और उस्तुरा (छुरा) हो।

पक्षाघात होय तन जबहीं। करत दैव का कर्महिं तबहीं॥
अस सिसु सों ज्ञानी तक जोऊ। मन सम दैवहिं देख न कोऊ॥

जब शरीर में पक्षाघात (लकवा) हो जाता है, तो क्या दैव आकर कर्म करता है! अर्थात् नहीं करता। इस प्रकार बालक से लेकर ज्ञानी तक जो भी हैं, मन के समान कोई भी दैव को देख नहीं पा रहे हैं।

यदि कह बाल पढ़हिं गुरु पाहीं। तहँ कोउ जड़ कोउ बिज्ञ लखाहीं॥
दैव होन महँ यहि परमाना। जागत सोवत कोउ जस स्वाना॥

यदि कहा जाय कि गुरु के पास सारे बच्चे पढ़ते हैं किन्तु उनमें से कोई ज्ञानी हो जाता है और कोई मूर्ख ही रह जाता है अथवा कोई कुत्ते के समान सोता-जागता रहता है यही दैव की उपस्थिति में प्रमाण है।

दोहा— तौ यहु नाहिं प्रमान सच तीब्र बुद्धि जो होय।
पूर्ब जन्म पुरुषार्थ सच तहँ कारन बनि गोय॥ २६॥

तो यह प्रमाण भी सत्य नहीं है क्योंकि जो स्वच्छ, निर्मल और सूक्ष्म बुद्धि के प्राप्त होने में सम्पूर्ण कारण है, वह पूर्व जन्म का छिपा हुआ पुरुषार्थ ही है।

चौपाई— सूर उद्यमी प्राज्ञ सुपंडित। दैवहिं करहिं न महिमा मंडित॥
एहि की करत न कबहुँ प्रतिच्छा। सोइ कर जो गुरु सास्त्रन्ह इच्छा॥

[हे महाबाहो!] बहादुर योद्धा, परिश्रमी, विद्वान एवं पण्डित- दैव की प्रशंसा नहीं करते और न कभी इसकी प्रतीक्षा करते हैं, अपितु वही करते हैं जो शास्त्र और गुरु की इच्छा होती है।

तस बल मंत्र औषधी भक्ती। इन महँ जोइ अपरिमित सक्ती॥
दैव सक्ति ऐसी न लखावे। याही सों यह असत कहावे॥

उसी प्रकार बल, मंत्र, औषधि एवं भगवान की भक्ति में जो अपार सामर्थ्य है, ऐसी शक्ति दैव में नहीं दिखायी पड़ती, इसलिए यथार्थ में इसे असत् ही कहा जाता है।

सून्य सकल कारज कारण सों। अपनोइ मति बिकल्प धारण सों॥
अस असत्य दैवहिं तुम्ह त्यागउ। बीर करहु पुरुषारथ जागउ॥

यह दैव सम्पूर्ण कारण एवं कार्य से शून्य है तथा अपनी ही [अशुभ] बुद्धि का विकल्प है, ऐसा अनुभव किया गया है। अत: हे वीर! तुम सजग हो जाओ और ऐसे असत्य दैव को त्यागकर पुरुषार्थ में लग जाओ।

सुनि अर्जुन जिन्हकर मन डोलत। खेद खिन्न चित सों पुनि बोलत॥
तुम्हरो मत प्रभु तुम्हरोइ सोधा। लोक बेद सम्मतहिं बिरोधा॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन जिनका मन अति आंदोलित था, वे खेद-खिन्न मन से पुन: बोले कि हे प्रभो! आपका सिद्धान्त तो आपकी ही खोज है परन्तु यह लोकमत और वेदमत के सर्वथा विरुद्ध है।

ते दोनउ मत टेक न ठानहिं। पौरुष दैव दोउ सनमानहिं॥

ये दोनों सिद्धान्त कोई हठ नहीं करते बल्कि दैव और पुरुषार्थ दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

दोहा— प्रभु सर्बज्ञ सुधर्मबिद सत्यासत्यहु पार।
दैव असत कै सत बहुरि कहि संसय द्यो मार॥ २७(क)॥

हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं! हे धर्म के यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता! हे सत्य-असत्य से परे नाथ! दैव असत् है या सत्- इसे पुन: आप यथार्थरूप से बताकर मेरा संशय दूर करें।

मासपारायण, दसवाँ विश्राम
नवाह्नपारायण, तीसरा विश्राम

सोरठा— सुनि किरीटि कर बाद महाराज लख हरि मुदित।
निरखहु पुनि संबाद सावधान होइ कान दै॥ २७(ख)॥

महाराज देख रहा है कि महात्मा अर्जुन के तर्क को सुनकर भगवान नारायण प्रसन्न हो रहे हैं। अत: अब आपसब संवाद को अत्यन्त ध्यान देकर सुनें।

चौपाई— ब्रह्म सत्य जग मिथ्या अहई। महत मतहिं प्रभु थापन चहई॥
यासों दैव असत तिहुँ काला। कहि सिद्धत मिथ्यात्व कृपाला॥

अब भगवान नारायण [भक्त अर्जुन के प्रश्न को सुनकर] 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'- इस महत् सिद्धान्त की स्थापना करना चाहते हैं। इसलिए तीनों कालों में दैव असत् है- ऐसा कहकर परम कृपालु भगवान दैव का मिथ्यात्व सिद्ध कर रहे हैं।

प्राप्ति सुभासुभ फल की पारथ। दैव कहाय पूर्ब पुरुषारथ॥
मूढ़ कहहिं फल दैवइ देवै। पुरुषारथ इहँ का करि लेवै॥

हे पार्थ! शुभाशुभ कर्मफलों की प्राप्ति ही दैव कहलाता है, जो बीते हुए कल का पुरुषार्थ है; तो भी जो मूढ़ बुद्धि वाले हैं वे कहते हैं कि दैव के माध्यम से ही कर्मफल की प्राप्ति होती है, इसमें पुरुषार्थ की कोई भूमिका नहीं है।

दैव यहइ जब कोउ घट घटना। अस मति भइ मम मूढ़नि रटना॥
दैव सोइ दुर्घटना जा छन। धैर्य बँधाय बानि जो ता छन॥

जब कोई घटना घट जाती है तो अज्ञानियों द्वारा मेरी 'बुद्धि ही ऐसी हो गयी थी'- ऐसी रट लगा लेना ही दैव है। जिस समय कोई दुर्घटना हो जाती है उस समय धैर्य बँधाने वाली जो वाणी है, वही दैव है।

दैव यहइ होनी सो होवै। कहहिं मूढ़ कोउ हँस कै रोवै॥
दैव सोइ जो करे करावे। कहें मंदमति भोग भोगावे॥

आप हँसे या रोयें, जो होना है वह होकर रहेगा- मूढ़ों द्वारा ऐसा कहना ही दैव है। मूढ़ों द्वारा ऐसा कहना कि दैव ही करता-कराता है, भोगता-भोगाता है- यही दैव है।

दोहा— दैव न औरउ अपर कोउ एहि जग तात बताउँ।
जब न अहइ तब कौन सी कहु परिभाषा गाउँ॥ २८॥

हे तात! इसके अतिरिक्त तो जगत में कोई दूसरा दैव है नहीं, जिसे तुम्हें बताऊँ और जब है ही नहीं तो तुम्हीं बताओ कि कौन-सी परिभाषा दूँ।

चौपाई— कहैं पार्थ प्रभु दैव जो संचित। पूर्बहिं करम न संसय किंचित॥
करहु निषेध तोउ का कारण। यहउ कहउ भ्रम होय निवारण॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! आपके अनुसार यदि दैव पूर्व का ही संचित कर्म है, इसमें किञ्चित् मात्र भी संशय नहीं है, तो इसका आप बारम्बार निषेध क्यों कर रहे हैं? कृपया यह भी बतायें जिससे इस भ्रम का निवारण हो जाय।

कहत दयानिधि अति हरषाई। दोउ पक्षन्हि बिरोध जो भाई॥
सोउ सुनु धीर सकल भ्रम जावे। जासों तू पुरुषारथ धावे॥

तब दयानिधान भगवान ने प्रसन्नता के साथ कहा कि हे तात! हे धैर्यवान! दैव और पुरुषार्थ- इन दोनों पक्षों में जो [प्रत्यक्ष] विरोध है अब उसे भी सुनो, जिससे सारा भ्रम चला जायेगा और तुम पुरुषार्थ में प्रवृत्त हो जाओगे।

नर की प्रथमहिं मनोकलपना। करमरूप होइ भई बासना॥
बेद कहे नर जो मन ध्यावे। बोले सोइ तन कर्म करावे॥

हे प्रिय! सर्वप्रथम मनुष्य की मनोगत कल्पना ही कर्मरूप होकर वासना बन गयी। वेद का कहना है कि पुरुष मन के द्वारा जो संकल्प करता है, वही बोलता है तथा शरीर से भी वही कर्म कराता है।

गाँव नगर जो जानन चावे। तहँइ जाय नहिं अनत सिधावे॥
पूरब जनम करम कर जैसी। फल अभिलाष मिलत इहँ तैसी॥

[जैसे] जो जिस गाँव अथवा नगर को जाना चाहता है, वह वहीं जाता है, अन्यत्र नहीं जाता। पूर्व जन्म में वह जैसा कर्म किये रहता है उसी के अनुरूप उसे फल की अभिलाषा होती है-

दोहा— दैव नाम सों सोइ एहि जग महँ जान्यो जाय।
सिद्ध संत मुनि साधकन्हि हृदय नाहिं कछु भाय॥ २९॥

और वही इस जगत में दैव नाम से जाना जाता है जो साधक, सिद्ध, मुनि और सन्तों के हृदय को कुछ भी नहीं जँचता।

चौपाई— कर्ता करम करत एहि रीती। संचित कर्म सों होवे प्रीती॥
मन सों पृथक बासना कोई। नहिं जग पुरुष कहावे सोई॥

उपरोक्त रीति से कर्ता कर्म करता रहता है तथा संचित कर्म से आसक्ति उत्पन्न होती रहती है। [इसके अतिरिक्त] मन से पृथक् कोई वासना नामक वस्तु है ही नहीं, अत: वही मन जगत में पुरुष कहलाता है।

अस समझउ यह पुरुष मनोमय। मनहि बासना सोइ कर्ममय॥
दैवहि कर्म कर्म मन रूपा। यह मन पुरुष पुरुष सत रूपा॥

इसे इस प्रकार समझो कि यह पुरुष मनोमय है, मन वासनामय है और वह वासना कर्ममय है। [पुन: समझो कि] दैव कर्मरूप है, कर्म मनरूप है, मन पुरुषरूप है और पुरुष शुद्ध निर्विकार सत्रूप ब्रह्म है।

यासों मन भयो असत सदाई। तेहि सँग करमहु असत कहाई॥
एहि बिधि दैवहु भयो असतहू। जासे वाको कह्यों न सतहू॥

इसलिए मन सदा से असत् है तथा उसके साथ ही साथ कर्म भी असत् है। इस प्रकार दैव भी असत् सिद्ध हुआ जिससे मैंने उसे सत् नहीं कहा है।

दैव बासना चित कर्माहू। मन कर बिबिध रूप पतियाहू॥
यासें दृढ़ संकल्प जो करई। तेहि अनुरूपहि फल अनुहरई॥

हे पार्थ! चित्त, वासना, कर्म और दैव- ये [भले ही पृथक्-पृथक् देखे जायँ परन्तु] मन के ही विविध रूप हैं ऐसा तुम विश्वास करो। इसलिए वह जिस दृढ़ संकल्प के साथ जैसा कर्म करता है उसी के अनुरूप उसे फल की प्राप्ति होती है।

दोहा— मन बुद्धी चित बासना बनइ पुरुष जो पार्थ।
करइ सोइ पुरुषार्थ जो जग पावे परमार्थ॥ ३०॥

हे पार्थ! जो पुरुष (आत्मा) मन, बुद्धि, चित्त तथा वासनारूप हो जाता है वही यदि पुरुषार्थ करे तो इस जगत में परमार्थ अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— सुभ अरु असुभ बासना दोई। प्रेरइँ कर्म करन उर योई॥
असुभ सदा स्वारथ महँ प्रेरइ। सुभ नित परमारथ हित टेरइ॥

हे पार्थ! शुभ और अशुभ- ये दो प्रकार की वासनाएँ सबके हृदय में कर्म करने की प्रेरणा करती हैं। इनमें अशुभ वासनाएँ सदा स्वार्थ के लिए और शुभ वासनाएँ परमार्थ के लिए प्रेरित करती हैं।

असुभ बासना प्रेरइ जबहीं। करि पौरुष सुभ जारे तबहीं॥
स्वयं प्रकास रूप तुम्ह ताता। तुम्हरो नहिं कोउ अपर बिधाता॥

अत: जैसे ही अशुभ वासना [अशुभ कर्म के लिए] प्रेरित करे, वैसे ही पुरुषार्थ के द्वारा शुभ कर्म करके उसे नष्ट कर दे। हे प्रिय! तुम स्वयं प्रकाशरूप आत्मा हो, तुम्हारा सृजनहार कोई अन्य भगवान नहीं है।

मन प्रेरक तुम्ह बिस्व बिधाता। तुम्हरो रूप न यह जड़ गाता॥
यदि तुव तात प्रकासक कोऊ। वाको अपर प्रकासक होऊ॥

[इतना ही नहीं] तुम स्वयं ही मन के प्रेरक एवं सम्पूर्ण विश्व के रचयिता हो। यह जड़ शरीर तुम्हारा स्वरूप नहीं है। क्योंकि यदि कोई अन्य तुम्हारा प्रकाशक है तो उसका भी कोई अन्य प्रकाशक होगा।

ताकोहु अपर प्रकासक भाई। अस अनवस्था दोषहु आई॥
पुनि पदार्थ कोउ सिद्ध न होई। कीधौं बुद्धि बिसारद कोई॥

उसी प्रकार उसका भी कोई अन्य ही प्रकाशक होगा [अर्थात् उत्पन्न करने वाला होगा], इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा हो जाता है [जिससे सारे सिद्धान्त ही समाप्त हो जाते हैं]। ऐसे तो फिर किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी, भले ही कोई कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो।

दोहा— चित्त नदी एक बहति जहँ पाप पुन्य दोउ धार।
एक धार रोकत अपर बेग दुगुन बिस्तार॥ ३१ (क)॥

हे वीर! चित्त नाम की एक नदी [अनवरत] बह रही है जिसमें पाप और पुण्य नामक दो धाराएँ हैं। उनमें यदि एक धारा को रोक दिया जाय तो दूसरी दूने वेग से बहेगी।

तिमि त्यागत एहि दैव भ्रम मन पौरुषमय होय।
पुरुषारथ सम्पन्न पुनि लग परमारथ योय॥३१(ख)॥

उसी प्रकार इस दैव का भ्रम त्यागते ही यही मन परम पुरुषार्थमय हो जायेगा और फिर यही पुरुषार्थ से सम्पन्न होने के कारण परमार्थ में आरूढ़ हो जायेगा।

पूर्ब जनम परधर्म यदि होय कियो कोउ भक्त।
मुक्त होय तउ एहि जनम यदि स्वधर्म अनुरक्त॥३१(ग)॥

[हे पार्थ! मैं तो यह भी कहता हूँ कि] यदि किसी भक्त ने पूर्व जन्मों में स्वधर्म त्यागकर पराये धर्मानुसार ही कर्म किया है तो भी वह यदि इस जन्म में सम्पूर्णतया स्वधर्म में प्रेमपूर्वक लगा रहे तो मुक्त हो जायेगा।

सुधि आई महराजहीं मम गुरुदेव उदार।
दैव कर्म परिभाषत उनकेहु सुनहु बिचार॥३१(घ)॥

[हे साधको एवं भक्तो!] महाराज को स्मरण हो आया है कि दैव तथा कर्म के स्वरूप की परिभाषा मेरे परम पूज्य गुरुदेव ने भी दी है, अतः उनके भी विचार सुनें।

चौपाई— सुनहु सुजान बिन्ध्य गिरि ऊपर। गीताघाट सुघाट एक बर॥
सहसराम जनपद बिहार महँ। तहँ सों मारग जात घाट पहँ॥

हे सज्जनो! गीताघाट नामक एक दिव्य घाट है जो विन्ध्याचल पर्वत पर स्थित है। बिहार प्रान्त के अन्तर्गत सासाराम जनपद से वहाँ जाने का मार्ग है।

बड़भागी सब तहँ के बासी। सेवहिं नित सदगुरु अबिनासी॥
पर कछु बर्ष पूर्बहीं गुरुवर। तन तजि ब्याप्त भये सचराचर॥

वहाँ के रहने वाले लोग अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं जिन्हें ऐसे अविनाशी सद्गुरु की सेवा नित्य प्राप्त है। किन्तु कुछ ही दिन हुए परम पूज्य गुरुदेव शरीर त्यागकर चराचर जगत में व्याप्त हो गये हैं।

दिब्य मूर्ति बनि अब प्रगटाये। गीताघाटेस्वर मोहिं भाये॥
दरसत मनहुँ कहत मम नाथा। तुम्ह अक्षर सत साक्षि सनाथा॥

वे गीताघाट भगवान जो मुझे अति प्रिय लगते हैं, अब वहाँ दिव्य मूर्ति के रूप में प्रकट हैं। वे मेरे नाथ दर्शन करते ही मानो कहते हैं, आप अनाथ नहीं बल्कि सनाथ हैं क्योंकि आप ही शुद्ध, साक्षी, सत् एवं अक्षर आत्मा हैं।

परम बिराग अजहुँ तहँ बरसत। बिषय राग भागत मन हरषत॥
सिद्ध अहइ थल महिमा भारी। तहँ तप तपतहि भव भयहारी॥

आज भी वहाँ परम वैराग्य बरसता रहता है जिससे विषयों का राग चला जाता है और मन प्रसन्न बना रहता है। वह अत्यन्त सिद्ध स्थल है उसकी महत् महिमा ऐसी है कि वहाँ जप, तप, योग करते ही संसार बन्धन के भय से मुक्ति हो जाती है।

तिन्हि गुरु माँ पितु मित सब मानत। परम हितैषी हिय महँ जानत॥
गुरुदेवहु नित प्रेम लुटावहिं। सबहिं प्रेम भरि अंक लगावहिं॥

सभी लोग उनको मन में अपना माता-पिता, स्वजन एवं परम हितैषी मानते थे तथा गुरुदेव भी सदा इसी प्रकार उन [लोगों की भावना के अनुसार] सभी को प्रेम में भरकर स्वीकार करते एवं प्रेम बाँटते रहते थे।

भेद न बर्ग जाति महँ मानत। राजा रंक सबहिं सम जानत॥
ऊँच नीच मध्यम नर नारी। जाहिं दरस हित काज बिसारी॥

गुरुदेव के हृदय में वर्ग-जाति का किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं था, वे गरीब-धनवान सबको समान मानते थे। इसलिए उनके पास नित्य स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच सभी लोग अपना काम छोड़कर दर्शन हेतु जाया करते थे।

जय जय गिताघाट भगवाना। कहत जाहिं सिसु जरठ सयाना॥
कोउ बाबा सरकार उचारत। कोउ जय गुरुवर जाहिं पुकारत॥

[मार्ग में] बालक, वृद्ध तथा युवक आदि सभी 'गीताघाट भगवान की जय हो, जय हो'- ऐसा कहते हुए जाते थे तथा कोई 'गीताघाट बाबा की जय हो, गीताघाट सरकार की जय हो, सद्गुरु की जय हो '- ऐसा उद्घोष करते हुए जाते थे।

परम अहिंसा तहँ रह छाई। ब्याघ्र सर्प रिछ बिचरत आई॥
कोउ नहिं भय इन्ह सबसों पावत। देर सबेर दिवस निसि आवत॥

वहाँ परम अहिंसा स्पष्ट दिखायी पड़ती थी क्योंकि रीछ, व्याघ्र और सिंह आदि [हिंसक जीव-जन्तु] विचरण करते रहते थे तो भी किसी को इन सबसे [तनिक भी] भय नहीं लगता था, लोग देर-सबेर, दिन-रात कभी भी आया-जाया करते थे।

साधक सिद्ध संत नित आवहिं। गुरुपद बंदि अतिहिं सुख पावहिं॥
लहि बरदान चतुः पुरुषारथ। पूर्ण करत परमारथ स्वारथ॥

वहाँ नित्यप्रति साधक, सिद्ध और सन्त आकर गुरुदेव के चरणों की वन्दना कर अति सुख-शान्ति का अनुभव किया करते थे तथा वरदान रूप में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर स्वार्थ एवं परमार्थ को सिद्ध कर लेते थे।

दोहा— झाड़ सघन गिरिवर गुहा महँ प्रभु जहँ आसीन।
इक दिन जुरे प्रसन्न मन साधक सिद्ध प्रबीन॥ ३२॥

उस श्रेष्ठ विन्ध्याचल पर्वत पर घनी झाड़ियों के बीच एक गुफा में, जहाँ गुरुदेव पद्मासन में विराजमान थे, नित्य की भाँति एक दिन सभी कुशल साधक, सिद्ध एवं भक्त वहाँ अति प्रसन्न मन के साथ पधारे।

चौपाई— बंदि चरन सब भक्त सुजाना। करन लगे उन्हकर गुनगाना॥
उन महँ एक चतुर कोउ साधक। जो गुरुदेव चरण अवराधक॥

सभी भक्त एवं सन्त गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके उनका गुणगान करने लगे। उनमें से कोई एक दक्ष साधक था जो [केवल] गुरुदेव के चरणों की आराधना करने वाला था।

सो भयो ठाढ़ जुगल कर जोरी। कहेउ नाथ बिनती इक मोरी॥
होय जो आयसु बिनवउँ स्वामी। जद्यपि जानहु अंतरजामी॥

उसने खड़े होकर दोनों हाथों को जोड़कर कहा- हे प्रभो! मेरी एक प्रार्थना है। हे अन्तर्यामी! यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, फिर भी हे स्वामिन! आज्ञा दें तो मैं निवेदन करूँ!

अति प्रसन्न प्रभु कह जो चाहउ। पूछहु तुम्ह सास्त्रन्हि निर्बाहउ॥
सो बोलेउ सचराचर स्वामी। बेद सास्त्र तुम्हरे अनुगामी॥

गुरुदेव ने अति प्रसन्न होकर कहा- मैं जानता हूँ कि तुम वेद, शास्त्रों की मर्यादा का निर्वहन करने वाले हो, अतः जो चाहो पूछो [क्योंकि सद्गुरु से निवेदन की यही परंपरा है]। उसने कहा- हे प्रभो! हे जगत्पते! वेद-शास्त्र भी आपका अनुगमन करते हैं।

गूढ़ तत्व जे जग महँ आहीं। तुम्हसों दुरे अल्पहू नाहीं॥
हे कृपालु उन्ह सब मत माहीं। इक प्रति संसय मम उर आहीं॥

जगत के जो भी गूढ़ तत्त्व हैं वे आपसे थोड़े भी छिपे नहीं हैं। [हे दीनानाथ!] हे कृपालु! उन्हीं सिद्धान्तों में से एक के प्रति मेरे मन में संशय प्रकट हो गया है।

कबहुँ करत नर दैव प्रसंसा। कबहुँ करत करमन्हि अनुसंसा॥

[वह यह कि] पुरुष कभी दैव की प्रशंसा करता है और कभी कर्म को ही बड़ा बताता है।

दोहा— तिन्ह महँ को बड़ छोट प्रभु याहि बतावहु आज।
एहि जाने बिनु होय मम आजहुँ काज अकाज॥ ३३(क)॥

हे जगत्पते! उन (भाग्य और कर्म) में कौन बड़ा और कौन छोटा है- कृपया इसे स्पष्ट कर दें; क्योंकि यह रहस्य जाने बिना आज मेरी आध्यात्मिक यात्रा पूरी नहीं हो पा रही है।

औरउ गुप्त रहस्य प्रभु भलीभाँति देउ खोल।
चाहउँ जानन याहि मैं देइ सकउँ नहिं मोल॥ ३३ (ख)॥

हे गुरुदेव! इनके और भी गुप्त रहस्यों को भलीभाँति स्पष्ट कर दें, मैं इसी के समाधान की याचना करता हूँ किन्तु इसका मूल्य नहीं चुका सकता।

चौपाई— तब सो मम सदगुरु भगवाना। लागे करन दैव गुनगाना॥
कर्मन्ह रूप बतावन लागे। सुनत अमिय बच सब अनुरागे॥

तब मेरे गुरुदेव भगवान दैव के स्वरूप का गुणगान करते हुए कर्म के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण करने लगे और उस अमृतमयी वाणी को सुनते ही सभी [साधक एवं भक्तगण] मग्न हो गये।

दैव बीज सम कर्महि तरुवर। यहि बिचारि मम भाषहिं गुरुवर॥
दैव धरा सम खेत करम सों। पृथक लगें बस स्वयं भरम सों॥

मेरे गुरुदेव ने इन विचारों को कहना प्रारम्भ किया कि दैव को बीज तथा कर्म को वृक्ष के समान समझना चाहिए। वैसे ही दैव पृथ्वी और कर्म खेत के समान है। इनमें पृथकत्व एकमात्र अपने भ्रम के कारण ही प्रतीत होता है।

दैव मृत्तिका घड़ो करम है। यो मानें अस मनुज धरम है॥
दैव पटरि चल कर्महि गाड़ी। ऐसो कहतो कबी अनाड़ी॥

उसी प्रकार दैव मिट्टी और कर्म घड़ा है; ऐसा मानें, यही मनुष्य का धर्म है। दैव पटरी है तो कर्म उस पर चलने वाली गाड़ी है- ऐसा यह अनाड़ी कवि कहता है।

दैव सूत तो कर्महि साड़ी। ऐसोइ चर्म मांस अरु नाड़ी॥
माँ पितु दैव कर्म सुत पूती। मम गुरुवर की यह अनुभूती॥

दैव सूत है तो कर्म ही साड़ी है, इसीप्रकार चमड़े, मांस और नाड़ी का भी संयोग है [अर्थात् दैव मांस है तो कर्म नाड़ी एवं चमड़ा है]। दैव माता-पिता है तो कर्म पुत्र एवं पुत्री है- ऐसी मेरे गुरुदेव की अनुभूति है।

दोहा— दैव वाष्प तौ कर्महीं नभ बादल प्रगटाय।
दैव दृगनि महँ लाग तिमि कर्मन्ह काजल भाय॥ ३४॥

हे भाइयो! दैव वाष्प है तो कर्म आकाश मण्डल में प्रकट होने वाला बादल है। उसीप्रकार दैवरूपी नेत्रों में कर्मरूपी काजल लगा हुआ है।

चौपाई— दैव आतमा देह करम है। यासों डरनो नाहिं धरम है॥
दैव अचल साक्षी प्रभु चेतन। कर्म समान जगत अरु यह तन॥

वैसे ही दैव आत्मा है तो कर्म देह है, इसलिए इस दैव से भयभीत होना धर्म नहीं है। दैव अचल साक्षी चेतन भगवान है तो कर्म जगत और इस शरीर के समान है।

दैवहि नट कर्महि तेहि लीला। अस समुझत ढह भरमन्हि टीला॥
दैवहि रूप नाम कर्मोई। एहि महँ नहिं कहुँ कछु मैं गोई॥

दैव नट (जादूगर) है तो कर्म ही उसका खिलवाड़ (जादू) है- ऐसा समझते ही महाभ्रम का नाश हो जाता है। दैव रूप है तो कर्म ही नाम है, इसमें मैं कहीं कुछ छिपाकर नहीं रख रहा हूँ।

दैवहि सूर्य करम दिन मानउ। यहि रहस्य उर अति सनमानउ॥
दैव गिरा कर्महि स्वर बूझउ। यासों यामें मत तुम्ह जूझउ॥

आप हृदय में इस रहस्य का अति आदर करें कि दैव सूर्य है तो कर्म दिन है। इसी प्रकार दैव को वाणी तो कर्म को स्वर समझें, इसलिए दैव और कर्म में अभिन्नता जानकर आप संघर्ष न करें।

दैव स्वर्ण कर्महि सब भूषण। अनुचित कहुँ तो दीजै दूषण॥
दैव मकरि सच कर्महि जालहि। समुझे अस उर भ्रम नहिं सालहि॥

वैसे ही दैव स्वर्ण है तो कर्म [उससे निर्मित] आभूषण है। यदि मैं अनुचित कह रहा हूँ तो निश्चित ही मुझे दोष देना। दैव मकड़ी है तो कर्म ही वस्तुत: जाला है; ऐसा समझने से हृदय में भ्रमजनित दु:ख नहीं होगा।

दैव सिंधु अरु कर्म लहर है। इमि चित महँ तृष्ना की दहर है॥

दैव सागर है तो कर्म लहर है इसीप्रकार चित्त में नाना प्रकार की इच्छाओं की ज्वालाएँ हैं अर्थात् दैव इच्छाएँ है तो कर्म उनकी ज्वाला है।

छंद— अस दैव कर्म स्वरूप गुरुवर दिब्य बानी गावई।
जेहि मानि साधक भगत हिय सों परम रस अनुभावई॥
गुन दोष नाहिं लखाय जग अरु दैव भरमहु जायेगो।
पुरुषार्थ करि सब गुरुकृपा सों निज स्वरूपहिं पायेगो॥

इस प्रकार गुरुदेव ने दैव और कर्म के स्वरूप को दिव्य भाषा में परिभाषित किया है जिसे स्वीकार करके साधक एवं भक्तगण हृदय से परम आनन्द का अनुभव करें। उसके उपरान्त तो जगत में गुण और दोष दिखेगा ही नहीं तथा दैव का भ्रम भी समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार सभी पुरुषार्थ करके गुरुकृपा से अपने स्वरूप को प्राप्त कर जायेंगे।

दोहा— नियत कर्म बाधित करे दैव मान्यता ब्यर्थ।
महाराज साधक सुनें नहिं याको कोउ अर्थ॥ ३५॥

स्वधर्म पालन में दैव बाधा बनता है- ऐसी मान्यता व्यर्थ है। साधकगण यह जान लें कि महाराज के अनुसार दैव का कोई अर्थ नहीं है।

चौपाई— सुनि अर्जुन लेइ स्वाँसा भारी। प्रभु सन्मुख अस गिरा उचारी॥
मामा सकुनिहिं दैव सहायो। यासें पौरुष मोहिं न भायो॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन ने गहरी श्वास लेते हुए भगवान से कहा- [हे प्रभो! यह मैं कैसे मान लूँ क्योंकि] मामा शकुनि का दैव ही सहयोगी है, इसलिए मुझे पुरुषार्थ श्रेष्ठ नहीं लग रहा है।

भाग्य बिभव दुर्योधन साथा। दुर्दिन यह सब हमरे माथा॥
हार्‌यो द्युत महँ सत पुरुषारथ। गयो हमारो सब सत स्वारथ॥

[यही कारण है कि] सौभाग्य और वैभव दुर्योधन के साथ है तथा यह समस्त दुर्दिन हमारे ही माथे पर आ पड़ा है। [इस दैव के कारण ही] धर्मात्मा पुरुष महाराज युधिष्ठिर जुए में हार गये और हम सबका धर्म एवं स्वार्थ चला गया।

संत कहत परमारथ स्वारथ। धर्मवान कहँ मिलत यथारथ॥
इहँ सब झूँठ भयो यदुराई। यासों देख्यों भाग्य बड़ाई॥

[हे प्रभो!] सन्तजन यही कहते हैं कि परमार्थ और स्वार्थ एकमात्र धर्मशील पुरुष को ही प्राप्त होता है; किन्तु [हमलोगों के साथ जो घटनाएँ हुई हैं, उससे तो] हे यदुनाथ! यहाँ सन्तों के सारे वचन मिथ्या सिद्ध हुए, इसलिए मैं दैव को ही श्रेष्ठ समझता हूँ।

जब कौन्तेय बिकल अस बोले। तब नाथहु कह बचन अमोले॥
द्यूत पराजय राज्य गये सों। गुरुजन्ह मात्र बिपक्ष भये सों॥

जब भक्त कौन्तेय ने ऐसा विकल होकर कहा तो प्रभु ने भी अमूल्य वचन कहा- हे पार्थ! जूए में पराजय और राज्य के चले जाने तथा मात्र गुरुजनों के विपक्ष में हो जाने से-

अर्जुन सास्त्र संत सब झूँठो। भ्रम भयो तोहिं प्रेत जिमि ठूँठो॥

शास्त्र एवं सन्त सभी सर्वथा असत्य हो गये। हे अर्जुन! तुम्हें यह भ्रम उसी प्रकार हो गया है जैसे किसी को ठूँठ में प्रेत का भ्रम हो जाता है।

दोहा— पुनि तौ कालयवन अरु जरासंध सों भागि।
जाइ द्वारिका बसि गयों तुव मत मम दुर्भागि॥ ३६॥

फिर तो जरासंध और कालयवन से भागकर द्वारिका में जाकर बस जाना तुम्हारे मत से मेरा दुर्भाग्य ही है ?

चौपाई— असुरन्ह बिच रणछोर कहायों। तउ दुर्भाग्य हृदय नहिं लायों॥
जानबूझि सो कीन्हों ताता। संत भक्त सब बूझत बाता॥

भले ही असुरों के बीच मैं रणछोड़ नाम से विख्यात हुआ तो भी मैंने उसे अपने हृदय में दुर्भाग्य की संज्ञा नहीं दी। क्योंकि हे प्रिय! वह सब मैंने जान बूझकर किया था जिस रहस्य को समस्त सन्त एवं ऋषिगण जानते हैं।

तस कछु कारन भयों किनारे। जासे द्यूत युधिष्ठिर हारे॥
उन्हकी हार जगत हित कारन। यासों तजहु याहि अवधारन॥

उसी प्रकार मैं कुछ विशेष कारण से मौन हो गया था इसलिए धर्मराज युधिष्ठिर की जूए में पराजय हुई। उनकी पराजय में जगत का कल्याण ही कारण था, इसलिए तुम [अपनी] इस अवधारणा का परित्याग कर दो।

बाँधत करम जगत अस समुझहु। यासों रन महँ नहिं तुम्ह उरझहु॥
तौ नित असत तोर मत ताता। यासों कै यह बिभु फल दाता॥

[हे बुद्धिमान!] यदि तुम ऐसा समझते हो कि समस्त जगत के लोगों को कर्म ही बाँधता है, इसलिए तुम इस युद्ध रूपी कर्म में उलझना नहीं चाहते हो, तो हे प्रिय! तुम्हारा यह मानना सदा ही मिथ्या है। ऐसा इसलिए कि यह कर्म तो ब्रह्मरूपी फल देने वाला है।

यज्ञ निमित बिनु दूसर कर्मा। जग बंधन कारक श्रुति धर्मा॥
यज्ञ ब्रह्म अस बेद बतावत। भगवद्भक्त संत सब गावत॥

श्रुति का कहना है कि यज्ञभाव से रहित जो अन्य कर्म हैं वे ही जगत में बन्धन कारक होते हैं। यज्ञ ही ब्रह्म है- ऐसा वेद, भगवद्भक्त एवं सन्तजन सभी कहते हैं।

दोहा— यासों अब आसक्ति तजि मम सुमिरत दिन रात।
करहु करम अति हर्षयुत मानउ मोरी बात॥ ३७॥

इसलिए यदि मेरी बात मानो तो अब आसक्ति का परित्याग कर दिन-रात मेरा स्मरण करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कर्म करो।

चौपाई— सुनहु बात इक बीर धनुर्धर। पुनि उर भावे जो सोई कर॥
यज्ञ सहित रचि प्रजा प्रजापति। बोले तुम्ह सब अतिहिं बिमल मति॥

हे महावीर! हे धनुर्धर! एक और बात सुनो फिर तुम्हें हृदय से जो प्रिय लगे वही करो। [वह यह कि] यज्ञ के साथ प्रजा को रचकर प्रजापति भगवान ने कहा- आप सब अत्यन्त निर्मल बुद्धि वाले हैं।

सुरन्हि प्रसन्न करहु एहि यग सों। तेउ तुम्हहिं सुख दैं एहि मग सों॥
अस ब्यवहार परस्पर करि करि। लहहु ज्ञान घर कै बन गुरु धरि॥

इस यज्ञ द्वारा आप देवताओं को प्रसन्न करें और वे भी इसी प्रकार आपको सुख प्रदान करें। इसप्रकार आप सब [निष्काम भाव से] परस्पर ऐसा व्यवहार करते हुए इसी जगत में रहें या वन में जाकर सद्गुरु से परम ज्ञान प्राप्त करें।

अपर बात तोषत सुर सारे। इच्छित फल देवें बहु भारे॥
पर उन्हके बिनु रिनहिं चुकाये। बस तेहि स्वयं स्वजन सँग खाये॥

दूसरी बात यह है कि यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता आप सबको अभीष्ट अपरिमित फल देंगे परन्तु जो उनके उपकार का ऋण चुकाये बिना ही मात्र स्वजनों के साथ उसका उपभोग करेगा-

सो जड़ सुरन्ह स्वत्व अपहर्ता। निस्चय चोर धर्म संहर्ता॥
अन्न पकाय आपु हित भारी। उदर परायन पापाहारी॥

देवताओं के भाग का अपहरण करने वाला वह मूर्ख निश्चित ही चोर होगा और धर्म का नाश करने वाला होगा। जो केवल अपना पेट भरने के लिए अन्न पकाता है वह पाप का ही आहार करता है।

तेहि बिपरीत श्रेष्ठ नर कोऊ। यज्ञसेष अन खावत होऊ॥
तौ होइ जाय मुक्त पापन सों। कबहुँ न तपे त्रिबिध तापन सों॥

किन्तु उसके विपरीत यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष यज्ञ से बचे हुए अन्न को ग्रहण करता है तो वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है, कभी भी त्रिविध तापों से नहीं तपता।

पार्थ अन्न सों जीयत सबरे। उपजत जो बारिस सों सगरे॥

हे अर्जुन! सभी मनुष्य अन्न ग्रहण करने से ही जीते हैं, जो सर्वत्र वर्षा से ही प्रकट होता है।

दोहा— बरसइ बारिस यज्ञ सों यज्ञ करम सों होय।
आगम सों प्रगटत करम जानइ बिरला कोय॥ ३८॥

वर्षा यज्ञ से प्रकट होती है और यज्ञ शास्त्रीय कर्म से प्रकट होता है एवं वह कर्म वेद से प्रकट होता है, इसे कोई विरला ही जानता है।

चौपाई— अक्षर बिभु सों बेदहु सोऊ। समुझु परंतप प्रगटत होऊ॥
कारन ब्रह्म सर्बगत जोई। यज्ञ प्रतिष्ठित नित्यहि होई॥

हे परंतप! ऐसा जानो कि यह वेद अविनाशी ब्रह्म से ही प्रकट हुआ है। इसलिए जो सर्वगत ब्रह्म है, वह नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एहि बिधि चलहिं न जे नर नारी। बर्ग जाति सब सुरति बिसारी॥
ते बिषई अस नर तन धारी। ब्यर्थ जियत जग पापाहारी॥

इस नियम से जो स्त्री अथवा पुरुष, वर्ग-जाति आदि की भावनाओं को भुलाकर नहीं चलते, वे पाप का आहार करने वाले विषयी इस मनुष्य शरीर को धारण करके संसार में व्यर्थ ही जीते हैं।

यज्ञहि ब्रह्म करम पुनि सोई। सुनत पार्थ मन अचरज होई॥
अबलौं यज्ञ ताहि सच मान्यों। जेहि महँ देवाहुति आधान्यों॥

यज्ञ ही ब्रह्म है और पुनः वही कर्म भी है- ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन को मन ही मन अत्यन्त आश्चर्य हुआ [और सोचने लगे] कि अब तक तो मैं यथार्थ में उसी को यज्ञ मानता था जिसमें देवताओं को [मंत्रों द्वारा हविष्य की] आहुति दी जाती है।

यासों पूछत प्रभु सनमानी। कुपित होउ नहिं मैं अज्ञानी॥
अहइ को यज्ञ ब्रह्म पुनि कैसे। सो सतकर्म होय कहु जैसे॥

इसलिए भगवान को आदर देते हुए पूछते हैं- हे प्रभो! मैं अज्ञानी हूँ, अतः मेरी बात पर कुपित न हों और पुनः बतायें कि यज्ञ क्या है, वह ब्रह्म कैसे है? जिस युक्ति से वह सत्कर्म बन जाता है, वह युक्ति भी बतायें-

दोहा— अन्न कहहु सो कौन प्रभु मैं जेहि जानउँ नाहिं।
जेहि खावत ही काम मद लोभहु मोह नसाहिं॥ ३९॥

हे प्रभो! यहाँ जिस अन्न की बात कर रहे हैं, वह कौन-सा है, जिसे मैं नहीं जानता? जिसे [प्रसाद रूप में] खाते ही काम, क्रोध, मोह तथा मद आदि दोषों का नाश हो जाता है?

चौपाई— सुनि तिन्ह बच प्रभु कह हरषाई। यज्ञ करम रुप देउँ बताई॥
महि अरु स्वर्ग देव द्वै ताता। तहँ सुरगन इहँ गुरु पितु माता॥

भगवान ने उनके वचनों को सुन प्रसन्न होकर कहा कि लो! यज्ञ और कर्म का स्वरूप भी बताये देता हूँ। हे प्रिय! देवता दो प्रकार के हैं- 'पृथ्वी और स्वर्ग के'। माता-पिता एवं गुरुजन आदि पृथ्वी के देवता हैं और इन्द्रादि स्वर्ग के देवता हैं।

मंत्राहुति सुर सेवा चावें। होइ मुदित अपनो हित आवें॥
मातु पितादि चहहिं कर सेवा। कर्माहुति तिन्ह समुझु कलेवा॥

उनमें मंत्र और [हविष्यान्न तथा घी आदि की] आहुतिरूपी सेवा स्वर्ग के देवता चाहते हैं एवं प्रसन्न होकर अपने (यज्ञकर्ता के) हितार्थ आ जाते हैं किन्तु माता-पिता एवं गुरुजन आदि तो इन्हीं हाथों से सेवा चाहते हैं;

क्योंकि कर्मरूपी आहुति को ही उनका भोजन जानना चाहिए।

दान मान नित भोजन छाजन। एहि सेवा सों बुझैं सुभाजन॥
जहँ मन बुधि इंद्रिनि पर देवा। बैठि करत नित हमरी सेवा॥

उन्हें नित्य दान-सम्मान तथा भोजन-छाजन अर्थात् सब कुछ देना चाहिए, इसी सेवा से वे हमें सुयोग्य पात्र समझते हैं। जहाँ स्वर्ग के देवतागण मन, बुद्धि, चित्त तथा इन्द्रियों पर बैठकर हमारी सेवा करते हैं-

तहँ पितु मातु स्वजन मिलि संगहिं। एहि तन लालि पालि कर चंगहिं॥
यासों उन्हकर रिन अपुने पर। बच्यो रहत कानन भगने पर॥

वहीं माता-पिता तथा स्वजन साथ-साथ रहते हुए इस शरीर का लालन-पालन करके इसे स्वस्थ और बड़ा कर देते हैं, इसलिए वनप्रदेश भाग जाने पर उनका ऋण अपने ऊपर शेष बचा रह जाता है।

दोहा— तिन्ह रिन चुकता करि बिपिन जाइ करै जप जोग।
सास्त्र कहइ तब सहज महँ होय ब्रह्म सों योग॥ ४०॥

अत: शास्त्र नीति कहती है कि उनका ऋण चुकाकर यदि कोई वन प्रदेश में जाकर जप, तप, योग करता है तो उसे सहज ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

चौपाई— यज्ञरूप ये सुरगन सारे। लीला बस निज रूप बिसारे॥
यह सब सुनि गुनि समुझि परंतप। पुनि करु रन कै करु बन जप तप॥

हे परंतप! ये समस्त देवता यज्ञरूप हैं, एकमात्र लीलावश ही अपने स्वरूप को भूल गये हैं। वह कैसे? तो सुनो, विचार करो और समझो तथा उसके बाद युद्ध करो या वन में जप-तप करो [यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है]।

सृष्टि पूर्ब बिनु नामहिं रूपा। हुतो ब्रह्म बस अतिहिं अनूपा॥
परमानंद सांतिमय रहनी। अनुभव होय जाय नहिं कहनी॥

हे प्रिय! यथार्थत: सृष्टि के पूर्व नाम और रूप से रहित एकमात्र अत्यन्त अनुपमेय ब्रह्म ही था। उसकी परमानन्द एवं शान्तिमय स्थिति का अनुभव तो होता है किन्तु वर्णन नहीं किया जा सकता।

सहज कियो संकल्प धनुर्धर। प्रगट होउँ मैं बनि अपरा पर॥
यग यागिक बनि लीला धारउँ। अपुनो बहुत रूप बिस्तारउँ॥

हे धनुर्धर! उसने सहज ही संकल्प किया कि अब मैं अपरा और परा रूप में प्रकट हो जाऊँ एवं यज्ञ और याज्ञिक रूप होकर स्वयं का असंख्य रूपों में विस्तार करके लीला करूँ।

तेहि छन भयो ॐ हुंकारा। साथइ दिब्य रूप बिस्तारा॥
यजन हेतु सो यज्ञ कहायो। जो सबके हिय महँ अति भायो॥

उसी समय ॐ का हुंकार हुआ और साथ ही साथ दिव्यरूप का विस्तार हो गया। उपासना के निमित्त प्रकट होने से वह यज्ञरूप (सृष्टिरूप) कहलाया, जो सबके हृदय को अत्यन्त प्रिय लगा।

दोहा— याहि नाम अपभ्रंस जग भयो जान सब कोय।
कोउ सृष्टि संसार कह अपर नाम बहु होय॥ ४१॥

इसी यज्ञ का अपभ्रंश नाम 'जग अर्थात् जगत' हुआ, जिसे सभी जानते हैं तथा कोई इसे सृष्टि एवं संसार भी कहता है। इसी प्रकार इसके बहुत-से अन्य नाम भी हैं।

चौपाई— याको सिर ज्योतिर्मय देसा। जहँ प्रगटे दृग रूप दिनेसा॥
ज्योति अहं रबि मतिहु कहायो। पुनि प्रगट्यो ससि मन बनि भायो॥

इस यज्ञमय पुरुष का ज्योतिर्मय देश ही सिर है जिसमें नेत्ररूप से सूर्य भगवान प्रकट हुए। यह परम ज्योति ही उसका अहंकार है तथा सूर्य को बुद्धि भी कहा जाता है, उसके उपरान्त चन्द्रमा प्रकट हुआ जो मन रूप में शोभायमान हुआ।

ग्रिवा गगन संधीथल जैसो। वायू मुख्य प्रान सम ऐसो॥
अग्नी उदर सिंधु बस्ती थल। भयो धरा पद अस लाग्यो भल॥

आकाश उसके गले के रूप में संधिस्थल के समान है तथा इसी प्रकार वायु मुख्य प्राण के समान है। अग्नि उसका पेट है और समुद्र उसका वस्तिस्थल तथा पृथ्वी उसका पाँव बनी- इस प्रकार वह सुशोभित होने लगा।

यज्ञ बिना याज्ञिक नहिं सोहे। मंत्र बिना देवन्हि नहिं मोहे॥
यासों सप्तर्षी सुर सारे। नभ ग्रीवा सों प्रगट्यो न्यारे॥

यजन करने वाले पुरुष (याज्ञिक) के बिना यज्ञ शोभा नहीं दे रहा था तथा मंत्र के बिना वह देवताओं को वशीभूत नहीं कर सकता था। अत: आकाशरूपी गले से उसने अनुपम सप्तर्षियों एवं समस्त देवताओं को प्रकट किया।

प्रगट्यो अतिथि देव वायू सों। पूज्य सदा जग महँ काऊ सों॥
पावक सों कुलगुरु उपजायो। ऋषि जिमि धृष्टद्युम्न प्रगटायो॥

फिर उसने वायु से अतिथि देवता को प्रकट किया जो जगत में सभी के द्वारा सदा ही पूज्य है। उसके उपरान्त उसने अग्नि से कुलगुरु को वैसे ही प्रकट किया, जैसे ऋषि याज ने धृष्टद्युम्न को प्रकट किया था।

पिता दियो पुनि बस्ती जल सों। प्रगटायो माता पद थल सों॥

पुन: उसने जलरूपी वस्तिस्थल से पिता को तथा पृथ्वीरूपी पाँव से माता को प्रकट किया।

दोहा— पंचदेव बनि यज्ञनर बाणी बेद बनाय।
को पूजक को पूज्य कस मंत्र सों दियो दिखाय॥ ४२॥

इस प्रकार उस यज्ञमय पुरुष ने पंच देवताओं के रूप में प्रकट होकर तथा वेदों को वाणी बनाकर, कौन किसप्रकार पूजन करने वाला और कौन पूज्य है, ऐसा वेदमंत्रों से दिखा भी दिया।

चौपाई— पुनि अंडज पिंडज अरु स्वेदज। उदभिज प्रानिहु बन्यो सोइ अज॥
पर सो नाहिं नियम बिनु सोहे। इन्हके बिनु कैसे कोउ मोहे॥

फिर वही अजन्मा ब्रह्म अण्डज (अण्डे से उत्पन्न होने वाले), पिण्डज (सीधे पिण्ड रूप में उत्पन्न होने वाले), उद्भिज (भूमि से उत्पन्न होने वाले वनस्पति आदि) और स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले) बन गया। परन्तु वह बिना नीति-नियमों का पालन किये शोभा नहीं दे सका; क्योंकि इनके बिना कोई किसी को अपने वश में कैसे कर सकता है!

कियो बेद सों कर्म बिभागा। जो सबहीं मन अति अनुरागा॥
अब सुनु अन्न रूप तू मोसे। जाहि समुझि तव उर अति तोसे॥

इसलिए उसने अपनी वाणी (वेद) से सबके कर्मों का विभाग कर दिया जो सभी के मन को अति प्रिय लगा। हे पार्थ! अब तुम मेरे द्वारा अन्न का स्वरूप सुनो जिसे जानकर तुम्हारा हृदय सर्वथा सन्तुष्ट हो जायेगा।

सकल जगत यह काल कलेवा। यासों अन्न यहउ नरदेवा॥
महाप्रलय छन जल प्रगटावे। एहि बसुधाहिं अन्न सम खावे॥

यह सारा जगत काल का भोजन है, इसलिए हे नरावतार अर्जुन! यह भी सच में अन्न ही है। महाप्रलय के समय जल चारों ओर से प्रकट होकर इस धरा को अन्न के समान खा जाता है।

पावक जल सँग यहि कर भाई। अन्न समुझि तेहि भलिबिधि खाई॥
वायु अगिनि कर भोजन करई। ताहि भानु अपुने मुख धरई॥

हे प्रिय! यही कार्य अग्नि जल के साथ करता है और उसे अन्न समझकर सम्पूर्णतया खा जाता है। वायु भी अग्नि को खा जाता है तथा उस वायु को सूर्य निगल जाता है।

रबिहिं खाय चेतन हंकारी। बहुरि होत सो अगुन अकारी॥
दम्पति अन्न परस्पर अहहीं। तेउ अन्न कुलगुरु हित कहहीं॥

सूर्य को अहं चेतन (आत्मा) अपने में विलीन कर लेता है और पुन: वह पूर्ववत् निर्गुण निराकार रूप धारण कर लेता है। वैसे ही पति-पत्नी एक दूसरे के लिए अन्नरूप हैं तथा वे दोनों कुलगुरु के लिए अन्नरूप कहे जाते हैं।

तीनउँ अन्न अतिथि कर भाई। भोक्ता भोग्यहिं मधुर सगाई॥
ये चारिउ पसु पक्षिन्ह कर धन। उन्हके काजहुँ उपराजत अन॥

उसी प्रकार ये तीनों अतिथि के लिए अन्न हैं। इस प्रकार भोक्ता और भोग्य [इन दोनों] में मधुर सम्बन्ध है। वैसे ही ये चारों पशु-पक्षियों की सम्पत्ति हैं; क्योंकि ये उनके लिए भी अन्न का उपार्जन करते हैं।

तेउ पसु पक्षिहु सहज मनुज धन। अति उपयोगी नाम भयो अन॥

वे पशु-पक्षी भी सहज ही मनुष्य की सम्पत्ति हैं और [समयानुसार] बहुत उपयोगी हैं, अतः उनका एक नाम अन्न भी है।

दोहा— एहि बिधि यज्ञरूप अरु अन्नरूप सब कोय।
पर नर तन जग महँ महत कस क्यों भाषउँ तोय॥ ४३॥

इस प्रकार सभी यज्ञरूप एवं अन्नरूप हैं किन्तु मनुष्य शरीर ही जगत में सबसे श्रेष्ठ क्यों और कैसे है, यह भी मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

चौपाई— देव पुन्य बल स्वर्गहिं जाहीं। सुख भोगन हित बिबस कहाहीं॥
तस पसु पक्षी कीट पतिंगहु। भोगहिं अति दुख कोउ न संगहु॥

समस्त देवगण पुण्य के बल से स्वर्ग में चले जाते हैं जहाँ सुख भोगने के लिए विवश होते हैं। वैसे ही पशु-पक्षी और कीट-पतिंगे भी अत्यन्त दुःख पा रहे हैं, उनके साथ कोई है भी नहीं।

आगम निगम पुराण न उनकै। तन मन बुद्धि तमोमय जिनकै॥
सरग नरक बंदीगृह दोऊ। त्रिजग्जोनि सुर बंदी होऊ॥

अरे! जिनके तन, मन, बुद्धि आदि ही तमोमय हैं, उनके लिए तो वेद, शास्त्र, पुराण आदि के नियम भी नहीं हैं। स्वर्ग और नरक- ये दो कारागार हैं जिसमें पशु-पक्षी तथा कीट-पतिंगों के साथ-साथ देवतागण बन्दीजन हैं।

कारागार मुक्त मानुष तन। यासें ता कहँ सकल रूप अन॥
जे नरयज्ञ माँहि उपयोगी। काम निकारत तपसी जोगी॥

यह मनुष्य शरीर तो कारागार से मुक्त है, अतः उसके लिए ये सभी रूप [अर्थात् पशु-पक्षी और देवगण] अन्न हैं, जो मनुष्य के यज्ञ में अत्यन्त उपयोगी हैं; जिनसे [कभी-कभी] तपस्वी एवं योगीगण भी अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं।

अस बरु रूप यज्ञमय सारो। पर मानुष तन सबसों न्यारो॥
यह मनुजहि करि सक पुरुषारथ। कहउँ ब्यवस्था कियों जो पारथ॥

इस प्रकार भले ही समस्त रूप यज्ञमय हैं किन्तु मनुष्य का शरीर सबसे विलक्षण है। हे पार्थ! यह मनुष्य ही पुरुषार्थ कर सकता है इसलिए उसके लिए जो व्यवस्था की है उसे बता रहा हूँ।

आश्रम चारि सुयज्ञ करन को। जप तप जोग सु धरम धरन को॥
ब्रह्मचरज आश्रम एक नामा। गारहस्थ दूसर सुचि धामा॥

हे पार्थ! यज्ञ, जप, तप, योग और धर्म-कर्मों के लिए चार आश्रम कहे गये हैं, जिनमें एक का नाम ब्रह्मचर्याश्रम तथा दूसरा पवित्र गृहस्थाश्रम है।

दोहा— बानप्रस्थ आश्रम तृतिय जहँ तप जाइ कराहिं।
संन्यासहि आश्रम चतुः चौथेपन जहँ जाहिं॥ ४४॥

वैसे ही तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है, जहाँ जाकर जप-तप किया जाता है तथा चौथा आश्रम संन्यास आश्रम है जहाँ चौथेपन में जाया जाता है।

चौपाई— औरउ नियम सास्त्र एक सुंदर। प्रभु हित बाल युवा नारी नर॥
जबहिं होय निर्मल बैरागा। प्रभु पदकमल बिमल अनुरागा॥

हे पार्थ! वेद-शास्त्रों में एक और भी सुन्दर नियम दिया गया है कि चाहे कोई बालक हो या युवा, स्त्री हो या

पुरुष, उन्हें भगवत् प्राप्ति के लिए जिस दिन निर्मल वैराग्य हो जाय अथवा भगवान के चरण कमलों में निर्मल प्रीति हो जाय-

तबहिं तजहिं गृह तेहि अवस्था। करहिं जोग जप यहइ ब्यवस्था॥
आश्रम चारि दिब्य जगसाला। जहँ प्रगटहिं प्रभु दीनदयाला॥

उसी क्षण, उसी अवस्था में वे घर का परित्याग कर दें तथा [वन-प्रदेश में जाकर] जप, तप, योग धारण कर लें- [उनके लिए] यही व्यवस्था है। उपरोक्त चारों आश्रम दिव्य यज्ञशालाएँ हैं जहाँ भक्तों पर दया करने वाले भगवान प्रकट होते हैं।

अब संक्षेप यजन बिधि सोई। कहउँ करत जासों भल होई॥
गृह आश्रमहि एक जगसाला। यज्ञ करन चह जहँ कोउ लाला॥

अब थोड़े में मैं उस यज्ञ की विधि बता रहा हूँ जिसको करने से कल्याण की प्राप्ति होती है। गृहस्थाश्रम ही एक दिव्य यज्ञशाला है जिसमें कोई सुपुत्र, यज्ञ करना चाहता है-

तौ पितु मातु अतिथि गुरु देवा। पंचम कीट पतिंगनि सेवा॥
सुभ आवास ब्यवस्था जोई। उनहिं देन बर आसन योई॥

तो वह गुरु, माता-पिता, अतिथि- इन सभी देवताओं तथा पंचम देवता के रूप में पशु-पक्षी तथा कीट-पतिंगों आदि की सेवा करे। इनके लिए सुन्दर आवास की व्यवस्था करना ही, इनको [उस यज्ञशाला में] श्रेष्ठ आसन देना कहलाता है।

दोहा— प्रिय भोजन सुभ हबिस सम आदर मानहु घीउ।
प्रेम श्रुवा करि हुतत जो तहिं लह अपुनो पीउ॥ ४५॥

उनके मनोनुकूल भोजन देना ही पवित्र हविष्य है तथा आदर-मान करना घी (आज्य) है। जो प्रेमरूपी श्रुवा से इस प्रकार की आहुति देता है उसे वहीं (घर में) अपना भगवान मिल जाता है।

चौपाई— अस करि यज्ञ सेष जो खावे। पहिरे बास करे पुनि ध्यावे॥
ब्रह्मपाप काहे नहिं होऊ। सो नसाय सुख पावे ओऊ॥

इस प्रकार का यज्ञ करके जो अन्न शेष बचता है, उसको प्रसाद समझकर ग्रहण करे, जो वस्त्र बचता है उसे पहने, जो घर बचता है उसमें वास करे, फिर भगवद्भजन करे तो भले ही ब्रह्महत्या ही क्यों न लगी हो, चली जायेगी और वह पुरुष परम सुख प्राप्त करेगा।

ब्रह्मचरज आश्रम यगसाला। सदगुरु एक देव प्रतिपाला॥
उन्हहिं सलिल आवास ब्यवस्था। करनो आसन देन अवस्था॥

वैसे ही ब्रह्मचर्य आश्रम एक दिव्य यज्ञशाला है जिसमें [शिष्य की] सुरक्षा करने वाला सद्गुरु ही एकमात्र देवता है। उनकी अवस्था के अनुरूप जल और आवास आदि की व्यवस्था करना उसे आसन देना है।

हबिस तिन्हहिं खिलाइ जो खावे। सदा समर्पण घी कहलावे॥
तप स्वाध्याय जोग जप ध्याना। कहहिं परंतप श्रुवा सुजाना॥

उन्हें प्रसाद (भोजन) समर्पित कर स्वयं ग्रहण करना दिव्य हविष्य है तथा सदा समर्पित रहना ही घी (आज्य) के समान है। हे परंतप! जप, तप, योग, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि को ही सन्तजन दिव्य स्रुवा कहते हैं।

बानप्रस्थ आश्रम यगसाला। सदगुरु अतिथि दोइ प्रतिपाला॥
उन्ह कहँ देनो सुभ आवासा। आसन अहइ करहु बिस्वासा॥

वैसे ही वानप्रस्थ आश्रम एक दिव्य यज्ञशाला है जिसमें सद्गुरु और अतिथि- ये दो मुख्य देवता हैं जो अपनी रक्षा करते हैं। उनके लिए शुभ आवास देना ही आसन है, ऐसा तुम विश्वास करो।

सोरठा— तैसेइँ सच सुनु पार्थ यगसाला यति आश्रमहु।
दिब्य रूप परमार्थ गुप्तबास आवास यति॥ ४६॥

हे पार्थ! उसी प्रकार संन्यासाश्रम भी वस्तुतः एक यज्ञशाला ही है जो दिव्य परमार्थ रूप है। उसमें संन्यासी

का गुप्तवास अर्थात् अज्ञातवास ही आवास है।

चौपाई— यति आश्रम भारत हि कहावत। गुप्त होइ जहँ स्वयंहिं ध्यावत॥
द्वैत त्याग बर आसन वाकी। मत अद्वैत हबिस सुभ ताकी॥

यह भारतवर्ष ही [उसके लिए] संन्यासाश्रम कहा जाता है जहाँ वह अज्ञात होकर (अपने को छिपाकर) अपने स्वरूप का ध्यान करता रहता है। द्वैत (मैं-तू) का त्याग ही उसका दिव्य आसन है तथा अद्वैत सिद्धान्त उसका दिव्य हविष्य है।

सर्वं ब्रह्म आज्य सुभ पारथ। सम दम आदिक श्रुवा यथारथ॥
करि अस यज्ञ सुभासुभ त्यागत। ब्रह्म होइ अपुनो सँग पागत॥

हे पार्थ! 'सबकुछ ब्रह्म ही है'- यही [दृष्टि] दिव्य घी है तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि यथार्थत: स्रुवा हैं। इस प्रकार का यज्ञ करते हुए वह शुभाशुभ का परित्याग कर देता है और ब्रह्मरूप होकर अपने-आप में मस्त रहता है।

सुनत धनंजय कह मम साईं। आज लिये सुधि हरि की नाईं॥
मैं कृतकृत्य भयउँ मधुसूदन। गयो बहुत मेरो चित रूदन॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन ने कहा- हे नाथ! यथार्थ में आज आपने मेरी भगवान की तरह सुध ली है। अत: हे मधुसूदन! मैं कृतकृत्य हो गया तथा मेरे चित्त का बहुत कुछ शोक-सन्ताप समाप्त हो गया।

प्रभु पर पाछ न छाड़उँ तबहूँ। सकल मोह भ्रम जाय न जबहूँ॥
यज्ञ हबिस अरु आहुति ऐसी। प्रभु नहिं सुन्यों कह्यो तुम्ह जैसी॥

किन्तु हे प्रभो! जब तक मेरा सारा का सारा मोह और भ्रम समाप्त नहीं हो जाता तब तक मैं आपका पीछा छोड़ने वाला नहीं हूँ। हे जगत्पते! जैसा कि आपने बताया है, इस प्रकार का यज्ञ, हविष्य एवं ऐसी आहुतियाँ तो मैंने कभी सुनी ही नहीं थीं।

आसन असन बसन आवासा। कौन देव सब भै बिस्वासा॥

आसन, अशन, वसन और आवास क्या हैं तथा यज्ञ के देवता कौन हैं- इन सब पर मुझे विश्वास हो गया।

दोहा— औरउ दिब्य अन्न जो तिन्हहिं सुनावहु मोय।
यदि सरणागत नाथ मैं कछु राखहु नहिं गोय॥ ४७॥

हे नाथ! आपकी दृष्टि में और भी जो दिव्य अन्न हैं उन्हें भी आप मुझे बतावें। हे नाथ! यदि मैं सच में आपका शरणागत हूँ तो मुझसे कुछ भी छिपाकर न रखें।

चौपाई— कवन सो अन्न यज्ञ अवसेषा। जाहि खाइ अघ रहे न सेषा॥
ताहि करउँ अरु जग सों भाषउँ। तव आज्ञा सिर माथे राखउँ॥

यज्ञ से बचा हुआ वह अन्न कौन है जिसके खाने से पापों से मुक्ति मिल जाती है? अब मैं आपकी आज्ञा सर्वथा स्वीकार करके वैसा ही करूँगा और जगत से भी वैसा ही करने के लिए कहूँगा।

सुनहु परंतप परम बिबेकी। तुम्ह तेहि लह जग टेक जो टेकी॥
सब्द परस रस रूपउ गंधा। एहि लाने लाग्यो जग धंधा॥

[भगवान ने कहा-] हे परंतप! सुनो, तुम परम विवेकवान हो। तुम जगत में जिसको प्राप्त करने की इच्छा करते हो, उसे प्राप्त कर लेते हो। [तो सुनो-] जगत का सारा धंधा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध की प्राप्ति के लिए ही लगा हुआ है।

अस इन्हिं दिब्य अन्न मैं मानउँ। औरउ अन्न कहउँ जिन्हिं जानउँ॥
काम क्रोध लोभहु मद मोहा। राग द्वेष भय मत्सर छोहा॥

अत: इन्हें (इन पाँचों रसों को) मैं दिव्य अन्न ही मानता हूँ, अब दूसरे भी दिव्य अन्नों को बताता हूँ जिन्हें मैं जानता हूँ। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, राग, द्वेष, भय, मत्सर (डाह) तथा पश्चात्ताप-

ये सब अन्न असुभ जग जानत। दूर करन हित प्रभु गुन गानत॥
पर भारत जहँ तृनहु न उपजहिं। ताहि थलहिं बीजहु कस निपजहिं॥

इन सभी अन्नों को जगत अशुभ रूप ही जानता है तथा इनका निवारण करने के लिए भगवान का गुणगान करता है, परन्तु हे भारत! जिस खेत में घास-फूस उपजेंगे ही नहीं, उस खेत में बीज भी कैसे उपजेंगे!

दोहा— सो धन ऐसो दिब्य धन जेहि यदि पलट्यो जाय।
मनुज अन्न अस तात सच अधिक अधिक उपजाय॥४८॥

वह [घास-फूस] ऐसा दिव्य धन है जिसे यदि पलट [कर मिट्टी से ढक] दिया जाय तो हे तात! सच कहता हूँ, इस प्रकार अधिकाधिक मनुष्य के योग्य अन्न की प्राप्ति होगी।

चौपाई— जब मानुष अन पसु अन ताता। दोउन्हि देवै जोड़ बिधाता॥
तब तृन खाद होइ बल देवे। पुनि निज अन्न मनुज अति लेवे॥

हे प्रिय! [इतना ही नहीं है बल्कि] जब मनुष्यों के अन्न और पशुओं के अन्न (चारा, घास) का विधाता योग बना देता है तब वे घास-फूस उर्वरक बनकर उसे वृद्धि प्रदान करते हैं जिससे मनुष्य अपने अन्न को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करता है।

तैसेइँ काम क्रोध तृन सारे। देत अपरिमित बल सुख भारे॥
कहिहउँ ताहि धरहु तुम्ह धीरा। प्रथम कहउँ सब्दादिक बीरा॥

उसी प्रकार काम-क्रोधादि, जो घास-फूस के समान हैं, वे अपार बल एवं सुख प्रदान करते हैं। उस विषय में भी मैं बताऊँगा, तुम धैर्य धारण करो; किन्तु हे वीर! प्रथम तो शब्द, स्पर्श आदि [अन्नों] के विषय में ही कह रहा हूँ।

गुरु पितु मातु अतिथि पसु पक्षिहिं। जो जिमाइ जीमे सो दक्षिहिं॥
बिघसासी सो जगत कहावे। मोरेहु मन अति नित्यहि भावे॥

जो बुद्धिमान पुरुष गुरु, माता, पिता, अतिथि तथा पशु-पक्षी आदि को खिलाकर स्वयं खाता है, वह कुशल है तथा जगत में विघसाशी (यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला) कहा जाता है एवं वह मेरे मन को सदैव प्रिय लगता है।

बिघसासी गुन गाउँ भगत की। उन्ह पाँचन्हि सुनि सुनत जगत की॥
बिघसासी सब सुरन्ह पियारे। पाँच निरखि पुनि जगत निहारे॥

मैं उस विघसाशी भक्त का गुणगान करता रहता हूँ जो उन पाँचों देवताओं की सुनकर [उसके बाद] ही जगत में किसी की सुनता है। विघसाशी पुरुष समस्त देवताओं को भी अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वह उन पाँचों की व्यवस्था करके ही जगत की ओर देखता है।

बिघसासी जग दिब्य बिभूती। पंच सुँघाइ सुँघत यह नीती॥

इस प्रकार वह विघसाशी पुरुष जगत की दिव्य विभूति है क्योंकि वह उन पाँचों को सुगन्ध देकर ही सूँघता है; यही नीति भी कहती है।

दोहा— बिघसासी नर देव अस पंच परस सुख देइ।
बहुरि परसि जग सबहिं कहँ पाछें अपुनो लेइ॥४९॥

विघसाशी पुरुष तो मनुष्यों में ऐसा देवता है जो पंच पूज्य देवताओं को स्पर्श का सुख देकर [अर्थात् उनकी सर्दी-गर्मी की यथोचित् व्यवस्था करके], पुनः जगत में सबको सुख देकर तब स्वयं उसका सेवन करता है।

चौपाई— अक्षय लोक मिलइ सुनु वाको। अति पुनीत गृह बास जो ताको॥
ब्रह्मादिक सुर दैं परिकरमा। अस यगसेष खाय यहि धरमा॥

सुनो! वैसे पुरुष को अक्षयलोक की प्राप्ति होती है। जहाँ वह वास करता है उस अति पावन घर की ब्रह्मादि देवता परिक्रमा किया करते हैं। अतः [कोई भी] यज्ञ से बचे हुए अन्न को ही खाये- यही धर्म है।

यज्ञसेष अन कामहु तबहीं। जग सुत होइ जनत सुत जबहीं॥
यज्ञसेष अन क्रोध कहे तब। यग रक्षा हित असुर दहे जब॥

काम को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब जगत का पुत्र बनकर पुत्र उत्पन्न करे। वैसे ही हे प्रिय! क्रोध को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब यज्ञ की रक्षा के निमित्त उससे असुरों का संहार होता हो।

यज्ञसेष अन लोभ लखें तब। परमारथ के निमित रखे जब॥
यज्ञसेष अन मोह कहे तब। प्रीति प्रभुहिं पद नित्य लहे जब॥

[हे पार्थ!] लोभ को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तब कहा जाता है जब उसका संग्रह परमार्थ के निमित्त किया जाय। उसी प्रकार मोह को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी जानना चाहिए जब नित्य भगवान के चरणों में प्रीति हो।

यज्ञसेष अन मद तब होवे। अहं देहगत नित जब खोवे॥
यज्ञसेष अन राग कहे तब। सब प्राणिनि महँ भेद दहे जब॥

अहंकार को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब देहाभिमान सदा के लिए समाप्त हो जाय। वेदों द्वारा राग को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब समस्त प्राणियों में किसी प्रकार का अन्तर न जान पड़े [अर्थात् प्राणिमात्र से प्रेम हो]।

यज्ञसेष अन द्वेष कहावे। जब दुर्गुन प्रति हिय महँ आवे॥

उसी प्रकार द्वेष यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहलाता है, जब [वह द्वेष] दुर्गुणों के प्रति हृदय में उत्पन्न हो।

दोहा— यज्ञसेष अन महत भय तात तबहिं कहलाय।
गुरु बिरोध कर्मनि प्रति जबहिं हृदय प्रगटाय॥५०(क)॥

हे तात! ऐसा जान लो कि महाभय को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब वह अपने हृदय में सद्गुरु के विरुद्ध होने वाले कर्मों के प्रति होता है।

यज्ञसेष अन झूठ छल कपट तबहिं कहलाय।
हरि हित करि उपयोग जब भव बंधनहिं नसाय॥५०(ख)॥

उसी प्रकार छल-कपट तथा असत्य आदि व्यवहार को यज्ञ से बचा हुआ अन्न तभी कहा जाता है जब प्रभु प्राप्ति के निमित्त इनका उपयोग कर भव बन्धन का नाश कर दिया जाय।

चौपाई— कह अर्जुन नरयग प्रभु गाये। देवयज्ञ क्यों नाहिं बताये॥
अस करि काह कहहु न लखाये। कहुँ तुम्ह ऐसो तौ न जताये॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! अब तक आपने मानुष यज्ञ को बताया, परन्तु देवयज्ञ को क्यों नहीं बताया। ऐसा करके आप क्या कह रहे हैं, यह समझ में नहीं आ रहा है? कहीं आप ऐसा तो नहीं बता रहे हैं कि-

जो कर पंच सुरन्ह की पूजा। सो क्यों यजन करे सुर दूजा॥
जब उनसेइ सबहिं सुख पावत। पुनि अगिनी महँ घी क्यों लावत॥

जो इन [माता, पिता, कुलगुरु, अतिथि आदि लौकिक] पंच देवताओं की पूजा कर रहा है, वह अन्य [पारलौकिक] देवताओं की पूजा क्यों करेगा? जब उनसे ही समस्त सुखों की प्राप्ति हो जाती है तो अग्नि में घी क्यों डाला जायेगा?

पार्थ न ब्यर्थ यजन देवन हित। दियो जाय तिन्हके सेवन हित॥
सोम धनद रबि बरुण अस्विनी। जम जयंत इंद्रादिहु अगिनी॥

नहीं पार्थ! ऐसा नहीं है, देव यज्ञ व्यर्थ नहीं है अपितु [स्वर्ग में रहने वाले] देवताओं के निमित्त है जो उनके सेवन करने के लिए दिया जाता है। सोम, कुबेर, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, यम, जयन्त, अग्नि तथा इन्द्रादि-

स्वर्गहिं बसत देवगन जोई। सूक्ष्म रूप बस इंद्रिनि सोई॥
तिन्हकर रिन बहु मानव ऊपर। होइ मुदित जल बरसत भूपर॥

जो स्वर्ग में रहने वाले देवतागण हैं वे ही सूक्ष्म रूप से अपनी अर्थात् हमारी इन्द्रियों में भी प्रतिष्ठित हैं। मानवमात्र के ऊपर उनका बहुत उपकार है, क्योंकि वे अति प्रसन्न होकर पृथ्वी पर जल की वर्षा करते हैं।

जासे प्राणी सकुसल रहहीं। नहिं तौ बिषम प्रकृति सों दहहीं॥

जिससे सारे चर-अचर प्राणी कुशलतापूर्वक रहते हैं अन्यथा वर्षा आदि प्राकृतिक शक्तियों के सन्तुलन के अभाव में मर सकते हैं।

दोहा— ब्रह्म दियो पावन सुरभि ब्रह्मज्ञान पय देतु।
मिलत आज्य जो ताहि सों नर अरु देवन्ह हेतु॥ ५१॥

भगवान ने मनुष्यों के लिए ब्रह्मज्ञानमय दूध देने वाली अति पावन गोमाता प्रकट की है, उससे प्राप्त होने वाला घी यथार्थ में मनुष्यों और देवताओं के लिए ही है।

चौपाई— जो तिन्ह भाग दिये बिनु खावत। चोरन्ह दंड अवसि सो पावत॥
बिप्र छत्रि हित यज्ञ बिधाना। दियो बिधाता नहिं मनमाना॥

उन देवताओं के भाग को उन्हें दिये बिना जो खाता है वह निश्चित ही चोर है अत: चोर का दण्ड पाता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए यज्ञ का विधान ब्रह्म ने ही निश्चित किया है, वह मनमाना नहीं है।

करन चहिय तेहिं अति हरषाई। जासों होवे जगत भलाई॥
जग हित माहिं स्वयं हित माने। यासेंइ देवयज्ञ गुन गाने॥

अत: उसे प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए, जिससे जगत का कल्याण हो। [सच पूछा जाय तो] जगत के कल्याण में ही अपना कल्याण मानना चाहिए, अत: देवयज्ञ की प्रशंसा करे [निन्दा न करे]।

देव पितर ऋषि अतिथी देवा। भूतयज्ञ करि लावे सेवा॥
पंचयज्ञ करि करम निभावत। मोहिं सदा सोइ भगत सुहावत॥

इस प्रकार देवता, पितर, ऋषि, अतिथि देव तथा पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगों की सेवा करे। इस प्रकार जो पंचयज्ञों को करके अन्य कर्मों का सम्पादन करता है, मुझे वही भक्त सदा प्रिय लगता है।

पंचपाप नित गृह महँ होवत। पंचयज्ञ जिनहीं नित धोवत॥

पाँच प्रकार के हिंसामय दोष तो गृहस्थाश्रम में नित्य ही होते हैं जिनका पंचयज्ञ सदा निवारण करता है।

दोहा— चूल्हो चक्की उखल अरु जलघट झाड़ू जान।
हिंसा होवत पाँच से गृह नित कहत सुजान॥ ५२ (क)॥

बुद्धिमान जन ऐसा कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में नित्य ही चूल्हा, चक्की, ऊखल, जल-घड़ा, झाड़ू- इन पाँच से हिंसा होती रहती है।

पंचयज्ञ नहिं करत जो नर गृह मृतक समान।
पर जो करत प्रमाद तजि दोष मुक्त तेहि जान॥ ५२ (ख)॥

जो पुरुष गृहस्थाश्रम में [इन दोषों से मुक्त होने के लिए] पंचयज्ञ नहीं करता वह मृतक के समान है; किन्तु जो प्रमाद को त्यागकर इन्हें सम्पादित करता है, उसे दोषों से मुक्त हुआ जानना चाहिए।

चौपाई— कहनो चहत आपु यदुनंदन। देवयज्ञ बिनु पाव न कोउ धन॥
पार्थ न कहनो ऐसो मेरो। समुझ्यो नाहिं बुद्धि कर फेरो॥

अर्जुन ने कहा- [इससे तो] हे यदुनन्दन! आप यही कहना चाहते हैं कि देवयज्ञ किये बिना कोई भी सम्पत्ति प्राप्त नहीं करता। [भगवान ने कहा-] नहीं पार्थ! मेरा ऐसा कहना नहीं है, बुद्धि भ्रमित हो जाने से तुम समझ नहीं पाये हो।

सास्त्र दियो सच जेहि अधिकारै। सोइ सुरन्हि यज्ञाहुति डारै॥
जेहि न दियो ऐसो अधिकारहि। नियत कर्म करि सुर सतकारहि॥

हे प्रिय! सच बात तो यह है कि शास्त्र ने देवयज्ञ करने का जिसको अधिकार दिया है, वही [नित्यप्रति] देवताओं को आहुति प्रदान करे। शास्त्र ने जिसको यह अधिकार नहीं दिया है वह अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्मों

को पूरा करके ही देवताओं को प्रसन्न करे।

प्रभु हित गृहिणी भवन सँवारें। पतो नाहिं कब संत पधारें॥
मन प्रसन्न जेवनार बनावें। ता छन जप कै प्रभु गुन गावें॥

[वह कैसे? ऐसे कि] गृहिणी भगवान की प्रसन्नता के लिए घर-द्वार को साफ-सुथरा रखे; क्योंकि पता नहीं दरवाजे पर कब सन्तजन पधारें। वे सदा प्रसन्न मन से प्रसाद बनावें और उस समय जप करें या भगवान का गुणगान करती रहें।

हरि कर बाल गोपालन्हि जानहिं। उन्हकर रक्षक तेइ प्रभु मानहिं॥
ब्रह्म अंस लखि अवरु धरोहर। प्रेम मगन होइ तिन्ह सेवें बर॥

वे मन में विचार करें कि ये बाल-बच्चे भगवान के हैं तथा इनकी रक्षा करने वाले भी वे भगवान ही हैं। वे उन बच्चों को ब्रह्म का अंश और प्रभु की धरोहर समझकर उनका प्रेमपूर्वक लालन-पालन करें।

दोहा— प्रभु आये बनि धर्मपति मन महँ ऐसो ध्यायँ।
लीला मातु मदालसा सम घर रहनो भायँ॥ ५३॥

वे मन में ऐसा सोचें कि भगवान ही मेरे धर्मपति बनकर आये हुए हैं। हे प्रिय! इस प्रकार माँ लीला और माँ मदालसा की भाँति घर में रहें। ऐसा रहना जो [सबको] अच्छा लगता है।

चौपाई— देवन्ह आहुति तिन्हकर कर्मा। सास्त्र श्रुती सबरें कह धर्मा॥
तुलाधार अरु सदन कसाई। यज्ञ कबहुँ नहिं कीन्हें भाई॥

उनका कर्म ही देवताओं की आहुति है, ऐसा समस्त शास्त्र एवं श्रुतियाँ कहती हैं। हे प्रिय! तुलाधार वैश्य तथा सदन कसाई ने भी कभी [मंत्र आहुति से युक्त] देवयज्ञ नहीं किया।

जो कछु किये जगत सब जानत। आहुति ताहि देव सब मानत॥
कागभुसुंडि कोल नृप सूरघु। जिननैं नाहिं किये कबहूँ अघु॥

उन्होंने जो कुछ भी किया, उसे सारा जगत जानता है तथा उसे ही देवतागण अपने लिए आहुति मानते हैं। वैसे ही भक्त शिरोमणि कागभुशुण्डि, भीलों के राजा सुरघु, जिन्होंने कभी कोई पाप किया ही नहीं-

यज्ञाहुति न दिये ते कबहूँ। सुर ऋषि मुनिहु आयँ तहँ तबहूँ॥
बिदुर प्रिया सँग यज्ञ न कीन्हें। पर सुरगन उन्ह कहँ बहु चीन्हें॥

[शास्त्राधिकार न होने से] उन्होंने कभी कोई आहुति नहीं दी तो भी उनके यहाँ देवता, ऋषि और मुनियों का आना-जाना लगा रहता था। वैसे ही महात्मा विदुर ने अपनी धर्मपत्नी के साथ कभी भी देवयज्ञ नहीं किया तो भी देवतागण उन्हें अत्यन्त सम्मान देते रहे।

वैसेइ एक कपोत कपूती। अतिथि भगत महँ भये बिभूती॥
गनिका गीध अजामिल भारे। स्वपच किरात कोल कलवारे॥

उसी प्रकार एक कबूतर और कबूतरी ने आतिथ्य-सत्कार में अपना शरीर ही होम कर दिया, जिससे वे अतिथि पूजकों में विभूति हो गये, वैसे ही गणिका, अजामिल, गिद्ध, चाण्डाल, कोल-भील, कलवार आदि वर्गों में भी बहुत से भक्त हुए हैं।

दोहा— दिये न आहुति यज्ञ महँ तऊ गये प्रभु धाम।
नियत करम यासोइँ करि जीव लहत बिश्राम॥ ५४॥

उन्होंने कभी भी देवताओं के लिए यज्ञ में आहुति नहीं दी तो भी भगवद्धाम प्राप्त किया। इसलिए अपना स्वाभाविक कर्म [भी यज्ञ ही है, जिसे] भलीभाँति करके जीव परम विश्राम प्राप्त कर सकता है।

चौपाई— अस सुनि अर्जुन कछु हरषाये। कह प्रभु सब कहँ यज्ञ बताये॥
मैं सोइ त्यागयज्ञ हित जाऊँ। तौ क्यों नहिं तुम्हरे मन भाऊँ॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन कुछ प्रसन्न हो गये और कहा- हे प्रभो! आप सबको तो यज्ञ करने के लिए कह रहे हैं और मैं वैसा ही त्यागरूपी यज्ञ करने जा रहा हूँ तो भी आपको हृदय से प्रिय क्यों नहीं लग रहा हूँ?

पार्थ न तोकों त्याग करन कौ। समरयज्ञ मैं कहउँ धरन कौ॥
करि अस यज्ञ त्यागु जग सारा। सखे तोर एहि लगि अवतारा॥

भगवान ने कहा- नहीं पार्थ! तुम्हें [इस समय] त्यागरूपी यज्ञ नहीं करना है बल्कि मैं तो तुम्हें निष्ठापूर्वक समरयज्ञ करने को कह रहा हूँ। पहले इस यज्ञ को सम्पन्न करो पुनः सम्पूर्ण जगत को त्याग दो, क्योंकि हे अर्जुन! ऐसा करने के लिए ही तुम्हारा अवतार हुआ है।

पार्थ अहइ अस एक प्रसंगा। चल्यो अम्बरिष बासव संगा॥
सुरपति कहइ सुनहु राजर्षी। सास्त्र कहें सब ऋषी महर्षी॥

[हे पार्थ!] एक बार ऐसा ही प्रसंग राजर्षि अम्बरीष और देवराज इन्द्र में चला। देवराज इन्द्र ने कहा- हे राजर्षे! सुनें, शास्त्र तथा समस्त ऋषि-महर्षि कहते हैं कि-

जो रन दीक्षित अतिसय जोधा। सैनिक कै रन सैन्य पुरोधा॥
सो बस समरयज्ञ अधिकारी। तेहि करि पावत पद अबिकारी॥

जो महावीर योद्धा रणभूमि में युद्ध की दीक्षा ले चुका है वह सैनिक हो या युद्ध का सेनापति, एकमात्र समरयज्ञ का ही अधिकारी है, वह उसी को [निष्काम भाव से] करके परम पद पा लेता है।

सोरठा— अम्बरीष कह काह सुरपति रन यज्ञहिं हबिस।
जानन मम मन चाह रित्विज घी दछिनाहु को॥ ५५॥

अम्बरीष ने कहा- हे देवराज! मेरा मन जानना चाहता है कि आपके विचार से युद्धरूपी यज्ञ में [समर्पित करने के लिए] हविष्य क्या है तथा आज्य और दक्षिणा क्या है एवं ऋत्विज कौन है?

चौपाई— कह बासव एहि यग कुंजर गन। ऋत्विज बाजि अपर याजक जन॥
हबि अरि मांस रुधिर घी जैसो। उपमा इहँ हम देखत ऐसो॥

तब इन्द्र ने कहा- इस समरयज्ञ में हाथियों का समूह ही ऋत्विज है तथा घोड़ों का समूह अध्वर्यु (अन्य ऋत्विज या याजकगण) है। यहाँ शत्रु वीरों का मांस हविष्य है और रक्त घी के समान है, हमें यहाँ ऐसी ही उपमा दिखाई पड़ती है।

गीध सृगाल काक सम पक्षी। जे पसु अपर मांस कर भक्षी॥
जगसाला कर सुरगन सोई। माँसहिं खायँ रक्त पिवें जोई॥

जो गिद्ध, शृगाल, कौवे तथा इन्हीं के समान अन्य मांसभक्षी पशु-पक्षी हैं, वे ही यज्ञशाला के श्रेष्ठ देवता हैं; जो वहाँ रक्त रूपी घी पीते हैं और मांस रूपी हविष्य खाते हैं।

तोमर प्रास खंग अरु फरसे। सक्ति स्त्रुवा सम आहुति बरसे॥
महत स्त्रुवा जे बान कराला। जिनसों सूर लखाये काला॥

तोमर, प्राश, तलवार, फरसे, शक्ति आदि छोटे स्त्रुवा के समान हैं, जिनसे आहुति की बरसात होती है। जो श्रेष्ठ एवं भयंकर बाण हैं, वे ही बड़े-बड़े उत्तम स्त्रुवा हैं जिनसे योद्धा काल के समान प्रतीत होता है।

रुधिर धार पुर्णाहुति जानहु। मुनिगन कहहिं सत्य एहि मानहु॥
जेहि सों पूरण होय यथारथ। बीरन्ह कर परमारथ स्वारथ॥

मुनियों का ऐसा कहना है कि रक्त की अपरिमित धारा ही यज्ञ की पूर्णाहुति है, इसे सत्य माने, जिससे वीरों का स्वार्थ एवं परमार्थ यथार्थतः पूर्ण होता है।

मारहु काटहु हृदय बिदारहु। बिप्र साम सम बीर पुकारहु॥

सैनिकों के द्वारा मार डालो, काट डालो, हृदय विदीर्ण कर दो- इस प्रकार की गूँजने वाली ध्वनि ही मानो ब्राह्मणों द्वारा गाया जाने वाला महत् सामगान है।

दोहा— सामगान करि समर जनु भेजत रिपु यमलोक।
जहाँ जाइ सुख सांति सों बास करहिं निःसोक॥ ५६॥

मानो वे वीर युद्ध में सामगान करते हुए शत्रुओं को यमलोक भेज रहे हों जहाँ जाकर वे शोकरहित हो सुख-

शान्ति से वास करें।

चौपाई— अस ते रन महँ तन उत्सर्गहिं। देइ दक्षिणा जावें स्वर्गहिं॥
कै करि बिजय प्रजा प्रतिपाले। यहइ दक्षिणा उर नहिं साले॥

इस प्रकार वे योद्धागण रणभूमि में [अपने स्वामी के लिए] अपने शरीर की बलिदानरूपी दक्षिणा देकर स्वर्ग चले जाते हैं अथवा विजयश्री प्राप्त करके [स्वामी की आज्ञा से हर प्रकार से] प्रजा का पालन करते हैं। उनकी यही दक्षिणा है जिससे हृदय में शोक-सन्ताप नहीं होता।

बहति रुधिर सरि महँ अस्नाना। तिन्ह अवभृत अस्नान समाना॥
सलिल पुञ्ज रन सरि रुधिराई। संख भेरि मंडुक कछपाई॥

इसप्रकार रणभूमि में [भयंकर गर्जना करती हुइ] रक्त की जो नदी प्रवाहित होती है उस नदी में स्नान करना ही उन वीरों के लिए अवभृथ स्नान (यज्ञ पूर्णाहुती के उपरान्त शुद्धि के लिए किया जाने वाला स्नान) के समान है। युद्धभूमि में बहने वाली नदी का रक्त ही जल की राशि है जिसमें शंख तथा नगाड़े, मेढक एवं कछुवे के समान कहे गये हैं।

मांस रक्त सरि कीच समानहिं। ढाल खंग नौका सम जानहिं॥
बीर अस्थि जनु रेतस कंकर। नाचहिं भूत प्रेत प्रलयंकर॥

[हे राजन्!] वीरों के रक्त मिश्रित मांस को नदी के कीचड़ के समान तथा ढाल और तलवार को नौका के समान समझना चाहिए। वीरों की [छिन्न-भिन्न] हड्डियाँ रेत और कंकड़ के समान हैं [जिसमें प्रवेश करना अति कठिन होता है]। इस नदी के तट पर भूत-प्रेतों का नृत्य करना प्रलयंकारी दृश्य के समान है।

सूरन्ह केस सेवार समाना। जिनसों सरि जल जाइ न जाना॥
छिन्न भिन्न गज हय रथ ऐसे। उतरन हित सोपानइ जैसे॥

वीरों के [बिखरे हुए] बाल सेवार घास के समान हैं जिनके कारण उस नदी का जल दिखाई नहीं पड़ता। छिन्न-भिन्न हाथी-घोड़े तथा रथ आदि सब ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उस नदी में उतरने के लिए सीढ़ियाँ हों।

छंद— सरि तीर सोहत ध्वज पताका मनहु बर बेंतस लता।
तहँ नीर सोणित धार दुर्गम जो सबन्हि कहँ दे धता॥
हत नाग नक्र महा भयंकर अपर जग पथगामिनी।
देखत अमंगलमयि लगे जनु बन्यो यम सरि भामिनी॥

इसी प्रकार ध्वज-पताकाएँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो नदी के तट पर बेंत की लताएँ हों। वहाँ रक्त की भयंकर धार ही उसका जल है जो सभी [पार जाने का प्रयत्न करने वालों] को छका देती है। कटे हुए हाथी भयंकर मगरमच्छ जैसे प्रतीत होते हैं। वह परलोक की ओर गमन करने वाली सरिता देखने मात्र से ही अमंगलमयी लगती है, मानो यमराज ने ही ऐसी नदीरूपी स्त्री का रूप धारण कर लिया हो।

रिष्टि खंगहु महत नौका काग गिध लघु तरनि सम।
तेहि निकट कहुँ कहुँ दीख बिचरत प्रेत भुत राक्षस अधम॥
राजर्षि सच मम कथन करि भीरुन्ह डरावति सरित सो।
हे पार्थ यहि संबाद सुचि कर प्रगट रन यग चरित सो॥

[उस भयंकर नदी को पार करने के लिए] खड्ग और ऋष्टियाँ बड़ी-बड़ी नौकाओं तथा गीध और कौवे छोटी-छोटी नौकाओं के समान हैं। उस नदी के तट पर कहीं-कहीं भूत-प्रेत तथा अधम राक्षस विचरते हुए दिखायी पड़ते हैं। हे राजर्षि! मेरे वचनों को सत्य करते हुए वह नदी भीरुओं को भयभीत करती रहती है। हे पार्थ! यही [देवराज इन्द्र और राजर्षि अम्बरीष का] वह परम पावन संवाद है जो समरयज्ञ का चरित्र प्रकाशित करता है।

दोहा— समझ्यो जाय अनंत अरु सुरगुरु सम मतिमान।
जो बैरी बध करि बहुरि ताके रथ गतिमान॥ ५७ (क)॥

[वह महावीर योद्धा] जो वैरी का वध करके पुनः उसके रथ पर गमन करता है, वह भगवान विष्णु के समान [महान पराक्रमी] तथा देवगुरु बृहस्पति के समान बुद्धिमान समझा जाता है।

कै बैरी बध करत पुनि मरत करत जयकार।
तउ सो पावत स्वर्ग बर बरु कर कोउहु खार॥ ५७(ख)॥

या वैरी का वध करके जय-जयकार करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है तो भी वह महत् स्वर्ग प्राप्त करता है भले ही कोई [दूसरा वीर] उससे ईर्ष्या ही क्यों न करता रहे।

नहिं महत्व एहि कारने प्रेत कर्म तेहि हेतु।
उपचारिक तर्पन करत श्राद्ध बंधुजन चेतु॥ ५७ (ग)॥

यही कारण है कि उस वीर के लिए प्रेत कर्म किसी महत्त्व का नहीं है अतः भाई-बान्धव औपचारिकता वश ही तर्पण और श्राद्ध करते हैं, अतः ऐसा जानकर तुम सजग हो जाओ।

पार्थ गहइ जो रन धरम वाको सोइ तप योग।
सोइ जप दानहु ज्ञान यग तासों नस भवरोग॥ ५७ (घ)॥

हे पार्थ! जो रणभूमि के नियमों का पूर्णरूपेण निर्वहन करता है, उसके लिए वही जप, तप, दान, ज्ञान, योग एवं यज्ञ है और उसी से उसे संसाररूपी रोग से मुक्ति मिल जाती है।

चौपाई— पर जो आत्मरती यति कोऊ। आत्मनिरत सब दिन रह जोऊ॥
आत्मतुष्ट जो बिमल बिरागी। ता कहँ कर्म न सुनहु सुभागी॥

परन्तु कोई संन्यासी जो सदा आत्मा से प्रेम करने वाला, आत्मा से सदा आत्मा में ही रमण करने वाला तथा आत्मसन्तुष्ट एवं निर्मल वैराग्य से सम्पन्न है, हे सौभाग्यशाली पार्थ! सुनो, उसके लिए तो कोई कर्म ही नहीं है।

पर सब रति पर तृप्त तुष्ट पर। बिषय लोभ महँ जावें घर घर॥
पर तेहि निज पर घर नहिं सूझे। कर्मनि कहँ न प्रयोजन बूझे॥

परन्तु सभी विषयी पुरुष विषय-वस्तु से प्रेम करते हैं, उसी से उन्हें तृप्ति होती है अर्थात् सन्तुष्टि होती है। वे विषय के लोभ में पराये घरों में भटकते रहते हैं परन्तु उस यति को न तो अपना घर दिखायी पड़ता है न पराये का। इसी से उसके लिए कर्मों का प्रयोजन नहीं दिखायी पड़ता।

ताहि न लेनो त्रयदेवन सों। अपर सक्ति देबी देवन सों॥
नाहिं लेत बर देत न सापा। कबहुँ कृपा करि हर त्रैतापा॥

उसे न तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश से कुछ लेना-देना है और न ही अन्य [भगवती दुर्गा, काली आदि] शक्तियों अथवा देवी-देवताओं से। वह न वरदान लेता है और न ही शाप देता है, हाँ कभी अहैतुकी कृपा करके [शरणागत भक्त के] तीनों तापों का हरण कर देता है।

ताकर महत करम बस त्यागा। पर तैसो नहिं तव मन जागा॥
अबहिं सों तू कह भिक्षा मागउँ। पुनि कानन जप तप अनुरागउँ॥

इसलिए उस निर्मल संन्यासी का तो केवल त्याग ही महत् कर्म है परन्तु तुम्हारा मन अभी वैसा प्रबुद्ध (वैराग्य सम्पन्न) नहीं हुआ है, क्योंकि तुम तो अभी से कह रहे हो कि मैं पहले भिक्षा माँगूगा अर्थात् भोजन-प्रसाद लूँगा और उसके बाद वन में जप-तप करूँगा।

दोहा— तुम्ह अबहीं मँगता भये जप तप का पुनि होय।
अनासक्त होइ याहि सों करहु करम चित धोय॥५८॥

अरे! तुम तो अभी से मँगता (भिखारी) हो गये फिर वन-प्रदेश में तुमसे जप-तप क्या होगा! इसलिए अनासक्त होकर हृदय की पवित्रता के लिए कर्म करो।

चौपाई— यदि संन्यास लेन सच चावे। साँचहिं तोहिं परम पद भावे॥
यदि सच मोह निसा सों जाग्यो। परमारथ पथ सच अनुराग्यो॥

[हे वीर!] यदि तुम वास्तव में संन्यास लेना चाहते हो और यथार्थतः तुममें परमपद प्राप्ति की चाह हो गयी है, यदि सच में तुम मोहनिद्रा से जग गये हो एवं यथार्थ में तुम्हारी अध्यात्म में अभिरुचि हो गयी है-

तौ अबहीं गांडीव उठावउ। प्रतिपक्षिन्ह ऊपर उठि धावउ॥
हति निकारु इन्हकी ठकुराई। पितृ राज्य पुनि लेइ छुड़ाई॥

तो अभी गाण्डीव उठाकर इन प्रतिपक्षियों पर धावा बोल दो। [सर्वप्रथम] इन्हें मारकर इनकी ठकुराई निकाल दो फिर पिता के राज्य को छुड़ाकर-

धर्मराज कहँ देइ राजपद। बिपिन जाहु जस जाय महानद॥
अधम स्वजन दंडित कर ताता। क्षत्रिन्ह हित यहि नियम बिधाता॥

महाराज युधिष्ठिर को राज्य देकर, तब [संन्यास ले] वैसे ही वन को जाओ जैसे महानद [समुद्र की ओर] जाता है। हे प्रिय! इन पापी स्वजनों का वध करो क्योंकि विधाता ने क्षत्रियों के लिए ऐसा ही नियम बनाया है।

दंडित स्वजन न करिहउ जबलौं। फलित होय संन्यास न तबलौं॥
बाह्य सत्रु जबलौं नहिं मारे। अभियंतर रिपु काह निबारे॥

जब तक तुम स्वजनों को दण्ड नहीं दोगे तब तक तुम्हारा संन्यास फलीभूत नहीं होगा। अरे! जब बाहरी शत्रुओं को नहीं मार सकते तो आन्तरिक शत्रुओं का दमन किस प्रकार करोगे!

दोहा— ते मायावी महाछलि पार्थ महाभट बीर।
जोगी जपी तपी सबहि जिनसों पावत पीर॥ ५९॥

हे पार्थ! वे [आन्तरिक योद्धा] अत्यन्त मायावी और छली होते हैं तथा महा पराक्रमी भी होते हैं; जिनसे योगी, जपी, तपी सभी दुःख पाते रहते हैं।

चौपाई— मान्यों तैं उर्बसी पछार्‌यो। काम पास बहु भाँति निवार्‌यो॥
लोभ पास तुव नायो माथा। पर सुभ क्रोध न छाँड़्‌यो साथा॥

मैंने माना कि [तुम काम विजेता हो क्योंकि] तुमने उर्वशी को भी परास्त कर दिया है और [अन्य अवसरों पर भी] कामरूपी पाश में कभी नहीं बँधे हो तथा लोभरूपी पाश भी तुम्हारे सम्मुख नतमस्तक हो चुका है परन्तु शास्त्रीय क्रोध ने अभी तक तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ा है।

राग स्वजन प्रति द्वेष अघिन्ह सों। तव चित बसे साँप सापिन्ह सों॥
अबहुँ कोउ गांडीव धिकारे। तव कर सों यमलोक सिधारे॥

तुम्हारे हृदय में स्वजनों के प्रति आसक्ति और पापात्माओं के प्रति द्वेष ऐसे बस रहे हैं जैसे किसी के घर में सर्प एवं सर्पिणी वास कर रहे हों। अभी भी यदि कोई गाण्डीव को धिक्कार दे तो इसी समय वह तुम्हारे हाथों यमलोक चला जायेगा [अर्थात् तुम्हारी प्रतिज्ञानुसार मारा जायेगा]।

मान मोह जब उर महँ अहई। पुनि संन्यास फलित कस लहई॥
एक काम अरु लोभ जितन सों। माया गई न तुम्हरे मन सों॥

तुम्हारे हृदय में जब मान-सम्मान बस ही रहे हैं तो फिर तुम्हारा [लिया हुआ] संन्यास कैसे फलीभूत होगा? मात्र काम और लोभ पर विजय प्राप्त कर लेने से तुम्हारे मन से माया नहीं निकल गयी है!

भीषम सम को काम बिजेता। माया मार सों भये अचेता॥
लोभ न रंच हृदय महँ जिन्हके। माया मार परै कस तिन्हके॥

अरे! पितामह भीष्म के समान काम विजेता कौन है जो आज माया की मार से मूर्च्छित हो गये हैं। जिनके हृदय में अंशमात्र भी लोभ नहीं है, फिर भी उनपर माया की मार कैसे पड़ रही है!

दोहा— करनो चहिए काह तिन्ह काह करहिं नहिं सूझ।
इन्हके सम परमारथी माया चाल न बूझ॥ ६०॥

उन्हें क्या करना चाहिए और क्या कर रहे हैं- यह समझ में नहीं आ रहा है! अहो! इनके समान पारमार्थिक पुरुष भी माया की चाल नहीं समझ पा रहा है!

चौपाई— हुती बिबसता साँचहिं भाई। गुरु सों युद्ध किये हरषाई॥
पर तहँ कछुहु बिबसता नाहीं। मोरि उपस्थिति जिहिं थल आहीं॥

हे तात! मैं मानता हूँ कि गुरुवर परशुरामजी से युद्ध करना इनकी विवशता थी अत: इन्होंने प्रसन्नतापूर्वक युद्ध किया, परन्तु जहाँ पर मेरी उपस्थिति है, वहाँ पर इनके लिए कोई विवशता नहीं है।

इन्ह सम मोहिं न कोउहु जानहिं। सबकै उर बासी मोहिं मानहिं॥
पूछेउ तउ न इहाँ का करनो। यहि भौ माया चाल सों मरनो॥

इनके समान मुझे यथार्थत: कोई नहीं जानता क्योंकि ये मुझे सबके हृदय में वास करने वाला ब्रह्म मानते हैं फिर भी इन्होंने [एक बार भी] मुझसे यह नहीं पूछा कि हे प्रभो! यहाँ मुझे क्या करना चाहिए? यही हुआ माया की चाल से मरना।

अर्ध मृत्यु भइ चीर हरन महँ। बची खुची प्रतिपक्षि बनन महँ॥
बिस्व बिजय सुभ कीर्ति गँवाई। मग ताकहिं सुरलोकहिं भाई॥

हे प्रिय! ये आधा उसी समय मर गये थे जब कल्याणी द्रौपदी का चीरहरण होते हुए देखते रहे और आधे-अधूरे बचे थे तो आज तुम्हारे विपक्ष में आने से मर गये। अब विश्वविजेता की उपाधि एवं समस्त शुभ कीर्ति खोकर देवलोक जाने की राह देख रहे हैं।

पार्थ मिल्यो इन्हि एक बहानौं। सांतनु छबि धृतराष्ट्रहिं जानौं॥
पुनि प्रभु ब्यंग करत हरषाई। गंगासुत सन माथ घुमाई॥

हे पार्थ! इन्हें एक प्रिय बहाना मिल गया है कि मैं धृतराष्ट्र में ही अपने पिता शान्तनु की छवि देखता हूँ। पुन: भगवान ने व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए गंगापुत्र भीष्म की ओर मस्तक घुमाकर कहा-

कहुँ न पांडु छबि लखु इनिमाहीं। दुर्योधन छबि बस जिनि माहीं॥

हे पार्थ! इन्हीं की तरह कहीं तुम्हें भी इनमें पाण्डु की छवि तो नहीं दीख रही जिनमें [यथार्थत:] दुर्योधन की छवि वास कर रही है।

दोहा— इन्हके सँग कृप द्रोण महँ दुर्योधन छबि आज।
दीखन चाहिय तात सच जासों लगे न लाज॥ ६१॥

हे तात! इन (भीष्म पितामह) के साथ-साथ कृपाचार्य एवं द्रोणाचार्य में भी तुम्हें इस समय दुर्योधन की ही छवि दीखनी चाहिए, जिससे [उनसे युद्ध करने में तुम्हें] लज्जा न लगे।

चौपाई— सच ये तात दंड अधिकारी। करि न सकहिं प्रायस्चित भारी॥
जो बिसारि अपराधिहिं दोषा। श्रुति कह नहिं दंडइ करि रोषा॥

हे तात! सच में ये दण्ड के अधिकारी हैं क्योंकि ये लोग कठोर प्रायश्चित्त तो कर नहीं सकते। श्रुति का कहना है कि जो अपराधी के अपराध को जानते हुए भी अनजाना होकर क्रोधपूर्वक दण्ड दिये बिना उसे छोड़ देता है-

तौ सब दंड ताहि बिधि देवे। को ऐसो नर पापिन्ह सेवे॥
संख लिखित एक कथा पुरातन। कहत समय पर रिषी सनातन॥

तो विधाता उसे ही सब दण्ड देता है। अत: ऐसा कौन पुरुष होगा जो पापियों का अनुमोदन करेगा? ऐसे अवसर के लिए सनातन ऋषिगण शंख और लिखित का एक पुरातन उपाख्यान कहते हैं-

अदभुत ऋषिकुमार दोउ भाई। जप तप योग करहिं हरषाई॥
अनुज लिखित एक दिन हरषाई। आयो मिलन संख बड़ भाई॥

ये दोनों भाई विलक्षण ऋषिकुमार थे जो वन में रहते हुए प्रसन्नता पूर्वक जप, तप, योग किया करते थे। एक दिन छोटे भाई लिखित प्रसन्न होकर बड़े भाई शंख से मिलने उनकी कुटिया पर आये।

संख गये कहुँ जान न पायो। तोरि रसाल कछुक तहँ खायो॥
हाथ धोइ कछु समय गँवायो। तेहि छन संख तहाँ चलि आयो॥

[वहाँ जाने पर देखा कि] मुनिवर शंख कहीं गये हुए थे पर वे नहीं जान पाये कि कहाँ गये हुए हैं। उन्होंने वहाँ उनके उपवन से कुछ आम तोड़कर खा लिये। हाथ-मुँह धोकर प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि उसी समय शंख वहाँ आ गये।

दोहा— कुसल छेम करि संख कह का खायेगो भाइ।
खायों आम कहे लिखित अब कछु खाइ न जाइ॥ ६२॥

कुशलक्षेम के उपरान्त शंख ने पूछा कि हे भाई! क्या खाओगे? तब लिखित ने कहा- [पके हुए] आम तो मैं यहाँ [वृक्षों से लेकर पहले ही] खा चुका हूँ, पुनः अब कुछ खाया नहीं जायेगा।

चौपाई— संख कहे हँसि यह का कीन्हे। बिनु मम कहे आम कस लीन्हे॥
लिखित कहे प्रभु निज अधिकारा। मैं जानउँ जस अहै तुम्हारा॥

तब शंख ने हँसकर कहा कि यह तुमने क्या किया, बिना मेरी आज्ञा के आम कैसे तोड़ लिये? लिखित ने कहा- हे प्रभो! मैं तो [इन आमों पर] जैसा आपका अधिकार है, वैसा ही अपना भी अधिकार समझता हूँ।

संख कहे नहिं मेरो ताता। जग उपवन मैं मानउँ भ्राता॥
स्वयंहिं याकर रक्षक जानउँ। यासों तोहिं चोर जस मानउँ॥

तब शंख मुनि ने कहा- हे प्रिय लिखित! यह उपवन [भले ही मेरे अधिकार में है किन्तु] मेरा नहीं है, मैं तो इसे जगत का उपवन मानता हूँ और अपने को इसका रक्षक मानता हूँ इसलिए तुम्हें चोर की भाँति समझता हूँ।

लिखित कहे यदि सच महँ ऐसो। तौ प्रभु देहु दंड तुम्ह जैसो॥
संख कहे तुम्ह नृप पहिं जावहु। उनसों निज अपराध सुनावहु॥

लिखित ने कहा कि यदि सच में ऐसा है तो हे प्रभो! आप चाहे जो दण्ड दें! तब शंख मुनि ने कहा- [हे प्रिय!] अब तुम [इस राज्य के] राजा के पास जाओ और अपने अपराध को उनके सामने कहो।

मुनिवर लिखित गये नृप द्वारे। तिन्ह लखि नरपति हरषित भारे॥
लाइ दिब्य आसन बैठारे। पद पखारि आरती उतारे॥

[ऐसा सुनकर] मुनिश्रेष्ठ लिखित राजभवन पहुँचे। उन्हें देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो गये। उन्हें लाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाया और चरणों को धोकर आरती उतारी-

कह कर जोरि काह करुँ सेवा। भयउँ धन्य तुव दरसन देवा॥
मुनि प्रसंग सब नृपहिं सुनाये। दंडपात्र मैं अहउँ बताये॥

और कहा- आज मैं आपका दर्शन पाकर धन्य हो गया, अब आप बताएँ कि आपकी क्या सेवा करूँ? लिखित मुनि ने पूर्व का सारा प्रसंग सुनाकर कहा- मैं अवश्य ही दंड का पात्र हूँ।

नृप सुनि कह्यो न करहु गलानी। यामें दीख न धरमहिं हानी॥
लिखित कहे नृप मुनि पद मेरो। यामें अंसउ दोष घनेरो॥

राजा ने [सम्पूर्ण वृत्तान्त] सुनकर कहा कि आप शोक-सन्ताप न करें इसमें धर्म की कुछ भी हानि नहीं दिखायी पड़ती। लिखित ने पुनः कहा- हे राजन्! मेरा सन्त का पद है इसलिए इसमें अंशमात्र भी दोष विशेष माना जाता है।

दोहा— यदि यह सच तो सुनहु मुनि कहेउ नृपति कर जोरि।
करउँ छमा अपराध यह लगे न कछु मोहिं खोरि॥ ६३॥

तब राजा ने हाथ जोड़कर कहा कि हे मुनिवर! सुनें, यदि ऐसा ही सच है तो मैं इस अपराध को क्षमा करता हूँ। ऐसा करने से मुझे कुछ भी दोष नहीं लगेगा।

चौपाई— सुनि अस लिखित कहे हरषाई। छमा न चाहउँ तुम्हसों भाई॥
दंड देन अधिकार तुम्हारो। छमा करहिं बरु संख हमारो॥

ऐसा सुनते ही ऋषि लिखित ने हँसते हुए कहा- हे प्रिय राजन्! मैं आपके द्वारा क्षमा नहीं चाहता हूँ। आपका तो मात्र दण्ड देने का ही अधिकार है। हाँ, भले ही महर्षि शंख मेरे अपराध को क्षमा कर दें।

चोर न मैं तुम्हरो सुनु राजन। सच महँ अहउँ जगत प्रिय भाजन॥
संख ऋषिहिं उर यह अपराधा। प्रायस्चित करि टारउँ बाधा॥

हे नरेश! [आप ध्यान देकर] सुनें, मैं आपका चोर नहीं हूँ अपितु यथार्थ में जगत के लोगों का प्रिय पात्र हूँ। यह तो ऋषिवर शंख की दृष्टि में अपराध है इसलिए मैं प्रायश्चित्त कर [अपनी साधना के] विघ्नों को दूर करना चाहता हूँ।

तुम्ह नृप सेवक संख मुनिहिं के। आज्ञा पालन करहु उनहिं के॥
दंड देउ जो राज बिधाना। मैं नहिं लेउँ छमा कर दाना॥

हे नरेश! आप तो मुनिवर शंख के सेवक हैं, अत: उन्हीं की आज्ञा का पालन करें। राज व्यवस्था के अनुसार मुझे दण्ड दें [जो कि एक चोर को दिया जाता है]; क्योंकि मैं आपसे क्षमा का दान नहीं लूँगा।

अश्रुधार नृप दृग सुनि आई। मुनि गुन गावत पद सिरु नाई॥
प्रभु नृपपद मोहिं आज न भायो। जो ऐसो दुख दुसह लखायो॥

ऐसा सुनकर राजा की आँखों से अश्रुधार बह चली और वे मुनि के चरणों में शीश झुकाकर उनके गुणों का बखान करने लगे। हे प्रभो! यह राजा का पद मुझे आज अच्छा नहीं लग रहा है जिसमें ऐसा दुसह दु:ख दीख रहा है।

जो न संख मुनि आज्ञा मानउँ। देहिं साप कुल सहित दहानउँ॥
यह बिरंचि तुव कस निठुराई। बिषम योग अस दीन्हिं रचाई॥

क्योंकि यदि मुनिवर शंख की आज्ञा को नहीं मानता हूँ तो उनके शाप देने से कुलसहित नष्ट हो जाउँगा। अहो विधाता! तुम्हारी यह कैसी निष्ठुरता है कि ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी।

कस दिये यह संयोग बनाई। भुजा लेइ दउँ प्रान गवाँई॥
धिग जीवन मम मुनि भुजहारी। जो नृप धरम इन्हहिं रखवारी॥

यह कैसा संयोग बना दिया कि या तो मैं ऋषि की भुजा काटूँ या अपना प्राण गवाऊँ। अहो! मेरे जीवन को धिक्कार है कि जहाँ राजा का धर्म है ऋषियों की रक्षा करना, वहीं मैं इनकी भुजाओं का छेदन करने वाला बन गया हूँ।

नृप जो संत सुरभि द्विज रक्षक। भयो आज सोइ मुनि भुज भक्षक॥
हृदय करहु मम निठुर गुसाईं। भेदउँ भुजा बधिक की नाईं॥

जो राजा सन्त, ब्राह्मण एवं गौ की रक्षा करता है वही आज मुनि की भुजाओं को काटने वाला बन गया है। हे प्रभो! मेरे हृदय को ऐसा कठोर बना दें कि मैं वधिक की तरह मुनि की भुजाओं को काट सकूँ।

छमहु छमहु हे संत कृपाला। प्रभु सरणागत अज्ञ भुआला।

हे कृपालु मुनि! आप मेरे अपराधों को क्षमा करें, हे प्रभो! यह अज्ञानी राजा आपकी शरण में है।

दोहा— दंड स्वरूप भुजा दोउ काटन्ह आज्ञा देहु।
राज दंड एहि चूक हित हृदय बिदारक एहु॥ ६४॥

हे नाथ! आप दण्ड स्वरूप दोनों भुजाओं को काटने की आज्ञा दें; क्योंकि इस राज्य में इस अपराध के लिए यही हृदय विदारक दण्ड निश्चित किया गया है।

चौपाई— नृप सन करि दोउ भुजा बिसाला। संत कहे इन्हि काटु भुआला॥
दीख मोहिं निज महत भलाई। जनि डरपहु त्यागहु बिकलाई॥

तब सन्त प्रवर लिखित ने अपनी दोनों विशाल भुजाओं को राजा की ओर करते हुए कहा– हे पृथ्वीनाथ! ये लें, इन भुजाओं को काट लें! आप डरें नहीं क्योंकि इसमें तो मुझे अपना महत् कल्याण ही दीख रहा है, अत: आप अपनी विकलता का परित्याग कर दें।

चरन बंदि नृप खंग निकारी। काटि लियो मुनि भुजा पियारी॥
संख देखि मन अति हरषाने। लिखित त्याग तप पुनि पुनि गाने॥

राजा ने [मुनि लिखित की] चरण-वन्दना करके तलवार निकालकर उनकी प्रिय भुजाओं को काट लिया, जिसे देखकर शंख ऋषि अत्यन्त हर्षित हुए और लिखित के तप एवं त्याग का बारम्बार गुणगान करने लगे।

सुनहु लिखित तुम्ह महत उदारा। प्रियता बिनय सील भंडारा॥
अब प्रिय जाइ बाहुदा सरिता। देव पितर तर्पण करु त्वरिता॥

हे प्रिय लिखित! सुनो, तुम अत्यन्त उदार तथा प्रीति, विनम्रता एवं शीलता के भण्डार हो। अब हे प्रिय! तुम बाहुदा नदी में जाकर स्नान आदि से निवृत्त हो शीघ्र ही देवताओं एवं पितरों का तर्पण करो।

सुनि मुनि पावन सरित नहाये। रबिहिं बंदि पुनि हरिहिं मनाये॥
तर्पण करउँ मनहिं जब आयो। रुचिर हाथ दोउ पुनि प्रगटायो॥

यह सुनकर लिखित मुनि ने पवित्र नदी में स्नान किया और सूर्य भगवान की वन्दना करके प्रभु का ध्यान किया। [उसके उपरान्त] जब उनके मन में तर्पण करने की इच्छा हुई तो पुनः दोनों दिव्य भुजाएँ प्रकट हो गयीं।

संख कहे बिस्मित क्यों भाई। तोहिं पर कृपा कियों हरषाई॥

तब शंख मुनि ने कहा कि हे भाई! तुम आश्चर्यचकित क्यों हो, यह तो मैंने तुमपर प्रसन्न होकर कृपा की है।

दोहा— दंड देइ सुद्युम्न नृप दंड लेइ तुम्ह तात।
दोउहु पाये महत पद लिखित सुनत हरषात॥ ६५॥

हे प्रिय! तुम्हें दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और दण्ड स्वीकार करके तुम, दोनों ही अब महत् पद को प्राप्त कर लिये हो, ऐसा सुनकर लिखित अत्यन्त प्रसन्न हो गये।

चौपाई— सोइ कर पार्थ दंड दै इनहीं। चोरिहिं पाप लग्यो अति जिनहीं॥
होहु पबित्र दोउ तुम्ह भ्राता। अति प्रसन्न होवहिं पितु माता॥

[भगवान ने कहा-] हे पार्थ! तुम भी उनको जिन [भाइयों, पितामहों, गुरुजनों आदि] को चोरी का पाप लग गया है, दण्ड देकर वही करो। हे प्रिय! ऐसा करने से तुम दोनों ही पवित्र हो जाओगे अर्थात् तुम कौरव जनों को दण्ड देकर पवित्र हो जाओगे और वे दण्ड पाकर पवित्र हो जायेंगे तथा तुम्हारे माता-पिता भी अति प्रसन्न हो जायेंगे।

लिखित बाहु जब संख कटाये। तब कस युद्ध न तोहिं सुहाये॥
नृपति सगर निज सुत असमंजस। त्यागि लहे जग सुर नर मुनि यस॥

हे प्रिय! जब बड़ा भाई छोटे भाई की भुजाओं को कटवा सकता है तो फिर तुम्हें युद्ध करना क्यों नहीं अच्छा लग रहा है ? जब धर्मात्मा राजा सगर अपने पुत्र असमंजस का परित्याग करके जगत में देवताओं, मनुष्यों और मुनियों से यश प्राप्त कर सकते हैं-

पुनि गुरु मातु प्रजा सुर द्रोही। धर्म बिमुख स्वारथ रत कोही॥
अस बांधव औरउ जो साथा। दंडहिं देउ नाइ तिन्हि माथा॥

फिर तुम भी ऐसे गुरु, माता, प्रजा तथा देवताओं से विरोध करने वाले, धर्म विमुख एवं स्वार्थ परायण भाई-बान्धवों और जो उनके साथ हैं उनका अभिनन्दन करके उन्हें दण्ड दो।

अनासक्त होइ करु निज कर्मा। अस करि पावहु प्रभु पद धर्मा॥
जनकहु भये बिदेह करम सों। अपर राजऋषि याहि धरम सों॥

तुम अनासक्त होकर स्वधर्म का पालन करो। ऐसा करके भागवत धर्म और परम पद को प्राप्त कर लो। राजा जनक कर्मयोग के माध्यम से ही विदेह हो गये तथा और भी राजर्षियों ने इसी [स्वधर्म पालन] से परम सिद्धि प्राप्त की।

दोहा— ते तुव सरिस स्वधर्म करि सुख सों बस गृह माहिं।
गृह पधारि सदगुरु कबहुँ परमज्ञान दै जाहिं॥ ६६॥

वे राजर्षि तुम्हारी ही तरह स्वधर्म का पालन करते हुए गृहस्थाश्रम में सुखपूर्वक रहते थे और उन्हें घर में बैठे-बैठे परमज्ञानी सद्गुरु आकर कभी परमज्ञान दे जाते थे।

चौपाई— एकबार अस भयो धनुर्धर। अष्टाबक्र पधारे नृप घर॥
गुरु सिष छिड़्यो परम संबादा। जो जानत उर हरत बिषादा॥

हे धनुर्धर अर्जुन! एक बार ऐसा हुआ कि महर्षि अष्टावक्र राजा जनक के यहाँ पधारे और गुरु-शिष्य में पारमार्थिक संवाद प्रारम्भ हो गया जिसको भलीभाँति समझ लेने से हृदय का विषाद मिट जाता है।

आत्मज्ञान सरि बहि गुरु मुख सों। जनक नहाये तहिं अति सुख सों॥
करहिं प्रस्न पर प्रस्न बिदेहा। देइ उतर गुरु हर संदेहा॥

आत्मज्ञानरूपी नदी सद्गुरु [अष्टावक्र] के मुख से बह चली जिसमें विदेहराज जनक अति प्रेमपूर्वक स्नान करने लगे। जैसे-जैसे राजा जनक प्रश्न करते गये वैसे-वैसे गुरुदेव उत्तर देकर उनका संदेह दूर करते गये।

जबहिं ब्रह्ममय भये बिदेहा। दिये दक्षिणा नृप पद गेहा॥
पुनि चरननि महँ होइ समर्पित। प्रभु हौं अनुचर कह नृप हर्षित॥

[इस प्रकार अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करते-करते] जब विदेहराज जनक ब्रह्ममय हो गये तो गुरुदक्षिणा रूप में उन्होंने घर के साथ सम्पूर्ण राज्य का स्वामित्व समर्पित कर दिया। फिर उनके चरणों में स्वयं भी प्रसन्नता के साथ समर्पित होकर राजा ने कहा- हे प्रभो! अब मैं एकमात्र आपका दास हूँ।

देहु आज संन्यास महत पद। जाकी महिमा नित्य बेद बद॥
बोले मुनि नृप मम सिंहासन। मानि करहु परजा अनुसासन॥

आज आप सर्वश्रेष्ठ संन्यास लेने की आज्ञा दें जिसकी महिमा वेद सदा गाया करते हैं। तब गुरुवर अष्टावक्र ने कहा- हे नरेश्वर! आज से यह मान लें कि यह सिंहासन मेरा है और मेरी आज्ञा है कि प्रजा की सेवा आप ही करें।

दोहा— यहि मम सेवा जगत हित राज काज करु अत्र।
थापहु अस आदर्स सुभ बने करम कर छत्र॥ ६७॥

मेरी यही सेवा है कि आप यहाँ जगतहितार्थ राजधर्म के अनुसार राज्य के समस्त कर्म करते रहें। आप एक ऐसे आदर्श व्यवहार की स्थापना करें, जो कर्मयोग का मुकुट बने।

चौपाई— पार्थ न अस भयो माटी मूरति। बैठि होय जो नृप की सूरति॥
अस्वमेध जग हित बहु कीन्हें। धरमजुद्ध बहु करि यस लीन्हें॥

हे पार्थ! ऐसा नहीं हुआ कि वे राजा [ज्ञान होने के उपरान्त राजसिंहासन पर] मात्र मिट्टी की प्रतिमा बनकर बैठे रहे और राजा की छवि केवल दिखावे के लिए रह गयी, अपितु उन्होंने जगतहितार्थ अनेक अश्वमेध यज्ञ और बहुत-से धर्मयुद्ध करके अपार कीर्ति भी प्राप्त की।

तुम्हहु लोक संग्रह हित ताता। रन करु तुम्ह समर्थ सच बाता॥
यदि कोउ दंडनीय जग माहीं। पर नृप दंड देत तेहि नाहीं॥

इसलिए लोकसंग्रह के लिए तुम भी यह संग्राम करो। मेरी यह बात सत्य है कि तुम इसमें समर्थ हो। यदि कोई इस जगत में दण्डनीय है लेकिन राजा उसे दण्ड नहीं देता तो-

ताहि दंड सब नृप सो पावत। जनम जनम दुख सों दुख धावत॥
सुन्यो होयगो राम गोसाईं। लखनहिं दंड दिये हरसाईं॥

उसका सम्पूर्ण दण्ड उस राजा को प्राप्त होता है और जन्म-जन्मान्तर में वह एक दुःख से दूसरे दुःख में भटकाता रहता है। तुमने सुना होगा कि प्रभु श्रीराम ने अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मण को प्रसन्न मन से दण्डित किया था।

मृत्यु दंड दै राज निकारे। मरे अनुज बानहिं बिनु मारे॥
जब लछिमन जैसो तपधारी। पायो दंड सभा बिच भारी॥

[वह यह कि] मृत्यु दण्ड देकर उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया और अनुज लक्ष्मण बिना बाण के मारे ही मर गये। इस प्रकार जब लक्ष्मण जैसे तपस्वी ने भी सभा के मध्य ही महत् दण्ड प्राप्त किया-

छंद— पुनि करि सकहिं का याहि रन राधेय अरु दुर्योधना।
गंगा सुअन कुलगुरु कृपा अरु द्रोन सुत सबरे जना॥
इन्ह पर बिधाता अति कुपित अस दंड एहि रन पाइहैं।
लखि मुदित सब सुर सिद्ध मन सों जस तुम्हारो गाइहैं॥

तब हे पार्थ! दुर्योधन, कर्ण, [इनका साथ देने वाले] पितामह भीष्म, कुलगुरु कृपाचार्य तथा आचार्य द्रोण एवं उनका पुत्र अश्वत्थामा इस युद्ध में कर ही क्या सकते हैं! विधाता इन पर अति कुपित है, अतः इस युद्ध में इन्हें ऐसा दण्ड मिलेगा कि अन्तरिक्ष से सिद्ध एवं देवगण आनन्दित होकर देखते हुए तुम्हारा यश गायेंगे।

दोहा— निरखु धरा तव सन्मुख हेरति बारम्बार।
रक्षा करु हे बीरमनि छत्रिय धर्म सम्हार॥ ६८ (क)॥

हे पार्थ! देखो यह वसुन्धरा बारम्बार तुम्हारी ओर देखते हुए कह रही है कि हे वीर शिरोमणि! क्षत्रिय धर्म को स्मरण कर मेरी रक्षा करो।

सोरठा— महाबाहु इक बार द्विज कौसिक मिथिला गये।
जानत सब संसार धर्मब्याध जो जो कह्यो॥ ६८ (ख)॥

हे महाबाहो! एक बार कौशिक नामक ब्राह्मण मिथिला में गये। वहाँ जाने पर धर्मव्याध ने उनसे जो-जो कहा उसे सारा संसार जानता है।

चौपाई— धर्मब्याध जब जनक बड़ाई। करत बिप्र कौसिक बिस्माई॥
सो कह यह बिदेह पुर द्विजबर। इहाँ प्रतिष्ठा बर्ण धरम कर॥

जब धर्मव्याध नामक भक्त महाराज जनक की बड़ाई करने लगा तो कौशिक नामक ब्राह्मण ठगे से रह गये। [उसने कहा-] हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! यह विदेहराज जनक की नगरी है, यहाँ एकमात्र वर्ण व्यवस्था की ही प्रतिष्ठा है।

यामें कोउ नहिं बर्ण बिरुद्धा। चतुः बर्ण कर कर्म बिसुद्धा॥
बरु नृप सुअनहु अत्याचारी। ताहि दंड दैं सभा मझारी॥

इस नगर में कोई भी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध नहीं है बल्कि चारों वर्ण के लोग अपने कर्म को अति विशुद्धता से करते हैं। यदि महाराज जनक का पुत्र भी अत्याचारी हो तो उसे वे सभा में ही दण्ड देंगे।

जहँ तहँ नृपति गुप्तचर कीन्हें। उनसों भेद सबन्हि कर लीन्हें॥
उन्हहिं प्रजा निज सुत सम प्यारी। यासों राज्य अहै सुखकारी॥

राजा ने [नगर में] जहाँ-तहाँ अपने गुप्तचर लगा रखे हैं उनके द्वारा सभी लोगों का भेद प्राप्त कर लेते हैं। उनकी प्रजा उनके लिए पुत्र के समान प्रिय है इसीलिए उनका राज्य सुखदायक है।

यद्यपि आत्मज्ञान रत राजा। उनकै लाने नहिं कछु काजा॥
सो संकल्प सिद्ध अति जोगी। लोक सिद्धि से परम बियोगी॥

[हे विप्रवर!] यद्यपि वे भूपाल सदा आत्मज्ञान में ही रत रहते हैं तथा उनको जगत में अपने लिए कुछ करना शेष नहीं है। वे संकल्प सिद्ध महान योगी हैं और सांसारिक सिद्धियों (भोगों) से अत्यन्त विरक्त हैं।

दोहा— चाहिय निज हित उन्हहिं नहिं प्रजा पुत्र परिवार।
तउ गुरु आज्ञा धारि सिर करत छत्रि ब्यवहार॥ ६९॥

[इतना ही नहीं हे ब्राह्मणश्रेष्ठ!] उन्हें अपने लिए तो प्रजा, पुत्र और परिवार कुछ भी नहीं चाहिए तो भी सद्गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वे क्षत्रिय-धर्म का सम्पूर्णता से पालन कर रहे हैं।

चौपाई— औरउ सत्य बात एक अर्जुन। कान खोल कै तू आजौं सुन॥
दंडनीय कहँ देइ न दंडा। वाके जीवन खड़ो बितंडा॥

हे प्रिय अर्जुन! सत्य बात एक और भी है जिसे तुम आज कान खोलकर सुन लो- जो दण्डनीय को दण्ड नहीं देता, उसके जीवन में वितण्डावाद खड़ा हो जाता है।

बरु होवें माँ पितु अपराधी। कै होवें गुरु धर्मउपाधी॥
जो नर उन्हहिं दंड नहिं देवे। सो निज मन बस कस करि लेवे॥

चाहे माता-पिता [एवं पुत्र] आदि ही अपराधी क्यों न हों अथवा गुरु ही क्यों न धर्म की हानि करते हों, जो पुरुष उनको दण्ड नहीं देता वह मन को कैसे वश में कर सकता है!

सो संन्यास न लै सक कबहूँ। सुर मुनि सन्मुख होवें जबहूँ॥
बहुरि होयेगो तैं संन्यासी। सुनि सुनि मोहिं आय बहु हाँसी॥

वैसा पुरुष कभी भी संन्यास नहीं ले सकता, भले देवता एवं मुनि ही सहायक क्यों न हों। फिर हे पार्थ! तुम संन्यासी बन जाओगे, ऐसा सुन-सुनकर मुझे बहुत हँसी आ रही है।

सुन्यों बसिष्ठ राज दैं भरतहिं। सो अपमान तिन्हहिं बहु करतहिं॥
भरत कहे कछु स्वारथ तुम्हरो। समुझ्यों पर दुर्दिन यह हमरो॥

मैंने सुना है कि मुनिवर वसिष्ठ [ननिहाल से लौटने पर] महात्मा भरत को राज्य देना चाहते थे, तो भरत अपने गुरुदेव को भी बहुत भला-बुरा कह बैठे। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि इसमें (मुझे राजा बनाने में) अवश्य ही आपका कोई स्वार्थ छिपा हुआ है। मैं यह सब कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु क्या करूँ यह मेरा दुर्भाग्य ही है।

दोहा— गुरुवर मैं नहिं मानऊँ तुम्हरी अग्या आज।
प्रभुहिं मनावन जाउँगो बस इतनो मम काज॥७०(क)॥

परन्तु हे गुरुदेव! आज मैं आपकी यह आज्ञा न मानकर श्रीरामजी को मनाने वन जाऊँगा। मेरे लिए एकमात्र यही कार्य है।

जनु अस कहि निज मातुहिं घोर दंड ते दीन्ह।
त्यागि राज पद ब्रह्महित गुरु मन हर्षित कीन्ह॥ ७०(ख)॥

मानो ऐसा कहकर उन्होंने माता कैकयी को घोर दण्ड दिया तथा भगवान के निमित्त राजपद त्याग कर गुरु के मन को प्रसन्न कर लिया।

चौपाई— बीर जिनहिं कर दंड न सोभत। बिषय तिन्हहिं मन बहु बिधि लोभत॥
गहे न सो मन दंड बिधाना। कितनोहु जतन चलत मनमाना॥

हे वीर! जिनके हाथ में दण्डनीति शोभित नहीं होती, उनका विषयी मन और भी विशेष विषय-लोलुप हो जाता है; कितना भी प्रयत्न करने पर वह मन दण्ड विधान को नहीं स्वीकार करता अपितु मनमाना ही व्यवहार करता रहता है।

एहि ते बहु नर कर्मन्हि त्यागी। कछु प्रतिकूल भये बैरागी॥
दंड न देयँ लेयँ नहिं काऊ। ऐसो उन्हकर भीरु सुभाऊ॥

यही कारण है कि बहुत-से पुरुष थोड़ी-सी भी प्रतिकूलता होने पर कर्मों को त्यागकर (अनाधिकारी होते हुए भी) संन्यास ले लेते हैं। दण्ड के अवसर पर भी दण्ड नहीं देते अथवा [दण्डनीय होने पर भी] किसी का दण्ड स्वीकार नहीं करते- उनका स्वभाव ऐसा ही भीरु होता है।

तेहि आवेस बिपिन महँ जावें। तहिं बसि कछु दिन धुनी रमावें॥
कछु दिन ध्रुव सम मधुबन जाई। जापत खड़े खड़े हरषाई॥

उसी आवेश के वशीभूत हुए वे वन में चले जाते हैं और वहीं रहते हुए कुछ दिन धुनी रमाकर पड़े रहते हैं अथवा मधुवन में जाकर कुछ दिन भक्त ध्रुव के समान प्रसन्नतापूर्वक खड़े-खड़े जप करने लगते हैं।

मन उचटत तब जायँ हिमालयँ। जोग नियम कछु दिन ते पालयँ॥
वासेउँ उचटत मन जब भाई। तब अवघड़ कोउ गुरू बनाई॥

जब उससे मन उचट जाता है तब वे हिमालय चले जाते हैं और कुछ दिनों तक योगादि नियमों का पालन करते हैं। हे प्रिय! जब उससे भी मन उचट जाता है तो किसी अवघड़ (तांत्रिक) को गुरु बनाकर-

दोहा— सिद्धी करत मसान महँ भाँग धतूरो खायँ।
बम भोले कहि सुरा छकि मांसहिं भोग लगायँ॥७१॥

भाँग-धतूरा खाकर श्मशान में तंत्र सिद्ध करने लगते हैं। 'बम भोले' कह छककर मद्यपान करते हैं और मांस का भक्षण करते हैं।

चौपाई— कछु दिन महँ आवेस नसाये। सब तजि लाला घरहिं सिधाये॥
मिलत न कछु लत लागति खोरी। सुत मारहिं तिन्ह बाहँ मरोरी॥

कुछ दिन में आवेश समाप्त हो जाने पर वे लाला सब कुछ छोड़-छाड़कर घर चले जाते हैं, कुछ प्राप्ति तो होती नहीं बल्कि दुर्व्यसन अलग से लग जाते हैं जिसके कारण अब पुत्र उन्हें बाँह मरोड़कर मारते हैं।

कहें भजन हित गै क्यों आये। मदिरा मांस राम तजि लाये॥
दंडनीय नहिं दीन्हें दंडा। पार्थ खायँ अब सुत मित डंडा॥

वे कहते हैं कि आप तो भजन करने गये थे फिर आ क्यों गये, उलटे राम को त्यागकर उनके स्थान पर मदिरा और मांस लेते आये? हे पार्थ! उन्होंने दण्डनीय को दण्ड नहीं दिया तो अब पुत्र और सम्बन्धियों से डण्डा खा रहे हैं।

ऐसोइ दसा कछुक तव होई। मानइ नहिं मम अग्या जोई॥
दया तोहिं यह असुर बनावे। जिमि भरतहिं मृगयोनि भुगावे॥

यदि तुम मेरी आज्ञा नहीं मानते हो तो तुम्हारी भी कुछ ऐसी ही दशा होगी। तुम्हारी यह दया तुम्हें [असुरों पर व्यर्थ दया करने के कारण अगले जन्मों में] वैसे ही असुर बना देगी, जैसे भरत मुनि (जड़भरत) को इसी दयावश मृगयोनि भोगनी पड़ी थी।

कस संन्यास लेन तुम्ह चहहू। गुडाकेस सच सच किनि कहहू॥
ऋषभदेव कै कौसिक जैसो। एक फलित भयो एक अनैसो॥

हे निद्राविजयी! तुम यथार्थ क्यों नहीं बताते कि तुम किसप्रकार का संन्यास लेना चाहते हो- भगवान ऋषभदेव जैसा या कौशिक ब्राह्मण जैसा? जिनमें एक (ऋषभदेव) का संन्यास तो फलीभूत हो गया और एक (कौशिक)का असफल रहा।

सोरठा— कौसिक लये संन्यास मातु पिता दोउ दुखित करि।
जब गइ हृदय भँड़ास पुनि आये सो लौटि गृह॥७२॥

ब्राह्मण कौशिक ने अपने धर्मात्मा माता-पिता दोनों को दु:खी करके [उनकी आज्ञा के बिना] संन्यास लिया। जब कुछ दिनों में आवेश समाप्त हो गया और मन में उच्चाटन हो गया तो पुन: लौटकर घर आ गये।

चौपाई— द्विज कौसिक सम क्यों भरतर्षभ। भटकन चाहत धरा स्वर्ग नभ॥
नहिं लख मुनि कछु अवसर आये। बहु असुरन्हिं रन मारि गिराये॥

हे भरतर्षभ! तुम ब्राह्मण कौशिक के समान पृथ्वी, स्वर्ग या आकाश में व्यर्थ क्यों भटकना चाहते हो? क्या तुम नहीं देखते कि विशेष अवसर आने पर ऋषि-महर्षि भी असुरों को धर्मयुद्ध में मार गिराते हैं!

मुनि बसिष्ठ कपिलहु घटजोनी। उननेउँ किय बहु रन एहि छोनी॥
तू अति श्रेष्ठ अहिंसक उनसों। सिद्ध करन चाहत निज मनसों॥

मुनि वसिष्ठ, महर्षि कपिल तथा अगस्त्य ऋषि ने भी इस धरा पर बहुत से युद्ध किये हैं। अरे! तुम तो स्वयं को अपने मन में उनसे भी विशेष अहिंसक सिद्ध करना चाहते हो।

धिग तव जीवन माया घेरी। नरकहु भगै तोहिं मुहँ फेरी॥
मूढ़ श्रेष्ठ नर जग जस करहीं। अज्ञहु तिन्ह समान अनुसरहीं॥

हे पार्थ! तुम्हारे जीवन को धिक्कार है, जिसे माया ने घेर रखा है। तुमसे तो नरक भी मुहँ मोड़कर भाग जायेगा। अरे मूर्ख! श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, उन्हीं की देखा-देखी अज्ञानी भी करते हैं।

तिन्ह कृत कर्म सास्त्र परमाना। मान्यो जाय ताहि बिज्ञाना॥
यामें होय भरम यदि तोहीं। पियउँ करम पय देखहु मोहीं॥

उन्हीं का किया हुआ कर्म शास्त्र का प्रमाण माना जाता है तथा उसी को विज्ञान भी माना जाता है। यदि तुम्हें इसमें कोई संशय दिखायी देता है तो मुझे देखो, मैं भी कर्मयोगरूपी दूध पीता हूँ।

सोरठा— कछु कर्तब्य न मोय तीनि लोक महँ करन हित।
मोहिं अप्राप्य न कोय तउ कर्मनि महँ अनुसरउँ॥ ७३॥

तीनों लोकों में मेरे लिए कोई कर्तव्य नहीं है जिसको मुझे करना पड़े तथा कोई भी वस्तु मेरे लिए अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्मों में ही बरतता हूँ।

मासपारायण, ग्यारहवाँ विश्राम

चौपाई— यदि नहिं करउँ सजग होइ कर्मा। जगत सोइ अपनावे धर्मा॥
मम अनुसरण करैं सब भाई। करउँ न अस तौ थिति दुखदाई॥

यदि मैं सजग होकर कर्मों में न बरतूँ तो उसी व्यवहार को सम्पूर्ण जगत भी अपना लेगा; क्योंकि हे प्रिय! सभी मेरे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। यदि मैं ऐसा न करूँ तो अत्यन्त दु:खद स्थिति हो जायेगी–

तब नसाय यह लोकहु सारो। बनुँ संकर अभिषेकन वारो॥
एहि बिधि जहँ सबके हित आऊँ। प्रजा बिनासक तहँ कहलाऊँ॥

तब इस सम्पूर्णलोक का नाश हो जायेगा और मैं वर्णसंकरता की स्थापना करने वाला हो जाऊँगा। इस प्रकार जहाँ मैं सबके कल्याण के लिए अवतरित हुआ हूँ, वहीं प्रजा का नाश करने वाला कहा जाऊँगा।

यासों जस कर कर्मासक्ता। सोइ कर अनासक्त मम भक्ता॥
तिन्ह बुद्धिहिं उपजायँ न भेदा। करें करावैं जस कह बेदा॥

इसलिए कर्मासक्त पुरुष जैसा करते हैं, मेरे अनासक्त भक्त भी वैसा ही करें, अज्ञानियों की बुद्धि में भेद उत्पन्न न करें अपितु वेद-शास्त्र जैसा कहते हैं, स्वयं वैसा ही करें और उनसे भी करावें।

संजय सुनि हरि बचन अमोले। मन प्रसन्न होइ नृप सन खोले॥
अबलौं नृप उर बहुत बिषादा। फूट पर्‌यो कलुषित अवसादा॥

भगवान के अमूल्य वचनों को सुनकर सञ्जय ने राजा के पास प्रसन्नचित्त हो उसे प्रकट कर दिया। तब अभी तक राजा के हृदय में जो बहुत विषाद भर चुका था वह दूषित फोड़ा फूट पड़ा–

दोहा— संजय यह कस कृष्ण कर जगहित करन कहाय।
मम जस एक कुटुम्ब कर कलह न सके नसाय॥ ७४ (क)॥

सञ्जय! कृष्ण का यह कैसा जगत हित करना कहा जायेगा कि मेरे जैसे एक कुटुम्ब का कलह इनके द्वारा नहीं मिटाया जा सका।

सबकर हित तो मोर मत ऐसो करन कहाय।
उरग भयंकरहू मरे लाठिहु टूटे नाँय॥ ७४ (ख)॥

मेरे मतानुसार सबका हित करना तो यही है कि भयंकर सर्प भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।

चौपाई— कलह बीज सच परत हि आजइ। अब सब भवन जुद्ध अस गाजइ॥
अनुजहिं छमा न जेठ करेगो। ताहि मारि पुनि आपु मरेगो॥

[हे सञ्जय! सच पूछो तो] यथार्थ में कलह का बीज आज पड़ रहा है। अब सबके घर में युद्ध की ऐसी गाज (बिजली) गिरेगी कि छोटे भाई के अपराध को बड़ा क्षमा नहीं करेगा और [उसके द्वारा अपराध करने पर] उसे मारने के पश्चात् स्वयं मर जायेगा।

अस लखि गुरु अरु सिष्य लड़ाई। सिष्य गुरुहिं बधि अब न लजाई॥
अब नहिं कुसल पितामह केरी। तिन्ह हति पौत्र बजावहिं भेरी॥

ऐसा गुरु और शिष्य (द्रोण, कृप आदि आचार्यों और पाण्डवों) का युद्ध देखकर शिष्य गुरु को मारेगा, संकोच नहीं करेगा। अब वृद्ध पितामहों की भी खैर नहीं; क्योंकि अब पौत्र उन्हें मारकर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

क्यों राजन अस कहउ रिसाई। नृप कह तब अस हँसत ठठाई॥
जस बर पुरुष करहिं कह माधव। तैसोइ करहिं मूढ़ सब साधव॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! आप दु:खी होकर ऐसा क्यों कह रहे हैं? तब राजा धृतराष्ट्र ने ठहाका लगाकर हँसते हुए [व्यंग्यात्मक वाणी में] कहा- हे साधु! माधव तो यही कह रहे हैं कि जैसा श्रेष्ठ पुरुष करते हैं, वैसा ही साधारण मनुष्य भी करते हैं!

छमा सब्द अब करै पलायन। दंड नीति केवल मुख गायन॥
धरमभूमि रनभूमि कहावे। थोरेउँ बात युद्ध कहँ धावे॥

[सञ्जय! जगत से] क्षमा शब्द अब पलायन कर जायेगा अर्थात् क्षमा माँगने एवं करने कराने वाला व्यवहार समाप्त हो जायेगा। सभी के मुख से एकमात्र दण्डनीति का ही गायन होगा। अब यह धर्मभूमि रणभूमि कही जायेगी और सभी छोटी-छोटी बातों पर युद्ध के लिए दौड़ पड़ेंगे,

दोहा— देहिं दुहाई पांडुसुत करि मनमाना जोय।
कहहिं करायो कृष्ण अस तनिक न मन दुख होय॥ ७५॥

कुछ भी मनमाना करेंगे और [किसी के कुछ कहने पर वे] पाण्डु पुत्रों की दुहाई देते हुए कहेंगे कि [पाण्डवों के द्वारा] कृष्ण ने भी तो ऐसा ही कराया है। ऐसा कहते एवं करते हुए उनके मन में कुछ भी दु:ख नहीं होगा।

चौपाई— नृप सच कोउ आदर्स काहु कर। होत जगत बर कुसल ताहु कर॥
तव सुत माहिं लखाव लंकपति। बिश्रवाहि सम नृप तुम्हरो गति॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! यह बात तो सच है कि जगत में चाहे कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो, कोई न कोई श्रेष्ठ पुरुष उसका आदर्श होता है, इसी से उसका भला होता है। आपके पुत्र का व्यवहार रावण के समान है और आपका व्यवहार विश्रवा मुनि के समान है।

ते तुव सम न किये न लजाये। सुत न सुन्यो जब बिपिन सिधाये॥
रावण कह पितु जीयउँ जबलगि। राम अवनि पग धरहिं न तबलगि॥

परन्तु उन्होंने (विश्रवा मुनि ने) आपकी तरह नहीं किया और न लज्जित हुए बल्कि जब उनका पुत्र [दुष्ट रावण समझाने पर भी] नहीं माना तो [घर-बार का परित्याग कर] वन को चले गये, क्योंकि रावण ने स्पष्ट कह दिया था कि हे पिताजी! अपने जीते जी मैं राम को अपनी धरती पर नहीं आने दूँगा।

योइ दुर्योधन कहेउ हुँकारी। महि सुइ नोक न देउँ मुरारी॥
कहे तुम्हहिं सन तबहिं कृपाला। सुत न तोर यह असुर भुआला॥

दुर्योधन ने भी गरजकर यही कहा था कि हे कृष्ण! पाँच गाँव तो क्या मैं सूई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा। तब भगवान यदुनाथ ने आपसे कहा था- हे राजन्! इसे अपना पुत्र न समझें, यह तो कोई असुर है।

याहि करण सकुनीहु दुसासन। बंदि बनावहु मम अनुसासन॥
इन्हहिं सौंपि पुनि पांडु सुतन्ह कहँ। संधि करहु यहि मार्ग जतन कहँ॥

मेरी आज्ञा से आप इसके साथ-साथ कर्ण, शकुनि एवं दु:शासन को बन्दी बनाकर इन्हें पाण्डुपुत्रों को सौंप सन्धि कर लें; क्योंकि अब रक्षा का यही मार्ग बचा है।

कुरुकुल बृद्धन्ह अति अन्यायो। इन्ह पर दया मोहिं नहिं भायो॥
सुनि प्रभु बचन तुम्हहु नहिं माने। जाइ बिपिन हिय हरिहिं न ध्याने॥

यह कुरुकुल के बड़े-बूढ़ों का घोर अन्याय है कि आपसब इसपर दया कर रहे हैं जो मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। हे नरेश! भगवान श्रीकृष्ण की बात सुनकर भी आप नहीं माने और वन में जाकर हृदय में उनका ध्यान नहीं किया।

दोहा— अस न किये तो होयेगो तुम्हरहु कोउ आदर्स।
जासे हरि पांडवनि सों अजहुँ करहु अपकर्स॥ ७६॥

आपने ऐसा नहीं किया, अत: आपका भी कोई न कोई आदर्श तो होगा ही जिसके कारण आज भी आप

भगवान तथा पाण्डवों से ईर्ष्या कर रहे हैं।

चौपाई— यासें मातु पिता गुरु स्वामी। नाहिं पितामह प्रभु अनुगामी॥
उलटें गो द्विज मुनि धन हर्ता। पांडु सुतनि सों ईर्ष्या कर्ता॥

इसलिए यदि कोई माता-पिता, गुरु, पितामह तथा अन्य स्वामी भगवान की आज्ञानुसार नहीं चल रहे हैं बल्कि उसके विपरीत वे गो, ब्राह्मण, सन्त एवं पाण्डुपुत्रों जैसे धर्मात्मा पुत्रों से ईर्ष्या करते हुए, उन सबके धन का अपहरण कर रहे हैं।

तौ इन्ह कहँ सुत सिष्य हुँकारी। करि बंदी दैं मस्ति निकारी॥
तौ कस होय तिन्हहिं अपराधू। तुम्हहि बतावहु जो बड़ साधू॥

तो यदि इन लोगों को पुत्र, शिष्य आदि दहाड़ते हुए बन्दी बनाकर इनके दोषों का मार्जन कर दें तो उनका अपराध कैसा! आप बहुत बड़े साधु हैं तो आप ही बतायें?

सुत सों दंड पाइ यदि कोऊ। छाँड़ि कुपंथ सुपथ रत होऊ॥
तबतौ सो सुत श्रेष्ठ कहावे। यहि परमारथ बेद बतावे॥

हे पृथ्वीनाथ! यदि कोई पुत्र से दण्ड प्राप्तकर कुमार्ग का परित्याग कर वेद-धर्म को स्वीकार कर ले तो इसमें तो उस पुत्र की बड़ाई है; क्योंकि वेद इसे ही परमार्थ बताते हैं।

सुनहु नृपति दृष्टांत अनोखा। जासों समुझहु धरमहिं चोखा॥
पुरुष हुतो एक सच अति भोगी। सुत दारा सों कह मैं जोगी॥

हे नरेश! एक अद्‌भुत दृष्टान्त सुनें, जिससे आप यथार्थ धर्म को समझ जायेंगे। एक पुरुष वस्तुत: अत्यन्त भोगी था किन्तु पुत्र और पत्नी के पास कहता था कि मैं योगी हूँ।

दोहा— कहत अभय पद पायउँ ज्ञान बघारत नित्य।
मोहिं दिखत सब ब्रह्ममय यह जग अहइ अनित्य॥ ७७॥

वह सदा ज्ञान-वैराग्य की बातें हाँकता रहता था और कहता था कि मुझे अभय-पद प्राप्त हो गया है, अत: मुझे तो सबकुछ ब्रह्मरूप ही दीख रहा है तथा यह जगत तो नश्वर है।

चौपाई— महरि सखिन्ह सँग अति अकुलानी। लेउँ परीक्षा अस जिय ठानी॥
निसा बुलाइ सहेलिन्ह संगा। चोर भेष करि लियो निषंगा॥

[ऐसा सुनते-सुनते] उसकी पत्नी सहेलियों के साथ ऊब गयी थी, अत: उसने मन में निश्चय किया कि इनकी परीक्षा ही ले लेती हूँ। [और एक दिन] रात्रि में सखियों को बुलाकर उनके साथ चोर का वेश धारण कर उसने [हाथों में] तलवार ले ली।

तेहि दिन सोयो रह्यो खिरानो। जाइ जगावहिं ठोंकि पिरानो॥
तिन्हकर देखत रूप भयंकर। कहत देहु मोहिं आज क्षमाकर॥

उस दिन वह खलिहान में सो रहा था इसलिए उनलोगों ने वहाँ जाकर उसे डंडे से ठोककर जगाया। वह उनका (चोर का) विकराल रूप देखकर गिडगिड़ाते हुए बोला- मुझे आज क्षमा कर दें।

गर्जहिं तर्जहिं तउ सब नारी। त्यागेउ सो मल मूत्रहिं भारी॥
पुनि पुनि पाँव परत भहराई। गयीं डाँटि दुर्गंधहिं पाई॥

तो भी समस्त माताएँ जोरों से डाँट-फटकार करने लगीं जिससे उसने [अत्यन्त भयभीत होने से] मल-मूत्र का त्याग कर दिया तथा बारम्बार पैरों पर गिरने लगा। जब वहाँ दुर्गन्ध फैल गयी तो वे डाँट-फटकार कर चली गयीं।

हँसि हँसि गिरि गिरि जावैं धरनी। सुमिरि ताहि भय अरु पग परनी॥
तेहिकै गृह छिपि गयीं सहेली। देखन चाहतिं ताहि पहेली॥

वे उसके डरने और बारम्बार पैरों पर गिरने को याद करने से हँस-हँस कर धरा पर गिर जाती थीं। समस्त सखियाँ उसी के घर जाकर छिप गयीं क्योंकि वे उसके बहाने को सुनना चाहती थीं।

तब भय सों भजि सो गृह आयो। कह्यो प्रिये मम उदर पिरायो॥

तब वह अत्यन्त भय से भागकर घर आ गया और बोला- हे प्रिये! आज मेरा पेट अस्वस्थ हो गया है।

दोहा— कह भामिनि हँसि दीख मोहिं सपने चोर अनेक।
देखत तुम्ह मल मूत्र करि पुनि उन्हके पद टेक॥७८॥

तब धर्मपत्नी ने हँसते हुए कहा- मुझे तो स्वप्न में अनेक चोर दिखायी दिये जिन्हें देखते ही आपका मल-मूत्र निकल गया और आप उनके पैरों पर गिर कर क्षमा माँग रहे थे।

चौपाई— सुनत एक पल गयो सुखाई। पुनि सम्हरत कह बात बनाई॥
होत रहत ऐसो बहु सपना। जीवन जाकी नाहिं कलपना॥

ऐसा सुनते ही वह एक पल के लिए हक्का-बक्का रह गया [कि कहीं यह जान तो नहीं गयी] फिर अपने को सम्हालते हुए बात बनाकर बोला- ऐसे बहुत-से स्वप्न होते रहते हैं जिनकी जीवन में कभी कल्पना भी न की गयी हो।

तबहिं आइ चोरहु सब प्रगटे। झूँठ झूँठ कहि बहु बिधि दपटे॥
जब पुनि गयो अतिहिं घबराई। तब सखि प्रगटिं सो रूप हटाई॥

उसी समय [घर में छिपे हुए] सभी चोर आकर प्रकट हो गये और झूठे! झूठ बोलता है ऐसा कहकर अनेक प्रकार से डाँटा। जब पुनः वह अत्यन्त घबड़ा गया, तब उन सहेलियों ने अपना बनावटी रूप हटा दिया।

देखि चकितचित सो अति लाज्यो। तासु लजान तियन्ह बहु भ्राज्यो॥
बोलीं कहुँ पुनि ज्ञान बघारहु। तब ऐसो मल मुत्र निकारहु॥

तब उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो वह अत्यन्त लज्जित हो गया, उसका लज्जित होना नारियों (सहेलियों) को बहुत प्रिय लग रहा था। उन लोगों ने कहा- आज से यदि ज्ञान बघारोगे तो पुनः ऐसे ही मल-मूत्र त्याग करना पड़ेगा।

ता दिन सों दियो ढोंग बिसारी। एहि बिधि नारि भई उपकारी॥
नृप कहु काह नारि अपराधा। यामें तौ भइ दूरइ बाधा॥

उसी दिन से वह ढोंग करना भूल गया। इस प्रकार उसकी धर्मपत्नी उसका उपकार करने वाली सिद्ध हुई। हे नरेश! आप ही बतावें कि इसमें पत्नी का क्या अपराध है बल्कि इससे तो पति के जीवन की ढोंगरूपी बाधा ही समाप्त हो गयी।

दोहा— अपर सुनहु दृष्टांत अब जासे जाये खेद।
भलीभाँति पुनि जानहू काह कहें सब बेद॥७९॥

हे अन्नदाता! अब आप दूसरा दृष्टान्त सुनें जिससे आपके हृदय का शोक-सन्ताप समाप्त हो जायेगा, फिर आप भलीभाँति जान जायेंगे कि सारे वेद क्या कहते हैं।

चौपाई— हुतो एक मूरख पति कोई। जासु घरिनि पतिबर्ता होई॥
एक समय मित्रहिं गृह लायो। तेहि सन्मुख निज तियहिं बुलायो॥

कोई एक मूर्ख पति था जिसकी पत्नी पतिव्रता थी। एक बार वह अपने मित्र को घर पर ले आया और उसके सामने अपनी धर्मपत्नी को बुलाया-

कह सुनु प्रिया मोरि मनभावनि। तोर चरित कलि कलुष नसावनि॥
तू लख मोर रूप सचराचर। मैं जस कहउँ आज सों तस कर॥

और कहा- हे प्रिये! सुनो [मैं जानता हूँ कि] तुम सदा मेरा अनुगमन करने वाली रही हो, इसी से तुम्हारा चरित्र कलियुग के दोषों को दूर करने वाला है। तुम चराचर जगत को मेरा ही रूप समझती हो, अतः आज से मैं जो आज्ञा दे रहा हूँ वही करो।

यह प्रिय मित्र रूप मम जानी। याहु आज सों निज पति मानी॥
याकेउ सँग कर तिय ब्यवहारा। यह अति प्रिय मोहिं एहि संसारा॥

यह मेरा प्रिय मित्र है इसे मेरा ही रूप जानकर, आज से अपना पति मानते हुए इसके साथ भी पत्नी का

व्यवहार करो क्योंकि इस संसार में मुझे यही एकमात्र अत्यन्त प्रिय है।

सुनि पतिब्रता खसेउ पग धरनी। ताकी दसा जाय नहिं बरनी॥
तबहीं कीन्हेसि सिद्धि गुहारी। प्रगटेसि जार पुरुष दुइ चारी॥

[पति के मुख से] ऐसी बात सुनकर उस पतिव्रता के पैरों तले धरती खिसक गयी, उसकी दशा का वर्णन करते नहीं बनता। तभी उस पतिव्रता ने अपनी सिद्धियों का आवाहन किया और दो-चार जार पुरुषों (व्यभिचारियों) को प्रकट किया।

उननेउँ मूढ़ पतिहिं दुलराई। एहि तिय सँग करु हमरि सगाई॥

उन लोगों ने भी उस मूर्ख पति को फुसलाते हुए कहा कि इस स्त्री से हमारा भी सम्बन्ध करा दें-

दोहा— मोहिं तोहिं कछु भेद नहिं कह सब बेद पुरान।
सोच मूढ़ पति का भयो तिन्हहिं न कर सनमान॥८०॥

क्योंकि आपमें और हममें तो कुछ भेद है नहीं, ऐसा ही सारे वेद-पुराण आदि कहते हैं। [यह सुनकर] वह मूर्ख पति सोचने लगा कि यह क्या हो गया! और उनकी कही हुई बातों की उपेक्षा कर दी।

चौपाई— बोली तिय हाँ इनकेउ संगा। करउँ आज सों मैं रति रंगा॥
सुनि पति वापे गयो रिसाई। कह जनु आज मृत्यु तव आई॥

धर्मपत्नी ने कहा- हाँ, आज से मैं इनके साथ भी प्रेम व्यवहार करूँगी। ऐसा सुनकर उसका पति उसपर क्रोधित हो गया और कहा- ऐसा लगता है कि तेरी मृत्यु आ गयी है!

कह पतिब्रता मोहिं कस मारहु। मेरो पतिब्रत भुजा अपारहु॥
पतिब्रत धर्म न तुम्हरो लानें। हरिहिं प्रसन्न करउँ जिय जानें॥

तब उस पतिव्रता ने कहा- आप मुझे कैसे मार सकते हैं? आपकी तो दो ही भुजाएँ हैं परन्तु मेरे पतिव्रत धर्म की अनन्त भुजाएँ हैं। मेरा पतिव्रतधर्म आपकी प्रसन्नता के लिए नहीं है बल्कि मैं [इसके माध्यम से] भगवान को प्रसन्न कर रही हूँ आप अपने मन में ऐसा जानें।

सुनि निषंग लै मारन धाये। जार पुरुष तेहिं मारि गिराये॥
बोली तिय तेहि बहुरि जिलाई। अब जो कहउँ करहु मन लाई॥

ऐसा सुनते ही वह तलवार लेकर उसे मारने दौड़ा तभी जार पुरुषों ने उसे मारकर गिरा दिया। फिर उस साध्वी ने उसे [अपने धर्म के बल से] जिलाकर कहा- अब मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे प्रसन्न मन से कीजिये।

मैं बस चेरि न हौं पिय तोरी। मौलिक धर्म सुनहु अब मोरी॥

हे प्रिय! मैं एकमात्र आपकी दासी ही नहीं हूँ। अब आप मेरे मौलिक अधिकार को भी सुनें-

दोहा— प्रथमहिं पति भगवान मम जो तेरोहु पति होय।
एहि पाछें इहि लोकमहँ काहुहिं नातो कोय॥८१॥

सबसे पहले तो मेरे पति भगवान हैं जो आपके भी स्वामी हैं, इसके उपरान्त ही जगत में किसी से मेरा कोई नाता है।

चौपाई— अपर बात मैं आतम अंसा। सोइ मम गोत्र गाँव अरु बंसा॥
तिसरे धरम हेतु तन मेरो। बिषय हेतु नहिं कह गुरु तेरो॥

दूसरी बात है कि मैं भी उसी परमात्मा की अंश हूँ और [जो उसका गाँव, गोत्र और वंश है] वही मेरा गाँव, गोत्र और वंश है। तीसरी बात कि यह मेरा शरीर धर्म के लिए है न कि भोग के लिए, ऐसा ही आपके गुरु ने कहा है।

चउथो मन माँग्या भगवाना। कह्यो सुमिरु नित मोहिं सुजाना॥
माँगे कोउ सर्बस्व न देनो। मौलिक धर्म आपु रख लेनो॥

चौथी बात है कि मन को तो भगवान ने माँगा है और कहा है- हे बुद्धिमानो! इससे नित्य मेरा स्मरण करो। यदि कोई सर्वस्व माँगे तो मत देना, मौलिक अधिकार अपने पास रखना।

ताहि दिनहिं सों पति गयो जागी। पाइ दंड जड़ता सब भागी॥
नृप वामें का कहु अपराधा। जब निज पतिहिं सुमारग साधा॥

उस दिन से उसके पति सजग हो गये तथा दण्डित हो जाने से उनकी जड़ता चली गयी। हे नरेश्वर! अब आप ही बतायें कि जब उसने अपने पति को सन्मार्ग दिखाया तो इसमें क्या अपराध हो गया!

कह धृतराष्ट्र अतिहिं गरमाई। अब याको उत्तर दै भाई॥
वापेउ नहिं मानत का करती। मारि पतिहिं पुनि का सो मरती॥

[ऐसा सुनकर] राजा धृतराष्ट्र ने अत्यन्त रोष में भरकर कहा- हे भाई! अब इसका उत्तर दो कि यदि पति इतने पर भी नहीं मानता तो वह क्या करती? क्या पति का वध कर स्वयं मर जाती?

दोहा— संजय कह सुनु धीर नृप कहतो जो प्रभु आइ।
कै गुरु कहतो ताहि जो सोइ करति सो धाइ॥८२॥

सञ्जय ने कहा- हे धैर्यवान राजन्! सुनें, उसका भगवान आकर जो कुछ कहता अथवा उसका सद्गुरु जो कुछ कहता, उसे ही वह प्रेमपूर्वक करती।

चौपाई— सीता ऐसोइ धरनि समानीं। पति आयसु नहिं लीन्हिं सयानीं॥
यासों कौन दंड जग भारी। पतिहिं त्याग सर सों दइँ मारी॥

भगवती सीता भी इसी प्रकार धरा में समा गयीं, उन साध्वी ने अपने पति (भगवान श्रीराम) से इसकी आज्ञा नहीं ली। जगत में इससे बड़ा दण्ड क्या होगा कि उन्होंने त्यागरूपी बाण से अपने प्राणपति श्रीराम प्रभु को मार डाला।

सुनि नृप मौन भये तब भाई। जनु सन्मुख गृह गिर भहराई॥
तब संजय देखे प्रभु बयना। चाहत नहिं छबि त्यागें नयना॥

हे प्रियजनो! [सञ्जय के द्वारा] ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र मौन हो गये, मानो उनके सामने ही उनका भवन भहराकर गिर पड़ा हो [उनके सारे तर्क छिन्न-भिन्न हो गये]। तब सञ्जय ने भगवान की वाणी की ओर देखा जिनकी दिव्य छवि को उनके नेत्र एक पल के लिए भी त्यागना नहीं चाहते थे।

अब महराज कहत साधक सों। गृह आश्रम प्रभु अवराधक सों॥
निज कर्तब्य करहु मन लाई। सब आडम्बर देहु भगाई॥

अब महाराज उन साधकों से कह रहा है जो गृहस्थाश्रम में ही भगवान की आराधना करने वाले हैं कि आप अपने कर्तव्य कर्म को प्रेमपूर्वक करें, समस्त ओछी औपचारिकताओं को त्याग दें।

तजहु छुद्र सीलहिं संकोचा। येइ एहि मारग बाधक पोचा॥

[यही नहीं बल्कि] क्षुद्र शील-संकोच का परित्याग कर दें क्योंकि यही अधम इस आध्यात्मिक मार्ग में बाधक है।

दोहा— जनकराज जस नीति गहि गमन करहु पथ याहिं।
अभय होइ बिचरहु जगत इहँ कोउ अपुनो नाहिं॥८३॥

हे भाइयो! राजा जनक के समान नीति को अपनाकर अपने इसी मार्ग पर चलते रहें, इसी में आपकी शोभा है। इस प्रकार आप जगत में अभय होकर विचरण करें क्योंकि यहाँ कोई अपना नहीं है।

चौपाई— गृह साधन अति दुर्गम मानहु। पर गुरुकृपा सुगम अति जानहु॥
गृह महँ जप तप साधन करनो। आध्यात्मिक बर पथ अनुसरनो॥

मैं मानता हूँ कि गृहस्थाश्रम में साधना करना अति कठिन है परन्तु सद्गुरु की कृपा से वह उतना ही सुगम भी है। गृहस्थाश्रम में जप, तप आदि साधन करना और श्रेष्ठ आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करना तो-

ऐसो जस चलनो सागर जल। पर गुरु आज्ञा मिले नाव भल॥
सो खेवे तो पीवत खावत। सोवत उतरहु प्रभु गुन गावत॥

ऐसा ही है जैसे सागर के जल पर चलना; परन्तु गुरु आज्ञारूपी श्रेष्ठ नाव मिल जाय और वही खेवनहार हो

जाय तो आप प्रेमपूर्वक खाते-पीते, सोते-जागते तथा भगवान का गुणगान करते हुए उस पार जा सकते हैं।

गृह आश्रम सुर नर मुनि भावन। प्रगटत जहँ प्रभु कलुष नसावन॥
पूर्ण करत तेउ तहिं निज कारज। भजहिं जाइ तहिं मुनि संकर अज॥

यह गृहस्थाश्रम देवताओं, मनुष्यों तथा मुनियों को बड़ा प्रिय लगता है, जहाँ पापों का नाश करने वाले भगवान भी प्रकट होते हैं। वे भी अपना सम्पूर्ण प्रयोजन वहीं पूरा करते हैं और [आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रभु के वहाँ अवतार लेने पर] ऋषि-महर्षि, भगवान शंकर एवं ब्रह्माजी भी वहीं जाकर भगवान की उपासना करते हैं।

ताकर गृह पसु पक्षि बसेरा। उरग बिलाव मुसक बर डेरा॥
रंक चोर हित सोइ दरवाजै। माँगत रंक चोर छिनि भाजै॥

उस गृहस्थ का घर पशु-पक्षियों का भी बसेरा है तथा सर्प, चूहों और बिलाव आदि का भी श्रेष्ठ वासस्थान है। यहाँ तक कि भिखारियों एवं चोरों के लिए भी वही दरवाजा [आश्रय] है, जहाँ भिखारी कुछ याचना करता है तो चोर कुछ छीनकर भाग जाता है।

दोहा— भ्राजत एहि सों याहि गृह देव पितर गंधर्ब।
भूत प्रेत बटु साधु यति प्रेम सों याचक सर्ब॥ ८४॥

इसलिए उसकी विशेष शोभा होती है क्योंकि इस गृहस्थाश्रम में देवता, पितर, गन्धर्व, ब्रह्मचारी, संन्यासीगण एवं भूत, प्रेत आदि सभी प्रेमपूर्वक याचक होते हैं।

चौपाई— अब भगवान कहहिं जो भाई। सुनहु पार्थ सँग मन चित लाई॥
कह प्रभु प्रकृति गुणनि सों कर्मा। होयँ मूढ़ कह मेरो धर्मा॥

अब पुनः भगवान जो कह रहे हैं- हे भाइयो! आपसब भी उसे अर्जुन के साथ-साथ मन लगाकर सुनें। भगवान कह रहे हैं कि सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं, परन्तु अज्ञानी उसे अपना किया हुआ मानता है।

पर ज्ञानी गुन कर्म बिभागा। जानत गुण गुण महँ अनुरागा॥
यासों होत न कर्मासक्ता। अनासक्त नित रह मम भक्ता॥

परन्तु ज्ञानी पुरुष गुण और कर्म के विभाग को भलीभाँति जानता है इसलिए वह समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं। अतः मेरा भक्त कर्म में आसक्त नहीं होता अपितु वह सदा अनासक्त ही रहता है।

प्रकृति गुणनि सों मोहत मूढ़ा। गुण कर्मनि आसक्त बिमूढ़ा॥
तिन्ह अज्ञानिन्हि मम बच मानी। कर्म सों बिचलित करै न ज्ञानी॥

प्रकृति के गुणों द्वारा मूढ़ ही अति मोहित होते हैं, इसी से वे मूढ़ गुण और कर्मों में आसक्त भी हो जाते हैं। उन अज्ञानियों को मेरे वचनों को मानकर ज्ञानी पुरुष कर्म से विचलित न करे।

प्रकृति काह प्रभु गुन कस रूपा। कर्म करहिं जो जगत अनूपा॥
जिन्ह कृत कर्म अज्ञ निज मानत। प्रकृति गुणन्ह कर्ता नहिं जानत॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! प्रकृति क्या है? गुणों का स्वरूप कैसा है? जो जगत में अनुपम कर्म करते हैं, जिनके किये हुए कर्मों को मनुष्य अपना किया हुआ मानता है, प्रकृति के गुणों द्वारा किया हुआ नहीं जानता।

गुण अरु कर्म बिभाग बतावहु। तत्त्ववित्त कर गुन पुनि गावहु॥

पुनः आप गुण और कर्मों को पृथक्-पृथक् करके बतावें और फिर तत्त्ववेत्ता के गुणों को भी प्रकट करें।

दोहा— मूढ़न्हि बिचलित कर्म सों गूढ़उ तत्त्व बताय।
करै नाहिं क्यों तत्त्ववित याहि कहउ समुझाय॥ ८५॥

हे प्रभो! अज्ञानियों को गूढ़ात्मक तत्त्व बताकर, तत्त्वज्ञानी कर्म से विचलित क्यों न करे- इसे भी आप समझाकर बतावें?

चौपाई— सुनु अब अर्जुन प्रकृति बिबेचन। याहि समुझि करु मोह बिरेचन॥
त्रिबिध गुणनि की साम्यावस्था। सोइ प्रकृति की मूल अवस्था॥

हे अर्जुन! तो लो; अब प्रकृति का विवेचन सुनो और इसे समझकर तुम मोह त्याग दो। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति का वास्तविक स्वरूप है।

सत रज तम जो गुण उपजावति। महाबाहु सो प्रकृति कहावति॥
सोइ इन्ह गुण सों जग प्रगटावति। इनसेइ थिति संघार करावति॥

हे अर्जुन! जो सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण- इन तीनों गुणों को प्रकट करती है, वही प्रकृति कहलाती है। वही इन गुणों के द्वारा जगत को प्रकट करती है तथा इन्हीं से वह [जगत का] पालन तथा संहार करती है।

यासों मूल प्रकृति एहि गावें। सिद्ध मुनिहुँ सब यहइ बतावें॥
हरि इक्षण सक्ती यहि प्रकृती। जासों प्रगटति त्रय गुन बिकृती॥

इसलिए इसे मूल प्रकृति बताया जाता है, सिद्ध तथा महर्षिगण भी यही बताते हैं। ब्रह्म की संकल्पशक्ति ही यह प्रकृति है जिससे त्रिगुणात्मक विकृति उत्पन्न होती है।

नर संकल्प सपन जग जैसे। ब्रह्म प्रकृति सृष्टी रच वैसे॥
जिमि नभ वायू मूर्ति बिहीना। सब्दाडम्बर जब तब कीना॥

अथवा जैसे सोये हुए मनुष्य की संकल्पशक्ति से स्वप्न जगत प्रकट होता है, उसी प्रकार ब्रह्म की मूल प्रकृति [अर्थात् ब्रह्म की संकल्प शक्ति] ही सम्पूर्ण जगत को रचती है। जैसे रूप रहित वायु आकाश में चाहे जब शब्दरूपी उत्पात (आँधी-झंझावात) प्रारम्भ कर देता है-

दोहा— तैसेइ बिनु आकार सो प्रकृति रचइ बहु सृष्टि।
तत्त्ववित्त जेहि जानहीं जिन्ह की निर्मल दृष्टि॥ ८६॥

उसी प्रकार वह निराकार प्रकृति भी बहुत-सी सृष्टियों को रचती है जिसे तत्त्ववेत्ता सन्त ही जानते हैं जिनकी दृष्टि अति सूक्ष्म है।

चौपाई— एहि बिधि कार्य करण संघाता। तनहिं मूढ़ मानत निज गाता॥
अहंकार यहि अरु कछु नाहीं। जासों कह कर्ता मैं आहीं॥

इस प्रकार कार्य-करण के संघातरूप इस शरीर को मूर्ख अपना स्वरूप मान लेते हैं। यह मात्र अहंकार है और कुछ नहीं जिससे वे कहते हैं कि मैं कर्ता हूँ।

बिभु कर कर्म प्रकृति सुनु ताता। ताकर कर्म त्रिबिध गुण भ्राता॥
उन महँ छोभ जबहिं होइ जावे। सहजहिं करम तबहिं उपजावे॥

हे प्रिय! यह भी सुनो कि ब्रह्म का कार्य प्रकृति है, प्रकृति के कार्य [सत्, रज, तम-] तीन प्रकार के गुण हैं। उन गुणों में जब क्षोभ उत्पन्न होता है तो सहज ही कार्य होने लगता है।

तिन्ह गुन कर्म अगिनि जल धरिनी। पवन गगन जासे तन तरिनी॥
सब्द परस रस रूपहु गंधा। यहु सब तीनि गुणनि कर धंधा॥

उन गुणों का कर्म है- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, जिससे शरीररूपी नौका बनी हुई है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध- ये सब उन्हीं गुणों के कार्य हैं।

नयन श्रवन त्वग घ्रान रसानी। गुदा सिस्न कर पद अरु बानी॥
अरु मन बुद्धि अहं जो आहीं। गुणन्ह काज कर करण कहाहीं॥

उसी प्रकार नाक, त्वचा, जिह्वा, आँख, कान, मन, बुद्धि, अहंकार तथा वाणी, हाथ, पाँव, उपस्थ एवं गुदा- ये सब गुणकृत् कार्य के करण कहे गये हैं।

औरउ गूढ़ तत्व सुनु बीरू। जेहि सच जानि मारि इन्ह भीरू॥
सच तन कर प्रारब्धहि प्रकृती। जासों मन महँ उपजै बिकृती॥

हे वीर! एक और भी गूढ़ तत्त्व सुनो जिसे यथार्थ रूप से जानकर इन भीरुओं को मार डालो। सच पूछा जाय तो इस शरीर का प्रारब्ध ही प्रकृति है जिसके द्वारा मन में विकार उत्पन्न होते हैं।

दोहा— लख्यो जाय तन जन्मत हरष रुदन सँग आय।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति यह तीनि अवस्था लाय॥ ८७॥

देखा जाता है कि यह शरीर हर्ष और रुदन के साथ जन्म ग्रहण करता है तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति- इन तीन अवस्थाओं को भी साथ लाता है,

चौपाई— लक्षण त्रय गुन जे प्रगटावत। जिनकै संग जीव नित धावत॥
पूर्ब बासना यदि नहिं होई। तौ त्रैवस्था भास न कोई॥

जो तीनों गुणों का लक्षण प्रकट करती हैं जिनका जीव नित्य सहचर (साथी) है। किन्तु यदि पूर्व की वासना (प्रारब्ध) न हो तो जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति में से किसी का आभास ही नहीं होगा।

पुनि बस जीवन मुक्तन्ह नाँईं। तुर्यावस्था रहति सदाईं॥
जीव जबहिं निज कहँ तन जानत। भ्रमबस चित्त बृत्ति निज मानत॥

हे भाई! फिर तो जीवनमुक्तों के समान सदा एकमात्र तुर्यावस्था ही रहेगी। जीव जब अपने को शरीर समझ लेता है तभी अज्ञान के कारण चित्तवृत्तियों को अपना मान लेता है-

त्रिगुन बिचार मान अपनोई। एहि प्रकार सब जीवन खोई॥
जिमि दोउ पक्ष करहिं कोउ क्रीड़ा। हारत ताहि होत अति पीड़ा॥

तथा सात्त्विक, राजस, तामस- विचारों को अपना मानता रहता है; इस प्रकार अपना सम्पूर्ण जीवन खो देता है। जिस प्रकार दो पक्ष आपस में कोई खेल कर रहे हों तो जो पक्ष हार जाता है निश्चित ही उसे अत्यन्त पीड़ा होती है।

ताहि पक्ष दरसक जो होवे। अपनो हार मानि तहँ रोवे॥
तिमि एहि तन महँ त्रै गुण खेलत। अपरहिं अपर परस्पर मेलत॥

जो उस पक्ष का दर्शक होता है अर्थात् जो उस पक्ष को अपना मान लेता है वह भी अपनी ही पराजय मानकर वहाँ विकल हो उठता है। उसी प्रकार इस शरीर में तीनों गुण आपस में क्रीड़ा करते हुए परस्पर एक-दूसरे को पटखनी देते रहते हैं।

दोहा— उन्हकी कृड़नि आपुनो मान जीव मतिमूढ़।
जद्यपि साक्षी सुद्ध सो सबसों रहत निगूढ़॥ ८८॥

किन्तु उनकी क्रीड़ा को अत्यन्त मूढ़बुद्धि के कारण जीव अपना मानता है जबकि वह शुद्ध, साक्षी और सबसे अदृश्य रहता है।

चौपाई— त्रिबिध बिचार स्त्रोत प्रारब्धा। ताहि स्त्रोत अज्ञान अलब्धा॥
एहि अज्ञान स्त्रोत तन भावा। हौं तन याहि अहं श्रुति गावा॥

[और भी सुनो] सात्त्विक, राजस तथा तामस विचारों का स्त्रोत प्रारब्ध है, उस प्रारब्ध का स्त्रोत अप्राप्त (जिसका अता-पता नहीं है) अज्ञान को समझा जाता है। इस अज्ञान का स्त्रोत शरीर भाव है अर्थात 'मैं शरीर हूँ', जो यह भाव है- इसे ही श्रुतियों ने अहंकार बताया है।

अहं स्त्रोत महतत्व बतावत। ताकर स्त्रोत प्रकृति सब गावत॥
प्रकृति स्त्रोत ब्यापक बिभु सोई। जो मन बुद्धि हृदय महँ गोई॥

वैसे ही अहंकार का स्त्रोत महत्तत्त्व कहा जाता है उसका स्त्रोत सभी प्रकृति को कहते हैं; एवं प्रकृति का स्त्रोत व्यापक ब्रह्म है, जो [सबके] मन, बुद्धि, हृदय में छिपा हुआ है।

तात खाय कोउ जरी उपारी। जासों सिर चकरावत भारी॥
कहत लगत जनु उड़उँ अकासा। पर तन जाय न बुद्धि बिलासा॥

हे तात! यदि कोई किसी ऐसी जड़ी को उखाड़कर खा ले जिससे सिर में अत्यन्त चक्कर आने लगे और कहे कि मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आकाश में उड़ रहा हूँ, तो वह बुद्धि का भ्रम मात्र होता है यथार्थ में शरीर कहीं नहीं जाता।

तिमि सात्विक प्रारब्धहि आये। जप तप ध्यान सहज प्रगटाये॥
मूढ़ कहत पर मैं इन्ह कर्ता। अस कहि दिब्य चित्त संहर्ता॥

उसी प्रकार जिस समय सात्त्विक गुण (प्रारब्ध) प्रकट होता है, तो जप, तप, ध्यान की क्रिया सहज ही होने लगती है; परन्तु मूढ़ पुरुष कहता है कि इन कर्मों का कर्ता मैं ही हूँ। ऐसा कहकर अपने दिव्य चित्त का स्वत: ही नाश करने वाला बन जाता है।

दोहा— सहज प्रबृति तस कर्म महँ प्रगटति रज गुन धर्म।
पर भ्रमबस कह मूढ़ नर मैं हि करउँ सब कर्म॥ ८९॥

वैसे ही रजोगुण के प्रभावी होने पर सहज ही कर्म में प्रवृत्ति हो जाती है, परन्तु भ्रमवश वह मूर्ख पुरुष कहता है कि मैं ही समस्त कर्मों का कर्ता हूँ।

चौपाई— तम प्रगटत तन मन चित सोवत। मैं सोऊँ सो कह मति खोवत॥
पर आतम नहिं ध्यावत सोवत। करम करत नहिं हँसत न रोवत॥

वैसे ही तमोगुण के प्रकट होने पर सहज ही तन, मन एवं चित्त सो जाते हैं किन्तु वह [अज्ञानी पुरुष] मैं ही सोता हूँ, ऐसा कहकर अपनी प्रज्ञा को नष्ट करता रहता है परन्तु [यथार्थ में] चैतन्य आत्मा तो न ध्यान करता है, न सोता है, न कर्म करता है और न हँसता अथवा रोता ही है।

जस रन आपुहिं होनैवारो। पर तू कह मैं करनैवारो॥
जदपि राजसी तामसि बीरा। रन मरि चाहहिं देवसरीरा॥

जैसे युद्ध तो अपने-आप होने वाला है किन्तु तुम कह रहे हो कि मैं ही युद्ध करने वाला हूँ, जबकि हे प्रिय! राजस एवं तामस प्रकृति के योद्धा युद्ध भूमि में मरकर देवरूप होना चाहते हैं।

ये सब चहत स्वर्ग सुख ऐसे। थके बराती नींदहि जैसे॥
अवसर नाहिं दियो यदि जावे। स्वर्गहु मिले न नरकहु पावे॥

ये सभी स्वर्ग सुख के लिए ऐसे लालायित हैं, जैसे [बरात से लौटने पर] थके हुए बराती नींद की चाहना करते हैं। इस समय यदि इन्हें अवसर नहीं दिया जायेगा तो फिर इन्हें स्वर्ग तो मिलेगा ही नहीं बल्कि [प्राण छूटने पर] नरक भी नहीं मिलेगा।

पुनि बनि जायँ भूत अरु प्रेता। तव सृष्टी बस तिन्हहिं निकेता॥
तारन करन असम्भव जिन्हकर। भरनो परे दंड मोहिं एहिकर॥

फिर तो ये सब भूत-प्रेत बन जायेंगे। तुम्हारी सृष्टि एकमात्र उन्हीं का बसेरा बन जायेगी, जिनका तरन-तारन करना असम्भव हो जायेगा और इसका सम्पूर्ण दण्ड मुझे ही भरना होगा।

सोरठा— संजय गयो हँसाय देइ ठहाको सहजहीं।
नृप चित अति बिसमाय ब्यंग हँसी सुनि का भयो॥ ९०॥

भगवान की इस बात को सुनकर सञ्जय की हँसी नहीं रुकी, वे सहज ही ठहाका लगाकर हँस पड़े। तब सञ्जय की व्यंग्यात्मक हँसी सुनकर राजा धृतराष्ट्र का चित्त विस्मय में पड़ गया कि अरे! ऐसा क्या हो गया!

चौपाई— कहत काह संजय अस होयो। चाहतहू निज हँसिहिं न गोयो॥
संजय कह प्रभु अतिहिं दयालू। कृपा सबन्हि पर करहिं कृपालू॥

वे बोले- क्यों सञ्जय! ऐसी कौन-सी बात हँसने वाली हो गई कि तुम चाहकर भी अपनी हँसी को छिपा न सके? तब सञ्जय ने कहा- नरेश्वर! प्रभु इतने दयालु हैं कि वे परम कृपालु सभी पर कृपा करते हैं।

कहत अतिहिं सबरें अपराधी। रन बिनु तव हित बने उपाधी॥
प्रेत बनहिं सब मरहिं खाट पर। जात पछारहिं घाट घाट पर॥

वे कह रहे हैं कि [हे पार्थ!] ये सब इतने बड़े अपराधी हैं कि युद्ध के बिना तो तुम्हारे लिए ये और भी बड़ी व्याधि बन जायेंगे। ये जब चारपाई पर पड़े-पड़े ही मर जायेंगे तो प्रेत बन जायेंगे और श्मशान घाटों पर ले जाते समय ही सबको मार डालेंगे।

घर बन गली नदी नद नारे। जहँ तहँ देखिय प्रेत पुकारे॥
का होयेगो नृप भय लागत। मेरोहु मन अब रन कहँ भागत॥

[उस समय ऐसा हो जायेगा कि] घर-वन, गली-गूचे, नदी-नद या नाले जहाँ पर भी कोई देखेगा वहाँ भूत ही भूत दिखाई पड़ेंगे और अपनी बोली बोलकर सबको डरायेंगे। [सञ्जय ने और भी गम्भीरता से नाटक करते हुए कहा-] हे राजन्! तब क्या होगा! मुझे तो भय लग रहा है तथा मेरा मन भी अब युद्ध करने के लिए भाग रहा है।

नृप अति लज्जित ब्यंग बचन सुनि। चुपइ रहे पुनि पुनि निज सिर धुनि॥
बिदुर गयो वासों बड़ काला। सारथि होइ चलत कटु चाला॥

राजा धृतराष्ट्र ऐसे व्यंग्यात्मक वचनों को सुनकर अति लज्जित हो गये, [मौन रहने में ही कल्याण समझकर] अपना सिर पीटते हुए मौन ही रहे। [सोचने लगे कि] विदुर तो चला गया किन्तु उससे भी बड़ा काल आज मेरा सारथि होकर कटु चाल चल रहा है।

दोहा— बोल परे संजय तबहिं नृप कह कछु भगवान।
तुम्हहिं बतावन हेतु मैं ताहि सुनउँ धरि ध्यान॥ ९१ (क)॥

तभी सञ्जय बोल उठे- हे पृथ्वीनाथ! भगवान कुछ कह रहे हैं, अतः आपको बताने के लिए मैं उसे ध्यानपूर्वक सुन रहा हूँ।

एहि सों अर्जुन कोउ नर स्वर्ग कामना हेतु।
यज्ञ युद्ध कै कर्म कर ताहि न करै अचेतु॥ ९१ (ख)॥

भगवान कह रहे हैं- हे पार्थ! यही कारण है कि कोई पुरुष जो स्वर्ग की कामना से यज्ञ, युद्ध अथवा कोई भी सत्कर्म करता है तो उसकी बुद्धि में भ्रम पैदा नहीं किया जाता।

चौपाई— गुण महँ गुण बरतें सुन कैसे। जल महँ मीन लरतिं अति जैसे॥
जस मरि मारहिं पुनि लरि झगरत। अपनो कर्म नीर नहिं पकरत॥

हे बुद्धिमान! अब गुण ही गुणों में किस प्रकार बरत रहे हैं, इसे सुनो- जैसे जल में मछलियाँ परस्पर घोर संग्राम करती हैं, लड़ती-झगड़ती हैं तथा मारकर पुनः मर जाती हैं किन्तु जल उनके इस कर्म को अपना नहीं मानता-

जैसे धरा जीव बहु झगरत। पर निज करम न कहि महि कहँरत॥
तैसेइ बिस्वरूप भगवाना। जिन्ह महँ देव असुर नर आना॥

जिस प्रकार पृथ्वी के प्राणी लड़ते-झगड़ते हैं किन्तु पृथ्वी उसे अपना कर्म कहकर विकल नहीं होती, वैसे ही ये विश्वरूप भगवान, जिनमें देवता, असुर, मनुष्य तथा अन्यान्य जीव-

प्रगटत करम करत अरु युद्धा। करहिं एकई एक बिरुद्धा॥
बरु दुष्कर्म होय सुभ कर्मा। पर न कहत यो मेरो धर्मा॥

प्रकट होकर अनेक कर्म करते हैं, यहाँ तक कि एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध भी करते हैं, भले ही वे कर्म अशुभ हों या शुभ परन्तु ये [विश्वरूप भगवान] यह नहीं कहते कि इसे मैं कर रहा हूँ।

तुम्ह पुनि निर्बिकार घन चेतन। नष्ट होयँ कै रहँ ये सब तन॥
तुम्हरो रूप बढ़े नहिं घाटे। अस जानत उर तम घन छाँटे॥

फिर तुम तो निर्विकार चैतन्य घन आत्मा हो, [अर्जुन नामक शरीर के सम्मुख खड़े] ये समस्त शरीर रहें या नष्ट हो जायँ, उससे न तो तुम्हारा स्वरूप बढ़ेगा न घटेगा बल्कि ऐसा जानने से हृदय का घोर अज्ञानरूपी बादल समाप्त हो जायेगा।

दोहा— महाराज अब कहत पुनि निज गुरुवर संबाद।
कर्म करत कस प्रकृति गुण सुनि उर नसत बिषाद॥ ९२ (क)॥

पुनः अब महाराज [इस विषय में] अपने परम पूज्य गुरुदेव का दिव्य संवाद दे रहा है कि प्रकृति के तीनों गुण किस प्रकार कर्मों में बरतते हैं जिसके सुनने से [सुगमता से] हृदय का विषाद समाप्त हो जायेगा।

सोरठा— पुनि कस मानत मूढ़ गुणन्ह करम कहँ आपुनो।
मम गुरु कह यह गूढ़ गीता सुबोध सुभाष्य महँ॥ ९२ (ख)॥

फिर मूढ़ पुरुष प्रकृति के गुणों द्वारा हुए कर्म को अपना कैसे मान लेता है अर्थात् उनके किये हुए कर्मों में मैं कर्ता हूँ ऐसा कैसे मान लेता है। इस गूढ़ मर्म को गुरुदेव ने 'गीता सुबोध' नामक सद्ग्रन्थ में परिभाषित किया है।

चौपाई— कह गुरु जेहि मतिभ्रम होइ जावे। प्रकृति पुरुष महँ भेद न पावे॥
सोइ कह मैं कर्ता कर्मन्ह कर। जदपि बात नहिं यो धर्मन्ह कर॥

गुरुदेव कहते हैं कि जिसकी बुद्धि में भ्रम हो जाता है, वह प्रकृति और पुरुष में भेद नहीं देख पाता। अत: वही कहता है कि समस्त कर्मों का कर्ता मैं ही हूँ, जबकि यह बात समस्त धर्मों के विरुद्ध है।

जिमि जिहि बरण काँच पहिरावे। तस ज्योती दीपक बिखरावे॥
पर ज्योती स्वरूप जो होऊ। वामें भेद लखाय न कोऊ॥

दीपक पर जिस रंग का शीशा लगाया जाता है उसी रंग का प्रकाश बिखेरता है परन्तु ज्योति का जो मौलिक स्वरूप है उसमें किसी प्रकार का भेद दिखाई नहीं पड़ता।

तिमि अस काँच अहैं सत रज तम। आत्म दीप इहँ बसें निकटतम॥
यासों कर्म करहिं जब वोई। भ्रमबस अपनो लागत सोई॥

उसी प्रकार सत्, रज और तम ऐसे शीशे हैं जो आत्मारूपी दीपक के अति निकट वास करते हैं। अत: जब वे कर्म करते हैं तो भ्रमवश वह कर्म अपना ही किया हुआ प्रतीत होता है अर्थात् ऐसा लगता है कि मैं ही कर रहा हूँ।

देख्यो जाय अज्ञ अस कहई। आज वायु अति उष्णहिं बहई॥
कै कोउ कहत पवन अति सीतल। जद्यपि वायु अहइ अति निर्मल॥

ऐसा देखा जाता है कि अज्ञानी कहते हैं कि आज बहुत ही गर्म हवा बह रही है अथवा कोई कहता है कि आज हवा अत्यन्त ठंढी है, जबकि [यथार्थ में] हवा तो निर्मल है [न कि ठंढी अथवा गर्म]।

दोहा— अवनि तपति तब वायु महँ होति उष्णता भास।
जब परसत सोइ नीर सों सीतलता आभास॥ ९३॥

जब [सूर्य या दावानल से] पृथ्वी तप जाती है, तब वायु में उष्णता की प्रतीति होती है उसी प्रकार जब जल के साथ हवा का स्पर्श होता है तो लगता है कि हवा शीतल है।

चौपाई— तैसेइ आतम तम संयोगा। सोवत पुरुष कहत सब लोगा॥
जदपि आतमा सोवत नाहीं। सपनेहु नींद न वाके माहीं॥

उसी प्रकार आत्मा का तमोगुण के साथ मिलन होने पर सभी लोग कहते हैं कि पुरुष सो रहा है जबकि आत्मा सोता नहीं है क्योंकि स्वप्न में भी उसमें नींद नहीं होती।

एहि बिधि आतम रज संयोगा। होत सपन कर आपुहिं योगा॥
जदपि सत्य तेहि स्वप्न न दीखत। ऐसो बेद सास्त्र सब लीखत॥

इसी प्रकार आत्मा और रजोगुण का संयोग होने पर बहुत-से स्वप्न अपने आप प्रारम्भ हो जाते हैं जबकि [सत्य तो यह है कि] उसे स्वप्न नहीं दिखायी पड़ता, समस्त वेद-शास्त्र ऐसा ही कहते हैं।

मिलैं आत्म सत ऐसो जबहीं। कह्यो जाय यह जाग्यो अबहीं॥
जबकै जगे न करे करावे। सतगुन धर्म संत बतलावे॥

इसी प्रकार आत्मा और सतोगुण का जब मिलन होता है तो कहा जाता है कि अब पुरुष जग गया। जबकि आत्मा न तो जागता है, न कर्म करता है और न करवाता ही है। इसे सन्त सतोगुण का धर्म बतलाते हैं।

अब चलि आवहु युद्ध मझारी। जहँ प्रभु अर्जुन चर्चा भारी॥

[महाराज के अनुसार आप सभी साधक] अब युद्ध के मैदान में चले आयें जहाँ भगवान और महात्मा अर्जुन में अत्यन्त रोमांचक चर्चा छिड़ी हुई है।

दोहा— तत्वविन्त कर रूप अब कह हरि सुनु मतिधीर।
गहत जाहि की संगति जाय सहज भवपीर॥ ९४॥

भगवान कह रहे हैं- हे धैर्यवान! अब तुम तत्त्वविद् के स्वरूप को सुन लो जिसकी संगति करते ही संसार का दु:ख सहज ही चला जाता है।

चौपाई— प्रकृति पुरुष भेदहिं जो जानत। ताकोइ तत्त्वविन्त मुनि मानत॥
प्रकृति गुणन्ह अंतर सब जानत। तत्त्वविन्त तेहि बेद बखानत॥

हे पार्थ! जो प्रकृति और पुरुष के भेद को भलीभाँति जानता है, उसको मुनिगण तत्त्ववेत्ता मानते हैं। उसी प्रकार जो [उसके साथ ही साथ] प्रकृति के गुणों में कितना अन्तर है, इसे भलीभाँति जानता है उसे ही वेद तत्त्वविद् की संज्ञा देते हैं।

कासों कहे मरम केहि नाहीं। जानत तत्वविन्त उर माहीं॥
कासों कह्यो जाय केहि अवसर। तत्वविन्त जानत प्रभु निज पर॥

यह समस्त गोपनीय रहस्य किससे कहा जाय और किससे न कहा जाय, इस अधिकार भेद को भी वह तत्त्वविद् अपने हृदय में जानता है। इसलिए किस अवसर पर किससे क्या कहा जाय तथा ब्रह्म एवं अपने-पराये के स्वरूप को भी तत्त्वविद् जानता है।

कब कस कहँ इन्ह गुणन्ह प्रयोगा। कर्‌यो जाय जानत सब योगा॥
अति मर्मज्ञ जान सोइ पावत। तत्वविन्त जाको अपनावत॥

[इतना ही नहीं] कब, कैसे तथा कहाँ पर इन गुणों का प्रयोग करना चाहिये, वह उस देश, काल, अवसर को भी जानता है क्योंकि वह अति मर्मज्ञ होता है। अत: उस मर्मज्ञ को वही जान पाता है जिसे वह तत्त्वविद् अपना बना ले अर्थात् स्वीकार कर ले।

सोइ जग पूज्य सोइ उपदेष्टा। तेहि पावनहित होवै चेष्टा॥
तत्वविन्त गुरु जेहि मिलि जावे। ताकर धन्य जन्म श्रुति गावे॥

हे परंतप! वही जगतपूज्य एवं उपदेष्टा [अर्थात् सद्‌गुरु] भी है। [सच पूछो तो] उसी को प्राप्त करने के लिए सारी चेष्टाएँ होनी चाहिए। ऐसा तत्त्वविद् गुरु जिसको मिल जाता है उसका जन्म धन्य हो जाता है, ऐसा श्रुति कहती है।

अब सर्बात्म रूप मोहिं जानी। तात निजहिं मम सेवक मानी॥

अत: हे तात! अब मुझे सबकी आत्मा समझकर तथा अपने आपको मेरा सेवक मानकर-

दोहा— सबरें कर्म समर्पि मोहिं आध्यात्मिक मति धाय।
आसा ममता सोक तजि युद्ध करहु हरषाय॥ ९५(क)॥

आध्यात्मिक बुद्धि द्वारा समस्त कर्मों को मुझे अर्पित कर आशा, ममता एवं शोक का त्याग करके प्रसन्नता पूर्वक [निष्काम भाव से] युद्ध करो।

सोरठा— संतनि सों महराज बिस्मित चित सों आइ कह।
हरि तजि अस बर काज को करि सक एहि जगत महँ॥ ९५ (ख)॥

महाराज अब आश्चर्यमय हृदय से सन्तों से आकर कह रहा है कि प्रभु को छोड़कर इस जगत में ऐसा कौन है जो इस प्रकार का श्रेष्ठ कार्य कर सके।

चौपाई— पुनि पुनि आयसु युद्ध करन की। मिलत सरन अनयास चरन की॥
अस सौभाग्यवान जग माहीं। देख्यो गयो न सुनियत काहीं॥

[अहैतुकी कृपा करने वाले भगवान के द्वारा] शरणागत महात्मा अर्जुन को अनायास ही प्रभु के चरणों की शरण लेकर बारम्बार युद्ध करने की आज्ञा मिल रही है। जगत में ऐसा श्रेष्ठ सौभाग्यवान न कहीं देखा गया है और न सुनने में आ रहा है।

ऐसो काह करम किये पारथ। बिनु माँगे प्रभु दैं परमारथ॥
जिन्हि पद सरन हेतु गृह त्यागत। संत भगत कानन अनुरागत॥

अरे! महात्मा अर्जुन ने ऐसा कौन-सा [श्रेष्ठ] कर्म किया है कि दयालु भगवान बिना माँगे ही उन्हें परमार्थ (आत्मज्ञान) दे रहे हैं। अहो! जिन चरणों की शरण पाने के लिए सन्त एवं भक्तगण घर-बार का परित्याग कर वन-प्रदेश में चले जाते हैं-

करत घोर जप तप तन मारी। निसदिन बीतत प्रभुहिं पुकारी॥
तब सुधि कहुँ यदुनायक लेहीं। सरन लेइ पद परसन देहीं॥

तथा वहाँ शरीर को संयम में रखकर घोर जप-तप करते हैं। उनका दिन-रात भगवान को पुकारने में ही बीतता है तब कहीं जाकर भगवान यदुनाथ उनकी सुधि लेते हुए अपनी शरण में लेकर अपने चरणों को स्पर्श करने देते हैं।

सच स्वधर्म अर्जुन निपुनाई। पालि लिये नहिं दीन्हिं जनाई॥
यहि कारन प्रभु पाछें धावत। अर्जुन पार्थ परंतप गावत॥

सच में अर्जुन ने अपने स्वधर्म को अत्यन्त कुशलतापूर्वक [गृहस्थाश्रम में ही] गुप्त रूप से पूर्ण कर लिया है, दिखावा नहीं किया। यही कारण है कि भगवान नारायण 'हे अर्जुन! हे पार्थ! हे परंतप!' कहते हुए, उनके नाम एवं गुणों को गाते हुए पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं।

दोहा— अस स्वधर्म तजि करत क्यों मनमानी प्रिय आज।
महाराज बिगरे भये अबहुँ सवाँरहु काज॥ ९६॥

हे प्रिय जनो! महाराज बार-बार आप सबसे प्रार्थना कर रहा है कि ऐसे अपने सहज स्वधर्म का परित्याग कर आप अब भी मनमाना आचरण क्यों कर रहे हैं? अभी भी [इसका पालन करके] आप अपने बिगड़े हुए काम बना लें।

चौपाई— हरि निज कथन प्रसंसा कीन्हीं। ताहि करन हित आयसु दीन्हीं॥
जो श्रद्धामय नर सौभागी। लखि न दोष मोमें अनुरागी॥

अब भगवान [अब तक की] अपनी कही हुई बात की स्वयं प्रशंसा करके उसे करने की आज्ञा देते हुए कह रहे हैं कि जो सौभाग्यशाली पुरुष अति श्रद्धा से युक्त होकर [सद्गुरु स्वरूप मुझ वासुदेव में] किसी भी प्रकार का दोष न देखते हुए मुझसे ही प्रेम करेंगे-

मम सिद्धांत पालि जग रहहीं। उनकेउँ पाप पुन्य सब दहहीं॥
मुक्त होयँ बिनु अथक प्रयासा। काटि सहज यम कर दृढ़ पासा॥

और मेरे सिद्धान्त का पालन करते हुए जगत में विचरण करेंगे, उनके भी समस्त पाप-पुण्य [रूप कर्म] जल जायेंगे। इस प्रकार वे बिना विशेष श्रम किये सहज ही यमराज के फन्दे को काटकर मुक्त हो जायेंगे।

पर जो मम मत निंदक मानव। चलहिं न एहि मग जग ते दानव॥
सर्बज्ञान मोहित चितवारे। जानु अकारन मरे ते सारे॥

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस सिद्धान्त की निन्दा करने वाले हैं तथा संसार में इस मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे दानव ही हैं। सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित चित्त वाले [उन मूर्खों] को तू अकारण ही मरा हुआ [अर्थात् नष्ट हुआ] समझ।

अर्जुन चितइ भगत सुरत्राता। पूछत काह कहहु जगधाता॥
सर्बज्ञान ज्ञानी कस मोहत। सो जगमहँ तासों बहु सोहत॥

[ऐसा सुनते ही] महात्मा अर्जुन ने भक्तों और देवताओं के रक्षक भगवान नारायण की ओर देखते हुए पूछा कि हे जगत के स्वामी! आप यह क्या कह रहे हैं! सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों का ज्ञाता पुरुष कैसे मोहित हो सकता है? वह तो संसार में अपने उसी ज्ञान के कारण शोभा पाता है।

दोहा— प्रभु हँसि कह जस मोहित तुव सम पंडित होय।
तैसो भयो पितामहहिं इन्ह सम ज्ञानी कोय॥ ९७॥

भगवान ने हँसते हुए कहा- जिस प्रकार तुम्हारे जैसे पण्डित को मोह हो गया उसी प्रकार इन पितामह को भी ऐसा ही मोह हो गया है जबकि इनके समान ज्ञानी कौन है ?

चौपाई— जान अजान भये तुम्ह दोऊ। यामें काह करै कछु कोऊ॥
तुम्हहिं दया कम से कम आई। इन्हहिं लाज थोरेउँ नहिं भाई॥

आज तुम [और ये पितामह] दोनों ही सब कुछ जानते हुए भी अनजाने बन गये- ऐसी स्थिति में कोई कुछ भी क्या कर सकता है! कम से कम तुम्हें [स्वजनों और गुरुजनों से युद्ध करने में] दया तो आयी किन्तु इन्हें तो [दया क्या] अंशमात्र लज्जा भी नहीं लगी।

आज लाज गइ लाज समेटे। पतो नाहिं कब एहि जग भेंटे॥
मूल्य न तव करुना रन वैसे। बालक रुदन केरि गृह जैसे॥

आज तो [पितामह भीष्म आदि की ऐसी स्थिति को देखकर] लाज को भी लाज लग गयी है अत: वह स्वयं को समेट कर भाग गयी है, अब पता नहीं पुन: इस जगत में कब लौटेगी। तुम्हारी दया का तो इस रणभूमि में वैसे ही कोई मूल्य नहीं है जैसे घर में छोटे बालक के रुदन करने का।

यासों ज्ञानिउ प्रकृति अधीना। मूढ़न्ह बात जाय का कीना॥
अस सब निज प्रारब्ध अधीना। भाजत तिहिं पाछे होइ दीना॥

इसलिए शास्त्रज्ञानी भी जब पूर्वकृत संस्कार के ही अधीन है अर्थात् उसी के अनुसार व्यवहार करता है, फिर अज्ञानियों की बात ही क्या की जाय! इस प्रकार सभी प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों को आगे करके विवशतावश दीन-हीन हो उनके ही पीछे भागते चले जा रहे हैं।

हम अरु अपर काह करि पावें। बनि न भगत जब सरनहिं आवें॥
सुनि अर्जुन मन अति हरषाये। अपुनो पक्ष हाथ जनु आये॥

इसमें मैं अथवा कोई अन्य [देवी-देवता] क्या कर सकता है, जब कोई हृदय से शरणागत है ही नहीं तो ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन हृदय से अति प्रसन्न हो गये, मानो अपना सिद्धान्त हाथ आ गया हो।

कहेउ नाथ कछु दैव न अहई। करि पुरुषार्थ पुरुष सबु लहई॥
देव दनुज अरु ऋषि मुनि सारे। करि पुरुषार्थ लहे जस भारे॥

अर्जुन बोले- हे दीनानाथ! अभी आपने कहा है कि दैव कुछ भी नहीं है, पुरुषार्थ करके ही मनुष्य सबकुछ प्राप्त करता है। देवता, राक्षस, ऋषि-मुनि सभी पुरुषार्थ करके संसार में महान यश प्राप्त किये हैं।

अब प्रभु दैव केरि गुन गावहु। एहि सन्मुख सब दीन बतावहु॥
अस सुनि मन असमंजस भारी। मेटहु साँच बताइ अघारी॥

हे पाप नाशक! अब आप प्रारब्ध का गुणगान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि इसके सम्मुख सभी असहाय हैं, यह सुनकर मेरे मन में अत्यन्त असमंजस हो गया है, अत: सत्य क्या है ? यह बताकर मेरा असमंजस दूर करें।

मोहिं बतावहु पुनि भगवाना। जब प्रारब्ध अहइ परधाना॥

फिर आप मुझे यह भी बतायें कि जब प्रारब्ध ही प्रधान है-

दोहा— तब क्यों बेद पुरान अरु सास्त्र सृजन भयो नाथ।
बिधि निषेध की बात क्यों यहु कहु होउँ सनाथ॥ ९८ (क)॥

हे नाथ! तो वेद, शास्त्र और पुराण का निर्माण क्यों किया गया, विधि-निषेध (यह करना चाहिए यह नहीं करना चाहिए) की बात क्यों की गयी ? यह भी बता कर मुझे कृतार्थ करें।

सोरठा— अर्जुन ऐसो नाहिं अपितु भगत हित गुरु प्रबल।
जे तिहिं मत न चलाहिं सच तिन्हसों दैवहिं प्रबल॥ ९८ (ख)॥

[भगवान ने कहा-] नहीं अर्जुन! ऐसा नहीं है अपितु भक्त के लिए गुरु ही सामर्थ्यवान है। हाँ, जो गुरु के सिद्धान्त के अनुसार नहीं चलते उनके लिए ही प्रारब्ध बलवान है।

चौपाई— तात मूढ़ ज्ञानी यहि अंतर। इक मन सों इक गुरुहिं सास्त्र चर॥
राग द्वेष बस इंद्रियँ सारी। भगत न चल तिन्हके अनुसारी॥

[भगवान ने कहा-] हे तात! मूर्ख और ज्ञानी में यही अन्तर है कि एक मनमाना आचरण करता है तो दूसरा सद्गुरु एवं शास्त्र के अनुसार। समस्त इन्द्रियाँ राग और द्वेष के वशीभूत हैं अर्थात् अनुकूल विषयों से तो राग और प्रतिकूल से द्वेष होता है किन्तु भक्त उनके अनुसार नहीं चलते।

दृग देखन चहँ दृस्य मनोहर। श्रवन सुनन चहँ अतिहिं मधुर स्वर॥
घ्रान लेन चह नित्य सुबासा। जिह्वा मधुर स्वाद की आसा॥

जैसे आँखें सुन्दर दृश्य देखना चाहती हैं, कान अति मधुर स्वर सुनना चाहते हैं, नासिका नित्य ही सुगन्ध लेना चाहती है एवं जिह्वा भी मधुर स्वाद की आशा में रहती है,

मृदु स्पर्स त्वचा नित भावे। जीव इनहिं के बस होइ जावे॥
करत इनहिं की इच्छा पूरी। एहि बिधि मोक्ष मार्ग अति दूरी॥

त्वचा भी नित्य मधुर स्पर्श चाहती है। इसलिए [इनके स्वभाव से] समस्त जीव इन इन्द्रियों के वश में होकर इन्हीं की इच्छा पूरी करते रह जाते हैं। इस प्रकार मोक्ष के मार्ग की दूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है।

जो चह प्रभुपद बिमल बिरागी। होयँ सो नित गुरुपद अनुरागी॥
इंद्रिन्ह चाह न पूरी करहीं। ते नित गुरु आयसु अनुसरहीं॥

अत: जो निर्मल वैराग्यवान पुरुष ब्रह्मपद चाहते हैं, वे सदा सद्गुरु के चरणों के अनुरागी बनें। इन्द्रियों की चाह कभी भी पूरी न करें अपितु वे निरंतर गुरुदेव के अनुसार ही गमन करें [अर्थात् व्यवहार करें]।

राग द्वेष दुइ सत्रु बड़ेरें। मोक्ष मार्ग महँ पुनि पुनि घेरें॥
गुरु मत सों उपजे यदि रागा। द्वेष बिषय इंद्रिनि सों जागा॥

[इन्द्रियों में छिपे हुए] राग और द्वेष- ये दो अति बलवान शत्रु हैं जो मोक्षमार्ग में बारम्बार विघ्न डालते हैं; किन्तु यदि सद्गुरु के सिद्धान्तों से प्रेम हो जाय और इन्द्रियों तथा उनके विषयों से द्वेष हो जाय-

मोक्ष पथहिं तब सत्रु न कोई। बिघन रहित चलनो तहँ होई॥

तो मोक्ष मार्ग में कोई शत्रु ही नहीं है फिर तो विघ्न रहित होकर उस मार्ग पर गमन होता है।

दोहा— मूढ़ कहत यह झूठ सब आगम निगम पुरान।
तेइ करम बस नित अहइँ नाहिन भगत सुजान॥ ९९॥

मूर्ख कहते हैं कि ये शास्त्र और वेद-पुराण आदि सब झूठे हैं। अत: वे ही सदा कर्मों के वशीभूत हैं, बुद्धिमान भक्त कर्मों के वशीभूत नहीं हैं।

चौपाई— कंदुक ढरकि जात नित नीचे। बुद्धिमान जे लावत खीचे॥
तैसे जल सुभाव सब जानें। बाँधि बाँध निज थल ले मानें॥

[देखा जाता है कि] गेंद लुढ़क कर सदैव नीचे की ओर जाती है जिसे बुद्धिमान उठाकर ऊपर ले आते हैं; उसी प्रकार जल के विषय में भी सभी जानते हैं कि वह नीचे की ओर ही बहता है किन्तु जो चतुर हैं वे बाँध बनाकर अपने खेत में ले जाकर ही मानते हैं।

इंद्रिं बिषय कर यहइ सुभावा। असुभ करम संचय तिन्ह भावा॥
राग द्वेष की इन्हकी सिद्धी। जन्मत होय इनहिं सों बृद्धी॥

यही स्वभाव इन्द्रियों तथा उनके विषयों का है, उन्हें सदा अशुभ कर्म और उनका संचय ही अच्छा लगता है। इन्हें (इन इन्द्रियों तथा उनके विषयों को) जन्म से ही राग-द्वेष की सिद्धि प्राप्त है, अत: इसी से उनमें वृद्धि होती रहती है।

पर सयान निज आतम मानी। आपुनि सक्ति अपरिमित जानी॥
इन्ह दोउ सत्रुहिं हटकत भारे। जात अगमपथ बिघन निवारे॥

किन्तु बुद्धिमान पुरुष अपने आप को आत्मा स्वीकार करके, अपनी अपरिमित शक्ति को जानकर इन दोनों शत्रुओं को अत्यन्त कड़े स्वर से डाँटते-फटकारते हुए परमार्थ पथ का विघ्न दूर कर मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

बिषय हेतु मूरख कर योई। अपर धरम जे धरमहि होई॥
तेहि करि स्वार्थ करन चह पूरो। पर नहिं सधै सो रहै अधूरो॥

किन्तु मूर्ख तो विषयों की लालसा को पूरा करने के लिए यही करता है कि जो परधर्म है, धर्म होने के चलते [उसको स्वधर्म मान लेता है और] उसे अपनाकर स्वार्थ पूरा करना चाहता है; किन्तु वह चाह पूरी न होकर अधूरी ही रह जाती है।

दोहा— सो न लखै यह मरम बरु सबिधि किये परधर्म।
पर वासें तौ गुन रहित अतिहिं श्रेष्ठ निज धर्म॥ १०० (क)॥

क्योंकि वह यह रहस्य नहीं जानता कि भले ही विधि-विधान से पराये का धर्म पूरा किया गया हो किन्तु उससे तो अपना गुणरहित धर्म ही अति श्रेष्ठ है।

मरनो भलो स्वधर्म महँ भयदायक परधर्म।
कहत संत मुनि तत्ववित जो जानत सब मर्म॥ १०० (ख)॥

अत: अपने धर्म में तो मरना भी श्रेयस्कर है, दूसरे का धर्म [स्वार्थ पूरा करने के बदले] भय ही देने वाला है- ऐसा तत्त्व के सम्पूर्ण रहस्य को जानने वाले सन्त-मुनि कहा करते हैं।

चौपाई— मान्यों छत्रि धरम अति हिंसित। धर्मजुद्ध महँ दया न किंचित॥
एहि रन महँ सुत पितु मित भाई। औरउ स्वजन होयँ अधमाई॥

[हे पार्थ!] माना कि क्षत्रिय धर्म अत्यन्त हिंसामय है क्योंकि [क्षत्रिय को] धर्मयुद्ध में किंचिन्मात्र भी दया के लिए स्थान नहीं है। इस धर्मयुद्ध में पुत्र-पिता, मित्र एवं भाई तथा और भी जो स्वजन अधम कर्म करने वाले हैं-

आयँ बिपक्षी बनि कोउ योधा। उनकेउँ बधे यहइ मत सोधा॥
तहिं अस अवसर यदि द्विज पावे। तौ संन्यास लेइ बन जावे॥

यदि वे विपक्षी योद्धा बनकर आते हैं तो उनका वध करे, यह निश्चित किया हुआ मत है। वहीं पर यदि ऐसा अवसर ब्राह्मण के सामने आता है तो वह संन्यास लेकर वन का मार्ग पकड़ ले।

जप तप योग करै मन लाई। बिप्र धर्म सब सास्त्रन्ह गाई॥
कौसिक देखि बधिक कर कर्मा। धर्मब्याध हित बोलैं धर्मा॥

वहाँ जप, तप, योग में मन लगावे- यही धर्म सभी शास्त्रों ने ब्राह्मण के लिए कहा है। कौशिक नामक ब्राह्मण ने भी भगवद्भक्त धर्मव्याध को बधिक का कर्म (मांस बेचना) करते देखकर उसे बहुत उपदेश दिया था।

सो कह द्विजवर बुरो न मानहु। मोर स्वधर्म यहइ सच जानहु॥
जन्म कर्म यद्यपि मम खोटो। पर स्वधर्म मोरे हित मोटो॥

परन्तु उस धर्मव्याध ने कहा- हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! आप [मेरे इस घृणित कर्म को] बुरा न मानें बल्कि यह जान लें कि यथार्थ में यही मेरा स्वधर्म है। यद्यपि मेरे जन्म और कर्म दोनों ही ओछे हैं किन्तु मेरे लिए मेरा यह स्वधर्म रूपी कर्म ही अत्यन्त श्रेष्ठ है।

दोहा— बिप्र धरम अति श्रेष्ठ प्रभु पर मम काजें नाहिं।
निज निज धर्महिं पालि सब सहजहिं प्रभु पद पाहिं॥ १०१॥

हे ब्राह्मणदेव! माना कि ब्राह्मण का कर्म-धर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है किन्तु वह मेरे लिए नहीं है; क्योंकि सभी अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हुए सहज ही भगवत् पद प्राप्त करते हैं।

चौपाई— एहि लाने मैं ही परमाना। करि स्वधर्म भयों सिद्धि निधाना॥
तीनिउँ काल तीनि जग माहीं। होय छिपो कछु मोसों नाहीं॥

इसके लिए तो मैं ही प्रमाण हूँ जो इसी स्वधर्म का पालन करके सिद्धियों का भण्डार हो गया हूँ। तीनों कालों में तीनों लोकों में जो भी कुछ हो रहा है, वह मुझसे छिपा हुआ नहीं है।

कह अर्जुन प्रभु पुनि परधर्मा। परिभाषहु त्यागउँ सो कर्मा॥
प्रभु प्रसन्न सुनि सिष्य सुबानी। कहन लगे परधरम कहानी॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! एक बार पुनः परधर्म को परिभाषित कर दें जिससे मैं उसका परित्याग कर दूँ। भगवान अपने शिष्य की मधुर वाणी सुन प्रसन्न होकर परधर्म का वर्णन करने लगे।

करइ बिप्र यदि छत्रिय कर्मा। समुझु परंतप तेहि परधर्मा॥
ज्यों गुरु द्रोण कृपा सुत संगा। आये खेलन इहँ रन रंगा॥

हे परंतप! यदि ब्राह्मण होकर कोई क्षत्रिय का कर्म करता है तो उसे ही परधर्म जानो, जैसे ये आचार्य द्रोण अपने वीर पुत्र अश्वत्थामा एवं कुलगुरु कृपाचार्य को साथ लेकर [बाणों से] रणभूमि में युद्धरूपी होली खेलने आये हुए हैं।

इन्ह हित यहि परधर्म कहावे। सबहि लोक परलोक नसावे॥
आज चोर नृप हाथ थमाई। भीष्म किये परधर्म सगाई॥

इनके लिए यही परधर्म कहा जायेगा जिससे इहलोक और परलोक- सब नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार आज अपने चोर राजा (धृतराष्ट्र) का सहयोग करके पितामह भीष्म ने भी परधर्म से नाता जोड़ लिया है।

दोहा— धर्मजुद्ध अवसर निरखि छत्रिय बिपिन पराय।
करै जोग जप तपहु यदि यह परधर्म कहाय॥१०२॥

वैसे ही धर्मयुद्ध के अवसर को उपस्थित देख यदि क्षत्रिय वन-प्रदेश में भागकर योग, जप, तप करने लग जाय तो यही [उसके लिए] परधर्म कहा जाता है।

चौपाई— तोहिं कछु पूर्ब करन यहि भायो। अब स्वधर्म सुनि सुख बहु पायो॥
पांडु आज भये अति बड़ भागी। तव मति भइ परधर्म बिरागी॥

जैसा कि कुछ समय पूर्व तुम्हें भी ऐसा ही करना अच्छा लग रहा था किन्तु अब स्वधर्म के स्वरूप को सुनकर अत्यन्त सुख (विश्राम) पा रहे हो। [सच में तुम्हारे पिता] महाराज पाण्डु आज अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गये हैं क्योंकि तुम्हारी बुद्धि को परधर्म से वैराग्य हो गया है।

गुरु सम्मुख बटु कर तिन्ह जैसो। कह्यो जाय पर धरम अनैसो॥
पितु आगे सुत पितु आचारा। सोइ परधर्म सास्त्र परचारा॥

वैसे ही यदि कोई ब्रह्मचारी सद्गुरु के सामने उन्हीं जैसा व्यवहार कर रहा है तो वही अनुचित व्यवहार परधर्म कहा जाता है। उसी प्रकार यदि पिता के सामने पुत्र पिता जैसा व्यवहार करे तो उसे ही शास्त्र परधर्म को स्वीकार करना कहता है।

पति सँग तिय कर माता करनी। तेहि पर धरम साधु सब बरनी॥
बेद सास्त्र पढ़ि सदगुरु बेषा। गहे यहइ परधरम कुबेषा॥

वैसे ही यदि कोई धर्मपत्नी पति के साथ माता का व्यवहार करने लगे तो साधु पुरुष उसे ही परधर्म कहते हैं। वैसे ही कोई मात्र वेद-शास्त्र रटकर सद्गुरु का वेश धारण कर ले तो यही कुवेशता परधर्म है।

बिप्र होइ मद मांस डकारत। मंचन्ह बैठि सास्त्र परचारत॥
यहि परधर्म सखा सुनु मेरो। कलियुग आवत होय घनेरो॥

वैसे ही कोई ब्राह्मण होकर मांस-मदिरा का सेवन करता है तथा मंच पर बैठकर कथा कहता है तो हे मेरे प्रिय मित्र! सुनो, यही परधर्म है जो कलियुग आने पर बहुलता से होने लगेगा।

छंद— बहु कह्यों धर्म अधर्म अरु परधर्म परिभाषा महाँ।
गायों स्वधर्महु संग तुव मैं युद्ध कर अवसर जहाँ॥
तोहिं आतमा परमातमा अरु प्रकृति रूप बताइ के।
तव छुब्ध मनहिं प्रबुद्ध कीन्हों सोक मोह हटाइ के॥

अब तक मैंने धर्म-अधर्म और परधर्म की महत् परिभाषा के साथ-साथ स्वधर्म के रहस्य का भी उद्घाटन

कर दिया। जबकि यह युद्ध का अवसर है तो भी तुमसे आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप एवं कर्म को बताकर तुम्हारे दु:खी मन को प्रबुद्ध करके शोक-मोह का निवारण कर दिया है।

दोहा— अब स्वधर्म निज पालु तू बर गांडीव उठाउ।
बध करि इन्ह परधर्मियन तात स्वर्ग पहुँचाउ॥१०३॥

हे तात! अब तुम स्वधर्म का पालन करो, इसके लिए श्रेष्ठ गाण्डीव उठाकर, इन [नराधम] परधर्मियों का वध कर इन्हें स्वर्ग पहुँचा दो।

चौपाई— अबलौं सुनत बचन प्रभु केरो। अर्जुन संसय गयो घनेरो॥
उन्हके मन अति भई गलानी। उपदेसेउँ मैं प्रभु मनमानी॥

अब तक भगवान के [अमृतमय] वचनों को सुनने से महात्मा अर्जुन की शंका लगभग समाप्त हो चली है। उनके मन में यह ग्लानि हो रही है कि मैंने भगवान को ही मनमाना उपदेश दे डाला।

गहि आवेस धनुष सर फेंक्यों। गुरुजन सँग रन करउँ न टेक्यों॥
होय याहु दुख हृदय मँझारी। सो अघ कौन जो दियो पछारी॥

मैंने आवेश में आकर धनुष-बाण फेंक दिया तथा यह भी कह दिया कि [कम से कम] गुरुजनों से तो मैं ऐसा युद्ध करूँगा ही नहीं- उन्हें इसका भी हृदय में अत्यन्त दु:ख हो रहा है। वे यह भी सोच रहे हैं कि वह कौन-सा पाप है जिसने मुझे पटखनी दे दी।

सच महँ राग द्वेष अति बाधक। जासों भूल्यो मम जस साधक॥
ताकर मूल जान जो लेऊँ। ताहि उखारि फेंकि मैं देऊँ॥

सच में राग-द्वेष [नामक शत्रु आध्यात्मिक पथ में] अत्यन्त बाधक हैं जिससे मेरे जैसा साधक भी भ्रमित हो गया। यदि मैं उनका मूल जान लूँ तो निश्चित ही उसे उखाड़ कर फेंक दूँ।

यहउ बिचार आन अब लाग्यो। यो कस सत्रु प्रेत जस जाग्यो॥
मम उर प्रगटि बाध्य अस कीन्हों। प्रभु सम्मुख प्रलाप करि दीन्हों॥

अब यह भी विचार आने लगा है कि यह कैसा शत्रु है जो भूत-प्रेतों के समान मेरे हृदय में प्रकट होकर मुझे ऐसा बाध्य किया कि मैं सद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण के सम्मुख ही प्रलाप करने लगा।

दोहा— अब नहिं छोरउँ याहि मैं जो परधरम कराय।
प्रभु सों मूलहिं जानि अब मारउँ जहाँ पराय॥१०४॥

अब मैं इसे नहीं छोड़ सकता जिसने मुझसे परधर्म कराया है [अर्थात् शिष्य के स्थान पर गुरु जैसा बोलने के लिए बाध्य कर दिया है]। अब सर्वरूप प्रभु से इसके मूल को जानकर यह चाहे जहाँ भी भागे इसे मार ही डालूँगा।

चौपाई— अस मन सोचि बंदि हरि चरना। पुनि पुनि कह प्रनतारति हरना॥
हे वार्ष्णेय भगत मोहिं जानहु। अब पहिलें जस रोष न आनहु॥

मन में ऐसा सोचकर उन्होंने बारम्बार 'हे शरणागतों की रक्षा करने वाले प्रभु' कहकर भगवान की चरण वन्दना करके कहा- हे वार्ष्णेय! अब पहले जैसा रोष न करके मुझे अपना भक्त जानें!

प्रभु कासों नर प्रेरित पापा। करत बलात पाव बहु तापा॥
कौन सो बली मूल का वाको। पावत गला दबोचउँ जाको॥

हे अच्युत! किससे प्रेरित होकर व्यक्ति बलात् (न चाहते हुए भी) पापकर्म करता है और दु:ख पर दु:ख पाता रहता है। हे जगत्पते! वह महाबलवान कौन है तथा उसका मूल क्या है अर्थात् कहाँ वास करता है, जिसके मिलते ही मैं उसका गला दबा दूँ।

प्रभु कह काम काम अति पापी। पेटू महा खाय गर चाँपी॥
छेंड़त कबहुँ याहि कोउ भाई। रजहि प्रगटि क्रोधहु बनि आई॥

भगवान ने कहा- हे प्रिय! काम, काम ही महापापी और महापेटू है जो गले तक ठूँस-ठूँस कर खाता रहता है [तो भी भूखा रह जाता है]। यदि कभी कोई उसे छेड़ता है तो वह रजोगुण को प्रकटकर क्रोध रूप में आ जाता है।

देख्यो जाय दुखित नर रोवे। काम यहइ अति मोहिं बिगोवे॥
चहउँ नाहिं जो ताहि करावत। पसु इव निसदिन मोहिं चरावत॥

देखा भी जाता है कि [अपने किये पर पश्चात्ताप करके] दु:खी मनुष्य रोते हुए कहता है कि यह काम मुझे अत्यन्त कष्ट दिये जा रहा है। यह [दुष्ट] मैं जो नहीं चाहता हूँ वही कराते हुए अहर्निश पशु के समान मुझसे सेवा लेता रहता है।

छंद— अति दुखद यहि बैरी जगत अध्यात्मपथ महँ मान तू।
कस ढँकि लियो तव ज्ञान छल करि पार्थ अब यहु जान तू॥
ज्यों ढकत अगिनिहिं धूम दरपन धूलि गर्भहिं जेर जू।
त्यों काम अघि ज्ञानहिं ढक्यो एहि दिब्य दृग सों हेर जू॥

हे पार्थ! इस जगत में आध्यात्मिक पथ का तुम इसे ही महादु:खदायी शत्रु जानो। इस [महाछली-कपटी] ने तुम्हारे ज्ञान को किस प्रकार छलपूर्वक ढक रखा है, इसे भी सुनो- जैसे [अपने ही] धुएँ से अग्नि, धूल से दर्पण तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार महापापी काम ने ज्ञान को ढक रखा है, इस सत्य को अपने विवेक रूपी नेत्रों से देखो।

दोहा— भगतन्हि नित बैरी यहइ मूढ़न्हि बहुत सुहाय।
तृपित न होवे अगिनि सम अब सुनु जहाँ दुकाय॥ १०५ (क)॥

यह काम आत्मजिज्ञासु साधकों का नित्य वैरी और मूर्खों को अत्यन्त प्रिय लगने वाला है। अग्नि के समान यह कभी तृप्त नहीं होता। अब यह जहाँ छिपा रहता है, उसे भी सुनो!

मन बुधि इंद्रिनि महँ रहत करत सदा उतपात।
तिन्हसों ज्ञानहिं ढाँकि पुनि जीवहिं मोहत जात॥ १०५ (ख)॥

यह मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों में रहकर सदा उत्पात मचाये रहता है एवं उन्हीं के द्वारा ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को पुन: मोहित करता रहता है।

चौपाई— यहइ नचावत एहि जग निसदिन। का साधक सिध ताड़ै गिन गिन॥
एहिकर दास सबै कामातुर। का नर दानव त्रिजगजोनि सुर॥

क्या साधक, क्या सिद्ध, गिन-गिन कर यही काम रात-दिन इस जगत को अपने अनुसार नचाता रहता है, सभी को कष्ट देता रहता है। अरे! जो भी कामनाओं से व्याकुल हैं वे सभी इसके दास हैं, अत: क्या त्रिर्यग्योनियों के प्राणी, क्या असुर, क्या मनुष्य एवं क्या देवता।

सो न करे इनसों रन भाई। उलटे इनसों महत सगाई॥
कोउ आतम जिज्ञासू योधा। एहि यदि लाँघि चले करि क्रोधा॥

इनसे तो युद्ध वह करेगा ही नहीं, क्योंकि उसका तो इनसे अत्यन्त मधुर सम्बन्ध है। हाँ, यदि कोई आध्यात्मिक योद्धा इसपर क्रोध कर इसका अनादर करते हुए चला जा रहा है-

तौ तासों यह बैर बढ़ावत। जहँ तहँ बहु जोधा लै धावत॥
जो परमारथ पथिक कहावे। ताहिहु छक्को जाइ छुड़ावे॥

तो यह उससे विशेष वैर बढ़ाता है और चाहे जहाँ भी अवसर मिलता है उसके विरुद्ध अपने बहुत से योद्धाओं को लेकर धावा बोल देता है। जो परमार्थ पथ का पथिक कहा जाता है, यह जाकर उसका भी छक्का छुड़ा देता है।

जबलौं आतमरूप न पावत। हाथ धोइ यह पाछे धावत॥
को अस भट जेहि नाहिं नचायो। महाबाहु मोहिं सुनन न आयो॥

इस प्रकार जब तक अपनी आत्मरूपता नहीं प्राप्त हो जाती तब तक यह हाथ धोकर पीछे पड़ा ही रहता है। अरे! ऐसा कौन-सा योद्धा है जिसे इसने नाच न नचाया हो! हे महाबाहो! मुझे तो ऐसा सुनने में नहीं आया।

दोहा— एक हुते तुम्ह तात पर तोरेउँ पहिं यह आइ।
दयारूप होइ हृदय महँ गावत बिगुल बजाइ॥ १०६॥

हे तात! एक तुम बचे थे तो तुम्हारे पास भी यह आकर तुम्हारे हृदय में दयारूप हो [प्रसन्न मन से] बिगुल बजाकर गीत गा रहा है।

चौपाई— तोसों बहुत पटखनी खायो। पर याकी करनी अस गायो॥
हार मानि नहिं बैठ्यो पापी। गुप्त योजना कर अनुतापी॥

यद्यपि तुमसे कई बार यह परास्त हो चुका है परन्तु इसकी करनी तो ऐसी कही गयी है कि यह पापी पराजय स्वीकार करके बैठा नहीं अपितु सबको सन्तापित करने वाला यह गुप्त योजनाएँ बनाता रहा।

अवसर तकत रहत जब पावत। सेन साजि वापे पुनि धावत॥
जब न सकै तोहिं जीत धरा पर। गयउ स्वर्ग यह पाई अवसर॥

यह अवसर की ताक में बैठा रहता है और [कदाचित्] अवसर के उपस्थित होने पर अपनी सेना सुसज्जित कर उस पर आक्रमण कर देता है। [वही हुआ कि] जब यह तुमसे इस पृथ्वी पर विजयी न हो सका तो अवसर पाकर स्वर्ग में चला गया।

तहिं उर्बसि के हिय महँ जाई। तोपर बहु बिधि कियो चढ़ाई॥
तहुँ बहु बान लग्यो जब तेरो। दियो साप होइ कुपित घनेरो॥

वहाँ उर्वशी के हृदय में प्रकट होकर तुम्हारे ऊपर भलीभाँति आक्रमण कर दिया। वहाँ भी जब इस पर तुम्हारे [त्याग, वैराग्य और मर्यादारूपी] बहुत से बाण लगे तो अत्यन्त क्रोधित होकर शाप दे दिया।

भग्यो हुतो तहिं सों पुनि आयो। चतुरंगिनी सेन सँग धायो॥
धर्‌यो बिपुल बपु जानि न जावे। कोउ बिरले यह रूप लखावे॥

वहीं से भगा हुआ यहाँ [योजना बना रहा था तथा अवसर मिलने पर] पुनः प्रकट हो गया है और चतुरंगिनी सेना के साथ [तुम्हारे ऊपर] आक्रमण कर दिया है। अब यह कई रूप बनाने के कारण जानने में नहीं आ रहा है, किसी विरले को ही उसका यह रूप दृष्टिगोचर हो सकता है।

दोहा— तेरो उर महँ दया बनि दुर्योधन महँ काम।
मोह पितामह द्रोण कृप उर होइ लह बिश्राम॥ १०७ (क)॥

जैसा कि तुम्हारे हृदय में दया, दुर्योधन में काम तथा पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य में मोहरूप होकर विश्राम प्राप्त कर रहा है।

अस्वत्थामा कर्ण उर क्रोध रूप धरि आव।
सकुनी उर गहि रूप छल बहु गहगहे बजाव॥ १०७ (ख)॥

अश्वत्थामा और कर्ण के हृदय में क्रोध का रूप धारण कर प्रकट हो गया है एवं शकुनि के हृदय में छल का रूप धारण करके अत्यन्त आनन्द मना रहा है।

चौपाई— तोहिं बुझै बस काम बिजेता। मान न मदन दमन चित चेता॥
मोहिं मदन हंता तौ जानत। पर तव रक्षक हौं नहिं मानत॥

[हे निष्पाप!] यह तुम्हें एकमात्र काम विजेता ही जान रहा है, चित्त में सजग रहने वाले काम का वध करने वाला नहीं मान रहा है। उसी प्रकार यह मुझे काम का दमन करने वाला तो जानता है किन्तु मैं तुम्हारा रक्षक भी हूँ, यह नहीं मानता।

तुम्ह मम परम सिष्य का जानै। सूरन्ह माहिं श्रेष्ठ बस मानै॥
गुरु सम्मुख कोउ सिष्य छकायो। अबलौं नाहिं सुनन महँ आयो॥

तुम मेरे परम प्रिय शिष्य हो- इस बात को यह क्या जानता है! इसने तो मानो योद्धाओं में तुम्हें मात्र एक सर्वश्रेष्ठ योद्धा मान रखा है। हे वीर! अब तक यह सुनने में नहीं आया कि सद्‌गुरु की शरण में रहने वाले किसी शिष्य को इसने परास्त किया हो।

तव सम सिष्य जितेंद्रिय पावत। निद्राबिजयी बहु तप धावत॥
अति बिनम्र गुन सील अपारा। सदाचार यम नियम अगारा॥

तुम्हारे समान जितेन्द्रिय शिष्य को पाकर, जो निद्राविजयी, महान तप का अनुष्ठान करने वाला, अति विनम्र, गुण तथा शील का भण्डार, सदाचार एवं यम नियम का खजाना हो-

सदगुरु धाय लगावत बाड़ो। निसदिन पुनि आपहुँ तहिं ठाड़ो॥
पहरो देत काम नहिं आवे। कहिं मम सिष्यहिं खाइ न जावे॥

सद्गुरु शीघ्र ही उसके चारों ओर बाड़ लगा देता है और पुनः स्वयं अहर्निश खड़ा होकर रक्षा करता रहता है, जिससे यह काम आकर आक्रमण करके कहीं मेरी परम प्रिय आत्मा का नाश न कर डाले।

दोहा— पर जब आयो काम यह धृष्ट निलज्ज अपार।
नाम कामहंता परै ज्ञान खड्ग सों मार॥ १०८॥

किन्तु जब यह अत्यन्त धृष्ट और निर्लज्ज काम तुम्हारे पास आ ही गया है तो तुम इसे ज्ञान रूपी तलवार से मार डालो जिससे तुम्हारा नाम कामहन्ता भी पड़ जाय।

चौपाई— सच मानहु तो सेन अपारा। तुम्हसों बिजय हेतु बस धारा॥
जानत तुम्हहिं हराय न कोऊ। दानव देव होय नर सोऊ॥

सच पूछो तो यह अपार सेना इसने एकमात्र तुम्हारे ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए ही धारण कर रखी है; क्योंकि यह भलीभाँति जानता है कि तुम्हें कोई परास्त नहीं कर सकता, भले ही वे मनुष्य, दानव अथवा देवता ही क्यों न हों।

तोहिं स्वधर्महि सों बिचलाई। पावन चह तिहुँ लोक बड़ाई॥
पर नहिं होय मनोरथ पूरो। याको सपनो रहइ अधूरो॥

इसलिए [योजनानुसार] तुम्हें स्वधर्म से विचलित करके यह तीनों लोकों में प्रतिष्ठा पाना चाहता है; परन्तु [हे जितेन्द्रिय!] मेरे होने से इसका मनोरथ पूर्ण नहीं होगा बल्कि इसका स्वप्न अधूरा ही रह जायेगा।

सब रन योधा अतिहिं सकामी। केवल तुम्ह पाँचहि निष्कामी॥
यासों ईर्ष्या भरि उर आयो। तव मन मति करुणा बनि छायो॥

यहाँ युद्धभूमि में आये हुए सभी योद्धा अत्यन्त सकामी हैं, एकमात्र तुम पाँच ही निष्कामी हो [जो भगवत् प्रसन्नता के लिए युद्ध कर रहे हो]। इसीलिए यह [काम] हृदय में अत्यधिक ईर्ष्या से भरकर आया है और तुम्हारे मन, बुद्धि आदि में करुणा बनकर छा गया है।

ग्रास करन चाहत तुव भाई। किंतु याहि तुम्ह खाइ अघाई॥
आज भये यदि याकर ग्रासा। पुनि फेंकइ अउरनि पहिं पासा॥

हे प्रिय! यह तुम्हें अब ग्रसन करना चाहता है, किन्तु उसके पहले ही तुम इसे खाकर अपना पेट भर लो। आज यदि तुम इसके ग्रास बन गये तो सच मानो कि यह अन्य शिष्यों के पास भी पासा फेंकेगा।

दोहा— गुरु सम्मुख सिष्यनि सबन्हि पुनि कलंक दै जाइ।
बीर होन नहिं देहु अस उठि चेतहु तुम्ह भाइ॥ १०९ (क)॥

फिर तो यह सद्गुरु के सामने ही समस्त शिष्यों को भी कलंकित कर जायेगा। अतः हे वीर! अब तुम सजग हो जाओ, ऐसा न होने दो।

भीष्म ग्रसन करि भा प्रबल देखु भरत हुंकार।
लै गांडीवहिं ज्ञान सर आजहिं याको मार॥ १०९ (ख)॥

देखो, यह भीष्म पितामह को ग्रास बनाकर अति प्रबल हो बारम्बार हुंकार भर रहा है। अतः गाण्डीव उठाकर ज्ञानरूपी बाण से आज ही इसका वध कर दो।

चौपाई— अर्जुन सब जग एहि के गाला। बहुरि कहउँ एहि रूप कराला॥
जाहि रूप देखत पहिचाने। त्यागि ताहि निज रूपहिं ध्याने॥

हे अर्जुन! सारा जगत इसी के मुख में है। मैं पुनः इसके भयंकर रूप को कह रहा हूँ जिसके रूप को देखते ही पहचान लोगे और उसे त्यागकर सदा अपने स्वरूप का चिन्तन करोगे।

ध्यान देइ अब सुनु तेहि रूपा। जेहि तजि पुनि न परै भवकूपा॥
कामबली सुनु दिन महँ सोवे। सदा खाइ पुन्यहिं सब खोवे॥

[हे भरतश्रेष्ठ!] अब ध्यानपूर्वक तुम उसका रूप सुनो जिसका परित्याग कर देने पर पुनः संसाररूपी कुएँ में नहीं गिरना पड़ता। सुनो, इस बलवान काम का रूप है दिन में सोना तथा सदा खाते रहकर सम्पूर्ण पुण्य का नाश कर देना।

कामबली नित भोरेउँ सोवे। ता छन उठि हरि नाम न जोवे॥
कामबली अति करइ बिनोदा। सुभ घरि जाइ न लख नहिं खेदा॥

उस महाबली काम का स्वरूप है नित्य प्रति भोर में सोना उस समय उठकर भगवान का नाम न लेना। यह बलवान काम ही है जो सदा विनोद करता रहता है, यह नहीं देखता कि जीवन का अमूल्य समय [व्यर्थ ही] निकला जा रहा है तथा इस पर खेद भी नहीं करता।

कामबली नित इनकी उनकी। करत फिरत लागत जनु सनकी॥
कामबली अस्लीलइ सुनई। अरु देखइ बोलइ मन गुनई॥

यह बलवान काम सदा ही इनकी-उनकी करता हुआ घूमता रहता है, ऐसा प्रतीत होता है जैसे पागल हो। अश्लील देखना, सुनना, बोलना तथा मन के द्वारा उसी का चिन्तन करना ही इस बलवान काम का स्वरूप है।

कामबली अस्लील सदाई। चिंतन ताहि लिखाइ पढ़ाई॥

इस बलवान काम का स्वरूप है, सदा अश्लील विचार करना तथा उसी की लिखाई-पढ़ाई करना।

दोहा— कामबली अति काममय रज तम रस ही खात।
नाचत गावत काममय मूढ़ सदा हरषात॥ ११०॥

[इस प्रकार हे भारत!] बलवान काम का स्वरूप अत्यन्त काममय होने से वह मूढ़ राजस एवं तामस रस ही ग्रहण करता रहता है तथा काममय नृत्य और गायन करते हुए सदा प्रसन्न होता रहता है।

चौपाई— यह बलि काम मार बाहर सों। कबहुँ आक्रमत उर ठाहर सों॥
एहि छन इत उत भीतर बाहर। डरि धावा बोल्यो सब ठाहर॥

यह बलवान काम कभी बाहर से तो कभी हृदय के भीतर से आक्रमण कर देता है। इस समय अत्यधिक भयभीत होकर इसने बाहर-भीतर तथा इधर-उधर (सब ओर) से धावा बोल दिया है।

तव सिर सांतनुनंदन जानत। बुद्धि द्रोण गुरु कृप मन मानत॥
अस्वत्थामा कौरव आदी। बाह्य इंद्रिं अरु तन्मात्रादी॥

वह यह भी जानता है कि [इस समय] पितामह भीष्म तुम्हारे सिर हैं, द्रोणाचार्य बुद्धि हैं, कुलगुरु कृपाचार्य मन हैं, अश्वत्थामा एवं कौरव आदि वीर तन्मात्राएँ तथा बाह्य इन्द्रियाँ हैं।

इनमेइ काम छुपेउ हरषाई। जासों तव गयो ज्ञान ढकाई॥
यासों प्रथम मार इन्ह सबहूँ। ज्ञान बिना जो सोवत अबहूँ॥

इनमें ही यह काम अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक छिपा हुआ है जिससे तुम्हारा आत्मज्ञान ढका हुआ है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं लोगों को मार डालो जो अभी भी बिना आत्मज्ञान के सो ही रहे हैं।

बधि इन्ह करहु समर्पण ऐसे। नृपति उसीनर कीन्हें जैसे॥
दै तन मांस कपोत बराबर। रक्षे निज धर्महिं हर्षाकर॥

तुम इनका वध करके मुझे वैसे ही समर्पित करो, जैसे राजा उशीनर ने किया था। उन्होंने कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस देकर प्रसन्नतापूर्वक स्वधर्म की रक्षा की थी।

दोहा— करु सोइ तुम्हहु स्वधर्म हित इन्हकर बलि मोहिं देउ।
राज देइ पुनि काहुहीं यति बनि कानन सेउ॥ १११॥

अत: तुम भी स्वधर्म के पालन के लिए इनकी (कौरवों की) बलि मुझे समर्पित कर वैसा ही करो, पुन: किसी प्रिय स्वजन को राज्य दे संन्यास लेकर वन चले जाओ।

चौपाई— संजय बहुरि कहत सुनु नृपबर। का जानहु को नृपति उसीनर॥
कह नृप बिस्मित हाँ बहु जानउँ। धर्मसील तिन्ह सम नहिं मानउँ॥

तब सञ्जय ने कहा- हे नृपश्रेष्ठ! सुनें, क्या आप जानते हैं कि उशीनर नाम के राजा कौन थे? धृतराष्ट्र ने आश्चर्यचकित होकर कहा कि हाँ, भलीभाँति जानता हूँ- अरे! उनके जैसा धर्मात्मा पुरुष तो मैं किसी को समझता ही नहीं।

एक समय पत्रिन डर भाई। गयो कपोत नृपति सरनाई॥
पाछें बाज जाइ नृप पाहीं। कह नृप धर्म उचित अस नाहीं॥

एक समय बाज के भय से एक कबूतर राजा उशीनर की शरण में चला गया। उसके पीछे बाज भी राजा उशीनर के पास जाकर बोला कि हे नरेश्वर! आपका यह धर्म उचित नहीं है।

धरमसील जग तुम्हहिं बतावत। पुनि अधर्म यह तुम्ह कस भावत॥
छुधा कष्ट अब सहि नहिं जावे। यहि अहार मम नियत करावे॥

जगत के लोग आपको सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा बताते हैं फिर आपको यह अधर्म किस प्रकार अच्छा लग रहा है। अब मुझसे भूख का कष्ट सहा नहीं जाता है। विधाता के द्वारा यह पक्षी मेरा आहार निश्चित किया गया है।

राजन याहि अंक तुम्ह दीन्हें। श्रेष्ठ धर्म तजि अपजस लीन्हें॥
देइ याहि निज धरम बचावहु। यासें कबहुँ अछय पद पावहु॥

हे राजन्! आपने इसे अपनी गोद में आश्रय देकर सच में श्रेष्ठ धर्म का परित्याग करके कलंक का वरण किया है। अत: इसे मुझे देकर अपना धर्म बचा लें, ऐसा करने से कभी न कभी आपको अक्षय पद प्राप्त होगा।

दोहा— कह नृप जो सरणागतहिं तजत कछुक भय जान।
सरनागत कर त्याग अरु बध द्विज सुरभि समान॥ ११२ (क)॥

तब राजा ने कहा- हे पक्षी! किसी भी [संभावित] भय से शरणागत का परित्याग करना उचित नहीं है क्योंकि गो हत्या, ब्राह्मण हत्या और शरणागत का परित्याग- ये [तीनों पाप] एक समान कहे गये हैं।

सोरठा— यासे देउँ न याहि मैं स्वधर्म लखि आपुनो।
अस बिलखे तू काहि जहँ सो आयो जाउ तहँ॥ ११२ (ख)॥

अत: इसकी रक्षा करना मेरा स्वधर्म है ऐसा विचार करके मैं तुम्हें इस पक्षी को नहीं दूँगा। तुम्हारा इस प्रकार विलखना व्यर्थ है इसलिए जहाँ से आये हो वहीं चले जाओ।

चौपाई— तब कह स्येन छुधा अस लागी। काल गाल चलि जाउँ सुभागी॥
तबहिं पुत्र मम तिय तजि प्राना। जाहिं कतहुँ असहाय समाना॥

बाज ने कहा- हे सौभाग्यवान! मैं इतना भूखा हूँ कि इसी समय मैं मृत्यु के मुख में चला जाऊँगा, तब निश्चित ही मेरे पुत्र, पत्नी असहाय की तरह प्राण त्यागकर कहीं (किसी लोक में) चले जायेंगे।

धर्म जोइ बाधक परधर्मा। सो नहिं धर्म कहाय अधर्मा॥
जो बिनु काहुहिं धर्म बिरोधे। होय प्रतिष्ठित धर्म सु बोधे॥

[हे राजन्!] जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक हो, वह धर्म नहीं अपितु अधर्म कहा जाता है। हाँ, जो बिना किसी के धर्म का विरोध किये अपने-आप में प्रतिष्ठित होता है, सच में वही धर्म समझा जाता है।

निर्नय हो जब धर्म अधर्मा। तब बिलोकि गौरव लघु कर्मा॥
अधिक पुन्य नृप जामे लागे। सोइ सबसों कहि तामें रागे॥

हे निष्पाप! जब धर्म और अधर्म का निर्णय करना हो तो उस समय कौन कर्म विशेष महत्त्व का है और कौन उससे न्यून है, यह देखकर जिसमें अधिक पुण्य प्रतीत हो, उसी धर्म की सबके समक्ष घोषणा कर, उसमें प्रवृत्त हो [यही धर्म-निर्णय है]।

कह राजन तव बचन ससादन। गुनमय कोउ तुम्ह पक्षि सुभाजन॥
कहुँ बर पक्षि गरुड़ तौ नाहीं। धर्मयुक्त जो बचन कहाहीं॥

तब राजा उशीनर ने कहा- हे बाज! तुम्हारे वचन तो अत्यन्त कल्याणप्रद हैं, अवश्य ही तुम कोई श्रेष्ठ पक्षी हो। कहीं तुम पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो, जो इतनी धर्मसंगत बातें कह रहे हो?

दोहा— पर सरणागत तजउँ नहिं यह नहिं होय अधर्म।
एहि बदलें कोउ मांस प्रिय दउँ मेरो बर धर्म॥ ११३ (क)॥

किन्तु [चाहे तुम जो भी हो] मैं शरणागत कपोत का परित्याग नहीं कर सकता तथा यह अधर्म भी नहीं है। हाँ, उसके बदले तुम मुझसे कोई अन्य प्रिय मांस माँग लो, मैं दूँगा- यह मेरा विशिष्ट धर्म है।

तोहिं राज सब देउँ पर सरणागत नहिं देउँ।
जो चाहै अब माँग तू सो करि उर सुख लेउँ॥ ११३ (ख)॥

यहाँ तक कि मैं तुम्हें अपना सम्पूर्ण राज्य दे सकता हूँ परन्तु शरणागत [कबूतर] को नहीं दे सकता। अब इसके बदले चाहे जो कुछ भी तुम माँग लो, उसे पूरा कर मैं हृदय में सुख का अनुभव करूँगा।

चौपाई— ऐसोइ तो इहि कलख बराबर। देहु मांस निज चाहउँ नृपबर॥
कह नृप यहउ अनुग्रह भयऊ। पूर्ब पाप सब मम जरि गयऊ॥

[तब बाज ने कहा-] हे नृपश्रेष्ठ! यदि ऐसा ही है तो इस कबूतर के बराबर आप अपना मांस दे दें, मैं उसी की चाहना करता हूँ। तब राजर्षि उशीनर ने कहा कि यह तो मुझ पर अनुकम्पा हो गयी, इससे तो मुझसे जो [पूर्व में अन्य] पाप हो गये होंगे, वे भी जल जायेंगे।

मांसहिं काटि काटि नृप डारिहिं। पारावत पलड़ो तउ भारिहिं॥
मांस काटि जब अँग सों डारत। तउ पलड़ो सो टर्‌यो न टारत॥

[ऐसा कहकर] राजा उशीनर मांस काट-काटकर तराजू के पलड़े पर रखने लगे तो भी कबूतर का पलड़ा भारी ही रहा। इस प्रकार राजा अपने शरीर के समस्त अंगों से मांस काटकर पलड़े पर रखते रहे परन्तु वह पलड़ा नहीं उठा तो नहीं उठा।

पुनि नृप चढ़ि पलड़ो हरषाये। लखे इंद्र अग्नी इहँ आये॥
सुरपति कहे बाज बनि आयों। अग्नि कपोत रूप महँ लायों॥

पुनः राजा हर्षित होकर स्वयं पलड़े पर आरूढ़ हो गये तब देखे कि बाज और कबूतर के स्थान पर देवराज इन्द्र और अग्निदेव ही यहाँ पधारे हुए हैं। देवराज ने कहा- मैं ही [आपके पास] बाज बनकर आया था और कबूतर के रूप में अग्निदेव को लाया था।

राजन तुम्हरी भई परीक्षा। जासों जगत पाय बड़ सिक्षा॥
मोसेउँ महत स्वर्ग अब जावहु। तहिं अपनो आतम गुन गावहु॥

हे राजन्! आपकी परीक्षा पूरी हुई जिससे जगत को विशेष शिक्षा मिलेगी। अब आप [अपने स्वधर्म पालन के बल पर] मुझसे भी उत्तम स्वर्ग में जाकर वहीं अपने भगवान का गुणगान करें।

दोहा— संजय बोले चकित चित नृप यहि कह यदुराय।
गुरु कौरव इंद्रियनि कर मांसहि देहु चढ़ाय॥ ११४ (क)॥

तब सञ्जय ने अत्यन्त चकित चित्त से कहा- हे नरेश! ये यदुनाथ यही कह रहे हैं कि [हे पार्थ!] स्वधर्म रक्षार्थ अपने गुरुजन एवं कौरवरूपी इन्द्रियों का मांस मुझे समर्पित करो।

सोरठा— पुनि नृप कोउ बनाइ निज तनहू अर्पन करहु।
साधु बेष गहि जाइ फिरहु मुदित गिरि बिपिन महँ॥ ११४ (ख)॥

पुनः [युद्धोपरान्त] किसी योग्य पुरुष को राजा बनाकर [राजा उशीनर के समान] अपने शरीर को भी समर्पित कर देना और साधु का वेश धारण कर [परिव्राजक हो] प्रसन्नतापूर्वक पर्वतों और जंगलों में विचरण करना।

चौपाई— कह नृप इंद्रिं बाह्य अर्जुन कर। भीष्म द्रोनहीं कस कह गिरिधर॥
संजय मनहीं मन अस गावत। काल बिबस तुम्ह समुझ न पावत॥

[धृतराष्ट्र ने कहा-] सञ्जय! मुझे यह बात कुछ समझ में नहीं आयी कि कृष्ण ने उन्हें (कौरवों एवं गुरुजनों को) अर्जुन की बाह्य इन्द्रियाँ कैसे कह दिया! सञ्जय ने मन ही मन कहा कि हे राजन्! आप काल के वशीभूत हैं इसलिए समझ नहीं पा रहे हैं।

कह संजय एक हुते उसीनर। पालि स्वधर्म याहि जग हितकर॥
बोलि परे नृप तू कह जोई। बूझउँ पर न सक्ति मोहिं होई॥

पुनः सञ्जय ने [मानो उलाहना के स्वर में] कहा-हे नरेश! एक ओर राजर्षि उशीनर थे जिन्होंने स्वधर्म का पालन कर जगत का हित किया [और एक आप हैं जो.....]। धृतराष्ट्र ने सहसा कहा- सञ्जय! जो तुम कहना चाहते हो उसे मैं समझ गया परन्तु उनके जैसी शक्ति मुझमें नहीं है।

अब जो होय होन दै भाई। ओखलि दीन्हों सीस लगाई॥
संजय बिहँसि निरखि झुठ रूदन। कह नृप सुनु कछु कह मधुसूदन॥

अतः हे प्रिय! अब जो होगा उसे होने दो क्योंकि मैंने ओखली में सिर तो रख ही दिया है। सञ्जय ने उनका झूठा रोना देखकर विहँसते हुए कहा- सुनें नरेश! अब भगवान मधुसूदन ने कुछ कहना प्रारम्भ कर दिया है।

कह प्रभु मम द्वय अक्षर काला। मम न तीनि अक्षर प्रतिपाला॥
ममता मृत्यू त्याग सुधासम। ये दोउ निज उर बसहिं बिषम सम॥

भगवान कह रहे हैं कि 'मम (मेरा)'- ये दो अक्षर ही काल (मृत्यु) हैं और 'न मम (मेरा नहीं)'-ये तीन अक्षर रक्षा करने वाले हैं। आसक्ति ही मृत्यु है और त्याग अमृत के समान है। ये दोनों ही विषम और सम रूप से अपने हृदय में निवास करते हैं।

दोहा— बुधजन भाषत काम यह सब दुख कारन तात।
हृदय जानि अस हरषि तजु याहि मानि मम बात॥ ११५॥

अतः हे प्रिय अर्जुन! सन्तजन कहते हैं कि यह कामना ही सम्पूर्ण दुःखों की कारण है। ऐसा हृदय में विश्वास करके मेरी बात मान प्रसन्नतापूर्वक इसे त्याग दो।

चौपाई— एहि महँ एक पुरातन गाथा। होय तोहिं जो अनुपम पाथा॥
कहत कामगीता सब संता। जो परमारथ पंथ भनंता॥

हे महात्मा! इस विषय में एक पुरातन प्रसंग कहता हूँ जो तुम्हारे लिए अनुपम पथ्य का काम करेगा। सभी सन्त इसे 'कामगीता' कहते हैं, जो परमार्थ मार्ग का विवेचन करने वाली है।

कहत काम सच जान न जुक्ती। सो कस पाव मोहिं सों मुक्ती॥
जो चह हनुँ अस्त्रहिं गहि धाई। तेहि उर बसउँ अहं बनि भाई॥

काम (वासना) का कहना है कि जो यथार्थ युक्तियों को नहीं जानता, वह [मेरा नाश कर देगा] मुझसे मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है! क्योंकि यदि कोई बलवान पुरुष मुझे अस्त्र बल से मारना चाहता है तो मैं अहंकार बनकर उसके हृदय में छिपकर अपना स्थान बना लेता हूँ।

कोउ सुख चह यज्ञनि सों मो हनि। बसउँ ताहि उर धरम भाव बनि॥
गहि स्वध्याय हनन चह कोई। तेहि उर बसउँ जीव जड़ होई॥

यदि कोई सुख की इच्छा से अनेक यज्ञ करके मुझे मारना चाहता है, तो मैं उसके मन में अति श्रेष्ठ धर्मात्मा भाव बन जाता हूँ। यदि कोई वेद-पुराण आदि के स्वाध्याय द्वारा मुझे मारना चाहता है तो उसके हृदय में स्थावर जीव के समान बन जाता हूँ।

यदि कोउ सत्य पराक्रम धारी। चहत धैर्यबल सों मोहिं मारी॥
तौ तेहि चित बनि बृत्ति समाऊँ। ताहि तनिक अनुभव नहिं आऊँ॥

हे प्रिय! उसी प्रकार कोई सत्य पराक्रमी पुरुष धैर्य बल से मेरा नाश करना चाहता है तो उसकी कल्पना

बनकर उसके चित्त में ऐसा घुल-मिल जाता हूँ कि थोड़ा भी उसके अनुभव में नहीं आता।

करि तप घोर जो मारन चाहत। बनि तप रूप हृदय तेहि ढाहत॥
मोक्षेच्छा सों जो चह मारन। बनु सोइ बंध न होइ निबारन॥

जो घोर तप करके मुझे मारना चाहता है, तो मैं वह तप ही बन कर उसके हृदय को छिन्न-भिन्न करता रहता हूँ [जिससे वह मुझे मार नहीं पाता]। यदि कोई मोक्ष की इच्छा मात्र से मुझे मारना चाहता है तो उसके लिए वही चाहना बन जाता हूँ, जो बहुत बड़ा बन्धन बन जाती है और उससे छूटना असम्भव हो जाता है।

दोहा— अस लखि मोकों आय हँसि नृत्य करउँ भरि मोद।
मैं अबध्य बस लोक तिहुँ सबसों करउँ बिनोद॥ ११६॥

उन सबका यह प्रयत्न देखकर मुझे हँसी आती है अत: मैं आनन्दविभोर होकर नृत्य करने लगता हूँ। यह सोचकर कि तीनों लोकों में बस मैं ही अवध्य हूँ, इस प्रकार सबसे विनोद करता रहता हूँ।

चौपाई— एक जुगुति सो अवसि नसाई। पुनि बकवास करै नहिं आई॥
मन बुधि इंद्रिनि रहत दुकाई। उनसेउँ उदासीन होइ भाई॥

हाँ, एक उपाय तो है, जिससे यह अवश्य मारा जा सकता है उसके उपरान्त पुन: यह [बड़बोला] काम इस प्रकार बकवास नहीं करेगा। [वह यह कि] हे प्रिय! यह मन, बुद्धि और इन्द्रियों में छिपा रहता है, अत: उनसे उदासीन होकर-

गुरु प्रबोध दै जहँ जब राखै। जो कछु करन जाहि बिधि भाषै॥
तहँ रहि सोइ जुगुति बर धारै। ज्ञान खंग गहि कामहिं मारै॥

गुरु जो ज्ञान दे, जहाँ रहने को कहे, जो कुछ भी करने के लिए जिस विधि का भी निरूपण करे- वहीं रहकर उसी श्रेष्ठ युक्ति से वही करे इस प्रकार ज्ञानरूपी तलवार लेकर काम का वध कर दे।

तू कह यह भट अति बलवाना। तौ यह सच सुनु परम सुजाना॥
तन सों इंद्रियँ महत कहावतिं। तिन्हसों श्रेष्ठ मनहिं श्रुति गावतिं॥

यदि तुम कहते हो कि यह कामरूपी योद्धा अति बलवान है तो हे परम बुद्धिमान्! यह सत्य सुनो कि शरीर से इन्द्रियाँ बलवान हैं तथा इन्द्रियों से मन बलवान है ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं।

मनसेहु प्रबल बुद्धि सब जानत। यहु सों आतम प्रबल बखानत॥
तुम्ह सोइ चेतन आतम ताता। साँच कहउँ पुनि कस बिकलाता॥

उस मन से भी बलवान बुद्धि है ऐसा सभी जानते हैं और इससे भी असंख्य गुना बलवान आत्मा को कहा गया है। हे प्रिय! मैं सत्य कह रहा हूँ कि तुम वही सत् स्वरूप, चैतन्य स्वरूप आत्मा होकर ऐसे विकल क्यों हो रहे हो?

दोहा— अहं ब्रह्म करि घोषणा आत्मज्ञान चित धारु।
मन बुधि इंद्रिन्ह दुक्यो जहँ तहिं एहि सत्रुहिं मारु॥ ११७॥

अत: 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष करके आत्मचिन्तन को हृदय में धारण कर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रिय आदि में वह जहाँ भी छिपा हुआ है वहीं इस कामरूपी शत्रु को मार डालो।

चौपाई— जब तन नहिं मैं यह न हमारो। देह प्रकृति कर अंग बिचारो॥
अस चिंतन गहि काम कुँ स्त्रोतो। देखन हेतु लगावहु गोतो॥

यह विचार करो कि जब मैं यह शरीर नहीं हूँ और न ही यह शरीर मेरा है, तब तो निश्चित ही यह प्रकृति का एक अंग है। ऐसा चिन्तन धारण कर इस काम के स्त्रोत को देखने के लिए गोते लगाओ-

पतो परेगो मोह न मेरो। याकर पितु अज्ञान घनेरो॥
पुनि कोउ सुभ अरु असुभ बिकल्पा। अपुनो मानि न करु संकल्पा॥

तो पता चलेगा कि यह मोह [जिससे इस काम की उत्पत्ति हुई है] मेरा नहीं है बल्कि इसका जनक अज्ञान है। इसके उपरान्त किसी भी शुभ-अशुभ विकल्प को अपना मानकर [उसकी प्राप्ति के लिए] कोई संकल्प न करो।

तौ बादल नभ सों ज्यों आवे। बिनु बरषे पुनि तहीं समावे॥
तस जो काम चित्त सों आवे। साक्षी होवतु सो तहिं जावे॥

तो बादल जैसे आकाश में से प्रकट होकर बिना बरसे पुन: उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यदि चित्त से वासना प्रकट होती है तो साक्षी होते ही वहीं लौट जाती है।

जिमि लेटत मुख आव जम्हाई। समुझें नींद आय गहराई॥
सय्या तजि कर चिंतन अपनो। तबहिं जाय जिमि जावे सपनो॥

अथवा जैसे शय्या पर लेटते ही मुख से जम्हाई आने लगती है तो समझ में आ जाता है कि अब गहरी नींद आने वाली है। यदि उसी समय शय्या का परित्याग कर आत्मचिन्तन करने लग जायँ तो जम्हाई एवं नींद ऐसे चली जाती है जैसे जगते ही स्वप्न चला जाता है-

दोहा— वैसे कामहिं क्रोध अरु मोह लोभ जब आयँ।
आत्मरूप होइ साक्षि चित होवत तबहीं जायँ॥ ११८ (क)॥

उसी प्रकार जब काम, क्रोध, मोह और लोभ प्रकट हो जायँ तो आत्मरूप होकर साक्षी चित्त वाला होते ही पुन: वे भी वहीं लौट जाते हैं।

मारु मारु अब मारु तू भीतर बाहर मारु।
आत्मरूप होइ मोह अरु रन योद्धा संघारु॥११८ (ख)॥

अब मारो पार्थ मारो! इन को भीतर-बाहर से मारो! आत्मरूप होकर मोह को भीतर से और युद्ध के योद्धाओं को बाहर से मारो!

चौपाई— महाराज साधक बिच आई। कहत तुम्हहिं जस कह यदुराई॥
अहइ काम सत्रू सच भारो। पर वासेउँ बड़ बैरि हमारो॥

अब महाराज साधकों के बीच आकर भगवान यदुनाथ की कही हुई सुना रहा है- माना कि काम बड़ा भारी शत्रु है, परन्तु उससे भी एक बड़ा भारी शत्रु हमारे पास ही है।

होत न अपुने पर बिस्वासा। यासों भये काम कर दासा॥
आत्मरूपता आतमबल पर। यदि बिस्वास होय मति थिर कर॥

[वह यह कि] हमें अपने पर ही विश्वास नहीं है इसी से हम काम के दास बने हुए हैं। यदि अपनी आत्मरूपता और आत्मशक्ति पर स्थिर बुद्धि से सम्पूर्ण विश्वास हो जाय तो-

भागत मोह न आवत कबहूँ। सोवत जागत सपनेहुँ जबहूँ॥
काम मरइ पर अस गहु घेरो। संतन्ह सँग निज होवे डेरो॥

फिर मोह ऐसा भागेगा कि कभी भी नहीं आयेगा, भले ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ही क्यों न हो। काम तो वहीं मर जायेगा, परन्तु इसके लिए ऐसा घेरा डालें कि सन्तों के साथ ही आपका रहना हो।

होवत अस निर्बल बलवानहिं। यदि आपुहिं सत आतम जानहिं॥
सक्तिमान अति केहरि कुंजर। तउ निर्बल नर गहे जुगुति बर॥

[महाराज की यहाँ तक अनुभूति है कि] इस प्रकार यदि कोई निर्बल पुरुष भी अपने को [शरीर न मानकर] सत् स्वरूप आत्मा मान ले तो वह [आत्मा जैसा अत्यन्त] बलवान हो जायेगा। यद्यपि हाथी और सिंह अत्यन्त बलवान हैं तो भी निर्बल मनुष्य श्रेष्ठ युक्तियों से उन्हें अपने अधिकार में कर लेता है।

छंद— जहँ बुद्धि तप बरदान बल त्रैलोकहूँ जय पावई।
बहु असुर दानव छुद्र मानव तंत्रबल हरषावई॥
महराज कह तहँ आत्मबल अरु आत्मरूपहु धारिके।
सानंद होइ तुम्ह जगत बिचरहु काम सत्रुहिं मारिके॥

अरे! महाराज का कहना है कि जहाँ बुद्धिबल, तपोबल और वरदान के बल से पुरुष तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा बहुत-से असुर, दानव और अधम मानव तंत्र का बल पाकर अति प्रसन्न हो जाते हैं, वहीं

आप आत्मरूपता को स्वीकार कर अपनी आत्मशक्ति से कामरूपी शत्रु का मर्दन कर आनन्दपूर्वक जगत में विचरण करें।

इक पुरुष जाकर सिर पिता अरु बुद्धि निज जननी अहै।
कुलगुरु हि आगम निगम दृग दुइ घ्रान तेहि अतिथी लहै॥
जिव जंतु पसु पक्षी दुवारें आयँ जे सब मुख श्रवन।
सिद्धांत सदगुरु पग महत बिचलित न जब कर जग गमन॥

[अब एक अलौकिक पुरुष की झाँकी देखें-] एक पुरुष है जिसका सिर अपना पिता और बुद्धि अपनी माता है, कुलगुरु और शास्त्र उसकी दो आँखें हैं तथा अतिथि उसकी नाक है, जो जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि दरवाजे पर आते हैं वे दिव्य कान और मुख हैं। उसी प्रकार सद्गुरु के सिद्धांत ही उसके श्रेष्ठ पैर हैं जिसके द्वारा संसार में चलते हुए वह कभी लड़खड़ाता नहीं है।

निज आतमा अरु ब्रह्म सदगुरु जानि जग बिचरण करे।
बिस्वास उनकेइ बचन सिद्धी जानि भव मग नहिं परे॥
बिज्ञानहू अरु ज्ञान महँ सो रात दिन बिहरत रहै।
येइ अंग सच महँ उदर अरु दृढ़ पृष्ठ सम तेहि कर अहै॥

वैसे ही वह पुरुष [निष्काम कर्मयोग के सम्पादन द्वारा चित्तशुद्ध होने के उपरान्त] अपने को आत्मा और सद्गुरु को परमात्मा मानकर जगत में विचरण करता है तथा उनके वचनों पर विश्वास को ही सिद्धि जानने से वह संसार मार्ग में नहीं पड़ता। वह ज्ञान एवं विज्ञान में अहर्निश रमण करता रहता है। यथार्थ में ये ही अंग उसके पेट और दृढ़ पीठ के समान हैं।

सम दम नियम तप सील सिष्टाचार रुप तेहि बाहु बर।
अस दिब्य अंगनि युक्त यो नर सार एहि अध्याय कर॥
जो धर्महित सब कहँ तजै निज प्रान प्रिय परिवारहू।
महराज कह एहि बर पुरुष कहँ तुम्ह हृदय महँ धारहू॥

शम, यम (दम), नियम, तप, शील, शिष्टाचार उसकी श्रेष्ठ भुजाओं के रूप में सुशोभित हैं। इस प्रकार दिव्य अंगों वाला यह दिव्य पुरुष इस अध्याय का सार है जो अपने स्वधर्म के लिए अपने प्राणों के साथ-साथ अपने प्रिय परिवार का भी परित्याग कर देता है। महाराज का कहना है कि इस श्रेष्ठ अलौकिक पुरुष को आप सब हृदय में धारण करें।

दोहा— कह संजय सुनि प्रभु बचन बस निरखत तिन्ह पार्थ।
मन आनंद मगन अति पाये जनु परमार्थ॥ ११९॥

इधर सञ्जय ने कहा- हे भरतकुल भूषण! भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की अमृतमयी वाणी को सुनकर महात्मा अर्जुन एकमात्र उन्हें ही टकटकी लगाये देख रहे हैं। वे मन में इतने आनन्द विभोर हैं मानो उन्होंने परमार्थ तत्त्व प्राप्त कर लिया हो।

मासपारायण, बारहवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

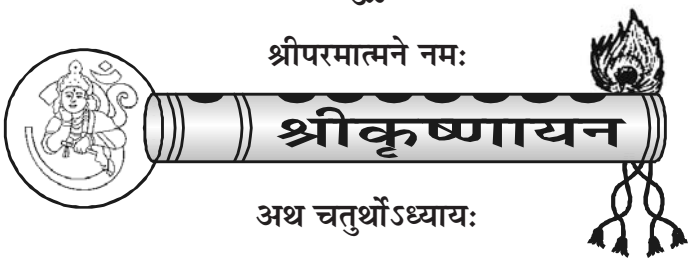

अथ चतुर्थोऽध्यायः

भजु मन प्रभुं द्वारिकाधीशम्॥
कंसवधं शिशुपालवधं द्रौपदी चीर वर्धनम्।
हितमात्मनश्च बुद्धयस्य तं नमतु जगदीशम्॥
सांख्यश्च कर्मयोगाभ्यां दत्वा प्रभु तदनन्तरम्।
ददति ज्ञानं भक्तियोगस्य चलु शरणे परमीशम्॥
यदा यदा विकलन्ति सन्त शुचि सुरभि धरा स्वःईशम्।
तदा उदित्वा संहृत्य दानवा महाराज धरु ईशम्॥

हे मन! भगवान द्वारिकाधीश का ही भजन करो। जिन अपरिमित सामर्थ्यवान प्रभु ने कंस एवं शिशुपाल का वध किया और द्रौपदी का चीर बढ़ाया, जो अपनी आत्मा अर्थात् ज्ञानीजनों का कल्याण करने वाले हैं हे मन! उन जगदीश्वर को नमस्कार करो। जो सांख्ययोग, कर्मयोग [एवं ध्यानयोग] आदि को देने के उपरान्त ज्ञान के साथ-साथ पराभक्ति भी दे देते हैं, हे मन! उन्हीं शरणागतरक्षक परम प्रभु की शरण में चलो। जब-जब अधर्म के बढ़ने से गौ, पृथ्वी एवं पवित्र सन्त विकल होते हैं तब वे प्रकट होकर दुष्टों का संहार करते हैं। महाराज का कहना है- हे मन! उन्हीं प्रभु की सर्वदा शरण ग्रहण करो।

चौपाई— बधु सम सब उर माया घूँघट। पावत प्रियतम जेहि हटाव झट॥
जिमि पति पाइ समर्पित नारी। तन मन घूँघट देति उघारी॥

सभी के हृदय पर किसी नववधू की तरह ही माया का घूँघट (आवरण) पड़ा हुआ है, जिसे अपने सामने प्रियतम (परम ब्रह्म) के आते ही झट वैसे ही हटा दिया जाता है जैसे अपने प्रिय पति को पाकर कोई समर्पित पत्नी अपने तन-मन के आवरण को हटा देती है।

तिमि पति निज प्रिय पतिनिहिं पावत। उर पट तजि सब भेद बतावत॥
सखा सखा प्रिय भाई भाई। उर पट छाँड़ि मिलहिं हरषाई॥

उसी प्रकार अपनी प्रिय पत्नी को पाकर पति भी हृदय का आवरण हटाकर अपने जीवन की सारी कहानी कह देता है, वैसे ही मित्र-मित्र, भाई-भाई भी हृदय से [झिझकरूपी] आवरण को हटाकर परस्पर प्रसन्नतापूर्वक मिलते हैं।

गुप्त मंत्रणा प्रिय मंत्री सन। करत न झिझकत जस नृप निज मन॥
तिमि प्रिय सिष्यहिं लहि गुरु भावत। हृदय जवनिका सबहिं हटावत॥

जैसे कोई राजा प्रिय मंत्री से अपने मन की झिझक छोड़कर गुप्त मंत्रणा करता है, उसी प्रकार परम प्रिय शिष्य को पाकर सद्गुरु हृदय में प्रेम विभोर हो अपना समस्त आवरण हटा लेता है-

होइ मुदित मन अंक लगाई। बोलत बानी अतिहिं सुहाई॥

और प्रसन्नता पूर्वक उसे हृदय से लगाकर अत्यन्त मधुर वाणी में कहता है।

दोहा— दिब्य दृष्टि तोहिं देउँ अब गुप्तरूप मम देख।
ताहि बिलोकत तू कहे कैसो अनुपम भेष॥ १॥

लो अब मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे मेरे गुप्तरूप को देख लोगे और उसे देखते ही तुम कह उठोगे कि यह आपका रूप कैसा अनुपम है!

चौपाई— रावन बध उपरांत जानकी। जगत जननि अरु भक्त प्रान की॥
सिबिका प्रतिसीरा करि लावत। प्रभु भक्तन्ह हित तबहिं हटावत॥

रावण-वध के उपरान्त जगतजननी एवं भक्तों की आत्मा भगवती सीता को पालकी में आवरण करके लाया जा रहा था, जिसे भगवान श्रीराम ने भक्तों के दर्शनार्थ तत्क्षण ही हटवा दिया।

कहत इहाँ हइ अस नहिं कोऊ। जननी रूप देख नहिं जोऊ॥
सोइ प्रभु कामिन्ह कर पट डारी। कर बिलाप गिरि कानन भारी॥

और कहा कि यहाँ कोई ऐसा है ही नहीं, जो इन्हें माता के रूप में न देखे। वे ही प्रभु [स्वाँगरूपी] आवरण डालकर कामियों के समान [भगवती सीता की खोज में] घोर वन और पर्वतों में रोते-बिलखते फिर रहे थे।

अस करि असुरन्ह मोहत साँई। भक्तन्ह मन लोभत अधिकाई॥
प्रगटत जाइ दुरे प्रभु गोकुल। ओट कीन्हि अस लखे न अरिकुल॥

ऐसी लीला करके वे प्रभु एक ओर असुरों के मन को मोहित कर रहे थे तो दूसरी ओर भक्तों के मन को अत्यन्त प्रिय लग रहे थे। वैसे ही भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द तो प्रकट होते ही गोकुल में जाकर छिप गये और ऐसा आवरण कर लिया कि शत्रुओं का समूह भी उन्हें पहचान नहीं सका।

धेनु चरावत ग्वाल कहावत। असुर कहत हरि सम नहिं भावत॥
ब्रज बनितन्हि पति अस भरमाये। कह कस यह प्रभु रास रचाये॥

[ब्रज में] गायों को चराते हुए वे ग्वाल कहलाये- जिन्हें देखकर असुर कह उठे कि यह तो भगवान जैसा लग ही नहीं रहा है। ब्रज की गोपियों के पति भी ऐसे भ्रमित हुए कि [दु:खी होकर] कह उठे- यह कैसा भगवान है जो रास रचाता है!

दोहा— सोइ प्रभु गोपिन्ह करि कृपा माया ओटहिं टारि।
दिब्य दृष्टि अस तिन्हिं दये हरि छबि लगीं निहारि॥ २(क)॥

उन्हीं भगवान ने गोपियों पर कृपा करके, अपनी माया का आवरण हटाकर उन्हें ऐसी दिव्य दृष्टि दी जिससे वे उनकी छवि को भगवान के रूप में देखने लगीं

सोरठा— प्रकृति पुरुष पहिं नायँ घूँघट राखति कबहुँ कछु।
तस परब्रह्म हटायँ निज माया पट भगत हित॥ २(ख)॥

यह शाश्वत नियम है कि प्रकृति पुरुष के पास कभी किसी प्रकार का आवरण नहीं रखती, वैसे ही ब्रह्म भी अपने भक्त के पास उसके हित के लिए अपना माया रूपी आवरण हटा लेता है।

चौपाई— ऐसोइ होय भगत अर्जुन सँग। ज्यों ज्यों हरि के निकट आय पग॥
त्यों त्यों हरि माया पट टारत। निज बिभु रूप लखायँ निहारत॥

भक्त अर्जुन के साथ भी ऐसा ही हो रहा है। वे जैसे-जैसे प्रभु के प्रति समर्पित होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे भगवान भी ऐसा देखकर अपने मायामय आवरण को हटाते हुए उन पर कृपा करके अब अपने ब्रह्म रूप को दिखाने लगे हैं।

एहि महँ अचरज करइ न कोऊ। अर्जुन सम स्वधर्म रत जोऊ॥
होय सकत तुम्हरें हित लागी। प्रभु निज ओट देहिं सब त्यागी॥

इसमें कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि यदि आप भी महात्मा अर्जुन के समान स्वधर्म पालन में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं तो हो सकता है आपके हित के लिए भगवान अपना समस्त आवरण हटा लें।

महाराज संतन्ह सों भाषे। अस को पट अबलौं हरि राखे॥
जाहि हटावहिं अब हरषाई। तुम्हहु निहारउ मन मति लाई॥

महाराज सन्तों से कह रहा है कि भगवान ने अर्जुन से अब तक कौन-सा आवरण लगा रखा था, जिसे अब अति प्रसन्नतापूर्वक हटा रहे हैं, इसे आपसब भी मन, बुद्धि [चित्त] को एकाग्र करके देखें।

पार्थ हमहिं देखहिं सब बीरा। कछुवै कछु सोचहिं उर धीरा॥
होवइ अति बिलम्ब जो सोचहु। सुभ ब्यवहार बनै नहिं पोचहु॥

[भगवान कह रहे हैं] हे पार्थ! ये समस्त योद्धा हम दोनों की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं, उन धैर्यवान वीरों में मन ही मन कोई कुछ सोच रहा है तो कोई कुछ। यदि विशेष विलम्ब होता है तो हमारा यह व्यवहार धर्मानुकूल होते हुए भी अनुचित न हो जाय, इस पर विचार करो।

दोहा— मन मति निज एकाग्र करि यासों सुनु धरि ध्यान।
जासें सीघ्र नसाय तव सोक मोह अज्ञान॥ ३॥

अत: अपने मन एवं बुद्धि को एकाग्र करके मेरी बात ध्यान देकर सुनो जिससे तुम्हारा शोक, मोह और अज्ञान अति शीघ्र नष्ट हो जाय।

चौपाई— सृष्टि आदि महँ ये रबि ताता। सिष्य भये जब मम जगत्राता॥
यह अबिनासी योग परंतप। इनहिं दियों जो अजहुँ करहिं तप॥

हे परंतप! इस अविनाशी योग को मैंने सृष्टि के आदि में जगत का पोषण करने वाले इन आदिपुरुष भगवान सूर्य को दिया था जब ये मेरे शिष्य बन गये थे, जो आज भी जगतहितार्थ तप कर रहे हैं।

तब सों पाइ सिष्य गुरु योगा। ब्रह्मज्ञान प्रगटत संयोगा॥
तिन्ह संकल्पित सुत मनु भयऊ। सिष्य बनाइ ज्ञान बर दयऊ॥

उस समय से ही जब-जब गुरु एवं शिष्य का मिलन होता है, तो इस मधुर संयोग के कारण ब्रह्मज्ञान प्रकट होता आ रहा है। इन भगवान भास्कर के संकल्पवत् पुत्र राजर्षि मनु हुए, जिन्हें इन्होंने शिष्य बनाकर इस ब्रह्मविद्या को दे दिया।

तिन्हि सुत इक्ष्वाकू बर ऐसे। तेजोरासि बिबस्वत जैसे॥
तिन्हहिं नृपति निज सिष्य बनाई। यहि बर ज्ञान दिये हरषाई॥

उनके भी इक्ष्वाकु नामक ऐसे पुत्र हुए, जो भगवान सूर्य के समान ही परम तेजस्वी थे। फिर राजा मनु ने उन्हें (अपने पुत्र इक्ष्वाकु को) ही शिष्य बनाकर इस श्रेष्ठ ज्ञान को प्रसन्नतापूर्वक दिया।

यहि परिपाटी रबि बंसिन्ह महँ। यह बिद्या गइ अपर नृपन्ह पहँ॥

सूर्यवंशियों में इसी परम्परा के अनुसार उन [ब्रह्मवेत्ता राजर्षियों] के द्वारा एक से दूसरे राजर्षि के पास यह ब्रह्मविद्या जाती रही।

दोहा— पवनपुत्र जे दक्ष अति रथ रक्षत तुव आज।
रबिहिं बना सदगुरु लहे ब्रह्मज्ञान जस राज॥ ४॥

[इतना ही नहीं] जो परम चतुर भक्तप्रवर हनुमान आज तुम्हारे रथ की अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक रक्षा कर रहे हैं, उन्होंने भी इन्हीं भगवान सूर्य को सद्गुरु बनाकर ब्रह्मज्ञान जैसी गूढ़ विद्या प्राप्त की है।

चौपाई— सुनत पवनसुत उर अहलादा। भयो मिलइ पुनि ज्ञान प्रसादा॥
तात अगस्ति सरिस बहु ऋषिवर। इन्हि प्रसन्न करि लिये बिपुल वर॥

[भगवान के द्वारा] ऐसा सुनकर पवनपुत्र हनुमान के हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता छा गयी कि अब पुन: ब्रह्मज्ञानरूपी प्रसाद प्राप्त होगा। हे तात! [तुम जानते ही हो कि] ऋषि अगस्त्य के साथ-साथ बहुत से ऋषि-महर्षियों ने इन [भगवान सूर्य] की उपासना करके अनेक वरदान प्राप्त किये हैं।

प्रगट देव आजहुँ जो ध्यावत। मन वांछित बर निस्चय पावत॥
बीते काल बहुत यह योगा। राजबंस सों भयो बियोगा॥

ये ऐसे प्रत्यक्ष देवता हैं जिनकी आज भी कोई श्रद्धापूर्वक उपासना करे तो निश्चित ही मनोवांछित वरदान प्राप्त कर लेता है। किन्तु बहुत समय से यह योग मानो नष्ट-सा होकर राजाओं के पास से चला गया और कहीं छिप गया।

योग पुरातन यह सोइ भाई। कह्यों तोहिं सन हिय हरषाई॥
तोहिं निज सखा भगत प्रिय जान्यों। गुप्त ज्ञान एहि हेतु बखान्यों॥

हे प्रिय! यह वही पुरातन योग है जिसे मैं तुमसे प्रसन्न हृदय से कह रहा हूँ। क्योंकि तुम्हें अपना प्रिय सखा

और भक्त जानता हूँ, इसीलिए तुम्हारे प्रति इस गुप्तज्ञान को प्रकट कर रहा हूँ।

जब निज सिष्य रबिहिं हरि कहेऊ। नृप तन कँप्यो हृदय अति दहेऊ॥
कहे रे संजय यह अति होयो। हे भगवान कहाँ नभ सोयो॥

जब भगवान ने सूर्यदेव को अपना शिष्य घोषित कर दिया तब राजा धृतराष्ट्र का हृदय जल उठा, शरीर काँपने लगा। उन्होंने कहा- क्यों रे सञ्जय! यह तो अति हो गयी! हे भगवान्! तुम आकाश में कहाँ सो गये हो.....!

दोहा— निदरत माधव तुम्हहिं अति मोसों सह्यो न जाय।
किंतु अंध असमर्थ मैं मेरो कछु न बसाय॥ ५॥

[हे भगवान सूर्य!] ये माधव आपकी अति निन्दा कर रहे हैं, जो मुझसे सहन नहीं हो रही है; परन्तु मैं तो असमर्थ और अन्धा हूँ, इसलिए मेरा कोई वश नहीं चल रहा है!

चौपाई— होतो कर्ण इहाँ यदि साँई। गहत इनहिं तुव देइ दुहाई॥
करतो जो देखत जग सारो। प्रभु प्रतिसोध तुम्हहि लेइ डारो॥

हे नाथ! यदि आज यहाँ कर्ण होता तो आपकी सौगन्ध खाकर इन्हें पकड़ लेता, फिर वह जो कुछ भी [इनके साथ] करता उसे सारा जगत देखता। [किन्तु वह तो है नहीं] अतः हे प्रभो! उसका बदला आप स्वयं ही लें।

इत हरि लखि अस कहि नृप रोषत। पार्थ पार्थ कहि पुनि पुनि पोषत॥
बहुरि बहुरि हँसि कह यह बाता। यो का होइ देखु मम भ्राता॥

इधर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द राजा धृतराष्ट्र को रोष में ऐसा बोलते हुए देखकर बारम्बार अरे पार्थ! पार्थ! ऐसा कहते हुए प्रेम करने लगे और [उसी ओर दृष्टि किये हुए] बारम्बार व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए बोले- हे प्रिय! देखो, यह क्या हो रहा है!

लखि हरि बदन परंतप कहेऊ। का कोउ भगत बिपति महँ परेऊ॥
नहिं अर्जुन धृतराष्ट्र रिसाने। रबि सुनि सिष्य लगायँ ठिकाने॥

भगवान की उस मुख-मुद्रा को देखकर महात्मा अर्जुन ने कहा- क्या हुआ माधव! क्या कोई भक्त संकट में आ गया है? [भगवान ने कहा-] नहीं पार्थ! राजा धृतराष्ट्र अति रोष में आ गये हैं, मैंने सूर्यदेव को अपना शिष्य बताया है न! इसलिए मुझे ठिकाने लगाने की बात कर रहे हैं।

पार्थ हँसाइ गयो सुनि ऐसो। कह प्रभु मोरेहु मन इन्ह जैसो॥
पर मोहिं रोष न अति जिज्ञासा। सुनन हेतु मन महँ अभिलासा॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन को अनायास ही हँसी आ गयी, वे उस हँसी को रोक नहीं पाये और बोले- हे प्रभो! मेरे मन में भी यही बात चल रही है परन्तु मेरे मन में क्रोध या दुःख नहीं है। हाँ, इसी को जानने की अत्यन्त जिज्ञासा है और इसका उत्तर सुनने की अभिलाषा भी है।

दोहा— हँसैं योइ दिन हँसन कर पुनि नृप सों न हँसाय।
सम्मुख होवत काल जिहिं मति अस भ्रम भय छाय॥ ६॥

[और रही बात राजा धृतराष्ट्र की तो] वे हँसते हैं तो हँसें, यही दिन तो उनके हँसने का है, क्योंकि पुनः उनसे हँसा नहीं जायेगा। हे अच्युत! जिसके सामने काल आ जाता है, उसकी बुद्धि में भ्रम और भय छा ही जाता है।

चौपाई— प्रभु सुनि जुगुति सखहिं सनमाने। पुनि अपनो मन रन थल आने॥
गुडाकेस बिस्मित होइ बोले। संसय भयो ताहि सब खोले॥

अर्जुन की ऐसी युक्तिपूर्ण बात सुनकर भगवान ने उनकी बहुत सराहना की और अपने मन को पुनः रणभूमि में ले आये। उसके उपरान्त अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर महात्मा अर्जुन ने जो कुछ भी संशय हुआ था, उसको प्रकट करते हुए कहा-

सखा भयों पर भगति न कीन्हीं। पुनि क्यों मोहिं भगत कहि दीन्हीं॥
सूर्यबंस की परम धरोहर। मोहिं देहिं क्यों जो सब दुख हर॥

[हे भक्तवत्सल! इस जन्म में] मैं आपका मित्र तो बना किन्तु [भगवान समझकर] आपकी भक्ति तो की

नहीं, फिर आप मुझे अपना भक्त क्यों कह रहे हैं और सूर्यवंश की परम धरोहर [यह ब्रह्मविद्या], जो सम्पूर्ण दु:खों का हरण करने वाली है, उसे मुझे क्यों दे रहे हैं ?

प्रभु तुव जनम काल कछु अबहीं। आदि सृष्टि प्रगटे रबि जबहीं॥
पुनि कस कहहु सिष्य प्रभु तोरें। संसय भयो सुनत उर मोरें॥

हे प्रभो! आपने तो अभी कुछ ही समय पूर्व जन्म लिया है जबकि भगवान सूर्य तो सृष्टि के आदि में ही प्रकट हो चुके हैं। हे नाथ! फिर कैसे कह रहे हैं कि वे आपके शिष्य हैं ? यह सुनकर मेरे मन में भी शंका हो रही है।

हरि प्रसन्न कह सुनु धरि ध्याना। आज मरम सब कहउँ सुजाना॥
यासें भगत कह्यों मैं तोहीं। क्योंकै गुरू बनायो मोहीं॥

ऐसा सुनकर भगवान अति प्रसन्न हो गये और बोले- हे बुद्धिमान्! ध्यान से सुनो, आज मैं तुम्हें सबकुछ बता दूँगा! मैंने तुम्हें भक्त इसलिए कहा है क्योंकि तुमने मुझे अपना सद्गुरु बना लिया है।

दोहा— बहुत जनम कियो भगति मम जानउँ सो सब भाइ।
तेहि नातेहू भगत तुम्ह जो अब देउँ सुनाइ॥ ७॥

हे प्रिय! तुमने अनेक जन्मों में मेरी भक्ति की है उन सबको मैं भलीभाँति जानता हूँ। उस नाते भी तुम मेरे भक्त हो, जिसे मैं अभी सुना रहा हूँ।

चौपाई— सुनहु प्रथम रबि बंसिन्ह ज्ञाना। तुम्हहिं देउँ यह क्यों बरदाना॥
सत त्रेता गृह आश्रम माहीं। परमार्थिक रबिबंसि लखाहीं॥

सर्वप्रथम तो यह सुनो कि सूर्यवंशियों को दिया जाने वाला यह ब्रह्मज्ञान तुम्हें वरदानरूप में क्यों दे रहा हूँ। वह इसलिए कि सूर्यवंशी ही सत्ययुग और त्रेता में गृहस्थाश्रमियों में पारमार्थिक (आध्यात्मिक) पुरुष दिखाई पड़ते थे।

परम धरम गहि प्रभु हित ध्यावहिं। यासें ब्रह्मज्ञान यहि पावहिं॥
चारिहिं चरन धरम के आहीं। दया दान तप यज्ञ कहाहीं॥

वे भगवत् प्राप्ति के निमित्त ही परम धर्म को धारण कर सदा ध्यान परायण रहते थे, इसलिए इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते थे। [यह तुम जान लो कि] धर्म के चार चरण होते हैं-जिन्हें दया, दान, तप और यज्ञ कहा जाता है।

चारिउ पग सतयुग महँ छायें। त्रेता महँ त्रय चरण लखायें॥
द्वापर महँ दुइ चरण धरम के। भानुबंसि लखि नहिं ये करम के॥

ये चारों चरण सत्ययुग में सर्वत्र व्याप्त रहते थे, त्रेता में धर्म के तीन ही चरण दिखाई पड़ते हैं तथा द्वापर में धर्म के दो ही चरण की सत्ता रहती है जिसे देखकर सूर्यवंशी कहते हैं कि ये तो किसी काम के नहीं हैं।

एहि महि हम न रहहिं प्रभु ध्याये। कहूँ छिपन्ह हित आयसु पाये॥
अस ओझल भये जग सों ताता। तब भयो चंद्रबंस बिख्याता॥

अत: इस धरती पर अब हम नहीं रहेंगे, ऐसा सोचकर वे प्रभु की शरण में गये और भगवान के द्वारा कहीं भी गुप्त हो जाने के लिए आज्ञा प्राप्त कर ली। हे प्रिय! इस प्रकार सूर्यवंशी जगत से अन्तर्ध्यान हो गये और तब चन्द्रवंश की महिमा बढ़ गयी।

नृप भये बिषइ काल कछु पाई। तन मन दुरबलता तिन्ह छाई॥
इंद्रिन्ह बस पुरुषार्थ बिहीना। लखि तिन्ह यह अधिकारहिं छीना॥

कुछ काल व्यतीत होने पर चन्द्रवंशी राजागण भी अति विषय लोलुप हो गये, जिसके कारण उनके तन, मन में दुर्बलता छा गई। अत: जब वे इन्द्रियों के अधीन होकर पुरुषार्थ से विहीन हो गये तो ऐसा देखकर मैंने उनका यह अधिकार छीन लिया।

एहि कारन लखि तुम्ह कहँ धीरा। पुरुषारथी जितेंद्रिय बीरा॥
आत्मज्ञान दियों यहइ पुरातन। अबिनासी अब्ययहु सनातन॥

इसी कारण मैंने तुम्हें जितेन्द्रिय, महावीर एवं अत्यन्त धैर्य के साथ पुरुषार्थ करने वाला देखकर, यह श्रेष्ठ अव्यय,

अविनाशी, सनातन तथा पुरातन आत्मज्ञान दिया है।

दोहा— सूर्यबंस कर ज्ञान यह चंद्रबंस कस आय।
जासे यहु नृप ज्ञानबल सेवहिं महि हरषाय॥ ८ (क)॥

सूर्यवंश का यह पुरातन ज्ञान चन्द्रवंश में कैसे आवे जिससे ये [चन्द्रवंशी] राजा भी ज्ञानबल से सम्पन्न होकर सूर्यवंशियों के समान प्रसन्नतापूर्वक इस पृथ्वी की सेवा कर सकें-

एहि महँ प्रगट्यो हेतु तेहि लियों तुम्हहिं निज संग।
प्रगट कियों अब योग यह माध्यम याहि प्रसंग॥ ८ (ख)॥

यही सोचकर इस चन्द्रवंश में प्रकट होकर मैंने तुम्हें अपने साथ ले लिया और इसी प्रसंग के माध्यम से इस योग को प्रकट किया है।

चौपाई— बहुत जनम मम तुव जग माहीं। भये जानुँ मैं तुम्ह तिन्ह नाहीं॥
मैं सम सांत सच्चिदानंदा। त्रिकालज्ञ भगतन्ह सुखकंदा॥

[हे भारत!] जगत में तुम्हारे और मेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। मैं उन सभी को जानता हूँ किन्तु तुम उनसे अनभिज्ञ हो। क्योंकि मैं सम-शान्त सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, इसलिए सर्वज्ञ हूँ और भक्तों के लिए परम सुख का दाता हूँ।

कर्म बिबस तव सुरति नसानी। जासों भये अतिहिं अज्ञानी॥
मैं तू करि बहु जनम गँवाये। अब चित चेत तुम्हहिं कछु आये॥

किन्तु कर्म के वशीभूत होने से तुम्हारी आत्मस्मृति नष्ट-सी हो गयी जिससे तुम अत्यन्त अज्ञानी प्रतीत होने लगे। 'मैं-तू' करते-करते तुम्हारे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, किन्तु अब जाकर तुम कुछ सावधान हुए हो।

चकित धनंजय सुनि हरि बानी। मन थिर नहिं कछु जाय न जानी॥
हरिहिं चितव जस पाथरि मूरति। बरनत बनै न बनि अस सूरति॥

भगवान नारायण की बात सुनकर महात्मा अर्जुन आश्चर्यचकित हो गये हैं, मन स्थिर नहीं है और कुछ समझ में नहीं आ रहा है। वे भगवान को ऐसे [आश्चर्यचकित होकर] देख रहे हैं जैसे पत्थर की मूर्ति हों। उनका जैसा रूप बना हुआ है, वर्णन करते नहीं बनता।

मनहिं बिचारत का बिभु ब्यापक। उपदेसत अवतरि सत थापक॥
पृथक पाप पुन्यहुँ ते जोई। नर तन धरि आवे कस सोई॥

वे मन ही मन विचार कर रहे हैं कि क्या सत्य (धर्म) की स्थापना करने वाला सर्वव्यापक निर्गुण निराकार भगवान ही प्रकट होकर मुझसे बोल रहा है? किन्तु जो पाप-पुण्य से परे है, वह मनुष्य शरीर धारण करके कैसे आयेगा?

बिनु कारण कारज नहिं होऊ। जस रज बिज बिनु जनम न कोऊ॥

क्योंकि कारण के बिना तो कोई कार्य होता ही नहीं जैसे कोई [शिशु] वीर्य और रज के अभाव में जन्म नहीं ले सकता।

सोरठा— अर्जुन उर गति जान बिहँसि बदत सर्बज्ञ प्रभु।
क्यों अस सोचु सुजान जेहि बिधि आयउँ सुनहु सो॥ ९॥

महात्मा अर्जुन के हृदय की बात जानकर सर्वान्तर्यामी भगवान विहँसते हुए बोले- हे बुद्धिमान्! तुम ऐसा क्यों सोच रहे हो? जिस प्रकार मैं अवतरित हुआ हूँ, उसे सुनो-

छंद— सच मोहिं अज अब्यय पुरातन ब्रह्म ब्यापक जानहू।
मोहिं सर्ब ईस्वर सर्ब आश्रय सर्ब सर्गहु मानहू॥
संकल्प सों निज प्रकृति बस करि प्रगट होवउँ जगत महँ।
पर जान सो मोहिं जेहि जनावउँ जानि सो लख जहँहिं तहँ॥

हे पार्थ! यथार्थ में मुझे अजन्मा, अव्यय, पुरातन एवं व्यापक ब्रह्म जानो। इतना ही नहीं, मुझे चींटी से ब्रह्मा

तक सम्पूर्ण प्राणियों एवं भूत समुदायों का ईश्वर, सबका वासस्थान तथा समस्त सृष्टिरूप भी मान लो। मैं संकल्पशक्ति से अपनी [सात्त्विक] प्रकृति को वश में करके जगत में अवतरित होता हूँ, परन्तु मुझे वही जान पाता है, जिसे मैं जनाता हूँ और जानने के पश्चात् वह सर्वत्र मुझे ही देखता रहता है।

मैं होत जब जब ह्रास धर्म अधर्म बृद्धिहिं जानऊँ।
निज महत माया गहि सहज अस रूप रचि जग आनऊँ॥
रक्षउँ भगत सुर साधु सज्जन दलन करि सब दुष्टहू।
पुनि होउँ अंतर्ध्यान करि निज धर्म अति परिपुष्टहू॥

मैं जब-जब धर्म का नाश और अधर्म की वृद्धि होते हुए देखता हूँ तब-तब अपनी मूल प्रकृति को सहज ही अधीन कर ऐसे [दिव्य] रूप की रचना करके जगत में प्रकट होता हूँ तथा समस्त असुरों का वध कर सन्तों, भक्तों एवं धर्मात्माओं की रक्षा करता हूँ, तत्पश्चात् सनातन धर्म की अच्छीप्रकार से स्थापना कर अन्तर्ध्यान हो जाता हूँ।

जो जान मरम सुजान अस बस रूप मेरो ध्यावई।
अरु कर्म जन्महिं दिब्य सच महँ देखि मम गुन गावई॥
पुनि देह तजि मन गेह तजि सब नेह तजि हरषावतो।
सो धीर पावत परम पद यहि जगत नहिं पुनि आवतो॥

जो बुद्धिमान पुरुष इस रहस्य को जान लेता है वह एकमात्र मेरे स्वरूप का ही स्मरण करता रहता है। इतना ही नहीं, मेरे दिव्य जन्मों एवं कर्मों को यथार्थ में समझकर मेरे नाम एवं गुणों का कीर्तन करने लगता है। तत्पश्चात् वह भक्त शरीर, गृह, स्नेह और मन का त्याग करके अति हर्षित होता है तथा वह धीर पुरुष परम पद प्राप्त कर इस जगत में पुनः नहीं लौटता।

दोहा— जनम करम कर मरम निज तोहिं दियों समुझाय।
यासों तुम्ह भय सोक तजि युद्ध करउ हरषाय॥ १०॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने जन्म-कर्म का रहस्य समझाकर बता दिया है, अतः तुम संशय, शोक और भय आदि का परित्याग कर मेरे कहे अनुसार प्रसन्नता के साथ युद्ध करो।

चौपाई— मुनिगन बिनवहिं सुनि अस बचना। जुग जुग प्रगटि करत बहु रचना॥
नमत प्रभुहिं सिध सुर गुन गावहिं। संजय धनि धनि कहि सिर नावहिं॥

भगवान के ऐसे वचन को सुनकर कि 'वे युग-युगान्तरों में प्रकट होकर अनेक प्रकार से लीला करते हैं,' मुनिजन नमस्कार करने लगे। समस्त सिद्ध, महर्षि एवं देवगण भी भगवान को नमस्कार कर उनका गुणगान करने लगे और सञ्जय भी 'धन्य हो प्रभु! धन्य हो प्रभु'- कहकर शीश झुकाने लगे।

ब्यास मुनिहुँ उत ठिठुकत देखत। कर जोरें नहिं लेखनि लेखत॥
सुनि अर्जुनहु नमत गहि चरना। त्राहि त्राहि भक्तन्ह दुखहरना॥

उधर महर्षि व्यास के हाथ से भी लेखनी छूट गयी। वे हाथ जोड़े हुए स्तब्ध होकर देखने लगे तथा महात्मा अर्जुन भी ऐसा सुनकर भगवान के चरणों में प्रणाम करते हुए प्रार्थना करने लगे कि हे भक्तों के दुःख का हरण करने वाले! रक्षा करें! रक्षा करें!! रक्षा करें!!!

कृपा करहु प्रभु परम कृपाला। अब सहि जाय न बिपति बिसाला॥
सरन गहे की लाज बचावहु। बचन सुधा बहु बिधि बरसावहु॥

हे कृपा के धाम प्रभु! कृपा करें! अब यह अपार विपत्ति असहनीय हो गयी है। हे पतितपावन! आप शरणागत की लाज बचावें और अपनी अमृतमयी वाणी की भलीभाँति वर्षा करते रहें।

महाराज मन सुख न समावे। ध्यान समाधि सबहिं बिसरावे॥
अस सुनि भीष्म धुनत उत माथा। काहि दियों दुर्योधन साथा॥

इधर महाराज के मन में भी यह दिव्य आनन्द समा नहीं रहा है और इस दिव्य छवि को देखकर उसने सम्पूर्ण

ध्यान-समाधि आदि को भुला दिया है। उधर पितामह भीष्म ऐसा सुनकर बारम्बार माथा पीटने लगे कि मैंने दुर्योधन का साथ क्यों दिया!

दोहा— कौन करावत दैव अस जो मोसों बलवान।
जेहि कारन मम बुद्धि बल अरु खोयो सब ज्ञान॥ ११॥

ऐसा कौन-सा दैव है जो मुझसे भी बलवान है तथा मेरे द्वारा यह सब करा रहा है, जिसके कारण मेरा सम्पूर्ण बुद्धि, बल और ज्ञान नष्ट हो गया है।

चौपाई— हरि बिपक्ष महँ रन थल आयों। करि करनी अस असुर सों भायों॥
माँ गंगे कहु काह करउँ अब। महि पर हरि अवतार लये जब॥

अरे! मैं तो भगवान के विपक्ष में ही युद्धभूमि में आ गया हूँ। अहो! ऐसा कर्म करके असुरों के समान हो गया हूँ। हे माँ गंगे! जब भगवान ने इस धरा पर अवतार ले लिया है तो तुम्हीं बताओ कि अब मैं क्या करूँ?

बूझउँ सच तू कुपित पिता सन। यासों मो सन बद न छुभित मन॥
यदि पन तजउँ तो सुत न कहावउँ। पुन्य जाइ सब कीर्ति नसावउँ॥

ऐसा मैं सच ही जान रहा हूँ कि तुम पिताजी से कुपित होने के कारण मुझसे भी मन ही मन क्षुब्ध हो, इसलिए नहीं बोल रही हो। यदि मैं प्रतिज्ञा का त्याग करता हूँ तो पुत्र नहीं कहलाता और पुण्य नाश के साथ-साथ सम्पूर्ण कीर्ति का भी नाश करने वाला हो जाता हूँ।

कै तन मन हरि सरने जावउँ। कै सांतनु सुत मैं कहलावउँ॥
दुबिध मनोगति थाह न पावहिं। बिधि पर ब्यर्थहि दोष लगावहिं॥

या तो मैं तन, मन, वचन के साथ भगवान की शरण में चला जाऊँ या शान्तनु का पुत्र ही कहलाऊँ [और हस्तिनापुर का रक्षक बना रहूँ]। इस प्रकार उनकी मन:स्थिति दुविधाग्रस्त है, वे थाह नहीं पा रहे हैं तथा विधाता पर व्यर्थ ही दोष लगा रहे हैं।

खेद खिन्न मन ही मन खीझहिं। तन अति सिथिल न कछु तिन्ह सूझहिं॥

वे मन ही मन खेद करते हुए झुँझला रहे हैं, उन्हें कुछ भी नहीं सूझ रहा है और शरीर शिथिल होता जा रहा है।

सोरठा— बिहँसत बहु मन माहिं सबके मन गति जानि प्रभु।
लख दुर्योधन पाहिं निज भृकुटिहिं बहु तानिकें॥ १२॥

भगवान सबके मन की बात जानकर मन ही मन हँस रहे हैं तथा अब दुर्योधन की ओर भृकुटि तरेर कर देख रहे हैं।

छंद— हौं ब्रह्म अर्जुन सगुन निर्गुन भक्त मुनि मन तोषणं।
महराज पुनि पुनि चरन बंदत सुनि यो प्रभु मुख घोषणं॥
कह कृष्ण माधव स्याम सुंदर नाम सब तव पोषणं।
करु कृपा करुणा सिंधु हरि मम पाप तापन्ह सोषणं॥

हे महाबाहो! भक्तों एवं मुनियों के मन को सन्तुष्ट करने वाला सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म मैं ही हूँ- भगवान के मुख से निकली हुई इस प्रतिज्ञा को सुनकर महाराज बारम्बार भगवान के चरणों की वन्दना करते हुए कह रहा है कि हे कृष्ण! हे माधव! हे श्यामसुन्दर! आपके सारे नाम भक्तों का पालन-पोषण करने वाले हैं। अत: हे करुणा-सागर! मेरे पाप एवं तापों का हरण कर मुझ पर कृपा करें।

जय बंस ससि अवतंस चाणुर कंस असुर निकंदनम्।
जय गोपि बल्लभ संत सुर मुनि सिद्ध मानस रंजनम्॥
जय नंद नंदन गृह चलत बहु बाल केलि दिखावहीं।
जय मातु जसुमति अंक चुम्बति दुग्ध धार पिलावहीं॥

हे चन्द्रवंश में अवतार लेने वाले! हे चाणूर तथा कंस जैसे असुरों का दमन करने वाले! आपकी जय हो! हे

गोपी वल्लभ! हे सन्तों, देवताओं, मुनियों एवं सिद्धों के मन को प्रसन्न करने वाले! आपकी जय हो! हे नन्द के भवन में बाल क्रीड़ा दिखाते हुए विचरण करने वाले नन्दनन्दन! आपकी जय हो! हे माँ यशोदा के गोद में चुम्बन देते हुए उनके [स्तनों से] दुग्ध-धार का पान करने वाले! आपकी जय हो!

जिन्हिं प्रिय सुदामा मित्र बिप्र जो पाँव प्रभु सों पुजावतो।
जे रंक सों राजा बना तिन्हि गुणन्हि पुनि पुनि गावतो॥
बनि द्रौपदी कर चीर जे हरि ताहि लाज बचावतो।
महराज सो अति मूढ़ अस लखि हरि सरन नहिं आवतो॥

जिन्हें मित्र ब्राह्मण सुदामा अत्यन्त प्रिय हैं, जो भगवान से ही अपने चरणों की पूजा कराते हैं, जो उन्हें रंक से राजा बनाकर उनके गुणों का बारम्बार बखान करते हैं, जो प्रभु भगवती द्रौपदी का वस्त्र बनकर उसके शील की रक्षा करने वाले हैं, महाराज के अनुसार वह अति मूर्ख है जो यह सब जानकर भी ऐसे कृपालु भगवान की शरण में नहीं आता।

उतपति प्रलय थिति होत जिनसों सारथी प्रभु बनि गयो।
अरु कहत अर्जुन भाग मत जब जुद्ध सन्मुख ठनि गयो॥
जे चक्र सों सिसुपाल मारे बीर सब देखत रहैं।
महराज तब तब तिन्हहिं बंदत ब्रह्म हौं जब जब कहैं॥

जिन भगवान से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का क्रम चलता रहता है, वे ही भगवान आज सारथि बन गये हैं और कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जब युद्ध ठन ही गया तो रणभूमि से भागो मत। जिन्होंने सभी वीरों के देखते-देखते अपने चक्र से शिशुपाल का मर्दन कर दिया वे ही भगवान जब-जब 'मैं ब्रह्म हूँ' की घोषणा कर रहे हैं, तब-तब महाराज उनकी वन्दना कर रहा है।

जिन्हिं नमत सिव अज सक्ति सँग सुर सिद्ध गुनगन गावहीं।
तिन्हिं गुरु बनाये पार्थ ते तेहिं ब्रह्मज्ञान सुनावहीं॥
ये कृष्ण अज अद्वैत बिभु सुनि सोउ बहुत चकित अहैं।
महराज नहिं बोलत न डोलत निरखि प्रभुहिं थकित रहैं॥

जिन्हें समस्त शक्तियों सहित भगवान शंकर, ब्रह्मा, देवतागण एवं सिद्धगण भी गुणगान करते हुए नमस्कार करते रहते हैं, उन्हीं भगवान नारायण को महात्मा अर्जुन ने सदगुरु बना लिया है और वे (प्रभु) उनको ब्रह्मज्ञान सुना रहे हैं। ये श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, अजन्मा हैं, अद्वैत हैं- ऐसा सुनकर वे मन ही मन अति चकित हो रहे हैं। महाराज का कहना है कि वे न बोल रहे हैं, न डोल रहे हैं अपितु भगवान को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं।

दोहा— कह हरि पार्थ चकित कस चिदानंद मोहि जानु।
कारण कार्य बिना कछुक का कबहूँ नहिं मानु॥१३॥

भगवान ने कहा कि हे पार्थ! मुझे चिदानन्द जानकर तुम ऐसे आश्चर्यचकित क्यों हो रहे हो? क्या तुमने कभी कारण के बिना कार्य होता है- ऐसा नहीं माना है।

चौपाई— यदि अस तो जब सिव प्रगटाये। ब्रह्म सदासिव कहि क्यों धाये॥
अगुन अरूप तेउ कहलावें। सुर नर मुनि सब ऐसोइ गावें॥

यदि ऐसा ही है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता तो फिर भगवान शंकर जब तुम्हारे सामने प्रकट हुए तो तुमने उनकी सगुण ब्रह्म कहकर वंदना क्यों की? जबकि वे भी निर्गुण निराकार ही कहे जाते हैं, देवता, मनुष्य और सन्तजन- सभी ऐसा ही कहते हैं।

तू जो कहइ मंत्रमय सोई। नमः शिवाय माहिं रह गोई॥
द्वादस अक्षर मंत्र पुकारत। हिय सों प्रगटहिं बिष्णु हुँकारत॥

तुम जो कह रहे हो कि वे (भगवान शंकर) मंत्रमय हैं, और 'ॐ नमः शिवाय' इस मंत्र में ही छिपे हुए हैं

जैसे द्वादशाक्षर मंत्र [ॐ नमो भगवते वासुदेवाय] को हृदय से पुकारते ही भगवान विष्णु हुंकार भरते हुए प्रकट हो जाते हैं।

तौ सुनु ऐसोइ भगत हमारे। जे अतिसय उर मोहिं पियारे॥
दुष्टन्ह त्रासत होत अधीरा। मोसों लखि न जाय तिन्ह पीरा॥

तो सुनो! इसी प्रकार मेरे भक्तगण जो मेरे हृदय को अतिशय प्रिय हैं, वे जब दुष्टों के द्वारा दु:ख देने से अत्यधिक विकल हो जाते हैं तो मुझसे उनकी पीड़ा देखी नहीं जाती-

प्रेम बिबस कोउ रूप बिचारउँ। सगुन होइ पुनि असुरन्हि मारउँ॥
ज्योतिरूप निज रखि नभ माहीं। जिमि प्रगटहिं रबि भक्तन्ह पाहीं॥

और उनके प्रेम के वशीभूत होकर मैं [निर्गुण रूप में ही] किसी न किसी रूप का संकल्प करके सगुण रूप में प्रकट होकर पुन: असुरों का संहार करता हूँ। जैसे सूर्यदेव आकाश मण्डल में अपने ज्योतिर्मय स्वरूप को जैसा का तैसा स्थित रखते हुए भी अन्य रूप धारण कर भक्तों के सामने प्रकट हो जाते हैं।

दोहा— जो ऐसो ये करि सकैं तो मोसों किन होय।
होइ अगुन सों सगुन पुनि अगुन होउँ गुन खोय॥ १४॥

जब ये ऐसा कर सकते हैं तो मुझसे ऐसा क्यों नहीं होगा, अत: निर्गुण से सगुण रूप धारण कर [अपना प्रयोजन पूरा करके] पुन: सगुण रूप का परित्याग कर निर्गुण रूप हो जाता हूँ।

चौपाई— मायावी एक दानव ऐसो। गहत रूप चाहे जब जैसो॥
जबहिं ताहि मैं मारन धायों। गगन भयो तब सोइ बनि आयों॥

हे कुरुश्रेष्ठ! एक ऐसा मायावी दानव था जो चाहे जब जैसा भी रूप धारण कर लेता था। जब मैं उसका वध करने चला तो वह आकाश बन गया और जब मैं भी वही रूप धारण कर प्रकट हो गया तो-

पवन रूप भयो पुनि सोइ मेरो। लखि सो अनल होइ जग घेरो॥
मोर रूप सोइ लखि अति काँपेउ। नीर भयो मोहिं सोइ लखि झाँकेउ॥

वह वायु बन गया तो फिर मैं भी वायु बन गया। ऐसा देखकर वह अग्नि रूप होकर जगत को घेरने लगा, किन्तु जब मेरा भी वही [अग्नि] रूप देखा तो काँपने लगा और जल बन गया; किन्तु मुझे भी उसी रूप में पीछा करते हुए देखा-

बसुधा रूप भयो डरपोंको। मम सोइ रूप देखि अति चोंको॥
अब कहँ जा कहि गहि तेहिं मार्‌यों। सुर सिद्धन्ह बिच वाको डार्‌यों॥

तो वह भीरु पृथ्वी रूप हो गया किन्तु मेरा भी वही रूप देखकर अत्यन्त चकित हो गया। तब मैंने कहा- अब कहाँ जाओगे ? ऐसा कहते हुए उसे पकड़कर मार डाला तथा देवताओं और सिद्धों के मध्य डाल दिया।

अतिहिं प्रसन्न भये सुर सारे। मम किरिपा लखि सोक बिसारे॥

मेरी ऐसी कृपा को देखकर समस्त देवता अति प्रसन्न हो गये और अपने शोक-सन्ताप को भूल गये।

दोहा— मंत्र योग बल होय अस तो मुनि जस बपु चाह।
तस निर्गुन बिभु सगुन बनि आइ सकत नहिं काह॥ १५॥

हे परंतप! यदि मंत्र और योग के बल से इच्छित रूप धारण करना सम्भव हो सकता है तो क्या निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्त एवं ऋषियों की चाहना के अनुसार सगुण रूप धारण कर संसार में अवतार नहीं ले सकता!

चौपाई— अब सुनु कान खोलि प्रिय मेरो। सब कहि दूर करउँ भ्रम तेरो॥
यह संसार प्रगट भयो जबसों। बहु अवतार लियों मैं तबसों॥

हे मेरे प्रिय आत्मा! अब अच्छी प्रकार से कान खोलकर सुन लो; मैं सम्पूर्ण रहस्यों को बताकर तुम्हारा सारा संशय दूर कर देता हूँ- जब से यह संसार प्रकट हुआ है, तबसे मैंने बहुत-से अवतार लिये हैं।

यथा राम पृथु मोहिनि बामन। कूर्म मत्स्य दत नर नारायन॥
हयग्रिव सनकादिक धन्वंतरि। ब्यास बराह कपिल यज नरहरि॥

जैसे राम, पृथु, मोहिनी, वामन, कच्छप, मत्स्य, दत्तात्रेय, नर-नारायण, हयग्रीव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, धनवन्तरि, कृष्ण द्वैपायन, वाराह, कपिल, यज्ञ, नरसिंह,

ऋषभ हंस नारद अरु भृगुपति। संकर्षण महँ सब जानत गति॥
बिबिध रूप अस गह्यों गहौंगो। बुद्ध कल्कि बनि कलि बिचरौंगो॥

ऋषभदेव, हंस, नारद, परशुराम तथा बलराम के रूप में तो मेरे स्वरूप को सभी जानते ही हैं। इस प्रकार मैंने अगणित रूप धारण किए हैं और करता रहूँगा तथा कलियुग में बुद्ध और कल्कि रूप में जगत में विचरण करूँगा।

जस एकांत महँ कोउ नर बैठी। मन सों चिदाकास बिच पैठी॥
काहु जगत रचि ताहि निहारे। नाम रूप पर बहुत बिचारे॥

जिस प्रकार कोई पुरुष एकान्त में बैठा-बैठा मन के द्वारा अपने चिदाकाश में प्रवेश कर किसी जगत की रचना करके उसे देखते हुए अनेकानेक नाम और रूपों पर विचार कर रहा हो तो-

तब वामें अरु जग अभियंतर। नाहिं कहे कछुवै कोउ अंतर॥

उस समय उसमें और उसके अन्तर्जगत में कोई कुछ भी अन्तर नहीं कह सकता।

दोहा— तिमि निर्गुन चित चेतऊँ सोइ यह जगत कहाय।
यासों निरगुन सगुन महँ अंतर कह्यो न जाय॥ १६॥

उसी प्रकार मैं निर्गुण रूप से अपने चित्त में जो संकल्प करता हूँ, वही यह जगत कहा जाता है। इसलिए निर्गुण और सगुण में अन्तर नहीं कहा जा सकता।

चौपाई— जिमि सरिता जल ऊपर ऊपर। जम्यो बर्फ चढ़ि जावें तापर॥
जल न दीख दीखे हिम कोरो। जदपि बरफ सच तहँ नहिं थोरो॥

जैसे किसी नदी के ऊपर-ऊपर का जल जमकर बर्फ बन जाय तो लोग उसपर चढ़कर पार चले जाते हैं, क्योंकि वहाँ जल तो दीखता नहीं, एकमात्र बर्फ ही दिखती है, जबकि सच तो यह है कि वहाँ थोड़ी भी बर्फ नहीं होती [इसलिए कि खोज करने पर वहाँ जल के अतिरिक्त बर्फ का अंश भी नहीं मिलेगा]।

तस स्त्रष्टा बिभु ऊपर ऊपर। सृष्टि भयो तर्कत सब जापर॥
चेतत अनल ऊष्णता जैसे। निरगुन ब्रह्म चेत जग वैसे॥

उसी प्रकार स्त्रष्टा (निर्गुण निराकार ब्रह्म) के ऊपर-ऊपर ही सृष्टि प्रकट हो गयी है, जिसपर सभी कुछ न कुछ तर्क देते रहते हैं। जिस प्रकार अग्नि अपनी ऊष्णता का अनुभव करती रहती है, वैसे ही निर्गुण ब्रह्म भी जगत का अनुभव करता रहता है।

जिमि ससि सीत अकास सून्यता। महँ कोउ नाहीं दीख भिन्नता॥
तिमि निरगुन जग भिन्नमभिन्नम्। लखि न होउ तुम्ह खिन्नमखिन्नम्॥

जिस प्रकार चन्द्रमा और शीतलता एवं आकाश और शून्यता में कोई भिन्नता नहीं दिखायी देती, उसी प्रकार हे पार्थ! निर्गुण ब्रह्म और जगत में भिन्नता दिखायी पड़ते हुए भी अभिन्नता है, ऐसा सोचकर तुम दु:ख से दु:खी मत होओ।

प्रगट भयों जग कोउ का जानैं। भक्त भाव बस गर्भ सों मानैं॥
आयों चाहे जैसे आयों। तव हित सब निज रूप बतायों॥

कोई क्या जानता है कि मैं निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर इस रूप में स्वत: प्रकट हुआ हूँ, यह तो मात्र भाव के वशीभूत होने से मुझे भक्त [माँ देवकी के] गर्भ से आया हुआ मानते हैं। मैं आ तो गया; चाहे जिस प्रकार भी आया किन्तु [मुख्य बात यह है कि] तुम्हारे कल्याणार्थ अपने रूपों को तो प्रकाशित कर ही दिया है।

दोहा— मैं नारायण पूर्ब महँ तुव नर रुप निज संग।
आयों तबसों आज लौं यह क्रम भयो न भंग॥ १७॥

प्राचीन काल में जब मैं नारायण रूप में अवतरित हुआ तब तुम्हें श्रेष्ठ नर रूप में अपने साथ रखा और तब से आज तक [तुम्हारे साथ अवतरित होने का] यह क्रम कभी भंग नहीं हुआ है।

चौपाई— मनुज माहिं तव नर अवतारा। एहि छन तू उतार महि भारा॥
दिब्य जनम मायामय मेरो। यद्यपि नित सर्बत्र बसेरो॥

मनुष्यों में तुम्हारा यह नर ऋषि का अवतार है, अत: इस समय तुम पृथ्वी का भार उतारो। यद्यपि मैं नित्य ही सर्वव्यापक हूँ तो भी यह मेरा मायामय जन्म अति दिव्य है।

गो द्विज संत रक्षि सुख मानउँ। कर्म दिब्य उन्हके गुन गानउँ॥
दिब्य जन्म अरु कर्म अनेका। ध्यान देइ सुनु लहइ बिबेका॥

[इस दिव्य रूप से] मैं सन्तों, भक्तों, ब्राह्मणों और गौ-माता की रक्षा करने में सुख का अनुभव करता हूँ तथा उनका गुणगान करना ही मेरा दिव्य कर्म है। मेरे और भी अनेक दिव्य जन्मों और कर्मों को ध्यान देकर सुनो तो तुम्हें विवेक की प्राप्ति हो जायेगी।

जदपि ब्रह्म पर सारथि तेरो। दिब्य जनम यहु रनथल मेरो॥
तोहिं निमित करि इन्ह सब मारउँ। दिब्य करम लीला बिस्तारउँ॥

यद्यपि मैं निर्गुण-निराकार ब्रह्म हूँ परन्तु सगुण-साकार होकर तुम्हारा सारथि बन गया हूँ, इस युद्धभूमि में यह भी मेरा एक दिव्य जन्म है। तुम्हें निमित्त बनाकर इन सबका वध करके अपनी लीला का विस्तार करूँगा, यही मेरा दिव्य कर्म है।

मोहिं मानत रन माहिं निहत्थो। रथी महारथि जोधा जत्थो॥
यासों दिब्य करम कहु कैसो। जग महँ कर्म करउँ सब ऐसो॥

सभी रथी-महारथी एवं योद्धागण इस रणभूमि में यही जानते हैं कि कृष्ण अस्त्र-शस्त्र नहीं उठायेंगे, इस प्रकार वे मुझे निहत्था समझ रहे हैं। अत: तुम्हीं बताओ कि इससे बड़ा दिव्य कर्म क्या होगा कि इस जगत में इसी प्रकार [सबको भुलावे में डालकर] समस्त कर्मों को करता रहता हूँ।

दोहा— द्रुपदसुता गज आर्तता दिब्य जनम मम होय।
चीर चक्र बनि रक्षऊँ करम दिब्य अस मोय॥ १८॥

कल्याणी द्रौपदी और भक्त गजराज के पास जो आर्तता थी, वही मेरा दिव्य जन्म है। एक का वस्त्र बनकर और दूसरे की चक्र द्वारा रक्षा करना- यही मेरा दिव्यकर्म है।

चौपाई— दिब्य जनम निर्धनता ऐसी। मित्र सुदामा के गृह जैसी॥
जो पठाय उनकहँ मम धामा। मोसों पूर्ण करावति कामा॥

मित्र सुदामा के घर में जैसी दरिद्रता थी वह मेरा दिव्य जन्म ही है, जिसने उन्हें मेरे द्वारिकाधाम भेज दिया। उनकी कामना पूर्ण कर देना ही मेरा दिव्य कर्म है।

कोउ उर होउँ ब्रह्म जिज्ञासा। दिब्य जनम मम कर बिस्वासा॥
सदगुरु बनि आवउँ जेहि पासा। पूरन करउँ सकल जिज्ञासा॥

उसी प्रकार किसी के हृदय में मैं ब्रह्म जिज्ञासा बनकर प्रकट हो जाता हूँ- वह भी मेरा दिव्य जन्म है, ऐसा विश्वास करो। जिसके पास सद्गुरु बनकर आ जाता हूँ, उसकी समस्त जिज्ञासाओं को शान्त कर देता हूँ-

यह मम दिब्य करम रणधीरा। जासे लहत भगत प्रभु तीरा॥
कोउ उर महत योग बनि आवउँ। दिब्य जनम अपुनो बतलावउँ॥

हे रणधीर! यह भी मेरा दिव्य कर्म ही है जिससे भक्त भगवान का आश्रय पा लेता है अर्थात् उनका पद प्राप्त कर लेता है। वैसे ही किसी के हृदय में परम योग रूप में प्रकट हो जाता हूँ, इसे भी मैं अपना दिव्य जन्म कहता हूँ।

कोउ उर जप तप यग अरु ध्याना। दिब्य रूप यहि धरउँ सुजाना॥
कोउ उर दान ज्ञान बिज्ञाना। दिब्य जनम ऐसोइ बखाना॥

किसी के हृदय में जप-तप-यज्ञ तो किसी के हृदय में ध्यान के रूप में प्रकट होता हूँ। हे महत् बुद्धिवाले! ये भी मेरे द्वारा धारण किये जाने वाले दिव्य जन्म ही हैं। उसी प्रकार किसी के हृदय में दान, ज्ञान और विज्ञान के रूप में आना ही मेरा दिव्य जन्म कहा गया है।

दोहा— इनि रूपनि महँ प्रगटि करुँ सिद्ध साधना जोय।
रन छन दउँ सतसंग अस दिब्य करम यहु होय॥ १९॥

इन रूपों में प्रकट होकर समस्त साधनाओं को सिद्ध कर देता हूँ। युद्ध प्रारम्भ होने के समय ऐसा सत्संग देना, यह भी मेरा दिव्य कर्म है।

चौपाई— सर्ब योनि महँ मानव देहा। दिब्य जनम मम जासों नेहा॥
सोउ प्रगटत यदि भारतबर्षे। दिब्य जनम लखि मम मन हर्षे॥

समस्त योनियों में इस मानव शरीर को ही मेरा दिव्य जन्म जानो जिससे मेरा अति प्रेम है। वह भी यदि भारतवर्ष में प्रकट होता है तो इस दिव्य जन्म को देखकर मेरा मन हर्ष से भर जाता है।

दिब्य जनम कर्मन्हि मम जानत। संत भगत भावत गुन गानत॥
निरगुन ब्रह्म सगुन बनि आवै। सुनि अर्जुन उर सुख न समावै॥

मेरे दिव्य जन्म और कर्म को सन्तगण एवं भक्तजन जानते हैं, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय लगते हैं, इसलिए वे सदा उनका गुणगान करते रहते हैं। साक्षात् निर्गुण निराकार ब्रह्म ही सगुण रूप में प्रकट हुए हैं- ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन के हृदय में आनन्द नहीं समा रहा है।

आत्मबिभोर न कछु कहि पावत। अपलक लखहिं ब्रह्म अति भावत॥
नमस्कार गुन बंदन भूल्यो। प्रेमानंद मगन मन फूल्यो॥

वे इतने आत्मविभोर हो गये हैं कि कुछ बोल ही नहीं पा रहे हैं। उन्हें भगवान ऐसे प्रिय लग रहे हैं कि वे बस एकटक देखे जा रहे हैं। प्रेम के आनन्द में उनका मन इतना मस्त है कि भगवान को न नमस्कार कर पा रहे हैं और न उनके गुणों का गान ही कर पा रहे हैं।

जिमि जोगी जा दिन निज जान्यो। ता दिन जगत भाव बिसरान्यो॥
मन बुधि चित अहमहु बिसरावत। निज स्वरूप अपलक अनुभावत॥

जैसे योगी जिस दिन अपने स्वरूप को जान लेता है, उसी दिन उसका संसारभाव समाप्त हो जाता है और वह मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार को भुलाकर निरन्तर अपने स्वरूप का अनुभव करता रहता है-

छंद— एहि समय सोइ गति पार्थ की जेहि जगत महँ कबि को भनै।
जो कीन्ह प्रभु दर्सन सो तिन्ह उर परम सुख आनँद गनै॥
महराज कुन्तीसुअन अरु यदुनाथ पद करि बंदना।
छबि उर गहत चित चोर प्रभु अरु भक्त अर्जुन स्यंदना॥

इस समय [साक्षात् ब्रह्मरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का दर्शन करने से] महात्मा अर्जुन के तन-मन हृदय की वैसी ही स्थिति हो गयी है, जिसका वर्णन जगत में कौन ऐसा कवि है जो कर सकता है! हाँ, जिसने ब्रह्म का दर्शन कर लिया है वही उनके हृदय के परम आनन्द को जान सकता है। महाराज तो बस कुन्तीनन्दन अर्जुन और यदुकुलभूषण भगवान श्रीकृष्ण के चरणों की वन्दना करते हुए श्रेष्ठ रथ पर बैठे हुए भक्त और भगवान की चित्त चुराने वाली छवि को हृदय में धारण कर रहा है।

सोरठा— उत सुभ समय बिचारि महिमा गावत ज्ञान तप।
करत महत उपचारि अति कृपालु निज पार्थ कर॥ २०॥

तभी अत्यन्त करुणा के सागर भगवान ने उपयुक्त अवसर देखकर ज्ञानमय तप की महिमा गाते हुए अपने भक्त अर्जुन का श्रेष्ठ उपचार करना प्रारम्भ कर दिया।

चौपाई— भारत कह्यों ज्ञान तप जोई। पहिलेउँ राग क्रोध भय खोई॥
मुक्त भये बहु एहि तप धारी। मम सरणागत सबहिं बिसारी॥

[भगवान ने कहा-] हे भारत! जिस ज्ञानमय तप को मैंने तुमसे बताया है, पूर्व में भी राग, भय और क्रोध से रहित मेरे शरणागत हुए बहुत से ऋषि-महर्षि इस तप को धारण करके सबसे अनासक्त होकर मुक्त हो चुके हैं।

मैं यह देह स्वजन सब मोरे। यासों होत राग चहुँ ओरे॥
यासों भय उपजत पुनि भाई। कोउ तन धन नहिं लेइ छड़ाई॥

'मैं यह शरीर हूँ और ये सब मेरे स्वजन हैं'- इस क्षुद्र भावना से ही सबमें आसक्ति (मोह) हो जाती है। हे प्रिय! पुनः इस मोह से यह भय उत्पन्न होता है कि कोई हमलोगों को मारकर हमारी सम्पत्ति न छीन ले।

कहुँ कोउ कारन तन धन जावे। क्रोध बहुत तबहीं उपजावे॥
पर जो मम प्रिय आतमवादी। कबहुँ न होवें मिथ्यावादी॥

फिर यदि किसी कारण से तन, धन जाने लगे तो उस समय अत्यन्त क्रोध आने लगता है, परन्तु मेरे प्रिय भक्त जो आत्मा को प्रधान मानने वाले होते हैं वे कभी मिथ्या नहीं बोल सकते।

मम प्रसाद उनकै उर माहीं। राग रोष भय सपनेहुँ नाहीं॥
महाराज कह सिद्ध सयाने। प्रभु बच सुनि मम हिय हरसाने॥

मेरी कृपा से उनके हृदय में स्वप्न में भी राग, भय और क्रोध प्रकट हो ही नहीं सकता। महाराज अब सज्जनों और भक्तजनों से कहता है कि भगवान की बात सुनकर मेरा हृदय अत्यधिक हर्षित हो उठा है।

जनु प्रभु कह जब जेहि उर क्रोधा। होय प्रीति भय जाय प्रबोधा॥
सो समुझे मन बस गृह मोरे। प्रभु सों प्रीति न कछु हिय थोरे॥

मानो भगवान कह रहे हैं कि जिसके हृदय में क्रोध, मोह, राग और भय उत्पन्न हो जाय तथा विवेक जाता रहे, तो वह यही जाने कि मेरा मन घर-बार में ही रमा हुआ है, मेरे हृदय में भगवान से थोड़ी भी प्रीति नहीं है।

दोहा— सो सरनागति माँग पुनि प्रभु पद धरना देइ।
ताहि मिले बिनु सिद्धि कोउ सपनेहूँ नहिं लेइ॥ २१॥

फिर वह भगवान के चरणों में धरना देकर शरणागति की याचना करे और उसकी प्राप्ति के बिना स्वप्न में भी किसी सिद्धि को स्वीकार न करे।

चौपाई— कह धृतराष्ट्र मौन क्यों संजय। तोहिं लगत का कछु अबहूँ भय॥
संजय चौंकत हाँ राजन कहि। जनु समाधि महँ गये हुते बहि॥

इधर राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! तुम मौन क्यों हो गये हो? क्या अभी भी तुम्हें कुछ भय लग रहा है? तब सञ्जय चौंककर ऐसे 'हाँ राजन्!' बोले जैसे [प्रभु दर्शन रूप] समाधि में खो गये हों।

मन मति प्रभु दरसन लवलीना। भूलें सब संजय परबीना॥
नृप कह गये कहाँ तुम्ह खोई। संजय कह ऐसो नहिं होई॥

[सच तो यह है कि] महा बुद्धिमान सञ्जय के मन एवं बुद्धि भगवान के दर्शन में लीन हो गये थे जिससे वे सबकुछ भूल गये थे। राजा ने जब कहा कि तुम कहाँ खो गये थे? तब सञ्जय ने कहा- ऐसा नहीं है राजन्!

जितनैं अबलौं भै अवतारा। टारे सकल सदा भुवि भारा॥
सोइ अवतरि अर्जुन रथ हाँकत। करुना कृपा कोउ कस आँकत॥

अब तक जितने भी अवतार हुए हैं, उन सबने सदा ही पृथ्वी का घोर संकट दूर किया है। हे प्रजानाथ! वही प्रभु अवतरित होकर अर्जुन का रथ हाँक रहे हैं, उनकी महती कृपा और करुणा को कोई कैसे आँक सकता है।

अरु सोइ उपदेसत तिन्ह पाहीं। सोक मोह सच उनकेउ जाहीं॥
आज भयो मोहिं आस भरोसो। यामें संसय नाहिं खरोसो॥

और वे ही (करुणामय भगवान) उन्हें उपदेश दे रहे हैं अतः उनका शोक, मोह सच में नष्ट हो जायेगा। मुझे तो आज जो आशा बँधी है, जो विश्वास हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

दोहा— भक्त भले प्रभु पद पकरि पुनि जाये मुख मोड़।
पर जिहिं लैं अपनाय हरि ताहि कबहुँ नहिं छोड़॥ २२ (क)॥

भले ही भगवान की शरण में आकर कोई भक्त [काम, क्रोध, लोभ, मोह के कारण] पुनः भगवान से उदासीन हो जाय, परन्तु प्रभु ने जिसे एक बार अपना बना लिया है, उसे किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ते।

सोरठा— प्रभु सब दये बताय अब लौं भये अवतार जे।
ते सब मेरो भाय यामें संसय नाहिं कछु॥२२(ख)॥

अब तक जो भी अवतार हुए हैं, भगवान ने उन सबको अर्जुन से बता दिया है कि हे प्रिय! वे सब अवतार मेरे ही हैं, इस बात में कुछ भी संशय नहीं है।

चौपाई— संजय नाहिं मोहिं बिस्वासा। यामें दियो जाय कछु झाँसा॥
कछु ऋषि कहत बिष्नु अवतारा। जे जग हित चह परम उदारा॥

[तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा-] हे सञ्जय! मुझे इसमें विश्वास नहीं हो रहा है अवश्य ही कुछ छल किया जा रहा है। हाँ, यह सत्य है कि कुछ ऋषियों ने कहा है कि ये उस विष्णु के अवतार हैं, जो परम उदार तथा जगत का कल्याण ही चाहते हैं।

पर मोसों कोउ ऋषि न बतायो। कै बिभु अगुन सगुन बनि आयो॥
नहिं नृप नहिं अस सब मुनि गावत। प्रभु चाहे बिनु नाहिं बतावत॥

परन्तु किसी भी ऋषि ने मुझसे ऐसा नहीं कहा कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही कृष्ण बनकर सगुण रूप में अवतरित हुआ है। [तब सञ्जय ने कहा-] नहीं राजन्! ऐसा नहीं है। समस्त ऋषिगण तो ऐसा ही कहते हैं किन्तु भगवान की इच्छा न होने से वे इस रहस्य को सबके सामने नहीं खोलते।

नृप सुनि भई धकधकी ऐसी। सन्मुख काल खड़ो जब जैसी॥
उत प्रभु कह सुनु भ्राता मेरे। भानु भये मम कब प्रिय चेरे॥

यह सुनते ही राजा के हृदय की धड़कन ऐसी बढ़ गयी मानो सामने काल आकर खड़ा हो गया हो। उधर अर्जुन से भगवान ने कहा कि हे पार्थ! अब यह सुनो कि सूर्यदेव मेरे प्रिय शिष्य कब हुए।

सृष्टी रूप भयों जब भाई। जगत आतमा इन्हहिं बनाई॥
पूछ्यों इनसों कहँ सों आये। काह लखावहु काह लखाये॥

हे प्रिय! जब मैं सृष्टि रूप में प्रकट हुआ, तब मैंने उस सृष्टि की आत्मा इन्हीं को बनाया और इनसे पूछा कि आप कहाँ से आये हैं, क्या देख रहे हैं और क्या दिखा रहे हैं?

मौन भये मम चरननि आई। कहत मोहिं प्रभु देहु जनाई॥
सच मैं कौन कहाँ सों आयों। कौन बनायो कहँ मैं धायों॥

तब वे मौन होकर मेरे शरणागत हो गये और कहा- हे प्रभो! आप स्वयं ही मुझे यह बता दें कि यथार्थ में मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किसने मेरा निर्माण किया है और मैं कहाँ जा रहा हूँ?

दोहा— परम ज्ञान यहि दीन्ह मैं लिये अतिहिं हरषाय।
जगत पूज्य तबसों भये धरि यतिरूप फिराय॥ २३॥

उस समय मैंने उनको यही परमज्ञान दिया जिसे उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर ग्रहण किया और तभी से वे संन्यासी की तरह [सभी को प्रकाशित करते हुए] जगतपूज्य होकर भ्रमण कर रहे हैं।

चौपाई— बहुरि हरषि हरि कह सुनु पारथ। तोसों कहउँ गुप्त परमारथ॥
जबहिं गरभ महँ जीव घनेरे। रचउँ तबहिं होवहिं मम चेरे॥

भगवान पुनः हर्षित होकर कह रहे हैं कि हे पार्थ! तुमसे मैं एक गुप्त पारमार्थिक बात कह रहा हूँ- जब मैं गर्भ में जीवों की रचना करता हूँ तो सभी उसी समय मेरे शिष्य हो जाते हैं।

प्रथमहिं देउँ यहइ बर ज्ञाना। तबहिं रचउँ सब अंगनि प्राना॥
तेरोहु तन सृष्टी उपजायों। तब प्रथमहिं यहि ज्ञान गहायों॥

सर्वप्रथम जीव की रचना कर मैं उसे यही परमज्ञान देता हूँ, उसके बाद शरीर के अन्य अंग-उपांगों के साथ प्राण की रचना करता हूँ। तुम्हारे शरीररूपी सृष्टि की रचना की तो तुम्हें भी सर्वप्रथम इसी ज्ञान को दिया।

अब तेहि सुरति करावउँ ताता। सुनत धनंजय पुलकित गाता॥
सब उर महत ज्ञान निधि पारथ। गुरु बिनु जान न कोउ यथारथ॥

हे प्रिय! मैं इस समय उसी पुरातन योग की याद दिला रहा हूँ, ऐसा सुनते ही महात्मा अर्जुन के शरीर में रोमांच होने लगा। हे पार्थ! सबके हृदय में यह महत् ज्ञान का भण्डार सदा से ही है, किन्तु सच बात तो यह है कि सद्गुरु के बिना इसे कोई नहीं जान सकता।

चित चेतन भयो पार्थ नमन करि। हरि माधुरि छबि स्वयं हृदय धरि॥
प्रभु सबकै उर कीन्ह बसेरो। पुनि तुव मन क्यों मेरो तेरो॥

[उसके उपरान्त] भक्त अर्जुन का चित्त चैतन्यरूप हो गया और उन्होंने भगवान के चरणों में नमस्कार करके भगवान की रूप माधुरी को हृदय में धारण कर कहा- हे प्रभो! आप सबके हृदय में वास करते हैं, फिर आपके मन में यह मेरा-तेरा क्यों है?

दोहा— काहु परम पद देहु प्रभु काहु नरक अति घोर।
काहुहिं स्वर्गहिं देहु क्यों तुम्ह सन करउँ निहोर॥ २४॥

हे प्रभो! 'किसी को तो आप परमपद देते हैं, किसी को अत्यन्त घोर नरक में भेज देते हैं तथा किसी को स्वर्ग दे देते हैं' ऐसा क्यों? इस रहस्य को जानने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

चौपाई— कह हरि करउँ न अस ब्यवहारो। समदरसी मैं सब मोहिं प्यारो॥
पर जो भजत जाहि बिधि मोहीं। मैं पुनि भजउँ ताहि बिधि ओही॥

हे पार्थ! वस्तुतः मैं ऐसा व्यवहार नहीं करता हूँ क्योंकि मैं सबको एक समान देखता हूँ। मुझे सभी एक समान प्रिय हैं परन्तु जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ।

मोहिं भजि मोसों जो कछु चाहत। दै तेहि सोइ पन स्वयं निबाहत॥
यहि समदृष्टि ब्रह्म कर आही। सास्त्र संत परिभाषत जाही॥

मेरा भक्त मुझे भजकर मुझसे जो कुछ भी चाहता है मैं उसे वही देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता हूँ। यही मुझ ब्रह्म की समदृष्टि है जिसकी शास्त्र एवं सन्त ऐसी ही परिभाषा देते हैं।

कोउ चाहत भजि सुत धन प्राना। भावत तेहि न ज्ञान बिज्ञाना॥
कोउ चाहत पद ब्रह्म महत को। जन धन दउँ सो चित न धरत को॥

मेरा भजन करके यदि कोई पुत्र, धन और प्राणों की सुरक्षा चाहता है तो उसे ज्ञान-विज्ञान अच्छा नहीं लगता। उसी प्रकार जो श्रेष्ठ ब्रह्मपद चाहता है तो उसे जन, धन आदि देने पर उसके हृदय को अच्छा नहीं लगता।

छुधित तृषित जस भोजन पानी। माँगत देत बस्त्र कोउ दानी॥
पुनि कहु काह कहहिं सब लोगा। यह दानी कस जान न जोगा॥

जिस प्रकार कोई भूखा-प्यासा, अन्न-जल की याचना कर रहा है और कोई दानदाता उसे वस्त्र का दान कर रहा है तो बताओ कि उसे लोग क्या कहेंगे, यही कि यह कैसा दानदाता है जो समय, [देश, काल, पात्र की आवश्यकता] को नहीं जानता?

दोहा— देन चह्यों दुर्योधनहिं यहि बर ज्ञान सुजान।
पर न लियो जानो चहत सो बस स्वर्ग महान॥ २५ (क)॥

हे बुद्धिमान! मैं तो दुर्योधन को भी यह श्रेष्ठ ज्ञान देना चाहता था किन्तु उसने नहीं लिया, वह तो एकमात्र [युद्ध के माध्यम से] श्रेष्ठ स्वर्ग ही जाना चाहता है।

सब भट आये स्वर्ग हित तुम्हसों चह संग्राम।
तुम्ह बन जावन कहत पर उन कहँ निज निज धाम॥ २५ (ख)॥

यहाँ रणभूमि में जगत के सारे वीर स्वर्ग की कामना से ही आये हुए हैं तथा तुमसे संग्राम चाहते हैं; परन्तु तुम स्वयं वन जाना चाहते हो और उन सबको अपने-अपने घर जाने को कह रहे हो।

चौपाई— काह कहहिं अरु सुनहिं परस्पर। तुम्हहिं बतावहु श्रेष्ठ धनुर्धर॥
जौं रन होय न लौटत जावें। कर तारी दै हँसैं हँसावें॥

अब हे महाधनुर्धर! तुम्हीं बताओ कि वे परस्पर क्या कहेंगे और क्या सुनेंगे, यदि युद्ध नहीं होता है तो वे

लौटते समय हाथों से ताली पीट-पीटकर तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे।

कहहिं पार्थ डरि गयो बन भागी। स्वर्ग गयो हम अस हतभागी॥
अवसर आय न अब कहुँ ऐसो। भग्यो दुका दुम कूकर जैसो॥

और कहेंगे- अर्जुन तो डरकर वन में भाग गया और हम लोगों का ऐसा दुर्भाग्य है कि हमारे हाथ से स्वर्ग ही निकल गया। अब कभी ऐसा अवसर नहीं आयेगा क्योंकि वह तो कुत्ते के समान दुम दबाकर भाग गया।

जो मोहिं भजे जाहि बिधि भाई। ताहि भजउँ मैं तस मुदिताई॥
श्रद्धावान भजत मोहिं जोई। कबहुँ न कबहुँ मिलन मम होई॥

हे प्रिय! [और भी सुनो] जो मुझे जैसे भजता है मैं भी प्रसन्नतापूर्वक उसे वैसे ही भजता हूँ, किन्तु जो मुझे अत्यन्त श्रद्धा के साथ भजता है वह कभी न कभी मुझे प्राप्त कर ही लेता है।

तुम्ह जब भज्यो सखा के जैसो। महूँ तुम्हहिं सन कीन्हों तैसो॥
जब गुरु मान्यो तुम्ह बिकलाई। सिष्य मानि लियों गले लगाई॥

जब तुमने मित्र समझकर व्यवहार किया तो मैंने भी यथार्थ में तुम्हारे साथ वैसा ही व्यवहार किया। परन्तु जब तुमने व्याकुल होकर सद्गुरु बना लिया तो मैंने भी शिष्य मानकर तुम्हें हृदय से लगा लिया।

गुरुजन सन्मुख मोहिं गुरु कीन्हे। आज दक्षिणा अति प्रिय दीन्हे॥
अब निज भगत मोहिं भगवाना। मानहु देउँ तुम्हहिं निर्बाना॥

आज तुमने अपने गुरुजनों के सामने सद्गुरु बनाकर मुझे अत्यन्त प्रिय विशिष्ट दक्षिणा दे दी है। अब स्वयं को भक्त एवं मुझे भगवान मान लो, मैं तुम्हें निर्वाण पद दे दूँगा।

दोहा— जदपि अहउँ जग रूप मैं पर जो मानत तत्व।
वाके सन्मुख सोइ बनि राखउँ दूरहिं सत्व॥ २६ (क)॥

यद्यपि मैं ही जगत रूप भी हूँ परन्तु जो मुझे तत्त्व (भौतिक पदार्थ) मान लेता है, उसके सामने वही तत्त्व बनकर सत्त्व (यथार्थ रूप) को छिपा लेता हूँ।

सगुन ब्रह्म सच याहि जग समुझे जो नर कोय।
सोइ बनउँ मैं ताहि पहिं नित दरसे तब मोय॥ २६ (ख)॥

यदि कोई भी पुरुष इस जगत को सगुण ब्रह्म समझता है तो उसके लिए यथार्थ में मैं वही बन जाता हूँ। तब वह नित्य ही मुझ ब्रह्म का दर्शन करने लगता है।

चौपाई— त्रिजगजोनि अरु सुर नर माहीं। तुम्ह देखहु यहि बात कहाहीं॥
जो जेहि भजे जाहि बिधि भाई। ताहि भजे सोउ तेहि बिधि धाई॥

[हे प्रिय!] तुम देखते ही हो कि त्रियग्योनियों, देवताओं तथा मनुष्यों में यह बात विख्यात है कि जो जिसे जिस विधि से भजता है, वह भी उसे प्रेमपूर्वक वैसा ही भजता है।

गुरु पितु मातु न इन्ह महँ अहहीं। कुटिलहु पुत्र सिष्य भल चहहीं॥
पुनि कोउ कहे अपर जिव जैसो। ब्रह्म जो होय ब्रह्म सो कैसो॥

किन्तु सद्गुरु और माता-पिता इनके अन्तर्गत नहीं आयेंगे क्योंकि वे दुष्ट पुत्र और शिष्य का भी भला ही चाहते हैं। फिर कोई कहता है कि यदि ब्रह्म का स्वभाव भी अन्य जीवों के समान ही है तो वह ब्रह्म कैसे है?

तात न ऐसो कहनो मेरो। एहि महँ राग द्वेष कर फेरो॥
मैं नहिं कपट द्वेष कछु करऊँ। उन्ह सम कुटिल नीति नहिं धरऊँ॥

हे तात! मेरा ऐसा कहना नहीं है, इसमें राग-द्वेष ही कारण है। मैं उनके समान कुटिल नीति का आश्रय लेकर कपट-द्वेष आदि कुछ भी नहीं करता-

अपितु भगत जो चह सो देऊँ। ताकर प्रतिफल कछु नहिं लेऊँ॥
पुनि आस्चर्य एक सुनु भाषउँ। तोसों गुप्त न कछुवै राखउँ॥

अपितु भक्त जो चाहता है उसे मैं वही देता हूँ और उसके बदले कुछ भी नहीं लेता। हे परम वीर! पुनः एक

आश्चर्य की बात सुनो; क्योंकि मैं तुमसे कुछ भी गुप्त नहीं रखूँगा।

दोहा— सबकै उर महँ बसउँ मैं यह जानत सब कोय।
किंतु मोहिं बिरले भजें हेतु बतावउँ तोय॥ २७ (क)॥

[वह यह कि] मैं सभी के हृदय में वास करता हूँ- ऐसा सभी जानते हैं फिर भी कोई-कोई ही मुझे भजते हैं; उसका कारण भी मैं तुझे बता रहा हूँ-

कारन कै सिधि मोरि प्रिय अति बिलम्ब सों होय।
यासों भजहिं ते अन्य सुर सीघ्रहिं प्रगटत जोय॥ २७ (ख)॥

हे तात! उसका कारण है कि मेरी सिद्धि अति बिलम्ब से होती है इसी से वे अन्य देवताओं को भजते हैं जो शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं।

चौपाई— ब्रह्मा सिव इंद्रादिक देवहिं। साधु असाधुहु नितप्रति सेवहिं॥
मंत्र जपत ते सीघ्रहिं आवहिं। दै बरदान परम सुख पावहिं॥

ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि देवताओं की सज्जन-दुर्जन सभी नित्यप्रति आराधना करते हैं, क्योंकि उनके नाम का मंत्र जपते ही वे अति प्रसन्न होकर शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं और वरदान देकर परम आनन्द का अनुभव करते हैं।

जयद्रथ सम अति निंदित कर्मी। परत्रिय हर्ता अधम अधर्मी॥
सोउ जपि लह सिव सों बरदाना। देत ताहि बर मन न मलाना॥

[तुम तो जानते ही हो कि] जयद्रथ के जैसा अत्यन्त निन्दित कर्म करने वाला, पराये की स्त्री का अपहरण करने वाला (पापाचारी), अधम-अधर्मी भी मंत्र जप के द्वारा शिवजी से वरदान माँग लिया तो उसे भी वरदान देने में शंकर जी के मन में थोड़ा भी संकोच नहीं हुआ।

ब्रह्मदेव सिव सम अवतरहीं। निज बरदान असुर मुद करहीं॥
रुधिर मांस हुत असुर निकायो। अग्निदेव सों बहु बर पायो॥

भगवान शिव के समान ही ब्रह्माजी भी प्रकट होकर अपने वरदान से असुरों को भी प्रसन्न करते रहते हैं। वैसे ही रक्त और मांस की आहुति देकर असुरों ने अग्निदेव से भी अनेक वर प्राप्त किये हैं।

तहिं नर हबि दै स्वर्ग सिधारें। उन्हकी महिमा बहुत उचारें॥
सबहि सकामी अस सुर पूजत। बेगि पाइ फल स्वर्गहिं कूजत॥

वहीं सज्जन पुरुष (सकामी) देवताओं को सात्त्विक आहुति देकर स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं और उनकी महिमा का गायन भलीभाँति करते रहते हैं। इसी प्रकार सभी सकामी पुरुष देवताओं को पूजकर शीघ्र ही पुण्य के फल स्वरूप स्वर्ग को प्राप्तकर अति प्रसन्न हो जाते हैं।

श्रुति कह जिन कहँ काम पियारो। नर पसु जैसो सुर पसु सारो॥

श्रुति कहती है कि जिन्हें वासना ही प्रिय है वे मनुष्यों के पालतू पशुओं के समान देवताओं के पशु ही हैं।

दोहा— मनुज लोक इक अवरु गुन जो पालत निज कर्म।
तासों प्रिय फल बेगि लह मम निर्मित यह धर्म॥ २८॥

हे निष्पाप! मनुष्यलोक में एक और विशेषता है कि जो अपने स्वधर्म (वर्णाश्रम) का विधिवत् पालन करता है, वह उसी कर्मानुष्ठान से अभीष्ट मनोरथों को शीघ्र प्राप्त कर लेता है; यह मेरा निर्धारित किया हुआ धर्म है।

चौपाई— जिमि पतिब्रता करति पति सेवा। इतनोइ से प्रसन्न नर देवा॥
दै जौवन पितु पुरू पुजायो। तीनहुँ लोक बिमल जस छायो॥

जैसे पतिव्रता स्त्री एकमात्र पति की ही सेवा करती है, उसकी इतनी ही सेवा से साधुजन तथा समस्त देवता प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही पुरु अपने पिता (ययाति) को अपनी जवानी देकर पूज्य हो गया और तीनों लोकों में उसकी निर्मल कीर्ति छा गयी।

जिमि गहि ब्रह्मचर्य ब्रत पितु हित। भये पितामह जगत मृत्युजित॥
तिमि तुम्ह सुरन्हिं पूजि बर पायो। रहि स्वधर्म रत मम मन भायो॥

जैसे अपने पिता का हित विचारकर पितामह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से इच्छामृत्यु का वरदान पा गये। वैसे ही तुमने भी स्वधर्म का पालन करते हुए देवताओं की उपासना कर अनेक वर प्राप्त किये हैं, इसलिए मेरे हृदय को अत्यन्त प्रिय लग रहे हो।

अस निष्ठा सों गुरुजन पूज्यो। जासे एहि छन तन मन धूज्यो॥
होयो भलो सरन भये अबहीं। जबहीं जग्यो सबेरो तबहीं॥

यही नहीं, तुमने [देवताओं के पूजन के साथ-साथ] गुरुजनों की भी ऐसी लगन से सेवा की है जिससे इस समय [उनके विरुद्ध होकर युद्ध करने पर] तुम्हारे तन-मन आदि काँप रहे हैं। अच्छा हुआ कि तुम अब मेरी शरण में आ गये- चलो जभी जागे तभी सबेरा।

तात यथार्थ स्वजन सब देवा। लह सुख करि सु परस्पर सेवा॥
सम्भु उमा सम माँ पितु राध्यो। दुर्योधन तिन्हि प्रेम सों बाँध्यो॥

हे तात! यथार्थ में सभी स्वजन देवता ही हैं, तभी तो वे परस्पर अच्छीप्रकार सेवा करके सुख का अनुभव करते हैं। दुर्योधन ने अपने माता-पिता की सेवा शिव एवं पार्वती के समान करके उन्हें अपने प्रेमपाश में बाँध लिया है।

दोहा— जासों पितु दये राज बर जननिहु आसिस दीन्ह।
भीष्महिं दै रन प्रमुख पद उनसेउ बहु बर लीन्ह॥ २९॥

जिससे पिता ने वरदान में विशाल राज्य दे दिया और माता ने भी आशीर्वाद दिया। साथ ही पितामह भीष्म को युद्ध का प्रधान सेनापति बनाकर उनसे भी इसने बहुत-से वर प्राप्त कर लिये।

चौपाई— कर्ण करत दुर्योधन पूजा। ताहि न तेहि सम प्रिय कोउ दूजा॥
अंगदेस सो बर महँ पायो। जेहि काजें यम बनि रन आयो॥

कर्ण दुर्योधन की ऐसी पूजा करता है कि उसके लिए दुर्योधन के समान कोई दूसरा पूज्य नहीं है। उसने वरदान स्वरूप उससे अंगदेश का राज्य प्राप्त कर लिया, जिसके कारण वह युद्ध में यमराज बनकर आया हुआ है।

पुत्र करत यदि असुभहु कर्मा। मोह ग्रसित पितु तउ कह धर्मा॥
अस न करै यदि सो पितु भाई। तब सुत होय काल दुखदाई॥

यदि पुत्र अशुभ कर्म करता है तो भी मोह से ग्रसित पिता उसे धर्म ही कहता है। यदि वह पिता ऐसा न करे तो उसका पुत्र अत्यन्त दु:खद काल बन जाता है-

अरु बनि कंस बंदि गृह डारत। बन भेजइ कै बिष दै मारत॥
तेहि सम पितुहु करे कछु निंदित। यदि न सुअन कह ताहि अनिंदित॥

और कंस बनकर कारागार में डाल देता है, वन में भेज देता है अथवा विष देकर मार डालता है। उसी प्रकार यदि पिता भी कुछ दुष्कर्म करे और पुत्र उस कर्म की प्रशंसा न करे-

पुनि सो पुत्र न ताहि सुहावे। कै बध करे कि बनहिं भगावे॥
तस अर्जुन भ्राता सुर ऐसो। लंकापतिहिं बिभीषन जैसो॥

तो फिर वह पुत्र उसे तनिक भी प्रिय नहीं लगता, अत: या तो वह उसका वध कर देता है या वन प्रदेश में भेज देता है। हे अर्जुन! वैसे ही भाई भी परस्पर ऐसे देवता हैं जैसे लंकापति रावण और विभीषण [अर्थात् लंकापति रावण का समर्थन न करने पर विभीषण को देश छोड़ना पड़ा]।

तस हित मीत स्वजन सुर ऐसो। स्वार्थ बिरुद्ध काल बन जैसो॥
उन्ह सम सिद्धि होय नहिं मोरी। स्वार्थ भावना मोहिं न थोरी॥

उसी प्रकार हित-मित्र और स्वजन भी ऐसे देवता हैं कि उनके स्वार्थ विरुद्ध थोड़ा भी कुछ हो जाय तो वे काल बन जाते हैं। उनलोगों के समान मेरी सिद्धि नहीं होती क्योंकि मुझमें तनिक भी स्वार्थ की भावना नहीं है।

यासें चलत कुपथ पथ कोऊ। बरु माँ पितु गुरु हित मित जोऊ॥

इसलिए यदि कोई अनुचित मार्ग पर चल रहा है तो भले ही माता-पिता, गुरु, हित-मित्र आदि में से जो भी हो-

दोहा— तजि आयसु अस स्वजन कर मम अनुसारइ जोय।
सहजहिं मम पथ सो चले बनै न बाधा कोय॥३० (क)॥

ऐसे स्वजनों की आज्ञा का परित्याग कर यदि कोई भक्त मेरी आज्ञा का अनुसरण करता है तो वह सहज ही मेरे मार्ग पर चलता रहता है, उसके रास्ते में कोई भी बाधा नहीं आती।

पर बिरला कोउ करि सके भद्र पुरुष अस काज।
यहि भा तुव सँग लखि स्वजन जस तुम्ह कलपत आज॥३० (ख)॥

किन्तु कोई विरला भद्र (शीलवान) पुरुष ही ऐसा कार्य कर सकता है। तुम्हारे साथ भी ऐसा ही हुआ है इसीलिए तुम स्वजनों को देखकर आज विलाप कर रहे हो।

चौपाई— सच महँ यहइ बिचारि अवस्था। डारेउँ चारिउ बरन व्यवस्था॥
जासे निज स्वधर्म नित पालें। सुद्ध होत चित गुरुहिं सम्हालें॥

[हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ!] सच पूछो तो इसी स्थिति पर विचार कर मैंने चारों वर्णों की व्यवस्था की; जिससे पहले लोग नित्य अपना स्वधर्म पालन करें और चित्त शुद्ध हो जाने पर सद्गुरु के पास जायें।

आदि सृष्टि कोउ बर्ण न जाती। सबरे हुते ब्रह्म की पाँती॥
जब गुन कर्म बिषमता देख्यों। बर्ण ब्यवस्था कहँ पुनि लेख्यों॥

हे प्रिय! सृष्टि के प्रथम चरण में तो कोई वर्ण या जाति थी ही नहीं बल्कि सभी ब्रह्म जाति के ही थे; परन्तु आगे चलकर जब मैंने गुण और कर्म में विषमता देखी तो वर्ण व्यवस्था की ओर ध्यान दिया।

जिन्ह महँ सम दम तप परधाना। तिन्हहिं कियों मैं बिप्र सुजाना॥
सत्व न्यून रज अतिहिं प्रधाना। कर्म सौर्य तेजादिक दाना॥

हे परंतप! जिनमें [सतोगुण प्रधान कर्मों-] शम, दम, तप आदि की प्रधानता थी, उन्हें ब्राह्मण बनाया। जिनमें सतोगुण गौण और रजोगुण की प्रधानता थी, उनके लिए शूरता, तेज और दान आदि कर्म निश्चित करके-

उन्हहिं बनायों क्षत्रिय बीरा। धर्मजुद्ध प्रिय अति रनधीरा॥
जिन्हि तम अल्प रजस बहुताई। कृषि गोपालन मनहिं सुहाई॥

उन्हें क्षत्रिय बना दिया; क्योंकि हे वीर! उन रणधीरों को धर्म युद्ध ही प्रिय था। जिनमें तमोगुण कम और रजोगुण की अधिकता थी और मन को कृषि तथा गो-पालन अच्छा लगता था-

तिन्हहीं बैस्य बनायों भारत। जे आजहुँ तेहि पथ अनुसारत॥
जिन्ह महँ अल्प रजस तम भारो। परिचर्या महँ दक्ष अपारो॥

हे भारत! उन्हें वैश्य बनाया; जो आज भी मेरे द्वारा निर्धारित उसी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। जिनमें रजोगुण कम और तमोगुण की अधिकता थी और सेवा में बहुत ही कुशल थे-

दोहा— संज्ञा तिन्हकी सूद्र करि सबकेउ सेवा दीन्हि।
अपरलोक अस बर्ण नहिं जैसो मैं इहँ कीन्हि॥३१ (क)॥

मैंने उनका नाम शूद्र रखकर अपने वर्ण के साथ-साथ अन्य तीनों वर्णों की सेवा दे दी। [हे पृथापुत्र! यह एक बड़ी बात है कि] यहाँ पर जैसी वर्णव्यवस्था मैंने दी है, वैसी अन्य लोकों में नहीं है।

अपर लोक सब भोग थल यहइ करम थल पार्थ।
सहज करम करि भक्त जहँ पावहिं पद परमार्थ॥३१ (ख)॥

हे पार्थ! अन्य सभी लोक भोगभूमि अर्थात् कर्मों के फल को भोगने के लिए हैं लेकिन यह लोक कर्मभूमि है जहाँ भक्त अपना स्वाभाविक कर्म करते हुए परमार्थ प्राप्त कर लेते हैं।

चौपाई— सुनि धृतराष्ट्र ब्यंग सर मारत। संजय तहँ होवइ महभारत॥
निज करनी फल को नहिं पावत। सुर नर मुनि सबरे अस गावत॥

[भगवान के मुख से सञ्जय के द्वारा] यह सब सुनकर धृतराष्ट्र ने व्यंग्यबाण मारा कि हे सञ्जय! यही तो कारण

है कि आज महाभारत हो रहा है। देवता, मनुष्य तथा सन्त भी ऐसा ही कहते हैं कि अपने किये हुए का फल कौन नहीं पाता!

बर्ण ब्यवस्था कर फल ऐसो। छुभित बीर कर्णहु के जैसो॥
संजय प्रति उत्तर सर मारें। नहिं नरेस ऐसो न उचारें॥

वर्ण व्यवस्था का ही ऐसा कुपरिणाम है कि कर्ण जैसा महावीर दु:खी हो गया है। तब सञ्जय ने भी उनके उत्तर में व्यंग्यबाण चलाया और कहा- नहीं नरेश! ऐसा न कहें!

बर्ण ब्यवस्था कर फल ऐसो। बिदुरहिं तजि नृप भा तुम्ह जैसो॥
प्रभु की देन बरन तजि काहू। तव सिर छत्र सोह पतियाहू॥

वर्ण व्यवस्था का ही यह फल है कि महात्मा विदुर को छोड़कर आप जैसा पुरुष राजा बना हुआ है। भगवान द्वारा बनायी वर्णव्यवस्था की ही यह देन है कि आज अन्य वर्ण [के किसी योग्य पुरुष] को छोड़कर आपके सिर पर यह राजमुकुट शोभा दे रहा है इस पर विश्वास करें।

सुनि नृप बच हरि गयो हँसाई। कहे पार्थ लखु नृपति ढिठाई॥
इनकै मत मैं बर्ण ब्यवस्था। करि पायों फल रन दुरवस्था॥

इधर राजा धृतराष्ट्र के वचनों को सुनकर भगवान को हँसी आ गयी और बोले- हे पार्थ! राजा धृतराष्ट्र की धृष्टता तो देखो! इनके विचार से मैंने जो वर्ण व्यवस्था दी है, इसी का फल मुझे मिल रहा है कि आज युद्ध जैसी दु:खद स्थिति देखने में आ रही है।

दोहा— जद्यपि सब कर्मन्हि कर मोहिं कर्ता तू जानु।
पर अब्यय हौं याहि सों उदासीनहू मानु॥ ३२ (क)॥

यद्यपि सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता तुम मुझे ही जानो लेकिन 'इस पर भी विश्वास करो कि मैं तीनों कालों में अव्यय हूँ'- इसी से सदा उदासीन रहता हूँ।

सोरठा— जग कर्ता हौं साँच समुझु अकर्ता मोहिं तउ।
याहि दृष्टि सों आँच लगे न बरतहु कर्म महँ॥ ३२ (ख)॥

यथार्थ में मैं ही जगत का कर्ता हूँ तो भी तुम मुझे अकर्ता ही समझो, इसी भाव से जगत में कर्म करने पर शोक-सन्ताप नहीं होगा।

चौपाई— यदि सोचहु करि बर्ण ब्यवस्था। क्यों कीन्हें मोरी दुरवस्था॥
जेहि महँ स्वजन हीत मित संगा। करन परै छत्रिन्ह रनरंगा॥

यदि तुम सोचते हो कि ऐसी वर्ण व्यवस्था करके इन्होंने मेरी दुर्दशा क्यों कर दी जिसमें क्षत्रियों को सगे-सम्बन्धियों के साथ भी युद्ध करना पड़ता है-

तौ सुनु बरण ब्यवस्था ब्यष्टी। करति प्रकृति मैं करउँ समष्टी॥
ब्यष्टि बरन हर नर गृह ग्रामा। ब्याप्त सकल जग सुर ग्रह धामा॥

तो सुनो मेरी प्रकृति ने तो व्यष्टि वर्ण व्यवस्था [सृष्टि रचना के समय से] ही कर रखी है,जो प्रत्येक मनुष्य, घर, ग्राम, देवताओं, ग्रहों, लोकों और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। मैं तो [कुछ काल के उपरान्त] समष्टि वर्ण व्यवस्था कर देता हूँ।

ग्रीवा ऊपर सिर लगि भ्राता। ब्राह्मण अहइ सकल नर गाता॥
उदर ग्रिवा लगि क्षत्रिहिं भाई। इन्ह दोउनि महँ मधुर सगाई॥

हे प्रिय सुनो! सभी मनुष्यों के शरीर में गर्दन के ऊपर सिर तक का भाग ब्राह्मण है, पेट से गर्दन तक का भाग क्षत्रिय है; इन दोनों में निकट का सम्बन्ध है।

उदर भाग कटि ऊपर देखे। यहि प्रिय भाग बैस्य सम लेखे॥
कटि सों अधः पाद तल भारत। सूद्र अहइ ऋषि मुनिहु उचारत॥

कमर के ऊपर जो पेट का सम्पूर्ण भाग दिखायी देता है, इसी भाग को वैश्य के समान समझना चाहिए। हे

भारत! कमर से नीचे पाँव के तलवे तक का भाग शूद्र है, ऐसा सभी ऋषि-महर्षि कहते हैं।

दोहा— ब्राह्मण सम सब गृह जनक सुतन्हि छत्रि सम मानु।
बधुहिं बैस्य अरु सूद्र सम निज जननिहिं जिय जानु॥ ३३॥

वैसे ही सभी घरों के पिता को ब्राह्मण के सदृश और पुत्रों को क्षत्रिय के सदृश मानना चाहिए। बहुओं को वैश्य के समान और अपनी माँ को ही हृदय में शूद्र के समान जानना चाहिए।

चौपाई— ग्राम भाग जिहिं सम दम वारे। होयँ अधिक सो बिप्र पुकारे॥
जामें सूर बीर अधिकाई। सोइ टोलो क्षत्रिय कर भाई॥

वैसे ही गाँव के जिस भाग में साधन-भजन करने वालों की अधिकता है, वह भाग ब्राह्मण कहा जाता है। हे प्रिय! जिस भाग में शूर-वीरों की बहुलता हो, वह भाग क्षत्रिय कहलाता है।

कृषि बाणिज गोरक्षन्ह कर्मे। दक्ष अतिहिं पालत निज धर्मे॥
ताहि भाग मैं बैस्य पुकार्यों। अब सुनु नाम सूद्र जो पार्यों॥

उसी प्रकार कृषि, व्यापार और गोरक्षा के कर्म के साथ-साथ निष्ठा पूर्वक अपने धर्म का पालन करने वाले लोग [गाँव के] जिस भाग में विशेष रूप से पाये जाते हैं, उस भाग को मैं वैश्य कहता हूँ। अब जो शूद्र नाम से कहलाता है, उसे सुनो-

अति बिनम्र सुचि सील सुभाऊ। छल प्रपंच रंचहु नहिं काऊ॥
पर मन मति अति चेतन नाहीं। बसत भाग सो सूद्र कहाहीं॥

अत्यधिक विनम्रता, हृदय की पवित्रता, शीलवान स्वभाव तथा किसी के प्रति तनिक भी छल-कपट न होने पर भी मन, बुद्धि का विशेष विवेकवान न होना, ऐसे लोग जिस भाग में वास करते हैं, उसे शूद्र कहा जाता है।

एहि बिधि जनपद देस बिभागा। बर्ण ब्यवस्था महँ अति पागा॥
पंच तत्त्व महँ नभ संन्यासी। जो सम सांत अहइ अबिनासी॥

इसी प्रकार जनपद और सम्पूर्ण देश भी विभागपूर्वक वर्णव्यवस्था में रचे-पचे हैं। वैसे ही पंचतत्त्वों में आकाश ही संन्यासी है जो सम शान्त एवं अविनाशी है।

दोहा— पवन बिप्र छत्रिय अनल बैस्य सलिल सम जान।
धरा सूद्र सम बरण अस प्रकृति रच्यो मतिमान॥ ३४॥

वायु ब्राह्मण है, अग्नि क्षत्रिय है, जल वैश्य है तथा धरा शूद्र के समान है- ऐसा समझो। हे बुद्धिमान्! प्रकृति ने इनकी ऐसी ही वर्ण-व्यवस्था की है।

चौपाई— ग्रह महँ तेज पुंज रबि जोई। बिस्व आतमा साँचोइ सोई॥
परिब्राजक सम ज्ञान बिखेरत। संन्यासी सोइ सब तन हेरत॥

उसी प्रकार जो ग्रहों में तेज के पुंज भगवान सूर्य हैं, वे सच में विश्व की आत्मा हैं जो परिव्राजक की तरह सबको ज्ञान देकर सब पर कृपा करते रहते हैं अत: वे ही संन्यासी हैं।

सुरगुरु सुक्र बिप्र दुइ प्रियवर। कर्ता देवासुरन्ह यज्ञ कर॥
मंगल सोम छात्र सम बीरा। अहहिं बनिक बुध हर सब पीरा॥

हे प्रिय! उसी प्रकार बृहस्पति और शुक्र जो क्रमश: देवताओं और असुरों का यज्ञ करते रहते हैं, ये ही ब्राह्मण हैं। हे महावीर अर्जुन! सोम और मंगल क्षत्रिय के समान हैं तथा बुध वैश्य हैं जो सबका दु:ख दूर करते रहते हैं।

राहु केतु सनि सूद्र कहावें। काहुहि नृप कोउ रंक बनावें॥
सिवहिं यती अज बटुक समाना। बिप्र लखहु बिष्णुहिं भगवाना॥

उसी प्रकार राहु, केतु और शनि शूद्र हैं, जो किसी को राजा और किसी को रंक बनाते रहते हैं। वैसे ही भगवान शंकर को संन्यासी और ब्रह्माजी को ब्रह्मचारी तथा भगवान विष्णु को ब्राह्मण समझो।

इंद्र पवन छत्रिय दोउ बीरा। पावक बरुण बैस्य गम्भीरा॥
अस्विनि देव सूद्र सम भाई। यज्ञभाग पाये कठिनाई॥

देवराज इन्द्र और पवनदेव ये दोनों वीर क्षत्रिय हैं तथा अग्नि और वरुण, जो अत्यन्त गम्भीर हैं वे वैश्य एवं अश्विनी कुमार शूद्र के समान हैं जिन्होंने यज्ञ का भाग अत्यन्त कठिनता से प्राप्त किया है।

दोहा— राजयोग यति ताहि बिधि ज्ञान बिप्र बटु ध्यान।
छत्रिय करमहिं भगति कहँ सच कहुँ सूद्र सुजान॥ ३५॥

उसी प्रकार हे बुद्धिमान! राजयोग संन्यासी, ज्ञानयोग ब्राह्मण, ध्यानयोग ब्रह्मचारी और कर्मयोग क्षत्रिय तथा सच पूछो तो भक्तियोग ही शूद्र है।

चौपाई— अंडज पिंडज उद्भिज स्वेदज। सबरें रहत बरण सों सज धज॥
अन्न दूध फल साकहु कोऊ। ऐसो नाहिं बरन बिनु होऊ॥

इसी प्रकार अण्डज, पिण्डज, उद्भिज और स्वेदज- ये सभी जीव वर्णव्यवस्था से सज-धज कर रहते हैं। अन्न, दूध, फल और शाक-सब्जियों में से भी ऐसा कोई नहीं है, जो बिना वर्ण व्यवस्था का हो।

ब्याप्त यहइ स्वर ब्यंजन ऐसे। दीखत नीर छीर महँ जैसे॥
एहि रन संन्यासी मैं साँचो। परसुराम सम द्विज तुम्ह पाँचों॥

यह वर्णव्यवस्था स्वर और व्यंजन में भी उसी प्रकार व्याप्त है जैसे दूध में जल। इस युद्धभूमि में मैं वासुदेव ही संन्यासी हूँ और तुम पाँचों ही भगवान परशुराम की भाँति ब्राह्मण हो।

द्रोण भीष्म कृप छत्रिय जानहु। कौरव सुअन सूद्र सब मानहु॥
बिप्र इन्हहिं बधि राजहिं करहू। ग्रीष्म न चह बरषा अनुसरहू॥

आचार्य द्रोण, कुलगुरु कृपाचार्य और पितामह भीष्म क्षत्रिय हैं एवं [अन्य] सभी कौरव पुत्रों को मैं शूद्र कहता हूँ। हे ब्राह्मण (अर्जुन)! तुम इन सबका वध करके राज्य करो। अब ग्रीष्म ऋतु नहीं बल्कि सावन की वर्षा ऋतु चाहिए।

अहं नाहिं मोहिं करमनि माहीं। कछु करि कोउ फल चाहउँ नाहीं॥
उदासीन रबि सम तिहुँ काला। जदपि अहउँ जग कर प्रतिपाला॥

सच पूछो तो मुझे कर्म करने में कर्तापन का अभिमान नहीं है और न ही कुछ करके बदले में फल की कामना ही, मैं तो यहाँ तीनों कालों में सूर्यदेव की तरह उदासीन रहता हूँ जबकि सम्पूर्ण जगत का रक्षक हूँ।

दोहा— मैं कर्ता नहिं जान जो तेहि बाँधत नहिं कर्म।
होइ जाय मो सरिस सो यहइ मुमुक्षुन्ह धर्म॥ ३६॥

जो ऐसा समझता है कि सभी कर्मों को करते हुए भी मैं कर्मों का कर्ता नहीं हूँ उसे कर्म बाँध नहीं सकते। वह एकमात्र मेरे स्वभाव वाला हो जाय, यही मुमुक्षुओं का धर्म है।

चौपाई— अस उर जानि जो पूर्ब मुमुक्षू। कर्म किये ते होइ अनिक्षू॥
उन्ह सम तात करहु तुम्ह कर्मा। यहइ मुमुक्षू कर बस धर्मा॥

[अतः हृदय में] ऐसा समझने वाले जो पूर्व के मुमुक्षु हुए हैं, उन्होंने भी कर्मफल से उदासीन होकर ही कर्म किये हैं। तुम भी उन्हीं लोगों की तरह सम्पूर्ण कर्म करो। मुमुक्षु का एकमात्र यही धर्म है।

प्रथम बात तहुँ भयउ मुमुक्षू। अब नहिं रह्यो स्वर्ग के भिक्षू॥
मैं गुरु मिल्यों तोउ बन भावे। समर करन नहिं मनहिं सुहावे॥

प्रथम बात तो यह है कि अब तुम भी मुमुक्षु हो गये हो, स्वर्ग के याचक नहीं रहे; क्योंकि सद्गुरु रूप में मैं ही मिल गया हूँ तो भी तुम्हें वन जाने की इच्छा हो रही है और युद्ध करना अच्छा नहीं लग रहा है।

होय न मो मत जो बिस्वासा। तौ कोउ बात न केहि मत आसा॥
एहि मग चलहु तो कौन मुमुक्षू। जेहि लखि रन सों होउ अनिक्षू॥

[चलो!] यदि मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है तो कोई बात नहीं किन्तु विश्वास किसकी बात पर कर रहे हो? तुम जो इस [युद्ध न करने के] मार्ग पर चल रहे हो तो वह कौन मुमुक्षु है जिसको देखकर तुम युद्ध से भाग रहे हो?

करम करत द्वै नृप जग माहीं। स्वर्गहिं एक अपर हरि चाहीं॥
उनमहँ को आदर्सहु तेरो। जासे हिय हीनता घनेरो॥

[इस जगत में] दो प्रकार के राजा कर्म करने वाले होते हैं- एक स्वर्ग की कामना से कर्म करने वाले और दूसरे भगवान को चाहने वाले। उनमें तुम्हारा आदर्श कौन है, जिससे तुम्हारे हृदय में इतनी हीन भावना आ गयी है!

दोहा— नहिं प्रगटइ आदर्स निज नहिं मम कहे चलाय।
तोरी का गति होय सो पार्थ मोहिं बतलाय॥ ३७॥

अरे! तुम तो न अपने किसी आदर्श को बता रहे हो, और न मेरे कहने के अनुसार तुमसे चला जा रहा है! अत: हे पार्थ! तुम्हारी क्या गति होगी तुम्हीं बताओ?

चौपाई— यह अति महत बात हरि केरी। साधक सिद्धन्हि बहु बिधि घेरी॥
महाराज कह तुम्हउ बिचारउ। कौन मुमुक्षू जेहि पथ धारउ॥

[महाराज की दृष्टि में] भगवान की यह बात अत्यन्त महत्त्व की है क्योंकि इसने मुमुक्षुओं और सिद्धों को सब ओर से अपने घेरे में ले लिया है। महाराज तो कहता है कि आप सब भी विचार करें कि वह मुमुक्षु कौन है जिसके मार्ग पर आप चल रहे हैं-

गुरु पथ सास्त्र बटुक पथ काहू। निज हिय माहिं बिलोकहु याहू॥
मनमुखि नर न मुमुक्षू होवत। अस करि क्यों कंटक पथ बोवत॥

क्या वह गुरु का मार्ग है अथवा किसी शास्त्रीय ब्रह्मचारी का, इसका अपने हृदय में विचार करें। [इतना जान लें कि] कोई भी मनमुखी पुरुष मुमुक्षु नहीं हो सकता। अत: ऐसा करके आप अपने रास्ते में काँटे क्यों बो रहे हैं?

उत अर्जुन पुनि कह कर जोरें। नाथ न अस बिबेक बल मोरें॥
अस आदर्स पुरुष कहँ पावउँ। आज तुम्हारिहिं सरणे आवउँ॥

उधर महात्मा अर्जुन ने पुन: हाथ जोड़कर कहा- हे स्वामी! मेरे पास तो ऐसा विवेक-बल है ही नहीं। मैं ऐसे आदर्श पुरुष को कहाँ पाऊँ? अत: आज मैं आपकी शरण में आया हूँ।

अस सुनि माधव पुनि झकझोरत। निज सिष्यहिं उर ग्रंथिहिं छोरत॥
काह करम अरु काह अकर्मा। धीरन्ह मति मोहित एहि धर्मा॥

ऐसा सुनकर भगवान ने महात्मा अर्जुन को पुन: झकझोरा और अपने शिष्य की हृदय ग्रंथि को खोलना प्रारम्भ कर दिया। [उन्होंने कहा-] हे तात! कर्म क्या है और अकर्म क्या है- इस धर्म को ठीक-ठीक समझने में धीरबुद्धि वाले पुरुष भी मोहित हो जाते हैं [निर्णय नहीं कर पाते]।

यासे पुनि सुनु सब समुझावउँ। असुभ जगत तें तोहिं छुड़ावउँ॥

इसलिए पुन: सुनो, मैं इसे हर तरह से बताऊँगा और इस अशुभ संसार से तुम्हें मुक्त कर दूँगा।

सोरठा— चाहिय जानन कर्म अउर अकर्म बिकर्म गति।
एहिकर समुझन मर्म अतिहि कठिन सो पुनि सुनहु॥ ३८॥

[निश्चय ही मुमुक्षुओं को] कर्म, अकर्म और विकर्म की गति जान लेनी चाहिए। इसका रहस्य समझ पाना अत्यन्त कठिन है, अत: मैं इसे बता रहा हूँ फिर से सुनो।

मासपारायण, तेरहवाँ विश्राम

चौपाई— कह नृप संजय को जानत नहिं। कर्म अकर्म ज्ञान मुर्खहु पहिं॥
सास्त्र करन कह जेहि सो कर्मा। जाहि निषेधत सोइ बिकर्मा॥

इस पर राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! कर्म, अकर्म को कौन नहीं जानता, इसे तो मूर्ख भी अच्छी प्रकार जानते और बताते हैं। अरे! शास्त्र जिसे करने को कहता है वही कर्म है और जिसे करने से मना करता है वही विकर्म है।

कछु नहिं करन अकर्म कहावत। एतनोइ मर्म संत मुनि गावत॥
कह संजय नृप सुनेउ तुम्हारी। अब सुधि लेउँ जो कहहिं मुरारी॥

और कुछ भी न करना ही अकर्म कहा जाता है- सन्त और मुनिजन इसका इतना ही रहस्य बताते हैं। तब सञ्जय ने कहा- हे राजन्! मैंने आपकी सम्पूर्ण बातें [परिभाषा] सुन ली, अब देखता हूँ कि इसपर प्रभु का क्या संदेश रूपी उपदेश आता है।

कह प्रभु यह जाने बिनु पारथ। गयो पितामह कर परमारथ॥
द्रोन कृपहु एहि मगहिं भुलाने। झाड़ झंकड़नि महँ उलझाने॥

इधर भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! इसी [कर्म-अकर्म और विकर्म के स्वरूप] को भलीभाँति जाने बिना पितामह भीष्म का परमार्थ चला गया तथा आचार्य द्रोण एवं कृपाचार्य भी इसी रास्ते में भूलकर कँटीली झाड़ियों में पूरी तरह उलझ गये।

कर्म मार्ग चलि मोह बयारी। तुम्हरि बुद्धि एहि महँ गइ मारी॥
जबकै तुम्ह कर्मन्ह अधिकारी। त्याग योग यति सम न मुढ़ारी॥

हे मूढ़ों के शत्रु! तुम्हारे कर्म मार्ग में भी मोह की ऐसी हवा चली कि तुम्हारी मति भी इस विषय में मारी गयी; जबकि तुम कर्मों के ही अधिकारी हो, निर्विकार संन्यासी की तरह कर्मत्याग के अधिकारी नहीं हो।

होवतु कर्म अकर्महिं देखत। अरु अकर्म महँ कर्महिं लेखत॥
सोइ नर महँ सच परम सुजाना। करनो वारो वाकोइ माना॥

अत: हे परम बुद्धिमान! जो होते हुए कर्म में भी अकर्म को देखता है और अकर्म में भी कर्म का अनुभव करता है वही यथार्थ में मनुष्यों में सबसे बुद्धिमान है और उसी को सच में कर्म करने वाला माना जाता है।

सोइ मम मत योगिन्ह महँ योगी। एहि बिपरीत सकल जग भोगी॥

मेरी दृष्टि में तो वह योगियों में भी श्रेष्ठ योगी है और इसके विपरीत मानने वाला सारा जगत भोगी है।

दोहा— कर्म अकर्म न हुइ सकै अरु अकर्म नहिं कर्म।
पूछत अर्जुन प्रभुहिं पुनि कहहु काह एहि मर्म॥ ३९॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन ने पुन: कहा- कर्म तो अकर्म हो ही नहीं सकता और अकर्म भी कर्म नहीं हो सकता, फिर आप ही बतायें कि इस कर्म का रहस्य क्या है?

चौपाई— तात कहेउँ कर्ता नहिं कोऊ। प्रकृति करति मानत निज तोऊ॥
प्रकृति करति अरु मैं सुध चेतन। यहइ अकर्म कर्म महँ देखन॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं कह चुका हूँ कि कोई भी कर्मों का कर्ता नहीं है अपितु प्रकृति ही करती है, तो भी सभी [अज्ञानी] अपने को ही कर्ता मानते हैं। किन्तु जो समझता है कि [मेरे तन, मन, वचन से] सारे कार्य प्रकृति ही करती है, मैं तो कर्ता हूँ ही नहीं अपितु शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ ऐसा देखना ही कर्म में अकर्म देखना कहलाता है।

तजि कर्मन्हि निज गुनन अकर्मा। जस कै आरोपन यति धर्मा॥
कै अब मैं सब कर्मन्हि त्यागी। भयों अकर्म रूप बैरागी॥

सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर स्वयं को अकर्मरूप मानना अर्थात् जैसा कि स्वयं पर संन्यासी के धर्मों का आरोपण करना कि अब मैं कर्मों से वैराग्य को प्राप्त होकर समस्त कर्मों का त्यागी अर्थात् अकर्म रूप हो गया हूँ-

अहं युक्त अस जोइ अकर्मा। सच अकर्म नहिं कर्म कुधर्मा॥
पुनि अकर्म अस कर्म देखनो। यहि अकर्म महँ कर्म पेखनो॥

इस प्रकार अहंकार से युक्त होकर कर्म का त्याग करना यथार्थ में अकर्म नहीं अपितु कर्म ही है जो धारण करने योग्य नहीं है। पुन: ऐसे अकर्म को कर्म रूप देखना, यही अकर्म में कर्म देखना है

पुरुष कहत मैं सोवन जाऊँ। थक्यों बहुत सुख सांतिहिं पाऊँ॥
सोय न आतम यह तन सोवत। सपुने बासना हँस अरु रोवत॥

जैसा कि तुम देखते ही हो कि कोई पुरुष कहता है कि मैं बहुत थका हुआ हूँ, थोड़ा सोकर सुख-शान्ति प्राप्त कर लूँ, अत: सोने जा रहा हूँ, जबकि आत्मा तो सोता ही नहीं है। हाँ, यह शरीर सोता है और वासनाएँ ही स्वप्न

जगत में [कभी अनुकूलता और प्रतिकूलता में] हँसती और रोती हैं।

तउ सोवउँ जागउँ कह मूढ़ा। योइ अकर्म महँ कर्म निगूढ़ा॥
आत्मा अचल सचल मन देहा। जिमि रथ चलत रथी अचलेहा॥

तो भी मूर्ख पुरुष द्वारा यह समझना कि आत्मा सोता है, जागता है- यही दृष्टि अकर्म में कर्म देखना कहलाती है। जैसा कि रथ गमन करता दीखता है और रथी उस पर बैठा रहता है वैसे ही आत्मा तो सदा-सर्वदा अचल ही है; चलने वाले तो तन और मन आदि हैं।

खेलत खेल बाल बहु डोलैं। तब तरु धरा डोल सब बोलैं॥
बुद्धिमान कह तुम्ह सब डोलहु। धरा न डोलति अस क्यों बोलहु॥

वैसे ही बालक जब चक्राकार खेल खेलते हुए तेजी से घूमते हैं, तब कहते हैं कि धरती और वृक्ष आदि सब घूम रहे हैं। किन्तु बुद्धिमान पुरुष कहता है कि [बेटे] ऐसा क्यों बोल रहे हो, अरे! पृथ्वी तो घूम नहीं रही है बल्कि तुमलोग ही घूम रहे हो।

दोहा— पर जग कर्म अकर्म अरु नहिं बिकर्म सच जान।
बेद सास्त्र पढ़ि जगत बिच आपुहिं कहत सुजान॥ ४०॥

किन्तु जगत के लोग कर्म, अकर्म और विकर्म के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना एकमात्र वेद-शास्त्र पढ़कर ही जगत में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान घोषित करते रहते हैं।

चौपाई— तस तुम्ह कहहु याहि छन भाई। अस रन मोसें कियो न जाई॥
कहहु भये कबसों रन कर्ता। सच तुम्ह तौ आतम दुख हर्ता॥

हे प्रिय! तुम भी इस समय वैसा ही कह रहे हो कि इस प्रकार का युद्ध [जहाँ स्वजनों से ही युद्ध करना है], मुझसे किया नहीं जायेगा। अरे! तुम्हीं बताओ कि तुम युद्ध करने वाले कब से हो गये? यथार्थ तो यह है कि तुम समस्त दु:खों को हरण करने वाले आत्मा हो।

तुम्ह न तात जग जगत न तुम्हरो। पुनि आयो कस तुम्हरो हमरो॥
काहु सुअन अरु काहु पिताहू। नाहिं कबहुँ पुनि कस बिकलाहू॥

अरे! तुम यह जगत नहीं हो और न यह जगत ही तुम्हारा है, फिर तुम्हारे में यह मेरा-तेरा कैसे आ गया? तुम न कभी किसी के पुत्र हो, न किसी के पिता हो, फिर इस प्रकार विकल क्यों हो रहे हो?

काहुहि बंधु हीत मित नाहीं। ये सब निरखु प्रकृति परिछाहीं॥
अस्थी मांस रुधिर तन सारे। करि न सकैं रन नहिं बल धारे॥

तुम किसी के भाई, हित-मित्र नहीं हो, इन सबको प्रकृति की छाया मात्र समझो। अरे! ये सारे शरीर हड्डी, मांस और रुधिर के समूह हैं, ये सब तो युद्ध कर नहीं सकते क्योंकि इनमें शक्ति नहीं है।

मन मति प्रान देह बिनु कैसे। करिहैं जुद्ध बनै नहिं ऐसे॥
जिमि बहु घट महँ नभ इक भाई। तिमि सब तन आतम दिखराई॥

तथा 'मन, बुद्धि, प्राण' बिना शरीर के युद्ध कैसे करेंगे, ऐसा सम्भव ही नहीं है। हे प्रिय! जैसे बहुत-से घड़ों में एक ही आकाश विभक्त हुआ सा दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार समस्त शरीरों में एक ही आत्मा विभक्त सा दिखायी पड़ रहा है।

दोहा— रन न करइ तिहुँ काल सो ऐसो कै कोउ कर्म।
सर्ब लोक महँ साक्षि सम रबि सम ताकर धर्म॥ ४१॥

वह तो तीनों कालों में ऐसा युद्ध या अन्य कोई भी कर्म नहीं कर सकता बल्कि वह तो सम्पूर्ण लोकों में सूर्य के समान साक्षी और सम स्वभाव वाला होकर स्थित है।

चौपाई— पुनि कह जुद्ध करइ को भारत। मूढ़ धरम तुम्ह क्यों अनुसारत॥
माया तुम्हरि बुद्धि भरमाई। यहि अकर्म महँ कर्म दिखाई॥

हे भारत! फिर तुम्हीं बताओ कि यह युद्ध कौन करेगा? तुम मूर्खों के स्वभाव का अनुसरण क्यों कर रहे हो?

माया तुम्हारी बुद्धि को भ्रमित करके अकर्म में कर्म दिखा रही है।

कलि द्वापर बिच अस संयोगा। प्रकृति करावन चहति बियोगा॥
निसा जानि जिमि सोवत सारे। निज पर जगतहिं देत बिसारे॥

यह तो द्वापर और कलियुग- दोनों युगों के मध्य (संधिकाल में) ऐसा संयोग आया है जिसमें प्रकृति परस्पर सबसे वियोग करा देना चाहती है। जैसे रात्रि को आयी जानकर सभी अपने, पराये और इस जगत को भूलकर सो जाते हैं-

जिमि पक्षी ठूँठों तरु त्यागी। जाहिं सघन पल्लव तरु भागी॥
तिमि ये सकल जीव तन देसा। लखि सूनो चह जान सुदेसा॥

जैसे पक्षी [पतझड़ हो जाने पर] ठूँठे पेड़ों को छोड़कर सघन पत्तों वाले वृक्षों पर चले जाते हैं, वैसे ही ये सारे जीव इस समय इस प्रदेश, देश एवं शरीर रूपी वृक्ष को वीरान हुआ देखकर किसी दिव्यलोक एवं शरीर का आश्रय लेना चाहते हैं।

दोहा— कलह ब्यथा तें ब्यथित कोउ गृह तजि बनहिं सिधाय।
धुनि रमाय धरि भूति तन दृग मुँदि ध्यान लगाय॥४२॥

[हे पार्थ! यह सब वैसे ही है जैसे] कोई पुरुष घर के कलह के दु:ख से दु:खी हो घर छोड़कर वन चला गया। वहाँ शरीर में भभूत (राख) लगाकर धूनी तापने लगा और आँख मूँदकर ध्यान भी करने लगा।

चौपाई— जब न कोउ तहँ खा बस सोवै। जागत निज कर्मन्ह दुख रोवै॥
अज्ञ कहत बाबा बड़ जोगी। तहिं इक संत कहे तेहि भोगी॥

जब कोई पास में नहीं रहता तो बस खाता-पीता और सोता तथा जागने पर अपने ही कर्मों से दु:खी होकर रोता रहता था। अज्ञानीजन कहते थे कि यह बाबा बहुत बड़ा योगी है किन्तु वहाँ के एक सन्त उसे बहुत बड़ा भोगी कहते थे।

सब उर हुतो ये परम अकर्मा। संत कहैं यह कर सब कर्मा॥
बिबस होइ त्यागेउ यह कर्मा। खुलै कछुक दिन महँ सब मर्मा॥

सबके मन में था कि ये परम अकर्ता हैं, किन्तु सन्त कहते थे कि यह सब कुछ करता है तथा इसने विवश होकर कर्म का त्याग किया है। [आप देखते रहें] कुछ ही दिनों में इसका सारा रहस्य खुल जायेगा।

कछुक काल बीते रस रंगा। गाँजा भाँग चरस चित चंगा॥
धुनि बैठत बहि गप सप सरिता। तहइँ कुतर्क तर्क जल भरिता॥

[ऐसा ही हुआ] कुछ काल के उपरान्त वे ढोंगी बाबा चित्त की एकाग्रता के बहाने गाँजा, भाँग, चरस आदि पीने के रंग में रंगने लगे और धूनी पर बैठे हुए लोगों के बीच गप-शप की नदी बह चली, जिसमें तर्क-कुतर्क रूपी जल बढ़ता चला गया।

ता बिच कोउ कह कहाँ सों आये। भाग्य हमारो धुनी रमाये॥
कह बाबा जोगी कर ग्रामा। क्यों पूछहु पूछउ हरि नामा॥

उसी बीच कोई पूछ बैठा कि बाबा! आप कहाँ से आये हैं? यह तो हमारा भाग्य है कि आप हमारे यहाँ धूनी रमाये हुए हैं! बाबा ने कहा- योगी (सन्त) का नाम-गाँव नहीं पूछना चाहिए, तुम ऐसा क्यों पूछ रहे हो? पूछना ही है तो प्रभु का नाम पूछ लो।

दोहा— एक कह्यो हँसि गगन सों का ऐसोइ तुम्ह आय।
अपर कहत का मातु पितु आपुहिं नहिं जन्माय॥४३॥

उनमें से एक ने हँसकर कहा कि क्या आप ऐसे ही आकाश मण्डल से प्रकट हुए हैं? तभी दूसरे ने कहा- क्या आपको माता-पिता ने जन्म नहीं दिया है?

चौपाई— कहत साधु प्रगटावन हारो। सबकर एकइ प्रभू हमारो॥
तब कह कोउ हँसि सैननि माहीं। मातु पिता पुनि कछुवै नाहीं॥

तब साधुवेशधारी ने कहा- हम सबको जन्म देने वाला तो एक भगवान ही है। तभी किसी ने हँसते हुए संकेत से कहा- फिर तो माता-पिता कुछ भी नहीं हैं!

खीझि ढोंगि धरि एक लबोदा। कह पुनि जा तू उन्हकेइ गोदा॥
भुजा टूटि पुनि अपर सँघाती। पाखंडिहिं मारे बहुभाँती॥

[ऐसा सुन] ढोंगी साधु ने खीझकर एक डंडा जड़ते हुए कहा- फिर तो तुम उन्हीं [माता-पिता] की गोद में जाओ! डंडा लगने से उस भक्त की बाँह टूट गयी, ऐसा देखकर अन्य मित्रों ने उस पाखण्डी की अच्छी प्रकार पिटाई की।

दीन्हि भगाय मार पुनि मारी। छीः ढोंगी कहि दैं बहु गारी॥
सिद्ध संत जो कह बैठारी। कछुक सुनहु अब कही हमारी॥

इस प्रकार छी:-छी:, छी: ढोंगी कहकर बहुत गालियाँ दीं और पिटाई करते हुए वहाँ से उसे भगा दिया। तब जो सिद्ध सन्त थे, उन्होंने उनलोगों को बैठाकर कहा- अब हमारा भी कुछ कहना सुन लें।

जो बाहर निज धर्मन्ह त्यागी। बैठ्यो पर मन महँ अति रागी॥
तेहि कर्मिहिं तुम्ह लखहु अकर्मा। पर मम मत नहिं यह सच धर्मा॥

जो बाहर से अपने धर्म को त्याग बैठा है किन्तु मन में अत्यन्त रागयुक्त है, उस कर्म करने वाले को आप सब अकर्मी के रूप में देख रहे हैं परन्तु मेरी समझ में यह यथार्थ धर्म नहीं है-

तन मन बच सों कर निज धर्मा। हरि उर राखत सोइ अकर्मा॥

बल्कि तन, मन, वचन से जो स्वधर्म-पालन करता है और हृदय में भगवान को धारण किये रहता है, यथार्थ में वही अकर्मा (अकर्ता) है।

सोरठा— यासों बिनु भै ज्ञान पार्थ करम तजि जात बन।
त्याग सोउ तू जान कर्म कहत सब संतजन॥ ४४॥

इसलिए हे पार्थ! बिना ज्ञान हुए आवेश में यदि कोई कर्म को त्याग कर वन चला जाता है तो उस त्याग को भी तुम कर्म ही समझो; ऐसा ही सभी सन्तजन कहते हैं।

चौपाई— कर्म करै करतापन नाहीं। सोइ अकर्ता एहि जग माहीं॥
तम जाये रबि आये जैसे। कर्म अभाव अकर्मा वैसे॥

जो कर्म तो करता है किन्तु मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं रखता वही इस जगत में अकर्ता है। जैसे सूर्य के आते ही अंधेरा चला जाता है, वैसे ही कर्म [के कर्तापने] का अभाव होते ही अकर्म प्रकट हो जाता है।

आतमबिद कर अस थिति होई। उर न अबिद्या अंसहु कोई॥
अब महराज बिकर्महिं ध्याई। दै परिभाषा अपर सुहाई॥

ऐसी स्थिति आत्मज्ञानी में ही पायी जाती है, जिसके हृदय में लेशमात्र भी अविद्या नहीं है। अब महाराज विकर्म को स्मरण करके एक दूसरी दिव्य परिभाषा दे रहा है।

कर्म सोइ जो सास्त्र बखानें। एहि बिपरीत अकरमहिं जानें॥
आपद धर्म बिकर्म कहउँ अस। अनुभवि साधक सिद्ध कहहिं जस॥

[यथार्थ में] कर्म तो वही है, शास्त्र जिसको करने की आज्ञा देता है तथा इसके विपरीत किये हुए कर्म को अकर्म जानना चाहिए। उसी प्रकार मैं आपद्धर्म (विपत्ति में अधर्म भी धर्म हो जाता है) को विकर्म कह रहा हूँ। जैसा कि अनुभवी साधक एवं सिद्ध कहते हैं।

वि उपसर्ग बिसेष कर बोधक। कहुँ यहि बन एहि मत अवरोधक॥
यासे इहँ बिसेष मत लीन्हों। एहि कारन मैं अस मत दीन्हों॥

'वि' उपसर्ग विशेष (अत्यधिक) का बोध कराता है [जैसे विज्ञान] और कहीं यही 'वि' उपसर्ग विशेष का निषेध करता है [जैसे वियोग]। इसलिए इस स्थल पर मैंने विशेष के अर्थ को लिया है। यही कारण है कि मैंने यह उपरोक्त चिन्तन दिया है।

दोहा— जिमि दुर्योधन पांडवन्ह कर्मन्हि कहत अकर्म।
इहँ उपसर्गहु अस करे जस बिधि धर्म अधर्म॥ ४५ (क)॥

जिस प्रकार दुर्योधन कहा करता था- अरे! पाण्डवों का कर्म, कर्म नहीं बल्कि अकर्म (अधर्म) है। यहाँ पर 'अ' उपसर्ग ऐसा ही काम कर रहा है जैसा कि धर्म के साथ संयुक्त होने से अधर्म हो जाता है।

अस प्रभु पार्थहिं कहत भे अब आयो अस योग।
तुम्ह उर निर्भय होइ पुनि करहु बिकर्म प्रयोग॥ ४५ (ख)॥

अत: भगवान महात्मा अर्जुन से [सावधान करते हुए] कहते हैं कि अब ऐसा योग आ गया है कि तुम हृदय में अभय हो जाओ और फिर विकर्म का प्रयोग करो।

चौपाई— अर्जुन कहैं सुनौ मुरलीधर। एहि महँ मेरो अब संसय हर॥
परम सुजान पितामह हमरौ। करम बचन मन सेवक तुम्हरौ॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे मुरलीधर! सुनें! अब इस विषय में मेरे संशय का निवारण करें! मेरे पितामह भीष्म अत्यन्त बुद्धिमान हैं और मन, वचन, कर्म से आपके भक्त हैं।

सो समुझत नहिं काह बिकर्मा। जासों अबहूँ करहिं अधर्मा॥
कह प्रभु प्रस्न मोहिं अति भायो। एक प्रमान तात उर आयो॥

वे क्या इस विकर्म को नहीं जानते हैं, जिससे आज भी अधर्म के लिए तैयार खड़े हैं? भगवान ने कहा- हे पार्थ! यही सत्य है; तुम्हारा प्रश्न मुझे अत्यन्त प्रिय लगा और इसके लिए एक प्रमाण भी मेरे हृदय में आ गया-

जासों सिद्ध होय मम कहनो। उन कहँ कस बिकर्म बिनु रहनो॥
उन्ह सम गृह न सास्त्र बिज्ञाता। चीरहरन देखे बिकलाता॥

जिसके द्वारा मेरा यह कथन सिद्ध हो जायेगा कि उनका (भीष्म पितामह का) विकर्म के बिना रहना कैसे हो रहा है। यद्यपि [वर्तमान में] गृहस्थाश्रम में उनके समान शास्त्र का कोई ज्ञाता नहीं है तो भी [कल्याणी द्रौपदी का] चीरहरण तो विकल होकर देखते ही रह गये!

मानउँ द्रौपदि उत्तर देतहिं। धर्मराज तब मिथ्या होतहिं॥
धर्म बिबस तब नहिं कछु कहेऊ। सिर झुकाइ मौनहि गहि रहेऊ॥

माना कि द्रौपदी का उत्तर देते ही धर्मराज युधिष्ठिर झूठे सिद्ध हो जाते। उस समय की उनकी धर्म-विवशता समझ में आती है जिससे वे सिर नीचे किये हुए मौन ही रह गये।

पर जब चीरहरन छन आयो। मौन पितामह कर न सुहायो॥
कोउ न बिबसता तहाँ लखाई। किये भूल नहिं धनुष उठाई॥

किन्तु चीरहरण के समय पितामह का मौन रह जाना अच्छा नहीं लगा। वहाँ तो कोई विवशता थी ही नहीं अत: धनुष न उठाकर उन्होंने भारी भूल की थी।

दोहा— लखि ऐसो अन्याय तब कर धनु लेत उठाय।
कहि अधर्म पौरुष प्रगटि निज बधु लेत छड़ाय॥ ४६ (क)॥

उस प्रकार का घोर अन्याय देखकर यदि वे उस समय धनुष उठाकर उस (चीरहरण) कर्म को अन्याय कहते हुए अपनी पुत्रवधू को छुड़ा कर-

कौरव सुतन्ह हटकि तहँ राजसिंघासन छीनि।
धर्मराज कहँ दै सकत बड़ी भूल तिन्ह कीनि॥ ४६ (ख)॥

वहाँ कौरव पुत्रों को डाँटते-फटकारते हुए उनसे राजसिंहासन छीनकर युधिष्ठिर को राजपद तो दे ही सकते थे किन्तु उस समय उन्होंने ऐसा न कर भारी भूल की।

चौपाई— जैसे कोउ पति अति हंकारी। पीटत मग निज नारि उघारी॥
ताकर आर्तनाद सुनि कोऊ। मौन रहइ न बीर यदि होऊ॥

जैसे कोई अहंकारी पति मार्ग में ही [सबके सामने] अपनी धर्मपत्नी की नग्न करके पिटाई कर रहा हो तो

उस स्त्री का आर्तनाद सुनकर कोई भी सामर्थ्यवान पुरुष मौन नहीं रह सकता।

रक्षा करत धरम सुभ जानत। ताहि सबहि नर साधु बखानत॥
दास युधिष्ठिर भै द्युत हारत। द्रौपदि दासी भइ सच भारत॥

धर्म के यथार्थ निर्णय को जानकर वह उसकी रक्षा करता है और सभी लोग उसे साधु कहते हैं। हे भारत! सत्य यही है कि द्यूत में हारकर युधिष्ठिर के दास होते ही द्रौपदी स्वत: दासी हो गयी थी।

तहँ पति सँग रहनो अधिकारो। हुतो ताहि अस सास्त्र उचारो॥
नृप बिराट की जब भइ चेरी। द्रुपद सुता लिय कीचक घेरी॥

तो भी वहाँ उसे अपने पति के साथ ही रहने का अधिकार था- ऐसा शास्त्र कहता है। जब कल्याणी द्रौपदी राजा विराट की दासी बनी, तो कीचक की उसपर कुदृष्टि हो गयी थी।

करन चह्यो सो दुर्व्यवहारा। यह लखि भीम ताहि छन मारा॥
जद्यपि तहइँ करहिं सेवकाई। यह बिकर्म नहिं भीष्म लखाई॥

वह उसके साथ दुर्व्यवहार करना चाहता था। ऐसा देखकर भीम ने उसे उसी समय मार डाला था, जबकि वे वहीं सेवकाई कर रहे थे, किन्तु ऐसा विकर्म पितामह भीष्म नहीं समझ पाये।

दोहा— अब जान्यो तुम्ह रूप निज अरु बिकर्म कर मर्म।
कर उठाइ गांडीव अब करहु युद्ध यहि धर्म॥४७॥

हे पार्थ! अब तो तुमने आत्म स्वरूप को जान लिया तथा विकर्म के रहस्य को भी भलीभाँति समझ लिया है। इसलिए हाथ में गाण्डीव उठाकर अब युद्ध करो, इस समय तुम्हारा यही परम धर्म है।

चौपाई— जब इतनै पर धनु न उठाये। तब प्रभु ज्ञानिन्ह कर यस गाये॥
जाकर कर्म काम बिनु होवे। अरु संकल्प न कछुवै बोवे॥

भगवान के इतना कहने पर भी जब महात्मा अर्जुन ने धनुष नहीं उठाया, तब प्रभु ज्ञानियों का स्तवन करने लगे- हे कौन्तेय! जिस पुरुष का कर्म बिना कामना और संकल्प के स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ होता है-

ज्ञान अगिनि जिहिं भस्मित कर्मा। पंडित सोइ संतन्ह कर धर्मा॥
कर्म अकर्म मरम जो जानन। अरु बिकर्म बहु बिधि पहिचानन॥

तथा जिसके सभी कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में जल गये हैं- वही पण्डित है, ऐसा सन्तों का कहना है। जो कर्म अकर्म और विकर्म के रहस्य [तथा स्वरूप] को भलीभाँति जानना एवं पहचानना है-

ज्ञान अगिनि सोइ प्रगटन पारथ। जाकी कृपा पाव परमारथ॥
करइ करम फल आसा त्यागी। निर्बिकार जग बिरज सुभागी॥

हे पार्थ! [उस पुरुष द्वारा ऐसा जानना एवं पहचानना] यही ज्ञान रूपी अग्नि को प्रकट करना है, जिसकी कृपा से वह परमार्थ तत्त्व प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह भाग्यवान पुरुष कर्म फलों की आशा त्यागकर कर्मों को करता हुआ भी जगत में अत्यन्त निर्विकार और माया रहित ही रहता है।

तजि फल आश्रय अहइ तृप्त अति। सोइ निराश्रय जगत बिमल मति॥
ताकर कर्म अकर्म कहावे। कारन सुद्ध साक्षि होइ जावे॥

किसी भी फल की कामना नहीं होने से वही पुरुष अत्यन्त सन्तुष्ट है, जगत में वहीं निर्मल बुद्धि वाला एवं एकमात्र निराश्रय भी है। उसका किया हुआ कर्म भी अकर्म ही कहलाता है, उसका कारण है कि वह शुद्ध साक्षी रूप से स्थित हो गया है।

दोहा— आत्मरूप होइ तुम्हहु प्रिय त्यागि करम फल आस।
अभय होइ करु युद्ध अब मोपे करि बिस्वास॥४८॥

अत: हे प्रिय! अब तुम भी कर्मफल को त्याग आत्मरूप होकर मुझ पर विश्वास करके अभय हो युद्ध करो।

चौपाई— कर्मन्ह फल त्यागहु सुनि बानी। अर्जुन उर तब प्रगट सुबानी॥
पूछत नाथ कर्मफल कहहू। अर्थ अन्यथा उर नहिं गहहू॥

कर्मों के फल का त्याग कर दो- [भगवान के द्वारा] ऐसे वचनों को सुनकर महात्मा अर्जुन के हृदय से उस समय दिव्य वाणी प्रकट हुई और उन्होंने पूछा कि हे नाथ! आप हृदय में अन्यथा अर्थ न लें तथा कर्मफल के स्वरूप को कहें।

जानि करमफल त्यागन चाहउँ। प्रभु बचनामृत महँ अवगाहउँ॥
अब न दोष कछु दैहउँ तोहीं। कहहु जानि सरनागत मोहीं॥

मैं कर्मफलों [के स्वरूप] को जानकर उन्हें त्यागना चाहता हूँ तथा आपके वचनामृत में ही गोते लगाना चाहता हूँ। अत: आप मुझे अपना शरणागत जानकर कहें, अब मैं आपको कुछ भी दोष नहीं दूँगा।

सुनत बचन सुमधुर पारथ के। कर्मन्ह फल हरि कह स्वारथ के॥
माता पिता बंधु सुत दारा। सुहृद हीत मित बैरी भारा॥

तब भक्त अर्जुन के प्रिय वचनों को सुनकर भगवान ने स्वार्थमय कर्मफलों को कहना प्रारम्भ किया। हे पार्थ! माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुहृद, हित-मित्र एवं बहुत-से वैरी-

पुर परिवार पुरोहित सारे। कर्मन्ह फल तन धन उपचारे॥
कुल कीरति निज मान बड़ाई। बिबिध कला अरु बेद पढ़ाई॥

ग्राम, परिवार, पुरोहितगण, शरीर तथा धन- इन सभी को कर्मों का फल कहा जाता है। उसी प्रकार कुल, कीर्ति, अपनी मान-प्रतिष्ठा, नाना प्रकार की कलाओं का ज्ञान और वेदाध्ययन-

कला बिनोद चारु चतुराई। झूठ साच महँ अति निपुनाई॥
इंद्रादिक पद सक्ति प्रचंडा। हस्त ब्रह्मसर जय ब्रह्मंडा॥

सबको हँसाने की कला, दिव्य चतुरता, झूठ-सत्य बोलने में अत्यन्त निपुणता, इन्द्रादि देवताओं का पद, अपार शक्ति, हाथ में ब्रह्मास्त्र तथा लोक विजय-

दोहा— सुभ कर्मन्ह फल आहिं जो इनि सुख जन्म गँवाय।
अंत समय कर मीजत बहुत बहुत बिकलाय॥ ४९॥

ये सभी शुभ कर्मों के फल हैं जो इन्हीं सुखों में जन्म व्यतीत कर देता है, वह अन्त समय में पश्चात्ताप करते हुए अति विकल होता है।

चौपाई— अब सुनु कहउँ असुभ फल ताता। जेहिं ते आह भरत दिन राता॥
अति दरिद्र कुल जन्मत जाई। जहँ संताप सोक समुदाई॥

हे तात! अब मैं अशुभ कर्मफलों को भी कह रहा हूँ उसे सुनो, जिससे लोग दिन-रात आहें भरते रहते हैं। अत्यन्त दरिद्र कुल में जाकर जन्म लेना, जहाँ शोक-सन्तापों का ही समूह रहता है-

कलह युक्त माँ पितु ब्यवहारें। नित कर कर्म कृपनता धारें॥
एहि महँ करत बिबाह बंधु जन। घर तिय आवति होइ मुदित मन॥

जहाँ माता-पिता का व्यवहार कलहमय होता है, जो दिन-रात कर्म तो करते हैं किन्तु कृपणतापूर्वक ही जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे में ही भाई-बान्धव विवाह कर देते हैं और धर्मपत्नी प्रसन्नता के साथ घर में प्रवेश करती है-

जन्मत बहु सुत सो धन हीना। दिन दुगनित मन बुद्धि मलीना॥
असुभ करमफल बरबस आवत। तैरत थकत थाह नहिं पावत॥

वे धनहीन तो होते ही हैं और [उस पर भी] बहुत-से पुत्रों का जन्म हो जाने से दिन प्रतिदिन मन-बुद्धि मलिन होती रहती है। इस प्रकार बलात् अशुभ कर्मफल आ जाते हैं तथा बहुत प्रयत्न करने पर भी उनसे छुटकारा नहीं मिलता।

रोग ग्रसत इक एक पचारें। मृत्यु बिना निसदिन उन्ह मारें॥
कबहुँ माँगि ऋन लाज बचावहिं। सुख संतोष कबहुँ नहिं पावहिं॥

एक से एक रोग पछाड़ते रहते हैं और बिना मृत्यु के ही रात-दिन उनलोगों को मारते रहते हैं। कभी-कभी

ऋण लेकर लाज तो बचा लेते हैं किन्तु कभी भी सुख-सन्तोष प्राप्त नहीं कर पाते।

अंध बधिर कोउ होत अपाहिज। मन महँ कलह नम्र बहु बाहिज॥

कोई अंधा, कोई बहरा तो कोई विकलांग हो जाता है ऐसा देखकर उनके मन में अत्यन्त क्लेश रहता है किन्तु बाहर से अत्यन्त नम्र दीखते हैं।

दोहा— दुख दुबिधा सों दहत हिय मन आवे बिष खाउँ।
दूर देस बरु निकरि परुँ कै साधू बनि जाउँ॥ ५०॥

नाना प्रकार के दु:ख एवं संशय से हृदय जलता रहता है, विष खाने का मन करता है। कभी मन में आता है कि दूर देश में चला जाऊँ और कभी आता है कि साधु ही बन जाऊँ।

चौपाई— सुन्यों करमफल हे त्रिभुवन पति। मनन कियों सुनि हृदय माहिं अति॥
त्याग करउँ कस समुझि न पाऊँ। का यति बनि इनसों भगि जाऊँ॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा] हे देवाधिदेव! मैंने कर्मों के फल का स्वरूप सुन लिया। सुनकर हृदय में बहुत विचार किया परन्तु यह समझ नहीं पाया कि मैं इनका त्याग कैसे करूँ? क्या संन्यासी बनकर इन सबसे दूर भाग जाऊँ?

पर संन्यास देन नहिं चहहू। फलहिं त्यागि कर्मन्हिं करु कहहू॥
तन बिनु करम बने नहिं सोई। कर्मन्ह फल तन कहउ जो होई॥

किन्तु आप संन्यास देना नहीं चाहते अपितु कर्मफल का त्याग कर कर्म करने को कहते हैं। वह कर्म भी शरीर के बिना तो होता नहीं जबकि आप शरीर को भी कर्मों का ही फल कह रहे हैं।

असमंजस अस तुम्ह निरबारहु। ज्ञान अगिनि सों एहि भ्रम जारहु॥
तन यदि फल तौ चिता जलावउँ। पर आतम हंता कहलावउँ॥

ऐसे ऊहापोह से आप मुझे मुक्त करें, इस भ्रम को ज्ञानाग्नि से जला दें, यदि शरीर कर्मों का फल है तो अभी अपनी चिता जला रहा हूँ किन्तु फिर तो मैं आत्महत्यारा कहलाऊँगा-

पुनि कर्मन्हि फल केहि बिधि त्यागउँ। तन के रहत सबनि सों रागउँ॥
भोजन बस्त्र करम फल भाषहु। पुनि कस कहहु देह तुम्ह राखहु॥

पुन: मैं कर्मों के फल का त्याग किस प्रकार करूँ क्योंकि शरीर के रहते हुए तो मुझे सभी से मोह हो रहा है। आप यह भी कहते हैं कि भोजन और वस्त्र भी कर्मफल ही हैं, फिर आप कैसे कहते हैं कि तुम शरीर धारण किये रहो!

दोहा— नींद बतावहु करम फल नहिं सोवै तन राति।
भटकत भटकत लुढ़कत कर्म करइ केहि भाँति॥ ५१॥

उसी प्रकार आप नींद को भी कर्मों का फल बता रहे हैं किन्तु यदि शरीर रात्रि में न सोवे तो भटकते-भटकते [अति कर्म करने से] लुढ़क जाता है, अत: कर्म किस भाँति करे।

चौपाई— स्याम सुँदर तुम्ह गृह फल कहहू। स्वयं आपु अपुने गृह रहहू॥
तन रक्षा गृह बिनु कस होई। तुम्हरी बात न मानै कोई॥

हे श्यामसुन्दर! आप घर-बार को भी कर्मों का फल ही कहते हैं किन्तु स्वयं आप भी अपने घर में ही तो रहते हैं। शरीर की रक्षा बिना घर के कैसे हो सकती है! अत: आपकी बात कोई नहीं मानेगा।

सीत उष्ण बरषा अति मारत। याहि देह थोरे महँ जारत॥
बहुरि कहहु कस करम करन कौ। त्यागि करम फल धरम धरन कौ॥

सर्दी-गर्मी और बरसात की अत्यन्त मार इस शरीर को अल्पकाल में ही जला देती है, फिर आप कर्म करने को कैसे कहते हैं तथा कैसे कर्मफल को त्यागकर धर्म धारण करने को कह रहे हैं?

मातु पिता भ्रातहिं फल कहहू। तुम्ह गिरिधर इनकै सँग रहहू॥
आपहु हित मित संग न त्यागहु। सदा सर्बदा इन्ह सँग रागहु॥

हे गिरिधर! माता-पिता, भाई-बन्धुओं को भी आप कर्मों का फल कहते हैं जबकि आप भी इनके साथ ही रहते हैं। वैसे ही हित-मित्रों का साथ आपने भी नहीं छोड़ा है बल्कि सदा-सर्वदा इनके साथ ही रहकर प्रसन्न होते हैं।

आपु कहहु सो एहि फल त्यागौ। करम धरम महँ पुनि अनुरागौ॥
गुरु द्विज सेवक तुम्ह असुरारी। तिन्हहि कहहु त्यागन्ह अघहारी॥

वही आप कह रहे हैं कि इस फल को तुम त्याग दो और पुनः कर्म-धर्म में अनुरक्त हो जाओ। हे असुरारि! आप तो स्वयं गुरुजनों एवं ब्राह्मणों के भक्त हैं, हे पापनाशक! आप उन्हीं लोगों को त्यागने की बात कह रहे हैं।

दोहा— त्याग त्याग बहु सुनेउँ पर यती धरम यह त्याग।
गृही त्याग कस करि सकत जेहि धर्महिं अनुराग॥ ५२॥

हे नाथ! त्याग करो, त्याग करो- मैंने बहुत सुन लिया परन्तु त्याग तो संन्यासियों का धर्म है। जिसे धर्म में ही प्रीति है वह गृहस्थाश्रमी भक्त त्याग कैसे कर सकता है?

चौपाई— नारि सुअन धन बिभव अपारा। सब फल एहि कस मारउँ मारा॥
इन्ह बिनु धरम करम कस होवे। इनकै बिनहिं बैठि बस रोवे॥

स्त्री, पुत्र और अपार सम्पत्ति- ये सब तो कर्मों के ही फल हैं, इनका त्याग कैसे करूँ, इनके बिना धर्म-कर्म कैसे होगा, इनके बिना तो एकमात्र बैठकर रोना ही होगा?

अभ्यागत सु अतिथि जब आवत। सब मिलि देत मान गुन गावत॥
धन बिनु यज्ञ दान नहिं होवे। याचक द्वारे मुँह कस गोवे॥

अतिथि और अभ्यागत जब आते हैं तो सभी मिलकर सम्मान देते हैं और गुणों का बखान करते हैं। धन के अभाव में यज्ञ-दान आदि भी नहीं होते यदि याचक दरवाजे पर आता है तो मुख कैसे छिपाया जा सकता है? [धन एवं परिवार का त्याग कर देने पर ये सब कार्य कैसे होंगे]।

सकहु न आपु सखा निज त्यागी। रथ चढ़ि बाँह गहे अनुरागी॥
जोपै मोहिं तजौ तौ जानउँ। तुम्हरी बात सबै सच मानउँ॥

आप भी अपने सखा (अर्जुन) का त्याग नहीं कर पा रहे हैं बल्कि इसके रथ पर [आसीन हैं और] प्रेम में भरकर उसे भलीभाँति अपने वश में कर रखे हैं। यदि आप मेरा ही त्याग कर दें तो जानूँ और आपकी समस्त बातों को सत्य मान लूँ?

यदि कहि देहु बात यह सबसों। तब तजुँ स्वजन्ह कर्म फल अबसों॥
सुनि अस बिहँसि कहत तब माधव। धन्य धन्य तुम्ह धन हे साधव॥

यदि आप यह बात सबके सामने कह दें तो मैं अभी से स्वजनरूपी कर्मफलों को त्याग दूँ। तब ऐसा सुनकर भगवान माधव हँसते हुए कह रहे हैं- हे महात्मा! तुम धन्य हो, धन्य हो, धन्य हो!

बार बार प्रभु पुलकत गाता। प्रस्न मधुर सुनि मन न अघाता॥

इस प्रकार भगवान का शरीर बार-बार पुलकित हो रहा है और मधुर प्रश्नों को सुनकर उनका मन तृप्त नहीं हो रहा है।

दोहा— प्रीति पुरातन सुरति करि चुपहिं रहे यदुनाथ।
तोहिं न तजुँ मन महँ कहे महाराज कर नाथ॥ ५३॥

महाराज कहता है कि मेरे स्वामी भगवान यदुनाथ पुरातन प्रीति का स्मरण कर मौन ही रहे, उन्होंने मन ही मन कहा- हे पार्थ! मैं तुझे छोड़ नहीं सकता!

चौपाई— सुनि अति गूढ़ प्रस्न पारथ के। त्याग बतावत परमारथ के॥
जाहि बतावन्ह कर सुभ अवसर। आइ गयो यह लखे चक्रधर॥

तब भक्त अर्जुन के अत्यन्त गूढ़ प्रश्नों को सुनकर भगवान पारमार्थिक त्याग के स्वरूप को बताने लगे, जिसे

बताने के लिए शुभ अवसर आ गया है– ऐसा चक्र धारण करने वाले भगवान ने देखा।

प्रेम मगन बहु भये कृपाला। कहन लगे प्रभु दीन दयाला॥
मोरी बात न करु धनुधारी। नारायनि बाहिनि मम भारी॥

दीनों पर दया करने वाले कृपालु भगवान अत्यन्त प्रेम में मग्न होकर कहने लगे– हे धनुर्धर! मेरी बात मत करो! मेरे पास भी विशाल नारायणी सेना है–

जेहि महँ पुत्र पौत्र सब भारे। तुव लगि त्याग कर्‌यों मैं सारे॥
भ्राता प्रिय बलरामहिं त्याग्यों। तुव रक्षा महँ सब बिधि लाग्यों॥

जिसमें मेरे पुत्र और पौत्र सभी हैं जिन्हें तुम्हारे लिए त्याग दिया है। प्रिय भाई बलराम को भी त्याग दिया है और तुम्हारी रक्षा करने में हर प्रकार से लगा हुआ हूँ।

त्यागउँ भगतन्ह हित बैकुंठा। जो ध्यावहिं मम चरन अकुंठा॥
भगतन्ह हित रणछोर कहावउँ। मथुरा त्यागि द्वारिका जावउँ॥

उसी प्रकार जो नित्य ही मेरे चरणों के अनुरागी भक्त हैं, उन भक्तों के हितार्थ वैकुण्ठ लोक का परित्याग कर देता हूँ। [तुम जानते ही हो कि] मैं भक्तों के हितार्थ मथुरा का परित्याग कर द्वारिका चला गया और 'रणछोड़' कहलाना स्वीकार कर लिया।

मुनि भगतन्ह हित करत न लाजउँ। इन्हहिं बचावन जहँ तहँ बाजउँ॥
असुर कहहिं समदरसी कैसो। पक्षपात कर चाहे जैसो॥

[हे पार्थ!] मैं सन्तों एवं भक्तों का कल्याण करने में लज्जा नहीं करता तथा इनकी रक्षा के लिए चाहे जहाँ कहीं भी भिड़ जाता हूँ। [जिसे देखकर] असुर कहते हैं कि यह कैसा समदर्शी है, जो मनमाना पक्षपात करता रहता है।

अस कलंक महुँ हर्षित रहऊँ। गो द्विज भगत भार सब सहऊँ॥

ऐसा कलंक लगने पर भी मैं प्रसन्न रहता हूँ और गो, ब्राह्मण तथा भक्तों के ऊपर आये हुए समस्त दु:खों को सहन करता रहता हूँ।

दोहा— तुम्हहु बनाये सारथी ब्रह्मरूप दियों त्याग।
जेहि ध्यावत मुनि सिद्ध सुर अचल अमल अनुराग॥ ५४॥

हे पार्थ! स्वयं तूने भी मुझे अपना सारथि बना लिया है और मैंने [तुम्हारे लिए] ब्रह्मस्वरूप का परित्याग कर दिया है; जिसका 'मुनि, सिद्ध एवं देवगण' संयत एवं निर्मल मन से प्रेममग्न हो ध्यान करते रहते हैं।

चौपाई— तुम्हसों कहउँ सोइ त्यागन्ह हित। त्यागि सकहु जो तात मुदित चित॥
सुरति करानो चाहिय जोई। सोइ करावउँ अपर न कोई॥

हे तात! मैं तुमसे वही त्याग करने के लिए कह रहा हूँ जिसे प्रसन्नतापूर्वक त्याग सकते हो तथा जिसे स्मरण कराना चाहिए वही स्मरण करा रहा हूँ किसी अन्य को नहीं।

सदगुरु सोइ जो अवसर देखी। सिष्यहिं बोध करावे बिसेषी॥
सुरति करहु अब चीरहरन की। परी हुती जब द्रुपदि मरन की॥

क्योंकि सद्‌गुरु वही है जो अवसर के अनुसार शिष्य को उसके धर्म का यथार्थ बोध करावे। तुम चीर–हरण का तो स्मरण करो, जब द्रौपदी की मरने जैसी स्थिति हो गयी थी!

कौन धरम सों तेहिं दै त्यागी। तब सो मोहिं पुकारन लागी॥
तब मैं आइ चीर बनि गयऊँ। अभयदान सरणागति दयऊँ॥

उस समय तुम्हारा वह कौन–सा धर्म था जिसकी रक्षा करने के लिए तुमने द्रौपदी को त्याग दिया था। तब उसने मुझे पुकारा तो मैं उसका वस्त्र बन गया और उस शरणागत साध्वी को अभय कर दिया।

मैं आपन पन राखउँ ताता। केहि पन तुम्ह एहि छन बिलखाता॥
कबहुँ भगत हित निज पन त्यागउँ। हित करि उन्हकर कहुँ छिपि भागउँ॥

हे प्रिय! मैं तो अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूँ किन्तु तुम किस प्रतिज्ञा को स्मरण कर इस समय विलख रहे हो? अरे! मैं तो कभी-कभी भक्तों के हितार्थ अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर उनका कल्याण करके भगकर पुनः छिप जाता हूँ।

एक दुइ जन्म कहउँ तोहिं पाहीं। सुनु दै ध्यान सोचु मन माहीं॥
बालि त्रसित सुग्रीव पुकारत। बध्यों ब्याध सम लख्यो सो भारत॥

हे भारत! अब एक-दो जन्मों की कहानी तुमसे कह रहा हूँ, जिसे सावधान होकर सुनो और अपने मन में विचार करो। जब बाली के त्रास से सुग्रीव ने भयभीत होकर मुझे पुकारा तो मैंने बाली का व्याध की तरह वध कर दिया, तब उसने मेरी ओर देखा-

मोसों बोलेउ केहि पन स्वामी। बधे मोहिं अस अंतरजामी॥

और मुझसे बोला- हे स्वामिन्! हे अन्तर्यामिन्! आपने किस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए मेरा इस प्रकार वध किया है?

दोहा— जो कछु कहेउँ ताहि सन सुनि संतोष न पाय।
करि कलंक पुनि पुनि गयो मैं मुख लियों छुपाय॥ ५५॥

[उसके उत्तर में] जो कुछ मैंने उससे कहा- जिसे सुनने से उसे सन्तोष नहीं हुआ, तब वह मुझे अनेक प्रकार से कलंकित करते हुए परलोक चला गया एवं मैंने अपना मुख उस समय छिपा लिया [अर्थात् मौन हो गया]।

चौपाई— एकबार बृंदा ब्रत टारेउँ। समर जलंधर सब हित मारेउँ॥
जानी मरम साप तब दीन्ही। मानुष तन कर कारन कीन्ही॥

एक बार वृन्दा के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट कर [उसके पति असुरराज] जलन्धर को सबके कल्याणार्थ युद्धभूमि में मार डाला। उसकी स्त्री वृन्दा ने यह [छल] जानकर मुझे शाप दे दिया, जो मेरे मनुष्य तन धारण करने में कारण बना।

कोउहु पन तजुँ भगतन्ह काजे। दोष न लगे अपितु मन राजे॥
सुद्ध सांत सम रूपहिं रहऊँ। करम सुभासुभ सों नहिं दहऊँ॥

मैं भक्तों के रक्षार्थ किसी भी प्रतिज्ञा का त्याग कर देता हूँ तो भी मुझे कुछ दोष नहीं लगता बल्कि मन अति प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध, शान्त और सम रूप में रहता हूँ और शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से सन्तप्त नहीं होता।

मोरे सम तुम्ह रहहु परंतप। सुद्ध सांत होइ करहु समर जप॥
सुरति करहु आपन पन पारथ। तजहु मोह बस क्यों परमारथ॥

अतः हे परंतप! तुम भी मेरे समान ही शुद्ध शान्त होकर युद्धरूपी जप करो। हे पार्थ! अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करो। अरे! तुम मोह के वशीभूत होकर परमार्थ का परित्याग क्यों कर रहे हो!

चीरहरण छन तुम्ह चुप रहहू। महापाप लाग्यो का करहू॥
प्रायस्चित बस इन्ह कहँ मारहु। मोरि कृपा एहि जनम सुधारहु॥

द्रौपदी चीर-हरण के समय तुम मौन हो गये थे, अतः उस महापाप से दूषित हो गये हो, अब कर भी क्या सकते हो! हाँ, प्रायश्चित्त स्वरूप इन सभी को मारकर मेरी कृपा से इस जन्म को सार्थक कर लो।

दोहा— तुम्ह तौ चीरहरन छन सपथ बहुत बिधि कीन्हि।
सभा माँझ इनि सबनि कहँ प्रबल चुनौती दीन्हि॥ ५६॥

तुमने तो चीर-हरण के समय बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके उस सभा में इन सभी को प्रबल चुनौती दी थी।

चौपाई— त्याग कियो सब कर तेहिं काला। भय दिखाइ बहु काल कराला॥
महाकाल बनि अब हुंकारहु। समर भूमि महँ इन्ह कहुँ पारहु॥

उस समय नाना प्रकार से भयंकर मृत्यु का भय दिखाते हुए अर्थात् मारने की प्रतिज्ञा कर तुमने इन सभी को

छोड़ दिया था। अत: अब महाकाल बनकर हुंकार भरते हुए युद्धभूमि में इन सभी को मार डालो।

बैरिहिं पाप करमफल जानहु। इनहिं बृद्ध गुरु बंधु न मानहु॥
हित मित तस सब सुभ फल दाता। जिन्ह उपयोगत मन न अघाता॥

इन वैरियों को पापकर्म का फल समझो, इन्हें वृद्ध, गुरु अथवा बन्धुजन मत मानो। उसी प्रकार हित-मित्र सभी शुभ फलों को देने वाले हैं, जिनका उपयोग करने से मन कभी तृप्त होता ही नहीं।

जनम जनम साधत निज स्वारथ। सत्य कहउँ नष्टत परमारथ॥
निज प्रतिसोध समर ये आये। यह न मरम लखु तब मन ढाये॥

मैं सत्य कहता हूँ कि [ये सभी] जन्म-जन्मान्तरों से अपने स्वार्थ को ही सिद्ध करते हुए परमार्थ को नष्ट कर देते हैं। ये सभी तो अपना प्रतिशोध पूर्ण करने के लिए युद्धभूमि में आये हुए हैं किन्तु तुम इस रहस्य को नहीं जानते हो, इसी कारण मन में शोक-सन्ताप प्रवेश कर गया है।

जानत सिद्ध संत सब कारन। आये सरन त्यागि सब भारन॥

इन सभी कारणों को सिद्ध एवं सन्तजन ही जानते हैं जो समस्त दायित्वों को त्यागकर मेरी शरण में आये हुए हैं।

दोहा— काहुहिं कबहुँ न कोउ प्रिय अपुनों लगि सब आहिं।
भोगि सुभासुभ करमफल पुनि जहँ जानो जाहिं॥ ५७॥

संसार में कोई किसी को कभी भी प्रिय नहीं है, सभी अपने स्वार्थ के लिए आते हैं और शुभाशुभ कर्मफलों को भोगकर, पुन: जहाँ जाना होता है चले जाते हैं।

चौपाई— जागबलिक मुनि कर संबादा। मैत्रेई कर हरत बिषादा॥
कह सुनु प्रिया गूढ़ परमारथ। जेहि सुनि त्याग होत सब स्वारथ॥

[इस विषय में] याज्ञवल्क्य मुनि का एक संवाद है जिसने मैत्रेयी के शोक-सन्ताप को दूर कर दिया था। उन्होंने कहा- हे प्रिये! तुम गूढ़ पारमार्थिक तत्त्व सुनो जिसे सुनते ही समस्त स्वार्थों का त्याग हो जाता है।

पति हित पति प्रिय कबहुँ न भामिनि। निज आतम हित सो प्रिय बामिनि॥
नारी हित नारी प्रिय नाहीं। अपुनें हित प्रिय सो मन माहीं॥

हे प्रिये! हे वामांगि! पति के हित के लिए कभी भी पत्नी को पति प्रिय नहीं होता, अपनी आत्मा के लिए ही वह प्रिय होता है। वैसे ही स्त्री के हित के लिए पुरुष को स्त्री प्रिय नहीं लगती अपितु अपने लिए ही वह मन को प्रिय लगती है।

पुत्रन्ह हित प्रिय पुत्र न होतहिं। अपुनें स्वारथ सुत प्रिय जोतहिं॥
धन हित धन प्रिय नाहिं कहावत। निज हित सब धन गले लगावत॥

पुत्रों के हित के लिए पिता को पुत्र प्रिय नहीं होते हैं अपितु अपने स्वार्थ के लिए ही पुत्र प्रिय होते हैं। धन के हित के लिए धन प्रिय नहीं कहा जाता अपितु अपने हित के लिए सभी धन चाहते हैं।

बिप्रन्ह हित न बिप्र प्रिय आहीं। निज हित बिप्रन्ह सीस नवाहीं॥
छत्रिय हित छत्रिय प्रिय नाहीं। अपुने हित छत्रिय हिय माहीं॥

ब्राह्मण के हित के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता अपितु अपने हित के लिए ही सभी ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय के हित के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता अपितु अपने कल्याण के लिए ही क्षत्रिय हृदय में बसता है।

जगहित जग प्रिय कबहुँ न लागत। निज हित जग अज्ञानी रागत॥
सुर हित साध्वी सुर प्रिय नाहीं। निज हित प्रिय लागहिं मन माहीं॥

जगत के कल्याण के लिए कभी जगत प्रिय नहीं लगता बल्कि अपने हित के लिए ही अज्ञानीजन जगत से प्रेम करते हैं। वैसे ही हे साध्वी! देवताओं के हित के लिए देवता प्रिय नहीं होते बल्कि अपने हित के लिए ही देवगण प्रिय होते हैं।

प्राणिन्ह हित प्राणी प्रिय नाहीं। अपुने हित प्राणी प्रिय आहीं॥
सबके हित सब प्रिय नहिं होते। निज हित सब कहँ मनहिं सँजोते॥

वैसे ही प्राणियों के हित के लिए प्राणी प्रिय नहीं लगते बल्कि अपने हित के लिए प्राणी प्रिय लगते हैं। सभी के हित के लिए सभी प्रिय नहीं होते बल्कि अपने हित के लिए ही सभी को प्रिय मानकर मन में स्थान दिया जाता है।

दोहा— अरि साध्वी तू आतमा दरस परस निज रूप।
आत्मरूप महँ रहु सदा अव्यय अमल अरूप॥ ५८॥

अरी साध्वी! तुम तो आत्मा हो, अत: अपने ही स्वरूप का दर्श-स्पर्श करो और सदा ही अव्यय, अमल, अरूप एवं आत्मरूप होकर रहो।

चौपाई— मैत्रेई सुख भयउ अपारा। प्रनतपाल मोहिं आज उबारा॥
गुडाकेस सुनि कछु संतोषेउ। मुर्च्छा गयी बहुत चित चेतेउ॥

[ऐसा सुनकर] मैत्रेयी को अपार सुख का अनुभव हुआ [उसने कहा-] हे प्रणतपाल! आज आपने मुझे [संसार सागर से] मुक्त कर दिया। महात्मा अर्जुन को यह सुनकर कुछ सन्तोष हुआ और प्रमाद चला गया तथा चित्त में बहुत सजगता आ गयी।

कहत महाराजहु गुहराई। त्याग करत प्रभु आवत धाई॥
तजहु सकल मन बुधि चित लाई। तबहिं सकल जग जाइ हेराई॥

महाराज भी आप सबका आह्वान करते हुए कह रहा है कि त्याग करते ही भगवान दौड़ते हुए आते हैं। अत: मन, बुद्धि एवं चित्त से आप भी सब कुछ त्याग दें, तभी आपके हृदय से समस्त जगत सदा के लिए चला जायेगा।

मैं अरु मोर त्याग अब करहू। तैं अरु तोर ध्यान नहिं धरहू॥
सबहिं तजहु जो मानहु बातहिं। हरि सिद्धान्त गहहु दिन रातहिं॥

अत: 'मैं और मेरा' का अब त्याग कर दें तथा 'तुम और तेरा' पर भी ध्यान न दें, यदि आप मेरी बात मानें तो सब कुछ त्याग दें और दिन-रात भगवान के मत को धारण करें।

जग प्रपंच तजि उर हरि धरहू। सदगुरु कहे ताहि नित करहू॥
निज बुधि बल भरोस अब त्यागहु। सत स्वरूप महँ निसदिन रागहु॥

जगतरूपी प्रपंच का त्याग करके भगवान को स्वीकार करें, सद्गुरु जो कहे उसी को आप करें, अपने बुद्धिबल का विश्वास अब त्याग दें एवं अपने सत् स्वरूप में सदा रमण करें।

जप तप जोग न कल्पित करहू। सबन्हि त्यागि गुरु मत अनुसरहू॥
जिहिं पितु मातु न प्रभु पद प्रीती। त्याग करहु अस बैदिक नीती॥

जप, तप, योग भी मन:कल्पित न करें बल्कि सभी नियमों को त्यागकर जैसा सद्गुरु कहें वैसा ही करें। इतना ही नहीं बल्कि जिस माता-पिता का भगवान के चरणों में प्रेम नहीं है, उन्हें भी त्याग दें- ऐसी ही वैदिक नीति है।

दोहा— प्रभुहिं बिमुख लक्ष्मी सुअन हीत मीत जेहि भाय।
ताहिहु त्यागहु बैरि सम नतरु जिवन जरि जाय॥ ५९ (क)॥

जिसको भगवान से विमुख हुए पुत्र, लक्ष्मी और हित-मित्र प्रिय लगते हैं, उसे भी वैरी के समान त्याग दें अन्यथा सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा।

कामी क्रोधिहिं त्यागहू लोभी पहिं नहिं जाहु।
मोह ग्रसित परपंच रत इन्ह कहँ नहिं पतियाहु॥५९(ख)॥

कामी, क्रोधी एवं लोभी को भी त्याग दें, उनके सम्पर्क में कभी न रहें क्योंकि ये सभी मोहग्रस्त एवं प्रपंच में रचे-पचे रहते हैं, इनका कभी विश्वास न करें।

चौपाई— ऋषिहु दधीचि त्याग सुठि जाने। निज तन धनहिं करमफल माने॥
बिभु बपु गहि तन देवन्हिं दीन्हें। अस करि जगत भगत हित कीन्हें॥

त्याग के स्वरूप को महर्षि दधीचि भलीभाँति जानते थे। वे अपने शरीररूपी धन को कर्मों का फल मानते थे। अत: उन्होंने आत्मस्वरूप होकर देवताओं को शरीर दान कर दिया, ऐसा करके उन्होंने जगत के भक्तों का परम कल्याण किया।

नृपति मोरध्वज कह सुत तिय तन। अहइ करमफल जो हरि के धन॥
अतिथि पाइ प्रिय सुतफल दीन्हें। सब जग अजग अमल जस लीन्हें॥

वैसे ही राजर्षि मोरध्वज कहते हैं कि पुत्र, स्त्री, शरीर [और सेवकगण] आदि भी कर्मफल ही हैं जो सदा से भगवान के धन हैं। [ऐसा सोचकर ही तो] उन्होंने अतिथि देवताओं के निमित्त पुत्ररूपी प्रिय फल को समर्पित कर दिया और समस्त लोक-परलोक में निर्मल यश प्राप्त किया।

औरउ बहुत भगत जग माहीं। त्यागि करम फल प्रभु प्रिय आहीं॥

ऐसे ही जगत में और भी बहुत से भक्त हैं जो कर्मों के फल का त्याग करने से भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं।

दोहा— धन सों धरम जो होत तो सुग्रीवहु धन पाव।
जेहितें पायो पद बिभव लोभिहुँ तेहिं बिसराव॥ ६० (क)॥

यदि धन से ही धर्म होता तो सुग्रीव ने भी अपार सम्पत्ति प्राप्त की थी किन्तु उस लोभी ने जिस भगवान से धन, ऐश्वर्य एवं पद प्राप्त किया, उसी को भुला दिया।

तन रक्षत यदि भवन तौ पुनि क्यों रोगी होय।
भाइ बंधु रक्षा करैं तब काहे जग रोय॥ ६० (ख)॥

उसी प्रकार यदि शरीर की रक्षा घर करता तो फिर मनुष्य रोगी क्यों होता है और यदि भाई-बान्धव ही रक्षा कर लेते तो जगत रोता क्यों?

अस रक्षत सुभ करमफल यह नहिं मानन जोग।
अयुत जन्म भरमावत सदा भोगावे भोग॥ ६० (ग)॥

'इस प्रकार शुभकर्मों का फल अपनी रक्षा करता है'- यह बात मानने योग्य नहीं है। अरे! वह तो हजारों जन्मों में भ्रमित करता हुआ सदा भोगों को ही भोगाता रहता है।

चौपाई— सुनि नृप कह संजय को मानै। को फल बिनु कर्मन्हि संधानै॥
कह संजय योई सच राजा। पर गृह रहनो तौ अस काजा॥

ऐसा सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! इस बात को कौन मान सकता है, क्योंकि फल की आशा के बिना कोई कर्म करेगा ही क्यों? तब सञ्जय ने कहा- हे राजन्! सच तो यही है, परन्तु गृहस्थाश्रम में रहना है इसी कारण इस प्रकार का कर्म करने की व्यवस्था है।

यति सम मधुकरि करि सक नाहीं। किये न कोउ भल कह जग माहीं॥
यदि खा पी सोवन कर आदी। कहहिं ताहि सबही परमादी॥

वह संन्यासी के समान भिक्षाटन नहीं कर सकता और यदि करता है तो उसकी जगत में हँसी होती है। यदि केवल खाने-पीने और सोने के ही स्वभाव वाला है तो लोग कहेंगे कि यह प्रमादी हो गया है।

ब्रह्म समुझि गृह करमन्हिं करहू। दुइ दिन जग रहनो हिय धरहू॥
अब संन्यासिन्ह कर गुनगाथा। सुनहु नृपति गावहिं यदुनाथा॥

अत: आप स्वयं को ब्रह्म समझकर गृहस्थाश्रम के कर्मों को करें क्योंकि आप जानते हैं कि इस शरीर को जगत में थोड़े दिन ही रहना है। हे राजन्! अब संन्यासी के गुणों की गाथा सुनें, जिसका भगवान यदुनाथ वर्णन कर रहे हैं।

पार्थ यती जिति मन बच करमहिं। तजत करम फल गुनि निज धरमहिं॥
ते बस देह करम करि ताता। पाप न पाव प्रभुहिं अनुराता॥

हे पार्थ! जो संन्यासी मन, वचन और कर्म पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण कर्म एवं उनसे प्राप्त होने वाले फल, इन दोनों को अपने स्वधर्म का विचार कर त्याग देते हैं, वे सदा ब्रह्मस्वरूप में ही मस्त रहते हैं। हे तात! वे केवल

शारीरिक कर्म [खाना-पीना, सोना-जागना आदि] करते हुए भी पाप को प्राप्त नहीं होते।

दोहा— माँगि मधुकरी जियत जग गृह परिजन सब त्यागि।
पुनि समुझहिं नहिं कछु कियों यासें पाप न लागि॥ ६१॥

वे घर-बार एवं सम्पूर्ण कुटुम्ब का परित्याग कर शरीर रक्षार्थ जगत में मधुकरी (भिक्षाटन) कर जीवनयापन करते हैं। फिर भी समझते हैं कि मैंने कुछ भी नहीं किया इसलिए उन्हें पाप स्पर्श नहीं करता।

चौपाई— कोउ न मधुकरी करम बखानत। अति निंदित अस जीवन मानत॥
सोइ निंदित जीवन ते जीयत। नित्यानंद परमरस पीयत॥

कोई भी भिक्षाटन को कर्म की संज्ञा नहीं देते, अपितु ऐसे जीवन को अति निन्दित ही मानते हैं; फिर भी संन्यासी उसी निन्दित जीवन को जीते हैं और सदा परमानन्दरूपी परम रस का पान करते रहते हैं।

तुम्ह जस माँगन चाहउ भिक्षा। ताकी कोउ न देवें सिक्षा॥
मैं याचक आयों तुव द्वारे। तन मन बचनहु देउ हमारे॥

किन्तु तुम जैसा भिक्षाटन करना चाहते हो, उसकी तो कोई भी महापुरुष शिक्षा नहीं देता। हाँ, मैं एक याचक (भिखारी) बनकर तुम्हारे दरवाजे पर माँगने आया हूँ कि तुम मुझसे प्राप्त मन-वचनसहित अर्जुन नामक शरीर को मुझे दान कर दो।

पुनि यति होइ इन्हहिं संघारहु। चिता जराइ सबनि कहँ जारहु॥
काहु राज दै दंड सम्हारहु। यति जीवन सर्बांगहि धारहु॥

पुनः संन्यासी होकर इन सबका संहार करके चिता जलाकर सभी को जला डालो फिर किसी प्रिय सत्पात्र को राज्य सौंप त्रिदण्ड धारणकर विधिवत संन्यासी जीवन अपना लो।

सीत उष्ण महँ नहिं जो रुष्टत। स्वयंहि मिले ताहि महँ तुष्टत॥
निर्बैरी कछु पाव न पावे। तउ इन्ह चिंता नाहिं सतावे॥

जो सर्दी और गर्मी द्वारा सताये जाने पर भी तथा अपने आप बिना माँगे मिले हुए पदार्थ में सन्तुष्ट रहता है व्याकुल नहीं होता, सबसे वैर रहित होता है, [खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने को] कुछ मिले या न मिले तो भी उसे इन सबकी चिन्ता नहीं सताती।

दोहा— जो अकर्म महँ कर्म लख कर्मनि माहिं अकर्म।
भीख माँगि नहिं करत कछु जानत सबहीं मर्म॥ ६२॥

जो पुरुष अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म देखता है तथा जो इन सबके तत्त्व को भलीप्रकार जानता है, वह [शरीर निर्वाह हेतु] भिक्षाटन करके भी कुछ नहीं करता।

नवाह्नपारायण, चौथा विश्राम

चौपाई— जाकी सब आसक्ती छूटी। पाप पुण्य बंधन गयो टूटी॥
ज्ञान बसत जाके चित भाई। करत यज्ञ करमहिं मन लाई॥

हे प्रिय! जिसकी सम्पूर्ण आसक्ति नष्ट हो गयी है, जिसका पुण्य और पापरूपी बन्धन टूट गया है, जिसका चित्त ज्ञान में ही स्थित है और जो प्रेमपूर्वक यज्ञमय कर्मों को करता है-

फल सँग ताकर करम नसावे। बिनु प्रयास निज रूप लखावे॥
अस करु यज्ञ करम मम कहनो। संन्यासी जीवन पुनि रहनो॥

फलसहित उसके सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाता है और बिना प्रयास ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए तुम मेरे कहे अनुसार यज्ञमय कर्मों को ही करो, फिर संन्यासी जीवन ही तो जीना है।

कौन सो यज्ञ करम प्रभु जानउँ। का स्वरूप जासे पहिचानउँ॥
यह सब आज मोहिं सन भाषहु। अपुनो जानि गुप्त नहिं राखहु॥

[तब भक्त अर्जुन ने कहा-] हे प्रभो! वह यज्ञमय कर्म कौन-सा है, उसे मैं जानना चाहता हूँ तथा

उसका स्वरूप भी बतायें जिससे कि उसे पहचान सकूँ। अपना समझकर यह सब मुझे बता दें कुछ भी गुप्त न रखें।

मनहिं हरषि प्रभु सिष्य प्रसंसत। यज्ञ करम मुख कमल सों बरसत॥

ऐसा सुनकर मन ही मन भगवान नारायण अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने शिष्य (अर्जुन) की प्रशंसा करने लगे। उनके कमलवत् मुख से यज्ञकर्म की [व्याख्यारूपी दिव्य] वर्षा होने लगी।

छंद— हे पार्थ सुनु अब ब्रह्मयज्ञ जे संत श्रुति सब गावतो।
अपनाय जो एहि जगत महँ सो बर पुरुष मोहिं भावतो॥
सो ब्रह्मविद नर स्त्रुवा आदिक ब्रह्मरूपइ जानतो।
कर्ता हबी अगिनी क्रिया सब ब्रह्मई पहचानतो॥

[भगवान ने कहा-] हे पार्थ! जिस ब्रह्मयज्ञ की प्रशंसा समस्त सन्तों और श्रुतियों ने की है, अब [वह क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है] इस विषय में ध्यान देकर सुनो, जो श्रेष्ठ पुरुष जगत में इस ब्रह्मयज्ञ को अपना लेता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष [चराचर जगत को ब्रह्मरूप देखने के कारण] यही समझता है कि जिस स्त्रुवा आदि पात्र से हवन किया जाता है वह ब्रह्म ही है, हवन करने वाला भी ब्रह्म है, हविष्यान्न एवं अग्नि तथा हवन क्रिया आदि सभी ब्रह्म ही हैं।

जिमि स्वर्णकार बनाव भूषण स्वर्णमति नहिं त्यागतो।
तिमि स्त्रुवा अरु हबि आदि महँ सो ब्रह्म लखि अनुरागतो॥
याकर मिले फल ब्रह्म तेहि नहिं स्वर्ग धाम सिधावतो।
एहि दृष्टि महँ बिचरे सकल जग आवतो नहिं जावतो॥

[यह बात वैसे ही है] जैसे स्वर्णकार [सोने से] आभूषणों को तो बनाता है किन्तु उनमें स्वर्ण बुद्धि का परित्याग नहीं करता, उसी प्रकार 'स्त्रुवा तथा हवि' आदि में भी वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को ही देखकर प्रेममग्न रहता है। ऐसी ब्रह्म दृष्टि होने के कारण उसे जिस फल की प्राप्ति होती है वह भी ब्रह्म ही है। अत: इस ब्रह्म दृष्टि से न स्वर्गलोक को जाता है और न जन्म-मृत्यु प्राप्तकर संसार में ही भटकता है।

दोहा— एहि बिधि देखत लोक हित करे सो ज्ञानी कर्म।
ब्रह्मबुद्धि के कारने सच महँ अहइ अकर्म॥ ६३॥

इस प्रकार ब्रह्मदृष्टि से देखता हुआ वह ज्ञानी लोक-कल्याण (लोक-संग्रह) के लिये कुछ कर्म भी करता है तो ब्रह्मबुद्धि होने के कारण सच में वह अकर्म ही है।

चौपाई— सर्ब ब्रह्म गुनत यति जोऊ। कर्म नास सब ताकर होऊ॥
पार्थ चकित चित प्रभुहिं निहारें। ब्रह्मयज्ञ पुनि पुनिहिं बिचारें॥

जगतसहित समस्त नाम एवं रूप भी ब्रह्मरूप ही हैं ऐसा जिस संन्यासी (ज्ञानी) के मन द्वारा चिन्तन किया जाता है उसके लिए समस्त कर्मों का अभाव हो जाता है [अर्थात् उसके लिए कोई कर्तव्य कर्म नहीं रहता]। [ऐसा सुनकर] महात्मा अर्जुन आश्चर्य चकित हो भगवान को देखते हुए बारम्बार ब्रह्मयज्ञ के स्वरूप पर विचार करने लगे।

बोले सुनहु नाथ गिरिधारी। दुबिधा महँ भइ मम मति भारी॥
ब्रह्म जीव अरु प्रकृति नियारे। सो कस एक रूप उजियारे॥

उन्होंने कहा- हे नाथ! हे गिरिधर! ['सब ब्रह्म ही है'- ऐसा सुनने से तो] मेरी बुद्धि अत्यन्त भ्रमित हो गयी है; क्योंकि 'ब्रह्म, जीव और प्रकृति' तो पृथक्-पृथक् हैं, अत: वे सभी एक रूप से कैसे प्रकाशित किये जा सकते हैं?

कार्य करण कारण कर टेको। लेत सदा ये पुनि कस एको॥
नाम मात्र आभूषन जानउँ। यासें सच सुबर्ण सब मानउँ॥

कार्य सदा ही करण और कारण का आश्रय लिये रहता है फिर ये तीनों एक [ब्रह्म] कैसे हो सकते हैं? जैसा

आपने कहा है कि स्वर्ण में आभूषण तो केवल कहने के लिए है मूल में तो वह स्वर्ण ही है इसे मैं सत्य मानता हूँ।

पर यो उपमा इहँ नहिं सूझे। यासें सर्ब ब्रह्म नहिं बूझे॥
महुँ ब्रह्महिं तौ तुम्ह सम नाहीं। चित चंचल मम छिन पल माहीं॥

परन्तु यह उपमा तो यहाँ यथार्थ नहीं है, इसलिए सब कुछ ब्रह्म ही है- ऐसा स्पष्ट नहीं हो रहा है। यदि मैं भी ब्रह्म हूँ तो आपके समान कहाँ हूँ क्योंकि पल-पल में मेरा चित्त चंचल हो जाता है?

दोहा— पराधीन धनु बान रथ ये जड़ कस भगवान।
सर्बब्रह्म कस कहहु प्रभु यह कैसो तव ज्ञान॥ ६४ (क)॥

[यही नहीं] ये धनुष-बाण तथा रथ पराधीन हैं, अत: ये जड़ होते हुए भी भगवान कैसे हो सकते हैं! हे प्रभो! यह आपका कैसा ज्ञान है जिसके द्वारा 'सब ब्रह्म ही है' की घोषणा कर रहे हैं?

ताकर फल सब ब्रह्म तो को बिधान फल भोग।
जाहि परे ध्रुव भोगनो कबहुँ न होय बियोग॥ ६४ (ख)॥

[और हाँ!] जब उसका सम्पूर्ण फल ब्रह्म ही है तो प्रारब्ध का फल कौन भोगेगा, जिसका भोगे बिना कभी भी नाश नहीं होता?

चौपाई— कह प्रभु सुनु अर्जुन दै ध्याना। जासे जाय हृदय अज्ञाना॥
ब्रह्म प्रकृति जीवहु सम वैसे। बीज बृक्ष फल जानहु जैसे॥

भगवान ने कहा- हे अर्जुन! अब ध्यान देकर सुनो, जिससे हृदय का अज्ञान सर्वथा चला जायेगा। 'ब्रह्म, प्रकृति और जीव'- ये एक समान ऐसे ही हैं जैसे बीज, वृक्ष और फल।

छिप्यो बीज महँ तरु फल जैसे। प्रकृति जीव प्रभु महँ सब वैसे॥
जिमि नहिं पृथक बीज फल तरुवर। ब्रह्म जीव माया तिमि सहचर॥

जिस प्रकार बीज के अन्दर वृक्ष और फल छिपे रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और जीव सभी ब्रह्म में ही ओत-प्रोत हैं अथवा जैसे 'बीज, वृक्ष और फल' को पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही 'ब्रह्म, जीव और माया' को भी पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि ये ब्रह्म में ही ओत-प्रोत हैं।

कारण बीज करण तरु भाई। लगे कार्य फल मधुर सगाई॥
इमि उपरोक्त तथ्य सुनु बीरा। उर महँ जानि धरहु तुम्ह धीरा॥

अत: बीज कारण है, वृक्ष करण है एवं फल उसका कार्य है, इन तीनों के सम्बन्ध की मधुरता देखते बनती है। हे वीर! सुनो, उपरोक्त तथ्यों को ऐसा ही हृदय में समझकर तुम धैर्य धारण करो।

अब सुनु जड़ चेतन सब प्रानी। एक ब्रह्म कस झूठ न बानी॥
यथा इंद्रजालिक की माया। बिबिध रूप गहि मोह निकाया॥

अब सुनो कि जड़, चेतन तथा समस्त प्राणी ब्रह्म ही हैं, यह मेरी बात कैसे असत्य नहीं है। जैसे इन्द्रजाल करने वाले की माया विविध रूप धारण करके सभी को मोह में डाल देती है।

दोहा— तिमि बिभु कारण करण अरु कार्य रूप दिखराइ।
मोहित अपुने आप सों जो ज्ञानिन्ह दरसाइ॥ ६५ (क)॥

उसी प्रकार ब्रह्म ही कारण, कार्य और करण रूप में परिणत होकर स्वत: ही मोहित होता रहता है जो ज्ञानी सन्तों को स्पष्ट अनुभव में आता है।

सोरठा— द्रष्टा दरसन दृष्य बनि जग क्रीड़ा करत प्रभु।
स्वयं रहत अदृष्य अति बिचित्र को जानि सक॥ ६५ (ख)॥

वह ब्रह्म स्वयं से ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य बनकर जगत में क्रीड़ा कर रहा है और स्वयं ही अदृश्य होने का नाटक भी कर रहा है। यह उसकी करनी अत्यन्त विचित्र है, उसे कौन जान सकता है!

चौपाई— नाना रूप गहेउ संकल्पित। वाकोइ द्वैत रूप तुम्ह कल्पित॥
सोइ बनि आयो जग अज्ञानी। साधक सिद्ध भयो पुनि ज्ञानी॥

उस ब्रह्म ने अपने संकल्प से अनेक रूपों को धारण कर लिया है, उसी का द्वैत रूप तुम्हारा यह कल्पित रूप है। वही जगत में अज्ञानी बनकर आया हुआ है और पुनः साधक, सिद्ध और ज्ञानी भी बना हुआ है।

करि संकल्प बनेउ अज्ञानी। जबलौं मिलइ न आतमज्ञानी॥
गुरु बनाइ तेहिं चरनन्हि ध्यानउँ। मैं को कस आयउँ सब जानउँ॥

उसी ने संकल्प किया है कि जब तक मुझे आत्मज्ञानी गुरु न मिल जाय, तब तक मैं अज्ञानी बना रहूँ और सद्गुरु बनाकर उनके चरणों की अध्यक्षता में यह सब जान लूँ कि 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, कहाँ से आया हूँ'।

रथ धनु सर सोई बनि आयो। जानि बूझि चेतनहिं छुपायो॥
पर ज्ञानिहिं नित आतम सारे। सच लखाय ते कहत हुँकारे॥

वही (ब्रह्म) रथ, धनुष, बाण आदि साधन बनकर प्रकट हुआ है तथा जान-बूझकर [इन रूपों में] अपनी चेतनता को संकल्पानुसार छिपा लिया है परन्तु ज्ञानीजनों को तो सदा ही सबकुछ यथार्थतः आत्मरूप ही दीखता है, ऐसी वे स्पष्ट घोषणा करते हैं।

तात न तस लखाय जड़ मोकों। जड़ चेतन कस दीखत तोकों॥
जस प्रहलाद कहे निज पितु सों। खम्भ न इहँ मम प्रभु हित मितु सों॥

हे पार्थ! उसी प्रकार यहाँ तो मुझे जड़ दिखायी ही नहीं दे रहा है, फिर तुम्हें जड़ और चेतन (ब्रह्म) किस प्रकार दिखायी दे रहा है। जैसे प्रह्लाद ने अपने पिता से कहा था कि [हे स्वामी!] यहाँ खम्भा नहीं बल्कि यहाँ तो मेरे हित-मित्र सर्वस्व भगवान ही हैं।

सोरठा— ज्ञानी कर प्रारब्ध ब्रह्म दृष्टि सों नहिं बचै।
तहिं सबरे स्तब्ध रहत बेद नहिं कछु बदैं॥ ६६॥

इसी ब्रह्मदृष्टि को धारण करने से उस ज्ञानी का प्रारब्ध नहीं रहता, यही कारण है कि उसके पास सभी वेद स्तब्ध रह जाते हैं उसके विषय में कुछ भी नहीं कह पाते।

चौपाई— हाँ यह तौ सच मानउँ भाई। जो देखन महँ प्रबल लखाई॥
सो जग बनि न सकत बिभुरूपा। पर सो बिभु बनि सक जगरूपा॥

हाँ, यह तो अवश्य मानता हूँ कि जो जगत देखने में अति प्रबल दिखाई दे रहा है उस जगत में सामर्थ्य नहीं है कि वह निर्गुण निराकार बन जाय किन्तु वह ब्रह्म जगत का रूप धारण कर सकता है।

तस धनु सर रथ दीख प्रचंडा। बनि न सकैं जो प्रभु बस डंडा॥
पर सो प्रभु यह सब बनि जावे। अस लखि निज मति नहिं भरमावे॥

वैसे ही धनुष-बाण और रथ जो देखने में अत्यन्त प्रचण्ड दिख रहे हैं जबकि वे तो एकमात्र डण्डे हैं भगवान नहीं बन सकते किन्तु वह भगवान ये सारे रूप धारण कर सकता है- ऐसा समझकर अपनी बुद्धि भ्रमित मत करो।

महाराज संतन्ह बिच आवत। जो कछु सेष तिन्हहि सों गावत॥
ब्रह्मयज्ञ पालत संन्यासी। कछु दिन मास होय अबिनासी॥

महाराज अब सन्तों के बीच लौट रहा है और इसमें कुछ शेष बात रह गयी है उसे उनसे बता रहा है। इस ब्रह्मयज्ञ को जो संन्यासी [साधन रूप में] अपनाता है, वह कुछ ही दिन और महीने में अविनाशी ब्रह्म ही हो जाता है।

ब्रह्मयज्ञ महँ साधन नाहीं। बस दरसन सों करम नसाहीं॥
यह यग करम अभाव दिखावे। यासों संतन्ह कहँ अति भावे॥

इस दिव्य ब्रह्मयज्ञ में किसी भी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं है बल्कि मात्र ब्रह्मदर्शन से ही उसके समस्त शुभाशुभ कर्म जल जाते हैं। यह ब्रह्मयज्ञ कर्मों का अभाव दिखा रहा है अर्थात् गृहस्थाश्रम से संन्यास लेकर ब्रह्म को धारण करने का संकेत कर रहा है, इसीलिए सन्तों को अत्यधिक प्रिय है।

जा दिन दृस्य दरस अरु द्रष्टा। मन अनुभवे बन्यो सच स्त्रष्टा॥
ता दिन सों साधन सब त्यागी। होहु जगत बिच परम बिरागी॥

अत: जिस दिन मन को यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि यथार्थत: ब्रह्म ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप बना हुआ है, उसी दिन से समस्त साधनों का परित्याग करके जगत में परम वैरागी हो जायँ।

दोहा— हनूमान सनकादि अरु सुक सम रहि अज्ञात।
आत्मरूप निरखत फिरहु तुम्ह कहँ नहिं दिन रात॥ ६७॥

भक्त प्रवर हनुमान, सनकादि और शुकदेव के समान अज्ञात हो अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करते हुए विचरण करें फिर आपके लिए दिन-रात का कोई भेद नहीं है [अर्थात् अहर्निश अपने स्वरूप का ही चिन्तन-मनन निदिध्यासन करते रहें]।

चौपाई— गृह महँ मिलै जो आतमज्ञानी। सिष्य जनक सम होय अमानी॥
वाकेउँ यह साधन गृह माहीं। सदगुरु देत न कछु सकुचाहीं॥

[एकमात्र ऐसा ही नहीं है बल्कि] यदि गृहस्थाश्रम में ही आत्मज्ञानी गुरु मिल जाय और वह शिष्य राजर्षि जनक के समान गुरु के पास मानरहित हो जाय तो उसके लिए गृहस्थाश्रम में इस (ब्रह्म यज्ञरूपी) साधन को देने में सद्गुरु थोड़ा भी संकोच नहीं करता।

ब्रह्मयज्ञ अर्जुन सम कोऊ। करइ तो दूषन ताहि न होऊ॥
स्वयंहि गुडाकेस जस कीन्हें। चाँप स्रुवा हबि नर बलि दीन्हें॥

यदि महात्मा अर्जुन जैसा कोई भी [अधिकारी] यह ब्रह्मयज्ञ करता है तो उसे दोष नहीं लगेगा जैसा कि महात्मा अर्जुन ने स्वयं ही होता (हवन कर्ता) बनकर धनुष को स्रुवा बनाकर नरबलिरूप हविष्य दिया।

रित्विक एहि यग माहिं मुरारी। अरु साक्षी स्वयंहि गिरिधारी॥
तबहिं मिल्यो फल पार्थहिं ज्ञाना। ब्रह्मयज्ञ अस महत सुजाना॥

जिस धर्मयुद्ध रूपी दिव्य यज्ञ में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अध्वर्यु (चार ऋत्विकों में से एक) तथा साक्षी बने रहे, तभी तो [यजमान] महात्मा अर्जुन को आत्मज्ञानरूपी फल की प्राप्ति हुई। हे परम बुद्धिमानो! सुनें, ब्रह्मयज्ञ की ऐसी ही महिमा है।

उत रन हरि भारतहिं बतावहिं। रूप अपर यज्ञन्ह समुझावहिं॥
देवयज्ञ कोउ करत सुजाना। सिद्ध होत पावत बरदाना॥

उधर युद्धभूमि में भगवान भक्त अर्जुन को अन्य यज्ञों का स्वरूप बताते हुए समझा रहे हैं- हे भरतर्षभ! कितने बुद्धिमान तो देवयज्ञ [अर्थात् देवताओं की उपासना] करके, उसके सिद्ध होने पर [मनोवांछित] वरदान प्राप्त कर लेते हैं।

देवयज्ञ करि तू मोहिं पायो। ब्रह्मयज्ञ हित पात्र सुहायो॥

स्वयं तुमने भी देवयज्ञ करके [माता-पिता, भ्राता एवं गुरुजनों, इन्द्रादि देवताओं तथा भगवान शंकर की आराधना करके] मुझे प्राप्त किया है और अब इस ब्रह्मयज्ञ को करने के लिए दिव्य पात्र बन गये हो।

सोरठा— यग अद्वैत सों पार्थ ब्रह्माग्नी इहँ करि प्रगट।
आत्मरूप परमार्थ यज्ञहिं आहुति देहिं कोउ॥ ६८॥

उसी प्रकार कोई अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा यहाँ ब्रह्मरूपी अग्नि प्रकट कर पारमार्थिक आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।

चौपाई— कोउ संयम अग्नी धधकावत। जामें श्रोत्रादिकहिं हुमावत॥
जिमि नेत्रहिं संयम अति कीन्हीं। माँ गंधारी सक्तिहिं लीन्हीं॥

कोई संयमरूपी अग्नि को प्रज्वलित करता है जिसमें श्रोत्रादि इन्द्रियों की आहुति दे देता है जैसे माँ गान्धारी ने अच्छी प्रकार नेत्रों का संयम कर शक्ति अर्जित कर ली है।

कहुँ होतो संयम मम लाने। बसतो तिन्ह नैननि सनमाने॥
बेदमते सब्दादि बिषय कोउ। देत इंद्रियन्हि सुख पावत सोउ॥

यदि उसका वही संयम मेरे लिए होता तो उसके दोनों नेत्रों में मैं आदर के साथ वास करता। वैसे ही कोई वेद

के अनुसार भोगने वाले शब्दादिक विषयों को ही [श्रोत्रादि] इन्द्रियों को देकर सुख-शान्ति प्राप्त कर लेता है।

कोउ सब इंद्रिन्ह कर्म निवारे। प्रान करम सों होइ किनारे॥
ध्यान धारणा धरत समाधी। ज्ञानदीप महँ हुमत उपाधी॥

कोई समस्त इन्द्रियों के कर्मों को त्याग करके तथा प्राणवायु के प्रभाव की भी उपेक्षा करके 'ध्यान-धारणा' के द्वारा समाधि प्राप्त कर लेता है और ज्ञानरूपी दीपक अर्थात् आत्मचिंतन में समस्त उपाधियों, नाम-रूपों की आहुति दे देता है।

आतम संयम यहइ कहावे। निस दिन एहि महँ जो मन लावे॥
हरि निमित्त धन अर्पित कोऊ। कछुक काल जग जीतत सोऊ॥

जो अहर्निश इसी क्रम से मन लगाकर साधना में लगा रहता है उसके लिए यही आत्मसंयमरूपी अग्नि कही जाती है। कोई भगवान की प्रसन्नता के लिए धन का दान करता है तो वह भी कुछ समय के उपरान्त जगत में प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है।

दोहा— गहि अष्टांग योग कोउ पावत निर्मल ज्ञान।
तपोयज्ञ गहि कोउ दृढ़ लह बर आतमज्ञान॥ ६९ (क)॥

उसी प्रकार कोई अष्टांगयोग के द्वारा निर्मल ज्ञान प्राप्त कर लेता है और कोई दृढ़तापूर्वक तपयज्ञ द्वारा ही श्रेष्ठ आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है।

सोरठा— कोउ गुरु सरने आइ सदा रहत स्वाध्याय रत।
चिंतन करतो जाइ जस पसु चरि कर पागुरी॥ ६९ (ख)॥

कोई गुरु के शरण में आकर सदा स्वाध्याय करता रहता है तथा किये हुए स्वाध्याय पर चिन्तन भी वैसे ही करता जाता है जैसे पशु चारा खाकर जुगाली करता है।

चौपाई— अस करि जोइ हरिहिं नित ध्यावे। सोई ज्ञानयज्ञ कहलावे॥
कोउ अपान महँ हूमत प्राना। जाहि नाम पूरक जग जाना॥

ऐसा करते हुए जो नित्य ब्रह्म की उपासना करता है तो वही ज्ञानयज्ञ कहा जाता है। उसी प्रकार कोई अपानवायु में प्राणवायु की आहुति देता है जिसे जगत पूरक प्राणायाम के नाम से जानता है।

प्रान माहिं कोउ हुमत अपाना। रेचक नाम धरहिं मतिमाना॥
प्रान अपान गती कोउ रोकी। कुम्भक करि जग होत बिसोकी॥

उसी प्रकार कोई प्राण में ही अपान का हवन करता है, जिसका सन्तों ने रेचक प्राणायाम नाम रखा है तथा कोई प्राण और अपान की गति को रोककर कुम्भक प्राणायाम करके ही जगत में शोकरहित हो जाता है।

जो यगसेष अमिय धन खावत। सो नर ब्रह्म सनातन पावत॥
इनमहँ एकउ जग्य न जिन पहिं। तिन्ह पर ब्रह्म दुखित दुख सब तहिं॥

इस प्रकार जो पुरुष इन यज्ञों के उपरान्त शेष बचे हुए अमृत स्वरूप अन्न को खाता है, वह सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इन यज्ञों में से यदि किसी के पास एक भी यज्ञ नहीं है तो उससे ब्रह्म अत्यन्त दु:खी हो जाता है जिससे सारे दु:ख उसी पर चले आते हैं।

यज्ञ बिना जेहि यहिं सुख नाहीं। सुख न तहउँ तेहि जहँ मरि जाहीं॥

यज्ञ किये बिना जिसे यहीं सुख-शान्ति नहीं है तो उसे वहाँ भी सुख नहीं है, जहाँ वह मर कर जायेगा।

दोहा— साधकगन इक गुप्त मत सुनहु कहत महराज।
प्रभु मत ऐसो दिब्य अति कहत न लागे लाज॥ ७०॥

हे साधको! महाराज एक गूढ़ रहस्य कह रहा है जिसे आप सुनें! भगवान का सिद्धान्त ऐसा दिव्य है कि उसे कहते हुए मुझे संकोच नहीं हो रहा है।

चौपाई— कहत न प्रभु कोउ यज्ञ निरर्थक। उन्हके निमित होइ जो सार्थक॥
जो कोउ इष्ट जाहि उर होवे। सोइ ताकर अंतरमल धोवे॥

[वह गुप्त रहस्य यह है कि] भगवान किसी भी यज्ञ को निरर्थक नहीं बता रहे हैं अपितु उनके निमित्त जो भी कर्म होगा वह सब सफल ही होगा। अत: जिसके हृदय में जो इष्ट होता है, वही उसके हृदय के मल को धो देता है।

पितु अज्ञा नचिकेता लीन्हीं। आपुहिं यमहिं समर्पित कीन्हीं॥
किंतु भये यम हर्षित तिन्ह पर। सहजहि दीन्हें ब्रह्मज्ञान बर॥

[आपसब ने सुना होगा कि प्रभु भक्त] नचिकेता ने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए यज्ञ पूर्ति के निमित्त स्वयं को यमराज को दे दिया किन्तु मृत्यु-देवता यमराज उनपर अत्यन्त प्रसन्न हो गये तथा उन्होंने सहज ही उन्हें वरदान में ब्रह्मज्ञान दे दिया।

सम्भु पूजि जहँ धीर धनञ्जय। पसुपतास्त्र लहि पाये जग जय॥
कागभुसुंडिहु तिन्ह पहिं ध्याये। आतमज्ञान पाइ हरषाये॥

जहाँ भगवान शिव की आराधना करके धैर्यवान अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त कर लिया, जिससे सर्वत्र उनकी विजय हो गयी; वहीं भक्तराज काकभुशुण्डि भी उन्हीं की उपासना कर आत्मज्ञान प्राप्त करके हर्षित हो गये।

देबिहिं पूजि असुर गुन गावत। मनवांछित फल तिन्ह सों पावत॥
मुनिहु मारकंडे सम ज्ञानी। ताहि कृपा भए आतमज्ञानी॥

असुरगण भी भगवती दुर्गा की शक्ति-सामर्थ्य का गायन करते हुए आराधना कर उनसे मनोवांछित वर प्राप्तकर लेते हैं। वहीं [उसी देवी को पूजकर] मार्कण्डेय ऋषि जैसे ज्ञानी उनकी कृपा से ब्रह्मज्ञानी हो गये।

दोहा— सब यज्ञन्ह कर एक फल अपुनो रूप लखाय।
मायामय रूपहु अपर ते सब मन सों जाय॥ ७१॥

अत: समस्त यज्ञों का एक ही फल होता है कि आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाय तथा जो अत्यन्त दु:ख देने वाले असंख्य मायामय रूप हैं, वे मन से चले जायँ।

चौपाई— इन्ह महँ कौन यज्ञ तुव पाहीं। प्रभु बिस्वास करहिं यहिं जाहीं॥
जेहि बिस्वास तुम्हहिं निज मानहिं। प्रतिपल जो चाहिय सो आनहिं॥

इनमें से कौन-सा यज्ञ आपके पास है, जिससे भगवान को यहीं [इसी जन्म में] आप पर विश्वास हो जाय, जिस विश्वास से वे आपको अपना मान लें और प्रतिपल आपको मनोवांछित फल देते रहें।

उत संजय कह सच भूपाला। तुम्हरें पहिं को यज्ञ बिसाला॥
कौन इष्ट तुम्हरो जेहि ध्यावउ। जासे एहि छन रक्षा पावउ॥

उधर सञ्जय ने भी कहा- सच में हे पृथ्वीनाथ! [आप विचार करें कि भगवान द्वारा कहे हुए यज्ञों में से] आपके पास कौन-सा यज्ञ है, आपका वह कौन भगवान है जिसकी आप उपासना करते हैं? जिसके द्वारा इस समय आपकी रक्षा हो?

मौन भये धृतराष्ट्र न बोलत। उनकर मन दुबिधा महँ डोलत॥
यासे तुम्ह महराज सों बोलउ। आपुनि बात आज सब खोलउ॥

[सञ्जय की बात सुनकर] धृतराष्ट्र मौन हो गये, कुछ भी न बोल सके क्योंकि उनका मन संशयग्रस्त था। अत: [हे साधको! हे आत्मजिज्ञासुओ!] महाराज कहता है कि आज तो आपसब महाराज के सामने बोलें और अपनी सारी बात खोल दें।

आत्मरूप होइ यज्ञ करन को। कहत हरी कोउ धरम धरन को॥
ब्रह्म निमित कोउ देव अराधउ। कै कोउ योग यज्ञ तप साधउ॥

भगवान नारायण तो यहाँ यही कह रहे हैं कि कोई भी यज्ञ या कोई भी धर्म आप अपने को शरीर नहीं बल्कि आत्मा मानकर धारण करें तथा ब्रह्म की प्रसन्नता के लिए ही किसी देवता की आराधना करें या किसी 'योग, यज्ञ, तप आदि' की सिद्धि करें-

ताहि निमित्त स्वजन सँग रहनो। होइ अपर सों सुननो कहनो॥
ताके निमित खान पिन सोनो। कछु गुननो मन हँसनो रोनो॥

उसी [की प्रसन्नता] के लिए स्वजनों के साथ रहें, उसी के लिए दूसरों के साथ कहना-सुनना भी हो, उसी के निमित्त खाना-पीना, सोना-जगना, मनन करना, हँसना और रोना होना चाहिए।

दोहा— भवन सुखद तेहि के निमित निर्मित कर सुख होय।
ऐसो जो तुम्ह नहिं करहु असमय महँ नहिं कोय॥ ७२॥

महलों तथा अट्टालिकाओं का निर्माण भी आप उसी के निमित्त करें; तो निश्चित ही आपको सुख-शान्ति मिलेगी। यदि आप ऐसा नहीं करते हैं तो असमय में आपका कोई भी साथ नहीं देगा।

चौपाई— कौरव पक्ष न कोउ नर ऐसो। समरयज्ञ कर प्रभु कह जैसो॥
यासे जो प्रभु सबकर रक्षक। इन्हकर भये तेइ अब भक्षक॥

आपसब देख ही रहे हैं कि कौरव पक्ष में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो भगवान के कथनानुसार 'समरयज्ञ' कर रहा हो। इसीलिए जो भगवान सबके रक्षक हैं वे ही आज इनके भक्षक बन गये हैं,

किंतु परंतप हरि के लाने। करहिं युद्ध मन महँ हरषाने॥
ज्ञान देइ प्रभु युद्ध करावहिं। यहि मारग ते सबहिं बतावहिं॥

किन्तु महात्मा अर्जुन भगवान मधुसूदन की प्रसन्नता के लिए ही प्रसन्न चित्त से युद्ध करेंगे। अत: भगवान ब्रह्मज्ञान देकर युद्ध करायेंगे और वे इसी मार्ग का सभी के प्रति उपदेश भी कर रहे हैं।

जेहि दिन जीवन रथ प्रभु आवत। ब्रह्मज्ञान दै सबहिं करावत॥
यहि प्रमान प्रभु उर महँ आयो। महाराज सच तुम्हहिं बतायो॥

[इतना ही नहीं] आपके जीवन रथ पर जिस दिन भगवान बैठ जायेगा उस दिन सर्वप्रथम वह आपको ब्रह्मज्ञान देगा और आपसे समस्त कर्म करायेगा। महाराज तो आपसे सच कहता है कि आपके हृदय में प्रभु प्रकट होकर बैठ गया है इसका यही प्रमाण है।

छंद— जब लगि न ऐसो होइ तुम्ह पहिं सांति सुख सपनेहु नहीं।
मनमुखि करहु जप जोग तप कोउ देव ध्यावहु जा कहीं॥
यासे करहु भगवान कहनो मानि मत महराज कौ।
पुनि पुनि निहोरै तुम्हरे सन्मुख राखि सब हरि राज कौ॥

अत: जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक स्वप्न में भी आपको सुख-शान्ति नहीं मिलेगी चाहे जितना भी मनमाना योग, जप, तप कर लें, या कहीं भी जाकर किसी भी देवी-देवता की आराधना करते रहें। इसलिए महाराज भगवान के सारे रहस्यों को आपके सामने स्पष्ट करते हुए यह बार-बार प्रार्थना कर रहा है कि आप इसकी बात मानकर भगवान के कथनानुसार ही चलें।

दोहा— ब्रह्मयज्ञ अरु ज्ञान महँ अंतर पूछत कोउ।
एकइ दृष्टी दोउ महँ कहउँ भेद कछु जोउ॥ ७३॥

[महाराज से] ब्रह्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ में कुछ साधक अन्तर पूछते हैं। इन दोनों में दृष्टि तो एक ही है, फिर भी कुछ भेद है, जिसे बता रहा हूँ।

चौपाई— बस दरसन बिभु यज्ञहिं माहीं। जस आचरन सपन जग आहीं॥
स्वप्न जगत कोउ सपनहि जानइ। एकमात्र द्रष्टा महँ आनइ॥

वह यह कि ब्रह्मयज्ञ में तो मात्र दर्शन ही होता है, जैसे कि स्वप्न जगत में किया जाता है। जैसे यदि कोई स्वप्नजगत को स्वप्न ही जान ले तो वह केवल द्रष्टारूप हो जायेगा।

ब्रह्मयज्ञ महँ यहि ब्यवहारा। नाहिं अपर आचार बिचारा॥
ज्ञानयज्ञ दरसन गुरु संगा। चहत आत्मचिंतन सतसंगा॥

अत: ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत एकमात्र यही व्यवहार होता है न कि कोई दूसरा आचार-विचार। किन्तु

ज्ञानयज्ञ दर्शन के साथ-साथ सद्गुरु की शरण में रहते हुए स्वाध्याय, सत्संग और आत्मचिन्तन की भी अपेक्षा रखता है।

प्राणायाम जो प्रभु कह यामें। ताहि कहउँ संसय नहिं जामें॥
जो एहि यग पथ प्रभु हित करई। फूँकि फूँकि निज पग सो धरई॥

इस अध्याय में प्रभु ने जो प्राणायाम बताया है, मैं उसे भी कहता हूँ जिसमें कुछ भी संशय नहीं है। जो इस योगमार्गरूपी यज्ञ द्वारा प्रभु प्राप्ति के लिए चलता है वह अत्यन्त सावधानीपूर्वक अपना कदम बढ़ाता है-

कछुक काल बीते निज रूपा। पाव हृदय महँ अमल अनूपा॥

तो कुछ समय व्यतीत होने पर वह हृदय में ही अपने निर्मल अनुपम आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

दोहा— सप्त दिवस महँ कुंजल बस्ती नित जलनेति।
करैं संख प्रक्षालन मास अंत महँ चेति॥७४(क)॥

इसके अन्तर्गत सजगता के साथ नित्यप्रति जलनेति करें, प्रति सप्ताह गजकर्णी (जल वमन) तथा जल वस्ती भी करें और महीने में एक बार सावधानीपूर्वक शंख प्रक्षालन करके शरीर को शुद्ध कर लिया करें।

नाड़ी सोधन प्रथम करि लैं नस नस सब धोय।
तीनि माह लगि सतक करि प्रानायामहिं बोय॥७४(ख)॥

सर्वप्रथम [दस से प्रारम्भ कर] तीन माह तक एक-एक नाड़ी शोधन बढ़ाते हुए सौ की संख्या पूरी करके अपनी समस्त नाड़ियों को शुद्ध कर लें तब प्राणायाम रूपी बीज को बोयें।

मध्यम संग अनामिका सों इक नासा बंद।
खींचि वायु सों भरि उदर पुनि सो करहु सुछंद॥ ७४(ग)॥

[अंगुलियों की स्थिति ऐसी हो कि] मध्यमा के साथ अनामिका अंगुली लगी हो। अब उनके द्वारा एक नासा छिद्र बन्द करके वायु खींचते हुए पेट में भरकर दूसरी नाक से निकाल दें।

चौपाई— पुनि वासेउँ उदर भरि डारें। पुनि बिनु ठहरि अपर सुँ निकारें॥
भरहु अपर सों तेहि बिधि भाई। तैसेइँ ताहि निकारत जाई॥

पुनः उसी नासा छिद्र से वायु को पेट में भरकर, बिना रोके ही उसे दूसरे नासा छिद्र से निकाल दें। पुनः उसी प्रकार दूसरे नासा छिद्र से वायु भरकर उसे भी [पहली नासा छिद्र से] निकाल दें और बारम्बार ऐसा ही करते रहें।

दुइ संख्या सों एक कहावत। पहलेइँ दिन दस पाँच ढहावत॥
सत पूरे नित एक बढ़ाई। याकी पूरण भई चढ़ाई॥

दो की संख्या से अर्थात् दोनों नाकों से एक-एक बार ऐसा करने पर एक [नाड़ी शोधन प्राणायाम] की गिनती होती है। इस प्रकार पहले ही दिन वह पन्द्रह नाड़ी शोधन करे और प्रतिदिन एक की संख्या बढ़ाते हुए सौ की संख्या पूरी करे। इस प्रकार इस [नाड़ी शोधन] की चढ़ाई पूरी हुई।

सब त्यागहु अब करि दस पाँचा। प्राणायाम कहउँ अब साँचा॥
जो चाहत अब पूरक करनो। प्राणहिं खींचि अपानहिं भरनो॥

अब सौ की संख्या में नाड़ी शोधन न करके प्रतिदिन पन्द्रह नाड़ी शोधन करे। अब प्राणायाम की यथार्थ विधि बता रहा हूँ। जो एकमात्र पूरक प्राणायाम करना चाहता है, वह प्राणों को [दोनों नासिकाओं से] एक साथ खींचकर [मूलाधार तक] अपान में आहुति कर दे अर्थात् मिला दे।

रोकि यथासक्ती प्रभु ध्याना। धरै करै पुनि बाह्य सुजाना॥
रेचक करि बिनु रोके पूरक। सोइ बिधि बर्ते करे न कोउ सक॥

और यथाशक्ति उसे रोककर अपने इष्ट का ध्यान करे तथा मन ऊबने पर उस वायु को बाहर फेंक दे। इस प्रकार रेचक करके बिना रोके अर्थात् बिना बाह्य कुम्भक किये ही पूरक कर ले, उसी प्रकार पुनः करता रहे किसी प्रकार की शंका न करे।

दोहा— प्रति सप्ताह बढ़ाइ इक करत रहै प्रभु ध्यान।
तब लौं करइ सो जब लगि पाय न निज परमान॥७५॥

इस प्रकार प्रति सप्ताह एक की संख्या बढ़ाता हुआ अपने इष्ट का ध्यान करता रहे और वह तब तक ऐसा ही करता रहे जब तक अपने स्वरूप का बोध न हो जाय।

चौपाई— रेचक बिधि पूरक बिपरीतो। उदर करइ वायू सों रीतो॥
ध्यान धरइ निज इष्ट सदाई। नित प्रति तैसेइँ करइ चढ़ाई॥

उसी प्रकार रेचक प्राणायाम की विधि पूरक प्राणायाम के विपरीत है। इसमें पेट को वायु से रेचक द्वारा पूरी तरह खाली कर दे और सदा ही अपने प्रभु का ध्यान करता रहे। पूरक प्राणायाम की भाँति ही इसकी भी संख्या बढ़ाता जाय।

केवल कुम्भक करनो चावै। वायु खींचि सो उदर भरावै॥
मुल उडियान बंध सो बाँधै। बंध जलंधर वायू साधै॥

तथा जो मात्र कुम्भक करना चाहता है वह दोनों नाकों से वायु को खींचकर पेट में भर ले। पुन: मूलबन्ध,उड्डियान बन्ध एवं जालन्धरबन्ध लगाकर वायु को यथाशक्ति रोके।

संख्या सोइ रेचक पूरक की। नाक कटै तब सरग नरक की॥
पावहु मोक्ष काल कछु बीते। बिनु इच्छा न प्रान तन रीते॥

रेचक-पूरक के समान ही एक-एक की संख्या में इसे भी प्रति सप्ताह बढ़ाता जाय। इस प्रकार करने से निश्चित ही स्वर्ग-नरक की नाक कट जायेगी। फिर तो कुछ काल बीतने के उपरान्त उसे मोक्ष की प्राप्ति हो ही जायेगी तथा उसकी इच्छा के बिना मृत्यु नहीं होगी।

ब्रह्मयज्ञ इक सिद्धी भाषउँ। जो सिद्धन्ह पहिं सहजहिं राखउँ॥
उत कृपालु कर ज्ञान बड़ाई। जासु प्रबलता अति अधिकाई॥

मेरी दृष्टि में तो ब्रह्मयज्ञ एक सिद्धि है जिसे ज्ञान-सिद्ध सन्तों के पास सहज ही रहने देता हूँ। उधर भगवान नारायण इस ज्ञानयज्ञ की अत्यन्त बड़ाई कर रहे हैं जिसकी शक्ति-सामर्थ्य अपरिमित है।

सोरठा— अर्जुन अस कह बेद निज मुख यज्ञन्ह रूप बहु।
तिन्ह सबरें महँ खेद मन बच कायिक सिद्ध जो॥७६॥

हे अर्जुन! इस प्रकार वेद ने अपने मुख से बहुत से यज्ञों का स्वरूप बताया है, किन्तु उन सबमें विशेष कष्ट है क्योंकि वे सब मन, वचन एवं शरीर से सिद्ध होने वाले हैं।

चौपाई— आतम करत न अस यग कर्मा। निष्क्रिय साक्षी चेतन धर्मा॥
अस जानत तू असुभ जगत सों। मुक्त होयेगो मोहिं लगत सों॥

आत्मा तो इस प्रकार के द्रव्ययज्ञरूपी कर्म करता ही नहीं है [जिसमें मन, वचन एवं कर्म की प्रधानता हो]; क्योंकि वह अक्रिय, साक्षी और चेतन धर्मवाला है। मुझे पता है कि तुम ऐसा जानते ही अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे।

होहिं यज्ञ सब सिध द्रब्यनि सों। ज्ञानयज्ञ नहिं कोउ हब्यनि सों॥
यासें सब यज्ञनि सों श्रेष्ठा। मानहु मेरो बचन यथेष्ठा॥

सभी यज्ञ द्रव्य के द्वारा ही सिद्ध होते हैं किन्तु ज्ञानयज्ञ की सिद्धि किसी भी द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए मेरा कथन सत्य है कि समस्त यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, अत: तुम इसे स्वीकार करो।

देत जनम फल सब यग ताता। याकी सरन न यह कछु बाता॥
ज्ञान माहिं कर्मन्ह अवसाना। कहँलौं करउँ याहि गुनगाना॥

हे तात! समस्त यज्ञ जन्म-मरणरूपी फल देने वाले हैं, जबकि इस ज्ञानयज्ञ की शरण लेने पर ऐसी कुछ भी बात नहीं है क्योंकि ज्ञानयज्ञ के अन्तर्गत समस्त कर्मों की परिसमाप्ति देखी जाती है। अत: मैं कहाँ तक इसका गुणगान करूँ।

ज्ञानयज्ञ की सुनत बड़ाई। अर्जुन बोले अति हरषाई॥
ज्ञान मिले कहँ कउन उपायो। हे प्रभु कहउ मोहिं अति भायो॥

ज्ञानयज्ञ की प्रशंसा सुनकर महात्मा अर्जुन ने अति प्रसन्न होकर प्रार्थना की- हे प्रभो! यह ज्ञान कहाँ और किस उपाय से मिलता है आप बतायें क्योंकि यह मुझे अत्यन्त प्रिय लग रहा है।

सुनि प्रसन्न हरि जुगुति सुनाये। जेहि धारत सुभ असुभ नसाये॥

ऐसा सुनकर भगवान नारायण ने प्रसन्न होकर उपाय बताना प्रारम्भ किया जिसको स्वीकार करते ही शुभाशुभ संसार का नाश हो जाता है।

दोहा— तत्वदर्सि सदगुरू पहिं जो सरनागत होय।
सेवत करम बचन मन ज्ञानहिं पावत सोय॥७७॥

हे जितेन्द्रिय! जो भक्त आत्मज्ञानी सद्गुरु के शरणागत होकर उसकी मन, वचन एवं कर्म से सेवा करता है वही इस श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करता है।

चौपाई— इहँ इक तत्त्व लखत सब भाई। महाराज जेहि देत दिखाई॥
हरि इहँ ज्ञानी गुरु संकेते। पतो परत गुरु सदगुरु एते॥

हे भाइयो! यहाँ महाराज को एक तत्त्व दिखायी दे रहा है, जिसे आपसब भी देखें- भगवान यहाँ आत्मज्ञानी गुरु की ओर संकेत कर रहे हैं, इससे ज्ञात होता है कि इस जगत में 'गुरु और सद्गुरु' दो हैं।

तत्वदर्सि प्रभु देत बिसेषण। गुरु सदगुरुहिं भेद कर एहि छण॥
कोउ गुरु प्रकृत सिद्ध नहिं ज्ञानी। पर जग लख तिन्ह आतमज्ञानी॥

भगवान नारायण इस समय तत्त्वदर्शी विशेषण देकर गुरु और सद्गुरु में अन्तर दिखा रहे हैं। क्योंकि कोई गुरु ऐसे होते हैं जिनके पास केवल प्रकृतिगत सिद्धि होती है आत्मज्ञान नहीं रहता किन्तु जगत के लोग उन्हें भी आत्मज्ञानी मान लेते हैं।

बरु कोउ तंत्र सिद्ध करि आवे। किधौं मंत्र सों सिद्धी पावे॥
कीधौं योगसिद्धि करि भाई। साधु भेष ये लेहिं बनाई॥

इस जगत में भले कोई तंत्र सिद्ध करके आवे या मंत्र से सिद्धि प्राप्त कर ले अथवा योग सिद्धि करके ये सभी सन्त का वेश बना लें-

जगत ब्रह्मज्ञानी इन्हिं जानैं। प्रभु सम पूजैं अरु सनमानैं॥
प्रभु कह ज्ञान सिद्ध कोउ कोऊ। अर्जुन सबहिं लखत नहिं ओऊ॥

किन्तु जगत के लोग तो इन्हें ब्रह्मज्ञानी ही समझते हैं और भगवान की तरह ही आदर-सम्मान के साथ उनकी पूजा करते हैं। भगवान कह रहे हैं कि हे अर्जुन! ज्ञान से सिद्ध हुए [आत्मज्ञानी] तो कोई-कोई ही होते हैं, वे सभी के समझ में नहीं आते।

निज पर सो प्रसन्न बहु जा दिन। ज्ञान परम बिनवै पुनि ता दिन॥
मैं को साइँ कहाँ सों आयों। माया रूप काह भरमायों॥

वह [सद्गुरु] जिस दिन अपने पर अत्यधिक प्रसन्न हो जाय, उस दिन उससे परम ज्ञान के विषय में पूछे कि हे प्रभो! मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ माया का स्वरूप क्या है, जिसने मुझे भ्रम में डाल दिया है ?

बंधन काह होइ कस मुक्ती। कृपानिधान बतावहु जुक्ती॥
प्रकृति पुरुष की भाषा कैसी। आपु कहहु जस मानउँ वैसी॥

हे जगत्पते! बन्धन क्या है और उससे मुक्ति कैसे मिलेगी ? हे कृपानिधान! कृपया आप इसकी युक्ति बतायें! हे स्वामी! प्रकृति और पुरुष का स्वरूप क्या है ? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही स्वीकार कर लूँगा।

सोरठा— जीव ब्रह्म का भेद उन्हकेउ रूप बखानहू।
नमन करत सब बेद तव मुख कमल सुनउँ प्रभु॥७८॥

जीव और ब्रह्म में क्या अन्तर है उनके स्वरूप का भी आप वर्णन करें ? हे जगत्पते! समस्त वेद आपकी ही

वन्दना करते हैं, अत: मैं आपके ही मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ।

चौपाई— कर्ता कउन अकर्ता भगवन। जामें मोहित सबरे जनजन॥
निर्गुन सगुन भेद कस स्वामी। पुनि पुनि तव पद कमल नमामी॥

हे भगवन्! मैं आपके कमलवत् चरणों की बारम्बार वन्दना कर निवेदन करता हूँ कि कर्ता और अकर्ता कौन है, जिस विषय में सारे लोग मोहित हो रहे हैं। हे स्वामिन्! निर्गुण और सगुण में कैसा भेद है ?

जाहि न पूछ्यों सोउ बतावहु। गुप्त रहस्य आज प्रभु गावहु॥
संसय सोक मोह सब हरहू। निज सरणागत रक्षा करहू॥

हे नाथ! जिसे मैंने [अपनी अल्पज्ञता के कारण] न पूछा हो, आज उन समस्त गुप्त रहस्यों को भी बता दें तथा हे शरणागतरक्षक! आप समस्त संशय, शोक और मोह आदि दोषों का हरण कर अपने शरणागत की रक्षा करें।

अस सुनि सिष्य बचन गुरुदेवा। करत ताहि अज्ञान कलेवा॥
तोहि न होइ बहुरि सुनि मोहा। जाय सबहि तबहीं मन छोहा॥

शिष्य के ऐसे वचनों को सुनकर सद्गुरु उसके सम्पूर्ण अज्ञान का नाश कर देता है। हे कौन्तेय! तुम्हें तो सद्गुरु के वचनों को एकबार सुनने मात्र से फिर मोह होगा ही नहीं बल्कि उसी क्षण मन का सम्पूर्ण क्षोभ चला जायेगा।

ज्ञान जो निज महँ जगत लखावै। जस दीखत मोहिं महँ सब आवै॥
ब्रह्म जीव सबु एकइ भासे। मुक्त होएगो ता छन जासे॥

जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हें अपने आप में दिखने लगेगा, जैसा कि मुझमें दिखाई देता है। तब ब्रह्म और जीव- सभी एक ही रूप प्रतीत होने लगेंगे जिससे तुम उसी क्षण मुक्त हो जाओगे।

दोहा— संजय सुनि सब हरिहि सों नृपतिहिं दिये सुनाइ।
सो सुनि पूछत भीष्म का सोचत एहि छन भाइ॥ ७९॥

कृपालु भगवान श्रीकृष्ण से यह सब सुनकर सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र से कह सुनाया जिसे सुनकर वे पूछ रहे हैं कि हे प्रिय सञ्जय! इस समय [ऐसा सुनकर] पितामह भीष्म मन में क्या सोच रहे हैं ?

चौपाई— हे नृप ते सोचत एहि काला। मेरो काह भयो अस हाला॥
कउन सों पाप भयो अस मोसें। प्रभु बिपक्ष भयों पांडव रोसें॥

हे राजन्! वे सोच रहे हैं कि इस समय मेरी ऐसी दुर्दशा क्यों हो गयी ? मुझसे ऐसा कौन-सा पाप हुआ है जिससे मैं भगवान के विपक्ष में खड़ा हो गया हूँ और पाण्डव भी मुझसे रूष्ट हैं !

कह महराज साधकन्ह पाहीं। अहहिं प्रतिक्षारत मन माहीं॥
एकइ चूक पितामह केरी। जेहि कारन भइ चूक घनेरी॥

इधर महाराज भी साधकों के बीच आकर यह रहस्य सुना रहा है, जहाँ वे मन ही मन प्रतीक्षारत हैं। पितामह भीष्म की एक ही भूल है जिसके कारण अपराध पर अपराध होता गया।

प्रभु अवतार अहइ जब जाने। पितु सन्मुख पन जो कछु ठाने॥
ताकर मूल्य न एकउ पैसो। घटना एक सुनावउँ तैसो॥

जब उन्होंने [माँ गंगा के द्वारा] जान लिया कि श्रीकृष्ण भगवान के अवतार हैं तो पिता शान्तनु के सामने जो भी प्रतिज्ञा की थी, उसका महत्त्व भगवान के सामने कुछ भी नहीं रह जाता। मैं स्वयं की एक वैसी ही घटना सुना रहा हूँ-

एकबार निज गुरु सँग आयों। उन्हके कहे भगत गृह खायों॥
पाइ प्रसाद कह्यों गुरु पाहीं। लेन प्रसाद धरम इहँ नाहीं॥

एक बार मैं अपने गुरुदेव के साथ उनके एक भक्त के यहाँ पहुँचा और उनकी आज्ञानुसार उसके घर में प्रसाद पाने चला गया। प्रसाद पाकर गुरुदेव के पास आया और कहा गुरुदेव! इस भक्त के घर प्रसाद पाना धर्म नहीं है।

दोहा— मम जननी संन्यास हित जेहि दिन आयसु दीन्हि।
परिकरमा करि पग पर्‌यों चारि बचन तब लीन्हि॥ ८०॥

जिस दिन मेरी माँ ने संन्यास के लिए आज्ञा दी, उस दिन जब मैंने उसकी परिक्रमा करके चरणों में प्रणाम किया तो उसने मुझसे चार वचन लिये।

चौपाई— तिन्ह महँ एक बचन कह माता। सबकर भोजन करहु न ताता॥
ताकर अर्थ समुझि मैं स्वामी। प्रेम जहाँ तहँ अन्न खदामी॥

माँ के उन्हीं वचनों में से एक वचन यह भी था कि हे प्रिय! तुम सबका भोजन न कर लेना। अत: हे स्वामी! मैंने उसका अर्थ यह लगाया कि आज से जो अति प्रेम और श्रद्धा से खिलायेगा उसी का प्रसाद पाऊँगा।

हँसि कह गुरुवर जब मोहिं पाये। मातु बचन कै मेरो ध्याये॥
अस को सिष्य रहत गुरु पाहीं। मातु बचन पर रख मन माहीं॥

तब परम पूज्य गुरुदेव ने हँसकर कहा कि जब मैं मिल गया तो भी माता के ही वचनों का पालन करोगे या मेरे वचनों को हृदय में धारण करोगे? ऐसा कौन सेवक होगा, जो सद्‌गुरु के साथ रहता हो और माता के वचनों को मन में रखकर उसके अनुसार चलता हो।

सुनि प्रभु बचन बहुत पछितायों। कह्यों आज से तुम्हरी धायों॥
साधक अस तुम्ह भूल न करनों। गुरु जो कहें ताहि मन धरनों॥

गुरुदेव के वचनों को सुनकर घोर पश्चात्ताप हुआ और कहा- गुरुदेव! आज से मैं आपकी ही आज्ञा का पालन करूँगा। अत: हे साधको! ऐसी भूल आप सब मत करना, गुरुदेव जो कुछ भी कहें, वही करना।

जा दिन तुम्ह गुरु सरने आवहु। अपुने मन की सबहिं बतावहु॥
कहहु स्वामि नव बधु सम आयों। गृह ब्यवहार सबै सब लायों॥

जिस दिन सद्‌गुरु की शरण में जाना तो अपने मन की समस्त बातों को उनसे कह देना और उसी दिन (शरणागत होने के दिन) कहना हे गुरुदेव! मैं आपके चरणों में नववधू के समान आया हूँ तथा गृहस्थाश्रम का सारा का सारा व्यवहार भी साथ ही लाया हूँ।

दोहा— तव आश्रम कर नियम का मैं नहिं जानउँ एक।
जहाँ चूक होइ जाय प्रभु कहहु निबाहउँ टेक॥ ८१ (क)॥

आपके आश्रम के क्या नियम है, मैं एक भी नहीं जानता। अत: हे प्रभो! जहाँ-जहाँ भूल हो जाय वहाँ-वहाँ बता दीजियेगा। मैं सच कहता हूँ कि मैं उन समस्त बातों को स्वीकार करूँगा।

गुरु पहिं जो अस करि सके ता हित अब प्रभु बोल।
जाइ सरन तिन्हकें चरन आपुनि समुझे मोल॥ ८१ (ख)॥

सद्‌गुरु के पास जो ऐसा कर सकता है उसके लिए अब भगवान बोल रहे हैं कि जिसने उनके चरणों की शरण ले ली है वह अपना मूल्य भी समझ ले।

चौपाई— होउ निरास न सखे सुजाना। लेहु तुम्हहु गुरु सों बर ज्ञाना॥
यदि समुझहु तुम्ह पापिन्ह माहीं। मो सम कोउ सिरमौर न आहीं॥

हे बुद्धिमान मित्र अर्जुन! निराश मत होवो बल्कि तुम भी सद्‌गुरु से परम ज्ञान ग्रहण करो, यदि तुम समझते हो कि पापियों में मेरे समान कोई सिरमौर है ही नहीं,

कस होवे प्रायस्चित मेरो। काल कराल पाप मोहिं घेरो॥
तउ तुम्ह तात न कछु बिकलावहु। परम ज्ञान नौका महँ आवहु॥

अत: प्रायश्चित कैसे होगा, मुझे तो भयंकर काल ने घेर लिया है तो भी हे प्रिय! तुम विकल न होवो बल्कि दिव्य ज्ञानरूपी नौका में आ जाओ।

सो अघ सिंधुहिं पार उतारे। तेहि छन सोक मोह निरवारे॥
ईंधन दाह करति ज्यों आगी। ज्ञान अगिनि उर त्यों जब लागी॥

वह ज्ञानरूपी नौका पापरूपी सागर से पार उतारकर उसी समय समस्त शोक-मोह [आदि दोषों] को दूर कर देगी। जैसे अग्नि समस्त ईंधन को जला डालती है, वैसे ही जब हृदय में ज्ञानरूपी अग्नि प्रकट हो जायेगी-

तौ सब कर्मन्हि देइ जराई। प्रारब्धहु कहुँ जाइ पराई॥
तब जग रह सुकदेवहिं जैसो। कै गृह नृप बिदेह कै ऐसो॥

तब समस्त [भले-बुरे, संचित और क्रियमाण] कर्मों को जला देगी और प्रारब्ध कहीं अन्यत्र भाग जायेगा। उसके उपरान्त [गुरु आज्ञानुसार] जगत में वह भक्त चाहे महात्मा शुकदेव की तरह [वन में] रहे या राजा जनक की तरह महल में।

दोहा— पुनि पुनि महिमा ज्ञान की सुनि अर्जुन बिसमाइ।
पूछत दीनानाथ सों चरन कमल सिरु नाइ॥ ८२॥

भगवान नारायण के द्वारा बार-बार ज्ञान की महिमा को सुनकर भक्त अर्जुन अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने दीनों पर दया करने वाले भगवान से उनके कमलवत् चरणों में विनम्रतापूर्वक प्रणाम कर पूछा-

चौपाई— माधव बहुरि बहुरि हरषाई। ज्ञानयज्ञ की करहु बड़ाई॥
कहहु याहि सम यज्ञ न कोऊ। देवे बेगि ब्रह्म पद जोऊ॥

हे माधव! आप बार-बार प्रसन्नता के साथ ज्ञानयज्ञ की प्रशंसा कर रहे हैं। आप कह रहे हैं कि ज्ञान के समान श्रेष्ठ यज्ञ कोई है ही नहीं, जो शीघ्रातिशीघ्र ब्रह्मपद को दे दे,

ताकर रूप कहहु बिस्तारी। धारण करि जेहि होउँ सुखारी॥
सुनि निज सिष्य बचन यदुनाथा। बोले सुनु एहि महँ इक गाथा॥

अत: उसके स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन करें जिसे धारणकर मैं सुख-शान्ति प्राप्त करूँ। प्रभु ने अपने शिष्य अर्जुन का वचन सुनकर कहा कि इस विषय में तुम एक कथा सुनो-

बिप्र एक निज धर्म सँभारे। ज्ञानयज्ञ गहि कर्म बिसारे॥
तिन्ह भार्या बोली मम स्वामी। आपु भये अब केहि अनुगामी॥

एक ब्राह्मण ने अपने स्वधर्म को स्मरण कर कर्मकाण्ड रूप कर्म को त्याग करके ज्ञानयज्ञ स्वीकार किया। तब उनकी धर्मपत्नी ने कहा- मेरे नाथ! अब आप किसका अनुगमन करने लगे!

अबलौं बिप्र धरम की नाईं। जहँ तहँ यज्ञ करत रहे साईं॥
बैठि काह अब समय बितावहु। अस करि काह धरम बिनसावहु॥

अब तक आप ब्राह्मण धर्म के अनुसार जहाँ-तहाँ यज्ञ करते रहते थे। अब सबकुछ त्यागकर बैठे-बैठे समय क्यों बिता रहे हैं, ऐसा करके धर्म की हानि क्यों कर रहे हैं?

दोहा— कहे बिप्र अस नाहिं प्रिये असुर यज्ञ महँ आइ।
लगे करन उतपात अति हबि घी लेइ पराइ॥ ८३॥

तब ब्राह्मण ने कहा- हे प्रिये! ऐसा नहीं है। जब राक्षसगण यज्ञ में आकर उत्पात करते हुए हविष्य एवं घी को लेकर भागने लगे-

चौपाई— तब मैं गहि निज आतम रूपा। ज्ञानयज्ञ लियों परम अनूपा॥
जेहि महँ चाहिय हबिष न कोऊ। अरु न ताहि हित कर्महु होऊ॥

तब मैंने अपने आत्मस्वरूप को स्मरण कर परम अनुपम ज्ञानयज्ञ ग्रहण कर लिया, जिसमें न कोई हविष्य चाहिए और न कोई उसके निमित्त कर्म ही चाहिए।

बिभु महँ यग नित होत लखावे। ज्ञानयज्ञ तेहि दरस कहावे॥
पंच प्राण जो तन उजियारे। इक दूजे के रहत सहारे॥

ब्रह्म में नित्य ही यज्ञ होता हुआ दिखाई दे रहा है। उसका दर्शन करते रहना ही ज्ञानयज्ञ है। पाँच प्राण जो शरीर को प्रकाशित करते हैं एक-दूसरे के आश्रित होते हैं-

वायु समान इनहिं बिच जाई। नाभी मण्डल बसत सदाई॥
सप्त रूप महँ बसि बैस्वानर। रहत प्रज्वलित तहुँ दरसन कर॥

इन पाँचों प्राणों के मध्य में जहाँ नाभिमण्डल है तथा नित्य ही समान वायु जहाँ जाकर वास करती है, वहीं पर वैश्वानर अग्नि वास करता हुआ सात रूपों में प्रज्वलित है जिसका तुम भी दर्शन करो।

जिह त्वग घ्रान कर्ण दृग मन मति। बैस्वानर जिह की सप्तम गति॥

जिह्वा, त्वचा, घ्राण (नासिका), कान, आँख, मन और बुद्धि- ये वैश्वानर अग्नि की सात जिह्वाओं के स्वरूप हैं अर्थात् यही वैश्वानर अग्नि की सात जिह्वा हैं।

दोहा— सब्द परस रुप गन्ध रस मन मति अनघे जानु।
समिधा बैस्वानरहिं कर ये सातो पहिचानु॥ ८४॥

हे निष्पाप! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूपी विषय तथा मन, बुद्धि- ये वैश्वानर अग्नि की सात प्रकार की समिधाएँ हैं, जिसपर तुम विचार करो।

चौपाई— खाय सुँघइ देखइ अरु सुनई। जानइ परस करइ अरु गुनई॥
सप्त पुरोहित यज्ञ समानी। समिध सप्त जो पूर्ब बखानी॥

हे प्रिये! सुनने, देखने, खाने, स्पर्श करने, सूँघने, मनन करने एवं जानने वाला ये ही सात पुरोहित हैं और सात ही समिधाएँ हैं जिनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

सप्तरूप बैस्वानर माहीं। नित्यहिं आहुति दै हरषाहीं॥
मैं निर्गुन आतम एहि दरसउँ। इन्हकर कर्मन्हि मैं नहिं परसउँ॥

ये ही सात पुरोहित सात प्रकार के वैश्वानर अग्नि में सदा ही आहुति देकर हर्षित होते हैं। मैं निर्गुण-निराकार आत्मा इसका दर्शन करता रहता हूँ, इनके द्वारा होते हुए कर्मों को स्वीकार नहीं करता।

होहिं यज्ञ अस मो आतम महँ। कहहु सुमुखि मैं करम बिरत कहँ॥
महि जल तेज वायु नभ मन मति। भामिनि सप्त योनि की ये गति॥

इस प्रकार मुझ आत्मा में यज्ञ तो हो ही रहे हैं अतः हे सुन्दर स्वभाव वाली! तुम्हीं बताओ कि मैं अकर्मण्य कैसे हूँ? हे भामिनि! 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, और बुद्धि'- ये ही सात योनियों के स्वरूप हैं।

इनकै सब गुन हबिस कहावें। जो मति बृत्ती माहिं समावें॥
प्रलय काल महँ तहँइ बास करि। भूत सृष्टि छन आवत अवतरि॥

इनके समस्त गुण हविष्य कहे जाते हैं जो बुद्धिरूपी वृत्ति में प्रवेश करते रहते हैं और प्रलयकाल में ये वहीं वास करके सृष्टि के उत्पत्तिकाल में पुनः प्रकट हो जाते हैं।

तहिं सों प्रगटत सब्द रूप रस। गंध परस अरु तन्मात्रा तस॥
तहिं सों प्रगटत संसय सारे। निस्चयात्मिका बुद्धिहु भारे॥

वैसे ही वहीं से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूपी तन्मात्राएँ प्रकट हो जाती हैं तथा वहीं से समस्त संशय प्रकट होते रहते हैं और वहीं से निश्चयात्मिका बुद्धि भी प्रकट होती है।

दोहा— प्रिये सप्त बिधि जनम येइ मम माया महँ होहिं।
भयउ कबहुँ नहिं जनम मम कस अकर्मता मोहिं॥ ८५(क)॥

हे प्रिये! ये ही सात प्रकार के जन्म हैं जो मेरी माया में होते रहते हैं। इस न्याय से मेरा तो कभी जन्म हुआ ही नहीं, फिर मुझमें अकर्मण्यता कैसी?

सोरठा— ज्ञाता ज्ञान सु ज्ञेय इनि आहुति सों पूर्ण जग।
आत्मज्योति मम लेय होहिं लोक सब ज्योतिमय॥ ८५(ख)॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन्हीं तीन आहुतियों से सारे लोक परिपूर्ण हैं जो मुझ आत्मा से आत्मज्योति प्राप्तकर ज्योतिर्मय कहे जाते हैं।

चौपाई— सुचि हृदये तू पुनि सुनु याही। निज मन निस दिन समुझहु जाही॥
जिह्वा घ्रान त्वचा दृग श्रवना। गुदा उपस्थ गिरा कर चरना॥

हे पवित्र हृदय वाली! तुम इस यज्ञ को पुनः सुनो और अपने मन में इसपर अहर्निश विचार करती रहो। जिह्वा, नासिका, त्वचा, नेत्र, कान, गुदा, शिश्न, वाणी, हाथ और पैर–

इन्हि दस होता लखउँ सयानी। तहूँ देखु ऐसो मम बानी॥
सब्द परस रस रूपहु गंधा। वाक्य क्रिया गति जो जग धंधा॥

इन्हीं को मैं दस होता (हवन करने वाले) के रूप में देख रहा हूँ। हे बुद्धिमति! तुम भी ऐसा ही देखो– ऐसी मेरी आज्ञा है। जो जगत के कर्म स्वरूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाक्य, क्रिया, गति–

बीर्य मूत्र मल त्याग सयानी। ये दस बिषय हबिष्य बखानी॥
दिसा पवन रबि ससि महि दमुनस। हरि बासव ब्रह्मन मित्रहु अस॥

और वीर्य, मूत्र तथा मल का त्याग है– हे सुचिते! ये ही दस विषय हविष्य के रूप में स्वीकार किये गये हैं। दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, विष्णु , इन्द्र , ब्रह्मा एवं मित्र–

सच इनि दस सुर पावक माहीं। दस होता दस विषय हुमाहीं॥

इन्हीं दस देवता रूप अग्निओं में दस प्रकार के होता, (हवन करने वाले) दस प्रकार के विषयों को हवन करते रहते हैं।

दोहा— ज्ञान द्रब्य हबि यज्ञ कर चित्त श्रुवा एहि माहिं।
मन पावक महँ हुमत जेहि अस सुनियत मुनि पाहिं॥ ८६॥

इस ज्ञानयज्ञ में चित्त ही श्रुवा है, उत्तम ज्ञान ही द्रव्यरूपी हविष्य है, जिसे मनरूपी अग्नि में हवन किया जाता है, ऐसा ऋषि–मुनियों से सुना गया है।

चौपाई— एहि बिधि मो आतम के अंतर। सुचिते होवत यज्ञ निरंतर॥
जो जानन महँ यह जग आवे। चित्त रूप सो सुमुखि कहावे॥

हे पवित्र हृदयवाली! मुझ आत्मा के अन्दर इसी प्रकार का यज्ञ निरन्तर होता रहता है। इस जगत रूप में जो जानने में आ रहा है वह चित्तरूप ही कहा जाता है।

ताहि प्रकासक होत अपेक्षित। अहउँ सदा मैं किन्तु अनिक्षित॥
जानत ताहि जीव तन धारी। सोउ अहै मोसों उजियारी॥

उसे प्रकाशक की अपेक्षा रहती है किन्तु मैं तो सदा से ही इच्छारहित हूँ। वैसे ही शरीरगत जीव उस जगत को जानता है किन्तु वह भी मेरे से ही प्राकाशित होता है।

भद्रे ऐसोइ सुनु इक गूढ़ा। सुनतहु जाहि न बूझहिं मूढ़ा॥
करण करम कर्ता मोक्षाई। होता चारि सों जगत ढकाई॥

हे भद्रे! ऐसा ही एक मूल तत्त्व सुनो, जिसे सुनने पर भी मूढ़ पुरुष समझ नहीं पाते। करण, कर्म, कर्ता और मोक्ष इन्हीं चार होताओं से सारा जगत ढका हुआ है।

इन्हकर जोइ हेतु सो गावउँ। ज्ञानयज्ञ महँ जासों ध्यावउँ॥
जिह दृग त्वग अरु मन मति घ्राना। श्रवण करण रुप सप्त बखाना॥

इनका जो कारण है उसे भी बता रहा हूँ जिसके कारण मैं ज्ञानयज्ञ में रमण करता हूँ। आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, मन और बुद्धि– ये ही सात करण रूप हेतु कहे गये हैं।

रस रुप गंध सब्द स्पर्सा। जानन मनन बिषय सप्तर्सा॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा मनन किया हुआ एवं जाना हुआ– ये ही सात प्रकार के विषय हैं।

दोहा— इनहिं करम रुप हेतु मैं जानउँ भामिनि साँच।
तीसर हेतु कहउँ अब जासों लाग न आँच॥ ८७॥

इन्हीं को मैं कर्मरूप हेतु समझता हूँ। हे भामिनि! मैं इस बात को सत्य कह रहा हूँ। अब मैं तीसरा हेतु कह

रहा हूँ जिसको जान लेने पर शोक-सन्ताप जाता रहता है।

चौपाई— देखन बोलन सूँघन वारो। खावन औरें सूनन वारो॥
मनन करन अरु समुझन वारो। सप्त हेतु कर्ता रुप धारो॥

देखने, सूँघने, बोलने, खाने और सुनने वाले तथा मनन करने एवं समझने वाले- ये सात कर्ता रूप हेतु हैं।

ये इन्द्रियँ चैतन्य सुलोचनि। भोगतिं निज बिषयन्हि सुभ पोचनि॥
मैं अनंत निर्गुण बिभु ब्यापक। तोरे हृदय ज्ञान संस्थापक॥

हे शुभ दृष्टिवाली! ये इन्द्रियाँ चैतन्य हैं अत: अपने शुभाशुभ गुणों को भोगती रहती हैं। मैं तो अनन्त निर्गुण ब्रह्म और व्यापक हूँ तथा तुम्हारे हृदय में ज्ञान की स्थापना करने वाला हूँ।

मो महँ होय न साँझ सबेरो। इनसों कछु सम्बन्ध न मेरो॥
जे नर ऐसो लेत बिचारी। मोक्ष हेतु तिन्ह इन्द्रियँ सारी॥

मेरे में न शाम होती है न सबेरा, अत: इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जो पुरुष ऐसा चिन्तन करने लगते हैं उनके लिए ये सारी इन्द्रियाँ मोक्ष का कारण बन जाती हैं।

ज्ञानयज्ञ अस कियों अरम्भा। ऐसोइ तहुँ करु मत करु दम्भा॥
प्राण इहाँ स्तोत्र कहावें। सास्त्र अपानहिं सस्त्र बतावें॥

हे प्रिये! इस प्रकार मैंने ज्ञानयज्ञ प्रारम्भ कर दिया है, ऐसा ही तुम भी करो, दम्भ मत करो। इस यज्ञ में प्राण स्तोत्र कहलाते हैं तथा सभी शास्त्र अपान को शस्त्र बताते हैं।

सर्बत्याग दक्षिणा सुनावे। जो मोरे मन कहँ अति भावे॥

इसमें सर्वस्व का त्याग ही दक्षिणा कही गयी है जो मेरे मन को अति प्रिय लग रहा है।

छन्द— मन मति अहं अध्वर्यु उदगाता सु होता इहँ अहैं।
ऋतभाषणं दिब्यास्त्र अरु सत्यहिं प्रसास्ता मुनि कहैं॥
हे सुचि हृदय तेहि यज्ञ की बर दक्षिणा मोक्षहिं गुनै।
तजि भीरुता यहि ज्ञानयज्ञहिं सर्बयज्ञनि महँ चुनै॥

हे पवित्र हृदय वाली! इस यज्ञ में मन, बुद्धि, अहंकार क्रमश: अध्वर्यु (मुख्य पुरोहित), उद्गाता (सामवेद का गान करने वाला) तथा होता (हवनकर्ता) हैं। यथार्थ में प्रशास्ता (होता का प्रमुख सहायक) का संकल्प रूप सत्य भाषण ही दिव्यास्त्र है- ऐसा मुनिजन कहते हैं और उस यज्ञ की श्रेष्ठ दक्षिणा मोक्ष है, ऐसा समझना चाहिए। अत: तुम अपनी भीरुता को त्यागकर समस्त यज्ञों में ज्ञानयज्ञ का चुनाव कर लो।

दोहा— गृहत्यागी साधकन्ह हित ज्ञानयज्ञ अति श्रेष्ठ।
महाराज जेहि सिष्य कहँ जो गुरु देइ यथेष्ठ॥ ८८ (क)॥

महाराज का कहना है कि जिन साधकों ने गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास ले लिया है उनके लिए तो ज्ञानयज्ञ अत्यन्त ही श्रेष्ठ है। जिस शिष्य को सद्गुरु यह ज्ञानयज्ञ दे, वही यथार्थ में ज्ञानयज्ञ का अधिकारी है।

सोरठा— पुनि प्रभु ज्ञान समान कह कोउ पावन पार्थ नहिं।
करइ जो चित्त महान सो पावत निज आत्मगत॥ ८८ (ख)॥

उधर भगवान ने कहा- हे महाबाहो! ज्ञान के समान जगत में [शीघ्रातिशीघ्र तन, मन, हृदय को परम] पावन करने वाला कोई [अन्य जप, तप, योगादि] नहीं है। जो साधक चित्त को अत्यन्त विशुद्ध बना लेता है, वह अपनी ही आत्मा में उस परम ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— आत्मसिद्धि कछु कालहिं बीते। हृदय होइ अज्ञान सों रीते॥
जो साधक आतम जिज्ञासू। ताके लाने परम पिपासू॥

इस प्रकार कुछ ही समय में आत्मा की सिद्धि होते ही हृदय अज्ञानता से मुक्त हो जाता है। अत: जो साधक यथार्थ में आत्मजिज्ञासु हैं और उसी के लिए अत्यन्त प्यासे हैं,

कहुँ परमारथ उन्हके लानें। जो गुरु हरि महँ भेद न मानें॥
उनमेइँ उन्ह प्रति श्रद्धा भारी। तासों तेइ ज्ञान अधिकारी॥

मैं परमार्थ तत्त्व उनके लिए कह रहा हूँ कि जो सद्गुरु और भगवान में कुछ भी भेद नहीं मानते, उनमें ही उन गुरुदेव के प्रति श्रद्धा होती है अत: वे ही ज्ञान के अधिकारी हैं।

यामें लाग न एकउ पैसो। गुरु पहिं जावै जो जग जैसो॥
एकमात्र श्रद्धा की पूँजी। रोम रोम गुरु प्रति जेहि गूँजी॥

इसको प्राप्त करने में एक पैसा भी नहीं लगता। जगत में चाहे जो जैसा भी हो वह इसके लिए सद्गुरु के पास जाय। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधक के रोम-रोम में सद्गुरु के प्रति ब्रह्मभावरूपी श्रद्धा का व्याप्त होना ही इसकी पूँजी है।

ज्ञान हेतु तत्पर जो ऐसो। लोलुप धन कै पाछे जैसो॥
ताहि जितेंद्रिय तेरो नाईं। ज्ञान देत अति सीघ्र गुसाँईं॥

लोभी पुरुष जैसे धन के पीछे पड़ा रहता है, वैसे ही जो ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्पर है, तुम्हारे जैसे उस जितेन्द्रिय को सद्गुरु भगवान शीघ्रातिशीघ्र परम ज्ञान दे देते हैं।

पर जो मूढ़ गुरुहिं जिय माहीं। अगुन सगुन प्रभु मानत नाहीं॥
संसय ग्रसित अज्ञ सो भाई। ऐसो मरम जानि नहिं पाई॥

किन्तु जो मूर्ख हृदय में सद्गुरु को निर्गुण और सगुण ब्रह्म नहीं मानता, वह संशय से ग्रसित अज्ञानी ऐसे रहस्य को जान नहीं पाता।

सोरठा— सो अति श्रद्धाहीन बिनसत नर तन पाइकै।
सुख सांतिहु सों दीन भटकत एहि जग ताहि जग॥ ८९॥

वह अत्यन्त श्रद्धाहीन होने के कारण दुर्लभ मनुष्य तन प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है तथा सुख-शान्ति से वंचित वह इस लोक से उस लोक में भटकता रहता है।

चौपाई— ताहि न कोउ जग राखन वारो। प्रेत पिसाच बनै अति खारो॥
पर जो कर्मयोग अनुसरई। सकल करम हरि अर्पित करई॥

उसे तो कोई भी जगत में शरण नहीं देता, इसलिए वह नीच भूत-पिशाच बन जाता है। परन्तु हे भाई! जो पुरुष कर्मयोग के अनुसार चलकर समस्त कर्मों को भगवान को समर्पित कर-

आत्मरूप होइ संसय सारे। ज्ञानयज्ञ गहि प्रतिपल मारे॥
बाँधि न सकत ताहि कोउ कर्मा। आत्मज्ञान कर यह सच धर्मा॥

आत्मरूप होकर ज्ञानयज्ञ द्वारा समस्त संशयों को प्रतिपल मारता रहे तो आत्मज्ञान का यह यथार्थ स्वभाव ही है कि उसे कोई भी कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते।

यासों जब जब उर अज्ञानहु। संसय सहित उठै नहिं मानहु॥
ज्ञान खड़्ग लै तेहि छन मारहु। अब रन हेतु उठहु धनु धारहु॥

अत: जब-जब हृदय में संशय के साथ अज्ञान उठ खड़ा हो तो उसका आदर न करो, उसी समय ज्ञानरूपी तलवार लेकर उसे मार डालो। [हे जितेन्द्रिय वीर! मैंने तुम्हारे समस्त संशय को दूर कर दिया है,] अत: उठो और युद्ध करने के लिए धनुष धारण करो।

महाराज अस सुनि हरषाये। भगतन्ह चुप्पी देखि लजाये॥
अहो ज्ञान महिमा अस भारी। क्यों न लगे पुनि गुरुहिं गुहारी॥

महाराज ऐसा सुनकर अत्यन्त हर्षित हो रहा है, किन्तु भक्तों की चुप्पी को देखकर लज्जित भी हो रहा है कि अहो! जब ज्ञानयज्ञ की ऐसी विशेष महिमा है तो फिर [साधकों की] सद्गुरु के पास गुहार (पुकार) क्यों नहीं लग रही है?

जाइ न डेरा डारत काहे। जग रिझाय सच काह निबाहे॥
महाराज इक गुप्त लखावे। जासे यह अध्याय सुहावे॥

उनके पास जाकर अपना डेरा क्यों नहीं डाल रहे हैं ? जगत को प्रसन्न करने में आप किस प्रतिज्ञा का निर्वहन कर रहे हैं। महाराज [अब साधकों से] एक गुप्त रहस्य दिखा रहा है जिससे यह अध्याय अत्यन्त सुशोभित होता है।

सप्तभूमिका ज्ञान अधारो। संत सास्त्र सब कहत हुँकारो॥

सभी सन्त और शास्त्र अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि ज्ञानप्राप्ति का आधार ज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं।

दोहा— पर प्रभु देत कृपा करि ज्ञान भूमिका चारि।
जिन महँ सबरें आवहीं साधक करें बिचारि॥ ९०॥

किन्तु भगवान नारायण ने [आत्मजिज्ञासुओं पर] कृपा करके ज्ञान की चार भूमिका ही दी है, जिनमें ज्ञान की समस्त भूमिकाओं का समावेश है। इस पर साधकगण विचार करें।

छंद— अब करि कृपा प्रभु देहिं इहँ ज्ञानहुँ कि चारिहिं भूमिका।
जिन महँ समाई सबहिं सप्तहुँ ज्ञान की सोपानिका॥
हे संत जन पहिले लखउ जे सप्त चरण कहावतो।
महराज पुनि कह चरण चारिहिं जो इहाँ हरि गावतो॥

अब प्रभु कृपा करके यहाँ ज्ञान की चार ही भूमिका दे रहे हैं जिनमें [शास्त्रों में कही गयी] समस्त सात सीढ़ियाँ (भूमिकाएँ) समायी हुई हैं। हे सन्त वृन्द! पहले आप ज्ञान की उन सातों भूमिकाओं को जान लें उसके उपरान्त महाराज ज्ञान की उन चारों भूमिकाओं को आपके सम्मुख प्रस्तुत करेगा जिन्हें यहाँ प्रभु ने बताया है।

सुभ कामना सुबिचारणा तनुमानसी अरु तुर्यगा।
संसक्ति बिगत पदार्थभावनि सत्त्वापत्ती सतपगा॥
सों युक्त हइ यो ज्ञान जिनि जग भूमिका अति प्रिय कहे।
पर प्रभु इहाँ बद चारि साधक धारि जिनि सदगति लहे॥

ज्ञान की सातों भूमिकाएँ इस प्रकार हैं- शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, तुर्यगा, असंसक्ति, पदार्थाभावना और सत्त्वापत्ति। संसार में ज्ञान की यही प्रिय सात भूमिकाएँ कही गयी हैं परन्तु प्रभु ने कृपापूर्वक इन्हें चार में ही समाहित करके यहाँ बताया है जिन्हें धारण कर कोई भी साधक परम गति प्राप्त कर सकता है।

सोरठा— लखहु भगत अरु संत सप्त भूमिका कर अरथ।
स्वयंहिं समुझि अनंत भेदहु सप्ताबरन ये॥ ९१॥

हे भक्तो एवं सन्तो! अब आप सब सप्त भूमिकाओं का अर्थ समझ लें और अपने को ब्रह्म समझकर इन सातों आवरण का भेदन कर दें।

चौपाई— मैं को जगत कहाँ सों आयो। ब्रह्म काह को जीव कहायो॥
जानन हित एहि गुरु पहिं जाये। यहइ सुभेच्छा मुनिजन गाये॥

मैं कौन हूँ, यह जगत कहाँ से प्रकट हुआ है; ब्रह्म क्या है और जीव शब्द से कौन जाना जाता है आदि- इसको जानने की इच्छा से गुरु के पास जाना ही सभी [ग्रन्थों और] सन्तों के द्वारा ज्ञान की शुभेच्छा नामक प्रथम भूमिका कही जाती है।

सास्त्र संत सँग दृढ़ बैरागा। आध्यात्मिक चिंतन अनुरागा॥
होवइ जब बिचारणा भाषे। बिषय बिराग तनुमानसि राखे॥

शास्त्र एवं सन्त का संग तथा दृढ़ वैराग्य और आध्यात्मिक चिन्तन के प्रति अनुरक्ति जब होती है, तब वह विचारणा नामक दूसरी भूमिका कही जाती है। विषयों से वैराग्य होना ही तनुमानसा नामक तीसरी भूमिका कही जाती है।

होनो जो चित सत्त्वस्वरूपा। सत्त्वापत्ति केरि यह रूपा॥
अनासक्ति तिहिं सों होइ जावे। असंसक्ति योई कहलावे॥

जो चित्त का सत्त्व स्वरूप हो जाना है, यही सत्त्वापत्ति (नामक ज्ञान की चौथी भूमिका) का स्वरूप है तथा उससे भी अनासक्ति का हो जाना, यही ज्ञान की पंचम भूमिका असंसक्ति कहलाती है।

चित सों जगतभाव जब जावे। याहि पदार्थ अभावन गावे॥
आत्मरूप महँ रहत सदाई। याहि तुर्यगा भाषहिं भाई॥

जिस समय चित्त में जगतभाव का नाश हो जाता है, इसी को [ज्ञान की छठी भूमिका] पदार्थाभावना कहते हैं। [तदुपरान्त] हे भाइयो! अहर्निश आत्मरूपता में स्थित रहने को [ही ज्ञान की सप्तम भूमिका] तुर्यगा कहा जाता है।

दोहा— जीवन मुक्तहिं तुर्यपद मिलत कहत सब संत।
तुर्यातीत बिदेह पद पावत होत अनंत॥ ९२ (क)॥

यह तुर्यपद जीवनमुक्त पुरुषों को ही प्राप्त होता है– ऐसा सभी सन्त कहते हैं तथा तुर्यातीत पद तो विदेह पद कहलाता है, जिसे प्राप्तकर पुरुष निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो जाता है।

श्रद्धा सुभ सरनागती तत्परता बिजितात्म।
इहाँ देत यहि भूमिका कृष्णचन्द्र परमात्म॥ ९२ (ख)॥

[जहाँ शास्त्रों में ज्ञानप्राप्ति की उपरोक्त सात भूमिकाएँ दी गयी हैं वहीं पर] भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द 'परम श्रद्धा, शरणागति, तत्परता एवं इन्द्रियजयता' को ही यहाँ ज्ञान की भूमिका के रूप में दे रहे हैं।

यासोइँ पावै परम पद जीवन कै जो लक्ष।
सोइ नर योगी संत अरु एहि जग सोइ अति दक्ष॥ ९२ (ग)॥

और कह रहे हैं कि इन्हीं चार प्रकार की भूमिकाओं से परम पद की प्राप्ति होती है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। जो इसे प्राप्त कर लेता है वही मनुष्य जगत में योगी है, सन्त है और वही अत्यन्त दक्ष है।

चौपाई— उत कह नृप संजय सों तबहीं। अस तू मौन भयो क्यों अबहीं॥
कृष्ण कथन का अर्जुन मान्यो। मान्यो पुनि ते काह बखान्यो॥

उधर सञ्जय से हस्तिनापुर नरेश कह रहे हैं कि हे सञ्जय! तुम इस प्रकार मौन क्यों हो गये हो। क्या कृष्ण के कहने से अर्जुन को विश्वास हो गया और हो गया तो वे माधव फिर क्या कह रहे हैं?

कह संजय यहि मनहिं बिचारे। सुर मुनि सिद्ध संत नभ सारे॥
यहि देखत तुव जनक ब्यास ऋषि। यहि सोचत इहँ रन भट सब दिसि॥

सञ्जय कह रहे हैं कि हे राजन्! आकाश मण्डल में समस्त देवता, महर्षि, सिद्ध और सन्त भी मन में यही विचार कर रहे हैं तथा आपके पिता महर्षि व्यास एवं युद्धभूमि में सब ओर योद्धागण भी यही सोच रहे हैं।

सब उर यहि देखन्ह अभिलासा। प्रभु का दैं अर्जुनहिं दिलासा॥
यासें कोउ न अनत निहारहिं। कोउ उर प्रभु कोउ पार्थहिं धारहिं॥

सभी में यह देखने की उत्कट जिज्ञासा है कि भगवान अब महात्मा अर्जुन को कैसे सान्त्वना देते हैं। इसलिए कोई भी इधर-उधर नहीं देख रहा है बल्कि कोई भगवान को हृदय में धारण किये हुए है तो कोई अर्जुन को [अर्थात् कोई तो सोच रहा है कि देखें भगवान क्या कहते हैं और कोई विचार रहा है कि महात्मा अर्जुन क्या कहते हैं]।

छबि नहिं बरनि जाइ मोहिं पाहीं। कर्षति सबकर मन पल माहीं॥

[हे राजन्!] मुझसे इस छवि का वर्णन नहीं हो सकता जिसने सबके मन को एक ही क्षण में अपनी ओर खींच लिया है।

छंद— छबि कस कहउँ जहँ बाजि गजहू सुनत प्रभु बचनामृतम्।
जनु लगत चित्र बिचित्र मूरति ठाढ़ि माया सों कृतम्॥

निरखउँ जहाँ अपलक दृगन्ह तन मन हलन नहिं होवई।
जिमि जोगि गहि तन बिबिध ज्ञान समाधि महँ लख खोवई॥

[हे नरेश!] मैं इस दिव्य छवि को कैसे कह सकता हूँ, जहाँ घोड़े और हाथी भी [ध्यानपूर्वक] भगवान के अमृतमय वचनों का पान कर रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो भगवान की माया द्वारा बनायी हुई चित्र विचित्र मूर्तियाँ खड़ी हों। मैं जिधर दृष्टि डालता हूँ उधर यही देखता हूँ कि इनके नेत्र अपलक हैं और तन-मन, हलन-चलन से रहित है, मानो सिद्ध एवं योगीगण नाना प्रकार के शरीरों को धारण कर ज्ञानसमाधि में खोये हुए हों।

सोरठा— हे राजन सुनु पार्थ हाथ जोरि कछु कहन चह।
मनहु कोउ परमार्थ आइ गयो सुभ चित्त सों॥ ९३॥

हे राजन्! सुनें, अब प्रिय अर्जुन हाथ जोड़कर कुछ कहना चाह रहे हैं मानो उनके परम पवित्र चित्त से कोई परमार्थ तत्त्व प्रकट हो रहा है।

मासपारायण, चौदहवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

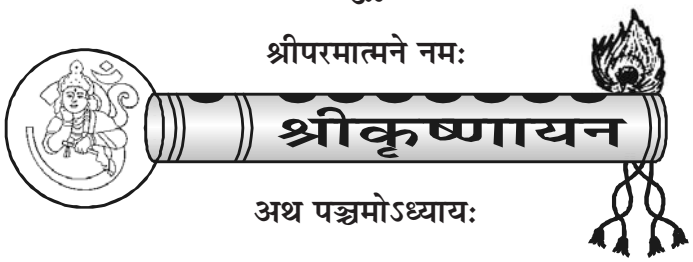

अथ पञ्चमोऽध्यायः

यशोदा मा मानति तव लाला॥
ददति ज्ञानं अर्जुनं यः मानति एषं श्याला।
आगत्वा रण क्षेत्रे माते वद तु त्वमसि प्रतिपाला॥
मानति चेत् न तव वचनं सः उखले बद्धु जगभाला।
प्रष्टुः पुनश्च उपदिष्टमेषं किं ददसि विभु वत्सला॥
पश्यामि अम्बे तव मौनमद्यः पश्यसि अयं कृपाला।
वन्दति महाराज कृष्णं दयालं ज्ञातः यः कालकाला॥

[अब तक महात्मा अर्जुन भगवान नारायण की बात स्वीकार नहीं कर पाये हैं ऐसा देखकर दिव्य दृष्टि वाले साधक, सिद्ध एवं भक्त जो परम भक्ति से ओत-प्रोत हैं वे खीझ से रहे हैं और अतीत में जाकर माँ यशोदा से पुकार करने लगे हैं-] हे माँ यशोदा! तुम्हारा लाला मान नहीं रहा है, वह मोह से ग्रसित अर्जुन को ज्ञान दे रहा है; जो अभी तक इसको अपना साला ही मान रहा है। अतः हे माँ! रणभूमि में आकर इसे बताओ कि तुम [गौ, सन्त एवं पृथ्वी की] रक्षा करने वाले परब्रह्म परमात्मा हो। हे माते! हे जगत की चेतना! यदि तुम्हारे वचनों को यह नहीं मानता है तो इसे ऊखल में बाँध दो। हे भगवत्वत्सले! पुनः इससे पूछो कि यह इसे ज्ञानोपदेश क्यों दे रहा है? अच्छा तो तुम मौन हो, मैं तुम्हारे मौन के कारण को जान गया कि आज तुम इसे कृपा के धाम भगवान नारायण के रूप में देख रही हो। महाराज यह जानते हुए कि दयालु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द काल के भी काल हैं- उनकी बारम्बार वन्दना कर रहा है।

सोरठा— ज्ञान ज्ञान पुनि ज्ञान परम पुनीत महान अति।
यज्ञ न कोउ अस आन सुनि अर्जुन सोचत मनहिं॥

ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान ही अत्यन्त महान है, इसके समान परम पुनीत कोई दूसरा यज्ञ है ही नहीं। भगवान नारायण के द्वारा ज्ञान की [ऐसी विलक्षण] महिमा सुनकर महात्मा अर्जुन मन ही मन विचार कर रहे हैं कि-

चौपाई— ज्ञान श्रेष्ठ सब योगनि माहीं। जान्यों हरिहु बखानत जाहीं॥
सो मोहिं ज्ञान सुगम अति लागे। प्रभु पुनि समुझत काह अभागे॥

अब मैंने [निश्चित ही] जान लिया कि ज्ञानयोग ही समस्त योगों में श्रेष्ठ है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर प्रभु ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहते ही क्यों? मुझे भी तो [इनसे सुन लेने पर] वह ज्ञान अति सुगम लगने लगा है, फिर भगवान मुझे इसके अयोग्य क्यों समझ रहे हैं?

कर्मयोग ऐसो हिंसामय। स्वजन बधउ तब हरि परिपालय॥
पुनि इन्हि गुरू बनायों आजौं। निज मत गहि इनसों क्यों लाजौं॥

जबकि कर्मयोग तो ऐसा हिंसामय है कि पहले स्वजन वध करिये, तब भगवान आपका पालन-पोषण करेंगे। फिर मैंने तो आज इनको ही गुरु बना लिया है, अतः अपने मत का आग्रह कर इनके द्वारा मैं लज्जित क्यों होऊँ?

जगत कहे गुरु कीन्ह न मान्यो। निज मत टेक्यो निज गुन गान्यो॥
क्यों न जनम यह इन्ह हित हारउँ। इन्हहिं कहे जग महँ ब्यवहारउँ॥

क्योंकि सारा जगत कहेगा कि इसने [भगवान को] सद्गुरु तो बनाया किन्तु उनका कहना नहीं माना, अपने ही मत पर अड़ा रहा और अपना ही गुण गाता रहा। इसलिए क्यों न यह जन्म मैं इन पर ही न्योछावर कर दूँ और

इनके कहे अनुसार ही जगत में व्यवहार करूँ!

लखि महराज पार्थ सरनागत। नमत उन्हहिं उर बर गुन रागत॥
इन्ह सम सिष्य जगत नहिं कोऊ। स्वजन बधे गुरु काजें जोऊ॥

महाराज महात्मा अर्जुन की शरणागति को देखकर मन ही मन उनके अतिश्रेष्ठ गुणों का प्रेमपूर्वक गान करते हुए उन्हें नमस्कार कर रहा है। इस जगत में इनके समान कोई शिष्य नहीं है, जो सद्गुरु की प्रसन्नता के लिए स्वजन-वध करे।

सोरठा— इत प्रभु अतिहिं कृपालु ज्ञान देइ करवायँ रन।
बरु बहु होहिं बेहालु पार्थ न समुझहिं हरि बिरद॥ १ (क)॥

इधर भगवान ऐसे महान कृपालु हैं जो ज्ञान देकर युद्ध करवायेंगे, भले ही महात्मा अर्जुन अति विकल होते रहें क्योंकि वे प्रभु की अपार महिमा को अभी तक नहीं समझ पा रहे हैं।

दोहा— पुनि पुनि बंदत पद कमल तउ उर अबहुँ बिषाद।
प्रस्न करहिं जेहि कारने सुनहु ताहि संबाद॥ १ (ख)॥

हे श्रोताओ! यद्यपि भक्त अर्जुन बारम्बार भगवान के चरण कमलों की वन्दना कर रहे हैं तथापि उनके हृदय में अभी भी कुछ विषाद तो है ही, जिस कारण वे प्रश्न कर रहे हैं। आप सब उस दिव्य संवाद को सुनें।

कर्मत्याग कहि श्रेष्ठ प्रभु पुनि गावहु गुन कर्म।
मम हित दोउ महँ श्रेष्ठ को याहि बतावहु मर्म॥ १ (ग)॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! सर्वप्रथम आप कर्मत्याग रूप ज्ञानयोग की प्रशंसा करते हैं फिर कर्मयोग की महत्ता के भी गीत गाने लगते हैं, अत: मेरे लिए कर्मत्याग एवं कर्मयोग इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है, इस रहस्य को बतायें!

चौपाई— सब चाहत मैं श्रेष्ठ कहावउँ। महत करम करि प्रभु पद पावउँ॥
मो सन होहिं करम नहिं निंदित। करहु कृपा प्रभु होहिं अनिंदित॥

हे प्रभो! सभी चाहते हैं कि मैं जिस क्षेत्र में हूँ उसमें श्रेष्ठ कहा जाऊँ तथा श्रेष्ठ कर्म करके भगवत पद प्राप्त कर लूँ। अत: हे जगत्पते! अब आप ऐसी कृपा करें कि मुझसे निन्दनीय कर्म न हों, अनिन्दित कर्म ही हों।

कह प्रभु कर्मत्याग अरु योगा। दोउ अति श्रेष्ठ हरत भवरोगा॥
पर अज्ञान संग तजि कर्मा। यति बननो न कहाय सुधर्मा॥

भगवान ने कहा- कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनों ही अत्यन्त श्रेष्ठ हैं और संसाररूपी रोग का नाश करने वाले हैं; किन्तु अज्ञान के साथ कर्मों का त्याग करके संन्यास लेना श्रेष्ठ धर्म नहीं है।

तासें तो गुरु आयसु मानी। कर्म करइ तेहि श्रेष्ठ बखानी॥
नित्य यती जानिय जग सोई। जाहि मित्र बैरी नहिं कोई॥

उससे तो सद्गुरु की आज्ञानुसार कर्म करने वाले को अत्यन्त श्रेष्ठ कहा जाता है। अत: उसे ही नित्य संन्यासी समझना चाहिए जिसका न कोई मित्र है न वैरी है-

द्वेष न करइ करम सों जोई। जग सों कछु न चहइ यति सोई॥
गुडाकेस जेहि राग न द्वेसा। सहज छुटइ भव बंध कलेसा॥

और जो न किसी कर्म से द्वेष करता है, न जगत में किसी से कुछ चाहता ही है- वही संन्यासी है। अत: हे निद्राविजयी अर्जुन! जिसके मन में न तो किसी से राग है और न द्वेष ही है, वह सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धन के क्लेश से मुक्त हो जाता है।

सांख्य योग दोउ भिन्न कहत जो। अज्ञ अहइ सो बहुरि दहत जो॥
जो यथार्थ महँ पंडित ताता। कहइ कबहुँ नहिं ऐसी बाता॥

'संन्यास और कर्मयोग'- इन दोनों को जो पुरुष पृथक्-पृथक् बताता है वह अज्ञानी है जो पुन: नष्ट हो जाने वाला है किन्तु हे तात! जो सच में पण्डित है वह कभी भी ऐसी बात नहीं कहता।

दोहा— दोउ महँ एकउ गहत जग पाव परम फल मोक्ष।
अस निरखत जो सच लखत सोइ कर्ताहु अभोक्ष॥ २॥

क्योंकि जो पुरुष जगत में दोनों में से किसी एक को भी भलीभाँति धारण कर लेता है, वह परमफल मोक्ष को प्राप्त करता है- जो इस प्रकार देखता है, वही यथार्थ देखता है तथा वही कर्ता एवं अभोक्ता भी है।

चौपाई— महाराज देखत नित आश्रम। कोउ बटु कर्मत्याग कोउ कर श्रम॥
तेहि महँ कोउ बटु चिंतनहीना। करत जाय श्रम मन अति दीना॥

महाराज भी नित्य ही आश्रम में देखता है कि कोई ब्रह्मचारी कर्मत्याग अर्थात् ज्ञानयोग और कोई कर्मयोग का आचरण करता है। उसी में कोई विचारहीन ब्रह्मचारी कर्म तो करता है किन्तु मन से मलिन रहता है।

पूछत सदगुरु काह गलानी। कहत सो नैननि ढारत पानी॥
करउँ करम तिन्हिं जिन्हिं तजि आयउँ। ज्ञानयोग तुम्हसों नहिं पायउँ॥

जब सद्गुरु उसे इस दशा में देखकर पूछता है कि अरे! तुम्हारे मन में क्यों ग्लानि हो रही है तब वह नेत्रों से आँसू बहाता हुआ कहता है- हे प्रभो! [यहाँ आकर] आप से भी मुझे ज्ञानयोग नहीं मिला बल्कि उन्हीं कर्मों को करना पड़ रहा है जिसे मैं घर में छोड़कर आया था।

बहुत बटुक कछु कर्म न करहीं। तुम्ह पहिं बैठि ज्ञान अनुसरहीं॥
यासें तौ घर अति प्रिय स्वामी। तहिं बसि होतेउँ तव अनुगामी॥

हे गुरुदेव! यहाँ बहुत-से ब्रह्मचारी हैं जो आपके पास बैठकर केवल ज्ञान-ध्यान की बातें करते रहते हैं, कुछ भी कर्म नहीं करते। हे स्वामिन्! इससे तो मेरा घर ही श्रेष्ठ था, मैं वहीं रहकर आपका भक्त हुआ होता।

तब गुरुदेव बिहँसि समुझावत। कर्म ज्ञान दोउ मरम बतावत॥
कर्मयोग के तुम्ह अधिकारी। सोइ तुम्हरे हित अति हितकारी॥

तब गुरुदेव हँसकर समझाते हुए कर्मयोग और ज्ञानयोग इन दोनों का रहस्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे प्रिय! तुम कर्मयोग के ही अधिकारी हो, अत: वही तुम्हारा परम कल्याण करने वाला है।

सोरठा— अपर बटुक दिन रात ज्यों आतमचिंतन करत।
उन्ह सम करि सक तात तब तजु आजहिं करम सब॥ ३॥

हे प्रिय! अन्य ब्रह्मचारी जैसे दिन-रात आत्मचिन्तन में लगे हुए हैं, यदि तुम भी उनके समान चिन्तन कर सको तो आज ही समस्त कर्मों का त्याग कर दो।

चौपाई— सच पूछउ मोसों तुम्ह ताता। तो बतलाउँ गूढ़ एक बाता॥
बरु कोउ गुरु आज्ञा अनुसारी। करम गहे कै ज्ञानहिं धारी॥

हे प्रिय! यदि तुम मुझसे सत्य पूछते हो तो मैं एक गूढ़ बात बता रहा हूँ कि भले ही कोई गुरु आज्ञानुसार कर्मयोगी बने या ज्ञानयोगी-

समय बताय हुवो को ज्ञानी। कर्मी कै ज्ञानी नित ध्यानी॥
बहु बटु गुरु सेवत सब पावत। यासें उनकेइ अति गुन गावत॥

किन्तु यह तो समय ही बतायेगा कि यथार्थ में कौन ज्ञानी हुआ- कर्मयोगी, ज्ञानयोगी या सदा ध्यान करने वाला। [क्योंकि] बहुत-से ब्रह्मचारी तो सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा से ही सबकुछ पा गये, अत: वे तो विशेष रूप से उन्हीं का गुणगान करते हैं।

सुनु एक हुते जगत बर ज्ञानी। बसत बिपिन अति होइ अमानी॥
बिपुल सिष्य आतम जिज्ञासू। तिन्हकी सरन करत नित बासू॥

हे प्रिय! तुम सुनो, एक जगत विख्यात ज्ञानी थे जो मानरहित होकर जंगल में रहते थे। वहाँ बहुत-से आत्मजिज्ञासु शिष्य उनकी शरण में सदा वास करते थे।

ते जब जात रहे निज लोका। सब सिष्यन्हि तेहि समय बिलोका॥
पुछे काह मन बुधि चित ताता। जो जानइ सो पंडित ज्ञाता॥

वे जब अपने लोक जा रहे थे, तो उस समय समस्त शिष्यों की ओर देखकर पूछा कि हे प्रिय साधको! मन, बुद्धि और चित्त का स्वरूप क्या है? जो इसे जानता है वही पण्डित है और वही यथार्थ में सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाला है।

तिन्हकर रूप न कहि सक कोऊ। गुरु अनुरूप होय सच जोऊ॥
एक सिष्य परसाद बनावत। गुरु पहिं नमन करन नित आवत॥

लेकिन उनमें से कोई भी मन, बुद्धि, चित्त के यथार्थ स्वरूप को, सद्गुरु के मनोनुकूल नहीं बता सका। एक शिष्य जो [भण्डार में नित्य भोजन] प्रसाद बनाया करता था और उनके पास नित्य मात्र प्रणाम करने के लिए आया करता था-

ताहि बुलाइ पूछ गुरुदेवा। ता दिन सफल भई तेहि सेवा॥
कहेउ नवाइ कमल पद सीसा। मन बुधि चित एकउ नहिं ईसा॥

उसे बुलाकर गुरुदेव ने वही प्रश्न पूछा। तब उसने अपने भगवत् स्वरूप सद्गुरु के चरण कमलों में प्रणाम करके कहा- हे प्रभो! यथार्थ में तो मन, बुद्धि, चित्त में से कोई एक भी नहीं है [अत: उनके स्वरूप को क्या बताऊँ]। सच में उस शिष्य की सेवा उस दिन सफल हो गयी।

दोहा— भये प्रफुल्लित सदगुरू निज आसन तेहि दीन्ह।
परमानंद स्वरूप प्रभु प्रान ब्रह्ममय कीन्ह॥ ४॥

ऐसा सुनते ही सद्गुरु ने प्रफुल्लित हो [उठकर गले लगाते हुए] उसे अपने आसन पर बैठा दिया और परमानन्द स्वरूप वाले उन प्रभु ने अपने प्राणों को ब्रह्मलीन कर दिया।

चौपाई— सिष्य प्रसन्न भयो सुनि बानी। गयो प्रमाद मिटी सब ग्लानी॥
एहि छन इहँ प्रभु ऐसोइ करहीं। मन बुधि अहं पार्थ कर हरहीं॥

सद्गुरु द्वारा इस दृष्टांत को सुनकर उस शिष्य को अत्यन्त सन्तोष हुआ और उसका प्रमाद चला गया, पुन: उसे [कर्म करने में] कभी भी ग्लानि नहीं हुई। यहाँ भी इस समय भगवान अपने परम प्रिय शिष्य अर्जुन के पास ऐसा ही करके मानो उनके मन, बुद्धि एवं अहंकार का नाश करना चाहते हैं।

कह प्रभु पार्थ करत अस कर्मा। सहजहिं ज्ञानी होय अकर्मा॥
कर्मयोग बिनु अतिहिं कलेसत। पाय परम संन्यास असेसत॥

भगवान महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि हे पार्थ! इस प्रकार कर्मों को [निष्काम भाव से गुरु आज्ञानुसार] करता हुआ, ज्ञानी पुरुष सहज ही कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। अत: [इतना जान लो कि] कर्मयोग के बिना सम्पूर्णता से परम संन्यास की प्राप्ति अत्यन्त क्लेशपूर्वक ही होती है।

करम करत जब सुचि चित होई। तब तन मनहिं जीति लै सोई॥
तेहि छन सर्ब आतमा होई। करम करत यदि लिपत न सोई॥

इस प्रकार जब कर्मयोग करते-करते चित्त निर्मल हो जाता है, तब वह तन और मन पर भलीभाँति विजय प्राप्त करके उस समय सम्पूर्ण भूत समुदायों की आत्मा होकर यदि [लोकसंग्रह के लिए] कर्म करता है तो उनमें लिप्त नहीं होता।

पुनि कह नाहिं करउँ कछु भाई। इमि जग बिचरत अति हरषाई॥

उसके उपरान्त कहता है कि हे भाइयो! मैं तो कुछ करता ही नहीं। इस प्रकार वह प्रसन्नतापूर्वक जगत में विचरण करता रहता है।

छंद— देखत सुनत अरु खात परसत गमत सोवत बोलतो।
पुनि स्वाँस लेतो त्यागतो अरु आँख मिचतो खोलतो॥
सो ग्रहण करतो सूँघतो पर करउँ कछु नहिं अस कहै।
सब इंद्रियन्हिं निज बिषय महँ बिचरहिं समुझि निज पद लहै॥

[वह कैसे? ऐसे कि] वह देखते हुए, सुनते हुए, खाते हुए, स्पर्श करते हुए, गमन करते हुए, सोते हुए,

बोलते हुए, श्वास लेते हुए, छोड़ते हुए, आँखों को बन्द करते हुए, खोलते हुए तथा ग्रहण करते हुए एवं सूँघते हुए भी कहता है कि मैं कुछ नहीं करता; बल्कि समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं, ऐसा समझते हुए आत्मस्वरूप में स्थित रहता है।

दोहा— तेहि कहँ सच संन्यास महँ मम बिचार अधिकार।
चाहत तेहि सम तजन तो अस दुर्बुद्धि निबार॥ ५॥

सच पूछो तो मेरे विचार से सम्पूर्ण संन्यास में उसी ज्ञानी पुरुष का अधिकार है [तुम्हारे जैसे का नहीं], तो भी तुम उसी के समान [नकल करते हुए] कर्म-त्याग करना चाहते हो तो ऐसी दुर्बुद्धि त्याग दो।

चौपाई— ब्रह्म परम संन्यास कहावत। मुनिजन बेद सास्त्र सब गावत॥
ताकर कौन महत अधिकारी। नारद सों पूछें मुनि झारी॥

[हे तात!] विशुद्ध संन्यास तो ब्रह्म ही कहा जाता है, ऐसा मुनिजन एवं वेद-शास्त्र सभी कहते हैं। उस परम संन्यास का महत् अधिकारी कौन है? ऐसा समस्त मुनियों ने देवर्षि नारद से पूछा था।

सो मुनि कह सृष्टी यह जाकी। उननैं सब अधिकारी टाँकी॥
ताहि स्वरूप उनहिं मुख जानउ। पुनि जग आइ तिन्हहिं सनमानउ॥

उन मुनि (देवर्षि नारद) ने कहा- हे मुनिवरो! जिनकी यह सृष्टि है, उन्होंने इसके समस्त अधिकारियों का निरूपण किया है। अत: उन्हीं के मुख से इसके स्वरूप को जानकर पुन: जगत में आकर उनका सम्मान करें अर्थात् वैसा ही आचरण करें।

तब सब गये पितामह सरना। उननैं पुनि अधिकारी बरना॥
जब मन होय पूर्ण बैरागी। बिषय बस्तु महँ अंस न रागी॥

तब सभी ऋषि पितामह ब्रह्मा की शरण में गये। उन्होंने फिर अधिकारियों का विवेचन किया कि जब जिसका मन सम्पूर्णतया वैराग्य से परिपूर्ण हो जाय और विषय-वस्तुओं में अंशमात्र भी राग न रह जाय-

सोइ संन्यास परम अधिकारी। मैं पुनि पुनि अस कहउँ हुँकारी॥
सुत बित लोक ईषिना नाहीं। मन जाकर प्रभु चरननि माहीं॥

तब वह परम संन्यास का अधिकारी होता है- मैं बार-बार ऐसी ही घोषणा करता हूँ। जिसमें पुत्र, धन एवं मान-सम्मान की कामना नहीं है तथा जिसका मन भगवान के चरणों में लगा हुआ है-

दोहा— जगत सतावे उदर भरि तउ कछुवै नहिं रोष।
सोइ योग्य संन्यास हित जेहि महँ अंस न दोष॥ ६॥

एवं जगत के द्वारा अत्यन्त सताये जाने पर भी अंशमात्र दु:खी नहीं होता- ऐसा पुरुष ही परम संन्यास का अधिकारी है, जिसमें अंशमात्र भी दोष नहीं है।

चौपाई— लोक सताय तोउ उर हरसे। मनसेउँ उन्ह पर क्रोध न करसे॥
समुझत मैं सोइ प्रभु अबिनासी। अजर अमर सर्बत्र निवासी॥

जगत के द्वारा सताये जाने पर भी वह हृदय में हर्षित होता है तथा मन में भी वह उन पर क्रोध नहीं करता। वह समझता है कि मैं ही अविनाशी, अजर, अमर एवं सर्वव्यापी परम ब्रह्म हूँ।

जो सम सांत अपरिग्रह धारी। सोइ संन्यास परम अधिकारी॥
चिंतत नहिं भविष्य के भोगा। भूत बिषय सों होय बियोगा॥

जो सम शान्त एवं अपरिग्रही है, वही परम संन्यास का अधिकारी है। जो भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों का चिन्तन नहीं करता तथा भूतकाल के भोगे हुए विषयों से उदासीन रहता है-

बर्तमान के स्वर्गिय भोगा। उनसेउँ सो अति रहत बियोगा॥
अन्त: इंद्रिन्हि रखि अभियंतर। दमत बाह्य बिषयन्हि बाहर कर॥

एवं वर्तमान में जो स्वर्गीय भोग मिले हैं, उनसे भी वह अत्यन्त उदासीन रहता है और जो अन्त:इन्द्रियों को अन्तर में ही रखता है तथा बाह्य विषयों का बाहर ही दमन कर देता है-

ताहि परम अधिकारी मानउँ। सुलभ ताहि संन्यास बखानउँ॥
मन न मृतक सम दुख लवलेसा। साँच कहउँ सोइ यती बिसेसा॥

उसे ही मैं परम अधिकारी मानता हूँ एवं उसी के लिए संन्यास [अत्यन्त] सुलभ है, ऐसी घोषणा करता हूँ। जो मृतक के समान मन में लेशमात्र भी दुःख का अनुभव नहीं करता, मैं सत्य कहता हूँ कि वही वास्तविक संन्यासी है।

दोहा— जो अपमान सुधा बुझै अरु बिष सम सम्मान।
जानउँ उर तेहि श्रेष्ठ यति करउँ ताहि गुनगान॥ ७ (क)॥

जो अपमान को अमृत के समान और सम्मान को विष के समान मानता है, मैं अपने हृदय में उसे ही श्रेष्ठ संन्यासी मानता हूँ और उसी का सदा गुणगान किया करता हूँ।

हुते एक अस परम यति जाकर करउँ बखान।
तिन्ह जीवन तुलि रूप निज संन्यासहिं पहचान॥ ७ (ख)॥

हे महाबाहो! इसी प्रकार के एक श्रेष्ठ संन्यासी थे मैं जिनके विषय में कह रहा हूँ, उन्हीं के जीवन से तुलना करके अपने संन्यास का स्वरूप पहचान लेना।

चौपाई— पाये ऋषभदेव जब ज्ञाना। मृगमरीचिका सम जग जाना॥
वामें सुख न निरखि गृह त्यागे। आत्मरूप महँ अति अनुरागे॥

जब राजर्षि ऋषभदेव को यह यथार्थ ज्ञान हो गया कि सारा जगत मृगमरीचिका के समान है तब उसमें (जगत में) सच्चा सुख न देखकर उन्होंने घर-बार त्याग दिया और अत्यन्त प्रेमपूर्वक आत्मरूप में रहने लगे।

लै संन्यासहिं भये दिगम्बर। दक्षिण देस गये अवधुत बर॥
जहँ नहिं उनहिं कोउ पहिचानें। पागल कहि कहि सब अपमानें॥

वे श्रेष्ठ अवधूत संन्यास धारणकर दिगम्बर हो गये तथा दक्षिण प्रदेश चले गये, जहाँ उन्हें कोई पहचानता नहीं था, सभी पागल कहकर अपमानित करते थे।

गहि मौनहिं जहँ मूक बधिर सम। बनि पागल सब मन डारत भ्रम॥
बिचरत ग्राम नगर गिरि सारे। सहि सुख दुख हिम आतप भारे॥

जहाँ वे मौन धारण कर गूँगे-बहरे तथा पागल के समान होकर, सबके मन में भ्रम पैदा करते हुए सर्वत्र गाँव, नगर, वन, पर्वतों में भयंकर सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख को सहन करते हुए विचरण करने लगे।

जिमि माखी कुंजरहिं सतावहिं। तिमि मूरख उन्हके सँग धावहिं॥
कोउ धमकायँ थूकि कोउ मारत। धूरि कोउ कोउ बिष्ठा डारत॥

[वन में जाते हुए] हाथी के पीछे पड़कर जैसे मक्खियाँ सताने लगती हैं वैसे ही बहुत से मूर्ख उनके साथ हो लेते थे; कोई उन्हें फटकारता-मारता था, कोई थूक देता था तो कोई [उनपर] धूल और मल ही फेंक देता था।

दोहा— लघुसंका करि हँसत कोउ खोटी खरी सुनाय।
कोउ पिसाच कोउ बावरो कोउ गूँगो कहि जाय॥ ८॥

कोई उनके शरीर पर लघुशंका कर हँसते हुए खरी-खोटी सुनाता था तो कोई पिशाच, कोई पागल और कोई गूँगा कहकर चला जाता था।

चौपाई— उन्हके चित कछु आय न जावे। मायामय तन सबहि लखावे॥
जगत काज कारण परपंचहिं। साक्षी रहत न सुख दुख रंचहिं॥

किन्तु उनके मन में कुछ भी विचार आता-जाता नहीं था क्योंकि उन्हें तो सभी शरीर मायामय दिखाई पड़ते थे। वे जगत के कार्य-कारणरूप प्रपञ्च के प्रति नित्य साक्षी भाव से रहते थे, इसलिए मन को लेशमात्र भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता था।

अजगर बृत्ति कबहुँ खगबृत्ती। धारहिं कबहुँ स्वान की धृत्ती॥
ऋषभदेव प्रभु बिचरत ऐसे। सास्त्रनि कही हंस गति जैसे॥

वे कभी अजगर वृत्ति तो कभी खगवृत्ति और कभी श्वानवृत्ति का नियम धारण कर लेते थे। भगवान ऋषभदेव उसी प्रकार विचरण करते थे जैसा कि शास्त्रों में परमहंसों की स्थिति का वर्णन किया गया है।

मनोजयित्वा अंतरध्याना। अपर देह महँ सहज पयाना॥
गगन गमन आदिक सिधि आवहिं। किंतु तिन्हहिं नहिं गले लगावहिं॥

उनके पास दूसरे के मनोभाव को जान लेने, अन्तर्ध्यान होने, परकाया-प्रवेश तथा आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ भी आयीं, किन्तु उन्होंने उन्हें आदर नहीं दिया।

उन्हके सरिस न तुम्ह संन्यासी। अस नहिं होउ सकत बनवासी॥
तुम्हरो सम योगी निष्कामी। होय अबहिं सदगुरु अनुगामी॥

उनके समान तो तुम संन्यासी हो नहीं सकते, इसलिए संन्यास लेकर वन-प्रदेश में नहीं रह सकते। तुम्हारे समान निष्काम कर्मयोगी तो अभी सद्गुरु के शरणागत हो जाय-

दोहा— करत करम आसक्ति तजि पुनि अर्पइ प्रभु पाहिं।
तब सो कस जीवन जियत जिमि अघ लागै नाहिं॥ ९ (क)॥

और आसक्ति का त्याग करके गुरु आज्ञानुसार कर्मों को करते हुए भगवान को समर्पित करता जाय, उसके उपरान्त वह कैसा जीवन जीता है जिससे उसे पाप स्पर्श नहीं करता, उसे सुनो-

पद्म पत्र जस नीर सों कबहुँ लिप्त नहिं होइ।
तस न पाप तेहि लाग कछु नित हर्षित उर सोइ॥ ९ (ख)॥

जैसे कमल का पत्ता जल से कभी भी लिपायमान नहीं होता वैसे ही उसे भी कुछ पाप नहीं लगता, इसी से वह हृदय में सदा प्रसन्न रहता है।

इंद्रियँ तन मन बुद्धि सों चित्त सुद्धि हित कर्म।
गुडाकेस योगी करत यहइ करम कर मर्म॥ ९ (ग)॥

अत: हे निद्राविजयी! योगी तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से नित्य चित्तशुद्धि के लिए ही कर्म करता है- इसे ही तुम कर्मयोग का रहस्य जानो।

चौपाई— इत कहु कर्मन्हिं त्याग करन को। उतहिं स्वजन फल हाथ धरन को॥
पर बर योगि स्वजन फल त्यागहिं। करम करहिं उनमहँ नहिं रागहिं॥

इधर तो तुम कर्मों का त्याग करने की बात कर रहे हो और उधर स्वजनरूपी फलों को भी हाथ में पकड़े रहना चाहते हो, जबकि निष्काम कर्मयोगी तो स्वजनरूपी फलों को त्यागकर तथा हृदय में पूर्ण अनासक्ति को धारण कर कर्म करते हैं।

अस करि परम सांति पद पावें। कर्म फलनि सकामि बँधि जावें॥
परम यती की करनी कहनी। तात यथार्थ कहउँ बर रहनी॥

ऐसा करके वे परम शान्ति प्राप्त करते हैं तथा जो सकामी हैं, वे तो कर्मफलों में बँध ही जाते हैं। हे तात! अब मैं अतिशय श्रेष्ठ संन्यासी की कथनी-करनी और उसके यथार्थ व्यवहार को बता रहा हूँ, सुनो-

ते देही सब करम बिरागी। अरु सुभ असुभ स्वजन फल त्यागी॥
नव द्वारनि वारे तन माहीं। बसि कछु करत करावत नाहीं॥

वे श्रेष्ठ देही (संन्यासी) सभी कर्मों को तथा स्वजन सम्बन्धी रूपी शुभाशुभ कर्मफलों को भी त्यागकर नौ दरवाजों वाले शरीर में न कुछ करते हुए, न करवाते हुए वास करते हैं-

तन मन मति के परम बिजेता। सुख पुर्बक तहँ रहहिं सचेता॥
जानत बिभुहिं न करइ करावइ। फल संयोग न कर्म रचावइ॥

वहाँ वे तन, मन, बुद्धि के परम विजेता [पुरुष] सजगता के साथ सुखपूर्वक वास करते हैं तथा वे [इस यथार्थ रहस्य को] जानते हैं कि जो सम शान्त ब्रह्म है, वह न कर्मों को करता है, न करवाता है और न कर्म एवं कर्म-फल के संयोग को ही रचता है-

सोरठा— ग्रहत न पापहिं पूण्ड ढक्यो ज्ञान अज्ञान सों।
तइँ भरमहिं मतिमूण्ड फँसे मोह माया प्रबल॥ १० (क)॥

और न [किसी के] पुण्य और पाप को ही ग्रहण करता है, किन्तु यह ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसीलिए मूढ़ बुद्धि वाले प्रबल मोह-माया में फँसे होने से सदा भ्रमित होते रहते हैं।

दोहा— आपैं आपुहिं होत सब मुनि कह माया ताहि।
ज्ञान होत बिनसत जबहिं रबि सम ब्रह्म लखाहि॥ १० (ख)॥

अरे! यह सब कुछ तो अपने आप ही हो रहा है, मुनिजन इसी को माया कहते हैं। जब ज्ञान होने पर यह नष्ट हो जाती है, तब ब्रह्म वैसे ही स्पष्ट दीखने लगता है जैसे सूर्य [बादलों के हट जाने पर] स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

चौपाई— फल ताकर होवे बिभु सोई। ब्रह्मरूप मति निष्ठा होई॥
ताकर रूप आतमा होवे। जासे ताहि पाप सब खोवे॥

उसका फल यह होता है कि वह ब्रह्मरूप हो जाता है तथा उसकी बुद्धि एवं श्रद्धा भी ब्रह्मरूप ही हो जाती है और आत्मा ही उसका स्वरूप हो जाता है, जिससे उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

जाकर फल सो आय न जावे। निर्गुण ब्रह्म होइ हरषावे॥
जग महँ सोइ पंडित समदर्सी। सोइ महर्षी अरु ब्रह्मर्सी॥

जिसके फलस्वरूप वह गमनागमन से मुक्त हो निर्गुण-निराकार ब्रह्म होकर परमानन्द रूप हो जाता है। अत: जगत में वही पण्डित है, समदर्शी है, महर्षि है तथा वही ब्रह्मर्षि है।

बिनयसील द्विज आतमज्ञानी। गो गज स्वान स्वपच सम मानी॥
सब महँ एक आतमा जानत। जाहि अतिहिं निर्लेप बखानत॥

वह समदर्शी, अत्यन्त विनम्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते एवं चाण्डाल आदि में सदा एक ही आत्मा को देखता है, जिसे सर्वथा निर्लेप बताया गया है।

त्रैबिध गुन प्रारब्धहिं मानी। उनकै देखि करै का ज्ञानी॥
कारन सो सब महँ एक आतम। लखत सुद्ध साक्षी परमातम॥

वह आत्मज्ञानी, उनके (गाय, हाथी आदि के) संस्कारों को मानकर एवं त्रिविध गुणों को देखकर क्या करेगा, क्योंकि वह तो सबमें एक ही शुद्ध, साक्षी आत्मा-परमात्मा को देखता है।

दोहा— इत अर्जुन मन डोल अति करत न प्रभु जब कर्म।
पुनि कर्ता जग कौन जो जासु न जान्यों मर्म॥ ११॥

इधर महात्मा अर्जुन का मन [घड़ी के दोलक की भाँति] डोलने लगा कि ब्रह्म जब कुछ कर्म करता ही नहीं है तो संसार में कर्ता कौन है, जिसका रहस्य मैं अब तक नहीं जान सका।

चौपाई— जानि परंतप मन प्रभु बोलहिं। मरम एक घटना सों खोलहिं॥
तात कहउँ एक कथा पुरानी। सुनत अबिद्या जाय नसानी॥

तब अर्जुन के मन की बात जानकर एक घटना के माध्यम से इस रहस्य को खोलते हुए भगवान कहने लगे। हे तात! एक अत्यन्त प्राचीन कथा कह रहा हूँ, जिसको सुनने से अविद्या का नाश हो जायेगा।

तू नहिं मरै न मारनवारो। तन परबस असहाय बिहारो॥
जो तन सन्मुख कर्म अधीना। यासें मन कर नाहिं मलीना॥

हे प्रिय! तुम न मरने वाले हो, न मारने वाले हो; तुम्हारा शरीर तो परवश और असहाय होकर ही व्यवहार कर रहा है। जो शरीर [इस समय] तुम्हारे सामने खड़े हैं, वे भी कर्मों के ही अधीन हैं, अत: अपने मन को मैला मत करो।

भक्त गौतमी लुब्धक पन्नग। काल मृत्यु संबाद कहहि जग॥
मातु गौतमी सुत बस एकौ। डँस्यो उरग उर दया न नेकौ॥

इस जगत में भक्त गौतमी, व्याध, सर्प, काल एवं मृत्यु का एक संवाद कहा जाता है- माता गौतमी का एकलौता पुत्र था जिसे हृदय में थोड़ी भी दया न रखने वाले सर्प ने काट लिया।

गयो देह तजि जहाँ को जानो। ब्याध एक सोइ सर्पहिं आनो॥
कह्यो महाभागे यहि ब्याला। भयो आज तव सुत कर काला॥

उस [बालक की] आत्मा को जहाँ जाना था, शरीर छोड़कर चला गया। उसी समय एक व्याध उसी सर्प को [पकड़कर उस माँ के पास] लाया और बोला- हे महाभागे! यह वही सर्प है जो आज तुम्हारे पुत्र का काल बना।

दोहा— तू बताउ कस मारऊँ खंड खंड करुँ याहि।
कीधौं झोकउँ आग महँ जातें प्रान नसाहि॥ १२॥

अब तुम बताओ इसे कैसे मारूँ? क्या इसे खण्ड-खण्ड कर दूँ या अग्नि में जला दूँ जिससे इसका जीवन नष्ट हो जाय।

चौपाई— कहति गौतमी छाँड़हु ब्याला। ब्याध न यह मोरे सुत काला॥
होनहार तो निस्चित होवे। ताहि उपेक्षि पाप को ढोवे॥

तब [माँ] गौतमी ने कहा- हे व्याध! यथार्थ में यह सर्प मेरे पुत्र का काल नहीं है, अतः इसे छोड़ दो। यह तो जानते ही हो कि होनहार होकर ही रहती है! अतः उसकी उपेक्षा करके पाप कौन मोल लेगा?

पाप बोझ जो सिर नहिं धरई। नौका सम भवसागर तरई॥
पाप बोझ बोझिल नर जोई। नरक सिंधु डूबत सच सोई॥

जो [धर्मात्मा] पाप के बोझ को सिर पर धारण नहीं करता, वह नौका के समान भवसागर को पार कर जाता है और जो मनुष्य पाप के बोझ से बोझिल है, वह निश्चित ही नरक सिन्धु में डूब जाता है।

जिये न मम सुत एहि कहँ मारे। जीव हनत लागत अघ भारे॥
ब्याध होय नहिं बिप्रहिं क्रोधा। छाड़हिं कबहुँ न निज उर बोधा॥

अरे! इस सर्प को मार देने से मेरा पुत्र तो जीवित होगा नहीं, उलटे जीव हत्या का महान पाप लग जायेगा। हे व्याध! ब्राह्मण कभी भी अपने ज्ञान का परित्याग नहीं करते, इसी से उन्हें क्रोध नहीं होता।

क्षमा कीन्ह मैं याहि न मारे। छोड़ छोड़ अर्जुनक दुलारे॥
कहि बहु नीति न छोड़न चावै। पुनि पुनि सर्पहिं मारन धावै॥

अतः हे प्रिय अर्जुनक! छोड़-छोड़! तू इसको छोड़ दे, मत मार। मैं इस बेचारे को क्षमा करती हूँ; परन्तु वह अनेक तर्क देकर उसे छोड़ना नहीं चाहता था बल्कि बार-बार सर्प को मारने दौड़ पड़ता था।

दोहा— तब सो ब्याल मनुज इव कह सुनु ब्याधा मोरि।
मृत्यु प्रेरणा काटेऊँ यामें मोहिं न खोरि॥ १३॥

तब उस सर्प ने मनुष्य की भाँति कहा कि हे व्याध! मेरी भी सुनो! मृत्यु की प्रेरणा से ही मैंने इसे काटा है, इसमें मेरा रंचमात्र भी दोष नहीं हैं।

चौपाई— मृत्यु आइ कह मोहिं न दोषा। काल बिबस मैं किन्हेउँ रोषा॥
धर्म बिषय संसय जब पायो। अवसर पाइ काल तहँ आयो॥

तब मृत्यु ने आकर कहा- इसमें तो मेरा दोष नहीं है क्योंकि मैंने भी काल के वशीभूत होकर ही क्रोध किया है। इस प्रकार जब धर्म-विषयक निर्णय में शंका उत्पन्न हो गयी तो उचित समय पर काल भी वहाँ प्रकट हो गया।

कहत न हम सबकर अपराधा। बालक कर्म बन्यो तेहि बाधा॥
हम प्रेरक न प्रयोजक जानहु। मैं जस कहउँ साँच सोइ मानहु॥

और कहा- हम सबका इसमें कुछ भी अपराध नहीं है, [यथार्थ में] बालक का पूर्वकृत् कर्म ही उसके जीवन के लिए बाधा बन गया। इस विषय में हम न तो प्रेरक हैं, न प्रयोजक ही, इसलिए मैं जैसा कहता हूँ वही सत्य मान लें!

बालक पूर्ब जनम कियो जैसो। वाको फल अब पायो ऐसो॥
याकोइ कर्म प्रेरणा दीन्हें। पुनि हम सबनैं वैसो कीन्हें॥

इस बालक ने पूर्व जन्म में जैसा कर्म किया था, उसी का अब ऐसा फल प्राप्त किया। इसी के कर्मों ने प्रेरणा दी और पुनः हम सबने वैसा ही किया।

मैं मृत्यू अरु उरगहु जोऊ। कर्माधीन न मारेउ कोऊ॥
स्वजन रहत सँग कर्म अधीना। वासेइँ होय हर्ष अरु दीना॥

मैं, मृत्यु और यह सर्प भी कर्माधीन हैं, अत: इसे किसी ने नहीं मारा। इसी प्रकार स्वजन भी कर्म के ही अधीन होकर एक-दूसरे के साथ रहते हैं। उसी [कर्म] से ही कभी हर्ष और कभी दीनता आ जाती है।

दोहा— कर्माधीन परस्परहिं कर्म प्रेरणा देत।
ऐसेइ हम प्रेरित भये साधु हृदयँ अस लेत॥ १४॥

सभी कर्म के वशीभूत होकर परस्पर कर्म की प्रेरणा का आदान-प्रदान करते रहते हैं ऐसे ही [बालक के वध में] हम भी प्रेरित हुए हैं- सज्जन पुरुष तो हृदय में [ऐसी स्थिति में] ऐसा ही सोचते हैं।

चौपाई— कुम्भकार जस भाजन भावे। पिंड मृत्तिका लेइ बनावे॥
वैसेइँ जो जस बननो चावे। ताहि करम करि तस बनि जावे॥

ऐसा देखा जाता है कि कुम्हार जैसा बर्तन बनाना चाहता है, मिट्टी के लोंदे से वह वैसा ही बर्तन बना लेता है। वैसे ही जो जैसा बनना चाहता है, उसी प्रकार का कर्म करके वैसा ही बन जाता है।

नर छाया जस कछु नहिं भेदा। तस कर्ता अरु कर्म अभेदा॥
यह सुनि बिप्रा कह सुन ब्याधा। मम कर्मनि भये जीवन बाधा॥

जिस प्रकार पुरुष और पुरुष की छाया में कुछ भी भेद नहीं है, उसी प्रकार कर्ता और कर्म में भी ऐसी ही अभिन्नता है। ऐसा सुनकर ब्राह्मणी ने कहा- हे व्याध! सुनो! [इसमें किसी का दोष नहीं है अपितु] मेरे कर्मों ने ही मेरे जीवन में बाधा डाली है।

जाहु सकल अब निज निज धामा। देहु न उरग याहि परिनामा॥
तात रहस्य यहइ रन माहीं। कर्माधीन सकल इहँ आहीं॥

अत: अब आप सभी अपने-अपने धाम को पधारें तथा सर्प को इस कर्म का फल (दण्ड) न दें। [भगवान कह रहे हैं कि] हे तात! इस समय रणभूमि में भी इसी रहस्य को देखना चाहिए क्योंकि सभी [अपने-अपने] कर्मों के वशीभूत होकर ही यहाँ आये हुए हैं।

छंद— सोइ कर्म प्रथमहिं स्वजन बनि पुनि सत्रु बनि रन आवई।
माया बिबस सोइ युद्ध करि मरि स्वर्ग धाम सिधावई॥
यासे इहाँ कोउ नाहिं निज पर मूल सबकर आतमा।
गो बिप्र गज स्वपचादि खग मृग माहिं सोइ परमातमा॥

वही कर्म प्रथम में स्वजन और पुन: शत्रु बनकर रणभूमि में आ गया है तथा वही माया के वशीभूत होकर युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त कर स्वर्गलोक को प्रस्थान कर जायेगा। इसलिए यहाँ [यथार्थ में] न कोई अपना है, न पराया है बल्कि सबका मूल आत्मा ही है तथा गौ, ब्राह्मण, हाथी, श्वपच (चाण्डाल), पशु-पक्षी आदि में भी वह एक ही परमात्मा वास कर रहा है।

सोरठा— समदर्सी बनु पार्थ छाँड़ि भेद दर्सन इहाँ।
धनु उठाइ परमार्थ करु वैसो मैं जस कहौं॥ १५॥

अत: हे पार्थ! अब तुम यहाँ पर भेद-दर्शन छोड़कर समदर्शी बन जाओ तथा धनुष उठाकर मैं जैसा कहता हूँ, वैसा पारमार्थिक कर्म करो।

चौपाई— जो नर प्रान रहत निज सर्गहिं। जिति पायो ब्रह्महिं अपबर्गहिं॥
जाकर मन समता महँ रहई। सो बिभुरूप भयो मुनि कहई॥

जिस पुरुष ने जीवन के रहते ही अपनी शरीररूपी सृष्टि को जीतकर अपवर्गपद अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है तथा जिसका मन [सदैव] समता में ही स्थित है, वह ब्रह्मरूप हो गया है- ऐसा मुनिजन कहते हैं।

यासे कै प्रभु परम अदोषा। होत सोउ ऐसोइ निर्दोषा॥
कह महराज सर्ग जिति पावे। भक्तनि सों नहिं रूप छिपावे॥

इसलिए कि ब्रह्म परम निर्दोष है, अत: वह भी निर्दोष ब्रह्म ही हो जाता है। महाराज सन्तों से कह रहा है कि जब वह समदर्शी प्रकृति विजेता हो जाता है तो भक्तों से अपने स्वरूप को छिपाकर नहीं रखता।

तन मन बचन बुद्धि इक एका। इंद्रिं अहं सब सर्ग अनेका॥
काम क्रोध अरु लोभ बड़ेरे। राग द्वेष उर सर्ग घनेरे॥

तन, मन, वचन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियाँ आदि सभी एक-एक सृष्टियाँ हैं जो विविध रूपों में भास रही हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ तथा राग-द्वेषादि भी हृदय में अत्यन्त बलवान बहुत-सी सृष्टियाँ ही हैं।

ममता मोह कपट पाखंडा। दम्भ क्रूरता सर्ग प्रचंडा॥
माता पिता महरि सुत भ्राता। हित मित सत्रु सर्ग बिख्याता॥

इतना ही नहीं ममता, मोह, कपट, पाखण्ड, दम्भ और क्रूरता भी विकट सृष्टियाँ हैं तथा माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, हित-मित्र एवं वैरीरूपी सृष्टियाँ तो प्रसिद्ध हैं हीं।

दोहा— त्रिबिध कर्म क्रियमाण जो संचित अरु प्रारब्ध।
सोउहु सर्ग बिसाल अति त्रिबिध जीव जहँ बद्ध॥ १६ (क)॥

ठीक वैसे ही संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध- ये तीन प्रकार के कर्म भी अति विशाल सृष्टियाँ ही हैं, जिसमें तीनों प्रकार के जीव बँधे हुए हैं।

चतुः बेद स्मृति सकल श्रुति पुरान कर ज्ञान।
बिबिध कला कर जाननो ये सब सृष्टि महान॥ १६ (ख)॥

वैसे ही चारों वेद, समस्त श्रुति, स्मृति और पुराणों का ज्ञान तथा नाना प्रकार की कलाओं का ज्ञान- ये सभी विशाल सृष्टियाँ ही हैं।

चौपाई— जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति बिसाला। इक इक सर्ग जो करत बेहाला॥
माया त्रिबिध महत अज्ञाना। प्रबल सृष्टि कह संत सुजाना॥

हे बुद्धिमान्! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति भी एक-एक विशाल सृष्टियाँ ही हैं, जो जीव को दीनदशा में पहुँचा देती हैं। वैसे ही त्रिगुणमयी माया तथा घोर अज्ञान को भी सन्तजन प्रबल सृष्टियाँ कहा करते हैं।

सर्ग अहं मम तू अरु तेरो। जामें भ्रमत जीव अति घेरो॥
समदर्सी कर हरि जस गावत। होइ ब्रह्म सो जग जस धावत॥

[इतना ही नहीं बल्कि] 'मैं-मेरा' तथा 'तू-तेरा' भी सृष्टि रूप ही हैं जिसमें भलीभाँति घिरे हुए सारे जीव भ्रमित हो रहे हैं। भगवान नारायण पुन: महात्मा अर्जुन से समदर्शी पुरुष की महिमा कह रहे हैं- जिस प्रकार जगत में वह ब्रह्मरूप होकर रहता है।

कोउ प्रिय पाइ न हरषत सोई। रोषत नहिं अप्रिय लखि कोई॥
जीवदसा हरषइ प्रिय पावत। पाइ अप्रिय अति दुख मन लावत॥

वह समदर्शी तो किसी भी प्रिय [विषय, वस्तु या प्राणी] के मिलने से न हर्षित होता है, न ही अप्रिय की प्राप्ति से खिन्न होता है क्योंकि प्रिय के मिलने से हर्षित होना और अप्रिय मिलने से खिन्न होना तो जीव का स्वभाव है।

संत सो बिषयन्हि बाहर धरई। असुभ सुभहु जे मन मति हरई॥
आतम सुख अन्तर महँ पावत। नित परमानन्दहु अनुभावत॥

परन्तु वह ब्रह्मस्वरूप सन्त तो, जो मन, बुद्धि का अपहरण करने वाले शुभाशुभ विषय हैं, उन्हें बाहर ही रखकर अपने हृदय में स्थित आत्मसुख को प्राप्त करके सदा रहने वाले परमानन्द का अनुभव करता रहता है।

दोहा— सब्दादिक जे पार्थ सुख अंत दुखद परिणाम।
आदि अंतवारो समुझि बुध न लहहिं बिश्राम॥ १७॥

हे पार्थ! जो शब्द, स्पर्श आदि सुख हैं, उनका अन्त में परिणाम दु:खद ही होता है। अत: उन्हें आदि-अन्तवान जानकर सन्तजन उनमें रमण नहीं करते।

चौपाई— गाँव नगर बन पर्बत माहीं। कै भूतल कछु सुख थिर नाहीं॥
किन्नर गंधर्बन्हि सुख जोई। दिवि अप्सरन्हि न सुख थिर सोई॥

क्योंकि गाँव, नगर, वन, पर्वत में अथवा पृथ्वी पर जो भी कुछ सुख है, वह स्थिर नहीं है। वैसे ही किन्नरों, गन्धर्वों तथा स्वर्ग की अप्सराओं के पास जो सुख है, वह भी स्थिर नहीं है।

नाग असुर अरु तिन्ह तिय पाहीं। पातालहु कछु सुख थिर नाहीं॥
आधि ब्याधि युत तुच्छ क्रियाहीं। अरु उन्हके फल सुभ थिर नाहीं॥

उसी प्रकार पाताललोक में भी नागों, असुरों तथा उनकी स्त्रियों के पास कोई स्थिर सुख नहीं है तथा आधि-व्याधि से युक्त जो तुच्छ क्रियाएँ हैं, उनका भी फल न तो शुभ है और न ही स्थिर रहने वाला है।

ज्ञान सास्त्र बिनु अपर सुहाहीं। तिन्ह महँ कछु सुभ अरु थिर नाहीं॥
भू पाताल स्वर्ग पद पावत। उन महुँ कछु सुभ थिरत न आवत॥

उसी प्रकार ज्ञानमय शास्त्रों के अतिरिक्त जो अन्य शास्त्र हैं, उनमें न तो कुछ शुभ है और न स्थिर ही। इतना ही नहीं, यदि पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग का राजपद भी प्राप्त कर लिया जाय तो उसमें भी न तो कुछ कल्याणप्रद होता है और न स्थिरता ही रहती है।

सर्ब भुवनपति होय न सांती। पाय सो कहउँ याहि कहँ भ्रांती॥

[यहाँ तक कि] समस्त भुवनों का अधिपति होकर भी शान्ति नहीं हो सकती। अत: उसकी प्राप्ति को भी मैं भ्रान्ति ही कहता हूँ।

दोहा— काम क्रोध कर बेग अति उठत हरइ सुभ ज्ञान।
सहन करत जो तन रहत योगी सुखी महान॥ १८॥

हे जितेन्द्रिय! काम-क्रोध का वेग अति प्रबल होता है यह उठते ही शुभ विवेक का हरण कर लेता है। जो पुरुष शरीर के रहते ही इनको सहन कर लेता है वही परम सुखी तथा महान योगी है।

चौपाई— पारबती कह सिवहिं पुकारी। मोहिं नाथ भयो संसय भारी॥
दिक्षित करहिं पार्थ प्रभु जोई। काम दिखाइ डरावहिं सोई॥

[ऐसा सुनते ही] भगवती पार्वती ने भगवान शिव से कहा- हे प्रभो! मुझे तो अत्यन्त संशय हो रहा है कि जो जगत के स्वामी [भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द] भक्त अर्जुन को दीक्षित कर रहे हैं, वे बारम्बार काम का भय दिखाकर उनके चित्त को भयभीत भी कर रहे हैं।

ताकर रूप काह मम स्वामी। कहउ कृपानिधि अंतर्यामी॥
कहत महेस्वर काम स्वरूपा। रूपक दै इक दिब्य अनूपा॥

अत: हे नाथ! हे कृपानिधि! हे अन्तर्यामिन्! यह बतायें कि उस काम का स्वरूप क्या है? तब भगवान शिव ने एक दिव्य और अनुपम रूपक से काम का स्वरूप कहना प्रारम्भ किया-

देबि काम तरु उर महँ रहई। मोह बीज सो उपजत अहई॥
अति दृढ़ जड़ ताकर अज्ञाना। कर्म सकाम सों जोइ सिंचाना॥

हे देवि! मैं तो यही मानता हूँ कि हृदय में एक कामरूपी वृक्ष है जो मोहरूपी बीज से प्रकट हुआ है। अज्ञान ही उसका सुदृढ़ मूल है जो सकाम कर्मों से सींचा जाता है।

क्रोध लोभ बिस्तृत स्कन्धः। सार भाग कह दुष्कृत अन्धः॥
साखा बहु आयास प्रयासा। तीब्र सोक पुष्पन्ह कर भासा॥

क्रोध और लोभ ही उसके विस्तृत तने हैं तथा कुकर्मरूपी अन्धा पाप ही उसका सार भाग है। विलासिता का प्रयत्न ही उसकी बहुत-सी शाखाएँ हैं तथा भयंकर शोक-सन्ताप ही उसके पुष्प प्रतीत होते हैं।

दोहा— भय अंकुर संकल्प दल बढ़ प्रमाद सों जान।
अति तृष्णा दृढ़ लता बनि कामबृक्ष लिपटान॥ १९ (क)॥

उसमें [नाना प्रकार के] संकल्प ही पत्ते तथा भय अंकुर हैं, जो प्रमाद से ही विकसित होते हैं- ऐसा जानो।

नाना प्रकार की इच्छाएँ ही दृढ़ लता बनकर उस कामरूपी वृक्ष से लिपटी हुई हैं।

यह दु:साध्य अनित्य सुनु याकर फल नि:सार।
आदि अंत दुखरूप जो को कर यासें प्यार॥ १९ (ख)॥

हे पार्वती! पुन: सुनो! यह [काम] कठिनता से पूर्ण होने वाला तथा अनित्य है एवं इसका परिणाम भी सारतत्त्व से रहित है अर्थात् माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, आदि और अन्त में दु:खरूप ही है। अत: ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष है जो इससे प्रेम करेगा!

चौपाई— बहु ऋषि मुनि साधन मग माहीं। याहि काम सों बहुत ठगाहीं॥
यातें सोइ आतमजिज्ञासू। जो अकाम अरु ब्रह्म पिपासू॥

बहुत से ऋषि-मुनि साधनपथ में इसी काम के द्वारा बहुत बार ठगे गये हैं। इसलिए वही आत्मजिज्ञासु है जो सर्वथा निष्कामी और एकमात्र ब्रह्म की ही चाहना करने वाला है।

बासुदेव इत कह हरषाई। चित्त बासना देहु भगाई॥
जे निज आतम महँ सुख मानें। वामें रमें ज्योति तेहि जानें॥

इधर भगवान वासुदेव प्रसन्न होकर कह रहे हैं कि [हे पार्थ! तुम भी] वासनाओं को हृदय से निकाल फेंको; क्योंकि जो पुरुष अपनी आत्मा में ही सुख मानते हैं, उसी में रमण करते हैं तथा उसे ही परम ज्योति जानते हैं-

ते योगी होइ ब्रह्मस्वरूपा। पावत यहिं निर्वाण अनूपा॥
अरु जिन्हके पापादिक सारे। नष्ट भये भ्रम संसय भारे॥

वे योगी ब्रह्म स्वरूप होकर यहीं [अर्थात् देह के रहते ही] अनुपम निर्वाण (मोक्ष पद) को प्राप्त कर लेते हैं तथा जिनके समस्त पाप-ताप मिट गये हैं और समस्त संशय-भ्रम नष्ट हो गये हैं-

इंद्रियजयी अहिंसक जोई। यती मोक्षपद पावत सोई॥
काम क्रोध मद गत यति जोई। मन मति चित जिन्ह बस महँ होई॥

जो जितेन्द्रिय एवं अहिंसक हैं, वे ही संन्यासी मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार उन समस्त संन्यासियों ने, जो काम, क्रोध एवं मद से रहित हैं जिन्होंने मन, बुद्धि, चित्त को वश में कर लिया है-

दोहा— जानि गये जो आतमा समदर्सी जग भाल।
प्रान रहे पस्चातहू मोक्ष प्राप्त सब काल॥ २०॥

जो समदर्शी जगत के मस्तिष्क कहे जाते हैं तथा जिन्होंने आत्मा को भलीभाँति पहचान लिया है, वे प्राणों के रहते हुए तथा शरीर के जाने के उपरान्त भी समस्त कालों में मोक्ष को प्राप्त किये हुए रहते हैं।

चौपाई— बाह्य बिषय चिंतन नहिं करहीं। भृकुटी मध्य दृष्टि नित धरहीं॥
केवलि कुम्भक बस अनुसरतै। प्रान अपान जहाँ सम करतै॥

[हे पार्थ!] जो बाह्य विषयों का चिन्तन नहीं करते तथा दृष्टि को निरन्तर भ्रू-मध्य में स्थापित किये रहते हैं और एकमात्र केवली कुम्भक का अनुसरण करते हुए जहाँ प्राण-अपान को सम करने से -

नासाभ्यंतर बिचरत स्वासा। इंद्रियजित मन बुधि चित दासा॥
बिगत क्रोध भय इच्छा जेई। सदा मुक्त संन्यासी तेई॥

जिनके प्राण [भीतर-बाहर गमन न कर] एकमात्र नासिका के भीतर-भीतर ही भ्रमण करते रहते हैं तथा जिस जितेन्द्रिय महापुरुष के मन, बुद्धि, चित्त सेवक हैं [अर्थात् अधिकार में हैं] एवं जो इच्छा, भय-क्रोध को जीते हुए हैं, वे ही संन्यासी सदा मुक्त हैं।

जप तप यग भोक्ता मोहिं मानइ। सर्बलोक परमेस्वर जानइ॥
अरु सब जगत सुहृद पहिचानी। परमानंद पाय सो प्रानी॥

अत: हे परंतप! जो पुरुष मुझे ही [सम्पूर्ण] यज्ञ, जप-तप आदि का भोक्ता एवं समस्त लोकों का परमेश्वर और सम्पूर्ण संसार का सुहृद जानता है, वह पुरुष परमानन्द प्राप्त करता है।

भृकुटि मध्य दृष्टी क्यों लावे। कहत पार्थ प्रभु तहँ का पावे॥

[ऐसा सुनकर] महात्मा अर्जुन ने पूछा- हे प्रभो! वह भृकुटि के मध्य में दृष्टि क्यों रखता है, वह ऐसा करके वहाँ क्या प्राप्त करता है-

दोहा— अहं ब्रह्म इति भाव रत जग माया अनुभाव।
अनासक्त सो जन रहे मोक्ष परमपद पाव॥ २१॥

जबकि जो पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही अनुभव करता है तथा जगत को मायामय समझता है, वह [शरीर से भलीभाँति] अनासक्त होकर मोक्षरूपी परमपद प्राप्त कर ही लेता है।

चौपाई— याकोइ उत्तर छै अध्यायो। प्रभु जहँ बहु बिधि याहि बतायो॥
महाराज भाषत एहि ध्याना। जो साधक बृंदन्हिं मन माना॥

[महाराज के अनुसार] इसी का उत्तर छठे अध्याय में दिया गया है, जहाँ भगवान ने इसे भलीभाँति समझाया है। महाराज इसी ध्यानयोग का वर्णन छठे अध्याय में करेगा जो साधकों को अत्यन्त प्रिय है।

उत संजय धृतराष्ट्र सुनाये। सो करि रोष बहुत भन्नाये॥
गुडाकेस कस पूछत बाता। ताहि न यती बनाय बिधाता॥

उधर इसी बात को सञ्जय ने धृतराष्ट्र को बताया तो वे चिल्ला पड़े- अरे [सञ्जय!] अर्जुन कैसी बात पूछ रहा है, क्योंकि विधाता उसे तो कभी संन्यासी बनने नहीं देगा!

अस राजन काहे तुम्ह कहहू। ब्यर्थहि मोह धार क्यों बहहू॥
अर्जुन जन्मजात संन्यासी। आज भले नहिं होयँ उदासी॥

[तब सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, व्यर्थ ही मोह की धारा में क्यों बह रहे हैं? अरे! अर्जुन तो जन्मजात संन्यासी हैं, भले ही उन्होंने आज संन्यासी का वेश धारण करके घर न छोड़ा हो।

प्रभु कारज करि जगत सँवारी। जाहिं बिपिन गैरिक पटधारी॥

वे तो जब प्रभु का कार्य सम्पन्न करके जगत को सुव्यवस्थित कर देंगे तब गैरिक (गेरू) वस्त्र धारण करके संन्यासी बन कर जंगल जायेंगे।

छंद— प्रभु काज करि यति बेष धरि बन जाइ अलख जगावहीं।
गहि ब्रह्मबृत्ती त्यागि चित्ती पार्थ निसदिन ध्यावहीं॥
तुम्हहू गहहु नृप ज्ञान कबहूँ काज तुम्हरो आवई।
महराज सुनि संजय जुगुति उर माहिं अति हरषावई॥

जब महात्मा अर्जुन भगवान का कार्य सम्पन्न कर लेंगे तब संन्यासी का वेश धारण कर वन में जाकर अलख जगायेंगे और वहाँ चित्त-वृत्तियों को त्याग ब्राह्मीवृत्ति को धारण कर अहर्निश उसी में रमण करेंगे। हे राजन्! इस ज्ञान को आप भी स्मरण रखें, [हो सकता है] कभी आपके भी काम आ जाय। महाराज भी सञ्जय की युक्ति सुनकर हृदय में अति हर्षित हो रहा है।

सोरठा— अर्जुन मन की जान प्रभु बिहँसत अति मगन मन।
यति स्वरूप अरु ध्यान उपदेसत महराज कह॥ २२॥

[इधर] भक्त अर्जुन के मन की बात जानकर भगवान अति प्रसन्नता के साथ संन्यासी का स्वरूप तथा उसका ध्यानयोग उन्हें बताने लगे, जिसे महाराज अगले अध्याय में कहेगा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

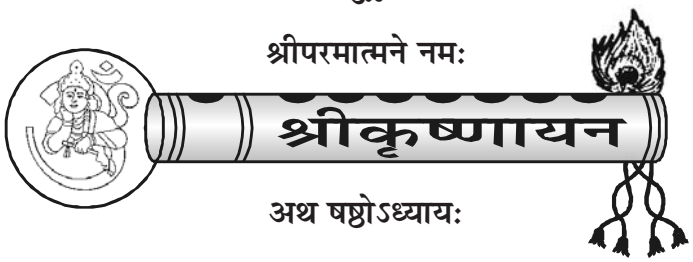

अथ षष्ठोऽध्यायः

हे दयालु देहि मे पादयोः भिक्षां॥
एषां पदाम्बुजं पार्थेन सेवितं द्रौपदि चित्तया बहुविधि भावितम्।
येन पादाभ्यां सर्वं जग आवृतं तेन हे कृपालु देहि अध्यात्म शिक्षाम्॥
विदुर हृदये द्वौ पादौ भ्राजितं व्यास मत्यां क्रीडतः अति राजितम्।
येन्पादाभ्यां जगत पद पराजितं तेन हे प्रभु देहि शम दम तितिक्षाम्॥
येन्पादाभ्यां वेदाः उदितं येनगृहित्वा सन्ताः मुदितम्।
महाराज याचति प्रभुणा पदाभ्यां कुरुकुरुकुरुमे कृपालु अनिच्छाम्॥

हे दयानिधान प्रभु! आप भिक्षा रूप में मुझे अपने चरणों की शरणागति प्रदान करें। जिन चरणों की उपासना महात्मा अर्जुन द्वारा की जाती है, जो चरण भगवती द्रौपदी के चित्त द्वारा दिव्य भाव से स्मरण किये जाते हैं, जिन चरणों के द्वारा ही सारा जगत घिरा हुआ है, हे कृपालु! आप उन्हीं चरणों की कृपा से मुझे अध्यात्म की शिक्षा प्रदान करें।

जिनके युगल चरण भक्त विदुर के हृदय में शोभा पा रहे हैं, महर्षि व्यास की बुद्धि में कृपा करते हुए अति शोभित हो रहे हैं तथा जिनके चरणों की कृपा से जगतपद (मायापद, जीवपद, अज्ञानपद) पराजित हो जाता है, हे नाथ! उन्हीं चरणों की कृपा से मुझे शम, दम, तितिक्षा आदि की भिक्षा दें।

जिनके चरणों से वेद प्रकट हुए हैं, जिन वेदों [के सार तत्त्व] को प्राप्त कर सारे सन्त प्रसन्न हो जाते हैं, महाराज तो उन्हीं चरणों को [भिक्षारूप में] माँग रहा है और कह रहा है कि हे कृपासिन्धु! निश्चित ही आप अपने कमलवत् चरणों को देकर मुझे इच्छारहित (अकाम) कर दें।

सोरठा— गूढ़ सब्द संन्यास मरम जासु हरि खोलहीं।
जिनहिं न याहि अभास ते बिचरहिं पसुबृत्ति महँ॥ (क)॥

'संन्यास' शब्द अति गूढ़ है जिसके रहस्य को अब भगवान नारायण खोल रहे हैं; जिन्हें इसका अनुभव नहीं है, वे पुरुष पशुवत् व्यवहार करते रहते हैं।

कबहूँ ऐसो होय आपुनि सक्ति न आपु लख।
अर्जुन सँग भयो सोय प्रगट करन चह ताहि हरि॥ (ख)॥

कभी-कभार ऐसा भी होता है कि स्वयं की शक्ति का पता स्वयं को ही नहीं चलता; यहाँ महात्मा अर्जुन के साथ वही हो गया है उसे ही भगवान नारायण प्रकट करना चाहते हैं।

अस बर गुरु पद भाइ सिष्य जिवन जापे टिक्यो।
सो तेहि रुप अनुभाइ जाहि तज्यो सो भरम बस॥ (ग)॥

हे मित्रो! सद्गुरु का पद तो ऐसा गरिमापूर्ण है जिसपर शिष्य का जीवन टिका हुआ है। इसीकारण वह प्रत्येक चरण पर उसके आत्मस्वरूप को दर्शाता रहता है जिसे उस (शिष्य) ने भ्रमवश त्याग दिया है।

प्रभु लेवें अपनायँ एक बार कहि मोर जेहि।
कबहुँ तजत तेहि नायँ करन परे बरु जो करम॥ (घ)॥

भगवान नारायण ने जिसे एक बार 'तू मेरा है'- कहकर स्वीकार कर लिया है, उसका वे कभी त्याग नहीं करते, भले ही इसके लिए उन्हें जो भी कर्म करना पड़े।

चौपाई— करि यहि करम कृपालु दिखावहिं। अर्जुन प्रति सोइ रूप लखावहिं॥
तात तुम्हहिं संन्यासी मानउँ। तुम्ह नहिं जानहु तेहि मैं जानउँ॥

भगवान इसी कर्म को करके दिखा रहे हैं और भक्त अर्जुन के प्रति अपने उसी स्वरूप को प्रकट कर रहे हैं- हे तात! मैं तो तुम्हें संन्यासी ही मानता हूँ। हाँ, तुम अपने संन्यासी स्वरूप को नहीं जानते हो किन्तु मैं तुम्हारे उस रूप को भलीभाँति जानता हूँ।

अब लगि तव अस करम न कोऊ। जासों दुख मोरे चित होऊ॥
तुम्ह अपुनें हित कछु नहिं कीन्हें। सब करि तेहि फल पूज्यन्हि दीन्हें॥

अब तक तुम्हारे द्वारा ऐसा कोई भी कर्म नहीं हुआ है जिससे मेरा हृदय दुःखी हुआ हो। अब तक तुमने स्वयं के लिए कुछ भी नहीं किया अपितु समस्त कर्मों को करके उसका फल पूज्यजनों को ही समर्पित कर दिया है।

सर्ब हितार्थ जनम तव भाई। जानत तव कुल अरु मुनिराई॥
यासों भुजा बनहु मम ताता। तुम्ह यति पावन जग सुखदाता॥

हे प्रिय! तुम्हारे कुल के लोग एवं सन्तजन जानते हैं कि तुम्हारा जन्म सबके कल्याणार्थ हुआ है। इसलिए [आज] मेरी भुजा बन जाओ क्योंकि तुम संसार को सुख प्रदान करने वाले अत्यन्त पावन संन्यासी हो।

अति लज्जित सुनि अपुनि बड़ाईं। पार्थ नमत कह अस नहिं साईं॥
मोहिं कहि यति प्रभु ब्यंग न मारौ। यति सिर सकल जगत उपचारौ॥

महात्मा अर्जुन [भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के मुख से] अपनी प्रशंसा सुनकर अत्यन्त लज्जित हो रहे हैं और बारम्बार प्रणाम करते हुए कह रहे हैं कि हे प्रभु! आप ऐसा न कहें, संन्यासी कहकर मुझपर व्यंग्य न करें क्योंकि संन्यासी के सिर पर तो सम्पूर्ण जगत के उपचार का भार होता है।

दोहा— यहिं प्रमाद कर पार्थ तुम्ह संन्यासी को आहि।
याहि बतावउँ तोहिं सन महाबाहु लखु ताहि॥ १॥

[तब भगवान नारायण ने कहा-] हे पार्थ! तुम यहीं प्रमाद कर रहे हो। संन्यासी कौन है, अब हे महाबाहो! यही तुमसे बता रहा हूँ, जिसे ध्यान देकर सुनो।

चौपाई— आश्रय रहित करमफल ताता। कर निष्काम यती सो ज्ञाता॥
सोइ परम योगी मुनि ध्यानी। सोइ ब्रह्मवेत्ता निर्बानी॥

हे प्रिय! जो पुरुष कर्मफल को न चाहता हुआ निष्काम कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही सब कुछ जानने वाला है वही परम योगी, मुनि, ध्यानी एवं वही ब्रह्म को जानने वाला है [इतना ही नहीं बल्कि] वही मोक्ष स्वरूप भी है।

केवल पञ्चाग्नी जो त्याग्यो। जप तप दान करन सों भाग्यो॥
तजत न सोउ सब आसा जबलौं। यति योगी न कहावइ तबलौं॥

जिसने एकमात्र पञ्चाग्नि को त्याग दिया है तथा जप, तप, दान आदि करने से निवृत्त हो गया है, वह भी जब तक समस्त इच्छाओं का त्याग नहीं करता तब तक योगी और संन्यासी नहीं कहला सकता।

फलन्ह त्याग संन्यास कहावत। ब्रह्मभूत चित योग बतावत॥
कर्मयोगि महँ गुन यदि दोऊ। संन्यासी योगी सुनु सोऊ॥

[हे पार्थ!] कर्म के फलों का त्याग संन्यास कहा जाता है तथा चित्त का ब्रह्मरूप होना ही योग बताया जाता है, यदि ये दोनों सिद्धियाँ कर्मयोगी को प्राप्त हैं तो वह भी संन्यासी और योगी ही है।

त्यजन करम करमन्ह फल आसा। तेहि श्रुति कहहिं साँच संन्यासा॥
तहिं निष्काम करम कर कोऊ। मुनि कह सच संन्यासी सोऊ॥

हाँ, श्रुतियाँ सम्पूर्ण कर्मों के साथ-साथ सम्पूर्ण कर्मफलों की आशा के त्याग को सच्चा संन्यास बताती हैं। उसी स्थान पर यदि कोई पुरुष निष्काम कर्म करता है तो वह भी सच्चा संन्यासी ही है, ऐसा सन्तजन कहते हैं।

दोहा— यासों चाहत ध्यान जो करम करे निष्काम।
होवइ योगारूढ़ जब तजे सर्बथा काम॥ २॥

इसलिए जो ध्यानयोग चाहता है, वह सर्वप्रथम निष्काम कर्म (कर्मयोग) करे और जब योगारूढ़ हो जाय [अर्थात् जब ध्यानयोग की योग्यता आ जाय] तो कर्म का सर्वथा त्याग कर दे।

चौपाई— ता छन तेहि करतब नहिं कोऊ। तजै लोक ब्यवहारहिं सोऊ॥
सबरे सास्त्र नीति अस गावें। जब कोउ बिषय करम नहिं भावें॥

उस समय उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं बचता, अत: वह जगत व्यवहार को सर्वथा त्याग दे। सभी शास्त्रों का यही कहना है कि जब उसका न किसी कर्म में मन लगता है और न किसी विषय की ही इच्छा होती है–

तबहिं सो पुरुष होइ संन्यासी। सबहिं त्यागि होवे बनबासी॥
तहिं करि निज आतम उद्धारा। तात जाय सो माया पारा॥

उसी समय वह श्रेष्ठ पुरुष सबकुछ त्याग दे और संन्यास लेकर वनवासी हो जाय तथा हे प्रिय! वहीं [वास करता हुआ ध्यान-भजन आदि के द्वारा] अपनी आत्मा का उद्धार कर माया से परे हो जाय।

जेहि माया जग गयो भुलाई। अतिहिं बिकल जासों अरुझाई॥
अहं बिसुद्ध आतमा जाई। तहँइ फँस्यो निज जान न पाई॥

जिस माया में सारे जगत के लोग भूले हुए हैं, जिससे छूटने की व्याकुलता में और भी उलझते जा रहे हैं, उसी माया में [तुम्हारे जैसे पुरुषों का भी] विशुद्ध अहं (चैतन्य) रूप आत्मा जाकर फँस गया है और स्वयं को ही नहीं जान पा रहा है।

जो उद्धार करइ नहिं ताको। बैरी बनत महत सो वाको॥
निज आतम सम सत्रु न कोऊ। जो होइ मुक्त सुहृद सम होऊ॥

हे जितेन्द्रिय! जो उस आत्मा का उद्धार नहीं करता वह उसी का प्रबल वैरी बन जाता है। [यह तुम जान लो कि] जगत में अपनी आत्मा के समान कोई अन्य वैरी है ही नहीं, जो मुक्त होते ही सुहृद के समान हो जाता हो–

दोहा— हीत मीत अरु स्वजन सम कर यह कोटि सहाय।
आत्म पिपासू जतन करि तेहिं उद्धारै धाय॥ ३॥

तथा हित-मित्र और स्वजनों के समान यह हर प्रकार से सहायक बन जाता हो। अत: उस श्रेष्ठ आत्मजिज्ञासु को चाहिए कि सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रयत्न करके उस (आत्मा) का शीघ्रातिशीघ्र उद्धार करे।

चौपाई— बरु कोउ कहे मातु पितु त्याग्यो। बिलखत सिसु पतिनिहिं बन भाग्यो॥
आह परे अति इन्हकर भाई। जासों जप तप करि नहिं जाई॥

भले ही कोई कहता रहे कि [देखो न] वह रोते हुए माता-पिता, बच्चे और पत्नी को त्यागकर वन को भाग गया है। सच में हे भाइयो! उसके ऊपर इनकी ऐसी आह पड़ेगी कि उससे जप, तप, योग किया ही नहीं जायेगा।

प्रभु कस कह निज कहँ पावन हित। बिपिन जाहु बधि स्वजन हीत मित॥
जहँ तहँ देहिं मोह कर ज्ञाना। उन्हकी बात न सुनै सुजाना॥

इतना ही नहीं, यह भी कहेंगे कि अरे! भगवान भी ऐसा कैसे कहेंगे कि तुम स्वयं को पाने के लिए स्वजनों, हित-मित्रों का वध करके वन को चले जाओ! इस प्रकार जहाँ-तहाँ लोग अज्ञान का उपदेश देते रहेंगे किन्तु बुद्धिमान पुरुष उनकी बातों पर ध्यान न दे।

उद्धारे प्रथमहिं अपनोई। पुनि आतम जिज्ञासुहिं जोई॥
निजकृत कर्म फलहिं सब पावत। ब्यर्थहिं अन्यहिं दोष लगावत॥

बल्कि वह सर्वप्रथम अपना उद्धार करे, पुन: जो आत्मजिज्ञासु [उसके शरणागत] हों, उनका उद्धार करे; क्योंकि सभी अपने ही किये हुए कर्मों का फल पाते हैं, दूसरे पर तो व्यर्थ ही दोषारोपण करते रहते हैं।

जबहिं होय आतम उद्धारा। तब अस मिलइ सिद्धि भंडारा॥
मन बुधि चित्त दास बनि जाहीं। ब्रह्म होइ जग रहत सदाहीं॥

[भगवान पुनः महात्मा अर्जुन से कह रहे हैं कि] जब उसकी आत्मा का उद्धार हो जाता है तो उसे सिद्धियों का ऐसा भण्डार मिल जाता है कि मन, बुद्धि, चित्तादि उसके सेवक हो जाते हैं और वह सदा ब्रह्मरूप होकर जगत में रहता है।

दोहा— सीत उष्ण सुख दुखहु महँ अवरु मान अपमान।
रहत जाहि चित सांत सम ताहि होय बिभु भान॥ ४ (क)॥

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में भी जिसका चित्त सम शान्त बना रहता है उसे ही [समस्त रूपों में] ब्रह्म का अनुभव होता रहता है।

तृप्त ज्ञान बिज्ञान सों अचल जितेंद्रिय जोय।
स्वर्ण उपल मृद सम जेहि योगि कहावे सोय॥ ४ (ख)॥

[इतना ही नहीं अपितु] जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हुआ पुरुष अविचल एवं जितेन्द्रिय है और जिसके लिए मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण सभी समान हैं, वही योगी कहा जाता है।

सुहृद मित्र मध्यस्थ अरु उदासीन अरि भाइ।
साधू पापिहिं सम लखे योगी श्रेष्ठ कहाइ॥ ४ (ग)॥

वह सुहृद, मित्र, मध्यस्थ, उदासीन, शत्रु, भाई-बान्धवों एवं साधु तथा पापी को एक समान देखता है, इसी से परम योगी कहा जाता है।

चौपाई— एहि सिधि हित कानन अस जावे। जहँ कोउ निज पर नाहिं लखावे॥
सिष्या सिष्य न तहँ कोउ राखै। जितइ चित्त तन तउ नहिं माखै॥

इसकी सिद्धि के लिए आत्मजिज्ञासु को [संन्यास लेकर] ऐसे वन प्रदेश में जाना चाहिए, जहाँ अपना और पराया कोई भी न दीख पड़े तथा वहाँ भी अपने साथ कोई शिष्य और शिष्या न रखे। भले ही उसने शरीर और चित्त पर विजय प्राप्त कर ली हो, तो भी अहंकार न करे।

सब संग्रह तजि कछु नहिं चाहे। सो नित संत योग अवगाहे॥
बिधि जो गुडाकेस बैठन की। सुनु पुनि ध्यान माहिं पैठन की॥

वहाँ पर वह सन्त समस्त संग्रहों का त्याग करके, कुछ भी आकांक्षा न करता हुआ सदा योगाभ्यास करता रहे। हे गुडाकेश! पुनः जो ध्यानयोग में बैठने की तथा उसमें प्रवेश पाने की विधि है, उसे सुनो-

गोमय लिपि सम भूमि बनावे। प्रथम कुसा मृगचर्म बिछावे॥
कम्बल कै तेहि सम पट कोई। वापे डासि करइ सम सोई॥

वह भूमि को समतल करके अच्छी प्रकार मिट्टी और गोबर से लीप-पोत ले और उसपर क्रमशः कुशासन, मृगचर्म, कम्बल अथवा उसके सदृश ही कोई वस्त्र बिछावे जिससे वह सम एवं बैठने के अनुकूल हो जाय [कम्बल उपलब्ध होने पर मृगचर्म की आवश्यकता नहीं है]।

तापर नहिं तूलिका बिछावे। बरु कन्था जो होय डसावे॥
धूल धूम कछु आवहिं नाहीं। सुद्ध वायु जहँ मिलइ सदाहीं॥

हाँ, ध्यान रहे कि वह उस आसन पर कोई रूई का गद्दा न बिछावे, भले ही [कपड़े से निर्मित] कोई गुदड़ी उपलब्ध हो तो बिछा ले। वहाँ धूल और धुआँ न आता हो तथा शुद्ध वायु सदा मिलती हो।

दोहा— युक्त न आसन हेतु ये कुरसी तखत पलंग।
कारन इन्ह पर नहिं लगै कबहूँ ध्यान अभंग॥ ५॥

ध्यान में बैठने के लिए तखत, पलंग अथवा कुर्सी आदि उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि इन पर कभी भी अखण्ड ध्यान नहीं लगेगा।

चौपाई— आसन बैठि सो मन इंद्रिन्हि जित। योगाभ्यास करे चित सुधि हित॥
राखे सम सिर ग्रीवा काया। बैठे तापे अचल अमाया॥

इस प्रकार वह मन-इन्द्रिय विजेता पुरुष आसन पर बैठकर चित्तशुद्धि हेतु ध्यानयोग का अभ्यास करे। इसके लिए वह माया का त्याग करके सिर, गले तथा शरीर को सम (एक सीधी रेखा में) रखते हुए अचल होकर बैठे।

अधखुलि आँखि देख जनु घ्राना। दृष्टि ब्रह्ममय करइ सुजाना॥
अपर दिसा महँ लखे न कबहूँ। बृस्चिक ब्याल चढ़हिं तन तबहूँ॥

वह बुद्धिमान अधखुली आँखों को ऐसा रखे, मानो वे नासिका को देख रही हों और दृष्टि को ब्रह्ममय कर दे [अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ'- ऐसा भाव करे]। किसी अन्य दिशा की ओर कदापि न देखे, भले ही शरीर पर सर्प और बिच्छू ही क्यों न चढ़ जायँ।

अन्तःकरण सांत चित करई। पावन ब्रह्मचरज ब्रत धरई॥
मनबृत्तिहिं बहुबिधि निरवारे। चित सम्पूर्ण मोहिं दै डारे॥

इस प्रकार वह अन्तःकरण और चित्त को शान्त रखने वाले परम पवित्र ब्रह्मचर्यव्रत को धारण कर मन की वृत्तियों को भलीभाँति शान्त करके सम्पूर्णता से अपने चित्त को मुझमें लगा दे।

सर्बश्रेष्ठ मोहिं सर्बाधारै। समुझि ध्यान दीपक सो बारै॥

वह मुझे ही सर्वश्रेष्ठ तथा सबका आधार समझकर ध्यानरूपी दीपक को जला दे।

दोहा— एहि बिधि मन करि थिर सदा मोमें योगी ध्याय।
मम अधीन जो मोक्षपद अतिहिं सीघ्र सो पाय॥ ६॥

इस प्रकार वह योगी मन को मुझमें स्थिर करके सदा मेरा स्मरण करता हुआ, शीघ्रातिशीघ्र मेरे अधीन रहने वाले मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— पर आकंठ खाय जो भाई। कै अति अल्प मनहु नहिं खाई॥
किधौं सोय अति कै बहु जागे। मनमानी जो रहइ अभागे॥

किन्तु हे प्रिय! जो गले तक ठूँस-ठूँसकर खाता है अथवा बहुत ही कम खाता है, मानो खाया ही न हो; अत्यधिक सोता है या सदा जागता ही रहता है, इस प्रकार जो भाग्यहीन मनमाना ही बरतता है,

ताकर सिद्ध होय नहिं योगा। लागत तन मन नाना रोगा॥
पर जाकर खानो अरु पीनो। सोनो जगनो चलनो फिरनो॥

उसका यह योग सिद्ध हो ही नहीं सकता अपितु तन, मन में नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं। परन्तु जिसका खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना-

करमयोग नियमित परिमाना। करे योग ताकर सब त्राना॥
महत अबिद्या दुखद नसावे। आतमज्ञान देइ हरसावे॥

और कर्मयोग नियमित अनुपात में होता है, यह योग उसकी सब प्रकार से रक्षा करता है और दुःख देने वाली प्रबल अविद्या का नाश कर देता है तथा आत्मज्ञान देकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है।

सुनहु संत अब महाराज की। गुत्थी खोलत ध्यानराज की॥

हे सन्तो! अब महाराज की सुनें, जो समस्त ध्यान की क्रियाओं का राजा है, उसकी गुत्थी खोल रहा है।

दोहा— ध्यान ध्यान बस ध्यान सुनि करन लगत सब ध्यान।
पर हरि चह निज रूप लखि पुनि कोउ कर एहि भान॥ ७॥

[उपदेशकों द्वारा] ध्यान करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, बस ध्यान ही करना चाहिए- ऐसा सुनकर सभी ध्यान करने लगते हैं, किन्तु भगवान तो चाह रहे हैं कि सर्वप्रथम अपने-आप को जान ले उसके उपरान्त ही कोई इसकी [यथार्थ में] अनुभूति कर सकेगा।

चौपाई— सुनहु ध्यान अधिकारी सोई। समुझत निज कहँ द्रष्टा जोई॥
तन मन बुधि चित दृस्यहि मानत। निज कहँ द्रष्टारूपहि जानत॥

सर्वप्रथम यह जान लें कि [इस अध्याय में भगवान द्वारा बताये हुए] ध्यान का अधिकारी कौन है ? हाँ! वही, जिसने जान लिया है कि मैं द्रष्टा हूँ अर्थात् जो तन, मन, बुद्धि और चित्त को दृश्यरूप मानता है तथा स्वयं को द्रष्टारूप जानता है।

निज द्रष्टा गुनि तन अरु प्रानहिं। प्राननक्रिया दृस्य सब मानहिं॥
यासों कै बिनु चाहे स्वाँसा। निसदिन तन मन करत प्रकासा॥

वह बुद्धिमान स्वयं को द्रष्टा मानकर शरीर, प्राण और प्राणन क्रिया आदि सभी को दृश्यरूप समझता है, इसलिए कि उसके न चाहने पर भी प्राण अहर्निश देह और मन को जीवित रखता है।

यदि पूछै मोसों कोउ आई। ऐसो कहि कस करहु ढिठाई॥
देह दृस्य कस मैं कस द्रष्टा। तब मैं कहुँ तुम्ह याहि न स्त्रष्टा॥

यदि कोई आकर मुझसे कहे कि आप ऐसा कहकर कैसी धृष्टता कर रहे हैं, देह दृश्य कैसे है और मैं द्रष्टा कैसे हूँ ?- तो उसे मैं उत्तर दूँगा कि आप इसके निर्माता नहीं हैं।

गहि अज्ञान रूप कह जाही। प्रकृति सृजति अरु पालति ताही॥
बिनु चाहे सिसु बालक होवे। पुनि सो युवा जरठ बनि सोवे॥

आप अज्ञान को धारणकर जिसे अपना स्वरूप कहते हैं, उसे तो प्रकृति ही उत्पन्न करती है और वही इसका पालन-पोषण भी करती है। [आप देखते ही हैं कि] बिना चाहे ही शिशु, बालक हो जाता है तथा पुनः युवा और वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

यासों दृस्य कहउँ मैं याही। हेर फेर कछु करउँ न ताही॥

इसीलिए मैं इसको दृश्य कह रहा हूँ तथा उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर रहा हूँ [अर्थात् उसका स्वभाव ज्यों का त्यों रहने दे रहा हूँ]।

दोहा— देखहिं तव बिनु चाह दृग श्रवन सुनहिं बिनु चाहु।
घ्रान सुँघहिं अस चाह बिनु तुम्ह द्रष्टा पतियाहु॥ ८ (क)॥

आपके चाहे बिना ही नेत्र देख रहे हैं तथा कान सुन रहे हैं एवं आपकी इच्छा के बिना ही नासिका सूँघ रही है, अतः विश्वास करें कि आप द्रष्टा हैं।

रसना रस अनुभावई तुम्ह चाहउ कै नाहिं।
इमि सीतलता उष्णता होय भान त्वग माहिं॥ ८ (ख)॥

आप चाहें या न चाहें, जिह्वा से रस की अनुभूति हो ही रही है इसी प्रकार सर्दी और गर्मी की अनुभूति भी त्वचा द्वारा अपने-आप हो रही है।

चौपाई— भूख प्यास आवइ बिनु चाहे। उदर अग्नि बिनु बहु बिधि दाहे॥
आपु प्रथम ये पाछें आवत। यासें द्रष्टा आपु कहावत॥

उसी प्रकार भूख-प्यास की अनुभूति बिना चाहे हो रही है और पेट में बिना अग्नि के ही अत्यन्त जलन पैदा हो जाती है। आप पहले आते हैं और ये [समस्त अनुभूतियाँ] बाद में प्रकट होती हैं, इसलिए आप द्रष्टा कहे जाते हैं।

तन अरु तुम्ह बिच क्षुधा पिपासैं। तन जड़ यासें तुम्हहि प्रकासैं॥
तैसें सत रज तमस कलपना। प्रगटहिं उर जब होय तलपना॥

शरीर और आपके बीच भूख-प्यास का स्थान है जिसमें शरीर जड़ है [और भूख-प्यास उसके विषय]। अतः मात्र आप ही प्रकाशित हो रहे हैं। उसी प्रकार सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी विचार हृदय से उठ रहे हैं जिससे हृदय अत्यन्त पीड़ित होता है।

करि न सकत कछु यामें वामें। यासें तुम्ह द्रष्टा तन ग्रामें॥
अस कोउ माने कोउ अपमानें। ताहि दृस्य निज द्रष्टा जानें॥

किन्तु आप इन तीनों प्रकार के विचारों में [और उन भूख-प्यास आदि अनुभूतियों में] कोई हस्तक्षेप नहीं कर

सकते हैं, अत: आप इस शरीररूपी ग्राम में केवल द्रष्टा हैं; इसलिए कोई मान करे या अपमान, उसको दृश्य तथा स्वयं को द्रष्टा जानें।

सो अति अज्ञ तुम्हहिं तन मानत। देह नाम सच महँ तव जानत॥
करहु जबहिं तेहि मन अनुसारा। तब तुम्ह सरिस न तेहि कोउ प्यारा॥

वह अत्यन्त अज्ञानी है जो आपको शरीर ही मानता है तथा शरीर के नाम को सच में आपका ही नाम समझता है। अत: जब उसके मन के अनुकूल व्यवहार हो जाता है तो आपके जैसा उसका जगत में कोई प्रिय नहीं रहता।

दोहा— होवे जब प्रतिकूल कछु स्वयं तुम्हहिं तन जानि।
जो कछु कहन न चाहिए सोउ कह बैरी मानि॥ ९॥

किन्तु जब कुछ उसके प्रतिकूल हो जाता है तो वह स्वयं को एवं आपको शरीर मानकर, जो कुछ नहीं कहना चाहिए, वह भी वैरी जानकर कह डालता है [क्योंकि द्रष्टाभाव उसमें नहीं है]।

चौपाई— जब नहिं ते द्रष्टा कस स्रष्टा। दृस्य सबहि पर तुम्ह सच द्रष्टा॥
मानव दानव सुर गंधर्बा। किन्नर नाग यक्ष दृस सर्बा॥

इसलिए जब वे (स्वजन और परजन) द्रष्टा ही नहीं हैं तो स्रष्टा कैसे हो सकते हैं अत: वे सभी दृश्यरूप हैं, परन्तु आप तो यथार्थ में द्रष्टा ही हैं। [इसी न्याय से] मानव, दानव, देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, यक्ष आदि सभी दृश्यरूप ही हैं।

बस लखि सकहु न करि सकु कबहूँ। यासें तुम्ह द्रष्टा नित अबहूँ॥
पसु पक्षी अरु कीट पतिंगा। जग महँ जो कोउ लिंग अलिंगा॥

आप आज भी इसीलिए केवल द्रष्टा हैं क्योंकि आप कभी भी कुछ कर नहीं सकते, केवल देख सकते हैं। पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगे तथा इस संसार में जो कोई भी वर्णसहित और वर्णरहित हैं-

जानत यह न कौन मैं केहि कर। तुम्ह द्रष्टा सब लखहु अपर पर॥
सन्मुख दीखत दिन अरु राती। मास बरष जुग जायँ सिराती॥

वे यह नहीं जानते कि मैं कौन हूँ तथा मुझे किसने बनाया है, किन्तु आप चेतन द्रष्टा हैं क्योंकि आप यह सब जानते हैं कि क्या जड़ (अपरा प्रकृति) है और क्या चेतन (परा प्रकृति) है। आपके सामने ही दिन-रात, मास, वर्ष और युग व्यतीत होते दीख रहे हैं।

यह सब होवत तुम्ह सब देखत। तुम्हहिं याहि सों द्रष्टा लेखत॥
पाप पुन्य अरु दोउ फल याके। जीव चखइ तुम्ह द्रष्टा जाके॥

यह सब हो रहा है और आप सब कुछ देख रहे हैं, इसी कारण मैं आपको एकमात्र द्रष्टारूप कह रहा हूँ। [इतना आप जान लें कि] पाप-पुण्य और इसके सुख-दु:खरूपी दोनों ही प्रकार के फलों को जीव भोगता है, जिसके आप [एकमात्र] द्रष्टा हैं।

दोहा— सुनि अचरज जनि करहु तुम्ह यह यथार्थ महँ होय।
बहुत पुरुष बर्रात निसि देखहु नीदहिं सोय॥ १०॥

आप ऐसा सुनकर आश्चर्य न करें क्योंकि यह तो यथार्थ में होता ही है। कदाचित् आपने देखा होगा कि बहुत-से पुरुष नींद में सोते हुए भी बोलने लगते हैं-

चौपाई— जागि कहत कछु नहिं बर्रायों। आज बहुत सुख से सो पायों॥
सच बोलत सो बरु तम माहीं। सोइ द्रष्टा निज लख्यो न जाहीं॥

किन्तु वे जागकर कहते हैं कि मैंने तो कुछ भी नहीं बोला बल्कि [स्वप्न न आने से] आज तो बहुत सुख से सोया। अपना स्वरूप न समझ पाने के कारण भले ही द्रष्टा अज्ञान में कह रहा हो परन्तु बात तो बिल्कुल सत्य कह रहा है [कि मैंने कुछ नहीं बोला], अत: वही द्रष्टा है।

महाराज एक अनुभव गावे। जासे हिय गुत्थी खुलि जावे॥
दृग दृग सों जो लख प्रारब्धा। दोउ निर्बल तुम्हसों आबद्धा॥

अब मैं पुन: अपनी एक अनुभूति कह रहा हूँ जिससे आपके हृदय की गुत्थी खुल जायेगी। वह यह कि नेत्र और नेत्र से देखने वाला प्रारब्ध, ये दोनों ही निर्बल हैं और आप [चेतन आत्मा] के ही आश्रित हैं।

धरा बीज सँग बरु प्रगटाये। पर रबि बिनु नहिं तिन्हहिं उगाये॥
ते तुम्ह बिनु कछु करें न तैसे। रबि बिनु बृक्ष बनें नहिं जैसे॥

भले ही पृथ्वी बीजों के संग ही प्रकट हुई है, किन्तु सूर्य की किरणों के अभाव में उन्हें अंकुरित नहीं कर सकती, वैसे ही वे (नेत्र और नेत्रों के माध्यम से देखने वाला प्रारब्ध) आपके बिना कुछ भी नहीं कर सकते जैसे सूर्य की किरणों के बिना बीज, वृक्ष नहीं बन सकता।

तस यह श्रवन सुनत जो यासें। दोउ महराजहिं दृस्यहि भासें॥
तेहिकर पसु पक्षी सम सुननो। अस इन्हि दृस निज द्रष्टा गुननो॥

उसी प्रकार कान और कान के माध्यम से सुननेवाला- ये दोनों ही महाराज को दृश्य ही प्रतीत हो रहे हैं। उसका सुनना तो पशु-पक्षियों के सुनने के समान ही होता है। अत: इन्हें दृश्य और स्वयं को द्रष्टा समझना चाहिये।

जिह्वा अरु जिह्वा सों जोई। स्वाद लेइ ते सच दृस दोई॥
गंध लेनवारो अरु घ्राना। दोउ कहावत दृस्य सुजाना॥

हे बुद्धिमानो! वैसे ही जिह्वा और जिह्वा से रसास्वादन करने वाला, सच में ये दोनों ही दृश्य हैं, नासिका और नासिका से गन्ध लेने वाला, ये दोनों दृश्य कहे गये हैं।

दोहा— सीत ऊष्ण अरु इनहिं जो अनुभव कर प्रारब्ध।
महाराज दृस दोउ ये सुनि न होउ अस्तब्ध॥ ११॥

इसी प्रकार सर्दी-गर्मी और [त्वचा से जो]इनका अनुभव करने वाला प्रारब्ध है, महाराज का कहना है कि ये दोनों ही दृश्य हैं, ऐसा सुनकर स्तब्ध न होवें।

चौपाई— इनहिं नित्य तुम्ह देखन हारो। यासें द्रष्टा नाम तुम्हारो॥
खाय पुरुष जठरागि पचावत। बात पित्त कफ कोउ बिलगावत॥

आप इन सबको नित्य देखने वाले हैं, इसीलिए आपका नाम द्रष्टा है। जैसे खाता-पीता तो पुरुष है और उसे पचाती जठराग्नि है परन्तु वात, पित्त और कफ को पृथक् करने वाला तो कोई और ही है।

तन सों रोग सोक मन आवे। खान पीन कोउ मित्र न भावे॥
काल देखि तन मन सब काँपें। यह सब होय आपुने आपें॥

वैसे ही शरीर से रोग और मन से शोक-सन्ताप प्रकट होता रहता है, जिससे [उस समय] खाना-पीना तथा कोई मित्र आदि अच्छे नहीं लगते। काल को देखकर तन, मन आदि काँप उठते हैं, यह सब तो अपने-आप ही होता रहता है।

यह सब करन करावन वारो। अपर कोउ तुम्ह देखन हारो॥
द्रष्टा रूप रमे सब माहीं। सोइ तव रूप कबै अनुभाहीं॥

इन समस्त कर्मों को करने और कराने वाला तो कोई और ही है तथा आप एकमात्र देखने वाले हैं। अत: जो द्रष्टारूप (ब्रह्म) सर्वत्र रमण कर रहा है वही आपका अपना वास्तविक स्वरूप है, उसका बोध आपको कब होगा?

ताहि कहउँ मैं तुम्हहु बिचारौ। प्रभु जो ध्यान कहें सुखसारौ॥
करहु ताहि तुम्ह स्वजन बिहाई। निज सिद्धांतहु देहु भगाई॥

उसी को मैं कह रहा हूँ, आप भी विचार करें। भगवान जिस ध्यान को अत्यन्त सुख का सार बता रहे हैं, उसे आप स्वजनों का परित्याग करके और अपने सिद्धान्तों की तिलाञ्जलि देकर करें।

दोहा— जग सों चाहहु नाहिं कछु बरु तुम्हसों जग चाह।
याकोहु चिंता करहु नहिं बरु सबकै उर दाह॥ १२॥

भले ही सभी को आपके इस व्यवहार से हृदय में जलन होती रहे, किन्तु आप जगत से कुछ भी न चाहें, भले ही जगत आपसे कुछ चाहता हो, इसकी भी चिन्ता न करें।

मासपारायण, पन्द्रहवाँ विश्राम

चौपाई— अरु को अधिकारी एहि ध्यानहिं। सोइ जो निज चह अरु प्रभु ज्ञानहिं॥
माया पार चहै जो जानो। बरु कोउ मोलहु परै चुकानो॥

और [अब प्रश्न यह है कि] इस ध्यानयोग का अधिकारी कौन है? हाँ, वही है जो एकमात्र स्वयं को और ब्रह्म को ही जानना चाहता है तथा माया को पार करना चाहता है, उसके लिए चाहे जो भी मूल्य चुकाना पड़े।

अरु अधिकारी को है याही। सोइ सत दीखन लाग्यो जाही॥
सच दिखनो का जानन चावे। महाराज पुनि ताहि सुनावे॥

और भी ऐसा कौन है जो इस ध्यानयोग का अधिकारी है? हाँ, वही है जिसे सत्य दीखने लगा है। सत्य का दिखाई पड़ना क्या है यदि इसे जानना चाहते हैं तो लें! महाराज उसे पुनः बता रहा है–

सच यह ब्रह्म संग सचराचर। प्रानी ध्यान करहिं हर्षाकर॥
मनहु त्रिगुन अम्बर तन ढाँकी। करत ध्यान प्रभु अपनो बाँकी॥

सत्य तो यही है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ-साथ समस्त चराचर प्राणी हर्षित होकर ध्यान ही कर रहे हैं, मानो निर्गुण ब्रह्म तीनों गुणरूपी वस्त्रों से अपने आपको ढककर अपना अत्यन्त मधुर ध्यान कर रहा हो।

तेहि सम ध्यानै जो होइ द्रष्टा। अम्बर फेंकि मिलइ तेहि स्त्रष्टा॥
वासेइँ प्रगट ब्रह्म सिव धाता। ध्यान मगन नित रहत सुगाता॥

उसी की भाँति द्रष्टा होकर जो ध्यान करेगा, उसे वह प्रभु अपने [त्रिगुणात्मक] वस्त्रों को फेंककर मिलेगा। उसी से प्रकट हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी सदा अपने दिव्य द्रष्टा स्वरूप के ध्यान में मस्त रहते हैं।

सोरठा— उन्हकर अस बिज्ञान जासों त्रिगुनात्मक जगत।
प्रगट होइ कर ध्यान सदा रहत निज रूप जनु॥ १३॥

उन त्रिदेवों का ऐसा विज्ञान है जिससे [कौतूहल उत्पन्न करने वाला] यह त्रिगुणात्मक जगत प्रकट होता है और वह त्रिगुणात्मक जगत भी मानो सदा अपने स्वरूप के ध्यान में ही तल्लीन रहता है।

चौपाई— तुम्ह सम बौरे को जग माहीं। ध्यान धरत प्रभु पर तुम्ह नाहीं॥
चहिय न जिन्हहिं सपन कछु कबहूँ। अहहिं त्रिदेव ध्यान रत तबहूँ॥

[महाराज तो कहता है कि] भगवान तो ध्यान करता है परन्तु आप नहीं करते, अतः जगत में आप जैसा पागल कौन है! यहाँ तक कि जिन त्रिदेवों को स्वप्न में भी कुछ नहीं चाहिए, तो भी वे अपने द्रष्टा स्वरूप के ध्यान में मस्त रहते हैं।

तुम्ह चाहहु सब कुछ जग माहीं। पर बिछिप्त अस ध्यानहु नाहीं॥
सांख्य दृष्टि गहि देखइ कोई। सब निज ध्यान करहिं लखि सोई॥

[किन्तु मैं भलीभाँति जानता हूँ कि] आपको जगत में सब कुछ चाहिए, तो भी आप ऐसे पागल हैं कि ध्यान नहीं करते। अरे! यदि सांख्यमत का आश्रय लेकर भी देखा जाय तो भी सब अपने द्रष्टा स्वरूप का ही ध्यान धारण किये हुए हैं।

अंतरिक्ष मानहु नित ध्यानत। जामें सब लोकहु अवसानत॥
बिद्युत दमकत घन बहु बरसत। तउ सो कबहुँ न रोषत हरसत॥

आकाश भी मानो सदा ध्यान ही कर रहा है जिसमें समस्त लोकों का प्रलय हो जाता है, बिजली चमकती रहती है तथा बादल बरसते रहते हैं, तो भी वह न कभी तनिक क्षुब्ध होता है और न प्रसन्न ही।

द्रष्टा होइ कबहुँ नहिं बोलत। कबहुँ काहु सों मोल न मोलत॥
तैसे आपहु काह न होवहु। डासि पलंग खाइ क्यों सोवहु॥

बल्कि द्रष्टारूप हुआ वह कभी भी कुछ नहीं बोलता तथा न किसी से कुछ मूल्य ही माँगता है। अरे! आप भी वैसे ही क्यों नहीं हो जाते? केवल खा-पीकर तथा पलंग बिछाकर क्यों सोते रहते हैं?

वायुहु ऐसो ज्ञानी ध्यानी। निज स्वरूप महँ रहत अमानी॥

उसी प्रकार पवनदेव भी ऐसे ज्ञानी एवं ध्यानी हैं जो मानरहित होकर अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं।

दोहा— किधौं जाहिं सो जब जहाँ गह सुगंध दुर्गंध।
ताहि गहे नहिं चित्त महँ यासें नित निर्बंध॥ १४॥

वे चाहे जब और जहाँ भी जाते हैं वहाँ सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों की ही प्राप्ति होती है, किन्तु वे उसे चित्त में धारण नहीं करते, इसी से सदा बन्धनमुक्त हैं।

चौपाई— अस क्यों पावन ध्यान न धारउ। मूढ़ सरिस जग कस अनुहारउ॥
ब्रह्म सर्बगत द्रष्टा जैसो। पावक ध्यान करत नित ऐसो॥

अरे! आप ऐसा ही पवित्र ध्यान क्यों नहीं धारण करते, जगत में मूर्खों के समान व्यवहार क्यों कर रहे हैं? [आप देख ही रहे हैं कि] जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक ब्रह्म द्रष्टारूप ही रहता है उसी प्रकार अग्निदेव भी सदैव ऐसा ही ध्यान करते रहते हैं।

ईंधन कर ते गुन नहिं लेवें। निज स्वरूप सब महँ रहि सेवें॥
जल तस ध्यान मगन मन भाई। निज प्राणिन्ह सों नाहिं सगाई॥

वे ईंधन के गुण को ग्रहण न कर, सबमें वास करते हुए अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। वैसे ही हे प्रिय! जल भी अपने भीतर के प्राणियों से प्रेम न करके अपने आप में ही ध्यानमग्न रहता है।

मछुवारो बहु पकरत मीना। तउ सम रहे बने नहिं दीना॥
कोउ थूकत तहँ कोउ सिर धारे। पर सो कबहुँ न कछुक बिचारे॥

मछुवारा उसमें से असंख्य मछलियों को पकड़ता रहता है तो भी वह दीन-हीन नहीं होता बल्कि सम-शान्त बना रहता है। कोई उसमें थूक देता है, कोई सिर पर धारण करता है, परन्तु वह कभी भी कोई विचार तक नहीं करता।

तव सिर करम भार अस होवै। द्रष्टा भे बिनु एहि कस ढोवै॥
ध्यान धरति महि द्रष्टा होई। तरु औषधी उपारत कोई॥

परन्तु आपके सिर पर तो कर्मों का ऐसा भार रखा हुआ है तो भी पता नहीं बिना द्रष्टा हुए आप इसे कैसे ढो रहे हैं। पृथ्वी ने द्रष्टारूपता का ऐसा ध्यान धारण किया है कि लोग समस्त वृक्षों और औषधियों को उखाड़ लेते हैं,

दोहा— कूप सरोवर खोदि बहु करत बिबिध उतपात।
देखति द्रष्टा होइ नित बरु कितनो आघात॥ १५॥

कुआँ, सरोवर आदि खोदते हैं अथवा चाहे जो भी उत्पात करते हैं, किन्तु वह [पृथ्वी] सदा द्रष्टा होकर साक्षी भाव से स्थित रहती है, चाहे कितने ही आघात क्यों न हों।

चौपाई— तुम्ह बौरे नर एहि जग ऐसो। काक उलूक होयँ खग जैसो॥
तिन्ह सम डरि तम घन महँ देखहु। निज स्वरूप बस देहइ लेखहु॥

किन्तु आप इस जगत में ऐसे पागल पुरुष हैं जैसे कि पक्षियों में उल्लू एवं कौवे होते हैं। आप उन्हीं जैसा डरते हैं, उन्हीं की तरह अज्ञानरूपी घोर अंधकार में ही देखते हैं तथा उन्हीं की तरह आप शरीर को ही अपना स्वरूप समझ बैठे हैं।

जब रबि सम जग द्रष्टा होवहु। सकल कलेस तबहिं निज खोवहु॥
जगत आतमा श्रुति मुनि गावत। भुवनेस्वर जे सब उर भावत॥

यथार्थ में जब आप भगवान सूर्य की तरह संसार के द्रष्टा हो जायेंगे तो उसी समय आपके समस्त क्लेश नष्ट हो जायेंगे। वे तो जगत की आत्मा हैं, समस्त भुवनों के स्वामी हैं, जो सभी के हृदय को प्रिय लगते हैं; जैसा कि मुनिजन एवं श्रुतियाँ भी कहती हैं।

बैबस्वत मनु श्रीहनुमाना। अरु बहु रिषि इन्हि सदगुरु जाना॥
जोग जग्य जप तप ब्रत नाना। इन्हसोइ होयँ न तउ अभिमाना॥

[यहाँ तक कि] वैवस्वत मनु, भक्त प्रवर हनुमान तथा अनेक ऋषियों ने इन्हें सद्गुरु रूप में स्वीकार किया है। नाना प्रकार के योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत भी इन्हीं की अध्यक्षता में किये जाते हैं तो भी इन्हें [लेशमात्र भी] अभिमान नहीं है।

ब्रह्मज्ञान अरु सक्ति प्रदाता। पालत जग अस मनहु बिधाता॥
साक्षी सुभ अरु असुभ करम के। अरु प्रभु के बर ध्यान धरम के॥

ये शक्ति और ब्रह्मज्ञान को देने वाले हैं तथा जगत का इस भाँति पालन कर रहे हैं, मानो ये ही ब्रह्म हों। ये ही [सबके] शुभाशुभ कर्मों के साक्षी और भगवान के ध्यानयोगरूपी श्रेष्ठ धर्म को धारण करने वाले हैं।

दोहा— दिवस मास अरु बरष जुग जोग लगन तिथि जोय।
होय भानु सों गणित सब इनि बिनु कछुक न होय॥ १६॥

[इतना ही नहीं अपितु] दिन, मास, वर्ष, युग, योग, लग्न, तिथि आदि जो भी [कालखण्ड] हैं, इन सबकी गणना भी भगवान सूर्य से ही होती है; इनके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता।

चौपाई— सगुण ब्रह्म कोउ एहि जग माने। तौ बैठ्यो आसन महँ जाने॥
प्रगट्यो जबसों ध्यान न छोड़्यो। मनहु यती गृह सों मुख मोड़्यो॥

इसी प्रकार यदि कोई इस संसार को सगुण ब्रह्म मान रहा है तो यह भी जान ले कि जबसे यह प्रकट हुआ है तबसे ध्यान से विरत नहीं हुआ है, अपने आसन में ही स्थित है मानो किसी संन्यासी ने घर से मुख मोड़ लिया हो।

सुर नर मुनि पसु पक्षिहुँ ब्याला। प्रगट भये जुग जुग प्रतिपाला॥
मानत निज चित केरि कलपना। अपनो मानि न करत जलपना॥

यहाँ देवता, मनुष्य, ऋषि, पशु, पक्षी, सर्प तथा प्रत्येक युग में [स्वयं] भगवान नारायण भी प्रकट हुए हैं, किन्तु यह सभी को अपने चित्त का विचार ही मानता है, अपना मानकर बकवास नहीं करता।

काहू सों नहिं प्रीति लगायो। महाराज मन यासों भायो॥
कहत साँच मोहिं कछु नहिं चहिए। तउ मैं ध्यान करउँ अस रहिए॥

इस ब्रह्म ने किसी से भी प्रेम नहीं किया, इसी से तो यह महाराज के मन को [अत्यन्त] प्रिय लगता है। यह तो [अपने व्यवहार से] यथार्थ में यही कह रहा है कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिए तो भी मैं ध्यानस्थ हूँ, अतः आप भी इसी प्रकार ध्यानस्थ रहें।

का तुम्ह चाहउ का अवगाहउ। ऐसो कौन धरम निर्बाहउ॥
नहिं नहिं द्रष्टा होइ जग त्यागहु। यति बनि नित्य ध्यान अनुरागहु॥

अरे! आप क्या चाह रहे हैं, क्या खोज रहे हैं? ऐसा आपका कौन-सा धर्म है जिसका निर्वहन कर रहे हैं? नहीं, नहीं, आप ऐसा न करें अपितु जगत में एकमात्र द्रष्टारूप होकर सब कुछ त्याग दें तथा सदैव संन्यासी होकर ध्यानयोग में रमण करें।

दोहा— सगुनोपासक याहि सों जगहिं समुझि भगवान।
पूजि चारि फल लहत ते नित कर एहि गुनगान॥ १७॥

इसी से सगुणोपासक भक्त इस विश्वरूप को साक्षात् भगवान जानकर उपासना करते हैं और वे चारों प्रकार के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को प्राप्त कर सदा इसका गुणगान किया करते हैं।

चौपाई— पर सुर पूजक एहि सुर मानी। पूजत याहि अंग सनमानी॥
जस एहिकर पग धरनि कहाई। पर ते पूजत माँ कहि भाई॥

परन्तु जो देवताओं की उपासना करने वाले हैं वे इसके अंगों को देवता मानकर अति श्रद्धापूर्वक पूजते हैं। जैसे इसके चरण को पृथ्वी कहा जाता है लेकिन वे इसे माता कहकर पूजते हैं।

कह्यो जाय जल बस्ती याही। समुझि बरुन सुर पूजत जाही॥
पावक याकर उदर कहावत। समुझि देव जेहि सब नर ध्यावत॥

वैसे ही जल इसका वस्ति स्थान कहा जाता है, जिसे वे वरुण देवता समझकर पूजते हैं तथा अग्नि को इसका पेट कहा जाता है, जिसकी मनुष्य अग्नि देवता समझकर उपासना करते हैं।

अहै पवन एहिकर प्रिय प्राना। पवनदेव कहि करँ गुनगाना॥
नभ संधी थल ग्रिवा कहावत। पर सुर समुझि मनहिं सुख पावत॥

उसी प्रकार वायु इसका प्रिय प्राण है, जिसका वे पवनदेव कहकर गुणगान करते हैं। आकाश इसका सन्धिभाग अर्थात् ग्रीवा कहा जाता है किन्तु वे इसको आकाश देवता समझकर मन में सन्तुष्ट होते हैं।

याकर नेत्र रबिहिं सब गावत। पर ते प्रथम देव कहि ध्यावत॥
अग्नि बरण ज्योती सिर याही। मानि भगवती पूजत जाही॥

सूर्य को इसका नेत्र कहकर सभी गायन करते हैं किन्तु देवोपासक प्रथम देवता समझकर [इसका] ध्यान धरते हैं। अग्नि वर्ण की ज्योति ही इसका शीश है जिसे वे भगवती मानकर पूजन करते हैं।

दोहा— तउ न बिचारत कछुहु यह जो चाहे सो मान।
सदा रहत ध्यानस्थ निज चेतनरूप महान॥ १८ (क)॥

तो भी यह विश्वरूप [ब्रह्म] तो मन में यह सब विचार ही नहीं करता, चाहे कोई कुछ भी मानता रहे। वह तो सदा अपने विराट चैतन्य स्वरूप में ही ध्यानस्थ रहता है।

समुझै जो माया जगत ताहि भ्रमित करि देय।
जबसों प्रगट यो ध्यान रत याको प्रेय न श्रेय॥ १८ (ख)॥

[इतना ही नहीं बल्कि] इस संसार को जो माया समझता है उसको यह भ्रमित करता रहता है तथा जबसे यह प्रकट हुआ है तभी से ध्यानस्थ है एवं इसका न कुछ प्रेय है और न श्रेय ही।

चौपाई— सब घट महँ जिमि गगन बिराजे। तिमि सबके उर ब्रह्महि भ्राजे॥
जेहि तन तुम्ह निज रूप बिचार्‌यो। तेहि निज भवन मानि प्रभु धार्‌यो॥

जिस प्रकार समस्त घड़ों में एक ही आकाश विद्यमान है उसी प्रकार सबके हृदय में एक ही ब्रह्म शोभायमान हो रहा है। जिस शरीर को आप अपना स्वरूप समझ रहे हैं उसी को भगवान ने अपना महल मानकर धारण कर रखा है।

करत ध्यान तव निसदिन साईं। टेरि बुलाव जननि की नाईं॥
बैठि दुवारे निज सुत ध्यावे। करति प्रतिक्षा चैन न पावे॥

भगवान आपका रात-दिन ध्यान कर रहा है और प्रतीक्षा करता हुआ उस माँ की तरह बुला रहा है जो दरवाजे पर बैठकर अपने [बाहर गये हुए] पुत्र का ध्यान करते हुए उसके आने की प्रतीक्षा में व्याकुल रहती है।

अस को जीव ध्यान नहिं करतो। बरु काहुहिं निज चित महँ धरतो॥
सुर नर त्रियगयोनि के प्रानी। त्रिबिध जीव ये बेद बखानी॥

ऐसा जगत में कौन है जो ध्यान न कर रहा हो? भले ही वह अपने चित्त में किसी को भी धारण कर [ध्यान कर] रहा हो। देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी (त्रियग्योनियाँ) ये तीन प्रकार के प्राणी हैं ऐसा वेद बताता है।

इनिमहँ त्रियगयोनि जिव सारे। अरु सुर ध्यावत बिषयन्हिं भारे॥
ये दोउ जीव बंदिगृह केरे। अहहिं बंदि कर्मन्हिं के घेरे॥

इनमें त्रियग्योनियों के जीव (पशु, पक्षी, कीट आदि) तथा देवतागण सदा विषयों का ही ध्यान करते रहते हैं क्योंकि ये दो प्रकार के जीव कर्मों के घेरे में आकर बन्दी गृह के बन्दी हो गये हैं।

बंदीगृह एक नरक कहावत। अपर स्वर्ग अस बेद बतावत॥

'एक (त्रियग्योनियों का) कारागार नरक कहलाता है और दूसरा (देवयोनियों का) कारागार स्वर्ग है'- ऐसा वेद कहते हैं।

दोहा— नरक भोग हित बिबस अति त्रियगयोनि कह बेद।
सुख भोगन हित बिबस सुर बस इतनो सों भेद॥ १९ (क)॥

समस्त वेद कहते हैं कि त्रियग्योनियाँ दुःख भोगने के लिए अति विवश हैं और समस्त देवता सुख भोगने के लिए, केवल इतना ही तो अन्तर है!

पर मानुष अस जीव जो दोउन्ह सों अति श्रेष्ठ।
बसत जहाँ बैकुंठ सोइ श्रुति सिद्धांत यथेष्ठ॥ १९ (ख)॥

किन्तु हे सज्जनो! मनुष्य ऐसा जीव है जो इन दोनों से अति श्रेष्ठ है और जहाँ उसका निवास स्थान है वही

वैकुण्ठलोक कहलाता है यही श्रुतियों का यथार्थ सिद्धान्त है।

जीव सकल नर रूप जिहि चहत जनमि मैं आउँ।
गुरु दयालु के सरण गहि हरिहिं नित्य जहँ ध्याउँ॥ १९ (ग)॥

जिस मनुष्य रूप में सभी जीव जन्म लेना और दयासागर सद्गुरु के शरणागत होकर सदा प्रभु का ध्यान करना चाहते हैं।

चौपाई— अति करुणा कर कबहुँ कृपाला। देत मनुज तन दीनदयाला॥
अस तन पाइ बिषय नित ध्यावे। महाराज मन अचरज आवे॥

दीनों पर अहैतुकी कृपा करने वाले भगवान नारायण जीव पर अत्यन्त कृपा करके कभी मनुष्य योनि में जन्म दे देते हैं तो भी ऐसा दुर्लभ शरीर पाकर मनुष्य सदा विषयों के ध्यान में रत रहे, ऐसा देखकर महाराज के मन में आश्चर्य हो रहा है।

जहँ स्वतंत्र सुख त्याग करन महँ। तहिं स्वतंत्र प्रभु ध्यान धरन महँ॥
यदि सुख तजि दुख भोगत ध्यावे। निज स्वरूप अति सिघ्रहिं पावे॥

जहाँ वह सुख त्यागने में स्वतन्त्र है, वहीं भगवान के चरणारविन्दों का ध्यान करने में भी स्वतन्त्र है। अत: यदि दु:ख भोगते तथा सुख का त्याग करते हुए ध्यान करता है तो अतिशीघ्र ही आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

तुम्ह देखहु नित बिषयन्हि ध्यावहु। रात दिवस तिन्हि भोगि बितावहु॥
इक पल जाय न हरी भजन महँ। प्रतिपल मन मति उर जन जन महँ॥

आप देखेगें तो [पायेंगे कि] रात-दिन विषयों का ही ध्यान करते रहते हैं और उसी के उपभोग में समय व्यतीत करते रहते हैं। आपका एक पल भी भगवान के भजन में नहीं जाता बल्कि प्रतिपल मन, बुद्धि तथा हृदय लोगों में ही लगे रहते हैं।

कबहुँ मिताई मित कर ध्यावहु। एहि बिचित्र बिधि समय बितावहु॥
कबहुँ सत्रुता अरि कर ध्यानहु। उर महँ अतिहिं क्रूरता आनहु॥

कभी तो आप मित्र और उसकी मित्रता का ध्यान कर समय व्यतीत करते हैं जो विचित्र ही है; तथा कभी तो मन [किसी] शत्रु और उसकी शत्रुता में ही लगा रहता है जिससे हृदय में अत्यन्त क्रूरता आ जाती है।

दोहा— कबहुँ कामिनी ध्यान उर कंचन कबहूँ आय।
कबहुँ बिजय अरु कीर्ति चित ध्यान करत हरषाय॥ २०॥

कभी तो हृदय में कामिनी का ध्यान आ जाता है तो कभी धन-ऐश्वर्य का एवं कभी तो चित्त शौर्य और प्रसिद्धि का ध्यान करके हर्षित हो उठता है।

चौपाई— कबहुँ बिलोकि दृस्य मधुराई। जहँ तहँ ध्यान करहु गुनगाई॥
कबहुँ मधुर गीतहिं सुनि काना। गुनगुनायँ ताकर करि ध्याना॥

कभी तो आप दृश्य की मधुरता देखकर जहाँ-तहाँ बखान करते हुए उसका ध्यान करते हैं और कभी कानों से मधुर गीत सुनकर गुनगुनाते हुए उसका ध्यान करते हैं।

कबहुँ जो दिब्य सुगंध सुँघायो। वाकोइ ध्यान चित्त महँ आयो॥
कबहुँ दिब्य ब्यंजन मन ध्यावत। जाहि पाइ अतिहीं हरषावत॥

कभी तो जो किसी ने दिव्य सुगन्ध सुँघायी है, उसी का ध्यान चित्त में आने लगता है तथा कभी मन दिव्य व्यंजनों का ध्यान करता है जिसे पाकर अति हर्षित हो जाता है।

कबहुँ मधुर ऋतु जहँ मन जावे। सुखद सीत उष्णहिं तहँ पावे॥
कबहुँ ध्यान गप सप कर धरई। हनन समय कर निसदिन करई॥

कभी तो मन जहाँ मधुर ऋतु है वहीं जाकर सुखद शीत-उष्ण को प्राप्त करता है और कभी तो गप-शप रूपी ध्यान को धारण करने से समय का हनन करते हुए दिन-रात व्यतीत कर देता है।

ध्यानहु कबहुँ नींद तुम्ह भाई। जामें होवत सपन सगाई॥
कबहुँ सुषुप्तिहिं गले लगावहु। ध्याइ ताहि ताकर गुन गावहु॥

हे भाई! कभी तो आप नींद का ही ध्यान करने लगते हैं जिसमें [प्रिय-अप्रिय] स्वप्नों से सम्बन्ध होता है तथा कभी सुषुप्ति को ही गले लगाते हैं। इस प्रकार उसका ध्यान कर [कि आज बड़ी प्यारी नींद आयी ऐसा] गुणगान करते रहते हैं।

दोहा— समय ध्यान बिनु कौन सो बितत बतावहु मोहिं।
जामें स्वयंहिं लखि सकउ कस समुझावउँ तोहिं॥ २१॥

अत: आप ही मुझे बतायें कि वह कौन-सा समय है जो बिना ध्यान का व्यतीत होता है जिसमें आप [अपना ध्यान करके] स्वयं को जान सकें? इस प्रकार मैं आपको कैसे समझाऊँ!

चौपाई— जद्यपि द्रष्टा रूप तुम्हारो। तउ कबहूँ तेहि ध्यान न धारो॥
द्रष्टा बन पर द्रष्टा जबहीं। स्त्रष्टा परम प्रगट हो तबहीं॥

जबकि द्रष्टा ही आपका स्वरूप है तो भी उसका कभी आप ध्यान नहीं करते; [सच पूछा जाय तो] जब द्रष्टारूपता परम द्रष्टारूपता में समाहित हो जाती है तो परम स्त्रष्टारूपता आ ही जाती है।

तीनि पुरुष एहि तन महँ आहीं। पाप पुन्य द्रष्टा अनुभाहीं॥
पाप करत दुष्कर्म सदाई। पुन्य करत सतकर्म भलाई॥

इस शरीर में तीन पुरुष स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं जिनकी पाप, पुण्य और द्रष्टारूप में अनुभूति होती है। जिनमें पाप सदा दुष्कर्म में और पुण्य सत्कर्म तथा भलाई में लगा रहता है।

द्रष्टा इनि दोउन्हि निरबारे। एहि हित योग अंग सब धारे॥
जब कह प्रभु तन मन बस करहू। आतम भजहु अपरिग्रह धरहू॥

द्रष्टा ही इन दोनों का [संकल्प से] निवारण करता है, इसी के लिए योग के समस्त अंगों को धारण करता है। भगवान नारायण जब अपने शरीर, मन, वचन आदि को जीतकर (संयम करके) अपरिग्रही हो अपनी आत्मा का भजन करने के साथ-साथ-

अबिचल आसन कहत लगावन। तौ चाहत यम नियम सुहावन॥
आसन प्रत्याहार धारणा। थापि कहहिं द्रष्टा बिचारणा॥

अचल आसन लगाने की बात कहते हैं तो [प्रतीत होता है कि] यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा आदि प्रिय व्रतों की स्थापना करके अपने द्रष्टा रूप का चिन्तन करने को कह रहे हैं।

दोहा— ब्रह्मचरज ब्रतहू चहैं द्रष्टा ही बस नाहिं।
योगअंग पालन बिनु सबरे सक्ति नसाहिं॥ २२॥

भगवान ब्रह्मचर्य व्रत की भी माँग कर रहे हैं, मात्र ऐसे ही द्रष्टा होने को नहीं कह रहे हैं; क्योंकि योग के समस्त अंगों का पालन किये बिना तो सम्पूर्ण शक्ति का नाश ही हो जाता है।

चौपाई— यातें यम नियमादि बतावउँ। पाछें ध्यानयोग गुन गावउँ॥
बिनु अधार आधेय न पावें। सिद्ध संत मुनि बेदहु गावें॥

इसलिए सर्वप्रथम यम, नियमादि के स्वरूप को बताकर तब [भगवान के द्वारा वर्णित] ध्यानयोग को विस्तार से बताऊँगा; क्योंकि बिना आधार के आधेय की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा ही सभी सिद्ध, सन्त, मुनि एवं वेद भी कहते हैं।

लेइ प्रथम गृह सों संन्यासा। ध्यानयोग साधे बिनु आसा॥
सिद्ध होत जब सिधि सब आवें। त्यागि तिन्हहु संन्यासहिं ध्यावें॥

इसलिए सर्वप्रथम गृहस्थाश्रम का त्याग कर संन्यास ले ले, पुन: आशाओं का त्याग करके ध्यानयोग का अभ्यास करे। जब ध्यानयोग सिद्ध हो जायेगा तब सारी सिद्धियाँ आयेंगी परन्तु उनका भी त्याग करके उनसे भी संन्यास ले ले।

प्रबल बिघ्नकारक इन्हि जानी। सो इनसेऊ होय अमानी॥
यती स्वरूपहु दोइ प्रकारा। पृथक पृथक पुनि कर्म अचारा॥

इन्हें (सिद्धियों को) प्रबल विघ्न करने वाला जानकर वह इनसे भी उदासीन हो जाय। संन्यास का स्वरूप दो प्रकार का है पुन: उनके कर्म एवं व्यवहार भी भिन्न-भिन्न हैं।

ऋषभदेव प्रभु पथ इक ध्यावे। इक प्रभु दत्त सुकहिं मग जावे॥
दोउ मग महँ गुरु जोइ बतावे। तेहि मग चलत ब्रह्मपद पावे॥

उनमें से एक तो भगवान ऋषभदेव के मार्ग का अनुसरण करता है तो दूसरा भगवान दत्तात्रेय और सन्त शिरोमणि शुकदेव के मार्ग को अपनाता है। इन दोनों मार्गों में सद्गुरु जो बता दे उसी मार्ग पर चलते हुए ब्रह्मपद की प्राप्ति हो जाती है।

पर प्रभु कृष्ण इहाँ संकेतें। यति सुक दत्तहिं पथ कहँ चेतें॥
इक गिरिनार समाधि लगावत। सिद्ध भये अवधूत कहावत॥

परन्तु यहाँ (इस अध्याय में) भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द तो ऐसा संकेत कर रहे हैं कि संन्यासी भगवान दत्तात्रेय और सन्तप्रवर शुकदेव के ही मार्ग का अनुसरण करें। इनमें से एक तो गिरनार पर्वत पर जाकर समाधि लगा लेता है और सिद्धि लाभ होने पर अवधूत [भगवान दत्तात्रेय] कहा जाता है-

दोहा— अपर सुमेरू गिरिहिं पर जाइ समाधि लगाय।
सिद्ध होत अवधूत बनि जग हरि कथा सुनाय॥ २३॥

तो दूसरा सुमेरु पर्वत पर जाकर समाधिस्थ हो जाता है और सिद्धावस्था को प्राप्तकर अवधूत [शुकदेव] हो [समयानुसार राजर्षि परीक्षित के यहाँ आकर] संसार में भक्तों को भगवत्कथा सुनाता है-

चौपाई— कहि हरिकथा सुमेरुहिं धावे। पथ निबृत्ति यतिगन्ह समुझावे॥
यति लाने हरि परम अहिंसा। कहे सो कहउँ जाय उर हिंसा॥

तथा भगवत्कथा कहकर पुन: सुमेरु पर्वत पर चला जाता है। इस प्रकार उन्होंने संन्यासियों के लिए निवृत्ति मार्ग को प्रशस्त किया है। अब भगवान ने यतियों के लिए जिस परम अहिंसा का वर्णन किया है, मैं उसे कह रहा हूँ, जिससे हृदय में स्थित समस्त हिंसावृत्ति चली जायेगी।

होइ अभय द्रष्टा निज जानी। ताहि अहिंसा कह प्रभु दानी॥
गुन अरु दोष न एहि जग देखत। परम अहिंसा प्रभु यहि लेखत॥

स्वयं को द्रष्टारूप समझकर [सर्वथा] अभय हो जाने को ही महादानी भगवान परम अहिंसा कहते हैं तथा इस जगत में किसी भी प्रकार का गुण और दोष नहीं देखना, इसको भी भगवान परम अहिंसा कहते हैं।

कोउ निंदै कोउ करै प्रसंसा। उर न आय कछु यहइ अहिंसा॥
कोउ पालै अति कोउ सतावै। सुख दुख उर न अहिंसा गावै॥

उसी प्रकार चाहे कोई [अपनी] निंदा करे अथवा प्रशंसा, यदि हृदय में कुछ भी [क्षोभ] नहीं आता तो यही अहिंसा है; कोई अपनी सुरक्षा करे अथवा कोई अत्यन्त कष्ट दे, तो भी हृदय में उसके प्रति सुख-दु:ख की अनुभूति नहीं होती तो इसी को अहिंसा कहा गया है।

सास्त्रनि महँ जस दंड बिधाना। जो हिंसा श्रुति धर्म बखाना॥
तेहिं बिरुद्ध हिंसा जो होई। जानउ जग सच हिंसा सोई॥

शास्त्रों में जैसा दण्ड का विधान है तथा जिस हिंसा को शास्त्रों ने धर्म कहा है उस विधान के विरुद्ध जो आचरण है यथार्थ रूप से संसार में उसे हिंसा कहा जाता है।

अस हिंसा कर त्याग अहिंसा। याहिहु त्याग सु परम अहिंसा॥
परम अहिंसक दरसन ऐसो। हिंसक होय अहिंसक जैसो॥

ऐसी हिंसा का त्याग अहिंसा कहा जाता है अर्थात् शास्त्र सम्मत हिंसा करना (दण्ड आदि देना) अहिंसा है परन्तु इस अहिंसा का भी त्याग कर देना परम अहिंसा है। उस परम अहिंसक के दर्शन का फल ऐसा होता है कि

हिंसक भी अहिंसक हो जाता है।

एक ब्रह्म प्रगट्यो बहु रूपा। अस निरखनि नित सत्य अनूपा॥
लखि सुनि जो बिचार उर आवे। सोइ बोलै तौ सत्य कहावे॥

तथा [हे साधको!] एक ब्रह्म ही बहुत-से रूपों में प्रकट हुआ है, ऐसा नित्य देखना सत्य कहा जाता है तथा देखकर सुनकर जो हृदय में विचार प्रकट होते हैं उन्हें ही बोलना सत्य कहा जाता है।

दोहा— गुरु जब कहे जो बोलनो तेहि बौलै नहिं अन्य।
व्यवहारत सोइ सत यहै ऐसो नर जग धन्य॥ २४॥

सद्गुरु जब जो कुछ बोलने को कहता है, वही बोलता है कुछ अन्य नहीं, वही व्यवहार करता है- यही सत्य है कि वही पुरुष संसार में धन्य है।

चौपाई— झूठ न बोलि सकत कोउ वासे। जो बोले सो बेगिहिं नासे॥
सत्यब्रती जो कछु कहि जावे। बिधिनाहू तेहि टारि न पावे॥

उस [सत्यवादी] से कोई भी झूठ नहीं बोल सकता और जो बोलता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा ऐसा सत्यव्रती जब जो कुछ कह देता है वही होता है, उसे ब्रह्मा भी नहीं टाल सकते।

मरकत मनि मृतिका अरु हीरा। आत्मरूप देखत मति धीरा॥
सपनेहु लोभ न आवत जाही। सोइ अस्तेय कहावत ताही॥

वैसे ही जो धैर्यवान पुरुष मरकत मणि, मिट्टी और हीरे को भी आत्मरूप ही देखता है तथा जिसको स्वप्न में भी इन्हें पाने का लोभ नहीं होता, उसका वही आचरण अस्तेय कहा जाता है।

कोउ बस्तु बिनु दिये न लेवे। सपनेहुँ सो अस्तेयहिं सेवे॥
निज तन हरि मंदिर अस मानत। यहि अस्तेय कृपालु बखानत॥

जो किसी की वस्तु को उसके दिये बिना नहीं लेता, वह स्वप्न में भी अस्तेय का ही सेवन करता है तथा जो शरीर को अपना न मानकर भगवान का मंदिर है ऐसा जानता है, भगवान इसी को अस्तेय कह रहे हैं।

याकी सिधि सो जो कछु चाहे। लाइ देत बिभु पन निर्बाहे॥
ब्रह्मचरज कर सुनहु स्वरूपा। हरि थापेउ एहि थलहिं अनूपा॥

इस [अस्तेय व्रत] की सिद्धि यह है कि वह जो कुछ चाहता है, [अर्थात् उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती है] भगवान उसे वह प्रदान करके अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हैं। अब ब्रह्मचर्य व्रत के स्वरूप को सुनें, जिसे भगवान ने इस स्थल पर अनुपम ढंग से स्थापित किया है।

दोहा— एहि ब्रत पालन करन हित कहत कृष्ण भगवान।
अष्ट अंग सों पूर्ण जो जानत सिद्ध सुजान॥ २५॥

भगवान श्रीकृष्ण स्वयं [साधकों से] इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए कह रहे हैं, जो आठ अंगों से युक्त है, जिसे सिद्ध एवं बुद्धिमान साधक जानते हैं।

चौपाई— कहउँ सुनहु अब आठउ अंगा। जातें होय काम सिर भंगा॥
प्रथम न नारिहिं ध्यावहु कबहूँ। बिपति बिसाल फँसउ किन जबहूँ॥

[तो आएँ] अब ब्रह्मचर्य के आठों अंगों को कह रहा हूँ, सुनें! जिससे कामदेव का मस्तिष्क छिन्न-भिन्न हो जाय। सर्वप्रथम कभी भी स्त्री का स्मरण न करें, चाहे घोर आपत्ति-विपत्ति में ही क्यों न फँसे हों।

द्वितिय तेहि रुप गुनन्हि न बरनउ। रसिक ग्रंथ नहिं एकउ पढ़नउ॥
तृतिय ताहि सँग क्रीड़न गायन। कबहुँ न करु बरु पर कोउ पायन॥

उसके रूप-सौन्दर्य और गुणों का बखान न करें, किसी एक भी अश्लील ग्रन्थ को न पढ़ें- यही दूसरा अंग है; तथा उसके साथ खेलना, गाना और नाचना कभी न करें भले ही इसके लिए कोई पैरों पर क्यों न पड़े- यही तीसरा अंग है।

चतुः पुत्रि भगिनी माँ भावहु। बरु सुभ हरि सिधि बिनु नहिं ध्यावहु॥
पंचम अंग न देह सजावहु। तेल फुलेल न कबहुँ लगावहु॥

जब तक ब्रह्मभाव की सिद्धि न हो जाय तब तक 'पुत्री, भगिनी तथा माता'- इन भावों से भी उसे कभी स्वीकार न करें भले ही ये शुभ भाव हैं- यही चौथा अंग है। अपने शरीर को सजाने (शृंगार करने) का प्रयत्न न करें तथा तेल, इत्र आदि का कभी प्रयोग न करें- यही ब्रह्मचर्य का पाचवाँ अंग है।

षष्ठम नारि संग गुरु कहनों। समुझि परिक्षा कबहुँ न रहनों॥
सप्तम मधुर अम्ल अरु तिक्तहिं। खाहु न रखहु उदर कछु रिक्तहिं॥

[यहाँ तक कि] गुरुदेव के कहने पर भी कभी नारी के संग न रहें, इस (गुरु की आज्ञा) को अपनी परीक्षा समझें- ब्रह्मचर्य का यह छठा अंग है। खट्टे, मीठे, तीखे एवं गर्म मसाले का कभी भी सेवन न करें और पेट को कुछ खाली रखें- यही ब्रह्मचर्य का सातवाँ अंग है।

दोहा— सोवहु दिवस न खाहु निसि अष्टम अंग कहाय।
सदगुरु आज्ञा महँ बसे सो बटु नाहिं नसाय॥ २६॥

दिन में न सोयें, न रात्रि में खायें- यही आठवाँ अंग कहलाता है। इस प्रकार जो ब्रह्मचारी अहर्निश सद्गुरु की आज्ञा में रहता है, उसका [कभी भी] नाश नहीं होता [अर्थात् उसका कभी पतन नहीं होता]।

चौपाई— एक प्रसंग सुरति अब आयो। सुनउ सुनावउँ मोहिं सु भायो॥
जेहि सुनि समाधान चित होवे। तुम्हरो मन पुनि पुनि नहिं सोवे॥

अब एक प्रसंग स्मरण में आ गया है, जो मुझे भी अति प्रिय है; उसे सुना रहा हूँ सुनें। जिसे सुनने से आपके मन की शंका का समाधान हो जायेगा और मन में फिर-फिर प्रमाद नहीं होगा।

ब्रह्मचारिनी एक संत की। भगति करति हुति गुरु अनंत की॥
अति सुसील पावन चितवारी। जप तप जोग करति नित भारी॥

किसी सन्त के पास एक ब्रह्मचारिणी थी, जो अपने गुरुदेव भगवान की भक्ति किया करती थी। वह अत्यन्त सुशील एवं पवित्र चित्त वाली थी जो निरन्तर कठिन जप,तप एवं योग किया करती थी।

तहीं अपर आश्रम महँ जाई। महूँ रहउँ सिष्यन्ह सँग भाई॥
सोइ ब्रह्मचारिणि तहँ आई। मोसों बिनय कीन्हि अस भाई॥

वहीं [पास में ही] एक दूसरे आश्रम में शिष्यों के साथ मैं (महाराज) भी रहता था। प्रभु की भक्ति करने वाली वह ब्रह्मचारिणी एक दिन मेरे पास आकर मुझसे इस प्रकार विनती की-

तिन दुइ पाँच दिना के लाने। आयो काज मोहिं कहिं जाने॥
देहु अमुक बटुकहिं मोहिं पाहीं। सुनि मैं कह्यों होय अस नाहीं॥

मुझे चार-पाँच दिनों के लिए आवश्यक कार्य से कहीं जाना है इसलिए आप मेरे साथ अपने अमुक ब्रह्मचारी को दे दें। ऐसा सुनकर मैंने (महाराज ने) कहा- ऐसा नहीं हो सकता।

तोहिं न कोउ बटुक निज देऊँ। सास्त्र बचन ऐसो मैं सेऊँ॥
वाने कही ताहि सुत मानउँ। बटुक सरिस कबहूँ नहिं जानउँ॥

शास्त्र के ऐसे वचनों का मैं पालन करता हूँ, जिससे अपने किसी भी ब्रह्मचारी को तुम्हारे साथ नहीं भेज सकता। तब उसने कहा- मैंने तो उसे पुत्र के रूप में ही माना है, कभी भी ब्रह्मचारी के रूप में नहीं देखा।

पुनि महराज कहहु कस ऐसो। कोउ कह सक न मोहिं तुम्ह जैसो॥

अत: हे महाराज! आप ऐसा कैसे कह रहे हैं ? आपके जैसा मुझसे [कभी] कोई भी नहीं कह सकता।

दोहा— महाराज कह पुत्र सम देखन्ह सिद्धी आय।
तुव पहिं एहि परमान का मोहिं न यह सब भाय॥ २७॥

तब महाराज ने कहा- तुम्हारे पास [उसे] पुत्र के समान देखने की सिद्धि आ गयी है, इसका क्या प्रमाण है ? मुझे तो यह सब अच्छा नहीं लगता।

चौपाई— पुत्र भाव तौ अति दुखदाई। बटुक बर्ग महँ यह न सहाई॥
सुअन भाव औरउ परमादा। जस भुसुंड कह सुनु उरगादा॥

अरे! [कोई ब्रह्मचारिणी किसी ब्रह्मचारी को पुत्र माने, यह] पुत्र भाव तो और भी घातक है; क्योंकि ब्रह्मचारी वर्ग में तो यह सहायक हो ही नहीं सकता। जैसा कि काकभुशुण्डिजी ने कहा था- हे गरुड़ सुनें! इस भाव में तो और भी प्रमाद होने की सम्भावना है।

अति एकांत मातु सँग कबहूँ। रहै न बटुक सास्त्र कह सबहूँ॥
यदि तोहिं पुत्रभाव सिधि आई। धन्यबाद दउँ मैं हरषाई॥

सभी शास्त्र तो कहते हैं कि ब्रह्मचारी अपनी माता के साथ भी नितान्त एकान्त में कभी न रहे। हाँ, यदि तुम्हें पुत्रभाव की सिद्धि हो गयी है तो मैं प्रसन्नता के साथ तुम्हें धन्यवाद दे रहा हूँ-

पर का बटु तोहिं माता मानत। यह प्रमान तू हम नहिं जानत॥
यासे देउँ न सो बटु तोहीं। एहि महँ दिख दोउन्ह भल मोहीं॥

परन्तु क्या वह ब्रह्मचारी भी तुम्हें माता मानता है? इसका प्रमाण तो न तुम जानती हो और न मैं ही। इसलिए उस ब्रह्मचारी को मैं तुम्हें नहीं दूँगा क्योंकि इसी में मुझे तुम दोनों का कल्याण दिखाई पड़ रहा है।

दुखित भई सो सुनि मम बानी। पर न भई मोहिं कछुक गलानी॥
जब लगि रह्यों न पुनि सो आई। भलो भयो जो मोहिं बिसराई॥

मेरी बात सुनकर वह दु:खी हो गयी परन्तु मेरे मन में इसका तनिक भी दु:ख नहीं हुआ। जब तक महाराज उस आश्रम में रहा वह पुन: कभी भी नहीं आई! अच्छा हुआ जो उसने मुझे भुला दिया।

हे साधक आतमजिज्ञासू। ब्रह्मचरज कर यदि हि पिपासू॥
तौ यह प्रिय ब्रत लखन लाल सम। पालहु यहइ कहाय बटुक यम॥

अत: हे साधको! हे आत्मजिज्ञासुओ! यदि यथार्थ में आप भी उस ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए ही अत्यन्त लालायित हैं तो जितेन्द्रिय महात्मा लक्ष्मण जैसा आप इस प्रिय ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करें, यही ब्रह्मचारी का यम [के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य] कहलाता है।

दोहा— सदगुरु संग रहहु तुम्ह कै जहँ राखे सोय।
ताकी आज्ञा सों चलहु ब्रह्मचर्य ब्रत होय॥ २८॥

या तो आप सद्गुरु के साथ रहें अथवा वह जहाँ रखे वहाँ रहें। यदि आप उसी की आज्ञा से चल रहे हैं तो वही ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है।

चौपाई— सदा ब्रह्मचिंतन मन ध्यावत। ब्रह्मचर्य सच यहइ कहावत॥
कल की चिंता करे न जोई। सिद्ध अपरिग्रह ताकर होई॥

[और भी मैं कहाँ तक कहूँ,] यदि आपका मन सदैव ब्रह्मचिन्तन में ही रमण करता है तो यथार्थ में यही ब्रह्मचर्य कहलाता है। इसी प्रकार जो कल की चिन्ता नहीं करता, उसी का अपरिग्रह व्रत सिद्ध होता है।

सात्विक असन आय लै उतनो। आज काम चलि जावे जितनो॥
द्वैत न चिंत सो परम अपरिग्रह। जासों सिघ्रहिं ध्यानयोग लह॥

[हे साधको!] यदि सात्त्विक भोजन की प्राप्ति हो तो उसमें से भी उतना ही ले, जितने में उस दिन का निर्वाह हो जाय। [यथार्थ में] द्वैत का चिन्तन न करना ही परम अपरिग्रह है जिससे वह शीघ्रातिशीघ्र ध्यानयोग को प्राप्त कर लेता है।

कह्यों यमहिं अब नियम सुनावउँ। प्रथम सौच परिभाषा गावउँ॥
मृतिका जल लेइ तन मल धोवे। बाह्य सौच इतनो बस होवे॥

[हे आत्मजिज्ञासुओ!] मैंने यम [के अंगों] को तो बता दिया, अब नियम को सुना रहा हूँ, जिसमें सर्वप्रथम शौच की परिभाषा दे रहा हूँ- मृत्तिका एवं जल से शरीर के मल को धो डाले, बस इसी को बाह्य शौच कहा जाता है।

भावसुद्धि मन सौच कहावत। परम सौच सोऽहं नित ध्यावत॥
ज्ञानसौच तजि बाह्य सौच रत। जनु तजि स्वर्ण माटि सो धारत॥

तथा भाव की शुद्धि को मन का शौच कहा जाता है एवं 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' सदा इसी भाव में रहने को परम

शौच कहा जाता है। [इसके विपरीत] जो ज्ञानमय शौच का परित्याग कर बाह्य शुद्धि में ही रत है वह मानो सुवर्ण त्यागकर मृत्तिका (मिट्टी) को वरण करता है।

दोहा— दैवेच्छा मिलि जाय जो तुष्ट रहन तेहि माहिं।
आय न जा दिन गुनन ब्रत सुचि संतोष कहाहिं॥ २९ (क)॥

उसी प्रकार दैवेच्छा से जो कुछ भी मिल जाय, उसी में अत्यन्त प्रसन्न (सन्तुष्ट) रहना तथा जिस दिन कुछ भी [भोजन-प्रसाद] प्राप्त न हो तो व्रत समझ लेना, यही शुभ सन्तोष कहलाता है तथा-

अज अनंत सिवलोक सुख कहँ कछु मानन नाहिं।
निज सुख माँहिं प्रसन्नता बर संतोष कहाहिं॥ २९ (ख)॥

ब्रह्मा, विष्णु और शिवलोक के सुख को भी कुछ महत्त्व नहीं देना बल्कि आत्मसुख में ही नित्य प्रफुल्लित रहना श्रेष्ठ सन्तोष कहलाता है।

चौपाई— बैदिक तप गहि तनहिं सुखावन। कृछ चंद्रायन तपहु सुहावन॥
पर इहँ प्रभु तप जोइ बतावत। युक्ताहार बिहार कहावत॥

उसी प्रकार जो वैदिक तपों के द्वारा शरीर को तपाना है उस प्रिय तप को कृच्छ चन्द्रायण व्रत कहा गया है किन्तु इस स्थल पर भगवान जिस प्रिय तप को [पालन करने की बात] कह रहे हैं वह तो युक्ताहार-विहार का पालन करना है।

नित कछु सदगुरु सों सतसंगा। सुनत होय जहँ चित भ्रम भंगा॥
कह्यो जाय स्वाध्याय परम सो। निज गुन अवगुन गुनन धरम सो॥

उसी प्रकार जो नित्य प्रति सद्गुरु के द्वारा थोड़ा भी सत्संग सुनना है जिससे चित्त का भ्रम जाता रहता है वही परम स्वाध्याय कहा जाता है तथा [उस स्वाध्याय के द्वारा] अपने गुण और अवगुणों पर विचार करना ही स्वाध्याय-धर्म कहा जाता है।

जो गुरु देवें ग्रंथ परम सुचि। पढ़े सोइ स्वाध्याय हृदय रुचि॥
नित आतम चिंतन हरि भावे। सोइ परम स्वाध्याय कहावे॥

हाँ, गुरूदेव अपने मन से जो ग्रन्थ दे दें वही परम पवित्र है उसी का अध्ययन करे, वही हृदय में परम प्रीति उत्पन्न करनेवाला स्वाध्याय है तथा नित्य आत्मचिन्तन करना ही परम स्वाध्याय है जो भगवान को अति प्रिय है।

गुरु आज्ञा सों खावन पीवन। सोवन जागन अरु जग जीवन॥
निज मन मति चित अहं बिहाई। यहि सरनागति अनुपम भाई॥

जो गुरु के आज्ञानुसार ही खाना-पीना, सोना-जागना है तथा अपने मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार का त्याग करके संसार में रहना है- हे प्रिय! यही अनुपम शरणागति है।

मैं द्रष्टा सब जग बिभु रूपा। मानन सरणागती अनूपा॥

एवं मैं द्रष्टा हूँ तथा समस्त जगत ब्रह्मस्वरूप है, यह मानना ही अनुपम शरणागति है।

दोहा— पद्मासन सिद्धासनहिं स्वस्तिक आसन माहिं।
सुख सों बइठन दस घरी अबिचल आसन आहिं॥ ३०॥

उसी प्रकार पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन में से किसी एक आसन में, जो [न्यूनतम] चार घण्टा अविचल बैठे रह जाना है, उसी को आसन कहा जाता है। [ढाई घड़ी=एक घण्टा]

चौपाई— आधोइ उदर खाय दुइ बारा। आधोइ आध वायु जल धारा॥
जासों आय न आलसु निद्रा। कै होवे नहिं अतिहिं अनिद्रा॥

जो साधक [दिन में] दो बार आधा-आधा पेट खाता है तथा आधे का आधा जल एवं शेष वायु के लिए छोड़ देता है जिससे आलस्य और निद्रा न आये अथवा अत्यधिक अनिद्रा ही न हो जाये-

द्वादस घरी प्रथम महँ सोवे। ध्यान माहिं तब नींद न होवे॥
अस साधन जब संग सहाई। ध्यानयोग अति सुगम सु भाई॥

वह प्रथम चरण में पाँच घण्टा ही सोये जिससे ध्यान में नींद न आये। इस प्रकार हे साधको! उपरोक्त यम-नियमादि साधन जब संगी-साथी हो जाते हैं तो ध्यानयोग अति सुगम हो जाता है।

अब महराज ध्यान क्रम देवे। बड़भागी सो जो एहि लेवे॥
जाहि ध्यान सों हरि अवराध्यों। अरु जेहि क्रम गहि वाको साध्यों॥

अब महाराज ध्यानयोग का क्रम दे रहा है, जो महत् भाग्यवान होगा वही इसे प्राप्त करेगा। मैंने भगवान की जिस ध्यानयोग से आराधना की है तथा जिस क्रम से उसे साधा है-

ताहि कहउँ मैं सुगम सो लागत। धारत सोक मोह सब भागत॥
अनुरागत मन स्वयं स्वरूपहिं। बेगि दुरै मन सों भवकूपहिं॥

उसी को मैं कह रहा हूँ, क्योंकि वह मुझे सरल सा लग रहा है, जिसको धारण करने पर सम्पूर्ण शोक-मोह नष्ट हो जाता है; उसके उपरान्त मन सदा अपने ही स्वरूप में रमण करता है जिससे भवकूप अति शीघ्र ही अपने मन से ओझल हो जाता है।

दोहा— खानो सोनो जागनो सौच क्रिया अस्नान।
समय सारिणी देउँ पुनि करहु ताहि गहि ध्यान॥ ३१॥

अब भोजन, सोना-जागना, शौच क्रिया तथा स्नान आदि की भी समय सारणी दे रहा हूँ जिसका पालन करते हुए आप ध्यान करें।

चौपाई— निसि महँ चौथ पहर सब सोवत। तब कोलाहल कछुहु न होवत॥
जगि करि नित्य क्रिया अस्नाना। जासों आलसु जाय पराना॥

[आप जान लें कि] रात्रि के चौथे पहर में लगभग तीन बजे सभी प्राणी सोये रहते हैं। उस समय कहीं तनिक भी कोलाहल नहीं होता। उसी समय ब्रह्ममुहूर्त में जगकर नित्य क्रिया करके स्नान करें जिससे आलस्य दूर हो जाय।

आसन बैठि बाँधि कमलासन। सिद्धासन कै स्वस्तिक आसन॥
अस्विनि मुद्रा कछु पल धारउ। ता छन मन सों भृकुटि निहारउ॥

तत्पश्चात् आसन पर आकर उस पर पद्मासन, सिद्धासन या स्वास्तिकासन [में से किसी एक आसन] में बैठकर कुछ पल अश्विनी मुद्रा करें, उस समय मन को भृकुटि में केन्द्रित किये रहें।

गुदा सँकोचन अस्व समाना। पुनि पुनि करहु न सोचहु आना॥
ऐसो होइ अपान उर्ध्वगति। मुख्य प्रान सों करत जाइ रति॥

पुनः कुछ भी सोच न करते हुए गुदा का बारम्बार घोड़े के समान संकुचन करें [जैसा कि घोड़ा मलत्याग के पश्चात् गुदा को सिकोड़ता और खोलता है]। ऐसा करने से अपानवायु उर्ध्वगामी होकर प्राणवायु में मिलकर प्रेम करने लगती है।

सीधो होति रीढ़ अपनोई। होय ध्यान हित तब तन योई॥
होंठ बंद करि दाँतन्ह खोलउ। अर्ध खेचरी जीह न डोलउ॥

ऐसा करने से रीढ़ की हड्डी अपने-आप सीधी हो जायेगी और तब यह शरीर ध्यानयोग के लिए तैयार हो जायेगा। अब होंठ बन्द करके दाँत खोल लें तथा जिह्वा को [दोनों तालुओं के मध्य में रखकर सहज ही] अर्ध खेचरी मुद्रा में रहने दें जिससे वह हिलने-डुलने न पावे।

दोहा— आँख अधखुली करतही दृष्टि भृकुटि जनु आइ।
तब चिंतहु सम सांत हौं साक्षि आतमा भाइ॥ ३२॥

हे प्रिय! अधखुली अवस्था में आँखों को रखते ही ऐसा लगेगा कि मानो दृष्टि भृकुटि में आ गयी है और तब आप चिन्तन करें कि मैं सम शान्त साक्षी चेतन हूँ।

चौपाई— तन मन बुधि कर द्रष्टा जानउ। अजर अमर निज कहँ पहिचानउ॥
आय बिचार न मानउ अपनो। तन समेत जग जानउ सपनो॥

आप स्वयं को शरीर, मन, बुद्धि का द्रष्टा जानकर अजर-अमर रूप में पहचान लें। उस समय जो भी विचार

आये उसे अपना न मानें तथा शरीरसहित संसार को स्वप्नवत् अनुभव करें।

कछु सुनाय श्रवननि सों साधो। सुनत अपर कोउ अस अवराधो॥
माखी मच्छर जो कछु काटें। तन न हलायँ न कर सों डाटें॥

हे साधको! [उस समय] यदि कुछ भी कानों से सुनने में आये तो ऐसा विचार करें कि उसे [मैं नहीं] कोई और ही सुन रहा है तथा मक्खी, मच्छर कुछ भी काटे तो हाथ से न भगायें और न शरीर को हिलने ही दें।

पग सँग जब सब अंग पिरावे। तब चिंतहु यह केहि अनुभावे॥
तब दीखै कोउ एहि तन माहीं। अपर अहइ तेहि मन दुख आहीं॥

पैरों के साथ-साथ जब शरीर में पीड़ा हो तो ऐसा चिन्तन करें कि इस पीड़ा का अनुभव किसे हो रहा है तब स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि शरीर में कोई दूसरा बैठा हुआ है, उसी के मन को दुःख हो रहा है।

अपलक दृग देखहु नहिं इत उत। कछुक काल गये आय सक्ति पुत॥
सुन्न होय तन सूक्ष्म कलपना। लुप्त होहिं सम्पूर्ण जलपना॥

इस प्रकार जब आप अपलक दृष्टि धारण करके इधर-उधर नहीं देखेंगे तो कुछ काल के उपरान्त दिव्य शक्ति का आगमन होगा। [फिर तो] शरीर सुन्न हो जायेगा, कल्पनाएँ सूक्ष्म हो जायेंगी और समस्त शोक-सन्ताप जाता रहेगा।

सूक्ष्म बिचार होइ पुनि भासे। ताकी चिंता करि न उसाँसे॥

यद्यपि विचार सूक्ष्म होने पर भी पुनः पुनः अनुभव में आयेंगे तो भी उसकी कुछ भी चिन्ता न करते हुए दुःखी न हों।

दोहा— कानन झंझड़ झाड़ि सँग पीपल जस बढ़ि जाय।
तस दुष्टन्ह बिच जनमि जन प्रभु गहि इहँ कढ़ि जाय॥ ३३॥

वन-प्रदेश में झंझड़-झाड़ियों के साथ भी पीपल का वृक्ष जैसे बड़ा हो जाता है, वैसे ही दुष्टों के बीच जन्म लेकर भी भक्त प्रभु को धारण कर यहाँ (संसार) से मुक्त हो जाते हैं।

चौपाई— बरष बिते तरु होत बिसाला। झंझड़ झाड़ी अतिहिं बिहाला॥
रबि प्रकास तरु तर मिल नाहीं। तेहि संकोच सूखि सब जाहीं॥

कुछ वर्ष बीतने पर वह पीपल वृक्ष अति विशाल हो जाता है तथा उस वृक्ष के नीचे सूर्य का प्रकाश न मिलने से उसके अभाव में कृश होकर झंझड़-झाड़ियाँ धीरे-धीरे सूख जाती हैं।

उन्हसें तरुहिं न कछु कठिनाई। मस्त रहत अपुनें महँ भाई॥
इमि बहु बृत्ति चित्त महि माहीं। झंझड़ झाड़ी सम उपजाहीं॥

अब उनसे उस वृक्ष को कोई भी कठिनाई नहीं होती, वह अपने-आप में ही मस्त रहता है। उसी प्रकार चित्तरूपी भूमि में बहुत-सी वृत्तिरूपी झंझड़ झाड़ियाँ प्रकट होती रहती हैं।

निद्रालसु सुभ असुभ बिचारा। झंझड़ झाड़ी बृत्ति अपारा॥
मिले न जब अज्ञान प्रकासा। तबहिं तजतिं ते तुम्हरीं आसा॥

यहाँ निद्रा, आलस्य और शुभाशुभ विचाररूपी वृत्तियाँ ही भयंकर झंझड़-झाड़ियाँ हैं। जब इन्हें अज्ञानरूपी प्रकाश नहीं मिलता तब आपकी आशा छोड़ देती हैं।

तुम्ह द्रष्टा तरु होत बिसाला। जाहि कबहुँ खावे नहिं काला॥
जब तम प्रलय होय तुम्ह माहीं। तब तन मन कर भरम नसाहीं॥

उसके उपरान्त आप ही द्रष्टारूपी विशाल वृक्ष हो जाते हैं जिसे काल कभी खा नहीं सकता तथा जब आपके अन्तर्गत अज्ञान का प्रलय होने लगता है, तब तन, मन आदि के भ्रम [धीरे-धीरे] अपना अस्तित्व खो बैठते हैं।

सूक्षम कारण तन तस जाहीं। पंच तत्व ज्यों प्रलय नसाहीं॥
तब तन गत द्रष्टा नहिं रहहू। जगद्रष्टा के सम्मुख बहहू॥

उस समय सूक्ष्म तथा कारण आदि समस्त शरीरों का वैसे ही प्रलय हो जाता है, जैसे महाप्रलय के अन्तर्गत पृथ्वी, जल आदि पाँचों तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। उस समय आप शरीरगत द्रष्टा नहीं रहेंगे बल्कि जगत द्रष्टा (परम द्रष्टा) की ओर गमन करने लगेंगे।

तब द्रष्टापन प्रसरइ बाहर। ज्यों नभ आइ बिचर रबि नाहर॥

उस समय आपका द्रष्टापना वैसे ही व्यापक होना प्रारम्भ हो जाता है, जैसे आकाश में आकर सूर्यरूपी सिंह फैल जाता है।

छंद— जिमि प्रसरि नभ रबि खाय तम खावहु तुम्हहु अज्ञान तम।
जगभाव सबरें खाइ पुनि पुनि धाइ निगलहु अहं त्वम॥
जब होन लागहु परम द्रष्टा ऋद्धि सिद्धिहु आवहीं।
दिन रात कल बल छल कपट करि साधु तुम्हहिं लुभावहीं॥

हे साधको! जिस प्रकार आकाश में आकर सूर्य अंधकार को निगल जाता है उसी प्रकार आप भी अज्ञानरूपी अंधकार को निगल जायँ। पुनः समस्त जगतादि भावों को निगलकर वेगपूर्वक मैं-तू को भी निगल जायँ; किन्तु जिस समय आप परम द्रष्टारूप होने लगते हैं तब ऋद्धि-सिद्धि आने लगती हैं और रात-दिन छल-कपट, पाखण्ड करके आपको रिझाने लगती हैं।

सोरठा— नहिं चितवहु तिन्ह ओर जानि प्रबलतम बिघन सब।
द्यो चिंता सब छोर यहइ इहाँ भगवान कह॥ ३४॥

किन्तु आप उन सबको प्रबलतम विघ्न स्वरूप जानकर उनकी ओर ध्यान न दें (उन्हें स्वीकार न करें) और सब ओर से समस्त चिन्ताओं को छोड़ दें- भगवान ने यहाँ ऐसा ही कहा है।

चौपाई— जब हिय इच्छा सबहिं नसावहु। रूप परमद्रष्टा तब पावहु॥
जहँ सों होय सृजन संघारा। पालन अरु पुनि गहु अवतारा॥

जब हृदय में एक अंश भी इच्छा नहीं बचती तभी आप परमद्रष्टा रूप को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ से सृजन, संहार और पालन होता है और पुनः आप अवतार रूप में प्रकट होते हैं।

इच्छा सक्तिहु तुम्हरी दासी। होति ताहि छन हे अबिनासी॥
पुनि इक सुनहु ध्यान क्रम भाई। जासों ध्यान गहहु हरसाई॥

हे अविनाशी! उसी समय इच्छाशक्ति आपकी दासी बन जाती है। हे प्रिय! अब पुनः आप ध्यान का एक क्रम सुनें, जिसके द्वारा आप प्रसन्नतापूर्वक ध्यान करने लगेंगे।

ध्यान कृपालु इहाँ जस भाषे। तेहि महँ जप तप बिधि नहिं राखे॥
यह निर्बीज ध्यान कहलावे। उत्तम अधिकारिन्ह मन भावे॥

कृपालु भगवान ने जो यहाँ [प्रकारान्तर से] ध्यान बताया है, उसमें जप-तप करने का नियम नहीं रखा है। क्योंकि यह निर्बीज ध्यान कहा जाता है जो उत्तम अधिकारियों के मन को अत्यन्त प्रिय है।

प्रथमहिं होउ न तुम्ह कोउ स्त्रष्टा। एकमात्र द्रष्टा के द्रष्टा॥
निर्बिकल्प चित जस जस होवे। तस तस बहिर्मूखता खोवे॥

सर्वप्रथम तो आप कोई स्त्रष्टारूप कर्ता न बनें अर्थात् किसी क्रिया का अवलम्बन न लें अपितु एकमात्र द्रष्टा के द्रष्टा ही बने रहें। जैसे-जैसे चित्त निर्विकल्प होता जायेगा वैसे-वैसे बहिर्मुखता समाप्त होती जायेगी।

उर सों प्रगटत दिब्य प्रकासा। दिब्य सबद बर रूप सुबासा॥
ज्योति बर्तुलाकार लखावे। उडगन सम कबहूँ चमकावे॥

हृदय से दिव्य प्रकाश, दिव्य शब्द, दिव्य रूप तथा दिव्य सुगन्ध आदि प्रकट होने लगेंगे। वह दिव्य प्रकाश वर्तुलाकार-सा दिखायी पड़ता है तथा कभी नक्षत्रों के समान चमकता है।

दोहा— कछु पल बीते नेत्रहू बंद सहज होइ जायँ।
अरु प्रकास गहरात तब अनहद सब्द सुनायँ॥ ३५॥

इस प्रकार जब कुछ पल बीतने पर नेत्र भी सहज ही बन्द हो जाते हैं तो प्रकाश और भी गहराता हुआ आता है और अनाहद नाद विशेष रूप से सुनाई पड़ने लगता है।

चौपाई— सब्द सुनायँ ज्योति प्रगटावें। सुनहु न लखहु न कबहुँ भगावें॥
नभ इव उदासीन तुम्ह रहहू। कौतूहल बस कछु नहिं कहहू॥

इस प्रकार जब शब्द सुनाई पड़ें और प्रकाश दृष्टिगोचर हो तो न उन्हें [प्रयत्नपूर्वक] देखें, न सुनें और न द्वेष ही करें अपितु आकाश के समान उदासीन रहें तथा कौतूहलवश कुछ भी न कहें।

स्वेद आय बरु कंप पुलक तन। देह उठे तउ तजु न साक्षिपन॥
याको कछु न करहु मन गिनती। महाराज की तुम्हसों बिनती॥

चाहे पसीना आवे या शरीर काँप उठे, पुलकित हो उठे या धरती से उठ जाय अर्थात् थोड़ा ऊपर उठे और नीचे आये, तो भी आप द्रष्टारूपता का त्याग न करें। आप मन में इन स्थितियों को कुछ भी महत्त्व न दें, महाराज की आप सबसे यही प्रार्थना है।

तजहु न तुम्ह द्रष्टापन कबहूँ। ज्योति नाद महँ मन भग जबहूँ॥
ज्योति नाद कर इहाँ न ध्याना। करन कहे प्रभु अपर बखाना॥

आप द्रष्टारूपता का कभी भी त्याग न करें भले ही मन ज्योति या नाद [के ध्यान] की ओर ही क्यों न भाग रहा हो; क्योंकि भगवान नारायण ने यहाँ ज्योतिर्मय या नादमय ध्यान करने को नहीं कहा है, अपितु कुछ और ही कहा है।

होवहु आतम साक्षी अक्षर। एहि थल यहइ कहाय ध्यान बर॥
ध्यान समय चिंतहु जो रूपा। सोइ आवत यह रीति अनूपा॥

[वह यह कि] आप शुद्ध साक्षी चेतन रूप हो जायँ – इस स्थान पर यही श्रेष्ठ ध्यान कहा गया है। प्रकृति का ऐसा अद्‌भुत नियम है कि ध्यान के समय आप जिस रूप का स्मरण करते हैं, वही सामने आ जाता है।

दोहा— यासों उर महँ आय जो आन जान द्‌यो सोय।
दिब्य रूप बहु प्रगट जे मायाकृत सब होय॥ ३६॥

इसलिए हृदय के अन्तर्गत जो भी कुछ आये, आप उसे आने-जाने दें; क्योंकि जो बहुत-से दिव्यरूप प्रकट होंगे वे सब मायाकृत ही होंगे।

चौपाई— जो उर आयो सब जायेगो। ब्रह्म चित्त निज पुनि भायेगो॥
जहँ न बासना ताप न कोई। अकथनीय किमि कहि सक सोई॥

[नियम तो यही है कि] जो हृदय में आ गया है [और नाना रंग-रूप, आकार-प्रकार बना लिया है], वह सब जायेगा ही जायेगा तथा पुनः जो शेष बचेगा वह अपना ब्रह्ममय चित्त ही होगा जो अत्यन्त प्रिय लगेगा; जहाँ पर न वासना होगी न त्रिविध ताप होंगे। अरे! जो अकथनीय है, उसके विषय में कोई कैसे कह सकता है।

उपमा अपर संग एहि ध्याना। कहउँ बहुरि मैं सुनहु सुजाना॥
बेगि न सुझत ज्ञानमय ध्याना। सूझत अतिहिं सुगम प्रभु माना॥

अब दूसरी उपमा के साथ पुनः इस ध्यान को मैं कह रहा हूँ, हे बुद्धिमान साधको! आप [ध्यानपूर्वक] सुनें; क्योंकि [प्रभु का] यह ध्यान ज्ञानमय है, जो शीघ्र ही समझ में नहीं आता, किन्तु भगवान का मानना है कि समझ में आते ही यह अति सुगम हो जाता है।

महाराज प्रति बरष लखे जस। लखे होइहौ अवसि तुम्हहु तस॥
पूर्ब बसंत होन लग पतझड़। पत्र गिरत नित ही कछु झड़ झड़॥

महाराज जैसा प्रतिवर्ष देखता है वैसा आपने भी अवश्य देखा होगा कि बसन्त के पूर्व ही पतझड़ प्रारम्भ हो जाता है तथा [वृक्षों से] हर रोज कुछ पत्ते झड़-झड़ कर गिरने लगते हैं।

पत्र तजे तरु करि कछु आसा। लगे जाहि महँ ढाई मासा॥
गिरत पत्र तरु ठूँठ सुँ लागत। तउ अपुने महँ अति अनुरागत॥

वृक्ष कुछ आशा से ही पत्तों को गिराता है जिसमें लगभग ढाई महीने लग जाते हैं। पत्तों के गिर जाने से वृक्ष ठूँठा-सा हो जाता है तो भी वह अपने आप में अत्यन्त प्रसन्न रहता है-

जानत जबलौं पत्र पुरानो। गिरैं न आवैं नवो सुहानो॥
दिवस पंचदस रह सो ठूँठो। मृतक लगत पर साँच अनूठो॥

क्योंकि वह जानता है कि जब तक पुराने पत्ते गिर नहीं जाते तब तक नवीन और मनोहर पत्ते नहीं आ सकते। उसके उपरान्त वह लगभग पन्द्रह दिन ठूँठ-सा हो जाता है लेकिन मृत-सा प्रतीत होने पर भी वह यथार्थ में अनूठा ही होता है।

दोहा— अर्धमास महँ आवहीं पुनि तरुवर पर पात।
ढाइ माह कहँ छिजन महँ अर्धमाह कहँ आत॥ ३७॥

वह वृक्ष पन्द्रह दिनों के अन्दर ही नये पत्तों से आच्छादित हो जाता है। इस प्रकार कहाँ ढाई माह में पत्तों का गिरना और कहाँ पन्द्रह दिन में ही समस्त पत्तों का आ जाना!

चौपाई— योइ पहेली समुझन वारी। बूझै सोइ ध्यान अधिकारी॥
ढाई मास जाहि टहनी सों। पत्र गिरै कोउ कालाग्नी सों॥

यही पहेली समझने वाली है, जो इसे समझ लेगा वही ध्यानयोग का अधिकारी है। [आपने देखा होगा कि] जिस टहनी से कालाग्नि के द्वारा ढाई माह पहले पत्ता गिरा है-

तहइँ पंचदस पूर्ब पत्र कोउ। गिरत आजही पनपत तिन्ह दोउ॥
दुइ एक माह पूर्ब जो मरके। गये पत्र जो अबहीं सरके॥

और वहीं से पन्द्रह दिन पूर्व कोई पत्ता गिरा है, उन दोनों स्थानों में आज ही पत्ते निकल आते हैं। उसी प्रकार दो-एक मास पूर्व जो पत्ते गिर गये थे तथा जो पत्ते अभी [लगभग पन्द्रह दिन पूर्व] गिरे-

तहिं आजहिं कल परसों तरसों। कोपल आयँ निरखि तरु हरसों॥
महाराज लख जनु कह तरुवर। जस सिष्यन्हि उपदेसहिं गुरुवर॥

वहीं आज, कल, परसों एवं चौथे दिन में नवीन कोपलों को आया हुआ देखकर वह वृक्ष हर्षित हो उठता है, महाराज देख रहा है कि मानो वृक्ष कुछ कह रहा है जैसा कि गुरुदेव भगवान अपने शिष्यों को उपदेश कर रहे हों -

अस उरतरु सुँध्यान महँ भाई। गिरत पत्र बृत्ती समुदाई॥
बरु दस बीस बरसहू लागे। बृत्ति गिरन महँ तउ कोउ जागे॥

हे भाइयो! इसी प्रकार चित्तरूपी वृक्ष से ध्यान-भजन के समय वृत्तिरूपी पत्तों का समुदाय गिरता रहता है। भले ही वृत्तिरूपी पत्तों के गिरने में दस-बीस वर्ष लग जायें, तो भी कोई सजग रहे-

दोहा— धरे धैर्य कछु दिवस तो तामें सब कुछ होय।
द्रष्टा स्रष्टा होयेगो सकल चित्त मल धोय॥ ३८॥

और कुछ दिन धैर्य धारण करे तो उन्हीं दिनों में सर्वस्व [ब्रह्म] की प्राप्ति हो जायेगी, चित्त के समस्त मल को धोकर वह द्रष्टा ही स्रष्टा रूप हो जायेगा।

चौपाई— एक बात मैं जानउँ भाई। ध्यान लगावहु नितप्रति धाई॥
किन्तु ध्यान महँ बइठहु तब लगि। मनहिं सुहावे सो सच जब लगि॥

एकबात को मैं जानता हूँ कि आप हर रोज नियम से ध्यान लगाते हैं, किन्तु आप यथार्थत: ध्यान लगाकर तभी तक बैठते हैं जब तक वह सच में मन को प्रीतिकर लगता है-

जब सुहाय नहिं तब तेहि त्यागहु। काम धाम महँ पुनि अनुरागहु॥
अस न होय पूरन बर ध्याना। प्रभु अर्जुन सों जाहि बखाना॥

और जब आपको अच्छा नहीं लगता तो उसे त्यागकर पुन: काम-धाम में लग जाते हैं। ऐसा करने से तो जिस श्रेष्ठ ध्यान को भगवान ने महात्मा अर्जुन से कहा है वह पूर्ण हो ही नहीं सकता।

जैसे होय सिद्ध पुनि कहऊँ। होउ निरास न मैं सच चहऊँ॥
जस कोउ ब्रत जब तुम्ह संकल्पहु। ता दिन अन्न लेहु नहिं अल्पहु॥

अत: जिस प्रकार यह [ध्यानयोग] सिद्ध होता है, मैं पुन: उसे कह रहा हूँ; क्योंकि मैं वास्तव में चाहता हूँ कि आप निराश न हों। जैसे जब आप किसी व्रत का संकल्प लेते हैं तो उस दिन थोड़ा भी अन्न ग्रहण नहीं करते-

अथवा कोउ बालक हठ ठानत। मातु पिता सों लेइ कछु मानत॥
तैसे तुम्ह नित प्रति पन धारहु। बैठि ध्यान महँ उर उपचारहु॥

अथवा जैसे कोई बालक, माता-पिता से हठ कर लेता है तो कुछ [मनोनुकूल वस्तु] लेकर ही हटता है उसी प्रकार आप नित्यप्रति प्रतिज्ञा के साथ ध्यान में बैठकर अपने चित्त का शोधन करें।

दोहा— पन करि बइठहु ध्यान महँ कम सों कम इक माह।
बैठेंगो इक पहर लगि बरु तन मन महँ दाह॥ ३९॥

आप हृदय से प्रतिज्ञा करके बैठें कि एक माह तक तो कम से कम एक प्रहर (तीन घण्टे) बैठूँगा ही बैठूँगा, चाहे तन-मन में पीड़ा ही क्यों न हो।

चौपाई— अति पीड़ा पग छोरउ आसन। कछु पल रुकि तस होवे सासन॥
प्रथम हुतो जो तुव पग ऊपर। नीचे रखि तेहि अपरहु तापर॥

[ऐसा करने पर] जब पैरों में अत्यधिक पीड़ा होने लगे तो आसन खोल दें और कुछ पल पश्चात् उन्हें वैसे ही संयमित करने के लिए जो पैर पहले ऊपर था उसे नीचे और दूसरे (नीचे वाले) को वहाँ (पहले वाले के स्थान पर) रख दें।

बदलि बदलि दोउ पाँव पिरायें। तब कोउ आसन अपर लगायें॥
तामेउ बैठि थकें पग भारी। खड़े खड़े ध्यानउ मन मारी॥

इस प्रकार जब बदलते-बदलते दोनों पाँव दुखने लगें तो किसी अन्य आसन को धारण करें। उसमें भी बैठने पर जब पैर अत्यन्त थक जायें तो मन को संयमित करते हुए खड़े-खड़े ही ध्यान करें।

जब थकान मिटि जावे ऐसे। तब तन राखउ पूर्बहि जैसे॥
ध्यान समय जब तंद्रा आवे। दृग खोलहु बुझि तम प्रगटावे॥

जब इस प्रकार अर्थात् खड़े-खड़े ध्यान करने से थकान दूर हो जाये तब आप पहले की ही स्थिति (आसन) में शरीर को स्थित करें और जब ध्यान के समय तंद्रा आने लगे तो ऐसा समझकर आँखों को खोल दें कि यह तामस वृत्ति प्रकट हो रही है।

समय बिते कछु सो चलि जावे। पुनि प्रकास सों नयन मुदावे॥
सोउ जावे तब आयँ कलपना। चंचल मन कर अमित जलपना॥

कुछ समय व्यतीत होने पर वह भी चली जायेगी और फिर [हृदय से सतोमय] प्रकाश प्रकट होने से पुन: नेत्र बन्द हो जायेंगे एवं जब वह प्रकाश भी चला जायेगा तो विचारों का आगमन होगा और उसमें चंचल मन अत्यधिक बकवास करने लगेगा।

दोहा— निरखहु नयनन्हि खोलि पुनि जैसे कोउ बतरायँ।
डेढ़ घरी बीतत जबहिं पुनि कहुँ जायँ परायँ॥ ४०(क)॥

पुन: आँखों को खोलकर इस प्रकार देखें जैसे कि कोई [हृदय में] बात कर रहा हो। इस प्रकार जब आधा घण्टा बीत जायेगा तो वे कल्पनाएँ पुन: कहीं ओझल हो जायेंगी।

जब न नींद नहिं ज्योति कछु अरु न कलपना आय।
तब उचाट मन होत अति ध्यान न कछुक सुहाय॥ ४० (ख)॥

जब न तो प्रकाश, न नींद और न ही किन्हीं कल्पनाओं का ही आगमन होता है, तब [कुछ भी आश्रय न मिलने से] मन में अत्यन्त उच्चाटन हो जाता है और ध्यान थोड़ा भी अच्छा नहीं लगता।

चौपाई— तेहि छन उठत ध्यान सब त्यागी। अनुदिन ऐसो होय बिरागी॥
सोइ छन सच महँ देखन वारो। सहन करहु उच्चाटन भारो॥

अत: हे साधको! उसी क्षण सभी ध्यानी ध्यान छोड़कर भाग खड़े होते हैं, नित्यप्रति ऐसा ही होता है; जबकि यथार्थ में वही क्षण प्रतीक्षा का होता है, अत: [आप] उस घोर उच्चाटन को सहन करें।

बहुत न मात्र डेढ़ घरि भाई। तामेइ झंझट कट बहुताई॥
सप्त घरी नित पुरवहु एहि बिधि। होय माह महँ बिपुल ध्यान सिधि॥

हे मित्रो! विशेष नहीं, बस आधा घण्टा [ही तो सहन करना है], उसमें ही बहुत-से झंझट समाप्त हो जायेंगे। अत: इसी प्रकार आप [नित्यप्रति] तीन घण्टे पूर्ण करें तो एक माह में ध्यान की बहुत सिद्धि हो जायेगी।

सप्त घरी तन प्रात बिठावें। पंच घरी संध्या महँ धावें॥
अपर माह महँ ध्यान बढ़ावहु। प्रथमहिं दसम घरी तुम्ह ध्यावहु॥

इस प्रकार शरीर को प्रात:काल तीन घण्टा बिठावें तथा संध्या को दो घण्टे ध्यान करें। अब दूसरे महीने में ध्यान को बढ़ा दें और प्रथम चरण में ही आप चार घण्टा ध्यान करें।

घरि बढ़ाय ढाई प्रति मासा। ध्यान करउ करि दृढ़ बिस्वासा॥
ज्ञानसमाधि धाय उर आवे। अस आनंद अपर नहिं भावे॥

इस प्रकार प्रति मास एक घण्टा बढ़ाते हुए दृढ़ विश्वास के साथ ध्यान करते चलें, तो हृदय में अति वेगपूर्वक ज्ञान-समाधि प्रकट होगी और ऐसे आनन्द के सामने आपको दूसरा आनन्द भायेगा ही नहीं।

दोहा— जैसो जैसो ध्यान बढ़ नींदहु घटती जाय।
होवै तब संकल्पवत पंच घरी जब आय॥ ४१॥

इस प्रकार जैसे-जैसे ध्यान बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे नींद घटती जायेगी और जब वह दो घण्टे पर आ जायेगी तो संकल्पवत् हो जायेगी।

चौपाई— तब तुम्ह गुडाकेस सम होवहु। चाहिय जितनैं उतनैं सोवहु॥
वामें होय न तब कछु हानी। नहिं सोवहु तउ चित न गलानी॥

उस समय आप गुडाकेश अर्जुन के समान होकर जब जितनी आवश्यकता हो उतना ही सो सकते हैं। उस समय उसमें कोई भी क्षति नहीं होगी और न भी सोयें तो भी कोई ग्लानि नहीं होगी।

रज तम दोउहु बृत्ति ताहि छन। आत्मप्रीति महँ रहतिं मगन मन॥
यासों उठइ न एकु कलपना। मन सपने नहिं करत जलपना॥

क्योंकि उस समय मन की तामस-राजस, दोनों वृत्तियाँ [अपनी] आत्मा से ही प्रीति करने में सदा मग्न रहती हैं। इसलिए [चित्त से] एक भी विचार नहीं उठते और मन स्वप्न में भी कोई संशय-भ्रम नहीं कर पाता।

ध्यान सों देह सांत सम होवे। परमज्ञान सों पुनि मन खोवे॥
ध्यानयोग यह निसि महँ साधे। दिन महँ अपर धर्म अवराधे॥

उस अवस्था में शरीर ध्यान के द्वारा [शक्ति मिलने से] सम शान्त हो जाता है और परमज्ञान [की अनुभूति] से मन सदा के लिए मिट ही जाता है [अर्थात् परमज्ञान रूप हो जाता है]। इस प्रकार इस ध्यानयोग का आप रात्रि में अभ्यास करें और दिन में [उसका प्रयोग तथा] अन्य कार्यों का सम्पादन करें।

कार्तिक सों फाल्गुन तक साधो। संध्या महँ छः घरि अवराधो॥
पुनि कछु सूक्षम लेइ अहारा। बिनु आसन गह चिंतन धारा॥

हे साधको! [इस ध्यान के लिए] कार्तिक से फाल्गुन मास तक शाम चार से छ: बजे तक बैठें और कुछ हल्का आहार लेकर बिना किसी आसन में बैठे ही पुन: आत्मचिन्तन करें।

दोहा— प्रथम पहर अंतिम चरण निसि तन देहु सुलाय।
पहर तीसरे जागि निसि आसन लेहु लगाय॥ ४२ (क)॥

आप शरीर को रात्रि नौ बजे सुला दें जिससे वह प्रात: तीन बजे जग जाय और फिर उसे [नित्यक्रिया कराके अभीष्ट] आसन में बिठा दें।

द्वितिय मास ढाई घरी पुर्बहिं तनहिं जगाइ।
इत ढाई घरि प्रथमहि याको देहु सुलाइ॥ ४२ (ख)॥

दूसरे महीने में इसे रात्रि दो बजे सहजता से जगा दें, इसके लिए इधर इसे रात्रि आठ बजे ही सुला दें।

चौपाई— अब न अहार देहु एहि सामहिं। दिवस प्रहर त्रय दै भजु रामहिं॥
इत दिन प्रथम पहर के अंता। दै अहार एहि भजहु अनंता॥

अब शाम को इस शरीर को कुछ भी भोजन न दें बल्कि दिन के तीसरे प्रहर (तीन बजे) में कुछ खिलाकर ब्रह्म का भजन करें और इधर दिन के प्रथम प्रहर के अंतिम चरण में (नौ बजते ही) इसे आहार प्रदान करके शेष दिन में [शरीर की सहजावस्था में ही] विशेष आत्मचिन्तन करें।

ढाई घरी प्रात निर्धारहु। आसन प्राणायामहिं धारहु॥
तब ढाई घरि सो स्वाध्यायो। करहु जो सदगुरु के मन भायो॥

सुबह सात से आठ बजे तक आप थोड़ा आसन और प्राणायाम भी कर लें तथा आठ से नौ बजे दिन में वही स्वाध्याय करें जो सद्गुरु के मन को प्रीतिकर लगता है।

ढाई घरी साम करि ध्यानहिं। पुनि सुलायँ तन जो मम मानहिं॥
अरु घरि सात सुलाइ जगावहु। पुनि उठि तबहीं ध्यान लगावहु॥

यदि मेरी मानें तो अब शाम को [छः से सात] एक घण्टा ध्यान करके ही शरीर को सो जाने दें और तीन घंटे सुलाकर दस बजे जगा दें। उसके उपरान्त शय्या का त्यागकर ध्यान में प्रवृत्त हो जायँ।

दोहा— एहि बिधि जब संकल्पवत देह सोइ जगि जाय।
पुनि बिठारि तन साम महँ ध्यान करहु हरषाय॥ ४३ (क)॥

इस प्रकार जब शरीर संकल्पानुसार सोने-जागने लगे तो पुनः इस शरीर को शाम को बैठाकर प्रेमपूर्वक ध्यान करें।

बैठि साम सम्पूर्ण निसि ध्यान करहु मन लाइ।
प्रात ध्यान सों बिरत होइ नित्य क्रिया धरु भाइ॥ ४३ (ख)॥

हे साधको! [इस प्रकार] संध्या में शरीर को बिठाकर सम्पूर्ण रात्रि प्रेम-पूर्वक ध्यान करें तथा प्रातः ध्यान से विरत होकर नित्य क्रिया में लग जायँ।

चौपाई— सिद्ध होय जब कछु संकल्पा। ध्यान न बाधे कछुहु बिकल्पा॥
जबहीं संध्या आय सुहाई। तनिक तेहि छन ध्यान लगाई॥

इस प्रकार जब थोड़ी संकल्पसिद्धि हो जायेगी तो ध्यान में कोई भी विकल्प बाधा नहीं डालेगा और जब मंगलमय संध्या आये तो लगभग पाँच बजे शाम पुनः उसी समय थोड़ा ध्यान कर लें।

सोवहु हिय धरि गुरु पद भाई। उठहु सप्त घरि महँ हरषाई॥
तेहि छन प्रेम मगन गहि ध्याना। बिरत होउ अब प्रात सुजाना॥

और हे साधको! अब छः बजे ही सद्गुरु के चरण कमलों का स्मरण कर सोकर प्रेमपूर्वक नौ बजे ही जग जाया करें और उसी क्षण प्रेम मग्न हो ध्यान में बैठ जायें तथा अब प्रातः [सात बजे उससे] निवृत्त हों।

पुनि ऐसो कछु मास बिताई। जागहु निसिहिं दसम घरि जाई॥
तबसों ज्ञान समाधि लगाई। नित प्रति तजहु प्रात हरषाई॥

पुनः कुछ महीने इसी क्रम से [ध्यान करते हुए] व्यतीत होने दें और [जब ध्यान में बैठना संकल्पवत् हो जाय तो] हे बुद्धिमानो! अब रात्रि दस बजे जग जायँ तथा दस से पाँच तक समाधि लगाकर नित्यप्रति सुबह प्रेमपूर्वक उससे विरत हो जायँ।

आसन प्राणायाम न त्यागहु। पुनि भरि दिवस साक्षि अनुरागहु॥
सुख दुख महँ परखउ चित कैसो। का साक्षित्व भयो रबि जैसो॥

प्राणायाम और आसन का त्याग न करते हुए दिन भर साक्षीरूप में स्थित रहें तथा सुख-दुःख आदि [अवसरों]

के उपस्थित होने पर चित्त का निरीक्षण-परीक्षण करें कि क्या आपका साक्षित्व सूर्य की भाँति हो गया है?

दोहा— करे कोउ अपमान अति कोउ सम्मानहु देत।
तेहि महँ निरखउ मुदित मन पुनि का होत अचेत॥ ४४ (क)॥

उस समय कोई अत्यन्त अपमान भी दे सकता है तथा कोई अत्यन्त सम्मान भी दे सकता है, अत: वैसी स्थिति में देखें कि क्या अति प्रसन्न हुआ मन प्रमाद कर जाता है अर्थात् क्या सम्मान और अपमान से प्रभावित हो जाता है।

सोरठा— निरखहु का मन चाह सिद्धि दिखावन याहि जग।
अबिगत कर जो थाह पायो अब लखु ताहि गति॥ ४४ (ख)॥

आप यह भी देखें कि क्या मन [प्राप्त हुई] सिद्धियों का जगत में प्रदर्शन करना चाहता है? जिस मन के द्वारा अविगत ब्रह्म की गति देख ली गयी है, अब आप उस मन की गति को देखें।

चौपाई— दिवस प्रथम घरि गये सबन्हि बिच। बैठि लखें का मन महँ उँच निच॥
तिसरे पहर बहुरि उठि जाहू। नित्य क्रिया करि ध्यान निबाहू॥

अब दिन में दस बजे लोगों के बीच में बैठकर देखें कि क्या मन किसी के प्रति छोटे-बड़े का भाव रखता है या नहीं। उसके पश्चात् आप तीसरे पहर (लगभग तीन बजे) समाज का त्याग कर दें और नित्य क्रिया से निवृत्त होकर ध्यान में लग जायँ।

अब पुनि समरांगण महँ आवउँ। प्रभु अर्जुन बतकही सुनावउँ॥
कह प्रभु जेहि मन निस्चल होवे। इच्छा रहित बिषय सब खोवे॥

[हे साधको!] अब पुन: मैं [आपके लिए] समरभूमि में आ रहा हूँ, जिससे भगवान और महात्मा अर्जुन का संवाद सुना सकूँ। भगवान भी वही बात कह रहे हैं कि जिसका मन एकाग्र हो जाय और इच्छारहित होकर सम्पूर्ण विषयों का त्याग कर दे,

कह्यो जाय सच सोइ नित जोगी। निज स्वरूप रत परम बियोगी॥
तेहि योगी चित उपमा ऐसी। वायु रहित थल दीपक जैसी॥

यथार्थ में वही नित्य योगी कहा जाता है क्योंकि वह परम वैराग्यवान पुरुष अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। [हे पार्थ!] उसके चित्त की उपमा वायुरहित स्थान में स्थित दीपक से दी जाती है।

लौ महँ हलन चलन नहिं होवे। तिमि ता चित साक्षित्व न खोवे॥
चंचल चित जब बिषय बिरागी। होय परम आतम अनुरागी॥

जैसे उस दीपक की लौ में किसी प्रकार का हलन-चलन नहीं होता, वैसे ही ध्यानयोगी का चित्त भी साक्षित्व का त्याग नहीं करता, स्वयं में ही बना रहता है। जब चंचल चित्त विषयों से वैराग्य को प्राप्त हो जाता है और जब परम आत्मा में ही प्रीति वाला हो जाता है-

दोहा— निज स्वरूप महँ तुष्ट यति आत्यंतिक सुख पाइ।
जो सुख मति सों ग्राह्य बस जहँ न इंद्रि कोउ जाइ॥ ४५ (क)॥

तो अपने स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहने वाला वह महात्मा उस अपार सुख को प्राप्त करता है जिसका अनुभव मात्र बुद्धि ही कर सकती है, जहाँ किसी भी इन्द्रिय की पहुँच नहीं है।

आत्मप्राप्ति सम लाभ सो श्रेष्ठ न मानत कोउ।
सस्त्र घात सम दुख मिले तउ कछु दुख नहिं होउ॥ ४५ (ख)॥

वह आत्मप्राप्ति के समान तो कोई भी लाभ मानता ही नहीं तथा शस्त्रघात के समान दु:ख मिले तो भी उसे तनिक भी दु:ख की प्रतीति नहीं होती।

चौपाई— जो कराय दुखयोग बियोगा। पुनि पुनि आय न अस संयोगा॥
योग अवस्था सोइ कहावे। जा महँ चित बिभुमय होइ जावे॥

जो समस्त दु:खों से मुक्त करा देता है, फिर-फिर ऐसे दु:ख का अवसर नहीं आता, उसी अवस्था को योग कहा जाता है जिसमें चित्त भी ब्रह्ममय हो जाता है।

सच यह ध्यान सकल दुख हरई। कह्यो जाय बरु कोउ हिय धरई॥
दृढ़ निस्चय गहि धीरज धारी। करन चहिय एहि पार्थ हुँकारी॥

हे पार्थ! इस ध्यान को चाहे कोई भी हृदय में धारण करे, सच में यह उसके समस्त दु:खों का हरण करने वाला है, ऐसा कहा जाता है। अत: दृढ़ निश्चय के साथ हुंकार भरते हुए धैर्यपूर्वक इसे अवश्य करना चाहिए।

सबहि काम प्रगटे संकल्पा। अवरु ताहि सों चित्त बिकल्पा॥
अवसर नहिं संकल्पहिं देई। निज इंद्रिन्ह संयम करि लेई॥

संकल्प से ही समस्त कामनाएँ प्रकट होती हैं और उसी से चित्त (मन) विकल्पों को धारण करता है। अत: उन संकल्पों को लेश मात्र भी अवसर न देते हुए सम्पूर्णतया अपनी इन्द्रियों को संयमित करके-

धैर्य युक्त मति ध्यानहिं धारै। सनै सनै नित बिषयन्हि टारै॥
सब महँ ब्रह्म मनहिं अस धारे। मिथ्या चिंतन सकल निबारे॥

धैर्य युक्त बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे विषयों को नकारते हुए, पुन: 'सब कुछ ब्रह्म ही है'- ऐसा मन में धारण करके मिथ्या चिन्तन को सम्पूर्णतया त्यागकर ध्यान करें।

दोहा— चंचल मन जहँ जहँ फिरे तहँ तहँ ब्रह्म दिखाय।
ता कहँ कहि सच तत्त्वमसि अहं ब्रह्म पकराय॥ ४६ (क)॥

चंचल मन जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ उसे ब्रह्मभावना कराये और उसे 'तुम ब्रह्म ही हो' कहकर पुन: 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' में स्थित करे।

परम श्रेष्ठ बिधि योग की सच यह पार्थ कहाय।
योगी गहि कछु काल महँ निर्बिकार होइ जाय॥ ४६ (ख)॥

हे पार्थ! यही इस ध्यानयोग की परम श्रेष्ठ विधि कही जाती है जिसको धारण कर वह ध्यानयोगी कुछ काल में निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

चौपाई— महाराज प्रभु की सुनि बोलत। ध्यानयोग की गुत्थी खोलत॥
ध्यावहु निज कहँ आतम जानी। तब मन जाय कहाँ मनमानी॥

महाराज भगवान की बात सुनकर ध्यानयोग की गुत्थी खोलते हुए कुछ बोल रहा है। आप अपने आपको आत्मा जानकर ही ध्यान करें और तब देखें कि यह मनमानी करने वाला मन कहाँ जाता है।

भूतकाल महँ लख जोइ जोई। सुन्यो गुन्यो मन किय सोइ सोई॥
अरु भविष्य जो कियो कलपना। जिन्हकर नाम रूप कछु सच ना॥

[अवश्य ही] भूतकाल में इस मन ने जो-जो देखा है, सुना है, किया है, गुना है और उन-उनके प्रति भविष्य के लिए जो कल्पनाएँ की हैं जिनका नाम-रूप कुछ भी सत्य नहीं है-

सोइ आइ मन हर लेइ जावें। बहुरि बहुरि तेहि बहु भरमावें॥
जद्यपि मन कहुँ आय न जावे। वामेइ सबहि कलपना धावे॥

वे ही सारी कल्पनाएँ आकर मन को हर ले जाती हैं और पुन:-पुन: उसे अत्यन्त भ्रमित करती रहती हैं। यद्यपि मन कहीं आता-जाता नहीं है अपितु उसमें ही समस्त कल्पनाएँ प्रकट होती हैं।

जस यह भूताकास लखावे। बिबिध लोक जामें प्रगटावे॥

जैसे यह भूताकाश दिखाई पड़ता है जिसमें नाना प्रकार के लोक प्रकट होते रहते हैं-

दोहा— गहत तिन्हहिं आकार यो नाम रूप तिन्ह धार।
घट मठ कूपाकास तेहि सबरें जगत पुकार॥ ४७॥

और यह उन्हीं के आकार का होकर पुन: उन्हीं नामों को धारण कर लेता है; तब उसी को सारा जगत घटाकाश, मठाकाश और कूपाकाश कहता है,

चौपाई— वैसे चिदाकास मन नामा। कह्यो जाय जहँ प्रगटत धामा॥
तुम्ह जब खोज कर्‌यो नहिं अपनो। जग सच मानि लिये जो सपनो॥

उसी प्रकार चिदाकाश मन नाम से पुकारा जाता है जहाँ नाना प्रकार के लोक प्रकट होते हैं। जब आप अपनी खोज नहीं करते तथा जगत को सत्य मान लेते हैं, जो स्वप्न ही है-

जगतभाव सोई मन जल्पित। अरु कछु नहिं यो तम संकल्पित॥
हौं मैं देह भाव जब धारत। यहइ भाव मन साधु उचारत॥

तो वही जगत भाव मन कहा जाता है जो कल्पना मात्र है। अत: मन कुछ और नहीं बल्कि अज्ञान का ही संकल्प है। जब आप समझते हैं कि मैं शरीर हूँ तो सन्तजन इसी भाव को मन नाम से पुकारते हैं।

स्वजन सगे गृह धन सब मेरो। मन स्वरूप येइ भाव घनेरो॥
ये बैरी मम अपर सनेही। साधु असाधु भाव मन एही॥

ये सगे-सम्बन्धी, घर-सम्पत्ति सब मेरे हैं, ये ही बहुत-से भाव मन के रूप हैं। यह मेरा वैरी है, यह दूसरा मेरा प्रेमी है तथा [इसी प्रकार और भी] साधु-असाधु आदि भाव ही मन कहलाता है।

स्वर्ग नर्क अपबर्ग कलपना। कह्यो जाय मन मूढ़ जलपना॥
मैं जनम्यों पुनि मरि जायेंगो। पतो नाहिं कहँ भरमायेंगो॥

उसी प्रकार स्वर्ग, नरक और मोक्ष की कल्पनाएँ ही मन कही जाती हैं जो अज्ञानियों का बकवास मात्र है। मैंने जन्म लिया और पुन: मृत्यु को प्राप्त होऊँगा तथा पता नहीं कहाँ-कहाँ भ्रमित होऊँगा-

हाय दैव अस कस जनमायो। योइ भाव मन रूप कहायो॥

हाय दैव! आपने मुझे ऐसा क्यों जन्माया- इस प्रकार की जो भावनाएँ हैं, वे ही मन कही जाती हैं।

दोहा— असुर नाग गंधर्ब अरु यक्ष भूत नर देव।
पसु पक्षिहिं अस भाव जो मन कहाय सब सेव॥ ४८॥

उसी प्रकार यह असुर है, यह नाग है, यह गन्धर्व है और यह यक्ष है, यह भूत है, यह मनुष्य है, यह देवता है, यह पशु है तथा यह पक्षी है- जो ऐसा भाव है, वही मन कहलाता है; जिसके वश में सभी रहते हैं।

चौपाई— यो कहाय सच यो सब झूठो। यो अधर्म यो धर्म अनूठो॥
यहइ कर्म अरु यहइ अकर्मा। यो सतकर्मा योइ बिकर्मा॥

उसी प्रकार यह सब सत्य कहा जाता है और यह मिथ्या; यह अधर्म है और यह अनूठा (विशिष्ट) धर्म; यह कर्म कहा जाता है, यह अकर्म तथा यह सत्कर्म और यह विकर्म-

जो जो गह्यो भाव हरषाई। तेइ तेइ भाव अहैं मन भाई॥
ताहि निकारहु माया मानी। तब मन कबहूँ जाय न जानी॥

और भी आप ने जिन-जिन मान्यताओं को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है, वे ही सम्पूर्ण भावनाएँ मन कही जाती हैं। यदि उन सम्पूर्ण भावनाओं को आप माया मानकर त्याग देते हैं तब मन कभी भी जानने में नहीं आता [अर्थात् दिखायी नहीं पड़ता]।

तुम्हरि मान्यता मन कहलावे। त्यागहु एहि अनन्यता आवे॥
ब्रह्म बिना कोउ अपर न भासे। तबहिं अनन्य भक्ति परकासे॥

इस प्रकार आपकी मान्यता ही तो मन कही जाती है, अत: इसे त्याग दें जिससे आप [के हृदय] में अनन्यता प्रकट हो जाय। जब ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं दीखता उसी समय अनन्यभक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

अस गहि दृष्टि न चिंतइ कोई। ध्यानयोग की बर बिधि सोई॥
को संकल्प जो इहँ हरि कहई। अतिहिं भयावह उर जो रहई॥

जब इसी [ब्राह्मी] दृष्टि को धारण करके किसी अन्य [विषय-वस्तुओं एवं नाम-रूपों] का चिन्तन नहीं किया जाता, तब वही इस ध्यानयोग की परम श्रेष्ठ विधि कही जाती है। प्रभु ने यहाँ जिस संकल्प की बात की है, वह क्या है? जो हृदय में अत्यन्त भयावह रूप से स्थित है।

दोहा— जो सम सांत त्रिकाल महँ द्रष्टा दृष्टिहिं त्यागि।
चहत बिषय संकल्प सो जासे अति अनुरागि॥ ४९॥

जो तीनों कालों में सम-शान्त रहने वाला विशुद्ध द्रष्टा है, वह अपनी साक्षित्वरूपी दृष्टि का परित्याग करके विषय की चाहना करने लगे अर्थात् अज्ञान को धारण कर ले तो यही उसका [विकल्पात्मक] संकल्प कहा जाता है जिससे उसे अत्यन्त प्रेम हो जाता है।

चौपाई— महाराज कह तुम्हहिं सु द्रष्टा। जाहि स्वरूप प्रथम महँ स्रष्टा॥
तुम्ह संकल्प कर्‌यो मन माहीं। बहु बनि जाउँ स्वयं भरमाहीं॥

[यथार्थ में] महाराज तो आपको ही द्रष्टा कह रहा है जिसका स्वरूप पहले परम स्रष्टा रूप था। आपने मन में संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ और स्वयं ही अज्ञान को प्राप्त हो जाऊँ।

तबहिं भये तुम्ह अस जगरूपा। जा महँ तुम्हरो रूपहु छूपा॥
इच्छासक्तिहु सोइ कहावे। भक्त भगवती कहि गुन गावे॥

तभी आप ऐसे जगतरूप वाले हो गये जिसमें आपका वास्तविक रूप ही छिप गया। उसी संकल्पशक्ति को इच्छाशक्ति भी कहा जाता है जिसका भक्त भगवती कहकर गुणगान करते हैं।

जल बिनु सिंधु न अपर कहावत। तिमि संकल्प मात्र जग भावत॥
स्वर्णाभूषण जिमि बहु न्यारो। स्वर्ण सिवा कछु नाहिं बिचारो॥

जिस प्रकार जल के अतिरिक्त समुद्र कुछ अन्य नहीं कहा जाता उसी प्रकार एकमात्र संकल्प ही जगत के रूप में प्रतीत हो रहा है। [अथवा] जैसे नाना प्रकार के स्वर्णाभूषणों में विचार करने पर स्वर्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई पड़ता-

तैसेइ नाम रूप बहु तेरो। होय लखाय न ब्रह्म घनेरो॥
यासों निज संकल्पहिं धारी। मूढ़न्हि सरिस गयी मति मारी॥

उसी प्रकार अनेक नाम-रूप वाला होकर दिखायी देने पर भी ब्रह्म अनेक नहीं है [बल्कि एक है]। इसलिए अपने ही संकल्प को धारण करने के कारण अज्ञानियों के समान आपकी बुद्धि मारी गयी है।

दोहा— अब अद्वैतहिं चित्त गहि सब संकल्पहिं त्यागु।
नाम रूप तजि ब्यर्थ सब ब्रह्मरूप अनुरागु॥ ५०॥

अत: अब हृदय में अद्वैत दृष्टि (मैं ब्रह्म ही हूँ) को धारण करके सम्पूर्ण संकल्पों को त्याग दें और समस्त मिथ्या नाम-रूपों को छोड़कर [अपने] ब्रह्मरूप से प्रेम करें।

चौपाई— केहि बिधि सिद्ध ध्यान यो होवे। जासों मन मति चित मल धोवे॥
कहउँ कथा इक एहि के लाने। बिपुल मुनिहु जेहि हरषि बखाने॥

पुन: यह ध्यानयोग किस विधि से सिद्ध होगा जिससे मन, बुद्धि, चित्त का मल धुल जाये, इसके लिए प्रसंगानुकूल एक मनोहर कथा कह रहा हूँ जिसका वर्णन बहुत से मुनियों ने भी प्रसन्नता के साथ किया है।

उद्दालक ऋषि अतिहिं सयानें। ध्यानयोग महँ नित्य रमानें॥
देखत बनइ सो बर उपासना। तउ मन मरे न जाइ बासना॥

एक उद्दालक नाम के अत्यन्त बुद्धिमान ऋषि थे जो सदा ध्यानयोग में रमण किया करते थे। उनकी श्रेष्ठ उपासना देखते बनती थी तो भी न मन अपने कारण में लीन होता था और न वासना ही जाती थी।

दृढ़ प्रतिज्ञ सोउ हार न मानें। पद्मासनहिं बैठि बिभु ध्यानें॥
मन कस आतम महँ थिर करहीं। ताहि बताउँ जुगुति जस धरहीं॥

फिर भी उन दृढ़प्रतिज्ञ ऋषि ने हार नहीं मानी, अत: [एक बार] पद्मासन में बैठकर ब्रह्म का ध्यान कर रहे थे। वे मन को आत्मा में कैसे स्थिर कर रहे थे उनकी जैसी युक्ति थी उसे बता रहा हूँ।

हे असत्य मन कह ऋषि रोषी। तू मेरो सब कर्मन्हि दोषी॥
अहं बीज तू मैं निर्बीजा। चिन्मय ज्योति रूप नहिं दूजा॥

उन ऋषि ने अत्यन्त कुपित हो कहा- हे असत्य मन! तू ही मेरे समस्त भले-बुरे कर्मों का उत्तरदायी है। अरे!

तू तो 'अहं (अहंकार)' का बीज रूप है और मैं सदा से निर्बीज तथा चैतन्यमय और ज्योतिस्वरूप हूँ। मेरा तो कोई दूसरा रूप है ही नहीं,

दोहा— यासों तेरो संग नहिं मोसों कबहूँ होय।
आत्मरूप महँ रहउँ अब हँसे किधौं तू रोय॥ ५१॥

इसलिए तुम्हारा मुझसे कभी भी संग नहीं हो सकता क्योंकि अब तो मैं आत्मस्वरूप में ही रहूँगा चाहे तू हँसे या रोवे।

चौपाई— अहं न मिलो खोज बहु कीन्हों। अंग अंग लखि लखि पुनि लीन्हों॥
अहं पाँव सिर हाथ उदर नहिं। नेत्र श्रवण जिह्वा न अहं कहिं॥

[हे मन!] मैंने बहुत खोज की, सम्पूर्ण अंगों में बारम्बार देखा किन्तु 'अहं' नहीं मिला। हाथ, पाँव, सिर, पेट तो 'अहं' हो ही नहीं सकते और नेत्र, कान तथा जिह्वा भी 'अहं' नहीं हैं।

घ्रान त्वचा अरु रुधिर अहं नहिं। अरु नहिं मांस बीर्य अस्थी कहिं॥
अहं न प्रान बुद्धि कोउ इच्छा। अब मन तोसों होय अनिच्छा॥

न नाक, त्वचा और रक्त ही 'अहं' हैं, न मांस, वीर्य एवं अस्थि ही; उसी प्रकार प्राण, बुद्धि अथवा कोई इच्छा भी 'अहं' नहीं है। अतः हे मन! अब मैं तुमसे उदासीन हो गया हूँ।

तन स्पन्द वायु कर अंसा। पूर्ण ब्रह्म कर चेतन हंसा॥
जन्म मरण तन धर्म कहावत। पुनि को अहं रूप इहँ गावत॥

[अरे!] इस शरीर का स्पन्दन तो वायु का अंश है तथा चैतन्य का जो अंश है वह सदा रहने वाले ब्रह्म का है। जन्म-मृत्यु तो शरीर के धर्म कहे जाते हैं; फिर यहाँ 'अहं' रूप से कौन स्थित है!

तहुँ मन नेत्र श्रोत्र नहिं घ्राना। जिह्वा त्वग न मांस रज प्राना॥
अरु कोउ अंग न तेरो रूपा। मानउँ अब न प्रजा कोउ भूपा॥

हे मन! तुम भी न आँख हो, न कान हो, न नाक हो, न जिह्वा हो, न त्वचा हो, न मांस हो, न रज हो, न प्राण हो और न कोई अंग ही तुम्हारा स्वरूप है। अतः अब मैं न किसी को [शरीरसहित सम्पूर्ण अंगों को] प्रजा ही मानता हूँ और न किसी [मन] को राजा ही।

दोहा— मन तू अहं न बासना नहिं कोउ तन कर अंग।
मैं मान्यों अज्ञानबस अज्ञानिन्ह के ढंग॥ ५२॥

अरे हे मन! न तो तुम 'अहं' ही हो, न कोई वासना हो और न ही इस शरीर के कोई अंग ही हो। मैंने तो अज्ञानियों की तरह [अज्ञानवश] तुम्हारे अस्तित्व को व्यर्थ ही स्वीकार कर लिया था।

छंद— अहं सर्वः रूपः तन धन च हे मन कुतः त्वम्।
अहं वायुरग्निः नभ रवि च शशि च कुतः त्वम्॥
धरारूपः आपः अहं मम च त्वं तव कुतः त्वम्।
अहं स्त्रष्टा द्रष्टा विविध विभव भावाः कुतः त्वम्॥

अहो! हे मन! मैं ही समस्त चराचर रूप हूँ यहाँ तक कि शरीर और समस्त ऐश्वर्य भी हूँ फिर तुम्हारी स्थिति ही कहाँ है! यहाँ तक कि मैं ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य तथा चन्द्रमा, मैं-मेरा, तू-तेरा बना हुआ हूँ, मैं ही स्त्रष्टा, द्रष्टा, नाना प्रकार के भावों को प्रकट करने वाला हूँ फिर तुम कहाँ हो!

अहं योगः लग्नः दिन मास वर्षः च युगतरम्।
अहं शास्त्रः वेदः पुराणं पुराणं च स्मृतयः॥
अहं सारं सारः असारमपि सारः जगतयोः।
अहं योगी भोगी जप तप नियम च कुतः त्वम्॥

इतना ही नहीं मैं ही योग, लग्न, दिन, मास, वर्ष और युगों के रूप में प्रकट हूँ। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण एवं विविध ग्रंथों के रूप में मैं ही हूँ। मैं ही योगी-भोगी, जप-तप, यम-नियम, सार-असार तथा जगत के सार का भी सार हूँ फिर तुम्हारा अस्तित्व कहाँ है।

अहं स्त्री पुरुषः स्वजन परजन मित्र वैरीः।
अहं रुग्णः स्वस्थः अन्धश्च बधिरः तु मूकगणाः॥
अहं पंगुः लूलः वामन च लम्बुश्च कृशतनुः।
अहं सर्वः रूपः कुतः मन कुतः मन कुतः त्वम्॥

पुनः कह रहा हूँ कि मैं ही स्त्री-पुरुष, स्वजन-परजन, मित्र-शत्रु, स्वस्थ-अस्वस्थ, अन्धा-बहरा, गूँगा, लूला, लँगड़ा, लम्बा-ठिगना, कृश (स्थूल) शरीर वाला भी हूँ तथा मैं ही सभी रूपों में प्रकट हूँ। फिर हे मन! तुम कहाँ हो।

अहं पशवः विहगाः नर सुर च पितरः च नागः।
अहं यातुः यक्षः भूतादयः गन्धर्व सर्वः॥
अहं ऋद्धिः सिद्धिः नवनिधि सुविज्ञः शुभकला।
अहं पृच्छामि त्वां गमिष्यसि कुतः आगता कुतः॥

और भी कहाँ तक कहूँ मैं ही पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता-पितर, नाग, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, गंधर्व-किन्नर, ऋद्धि-सिद्धि, नवनिधि, अनेक श्रेष्ठ विद्याएँ एवं कलाएँ आदि सबकुछ बना हुआ हूँ अतः मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम कहाँ से आये हो और कहाँ जाओगे?

अहं शीतोष्णादिः सुख दुःख च रागादि द्वन्द्वः।
अहं जन्मः मृत्युः जाग्रत् च स्वप्नः तु सृष्टि॥
अहं द्रष्टा दृष्टिः दृश्यति अदृश्यति सृष्टि सर्वः।
अहं पृच्छामि त्वां वदसि न किं मन कुतः त्वम्॥

मैं कितनी बार कहूँ कि मैं ही सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, राग-द्वेष, द्वन्द्व आदि सब रूपों में हूँ। जन्म-मृत्यु, जाग्रत-स्वप्न, नाना प्रकार की सृष्टियाँ तथा द्रष्टा, दृष्टि [दर्शन] दृश्य-अदृश्य आदि समस्त नाम रूपों में भासमान हूँ, मैं तुमसे पूछता हूँ बोलते क्यों नहीं, तुम कहाँ हो!

अहो धिक्कारः त्वां प्रकटसि न मौनं साध्यसि किम्।
अहो निर्लज्जः त्वं करसि प्रहारं पृष्ठतः सदा॥
अहं अन्तः किन्तु दृक्ष्यसि तव पुरस्तादथ पृष्ठतः।
अहं पृच्छामि त्वां किं प्रयोजनं आगमतुम्॥

ओह धिक्कार है इतना कहने पर भी तुम मौन क्यों साध रखे हो कुछ बोल नहीं रहे हो। अरे निर्लज्ज! तुम बोलोगे क्यों तुम तो हमेशा पीठ पीछे से ही वार करते हो जबकि मैं भीतर-बाहर, आगे-पीछे चारों ओर देख रहा हूँ। मैं पूछता हूँ कि तुम कहाँ से आये हो और तुम्हारा प्रयोजन क्या है?

अहो साधु संता मिथ्यं मन प्रेतः न देह गेहे।
तथा एषः भासति यथा व्याल रज्जौ भवति भ्रम्॥
इति युक्तं तत्त्वः महाराजया सत्यसत्यम्।
अहं सर्वः रूपः हे मन त्वमासीः न क्वचिदपि॥

हे साधु-सन्तों! यह मनरूपी प्रेत मिथ्या है, न इसका कोई आकार है न आधार है। जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है वैसे ही भ्रम के कारण इसकी प्रतीति मात्र होती है। उद्दालक ऋषि का महाराज के द्वारा उद्घाटित किया हुआ यह चिन्तन सत्य का भी सत्य है कि हे मन! तुम तो कभी थे ही नहीं, सब रूपों में सर्वत्र सभी कालों में मैं ही विद्यमान हूँ।

दोहा— साक्षी चेतन आतमा अहं कबहुँ नहिं होय।
मम संकल्पहि दीख जग अपर इहाँ नहिं कोय॥ ५३॥

आत्मा तो कभी 'अहं' हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो शुद्ध-साक्षी और चैतन्य स्वरूप है, इसलिए मेरा

संकल्प ही सदा जगतरूप में दीख रहा है; दूसरा तो यहाँ कोई है ही नहीं –

चौपाई— पिता पितामह सच मैं जाको। अब न महत्व देउँ कछु याको॥
मोहिं अज्ञान सतायो ऐसो। बृक सताय पसु सावक जैसो॥

जिसका मैं ही यथार्थ में पिता-पितामह हूँ, अत: अब मैं इसे कुछ भी महत्त्व नहीं दूँगा। अरे! मुझ [शुद्ध साक्षी चेतन स्वरूप] को अज्ञान ने ऐसा सताया जैसे कोई भेड़िया पशुओं के बच्चों को सताता रहता है।

एहि तम तस्करहीं अब जान्यों। जाको निज स्वरूप मैं मान्यों॥
मेरो आत्मरूप अपहर्ता। यहइ आत्मसक्ती संघर्ता॥

अहो! अब मैंने इस अज्ञानरूपी चोर को अच्छी प्रकार से जान लिया है, जिसको मैं निश्चित रूप से अपना ही स्वरूप समझता था; जबकि यही मेरे आत्मस्वरूप का अपहर्ता है और आत्मशक्ति का यही संहर्ता भी है।

अब न लेउँ मैं याकर आश्रय। आत्मरूप होइ रहउँ निराश्रय॥
हौं सरीर मूढ़हि अस मानइ। मृगतृष्णा सम ब्यर्थ हि जानइ॥

अब तो मैं कभी भी इसका आश्रय नहीं लूँगा अपितु आत्मरूप होकर सदा ही निराश्रय रहूँगा। 'मैं शरीर हूँ'- यह तो मूर्ख ही मानता है जबकि ऐसा जानना मृगतृष्णा के समान व्यर्थ है।

यासों देह भावना जाकहँ। जनम मरण बन्धन दृढ़ ताकहँ॥
मैं अब सर्बब्याप्त बिभु सोई। जाकर जन्म मरण नहिं होई॥

इसलिए जिसे शरीर की ही भावना जकड़ी हुई है, उसी को जन्म-मरणरूपी दृढ़ बन्धन है। अत: अब तो [मैं जान गया कि] मैं वही सर्वव्याप्त ब्रह्म हूँ, जिसका जन्म-मरण होता ही नहीं है।

दोहा— अब जाये यह देह कै रहे न मोको क्लेस।
बन्धन मुक्ती कल्पना नाहिं देस परदेस॥ ५४॥

इसलिए अब यह देह जाये या रहे, मुझे तो किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा; [अब मैं समझ गया कि] मेरे लिए बन्धन-मुक्ति और देश-परदेश जैसी कल्पनाएँ नहीं हैं।

चौपाई— जतन बिना मोमें जग आवे। चल अरु अचल जो ग्रसित लखावे॥
मैं निस्चल सम सांत सुभाऊ। नभ इव मोहिं ग्रसे नहिं काऊ॥

मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में यह चल और अचल जगत बिना प्रयत्न के सहज ही प्रकट होता है जो [काल द्वारा] ग्रसित होता हुआ दिखायी पड़ता है। मैं तो निश्चल एवं सम शान्त स्वभाव वाला तथा आकाश के समान [निर्लेप] हूँ, अत: मुझे कोई ग्रस नहीं सकता।

अहो मोहमय अहं असत यो। मृगतृष्णा इव चित्त लसत यो॥
रूप सच्चिदानंद हमारो। अहं भाव पुनि को अब धारो॥

अरे! यह मोहमय अहंकार असत है और जो मन है, यह मृगतृष्णा के समान प्रतीत होता है। अत: मैं तो स्वभाव से ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, पुन: 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव को अब कौन धारण करेगा!

आतम चिंतन सों मन नास्यो। देह मांस अस्थीमय भास्यो॥
सच आपुन मैं स्वयं अधारो। अहं भाव पुनि को अब धारो॥

निश्चित ही आत्मचिन्तन के द्वारा इस मन का नाश हो गया है तथा यह शरीर एकमात्र मांस और अस्थिमय दीख रहा है। यथार्थ में अपने-आपका तो एकमात्र मैं ही आधार हूँ, फिर 'मैं शरीर हूँ' इस भाव को अब कौन धारण करेगा!

देखत नेत्रहु बिनहिं दिखाये। कान सुनत पुनि बिनहिं सुनाये॥
घ्रान सुँघत सच बिनहि सुँघाये। जीह जतन बिनु रस अनुभाये॥

[यह अच्छीप्रकार से अनुभव में आ रहा है कि] नेत्र बिना दिखाये [स्वत:] ही देखते हैं, पुन: कान बिना सुनाये [अपने से] सुनते हैं तथा निश्चित ही नासिका बिना प्रयास के [स्वत:] ही सुगन्ध लेती है एवं जिह्वा को भी बिना [मेरे] प्रयत्न के [स्वत:] ही रस प्रीतिकर लगता है-

त्वग अनुभवे बिषय मैं न्यारो। अहं भाव पुनि को अब धारो॥

त्वचा [स्वत: ही] विषय का अनुभव कर लेती है और मैं इन सबसे पृथक् हूँ, फिर 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव को अब कौन धारण करेगा।

दोहा— जाग्रत स्वपन सुषुप्तिहु बिनु प्रयास के होय।
मैं साक्षी तिहुँ काल महँ अहं भाव कर कोय॥ ५५॥

उसी प्रकार स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थाएँ बिना प्रयास के ही प्रकट होती रहती हैं। अरे! मैं तो त्रिकाल में साक्षी ही हूँ, अत: 'मैं शरीर हूँ'- यह भाव कौन [धारण] कर सकता है!

चौपाई— अहो देह तरु कोटर माहीं। तृष्णा काली नागिन आहीं॥
हृदय बिबेक गरुड़ आयो जब। पतो नाहिं कहँ लुप्त भई तब॥

अहो! शरीररूपी वृक्ष के कोटर में तृष्णारूपी काली नागिन आकर बैठ गयी थी किन्तु जब हृदय में विवेकरूपी गरुड़ का प्रादुर्भाव हुआ तो पता नहीं वह कहाँ लुप्त हो गयी।

अब मैं मेरो तू अरु तेरो। त्याग कर्‌यों भ्रम चित्त घनेरो॥
जाहि किये बिनु सब जग डोलै। सोइ मैं ब्रह्म याहि सच खोलै॥

अब मैंने 'मैं-मेरा, तू-तेरा' -चित्त के इन नाना प्रकार के भ्रमों को त्याग दिया है। अत: जिसके बिना प्रयत्न के ही सारा जगत चलायमान है, 'मैं वही ब्रह्म हूँ'- इसी सत्य को मैं उद्‌घाटित कर रहा हूँ।

अहं निकारि देउँ जो अपनो। तौ होवे यह जगतहु सपनो॥
अब न मोहिं कछु करनो धरनो। मायामय सच जीनो मरनो॥

यदि अपने अहंकार को निकाल देता हूँ तो यह सम्पूर्ण जगत स्वप्न [के समान] ही हो जाता है। अत: अब मुझे कुछ करना-धरना नहीं है क्योंकि यह मरना-जीना सच में मायामय है।

अब न प्रस्न यह कहँ सों आयों। कहँ जायेंगों काह लखायों॥
दीख न मैं तू मेरो तेरो। एक सच्चिदानंदहिं घेरो॥

अब मेरे पास यह प्रश्न नहीं है कि मैं कहाँ से आया, कहाँ जाऊँगा और क्या दिखायी पड़ा। अत: अब मैं-मेरा, तू-तेरा नहीं दीखता बल्कि सर्वत्र केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही प्रकट है।

दोहा— भीतर बाहर सोइ मैं मध्य माहिं सर्बत्र।
सर्बब्याप्त अबिछिन्न अरु नाहिं अत्र अन्यत्र॥ ५६॥

मैं वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा भीतर-बाहर एवं मध्य में तथा सर्वत्र विद्यमान हूँ। मैं सर्वव्याप्त एवं अविच्छिन्न हूँ; मुझमें न यहाँ है, न वहाँ है।

चौपाई— चिंतत अस तिन्ह ज्ञान समाधी। लगन लगी सब भागतिं ब्याधी॥
जब ऐसोइ काल कछु बीत्यो। त्रिगुणमयी माया मुनि जीत्यो॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन [उद्दालक ऋषि] को ज्ञान-समाधि लगने लगी जिससे समस्त व्याधियाँ जाने लगीं। जब इस प्रकार [ज्ञान-समाधि का अभ्यास करते हुए] कुछ काल व्यतीत हो गया तब उन मुनि ने त्रिगुणमयी माया पर विजय प्राप्त कर ली।

ऋद्धि सिद्धि महँ नाहिं भुलाने। इनहुँ महत बाधा अनुमाने॥
ब्रह्मरूप भए माया काटी। गा अज्ञान आवरण फाटी॥

वे ऋद्धि-सिद्धियों के भुलावे में नहीं आये क्योंकि इन्हें भी वे [अध्यात्म पथ में] अत्यन्त विघ्नस्वरूप समझते थे। इस प्रकार ब्रह्मरूप होकर उन्होंने माया का छेदन कर दिया जिससे अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो गया।

ब्रह्मसक्ति सर्बग्य सक्ति गहि। अति प्रसन्न बिचरन लागे महि॥
महाराज कह पुनि पुनि सबसों। करहु ध्यान सुचि प्रभु कर अबसों॥

[उसके उपरान्त] वे ब्रह्मशक्ति एवं सर्वज्ञशक्ति से सम्पन्न होकर अति प्रसन्नता के साथ पृथ्वी पर विचरने लगे। अत: महाराज पुन: पुन: समस्त साधकों से कहता है कि भगवान के द्वारा कहा हुआ यह पवित्र ध्यान अबसे भी

प्रारम्भ कर दें।

दोहा— करनो चहिए ध्यान यह कह प्रभु जब हरषाहिं।
महाराज उर कहत कछु बर संकेत लखाहिं॥५७॥

भगवान नारायण जब हर्षित होकर कहते हैं कि यह ध्यानयोग अवश्य ही करना चाहिए तो [हे साधको!] महाराज का हृदय यही कहता है कि वे कुछ विशेष संकेत कर रहे हैं।

मासपारायण, सोलहवाँ विश्राम

चौपाई— कह प्रभु यति मति तजहु गँवारनि। ध्यान जो मिलो समाधि सवाँरनि॥
कतहुँ न जाहु याहि बिनु साधे। कथा कीरतन एहि महँ बाधे॥

ऐसा कहकर भगवान संन्यासियों को चेतावनी दे रहे हैं कि हे संन्यासीगण! आप गँवारों की बुद्धि का परित्याग कर दें क्योंकि यह जो ध्यानयोग आपको मिला हुआ है वह समाधि को व्यवस्थित करने वाला है। अत: इसे सिद्ध किये बिना कहीं भ्रमण न करें; इसलिए कि कथा-कीर्तन करना तो इस अभ्यास में बाधक ही है।

मुनि सुकदेव गये बन जबसों। बिनु हरि सिधि न आयँ जग तबसों॥
आत्मज्ञान सँग आतमसक्ती। पाये जो उन्ह सरिस बिरक्ती॥

महर्षि शुकदेव भी जब वन चले गये तब बिना भगवत् सिद्धि प्राप्त किये संसार में नहीं लौटे, अत: जो उन्हीं के समान अत्यन्त वैराग्यवान होगा वही आत्मज्ञान के साथ आत्मशक्ति प्राप्त करेगा।

जब आये जनु भौ अवतार्‌यो। जग भयो धन्य भागवत सार्‌यो॥
अबलौं जो बिरक्त मुनि ध्यानी। भये न जबलौं आतमज्ञानी॥

और जब वे संसार में आये तो ऐसा लगा मानो कोई अवतार ही हुआ हो। उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण की ऐसी स्थापना की कि सारा जगत धन्य हो गया। [मैं कहाँ तक कहूँ!] अब तक जो भी अत्यन्त विरक्त मुनि एवं ध्यानी हुए हैं, वे जब तक आत्मज्ञानी नहीं हो गये-

तबलौं कथा न कितन गाये। सोच काह जग होत रिझाये॥
आपु काह यति बेष बनाई। गृह मारग पुनि चितवहु भाई॥

तब तक जगत में आकर कथा-कीर्तन नहीं किये। उन्होंने सोचा कि जगत को रिझाने से क्या लाभ? अत: [हे प्रिय साधको!] आप संन्यासी का वेश धारण करके पुन: गृहस्थाश्रम के मार्ग की ओर आने की क्यों सोच रहे हैं?

दोहा— अहउँ ब्रह्म मैं कौन मुख कहउ काह परमान।
बिष न मारि सक तुम्हहिं का सस्त्र न लै का प्रान॥५८(क)॥

'मैं ब्रह्म हूँ'- ऐसा आप किस मुख से कहते हैं, इसका आपके पास क्या प्रमाण है? क्या आपको विष मार नहीं सकता, शस्त्र आपके प्राणों को नहीं ले सकता?

दै मांडब्यहिं सूलि जग बिष मीराहीं देइ।
बहु अस्त्रन्ह प्रहलाद पर साधि परिक्षा लेइ॥५८(ख)॥

[आप जानते हैं कि] यह जगत माण्डव्य ऋषि को सूली पर चढ़ाकर, भगवती मीरा को विष देकर तथा नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से प्रह्लाद पर प्रहार करके परीक्षा लेता आया है।

चौपाई— भगत आइ जग दिये परीक्षा। सिद्ध किये नहिं उर कछु ईच्छा॥
एहि कारन प्रभु पार्थ सुनावत। योगि न डिगे अतिहिं दुख पावत॥

भक्तों ने आकर संसार में परीक्षा दी है तथा यह सिद्ध किया है कि हमारे हृदय में कोई इच्छा नहीं है। इसी से तो भगवान नारायण महात्मा अर्जुन को सुना रहे हैं कि आत्मनिष्ठ योगी भारी दु:ख प्राप्त होने पर भी विचलित नहीं होता।

महाराज यासों कर जोरे। कह बिस्वास न कर जग भोरे॥
बैठ्यो रजगुन मन महँ ऐसो। सर्प महत कोटर रह जैसो॥

इसीलिए तो महाराज आप साधकों से हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है कि स्वप्न में भी आप इस जगत पर

विश्वास न करें। आपके मन में रजोगुण उसी प्रकार बैठा है जैसे किसी वृक्ष के कोटर में बैठा हुआ विशाल सर्प-

पाइ सुअवसर खग सिसु खावत। सो तरु यातें तेहि अति भावत॥
तैसे प्रभु कह तनिक प्रमादा। रज अघ संसय देत बिषादा॥

जो सुनहरा अवसर पाकर पक्षियों के बच्चों को खाता रहता है; इसीलिए वह वृक्ष उसे अति प्रिय लगता है। भगवान कह रहे हैं कि उसी प्रकार थोड़े से प्रमाद के होने से ही रजोगुणरूपी पाप एवं संशय आपको विषादी बना देंगे।

करि मिस कोउ न कोउ जग डारें। पुनि यासें सो ध्यान निवारें॥
अस हरि कह जेहि भयो सांत मन। मोह क्लेस रज मनहु गये बन॥

और कोई न कोई बहाना बनाकर जगत में भेज देंगे जिससे पुन: वह ध्यान पता नहीं कहाँ भाग जायेगा। इसलिए भगवान ऐसा कहते हैं कि जिसका मन अति शान्त हो गया है तथा [जिसके] मोहादि क्लेश रूप रजोगुण मानो वन में चले गये हैं-

दोहा— अहइ ब्रह्म सब मानत पापरहित यति जोइ।
पावत परमानंद सुख भव न परत पुनि सोइ॥ ५९॥

और जो पापरहित संन्यासी 'सब ब्रह्म ही है'- ऐसा मानता है, वही परमानन्दरूपी परम सुख को प्राप्त करता है और पुन: भवसागर में नहीं पड़ता।

चौपाई— एहि बिधि चलत बिगत अघ जोगी। करत ध्यान निज रूप बियोगी॥
पाइ ब्रह्म सुख तात अघावे। जो सुख परम अनंत कहावे॥

जो परम वैराग्यवान पापरहित योगी इस प्रकार बरतता हुआ अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है, हे तात! वह ब्रह्मसुख को प्राप्त करके नित्य तृप्त हो जाता है जिस सुख को परम अक्षय कहा जाता है।

प्रभु कह चंचल मन जहँ जावे। तहँ तहँ तेहि प्रभु रूप लखावे॥
साधक सबरें एहि जग जोई। मन चंचल अति कह रोइ रोई॥

[इसीलिए तो महात्मा अर्जुन से] भगवान कह रहे हैं कि चंचल मन जहाँ-जहाँ जाये वहाँ-वहाँ पर उसे 'यह ब्रह्म ही है'- ऐसा रूप दिखावे। जगत में जो भी साधक हैं वे अत्यन्त पीड़ित होकर यही तो कहते हैं कि यह मन बड़ा चंचल है।

सुनि महराज मनहिं हरषावे। तबहिं तुम्हहिं इक मरम बतावे॥
जबहिं लगावउ ईंधन आगी। धूम जाय सब अगिनिहिं त्यागी॥

ऐसा सुनकर महाराज के मन में अत्यन्त प्रसन्नता छा जाती है और उसी समय आपको परम रहस्य बताने लगता है कि जब आप ईंधन में आग लगाते हैं तो उस समय सम्पूर्ण धुआँ अग्नि को त्यागकर जाने लगता है।

ईंधन कोउ न धूम बिनु अहई। जाहि बिना कोउ पावक लहई॥
प्रथम दरस तेहिकर जो पावे। सोइ बिमल पावक पहँ जावे॥

कोई भी ईंधन धुएँ से रहित नहीं होता जिसके बिना आप अग्नि को प्राप्त कर सकें। जो सर्वप्रथम [धैर्यपूर्वक] उसका दर्शन करेगा, वही प्रज्वलित अग्नि को प्राप्त करेगा।

दोहा— गिलो काष्ठ बहु देर लौं मान्यों धूवों देत।
जो सूखो अति सिघ्रही ताहि त्यागि सो चेत॥ ६०॥

मैं मानता हूँ कि गीला ईंधन देर तक धुआँ देता रहता है किन्तु यदि वही सूख जाता है तो अतिशीघ्र ही धुएँ को त्यागकर अग्निरूप हो जाता है।

चौपाई— यहि उपमा निज ध्यान बिचारौ। पुनि निज चंचल मन उपचारौ॥
धूम कहउँ अब उर महँ होवे। जो तुम्हरो मन अतिहिं बिगोवे॥

इसी उपमा का आप ध्यान करते समय चिन्तन कर पुन: अपने चंचल मन का उपचार करें। अब मैं उस धुएँ का वर्णन करूँगा जो हृदय में प्रकट होता है और जिसने आपके हृदय को अत्यन्त छिन्न-भिन्न कर दिया है।

धूम स्वजन परिजन अरि भाई। ध्यान समय आवत चित धाई॥
उन्हकी सुरति आय उर पुनि पुनि। होवहु खिन्न तबहिं सिर धुनि धुनि॥

स्वजन-परजन, हित-वैरी आदि ही धुएँ के समान हैं जो ध्यान के समय अपने चित्त में बरबस आ जाते हैं। उनकी याद हृदय में बारम्बार आती रहती है और तब आप सिर धुन-धुन कर पश्चात्ताप करने लगते हैं।

धुम इव काम क्रोध कर बेगा। उठि उर करत मनहिं उद्वेगा॥
धुम इव लोभ राग अरु द्वेसा। उठि नहिं जावन दैं हरिदेसा॥

उसी प्रकार काम-क्रोध के वेग भी धुएँ के समान हैं जो हृदय में उठकर मन को उद्विग्न करते रहते हैं तथा लोभ, राग, द्वेष भी धुएँ के समान हैं जो हृदय में उठकर भगवान तक नहीं पहुचने देते।

धूम सरिस भुत भविषहिं चिंता। प्रगटत जब उर होवइ हिंता॥
धूम नींद आलस्य प्रमादा। तन ब्यापत कर मनहिं बिषादा॥

भूत-भविष्य की चिन्ता भी धुएँ के समान ही है जिसके प्रकट होने से मन में अत्यन्त हीनता आ जाती है तथा नींद, आलस्य एवं प्रमाद भी धुएँ के समान ही हैं जो शरीर में व्याप्त होकर मन को विषादी बना देते हैं।

सोरठा— धूम कहत महराज संसय भ्रम अति प्रबल तम।
यासों खुलत न राज स्वाद चखे बिनु हरिहिं कर॥ ६१॥

महाराज तो संशय, भ्रम तथा अत्यन्त प्रबल अज्ञान को भी धुएँ की ही संज्ञा दे रहा है इसलिए कि उनका स्वाद चखे बिना प्रभु का सम्पूर्ण रहस्य नहीं खुलता।

चौपाई— को ज्ञानी ध्यानी जग माहीं। जेहिं चित उठ्यो धूम अस नाहीं॥
सबरें धूम सहे अस भाई। जल बिहीन कहुँ कूप कहाई॥

संसार में ऐसा कौन ज्ञानी-ध्यानी होगा जिसके चित्त से [कभी] ऐसा धुआँ न उठा हो? नहीं-नहीं, [आप विश्वास करें,] सभी ने इस धुएँ को सहन किया है। अरे! बिना जल का कुआँ कहीं कुआँ कहा जाता है?

धूम न आवत जावत भाई। आवत यह भाषा लरिकाई॥
तस न ध्यान महँ आयँ कल्पना। सच महँ जावें सबहि जल्पना॥

हे साधको! धुआँ भी आता नहीं हैं बल्कि जाता है, 'धुआँ मेरी ओर आ रहा है'- यह भाषा तो बालकों की है। उसी प्रकार ध्यान करते समय चित्त में कल्पनाएँ आती नहीं हैं बल्कि वे सब जाती हैं [वास्तव में वे असजगता में ही आती हुई दिखती हैं]।

धूम लगत जिमि आँख पिराये। पुनि पुनि तापत मूँह फिराये॥
तैसेइ ब्रह्म अगिनि जो चाहउ। धर्म सोइ एहि थल निरबाहउ॥

[आग तापते समय] जिस प्रकार धुआँ लगने से आँखें दु:खने लगती हैं तो भी लोग मुँह घुमाकर बार-बार तापते ही हैं उसी प्रकार यदि आप ब्रह्माग्नि को प्राप्त करना ही चाहते हैं तो उसी धर्म का यहाँ निर्वहन करें।

दोहा— धूम समुझि चित बृत्तिहीं परम बियोगी होय।
सहन करहु दुर्गंध तिन्ह उर महँ बचे न कोय॥ ६२॥

[वह यह कि] आप चित्त की वृत्तियों को धुआँ समझकर उनसे परम अनासक्त हो उनकी दुर्गन्ध को सहन करें जिससे हृदय में कोई भी शेष न रहे।

चौपाई— अनल लखाय धूम जब जावे। सीत त्रसित पुरुषहिं अति भावे॥
जबहिं सकल माया बिनसावे। तब उर एकहि ब्रह्म लखावे॥

क्योंकि सम्पूर्ण धुएँ के चले जाने के उपरान्त ही सम्पूर्ण अग्नि प्रकट होती हुई दीख पड़ती है जो ठंड से पीड़ित पुरुष को अति प्रिय लगती है। इस प्रकार जब सम्पूर्ण माया का लोप हो जाता है तो हृदय में केवल ब्रह्म ही दिखायी पड़ता है।

उपमा अपर एक मैं देऊँ। पुनि बिश्राम ध्यान सों लेऊँ॥
कबहुँ आपु कहुँ अनत सिधाये। अर्ध रात्रि पुनि निज गृह आये॥

अब मैं एक अन्य उपमा दे रहा हूँ, इसके पश्चात् ही ध्यान [के प्रकरण] से विश्राम लूँगा। [वह यह कि]- कभी आप कहीं अन्यत्र चले गये और मध्य रात्रि को पुनः अपने घर पर आ गये।

कछुक पूर्ब गृह चोर भराने। देखत तुम्हहीं लगे पराने॥
यदि दरवाजहिं तुम्ह नहिं छोड़उ। उनसों मुख ता छन नहिं मोड़उ॥

तथा [आपके आने से] कुछ समय पहले ही आपके घर में चोर प्रवेश कर गये हैं जो आपको देखते ही घर से भागने लगे। यदि आपने दरवाजा नहीं छोड़ा और उस क्षण उनके सामने से नहीं हटे-

तौ तिन्ह इतनो भय होइ जावे। तेहि छन मन महँ कछु न लखावे॥
तबहिं तुम्हहिं ते डंडो देई। जायँ परायँ न कछुवै लेई॥

तो उन्हें इतना भय हो जाता है कि उस क्षण उनके मन में [क्या करुँ क्या न करुँ]कुछ समझ में नहीं आता और आपको डण्डा मारते हुए बिना कुछ लिए ही वे भाग जाते हैं।

ध्यान करत होवतु सोइ हाला। दरवाजे तुम्ह होतु बिहाला॥

ध्यान करते समय भी वही स्थिति होती है और दरवाजे (मन) पर ही होने से आपकी दुर्दशा होती है।

दोहा— चोर आयँ अरु जायँ जो सो दरवाजो एक।
जानहु निकसैं ताहि सों तउ तुम्ह तजहु बिबेक॥ ६३ (क)॥

अरे! यह तो आप जानते हैं कि जिस दरवाजे से चोर आते और जाते हैं वह तो एक ही है अतः उसी से निकलेंगे, फिर भी आप विवेक खो बैठते हैं।

तस सब बृत्तिहु आयँ उर मन दरवाजो एक।
खड़े जो तुम्ह कासों भगैं थोरेउँ गहहु बिबेक॥ ६३ (ख)॥

वैसे ही मनरूपी दरवाजा तो एक ही है जिससे समस्त वृत्तियाँ [चोरों की भाँति] हृदय में प्रविष्ट हो गयी हैं और जब आप [वहाँ पर] खड़े ही हैं तो वे किस [दरवाजे] से बाहर भगें, थोड़ा इसपर भी विचार करें।

चौपाई— काम क्रोधादिक भड़या सारे। सुभ कै असुभ न अहैं तुम्हारे॥
जान देउ येइ हेतु जनम के। जग भरमायँ न काहु करम के॥

अतः काम, क्रोधादिक समस्त चोर शुभ हों या अशुभ आपके तो हैं नहीं, बल्कि ये ही जन्म [बन्धन] के कारण और संसार में भ्रमित करने वाले हैं, इस प्रकार ये किसी काम के नहीं हैं अतः इन्हें जाने ही दें।

ये तसकर तो नहिं पकराहीं। अरु तुम्ह लखि भय सों भजि जाहीं॥
क्योंकै अब तुम्ह उनकै कारन। त्यागि दिये जो हुतो अधारन॥

[आप यह भी जान लें कि] ये चोर पकड़ने में नहीं आ सकते और आपको देखकर वे डर के कारण भाग जायेंगे; क्योंकि आपने उनके कारण को ही त्याग दिया है, जो इनका आधार था।

काहू के ये बनें न चेरे। बसहिं काह पुनि उर महँ तेरे॥
दास बनायँ साँच जग उन्हकौ। यम अरु नियम न पालैं तिन्हकौ॥

ये किसी के सेवक नहीं बनते, फिर आपके हृदय में कैसे वास करेंगे? क्योंकि ये तो जो यम, नियमादि का पालन नहीं करते, यथार्थतः जगत में उन्हें ही अपना दास बनाते हैं।

दास बनावत ये उन्ह केरे। जे जग झूठ मसखरी चेरे॥

ये उन्हीं लोगों को दास बनाते हैं जो जगत में झूठ-मसखरी की ही उपासना करने वाले हैं।

दोहा— दास बनावत तिन्हहिं जग सदगुरु जिन्ह पहिं नाहिं।
ज्ञान ध्यान बिज्ञान कछु उर नहिं जिन्हहिं सुहाहिं॥ ६४॥

ये तो जगत में उन्हीं को दास बनाते हैं जिनके पास सद्गुरु नहीं हैं तथा जिनके हृदय को ज्ञान, ध्यान, विज्ञान कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

चौपाई— जुगुति काह जो पूछउ सोई। साधन मन उचाट नहिं होई॥
जेहि उचाट मन होय बिकारी। पुनि मम होइ बिगूचनि भारी॥

यदि आप पूछें कि वह कौन-सी युक्ति है जिससे साधना के समय मेरे मन को उच्चाटन न हो। जिस उच्चाटन से मन विकारी हो जाता है [और जगत में] मेरी किरकिरी होने लगती है।

जुगुती सोइ बतावउँ भाई। जासों सत्रु जायँ अकुलाई॥
यदि कामादि ध्यान छन मारत। भाजत तउ मन रहे ध्यान रत॥

हे भाइयो! मैं वही युक्ति बता रहा हूँ, जिससे ये शत्रु स्वयं ही व्याकुल हो भाग जायें। यदि काम, क्रोध, राग एवं द्वेषादिक शत्रु ध्यान करते समय मारते हुए भाग रहे हों तो भी मन ध्यान में ही रहे-

बिचलै निज स्वरूप सों नाहीं। तब उचाट नहिं साधन माहीं॥
अब मैं हेतु कुबृत्ति अघाता। कहुँ भलि बिधि जो जानहु ताता॥

और अपने स्वरूप से विचलित न हो तो साधन के समय उच्चाटन नहीं होगा। अब मैं इन कुवृत्तियों के आघात का कारण बता रहा हूँ, यदि इन्हें भलीभाँति समझ लें-

तब तिन्हि तजि पावहुगे भाई। पुनि उचाट नहिं साधन आई॥
कामहिं कारन नारिहिं त्यागे। ब्रह्मचरज ब्रत महँ अनुरागे॥

हे भाई! तब आप उन्हें त्याग पायेंगे, जिससे पुनः साधन पथ में उच्चाटन नहीं होगा। आप तो अब जो काम का कारण है उस स्त्री का त्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत से प्रेम करने लगे हैं-

पकरि अहिंसा बैर भगायें। यासें काम क्रोध कहुँ जायें॥
भयउ ब्रती तुम्ह परिग्रह त्यागी। लोभ ब्याधि जाये कहुँ भागी॥

तथा अहिंसा को धारण करके वैर भाव को समाप्त कर दिये हैं, अतः ये काम, क्रोधादि कहीं न कहीं तो जायेंगे ही! उसी प्रकार आप अपरिग्रह व्रत को धारण करने वाले हो गये हैं, अतः लोभरूपी व्याधि कहीं न कहीं तो जायेगी ही।

सात्विक धृति सों प्रीति लगाये। पुनि का तामस बृत्ति न जाये॥
सदगुरु सँग सतसंगहु धारे। संसय भ्रम मन मारि सिधारे॥

[वैसे ही] आपने सात्त्विक धृति से प्रेम कर लिया है तो क्या फिर तामस वृत्तियाँ (आलस्य एवं नींद आदि) कहीं न जायँ! [उसी प्रकार] आप सद्गुरु के साथ रहकर सत्संग का पान करते हैं, अतः संशय, भ्रम आदि असहाय होकर आपके पास से जा रहे हैं।

दोहा— जिनसों माया आवई सोइ कारन तजि दीन्ह।
जायँ न उर सों का करें काल आपुनो चीन्ह॥ ६५॥

जिन कारणों से माया हृदय में आती है उन्हीं कारणों को आपने त्याग दिया है; अतः आपको अपना काल जानकर वे हृदय से जायँ नहीं तो क्या करें?

चौपाई— कामधेनु तजि स्वान बसाये। ज्ञान होत अब धेनु सुहाये॥
तब तुम्ह स्वानहिं चहउ भगानो। जाय न सेवक बहुत सयानो॥

आपने गोमाता का त्यागकर कुत्ते का पालन-पोषण कर रखा था और अब प्रबोध होने पर [कुत्ता छोड़] गोमाता ही प्रिय लगने लगी है, इसलिए आप कुत्ते को भगाना चाहते हैं किन्तु वह ऐसा कुशल [स्वामिभक्त] सेवक है कि [स्वेच्छा से] जाना ही नहीं चाहता।

डाँटहु पीटहु तउ नहिं जावे। प्रेम करउ अति सो अनुभावे॥
दुम हिलाय सिर चढ़त तुम्हारे। प्रेम दिये तेहि चहत हुँकारे॥

[भले ही] आप उसे अत्यन्त डाँट-फटकार रहे हैं, मार रहे हैं तो भी वह जाना नहीं चाहता; क्योंकि वह समझता है कि आप अत्यन्त प्यार ही कर रहे हैं। अतः वह पूँछ हिलाते हुए आपके सिर पर चढ़ जाता है और जिस प्रेम को आपने दिया है, उसी की वह कूँ-कूँ करते हुए चाहना करता है।

दिन दस देहु न वाको ब्यारू। भाजि जाय कहुँ अनत दुवारू॥
समुझन हित उपमा द्यों यासों। चित न ध्यान छन उचटै जासों॥

किन्तु यदि दस दिन उसे आप भोजन न दें तो वह निश्चित ही किसी दूसरे के दरवाजे पर चला जायेगा। यह उपमा एकमात्र समझने के लिए दी गयी है जिससे कि ध्यान के समय चित्त का उच्चाटन न हो।

द्रष्टा होइ जो सहि नहिं पावउ। अपर दृष्टि सुभ तबहिं लगावउ॥
सदगुरु कोउ सब सिष्य बुलाये। सुनत आइ सब सीस नवाये॥

यदि आप [एकमात्र] शुद्ध साक्षी चेतन रूप होकर इन्हें (इन वृत्तियों के उत्पात को) सहन नहीं कर पा रहे हैं तब आप एक अन्य दिव्य प्रयोग करें [जो इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगा]। किसी सद्गुरु ने समस्त शिष्यों को बुलाया और गुरु की आज्ञा सुनते ही सभी शिष्यों ने आकर शीश झुकाकर उन्हें प्रणाम किया।

दोहा— कह गुरु गागर एक जल भरो परो न गिराय।
भरहु छीर सों याहि बरु सत पय घट रिति जाय॥ ६६॥

सद्गुरु ने कहा कि देखो एक घड़ा जल से भरा हुआ है बिना इस जल को गिराये कोई इसमें दूध भर दे, भले ही [इसके लिए] दूध के अन्य सौ घड़े क्यों न समाप्त हो जायँ।

चौपाई— चकराई मति सुनि गुरु बानी। एकउ जुगुति न मन ठहरानी॥
सबहिं परस्पर नैयनन्हि ताकहिं। कबहुँ घड़ो कबहूँ नभ झाँकहिं॥

अपने गुरुदेव की वाणी सुनकर सबकी बुद्धि चक्कर में पड़ गयी और मन में एक भी युक्ति नहीं आयी, सभी एक-दूसरे का मुख निहारने लगे तथा कभी घड़ों की ओर तो कभी आकाश की ओर देखने लगे।

सिष्य सु एक गुरुहिं प्रभु मानत। उन्हकी कृपा सबहिं अनुमानत॥
उठ्यो मुदित मन गुरु पग लाग्यो। भरउँ छीर अस आयसु माँग्यो॥

उनमें से एक शिष्य जो सद्गुरु को भगवान मानता था और अपने समस्त कार्यों को उनकी कृपा से ही [सिद्ध] हुआ मानता था, उठा और प्रसन्न मन से गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके यह आज्ञा माँगी कि क्या मैं दूध भर दूँ?

आज्ञा पाइ पुलकि तन धायो। नीर घड़ो महँ दूध गिरायो॥
डारत पय घट महँ हरषाई। सलिल संग गोरसहु गिराई॥

आज्ञा प्राप्त करके पुलकित तन से झट से उसने जल के घड़े में दूध डालना प्रारम्भ किया। वह प्रसन्नता के साथ घड़े में दूध डालने लगा जिससे जल के साथ-साथ दूध भी गिरने लगा।

तबलौं घट महँ पयहिं गिरायो। जबलौं सलिल न सबहिं सिरायो॥

वह तब तक घड़े में दूध डालता रहा जब तक उसका सारा जल गिर नहीं गया।

दोहा— पुनि सदगुरु पद कमल महँ करत नमन सिरु नाइ।
गुरु उठाइ निज सक्ति सब दियो अतिहिं हरषाइ॥ ६७॥

फिर उसने गुरुदेव के कमलवत् चरणों में प्रणाम करते हुए स्वयं को समर्पित कर दिया। तब गुरुदेव ने उसे उठाकर अत्यन्त हर्षित होते हुए अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति दे दी।

चौपाई— अस चित तुम्हरो घड़ो समाना। ता महँ तू मैं सलिल भराना॥
सुभ अरु असुभ बिचार नीर सम। आतम चिंतन पय कह आगम॥

[महाराज तो देख रहा है कि] आपका चित्त भी ऐसे ही घड़े के समान है उसमें मैं और तू की भावना तथा शुभाशुभ विचाररूपी जल भरा हुआ है और शास्त्र आत्मचिन्तन को ही दूध के समान बताता है।

चिंतन पय हिय घट महँ डारउ। जबलौं नाहिं होय उजियारउ॥
आत्मरूपता रबि जब प्रगटे। माया पतो नाहिं कहँ सिमटे॥

आप उसी आत्मचिन्तनरूपी दूध से तब तक हृदयरूपी घड़े को भरते रहें जब तक वहाँ परम प्रकाश प्रकट न हो जाय; क्योंकि जब आत्मरूपतारूपी सूर्य प्रकट हो जाता है तब माया पता नहीं कहाँ भाग जाती है।

तब न दीख जो मन गुनि राखेउ। यासें प्रभु अर्जुन सन भाषेउ॥
योगसिद्ध जो आतमदर्सी। बेद पुरान कहें समदर्सी॥

उस समय वह [माया या संसार] तो दिखायी ही नहीं पड़ता जिसकी आपने मन में कल्पना कर रखी है। इसी

से तो भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि जो योगसिद्ध [यति] है, वही आत्मदर्शी है और उसी को वेद-पुराण समदर्शी भी कहते हैं।

याकर फल सुनु तू प्रिय मेरो। धारण करत जाय जग फेरो॥

तुम मेरे प्रिय हो, अत: इस आत्मचिंतन का फल सुनो, जिसको धारण करते ही जगत में आने-जाने का चक्र समाप्त हो जाता है।

छंद— चर अचर महँ निज आतमा अरु आतमा महँ चर अचर।
इमि दीख वाको लहर महँ जल जिमि सलिल महँ सब लहर॥
फल याहि कर सर्बत्र मोकों देख सब जग मोहिं महुँ।
अदृस्य मोसों नाहिं सो वासों न मैं सच तोहिं कहुँ॥

उस [समदर्शी] को चर-अचर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में अपनी ही आत्मा और आत्मा में ही सम्पूर्ण भूत-प्राणी वैसे ही दिखायी पड़ते हैं, जैसे लहरों के रूप में जल और जल के रूप में सम्पूर्णतया लहरें ही दिखायी पड़ती हैं। [हे पार्थ!] इस आत्मदर्शन का फल यही है कि जो सर्वत्र मुझे ही देखता है और सबको मुझ वासुदेव में ही देखता है, वह कभी भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होता तथा उसके लिए मैं भी कभी अदृश्य नहीं होता; मैं यह तुमसे यथार्थ कहता हूँ।

जो आतमा सिव बिष्णु अज महँ सोइ चींटी महँ अहै।
अस लखत जो जैसे जिये जोगी सदा मोमें रहै॥
जो आपुनो सम दुख सुखहिं मानत पराये के सदा।
मोरे मते सो सिद्ध योगी रह अहिंसक सर्बदा॥

जो आत्मा ब्रह्मा, विष्णु, महेश में विद्यमान है वही चींटी में भी है, जो ऐसा देखता है, वह आत्मदर्शी योगी चाहे जैसे जीवन व्यतीत करे किन्तु सर्वदा मुझमें ही वास करता है। वैसे ही जो दूसरों के सुख-दु:ख को भी सदैव अपने ही सुख-दु:ख के समान समझता है, वही मेरे मत में समस्त योगियों में श्रेष्ठ योगी और सम्पूर्णतया अहिंसक होकर स्थित है।

दोहा— हुतो जो कहनो हरि कहे भयो न भारत चेत।
जिमि सदगुरु बिभु सामने तउ कोउ रहत अचेत॥ ६८ (क)॥

[महाराज तो देख रहा है कि] भगवान नारायण को जो कुछ भी कहना था उन्होंने कह दिया तो भी महात्मा अर्जुन को चेत नहीं हुआ; जैसे सद्गुरु भगवान सामने ही रहते हैं तो भी कोई-कोई शिष्य प्रमाद के कारण उन्हें पहचान नहीं पाते।

ब्रह्मादिक सुर सक्ति सँग सिद्ध अपर नभ माहिं।
लखि प्रभु कर उदघोषणा पुनि पुनि सीस नवाहिं॥ ६८ (ख)॥

उस समय आकाश मण्डल में अपनी-अपनी शक्तियों के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता तथा अन्य जो भी सिद्ध थे, वे भगवान नारायण की ऐसी उद्घोषणा देख बारम्बार शीश झुकाकर प्रणाम करने लगे।

चौपाई— पुनि प्रभु स्वयंहिं ब्रह्म लखाये। ब्यास मुनिहु पुनि पुनि सिर नाये॥
उत संजय नत होइ हरष चित। भाग्य सराहि कहत राजन हित॥

भगवान नारायण ने पुन: स्वयं को ब्रह्म के रूप में ही प्रकाशित कर दिया, ऐसा सुनकर व्यास मुनि ने भी बारम्बार प्रणाम किया। उधर सञ्जय ने भी हर्षित चित्त से प्रणाम करके अपने सौभाग्य की सराहना करते हुए राजा धृतराष्ट्र के लिए हितकारक वचन कहे।

धृतराष्ट्रहु भाषत मन मारे। संजय मम सुधि तुम्हहु बिसारे॥
नहिं राजन कहि जाय न सोई। कमलनयन माधव कह जोई॥

उधर धृतराष्ट्र भी खिन्न मन से कहने लगे कि सञ्जय! तूने भी मेरी सुध-बुध लेनी बन्द कर दी। सञ्जय ने कहा- नहीं राजन् नहीं! कमलनयन भगवान माधव ने जो कहा है वह कहते नहीं बनता।

सुनि न सकउ तुम्ह जाहि सुनाऊँ। मैं सुनि सुनि उर अतिहिं अघाऊँ॥
कह नृप मेरो पाप लखाऊ। जो कछु भयो सो मोहिं सुनाऊ॥

क्योंकि जिसे मैं सुनाऊँगा उसे आप सुन नहीं सकेंगे जबकि मैं उसे सुनकर हृदय में अत्यन्त तृप्त हो रहा हूँ। तब राजा ने कहा- जो कुछ हुआ उसे मुझे सुनाकर मेरे पापों को प्रकट करो।

सुनु नृप पुनि मधुसूदन गावत। अपुनें महँ सब जगत दिखावत॥
अपनोइ छाया जगत बतावत। नभ सुर सिद्ध ब्यास हरषावत॥

तब सञ्जय ने कहा- हे नरेश! सुनें, एक बार पुनः भगवान मधुसूदन अपने आप में ही समस्त जगत को स्थित बता रहे हैं तथा जगत को अपनी छाया बता रहे हैं; जिसे सुनकर आकाश मण्डल में स्थित देवता, सिद्ध तथा महर्षि वेदव्यास आदि [अत्यन्त] हर्षित हो रहे हैं।

दोहा— ऐसो सत्य लखाय प्रभु चितवत अर्जुन नैन।
ठहरउ राजन जनु लगै ते कछु बोलत बैन॥ ६९॥

ऐसा सत्य दिखाकर भगवान अब अर्जुन के नेत्रों में देखने लगे हैं। ठहरें राजन्! ऐसा लग रहा है कि वे जिज्ञासामय वचन बोलना चाहते हैं।

चौपाई— हे प्रभु तव पद कमल नमामी। एहि महँ मैं कछु बिनवउँ स्वामी॥
मन संयम जेहि भाँति करन हित। कहे साक्षि सम रूप धरन हित॥

[सञ्जय की दृष्टि सच निकली] महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! मैं आपके कमलवत् चरणों में प्रणाम कर रहा हूँ और इस विषय में आपसे कुछ प्रार्थना कर रहा हूँ कि आपने जिस प्रकार मन को संयमित करके साक्षी और सम-शान्त रूप धारण करने को कहा है-

ऐसो होइ सकत नहिं नाथा। मन चंचलता नासइ माथा॥
मन सम काहु बलिष्ठ न जानउँ। एहि सम हठी न चंचल मानउँ॥

हे नाथ! ऐसा तो हो ही नहीं सकता क्योंकि मन की चंचलता स्मृति को छिन्न-भिन्न कर देती है। अतः मन के समान मैं किसी को भी बलवान नहीं समझता और न ही इसके समान किसी को हठी और चंचल ही मानता हूँ।

मथत चित्त इंद्रिन्हिं छन माहीं। भगत सिद्ध कोउ देखत नाहीं॥
करि न सकत ज्यों पवन अधीना। त्यों याके सन्मुख सब दीना॥

यह क्षण भर में इन्द्रियों एवं मन को मथ देता है। यह भक्त एवं सिद्ध किसी को नहीं देखता अर्थात् किसी को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार पवन को वश में नहीं किया जा सकता उसी प्रकार इसके सम्मुख सभी अत्यन्त दीन हैं।

मैं तू करि बहु जनम गँवायो। मूरख मन संतोष न पायो॥
एहि नित नूतन लगी दुरासा। सकल लोक भ्रमि मिली निरासा॥

इसने मैं और तू करते हुए बहुत-से जन्मों को व्यतीत कर दिया है तो भी इस मूर्ख मन को सन्तोष नहीं हुआ। इसे नित्य नई अशुभ आशाएँ लगी रहती हैं किन्तु उनके लिए समस्त लोकों में भ्रमण करते रहने पर भी इसे निराशा ही हाथ लगी है।

सुनि सुख स्वर्ग रसातल भूतल। धावत बइठत नहिं एकउ पल॥
काम क्रोध मद लोभ आग तें। जरत रहत निज करम भाग तें॥

यह सुनकर कि स्वर्ग में विशेष सुख है, रसातल या पृथ्वी पर विशेष सुख है दौड़ता-फिरता है एक पल के लिए बैठता नहीं है। इस प्रकार यह काम, क्रोध, मद, लोभरूपी आग से एवं कर्म तथा भाग्यरूपी आग से जलता रहता है।

सुत तनया बनिता सँग सुख लहि। सुमिरत एकउ पल नहिं हरि गहि॥
ताहि कहहु प्रभु संयम करने। याहि परी नित बिषयन्हि चरने॥

यह मन पुत्री, स्त्री, पुत्र के साथ मिलकर सुख भोगता रहता है, एक पल के लिए भी भगवान के शरण हो भजन

नहीं करता। हे नाथ! आप उस मन को वश में करने को कह रहे हैं जबकि इसे तो विषय भोगों को ही सदा भोगने की लगी रहती है।

इनि कारन प्रभु मन मुसुकाहीं। जावन देउँ बिपिन तोहिं नाहीं॥
सहज मधुकरी करनो लागे। यति बनि साधन सों मन भागे॥

[महात्मा अर्जुन के द्वारा ऐसी बात सुनकर] भगवान मन ही मन मुस्कुराने लगे कि इन्हीं कारणों से मैं तुम्हें वन नहीं जाने दे रहा हूँ; क्योंकि संन्यासी बनकर भिक्षाटन करना तो सहज लगता है किन्तु [तुम्हारे जैसे लोगों का] मन साधना से तो भागता ही है।

निरखि सिथिल होवत अर्जुन पन। हँसत ठठाय जु महाराज मन॥
भलो भयो बन गयों न सोचत। प्रभु कहनो अब तिन्ह अति रोचत॥

महात्मा अर्जुन की [वनगमन की] प्रतिज्ञा को शिथिल होता देख, महाराज का भी मन खिल-खिलाकर हँसने लगता है। वे (भक्त अर्जुन) सोच रहे हैं कि अच्छा हुआ मैं वन को नहीं गया। उन्हें अब भगवान मधुसूदन का कहना अत्यन्त प्रिय लग रहा है।

दोहा— महाराज कह सहज अति यति बननो गृह त्यागि।
पालन यति धर्महिं कठिन अरु ता महँ अनुरागि॥ ७०॥

महाराज का कहना है कि घर त्यागकर संन्यासी बनना तो अत्यन्त सहज है परन्तु संन्यास धर्म का पालन और उसमें प्रीति का होना अत्यन्त कठिन है।

चौपाई— मात्र परंतप प्रस्नहिं नाहीं। जग साधक ऐसोइ कहाहीं॥
पर मन रूप जानि जो जावे। ताके बस यह सहज लखावे॥

एकमात्र महात्मा अर्जुन का ही प्रश्न ऐसा नहीं है अपितु जगत के समस्त साधकों के द्वारा भी ऐसा ही कहते देखा गया है; परन्तु जो मन के स्वरूप को जान जाता है उसके वश में होते हुए इसे सहज ही देखा गया है।

जदपि प्रथम किरीटि सिव ध्याये। पंचाक्षर जपि ध्यान लगाये॥
प्रगटाये प्रभु अवढर दानी। पसुपतास्त्र पाये मनमानी॥

यद्यपि महात्मा अर्जुन ने पूर्व में भगवान शिव का स्मरणकर पंचाक्षर मंत्र (ॐ नमः शिवाय) का जप करते हुए ध्यान लगाया है और अवढर दानी भगवान को प्रकट करके मनचाहे वर के रूप में पाशुपतास्त्र भी प्राप्त किया है-

अतिहिं कठिन वासों यह ध्याना। मोहग्रसित नहिं करि सक पाना॥
जो सब चह तेहि सर्ब समर्पित। करनो परे न होवे गर्वित॥

किन्तु उससे यह ध्यान अत्यन्त कठिन है; क्योंकि मोह से ग्रसित पुरुष इसे धारण नहीं कर सकते। जो सर्वस्व अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति चाहता है उसे सम्पूर्ण समर्पण अर्थात् स्वजन, कुटुम्ब, धन, मान-सम्मान एवं सम्पूर्ण जगत को समर्पित करना पड़ेगा और उसमें भी समर्पण का अभिमान नहीं करना होगा।

मन न बचत ताकर कोउ अपनो। जासे होय नाम हरि जपनो॥
मधुर मरम यह सदगुरु जाने। जेहि सिष्यहिं दे सोइ पहिचाने॥

अरे! उसका तो कोई अपना कहा जानेवाला मन भी नहीं बचता है जिससे भगवान के नाम का जप हो सके। इस मधुर रहस्य को तो सद्गुरु ही जानता है तथा जिस शिष्य को इसे प्रदान करता है वही इसे जान पाता है।

दोहा— प्रभु तेहि मरम छुपाइ उर होइ अतिहिं गम्भीर।
कहि कौन्तेय महाभुज हरत भगत उर पीर॥ ७१॥

प्रभु उसी रहस्य को हृदय में छिपाकर अति गम्भीरता के साथ 'हे कौन्तेय! हे महाबाहो!' कहकर [प्यार करते हुए] अपने भक्त के हृदय का शोक-सन्ताप दूर करने लगे।

चौपाई— एक मंत्र महँ दूइ उपाधी। प्रभु कहि ऐसो सक्तिहिं साधी॥
जासें हिय उत्साह भरावे। हृदय छुद्रता दूर परावे॥

भगवान ने यहाँ एक ही वाक्य में दो उपाधियों से सम्बोधित करके ऐसी शक्ति का संधान किया है जिससे

उनके हृदय में उत्साह भर जाये और हृदय की क्षुद्रता भी नष्ट हो जाये।

गुडाकेसता इंद्रियजयता। मन निर्मल सुर नर मुनि प्रियता॥
ये सब गुन प्रलंब भुज सोहें। यासेइ कह प्रभु मम मन मोहें॥

उनकी गुडाकेशता, जितेन्द्रियता, मन की निर्मलता एवं देवताओं, मनुष्यों तथा सन्तों के प्रति प्रेम आदि ये सब गुण ही उनकी महत् भुजाओं के रूप में शोभायमान हैं, इसी से भगवान कह रहे हैं कि ये [तुम्हारी विशाल भुजाएँ] मेरा मन मोह रही हैं।

कहि कौन्तेय मनहु प्रभु कहहीं। कुंती माँ कर मन बस अहहीं॥
चरित अनिंदित अति सुचि जासू। चिंता काह होइ सुत तासू॥

'हे कौन्तेय!'- ऐसा कहकर मानो भगवान कह रहे हैं कि माता कुन्ती का मन तो उसके वश में हो गया है जिसका चरित्र अत्यन्त अनिंदित एवं निर्मल है, तुम उसी के पुत्र हो तो फिर कैसी चिन्ता?

वाने तोहिं दिब्य जन्माई। थोरेउँ जतन न मन कहुँ जाई॥
सच चंचल मन मान्यों भाई। पर बिराग उर जाहि सुहाई॥

उसने तुम्हें दिव्य रूप में प्रकट किया है अतः थोड़े प्रयास से ही तुम्हारा मन कहीं भटक नहीं सकता। हे प्रिय! सच में मन चंचल है इस बात को मैं मानता हूँ परन्तु जिसके हृदय में तीव्र वैराग्य सुशोभित होने लगता है-

दोहा— इत उत मन नहिं जाय पुनि ताहि सुलभ अति योग।
पर जेहिके बस नाहिं सो ताहि भोगावे भोग॥ ७२॥

तो पुनः मन इधर-उधर नहीं जाता उसके लिए ध्यानयोग अत्यन्त सरल है; किन्तु जिसके वश में वह नहीं है उसको तो अत्यन्त दुःख देता रहता है।

चौपाई— देहिं मुहर प्रभु मन बस होवे। सुनि साधक प्रमाद उर खोवे॥
साधकगन प्रभु कहनो सुनहू। पुनि बहु भाँति हृदय महँ गुनहू॥

'मन वश में होता है'- इस पर भगवान ने अपनी मुहर लगा दी ऐसा सुनकर साधक का हृदय प्रमादरहित हो जाना चाहिए। हे साधकगण! भगवान के इस कथन को सुनकर हृदय में भलीभाँति विचार करें।

समुझ्यों जोइ सुनायों सोई। सोई करहु तुम्हहिं प्रिय जोई॥
इहइ बस्तुतः सच मन तुम्हरै। तुम्ह जहँ चाहउ तहँ तहँ बिचरै॥

मैंने जो समझा है वही आपको सुनाया है और अब वैसा ही करें जैसा आपको अच्छा लगे। वस्तुतः यही सत्य है कि आज भी आपका मन जहाँ भी आप चाहते हैं, वहाँ-वहाँ ही जाता है।

यासेइ तो कह दीन दयाला। बिनु बिराग मन रहइ बिहाला॥
को अस सुर नर मुनि गंधर्बा। किन्नर नाग असुर जे सर्बा॥

इसी से तो दीनों पर दया करने वाले भगवान कह रहे हैं कि बिना [निर्मल] वैराग्य के मन चंचल ही रहेगा। [महाराज तो यहाँ तक कह रहा है कि] देवताओं, मनुष्यों, ऋषियों, गन्धर्वों, किन्नरों, नागों तथा असुरों में ऐसे [हृदयवाला] कौन है-

अंतर्यामी हिय नहिं भावे। महाराज दृढ़ अनुभव गावे॥

जिसको हृदय में अन्तर्यामी भगवान प्रिय नहीं लगते तो महाराज अपना यह अनुभव दृढ़ निश्चय के साथ कहता है कि-

सोरठा— सोइ पावत मन धाय इनि महँ जग सों जो चहै।
योग लहै हरषाय तजै जो सबरीं कामना॥ ७३॥

इनमें से जो कोई जगत में जो कुछ भी चाहता है वह उसमें मन लगाकर उसी को प्राप्त कर लेता है। अतः जो मन से समस्त कामनाओं को त्याग दे तो प्रसन्नतापूर्वक इस ध्यानयोग [के माध्यम से अपने अभीष्ट (आत्मस्वरूप)] को प्राप्त कर सकता है।

चौपाई— तिन्ह महँ जाय न मन गुनि सपनो। तहिं जाये जेहि मानत अपनो॥
मानि सपन होइ सहज बिरागा। निज मानत मन आवत रागा॥

यदि उन [विषय-वस्तुओं] को स्वप्न का समझ ले तो उनमें मन जा ही नहीं सकता क्योंकि यह तो वहीं जाता है जिसे अपना मानता है। इस प्रकार [समस्त विषयादिकों को] स्वप्नरूप जानने से उसे सहज ही [उनसे] वैराग्य हो जाता है। यदि किसी को 'यह अपना है'- ऐसा मान रहे हैं तो मन में मोह (आसक्ति) हो ही जाता है।

स्वजन केरि चिंता दिन राती। नित ध्यानहिं ते जारैं छाती॥
जिनसों लेनो देनो नाहीं। मन नहिं जाय कबहुँ तिन्ह पाहीं॥

[सच पूछा जाय तो] सभी को स्वजनों की ही चिन्ता दिन-रात लगी रहती है इसी से ध्यान में भी वे सदा कष्ट देते रहते हैं, किन्तु जिनसे कुछ लेना-देना नहीं होता उनकी ओर तिरछी दृष्टि से भी मन नहीं देखता।

अपर नगर जिमि कबहुँ सिधारो। जहँ परिचित कोउ नाहिं तुम्हारो॥
करहु ध्यान तहँ मनहिं लगाई। पुनि निरखहु कहँ जावै धाई॥

जैसे आप कभी किसी अन्य नगर में जायँ जहाँ आपका कोई परिचित नहीं है वहाँ आप प्रेमपूर्वक मन से ध्यान करने बैठें और तब देखें कि आपका मन भागकर कहाँ-कहाँ जा रहा है।

तहँ कर सुरति आय कोउ नाहीं। तहुँ मन आय जे अपुन कहाहीं॥
नहिं मानहु यदि काहुहिं अपनो। पुनि सुमिरहु जनु भा कोउ सपनो॥

[आप देखेंगे कि] वहाँ का तो कोई याद आयेगा नहीं बल्कि वहाँ भी वे ही मन में आयेंगे जो अपने कहे जाते हैं। यदि आप किसी को अपना मानना छोड़ दें फिर उन्हें [ध्यान के समय] याद करें तो लगेगा कि आप कोई स्वप्न देख रहे हैं।

दोहा— होय बहुरि बैराग्य नहिं तौ झूठो महराज।
दयानिधान दुराय जो अब खोल्यो तिन्ह राज॥७४॥

फिर भी यदि आपको सबसे वैराग्य न हो तो [निश्चित ही] महाराज झूठा सिद्ध होगा। इस प्रकार भगवान ने जो कुछ भी [महात्मा अर्जुन से] छिपा लिया है उन्हीं रहस्यों को महाराज ने अब प्रकट कर दिया है।

चौपाई— मैं सरीर तू मेरो तेरो। मन स्वरूप यहि उर किय डेरो॥
जगत भावना असत कहावे। मन स्वरूप यहि सास्त्र बतावे॥

'मैं शरीर हूँ, तुम भी शरीर हो; यह मेरा है, यह तुम्हारा है'- यही मन का स्वरूप है जो हृदय में बसेरा किये हुए है। जगत भाव ही असत् है, शास्त्र इसी को मन का स्वरूप बताते हैं।

मैं जन्म्यों कछु काल मरेंगो। मन स्वरूप यहि नाम धरेंगो॥
यह पायों अरु पइहौं ताही। मन स्वरूप मैं गावहुँ याही॥

मैंने जन्म लिया है और कुछ काल में मरूँगा- मैं इसी भावना को मन की संज्ञा प्रदान करता हूँ। उसी प्रकार मैंने यह पाया और वह पाऊँगा- मैं इसी को मन का स्वरूप कहता हूँ।

ते अस किये महूँ अस कीन्हों। मन स्वरूप जस तस कहि दीन्हों॥
बस्तु ज्ञान पर होय न जबलौं। मन चंचल नासै नहिं तबलौं॥

मैंने उनके साथ ऐसा किया और उन्होंने मेरे साथ ऐसा किया [ऐसा मानना ही मन कहलाता है]- इस प्रकार मन का स्वरूप यथार्थ में जैसा है, वैसा मैंने कह दिया। जब तक कि विषय-वस्तु का यथार्थ ज्ञान न हो जाय तब तक चंचल मन का नाश नहीं हो सकता।

मन चंचल नहिं नासत तबलौं। बिषय बासना जाय न जबलौं॥
बिषय बासना जाय न जबलौं। तत्वज्ञान होवे नहिं तबलौं॥

[उसी प्रकार] चंचल मन का तब तक नाश नहीं होता जब तक [सम्पूर्णता से] विषय-वासना नहीं जाती तथा जब तक [सम्पूर्णता से] विषय-वासना नहीं चली जाती तब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता।

दोहा— तत्वज्ञान बिनु छुटइ नहिं हृदय ग्रंथि निःसेष।
तेहि छूटे बिनु मिलत नहिं सकल जगत अवसेष॥ ७५॥

और यथार्थ ज्ञान के बिना सम्पूर्णता से हृदय ग्रंथि (चिज्जड़ ग्रंथि) नहीं खुल सकती और उसके छूटे बिना जो समस्त जगत का अवशेष अर्थात् वासस्थान है वह [ब्रह्म] प्राप्त नहीं हो सकता।

चौपाई— सब जानत जननी सुत मरतो। ताकर हृदय आह बस भरतो॥
खाय न दिवस न सोवै राती। रुदन करति पीटति बहु छाती॥

सभी जानते हैं कि यदि किसी माँ का बच्चा मर जाता है तो उसका हृदय एकमात्र आहें भरता रहता है। वह दिन में न खाती है न रात में सोती है, बस छाती पीट-पीटकर रोती रहती है।

हृदय परम प्रिय गयो दुकाई। ताकर मन बस वामेइ जाई॥
जा दिन एहि बिधि प्रभु प्रिय लागे। जगत बासना सबरेउ भागे॥

[कारण कि] उसके हृदय का परम प्रिय पुत्र तो [सदा के लिए] ओझल हो गया, अतः उसका मन एकमात्र उसी में लगा रहता है। जिस दिन भगवान आपके हृदय को इसी प्रकार प्रिय लगने लगेगा उसी दिन जगत की समस्त वासनाएँ चली जायेंगी।

कोउ माँ बाँझ रहन नहिं चावे। बरु दुख कोटि अनंत उठावे॥
पर सो बाँझ कहाय न भाई। जाके उर महँ बस यदुराई॥

[आप सभी जानते ही हैं कि] कोई भी माँ बाँझ नहीं रहना चाहती, भले ही अपार दुःखों को ही क्यों न सहन करना पड़े; परन्तु वह [माँ किसी भी स्थिति में] बाँझ नहीं कही जा सकती जिसके हृदय में भगवान नारायण का वास हो।

जो नहिं यतनसील प्रभु लाने। संतति हीन ताहि बस जाने॥
पुनि सोइ आत्मघाति बड़ पापी। सोइ अस्पृस्य जगत संतापी॥

अतः जो भगवत् प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं है उसे ही एकमात्र निःसन्तान समझना चाहिए। पुनः वही आत्महत्यारा और अतिशय पापी है तथा सर्वथा त्याज्य और जगत को दुःख देने वाला है।

दोहा— देखत छाया ताहि की लागत है बहु पाप।
संगति ताकी देति जू जनम मरन संताप॥ ७६॥

उसकी छाया देखने से भी बहुत पाप लगता है तथा उसकी संगत तो जन्म-मरणरूपी क्लेश प्रदान करती है।

चौपाई— अब अर्जुन एक प्रस्न उठावहिं। जो सच बहु लोगन्हि उर आवहिं॥
सुनहु नाथ जो योग पिपासू। त्यागि बिषय भयो योगाभ्यासू॥

अब महात्मा अर्जुन ने भगवान के सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया जो सच में बहुत-से लोगों के हृदय में [कभी न कभी] प्रकट होता ही रहता है कि हे कृपानिधान! आप मेरा यह निवेदन सुनें कि जो योग का जिज्ञासु विषयों का त्याग करके योगाभ्यासी हो गया है-

श्रद्धा अति पर सिथिल प्रयासा। अंतकाल मन भयो उदासा॥
जासे मिलि न योग सिधि साँईं। तब का गिरत जगत की खाईं॥

और अत्यधिक श्रद्धा से युक्त है किन्तु शिथिल प्रयत्न वाला होने के कारण अन्तकाल में उसका मन [योगाभ्यास से] विचलित हो गया जिससे उसे योगसिद्धि प्राप्त न हो सकी तो हे प्रभो! क्या वह [पुनः] जगतरूपी महान खाई में ही गिर जाता है?

इक तौ सब तजि योग अराध्यो। पर न बिघ्न सों ज्ञानहिं साध्यो॥
कहुँ धोबी स्वानहिं जस हाला। घर न घाट कर भयो बेहाला॥

क्योंकि एक तो सर्वस्व का त्यागकर योगमार्ग में अति प्रेमपूर्वक प्रवृत्त हो गया किन्तु विघ्न के कारण पूर्णज्ञान को प्राप्त नहीं किया, तो कहीं उसकी स्थिति धोबी के कुत्ते के समान तो नहीं हो जाती जो विवश होकर न घर का होता है, न घाट का?

जिमि बादल बरसें बिनु नष्टत। ब्रह्ममार्ग सों सोउ का भ्रष्टत॥

जिस प्रकार बादल बरसे बिना ही नष्ट-भ्रष्ट होते देखा जाता है उसी प्रकार क्या वह ब्रह्ममार्ग से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ?

सोरठा— सुर नर मुनि कोउ नाहिं मम संसय जो मेटि सक।
करुणानिधि तेउ आहिं सच तुम्हरी ही सरन महँ॥ ७७॥

हे करुणानिधि! देवताओं, मनुष्यों तथा मुनियों में ऐसा कोई भी नहीं है जो मेरे इस संशय को दूर कर सके; क्योंकि वे सब भी तो समाधान के लिए दौड़कर आपकी ही शरण में आते हैं।

चौपाई— यहु प्रिय प्रस्न जगत हित आयो। महाराज सँग सबहिं सुहायो॥
कछु साधक बहु आयु बिताई। यती होत निज गृह बिसराई॥

[महात्मा अर्जुन के द्वारा] यह प्रिय प्रश्न भी जगत के कल्याण के लिए ही है जो महाराज के साथ-साथ सभी को प्रिय लग रहा है; क्योंकि कुछ ऐसे साधक होते हैं जो बहुत सी आयु व्यतीत हो जाने के उपरान्त संन्यास ग्रहणकर घर-बार का परित्याग कर देते हैं-

ध्यानयोग धारें हरषाई। मग बिच मन चंचलता छाई॥
ऐसोहु होय जरठपन आयो। लाग्यो रोग योग बिसरायो॥

और प्रसन्नता के साथ [भगवान के द्वारा दिये इस] ध्यानयोग को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु योगसिद्धि के मार्ग में ही मन चंचल हो उठता है। ऐसा भी होता है कि वृद्धावस्था आने या रोग लग जाने से ध्यानयोग छूट जाता है।

अबहिं ध्यान पूरन नहिं होयो। तबहिं प्रान तन पिंजरो खोयो॥
पुनि का होय नष्ट यह योगा। जेहि हित छाँड़ि दियो सब भोगा॥

अथवा अभी ध्यानयोग पूर्ण हुआ ही नहीं कि तभी प्राण ने शरीररूपी पिंजड़े का परित्याग कर दिया। तो क्या यह योग नष्ट हो जाता है जिसके लिए उसने सम्पूर्ण विषय-भोगों का परित्याग कर दिया था ?

देखउँ कछुक कहत मन मारे। बस महँ नहिं अब ध्यान हमारे॥
बिषय भोग महँ समय गँवायों। चौथेपन संन्यासहिं धायों॥

मैं तो कुछ लोगों को उदास मन से यह कहते देखता हूँ कि अब यह ध्यानयोग सिद्ध करना हमारे वश की बात नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण आयु तो हमने विषय-भोग में व्यतीत कर दी और अब चौथेपन (वृद्धावस्था) में संन्यास ग्रहण किया है।

दोहा— अब का होवे ध्यान सिधि रहनो जग कछु बर्ष।
करि सक अब भव पार गुरु हृदय न मम दुख हर्ष॥ ७८॥

जगत में [जब] कुछ ही वर्ष रहना है तो अब क्या ध्यान सिद्ध होगा ? अब तो मुझे मेरे गुरुदेव भगवान ही भवसागर से पार लगा सकते हैं, ऐसा सोचकर मेरे हृदय में न हर्ष है न विषाद ही।

चौपाई— उत जब अर्जुन कहत कृपालहिं। मेरो नाहिं कोउ प्रतिपालहिं॥
तुम्हसेइ संसय दूर कराऊँ। कबहुँ ध्यान महँ मनहिं रमाऊँ॥

उधर जब महात्मा अर्जुन कृपालु भगवान से कह रहे हैं कि [हे प्रभो!] मेरा तो कोई रक्षक है नहीं, अतः आपसे ही मैं अपने संशय का निवारण करवा रहा हूँ जिससे मैं भी कभी ध्यानयोग में मन लगाऊँ।

अस सुनि प्रभु मन अति हरषाने। मोरेइ सरण भयो अब माने॥
कह प्रभु नाहिं परंतप ऐसो। तेरे उर भयो संसय जैसो॥

ऐसा सुनकर भगवान मन ही मन अति प्रसन्न हुए और अब उन्होंने मान लिया कि यह अब मेरी शरण में आ गया है। तब भगवान नारायण ने कहा कि नहीं नहीं परंतप! ऐसा कुछ भी नहीं है, जैसा तुम्हारे हृदय में यह संशय प्रकट हुआ है।

या जग वा जग नाहिं नसावे। ध्यान अंततः प्रभुहिं मिलावे॥
करम निकाम न कबहुँ नसावे। अपितु कबहुँ सो भरम मिटावे॥

क्योंकि इस ध्यानयोग का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही बल्कि [एक न एक दिन] यह ब्रह्म से मिलन करा के ही रहता है। हे तात! कोई भी निष्काम कर्म कभी नष्ट नहीं होता अपितु वह कभी न कभी सम्पूर्ण संशय को दूर कर ही देता है।

होय न दुर्गति ता कर कबहूँ। सहस बरष बीते किन जबहूँ॥
त्यागि तनहिं सो स्वर्गहिं जावे। जहँ सुख सो कछु काल बितावे॥

उस योगी की तो कभी दुर्गति हो ही नहीं सकती भले ही हजारों वर्ष क्यों न बीत जायें। वह तो शरीर त्यागकर दिव्य स्वर्ग को चला जाता है जहाँ कुछ समय सुखपूर्वक व्यतीत करता है।

दोहा— पुनि जनमत श्रीमान गृह जहँ बैदिक ब्यवहार।
सुमिरत तहँ सों ध्यान पुनि जहँ सों भा संघार॥७९(क)॥

उसके उपरान्त वह पुण्यवानों के घर में जन्म लेता है जहाँ वैदिक आचार-विचार एवं व्यवहार की प्रधानता रहती है और वहाँ पर वह पुनः वहीं से ध्यानयोग में लग जाता है जहाँ से उसका ध्यान समाप्त हुआ था।

अथवा जहँ निष्काम प्रिय जोगी जनमे आइ।
तस गृह जन्मत जोगि सो दुर्लभ जनम कहाइ॥७९(ख)॥

अथवा जहाँ निष्कामता प्रिय योगी आकर जन्म लेते हैं वैसे घर में आकर वह योगी जन्म लेता है जो जन्म अति दुर्लभ कहा जाता है।

चौपाई— ध्यानयोग पावत तहँ सोई। पूर्ब अधर महँ लटक्यो जोई॥
तहँ बचपन सों ध्यान अराधे। देह मनहिं अति सीघ्रहिं साधे॥

वहाँ वह उसी ध्यानयोग को [सहज में ही] प्राप्त कर लेता है जो पूर्व जन्म में बीच में छूट गया था। वहाँ बचपन से ही वह ध्यानयोग के अभ्यास में लग जाता है तथा अति शीघ्र ही शरीर एवं मन को अपने वश में कर लेता है।

दिन द्वौगुन चौगुन निसि माहीं। ध्यान होय जनु दौड़त जाहीं॥
रह्यो बिषय बिबसहु कोउ योगी। पूर्ब बीज सों होय बियोगी॥

उसका ध्यानयोग दिन में दोगुना और रात्रि में चारगुना होने लगता है मानो वह दौड़ता जा रहा हो। यदि कोई योगी विषय के वशीभूत भी रहा हो तो भी वह पूर्व के संस्कार से [अति शीघ्र ही] वैराग्यवान हो जाता है।

ध्यान सुजस जब ऐसो गायो। ज्ञान महत तासोहुँ कहायो॥
सो ज्ञानी आतम जिज्ञासू। जाको होय न कबहुँ हरासू॥

जब ध्यानयोग की महिमा ऐसी गायी गयी है फिर ज्ञानयोग तो उससे भी श्रेष्ठ कहा गया है और यदि उसमें रमण करने वाला वह आत्मजिज्ञासु यति जिसको कभी हताशा नहीं होती,

सब्द ब्रह्म लाँघत बिभु पावे। तब एहि महँ का अचरजु आवे॥

शब्द ब्रह्म का अतिक्रमण कर ब्रह्मप्राप्ति कर लेता है तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है!

सोरठा— संचित करि संस्कार एहि प्रकार बहु जनम कर।
पाय परम पद सार अंत जनम निष्पाप होइ॥८०(क)॥

इस प्रकार [ध्यानयोग के माध्यम से] बहुत-से जन्मों के संस्कारों को संचित करता हुआ वह अन्तिम जन्म में निष्पाप होकर सबके सार परमपद (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है।

अब कहुँ आय न जाय जोग सिद्धि फल पाइ सो।
तहुँ अर्जुन हरषाय पालन कर मम बचन प्रिय॥८०(ख)॥

अब वह योगसिद्धिरूपी फल (आत्मज्ञान) प्राप्त कर न कहीं आता है न जाता है। [इसलिए] हे अर्जुन! तुम भी प्रसन्नतापूर्वक [इसकी प्राप्ति के लिए] मेरे कल्याणकारक वचनों का पालन करो।

चौपाई— महाराज सों कह कोउ भाई। सब्दब्रह्म यह काह कहाई॥
परम भक्त उद्धव हरि ध्याई। यहइ प्रस्न पूछे हरषाई॥

हे सज्जनो! महाराज से कोई भक्त आकर पूछता है कि 'शब्दब्रह्म' किसे कहा जाता है? इसी प्रश्न को परम

भक्त उद्धव ने प्रसन्नता के साथ भगवान से विनयपूर्वक पूछा था।

उनसों जो हरिराइ बखाने। सोइ कहउँ इहँ सुनहु सयाने॥
कह प्रभु जिनि बेदनि सों भाई। सब लेवें निज इष्ट मनाई॥

हे बुद्धिमानो! उनसे भगवान ने जो उत्तर दिया था वही यहाँ मैं भी कह रहा हूँ आप सब ध्यान देकर सुनें। प्रभु ने कहा- हे प्रिय! जिन वेदों के द्वारा सभी अपने-अपने भगवान को प्रसन्न कर लेते हैं-

सब्दब्रह्म तेइ बेद कहावें। जे निसदिन मेरोहि गुन गावें॥
ते मम दिब्य मूर्ति सुनु ताता। अति दुर्बोध सबहिं तिन्ह बाता॥

वे वेद ही शब्दब्रह्म कहे जाते हैं जो अहर्निश मेरा ही गुणगान करते रहते हैं। हे तात! सुनो, वे वेद मेरी ही दिव्य मूर्ति हैं किन्तु उनकी सभी बातें समझने में अति कठिन हैं।

बेदन्ह तीनि कांड मन गुनहू। ज्ञान कर्म उपासना सुनहू॥
जदपि कांड त्रय एकइ कहहीं। ब्रह्म आतमा भिन्न न अहहीं॥

इनमें 'कर्म, उपासना और ज्ञान' तीन काण्ड हैं, इसे आप अपने मन में समझ लें। यद्यपि वेद के तीनों काण्ड एक ही बात कहते हैं कि ब्रह्म और आत्मा में भेद नहीं है-

तउ समुझैं कोउ बिरले प्रानी। सब्दब्रह्म की यहइ कहानी॥

तो भी इस रहस्य को कोई विरले ही समझ पाते हैं- शब्दब्रह्म का यही रहस्य है।

छन्द— कस करहिं कर्म बिधान श्रुति निज कर्म कांड सों ध्याइके।
किनि सुरन्ह पूजन करन कहहिं उपासना महँ आइके॥
किनि अनुभुतिन्ह अनुबाद करि करँ ज्ञान माहिं बिकल्प अति।
तजि मोहिं नहिं कोउ बूझ उद्धव सब्दब्रह्म कि योइ गति॥

श्रुतियाँ (वेद) अपने कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ध्यानपूर्वक किस कर्म का विधान करती हैं, उपासनाकाण्ड से किन देवताओं की पूजा करने को कहती हैं तथा ज्ञानकाण्ड के द्वारा किन अनुभूतियों की प्रस्तावना करके अत्यन्त विकल्प खड़ा कर देती हैं- हे प्रिय उद्धव! यह मेरे सिवा कोई नहीं समझता। यही शब्दब्रह्म की कहानी है।

सच कहउँ उद्धव करमकांड सों मोहिं थापति श्रुति परम।
बहु सुरन्ह रूप सों मम पुजावतिं यहि उपासना कर मरम॥
गगनादि बस्तुन्ह सों जु मो महँ बिबिध बस्तुन्हि थापिके।
करि बहुरि तिन्हहिं निषेध मो गहि कर्मकांडहिं मापिके॥

मैं सच कहता हूँ उद्धव! ये श्रेष्ठ वेद कर्मकाण्ड के द्वारा मुझ ब्रह्म की ही स्थापना करते हैं, उपासना काण्ड से बहुत-से देवताओं के रूप में मेरी ही पूजा कराते हैं इसका यही रहस्य है तथा ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आकाश, वायु, अग्नि आदि तत्त्वों के द्वारा मेरे में नाना प्रकार की वस्तुओं की स्थापना करते हुए पुनः मात्र मेरी स्थापना करके कर्मकाण्ड का यथावत् खण्डन कर बहुत प्रकार से उनका निषेध भी कर देते हैं।

सोरठा— सर्ब ब्रह्म इति भाषि नेति नेति कहि नेति निति।
मोकोइ करि निज साखि सांत होतिं सब मोहिं महँ॥ ८१॥

ऐसा भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है, इस न्याय के अनुसार सबकुछ ब्रह्म ही है- ऐसा कहकर, मुझे ही अपने साक्षीरूप में खड़ा करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं।

नवाह्नपारायण, पाँचवाँ विश्राम

चौपाई— महाराज कह सुनहु सयानौ। गूढ़ मरम इक औरउ जानौ॥
जनु प्रभु कहत पार्थ तुम्ह योगी। जनम जनम लगि बिषय बियोगी॥

महाराज कहता है कि हे सज्जनो! सुनें, एक गूढ़ रहस्य और भी जान लें। मानो भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ!

तुम भी जन्म-जन्मान्तरों से सम्पूर्ण विषयों से विरक्त होने के कारण योगी ही हो-

तुम्हहिं न कछु अब ध्यान करन कौ। बस मम बचनन्ह सरन परन कौ॥
जो कछु कहउँ करहु हित जानी। तुम्हरि मुक्ति पन मैंने ठानी॥

इसलिए अब तुम्हें ध्यान करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है अपितु एकमात्र मेरे हितकारी वचनों की शरण में आ जाना है। अत: जो कुछ कहता हूँ उसे कल्याणकारक जानकर उसका पालन करो; क्योंकि मैंने तुम्हारी मुक्ति के लिए प्रतिज्ञा कर ली है।

योगिन्ह सदन तुम्हहिं प्रगटायों। समर जग्य महँ पुनि लै आयों॥
प्रलय कराइ आसुरन्हिं ताता। मुक्त करउँ पुनि तोहिं सच बाता॥

यही कारण है कि मैंने तुम्हें योगियों के घर में जन्माया है और पुन: [मुख्य यजमान बनाकर] इस समर-यज्ञ में ले आया हूँ। हे तात! इन समस्त असुरों का संहार कराकर तुम्हें [संसार-सागर से] मुक्त कर दूँगा, यह मेरा सत्य वचन है।

जानहु बर तपसिन्ह सों योगी। ज्ञानिन्हहू सों परम बियोगी॥
श्रेष्ठ परम सकाम कर्मिन सों। अरु सबरें सकाम धर्मिन सों॥

तुम यह जान लो कि कर्म के फलों से अनासक्त निष्काम कर्मयोगी सकामी तपस्वियों, शास्त्रज्ञानियों, सकाम कर्मियों एवं सकामभाव से धर्म का आचरण करने वालों से अति श्रेष्ठ होता है।

यासें तुम्ह योगी होइ जावहु। महाकाल बनि इन्हहिं नसावहु॥

इसलिए तुम योगी हो जाओ और महाकाल बनकर इन समस्त असुरों का नाश कर दो।

दोहा— करि श्रद्धा मोहिं सेवहीं पुरुष सकामी जोय।
उनसों जो बिनु कामना सेव योगि बर होय॥ ८२(क)॥

सकाम भाव से श्रद्धापूर्वक जो पुरुष मेरी सेवा करते हैं उनसे वह योगी श्रेष्ठ है जो निष्काम भाव से मेरी सेवा - आराधना में संलग्न है।

सोरठा— यहि मेरो मत पार्थ जेहि मानत सब योगिजन।
यासें तुम्ह परमार्थ करहु मानि मम बचन प्रिय॥ ८२(ख)॥

हे पार्थ! यही मेरा सिद्धान्त है जिसको सभी योगीजन मानते हैं। इसलिए मेरे कल्याणमय वचनों को मानकर तुम भी परमार्थ में लग जाओ।

चौपाई— प्रभु बचनामृत परम सुहावे। सुनि महराज हृदय जो आवे॥
कहत साधकनि बिच तेहि आई। अपुनि दीनता प्रभु प्रभुताई॥

भगवान नारायण के परम सुहावने अमृतमय वचनों को सुनकर महाराज के हृदय में जो कुछ प्रकट हुआ है अपनी उस दीनता और भगवान की भगवत्ता को साधकों के मध्य आकर कह रहा है।

प्रथम जो बैदिक गृह महँ जनमें। तहँ राखें बस प्रभु निज मनमें॥
जनम जनम निज योगी मानहिं। काहे सों एहि पथ पुनि आनहिं॥

[वह यह कि] सर्वप्रथम जो वैदिक व्यवहार वाले श्रीमानों के घर में जन्म लेते हैं और वहाँ अपने मन में भगवान को ही प्राप्त करने का लक्ष्य बनाते हैं वे स्वयं को जन्म-जन्म का योगी मानें; क्योंकि तभी तो पुन: [इस जन्म में] इस मार्ग पर चलना हो रहा है।

भयो मृत्यु कारण कै रोगा। पूर्ब जनम मम योग बियोगा॥
अस बिचारि पुनि पन दृढ़ लावें। ध्यानयोग गहि जग बिसरावें॥

मृत्यु अथवा भयंकर रोग के कारण पूर्व जन्म में मेरा योग से वियोग हो गया था ऐसा विचार करके वे [इस जन्म में] दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ पुन: ध्यानयोग अपनाकर संसार से विरक्त हो जायँ।

यति बनि तजि सब सुख ठकुराई। धाइ गहें सदगुरु सरनाई॥
दीक्षा ध्यान लेइ नित ध्यानें। त्यागि सबन्हि साधन मनमानें॥

[अतः गृहस्थाश्रम से] सर्वथा संन्यास लेकर सम्पूर्ण सुखों एवं अपने स्वामीपने का त्याग करके शीघ्रातिशीघ्र सद्गुरु की शरण में जायँ और ध्यानयोग की दीक्षा ग्रहणकर सम्पूर्ण मनमाने साधनों का परित्याग करके नित्य ध्यान में प्रवृत्त हो जायँ।

दोहा— कै योगिन्ह गृह कर जनम अपर जो दिब्य कहाय।
सोभति जहाँ दरिद्रता हरि किरिपा सों पाय॥ ८३(क)॥

अथवा जो दूसरा जन्म योगियों के घर में होता है जिसे पहले वाले से भी श्रेष्ठ कहा जाता है जहाँ दरिद्रता शोभायमान होती है, उसे भगवत् कृपा से प्राप्त करके-

सोचहु प्रथम जनम महँ अति सम्पति भइ रोग।
योग मध्य तामें फँस्यों जासें नास्यो योग॥ ८३(ख)॥

आप विचार करें कि प्रथम जन्म में अत्यधिक सम्पत्ति ही रोग बन गयी थी जिससे योगसिद्धि प्राप्ति के पहले ही उसी (धन-सम्पत्ति) में फँस गया था जिसके कारण योगभ्रष्ट होना पड़ा।

अब प्रभु कीन्हि कृपा महत धन ऐस्वर्य न दीन्ह।
योग मार्ग महँ काल जो याहि जनम लेइ लीन्ह॥ ८३(ग)॥

अब भगवान ने ऐसी महत् कृपा की है जो पहले से धन एवं ऐश्वर्य नहीं दिया, जो योगमार्ग में काल स्वरूप ही है उसे इस जन्म में ले लिया।

चौपाई— कृपा करें अब कृपानिधाना। जासों जानउँ सब ब्यवधाना॥
योगभ्रष्ट जनु मम पितु माता। यासों इन्ह सँग दीन्ह बिधाता॥

अब तो कृपानिधान मेरे पर कृपा करें जिससे [योग के] समस्त विघ्नों को पहचान लूँ। लगता है ये मेरे माता-पिता भी [पूर्वजन्म के] योगभ्रष्ट ही हैं, इसी कारण विधाता ने मुझे इन लोगों का संग दिया है।

पावन पुन्य मातु पितु जिन्हके। हुते ऋषी घर नहिं कछु तिन्हके॥
भास बिलास मातु पितु सारे। धन बिनु जियें आत्मसुख धारे॥

[जैसा कि] पावन और पुण्य, जिनके माता-पिता ऋषि थे, उनके घर में भी कुछ नहीं था। उसी प्रकार भास और विलास एवं उनके माता-पिता- ये सभी गरीबी में ही आत्मसुख को धारणकर जीवन व्यतीत करते थे।

बानप्रस्थ महँ रह ऋषि जोई। कछु सम्पति उन पहँ नहिं होई॥
भिक्षा माँगि खायँ उतनोई। जितनैं महँ जप तप ब्रत होई॥

[वैसे ही] वानप्रस्थ में जो भी ऋषि रहते हैं, उनके पास भी कुछ सम्पत्ति नहीं होती तथा उतनी ही भिक्षा माँगकर खाते-पीते हैं जितने में भलीभाँति जप, तप, व्रत हो जाय।

ऐसेइ बहुत भगत जग माहीं। होयँ दरिद्र न दुख मन माहीं॥
पर जग पूज्य भये मैं जानउँ। यासें अहो भाग्य निज मानउँ॥

इसी प्रकार जगत में बहुत से भक्त धनहीन होते हैं परन्तु उनके मन में दुःख नहीं होता। [इतना ही नहीं] बल्कि वे जगत में अति पूज्य भी हुए हैं- ऐसा मैं जानता हूँ। इसीलिए आज मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ [कि मेरे पास निर्धनता है]।

दोहा— चाहउँ मैं एहि जनम नहिं सुअन बिपुल धन मान।
आतम ध्यान करउँ नित लहउँ मुक्ति सुख खान॥ ८४॥

अब तो मैं इस जन्म में न पुत्र चाहूँगा, न अपार सम्पत्ति, न मान-सम्मान बल्कि सदा ही आत्मा के ध्यान में लगकर सम्पूर्ण सुखों की खान मुक्ति को प्राप्त करूँगा।'

चौपाई— महाराज अब सबहिं बुलाई। औरउ गुप्त मरम कछु गाई॥
जासे संसय होय न कोऊ। यति बनि नित्यहि प्रभु रत होऊ॥

अब सभी का आवाहन करके महाराज कुछ और भी गुप्त रहस्यों को प्रकट कर रहा है जिससे आपको कोई संशय न हो और संन्यास लेकर सदा भगवान के ध्यान में लगे रहें।

देख्यो जाय जगत महँ भाई। कोउ सुत ध्याव प्रभुहिं अधिकाई॥
तासों बैर करत पितु भाई। अतिहिं सतायँ न दुख उर आई॥

हे सज्जनो! जगत में ऐसा देखा जाता है कि कोई पुत्र भगवान के ध्यान में ही सदा रत रहता है इसी कारण उसके पिता एवं भ्रातृगण उससे वैर करते हुए अत्यन्त सताने लगते हैं तो भी उसके हृदय में किसी प्रकार का दु:ख नहीं लगता।

सो जानत मम पाप बिसाला। इन्ह महँ प्रगटि भयो मम काला॥
जब प्रतिकार पुरैं तब छोड़ें। भगत जानि मोसें मुख मोड़ें॥

क्योंकि वह जानता है कि मेरा महापाप ही इनके भीतर प्रकट होकर मेरा काल बना हुआ है और जब [उस पाप का] प्रतिकार पूर्ण हो जायेगा तब ये मुझे छोड़ देंगे तथा भगवान का भक्त समझकर उदासीन हो जायेंगे।

जिनि अघ निस्चित भोगन वारे। भोगउँ क्यों न नसैं इहँ सारे॥
होइ बहुरि गृह सों संन्यासी। ध्यान करउँ नित पद अबिनासी॥

जिन पापों को निश्चित ही भोगना होगा उन्हें मैं यहीं सहर्ष क्यों न भोग लूँ जिससे वे सर्वथा नष्ट हो जायें। पुन: घर से संन्यास लेकर सदा [अपने] अविनाशी स्वरूप का ध्यान करूँ!

दोहा— सुत सम पुत्री मातु पितु इन्ह महँ कोउ किन होइ।
प्रभु सन्मुख जो ध्यान रत बिपति ताहि सम सोइ॥ ८५॥

पुत्री, माता, पिता आदि में से कोई भी सदस्य क्यों न हो, यदि भगवान के लिए ध्यानरत होता है तो उसे भी उसी पुत्र के समान घोर आपत्ति-विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

चौपाई— कोउ ऐसो जो दुख गृह भोगी। होत यती परपंच बियोगी॥
सुतहिं सौंपि गृह कोउ तेहि त्यागत। निसदिन कानन प्रभु अनुरागत॥

उसी प्रकार कोई ऐसा भी होता है जो घर में ही दु:खों को भोगकर इस जगत प्रपञ्च को छोड़कर संन्यासी हो जाता है तथा कोई पुत्र को राज्य सौंप घर त्याग कर वन में जाकर सदा भगवान का ध्यान करता रहता है।

तस कोउ होय बिरहिनी मीरा। लोक लाज तजि उर धरि धीरा॥
छुटत कर्म बंधन बन जावे। याहि जनम महँ प्रभु पद पावे॥

वैसे ही कोई [माँ] विरहिणी मीरा के समान होकर लोक-लाज को त्याग हृदय में धैर्य धारण करती है और जब उसका कर्म-बन्धन छूट जाता है तो वह वन को जाकर इसी जन्म में ब्रह्मपद प्राप्त कर लेती है।

तुलसिदास सम कोउ तिय तानो। सुनि झट कानन जाय परानो॥
सोउ सफल यह अस निष्कामा। पावत रूप परम बिश्रामा॥

यह निष्काम कर्मयोग ऐसी महिमा वाला है कि कोई तुलसीदासजी जैसा पुरुष अपनी धर्मपत्नी के व्यंग्यबाणों को सुनकर झट से [संन्यास ले] वन को चला जाता है और वह भी अपने स्वरूप में परम विश्राम पाकर सफल हो जाता है।

कोउ सुत ध्रुव सम होइ तिरस्कृत। आपुहिं पितु सों जानि बहिष्कृत॥
अति गलानि चित कानन जावे। सोउ जप तप करि प्रभु पद पावे॥

वैसे ही भक्त ध्रुव के समान कोई पुत्र अपमानित होकर अपने आपको पिता द्वारा बहिष्कृत समझकर अत्यन्त ग्लानि भरे चित्त के साथ वन प्रदेश में चला जाता है और वह भी जप-तप करके प्रभु पद प्राप्त कर लेता है।

छंद— निष्काम योगि नसाय नहिं कहुँ जो भगत प्रहलाद सम।
कोउ अस्त्र सस्त्र न मारि सक अरु मारि सक नहिं कोउ यम॥
पावक जराय न जल डुबाय न मरुत मारे ताहि कौ।
महराज कह योगी बनउ सो कह कृपानिधि जाहि कौ॥

यदि कोई निष्काम योगी है तो उसका महात्मा प्रह्लाद के समान ही कभी नाश नहीं होता। उसे न कोई अस्त्र-शस्त्र मार सकता है और न किसी यमराज की ही सामर्थ्य है कि उसे मार सके; न उसे जल डुबो सकता है, न अग्नि

जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। अत: महाराज तो कहता है कि आप वैसे ही योगी बन जायँ जिसकी कृपानिधि भगवान ने भी प्रस्तावना की है।

सोरठा— प्रभु भाषे जेहि ध्यान करन लगहु तेहि आज सों।
मूँद लेहु दृग कान श्रेय मार्ग सच महँ यहइ॥ ८६॥

अत: भगवान ने जिस ध्यानयोग को कहा है, आज से ही उसे करने लग जायँ। इसके लिए [आप जगत से] आँख एवं कान मूँद लें [अर्थात् संन्यासी बन जायँ] यथार्थत: यही मार्ग परम कल्याणकारी है।

चौपाई— समर भूमि महँ पुनि मैं आवउँ। कृष्णचंद्र आनंदहिं ध्यावउँ॥
उन्हकी महिमा जानें ओई। मैं भाषउँ देखउँ जस सोई॥

अब मैं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का ध्यान करते हुए पुन: युद्धभूमि में आता हूँ। उनकी महिमा तो वे ही जानें; मैं तो वही कह रहा हूँ जैसा मुझे दिखायी पड़ रहा है।

जब प्रभु कहे पार्थ तू योगी। सुनि कछु बीरहु भये बियोगी॥
प्रभु संकल्प करहिं ते सूनत। सुनि सुनि निज निज माथहिं धूनत॥

जब भगवान नारायण ने कहा कि हे पार्थ! तुम योगी हो ऐसा सुनकर कुछ योद्धाओं को भी [कुछ समय के लिए] वैराग्य हो गया। भगवान [महात्मा अर्जुन से बोलते समय] जिन-जिन के सुनने के लिए संकल्प कर रहे हैं, वे सुनकर अपना-अपना माथा पीटने लगते हैं।

द्रोण करण कृप भीष्म पितामह। मैं हतभाग्य कहें निज उर दह॥
मन महँ कछू युयुत्सू ठान्यो। तबहिं पांडवनि कै गुन गान्यो॥

वहीं द्रोणाचार्य, कर्ण, कृपाचार्य तथा भीष्म पितामह अपने हृदय में सन्तप्त होते हुए कह रहे हैं कि हम [अत्यन्त] भाग्यहीन हैं। युयुत्सु ने [अवश्य ही] मन में कुछ प्रतिज्ञा कर ली है तभी तो वह भगवान के साथ-साथ पाण्डवों का भी गुणगान करने लगा है-

धर्मराज सुनि धर्म दुहाई। आयेगो इन्ह पक्षहिं भाई॥
कछुक बात प्रभु सबहिं सुनावें। कछुक बात सबसोइ दुरावें॥

और [युद्ध प्रारम्भ होने पर] युधिष्ठिर की धर्म-दुहाई सुनकर इन्हीं के पक्ष में आ जायेगा। हे सज्जनो! कुछ बातें तो भगवान [संकल्पशक्ति से] सभी को सुनाते हैं और कुछ तो सभी से छिपा लेते हैं-

कछुक बात दस पाँचन्ह माहीं। प्रभु की इच्छा सों रहि जाहीं॥

और कुछ बातें भगवान की इच्छा से दस पाँच लोगों के मध्य ही रह जाती हैं।

दोहा— उत प्रभु सों सुनि पार्थ तुम्ह अहउ जोगि जग माहिं।
महि संजय नभ सिद्ध सुर जय जय कह हरि पाहिं॥ ८७॥

उधर हे अर्जुन! 'तुम इस जगत में योगी हो'- भगवान के द्वारा सुनकर धरा पर सञ्जय तथा आकाश मण्डल में स्थित देवता एवं सिद्धगण भगवान के लिए जय हो, जय हो, प्रभु की जय हो- ऐसा कहने लगे।

चौपाई— जानत सिद्ध संत सुर सारे। जनम जनम अर्जुन तप धारे॥
याहि जनम नहिं ध्यान करन कौ। बस एकइ बरदान धरन कौ॥

वे सभी सिद्ध, सन्त एवं देवगण [भलीभाँति] जानते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों से महात्मा अर्जुन योगी ही हैं। अत: इस जन्म में उनके लिए ध्यानयोग करने की आवश्यकता नहीं है अपितु [भगवान से] एकमात्र वरदान लेने का समय है।

युद्ध कराइ देइ बरदाना। प्रभु पुनि होवहिं अंतरध्याना॥
होत कछुक संतन्ह सँग योई। होनहार भारत सँग जोई॥

भगवान भी इनसे युद्ध कराकर वरदान दे पुन: अन्तर्ध्यान हो जायेंगे। इसी प्रकार कुछ सन्तों के साथ भी ऐसा ही होता है जैसा कि महात्मा अर्जुन के साथ होनेवाला है।

सदगुरु हाथ होय बरदाना। पाइ समय दें आतमज्ञाना॥
ताके पहिलें जो जेहि लायक। सोइ करायँ वासें यदुनायक॥

क्योंकि वरदान देना तो सद्गुरु के हाथ में ही होता है अत: समय पाकर वे आत्मज्ञान को ही वरदान के रूप में दे देते हैं। उसके पहले तो जो जिस योग्य होता है, भगवान नारायण उससे वही कराते हैं।

पुनि तेहि आत्मरूपता देई। निर्गुन निराकार कहँ जेई॥
सगुन ब्रह्म जग माहिं बनावहिं। जाके गुन सुर नर मुनि गावहिं॥

पुन: जिसे निर्गुण निराकार कहते हैं उस आत्मरूपता को देकर उसे जगत में सगुणब्रह्म बना देते हैं; जिसका चरित्र देवता, मुनिगण एवं मनुष्य गाया करते हैं।

दोहा— संजय गहरी स्वाँस लै कह नृप कहऊँ काह।
सुने आज सब मोहि सों तउ तव चित महँ दाह॥ ८८॥

[इधर] सञ्जय गहरी श्वास लेते हुए कह रहे हैं कि हे राजन्! [आप कुछ कहने को कहते हैं तो] क्या कहूँ? आज आपने मुझसे सब कुछ सुन लिया है तो भी आपके हृदय में जलन हो रही है।

चौपाई— नहिं संजय मोहिं बहुत सुहाये। पर मन मेरो हाथ पराये॥
अरु ललना मेरो बहु रूठो। तउ सच सच कस कहुँ तेहि झूठो॥

नहीं सञ्जय! [ऐसा नहीं है,] मुझे तो [सब] बहुत अच्छा लग रहा है, किन्तु [क्या करूँ?] मेरा हृदय दूसरे (दुर्योधन) के वश में है और मेरा पुत्र अत्यन्त खिन्न है तो भी सत्य तो सत्य है, उसे झूठ कैसे कहूँ।

नृपति बिबसता कैसोहु मानहु। सच निज प्रकृति बिबस प्रभु जानहु॥
यहु सुनु अर्जुन जनम जनम के। यती आतमा ब्रह्म परम के॥

हे राजन्! आप कैसी भी विवशता मानें किन्तु यह सत्य है कि भगवान तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) के वशीभूत हैं यह जान लें और यह भी सुन लें कि भक्त अर्जुन तो जन्म-जन्म के संन्यासी ही हैं तथा परब्रह्म परमात्मा की विशुद्ध आत्मा हैं।

ध्यान सुनायँ न इन कै लानें। जग हित केसव याहि बखानें॥
योगसिद्ध पारथ सँग पाँचौ। बस बर लेन आयँ जग साँचौ॥

भगवान केशव ने ध्यानयोग इनके लिए नहीं सुनाया है अपितु जगत कल्याण के लिए कहा है। अर्जुनसहित पाँचों भाई योगसिद्ध ही हैं और सच्ची बात तो यह है कि ये भगवान से मात्र वरदान लेने के लिए ही संसार में प्रकट हुए हैं।

असुर प्रलय इन्ह हाथ करावहिं। आत्मरूप देइ हरि हर्षावहिं॥
होइ अगुन पुनि अंतर्ध्याना। होइहैं जानहु महत सुजाना॥

अत: हे अत्यन्त बुद्धिमान राजन्! आप जान लें कि इन [पाँचों] के हाथों ही भगवान असुर समूह का संहार करायेंगे, उसके उपरान्त इन्हें प्रसन्न मन से आत्मस्वरूप का वरदान दे पुन: अन्तर्ध्यान होकर निर्गुण-निराकार हो जायेंगे।

दोहा— कह नृप यहु सुनु जाहि कर मोहिं होत अनुमान।
मेरो कुल श्रीमंत कर जेहि मुनि सबहि बखान॥ ८९॥

तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा- हे सञ्जय! अब इसे भी सुनो जिसका मुझे अनुमान हो रहा है! मेरा कुल भी श्रीमानों का ही कुल है जिसका सभी मुनिगण बखान करते हैं।

चौपाई— एहि महँ सब जोगी प्रगटाये। जासे मोहिं सबहि अति भाये॥
भीष्म पितामह कोउ बड़ जोगी। जो सब भोगन्ह परम बियोगी॥

मेरे इस कुल में सभी योगियों ने ही जन्म लिया है जिसके कारण मुझे सभी अत्यन्त प्रिय लगते हैं। भीष्म पितामह तो कोई महान योगी ही हैं जो समस्त विषयों से सदा उदासीन ही रहते हैं।

अति योगिनि कुंती गंधारी। कबहुँ न भईं दोउ संसारी॥
पांडुहु मम भ्राता अति ध्यानी। जान्यों आज हुतो बड़ ज्ञानी॥

कुन्ती और गान्धारी भी कोई श्रेष्ठ योगिनी ही लग रही हैं क्योंकि दोनों कभी भी संसार में आसक्त नहीं हुईं। उसी प्रकार आज समझ में आ गया है कि मेरा भाई पाण्डु भी अत्यन्त ध्यान परायण और महत् ज्ञानवान [कोई सन्त] ही था।

कबहुँक जोगी सच दुर्योधन। यासों पायो आज महत धन॥
संजय कह राजन सच नाहीं। तव सुत योग सकाम कहाहीं॥

[और हे सञ्जय!] सच पूछो तो [मेरा प्रिय] दुर्योधन भी किसी समय का योगी ही है इसी से तो आज महान वैभव को प्राप्त किया है। ऐसा सुनकर सञ्जय ने कहा- हे राजन्! यह सत्य नहीं है; क्योंकि आपके पुत्र का योग तो सकाम कहा जायेगा।

जो जप तप निष्कामहि ध्यावे। नृपति सोइ सच योगि कहावे॥

क्योंकि हे राजन्! जिसके द्वारा जो जप, तप एवं ध्यान निष्काम किया जाता है, वही यथार्थ में योगी कहा जाता है।

दोहा— जोग जाग जप तपहिं जो होय न प्रभु के हेतु।
तेहिकर फल सब नसत जिमि तुहिन गिरे ससि खेतु॥९०॥

[हे राजन्!] जो योग, जप, तप [यथार्थ में] भगवान के निमित्त नहीं होता; उसका फल तो समय पर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे ओले गिरने से खेत की फसल।

चौपाई— सोचत मन नृप अतिहिं सयाने। मधुसूदन गति जाइ न जाने॥
उन्हके कहे महूँ इक जोगी। योगभ्रष्ट मन तब क्यों रोगी॥

इधर अत्यन्त चतुर राजा धृतराष्ट्र मन ही मन सोच रहे हैं कि मधुसूदन की लीला तो जानने में आती नहीं है। उनके कहे अनुसार तो मैं भी [पूर्व जन्म का] एक योगभ्रष्ट योगी ही हूँ, फिर मन मोह-ग्रस्त क्यों है?

अवसि भयो कोउ बड़ अपराधा। पूर्ब जनम महँ सोइ बन बाधा॥
जासों जाय न सुत बित ममता। आय न उर महँ मुदिता समता॥

अवश्य ही पूर्व जन्म में मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है और वही बाधा बन गया है जिसके चलते पुत्र और धन का मोह नहीं जा रहा है तथा हृदय में प्रसन्नता और समता प्रकट नहीं हो रही है।

देखउँ एहिकर का परिनामा। भयो होयगो यदि निःकामा॥
कछु दिन माहिं बिपिन महँ जाई। लहुँ सोइ ध्यानयोग हरषाई॥

अब मैं देखता हूँ कि इसका क्या परिणाम होता है? यदि थोड़ा-सा भी मुझसे निष्काम कर्म हुआ होगा तो कुछ ही दिन में [ऐसा अवसर आयेगा कि] मैं वन को चला जाऊँगा और उसी ध्यानयोग को प्रसन्नता पूर्वक प्राप्त कर लूँगा।

संजय कह सच गुनउ नृपाला। मनहुँ रच्यो ऐसो प्रतिपाला॥
योगभ्रष्ट योगी रन माहीं। आयँ दैव बस तेउ बच जाहीं॥

तब सञ्जय ने [उनके मन की बात जानकर] कहा- हे प्रजापालक! आप सत्य ही विचार कर रहे हैं। [ऐसा लग रहा है] मानो सबके रक्षक भगवान ने भी ऐसा ही विधान रचा है कि जो योगभ्रष्ट योगी [इस] युद्धभूमि में आ गये हैं, वे भी दैववश बच जायेंगे।

दोहा— अपर बीरगति पायँ सब जोगी जोइ सकाम।
निज स्वरूप लहि महत बर पावहिं जो निष्काम॥ ९१॥

जो भी [पूर्व जन्म के और इस जन्म के] सकाम योगी हैं, वे सभी वीरगति [अर्थात् स्वर्ग] को प्राप्त कर लेंगे और जो निष्काम पुरुष हैं वे अत्यन्त महान वरदान प्राप्त करके अपने स्वरूप को पा जायेंगे।

चौपाई— कह नृप संजय अब यदुराई। काह कहत सो देउ सुनाई॥
अर्जुन काह करत सुनि ऐसो। मधुसूदन तासों चहँ जैसो॥

तब राजा ने कहा- सञ्जय! [देखो कि] अब यदुनाथ क्या कह रहे हैं वह मुझे सुनाओ; तथा अर्जुन ऐसा सुनकर क्या वैसा ही कर रहा है जैसा कि मधुसूदन उससे चाह रहे हैं?

नहिं राजन नहिं पार्थ करत अस। देखहिं प्रभुहिं बत्स धेनुहिं जस॥
तृप्त न भये ज्ञान पय पीये। जनु बरषा थोरेहुँ अवनीये॥

सञ्जय ने कहा- नहीं राजन्! नहीं! भक्त अर्जुन ऐसा कुछ भी नहीं कर रहे हैं, अपितु भगवान को ऐसे देख रहे हैं जैसे बछड़ा गाय को देख रहा हो और ज्ञानरूपी दूध पीने से अभी वे तृप्त नहीं हुए हैं जैसे थोड़ी वर्षा से पृथ्वी सन्तुष्ट नहीं होती।

अतिहिं सुहाय दिब्यतम झाँकी। प्रभु चितवनि लागति अति बाँकी॥
निरखहिं नृप जे ते बड़भागी। अस छबि देखि भगति उर जागी॥

[हे नरेश!] यह दिव्यतम झाँकी अत्यन्त शोभायमान हो रही है, भगवान द्वारा अर्जुन को निहारना भी अत्यन्त प्रिय लग रहा है। अत: जो इस समय इसका दर्शन कर रहे हैं वे अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं; क्योंकि भगवान की इस छवि को देखकर उनके हृदय में भक्ति जग गयी है।

महाराज तन मन पुलकाहीं। कहि जय चिदानंद हुलसाहीं॥

इधर महाराज का तन-मन भी अति पुलकित हो रहा है इसीलिए आनन्दित हृदय से जय हो!! हे सच्चिदानन्द! आपकी जय हो!! ऐसा कह रहा है।

छंद— महराज तन मन अति पुलक झाँकी सु निरखि सुहावनी।
जनु ब्रह्म प्रगटी भक्त सन्मुख भगति दै अति पावनी॥
निरखत अघाय न भक्त जनु पायो परम निधि रण महूँ।
का देउँ प्रति उपकार जग एहि सम न प्रिय भूषण कहूँ॥

इस अत्यन्त मनोहर झाँकी को देखकर महाराज का मन अत्यन्त पुलकित हो रहा है। मानो निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्त (अर्जुन) के सम्मुख प्रकट होकर उसे अपनी अनपायिनी भक्ति प्रदान कर रहा है। उसे देखकर भक्त भी तृप्त नहीं हो रहा है मानो उसने रणभूमि में ही परम सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। [भक्त अर्जुन सोच रहे हैं कि] इसके प्रत्युपकार में मैं इन्हें क्या दूँ क्योंकि जगत में इसकी तुलना में तो कहीं कुछ प्रिय वस्तु है ही नहीं!

सोरठा— ध्यानयोग करि गान महाराज आगे बढ़त।
वाकिहु मति ललचान प्रभु अर्जुन सों का कहत॥९२॥

इस प्रकार ध्यानयोग का वर्णन करके महाराज आगे बढ़ता है। उसकी बुद्धि भी [यह सुनने के लिए] ललच रही है कि भगवान मधुसूदन अर्जुन से आगे क्या कहने जा रहे हैं।

मासपारायण, सत्रहवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्याय: ॥ ६ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

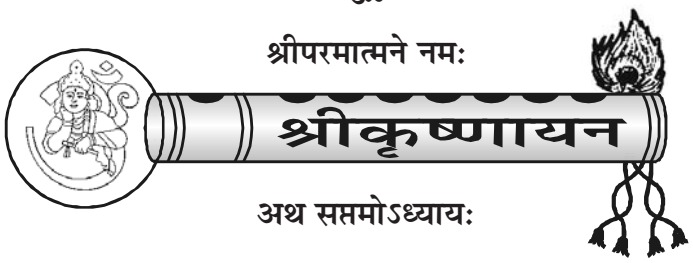

अथ सप्तमोऽध्यायः

मानति महाराज प्रभु वचनम्॥
यस्य वचनं मातु यशोदा मानति प्रीति पूर्वकम्।
येषां वचनान्गोप गोपिका मानन्ति कृत्वा अर्चनम्॥
येषां वचनान्सुर मुनि भक्ता मानन्ति हरि गुण रचनम्।
येषां वचनान्द्वारिकावासिनः मानन्ति तु अभ्यर्चनम्॥
यस्य वचनात् जातः आनन्दः पार्थस्य हृत् लोचनम्।
तस्य वचनात्मुञ्चत महाराजः सकल विधि बहु शोचनम्॥

महाराज तो एकमात्र भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के ही वचनों को मानता है। जिन प्रभु के वचनों को माँ यशोदा प्रेमपूर्वक मानती हैं, जिनके वचनों को व्रज की गोपियाँ एवं गोप अर्चना करते हुए मानते हैं, उन्हीं भगवान नारायण के वचनों को महाराज मानता है। जिनके वचनों को देवता, सन्त एवं भक्तगण आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना करते हुए मानते हैं तथा जिनके वचनों को द्वारिकावासी उनकी पूजा करते हुए मानते हैं, उन्हीं भगवान के अमृतमय वचनों को महाराज स्वीकार करता है। जिनके अमृतमय वचनों को सुनते-सुनते महात्मा अर्जुन के हृदयरूपी नेत्र अति आनन्द मग्न हो गये, उन्हीं भगवान के वचनों से महाराज अपनी सम्पूर्ण चिन्ताओं का त्याग करता है।

दोहा— परम उदार उदधि प्रभू भगत सरन जब आय।
बिकसत पंकज इव बदन धाइ लेहिं उर लाय॥ (क)॥

जब भक्त शरण में आता है तो उदारता के सागर भगवान का सदा प्रसन्न रहने वाला श्रीमुख, कमल के समान और भी खिल जाता है और वे अति वेग से दौड़ते हुए उसे पकड़कर हृदय से लगा लेते हैं।

बिमुखहु होवइ भगत कहुँ तउ देखत हरि आछ।
काटि देत भव पास तेहिं कटि कछनी दृढ़ काछ॥ (ख)॥

भगवान से भक्त यदि [कुछ समय के लिए] विमुख भी हो जाता है और पुनः शरण होकर भगवान की [अहैतुकी कृपा की] ओर देखने लगता है तो वे और भी दृढ़ प्रतिज्ञ होकर उसका भव-बन्धन काटने लगते हैं।

भगत बिरह कातर हरी आगे पीछे धायँ।
महाराज ते मूढ़ कस अस प्रभु समुझत बायँ॥ (ग)॥

करुणा सिन्धु भगवान भक्त के वियोग में अत्यन्त कष्ट से व्याकुल होकर उसके आगे-पीछे दौड़ते रहते हैं। महाराज कह रहा है कि वे लोग कैसे मूर्ख हैं जो ऐसे परम कृपालु भगवान को उलटा ही समझते हैं।

सोरठा— अति कृतज्ञ भगवान बिनु कारन जन हित करत।
अर्जुन कछु गए जान सोचहिं कस मम मूढ़ता॥ (घ)॥

भगवान तो अत्यन्त कृतज्ञ हैं जो बिना कुछ चाहे ही उपकार करते रहते हैं। अब भक्त अर्जुन ने भी उन्हें कुछ पहचान लिया है और सोच रहे हैं कि यह मेरी कैसी मूढ़ता है-

चौपाई— जो योगिन्ह महँ अंतरमन से। भजत अरपि प्रभु तन धन जन से॥
सोइ अतिसय प्रिय हरि के लाने। मोह बिपिन घन गयों भुलाने॥

कि समस्त योगियों में से जो योगी अन्तरमन से तन, धन, जन आदि समर्पित करके भगवद्भजन करता है वही भगवान के लिए अतिशय प्रिय है लेकिन मैं तो मोहरूपी गहन वन में ऐसा भूला हुआ था कि–

हुते जे निज हरि लगे पराये। हुते जे पर ते आपुन भाये॥
जिमि पतंग करि दीप मिताई। जग सों जावे प्रान गँवाई॥

जो भगवान अपने थे, वे पराये प्रतीत हो रहे थे और जो [स्वजन] पराये थे, वे अपने प्रतीत हो रहे थे। जिस प्रकार पतंग दीपक से मित्रता करने के कारण प्राणों से हाथ धोकर जगत से चला जाता है–

तिमि हुति मोरी स्वजन मिताई। जासे मैं बिसर्‌यों हरिराई॥
दसा हुती पिंजर सुक जैसी। जस कोउ सिखव करत सो तैसी॥

उसी प्रकार मेरी स्वजनों से मित्रता हो गयी थी जिससे मैं भगवान को ही भूल गया था; [यह कैसी विचित्रता है]। मेरी दशा तो पिंजरे के तोते के समान हो गयी थी जिसे कोई जैसा भी सिखा देता है वह वैसा ही करता है।

पर जब छुटत मिलत कुल अपनो। गृह सदस्य भूलत जिमि सपनो॥
तिमि पहिचानि आज हरिराई। आयों सरन सबहिं बिसराई॥

परन्तु जब वह [पिंजरे से] छूटकर अपने कुटुम्ब से मिलता है तो [पिंजरे वाले] घर के सदस्यों को सपने की भाँति भूल जाता है; उसी प्रकार मैं आज भगवान को पहचान सबको भुलाकर उनकी शरण में आ गया हूँ ।

दोहा— अंतरजामी कृपानिधि जानि पार्थ उर बात।
प्रेम मगन अस निरखत मनहुँ बिलोकति मात॥ १॥

अन्तर्यामी कृपानिधि भगवान महात्मा अर्जुन के मन की बात जानकर प्रेममग्न हो उन्हें ऐसे देख रहे हैं मानो कोई माँ [अपने बालक को] देख रही हो।

चौपाई— सोचहिं एहि उपदेसउँ ऐसे। मन मति चित्त लगावे जैसे॥
कह प्रभु तात न कछु उर आनहु। अब मोहिं परम हितैषी जानहु॥

वे सोच रहे हैं कि इसे ऐसा उपदेश करूँगा जिससे ये अपना मन, बुद्धि, चित्त मुझमें ही लगायेगा। भगवान ने कहा– हे तात! अब हृदय में कुछ अन्यथा विचार मत करो बल्कि मुझे अपना परम हितैषी जान लो।

मो महँ होइ आसक्त घनेरो। जस आश्रय तुम्ह पावहु मेरो॥
होइ योगरत जस मोहिं ध्यानहु। संसय रहित होइ यह जानहु॥

सर्वथा मुझमें ही आसक्त होकर जिस प्रकार तुम मेरा आश्रय प्राप्त करोगे तथा जिस प्रकार सदा योगरत हो मेरा ध्यान करते हुए संशयरहित होकर यह जानोगे कि–

बल बिभूति ऐस्वर्यरूपमय। अरु कस अहऊँ सर्बरूपमय॥
इन्ह सबकर तोहिं ज्ञान कराई। दउँ बिज्ञान समेत बताई॥

मैं बल, विभूति एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के साथ समस्तरूपों वाला कैसे हूँ, इन सबका मैं तुम्हें ज्ञान कराकर सम्पूर्ण विज्ञान के साथ [अर्थात् अनुभव के साथ] बताऊँगा।

जेहि जानत कछु जानन लाने। साधन सेष न बचत सयाने॥

हे बुद्धिमान्! जिसे जान लेने पर कुछ अन्य जानने के लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

दोहा— अगम अगोचर जदपि मैं मन मति बानी पार।
पर जो ज्ञान लखावऊँ वासें लखु मो सार॥ २॥

यद्यपि मन, वाणी और अन्यान्य इन्द्रियों से परे होने के कारण मुझे जानना कठिन है परन्तु मैं जो ज्ञान बताऊँगा उसके द्वारा सबके सार तत्त्व मुझ परमात्मा को तुम सहज ही जान लोगे।

चौपाई— सब बिधि अगम मोक्षपद भाई। सिद्ध संत मुनि बेदहु गाई॥
सोइ सुलभ करिहउँ तुम्ह आजू। पुरवउँ जुग जुग कर तव काजू॥

हे प्रिय! मोक्षपद प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, ऐसा सिद्ध, सन्त, मुनिजन एवं वेद भी कहते हैं। उसी को आज मैं तुम्हारे लिए सुलभ करके युग-युग की साधना को पूर्ण कर दूँगा।

देख्यों जोइ दिखावउँ सोई। जो समुझ्यों समुझावउँ ओई॥
तुम्ह सर्बज्ञ याहि छन होवहु। मोह निसा महँ पुनि नहिं सोवहु॥

जो मैं देख रहा हूँ, वही दिखाऊँगा तथा जो समझ रहा हूँ, वही समझाऊँगा; [जिससे] तुम इसी समय सर्वज्ञ हो जाओगे और पुनः मोहरूपी रात्रि में नहीं सोओगे।

पुनि अस बिकल होउ नहिं कबहूँ। सबहि स्वजन मरि जावें तबहूँ॥
सहस मनुज महँ कोउ कोउ भाई। मम हित जतन करत हरषाई॥

फिर कभी भी इस प्रकार तुम व्याकुल नहीं होओगे, भले ही सारे के सारे स्वजन [इस युद्धभूमि में] मृत्यु को प्राप्त हो जायँ। हे बुद्धिमान! हजारों मनुष्यों में कोई-कोई ही मुझे प्राप्त करने के लिए प्रसन्नता के साथ नित्य यत्न करते हैं।

जतन करत तिन्ह सिद्धनि माहीं। तात कोउ बिरले मोहिं पाहीं॥
महाराज सुनि प्रभु प्रभुताई। तुम्ह संतन्ह बिच कह हरषाई॥

हे तात! उन यत्न करने वाले सिद्धों में से कोई विरला ही मुझ [परम आनन्द देनेवाले] को प्राप्त कर पाता है। महाराज भगवान की ऐसी प्रभुता सुनकर आप सन्तों के मध्य अत्यन्त प्रसन्न होकर कह रहा है।

दोहा— जिमि हीरक गुन जौहरी गावत गाहक पाइ।
तिमि अर्जुन पहिं प्रभु स्वयं ज्ञान प्रताप सुनाइ॥ ३॥

जिस प्रकार कोई जौहरी ग्राहक को पाकर हीरे के गुणों का बखान करता है उसी प्रकार भगवान स्वयं अर्जुन के सामने आत्मज्ञान की महिमा बता रहे हैं।

चौपाई— मोल बिना कोउ बस्तु न आहीं। मोल लगत जब सबहिं बिकाहीं॥
सच काहुहि महिमा बिनु जाने। होति न श्रद्धा कहत सयाने॥

जैसे बिना मूल्य की कोई वस्तु नहीं है परन्तु उचित मूल्य लगने पर सभी वस्तुएँ बिक जाती हैं। वैसे ही दक्ष पुरुष कहते हैं कि किसी की यथार्थ महिमा जाने बिना उसके प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती।

श्रद्धा बिनु न कोउ कहिं जावे। बरु कोउ प्रिय हित मीत बुलावे॥
श्रद्धा बिनु न होय कोउ कर्मा। सुभ अरु असुभ स्वर्ग हित धर्मा॥

उसी प्रकार श्रद्धा के बिना कोई कहीं नहीं जाता भले ही प्रिय हित-मित्र ही क्यों न बुलावे। श्रद्धा के अभाव में कोई शुभाशुभ कर्म या स्वर्गादि के निमित्त किया जाने वाला धर्म-कर्म भी सम्पन्न नहीं होता।

श्रद्धा बिनु न खान पिन भावे। भलेइ खाय कै जगत खिलावे॥
श्रद्धा बिनु न एक पग कोऊ। मारग चलत दीख जग जोऊ॥

श्रद्धा के अभाव में खाना-पीना भी नहीं भाता भले ही वह स्वयं खाये या जगत को खिलाये। जगत में ऐसा कोई भी नहीं है जो श्रद्धा के अभाव में एक पग भी मार्ग पर चलता दिखायी दे।

सुर नर मुनि सब प्राणिन्ह माहीं। को अस जो श्रद्धा बिनु आहीं॥
जो अति प्रिय श्रद्धा तहँ होई। निसदिन तेहि हित धावत कोई॥

देवताओं, मनुष्यों, मुनियों तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में ऐसा कौन है जो श्रद्धा से रहित हो। श्रद्धा उसी के प्रति होती है जो अत्यन्त प्रिय लगता है और [तभी तो] कोई भी उसी के हित के लिए रात-दिन एक किये रहता है।

दोहा— श्रद्धा कोउ की जननि महँ कोउ की पितु महँ आहिं।
कोउ की तिय अरु पुत्र महँ काहुहिं बंधु सुहाहिं॥ ४ (क)॥

किसी की श्रद्धा माता में तो किसी की पिता में होती है और किसी की पत्नी अथवा पुत्र में तथा किसी को श्रद्धा के कारण भाई ही प्रिय लगता है।

श्रद्धा कोउ की मीत महँ काहुहिं सबहिं सुहाहिं।
कोउ की जाती देस महँ काहुहिं निज महँ आहिं॥ ४ (ख)॥

किसी की श्रद्धा मित्र में होती है तो किसी को सभी प्रिय लगते हैं, किसी की जाति, देश में तो किसी की स्वयं में श्रद्धा होती है।

चौपाई— श्रद्धा कोउ की तंत्र मंत्र महँ। कोउ की जोग जग्य सास्त्र महँ॥
कोउ की श्रद्धा देव पितर महँ। कोउ की श्रद्धा भूत प्रेत पहँ॥

किसी की श्रद्धा तंत्र-मंत्र में तो किसी की योग, यज्ञ एवं शास्त्र में होती है। किसी की श्रद्धा देवताओं-पितरों में तो किसी की भूत-प्रेतों में होती है।

कोउ की श्रद्धा महत मोक्ष महँ। जो सच मिलइ एक सदगुरु पहँ॥
परम सुभागी सो जग माहीं। जेहि श्रद्धा बस गुरु पग पाहीं॥

किसी की श्रद्धा महत् मोक्ष के प्रति होती है, जो सच में एकमात्र सद्गुरु के पास ही मिलता है। इसलिए जगत में वही सौभाग्यवान है जिसकी श्रद्धा एकमात्र सद्गुरु के श्रीचरणों में है।

यह सत अहइ प्रकृति की रीती। जेहि महँ जाकी साँची प्रीती॥
तेहि महँ सो आसक्त कहावत। तेहि हित तन मन प्रान गँवावत॥

प्रकृति का यह सत्य नियम है कि जिसमें जिसकी वास्तविक प्रीति होती है वह उसी में आसक्त हो जाता है और उसी के लिए तन, मन, प्राण न्योछावर कर देता है।

दोहा— यहइ कहत प्रभु पार्थ सों मो महँ होइ आसक्त।
जानि सकहु तुम्ह मोहिं जस कहउँ ज्ञान सोइ भक्त॥ ५॥

भगवान भक्त अर्जुन से यही कह रहे हैं कि हे प्रिय! तुम मुझमें आसक्त होकर मुझको जिस प्रकार जान सकोगे, मैं वही ज्ञान बता रहा हूँ।

चौपाई— अति आसक्त अहउ जिन्ह माहीं। उन्ह उर कबहुँ बास मम नाहीं॥
जिन्हकी सुरति बहुरि जनमावे। जुग जुग सरग नरक भरमावे॥

भगवान कह रहे हैं कि जिन लोगों में तुम्हारी अत्यन्त आसक्ति है उनके हृदय में तो मेरा कभी भी वास ही नहीं है जिनका स्मरण पुनः संसार में जन्म कराता है और युग-युगान्तर तक स्वर्ग-नरक में चक्कर लगवाता रहता है।

अस आतमपद कबहुँ न पावे। सांति सुमति सुख सपन न आवे॥
महाराज कह तुम्हसों भाई। निज आसक्तिहिं खोजहु धाई॥

इस प्रकार तो कभी भी आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती और स्वप्न में भी शान्ति, सद्बुद्धि एवं सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः हे प्रिय! महाराज कहता है कि आप प्रयत्नपूर्वक अपनी आसक्ति की खोज करें।

श्रद्धा जहँइ तहँइ आसक्ती। बहुरि होय कस प्रभु की भक्ती॥
भगति बिना प्रभु कबहुँ न द्रबहीं। तेहि बिनु गर्ब नसाय न कबहीं॥

जहाँ श्रद्धा होती है, वहीं आसक्ति भी होती है फिर भगवान की भक्ति कैसे हो सकती है? भक्ति के अभाव में भगवान कभी भी द्रवित नहीं होते तथा उनके द्रवित हुए बिना कभी भी अहंकार नष्ट नहीं होता,

गर्ब गये बिनु सर्ब न आवे। कीधौं जनम जनम कोउ धावे॥
नहिं कोउ बात सुनहु हरि बानी। जासों होय गरब की हानी॥

अहंकार का नाश हुए बिना सर्वस्व [ब्रह्म] की प्राप्ति नहीं होती, चाहे जन्म-जन्मान्तर तक कोई प्रयत्न क्यों न करता रहे। चलें कोई बात नहीं है, भगवान की वाणी सुनें जिससे आपके अहंकार का नाश हो सके।

सोरठा— प्रभु चाहत अस ज्ञान पार्थहिं दउँ निज रूप लख।
जायँ न पुनि ढिंग आन लहँ बिदेहता तन रहत॥ ६॥

भगवान तो महात्मा अर्जुन को अब ऐसा ज्ञान देना चाहते हैं जिससे वे अपने स्वरूप को देख लें [अर्थात् प्राप्त कर लें] तथा पुनः ज्ञानप्राप्ति के लिए किसी अन्य के पास न जायँ। इस प्रकार शरीर के रहते ही विदेहतारूपी सिद्धि प्राप्त कर लें।

चौपाई— सदगुरु एहि जग सोइ कहावत। जो सिष्यहिं निज रूप लखावत॥
नातरु सो पद महत लजावत। ठगइ जगत कहँ स्वयं ठगावत॥

सद्गुरु तो जगत में वही कहा जाता है जो सेवक को आत्मस्वरूप का बोध करा देता है, अन्यथा वह उस महत्

पद को लज्जित कर रहा है। वह जगत को तो ठग ही रहा है, स्वयं भी [प्रकृति के द्वारा] ठगा जा रहा है।

सदगुरु पद पर प्रभु अति सोहत। सिद्ध संत मुनि उर अति मोहत॥
जिमि बर जननि अंक सिसु धारी। मर्दति तेल दिवस त्रय बारी॥

सद्गुरु के पद पर भगवान अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं जिन्हें देखकर सिद्धों, सन्तों और मुनियों का हृदय अत्यन्त मुग्ध हो रहा है। जिस प्रकार श्रेष्ठ माता बालक को गोद में लेकर दिन में तीन बार तेल से उसके शरीर का मर्दन करती है।

जासे पुष्ट होयँ सब अंगा। दोष न बच रह कोउ अँग संगा॥
सोइ करहिं इहँ परम कृपाला। सब बिधि रक्षि पार्थ प्रतिपाला॥

जिससे समस्त अंग परिपुष्ट हो जायँ और साथ-साथ शरीर के किसी भी अंग में कोई दोष शेष न रह जाय। सबके रक्षक कृपालु भगवान यहाँ भक्त अर्जुन की हर तरह से रक्षा करके वही कर रहे हैं।

अबलगि पार्थ हरिहिं जिव जाने। हीत मीत भ्राता निज माने॥
प्रभुहु न अपुनो रूप लखाये। अब रन भूमि स्वयं प्रगटाये॥

महात्मा अर्जुन अभी तक भगवान को जीव ही समझ रहे थे तथा अपना हित-मित्र और भाई ही मान रहे थे। अत: भगवान ने भी अपना रूप नहीं बताया था किन्तु रणभूमि में अब अपने आपको प्रकट कर रहे हैं।

दोहा— पुनि सहसा कस बुझि सकैं पार्थ इनहिं भगवान।
निरबारहिं संसय सबहिं यासों कृपानिधान॥ ७॥

फिर महात्मा अर्जुन इन्हें सहसा भगवान कैसे समझ सकते हैं। इसी से कृपानिधान भगवान उनके समस्त संशय को दूर कर रहे हैं।

चौपाई— प्रथम बतावत माया रूपा। जासें जीव पर्‌यो भवकूपा॥
जो त्रिकाल महँ अहइ न भाई। भासति अस जस सिपि रजताई॥

सर्वप्रथम वे माया का स्वरूप बता रहे हैं जिसके कारण जीव संसाररूपी कुएँ में पड़ा हुआ है। हे प्रियजनो! जिस माया का त्रिकाल में अस्तित्व ही नहीं है, वह सीपी में चाँदी के समान प्रतीत हो रही है।

महि जल अनल मरुत नभ मति चित। अहमहु अस मम प्रकृति बिभाजित॥
अपरा नाम महत दुखदाई। जो बिद्युत सम लखि नहिं जाई॥

हे पार्थ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, बुद्धि, मन तथा अहंकार - यह [आठ प्रकार की] अपरा नाम की प्रकृति अत्यन्त दु:ख देने वाली है जो विद्युत के समान देखने में भी नहीं आती।

अरु एहि महँ सब जग भरमाहीं। धोखेइ धोखे महँ डहकाहीं॥
समुझि न परति बिषय रस गीधत। जीवन भर कोउ चाह न सीधत॥

सारा जगत इसी में भ्रमित हो रहा है एवं धोखे ही धोखे में ठगा जा रहा है। यह समझ में तो आता नहीं, तो भी सभी विषय-रस में डूबे हुए हैं किन्तु जीवनपर्यन्त किसी की सम्पूर्ण चाह पूरी नहीं होती।

मृगमरीचिका सम सच भासति। जीव मृगन्हि नित बहुबिधि फाँसति॥

यह मृगमरीचिका के समान सत्य प्रतीत होने वाली तथा समस्त मृगरूपी जीवों को सदा ही अनेक प्रकार से उलझाने वाली है।

दोहा— जिमि चपला चमकति अतिहिं छिन पल आवइ जाय।
तस मो महँ अपरा प्रकृति प्रगटि प्रगटि बिनसाय॥ ८॥

हे पार्थ! जिस प्रकार बिजली अत्यन्त चमकती हुई क्षण-क्षण में प्रकट होकर छिपती रहती है उसी प्रकार यह अपरा प्रकृति भी मुझ ब्रह्म में प्रकट हो होकर विलीन होती रहती है।

चौपाई— एहि बिधि परा जीव रुप आना। धारति जग जिमि सम्भु सुजाना॥
जीव सुद्ध साक्षी समरूपा। निर्बिकार अति अमल अनूपा॥

इस भाँति [मेरे ही अन्तर्गत] एक दूसरी जीवरूपा परा प्रकृति भी है जो परम शिव के समान इस सम्पूर्ण जगत

को धारण करती है। यह जीव नाम वाली परा प्रकृति शुद्ध साक्षी एवं सम रूप है तथा निर्विकार निर्मल एवं अनुपम भी है।

किंतु पवन जस अमल कहावे। तेहि महँ कबहुँ न गंध समावे॥
सोइ लै चलत जबहिं कोउ गंधा। तबहिं कहत अस कोउहु अंधा॥

जैसे वायु अत्यन्त निर्विकार है उसमें स्वप्न में भी किसी प्रकार के गन्ध की सम्भावना नहीं है किन्तु वही जब किसी भी गन्ध को साथ लेकर बहती है तो कोई अन्धा भी ऐसा कह देता है कि-

पवन बहत कबहूँ दुर्गंधित। कबहुँ बहत सो अतिहिं सुगंधित॥
ऐसोइ जीव रूप बनि जावे। गहत अबिद्या अज्ञ कहावे॥

कभी हवा अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होकर तो कभी अत्यन्त सुगन्धित होकर बह रही है। जीव का स्वरूप भी ऐसा ही होता है- जब वह अविद्या को धारण कर लेता है तो अज्ञानी कहा जाता है।

नाम रूप जब गह्यो उपाधी। जनम मरण बंधन भयो ब्याधी॥
परा प्रकृति यासों एहि कहई। जो अपरा सँग मोमें रहई॥

हे धनञ्जय! जैसे ही इसने नाम-रूप आदि उपाधियाँ धारण की, वैसे ही जन्म-मरणरूपी बन्धन और [ऐसी ही अनेक] व्याधियाँ प्रारम्भ हो गयीं। इसी से इसे परा प्रकृति कहा जाता है जो अपरा के साथ ही मुझ ब्रह्म में नित्य वास करती है।

इन्हिं दोउ प्रकृतिहिं योनि बतावउँ। इनहिं सों प्रगटत प्रानिहुँ गावउँ॥

इस प्रकार इन्हीं दोनों प्रकृतियों को मैं योनि (उत्पत्ति स्थान) कहता हूँ जिससे सभी भूत-प्राणी प्रकट होते हैं।

दोहा— यासें जग उतपति प्रलय मोमें मोसेइ होय।
मैं समस्त जग कारन अपर न कारन कोय॥ ९॥

इस प्रकार जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय मेरे द्वारा मेरे में ही होते हैं इसीलिए मैं ही सम्पूर्ण जगत का कारण हूँ, कोई अन्य कारण नहीं है।

चौपाई— महाराज हरि की सुनि भाई। याहि मरम सब कहइ बुझाई॥
मोसों आइ कहै कोउ ऐसे। पंचभूत जड़ बाँधहिं कैसे॥

हे भाइयो! महाराज अब भगवान की बातें सुनकर इन सबका मर्म समझाते हुए आशय बता रहा है कोई आकर मुझसे कहता है कि पाँचों तत्त्व तो जड़ हैं फिर किसी को कैसे बाँध सकते हैं?

तेहि संकेत समुझि मन रहहू। तन्मात्रा उन्ह की तुम्ह गहहू॥
सब्द परस रूपहु रस गंधा। जिन्ह कारन जग माया धंधा॥

उसी का आप यहाँ संकेत समझिये, वह यह कि पंचतत्त्वों की तन्मात्राओं को ही यहाँ ग्रहण करें; क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही ऐसे हैं जिनके द्वारा जगत में माया ने अपना जाल फैला रखा है।

तिन्ह सम मन मति हं संकेता। समुझहु तौ होवे चित चेता॥
मन कारण सच अहं दिखावहिं। मति हं बिज महतत्व बतावहिं॥

उन्हीं के समान मन, बुद्धि और अहंकार का भी संकेत समझ लें तो हृदय को अत्यन्त सन्तुष्टि होगी। यथार्थ में मन के कारण के रूप में भगवान यहाँ अहंकार की ओर संकेत कर रहे हैं और बुद्धिरूपी अहं का बीज महत्तत्त्व को बता रहे हैं।

महततत्व कारण अब्यक्ता। जो कहलाय अबिद्या युक्ता॥

तथा महत्तत्त्व का कारण अव्यक्त (परा प्रकृति जीव) है जिसे अविद्या से युक्त कहा जाता है।

दोहा— बिषयुत अन्न कहाय बिष आतम गति तस आहि।
जैसेइ सो गह बासना प्रकृती मूल कहाहि॥ १०॥

जिस प्रकार विष मिला हुआ अन्न विष ही कहा जाता है वैसी ही स्थिति चेतन आत्मा की है वह जैसे ही वासना को स्वीकार करता है वैसे ही मूल प्रकृति कहा जाता है।

चौपाई— एहि बिधि अहं हि मूल कहावे। यासेइ सबहि प्रबृत्ति लखावे॥
जनु अपरा प्रकृती सम धरनी। मिलत परा जल होय सुकरनी॥

इस प्रकार सबका मूल अहंकार ही कहा जाता है इसी से सबकी प्रवृत्ति देखी जाती है। मानो पृथ्वी अपरा प्रकृति के समान है और जब पररूप जल से मिलती है तो इसका सुपरिणाम होता है कि-

महि बहु औषधि तरु उपजावे। नाम रूप गनि पार को पावे॥
बास करत पावक महँ दोऊ। तहिं प्रबिसहिं जब परलय होऊ॥

पृथ्वी पर बहुत सी औषधियाँ और वृक्ष प्रकट हो जाते हैं जिनके नाम और रूप की कोई गणना ही नहीं कर सकता। इन दोनों (पृथ्वी और जल) का वासस्थान अग्नि है इसी से जब प्रलय होता है तो ये उसी में विलीन हो जाते हैं [अर्थात् अग्निरूप हो जाते हैं]।

मनहु प्रकृति अपरा जग नारी। पुरुष परा सम लखहु बिचारी॥
पुत्री पुत्र होयँ दोउ योगा। होय भलेइ दुइ दिन संयोगा॥

उसी प्रकार विचारपूर्वक देखें तो जगत की स्त्रियाँ मानो अपरा प्रकृति हैं और पुरुष परा प्रकृति के समान हैं; इन दोनों के योग से पुत्र-पुत्री प्रकट होते हैं, भले वह संयोग दो दिन का ही क्यों न हो।

दोउन्ह जनक अहं सच मानहु। तहीं जनमि तहिं प्रबिसहिं जानहु॥
यंत्र सकल अपरा जनु लागहिं। बिद्युत परा मिलत अनुरागहिं॥

किन्तु इन दोनों (स्त्री और पुरुष) का पिता यथार्थत: अहंकार ही है, अत: वे उसी में जन्म लेकर उसी में विवशतावश प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार समस्त [विद्युत सम्बन्धी] यंत्र अपरा के समान प्रतीत हो रहे हैं और विद्युतरूपी परा से मिलते ही [दोनों का परस्पर] अनुराग हो जाता है।

दोहा— रचित दोउ ते मनुज सों वासेइ बिनसत आहिं।
त्यों प्रकृती अपरा परा बिभु सों आवहिं जाहिं॥ ११॥

वे दोनों (यंत्र और विद्युत) मनुष्य के द्वारा ही निर्मित हैं तथा उसी के द्वारा नष्ट और पुनर्निर्मित होते हैं। उसी प्रकार अपरा और परा प्रकृति ब्रह्म से ही प्रकट होकर ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं।

चौपाई— अपरा जनु आतम जिज्ञासा। परा प्रकृति गुरु ज्ञान प्रकासा॥
दोउ मिलि आत्मज्ञान प्रगटावहिं। पाइ रूप सच नर हरषावहिं॥

उसी प्रकार आत्मजिज्ञासा मानो अपरा प्रकृति है और सद्गुरु का ज्ञान ही श्रेष्ठ परा प्रकृति है, इन दोनों के मिलन से आत्मज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप को पाकर पुरुष प्रसन्न हो जाता है।

जनु अपरा जप तप मधुराई। परा ध्यान बर अति गहराई॥
दोउ मिलि प्रभु दरसनहिं करावैं। ताहि समय बिभु महँ मिलि जावैं॥

[उसी प्रकार] जप, तप की मधुरता ही मानो अपरा प्रकृति है और अत्यन्त गहरे में लगनेवाला श्रेष्ठ ध्यान परा प्रकृति है ये दोनों मिलकर भगवान का दर्शन करातें हैं और उसी क्षण भगवान में ही विलीन हो जाते हैं।

अपरा प्रकृति निसा सम भाषउँ। परा प्रकृति बर दिवसहिं राखउँ॥
दोउ मिलन संध्या बर प्रगटत। ध्यानहिं धरत बिकारन्हि झटकत॥

[उसी प्रकार] अपरा प्रकृति को मानो रात्रि के समान कह रहा हूँ और परा प्रकृति को श्रेष्ठ दिन के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा हूँ। इन दोनों का मिलन ही श्रेष्ठ संध्या को प्रकट करने वाला है जिसमें ध्यान धारण करने पर यह समस्त विकारों को नष्टकर देता है।

ता महँ लगति समाधी भाई। जा महँ सब सुभ असुभ समाई॥
अपरा प्रकृति करम निष्कामा। सत संगति जनु परा सुधामा॥

हे प्रियजनो! उसी [संध्या] में समाधि लगती है जिसमें सभी शुभ-अशुभ संस्कार विलीन हो जाते हैं। [उसी प्रकार] निष्काम कर्म मानो अपरा प्रकृति और सन्तों का संग ही परा प्रकृतिरूपी प्रिय धाम हैं।

दोहा— दोउ मिलि एकहि रूप बनि आत्मज्ञान प्रगटायँ।
आइ ताहि सों दोउ पुनि तेहि महँ हर्षित जायँ॥ १२ (क)॥

दोनों मिलकर एक रूप हो आत्मज्ञान प्रकट कर देते हैं और उसी से दोनों प्रकट होने के कारण पुनः उसी में प्रसन्नतापूर्वक विलीन हो जाते हैं।

गृह आश्रम अपरा प्रकृति परा प्रकृति संन्यास।
दोउ मिलन अति दिब्यतम नहिं कोउ आश्रम भास॥ १२ (ख)॥

हे सन्तो! मानो गृहस्थाश्रम अपरा प्रकृति और संन्यासाश्रम परा प्रकृति है, इन दोनों का जब दिव्यातिदिव्य मिलन होता है तो किसी भी आश्रम की प्रतीति नहीं होती।

चौपाई— यासों अपरा प्रकृति निबारहु। स्वयंहिं ब्रह्म समुझि उद्धारहु॥
ममता मेघ मोह बरसावत। उर महँ काम नदी बहि धावत॥

इसलिए अब भी आप अपरा प्रकृति का त्यागकर, अपने को आत्मा जान स्वयं का उद्धार कर लें। [आप सब देख ही रहे हैं कि] ममतारूपी बादल मोहरूपी वर्षा कर रहा है जिससे हृदय में कामरूपी नदी वेग से बह रही है।

तेहि महँ कबहुँ डुबहु उतरावहु। देखउँ कबहुँ थाह नहिं पावहु॥
तेहि छन सदगुरु एक अधारा। सुमिरहु सोइ करइ भव पारा॥

उसमें आप कभी डूबते हैं तो कभी उतराते हैं। मैं देख रहा हूँ कि कभी भी आप उसकी थाह नहीं पाते। उस समय एकमात्र सद्गुरु ही सहारा होता है, उसी का आप स्मरण करें तो वही आपको पार उतार देगा।

राग द्वेष कर गरजत नारा। सूझत नाहिं करउँ कहँ पारा॥
दमकति उर अति तृष्णा दामिनि। जारति तन मन मति दिन जामिनि॥

[इतना ही नहीं] बल्कि राग-द्वेषरूपी नाले गर्जना करते हुए बह रहे हैं किन्तु समझ में नहीं आ रहा है कि कहाँ से पार किया जाय, वैसे ही हृदय में तृष्णारूपी बिजली कौंधती रहती है जो दिन-रात तन, मन एवं बुद्धि को जलाती रहती है।

अबहुँ भजहु नहिं क्यों करुनामय। दया करहिंगे आइ दयामय॥
उत अर्जुन सों कह यदुराई। का इत उत देखहु तुम्ह भाई॥

अतः अब भी आप अपने करुणामय प्रभु का भजन क्यों नहीं कर रहे हैं? वे दयालु अवश्य ही आकर दया करेंगे। उधर महात्मा अर्जुन से भगवान कह रहे हैं कि हे प्रिय! तुम इधर-उधर क्या देख रहे हो?

मोसों अपर न अंसमात्रहू। मास बरष जुग अहोरात्रहू॥
जिमि सुत मनी गुँथी सुत माहीं। तिमि मो महँ सब भूत गुथाहीं॥

अरे! मुझसे अंशमात्र भी भिन्न कुछ अन्य नहीं है, चाहे वे मास, वर्ष, युग और दिन-रात ही क्यों न हों। जिस प्रकार सूत्र में सूत्र की मणियाँ गुँथी हुई होती हैं उसी प्रकार ये सभी भूत समुदाय मुझ [ब्रह्मरूपी सूत्र] में गुँथे हुए हैं।

छंद— सुनु पार्थ ज्यों गूँथ्यो सकल जग मोय बिभु सुत महँ जहाँ।
रस नीर महँ ससि रबि प्रभा हौं सब्दहू नभ महँ तहाँ॥
सब बेद महँ हौं प्रणव महि महँ दिब्य गंध सों राजतो।
हौं तेज पावक महँ तपिन्ह महँ होइ तप बर भ्राजतो॥

हे पार्थ! सुनो, जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत जहाँ मुझ ब्रह्मरूपी सूत्र में गुँथा हुआ है, वहीं मैं जल में रस हूँ तो सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रकाश तथा आकाश में शब्द एवं समस्त वेदों में ॐ कार हूँ और धरा में दिव्य गन्ध के रूप में शोभायमान होता हूँ। मैं ही अग्नि में तेज तथा तपस्वियों में दिव्य तप होकर सुशोभित होता हूँ।

जीवन अहउँ सब भूत महँ मोहिं मूल कारन तिन्ह समुझ।
तेजस्विनन्हि कर तेज अरु मतिमान जे उन्ह मतिहु बुझ॥
बलसालि पुरुषन्हिं भरतबर बल काम राग सों रहित हौं।
पुनि सास्त्र सम्मत धर्मसंगत काम भूतनि महँ अहौं॥

मैं ही सम्पूर्ण भूतों का जीवन एवं उनका मूल कारण हूँ। मैं ही तेजस्वियों का तेज हूँ और जो बुद्धिमान हैं उनकी बुद्धि हूँ। हे भरतश्रेष्ठ! मैं ही कामना और आसक्ति से रहित बलशाली पुरुषों में बल हूँ तथा पुनः मैं ही समस्त भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र सम्मत काम (इच्छा या चाहना) हूँ; ऐसा तुम जानो।

दोहा— सत रज तम जे भाव उर होहिं मोहिं सों मानु।
सच उन महँ नहिं अहउँ मैं पर ते मोमें जानु॥१३(क)॥

[इतना ही नहीं बल्कि] जो सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुणमय भाव हृदय में होते हैं उन्हें भी मुझसे ही प्रकट हुआ मानो; परन्तु यथार्थ में मैं उनमें नहीं हूँ किन्तु वे मुझमें हैं, ऐसा जानो।

संजय सों सुनि नृप कहत अस कस समझ्यो जाय।
कै माधव यदि नहिं रहें तब सब जगत नसाय॥१३(ख)॥

सञ्जय के द्वारा [भगवान की] इन सब बातों को सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! यह कैसे समझा जाय कि यदुनंदन के नहीं रहने पर समस्त जगत का नाश हो जायेगा?

चौपाई— राजन क्यों न होइ सक ऐसो। अबहिं कहहिं मधुसूदन जैसो॥
अहहिं दयानिधि जो अब्यक्ता। प्रगटत निज रहस्य होइ ब्यक्ता॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! ऐसा क्यों नहीं हो सकता जैसा कि भगवान मधुसूदन ने अभी कहा है! जो दयानिधि अव्यक्त हैं वही अब व्यक्त होकर (साकाररूप में अवतार लेकर) अपना रहस्य प्रकट कर रहे हैं।

गुह्य रूप सों सो जहँ रहई। सोइ प्रभु इहाँ पार्थ सों कहई॥
सूत निकारे पट जस जावे। तिमि प्रभु निकरे जगत नसावे॥

इस संसार में वह ब्रह्म छिपे हुए रूप में जहाँ रहता है उसे ही प्रभु यहाँ पार्थ से कह रहे हैं। अरे! जिस प्रकार सूत्रों (धागों) के निकाल दिये जाने पर वस्त्र का अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार जगत में से भगवान के निकल जाने पर जगत कहीं नहीं बचता।

जस रस निकरत जल नहिं बाँचे। तस प्रभु निकरत जग नहिं साँचे॥
सब्द बिना जस गगन न आही। तस प्रभु बिनु कछु रहि नहिं जाही॥

जिस प्रकार जल से रस निकल जाने पर जल नहीं बचता, उसी प्रकार यथार्थ में [जगत में से] ब्रह्म के निकल जाने पर जगत नहीं बचता। जैसे शब्द के बिना आकाश नहीं रहता है वैसे ही ब्रह्म के बिना कुछ भी शेष नहीं रहता।

तेज बिना जस अनल न भावे। तस प्रभु बिनु कछु नाहिं लखावे॥
दीप्ति बिना रबि ससि कछु नाहीं। तस प्रभु बिनु सब जगत नसाहीं॥

जैसे तेज के बिना अग्नि की प्रतीति नहीं होती वैसे ही ब्रह्म के बिना कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। जैसे सूर्य एवं चन्द्रमा से सम्पूर्ण प्रकाश निकल जाय तो वहाँ कुछ भी नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्म के बिना सम्पूर्ण जगत नष्ट हो जाता है।

भूपति सच यहि सबन्हि कहानी। प्रभु महिमा कछु जाइ न जानी॥
कह नृप संजय तव मति बाँकी। ताहि बिरंचि मुदित मन टाँकी॥

हे राजन्! वस्तुतः समस्त भूतों की यही कहानी है। भगवान की महिमा को तनिक भी नहीं जाना जा सकता। राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है, [निश्चित ही] ब्रह्माजी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसका निर्माण किया है।

दोहा— तौ अब तुम्हहि बताउ बल काम राग बिनु काह।
कस हरि रह प्राणिन्ह हृदय धर्मयुक्त बनि चाह॥१४(क)॥

अच्छा तो अब तुम्हीं बताओ कि कामना और राग के बिना बल क्या है? सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय में माधव, धर्मसंगत काम (चाहना) के रूप में कैसे स्थित हैं?

जो कबहूँ नहिं मिलि सकै ताकी चाह नरेस।
करत कोउ तेहि चाह कहँ कहत काम हृदयेस॥१४(ख)॥

सञ्जय ने कहा- हे नरेश! यदि कोई पुरुष ऐसी वस्तु की कामना करता है जो कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती तो उसकी उसी कामना को अन्तर्यामी भगवान 'काम' कह रहे हैं।

चौपाई— हरि माया जो पकरि न जावे। ताकी चाह काम कहलावे॥
प्राप्त बिषय प्रति उर महँ प्रीती। राग कहाय सास्त्र अस नीती॥

ब्रह्म की माया (संसार का धन-मान आदि) कभी पकड़ में नहीं आती [प्राप्ति की अस्थायी प्रतीति मात्र होती है] इन पदार्थों की इच्छा को ही 'काम' कहा जाता है। प्राप्त विषय में हृदय का अत्यन्त प्रेम होना ही 'राग' कहा जाता है- ऐसी ही शास्त्र की भी सम्मति है।

काम राग बर्जित बल जोई। साधुन्ह हृदय बसत बिभु सोई॥
जो बल काम राग उपजावत। सो न कबहुँ हरि रूप कहावत॥

काम और राग से रहित जो बल (सामर्थ्य) है वही सज्जनों के हृदय में बसा हुआ भगवान का स्वरूप है किन्तु जिस बल से कामना और आसक्ति प्रकट होती है, वह (सामर्थ्य) कभी भी भगवान का स्वरूप नहीं कहा जाता।

हे नरेस जो प्रभु हित खावे। उन्हके काजैं प्रान बचावे॥
चाह जोइ प्रभु साधन कारन। सोइ चाह बिभु रूप उधारन॥

हे राजेन्द्र! जो भगवान के निमित्त ही खाता-पीता है, उसी के लिए जीवन धारण करता है तथा जो कुछ भी चाहता है, एकमात्र साधना के निमित्त ही चाहता है- वही कामना [संसार-सागर से] उद्धार करने वाली एवं भगवान का स्वरूप है।

उत नभ सुर कह सुनहु सुरेसा। रन महँ यह का कह हृदयेसा॥
सत रज तमस भाव सच जोऊ। सुर नर त्रिजग जोनि उर होऊ॥

उधर आकाश में देवतागण कहते हैं कि सुनें देवराज! अन्तर्यामी भगवान युद्धभूमि में यह क्या कह रहे हैं! वे तो ऐसा कह रहे हैं कि जो सतोमय, रजोमय एवं तमोमय भाव देवता मनुष्य एवं त्रियग्योनि वाले प्राणियों के मन में उठते हैं, सच में-

मो हरि सों ते प्रगटत सारे। मूढ़ कहहिं पर अहहिं हमारे॥

वे सभी मुझ ब्रह्म से ही प्रकट होते हैं परन्तु अज्ञानी कहते हैं कि ये हमारे हैं।

सोरठा— पुनि कस हमरो दोष मुनि तिय पुत्रिहिं छलि भगें।
करहिं सो काहे रोष हृदयभाव सब प्रभुहि जब॥ १५॥

फिर यदि हम ऋषि-मुनियों की पुत्री एवं पत्नियों से छल करते हैं तो इसमें हमारा क्या दोष है ? जब हृदय के समस्त भाव भगवान के ही हैं तो वे दु:खी क्यों होते हैं ?'

चौपाई— कह सुरेस चुप चुप सब भाई। महुँ अस गुनि बहु गयों ठगाई॥
याहि सोचि गौतम तिय पकर्‌यों। साप मिल्यो स्वर्गहु सों फिसर्‌यों॥

यह सुनकर देवराज इन्द्र ने कहा- अरे भाई! चुप रहो! चुप रहो! मैं भी ऐसा ही अर्थ लगाकर बहुत बार ठगा जा चुका हूँ। अरे! यही विचारकर मैंने महर्षि गौतम की धर्मपत्नी को पकड़ लिया था परिणामत: ऐसा शाप मिला कि स्वर्ग से हाथ धो बैठा-

गुरु सों द्रोह कर्‌यों अस मानी। तब बलि छीनि लियो रजधानी॥
ऐसो अर्थ न करहु सुजानहु। एहि महँ गूढ़ मरम अति जानहु॥

तथा गुरुदेव से भी ऐसा ही मानकर द्रोह कर बैठा तो दैत्यराज बलि ने [गुरुद्रोही जान आक्रमण करके] अमरावतीपुरी ही छीन ली। अत: हे ज्ञानवानो! आप ऐसा अर्थ न करें, इसमें अत्यन्त गूढ़ मर्म छिपा हुआ है, यह जान लें।

अस सोचन द्‌यो दुर्योधन पितु। अरु पुनि ताकर सकुनि करण मितु॥
तेइ भुलाइ निज मन अस बोलत। हरि बिनु एकउ तृन नहिं डोलत॥

ऐसा तो [आप सब] दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र और पुन: दुर्योधन, शकुनि एवं उसके मित्र कर्ण को ही सोचने दें।

वे ही सब अपने मन को भुलावे में डालकर ऐसा कहते हैं कि भगवान की इच्छा के बिना तो एक तिनका भी नहीं डोलता-

पुनि हम कर्ता कहँ अस लीख्यो। कोउ कछु करत न बरु अस दीख्यो॥
संजय सुर सम्बाद सुनाये। गांधारी पति कछुक लजाये॥

फिर हम कर्ता हैं ऐसा कहाँ लिखा हुआ है ? अत: कोई भी कर्ता नहीं है भले ही कर्ता दिखाई दे रहा हो। सञ्जय ने जब देवताओं के वार्तालाप को धृतराष्ट्र से सुनाया तो गान्धारी के पति धृतराष्ट्र कुछ लज्जित हो गये-

दोहा— पुनि कहु काह रहस्य जो माधव पार्थ सुनायँ।
कह संजय देखउँ नृपति का हरि मुदित बतायँ॥ १६॥

और पुन: कहा कि सञ्जय ! इसका रहस्य क्या है, जिसे भगवान ने पार्थ को सुनाया है ? तब सञ्जय ने कहा- हे राजन् ! वही देख रहा हूँ कि भगवान [महात्मा अर्जुन से] प्रसन्न होकर क्या बता रहे हैं-

चौपाई— लख महराजहु कह हरिराई। पार्थ सजग सुनु मन बुधि लाई॥
जग मोहति मम त्रिगुनी माया। अस न जान कोउ मोहिं अमाया॥

महाराज भी देख रहा है कि भगवान यदुनाथ कह रहे हैं- हे पार्थ ! सावधान होकर मन एवं बुद्धि को एकाग्र करके मेरी बात सुनो- मेरी त्रिगुणमयी माया ही सम्पूर्ण जगत को मोहित किये रहती है इसी कारण मुझ मायारहित को कोई जान नहीं पाता।

अति दुस्तर मोरि माया भाई। सहज काहु सों तरि नहिं जाई॥
बरु कोउ करे जोग जप भारी। प्रिय तन धन जन दै सब जारी॥

हे प्रिय ! मेरी माया को पार करना अत्यन्त कठिन है, किसी से भी सहज में पार नहीं की जा सकती, भले कोई कठिन जोग जप करे और अपने प्रिय तन, धन एवं जन में आग लगा दे।

पर जे भज मोहिं जग बिसराई। निज पति मायापति गुनि भाई॥
ते तरि जाहिं सहज भवसागर। तेइ भक्त तेइ जग अति नागर॥

परन्तु जो संसार से अनासक्त होकर मुझ यदुनाथ को अपना और माया का भी स्वामी जानकर भजन करते हैं वे सहज ही भवसागर पार कर जाते हैं। अत: वे ही भक्त हैं और जगत में वे ही अत्यन्त चतुर हैं।

पर जे अधम नीच नर मूढ़ा। माया हर जिन्ह ज्ञान निगूढ़ा॥
आसुरि भाव धारि मन माहीं। मोहिं भजत नहिं अति भरमाहीं॥

परन्तु जो अत्यन्त अधम, नीच और मूढ़ मनुष्य हैं, माया ने जिनके गूढ़ात्मक ज्ञान को हर लिया है वे मन में आसुरी भाव धारण करके मेरा भजन न कर [जगत में] अत्यन्त भ्रमित होते रहते हैं।

मायाकाल गाल सचराचर। तउ नहिं भजत मूढ़ निसिवासर॥
ज्यों मर्कटहिं बाँधि नट लावत। अन्न हेतु चौहटें नचावत॥

यह चराचर जगत मायारूपी काल का ग्रास है तो भी वे मूढ़ अहर्निश मेरा भजन नहीं करते हैं ! जिस प्रकार कोई मदारी बन्दर को बाँधकर लाता है और अन्न के लिए चौराहे पर नचाता रहता है-

त्यों माया फाँसइ गर फाँसी। उन्हहिं नचाय आव मोहिं हाँसी॥

उसी प्रकार माया उन [अज्ञानियों] के गले में वासनारूपी फाँसी डालकर नचाती रहती है ऐसा देखकर मुझे हँसी आती रहती है।

दोहा— मोसों प्रगटति मोहिं महँ सारो जगत नचाइ।
मम अनुसासन महँ रहति तउ ते सरन न आइ॥ १७(क)॥

वह माया मुझसे ही प्रकट होकर मुझमें ही वास करने वाले समस्त जगत को नचाती रहती है; यद्यपि वह मेरे अनुशासन में रहती है तो भी मूढ़ नर मेरी शरण में नहीं आते।

सोरठा— महाराज कह आज निज मुख प्रभु जब अस कहत।
तुम्हरें पूरें काज करहु बिनय तस जस कहउँ॥ १७(ख)॥

महाराज आज आप से कह रहा है कि जब भगवान स्वयं अपने श्रीमुख से ऐसा कह रहे हैं तो मैं जैसी प्रार्थना करने को कहता हूँ वैसी करें जिससे आपके समस्त मनोरथ सिद्ध हों।

चौपाई— हे मुरलीधर हे धरनीधर। सरणागत पर अबहुँ कृपा कर॥
जानि गयों जस आपु जनाये। प्रकृति पुरुष तुम्हहीं बनि आये॥

हे मुरलीधर! हे धरनीधर! अब भी तो आप मुझ शरण में आये हुए पर कृपा करें। जैसा आपने जनाया है, उसके अनुसार मैं जान गया हूँ कि आप ही प्रकृति एवं पुरुष बनकर आये हुए हैं।

मणिमाला इव गुथ्यो सकल जग। तुम्ह महँ तुम्हहिं बताये यह मग॥
सब्द परस रुप रस अरु गंधा। मन बुधि अहं न अब प्रतिबंधा॥

आपके बताने से ही मैं [अध्यात्म के] इस मार्ग को जान पाया कि मणियों की माला के समान यह सारा जगत आप में ही गुँथा हुआ है। अत: अब मुझ पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं मन, बुद्धि, अहंकार का बन्धन नहीं है।

प्रभु अर्जुन सन तुम्हहिं बताये। सर्बरूप बनि तुम्ह प्रगटाये॥
बीज सकल भूतन्ह कर साईं। तुम्हहि बने महि औषधि नाईं॥

क्योंकि आपने भक्त अर्जुन से बताया है कि आप ही सब कुछ बनकर आये हुए हैं। हे प्रभो! आप ही समस्त भूतों के मूल कारण बने हुए हैं जैसा कि समस्त औषधियों का मूल कारण पृथ्वी है।

अहो सर्बभूतन्ह तुम्ह जीवन। तुम्ह तजि लग्यों बिषय रस पीवन॥
रबि ससि प्रभा तेज बनि आगी। अहउ जपहु तप तपिन्ह सुभागी॥

अहो! आप ही समस्त भूतों के जीवन हैं किन्तु मैं आपका परित्याग करके विषय रस का ही पान करने में लगा हुआ था। आप ही सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रकाश तथा अग्नि में तेज हैं और आप ही सौभाग्यशाली तपस्वियों में जप एवं तप हैं।

दोहा— बलवानन्ह बल तुम्हहि प्रभु काम राग बिनु जोय।
सब भूतन्ह महँ धर्ममय काम अपर नहिं कोय॥१८(क)॥

हे जगत्पते! बलवानों में बिना काम एवं राग का जो बल है, वह आप ही हैं कोई दूसरा नहीं है। इतना ही नहीं समस्त भूतों में धर्ममय काम भी आप ही हैं, कोई दूसरा नहीं है।

सत रज तममय कल्पना तुमसोंइ हिय प्रगटाहिं।
पर अचरज ते तुम्हहिं महँ पर तुम्ह उनमहँ नाहिं॥१८(ख)॥

हृदय के अन्तर्गत सतोमय, रजोमय एवं तमोमय कल्पनाएँ भी आप से ही प्रकट होती हैं किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे तो आप में हैं किन्तु आप उनमें नहीं हैं।

त्रिगुणमयी माया प्रबल प्रभु सक्ती बस तोरि।
अस तुम्हरो लखि रूप सच अस्तुति करउँ बहोरि॥१८(ग)॥

हे भगवन्! यह अति प्रबल त्रिगुणमयी माया आपकी ही शक्ति है [न कि दूसरे की]। सच में आपके ऐसे स्वरूप को जानकर मैं बारम्बार आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

चौपाई— जय यदुनंदन यसुदानंदन। कृपा करहु भक्तन्ह उर चंदन॥
जय बसुदेव देवकी नंदन। स्वीकारहु मेरोहु अभिनंदन॥

हे यदुनन्दन! हे यशोदानन्दन! आपकी जय हो। हे भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान करने वाले! अब मुझ पर कृपा करें। हे वासुदेव! हे देवकीनन्दन! आपकी जय हो। आप मेरी भी वन्दना स्वीकार करें।

जय करुनाकर काम निकंदन। पद सरोज तव पुनि पुनि बंदन॥
जय भक्तन्ह अज्ञान बिभंजन। सकल दोष दुख दारुन गंजन॥

हे करुणानिधि! हे काम का दमन करने वाले! आपकी जय हो। आपके चरण कमलों की मैं बारम्बार वन्दना करता हूँ। हे भक्तों के अज्ञान का छेदन करने वाले! हे समस्त दारुण दु:खों और दोषों का नाश करने वाले! आपकी जय हो।

जय छबि सोभा धाम निरंजन। भानु सोक संसय तम भंजन॥
जय भक्तन्ह संतन्ह दृग अंजन। उन्हके हृदय करहु बहु रंजन॥

हे मायारहित! हे सुन्दरता एवं गुणों के धाम! हे संशय एवं शोकरूपी प्रबल अंधकार का नाश करने के लिए सूर्य! आपकी जय हो। हे सन्तों एवं भक्तों के नेत्रों के दोष को दूर करने वाले अंजन स्वरूप और उनके हृदय को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले! आपकी जय हो।

जय सुर सिद्धनि मुनिन्ह दिब्य धन। प्रनत माथ धरि दास अकिंचन॥

हे देवताओं, सिद्धों और मुनियों की अलौकिक निधि! आपका यह दीन-हीन दास आपके चरणों में प्रणाम करता है।

दोहा— जयति सच्चिदानंदघन जय प्रभु परम उदार।
आयों तव चरननि सरन मोहिं करहु भवपार॥ १९॥

हे सच्चिदानन्दघन! आपकी जय हो। हे परम उदार प्रभु! आपकी जय हो। अब मैं आपके चरणों की शरण में आ गया हूँ मुझे इस भवसागर से पार करें।

चौपाई— जौं नहिं आयों सरन तुम्हारी। तौ प्रेरहु उर मोर मुरारी॥
आवउँ सरन सबहिं बिसराई। गृह कुल हित मित माँ पितु भाई॥

हे मेरे मुरलीधर प्रभु! यदि मैं आपकी शरण में नहीं आया हूँ तो आज मेरे हृदय में ऐसी प्रेरणा करें कि मैं, घर-बार, हित-मित्र, कुल-परिवार, माता-पिता, भाई-बान्धव- इन सभी को भूलकर आपकी शरण में आ जाऊँ।

आन चहउँ जो मैं सच साईं। तौ गहु धाइ जननि की नाईं॥
यदि न चहउँ तव पद सरनाई। कृपा करहु तब आवउँ धाई॥

हे नाथ! यदि यथार्थ में मैं आपकी शरण में आना चाहता हूँ तो माँ के समान दौड़कर आप मुझे पकड़ लें और यदि मैं आपकी शरण में आना ही नहीं चाहता तो ऐसी कृपा करें कि शरण में आकर ही मानूँ।

देहु सो भगति द्रवहु जेहि आतुर। रक्षहु निज जन अतिहिं भयातुर॥
कृपा करहु जन रूप निहारे। एकउ पल जनि होउ नियारे॥

मुझे वह भक्ति प्रदान करें जिससे आप शीघ्रातिशीघ्र द्रवित होते हैं, भय से अत्यन्त व्याकुल अपने भक्त की रक्षा करें। अब ऐसी कृपा करें कि यह भक्त आपके दिव्य स्वरूप को देख सके तथा एक पल के लिए भी आप मुझसे पृथक् न हों।

निरखत रहउँ फनिग मनि नाँई। बलि बलि जावउँ देउँ दुहाई॥
कृपा करहु प्रभु जोइ जोइ चाहउ। करउँ सोइ सोइ पन निरबाहउ॥

मैं आपको वैसे ही देखता रहूँ जैसे सर्प अपनी मणि को देखता रहता है; इसके लिए मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ और आप की ही दुहाई भी करता हूँ। अब ऐसी कृपा करें कि आप जो-जो भी चाहते हैं मैं वही-वही करूँ, ऐसा करके आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करें।

दोहा— मन की करि बहु थकि गयों मिली न अबलौं थाह।
अब तव मन सों चलउँ प्रभु जासे होउँ अचाह॥ २०(क)॥

हे दयानिधे! मैं अपने मन के अनुसार चलकर बहुत थक गया किन्तु अब तक थाह नहीं मिली। अत: ऐसी कृपा करें कि अब आपके मन के अनुसार चलकर कामनारहित हो जाऊँ।

उत पार्थहिं झँकझोरि कह कृपासिंधु भगवान।
इत उत की तजि कल्पना सुनहु मोरि धरि ध्यान॥ २०(ख)॥

उधर कृपासिन्धु भगवान महात्मा अर्जुन को झकझोरकर कह रहे हैं कि इधर-उधर की कल्पनाओं को त्यागकर मेरी बात ध्यान देकर सुनो।

आरत अर्थार्थी भगत अरु ज्ञानी जिज्ञासु।
मोहिं भजहिं जग चतुर्बिध जिन्हहिं मोर बिस्वासु॥ २०(ग)॥

जगत में चार प्रकार के भक्त 'अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा ज्ञानी' मेरी उपासना करते हैं जिन्हें मुझपर पूरा विश्वास रहता है।

चौपाई— जद्यपि चारिउ अतिहिं उदारा। पर ज्ञानी मोहिं सहज पियारा॥
अहइ ब्रह्म सब दरसत जाही। भगति अनन्य ताहि की याही॥

यद्यपि चारों भक्त अति उदार हृदय वाले होते हैं परन्तु ज्ञानी तो मुझे सहज ही प्रिय है। 'सब कुछ ब्रह्म ही है' जिसको सदा ऐसा ही दिखाई पड़ता रहता है यही उसकी अनन्य भक्ति है।

मो महँ यासें लेइ उसाँसा। मो महँ ताकर मन कर बासा॥
मति गति ताकी मो महँ भाई। यहि अनन्यता मोहिं सुहाई॥

अत: हे प्रिय! [मेरा वह भक्त] मुझमें ही श्वास लेता है उसका मन मुझमें ही बसता है तथा उसकी गति-मति सब मुझमें ही है उसकी यही अनन्यता (अनन्य भक्ति) है जो मुझे अत्यन्त प्रिय लगती है।

यासों मोरि आतमा सोई। मैं सच कहउँ अन्य नहिं होई॥
बिपुल जनम सों साधत ज्ञाना। अंत जनम लह आतम ज्ञाना॥

इसलिए वह मेरी आत्मा ही है। मैं सच कहता हूँ कि वह मुझसे [कुछ] अन्य हो ही नहीं सकता। वह अनेक जन्मों से ज्ञान की साधना करता हुआ अन्तिम जन्म में आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

जेहि दीखत सब ब्रह्म अनंता। तात जगत दुर्लभ अस संता॥
महाराज पुनि बिनती सबसों। करत साधु जन जागहु अबसों॥

हे तात! जिसे 'सब ब्रह्म ही है'- ऐसा ही दिखायी पड़ता है, जगत में ऐसा सन्त अत्यन्त दुर्लभ है। पुन: महाराज सबसे विनती कर रहा है कि हे साधको! आप अब से भी सजग हो जायँ।

इनि चारिनि महँ कौन भगत तुम। हरि प्रिय अहउँ बतावहु घुमि घुम॥
मन मति तुम्हरि हरति यह माया। तउ सुधि लेत न हरि करि दाया॥

आप इन चारों भक्तों में से कौन-से भक्त हैं जिससे 'मैं भगवान का प्रिय हूँ' ऐसा घूम-घूमकर [जगत में स्वयं को] बताते फिरते हैं। यह माया आपकी बुद्धि एवं मन का अपहरण कर लेती है तो भी भगवान दया करके स्वप्न में भी आपकी सुध-बुध नहीं ले रहा है-

दोहा— तौ जानहु नहिं भगत तुम्ह भये अबहिं हरि केर।
यासों तुम्हरी ओर नहिं करुनाकर प्रभु हेर॥ २१॥

तो आप जान लें कि आप अब तक भगवान के भक्त नहीं हुए हैं। यही कारण है कि करुणानिधान भगवान भी आपकी पुकार नहीं सुन रहे हैं।

चौपाई— संत भगत प्रिय बहु जग आये। परी बिपति पर नहिं घबराये॥
मुनि मांडब्यहिं सुली बिठाये। तउ नहिं प्रभुहिं गुहार लगाये॥

भगवान के बहुत-से प्रिय सन्त एवं भक्त इस जगत में आये और उनपर भी आपत्तियाँ-विपत्तियाँ आयीं, किन्तु वे घबराये नहीं। जैसे माण्डव्य ऋषि को शूली पर बैठा दिया गया तो भी उन्होंने भगवान की पुकार नहीं लगायी।

बात अलग सूली नहिं भेद्यो। धर्मराज अस लखि बहु खेद्यो॥
कापालिक जड़भरतहिं लाये। माँ कालिहिं बलि हेतु जगाये॥

यह बात अलग है कि [उनके शरीर को] शूली भेद न सकी। इस घटना को देखकर धर्मदेवता भी अत्यन्त आहत हुए। उसी प्रकार जड़भरत को लाकर कापालिक, बलि देने के लिए भगवती माँ काली का आवाहन करने लगे-

सो मुनि काहु न सुमिरन कीन्हें। प्रगटी देबि खंग कर लीन्हें॥
सब तांत्रिकन्हि मारि बलि लीन्हीं। निर्मल मुनि छुड़ाय पुनि दीन्हीं॥

किन्तु उन सन्त ने रक्षा के लिए किसी का सुमिरन नहीं किया तो भी भगवती काली हाथों में खड्ग लेकर प्रकट हुई और कापालिकों (तांत्रिकों) की बलि लेकर उन पावन सन्त को मुक्त कर दिया।

भगत सुदामा सम दरिद्र अति। भयो भगत जग परम बिमल मति॥
अहहिं अबहुँ अरु होइहिं आगे। पर उन्हकी मति सपनेहु जागे॥

उसी प्रकार भक्त सुदामा के समान विमल बुद्धिवाले अति दरिद्र भक्त भी संसार में हुए हैं, अभी भी हैं और आगे भी होंगे; परन्तु हाँ! उनकी बुद्धि स्वप्न में भी सजग रहती है।

दोहा— ऋद्धि सिद्धि बहु भेजत उन्ह पहँ कृपानिधान।
लेहिं न त्यागहिं ताहि छन संत ते परम सुजान॥ २२॥

यद्यपि कृपानिधान भगवान उनके पास बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियों को भेजते हैं किन्तु वे परम ज्ञानवान सन्त उन्हें स्वीकार न करके उसी क्षण उनका त्यागकर देते हैं।

चौपाई— बिपति आय जब चहत भगावन। तेहि हित लागहु प्रभु गुन गावन॥
तौ जानहु जो भगतिहि पावनि। आइ न तुम्हरे उर प्रभु भावनि॥

यदि विपत्ति आने पर आप उसे भगाने लगते हैं और उसके निवारण के निमित्त भगवान का गुणगान करने लगते हैं, तो आप जान लें कि भगवान के मन को प्रिय लगने वाली वह पावन भक्ति अभी आपके हृदय में नहीं आयी है।

आवत मान अतिहिं उर हर्षत। कोउ अपमान करत दुख बर्षत॥
पुनि अर्थार्थि भगत निज मानहु। अपुनो दोषु आपु पहिचानहु॥

यदि मान-सम्मान की प्राप्ति पर हृदय अत्यन्त हर्षित हो जाता है तथा कोई अपमान कर दे तो दु:खों की बरसात होने लगती है, तो आप स्वयं को अर्थार्थी भक्त मान लें और स्वयं अपने दोषों को पहचान लें।

सुख महँ भूलि गये यदुराई। तौ जानहु उर भगति न भाई॥
हित मित बैरि दीख जग माहीं। महाराज कस भगत कहाहीं॥

हे प्रिय! यदि सुख की प्राप्ति पर आप भगवान यदुनाथ को भूल गये तो जान लें कि आपके हृदय में [सच्ची] भक्ति नहीं है। वैसे ही यदि अभी भी जगत में हित-मित्र और वैरी दीख रहे हैं तो महाराज कहता है कि अभी आप भक्त कहाँ हुए हैं?

सर्दी गर्मी महँ बिकलावहु। तब क्यों निज कहँ भगत बतावहु॥

यदि आप सर्दी-गर्मी में विकल हो जाते हैं तो स्वयं को भगवान का भक्त क्यों बता रहे हैं?

दोहा— धर्म अर्थ अरु काम महँ चहउ न सपनेहुँ कोय।
बस चाहउ हरि पदहिं तब बिमल भक्ति उर होय॥ २३॥

हाँ, जब आप धर्म, अर्थ और काम में से किसी को स्वप्न में भी नहीं चाहते, एकमात्र भगवान के चरणों को ही चाहते हैं तो यह जान लें कि आपके हृदय में परमपावनी भक्ति का वास हो गया है।

चौपाई— उत सब ब्रह्म न दीखत काहे। पार्थहिं कहि प्रभु भ्रम सब ढाहे॥
सुत बित लोक कामना धारी। जिन्हकी बिमल बुद्धि गइ मारी॥

उधर 'सब ब्रह्म ही है'- ऐसा दिखायी क्यों नहीं पड़ता, इसे भगवान महात्मा अर्जुन से कहकर उनके सारे संशय का निराकरण कर रहे हैं- 'पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा' को धारण कर लेने से जिनकी निर्मल बुद्धि नष्ट हो गयी है-

तिन्ह हित अपर देव अवराधहिं। उन्हकेइ नियम दैव बस साधहिं॥
मोहिं नाहिं कछु लेनो देनो। बरु बर फल तजि खायँ चबेनो॥

और उन कामनाओं की पूर्ति के लिए वे अन्य देवताओं की उपासना करते हैं तथा उनके पूजन के लिए बने नियमों को प्रारब्धवश ही साधते रहते हैं मुझे तो उनसे कुछ लेना-देना है नहीं, भले ही वे श्रेष्ठ फल को छोड़कर चना-चबेना खा रहे हैं तो खाएँ।

पूजन चहहिं सुरन्ह जोइ जोई। भक्त अतिहिं श्रद्धा बस होई॥
तिन्हकी श्रद्धा तिन्ह सुर माहीं। करउँ अचल पूजहिं उर जाहीं॥

अत: जो-जो भक्तजन श्रद्धा के साथ जिन-जिन देवताओं का पूजन करना चाहते हैं, मैं उन-उनकी अति श्रद्धा

के वशीभूत उन-उन देवताओं में अचल रूप से स्थापित कर देता हूँ जिससे वे अपने हृदय में उनका पूजन करते रहें।

उनसों तेइ फल पावत नाना। रच्यों तिन्हहिं हित जोइ बिधाना॥
तेइ सुकृत फल मूढ़नि केरी। भोगि नसाहिं कहउँ सच हेरी॥

उन देवताओं की पूजा से वे नाना प्रकार के उन्हीं फलों को प्राप्त करते हैं जिनका मैंने उनके लिए विधान किया है। उन मूढ़ों के पुण्य फल भोग लेने पर नष्ट हो जाते हैं- ऐसा मैं अच्छी प्रकार देखकर कह रहा हूँ।

दोहा— सुर पूजक पावहिं सुरन्ह अचल नियम अस होय।
मोहिं पूजि मम भगत सब मोहिं पाव जग खोय॥ २४॥

ऐसा शाश्वत नियम ही है कि देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं तथा मेरे भक्त तो संसार की स्मृति भुलाकर मेरा पूजन करते हुए मुझे ही प्राप्त हो जाते हैं।

चौपाई— अस सोचहिं उर माहिं परंतप। पुनि काहे न मूढ़ कर जप तप॥
अंतरजामी कह हरषाई। कारन सुनहु मुदित मन भाई॥

[इन सब बातों को सुनकर] महात्मा अर्जुन हृदय में ऐसा सोच रहे हैं कि फिर वे मूढ़ [भगवदर्थ] जप-तप आदि क्यों नहीं करते? अन्तर्मन की बात जानने वाले भगवान ने हर्षित होकर कहा- हे प्रिय! प्रसन्न मन से इसका कारण सुनो।

मोहिं ब्रह्म नहिं जानन कारन। जदपि अहउँ ईस्वर जग धारन॥
प्रगट्यों अबहिं मूढ़ अस मानहिं। यासें गहि न सरन गुन गानहिं॥

यद्यपि मैं सम्पूर्ण जगत को धारण करने वाला ईश्वर हूँ तो भी मुझे ब्रह्मरूप नहीं जानने के कारण, 'अभी-अभी उत्पन्न हुआ हूँ'- ऐसा मानकर मूढ़ पुरुष मेरी शरण में आकर मेरा गुणगान नहीं करते।

सोचत निर्गुन कस प्रगटे जग। जदपि अहइ सो ब्यापक रग रग॥
सो नर जो सोयो निज सपने। क्यों कस आवे जपने तपने॥

वे सोचते हैं कि निर्गुण ब्रह्म जगत में किस प्रयोजन से प्रकट होगा जबकि वह कण-कण में व्याप्त है। अरे! सोया हुआ पुरुष अपने ही स्वप्न में जप-तप करने क्यों और कैसे आ सकता है!

मानत ब्रह्मा सोवत जबहीं। तिन्ह चित प्रगटत यह जग तबहीं॥

वे मूर्ख ऐसा ही मानते हैं कि जब ब्रह्मा नामक देवता सो जाते हैं तो उनके हृदय में यह विशाल जगत [स्वप्न के समान] प्रकट हो जाता है।

दोहा— जस माया महँ भूलि तुम्ह ब्रह्म न मान्यो मोहिं।
निरगुन सगुन तबहिं लख्यो जबहिं बतायों तोहिं॥ २५॥

जैसे तुम भी माया से भ्रमित होकर मुझे ब्रह्म नहीं मान रहे थे। हाँ, जब मैंने तुम्हें यह रहस्य बताया तभी तुमने जाना कि मैं ही निर्गुण से सगुण हुआ हूँ।

चौपाई— कस जानइ जग मैं न जनाऊँ। प्रगटि योगमाया छिपि जाऊँ॥
जेहि दिखाउँ देखइ मोहिं साँचे। होइ रूप मम जग महँ राँचे॥

हे जितेन्द्रिय! जगत मुझे जान भी कैसे सकता है क्योंकि मैं अपनी योगमाया को प्रकट करके अपने को दिखाता ही नहीं (जनाता ही नहीं) अपितु छिप जाता हूँ। हाँ, जिसे दिखाता हूँ वह सचमुच देख लेता है, तब मेरा ही रूप होकर जगत में सुशोभित होता है।

जिमि मायावी नर की माया। ताहि न मोहे कोटि उपाया॥
तिमि मोरी माया मम ज्ञानहिं। नासति कबहूँ नाहिं सुजानहिं॥

हे बुद्धिमान्! जैसे जादूगर की माया जादूगर को मोहित नहीं कर सकती चाहे करोड़ों उपाय कर ले। उसी प्रकार मेरी माया तीनों कालों में मेरे ज्ञान (सर्वज्ञता) को नष्ट नहीं कर सकती।

यातें भये जे अहैं जे होहीं। जानउँ तिन्हि पर ते नहिं मोहीं॥
सुनत दयानिधि की अस बानी। अर्जुन चित की बहु भइ हानी॥

इसलिए जो हैं, हो चुके हैं और होंगे, उन समस्त भूत-प्राणियों को मैं जानता हूँ किन्तु वे मुझे नहीं जानते। दया के धाम भगवान नारायण की ऐसी बातें सुनकर भक्त अर्जुन का चित्त बहुत हद तक नष्ट हो गया।

हृदय बिचारैं को प्रतिबंधक। जेहि कारन सब माया बंधक॥
जासों लखहिं न इनि हरिराई। पुनि भवकूप गिरहिं भहराई॥

तब वे हृदय में विचार करने लगे कि वह प्रतिबन्धक संस्कार कौन-सा है जिसके कारण सभी माया के बन्धक बने हुए हैं। जिससे वे इन प्रभु को देख नहीं पाते और पुन: संसाररूपी कुएँ में भहराकर गिर जाते हैं।

पुनि अर्जुन उर लखि भगवाना। अति प्रसन्न कह कृपानिधाना॥

पुन: महात्मा अर्जुन के हृदय की बात जानकर भगवान कृपानिधान अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले-

दोहा— सीत उष्ण सुख दुख अवरु राग द्वेष संदोह।
प्रगटि मोह मोहित करत तेहि सों सब जग मोह॥ २६॥

वह सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी और राग-द्वेष के समूह से प्रकट होने वाला मोह ही है जो सबको मोहित कर रहा है; अत: उसी से समस्त जगत मोहित हो रहा है।

चौपाई— मोह बृषभ यह अस बलवाना। सुनइ न काहू की निज काना॥
भ्रमण करत पथ कुपथ अहर्निस। मारन धावत चाहे जिस तिस॥

अहो! मोहरूपी यह सांड ऐसा बलवान है कि यह अपने कानों से किसी की नहीं सुनता तथा अहर्निश मार्ग-कुमार्ग का विचार किये बिना ही भ्रमण करता रहता है और चाहे जिस किसी को भी मारने दौड़ता है।

अतिहिं छुधित नहिं कबहुँ अघावत। दुर्मति बेद तरुहिं दलि खावत॥
पीयत सकल पुरान ज्ञान जल। तबहुँ न जाइ तृषा यहि कलिमल॥

यह दुष्ट बुद्धि वाला ऐसा भुक्खड़ है कि वेदरूपी वृक्षों को गिराकर खा जाता है तब भी इसका पेट नहीं भरता और सभी पुराणों के ज्ञानरूपी जल को पी जाता है तो भी इसकी प्यास शान्त नहीं होती। अरे! यही तो कलियुग का दोष है।

छहो सास्त्र रस लग दुर्गंधित। पियत बाम रचना रस निंदित॥
नभ महि सरि बन पर्बत चरतो। तउ न उदर याकर कहुँ भरतो॥

इसे छहों शास्त्रों का ज्ञानरस अत्यन्त दुर्गन्धित प्रतीत होता है तथा यह वाममार्गीय पुस्तकों के निन्दित रस का पान करता है। यह आकाश, पृथ्वी, नदी, वन, पर्वत पर सर्वत्र चरता रहता है तो भी इसका पेट कहीं नहीं भरता।

खुंदत चौदह भुवन खुरनि सों। भिर्‌यो मुनिन्ह नर असुर सुरनि सों॥
जीतत सबहिं अतिहिं दुखदायक। संग लेइ द्वेषादि सहायक॥

यह अपने खुरों से चौदहों भुवनों को खोद डालता है और मुनियों, मनुष्यों, असुरों, देवताओं सभी से भिड़ जाता है। अत्यन्त दु:ख देनेवाला यह राग-द्वेषादिक सहायकों को साथ लेकर सभी पर विजय प्राप्त कर लेता है।

दोहा— राग द्वेष बहु दोष बस जाकर चित्त फँसाय।
ता कहँ मोह बृषभ ग्रसे जासों ज्ञान नसाय॥ २७॥

हे परमवीर! जिसका चित्त राग-द्वेषरूपी अनेक दोषों के वशीभूत हो फँस जाता है उसे मोहरूपी सांड ग्रस ही लेता है जिससे ज्ञान नष्ट हो जाता है।

चौपाई— पार्थ कहे प्रभु को अस साधू। राग द्वेष तजि भजत अबाधू॥
कह हरि सुनु जे सब बिधि लायक। भजहिं मोहिं नित हरिपद दायक॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! फिर ऐसा कौन साधु है जो राग-द्वेष का परित्याग कर अबाधगति से भजन करता है? भगवान ने कहा, सुनो- जो जगत में सर्वगुण सम्पन्न हैं और ब्रह्मपद को देनेवाले मुझ हरि को सदा भजते हैं-

सुकृत करत निष्पाप भये जे। तन मन बचनहु मोहिं दये जे॥
ते तजि द्वंद मोह भलिभाँती। मोहिं भजहिं दृढ़ब्रति दिन राती॥

जो निरन्तर सत्कर्म करने के कारण निष्पाप हो गये हैं तथा जिन्होंने अपने तन, मन, वचन आदि मुझे समर्पित कर दिये हैं- वे दृढ़व्रती पुरुष मोहरूपी द्वन्द्व से भलीभाँति छूटकर दिन-रात मुझे ही भजते रहते हैं।

जद्यपि जरा मरण मुक्ती हित। मोमें चित करि जतन करत नित॥
तउ जानत जे ब्रह्म कहावत। अखिल कर्म अध्यात्महु पावत॥

यद्यपि वे जरा-मरण से मुक्त होने के लिए ही मुझमें चित्त लगा कर निरन्तर यत्न करते हैं तो भी वे, जो निर्गुण निराकार ब्रह्म कहा जाता है उसे जान ही लेते हैं। साथ ही साथ सम्पूर्ण कर्म और अध्यात्म को भी प्राप्त कर लेते हैं।

अरु अधियज्ञ रूप मोहिं जानत। आधिदैव अधिभूतहु ज्ञानत॥

इतना ही नहीं, मुझे अधियज्ञ रूप जानकर अधिभूत और अधिदैव आदि का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— मरन काल महँ भगत ते मोमें चित्त लगायँ।
जान यथावत मोहिं कहँ यासों मम पद पायँ॥ २८॥

वे भक्त अन्तकाल में मुझमें चित्त लगाने के कारण मुझको जैसा हूँ वैसा ही जान लेते हैं अत: मेरे पद को प्राप्त कर लेते हैं।

चौपाई— महाराज तुम्हसों अब भाई। कह प्रभु नर बतकही सुहाई॥
प्रभु इक गूढ़ मरम दिखराये। निज महिमा भगतन्हि सों गाये॥

हे मित्रो! महाराज अब आपको नर ऋषि के अवतार महात्मा अर्जुन और भगवान नारायण के मधुर वार्तालाप को सुना रहा है। भगवान एक गूढ़ात्मक रहस्य प्रकट करते हुए अपनी महिमा भक्तों से बता रहे हैं।

जब बैराग्य होय गृह संतन्ह। तब गुरु पहिं तजि जाहिं असंतन्ह॥
तहँ माँगत आपुन सच रूपा। कीधौं कोउ प्रभु सगुन अनूपा॥

जब सज्जन पुरुषों को गृहस्थाश्रम में वैराग्य हो जाता है तब वे असज्जनों का परित्याग करके सद्गुरु की शरण में चले जाते हैं। वहाँ वे या तो अपने यथार्थरूप की अथवा भगवान के किसी अनुपम सगुणरूप की याचना करते हैं।

ऋधि सिधि हित तहँ ते नहिं जावैं। जरामरण सब कछु बिसरावैं॥
हाँ उर यहइ रहइ अरु भावे। बिनु हरि जरा मरण नहिं आवे॥

वहाँ (सद्गुरु के पास) वे ऋद्धि-सिद्धि के लिए नहीं जाते तो भी जरा-मरण आदि के भय से मुक्त हो जाते हैं। हाँ, हृदय में यह विश्वास अवश्य रहता है और इच्छा भी यही रहती है कि जब तक भगवान न मिले तब तक जरा-मरण न हो।

निज स्वरूप जब साँच लखावे। तब यह देह रहे कै जावे॥
पर अस होय न भोजन पावे। भूख मिटे पर स्वाद न आवे॥

जब अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाय तब यह देह रहे या चली जाय। परन्तु ऐसा नहीं होता कि भोजन पा लेने पर भूख तो मिटे किन्तु स्वाद न आये।

दोहा— सोवत सब बिश्राम हित सपनो आय अवस्य।
भजत कोउ तिमि ब्रह्महित तउ ताके सब बस्य॥ २९॥

जिस प्रकार सभी विश्राम पाने के लिए ही सोते हैं किन्तु स्वप्न अवश्य आते हैं उसी प्रकार कोई [भले ही एकमात्र] ब्रह्म के लिए ही प्रयत्न करे तो भी सभी ऋद्धि-सिद्धि, तन, मन, वचन आदि उसके वश मे हो ही जाते हैं।

चौपाई— तस प्रभु कह सो सब कछु जानहि। अधिभुतादि सँग मोहि पहिचानहि॥
यहु कह बरु तुम्ह तिन्हहिं न चाहउ। पर साधन पथ भल निर्बाहउ॥

उसी प्रकार भगवान कह रहे हैं कि वह भक्त सब कुछ जान लेता है, 'अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ' आदि के साथ मुझे भी पहचान लेता है और ऐसा भी कह रहे हैं कि आप भले ही उन्हें (अधिभूतादि को) न चाह रहे हों किन्तु यथोचित रीति से साधन-पथ को पूरा कर रहे हैं-

तब तुम्हरे बस अधिभूतादिक। इंद्रीं मन मति सुर ब्रह्मादिक॥
जरा आय पर चित्त न जारे। कालहु तुम्हरी बाट निहारे॥

तो आपके वश में मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा अधिभूत आदि के साथ सभी ब्रह्मा आदि देवता हो जायेंगे। [जगत की व्यवस्था के लिए] वृद्धावस्था तो आयेगी किन्तु आपको प्रतीत नहीं होगी तथा मृत्यु भी आपकी इच्छा के अधीन हो जायेगी।

संत बिपुल भये अहइँ निरक्षर। पर गाये प्रकृती छर अक्षर॥
हरिहिं बिरद गाये निज भासा। सुनत होय उर परम प्रकासा॥

जगत में बहुत-से सन्त निरक्षर हुए हैं और हैं, परन्तु उन्होंने (ज्ञान होने के उपरान्त) क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुष का यथार्थ विवेचन किया है। उन्होंने भगवान की विरदावली का गायन अपनी भाषा में किया है जिसे सुनते ही हृदय में परम प्रकाश छा जाता है।

भूत भविष्य लखहिं निज पाहीं। ते पतितन्ह कहँ मुक्त कराहीं॥
उत मुनि ब्यास सिद्ध सुर सारे। अति कौतुक निज हृदय बिचारे॥

वे अपने सामने ही [दिव्य दृष्टि से] भूत, भविष्य, [वर्तमान] को देख लेते हैं तथा अत्यन्त पतितों का भी उद्धार कर देते हैं। उधर महर्षि व्यास के साथ-साथ समस्त सिद्ध एवं देवतागण अत्यन्त आश्चर्य में भरकर हृदय में यह विचार कर रहे हैं कि-

दोहा— कौन सुकृत किय पार्थ प्रभु जासे धरि नर बेस।
सदगुरु बनि रथ बैठि रन तिन्हहिं देत उपदेस॥ ३०॥

अहो! महात्मा अर्जुन ने कौन-सा ऐसा सत्कर्म किया है जिससे भगवान नारायण मनुष्य का वेश धारणकर सद्गुरु रूप से युद्धभूमि में रथ पर बैठकर उन्हें उपदेश दे रहे हैं।

चौपाई— जगत जनक जगदीस जगतगुरु। परम ज्योतिमय भक्त कलपतरु॥
जप तप योग सों दुर्लभ जोई। सहज सुलभ अर्जुन हित सोई॥

जो भगवान जगतपिता हैं, जगत के ईश्वर हैं, जगत के गुरु हैं एवं परम ज्योतिर्मय तथा भक्तों के लिए कल्पतरु हैं, जो वेद, यज्ञ, जप, तप आदि से भी प्राप्त नहीं होते हैं, वे ही [कृपालु भगवान आज] महात्मा अर्जुन के लिए सहज सुलभ हो गये हैं।

बिस्वरूप अगनित जिन्ह रोमा। जहँ ब्रह्मांड बिपुल रबि सोमा॥
ते भारत रथ सोहत ऐसे। भानु होइ सिसु कोउ गृह जैसे॥

जिनके रोम-रोम में असंख्य विश्वरूप विद्यमान हैं तथा जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड एवं असंख्य सूर्य-चन्द्रमा विद्यमान हैं, वे ही प्रभु भक्त अर्जुन के रथ पर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे भगवान सूर्य शिशुरूप होकर किसी के घर आये हों।

भाग्य सुभाग्य सु करम अकर्मा। सुख दुख सबरे धर्म अधर्मा॥
मास बरष जुग जिनकै हाथा। पांडव हाथ सोइ जगनाथा॥

जिनके हाथ में भाग्य-सौभाग्य, कर्म-अकर्म, सुख-दुःख तथा समस्त धर्म-अधर्म, मास-वर्ष एवं युग विद्यमान हैं, वे ही जगन्नाथ आज अर्जुन के वश में हैं।

पल महँ जग बनायँ जो ज्ञानी। नासहिं छिन महँ सब अभिमानी॥
सोइ प्रबोध सदगुरु की नाईं। पार्थ न अबहुँ बूझ निज साईं॥

जो पल में ही सम्पूर्ण जगत को ज्ञानी बना सकते हैं तथा क्षण भर में ही समस्त अभिमानियों का नाश कर सकते हैं, वे ही भगवान सद्गुरु के समान ज्ञान दे रहे हैं किन्तु महात्मा अर्जुन अभी भी अपने भगवान को पहचान नहीं रहे हैं।

अघ प्रलंब केसी बृषभासुर। तृन सकटा अरु बकी बकासुर॥
चाणुर कंस बधे सिसुपाला। सोइ प्रभु पड़े परंतप पाला॥

जिन्होंने अघासुर, प्रलंबासुर, केशी, वृषभासुर, तृणावर्त, शकटासुर, पूतना, बकासुर, चाणूर, कंस और शिशुपाल का वध किया है, उन्हीं भगवान का आज अर्जुन से पाला पड़ गया है।

छंद— जो नरहरी वाराह ह्वै हिरनाक्ष हिरनाकुस बधे।
जो बाँधि बलि सुर मुक्त कीन्हें भगत हित रावन दधे॥
जो ऋषि मुनिहु कहँ ज्ञान दाता बेद होइ जग राजते।
ते घिर गये अर्जुन करनि तउ सदगुरू होइ भ्राजते॥

जिन्होंने वाराह और नरसिंहरूप धारणकर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु का वध कर दिया, जिन्होंने बलि को बाँधकर देवताओं को मुक्त कर दिया, भक्तों के हितार्थ रावण को मार दिया एवं जो ऋषि-मुनियों को ज्ञान प्रदान करने वाले हैं तथा जो वेदरूप होकर जगत में शोभायमान हो रहे हैं, वे ही भगवान अर्जुन के वश में होकर सद्गुरु रूप में सुशोभित हैं।

उत कहत संजय हे नृपति नहिं बात बनि हरि चुप भये।
प्रभु पार्थ झाँकी दिब्य निरखत मगन सुर सिध चित दये॥
रन भीष्म कृप आचार्य सल्य बिकर्ण छबि निरखत ठगे।
अरु बिकल तव सुत सकुनि उर सब जानि गये तउ नहिं जगे॥

उधर सञ्जय कह रहे हैं कि हे राजन्! बात अभी बनी नहीं और भगवान सब कुछ कहकर मौन हो गये हैं। आकाश मण्डल में स्थित देवता तथा सिद्धगण अत्यन्त ध्यानपूर्वक भगवान और महात्मा अर्जुन की इस दिव्य झाँकी को देख रहे हैं। [इधर देख रहा हूँ कि] युद्धभूमि में पितामह भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, विकर्ण इस छवि को देखकर ठगे से खड़े हैं और [वहीं पर] आपके पुत्र दुर्योधन, शकुनि आदि विकल हो रहे हैं। यद्यपि वे हृदय में सब कुछ जान गये हैं [कि क्या परिणाम होगा] तो भी मोह से जाग नहीं रहे हैं।

दोहा— हे राजन धीरज धरहु कहहिं कछुक जनु पार्थ।
कौतुक कर प्रभु जीव सम लखत यहइ परमार्थ॥३१(क)॥

हे राजन्! अब थोड़ा धैर्य धारण करें क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय अर्जुन कुछ कह रहे हैं और भगवान भी जीव के समान कौतूहलपूर्वक [एकटक] देख रहे हैं- यही तो परमार्थ है!

सोरठा— साधक सिद्ध सुजान तुम्हहिं हानि तौ नाहिं कछु।
महाराज धरि ध्यान सुनहु जो भारत हरिहिं कह॥३१(ख)॥

महाराज कह रहा है कि हे बुद्धिमानो, साधको और सिद्धो! आप सबकी तो कुछ हानि है नहीं, अतः महात्मा अर्जुन भगवान से जो कुछ भी कह रहे हैं उसे ध्यान देकर सुनें!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

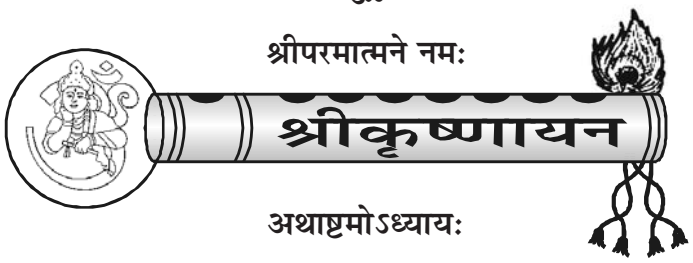

अथाष्टमोऽध्यायः

भजामि सदा सेव्यमानं दयालम् ॥
यः तु अकर्मः विकर्मश्च कर्मं गुह्यादगुह्यं उपदिष्ट धर्मम्।
यः सांख्ययोगं निराकृत्य स्वामी ददति राजयोगं प्रभुं तं गोपालम्॥
यः सर्ववेदात् गुरुवेद श्रेष्ठं एवं वदति सत्यसत्यं यथेष्टम्।
इदं देह स्वयमेव रूपं ददाय न भोगं वदति यः भक्ता प्रतिपालम्॥
वदति मन्मना भव मद्भक्त्य स्वामी मद्याजी मह्यं नमं तं नमामि।
मामेव ऐष्यसि सः सत्यसत्यं महाराज गमति शरण कालकालम्॥

सदा सेवन करने योग्य परम दयालु भगवान का मैं भजन कर रहा हूँ जिन्होंने कर्म, अकर्म और विकर्म के गोपनीय से भी गोपनीय धर्म का उपदेश किया, जिन्होंने सांख्ययोग का निराकरण करके राजयोग का परम ज्ञान दिया, ऐसे गोवंश के प्रतिपालक भगवान श्रीकृष्ण का मैं भजन कर रहा हूँ। जिन प्रभु ने इस परम सत्य का उद्घोष किया कि सारे वेदों से गुरुवेद (गुरु द्वारा दिया गया उपदेश) श्रेष्ठ है तथा यह भी उपदेश दिया कि इस शरीर से आत्मस्वरूप का बोध करना चाहिए न कि इसे भोगों के सेवन में लगाना चाहिए, ऐसे भक्त प्रतिपालक भगवान की मैं वन्दना करता हूँ। जो प्रभु कहते हैं कि मेरे मन के अनुसार चलो (अपना मन मुझे समर्पित कर दो), मेरे भक्त बन जाओ, मेरी शरण में आ जाओ तथा मुझे ही नमस्कार करो- मैं सत्य कहता हूँ तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। महाराज कहता है मैं उन्हीं परम सत्यस्वरूप काल के भी काल प्रभु की शरण ग्रहण करके प्रणाम कर रहा हूँ।

दोहा— कहत पार्थ पुरुषोत्तम काह ब्रह्म अरु कर्म।
अध्यातम अधिभूत का का अधिदैवत मर्म॥ (क)॥

महात्मा अर्जुन ने भगवान नारायण से कहा- हे पुरुषोत्तम! यह बतायें कि ब्रह्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत और अध्यात्म क्या है एवं अधिदैव का रहस्य क्या है?

एहि तन को अधियज्ञ प्रभु कस यामें कर बास।
युक्त चित्त पुरुषन्हिं तुम्ह अंत समय कस भास॥ (ख)॥

हे प्रभो! इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और इसमें कैसे वास कर रहा है तथा संयत चित्त वाले पुरुषों को अन्त समय में आप किस प्रकार अनुभव में आते हैं?

चौपाई— कौतुक इक महराज निहारत। अबलगि हुते मूक जनु भारत॥
बधिर हुते जनु कछु न सुनायो। बुद्धि पंगु हुति समुझि न पायो॥

महाराज [यहाँ] एक आश्चर्य देख रहा है कि महात्मा अर्जुन मानो अब तक गूँगे और बहरे थे तभी तो कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था, उनकी बुद्धि भी लंगड़ी ही थी जिससे कुछ समझ नहीं पा रहे थे।

हुतो अंध मन लख्यो न साँई। जासों कण कण बिभु दरसाई॥
हुते भक्तिहूँ सों जनु रंका। जासों भइ संका पर संका॥

जिससे जगत के कण-कण में भगवान का दर्शन होता है, [भक्त अर्जुन का] वह मन भी मानो अन्धा ही था जो भगवान को नहीं देख सका। मानो वे भक्ति से भी [अत्यन्त] दरिद्र ही थे जिससे [भगवान के भी वचनों पर] शंका पर शंका होती रही।

प्रभु सरनागत पन दिखराये। अब आतम जिज्ञासु बनाये॥
एहि छन की जनु हुती प्रतिच्छा। आय पार्थ उर कब हरि इच्छा॥

तो भी उन्हें अब आत्मजिज्ञासु बनाकर शरणागत रक्षक भगवान ने अपनी शरणागत रक्षण की प्रतिज्ञा को पूर्ण किया। मानो भगवान को इसी क्षण की प्रतीक्षा थी कि कब प्रिय अर्जुन के हृदय में ब्रह्म को जानने की इच्छा प्रकट हो।

कही जाय यहि प्रभु प्रभुताई। जो निज भगतन्हि सब दरसाई॥
बधिरहु सुनइ बेद बर बानी। पंगु लँघइ गिरिवर लघु जानी॥

इसे ही भगवान की भगवत्ता कहते हैं कि जो अपने भक्तों को सब कुछ दिखा दे, बहरा भी वेद की श्रेष्ठ ऋचाओं को सुनने लगे और लँगड़ा भी हिमालय को छोटा समझकर सहज ही लाँघ जाय-

दोहा— भगति परम निधि पाइ कोउ भुवनपतिहु बनि जाय।
हरि महिमा महराज लख बानी बरनि न पाय॥ १॥

और कोई भक्त भक्तिरूपी परम भण्डार को पाकर जगत्पति बन जाय। महाराज भगवान की महिमा को देख तो रहा है किन्तु वाणी से वर्णन करने में असमर्थ है।

चौपाई— भयो पार्थ सँग इहँ अस भाई। भक्ति बिमल अति तिन्ह हिय छाई॥
निज नयननि निरखहिं नय नागर। पतित उधारन करुना सागर॥

हे सन्तो! महात्मा अर्जुन के साथ भी यहाँ यही हुआ है, [प्रभु कृपा से] उनके हृदय में अत्यन्त विमल भक्ति प्रकट हो गयी है। अत: वे अपने नेत्रों से नीतिनिपुण तथा पतितों का उद्धार करने वाले करुणानिधि भगवान नारायण का दर्शन कर रहे हैं।

बानी मुखर भई अध्यातम। बुद्धि गमति बस आतम आतम॥
श्रवनहु सुनन लगे हरि बानी। महाराज मति लखि हरषानी॥

उनकी वाणी आध्यात्मिक भाषा बोल उठी तथा बुद्धि एकमात्र आत्मा में ही गमन करने लगी एवं उनके कान भगवान की वाणी सुनने लगे, यह देखकर महाराज की बुद्धि अत्यन्त हर्षित हो गयी है।

अष्ट प्रस्न किए नर अवतारी। समाधान जिहिं करत मुरारी॥
अबलगि हरि सब यहइ बखाने। पुनि तस प्रस्न सुनत हरषाने॥

यहाँ पर नर के अवतार महात्मा अर्जुन ने आठ प्रश्न किये हैं जिसका समाधान मुरलीधर भगवान कर रहे हैं। यद्यपि वे अभी तक इन्हीं प्रश्नों के उत्तर का सविस्तार वर्णन करते आये हैं परन्तु पुन: वैसे ही प्रश्नों को सुनकर भी भगवान अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं।

महाराज तुम्हसेउँ कह भाई। निज हिय लखहु आपु हरषाई॥
जब येइ प्रस्न उठन उर लागें। तब जानहु मन मति अब जागें॥

हे सज्जनो! महाराज तो आपसे भी कहता है कि आप सब भी प्रसन्नता के साथ अपने हृदय का निरीक्षण-परीक्षण कर लें और जब हृदय में ये ही प्रश्न उठने लगें तो आप जान लें कि अब मन, बुद्धि आदि जग गये हैं।

कानन त्रयदस बरष बिताई। पूछे प्रभुहिं लखन यहि भाई॥

हे मित्रो! वन प्रदेश में तेरह वर्ष बीत जाने के उपरान्त लक्ष्मण ने इन्हीं प्रश्नों को भगवान श्रीराम से पूछा था।

दोहा— बिमल भक्ति अरु ज्ञान हित अपर जनम सिव धाइ।
कीन्हिं प्रस्न येइ भगवती पारबतिहु हरषाइ॥ २॥

[वे ही क्या बल्कि] विमल भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए भगवती पार्वती ने भी [सती का शरीर त्यागने के बाद] दूसरे जन्म में भगवान शिव की शरण में आकर अत्यन्त हर्षित हो इन्हीं प्रश्नों को पूछा था।

चौपाई— जो जाग्यो उत्तर इन्हिं माँग्यो। जेहि सुनि आत्मरूप अनुराग्यो॥
सुनहु पार्थ सँग उत्तर ताहीं। सुनि मन मति हरि रंग रँगाहीं॥

जो भी [मोहरूपी निद्रा से] जागा [वह अपने सद्गुरु से] इन्हीं प्रश्नों का उत्तर माँगा जिसे सुनकर आत्मरूप

में ही रमण करने लगा। उसी उत्तर को महात्मा अर्जुन के साथ-साथ आप भी सुनें, जिससे मन-बुद्धि ब्रह्म के रंग में ही रंग जायँ।

जाकर जस गावत चतुरानन। महिमा कहत सेष सहसानन॥
नेति नेति कहि निगम बखानत। आदि अंत कोउ जासु न जानत॥

जिसका यश चतुर्मुख ब्रह्मा गाते हैं, जिसका महिमामण्डन (गुणगान) शेषनाग सहस्त्रों मुखों से किया करते हैं तथा वेद नेति-नेति कहकर जिसका गायन करते हैं, जिसका कोई भी आदि-अन्त नहीं जान पाता,

गननायक सिव नारद सारद। सुरगुरु जे अति बुद्धि बिसारद॥
जाकी लीला लखि न अघावत। तेइ पार्थहिं निज रूप बतावत॥

जिसकी लीला को देखकर विशद बुद्धिवाले गणेश, भगवान शिव, देवर्षि नारद, भगवती सरस्वती और देवगुरु बृहस्पति भी तृप्त नहीं होते हैं, वे ही भगवान भक्त अर्जुन से अपने रूप का वर्णन कर रहे हैं।

ब्रह्म परम अक्षर कहलावत। जामें जग प्रगटत बिनसावत॥
जो सम सांत सच्चिदानंदा। मन मति चित्त परे सुखकंदा॥

हे पार्थ! [जिसका कभी नाश नहीं होता, वह] परम अक्षर ही ब्रह्म कहलाता है जिसमें जगत प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं, जो सम-शान्त सच्चिदानन्द है और मन, बुद्धि, चित्त से परे सुखस्वरूप है।

दोहा— सो नहिं सून्य असून्य अरु मौन अमौन कहाय।
अजर अमर सर्बत्र जग जेहि चह ताहि लखाय॥ ३ (क)॥

वह न शून्य-अशून्य और न मौन-अमौन ही कहा जा सकता है, वह तो अजर-अमर और सर्वव्यापी है। वह जिसे चाहता है उसे ही स्वयं को दिखाता है।

सो नहिं सांत असांतहू निर्गुन सगुनहु नाहिं।
नहिं निरकार सकारहू निसदिनहू नहिं आहिं॥ ३ (ख)॥

वह न शान्त है, न अशान्त है, न निर्गुण है, न सगुण है, न निराकार है, न साकार है, न दिन है, न रात है।

चौपाई— त्रिपुटी रहित रहित तिहुँ काला। नहिं सुर असुर न यम दिग्पाला॥
त्रिजगजोनि नहिं नहिं कोउ भूता। नहिं तिन्हकीं तन्मात्रा पूता॥

वह ब्रह्म त्रिपुटी से रहित तथा तीनों कालों से रहित है। वह न देवता है, न मनुष्य, न असुर, न कालरूपी यमराज ही है, न दिग्पाल, न तिर्यग्योनि का कोई जीव ही है और न कोई भूत है, न ही उसकी पवित्र तन्मात्रा ही है।

सो न नेत्र मुख श्रवनहु कोऊ। घ्रान जीह बानी नहिं सोऊ॥
बीर्य मांस त्वग रुधिर न सोऊ। अहं प्रान मन मति नहिं कोऊ॥

वह न नेत्र है, न मुख है, न कान है, न नाक है, न जिह्वा है और न वाणी ही है। वह न त्वचा है, न रक्त है, न मांस है, न वीर्य है, न अहंकार है, न प्राण है, न मन है, न बुद्धि है।

नहिं कोउ रंग रूप गुन जाती। नाम कला नहिं बिद्या पाँती॥
तेहि महँ नाहिं बाह्य अभियंतर। अपुने महँ सो रमत निरंतर॥

उसका न कोई रंग है, न रूप है, न गुण है, न जाति है, न नाम है, न कला है, न वह विद्याओं का समूह है [वह जैसा है, वैसा ही है]। उसमें न भीतर है, न बाहर है बल्कि वह तो सदा अपने-आप में ही रमण करता रहता है।

ब्रह्म सुभाउ अहइ अध्यातम। जेहि सब निज उर समुझत आतम॥
जीव कहावत जग महँ सोई। गुडाकेस सच महँ बिभु जोई॥

हे गुडाकेश! ब्रह्म का स्वभाव ही अध्यात्म है, जिसे सभी अपने हृदय में आत्मरूप से अनुभव करते हैं। वही जगत में जीवात्मा नाम से विख्यात है, जो यथार्थ में ब्रह्म ही है।

दोहा— जदपि ब्रह्म सों आतमा बिलग न कोऊ तत्व।
तउ मेरो संकल्प यह मति महँ आव जिवत्व॥ ४॥

यद्यपि आत्मा न ब्रह्म से पृथक् है न कोई अन्य तत्त्व ही है, तथापि यह मेरा संकल्प ही है कि बुद्धि में जीवत्व

प्रशस्त हो जाता है।

चौपाई— सोइ जग रचि तेहि महँ बसि भाई। पालति पुनि तेहिं देति नसाई॥
यह न बुद्धि अपरा महँ जोई। अपितु ब्रह्ममति धृति सब होई॥

वही बुद्धि जगत का निर्माण करके उसी में वास करती है तथा उसका पालन कर पुन: संहार कर देती है। यह वह बुद्धि नहीं है जो अपरा प्रकृति के अन्तर्गत [जड़तत्त्व में] आती है, वरन् यह ब्रह्म की बुद्धि है जो ब्रह्म की स्मृति, धृति आदि सब कुछ है।

इच्छासक्ति ब्रह्म की योई। यासों सच अध्यातम होई॥
गृह महँ देवयज्ञ अवराधहिं। उन्हके हित हबिसादिक त्यागहिं॥

अत: यह ब्रह्म की संकल्पशक्ति ही यथार्थ में अध्यात्म नाम से कही जाती है। उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में देवयज्ञों में बरतते हुए, उनके निमित्त हविष्य आदि देना–

जगहित कर्म बिसर्ग कहावे। दिब्यभाव जो उर उपजावे॥
यासेइँ बृष्टि होय जग माहीं। जासे सकल जीव हरषाहीं॥

जगतहितार्थ किया जाने वाला इस प्रकार का त्याग ही कर्म कहा जाता है, जो हृदय में दिव्य भावों को प्रकट करता है। इसी के द्वारा जगत में वृष्टि होती है जिससे समस्त जीव प्रफुल्लित होते हैं।

उपजि बढ़त घटि बहुरि नसावें। तिन्हहिं नाम अधिभूत सुहावें॥
जगपुर महँ रहि सब कहँ तोषत। जो रबि इंद्रिन्हि तन मन पोषत॥

जो उत्पन्न होते हैं, घटते हैं, बढ़ते हैं, पुन: नष्ट हो जाते हैं वे सभी प्राणी–पदार्थ अधिभूत नाम से सुशोभित होते हैं। जो सूर्य जगतरूपी पुर (ग्राम) में रहकर सबको सन्तुष्ट करता है और तन, मन, इन्द्रियों को पुष्ट करता है–

दोहा— सोइ अधिदैव कहाय जग अरु निकाम जो कर्म।
कहउँ तेहि अधियज्ञ मैं गुप्त अहइ यह मर्म॥ ५॥

वही जगत में अधिदैव कहा जाता है; तथा जो निष्काम कर्म है, उसे ही अधियज्ञ समझो जो मैं ही हूँ– यही गुप्त रहस्य है।

चौपाई— कह महराज संत जे उनहीं। गुरु पद पदुम मधुप मन जिनहीं॥
अहं ब्रह्म नित उर अनुभावे। अक्षर परम ब्रह्म यहि भावे॥

अब महाराज उन सन्तों से कह रहा है जिनका मन श्रीगुरुचरण कमल का भ्रमर है, उनके हृदय में निरन्तर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' की अनुभूति होती रहती है; यही नाशरहित परमब्रह्म है जो अत्यन्त प्रिय लगता है।

बुद्धि झरति नित आतम चिंतन। सोइ अध्यात्म कहावति एहि तन॥
जिनि कर्मनि सों इंद्रियँ सारी। मन सँग बिभुपथ जायँ हुँकारी॥

जिस बुद्धि से निरन्तर आत्मचिन्तन प्रकट होता रहता है वही इस शरीर में अध्यात्म कही जाती है। जिन कर्मों के द्वारा समस्त इन्द्रियाँ मन के साथ प्रबलता से ब्रह्ममार्ग में गमन करती हैं–

ते सब करम बिसर्ग कहावत। तुम्हरो तन अधिभूत लखावत॥
अरु प्रारब्ध पुरुष तन माहीं। अहइ सोइ अधिदैव कहाहीं॥

वे ही कर्म विसर्ग कहलाते हैं तथा आपका शरीर अधिभूत दिखाई पड़ता है। इस शरीर में एक प्रारब्ध नामक पुरुष है, वही अधिदैव कहलाता है।

चित्त इहाँ अधियज्ञ कहावे। एहि सुचि हित सुभ कर्म करावे॥

यहाँ चित्त को ही अधियज्ञ कहा गया है; इसी (चित्त) की शुद्धि के लिए शुभ कर्म किया जाता है।

दोहा— होय जाहि छन सुद्ध चित आतमरूप लखाय।
जिमि दर्पन निर्मल किये बदन यथार्थ दिखाय॥ ६॥

चित्त के शुद्ध होते ही अपना यथार्थ रूप वैसे ही दिखायी पड़ता है जैसे स्वच्छ कर दिये जाने पर दर्पण में शरीर का रूप स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

चौपाई— सगुनोपासक नर जिमि कोऊ। जप तप जोग जग्य कर जोऊ॥
सब अर्पन करि निज प्रभु पाहीं। माँगत चरननि सरन सदाहीं॥

जिस प्रकार कोई सगुणोपासक भक्त जप, तप, योग, यज्ञ आदि जो कुछ भी करता है उन समस्त कर्मों को अपने इष्ट के पास समर्पित करके उनसे मात्र उनके चरणों की शरणागति ही माँगता है-

तिमि चित सुद्धि हेतु नित योगी। करत जोग होइ जगत बियोगी॥
पुनि मैं प्रान ब्रह्म सम गावउँ। बुद्धि बिमल अध्यात्म बतावउँ॥

उसी प्रकार चित्तशुद्धि के निमित्त ही योगीजन सदा जगत से विमुख होकर योगादि करते रहते हैं। पुनः मैं प्राण को ही ब्रह्म के समान कह रहा हूँ तथा निर्मल बुद्धि को ही अध्यात्म कह रहा हूँ।

जो सदगुरु आयसु सों होवे। कर्म बिसर्ग सोइ दुख खोवे॥
मन अधिदैव देह अधिभूता। तव सदगुरु अधियग अति पूता॥

जो कर्म सद्गुरु आज्ञानुसार किया जाता है वही कर्म विसर्ग है और वही समस्त दुःखों का हरण करता है। उसी प्रकार मन अधिदैव है, देह अधिभूत है और आपका परम पावन सद्गुरु ही अधियज्ञ है।

यासों की तुम्ह तिन्ह अवराधहु। उनसेइँ ब्रह्मज्ञान बर साधहु॥
उत कृपाल लखि कुंतीनंदन। बिहँसि कहे भक्तन्ह उर चंदन॥

इसलिए कि आप [समस्त क्रिया-कलापों द्वारा] उसी की आराधना करें और उसी से सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लें। उधर भक्तों के हृदय को सन्तुष्ट करने वाले कृपालु भगवान भक्त अर्जुन को प्रसन्नता पूर्वक देखकर बोले-

दोहा— अब सुनु पार्थ बिरंचि अरु सप्त ऋषिन्ह संबाद।
जाहि सुनत मिटि जात सब उर कर बाद बिबाद॥ ७॥

हे पार्थ! अब प्रजापति ब्रह्मा और सप्तर्षियों में हुए उस संवाद को सुनो, जिसके सुनने से हृदय का द्वन्द्व सर्वथा मिट जाता है।

चौपाई— कबहुँ सप्तऋषि करि जिज्ञासा। गये हरषि चतुरानन पासा॥
चरन पकरि बहु पूजा कीन्हें। अति प्रसन्न बिधि सरनहिं लीन्हें॥

किसी समय सप्तर्षिगण आध्यात्मिक जिज्ञासा करके समाधान हेतु प्रसन्नतापूर्वक ब्रह्माजी के पास गये तथा उनके चरणों को पकड़कर विधिवत् पूजा की जिससे अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रजापति ब्रह्माजी ने उन्हें अपनी शरण में स्वीकार कर लिया।

अधिभुतादि की दै परिभासा। कीन्हि पूर्ण तिन्हकी जिज्ञासा॥
कहउँ तिन्हहिं सुनु मन मति लाई। समुझत मति अति जाइ अघाई॥

उन्होंने जो अधिभूत आदि की परिभाषाएँ देकर उनकी समस्त जिज्ञासाएँ शान्त कर दीं, उन्हें ही यहाँ पर कह रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो जिन्हें समझते ही तुम्हारी बुद्धि तृप्त हो जायेगी।

प्रथम भूत नभ जो प्रगटायो। श्रवन जाहि अध्यात्म कहायो॥
सब्द बिषय अधिभूत लखाहीं। सर्ब दिसा अधिदैव सुहाहीं॥

[ब्रह्म से] जो भूत सर्वप्रथम प्रकट हुआ है वह आकाश है जिसका कान अध्यात्म कहा गया है, शब्दरूपी विषय अधिभूत दिखाई पड़ रहा है तथा समस्त दिशाएँ अधिदैव के समान सुशोभित हो रही हैं।

अपर भूत मारुत कहलावत। त्वग अध्यात्म जाहि अस गावत॥
तेहि अधिभूत अहइ स्पर्सहि। तीसर भूत तेज गयो दर्सहि॥

दूसरा भूत वायु कहा जाता है जिसका त्वचा अध्यात्म है ऐसा कहा जाता है और उसका [विषय] स्पर्श अधिभूत है। वैसे ही तीसरा भूत तेज दर्शाया गया है-

दोहा— जाकर दृग अध्यात्म अरु रूप ताहि अधिभूत।
ताकर रबि अधिदैवत अहइ चतुः जल भूत॥ ८॥

जिसकी आँख अध्यात्म है, रूप अधिभूत है तथा उसका सूर्य ही अधिदैव है। वैसे ही चौथा भूत जल है-

चौपाई— रस अधिभूत जीह अध्यातम। अधिदैवत जिय जानहु ससि सम॥
पंचम भूत धरा तस आही। अरु घ्रानहि अध्यातम ताही॥

जिसकी जिह्वा अध्यात्म है, रस अधिभूत है और चन्द्रमा के समान अधिदैव है। उसी प्रकार पाँचवा भूत पृथ्वी है, नासिका ही उसका अध्यात्म है।

गंध ताहि अधिभूत कहावे। अरु वायू अधिदैव बतावे॥
करउँ निरूपन इंद्रिनि माहीं। जासे अहंभाव बिनसाहीं॥

उसी प्रकार गन्ध उसका अधिभूत है और वायु उसका अधिदैव कहा जाता है। अब इन्द्रियों के अन्तर्गत भी मैं इसी का विवेचन कर रहा हूँ जिससे सुगमतापूर्वक अहंकार का नाश हो जाता है।

पद अध्यातम रूप कहावे। गंतब्यहि अधिभूत लखावे॥
बिष्णुदेव अधिदैवत ताही। गुदा अपान अध्यात्म कहाही॥

जब चरण अध्यात्म हैं तब उसका गंतव्य [स्थान] अधिभूत दिखता है तथा भगवान उपेन्द्र (विष्णु) अधिदैव कहे जाते हैं। उसी प्रकार गुदा और अपान अध्यात्म बताये जाते हैं-

जहँ अधिभूत ताहि मल त्यागा। तहँ अधिदैव मित्र अति रागा॥
सब प्राणी उपजहिं मग जाही। सो उपस्थ अध्यात्म कहाही॥

उसका मलत्याग करना ही अधिभूत है, जहाँ [उसका] मित्र नामक देवता ही अधिदैव है जिसे यहाँ से प्रीति है। उसी प्रकार सभी प्राणी जिस रास्ते से जन्म लेते हैं, वह उपस्थ ही जगत में अध्यात्म कहा जाता है-

दोहा— तेहि रेतस अधिभूत अरु प्रजापती अधिदैव।
दोउ भुजा अध्यात्म सम एहि महँ नहिं छल छैव॥ ९॥

वीर्य ही उसका अधिभूत है और प्रजापति ही अधिदैव है, वैसे ही दोनों हाथ ही अध्यात्म के समान हैं; इसमें कोई भी भेदभाव नहीं किया जा रहा है।

चौपाई— जाकर करम अहइ अधिभूता। अधिदैवत सुरपति अति पूता॥
बानी इहँ अध्यात्म कहावे। बक्तब्यहि अधिभूत सुहावे॥

जिसका कर्म अधिभूत है तथा अत्यन्त पवित्र इन्द्र देवता ही उसके अधिदैव हैं। उसी प्रकार वाणी यहाँ अध्यात्म है तथा उसका बोलना ही अधिभूत के रूप में सुशोभित हो रहा है।

अग्नी तहँ अधिदैवत जानहु। मन अध्यात्म कहा मम मानहु॥
अधिभूतहि संकल्प बिकल्पित। ताकर ससि अधिदैवत कल्पित॥

अग्नि को ही वहाँ अधिदैव मानें तथा मेरा कहना मान लें कि जब मन ही अध्यात्म है तब उसका संकल्प-विकल्प ही अधिभूत है तथा चन्द्रमा को अधिदैवरूप से कल्पित किया गया है।

अस जो सब भूतन्हि जनमावे। सोइ अहं अध्यात्म कहावे॥
तेहि अभिमान कहत अधिभूता। रुद्र अहइ अधिदैवत पूता॥

इसी प्रकार जो समस्त भूत समुदाय के जन्म का कारण है वह अहंकार ही अध्यात्म कहा जाता है, अभिमान ही उसका अधिभूत कहा जाता है तथा परम पावन रुद्र ही उसके अधिदैव हैं।

मन समेत इंद्रिन्ह जो जाने। ताहि बुद्धि अध्यात्म बखाने॥
अधिभूतहि सच चिंतन जाही। आतम अधिदैवत कह ताही॥

[उसी प्रकार] मन के साथ जो इन्द्रियों को भी जानती है, उस बुद्धि को यहाँ अध्यात्म कहा गया है। जिसका चिन्तन ही अधिभूत है तथा आत्मा ही उसका अधिदैव कहा जाता है।

दोहा— पार्थ गुनत उपदेस यह आत्मरूप दरसाय।
जाहि बिलोकि न कोउ जग बहुरि आइ भरमाय॥ १०(क)॥

हे पार्थ! इस उपदेश का चिन्तन करते ही आत्मरूप का दर्शन हो जाता है। जिसे देखकर कोई भी पुनः जगत में आकर भ्रमित नहीं होता।

महाराज पुनि मरम इक सब कहँ देत लखाय।
चिंतत जेहि कहँ साधुजन मनहीं मन हरषाय॥ १०(ख)॥

पुनः महाराज भी सबको एक रहस्य दिखा रहा है जिसका चिन्तन करते ही साधकगण मन ही मन हर्षित हो जायेंगे।

चौपाई— निसा ब्रह्म अध्यातम सोनो। इहँ अधिभूत सपन कर होनो॥
सपनेहु महँ जो जप तप करनो। कर्म कहाय सकल दुख हरनो॥

रात्रि ही ब्रह्म है और जो उसमें सोता है वही अध्यात्म है तथा स्वप्न यहाँ अधिभूत के समान है और स्वप्न में भी जो जप, तप आदि का करना है, वही समस्त दुःखों का हरण करने वाला कर्म कहा जाता है।

स्वप्नदेव अधिदैव कहावे। सुप्ति इहाँ अधियज्ञ लखावे॥
सबहि चहत निद्रा अति गाढ़े। कोउ न चाह मन सपनेहिं बाढ़े॥

स्वप्न का देवता ही अधिदैव कहा जाता है तथा सुषुप्ति ही यहाँ अधियज्ञ के रूप में दिखायी पड़ती है, क्योंकि सभी प्रगाढ़ निद्रा चाहते हैं, कोई नहीं चाहता कि मन नींद में विस्तृत हो [अर्थात् स्वप्न को प्राप्त हो]।

वैसेइ दिवसहु ब्रह्म कहावत। जागहु सो अध्यात्म लखावत॥
तुव अभ्यासयोग इहँ कर्मा। प्रथम गमन एहि सों सच धर्मा॥

उसी प्रकार यहाँ दिन ही ब्रह्म कहा जाता है और आप जो इसमें जग रहे हैं, वह अध्यात्मरूप में दिखायी पड़ रहा है तथा आपका अभ्यासयोग ही यहाँ कर्म है। सर्वप्रथम इसी के द्वारा गमन करना आपका सच्चा धर्म है।

जप तप जोग करत जे आहीं। बिघन करहिं अधिभूत कहाहीं॥
ढोंग करत यह जे अस गावहिं। नसहिं स्वयं तुव पाप नसावहिं॥

जो जप, तप, योग करते समय आते हैं और [आपकी साधना में] बाधा डालते हैं, वे ही यहाँ अधिभूत हैं। जो ऐसा कहते हैं कि यह पुरुष ढोंग किया करता है वे [इस पाप से] स्वयं तो नष्ट हो ही जाते हैं, आपके पाप का भी नाश कर देते हैं-

जाहि हेतु ते उन्नतिकारक। ते अधिभूत अहहिं भवतारक॥

जिस कारण वे (निन्दक) आपकी उन्नति करने वाले हैं, वे ही अधिभूत हैं तथा संसार से पार कराने में भी निमित्त होते हैं।

दोहा— मैं बस जीयउँ ब्रह्म हित तव निस्चय अधिदेव।
सदगुरु ही अधियज्ञ इहँ जासे जप तप सेव॥ ११॥

'मैं एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति के निमित्त ही जी रहा हूँ'- आपका यह संकल्प ही अधिदैव है; तथा यहाँ सद्गुरु ही अधियज्ञ है जिसके आश्रित होकर आप जप, तप का सेवन कर रहे हैं।

चौपाई— अंत बिलक्षण अर्थहु देखहु। पुनि आपुन जीवन कहँ लेखहु॥
कृष्णचंद्र प्रभु ब्रह्म लखावें। सिष्य पार्थ अध्यातम भावें॥

[हे साधको!] अब अन्त में एक विलक्षण अर्थ देख लें जिससे पुनः अपने जीवन को भी परख लें। यहाँ (इस रणभूमि में) भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ही ब्रह्म के रूप में दिखायी पड़ रहे हैं और उनके शिष्य महात्मा अर्जुन अध्यात्म के रूप में अनुभव में आ रहे हैं।

सकल सैन अधिभूत कहावे। जो मरि स्वर्ग बिषय रस पावे॥
धर्मराज अधिदैवत जानहु। उनकेइ सब पर सासन मानहु॥

समस्त सेना अधिभूत के रूप में भासमान हो रही है जो मर कर स्वर्ग में विषयों का सेवन करेगी। यहाँ सत्यवादी युधिष्ठिर अधिदैव के समान हैं क्योंकि सब पर [उनके सत्यव्रत के कारण] उन्हीं का शासन है ऐसा मान लें।

ते सतब्रति प्रभु पथ अनुगामी। तिन्ह सर्बस्व अहइँ जग स्वामी॥
सत सासन महँ महि जल पावक। वायु गगन रबि ससि सब धावक॥

वे सत्यव्रती हैं, भगवान के मार्ग पर चलने वाले हैं, उनके सर्वस्व तो जगत्पति भगवान ही हैं। जैसा कि आप सब

जानते हैं कि सत्य के शासन में ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य एवं चन्द्रमा सभी गमन करते हैं।

साधक सिद्ध भगत अधियज्ञहिं। जिन्हके हित धारें रन जज्ञहिं॥

साधक, सिद्ध एवं भक्तजन अधियज्ञ हैं जिनके हितार्थ इन्होंने समर यज्ञ को धारण किया है।

दोहा— सूक्ष्म दृष्टि सों लखहु यदि तौ सब ब्रह्म लखाय।
अधियज्ञादिक कर्म सब तेहि महँ अति अनुभाय॥ १२॥

इसी प्रकार यदि आप सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो सभी [प्राणी-पदार्थ] ब्रह्मरूप ही दीखेंगे तथा अधियज्ञ एवं कर्मादि की भी उसी [ब्रह्म] में प्रतिष्ठा है, ऐसी सुदृढ़ अनुभूति होगी।

चौपाई— अब प्रभु पार्थहिं कह समुझाई। आपुनि महिमा आपु बताई॥
निसरत प्रान मोहिं जो ध्यावत। सो कैवल्य परमपद पावत॥

अब भगवान महात्मा अर्जुन को स्वयं ही अपनी महिमा बताते हुए समझाकर कह रहे हैं कि प्रयाणकाल (अन्तकाल) में जो मेरा ही स्मरण करता है, वह कैवल्य पद स्वरूप मुझ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन गहु निस्चय मन माहीं। भगत मोर मोरेहिं पहिं जाहीं॥
यह बिधान बस मेरोइ नाहीं। अपितु सकल प्राणिन कै आहीं॥

हे अर्जुन! मन में यह निश्चित जान लो कि मेरे भक्त मुझ ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। यह श्रेष्ठ नियम एकमात्र मेरा ही नहीं है अपितु समस्त प्राणियों के लिये भी है।

कारन कै जो नित जेहि ध्यावत। अंत समय सो तेहि कहँ पावत॥
तू तन मन मति मोहिं करि अर्पित। अब जग हित करु रन अति हर्षित॥

कारण कि जो निरन्तर जिसका स्मरण करता है, मृत्यु के समय वह उसी को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अब तुम अपने शरीर, मन, बुद्धि को मुझे ही समर्पित करके जगत कल्याणार्थ अत्यन्त प्रसन्नता के साथ युद्ध करो।

सच महँ कहउँ पाव तू मोहीं। यामें संसय होय न तोहीं॥

मैं सत्य कहता हूँ कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, इसमें तुम्हें [थोड़ा भी] संशय नहीं होना चाहिए।

दोहा— अपर भगत गुरु आयसुहिं मानि ब्रह्म नित ध्याय।
तेउ लहत इहँ परमपद आवागमन नसाय॥ १३॥

[हे पार्थ!] इसी प्रकार जो अन्य भक्त गुरु आज्ञानुसार ब्रह्म का नित्य ध्यान करते हैं, वे भी इसी लोक में परमपद प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

चौपाई— करि न सके सहसा जो ध्यानहिं। सो अभ्यासयोग नित आनहिं॥
जबलौं करि सक ध्यान सु ध्यावे। थकत मनहिं स्वाध्यायहिं लावे॥

[परन्तु हाँ,] 'जो सहसा रात-दिन ध्यान नहीं कर सकता वह रात-दिन अभ्यासयोग को स्वीकार करे। वह ऐसे कि जब तक ध्यान कर सके तब तक ध्यान करे और जब थक जाय तो मन को स्वाध्याय में लगावे।

तासों थकि कर आतमचिंतन। यासेउँ थकि पुनि कर हरि किर्तन॥
पुनि थकि ध्यानयोग सो ध्यावे। यहि अभ्यासयोग कहलावे॥

और उससे भी थक जाय तो आत्मचिन्तन करने लगे एवं पुनः थकने पर कृपानिधान भगवान का कीर्तन करे तथा पुनः उससे भी थकने पर ध्यानयोग का अभ्यास करे'- यही अभ्यासयोग है।

जब जब काज करइ कोउ जोई। बिनु अभ्यास सिद्ध नहिं होई॥
ब्रह्मचिंतनं ब्रह्म कीर्तनम्। कबहुँ परस्पर ब्रह्मइ कथनम्॥

[हे जितेन्द्रिय!] पुरुष जब जो भी कार्य करता है वह बिना अभ्यास के सिद्ध नहीं होता। अतः 'ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्म का कीर्तन करना, कभी परस्पर ब्रह्मचर्चा करना-

जिज्ञासुनि महँ ब्रह्म बोधनम्। अरु स्वरूप अद्वैत सोधनम्॥
तत्परता सों करनो याको। ब्रह्माभ्यास कहत मुनि ताको॥

कभी जिज्ञासुओं के मध्य ब्रह्म का बोध कराना और कभी अपने अद्वैत स्वरूप का अनुसंधान करना'- इन

सबको तत्परता से किया जाय तो उसे ही सन्तजन ब्रह्म का अभ्यास कहते हैं।

जे बिरक्त मुनि मुक्ति लुभाने। बिषयँ निबारहिं ताके लाने॥
बर ब्रह्माभ्यासी तेइ आहीं। पुनि न परहिं भवमारग माहीं॥

जो विरक्त मुनि मुक्ति के लोभी हो गये हैं तथा उसी के लिए समस्त विषयों का त्याग कर देते हैं, वे ही जगत में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्माभ्यासी कहे जाते हैं, वे पुनः संसार मार्ग में नहीं आते।

दोहा— एहि जग बिस्मृति हेतु जो गहत सास्त्र गुरु जुक्ति।
सो ब्रह्माभ्यासी जगत सोइ पावइ बर मुक्ति॥ १४॥

उसी प्रकार इस जगत की विस्मृति के लिए जो शास्त्र, गुरु तथा अन्यान्य युक्तियों को ग्रहण करता है, वही जगत में ब्रह्माभ्यासी है और वही सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है।

मासपारायण, अठारहवाँ विश्राम

चौपाई— कोउ जग मोमें उपज न कबहूँ। जो कछु भासइ सबु मैं अबहूँ॥
एहि चिंतत रागादिक नासे। तेहि छन आत्मरूप बस भासे॥

कोई भी जगत मुझमें कभी प्रकट हुआ ही नहीं है इसलिए अभी जो प्रतीति हो रही है, वह सब मैं ही हूँ। इस प्रकार का चिंतन राग-द्वेषादि का नाश कर देता है तथा उस समय मात्र आत्मरूप ही दृष्टिगोचर होता है।

यासों होय आत्मरति साधो। एहि कह ब्रह्माभ्यास अबाधो॥
एहि बिधि निसि वासर जो ध्यावत। अक्षर ब्रह्म परम सो पावत॥

हे महात्मा! इसी से आत्मा में प्रेम हो जाता है तथा इसी को बाधारहित ब्रह्माभ्यास कहा जाता है। जो पुरुष इस विधि के अनुसार रात-दिन ध्यान करता रहता है, वह परमदिव्य अक्षरब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

देत चेतावनि हरि पारथहीं। अबलौं ध्यान्यो तू स्वारथहीं॥
स्वजन अराध्यो निज नहिं साध्यो। जासों तव जीवन बहु बाध्यो॥

[महाराज देख रहा है कि यहाँ] भगवान महात्मा अर्जुन को चेतावनी दे रहे हैं कि अब तक तो तुमने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही उपासना की है, स्वजनों की उपासना की है, स्वयं की उपासना नहीं की है; जिससे जीवन सम्पूर्णतया बाधित हो गया है।

तजहु सबहिं भजु मोको भाई। होइ जाइ जीवन मधुराई॥
अंत समय नहिं कोउ सँग जावे। यासों सिर धुनि धुनि पछितावे॥

हे प्रिय! अब तो सबको त्यागकर एकमात्र मेरा ही भजन करो जिससे जीवन अत्यन्त मधुर हो जाय; क्योंकि अन्त समय में कोई भी तुम्हारे साथ नहीं जायेगा और तुम सिर पीट-पीटकर पश्चात्ताप करोगे।

दोहा— जागु जागु सच जागु तुम्ह बीर अबहुँ तो जागु।
जागु जात जग काह तुम्ह निज सों करु अनुरागु॥ १५॥

अतः हे वीर! जागो! जागो!! जागो!!! अभी भी तो जग जाओ! अरे जगो! जगत में क्यों लिप्त हो रहे हो, अभी भी तो अपने आत्मस्वरूप से प्रेम करो!

चौपाई— जो सर्बज्ञ अनादि अनंता। सूक्षम अतिहिं अचिंत्य नियंता॥
जग धाता तम मोह नियारो। रबि सम नित चेतन द्युति वारो॥

जो सर्वज्ञ, अनादि, अनन्त, अत्यन्त सूक्ष्म, अचिन्त्य, सबका नियामक (शासक), जगत को धारण करने वाला, मोहमय अज्ञान से परे, सूर्य के समान नित्य चैतन्य एवं ज्योति स्वरूप-

सत परब्रह्म सनातन ध्यावहि। जहँ न जाहिं मन मति तेहि पावहि॥
एहि बिधि अंत योगबल धारी। भगति संग प्रभु गुणन्ह गुहारी॥

सत् स्वरूप परम सनातन ब्रह्म का स्मरण करता है वह उस परम पद को प्राप्त करता है जहाँ मन एवं बुद्धि की पहुँच नहीं है। इस प्रकार अन्तकाल में योगबल को धारण कर भक्तिपूर्वक भगवान के गुणों का स्मरण करते हुए -

निस्चल करइ भृकुटि मन प्राना। थोरेउ त्रुटि नहिं करइ सुजाना॥
सो पावत प्रभु पद आनंदमय। परम दिब्य अरु परम सांतिमय॥

मन को निश्चल करके प्राणों को भृकुटि में स्थित करे। यदि ऐसा करने में थोड़ी भी त्रुटि नहीं होती है तो वह पुरुष ब्रह्मानन्दरूपी परमदिव्य आनन्दमय और परम शान्तिमय पद को प्राप्त करता है।

अपर उपाय पार्थ पुनि सुनहू। बहुबिधि बेद कहहिं मन गुनहू॥

हे पार्थ! पुनः एक अन्य उपाय सुनो, जिसे वेदों ने बहुत प्रकार से कहा है जिस पर मन में विचार करो।

दोहा— चाहिय जाहि अधार कोउ तेहि कहँ अस बिधि होय।
परम मुदित मन बर बिभुहिं सहजहिं साधै सोय॥ १६॥

जिसको साधना के लिए कोई आधार चाहिए, उसके लिए ऐसी विधि है, जिसके द्वारा वह अत्यन्त प्रसन्न चित्त से उस परमब्रह्म को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— बेदहु कहत जाहि बर अक्षर। पावहिं जाहि बिरागी यतिवर॥
ब्रह्मचरज ब्रत जाके लाने। बटु पालत अति हिय हरषाने॥

वेद भी जिसको परम अक्षर कहता है तथा जिसे श्रेष्ठ वीतरागी संन्यासी-जन (सन्तजन) प्राप्त करते हैं तथा जिसके लिए ब्रह्मचारीगण प्रसन्नता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं,

तेहि पद तात समास बखानउँ। अरु ताकी बिधि सुनु जेहि गानउँ॥
संयम करि जो इंद्रिन्ह द्वारै। मन संकल्प बिकल्प निबारै॥

हे तात! उसी पद को मैं थोड़े में कह रहा हूँ तथा उसे प्राप्त करने की विधि भी बता रहा हूँ। [वह यह कि] जो समस्त इन्द्रियरूपी द्वारों को वश में करके तथा संकल्प-विकल्पों को भी त्यागकर-

मस्तक महँ मन सों खिंचि प्राना। वामेइँ राखि करे प्रभु ध्याना॥
ॐ नाम रुप मम करि चिंतन। चिंतन करत न कोउ अपर तन॥

मन के माध्यम से मस्तक में प्राणों को खींचकर उसी में धारण करके भगवान का ध्यान करता है तथा मेरे ॐ नाम-रूप का चिन्तन करते हुए, किसी अन्य नाम-रूप का चिन्तन नहीं करता-

सो तजि देह परमगति पावत। ऋषि मुनि सब जाकर गुन गावत॥
इहँ महराजहिं जोइ लखावे। सोइ मरम हरि कथन बतावे॥

वह देहत्याग करके परम गति प्राप्त करता है जिसका समस्त ऋषि-मुनि गुणगान करते हैं। यहाँ महाराज को जो दिखाई पड़ रहा है, भगवान का वचन भी वही रहस्य बता रहा है।

याहि देह जो रखनो चावें। सिद्ध होइ बहु बरष गँवावें॥
उनकेहु लाने यो परिभासा। पर न ज्ञानि कर एहि बिस्वासा॥

जो इस शरीर को [लम्बे काल तक] रखना चाहते हैं वे सिद्ध होकर अनेक वर्षों की आयु व्यतीत कर देते हैं- यह परिभाषा उनके लिए भी है, किन्तु ज्ञानीजन ऐसा [जीवन स्वयं के लिए] स्वीकार नहीं करते।

तिन्हके हित प्रभु कर संकेतो। अस समुझहिं उर हुइ चित चेतो॥

उनके लिए तो भगवान का यह संकेत मात्र है। वे हृदय से सजग होकर ऐसा अर्थ करते हैं [जैसी कि एक कथा है]-

दोहा— मृत्यु समय कोउ सुतन्हि सों मंदिर सिखरहिं देखि।
कह्यो रख्यों मैं याहि महँ मानिक मनी बिसेषि॥ १७॥

कोई (पिता) मरते समय अपने पुत्रों से मंदिर के शिखर की ओर देखकर बोला- मैंने इसमें मणि-माणिक्य की विशेष निधि रख रखी है।

चौपाई— चैत्र राम नवमी मध्याना। पावहुगे एहि गुप्त निधाना॥
समय पाइ एहि सिखर निहारी। लेइ निकारहु सम्पति सारी॥

चैत्र रामनवमी के मध्याह्न में ही इस गुप्त खजाने को प्राप्त कर सकोगे। अतः उपयुक्त समय पर इस शिखर से

समस्त सम्पत्ति को प्राप्त कर लेना।

पितहिं मरे तब सिखर ढहाये। पर वामें कछुवे नहिं पाये॥
अस लखि सुत इक गुनी बुलाये। कहे पिता जो सबहिं बताये॥

जब पिता मृत्यु को प्राप्त हो गये तो पुत्रों ने शिखर को गिरा दिया परन्तु उसमें कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। ऐसा देखकर उन्होंने एक बुद्धिमान व्यक्ति को बुलाया और उसे अपने पिता द्वारा कही गयी सारी बात बतायी।

सो कह तुम्ह सच समुझ न पाये। उननैं तो सब साँच बताये॥
सिखर बिम्ब ताही दिन भाई। मध्याने महि पर जहँ जाई॥

ऐसा सुनकर उस [बुद्धिमान व्यक्ति] ने कहा- तुम्हारे पिता ने तो ठीक ही कहा था परन्तु तुम लोग उसका वास्तविक रहस्य नहीं समझ पाये। हे भाई! शिखर की छाया उस निश्चित तिथि को दोपहर में पृथ्वी पर जहाँ जाय-

तहँ महि सों निधि खोदि निकारो। सच महँ तहँइ अहइ भंडारो॥
अस सुनि पुनि सिखरहिं बनवाई। जोवहिं नियत तिथिहिं हरषाई॥

वहाँ धरती में से धन को खोदकर निकाल लो क्योंकि यथार्थ में वहीं [वह] विशेष खजाना रखा है। [उस बुद्धिमान पुरुष की] ऐसी बात सुनकर उन लोगों ने पुन: शिखर बनवाया और प्रसन्नतापूर्वक उस नियत तिथि की प्रतीक्षा करने लगे।

सोइ कीन्हें जब सो दिन आयो। जबहिं भयो मध्यान्ह सुहायो॥
खोदि लिये ते बर भंडारो। एहि सम प्रभु संकेत बिचारो॥

जब वह शुभ दिन आया तो मध्याह्न होने पर उन्होंने वैसा ही किया और उस महत् निधि को खोदकर निकाल लिया। इसी के समान भगवान के भी संकेत को समझें।

जब इंद्रिन्ह द्वारन्ह रोकन हित। हरि कह तब सोचहु अस निज चित॥

जब प्रभु इन्द्रियों के द्वारों को रोकने के लिए कहते हैं तो अपने मन में ऐसा सोचें कि-

दोहा— त्याग करन हित बासना प्रभु की कही लखाय।
उर मन लानो दीख अस निज स्वरूप मन लाय॥ १८ (क)॥

प्रभु के कथन का तात्पर्य वासनाओं का त्याग करने से है तथा मन को हृदय में स्थापित करने का तात्पर्य अपने स्वरूप में मन को स्थित करने से है।

सोरठा— भृकुटि मध्य कर प्रान अस प्रभु कहि ज्ञानिन कहैं।
तुर्य गहउ लउ त्रान यह समाधि सब दुख दहइ॥ १८ (ख)॥

भृकुटि के मध्य में प्राण स्थापित करना- भगवान के द्वारा ज्ञानियों से ऐसा कहने का तात्पर्य है कि आप तुर्यावस्था को ग्रहण करें जिससे शान्ति की प्राप्ति हो; यह समाधि समस्त दु:खों का नाश कर देती है।

सर्ब ब्रह्म अस बृत्ति तूर्यावस्था मुनि कहत।
ताहि बहुत दिन धृत्ति गहई ज्ञानसमाधि यहि॥ १८ (ग)॥

[तुर्यावस्था क्या है?] सन्त कहते हैं 'सब ब्रह्म ही है'- ऐसी वृत्ति हो जाना ही तुर्यावस्था है तथा उसको भी लम्बे काल तक [कोई पुरुष] धृति द्वारा धारण करे तो यही ज्ञानमय समाधि कही जाती है।

पुनि मस्तक महँ लाय प्रान कहत जब प्रभु सुखद।
तूर्यातीत कहाय ब्रह्मबृत्ति कहँ धारनो॥ १८ (घ)॥

पुन: जब सबको परम सुख देनेवाले भगवान प्राण को [भृकुटि से] मस्तिष्क में लाने को कह रहे हैं, तो [स्पष्ट संकेत है कि] मैं ही ब्रह्म हूँ- ऐसी ब्राह्मी वृत्ति को ही स्वीकार करना तुर्यातीत अवस्था कही जाती है।

जो निजरूप लखाय सुद्ध साक्षि सम होइ रहै।
पुनि कहुँ आय न जाय यहइ ब्रह्म सिद्धी अहै॥ १८ (ङ)॥

इस प्रकार जब अपने आप की अनुभूति हो जाय तो आप शुद्ध साक्षी और सम शान्त होकर स्थित हो जायँ; पुन: कहीं आना-जाना नहीं होगा, यही ब्रह्मसिद्धि (ब्रह्मप्राप्ति) है।

चौपाई— प्रभु कह एकाक्षर ओंकारहिं। श्रद्धा सों जब जब उच्चारहिं॥
तब तब ताहि अर्थ अनुरूपा। चिंतन करहु ब्रह्म कर रूपा॥

प्रभु ने कहा- एकाक्षर मंत्र ऊँकार का श्रद्धा के साथ जब जब उच्चारण करें तब तब उसके अर्थ के अनुरूप ब्रह्म के रूप का चिंतन करें।

महाराज तेहि बहुरि बतावे। कठिन बिषय पुनि पुनिहिं जतावे॥
एहि महँ ऋषि मांडुक्य उचारे। ॐ सहित कस ब्रह्म बिचारे॥

महाराज भी उसे पुनः बता रहा है। विषय कठिन है इसलिए बार-बार समझा रहा है। इस विषय में ऋषि माण्डुक्य ने बताया है कि ॐ का स्मरण करते हुए ब्रह्म के स्वरूप का चिंतन कैसे करें।

जो जग भयो होयगो जोई। जगत चराचर दीखत योई॥
यह सब अहइ ॐ कर रूपा। ॐ सोउ जो अहइ अरूपा॥

जो जगत बीत चुका है, जो होने वाला है और यह जो प्रत्यक्ष चराचर जगत दीख रहा है यह सब ॐ ब्रह्म ही है तथा जो निराकार ब्रह्म है वह भी ॐ ही है।

पुरुष केरि जस चारि अवस्था। जाग्रतादि तुम्ह लखहु ब्यवस्था॥
तस परब्रह्म चारि पद वारौ। ऐसो लखि माया निरबारौ॥

जिस प्रकार पुरुष की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तूर्या चार अवस्थाएँ होती हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी चार पादों (चरणों) वाला है ऐसा समझकर माया का नाश कर दें।

मूढन्ह हित जो जगत कहावे। सोइ ऋषिन्ह हित ब्रह्म लखावे॥
जगत लखाय याहि कर देहा। निर्गुण ब्रह्महि जाकर गेहा॥

जो अज्ञानियों को जगत दिखाई पड़ता है वही ऋषि-मुनियों को ब्रह्म दिखाई पड़ता है। यह जगत इस (ब्रह्म) का शरीर है जिसका निर्गुण ब्रह्म ही वासस्थान है।

द्यू रबि नभ समीर अनलाई। जल महि सप्त अंग एहि भाई॥
पंच प्राण दस इंद्रियँ संगा। अंतःकरण चतुः मुख चंगा॥

ज्योतिर्मय लोक, सूर्य, आकाश, वायु , अग्नि, जल और पृथ्वी ये ही इसके सात अंग हैं। पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और इनके साथ चार अन्तःकरण ही इसके (उन्नीस) प्रिय मुख हैं।

यहइ समष्टि करण मुख उन्निस। जाहि न आय कबहुँ कछु खुन्निस॥
जो अपनो जग तन कर ज्ञाता। चर अरु अचर प्रानि कर धाता॥

यही समष्टि करण उस ब्रह्म के उन्नीस मुख हैं, जिस ब्रह्म को कभी भी क्षोभ नहीं होता। जो स्वयं के साथ-साथ जगत रूपी अपने स्थूल शरीर का भी ज्ञाता है तथा जड़ एवं चेतन प्राणियों को भी धारण करने वाला है,

दोहा— बिभु बैस्वानर कहत जेहि पाद प्रथम प्रभु केरि।
जेहि अकार लक्षित करै माया जाकर चेरि॥ १९॥

जिसे वैश्वानर नामक ब्रह्म कहा जाता है जो निर्गुण ब्रह्म का प्रथम पाद है जिसको 'अकार' मात्रा लक्षित करती है तथा जिस ब्रह्म की माया दासी है,

चौपाई— गुनहु न एहि बैस्वानर आगी। अपितु गहइ सब नरन्हिं सुभागी॥
कै नर रूप योइ सब भाई। बैस्वानर एहि भाँति कहाई॥

इसे आप वैश्वानर अग्नि न समझ लेना बल्कि यही समस्त सौभाग्यशाली मनुष्यों को धारण करता है अथवा समस्त नररूप यही है अर्थात् इस प्रकार यही वैश्वानर कहा जाता है।

तबहिं बिस्व कै कह बैस्वानर। प्रथम पाद यहि सच करुनाकर॥
तैजस द्वितिय पाद प्रभु केरी। जो प्रकासमय अतिहिं घनेरी॥

तभी तो इसे विश्व या वैश्वानर कहा जाता है। अतः यथार्थतः यही करुणा करने वाले ब्रह्म का प्रथम पाद है। ब्रह्म का दूसरा पाद तैजस कहलाता है जो अत्यन्त प्रकाशमय है।

सूक्षम लोक मनुज कर जैसो। जानहु साँच याहिकर वैसो॥
तन सूक्षम नर सूक्षम जैसो। अंत:करण अंग मुख तैसो॥

जैसे मनुष्यों का सूक्ष्म जगत होता है यथार्थत: वैसे ही इसका भी होता है। इसका सूक्ष्म शरीर मनुष्य के सूक्ष्म शरीर जैसा ही होता है तथा चार अन्त:करण, समस्त अंग तथा उन्नीस मुख भी वैसे ही होते हैं।

सासक ज्ञाता तेहि जग योई। यहि भोक्ता तहँ अपर न कोई॥
स्वपन जीव सम बिबस न अहई। अपितु बिस्व सों तैजस कहई॥

उस जगत का शासन करने वाला और ज्ञाता भी यही है, वहाँ यही भोक्ता है दूसरा कोई भी नहीं। यह स्वप्न के जीव के समान विवश नहीं है अपितु विश्व (वैश्वानर) से तैजस अर्थात् विशेष सामर्थ्यवान है।

सोरठा— एहि उकारमय जानि सुमिरत जो तैजस बिभुहिं।
सो तेहि सम गुन खानि होइ कहत मांडुक्य ऋषि॥ २०॥

इस तैजस ब्रह्म को उकारमय जानकर जो पुरुष स्मरण करता है वह उसी के समान गुणों का भण्डार हो जाता है ऐसा माण्डुक्य ऋषि कहते हैं।

चौपाई— जीव सुषुप्ती केरि समाना। जो जग प्रलय केरि अस्थाना॥
सोई प्राज्ञ तृतिय प्रभु पादा। जेहि सुमिरत सब नसत बिषादा॥

जीव की सुषुप्ति के समान ही जो जगत के प्रलय का स्थान है वही प्राज्ञ ब्रह्म का तृतीय पाद है जिसका स्मरण करने से समस्त शोक-सन्ताप का नाश हो जाता है।

जो आनंदरूप कहलावे। जेहि बिज्ञानरूप सच गावे॥
भूत भविष अरु बिषयन्हि ज्ञाता। यासों सोइ प्राज्ञ रुप गाता॥

जो आनन्दमय कहलाता है तथा जिसे यथार्थत: विज्ञानमय रूपवाला भी कहते हैं, वह भूत, भविष्य एवं विषयों का ज्ञाता है इसीलिए वह प्राज्ञरूप शरीर है।

यहि सर्बज्ञ यहइ सर्बेस्वर। यहि अंतरजामी परमेस्वर॥
यहि उत्पत्ति प्रलय कर कारन। अस जानत भ्रम होय निबारन॥

अत: यही सर्वज्ञ है, यही सर्वेश्वर है, यही अन्तर्यामी परमेश्वर है और यही उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण (स्थान) भी है- ऐसा जानते ही भ्रम का नाश हो जाता है।

यहि बिभु प्राज्ञ मकार लखावे। तृतिय पाद जेहि सब श्रुति गावे॥

यह प्राज्ञ ब्रह्म मकाररूप दिखाई पड़ता है जिसे श्रुतियाँ ब्रह्म का तृतीय पाद कहती हैं।

दोहा— एक ब्रह्महीं बिस्व अरु तैजस प्राज्ञ महान।
इन्हिकर त्रय अस्थानहू देखहु कहउँ सुजान॥ २१॥

इस प्रकार एक ही ब्रह्म विश्व, तैजस और उत्कृष्ट प्राज्ञ कहलाता है। अब हे बुद्धिमान! इनके तीनों स्थानों को भी समझ लें जिन्हें बता रहा हूँ।

चौपाई— बिस्व बसत दक्षिण दृग माहीं। तैजस मन के भीतर आहीं॥
प्राज्ञ हृदय महँ बसत सदाई। अस एहि तन महँ ब्रह्म बसाई॥

विश्व [नामक ब्रह्म] दाईं आँख में वास करता है, तैजस का स्थान मन के भीतर है और प्राज्ञ नित्य ही हृदय के अन्तर्गत वास करता है- इसी प्रकार ब्रह्म इस शरीर में वास कर रहा है।

भोगत बिस्व बस्तु अस्थूला। तैजस सूक्षम निज अनुकूला॥
प्राज्ञानंदहिं भोगन वारौ। समुझि याहि मन भ्रम निरबारौ॥

विश्व (ब्रह्म) स्थूल वस्तुओं का भोग करता है, तैजस ब्रह्म अपने अनुकूल सूक्ष्म विषयों का और प्राज्ञब्रह्म आनन्द को भोगने वाला है- ऐसा समझकर मन के भ्रम का नाश कर दें।

जो अस जानि बिषय सुभ भोगत। बँधत न जगत न मनसों रोगत॥
बिभु कर चतु: पाद अब सुनहू। पुनि स्वयंहिं तैसो सच गुनहू॥

जो पुरुष ऐसा समझकर शुभ विषयों का उपभोग करता है वह न जगत में बँधता है न मन से रोगी ही होता है। अब आप ब्रह्म के चतुर्थ पाद को सुनें, फिर आप अपने को यथार्थत: वैसा ही समझें।

तूरिय पाद ताहिकर नामा। जाहि रूप गहि लह निज धामा॥
जो नहिं अंत: प्रज्ञावारो। अरु न बाह्यहू प्रज्ञाधारो॥

उसका नाम तूर्य पद है जिसके स्वरूप को प्राप्तकर अपना परम धाम प्राप्त हो जाता है, जो न अन्त: प्रज्ञा वाला है और न बाह्य प्रज्ञा वाला ही है।

नहिं अबिज्ञ नहिं बिज्ञ कहावे। देखन महँ जो कबहुँ न आवे॥
जो अद्वैत अचिंत्य अनामय। अकथनीय नित सांत अकामय॥

जो न अज्ञानी कहा जाता है न ज्ञानी ही, जो देखने में कभी नहीं आता; जो अद्वैत, अचिन्त्य और मायारहित है, जिसे वाणी से कहा नहीं जा सकता, जो नित्य शान्त और कामनारहित है-

दोहा— निष्प्रपंच ब्यापक अहइ तीनहु पाद अधार।
जेहिकर चिन्ह न कोउ अस जासों कथ उदगार॥ २२ (क)॥

जो प्रपंच से रहित व्यापक और तीनों पादों का आधार है तथा जिसका कोई भी ऐसा चिन्ह नहीं है जिसके द्वारा इसे कहा जाय।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति कर अरु तिन्ह भूतन्ह काहिं।
साक्षी नित योई अहै सच कोउ दूसर नाहिं॥ २२ (ख)॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का तथा उनमें रहने वाले समस्त प्राणियों का यही नित्य साक्षी है। मैं सच कहता हूँ दूसरा कोई नहीं है।

चौपाई— महाराज इक गाथा गावे। तासोहुँ ॐ ब्रह्म दिखरावे॥
बाजश्रवा ऋषि सुत उद्दालक। तिन्हकर नचिकेता प्रिय बालक॥

महाराज एक कथा के माध्यम से ॐ ब्रह्म को स्पष्ट कर रहा है। बाजश्रवा ऋषि के उद्दालक नामक एक प्रिय पुत्र थे जिनका पुत्र नचिकेता था।

बिप्र कुमार अतिहिं निष्कामी। अध्यातम पथ कर अनुगामी॥
यज्ञ दक्षिणा महँ कृपनाई। देखि पिता कर गये लजाई॥

ब्राह्मण कुमार नचिकेता पूर्ण निष्कामी एवं आध्यात्मिक पथिक थे। वे यज्ञ की दक्षिणा देने में पिता की कृपणता को देखकर अत्यन्त लज्जित हो गये।

बोले पितु ये गौ कृस गाता। इन्हकर दान देइ संतापा॥
नीर न पियहिं न तृन ये खाहीं। मृत्यु बाट जोवहिं मन माहीं॥

उन्होंने कहा- पिताजी! ये गायें अत्यन्त दुबली-पतली हैं इनका दान तो दुख ही देने वाला है। ये अब मन ही मन मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही हैं न चारा खा रही हैं न जल पी रही हैं।

ऐसो दान नरक लै जावे। सूकर कूकर योनि दिलावे॥
अस उद्धार न होय तुम्हारो। देहु दुधारू धेनुहिं सारो॥

ऐसा दान नरक में ले जाकर सूअर एवं कुत्ते आदि की योनि दिलाता है। ऐसा करने से आपका उद्धार नहीं होगा अत: आप समस्त दुधारू गायों को दान कर दें।

देन चहिय प्रिय बस्तुहिं दाना। काह करहु अस आपु सुजाना॥
मोरे हित सब काह बचावहु। मोकोइ दान देइ हरि ध्यावहु॥

हे बुद्धिमान पिताजी! दान में प्रिय वस्तु देनी चाहिए किन्तु आप ऐसा क्यों कर रहे हैं। मेरे लिए इन सबको क्यों बचा रहे हैं। अरे! मुझे ही किसी को दान देकर प्रभु का भजन करें।

दोहा— मोसों प्रिय नहिं दान कोउ पितु तुम्हरे हित आज।
देहु केहि तहँ जाउँ अब तुम्हरो सँवरे काज॥ २३॥

पिताजी! आज आपको देने के लिए मेरे से बढ़कर कोई भी दान नहीं है। अत: आप मुझे किसे दान दे रहे हैं जहाँ मैं चला जाऊँ और आपका सारा पारमार्थिक कार्य पूरा हो जाय।

चौपाई— कुपित भये ऋषि सुनि सुत बानी। बोले रे सुनु अति अभिमानी॥
जा तोहिं दान दियों यमराजहिं। तुव सम जीव पाइ ते भ्राजहिं॥

ऋषिवर उद्दालक अपने पुत्र नचिकेता की बात सुनकर अत्यन्त क्रोधित हो गये और बोले- अरे महाभिमानी सुनो! जाओ तुम्हें मैंने यमराज को दान दिया। वे ही तुम्हारे जैसे जीव को पाकर शोभित होंगे।

नचिकेता सुनि ध्यान लगाये। यम के द्वारे अलख जगाये॥
त्रय दिन जब बीते यम आये। तब तिन्ह तिय मृदु बचन सुनाये॥

ऐसा शाप सुनकर नचिकेता ध्यान में बैठ गये और यमदेवता के दरवाजे पर पुकार लगाई। जब तीन दिनों के उपरान्त यमराज का आगमन हुआ तो उनकी पत्नी ने मधुर वचनों में कहा-

सूर्यतनय बैस्वानर देवा। बिप्र अतिथि बनि देवैं सेवा॥
अर्घ्य पाद अर्पित करि साधू। सांति करैं तिन्ह होयँ अबाधू॥

हे सूर्यपुत्र! अग्निदेव ही ब्राह्मण अतिथि के रूप में [गृहस्थों को] सेवा प्रदान करते हैं, साधु पुरुष अर्घ्य-पाद्य अर्पित कर उनकी शान्ति करते हैं और बाधारहित हो जाते हैं।

जेहि गृह निराहार द्विज बासै। मन्दमती सो अवसहिं नासै॥
रचित कूप उपबन सर निर्मल। यज्ञ दान कृत सुभ कर्मन फल॥

हे देव! जिस गृहस्थ के यहाँ ब्राह्मण भूखे पेट वास करता है, उस मन्दबुद्धि का अवश्य ही नाश हो जाता है। उसके द्वारा बनवाये गये कुएँ, उपवन, निर्मल सरोवरों, किये गये यज्ञों, दिये गये दानों आदि शुभ कर्मों के फलों-

सकल बंस पसु ताकर नासै। पद पखारु जल लै तिन्ह यासै॥
नारि बचन मृदु सुनत अमोले। तैसोइ करि रबिसुत तब बोले॥

सम्पूर्ण वंश और उसके पशुधन का नाश हो जाता है। अत: जल लेकर उन [ब्राह्मण देवता] के चरणों का प्रक्षालन करें। अपनी पत्नी के अमूल्य वचनों को सुनकर सूर्यपुत्र भगवान यम वैसा ही करने के उपरान्त बोले-

ब्रह्मन तीनि दिवस मम द्वारे। हरिहिं सुमिरि तुम्ह मोहिं पुकारे॥
तासों देउँ तीनि बरदाना। प्रान हरउँ नहिं सुनहु सुजाना॥

हे ब्राह्मणदेव! आप भगवान का स्मरण करते हुए मेरे दरवाजे पर तीन दिन प्रतीक्षा करते रहे। इसलिए आपको तीन वरदान दूँगा। हे बुद्धिमान्! सुनें, आपका प्राण नहीं लूँगा।

बोले जगत सुहृद नचिकेता। प्रभु मोहिं लखि पितु होहिं सुचेता॥
देहिं सबै धन बिप्रन्हिं दाना। अरु अति प्रिय गउ दयानिधाना॥

तब जगत का हित चाहने वाले नचिकेता ने कहा- हे प्रभो! [मैं जब जीवित हो जाउँ तो] मेरे पिता मुझे देखकर प्रसन्नचित्त हो जायँ और हे दयानिधान! वे ब्राह्मणों को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ अत्यन्त प्रिय गायों का दान कर दें।

दोहा— जाहि अग्नि बिद्या कहत जो स्वर्गहिं पहुँचाव।
देहु अपर बरदान यह जो सब नरहिं सुहाव॥ २४॥

अब जिसे अग्नि विद्या कहा जाता है जो स्वर्ग को देने वाली है तथा जो समस्त पुरुषों को प्रिय लगने वाली है, उसे आप दूसरे वरदान के रूप में दें।

चौपाई— तब यम दये दोउ बरदाना। बोले तीसर माँगु सुजाना॥
बोले नचिकेता हरषाई। ब्रह्मज्ञान अब देहु सुहाई॥

यम देवता ने दोनों वरदान दे दिये और कहा- हे बुद्धिमान नचिकेता! तीसरा वरदान माँगें। तब नचिकेता प्रसन्नता के साथ [प्रार्थना करते हुए] बोले- हे प्रभो! तीसरे वरदान स्वरूप अब मुझे दिव्य ब्रह्मज्ञान दें।

कोउ कह आतम मरि कहुँ जावे। इहइँ रहत अस कोउ बतावे॥
भेद इहइ सब जानन चाहउँ। तीसर बर प्रभु यहि अवगाहउँ॥

कोई कहता है कि आत्मा मरने के उपरान्त कहीं अन्यत्र चला जाता है और कोई कहता है यहीं रह जाता है– मैं यही रहस्य जानना चाहता हूँ। अत: हे प्रभो! तीसरे वरदान स्वरूप मैं यही ज्ञान माँग रहा हूँ।

बोले यम यह बर दुर्गम अति। साँच गहति एहि अतिहिं बिमल मति॥
एहि तजि कोउ अपर बरदाना। माँगहु सबरें कला निधाना॥

यमदेवता ने कहा– यह वरदान अति कठिनता से प्राप्त होने वाला है। सच में यह रहस्य अत्यन्त पवित्र बुद्धि ही प्राप्त कर सकती है। इसे छोड़कर अन्य कोई वरदान माँग लें यहाँ तक कि सम्पूर्ण कलाओं का भण्डार ही माँग लें।

दउँ त्रैलोकपती पद ताता। किधौं चहउ पद कोउ बिख्याता॥
बोले ऋषिसुत अति हरषाई। यह सब लहेउँ दरस तुव पाई॥

हे तात! इतना ही नहीं, मैं त्रैलोकपति का पद भी दे सकता हूँ अथवा आप ही कोई अन्य प्रसिद्ध पद चाहते हों तो वही देता हूँ। तब ऋषिकुमार नचिकेता अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले– हे प्रभो! यह सबकुछ तो मैंने आपके दर्शन से ही प्राप्त कर लिया।

ब्रह्मज्ञान बिनु मति बिकलाई। एहि तजि मोहिं न अपर सुहाई॥
सुनत प्रसन्न भये यमदेवा। आतमज्ञान देत बिनु खेवा॥

मेरी बुद्धि तो सदा ब्रह्मज्ञान के लिए व्याकुल रहती है इसे छोड़कर मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा सुनकर यमराज अत्यन्त प्रसन्न हो गये और बिना किसी मूल्य के आत्मज्ञान देने लगे–

ॐ एक अक्षर बिभु योई। जानन चहउ ब्रह्मपद सोई॥
यहि परब्रह्म अपर बिभु यहई। यहि प्रतीक दोउन्हकर अहई॥

हे ऋषिकुमार! यह एक अक्षर ॐ ही ब्रह्म है। यह वही ब्रह्मपद है जिसे आप जानना चाहते हैं। यही परब्रह्म है और यही अपर ब्रह्म भी है तथा यही दोनों का चिन्ह (लक्षण) भी है।

दोहा— यहि उपास्य बिभु अपर कर परब्रह्महु कर आहि।
अस बुझि दोउनि माहिं जेहि चहत लहत अवगाहि॥ २५ (क)॥

यही अपर ब्रह्म का उपास्य भी है और यही परब्रह्म का भी साधन है ऐसा समझकर जो इन दोनों में जिसे चाहता है उसी को दृढ़ प्रयत्न करके प्राप्त कर लेता है।

यदि उपास्य परब्रह्म तौ जान्यो जावे मात्र।
अपर ब्रह्म यदि होय तौ प्राप्त करत सो पात्र॥ २५ (ख)॥

यदि किसी का उपास्य परब्रह्म ही है तो इसके द्वारा वह एकमात्र जान लिया जाता है और यदि अपर ब्रह्म उपास्य है तो इसके द्वारा वह उसे प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— पुनि इंद्रिन्ह कर रूप बखानउँ। जो यथार्थ निज उर महँ जानउँ॥
अहं प्रथम इंद्रिय दुखदाई। जो जनमाय इंद्रिं समुदाई॥

पुन: मैं इन्द्रियों के स्वरूप को बता रहा हूँ जिस यथार्थ [रहस्य] को मैं अपने हृदय के द्वारा जानता हूँ। उनमें अहंकार ही अत्यन्त दु:ख देने वाली प्रथम इन्द्रिय है जो समस्त इन्द्रियों के समुदाय को जन्म देती है।

दूसर तम जो याहि सहाई। सत रज तम तिनि एहि जनमाई॥
छठि इंद्रिय प्रारब्ध कहावे। जो सप्तम तन बनि जग आवे॥

दूसरी इन्द्रिय अज्ञान है जो इसकी सहायक है। यही 'सत्, रज, तम' रूपी तीनों इन्द्रियों को प्रकट करती है। छठी इन्द्रिय प्रारब्ध है तथा जो सातवीं इन्द्रिय है, वह जगत में शरीर बनकर आयी हुई है।

यहि बनि गयो चतुर्दस इंद्रिय। यातें एहि कहँ कहउँ अतिंद्रिय॥
पंच बिषय अरु बृत्तिहु पाँचइ। काम क्रोध सब इंद्रिय साँचइ॥

यह प्रारब्ध ही चौदहों इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्त:करण) बना हुआ है, इसीलिए

मैं इसे अतीन्द्रिय कहता हूँ। इसी प्रकार पाँच विषय और पाँच वृत्तियाँ तथा काम-क्रोधादि सभी वस्तुत: एक-एक इन्द्रिय ही तो हैं!

इंद्रिय बाह्य मातु पितु भ्राता। हित मित तिय सुत जहँ मन राता॥
जग इंद्रिय इक ऐसेइ भाई। जाहि रूप नहिं साँच लखाई॥

उसी प्रकार माता-पिता, भाई, हित-मित्र, स्त्री-पुत्र जहाँ भी मन आसक्त रहता है, बाह्य इन्द्रियाँ ही तो हैं। इसी प्रकार हे सन्तो! जगत भी एक इन्द्रिय है, जिसका यथार्थ स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता।

दोहा— कहँ लगि गिनती करउँ मैं गिनत न पावउँ पार।
जितनोइ नाम रूप जग उतनेइ इंद्रिय द्वार॥ २६(क)॥

[इस प्रकार] मैं कहाँ तक गिनती करूँ क्योंकि गिनती करते हुए तो मैं पार ही नहीं पा सकता। हाँ, [इतना कह सकता हूँ कि] जगत में जितने भी नाम-रूप दिखायी दे रहे हैं, वे सब इन्द्रियाँ भी हैं और इन्द्रियरूप द्वार भी हैं।

रबि ससि नभ जल पवन थल अनल यातु सुर प्रेतु।
त्रिजगजोनि नर इंद्रि लखि अजहूँ तौ तुम्ह चेतु॥ २६(ख)॥

सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि, मनुष्य, देवता, प्रेत, राक्षस एवं त्रियग्योनियों में जितने भी जीव हैं, वे सभी इन्द्रियरूप ही हैं, ऐसा जानकर अब भी तो आप सजग हो जायँ।

चौपाई— हे निज अरि इनि इंद्रिन्ह त्यागी। प्रभु पद गहि होउ बिमल बिरागी॥
करहु जो अस तो तुम्हरे लाने। देखउ पुनि प्रभु काह बखाने॥

हे स्वयं के शत्रुओ अर्थात् अपने ही शत्रु बने साधको! अब भी इन इन्द्रियों का त्यागकर निर्मल वैराग्य से युक्त हो भगवान के चरणों को पकड़ लें। यदि आप ऐसा करते हैं तो देखें कि भगवान पुन: आपके लिए क्या कह रहे हैं।

अर्जुन जो अनन्य चित मोको। भजत सतत बिषयन्हि तजि सोको॥
दस बिस बरस गिनत नहिं कबहूँ। अर्पत निज जीवन मोहिं सबहूँ॥

हे अर्जुन! जो अनन्य चित्त से विषय और शोक-सन्ताप आदि को त्यागकर मुझे निरन्तर भजते हैं तथा दस-बीस वर्षों की कभी भी गिनती न करके समस्त जीवन ही समर्पित कर देते हैं-

तजत न पल आधौ बिनु सुमिरन। पल बिश्राम न करत कबहुँ मन॥
तेहि कहँ सहज मिलउँ मैं धाई। नेकु न संसय एहि महँ भाई॥

जो आधे पल के लिए भी स्मरण किये बिना नहीं रहते तथा जिनका मन पलभर भी विश्राम नहीं करता, उन्हें मैं अविलम्ब आकर सहज ही मिल जाता हूँ। हे प्रिय! इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

यदि कह तैं तुव दरसन पाये। परम लाभ सुख का मिलि जाये॥
तौ सुनु प्रिय सच सच मैं भाषउँ। तोसों कछु न गुप्त अब राखउँ॥

यदि तुम कहते हो कि आपके दर्शन प्राप्त कर लेने से किस परम लाभ और परम सुख की प्राप्ति हो जायेगी, तो सुनो! मैं उसे सच-सच बता रहा हूँ, तुमसे अब कुछ भी गुप्त नहीं रखूँगा-

मोहिं पाइ पावहिं निज रूपा। साक्षी सत अक्षरहिं अनूपा॥

जब वे मुझे प्राप्तकर लेते हैं तो अपने साक्षी, सत्, अक्षर एवं अनुपम स्वरूप को प्राप्त कर-

दोहा— पुनि न असास्वत तन गहत जो त्रिताप भंडार।
पर निज भक्तन्ह हेतु पुनि आवहिं गहि अवतार॥ २७॥

पुन: नाशवान शरीर को प्राप्त नहीं होते जो तीनों तापों का भण्डार है, परन्तु हाँ, पुन: वे अपने भक्तों के कल्याणार्थ [उनके उद्धार आदि के लिए] अवतार लेकर आते हैं।

चौपाई— पार्थ बिचारहिं अतिहिं चकित चित। अपर लोक कोउ पाइ आयँ कित॥
प्रभु उर जानि कहत हरषाई। हाँ सच यहइ अहइ सुनु भाई॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन अत्यन्त चकित चित्त से सोचने लगते हैं कि क्या कोई अन्य लोक को प्राप्त करके भी पुन: [इस मृत्युलोक को] आता है? तब भगवान उनके हृदय की बात जानकर हर्षित होकर कहते हैं कि हाँ, हे

प्रिय! सुनो, सच तो ऐसा ही है-

ब्रह्मलोक लगि सबरें लोका। पाइ आयँ नहिं होहिं असोका॥
लोक सकल सुनु काल अधीना। ताकें सम्मुख सबरें दीना॥

कि जो पुरुष ब्रह्मा के लोक से लेकर अन्यान्य लोकों को प्राप्त करते हैं उन्हें पुन: संसार में आना पड़ता है अत: उनका शोक-सन्ताप नहीं जाता। अरे! सुनो, समस्त लोक तो काल के ही अधीन हैं उस काल के सामने सभी असहाय हैं।

सहस चतुर्जुग अवधी वारो। होत एक दिन अज कर भारो॥
इतनेइँ बरष होइ इक राती। सतक बरष बीते अस पाँती॥

जैसा कि हजार चतुर्युगों की अवधि वाला ब्रह्मा का एक विशाल दिन होता है और इतने ही वर्षों की एक रात्रि होती है। इस प्रकार इस शृंखला का जब सौ वर्ष बीत जाता है-

तब बिधिहू तन जाय नसाई। ऐसो कहत जोगिजन भाई॥

तो ब्रह्मा का भी शरीर नष्ट हो जाता है, हे प्रिय! ऐसा समस्त योगीजन कहते हैं।

दोहा— प्रगटत अज प्रगटाय जग सोवत सब जग लीन।
पुनि पुनि आयें जायँ सोइ निज स्वभाव आधीन॥२८॥

अत: ब्रह्मा के प्रकट होते ही यह चराचर जगत प्रकट हो जाता है और उनके सोते ही [अर्थात् अव्यक्तरूप होते ही] उन्हीं में लीन हो जाता है [जिसे प्रलय होना कहा जाता है। इसी प्रकार सृष्टि का क्रम चलता रहता है]। यही सृष्टि लीन हो-होकर अपने स्वभाव के वशीभूत हुई प्रकट होती रहती है।

चौपाई— किंतु ब्रह्म जो परम सनातन। निराकार निर्गुनहु पुरातन॥
ब्रह्मा जेहि महँ जाहिं समाहीं। सो एहि अब्यक्तहिं सम नाहीं॥

किन्तु जिसमें ब्रह्मा भी विलीन हो जाते हैं वह 'सनातन, निराकार, निर्गुण और पुरातन' परब्रह्म इस अव्यक्त (मूल प्रकृति) के समान नहीं है।

अक्षर परम जाहिं जहँ भक्ता। सोइ कहाय परम अब्यक्ता॥
जहँ सों पुनि नहिं आवन होई। सोइ बर धाम परम गति सोई॥

परम अक्षर ब्रह्म वह है, जहाँ भक्तगण जाते हैं और वही परम अव्यक्त भी कहा जाता है। [निश्चित ही] जहाँ से पुनरागमन नहीं होता वही मेरा परम धाम है, वही परम गति है।

परमधाम तेहि पावैं कैसे। कहउँ सोइ तू लख अब जैसे॥
जासों अतिसय श्रेष्ठ न कोऊ। सब जग जेहि महँ स्थित होऊ॥

[अब यदि कहते हो कि] 'उस परमधाम को कैसे प्राप्त करें?' तो वही कह रहा हूँ जैसे वह प्राप्त होता है, उसे जान लो। [हे धैर्यवान!] जिससे परम श्रेष्ठ कोई नहीं है, जिसमें सारा जगत स्थित है,

जासों ब्याप्त सकल जग ऐसे। घट पट बाह्यान्तर नभ जैसे॥
मिलत अनन्य भक्ति बिभु सोई। जप तप जोग न साधन कोई॥

जिससे समस्त जगत ऐसे ही व्याप्त है जैसे घट-पट के भीतर-बाहर आकाश व्याप्त है। वह परम अक्षर ब्रह्म जप, तप, योग अथवा किसी अन्य शक्ति (साधन) से नहीं मिलता बल्कि अनन्य भक्ति से ही मिलता है।

दोहा— सर्ब ब्रह्म अनुभाय उर यहि अनन्यता होय।
आगम निगमहु यहि बदें तात अपर नहिं कोय॥२९॥

[यदि पूछते हो कि अनन्य भक्ति क्या है तो सुनो,] हे तात! 'सब कुछ ब्रह्म ही है उससे अन्य कोई नहीं है'- ऐसा हृदय में [निरन्तर] अनुभव होते रहना ही अनन्य भक्ति है, ऐसा ही आगम-निगम भी कहते हैं।

चौपाई— महाराज भक्तन्ह बिच आई। पुनि प्रभु कहनो कहइ सुहाई॥
जनु प्रभु कह जग बिधिहिं कलपना। मानि अपुन जेहि करहु जलपना॥

महाराज अब भक्तों के मध्य आकर पुन: भगवान की सुहावनी वार्ता को सुना रहा है। मानो भगवान कह रहे हैं

कि यह जगत ब्रह्माजी की कल्पना है जिसे आप अपना जगत मानते हुए प्रलाप कर रहे हैं।

यासों सब जग ताकर रूपा। निर्गुन ब्रह्म सर्ब जग छूपा॥
जाहि देह तुम्ह आपुन मानहु। मात्र कलपना अज की जानहु॥

इसलिए सारा जगत उसी का रूप है तथा निर्गुण ब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत में छिपा हुआ है। जिस शरीर को आप अपना मान रहे हैं वह [यथार्थ में] ब्रह्मा की कल्पना मात्र है।

एहि तन सोय जगे मति जोई। साँचि कहउँ परमेष्ठिन सोई॥
सोइ नित सृजि संघारति सपुनहिं। जेहिं भ्रम बस समझहु तुम्ह अपुनहिं॥

अत: इस शरीर में जो बुद्धि सोती और जगती है, सत्य कहता हूँ कि वही परमेष्ठी ब्रह्मा है। वही नित्य ही स्वप्नों का निर्माण और प्रलय करती है, जिसे भ्रमवश ही आप अपना [स्वप्न] कहते हैं।

जदपि सकल दृस्यहि जो भासे। तुम्ह निर्गुन महँ प्रगटि सो नासे॥

जबकि जो सम्पूर्ण दृश्य भास रहा है, वह आप निर्गुण ब्रह्म में ही प्रकट होकर आप में ही विलीन हो जाता है।

दोहा— अहो मोह कस तोर अस तन तव रूप न होय।
लखहु होइ सम साक्षि सुध तौ सच पावहु जोय॥३०॥

अहो! आपका यह मोह कैसा है [कि आप इस शरीर को ही अपना रूप मान रहे हैं] यह शरीर आपका स्वरूप नहीं है, अत: आप यदि [स्वयं को] शुद्ध, साक्षी और सम होकर देखें तो जो आपका यथार्थरूप है, उसे प्राप्त कर जायेंगे।

चौपाई— गहहु अबहुँ चेतन बपु नागर। जासें होइ रहहु सुख सागर॥
तन तजि यदि अपुनो महँ होऊ। तुम्हसों अपर न आगर कोऊ॥

अत: हे बुद्धिमान! आप अभी भी अपने आत्मस्वरूप को ग्रहण कर लें जिससे सदा सुख के सागर बने रहेंगे। यदि आप इस शरीर [भाव] को त्यागकर अपने द्रष्टा (आत्म)स्वरूप में स्थित हो जायँ तो आपसे [बढ़कर] कोई अन्य बुद्धिमान भी नहीं है।

कर्ता कर्म क्रिया सब बिधि कर। निसि बासर गुनि भवसागर तर॥
ऐसो करत काल नहिं लेखे। बरु बिधना तिरछें दृग देखे॥

अत: आप रात-दिन, 'कर्ता, क्रिया व कर्म' को [अपना न मानते हुए] ब्रह्मा का मानकर भवसागर को पार कर जायँ। ऐसा करने से काल आपकी ओर नहीं देखेगा, भले ब्रह्मा की ओर टेढ़ी आँख से देखता रहे।

एक बात प्रभु कर संकेतौ। जानि यथार्थ अबहुँ चित चेतौ॥
सो यह कै जो काल कराला। ग्रसत बिरंचिहु चलि निज चाला॥

एक बात यह है कि भगवान के संकेत को यथार्थरूप में ग्रहण कर अभी भी आप सजग हो जायँ, वह यह कि जो अत्यन्त बलवान काल है वह अपने स्वभावानुसार ब्रह्मा को भी निगल लेता है-

सो यह तन तुम्हरो नहिं माने। समय जानि आवत यहि खाने॥

वह इस शरीर को आपका नहीं मानता है [भले ही आप इसे अपना मानते रहें] इसीलिए समयानुसार इसका ग्रसन करने आ ही जाता है।

दोहा— जदपि तुम्हहिं नहिं मारि सक तुम्ह कालहु के काल।
आत्मरूप महँ यदि रहौ तौ तुम्ह जग प्रतिपाल॥३१॥

जबकि वह आपको नहीं मार सकता, क्योंकि आप तो काल के भी काल हैं। अत: यदि आप आत्मरूप होकर रहें तो आप ही जगत के प्रतिपालक [अर्थात् उसकी सब प्रकार से रक्षा करने वाले] हैं।

चौपाई— अहउँ आतमा नित उर आवे। यहि समुझत जब ब्रह्महिं पावे॥
पुनि काहे नहिं मानहु ऐसो। ऋषि मुनि सबरे कीन्हें जैसो॥

अरे! 'मैं नित्य आत्मा हूँ'- ऐसा भाव सदा हृदय में धारण करने से ही ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है; तो फिर आप ऐसा क्यों नहीं मानते जैसा समस्त ऋषि-मुनियों ने किया है?

यामें लाग न एकउ कौड़ी। चढ़नो परे न एकउ पौड़ी॥
एहि मानन महँ पाप न बाधे। बरु कोउ बरन जाति कर साधे॥

इसमें न तो एक भी कौड़ी ही व्यय होती है और न ही एक भी सीढ़ी ही चढ़नी पड़ती है तथा इसे मानने में पाप भी बाधा नहीं डालता है; भले ही कोई किसी भी वर्ण एवं जाति का हो, सभी इस साधना को कर सकते हैं।

पुनि कित काहि लखहु तुम्ह आजहु। निरखहु आपुहिं कह महराजहु॥
कह संजय नृप प्रभुहिं न चाहउ। बात न कोउ निज कहँ अवगाहउ॥

फिर आप किधर और किसे देख रहे हैं! महाराज के अनुसार आज ही आप अपने आत्मस्वरूप को देख लें। उधर सञ्जय [धृतराष्ट्र से] कह रहे हैं कि हे राजन्! आप यदि भगवान को नहीं चाहते हैं तो भी कोई बात नहीं किन्तु कम से कम स्वयं को तो स्वीकार करें।

भयो सिद्ध यह तुम्ह तन नाहीं। नित अबिकार आतमा आहीं॥
संजय भलीभाँति सब जानउँ। पर तोसों अब काह बखानउँ॥

यह तो सिद्ध हो ही गया कि आप शरीर नहीं हैं अपितु नित्य निर्विकार आत्मा हैं। [तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा-] हे सञ्जय! मुझे सब कुछ समझ में आ गया है, किन्तु अब मैं तुमसे क्या कहूँ..... ?

दोहा— कहुँ होतो मोरी जगह पुछितौं संजय तोहिं।
स्वयंहि अति घायल अहउँ जनि चिढ़ाव बहु मोहिं॥ ३२॥

यदि तुम आज मेरी जगह पर होते तो मैं भी तुमसे पूछता, अरे! घायल तो मैं अपने आप से हूँ ही! अब मुझे और विशेष मत खिझाओ!

चौपाई— महाराज कह कस यो हाला। तुम्हरे सीसहिं नाचत काला॥
बलि पसु सम पुनि खावहु पीवहु। अरु उन्हके सम हर्षित जीवहु॥

[हे साधको!] महाराज कह रहा है कि यह कैसी [विचित्र] स्थिति है कि आपके मस्तक पर काल नाच रहा है तो भी बलि देने के लिए रखे गये पशुओं के समान आप खा-पी रहे हैं और उन्हीं के समान प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन कर रहे हैं ?

अजहुँ बिलोकहु काल कसाई। जेहि के सम्मुख कछु न बसाई॥
एक उपाय हाथ अब भाई। अहउँ आतमा समुझु दृढ़ाई॥

अरे! अभी भी तो आप कालरूपी कसाई को देखें जिसके सामने किसी का वश नहीं चलता है। हाँ, अब आपके हाथ में एक ही उपाय है कि 'मैं आत्मा हूँ'- आप दृढ़ता के साथ इसे धारण कर लें।

देखत काल डरे पुनि तोहीं। अस न होय तब देखहु मोहीं॥
लखहु काह अब कह यदुराई। सुनत परंतप जेहि गहराई॥

फिर तो आपको एकमात्र देखने से ही काल डरता रहेगा, और यदि ऐसा न हो तो आप मुझे देख लेना [अर्थात् दण्ड दे देना]। अब आप देखें कि भगवान यदुनाथ क्या कह रहे हैं जिसे परंतप अत्यन्त गम्भीरता से सुन रहे हैं ?

सोरठा— पार्थ जाहि मग जाइ जोगीजन नहिं आवहीं।
अरु अन्यहिं अपनाइ आवहिं जग अब ताहि सुनु॥३३॥

हे पार्थ! अब उस मार्ग के विषय में सुनो- जिससे जाकर योगीजन पुनरावर्ती गति को प्राप्त नहीं होते; और उस मार्ग को भी जानो जिससे शीघ्र ही लौटना पड़ता है।

चौपाई— अबलौं नहिं इनि मारग जानहु। यासों कहउँ साँच एहि मानहु॥
बहुरि तुम्हहिं जो मग प्रिय लागे। निज जीवन तेहि गहहु सुभागे॥

हे प्रिय! तुम अब तक इन दोनों मार्गों को जानते ही नहीं हो, इसी कारण मैं बता रहा हूँ, इसे सत्य मानो। हे भाग्यवान! फिर तुम्हें जो मार्ग प्रिय लगे तुम अपने जीवन में उसी का अनुसरण करना।

नृप सों रंक होन को चावत। सुधा चाखि पुनि बिष केहि भावत॥
करत दयानिधि सोइ इहँ भाई। दैं पार्थहिं सुभ असुभ दिखाई॥

[यह तो सभी जानते हैं कि] राजा होकर रंक होना कौन चाहता है? अरे! अमृत का रसास्वादन करके पुनः विष किसको प्रिय लगता है! हे मित्रो! दयानिधान भगवान यहाँ यही तो कर रहे हैं! वे महात्मा अर्जुन को शुभ और अशुभ [क्या है इसको स्पष्ट] दिखा रहे हैं।

सुभ लखि असुभ देत सब त्यागी। जो हरि चरन भगत अनुरागी॥
सत्यासत्यहिं बिनु पहिचाने। गहे सत्य कस जगत सयाने॥

जो भक्त भगवान के चरणों के अनुरागी होते हैं वे शुभ को देखकर अशुभ का त्यागकर देते हैं। हे बुद्धिमान्! इस जगत में सत्य और असत्य के स्वरूप को जाने बिना सत्य को कैसे स्वीकार किया जा सकता है!

यहि सतमार्ग दिखावहिं साईं। भारत लखहिं सिष्य की नाँईं॥

अतः सत्य के इसी मार्ग को भगवान यहाँ दिखा रहे हैं जिसे महात्मा अर्जुन भी शिष्य के समान देख रहे हैं।

छन्द— जेहि मार्ग अर्जुन अगिनि ज्योती दिवस सुक्ल बिबुध अहैं।
अरु उत्तरायन कर सुरहु तेहि पथ गमन करि बिभु लहैं॥
जहँ सों न आवन होय पुनि ते ब्रह्म बनि बहु भावते।
जेहि परमपद निर्वाणपद अरु मोक्षपद मुनि गावते॥

[हे अर्जुन!] जिस मार्ग में अग्नि का देवता, ज्योति का देवता, दिन का अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष का देवता और उत्तरायण का देवता है, उस मार्ग से क्रमानुसार देवताओं द्वारा ले जाये जाकर ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़ता। वे पुरुष ब्रह्मरूप होकर अत्यन्त शोभित होते हैं जिसे मुनिजन परमपद, निर्वाणपद और मोक्षपद कहते हैं।

हे पार्थ जेहि मग धूम निसि अरु कृष्ण पख कर सुर अहैं।
अरु दक्षिणायन कर सुरहु तिहिं पंथ गहि स्वर्गहिं लहैं॥
ते पुरुष भोगहिं स्वर्ग सुख अति पुन्य जब लगि तिन्ह अहै।
इह लोक आवहिं बिबस पुनि सच पुन्य उन्हकर जब दहै॥

[तथा इसके विपरीत] जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता, रात्रि का देवता, कृष्णपक्ष का देवता तथा दक्षिणायन का देवता है, उनके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त कर वे पुरुष स्वर्ग सुख तबतक भोगते हैं जबतक उनका पुण्य रहता है किन्तु यह भी सत्य है कि जब पुण्य समाप्त हो जाता है तब विवश होकर पुनः इसलोक में लौट आते हैं।

सोरठा— भारत यह अतिगूढ़ मरम बतायों आज तोहिं।
जानहिं नाहिं बिमूढ़ बिषय मद्य जिन्ह नित रुचै॥ ३४॥

हे भारत! आज मैंने यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य तुमको बताया है जिसे वे मूढ़ पुरुष नहीं जान सकते, जिन्हें सदा विषयरूप मद्य (शराब) ही अच्छा लगता है।

चौपाई— महाराज याकेहु संकेता। तुम्हहिं बताय होउ चित चेता॥
पौराणिक मत भीष्म अराधें। यासें सो निज स्वर्गहिं साधें॥

महाराज अब आपके बीच आकर इसका संकेत बता रहा है अतः आप सजग चित्त हो जायँ। यह [उपरोक्त अर्थ] पौराणिक मत है जिसे पितामह भीष्म स्वीकार करते हैं इसलिए वे [उपरोक्त मतानुसार] अपने लोक को प्राप्त करना चाहते हैं!

ते अष्टम बसु मुक्त न होवें। बरु उतरायन महँ तन खोवें॥
पर ज्ञानिन्ह कर प्रान न जावे। अंत समय उन माहिं समावे॥

वे तो [वसु नामक देवताओं में से] आठवें वसु हैं, अतः मुक्त नहीं होंगे भले उत्तरायण में ही शरीर त्याग करेंगे; किन्तु ब्रह्मज्ञानियों का तो प्राण कहीं आता-जाता नहीं है अपितु अन्त समय में उन्हीं में विलीन हो जाता है।

मर्म कहउँ यहि मंत्रहिं खोली। गहहु याहि अब निज उर झोली॥
जब उर होय ब्रह्म जिज्ञासा। करहु तबहिं तुम्ह सदगुरु आसा॥

इसलिए मैं इस मंत्र के रहस्य को खोलकर बता रहा हूँ जिसे आप अब अपनी हृदयरूपी झोली में धारण करें। जब हृदय में ब्रह्मप्राप्ति की जिज्ञासा प्रकट होती है, तभी आप सद्गुरु की चाहना करते हैं।

तब तुव प्रभु सदगुरु पहिं लावे। सोइ अनल सुर इहाँ कहावे॥
सो पहुँचाय ज्ञान के पासा। कह्यो जाय जो ज्योति प्रकासा॥

और तब आपका इष्ट आपको सद्गुरु के पास पहुँचा देता है वही सद्गुरु यहाँ अग्नि देवता कहा गया है वही ज्ञान के पास पहुँचा देता है जो ज्योति या प्रकाश कहा जाता है।

सो निर्मल बैराग्य दिलावे। जो आध्यात्मिक अहः कहावे॥
ब्रह्मध्यान पहिं सो पहुँचावे। सुक्ल पक्ष सोइ इहाँ कहावे॥

वह [ज्ञान नामक देवता] निर्मल वैराग्य प्रदान कर देता है जो अध्यात्म पथ में दिन नामक देवता कहलाता है और वह वैराग्य नामक देवता ब्रह्मध्यान तक पहुँचा देता है, वही यहाँ शुक्लपक्ष कहा गया है।

छंद— सो देत ब्रह्म समाधि जेहि कहँ उत्तरायन कह प्रभू।
जासों लखे सब अहं हौं जहँ तहँ लखाय बिभु बिभू॥
कहलाय योई ब्रह्मपद जेहि पाइ नहिं आनो परे।
महराज गूढ़ लखाय बानी जेहि रुचे ध्यानहिं धरे॥

और वह [ब्रह्म-ध्यानरूपी शुक्ल पक्ष का देवता] ब्रह्म-समाधि (ज्ञान समाधि) को दे देता है जिसको भगवान ने उत्तरायण नामक देवता कहा है जिससे सबकुछ आत्मरूप ही दिखाई पड़ने लगता है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखायी पड़ने लगता है; यही ब्रह्मपद कहलाता है जिसको प्राप्त करके पुनरागमन नहीं होता। इस प्रकार महाराज ने [भगवान की वाणी द्वारा प्रकट] इस गूढ़ रहस्य को स्पष्ट किया है जिसे इसपर श्रद्धा हो वह इसके अनुसार चले।

दोहा— भक्ती पथ सों जो चलैं हरिपद पावन हेतु।
उनकेउँ मरम लखाउँ मैं जो भवसागर सेतु॥ ३५॥

उसी प्रकार जो भगवत्पद प्राप्ति के लिए भक्तिपथ से चल रहे हैं, मैं [इस मंत्र के माध्यम से] उनके लिए भी इस मर्म को प्रकट कर रहा हूँ जो संसाररूपी सागर को पार करने के लिए सेतु के समान होगा।

चौपाई— उनकेउँ सदगुरु अगिनि कहावे। सो हरि नामहिं ज्योति गहावे॥
सो गहाय भक्ती अति पावन। पुनि सोउ दै बैराग्य सुहावन॥

उनके लिए भी सद्गुरु ही अग्नि देवता कहा गया है जो भगवन्नामरूपी ज्योति तक पहुँचा देता है वह ज्योति नामक देवता अत्यन्त पावन भक्ति दे देता है, फिर वह पावन भक्ति नामक देवता दिव्य वैराग्य [शुक्लपक्ष नामक देवता] को दे देता है।

मिलति ताहि सों सगुण समाधी। जासे जाय सहज तम ब्याधी॥
पुनि प्रभु धाम पाइ नहिं आवे। महाराज अस मरम लखावे॥

उसके द्वारा सगुण समाधि [उत्तरायण नामक देवता] की प्राप्ति हो जाती है जिससे सहज ही अज्ञानरूपी व्याधि चली जाती है और पुनः भगवद्धाम को प्राप्तकर पुनरागमन नहीं होता है; महाराज ऐसा रहस्य दिखा रहा है।

योगमार्ग सों जो प्रभु ध्यावहिं। सहजहिं सोउ परमपद पावहिं॥
उनकेउँ सदगुरु अग्नि कहावत। योग अंग बहिरंग गहावत॥

योग मार्ग के द्वारा जो भगवान को पाना चाहते हैं, वे भी सहज ही परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। अतः उनका भी सद्गुरु ही अग्नि कहा गया है जो [शिष्य को] योग के बाह्य अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा) को पकड़ा देता है।

सोइ बर ज्योति देव कहलावे। सो पुनि दिब्य ध्यान पकरावे॥
चक्र भेदि सो देत समाधी। जासों नष्ट होय उर ब्याधी॥

वही श्रेष्ठ ज्योति नामक देवता कहा जाता है और वह [बहिरंग साधन पकड़ में आने पर] दिव्य ध्यान में प्रतिष्ठित कर देता है साथ ही वह [ध्यान] चक्रों का भेदन कर समाधि दे देता है जिससे हृदय की समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है।

दोहा— सर्ब ब्रह्म लखि ताहि सों अपर लखाय न कोउ।
परम ब्रह्मपद पाइ पुनि आय जाय नहिं सोउ॥३६॥

उसी समाधि से वह 'सब कुछ ब्रह्म ही है'- ऐसा देखता है, [ब्रह्म के अतिरिक्त] कुछ अन्य नहीं देखता। इस प्रकार वह परम ब्रह्मपद को प्राप्तकर पुनरागमन से मुक्त हो जाता है।

चौपाई— जेहि मग जाइ आइ दुख पावत। ताकोहु सुरन्ह सुनहु अब गावत॥
कुलगुरु जाकर सुक्र समाना। तेहि सुर धूम कहत भगवाना॥

अब जिस मार्ग से आवागमन करके दु:ख प्राप्त करना पड़ता है उसके भी देवताओं को कहा जा रहा है, सुनें- जिसके कुलगुरु शुक्राचार्य के समान हैं उसी कुलगुरु को [यहाँ] भगवान धूमाभिमानी देवता कह रहे हैं।

सो सकाम सुर दै पकराई। रात्रि देव जो इहाँ कहाई॥
स्वर्ग कामना सो पकराये। कृष्णपक्ष सुर नाम धराये॥

वह गुरु सकामता नामक देवता तक पहुँचा देता है, जो यहाँ रात्रि नामक देवता कहा गया है। वह [सकामता नामक देवता] स्वर्ग की कामना प्रकट कर देता है जो कृष्णपक्ष नामक देवता कहा जाता है।

सोइ स्वर्ग हित यज्ञ करावत। साँच दक्षिणायन तेहि गावत॥
सो सुर देत महत सुरलोका। पुन्य नसत आवत नरलोका॥

वह [कामना नामक देवता] स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त यज्ञ करा देता है, हे मित्रो! उसे यथार्थ में दक्षिणायन कहा जाता है। वह [सकाम यज्ञ दक्षिणायन नामक] देवता महत् देवलोक को दे देता है, जहाँ से पुण्य का नाश हो जाने पर पुन: [शोकयुक्त होकर] मृत्युलोक में आना पड़ता है।

अपर अर्थ पुनि एहि अवलोकहु। जाहि समुझि त्यागहु उर सोकहु॥
अज्ञानी गुरु अरु पितु माता। जिन्ह कहँ एकमात्र प्रिय गाता॥

पुन: इसका एक अन्य अर्थ भी देख लें जिसका मनन कर हृदय के शोक-सन्ताप का परित्याग कर दें। [सच पूछा जाय तो] अज्ञानी गुरु और अज्ञानी माता-पिता जिनको एकमात्र शरीर ही प्रिय है-

दोहा— सोइ सुर धूम देवता मैं तू निसि पहुँचाय।
सो भेजत सुर मोह पहिं कृष्णपक्ष कहलाय॥३७(क)॥

वे ही यहाँ धूमाभिमानी देवता हैं, जो मैं-तू रूपी रात्रि देवता के पास भेज देते हैं। वह [रात्रि नामक देवता] मोहरूपी देवता के पास भेज देता है, जो कृष्णपक्ष कहा जाता है।

सोरठा— स्वर्ग काम सो देत जाहि दक्षिणायन कहत।
माया फाँसी लेत अस लखाय नहिं परम प्रभु॥३७(ख)॥

और वह मोहरूपी देवता स्वर्ग की कामना को देता है जो दक्षिणायन नामक देवता कहा जाता है जिस कामना से सभी ऐसी मायामय फाँसी में फँस जाते हैं कि ब्रह्म दिखायी ही नहीं पड़ता।

चौपाई— अब रनभूमि चलउँ सब संगा। जहँ होवेगो माया दंगा॥
तहँ प्रभु बिहँसि कहत पारथ सों। अब तू सोभत परमारथ सों॥

अब मैं सभी के साथ रणभूमि में चल रहा हूँ जहाँ [कुछ ही समय के उपरान्त] मायारूपी युद्ध होने वाला है। वहाँ पर भगवान नारायण विहँसते हुए पार्थ से कह रहे हैं कि हे पार्थ! अब तुम परमार्थरूप होकर शोभा दे रहे हो।

नृप धृतराष्ट्र धूम सम भाई। करनी जिन्हकी कही न जाई॥
उननेउँ दुर्योधनहिं पुकारी। मैं तू रात्रि देव कहँ पारी॥

हे प्रिय! राजा धृतराष्ट्र ही [यहाँ] धूमाभिमानी देवता के समान हैं जिनके कर्मों की कथा कहते नहीं बनती क्योंकि उन्होंने दुर्योधन को पुकार कर (अपना मानकर) मैं-तू नामक रात्रि के देवता के पास भेज दिया है।

सो सुर मूढ़ कृष्ण पख दीन्हो। सो सकुनी दछिणायन कीन्हो॥
सो तेहिं अबलगि नृपति बनायो। ताकर अब सब पुन्य नसायो॥

और उस [मैं-तू नामक] देवता ने उसे मूढ़तारूपी कृष्णपक्ष नामक देवता के पास भेज दिया तथा उसने उसे शकुनि नामक दक्षिणायन देवता के पास भेज दिया और उसने अब तक उसे राजा बनाकर रखा जिसका अब सम्पूर्ण पुण्य नष्ट हो गया है।

दोहा— मरि दुर्योधन संग सब कछु दिवि बास कराइ।
नसत पुण्य बड़ पाप सों नरक गिरहिं भहराइ॥३८॥

दुर्योधन के साथ-साथ सभी वीरगति को प्राप्त हो कुछ दिन स्वर्ग में वास करके पुण्य के नष्ट हो जाने पर महत् पाप के प्रभाव से भहराकर नरक में गिर जायेंगे।

चौपाई— सुक्ल कृष्ण दोउ मार्ग सनातन। इन्हहिं कहति श्रुति सर्ब पुरातन॥
सुक्ल मार्ग निष्काम कहावत। कृष्णहिं पक्ष सकाम बतावत॥

[हे वीर!] शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग- ये दोनों मार्ग सनातन हैं तथा इन्हें ही श्रुति सर्वथा पुरातन बताती है। यह शुक्ल पक्ष ही निष्काम कहा जाता है तथा कृष्ण पक्ष सकाम बताया जाता है।

आय न पुनि सुक्लहिं सों भाई। कृष्ण पक्ष सों आवत धाई॥
भारत लये जो दोउ मग जानी। उन्हकी मति नहिं कछु भरमानी॥

हे प्रिय! शुक्ल पक्ष में प्राण छोड़ने से पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता तथा कृष्ण पक्ष में [प्राण छोड़ने से] शीघ्र ही [मृत्युलोक में] लौटना पड़ता है। हे भारत! जो इन दोनों ही मार्गों को जान लेते हैं उनकी बुद्धि थोड़ी भी भ्रमित नहीं होती।

परम ज्योति मग लह हरषाई। तहुँ नित योगयुक्त होउ भाई॥
एहि बिनु मिले न बर बिश्रामा। जाको कह्यो जाय बिभु धामा॥

अत: हे महाबाहो! तुम भी दिव्य ज्योतिस्वरूप शुक्ल मार्ग को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके नित्य योगयुक्त हो जाओ। क्योंकि इसके बिना परम विश्राम नहीं मिल सकता जिसको ब्रह्मधाम कहा जाता है।

सर्बकाल निज कहँ बिसराये। यासें निसि बासर प्रभु धाये॥

सम्पूर्ण कालों में स्वयं (आत्मरूप) को भुला दिया गया है इसीलिए तो अहर्निश भगवान का स्मरण करना होगा-

दोहा— तबहिं नसत अज्ञान अरु संसय भ्रम समुदाय।
अबिगत गत होइ जाय सब आतमरूप लखाय॥३९॥

तभी अज्ञान, संशय एवं भ्रम आदि के समुदाय नष्ट हो सकते हैं और जो ब्रह्म जानने में नहीं आता, वह जानने में आ जाता है तथा यहाँ सभी आत्मरूप ही दिखाई पड़ने लगते हैं।

चौपाई— महाराज प्रभु कथनी ध्यानत। यासें पुनि पुनि इहाँ बखानत॥
यहुँ प्रभु कहे सजग उर होऊ। योगयुक्त नित जनम न खोऊ॥

महाराज का तो भगवान के वचनों पर ही ध्यान है इसलिए उसका बारम्बार यहाँ वर्णन कर रहा है। यहाँ पर भी भगवान ने कहा है कि हृदय से सजग होकर नित्य योगयुक्त हो जायँ और जीवन को व्यर्थ न जाने दें।

आत्मरूप निसि बासर ध्यावे। अरु इक पल साक्षित्व न जावे॥
देह भाव सच तबहिं नसावे। नातरु कोटि जनम नहिं जावे॥

जब दिन-रात आत्मरूपता का स्मरण करेंगे तथा एक पल के लिए भी साक्षित्व का लोप नहीं होगा तभी यथार्थ में देहभाव का नाश होगा अन्यथा करोड़ों जन्मों में भी वह नहीं जायेगा।

तुम्ह सोचहु कल सों स्वीकारउँ। आजौं तो अपुनो करि डारउँ॥
तबहिं काल आवे तुव धौरें। बीचहिं होय और के औरें॥

यदि आप सोच रहे हैं कि कल से [इन बातों को] स्वीकार कर लूँगा, अत: [कम से कम] आज तो अपने मन

की कर लूँ तो उसी समय यदि आपके सामने काल आ जाय अथवा बीच में ही कुछ और का और हो जाय तो [क्या करेंगे] ?

पूर्ब जनम यहि गुनत गँवाये। एहि सों गर्भ बास महँ आये॥

अरे! पूर्व जन्म भी यही विचारते (आज-कल करते) हुए गवाँ दिये इसीलिए तो गर्भवास में आये!

दोहा— भयो अधोमुख गर्भ महँ तउ न हुओ उर चेत।
करहु अबहुँ अज्ञान तजि आत्मरूप सों हेत॥४०॥

अरे! गर्भवास में अधोमुख होने पर भी आपके हृदय में चेत नहीं हुआ! अतः अभी भी अज्ञान को त्यागकर आत्मस्वरूप से प्रेम कर लें।

चौपाई— बाल अवस्था खेलि गँवाये। जौवन तिय सुत धन हित धाये॥
तउ नहिं देह सुरति बिसरानी। चेतहु जरा निपट नियरानी॥

आपने बाल्यावस्था को खेल में व्यतीत कर दिया तथा युवावस्था में स्त्री, पुत्र और धन के लिए ही दौड़ते रहे; तो भी देहभाव की स्मृति नहीं गयी। अरे! अभी भी तो सजग हो जायँ, वृद्धावस्था एकदम निकट आ गयी है।

निज संकल्प समुझि जग धाये। यासें अपुने आपु ठगाये॥
जस सेमर फल रसमय जान्यो। चोंचहि घालि सुवा पछितान्यो॥

अब तक आप अपने संकल्प को ही जगत समझकर [इधर-उधर] दौड़ते रहे, इसीलिए अपने-आप ही ठगाते रहे। जिस प्रकार सेमल के फल को अति रसमय जानकर तोता उसमें चोंच मारकर पश्चात्ताप करता है-

तिमि तुम्ह पंच बिषय महँ सांती। खोजहु पावहु किंतु असांती॥
आत्मसुरति उर कालिख टारन। प्रभु हुंकारत कलिमल हारन॥

उसी प्रकार आप भी पाँचों विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) में शान्ति खोज रहे हैं किन्तु अशान्ति की ही प्राप्ति होती है। अतः भगवान हुंकार भरकर कह रहे हैं कि 'मैं आत्मा हूँ'- ऐसी स्मृति ही हृदय के अज्ञानान्धकार को दूर कर कलियुग के मल का हरण करने वाली है।

कंचन कामिनि हृदय बसानो। हाथ लगे केवल पछितानो॥

आपने हृदय में कंचन और कामिनी को धारण कर रखा है जिससे मात्र पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा।

दोहा— आत्मसुरति गहु अहं तजि प्रभु प्रसन्न अस होयँ।
नातरु इत उत नरक महँ बसहु न रक्षहिं कोयँ॥४१॥

अतः अहंकार का त्याग करके आत्मस्मृति (मैं आत्मा हूँ) को स्वीकार कर लें, ऐसा करने से भगवान नारायण प्रसन्न हो जायेंगे, अन्यथा यहाँ-वहाँ नरक आदि में ही वास करना होगा, कोई रक्षा नहीं करेगा।

चौपाई— जोग महात्म्य कहत प्रभु पुनि पुनि। जागहिं गुडाकेस जेहि सुनि सुनि॥
अष्ट प्रस्न उत्तर समुझायों। मर्म सहित सब ब्रह्म लखायों॥

भगवान नारायण बारम्बार योग का माहात्म्य सुनाये जा रहे हैं जिसे सुन-सुनकर गुडाकेश भलीभाँति सजग हो जायँ। [भगवान ने कहा- हे परम जितेन्द्रिय!] मैंने मर्मसहित आठों प्रश्नों के उत्तर को समझाकर 'सब ब्रह्म ही है'- ऐसा दिखा दिया है।

जो जोगी ऐसो उर धारे। अरु ऐसोई मग अनुसारे॥
सो बेदन्ह स्वाध्याय करन महँ। बैदिक बहु बर यज्ञ चरन महँ॥

अतः जो योगी इसे हृदय में धारण कर इसी मार्ग का अनुसरण करेगा, वह वेदों का स्वाध्याय करने में, श्रेष्ठ वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करने में-

परम श्रेष्ठ बहु तप जो धरनो। अरु सतपात्रन्हि दानहिं करनो॥
जैसो सास्त्र पुन्य फल गावे। ताहि सबहिं अतिक्रम करि जावे॥

बहुत-से परम श्रेष्ठ तपों को धारण करने में और सत्पात्रों को दान देने में शास्त्रों ने जिन पुण्यफलों की बात कही है, उन सबका अतिक्रमण कर जाता है।

पुनि सो आदि परमपद पावत। ऐसोइ संत मुनिहु सब गावत॥
यासें यदि सोचहु गहि माया। यति बनि करउँ बेद स्वाध्याया॥

और फिर वह [सबके] आदि परमपद को प्राप्त कर जाता है, ऐसा ही सभी सन्त एवं मुनिजन कहते हैं। इसलिए [हे पार्थ!] यदि तुम माया के वशीभूत होकर सोचते हो कि 'मैं संन्यासी बनकर वेदों का स्वाध्याय करूँगा-

जाइ बिपिन तप यज्ञहिं सेऊँ। दुर्योधनहिं दान महि देऊँ॥

और दुर्योधन को सम्पूर्ण पृथ्वी का दान देकर वन में जाकर घोर यज्ञ और तप करूँगा'-

दोहा— तौ यह तोरी मूढ़ता योगयुक्त होइ त्यागु।
यहइ कहावत ब्रह्म पथ एहि महँ मन अनुरागु॥४२॥

तो यह तुम्हारी मूर्खता है। अत: योगयुक्त होकर इस विचार को त्याग दो। यही ब्रह्ममार्ग कहलाता है इसलिए इसी में मन को लगाओ।

चौपाई— कह नृप संजय मोहि न आसा। मधुसूदन पर का बिस्वासा॥
दान बेद यग तप कर खंडन। योगयुक्त की बस कर मंडन॥

[उधर सञ्जय से यह सब सुनकर] राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! मुझे तो मधुसूदन से कुछ भी आशा नहीं है। इसलिए इनपर क्या विश्वास किया जाय! वे तो वेद, यज्ञ, तप, दान आदि सबका खण्डन कर एकमात्र योगयुक्तता की ही पुष्टि कर रहे हैं!

नहिं नृप अस न समुझु मन माहीं। यग तप दान पार्थ धन आहीं॥
बिपुल जनम महँ यह सब साधे। प्रभु अर्पित करि तिन्ह अवराधे॥

[तब सञ्जय ने कहा-] नहीं राजन्! आप मन में ऐसा न सोचें; क्योंकि प्रिय अर्जुन ने अनेक जन्मों में 'वेद, यज्ञ, तप, दान' रूपी सम्पत्तियों का उपार्जन कर भगवान को समर्पित करके उन्हीं की आराधना की है।

तिन्हकर फल हरि गुरु करि धारहिं। देह सुरति प्रभु तिन्ह की टारहिं॥
राजन तुम्ह अब सोचहु जैसे। ताकर अरथ बिचारउँ वैसे॥

उन सबको अर्पण करने का ही फल है कि उन्होंने भगवान को सद्गुरु रूप में प्राप्त कर लिया है और वे भी उनकी देहगत स्मृति का निवारण कर रहे हैं। हे राजन्! आप जैसा सोच रहे हैं मैं भी उसका वैसा ही अर्थ कर रहा हूँ।

दानबीर तो कर्णहु राजन। पर न भये कबहूँ हरि भाजन॥
ऐसो दान न दान कहावत। जासे हरि सरणे नहिं आवत॥

हे राजन्! दानवीर तो कर्ण भी हैं जो कभी भी भगवान के प्रिय न बन सके। अत: इस प्रकार का दान [यथार्थ में] दान नहीं कहा जा सकता जिसके फलस्वरूप भगवान की शरण में ही न आया जाय।

भीष्म पितामह सम स्वाध्यायी। गृह आश्रम नहिं कोउ लखायी॥

[हे भूपाल!] पितामह भीष्म के समान कोई अन्य स्वाध्यायी गृहस्थाश्रम में हो- ऐसा दिखायी नहीं पड़ रहा है।

दोहा— ब्रह्मज्ञान नहिं तउ भयो ऐसो ज्ञानहि ब्यर्थ।
स्वजनहिं नहिं समुझाइ सक यासें कोउ न अर्थ॥४३॥

तो भी उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ, अत: ऐसा शास्त्रज्ञान व्यर्थ है। वे तो स्वजनों को ही नहीं समझा सके अत: उनके स्वाध्याय का कोई अर्थ नहीं है।

चौपाई— यदि नहिं माने स्वजन सँघाती। हीत मीत कुल गोतहु जाती॥
तब संन्यास लेइ बन जाते। अबहुँ न इहाँ बिदुर सम आते॥

यदि स्वजन-सँघाती, हित-मित्र, कुल-गोत्र और जाति के लोग [उनकी बात] नहीं माने तो वे संन्यास लेकर वन को चले जाते और इस समय भी महात्मा विदुर के समान [रणभूमि में] आते ही नहीं।

याज्ञिक कृपाचार्य बहु आहीं। पांडुसुतन्ह कर का गुरु नाहीं॥
पुनि उन्हके बिरुद्ध रन आये। यहि कारन प्रभु उर नहिं भाये॥

उसी प्रकार कृपाचार्य भी तो बहुत बड़े याज्ञिक हैं! क्या वे पाण्डवों के कुलगुरु नहीं हैं? तो भी उनके विरुद्ध रणभूमि में आ गये हैं यही कारण है कि अब वे भगवान के हृदय को प्रिय नहीं हैं।

ऐसो बिद्या यग तप कोऊ। प्रभु मत सबहिं निरर्थक होऊ॥
नृप तपसी तो अस्वत्थामा। इष्ट जाहि सिव पूरनकामा॥

अत: ऐसी विद्या, यज्ञ, तप आदि कुछ भी हो, भगवान के मत से सब कुछ निरर्थक ही है। हे प्रजापालक! तपस्वी तो अश्वत्थामा भी हैं जिनके इष्ट आप्तकाम भगवान शंकर हैं।

दुर्योधनहिं तेउ भड़काये। जनु उन्ह कर तप गयो नसाये॥

उन्होंने भी दुर्योधन को बहुत उकसाया है जिससे मानो उनका [सम्पूर्ण] तप नष्ट हो गया है।

दोहा— ऐसो तप केहि काम कर दोउहु लोक नसाय।
यासों बर प्रभु पदकमल गहे अतिहिं हरसाय॥ ४४॥

अत: ऐसा तप किस काम का जिससे दोनों लोक (इहलोक और परलोक) नष्ट हो जायँ। इसलिये अच्छा तो यही है कि अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान के चरणों का आश्रय ले लें।

चौपाई— राजन एहि छन चुप यदुराई। देखहिं अर्जुन सन मुसुकाई॥
घटना एक सुरति तब आई। बिनय किरीटि करहिं अधिकाई॥

हे नरेश! इस समय भगवान यदुनाथ चुप हो गये हैं तथा भक्त अर्जुन की ओर मुस्कुराते हुए देख रहे हैं। तब [किरीटी नाम वाले] महात्मा अर्जुन के मन में एक घटना याद आ गई और वे अन्त:करण से प्रभु की प्रार्थना करने लगे-

कह अबकी उबारु मोहिं साईं। मोरि दसा तेहि खग की नाईं॥
मो सम को अनाथ प्रभु भारी। जो बैठ्यो एहि जग द्रुम डारी॥

वे कह रहे हैं कि हे नाथ! इस बार आप मेरी रक्षा कर लें, मेरे समान सर्वथा अनाथ कौन है? मेरी दशा तो उस पक्षी के समान हो गयी है जो इस जगतरूपी वृक्ष की डाल पर बैठा हुआ है-

भागन चहत भागि नहिं पावे। दोनउ ओरहिं काल लखावे॥
जब तरु त्यागि चहइ बन जाना। तौ झपटै परधर्म सचाना॥

तथा भागना तो चाहता है किन्तु भाग नहीं सकता; क्योंकि दोनों ओर काल दिखायी दे रहा है- जब वृक्ष का परित्याग कर वन को जाना चाहता है तो परधर्मरूपी बाज झपटने को तैयार है-

तरु पर बैठि रहउँ हिय ठाने। तौ प्रिय स्वजन ब्याध सर ताने॥
तहँ तौ कृपा भई यदुराई। गा पारधिहिं उरग डसाई॥

और जब मन में वृक्ष पर ही बैठे रहने का निश्चय करता है तो प्रिय स्वजनरूपी व्याध बाण ताने हुए हैं। हे यदुनाथ! वहाँ पर तो ऐसी कृपा हुई कि बहेलिया सर्प के द्वारा डस लिया गया।

कर सर छूटि गयो नभ आयो। लग्यो सचानहिं सोउ तहँ ढायो॥
इहउँ करहु तस कृपा गुसाईं। जासों संकट जाय नसाईं॥

जिससे उसके हाथ से बाण छूट गया और आकाश की ओर आकर बाज को लग गया जिससे वह वहीं ढेर हो गया। हे नाथ! यहाँ भी वैसी ही कृपा करें जिससे संकट का नाश हो जाय।

छंद— उत पार्थ बंदहिं प्रभु मनहि मन दीन कहि अति भ्राज बस।
इत हरषि ठिठुकी पुलक तन झाँकी लखै महराज अस॥
जस लखति जननी निज सुतहिं तस अब लखैं प्रभु पार्थहीं।
अब चलहु मोहिं सँग जुद्ध महँ जहँ का मिलइ परमार्थहीं॥

उधर रणभूमि में महात्मा अर्जुन स्वयं को अति दीन-हीन कहकर अन्त:करण से भगवान श्रीकृष्ण की वन्दना

करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं। यहाँ उस दिव्य झाँकी को देखकर महाराज का प्रसन्नता से ठिठुका हुआ तन अति पुलकित हुआ जा रहा है। जहाँ भक्त अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण ऐसे देख रहे हैं जैसे कोई माता अपने पुत्र को अत्यन्त वात्सल्यमयी दृष्टि से देखती है। अत: अब आप सब भी मेरे साथ रणभूमि में चलें जहाँ देखते हैं कि अब क्या परमार्थ मिलने वाला है।

दोहा— उमगी प्रभु वत्सल्यता देखि भगत उर भीर।
बहुरि बढ़ावन चहत इहँ पार्थ ज्ञान पट चीर॥४५॥

भक्त के बोझिल हृदय को देखकर भगवान का दिव्य वात्सल्य प्रकट हो गया। अत: वे यहाँ पुन: भक्त अर्जुन के ज्ञानरूपी वस्त्र को बढ़ाना चाह रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्याय: ॥ ८ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

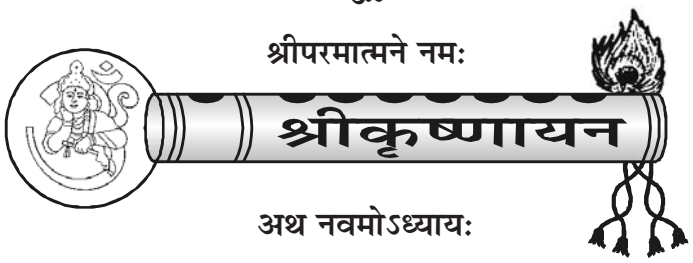

अथ नवमोऽध्यायः

नौमि जगत्पति जगदाधारम्॥
यस्य नामामृतं पीत्वा गमन्ति भक्ता माया पारम्।
यस्य नाम वर श्रुत्वा असुरा द्रवन्ति कृत्वा हाहाकारम्॥
यस्य नाम ॐ निर्गुणः आदि स्वरः यः वेदाधारम्।
यस्य नामः कृष्णः सगुणः आदि व्यञ्जनः सर्वाधारम्॥
यस्य नाम तु अर्जुन हृदये ब्रह्मविद्यां कृतं प्रचारम्।
तस्य नाम नमति महाराजः प्रभु अवतारं सारः सारम्॥

जो जगत के आधार एवं जगत के स्वामी हैं मैं उन प्रभु के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जिनके नामरूपी अमृत का पान करके भक्त माया को पार कर जाते हैं तथा जिनके दिव्य नाम को सुनकर असुर हाहाकार करते हुए भागने लगते हैं। जिनका 'ॐ' नाम निर्गुण ब्रह्म की आदि वाणी वेदों का आधार है तथा जिन सगुणब्रह्म कृष्ण के नाम का 'कृ' व्यंजन, सभी व्यंजनों का आधार है। जिस नाम ने भक्त अर्जुन के हृदय में ब्रह्मविद्या को प्रकाशित किया है ब्रह्म के उस सगुण विग्रह 'नाम' प्रभु के अवतार को सार का भी सार जानकर महाराज प्रणाम कर रहा है।

चौपाई— प्रथम पार्थ किए प्रभुहिं सारथी। ऐसो होवे जीव स्वारथी॥
भयो मोह जब स्वजनन्ह कारन। गुरू बनाये ताहि निबारन॥

जीव तो ऐसा स्वार्थी होता है कि पहले तो महात्मा अर्जुन ने भगवान नारायण को अपना सारथि बना लिया और जब स्वजनों के कारण मोह हो गया तो उसके निवारण के लिए [अति कुशलता के साथ] उन्हें ही गुरु बना लिया।

गरिमापूर्ण अतिहिं सदगुरु पद। बेद पुरान संत सबरें बद॥
तिहिं पद पर पुनि प्रभुहिं बिठाये। जासे दिब्य ज्ञान हरि गाये॥

'सद्गुरु का पद तो अत्यन्त गरिमापूर्ण होता है'– ऐसा ही वेद-पुराण एवं सन्त सभी कहते हैं। अतः उसी पद पर उन्होंने भगवान को लाकर आसीन कर दिया जिससे प्रभु ने दिव्य ज्ञान देना प्रारम्भ कर दिया।

अज सिव बिष्नु गुरुहिं जग जाना। प्रभु सोइ करत कछुक नहिं आना॥
सिष्य पार्थ सम तेउ जन्माये। महाराज अज कहि तब ध्याये॥

सम्पूर्ण जगत गुरु को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में स्वीकार करता है और भगवान भी वही कर रहे हैं, कुछ अन्य नहीं। उन्होंने भी भक्त अर्जुन जैसे शिष्य को जन्म दिया है तभी महाराज [भगवान नारायण की] ब्रह्मा कहकर वन्दना कर रहा है।

जब तिन्ह संसय सोक नसाये। महाराज तब सिव कहि ध्याये॥
अब बरदान देत हरषाई। जासों बिष्नु कहउँ मैं भाई॥

[प्रभु ने] जब उनके संशय एवं शोक का नाश कर दिया तब महाराज उन्हें शिव कहकर प्रणाम कर रहा है। हे सज्जनो! अब वे प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं जिससे मैं उन्हें विष्णु कह रहा हूँ।

दोहा— ज्ञान करम सु उपासना चरन त्रयी बद बेद।
आइ जुरें जब गुरु चरन तब नसाय उर खेद॥ १॥

ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं उपासना- वेद के ये तीन चरण कहे गये हैं, जब ये सद्गुरुरूपी चौथे चरण के साथ संयुक्त हो जाते हैं तो हृदय का समस्त शोक-सन्ताप नष्ट हो जाता है।

चौपाई— होइ त्रसित असुरनि सों ध्याई। लिये भवानिहिं सुर प्रगटाई॥
दुर्गा बनि सब दैत्य नसाई। रक्तबिजन्हि काली बनि खाई॥

जब देवताओं ने असुरों से त्रस्त होकर भगवती की आराधना कर उन्हें प्रकट कर लिया तब माँ भगवती ने [सर्वप्रथम] दुर्गारूप धारण कर असुरों का संहार किया, फिर कालीरूप होकर रक्तबीज नामक राक्षसों का भक्षण किया।

बीणाबादिनि बनि बरदाना। दीन्हि सांति सुचिता बर ज्ञाना॥
भयो इहाँ सोइ प्रभु सँग भाई। तीनिहु रूप भये यदुराई॥

उन्होंने ही सरस्वतीरूप होकर शान्ति, शुचिता और दिव्य ज्ञान का वरदान दिया। हे सज्जनो! यहाँ पर भगवान के साथ भी वही हुआ है, वे कृपालु यदुनाथ तीनों ही रूपों में प्रकट हो गये हैं।

दुर्गा ज्ञानयोग मत मेरो। जेहि महँ ज्ञानी रमत घनेरो॥
लखु उपासना कर्महिं काली। जो दै चित्त बासना घाली॥

मेरे मत में तो ज्ञानयोग ही भगवती दुर्गा है, जिसमें ज्ञानयोगी सदा रमण करते रहते हैं तथा कर्मयोग और उपासना ही भगवती काली का स्वरूप है जिससे चित्त की वासना समाप्त हो जाती है।

यासें दुर्गा रूप कहायो। गीता महँ दूसर अध्यायो॥
तिसरै से अष्टम तक भाई। दउँ उपासना कर्म दिखाई॥

इसीलिए इस ब्रह्मविद्यारूप गीताशास्त्र में दूसरा अध्याय भगवती दुर्गा का स्वरूप कहा गया है। हे सज्जनो! तीसरे अध्याय से अष्टम अध्याय तक को मैं कर्मयोग एवं उपासनायोग के रूप में दिखा रहा हूँ।

दोहा- सामबेदमय सरस्वति कहउँ नवम अध्याय।
जाकी महिमा अमित अति कह श्रीमुख यदुराय॥ २॥

नवम अध्याय को ही मैं सामवेद स्वरूपिणी सरस्वती की उपमा देता हूँ जिसकी अपार महिमा स्वयं भगवान यदुनाथ ने अपने श्रीमुख से गायी है।

चौपाई- गुरु हिय सिष्य आतमा सोई। सगुन ब्रह्म देखत उन्ह जोई॥
ताहि न प्रिय लागत कछु जबहीं। सदगुरु देत परम पद तबहीं॥

सद्गुरु के हृदय में वही शिष्य आत्मा होता है जो उन्हें साक्षात सगुण ब्रह्म ही समझता है। जब उस शिष्य को (आत्मा के सिवा) अन्य कुछ भी प्रिय नहीं लगता, तब सद्गुरु उसे परमपद दे देता है।

रूप दुराय रहत उर जोई। सिष्यहिं जबहिं लखावै सोई॥
तब ताकर चित अति संतोषे। होइ सम सांत नाहिं पुनि रोषे॥

वह अपने हृदय में जिस दिव्यरूप को छिपाये रखता है, जब उसी रूप को दिखायेगा तब उस शिष्य का चित्त अत्यन्त सन्तोष प्राप्त कर सम शान्त हो जायेगा और उसे कभी भी शोक-सन्ताप नहीं होगा।

अर्जुन जिय जानेउ भगवाना। प्रगट करन चह तिन्हहिं सुजाना॥
सोचत ब्यर्थ न जनम गवावउँ। सरनागत बत्सल प्रगटावउँ॥

महात्मा अर्जुन अब यह हृदय से जान गये हैं कि ये साक्षात् भगवान ही हैं; अत: वे परम बुद्धिमान अब तो उन्हें प्रकट कर ही लेना चाहते हैं। वे सोच रहे हैं कि इस जन्म को व्यर्थ नहीं जाने दूँगा, शरणागतवत्सल भगवान को प्रकट करके ही मानूँगा।

लखि सच निज अरु स्वजन स्वरूपा। तब करिहउँ संग्राम अनूपा॥
कबहुँ न सोक होय हिय जासे। अबहुँ परायो अपनो भासे॥

तब अपना और स्वजनों का यथार्थ स्वरूप देखकर अनुपम संग्राम करूँगा, जिससे कभी भी हृदय में शोक-संताप न हो; क्योंकि अभी भी अपना-पराया प्रतीत हो रहा है।

इन्ह सम चित मम होवे जबहीं। उर संसय नसाय सब तबहीं॥

हाँ, जब इनके समान मेरा चित्त हो जायेगा तब हृदय का सम्पूर्ण संशय चला जायेगा।

दोहा— अर्जुन सोचहिं जस हृदय लखि प्रभु हिय अति हर्ष।
देत ज्ञान अति गुह्यतम तिन्हिं बढ़ायँ उत्कर्ष॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन मन में जो सोच रहे हैं उसे जानकर भगवान नारायण हृदय में अति प्रसन्न हैं इसीलिए अत्यन्त गुह्यतम ज्ञान देते हुए उनका उत्साह बढ़ाने लगे।

चौपाई— कह प्रभु दोष दृष्टि नहिं तोहीं। अस लखि होय हरष हिय मोहीं॥
तुम्ह सम कोउ न जग प्रिय मेरो। तामेउ भये आज मम चेरो॥

भगवान कह रहे हैं कि तुम दोषदृष्टि से सर्वथा रहित हो इसी कारण मेरा हृदय अति हर्षित हो रहा है। [मैं सच कहता हूँ कि] तुम्हारे समान मुझे जगत में कोई प्रिय नहीं है, उसमें भी अब तुमने स्वयं को मेरा शिष्य समझ लिया है।

यासों ज्ञान गुह्यतम भाषउँ। तुम्हसों गुप्त न अब कछु राखउँ॥
करुँ बिस्तार ताहि बर ज्ञाना। जा कहँ कह्यो जाय बिज्ञाना॥

इसीलिए परम गोपनीय ज्ञान को कहूँगा, अब तुमसे कुछ भी छिपाकर नहीं रखूँगा। अब मैं उस परम श्रेष्ठ ज्ञान को सविस्तार बता रहा हूँ जिसे विज्ञान कहा जाता है।

तुम्हहिं असुभ जग अति प्रिय लागइ। सुनि अस ज्ञान मुक्त होइ जागइ॥
कहे पार्थ प्रभु सब उर रहहू। दोष दृष्टि मोहिं नहिं कस कहहू॥

तुम्हें यह अशुभ जगत अति प्रिय लग रहा है, किन्तु इस ज्ञान को सुनकर [प्रमाद रहित होकर] मुक्त हो जाओगे। तब महात्मा अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो! आप तो सबके हृदय में बसते हैं फिर एकमात्र मुझमें ही दोष-दृष्टि नहीं है, ऐसा क्यों कह रहे हैं?

अबलौं तुम्हरी बात न मान्यों। परम ब्रह्म तुम्ह तउ नर जान्यों॥
पुनि काहे अस महत बड़ाई। देहु मोहिं सचराचर साँई॥

अभी तक तो मैंने आपकी [युद्ध करने की] बात भी नहीं मानी है। इतना ही नहीं बल्कि आप साक्षात परब्रह्म परमात्मा हैं और मैंने आपको साधारण मनुष्य ही मान रखा था। हे चराचर जगत के स्वामी! फिर आप मुझे ऐसी महती बड़ाई क्यों दे रहे हैं?

दोहा— कुंतिसुअन तुव सरिस जग छमावान को आहिं।
कौरव सम कोउ नीच नहिं तउ तिन्ह छमा कराहिं॥ ४॥

[भगवान ने कहा-] हे कौन्तेय! इस जगत में तुम्हारे जैसा क्षमावान है ही कौन! क्योंकि कौरवों के समान तो कोई नीच है ही नहीं, तो भी उनको तुम क्षमा करने को कह रहे हो-

चौपाई— ये तव नृपपद धन अपहर्ता। कुल मर्यादा कर संहर्ता॥
द्रौपदि सम पतिबरता नारी। चीर हरन चहँ सभा मझारी॥

जबकि ये सब तुम्हारे राजपद और धन का अपहरण करने वाले तथा कुल-मर्यादा को नष्ट करने वाले हैं। इन लोगों ने द्रौपदी जैसी पतिव्रता नारी का सभा के मध्य चीर-हरण करना चाहा था।

कपट द्यूत करि देस निकारी। दिये सबहिं मिलि बहु बिधि गारी॥
जदपि सक्ति अस धारहु पाँचैं। फोरहु इन्ह सिर जिमि घट काँचैं॥

[इतना ही नहीं, तुम लोगों से] छल युक्त जूआ खेलकर इन सबने मिलजुल कर बहुत-से अपशब्द कहे और देश निकाला दे दिया; जबकि तुम पाँचों में ऐसी शक्ति है कि इनलोगों के सिर को [तत्क्षण] कच्चे घड़े के समान चकनाचूर कर सकते थे।

तउ न किये अस धरम बिचारे। धरमराज के पथ अनुहारे॥
अब जब मैं तुम्हरो रखवारो। जुद्धभार लीन्हों सिर सारो॥

तो भी तुम लोगों ने धर्म पर दृष्टि रखकर ऐसा नहीं किया बल्कि धर्मराज युधिष्ठिर के ही मार्ग का अनुसरण किया। अब जब मैं तुम्हारा रक्षक हो गया हूँ तथा युद्ध का सम्पूर्ण भार अपने सिर पर ले लिया है–

सरणागत रक्षक पन मेरो। भाव भयो जब यह उर तेरो॥
प्रान हरउँ इन्हकर जब जानहु। प्रलय हेतु मोहिं उद्यत मानहु॥

एवं जब तुम्हारे हृदय में यह भाव आ ही गया है कि शरणागत की रक्षा करना ही मेरी सत्य प्रतिज्ञा है तथा जब तुम यह भी समझ गये हो कि [इस युद्धभूमि में] इन सबका प्राण लेकर मैं प्रलय करने को उद्यत हूँ–

दोहा— अस भीषण रन होयेगो नृप सब मरहिं यथार्थ।
रोवनहार न कोउ बचे इन्हके कुल महँ पार्थ॥ ५ (क)॥

और हे पार्थ! तुम यह भी जान गये हो कि ऐसा भीषण संग्राम होगा जिसमें ये समस्त राजागण वीरगति को प्राप्त हो जायेंगे तथा सच में इनके कुल में कोई रोने वाला नहीं बचेगा–

संत सरिस तउ अस दया उपजी तव उर माहिं।
छमावान तुम्ह सम जगत मम बिचार कोउ नाहिं॥ ५ (ख)॥

तो भी तुम्हारे हृदय में सन्तों के समान ऐसी दया प्रकट हो गयी है। अत: मेरे विचार से इस जगत में तुम्हारे समान क्षमावान तो कोई है ही नहीं!

चौपाई— छमासील जे परम बिरागी। निर्मल चित मम पद अनुरागी॥
जग उपकार जाय जिन्ह प्राना। सत्य दया दम ज्ञान निधाना॥

हे पार्थ! जो क्षमाशील, निर्मल वैरागी हैं, विशुद्ध चित्त वाले एवं मेरे चरणों के अनुरागी हैं, जिनका प्राण भी जगत के उपकार में चला जाता है एवं जो सत्य, दया, दम तथा ज्ञान की निधि हैं,

काम क्रोध लोभादिक त्यागी। सोक मोह ममता सु बिरागी॥
ईर्ष्याहीन तितिक्षू धर्मी। महत अमानी अरु सतकर्मी॥

जिन्होंने काम, क्रोध, लोभादि को त्याग दिया है तथा शोक, मोह, ममता से भी उदासीन हो गये हैं, जो ईर्ष्यारहित, तितिक्षु, धर्मावलम्बी तथा पूर्णतया मानरहित और सत्कर्मी हैं–

सम संतोष सरलचित समता। प्रभु हित करमयोग महँ रमता॥
तपसी निद्राजयी जितेंद्रिय। ब्रह्मध्यान सों गहहिं अतिंद्रिय॥

जिनमें सम, सन्तोष, सरलचित्तता एवं समता की भावना है, जो ब्रह्म की प्राप्ति हेतु ही कर्मयोग में लगे रहते हैं, तपस्वी, निद्रा विजेता और जितेन्द्रिय हैं तथा जिन्होंने इन्द्रियों से परे ब्रह्म को ध्यान के द्वारा ग्रहण कर लिया है–

प्रानहु ते प्रिय अस नर मोरे। कहे जे सदगुन सब उर तोरे॥

ऐसे पुरुष जगत में मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं और तुम्हारे हृदय में ये सभी गुण विद्यमान हैं जो कहे गये हैं।

दोहा— तातैं तुम्ह मम प्रान प्रिय तात कहउँ सच अत्र।
एहि छन सकल मनुज महँ तुम्ह मेरो सिर छत्र॥ ६॥

हे तात! मैं सच कहता हूँ, इसीलिए जगत में तुम मुझे प्राणों से भी प्रिय हो और इस समय सारे मनुष्यों में तुम मेरे सिरमौर हो।

चौपाई— जदपि सुनत अति अपुनि बड़ाई। महाबाहु लाजत अधिकाई॥
पर प्रभु मोहिं आपुनो जानत। अस गुनि अहोभाग्य उर मानत॥

यद्यपि महात्मा अर्जुन को अपनी बड़ाई सुनने पर अति संकोच हो रहा है परन्तु [साथ ही साथ] भगवान मुझे हृदय से अपना जानते हैं– ऐसा सोचकर हृदय में अपने भाग्य की सराहना भी कर रहे हैं।

कहहिं परंतप हे यदुराई। बँध्यों असुभ जिहिं जग को साँई॥
जेहि अबलौं मैं जानि न पायों। जाने बिनु सब आयु गँवायों॥

पुन: महात्मा अर्जुन ने कहा– हे यदुनाथ! हे प्रभो! मैं जिस अशुभ जगत में फँसा हुआ हूँ वह अशुभ जगत कौन–सा है; जिसको मैं अब तक जान नहीं पाया और बिना जाने ही सम्पूर्ण आयु गँवा दी।

असुभ सास्त्र श्रुतियनि महँ जोई। जे नर हेतु काल सम होई॥
असुभ धर्म कर्मन्हि तिन्हि जानउँ। त्यागि तिन्हहिं तुम्हरो गुन गानउँ॥

इतना ही नहीं श्रुतियों में विख्यात अशुभ शास्त्र जो मनुष्य के लिए काल के समान हैं उनमें वर्णित अशुभ धर्म-कर्म को मैं जानना चाहता हूँ, जिससे उन्हें त्याग कर आपका गुणगान करूँ।

असुभ अपर यदि तुम्हरि दृष्टि महँ। जान्यों सुन्यों न जाहि सृष्टि महँ॥
सोइ मों सन अब कहहु अघारी। माया मुक्त होउँ असुरारी॥

हे नाथ! आपकी दृष्टि में यदि इनसे भी कोई अन्य अशुभ तत्त्व है जिसे [अब तक] इस सृष्टि में मैंने न तो जान पाया है और न ही सुन पाया है, हे पापनाशक! अब आप मुझे उस अशुभ को भी बतायें जिससे मैं माया से मुक्त हो जाऊँ।

कह प्रभु प्रस्न अतिहिं सुखदाता। जिज्ञासुन्ह महँ अति बिख्याता॥
अब सुनु तात असुभ जग कहऊँ। जो तव हृदय अहइ सब दहऊँ॥

भगवान ने कहा- हे कुरूश्रेष्ठ! यह प्रश्न अत्यन्त सुखदायक और जिज्ञासुओं में अति विख्यात है। अत: सुनो, अब मैं सम्पूर्ण अशुभ जगत के विषय में बताकर जो तुम्हारे हृदय में आ गया है उसका मैं सम्पूर्णता से नाश कर दूँगा।

जद्यपि तुम्हहि सच्चिदानंदा। सब उरबासी परमानंदा॥
पर मैं अर्जुन छत्रिय बीरा। भाव असुभ जग यहि मति धीरा॥

यद्यपि तुम सच्चिदानन्द और सबके हृदय में वास करने वाले परमानन्दरूप हो,परन्तु हे धीर मतिवाले! 'मैं क्षत्रिय वीर अर्जुन हूँ'- तुम्हारा यह भाव ही अशुभ संसार है।

दोहा— जनम हस्तिनापुर नगर पाण्डूपुत्र कहाहिं।
आर्यावर्त हि देस मम भाव असुभ जग आहिं॥ ७॥

मैंने हस्तिनापुर में आकर जन्म लिया जो मेरा नगर कहा जाता है, मैं पाण्डु का पुत्र हूँ तथा आर्यावर्त ही मेरा देश है- यह भाव ही अशुभ संसार है।

चौपाई— दृस्यमान यह जग सब मेरो। खग मृग मनुज भेद मन केरो॥
लता तरू औषधि फल फूला। सर सरि बन गिरि सागर कूला॥

यह सारा दृश्यमान जगत मेरा ही है [मन की यह भावना] तथा पशु, पक्षी और मनुष्य में भेद समझना मन का विकार है। यह लता, वृक्ष, औषधि, फल तथा फूल है और यह तालाब, नदी, वन, पर्वत तथा सागर तट है ऐसा मानना-

छत्रिय बैस्य सुद्र द्विज जानन। माँ पितु सुत भाई तिय मानन॥
दादा परदादा अरु गुरुजन। पापी धर्मी दीन सबल जन॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों के भेद, माता, पिता, पुत्र, भाई, पत्नी, दादा, परदादा, गुरुजन आदि नाते तथा पापी, धर्मी, असहाय और बलवान आदि मनुष्यों के बीच भेद मानना-

बालक युवा जरठ धनहीना। धनि अपंग मुक नयन बिहीना॥
धीर बीर गम्भीर सुजाना। कामी क्रोधी लम्पट माना॥

बालक, युवा, वृद्ध, धनी, धनहीन, अपंग, गूँगा, अन्धा, धैर्यवान, वीर, गंभीर, विद्वान, कामी, क्रोधी, लम्पट आदि मानना-

पूज्य अपूज्य हीत मितभारी। अज्ञ कृतज्ञ कूर कुबिचारी॥
करहिं असुभ पर बाढ़हिं ओई। मैं सुभ करउँ जियउँ रोइ रोई॥

पूज्य, अपूज्य, मित्र, सम्बन्धी, मूर्ख, कृतज्ञ, क्रूर और बुरे विचार वाला आदि भाव रखना; यह सोचना कि बुरे कर्म करते हुए भी वे लोग निरन्तर उन्नति कर रहे हैं और मैं अच्छे कर्म करते हुए भी रो-रोकर जीवन बिता रहा हूँ-

कियों बहुत भल नेकु न मानहिं। अपितु मोर अनभल उर आनहिं॥
देखउँ सुनउँ गुनउँ अरु खावउँ। जागि करम करि पुनि सो जावउँ॥

मैंने उनके साथ बहुत भलाई की परन्तु उसे वे तनिक भी नहीं मानते अपितु हृदय से मेरा अहित ही चाहते हैं, ऐसा सोचना तथा मैं देखता हूँ, सुनता हूँ ,सोचता हूँ, खाता हूँ, जागकर कर्म करता हूँ और पुनः सो जाता हूँ, ऐसा मानना–

दोहा— गुडाकेस येइ मान्यता असुभ भाव सब आहिं।
असुभ भाव जग अपर जे सुनहु कहउँ पुनि ताहिं॥८॥

हे गुडाकेश! ये जो मान्यताएँ हैं ये ही सब अशुभ भाव कही जाती हैं। [अब तक ऊपर जितने भाव तुमको समझा आया हूँ वे सभी मन के अशुभ भाव कहे जाते हैं।] संसार में और भी बहुत से अशुभ भाव हैं जिन्हें बता रहा हूँ, सुनो–

चौपाई— महि जल अनल वायु नभ सारे। रबि ससि ग्रह उपग्रह अरु तारे॥
योग नखत तिथि लगनहु बारा। पहर दिवस जुग मास अपारा॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश आदि तत्त्वों की कल्पना सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, उपग्रह, तारे, योग, नक्षत्र, तिथि, लग्न, दिनों के नाम तथा पहर, दिवस, मास, युग आदि समय की गणना–

सरग नरक अपबरग कहानी। कर्म अकर्म दैव जो मानी॥
निगुनी सगुनी योगी ज्ञानी। बटु सिध साधक आतम ज्ञानी॥

स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, कर्म, अकर्म, प्रारब्ध, निर्गुणोपासक, सगुणोपासक, योगी, ज्ञानी, ब्रह्मचारी, साधक, सिद्ध तथा आत्मज्ञानी आदि मानना–

याहि जगत मन महँ सच मानन। आत्मरूप निज तन कहँ जानन॥
तत्व तत्व करि सांख्य बखानत। आगम जेहि साधन हित मानत॥

मन में इस मिथ्या जगत को सच मान लेना तथा अपने शरीर को आत्मरूप जानना, सांख्यमत के बहुत–से तत्त्वों की बात करना जिसे वेद शास्त्र एकमात्र साधना के लिए स्वीकार करते हैं।

गहि फल आसा धर्महु करमा। जप तप तीरथ अपर सुकरमा॥
नर सुर असुर नाग गंधर्बा। किन्नर यक्ष प्रेत भुत सर्बा॥

फल की आशा रखकर (सकाम भाव से) धर्म–कर्म, जप–तप, तीर्थ तथा अन्य उत्तम कर्म करना, मनुष्य, देवता, राक्षस, नाग, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, भूत–प्रेत आदि विभिन्न योनियों की कल्पना–

पसु पक्षी अरु कीट पतंगा। स्वेदज जलचर उद्भिज रंगा॥
धरा सृष्टि संकर कर मानन। नीरहिं सृष्टि बिष्णु कर जानन॥

पशु, पक्षी, कीट, पतंगे, स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव– जूँ आदि), जल–जन्तु, पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि की कल्पना करना, पृथ्वी को भगवान शंकर की सृष्टि मानना, जल को भगवान विष्णु की सृष्टि मानना अथवा भगवान विष्णु जल से प्रकट हुए हैं ऐसा मान लेना–

दोहा— जग्य जाप तप करउँ बहु भाव असुभ अस जान।
असुभ भाव जग अपर बहु सो अब सुनहु सुजान॥९॥

मैं बहुत जप, तप, यज्ञ करता हूँ ऐसी भावना तथा इसके पूर्व कहे गये मन के सभी भाव एवं कल्पनाएँ अशुभ भाव हैं ऐसा जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त जगत में और भी बहुत–से अशुभ भाव हैं, हे परम बुद्धिमान! अब मैं उन्हें भी बता रहा हूँ, सुनो–

चौपाई— अहउँ मनुज समुझत मन माहीं। असुभ भाव यहि पाप कराहीं॥
नारी भाव असुभ अति भाई। जाहि गहत मन अति चकराई॥

मैं 'मनुष्य हूँ' ऐसा मन में समझते ही यही अशुभ भाव हो जाता है जो पाप कराने लगता हैं। 'यह नारी है'– ऐसी दृष्टि अशुभ भाव है, जिसे स्वीकार करते ही मन चक्कर खाने लगता है।

नारि दृष्टि जबहीं उर आवत। सुर नर चर अरु अचर नचावत॥
नारद सिव चतुरानन जानहिं। सर्ब नास की जननी मानहिं॥

'नारी' दृष्टि जब हृदय में आती है तो यह अशुभ भाव की कल्पना देवता, मनुष्य तथा चर-अचर सबको नचा देती है। नारी दृष्टि आने का परिणाम भगवान शंकर, देवर्षि नारद तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भलीभाँति जानते हैं, जिन लोगों ने इसे (नारी-दृष्टि को) सर्वनाश की जननी माना है।

खायो बहु महराज पटखनी। मोह सोक कर जानइ जननी॥
महदयोनि सच नारी रूपा। जेहिं सनमानत ब्रह्म अनूपा॥

महाराज ने भी इस (नारी-भाव) से अनेक बार पटखनी खाई है (पराजित हुआ है) और इसे मोह एवं शोक की जननी (मोह, शोक उत्पन्न करने का कारण) जानता है। यर्थाथत: नारी ब्रह्म की महद् योनिरूप है जिसे अनुपम ब्रह्म भी बहुत सम्मान देता है।

याहि गरभ सों प्रभु अवतरई। तेहि प्रति नीच कुदृष्टिहिं धरई॥
धृतराष्ट्रहिं सम पिता जु होई। दुर्योधन सम सुत जग कोई॥

इसी नारी के गर्भ से निर्गुण निराकार ब्रह्म संसार में सगुण साकार रूप में प्रकट होता है परन्तु इसी नारी के प्रति नीच मनुष्य कुदृष्टि धारण करता है। राजा धृतराष्ट्र के समान पिता तथा दुर्योधन के समान किसी पुत्र का होना संसार में अशुभ भाव है।

सूपनखा सम भगिनी जोई। कुल अरु बंधु नसावति सोई॥
कंस सकुनि सैल्यहु सम मामा। मित्र करण सम जग अघ धामा॥

शूर्पणखा के समान बहन होना- अशुभ भाव है जो बन्धु-बान्धवों एवं समस्त कुल का नाश करा देती है। इस जगत में कंस, शकुनि एवं शल्य के समान मामा तथा कर्ण के समान मित्र ही अशुभ भाव है, जो जगत में पाप का भण्डार है।

इन्हके प्रतिहु मोह जब आवे। असुभ भाव सोइ जग भरमावे॥

इनके प्रति जब मोह आता है तो वही अशुभ भाव है जो जगत में भरमाता रहता है।

दोहा— सुत बित कीरति याहि जग मो सम कोउ पहँ नाहिं।
असुभ भाव यहि तात सब नरक माहिं लै जाहिं॥ १०॥

हे प्रिय! [आगे भी सुनो] मेरे समान पुत्र, धन एवं यश इस संसार में किसी के पास नहीं है- यह सब सोचना अशुभ भाव है जो नरक में ले जाता है।

चौपाई— राजा हौं कोउ रंक बतावे। कोउ पापी कोउ पुनी कहावे॥
स्वस्थ कहत कोउ रोगी कोऊ। मो सम धीर बीर नहिं होऊ॥

कोई कहता है मैं राजा हूँ और दूसरे को रंक बताता है, किसी को पापी तो किसी को पुण्यात्मा कहता है। कोई अपने को स्वस्थ, कोई रोगी और कोई सबसे अधिक धैर्यवान एवं वीर कहता है- ये सब अशुभ भाव ही हैं।

सेवक सेब्य भाव उर जोई। द्वैताद्वैत भाव उर होई॥
तंत्र मंत्र कोउ अति बड़ जानै। ध्यान ग्यान कोउ श्रेष्ठ बखानै॥

हृदय में स्वामी-सेवक का भाव रखना, द्वैत-अद्वैत भाव रखना, तंत्र-मंत्र को बहुत बड़ा बताना अथवा ध्यानयोग, ज्ञानयोग को श्रेष्ठ कहना- ये सब अशुभ भाव ही हैं।

छंद— साधक सुनैं यह असुभ बृत्ती सृजति लोक त्रिलोकहू।
जाग्रत स्वपन तममय सुषुप्ती इहइ लोक बिलोकहू॥
दस इंद्रियन्ह अंत:करण चौदह भुवन एहि जानहू।
बृत्ती असुभ सब त्यजतही संघार इन्हकर मानहू॥

साधकगण यह ध्यान देकर सुनें कि अशुभ वृत्ति ही तीनों लोकों की रचना करती है। [यथार्थ में] जाग्रत्, स्वप्न और तमोमय सुषुप्ति ही तीनों लोकों का स्वरूप है, इसे आप समझ लें। दस इन्द्रियाँ एवं चार

अन्त:करण ही चौदह भुवन हैं, ऐसा जानें; तथा यह भी मान लें कि इन समस्त अशुभ वृत्तियों के त्यागते ही इनका संहार हो जाता है।

महराजहू बद सहस बार यो भाव भवसागर महा।
जस दृष्टि धारहु सृजति तस तस सृष्टि मायामय कहा॥
अस जानि त्यागहु छुद्र दृष्टी ब्रह्मदृष्टिहिं धारिकै।
होइ ब्रह्म बिचरहु जगत महँ तुम्ह त्रिगुन माया मारिकै॥

महाराज ने भी हजारों बार कहा है कि यह [अशुभ] भाव ही महाभवसागर है और यह भी कहा है कि आप जैसी दृष्टि धारण करते हैं वैसी ही महामायामय सृष्टि की रचना होती है। ऐसा जानकर ब्रह्मदृष्टि धारण करके आप क्षुद्र दृष्टि त्याग दें और त्रिगुणमयी माया का वध करके ब्रह्मरूप होकर जगत में विचरण करें।

भलिभाँति अबलौं जानहू बहु रूप प्रभु प्रगटत भये।
झाँकी प्रथम अध्याय महँ रथ सारथी ते बनि गये॥
अध्याय दुसरे तीसरे महँ सदगुरू बनि गावतो।
चौथे चरन भगवान हौं कहि पार्थहीं समुझावतो॥

आपसब भलीभाँति यह जान लें कि अब तक भगवान बहुत-से रूपों में प्रकट हो चुके हैं। प्रथम अध्याय की झाँकी है कि सर्वप्रथम वे [महात्मा अर्जुन के लिए] सारथि बन गये और अध्याय दो एवं तीन में सद्गुरु बनकर उपदेश दे रहे हैं और चतुर्थ चरण में स्वयं को भगवान घोषित करके महात्मा अर्जुन को समझा रहे हैं।

बरु पार्थ बोलैं आज जन्महु ब्रह्म केहि बिधि जानऊँ।
तुम्ह भास्करहिं उपदेस दीन्हे साँच कैसे मानऊँ॥
प्रभु अनसुने नहिं कान देवें भक्त रूप दिखाइके।
चाहैं दिखावन रूप निर्गुन राजयोग बताइके॥

भले ही महात्मा अर्जुन कहते रहें कि हाल ही में तो आपका जन्म हुआ है तो मैं आपको किस प्रकार ब्रह्म जान लूँ? और आपने ही सूर्य को उपदेश दिया, इसे भी किस प्रकार सत्य मान लूँ? किन्तु भगवान अनमने से होकर उनके पूर्व के भक्त स्वरूप को दिखाते हुए उनकी बातों पर ध्यान नहीं दे रहे हैं और इस राजयोग को बताकर अपने निर्गुण रूप को दिखाना चाह रहे हैं।

मैं हौं रथी यो कृष्ण मेरो सारथी बहु छबि बन्यो।
यह असुभ भाव कुभाव रचि रचि पार्थ तेरो मन तन्यो॥
सूझत न दीखत तोहिं सच चहुँ दिसि असुभ सों घिरि गये।
महराज जब प्रभु असुभ कह तब पार्थ कछु स्थिर भये॥

[पुन: भगवान कह रहे हैं कि] हे पार्थ! [तुम सोचते हो कि] मैं रथी हूँ, ये कृष्ण मेरे सारथी हैं, इस प्रकार मेरी कैसी दिव्य छवि बनी हुई है- ऐसे कुभाव की रचना करके तुम्हारा मन अहंकार से भर गया है-यही अशुभ भाव है। तुमको सत्य का भान नहीं हो रहा है, न स्पष्ट दिखायी ही पड़ रहा है क्योंकि तुम चारों ओर से अशुभ भावों द्वारा घिर गये हो। महाराज कहता है कि जब भगवान ने इस प्रकार अशुभ भावों को महात्मा अर्जुन को स्पष्ट बता दिया तब उनका चित्त कुछ स्थिर हो गया।

दोहा— आज भाव जे सुभ अहै कल अति असुभ समान।
मनगत भाव कुभाव सों इन्हहिं रुपान्तर जान॥ ११ (क)॥

पुन: भगवान कह रहे हैं कि जो भाव आज शुभ है वही कल अत्यन्त अशुभ है। अत: मनोगत भाव-कुभाव के प्रभाव से ही इनका रूपान्तरण समझो।

जस हिय दृष्टी सृष्टि तस याहि सकल जग मानु।
भाव सुभासुभ हृदय के भवसागर प्रिय जानु॥ ११ (ख)॥

हे तात! संसार में ऐसा सभी मानते हैं कि जैसी हृदय में दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि होती है। अत: मन के शुभ-अशुभ भावों को ही भवसागर समझो।

सुभ अरु असुभ चरित सुनि हरि छबि निज हिय आनि।
धन्य धन्य प्रभु अस कहत महादानि अनुमानि॥ ११ (ग)॥

प्रभु के श्रीमुख से शुभ और अशुभ भाव की ऐसी व्याख्या सुन महात्मा अर्जुन अपने हृदय में प्रभु की दिव्य छवि को धारण कर धन्य हैं प्रभु! आप धन्य हैं! ऐसा कहने लगे। उन्होंने हृदय में यह अनुभव कर लिया कि ये भगवान ही महादानी हैं जगत में ऐसा दानी कोई नहीं है।

मासपारायण, उन्नीसवाँ विश्राम

चौपाई— प्रभु पद पदुम बिनव बहु बारा। कहउ जो अब सच मानउँ सारा॥
अंतरजामी तिन्ह उर जाने। भक्त समर्पण लखि हरषाने॥

इस प्रकार वे बारम्बार भगवान के कमलवत् चरणों की वन्दना कर रहे हैं कि हे प्रभो! अब आप जो कुछ भी कहेंगे मैं उन सबको सच मानूँगा। तब अन्तर्यामी भगवान उनके हृदय की बात जानकर और अपने भक्त का समर्पण देखकर अत्यन्त हर्षित हो उठे।

कह कृपालु अब सुनु तपधारी। आतमज्ञान कहउँ बिस्तारी॥
सकल मरम कर मरम कहावत। सब बिद्यनि महँ गुप्त लखावत॥

प्रभु ने कहा- हे तप को धारण करने वाले! अब तुम ध्यान देकर सुनो; आत्मज्ञान को मैं विस्तार के साथ कह रहा हूँ। यह ज्ञान समस्त रहस्यों का भी रहस्य कहा जाता है तथा समस्त विद्याओं में अत्यन्त गुप्त है, ऐसा दिखायी पड़ता है।

यह अति प्रबल दिब्य ज्योतिर्मय। जाहि हृदय गहि होत प्रकृति जय॥
यासों सब बिद्यनि महँ राजा। कह्यो सास्त्र जासे यति साजा॥

यह राजयोग अत्यन्त सामर्थ्यवान तथा दिव्य ज्योतिर्मय है जिसको हृदय में धारण करते ही प्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाती है। इसीलिए यह समस्त विद्याओं का राजा है जिससे शास्त्र इसे सन्तों का भूषण स्वरूप कहते हैं-

मरम गुप्त राखन जग जोई। यहि अति गुप्त कहत सब कोई॥
जे साधन पावन जग माहीं। भगतन्ह तन मन सुद्ध कराहीं॥

तथा इस जगत में जितने भी गुप्त रखने योग्य रहस्य (भाव) हैं, उनमें सभी इसी को अति गोपनीय कहते हैं। जगत में जो भी अत्यन्त पवित्र साधनाएँ हैं जो भक्तों के तन मन को शुद्ध करती हैं-

दोहा— तिन्ह सबकेउ पावन करे कोउ ऋषि जानत जाहि।
उत्तमाति उत्तम जगत राजयोग कह याहि॥ १२॥

उन साधनाओं को भी यह परम पावन करने वाला है जिसे कोई विरला ऋषि ही जानता है। [संसार की समस्त साधनाओं में] यह सबसे उत्तम है, इसी से इसे जगत में राजयोग कहा जाता है।

चौपाई— सुनत गुनत तेहि छन अनुभावे। सर्ब ब्रह्म प्रत्यक्ष लखावे॥
अहइ धरममय यह बर ज्ञाना। समुझन महँ अति सुगम सुजाना॥

जो श्रवण एवं मनन करते ही तत्क्षण अनुभव में आ जाता है और सब कुछ ब्रह्म ही है- ऐसा प्रत्यक्ष दीखने लगता है। हे बुद्धिमान्! यह आत्मज्ञान सम्पूर्ण धर्ममय है तथा समझने में भी अत्यन्त सुगम कहा जाता है।

अब्यय अरु अबिनासि कहावे। श्रद्धा करन जोग सब गावे॥
पर कौन्तेय जे श्रद्धाहीना। याहि न पावत मतिहिं मलीना॥

यह अव्यय एवं अविनाशी भी कहा जाता है तथा यह श्रद्धा करने योग्य है, ऐसा सभी कहते हैं,परन्तु हे कौन्तेय! जिनकी बुद्धि अति मलिन है, वे श्रद्धाहीन पुरुष इसको कभी नहीं प्राप्त कर सकते।

नास्तिक होहिं असुर मत धारे। देह आतमा समुझन वारे॥
ते जग अति बिषई बड़ पापी। सदा होयँ संतन्ह अनुतापी॥

जो नास्तिक होते हैं, वे असुरों के मत को धारण करने वाले और इस शरीर को ही आत्मा मानने वाले होते हैं। वे जगत में अति विषयी एवं बड़े पापी होते हैं तथा सदा सन्तों को दु:ख देने वाले होते हैं।

पावत मोहिं न एहि जग भरमें। अधम योनि जनमें निज करमें॥
गुडाकेस सुनि प्रभु प्रिय बानी। प्रेम मगन तन दसा सिरानी॥

वे मुझे न प्राप्त करके अपने कर्मों द्वारा अधम योनियों में जन्म ले-लेकर संसार में भटकते रहते हैं। इस प्रकार भगवान नारायण की अमृतमय वाणी सुनकर महात्मा अर्जुन ऐसे प्रेममग्न हो गये कि शरीर की सुध-बुध ही भूल गयी।

दोहा— पुलकित तन मन बचन सों कह भारत हरषाय।
मानउँ जो प्रभु तुम्ह कहहु मेरो मन सब भाय॥ १३॥

पुन: महात्मा अर्जुन ने पुलकित तन, मन, वचन से हर्षित होकर कहा कि हे जगतपते! आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह सब मान रहा हूँ क्योंकि मेरे मन को अत्यन्त प्रिय लग रहा है।

चौपाई— प्रभु जस कहेउ आज सो जानउँ। सब बिद्यन्हि राजा कस मानउँ॥
उत्तमाति उत्तम क्यों कहहू। बिद्यनि अपर नाहिं का रहहू॥

तो भी हे प्रभो! जैसा आपने कहा है वैसा आज मैंने जाना है [कि यह योग सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है] किन्तु इसे ही सम्पूर्ण विद्याओं का राजा कैसे मान लूँ तथा आप इसे सबसे उत्तम क्यों कह रहे हैं? क्या आपका अन्य विद्याओं में वास नहीं है?

अब्यय कस प्रभु यह तव ज्ञाना। जदपि अबहिं ध्यानहिं सनमाना॥
जेहि बर ज्ञानहिं रखउ छुपाई। सुगम साध्य कस होय गुसाँई॥

हे दयानिधे! आपका यह ज्ञान अव्यय किस प्रकार हो सकता है; जबकि अभी आपने [कुछ ही समय पूर्व] ध्यानयोग की अत्यन्त सराहना की तथा हे नारायण! जिस श्रेष्ठ ज्ञान को आप छिपाकर रखते हैं, वह सुगम साध्य कैसे हो सकता है?

कह्यो जाय केहि श्रद्धावानहु। जाहि हृदय अति बिमल बखानहु॥
करुनामय सुनि मन मुसुकाये। युद्ध छनहिं सब बिधि बिसराये॥

[पुन: आप यह भी बतायें कि] जिसके हृदय को आप अति निर्मल कह रहे हैं, ऐसा श्रद्धावान किसे कहा जाय? यह सुनकर करुणामय भगवान मन ही मन मुस्कुराने लगे और यह युद्ध काल है इसकी सुध-बुध सर्वथा भूल गये।

कह प्रभु प्रथम प्रस्न समुझावउँ। राजयोग कस श्रेष्ठ बतावउँ॥
हुतों जबै इक निर्गुन रूपा। होन लग्यों पुनि अस जगरूपा॥

भगवान नारायण ने कहा कि सर्वप्रथम मैं तुम्हारे पहले प्रश्न का ही समाधान कर रहा हूँ कि राजयोग ही सर्वश्रेष्ठ योग कैसे है? जब मैं एकमात्र निर्गुण निराकाररूप में ही था और पुन: जब इस जगत के रूप में प्रकट होने लगा-

दोहा— तेहि छन योई ज्ञान मम भयो बिलक्षण रूप।
पुनि धार्‌यो अज्ञान यो यासें सबकर भूप॥ १४॥

उस समय यह दिव्य आत्मज्ञान (राजयोग) ही [सर्वप्रथम] मेरा विलक्षणरूप हुआ और पुन: इसी ने [स्वेच्छा से इस] अज्ञान को धारण किया, इसी से यह समस्त विद्याओं का राजा है।

चौपाई— अपर ज्ञान मिश्रित अज्ञाना। पर यहि एकहि पूरन ज्ञाना॥
प्रगटत नाम रूप जिमि मोसें। तिमि सब बिद्या उपजति योसें॥

अन्य सभी विद्याएँ अज्ञान मिश्रित हैं परन्तु यही एक है जो पूर्ण ज्ञान स्वरूप है। जिस प्रकार समस्त नाम-रूप मुझसे ही प्रकट हुए हैं, उसी प्रकार समस्त विद्याएँ इसी से प्रकट हुई हैं।

एहि गहि सब योगन्ह फल पावे। यासों राजयोग कहलावे॥
जिमि एकइ सुरसरि नर ध्यावे। सब सरितन्ह पूजा फल पावे॥

एकमात्र इस [राजयोग] को ही धारण करने से समस्त योगों का फल मिल जाता है, इसी से यह सारे योगों का राजा कहलाता है; जैसे मनुष्य एकमात्र गंगाजी की उपासना करके समस्त नदियों के पूजन का फल प्राप्त कर लेता है-

जिमि इक पीपल तरुवर ध्याना। करत होय सब तरु सनमाना॥
जिमि सागर पूजत सर सारे। होत प्रसन्न मनहिं मन भारे॥

जैसे एकमात्र पीपल वृक्ष की उपासना करने से सारे वृक्षों की उपासना का फल प्राप्त हो जाता है अथवा जैसे एकमात्र सागर की पूजा कर देने से ही सारे सरोवर मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं,

एक हिमालय कर सनमाना। होय सबहि परबत कर माना॥

जैसे एकमात्र हिमालय की पूजा कर देने से समस्त पर्वतों की पूजा मान ली जाती है।

दोहा— ये सब अपुनें जाति महँ सबसों पुज्य कहाहिं।
राजयोग सम तात तिमि अपर योग कोउ नाहिं॥ १५ (क)॥

जैसे ये सब अपनी जाति में सबसे पूज्य कहे जाते हैं, वैसे ही हे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर! राजयोग जैसा कोई अन्य योग नहीं है।

अस एहि साधे सब सधे ज्ञान ध्यान जप जोग।
पाव परम पद जीव सुनि भव सों होय बियोग॥ १५ (ख)॥

इसलिए एकमात्र इसी की साधना करने से ज्ञान, ध्यान, जप, योग सबकी साधना हो जाती है। [यह सम्पूर्ण योगों का इसलिए भी राजा है कि] इसके श्रवण मात्र से ही जीव को परम पद की प्राप्ति हो जाती है और संसार भाव से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है।

चौपाई— सीत भगाय अगिनि पल माहीं। तिमि यह ग्यान सुनत जग जाहीं॥
छन महँ ताप बुझावत बारी। तिमि यो ज्ञान सुनत जग जारी॥

[जिस प्रकार] अग्नि पल भर में ही ठंढ को भगा देती है उसी प्रकार इस ज्ञान को सुनने मात्र से ही सम्पूर्ण जगतभाव (अज्ञान) का नाश हो जाता है। जैसे जल पल भर में ही ताप को शान्त कर देता है उसी प्रकार यह ज्ञान श्रवण करते ही जगतभाव को जला देता है।

जिमि कोउ अतिहिं दरिद्रा नारी। ब्याहत नृप सब महिषि पुकारी॥
राजयोग योगहिं ऐसोई। गुरु सुनाय इत प्रभु पद होई॥

जिस प्रकार कोई अत्यन्त दरिद्रा नारी, राजा से विवाह होते ही सबके द्वारा राजरानी कहकर पुकारी जाती है उसी प्रकार राजयोग ऐसा योग है कि इधर सद्गुरु सुना रहा होता है और उधर ब्रह्मपद की प्राप्ति हो रही होती है।

राजयोग यासों मैं कहऊँ। देइ तोहिं सब उर तम दहऊँ॥
उत्तमाति उत्तम कस भासे। अन्यहिं उत्तर दउँ सुनु जासे॥

हे भारत! इसी कारण मैं इसे समस्त योगों का राजा कहता हूँ जिसे देकर तुम्हारे हृदय के समस्त अज्ञानरुपी अन्धकार का हरण कर लूँगा। यह सर्वोत्तम कैसे कहा जाता है, इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देता हूँ, सुनो-

जप तप जोग पबित्र कहावें। इनसों सब अध्यातम ध्यावें॥
पर यह योग इनहुँ करि पावन। पलमहँ भक्तन्ह करत सुहावन॥

इस जगत में जप, तप, योग पवित्र कहे जाते हैं, इसीलिए इन्हीं से सारे लोग अध्यात्म मार्ग में गमन करते हैं परन्तु यह राजयोग इन [जप, तप, योग आदि साधनाओं] को भी पवित्र करके क्षण भर में ही भक्तों को मुक्त कर देता है।

दोहा— सब कर्मन्हि यह मूल सों पल महँ देत उखारि।
जनम जनम कर असुभ सुभ तेहि छन देवे जारि॥ १६॥

यह समस्त कर्मों को मूलसहित पल भर में उखाड़ देता है और उसी समय जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्म फलों को जला देता है।

चौपाई— ऐसी याकी पावनताई। काह कहउँ मैं कही न जाई॥
नभ मंडल ज्यों भानु प्रकासत। बिनु प्रयास तम घन पल नासत॥

इसकी पावनता ऐसी है कि मैं क्या कहूँ, कहने में नहीं आती! जिस प्रकार नभ मण्डल में सूर्य के प्रकाशित होते ही, बिना प्रयास के पल भर में घनीभूत अंधकार का नाश हो जाता है–

तिमि उर राजयोग जब आवे। सकल अबिद्या मूल नसावे॥
महाकाल आवत बनि जावे। काम क्रोध लोभहिं झट खावे॥

उसी प्रकार जब हृदय में राजयोग का प्राकट्य होता है तो सम्पूर्ण अविद्या का समूल नाश हो जाता है। यह आते ही महाकाल बन जाता है और काम, क्रोध, लोभ आदि [शत्रुओं] को झट खा जाता है।

यति कहाय सो ब्रह्म अनामय। जगत बन्द्य होवे करुनामय॥
ऐसो नहिं कि जोग जप माहीं। हे कौन्तेय रहउँ मैं नाहीं॥

[इसको धारण करने वाला] वह संन्यासी अनामय ब्रह्म कहा जाता है तथा करुणामय [ब्रह्म] होकर जगतवन्द्य हो जाता है। हे कौन्तेय! ऐसा नहीं है कि मैं अन्य जप, तप, योग आदि के अन्तर्गत नहीं रहता हूँ–

उन्हमहुँ वास करउँ सुनु ऐसो। अरणी महँ पावक रह जैसो॥
साधन साध्य होयँ यासें सब। सिद्ध होहिंगे पतो नाहिं कब॥

बल्कि सुनो! उनमें भी मैं ऐसे ही वास करता हूँ जैसे काष्ठ में अग्नि। इसलिए ये सभी साधन-साध्य होते हैं, परन्तु पता नहीं कब सिद्ध हों (इनके सिद्ध होने की समय सीमा नहीं होती)–

दोहा— राजयोग पावक सरिस गुरु करुना करि देत।
जग दिखाय नहिं दोष जेहि कृपापात्र सो लेत॥ १७ (क)॥

किन्तु राजयोग साक्षात् अग्नि के समान है, जिसे सद्गुरु कृपा करके देता है। जिसे जगत में किसी के प्रति दोष-दर्शन नहीं होता, वही [गुरु का] कृपापात्र इसे प्राप्त करता है।

यासों भाषत संत सब कृपा साध्य यह होय।
अगुन सगुन जो गुरु लखैं उनमहँ लह कोउ कोय॥ १७ (ख)॥

इसी से सारे संत कहते हैं कि यह कृपासाध्य है। अत: जो सद्गुरु को निर्गुण एवं सगुण- दोनों रूपों में देखते हैं, उन्हीं में से कोई-कोई अधिकारी ही इसे प्राप्त करते हैं।

चौपाई— द्रोन मरन द्रुपदहिं उर भावत। अति असमर्थ न अस करि पावत॥
संत सरन महँ जब ते आये। धृष्टद्युम्न जैसो सुत पाये॥

जिस प्रकार राजा द्रुपद द्रोणाचार्य की मृत्यु चाहते थे किन्तु अति असमर्थता के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते थे, परन्तु जब सन्त की शरण में आये तब [वरदान द्वारा] धृष्टद्युम्न जैसा पुत्र प्राप्त कर लिया।

कृपा साध्य पाये अस काला। अब न द्रोन कर कोउ प्रतिपाला॥
ज्यों रज बीर्य बिना सुत पाये। राजयोग तैसोइ सुहाये॥

इस प्रकार उन्होंने ऐसे महाकाल को प्राप्त किया जो कृपासाध्य ही था जिससे आचार्य द्रोण का अब कोई रक्षक नहीं रहा। जिस प्रकार उन्होंने रज और वीर्य के बिना ही पुत्र प्राप्त किया, उसी प्रकार राजयोग भी बिना किसी क्रिया के [सद्गुरु की कृपा से] प्राप्त होता है।

यासें मेरो रूप कहावे। ब्रह्मज्ञान यह अति मन भावे॥
अब्यय काह कहउँ सुनु ताता। पाइ न पुनि कबहूँ बिलगाता॥

इसीलिए तो यह ब्रह्मज्ञान मेरा ही रूप कहलाता है जो सभी के मन को अतिप्रिय लगता है। हे तात! मैं इसे अव्यय क्यों कहता हूँ सुनो- यह प्राप्त होने के बाद फिर [कभी भी] अपने से पृथक् नहीं होता–

ब्रह्मसक्ति अरु ब्रह्म कहावे। यासों अब्यय कहि सब गावे॥
याहि सुगम मैं भाषउँ यासे। श्रद्धावान सहज लह जासे॥

तथा यह 'ब्रह्मशक्ति और ब्रह्म'- दोनों रूपों वाला कहा जाता है इसलिए सभी अव्यय कहकर इसका गायन

करते हैं। मैं इसे अति सुगम साध्य इसलिए कहता हूँ क्योंकि श्रद्धावान इसे सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— करनो धरनो नाहिं कछु गुरु बच बस बिस्वास।
ताकी सुनि तैसो लखे इतनैं महँ जग नास॥१८॥

इसमें करना-धरना तो कुछ है नहीं, केवल गुरु के वचनों पर अत्यन्त विश्वास करना होता है। उसके वचनों को सुनकर वैसा ही देखे तो इतने मात्र से ही [मायामय] जगत भाव का नाश हो जाता है।

चौपाई— श्रद्धावान कहउँ जग सोई। आतमज्ञान चहत बस जोई॥
वासें अल्प चाह मानव की। ताकी श्रद्धा जस दानव की॥

[और भी सुनो कि] जगत में मैं श्रद्धावान उसी को कहता हूँ जो मात्र आत्मज्ञान ही चाहता है। मानव की चाहना यदि उससे थोड़ी-सी भी कम है तो उसकी श्रद्धा वैसी ही है जैसे दानव की।

महाराज एहि छन लख जोई। आइ साधकन्ह बिच कह सोई॥
गारुड़ि मंत्र सिखावत केही। जब लगि सर्प न काट्यो तेही॥

महाराज इस समय जो कुछ भी देख रहा है उसे ही साधकों के मध्य आकर बता रहा है। गारुड़ि मंत्र की शिक्षा किसी को तभी तक दी जा सकती है जब तक कि उसे सर्प न काटा हो।

जाको बिषधर काटि परावे। ताहि न मंत्र सिखायो जावे॥
बिष उतार पावे नर सोई। गारुड़ि मंत्र सिद्ध जेहि होई॥

जिसको सर्प काटकर भाग गया हो उसे मंत्र नहीं सिखाया जा सकता। हाँ, वही मनुष्य उसके विष को उतार सकता है जिसका गारुड़ि मंत्र सिद्ध हो।

महा मोहमय बिषधर आयो। गुडाकेस उर काटि परायो॥
संसय लहरि सों पुनि पुनि मर्दति। पावन प्रज्ञा नष्टति गर्जति॥

[वैसी ही स्थिति यहाँ भी है कि स्वजन भाव रूपी] महा मोहमय सर्प आकर अर्जुन के हृदय में काटकर चला गया है जिससे संशयरूपी लहर उठकर बारम्बार उन्हें घायल कर रही है और उनकी अति विशुद्ध प्रज्ञा का नाश करते हुए गर्जना कर रही है।

आत्मज्ञान उत्तम उपचारहि। सदगुरु जासे गरल उतारहि॥
सोइ करि प्रभु दैं आतमज्ञाना। परम कृपालु कृष्ण भगवाना॥

आत्मज्ञानरूपी गारुड़ि मंत्र वह उत्तम उपचार है जिसके माध्यम से सद्गुरु अज्ञानरूपी विष का निवारण करता है। यहाँ परम कृपालु भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द आत्मज्ञान देकर वही कर रहे हैं।

दोहा— अति श्रद्धा भइ पार्थ उर एहि प्रसाद जब पायँ।
गगन गमत सुर सिद्ध मुनि सबकै सब हरषायँ॥१९॥

जब इस प्रसाद को महात्मा अर्जुन ने प्राप्त कर लिया तो उनके हृदय में अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न हो गयी, जिससे आकाश में गमन करने वाले देवता, सिद्ध और मुनिगण सभी हर्षित हो गये।

चौपाई— प्रभु चर्चा नभ सुनि सुर सारें। किन्नर अरु गंधर्ब बिचारें॥
जो चह आतमज्ञान न कोऊ। प्रभु कह दानव सम सो होऊ॥

भगवान नारायण की ऐसी वार्ता सुनकर आकाश में स्थित देवताओं, किन्नरों और गन्धर्वों ने विचार किया कि भगवान तो कह रहे हैं कि जो आत्मज्ञान नहीं चाहता वह चाहे कोई भी हो दानव के सदृश ही है।

पुनि न चहहिं क्यों आतमज्ञाना। स्वयं कहत जब कृपानिधाना॥
हम तौ सुनत कहेउ कोउ किन्नर। यासेइ कृपा करहिं करुनाकर॥

जब करुणानिधि भगवान ही ऐसा कह रहे हैं तो फिर हम आत्मज्ञान की चाहना क्यों न करें? उनमें से किसी किन्नर ने कहा कि हमसब तो इसे सुन ही रहे हैं, अत: इतने से ही करुणाकर भगवान कृपा कर देंगे।

कोउ गंधर्ब कहत एतनोई। होत न बहु तुम्ह कह जेतनोई॥
अबलौं भये बहुत मुनि ज्ञानी। जोगी जपी तपी अरु ध्यानी॥

तब तक किसी अन्य गन्धर्व ने कहा कि जितना तुम कह रहे हो उतना ही पर्याप्त नहीं होता। हे देवताओ! हे सिद्धो! अभी तक बहुत-से योगी, जपी, तपी, ध्यानी एवं ज्ञानी सन्त हो चुके हैं,-

सबकै मति एकइ मत ध्याये। एक कंठ सों ताहि सुनाये॥

उन सबकी बुद्धि ने एक ही सिद्धांत को स्वीकार किया जिसे उन्होंने एक स्वर से बताया है कि-

दोहा— दीक्षा लेनो परत है सदगुरु सों एहि हेतु।
नहिं तेहि सम जग कल्पतरु महत ज्ञान जो देतु॥ २०॥

इसके लिए तो सद्गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती है; क्योंकि उसके समान कल्पतरु जगत में कोई है ही नहीं जो आत्मज्ञान दे सके।

चौपाई— कोउ सुर कह जब प्रभु बद दीखत। अरु उनसेइ ज्ञान हम सीखत॥
तौ का गुरु सों तिन्ह कम मानत। प्रभु का हमरो मन नहिं जानत॥

[इतने में ही] किसी देवता ने कहा कि जब प्रभु को हम बोलते हुए देख रहे हैं और उनसे इस ज्ञान को प्राप्त भी कर रहे हैं, तो क्या उन्हें हम सद्गुरु से कम मानते हैं और क्या भगवान नारायण हमारे मन की बात नहीं जानते?

कोउ सुर कह ऐसो नहिं भाई। नियम न अस कीन्हीं हरिराई॥
पुन्य पास सब अमर बँधाये। भोगे बिनु तेहि को कहँ जाये॥

तब तक किसी देवता ने कहा- नहीं नहीं ऐसा नहीं है। हे भाई! भगवान नारायण ने ऐसा नियम नहीं बनाया है। हम सभी देवता पुण्य की रस्सी से बँधे हुए हैं उसे भोगे बिना कोई कहाँ जा सकता है?

भोगत सुख जब धरम नसावे। दुख भोगन हित नरकहिं जावे॥
जैसो कर्म योनि तस धावत। भ्रमत भ्रमत कहुँ नर तन पावत॥

जब सुखों को भोग लेने पर धर्म का नाश हो जाता है तब दु:ख भोगने के लिए नरक में जाना पड़ता है और तब जैसा कर्म होता है, वैसी ही योनि में जाना पड़ता है। इस प्रकार घूमते-घूमते तब कहीं मनुष्य तन प्राप्त होता है।

सोउ जब कृपा करत यदुराई। नर तन पाय जाइ ठकुराई॥
पुनि प्रभु कृपा मिले कोउ सदगुरु। एहि बिधि आतमज्ञान पाय बरु॥

उसमें भी मनुष्य शरीर प्राप्त होने के बाद जब प्रभु यदुनाथ की कृपा होती है तब अपना स्वामीपना (अहंकार) छूट पाता है। पुन: जब प्रभु कृपा से कोई सद्गुरु प्राप्त होता है तो भले इस प्रकार आत्मज्ञान हो जाय [अन्यथा यह दुर्लभ है]।

दोहा— एहि बिधि भव बंधन कटत अपर कोउ मग नाहिं।
गा उछाह बहु सुरन्ह कर सुनतहिं जो मन माहिं॥ २१॥

इसी प्रकार भवबन्धन कटता है इससे अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है-ऐसा सुनते ही बहुत से देवताओं के मन से उत्साह जाता रहा।

चौपाई— परम धीर इक सुर कह सबसों। तबतौ सजग होयँ हम अबसों॥
जुद्ध समाप्त होय जैसेई। प्रभु पहिं चलहिं हमहु तैसेई॥

तभी एक परम धैर्यवान देवता सबसे कह उठा- तब तो हम अभी से सजग हो जायँ और जैसे ही युद्ध समाप्त हो वैसे ही भगवान के पास चलें-

बर माँगहिं यह चरन सरन परि। स्वर्ग नसाय जाय जब हे हरि॥
तब हम पावें नर तन स्वामी। कृपा करहु अब अंतरजामी॥

और उनके चरणों की शरण में पड़कर यह वर माँगें कि हे प्रभो! हे स्वामी! हे अन्तर्यामी! अब आप ऐसी कृपा करें कि जब हमारे स्वर्ग (पुण्य) का नाश हो जाय तो हम मनुष्य का शरीर प्राप्त करें।

सहज पायँ गुरु आतमज्ञानी। करम बचन मन तिन्हि सनमानी॥
माँगि ब्रह्मज्ञानहिं भव त्यागहिं। जनम जनम तंद्रा तें जागहिं॥

वहाँ सहज ही हमलोग आत्मज्ञानी गुरु प्राप्त कर लें और मन, वचन, कर्म से उनका सम्मान करें तथा जन्म-जन्मान्तर की तन्द्रा से जगकर [उनसे] ब्रह्मज्ञान की याचना करके भवसागर से पार हो जायँ।

कोउ सुर कह ऐसो का भाई। होय यहउ जब हम सरनाई॥
सुनैं सु राजयोग धरि ध्याना। होइ प्रसन्न देहिं प्रभु ज्ञाना॥

तब तक कोई देवता कह उठा कि हे भाइयो! ऐसा क्यों सोचते हैं? जब हम सब भगवान की शरण में हैं तब यह भी हो जायेगा। हम बस ध्यानपूर्वक इस राजयोग का श्रवण करें जिससे प्रभु प्रसन्न होकर हमें आत्मज्ञान दे दें।

दोहा— पुनि जब जावें स्वर्ग सों तब न पायँ तन कोय।
सायुज मुक्ती पायँ हम परम मोक्ष कह जोय॥ २२॥

और पुनः जब हम स्वर्ग से जायें तब कोई शरीर न पायें। उस समय हम सायुज्य मुक्ति ही प्राप्त करें, जो परम मोक्ष कही जाती है।

चौपाई— कह कोउ सुर हँसि होय न ऐसो। कहउँ नियम श्रुति कह सच जैसो॥
जबहिं राम रावनहिं पछारे। दोउ दल बीर मरे रन भारे॥

तभी कोई देवता हँसकर कहने लगा कि ऐसा नहीं होता; मैं उस नियम को कह रहा हूँ जिसे यथार्थ में श्रुति कहती है- आप सभी जानते हैं कि जब प्रभु श्रीराम ने युद्ध में रावण का वध कर दिया तब दोनों ही सेनाओं के बहुत-से योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए थे।

इंद्र सुधा दोउ दल बरसाये। पर प्रभु अपनोइ बीर जिलाये॥
तस हरि ज्ञानसुधा बरसावहिं। पर जिन्हिं हरि चाहहिं ते पावहिं॥

उस समय देवराज इन्द्र ने दोनों ही दलों के ऊपर अमृत की वर्षा की थी, परन्तु भगवान श्रीराम ने [अपने संकल्प के द्वारा] अपने ही पक्ष के वीरों को जीवित किया था। उसी प्रकार भगवान नारायण ज्ञानामृत की वर्षा कर रहे हैं, परन्तु वे जिसे चाहेंगे वे ही इसे प्राप्त करेंगे।

पर एहि सुनतहु बहु फल पावे। कब एहि लहउँ चाह उर आवे॥
बहुत महत की यह जिज्ञासा। बनी रहइ जब उर नित आसा॥

परन्तु हाँ! इसे सुनने का भी विशेष फल है। अब हृदय में यही आ रहा है कि इसे कब प्राप्त करूँगा। जिसके हृदय में यह जिज्ञासा सदा रहने लगे तो वह (जिज्ञासा) अत्यन्त महत्त्व की है।

बेगि पाय नर तन सो भाई। जाकी महिमा जाय न गाई॥
जब प्रभु कृपा करैं हरषाई। जिय की जरनि तबहिं सब जाई॥

हे भाइयो! उसके फलस्वरूप शीघ्र ही उसे मनुष्य का तन प्राप्त होगा जिसकी महिमा गायी नहीं जा सकती और जब भगवान प्रसन्नतापूर्वक कृपा कर देंगे, तभी हृदय का समस्त शोक-सन्ताप चला जायेगा।

दोहा— अबहिं धनंजय लहहिं बस हरि सों आतमज्ञान।
यहइ कृपा अति महत की हम सब सुनहिं सुजान॥ २३॥

अभी तो भगवान नारायण से परम पवित्र हृदय वाले केवल महात्मा अर्जुन ही इस आत्मज्ञान को प्राप्त करेंगे। हे बुद्धिमानो! [हमें ऐसा जानना चाहिए कि] भगवान की यही अत्यन्त कृपा है कि हम इस संवाद को सुन पा रहे हैं।

चौपाई— उत संजय नृप पाहिं सुनायो। सुर संबाद बहुत तिन्ह भायो॥
ते कह संजय सच उर मेरो। भावत आतमज्ञान घनेरो॥

उधर सञ्जय ने भी धृतराष्ट्र से देवताओं की सम्पूर्ण वार्ता कह सुनायी, जो उन्हें अति प्रिय लगी। उन्होंने कहा कि हे सञ्जय! सच में ही यह आत्मज्ञान मेरे हृदय को भी अत्यन्त प्रिय लग रहा है।

सब सुनाउ कछु गुप्त न राखइ। जो केसव अर्जुन सों भाषइ॥
सब तजि पावउँ जो यह ज्ञाना। बड़भागी निज गुनउँ सुजाना॥

अतः जो कुछ केशव अर्जुन से कह रहे हैं वह सब सुनाते चलो, कुछ छिपाकर मत रखना। हे

बुद्धिमान सञ्जय! यदि अपना सब कुछ त्यागकर भी मैं इस ज्ञान को प्राप्त कर लूँ तो अपने को महत् भाग्यवान समझूँगा।

ऐसो होइ न सुनु मम राजन। चाहिय याको अति प्रिय भाजन॥
होय न उर महँ बिनु गुरु ज्ञाना। अबहिं गगन यहि सुरन्ह बखाना॥

[तब सञ्जय ने कहा कि] हे राजन्! आप मेरी सुनें तो ऐसा नहीं हो सकता, इसको प्राप्त करने के लिए तो अत्यन्त प्रिय पात्र चाहिए; क्योंकि देवताओं ने भी अभी यही कहा है कि बिना सद्गुरु [की कृपा] के हृदय में यह ज्ञान प्रकट हो ही नहीं सकता।

नृप अति चकित भये सुनि बानी। पस्चाताप न जाइ बखानी॥
कहेउ चकित चित अति बिकलाई। संजय ज्ञान मिलेउ का भाई॥

ऐसा सुनते ही राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये। उनका पश्चात्ताप तो कहते नहीं बनता। पुनः उन्होंने चकित चित्त से विकल होकर कहा कि हे सञ्जय! तो क्या यह ज्ञान तुम्हें मिल गया?

दोहा— संजय कह सुनु नृपति सच मम हिय यहि पछितान।
लहि न सकउँ बर ज्ञान यह जदपि सुनउँ धरि ध्यान॥ २४॥

तब सञ्जय ने कहा कि हे नरेश्वर! सुनिये, मैं सत्य कह रहा हूँ मेरे हृदय में यही पश्चात्ताप है कि मैं भी यह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, यद्यपि मैं बहुत ध्यानपूर्वक इसको सुन रहा हूँ।

चौपाई— मोहिं अपर प्रभु देनो चहतो। दउँ तोकों अस काहे कहतो॥
तब कहते प्रभु सुनु बर बीरा। तेरो सम जो अति गम्भीरा॥

क्योंकि भगवान को जब यह मुझे या किसी और को देना होता तो वे यह क्यों कहते कि मैं यह ज्ञान तुमको दे रहा हूँ। तब तो वे कहते कि हे महावीर अर्जुन! सुनो, तुम्हारे समान जो अति धैर्यवान पुरुष हैं तथा-

दोष दृष्टि तजि गुरु सरनाई। लिय दउँ ज्ञान उनहुँ हरषाई॥
पर न कहहिं अस एक परंतप। पायँ ज्ञान यासें छोरहिं दप॥

तुम्हारे समान ही जिन्होंने दोषदृष्टि का परित्याग कर गुरु की शरण ग्रहण कर ली है, उन्हें भी मैं प्रसन्न मन से यह ज्ञान दे रहा हूँ, परन्तु वे ऐसा नहीं कह रहे हैं । अतः एकमात्र परंतप अर्जुन ही इस ज्ञान को प्राप्त करके अहंकार का त्याग कर देंगे।

सुनि नृप कह तब चलु रन भाई। जहँ गुरु करउँ आज यदुराई॥
पाइ ज्ञान भव तपन मिटाऊँ। ऐसो पुनि जग आउँ न जाऊँ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा-हे प्रिय! तब तो चलो हम अभी युद्ध के मैदान में चलते हैं, जहाँ आज ही यदुनाथ को गुरु बना लूँ और आत्मज्ञान को प्राप्त करके संसार के समस्त दुःखों को मिटाकर इसप्रकार बारम्बार आने-जाने के चक्र से मुक्त हो जाऊँ।

नहिं नृप नहिं अस बने न कामा। मोर कहा करि होउ अकामा॥

[तब सञ्जय ने कहा-] नहीं राजन् नहीं! इससे तो काम बनने वाला नहीं है। हाँ, मैं जैसा कहता हूँ वैसा करके आप अकाम हो जायँ।

छंद— सच नृप चहउ यदि ज्ञान यह तब जो कहउँ मैं सो करौ।
प्रथमहिं चलउ दुर्योधनहिं अरु कर्ण सकुनिहिं तुम्ह धरौ॥
दै साप दुःसासन सहित सब राज्य अपुनें कर गहौ।
पुनि नृपति पद दै पांडवन्हि यतिधर्म महँ नित रमि रहौ॥

हे राजन्! यदि आप सच में यह आत्मज्ञान चाहते हैं तो जो मैं कहता हूँ वह करें। सर्वप्रथम आप चलकर दुर्योधन, कर्ण, शकुनि एवं दुःशासन सहित सब को अपने अनुशासन में करके शाप दें फिर सम्पूर्ण राज्य को अपने अधिकार में लेकर पुनः पाण्डु पुत्रों को राजपद सौंप कर सदा के लिए संन्यास धर्म में रमण करें।

पुनि गमन कीजौ प्रभु सरण जहँ सिद्ध साधक जावहीं।
तहँ पतित पावन परम प्रभु तोहिं निरखि सब बिसरावहीं॥
दैं तबहिं आतमज्ञान तुम्ह कहँ नेकु देर न लावहीं।
भव सिंधु पार उतारि तुव जस जगत महँ बिस्तारहीं॥

उसके बाद आप भगवान की शरण में जायें, जहाँ साधक एवं सिद्ध जाते हैं। पतित-पावन परम प्रभु वहाँ आपको [अपने सम्मुख आया] देखकर आपके समस्त अपराधों को भुला देंगे और थोड़ी भी देर किये बिना आपको आत्मज्ञान दे देंगे तथा भवसागर से पार उतारकर आपका यश जगत में फैला देंगे।

दोहा— ज्ञात होय तब नृपति सुनु आपु चहउ भगवान।
ऐसो करनो सों मिलै जगतपतिहिं परमान॥ २५॥

हे नरेन्द्र! [और भी ध्यान देकर] सुनें, तब पता चलेगा कि आप भगवान को चाहते हैं तथा ऐसा करने से भगवान नारायण को [आपके चाहने का] प्रमाण भी मिलेगा।

चौपाई— संजय कब चाहउँ भगवाना। चाहउँ मैं बस आतमज्ञाना॥
सुर मुनि सब प्यासे जेहि लाने। जतन करत नित रहहिं सयाने॥

तब धृतराष्ट्र ने कहा- हे सञ्जय! मैं भगवान को चाहता ही कब हूँ, मैं तो एकमात्र आत्मज्ञान चाहता हूँ, जिसके लिए देवता और मुनिगण भी लालायित रहते हैं और सदा इसी के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

हँसि कह संजय उर अभियंतर। आत्मज्ञान प्रभु महँ नहिं अंतर॥
सब्द भेद सों दोइ लखावत। संत बेद मुनि एक बतावत॥

तब हँसकर सञ्जय ने कहा- हे राजेन्द्र! हृदयस्थ भगवान और आत्मज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं है, मात्र शब्द के भेद से ही दो की प्रतीति होती है- वेद और सन्त सदैव इन्हें एक ही बताते हैं।

सगुन ब्रह्म सदगुरु भगवाना। ब्रह्मज्ञान सोइ होत सुजाना॥
तब जहँ देखहु एक लखावे। प्रबल अबिद्या सब मिटि जावे॥

हे बुद्धिमान नरेश! [सच पूछें तो] सद्गुरु भगवान ही सगुण ब्रह्म हैं और वही आत्मजिज्ञासु के हृदय में ब्रह्मज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब आप जहाँ भी देखेंगे, एक ब्रह्म ही दिखायी पड़ेगा और समस्त अविद्या नष्ट हो जायेगी।

संजय अस नहिं करउँ ढिठाई। दुर्योधन कर मोहिं भय भाई॥
खाय गरल कै मोहि खिलावे। यासे मोको कछु नहिं भावे॥

[तब धृतराष्ट्र ने कहा-] सञ्जय! मैं ऐसी धृष्टता नहीं करूँगा, [क्योंकि] हे प्रिय! मुझे दुर्योधन का भय है। वह या तो स्वयं विष खा लेगा या मुझे खिला देगा। अत: मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा है।

दोहा— आतमज्ञान न चहउँ मैं अब रन होय जो बोल।
कछु सोचत चकराय सिर अरु मन बहुबिधि डोल॥ २६॥

इसलिए मैं आत्मज्ञान नहीं चाहता, अब तो तुम वही बताओ जो रणभूमि में हो रहा है। [इसके अतिरिक्त] कुछ भी सोचता हूँ तो मेरे सिर में चक्कर आने लगता है तथा अनेक प्रकार [की भावी चिन्ताओं] से मन डोलने लगता है।

चौपाई— यह सब निरखि प्रभू मुसुकावें। नभ सिध देवन्हि बहुत सुहावें॥
महाराज एक गुप्त कहानी। कहत साधकन्ह आपुनि जानी॥

यह सब (धृतराष्ट्र की ऐसी स्थिति) देखकर भगवान मुस्कुराने लगे, जो आकाश में स्थित सिद्ध, सुरगण आदि को अति प्रिय लगा। महाराज साधकों के बीच उन्हें अपना जानकर एक गुप्त रहस्य कहने जा रहा है-

मेरो कथन समझ जब आवे। तब प्रभु जो बरने चित भावे॥
जीव आतमा होत कुचिंतन। ब्रह्म आतमा आतमचिंतन॥

जब मेरा कहा हुआ समझ में आ जायेगा, तभी भगवान ने जो वर्णन किया वह प्रिय लगेगा [और समझ में आयेगा] क्योंकि जीव की आत्मा कुचिन्तन और ब्रह्म की आत्मा आत्मचिन्तन है।

जीव हृदय महँ यहि सच आवे। हौं मैं देह सदा अनुभावे॥
तातैं मैं तू मेरो तेरो। धारा बहति चित्त दै फेरो॥

जीव के हृदय में यथार्थत: यही अनुभव होता रहता है कि 'मैं शरीर हूँ'। इसीलिए चित्त में भ्रमण करती हुई 'मैं-तू','मेरे-तेरे' की धारा सदा प्रवाहित होती रहती है।

मनहुँ सिद्धि सो येहिकर पायो। यासेइ ब्रह्मभाव बिसरायो॥
जबकै ब्रह्म हृदय महँ बरसत। अहं ब्रह्म नित जासों हरसत॥

मानो उसने इसी की सिद्धि प्राप्त कर ली हो, इसी से तो ब्रह्मात्मभाव [मैं ब्रह्म हूँ] भूल गया है। जबकि ब्रह्म के हृदय में 'अहं ब्रह्म' की धारा अनवरत बरसती रहती है जिससे वह सदा हर्षित रहता है।

मैं सम सांत सच्चिदानंदा। निर्बिकार अरु नित्यानंदा॥
सर्बरूप अरु सर्ब उदासी। साक्षी चेतन अरु अबिनासी॥

'मैं सम शान्त सच्चिदानन्द हूँ, निर्विकार और नित्यानन्द हूँ, सर्वरूप तथा सबसे अनासक्त हूँ; सर्व का साक्षी, चेतन एवं अविनाशी हूँ'-

दोहा— ताकर सिद्ध स्वरूप यहि जामहँ अपर न कोय।
नहिं जग स्वप्न सुषुप्तिहू भूत भविष्य न होय॥ २७ (क)॥

यही उसका सिद्ध स्वरूप है जिसमें कोई दूसरा है ही नहीं और न ही उसमें संसार, भूत-भविष्य तथा स्वप्न-सुषुप्ति आदि ही हैं।

तासों अब मैं चलउँ तहँ ब्रह्म कृष्ण अरु पार्थ।
प्रेम मगन प्रभु बरनत जहाँ सुद्ध परमार्थ॥ २७(ख)॥

इसलिए अब मैं वहाँ चल रहा हूँ जहाँ साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन विद्यमान हैं तथा जहाँ भगवान प्रेममग्न हो शुद्ध परमार्थ का वर्णन कर रहे हैं।

चौपाई— तब प्रभु कहत परम प्रिय मेरो। कोउ छति लाभ न उर महँ तेरो॥
मैं अब्यक्त ब्रह्म हौं यासे। मोसों ब्याप्त सकल जग भासे॥

तब भगवान ने कहा- हे मेरे प्रिय पार्थ! [अब तक तुम जो हानि-लाभ, जय-पराजय की बात कर रहे हो, सच पूछो तो] तुम्हारे हृदय में कोई हानि-लाभ हुई ही नहीं है। मैं परम अव्यक्त ब्रह्म हूँ, इसलिए मुझ परमेश्वर से ही व्याप्त यह समस्त जगत भास रहा है।

यह सबरे जग अस रह मोमें। ज्यों रह बिपुल कल्पना तोमें॥
किंतु न बास करउँ उन्ह पाहीं। तव हिय जगत भाव जिन्ह माहीं॥

[तुम यह भी जान लो कि] सम्पूर्ण जगत मुझमें ऐसे ही वास कर रहा है जैसे तुझमें नाना प्रकार की कल्पनाएँ वास करती हैं; किन्तु जिनमें तुम्हें जगत भाव हो गया है, मैं उनमें कभी भी वास नहीं करता।

अरु सुनु योग सक्ति अस मोरी। जो आतम जग खेलति होरी॥
भूत बास करि तिन्ह उपराजे। धारि बिनासि सोइ अति भ्राजे॥

और भी सुनो; मेरी योगशक्ति ऐसी है कि [उसके प्रभाव से] जो आत्मा जगत में सबके साथ क्रीड़ा कर रहा है वही सम्पूर्ण भूतों को प्रकट कर उनमें वास करता है, उन्हें धारण करता है और [समयानुसार] उनका संहार करके अत्यन्त सुशोभित होता है।

आश्रित सो न भूत कहँ कबहूँ। बरु ते ताहि चहत नित तबहूँ॥

किन्तु वह कभी भूतों के आश्रित नहीं होता, भले ही वे उसको सदा चाहते ही क्यों न रहें।

दोहा— यहउ कहउँ कहि जाय नहिं कहउँ काह कछु बीर।
भूतहु मोमें नहिं बसत जान सकइ कोउ धीर॥ २८॥

हे परमवीर! [सच पूछो तो] यह कह तो रहा हूँ किन्तु कहा नहीं जा रहा है, अत: कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ; क्योंकि मुझमें सम्पूर्ण भूतों (पंचभूत एवं प्राणियों) का भी निवास नहीं है, इसे कोई धीर पुरुष ही जान सकता है।

चौपाई— मोमें यह संसार न वैसे। रज्जू महँ बस उरग न जैसे॥
मोमें यह संसार न वैसे। नहिं हिम उपल सलिल महँ जैसे॥

अत: मुझमें यह संसार उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार रस्सी में सर्प तथा जल में हिम।

मोमें यह संसार न वैसे। लहरहु नाहिं नीर महँ जैसे॥
मोमें यह संसार न वैसे। गहनो नाहिं कनक महँ जैसे॥

मुझमें यह संसार उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार जल में लहर तथा स्वर्ण में आभूषण।

मोमें यह संसार न वैसे। घड़ो नाहिं मृतिका महँ जैसे॥
मोमें यह संसार न वैसे। बस्त्र नाहिं सूतन महँ जैसे॥

मुझमें यह संसार उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा तथा सूत में वस्त्र।

मोमें यह संसार न वैसे। प्रेत नाहिं ठूँठनि महँ जैसे॥
मोमें यह संसार न वैसे। मृगतृष्णा महँ नीर न जैसे॥

मुझमें यह संसार उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार ठूँठ में प्रेत तथा मरुमरीचिका में जल नहीं है।

यह जग मम चित पारथ वैसे। किरन बसहिं दिनकर महँ जैसे॥

हे पार्थ! यह संसार मेरे चित्त में वैसे ही वास करता है जैसे सूर्य में किरणें वास करती हैं।

दोहा— जिमि नभ भासति नीलिमा जदपि नाहिं कछु होय।
एकमात्र तहँ सून्यता तिमि जग दीखत योय॥ २९॥

अत: [हे जितेन्द्रिय!] जिस प्रकार आकाश में नीलापन दिखायी पड़ता है जबकि वहाँ कुछ भी नहीं होता, एकमात्र शून्यता ही होती है; उसी प्रकार यह जगत भी दीख रहा है [जबकि है कुछ भी नहीं]।

चौपाई— भ्रमबस रज्जू सर्प लखावे। तनहिं मूढ़ तस आतम गावे॥
जस बताय कोउ सीपिहिं चाँदी। तनहिं ब्रह्म तस कह बकवादी॥

जैसे भ्रम के कारण ही रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है वैसे ही अज्ञानी शरीर को आत्मरूप बताता है। जिस प्रकार कोई सीपी को चाँदी बताने लगता है उसी प्रकार वितर्कवादी शरीर को आत्मा कहता है।

जस मृतिका घट रूप लखावे। आतम तस तन मूढ़ जतावे॥
जस सुवर्ण गहनो महँ भासे। आतम तस तन मूढ़ प्रकासे॥

जिस प्रकार मिट्टी घड़ेरूप से भासती है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुष शरीर को ही आत्मरूप से बताता है तथा जिस प्रकार स्वर्ण की ही आभूषणरूप में प्रतीति होती है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुष शरीर को ही आत्मरूप से प्रकाशित करते हैं।

जस जल माँहि तरंग कल्पना। आतम तस तन मूढ़ जल्पना॥
जस तरु ठूँठहु प्रेत लखावे। आतम तस तन मूढ़ बतावे॥

जिस प्रकार जल में तरंग मात्र कल्पना ही है, उसी प्रकार शरीर में आत्मभाव मूर्खों का बकवास है। जिस प्रकार भ्रमवश ठूँठे पेड़ में प्रेत दीख पड़ता है, उसी प्रकार मूर्ख शरीर को ही आत्मा बताता है।

जस दृग दोष पीत सब भासे। आतम तस तन मूढ़ बगासे॥

जिस प्रकार नेत्र में दोष हो जाने पर सर्वत्र पीलापन ही भासता है, उसी प्रकार मूर्ख ही शरीर को आत्मा कहता है।

दोहा— ज्यों नभ महँ बदरी फिरति जनु ससि दौड़ लगाय।
बिनु बिचार तन ताहि बिधि आतम रूप लखाय॥ ३०॥

जिस प्रकार आकाश में बादल के दौड़ने से चन्द्रमा दौड़ता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार चिन्तन के अभाव में शरीर आत्मा जैसा ही दीखाई पड़ रहा है।

चौपाई— मैं जग महँ नहिं जग नहिं मोमें। तैसेइ तात होय नहिं तोमें॥
बीज ब्याप्त तरु साखा माहीं। पत्र पुष्प अस कोउ जहँ नाहीं॥

हे तात! न तो मैं संसार में हूँ और न संसार ही मुझमें है, वैसे ही तुममें भी संसार नहीं है और न तुम ही संसार में हो। जिस प्रकार बीज ही वृक्ष, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि सबमें व्याप्त है, ऐसा कोई भी अंग नहीं है जहाँ वह न हो-

तिमि भासत जग चेतन एको। पुनि कैसे कोउ कहत अनेको॥
जब सर्बत्र ब्याप्त बिभु एको। कारन कार्य पृथक अबिबेको॥

उसी प्रकार एक ही चेतन आत्मा जगतरूप से भासित हो रहा है; फिर कोई अनेक की कल्पना कैसे कर लेता है? जब सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त है तो कारण एवं कार्य को अलग-अलग समझना मूर्खता है।

कारन कार्य न हिम महँ पावउँ। तिमि जग ब्रह्म न पृथक बतावउँ॥
जागत सोवत सपन न पावत। ब्रह्म होइ पुनि जग नहिं आवत॥

जिस प्रकार बर्फ के जलरूप होने से उस में कारण कार्य की कल्पना निरर्थक है, उसी प्रकार मैं जगत को ब्रह्म से पृथक् नहीं कह रहा हूँ। जागने के बाद और सो जाने के उपरान्त [सुषुप्ति में] स्वप्नजगत की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मरूप होने पर पुनः संसारभाव नहीं होता।

नारि रूप जननी महँ कबहूँ। खोजि मिलइ न मरइ सुत तबहूँ॥
तिमि लखाय नहिं जग कहुँ मोकों। पुनि कस भासत मैं तू तोकों॥

जिस प्रकार कोई पुत्र अपनी माँ में स्त्री का रूप खोजते-खोजते भले ही थक जाय तो कहीं भी उसमें स्त्री रूप नहीं मिलता, उसी प्रकार मुझे खोजने पर भी जगत दिखाई नहीं दे रहा है, फिर तुम्हें 'मैं और तू' की प्रतीति कैसे हो रही है?

जस मान्यो तस भास्यो सोई। तेहि सच मानि धर्‌यो उर गोई॥
खोज्यो नहिं चिंतन करि कबहूँ। ऐसो अवसर आयो तबहूँ॥

[हे पृथापुत्र अर्जुन!] तुमने जिसको जैसा माना वह वैसा ही प्रतीत होने लगा और उसी को सत्य जानकर हृदय में धारण कर लिया। जब कभी ऐसा अवसर आया तब भी कभी तुमने चिन्तन करके इसकी खोज नहीं की।

दोहा— ऐसो जानि न बीरबर उर महँ करउ बिषाद।
मोरें काजें करहु रन तजहु ब्यर्थ बकवाद॥ ३१॥

अतः हे सर्वश्रेष्ठ वीर! ऐसा जानकर अब तुम अपने हृदय में शोक-सन्ताप न करो और व्यर्थ की बकवास छोड़कर मेरी प्रसन्नता के लिए युद्ध करो।

चौपाई— कह कौन्तेय चकित चित स्वामी। अब बिनवउँ कछु अंतरजामी॥
पुनि का मैं तू ये वो दीखत। बेद सास्त्र जाको बहु लीखत॥

[भगवान की बातें सुनकर] आश्चर्यचकित हो महात्मा अर्जुन ने कहा- हे मेरे स्वामी! अब मैं आपसे कुछ प्रार्थना कर रहा हूँ कि [आप कह रहे हैं कि यह संसार नहीं है तो] फिर यह 'मैं-तू', 'यह-वह' क्यों दीखता है वेद-शास्त्र जिसके विषय में बहुत कुछ कहते हैं।

प्रभु कह जस इक तत्व सदाई। फेन लहर बुदबुद जल भाई॥
तस मैं तू अरु मेरो तेरो। ये ते सब्द ब्रह्मही केरो॥

भगवान ने कहा- हे महात्मा! जैसे लहर, जल, बुदबुदा तथा फेन आदि तत्त्वतः एक ही हैं, वैसे ही 'मैं-तू', 'मेरा-तेरा', तथा 'यह-वह' आदि शब्द एकमात्र ब्रह्म के ही नाम-रूप हैं।

इनि सब्दनि सों बिभु जब जावे। सच महँ तेहि बिनु कछुहु न पावे॥
ब्रह्म अतिहिं सूक्षमतर भाई। यामें नभहु न जाय समाई॥

जब इन शब्दों (लहर, जल आदि) में से ब्रह्म (द्रष्टा) निकल जाय तो मैं सच कहता हूँ कि फिर वहाँ उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ देखा नहीं जा सकता। हे प्रिय! ब्रह्म तो इतना सूक्ष्म है कि इसमें आकाश भी नहीं समा सकता।

अस इनि सब रूपनि महँ भाई। यहइ यथारथ ब्रह्म लखाई॥
अरु जो इन्हि सब देखनवारो। सोउ न ब्रह्म सों पृथक बिचारो॥

हे प्रिय! इस प्रकार इन समस्त रूपों में यथार्थत: ब्रह्म ही दिखायी पड़ रहा है और जो इन सबको देखने वाला है, वह भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है।

उतपति प्रलय हेतु प्रिय जाहीं। बेद सास्त्र नहिं बरनि सिराहीं॥
तेहिं अज्ञान निमित बस भासे। मूढ़ सरिस अति भय उर यासे॥

जिसके उत्पत्ति एवं प्रलय के कारण को कोई वेद शास्त्र भी [आजतक यथावत्] व्यक्त नहीं कर सके। तुम्हें जो यह दीख रहा है, उसका नैमित्तिक कारण [एकमात्र] अज्ञान ही है इसी के कारण तुम मूढ़ों के समान अति भयभीत हो रहे हो।

सोरठा— यासें तजि अज्ञान खोजहु ब्यापक ब्रह्म नित।
तबहिं बुझाय सुजान मम तव एहि तेहि मरम सब॥ ३२॥

अत: हे बुद्धिमान! तुम अज्ञान को त्यागकर अब सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म की खोज करो तब इसका-उसका ,मेरा-तेरा की पहेली समझ में आयेगी।

चौपाई— एक पहेली तुम्हहिं बुझावउँ। तुम्ह अति प्रिय यासों मैं गावउँ॥
एक बार तुम्हरे सम भाई। किय संकल्प बिभुहु हरषाई॥

हे पार्थ! तुम मुझे अतिशय प्रिय हो, इसलिए इस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए तुम्हारे सामने एक पहेली सुना रहा हूँ। हे प्रिय! एक बार आत्मा ने भी प्रसन्नता के साथ तुम्हारे सदृश संकल्प किया कि-

बिषम भाव गहि महि बन जाऊँ। आत्मरूप पुनि खोजन ध्याऊँ॥
अस बिचारि महि रूप बनायो। मिलि न सांति साधन अपनायो॥

मैं विषम भाव ग्रहण करके पृथ्वी बन जाऊँ फिर अपने आत्मरूप की खोज करने के लिए ध्यान करूँ, ऐसा विचार कर अपना स्वरूप पृथ्वी का बना लिया किन्तु शान्ति न मिलने पर साधना करने लगा।

जप तप सों बहु बिधि अनुराग्यो। लागि समाधि जबहिं सो जाग्यो॥
नीर रूप देख्यो निज भाई। महि न दीख कहँ गयी दुकाई॥

जप-तप आदि से अत्यन्त प्रेम हो जाने से [ज्ञान] समाधि लग गयी तथा हे प्रिय! जब समाधि से जगा तो स्वयं को जलरूप देखा और मन में सोचा कि मुझे पृथ्वी तो दीख नहीं रही है, मेरा पृथ्वीरूप कहाँ चला गया! [ऐसे चिन्तन से]-

पुनि समाधि महँ खोजन लाग्यो। पावक होइ जबहिं सो जाग्यो॥
सो जल का अब भयो बिधाता। मेरो का यह पावक गाता॥

पुन: समाधि में स्थित हो स्वरूप को खोजने लगा और जब अग्निरूप होकर समाधि से उपरत हुआ तो सोचने लगा कि 'हे विधाता! अब वह जल कहाँ चला गया? मेरा शरीर क्या अग्नि ही है!'

अस बिचारि सो सोचन लाग्यो। लगी समाधि वायु बनि जाग्यो॥
अनल रूप कहँ गयो दुराई। सोचत ज्ञान समाधी आई॥

ऐसा मन्थन करते हुए जब चिन्तन में प्रवृत्त हुआ तो समाधि लग गयी। फिर जब वायुरूप होकर उठा तो मेरा अग्निरूप कहाँ चला गया- ऐसा विचारते ही [पुन:] ज्ञान समाधि आ गयी।

पुनि निर्मल नभ होय सो आयो। सोउ रूप नहिं ताहि सुहायो॥
गह्यो समाधि बहुरि हरषाई। जग्यो सबहिं माया बिसराई॥

पुन: जब वह विशुद्ध आकाशरूप होकर प्रकट हुआ तो उसे वह रूप भी अच्छा नहीं लगा तब पुन: हर्षित होकर समाधि को धारण किया तथा जब जगा तो सम्पूर्ण माया का लोप हो चुका था।

दोहा— सोच्यो मैं ही सब बन्यों अपर जगत कोउ नाँय।
सदा सच्चिदानंदमय अब कछु कह्यो न जाय॥ ३३॥

तब विचार किया कि वास्तव में मैं ही सब कुछ बना हुआ था दूसरा जगत तो कोई है ही नहीं। अरे! मैं तो नित्य सच्चिदानन्दमय हूँ। अहो! अब कुछ कहते नहीं बनता [अर्थात् कोई दूसरा हो तब तो कहूँ]!

चौपाई— तस तुम्ह अजहुँ तजहु जो धार्‌यो। अबलौं अज्ञानिन्ह अनुसार्‌यो॥
सुनि अर्जुन कह पतित उधारन। जग हित सदा असुर संघारन॥

वैसे ही हे तात! अब तक जो तुमने अज्ञानियों का अनुसरण करके धारण कर रखा है, उसे त्याग दो। ऐसा सुनकर भक्त अर्जुन ने कहा- हे पतित उद्धारन्! हे जगत हित के लिए सदा असुरों का संहार करने वाले!-

जस बट बिज द्रुम दुक्यो बिसाला। बिभु महँ तिमि कस नहिं जगजाला॥
कह प्रभु बीज जहाँ अस पावे। जल माटी सँग मिलि उगि जावे॥

जैसे वट के बीज में विशाल वृक्ष छिपा हुआ है, वैसे ही यह समस्त जगत ब्रह्म में कैसे स्थित नहीं है? भगवान ने कहा- जहाँ भी ऐसा [कोई] बीज पाया जाता है, वहाँ मिट्टी और जल का संयोग पाकर ही अंकुरित होता है-

सो पुनि होय बृक्ष सम ताता। ऐसो नाहिं अहइ बिभु गाता॥
जब होइ जाय प्रलय जग सारा। बीज होय का तब साकारा॥

हे तात! फिर वह वृक्ष के सदृश हो जाता है, किन्तु ब्रह्म का स्वरूप ऐसा नहीं है। जब सम्पूर्ण जगत का प्रलय हो जाता है तब उस (जगत) का बीज क्या साकार हो सकता है?

ता छन को सहकारी कारन। जासे जग होवे पुनि धारन॥
निर्गुन निराकार बिभु जोई। गुन आकार तहाँ कस होई॥

उस समय उसका सहयोगी कारण कौन है जिससे पुनः जगत की उत्पत्ति हो; जब वह परमात्मा निर्गुण-निराकार है तब उसमें गुण और आकार कैसे हो सकता है?

दोहा— नाहिं कबहुँ जहँ गम्यता परमाणुहु की भाइ।
जगत युक्त सत असत सों वामें कैसे जाइ॥ ३४॥

हे प्रिय! जहाँ कभी परमाणु की भी पहुँच नहीं है, उसमें सत्य-असत्य से युक्त जगत कैसे प्रविष्ट हो सकता है?

चौपाई— सिला उदर बरु जगत लखावे। बरु सर्षप महँ मेरु समावे॥
पर जग मोमें आय न कबहूँ। मैं माधव अस चाहउँ तबहूँ॥

भले ही शिला के उदर में जगत दीख पड़े, सरसों के बीज में सुमेरु पर्वत समा जाय, किंतु मुझमें संसार कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता; चाहे मैं वासुदेव ही क्यों न चाहूँ।

बरु बहु नर इक नर उर आवत। सुर अह निसि सम बैठि गवाँवत॥
पर कोउ जग मोमें न समावे। कारन सो न कबहुँ उपजावे॥

अथवा भले ही बहुत-से पुरुष एक ही पुरुष के हृदय में बैठे-बैठे देवताओं के रात-दिन के बराबर (लम्बा) समय बिता दें, किन्तु मुझमें कोई जगत नहीं समा सकता क्योंकि वह कभी प्रकट ही नहीं हुआ है।

बरु नौका भवसागर धारे। अंधकार बरु जग उजियारे॥
बरु कोउ सरि सागर बिच धावे। पर मोमें नहिं जग उपजावे॥

भले ही नौका संसार-सागर को धारण कर ले, अंधकार जगत को प्रकाशित करे, समुद्र के मध्य कोई नदी बह चले, परन्तु मुझमें कभी जगत उत्पन्न नहीं हो सकता।

बरु नर उर उपजें नित बिषधर। बाँझ गर्भ धारे बरु सुत बर॥
मेष जने सिंहिनि बरु धाई। पर कोउ जग मोमें नहिं भाई॥

मनुष्य के हृदय में भले ही सर्पों का नित्य जन्म होता हो, बन्ध्या स्त्री गर्भ में श्रेष्ठ पुत्र को धारण करे और हर्ष में भरकर कोई भेड़ सिंहनी को जन्म दे दे, किन्तु हे प्रिय! कोई भी जगत मुझ में जन्म नहीं ले सकता।

दोहा— बरु सिंहहिं निगले अजा बहुतहिं नाच नचाय।
मम उर कबहुँ न सत्य कहुँ कोउ जग आय न जाय॥ ३५ (क)॥

कोई बकरी भले ही सिंह को निगल जाये और [पेट में] बहुत ही नाच नचावे; किन्तु हे भरतश्रेष्ठ! मैं सत्य कहता हूँ कि मेरे हृदय में न कोई जगत आ सकता है, न जा सकता है।

ब्रह्म अनामय याहि सों मैं निज माया धारि।
प्रगट भयों एहि रूप महँ जो जग जाय उचारि॥ ३५ (ख)॥

इसलिए मैं अनामय ब्रह्म ही अपनी इच्छाशक्ति माया को धारण करके इस दृश्यरूप में प्रकट हुआ हूँ जो जगत कहा जाता है।

ज्यों नभ महँ अवकास नित जल महँ द्रवता होय।
त्यों मोमें जग तात सच अस न भिन्नता कोय॥ ३५ (ग)॥

हे पार्थ! जिस प्रकार आकाश में अवकाश तथा जल में द्रवता का नित्य ही निवास है, मैं सच कहता हूँ वैसे ही मुझमें जगत का वास है। अत: मुझमें तथा जगत में कोई भिन्नता नहीं है।

सोरठा— ऐसो हे प्रिय पार्थ तुम्हहु सर्ब तजि कल्पना।
समुझि ब्रह्म परमार्थ करहु न इहँ कोउ मोह भ्रम॥ ३५ (घ)॥

हे प्रिय पार्थ! ऐसे ही तुम भी स्वयं को ब्रह्म समझते हुए सभी कल्पनाओं को त्याग कर पारमार्थिक कार्य करो, क्योंकि ब्रह्म में मोह-भ्रम आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता।

चौपाई— पुनि कैसे प्रभु जगत लखावे। अस उपमा दैं मो मन भावे॥
वायु प्रगटि नभ जस प्रभु कहई। बिचरत जग पर तेहि महँ रहई॥

[महात्मा अर्जुन ने कहा-] हे प्रभो! फिर यह जगत कैसे दिखाई पड़ रहा है, कोई ऐसी उपमा दें जो मुझे स्पष्ट समझ में आये। तब भगवान ने कहा कि जिस प्रकार आकाश में वायु प्रकट होता है और जगत में विचरण करते हुए भी उसी में रहता है-

तस सब भूत बसत सच मोमें। होत ज्ञान जो दीखहिं तोमें॥
पुनि जब महाप्रलय छन आवत। पवन गगनमय होइ सुहावत॥

उसी प्रकार वास्तव में सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, जो ज्ञान होने पर तुम्हें भी अपने में दिखाई पड़ेंगे। पुन: जब महाप्रलय का समय आता है तो वही वायु आकाशरूप होकर सुशोभित होने लगता है।

तैसेइ कल्प अंत जग सारे। मोरि प्रकृति महँ आवत भारे॥
पुनि जब सृष्टि रचउँ हुंकारी। तौ जे मोह बिबस भये भारी॥

वैसे ही कल्प की समाप्ति पर चराचर जगत मेरी प्रकृति में विलीन हो जाता है और पुन: जब मैं सृष्टि का संकल्प करता हूँ तो जो अज्ञान के अत्यन्त वशीभूत हो गये थे-

उनहिं रचउँ पुनि पुनि मैं ताता। यामें का करि सकत बिधाता॥
उदासीन पर वामें रहऊँ। यासों कर्मबंध नहिं गहऊँ॥

उनको मैं पुन: पुन: रचता हूँ। हे प्रिय! इसमें ब्रह्मा भी भला क्या कर सकते हैं [क्योंकि वे भी तो मेरे संकल्प ही हैं?] परन्तु मैं उस [सृष्टि रचना कर्म] में भी उदासीन ही रहता हूँ, इसीलिए कर्मबन्धन में नहीं पड़ता।

दोहा— मो बिभु परमाध्यक्ष सों प्रकृति प्रेरणा पाइ।
रचति चराचर जगत जो पल छिन बदलत जाइ॥ ३६॥

मुझ परमाध्यक्ष ब्रह्म की प्रेरणा से ही प्रकृति चराचर जगत की रचना करती है जो नित्य परिवर्तनशील है।

चौपाई— कहे परंतप सृष्टि रचाई। प्रभु तुव कहे समझ यह आई॥
यासों जग अरु ब्रह्म भिन्नता। दीख सहज तुम्ह कह अभिन्नता॥

महात्मा अर्जुन ने कहा हे प्रभो! आपके ऐसा कहने से तो यह सिद्ध हो ही गया कि आपने ही सृष्टि की रचना की है, अत: ब्रह्म (आप) और सृष्टि में तो सहज ही भिन्नता दीख रही है, जबकि आप इसके पूर्व स्वयं में और सृष्टि में अभिन्नता कह आये हैं।

दीखत भिन्न पवन नभ भीतर। तैसे सृष्टि बसति तुव अंतर॥
कह्यो जे उतपति प्रलय कहानी। सब सास्त्रन्हँ महँ जाय बखानी॥

जिस प्रकार आकाश के अन्दर होने पर भी वायु भिन्न [गुण-धर्म वाली] अनुभव में आती है, उसी प्रकार आपके अन्तर में सृष्टि का वास है [अर्थात् वह आपसे सर्वथा भिन्न है]। आपने जो उत्पत्ति एवं प्रलय की कहानी कही है उसका तो शास्त्रों में वर्णन किया ही गया है!

पार्थ मोहिं दृष्टांत लखावे। अस न होय संकेत बतावे॥
यासों कोउ समझे कोउ नाहीं। पर न कोउ संसय मो माहीं॥

[तब भगवान नारायण ने कहा-] हे पार्थ! मुझको किसी दृष्टान्त के द्वारा भलीभाँति देखना या समझना असम्भव है, दृष्टान्त तो एकमात्र संकेत करता है। यही कारण है कि कोई मुझे समझ पाता है और कोई नहीं समझ पाता, परन्तु [इस हेतु से] मेरे होने में (अस्तित्व में) कोई संशय नहीं है।

बसत वायु नभ भीतर भाषउँ। समुझन हित उपाय इक राखउँ॥
जदपि गगन तेहि भीतर बाहर। होय अधः ऊपर सब ठाहर॥

जब मैंने यह कहा कि आकाश में वायु नित्य वास करता है तो मैंने समझने के लिए एक दृष्टान्त मात्र दिया है; जबकि आकाश उसके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान रहता है।

दोहा— गगन सुभाउ कहाय यह यासें अपर न होय।
जीव हृदय महँ प्रकृति जिमि पृथक कहे कस कोय॥ ३७॥

अतः [आकाश में वायु का नित्य वास करना] यह तो आकाश का स्वभाव कहा जाता है, इससे इसकी (वायु की) पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। [अरे! उसका तो आकाश में वास करना वैसा ही है] जैसा कि जीव के हृदय में उसकी प्रकृति का वास करना। अतः जीव और उसके स्वभाव को कोई पृथक् कैसे कह सकता है।

चौपाई— नभ सों पवन पृथक नहीं वैसे। द्रवता सलिल बिलग नहिं जैसे॥
मोसें प्रकृति पृथक तिमि नाहीं। बिलग न मोसें अस कछु आहीं॥

जिस प्रकार आकाश से वायु पृथक् नहीं है, जिस प्रकार जल से द्रवता पृथक् नहीं है उसी प्रकार प्रकृति मुझसे अलग नहीं है। इसलिए मेरे अतिरिक्त अंशमात्र कहीं कुछ भी नहीं है।

कह अर्जुन त्वं अहं सरीरा। धरा सलिल अरु अगिनि समीरा॥
दीखन महँ प्रत्यक्षहिं आवत। ये न कबहुँ भये नाथ बतावत॥

महात्मा अर्जुन ने कहा- हे नाथ! मैं, तू, शरीर और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु आदि स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, परन्तु आप कहते हैं कि ये कभी हुए ही नहीं हैं।

हरि कह आदि सर्ग अज कोऊ। भयो न जो जग कर्ता होऊ॥
यासें कछु जनम्यो नहिं कबहूँ। बिबिध रूप गहि प्रगट्यों अबहूँ॥

तब भगवान ने कहा- [हे बुद्धिमान!] सृष्टि के आदि में कोई ब्रह्मा प्रकट ही नहीं हुआ जो जगत का कर्ता हो। इसलिए स्पष्ट है कि कभी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि इस समय भी मैं ही विविध रूपों में प्रकट हुआ हूँ।

पार्थ कहे यह समुझ न आवत। बहुत रूप कैसे प्रभु गावत॥
प्रभु कह जग पदार्थ जो सारे। सत्यासत्य भास चित भारे॥

तब महात्मा अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो! यह समझ में नहीं आ रहा है कि आप अपने को अनेक रूपों में कैसे बता रहे हैं? तब भगवान ने कहा कि जगत के सम्पूर्ण पदार्थ हृदय के अन्तर्गत निरंतर 'सत् और असत्' रूपों में प्रतीत होते हैं।

दोहा— मति होवे सत्यत्व जहँ वाको मानत साँच।
समुझि असत जाको गहत ताको लेत न आँच॥ ३८ (क)॥

इस प्रकार जिस पदार्थ में सत्यत्व बुद्धि हो जाती है उसको तो वह सत्य मानता है और जिसको असत्य समझ

लिया है उससे सर्वथा उदासीन रहता है।

पार्थ भयो मत सिद्ध अस द्वैत दीखनो माहिं।
सत्यासत की कल्पना कारन दूसर नाहिं॥ ३८ (ख)॥

हे पार्थ! इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्य-असत्य की मान्यता ही जगत एवं जगत की विविधता की प्रतीति में कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है।

यहउ भयो अब सिद्ध सच सृष्टि सृजन महँ कोउ।
नित्य हेतु यहि ब्रह्म प्रिय कारण अपर न होउ॥ ३८ (ग)॥

हे तात! अब यह भी सिद्ध हो गया कि सृष्टि के सृजन में ब्रह्म ही नित्य कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है।

चौपाई— तस कौन्तेय अज्ञजन माहीं। स्वप्न जगत बहु रूप कहाहीं॥
पर कोउ अपर नाहिं तहँ स्रष्टा। सबहिं लखाय स्वप्नगत द्रष्टा॥

उसी प्रकार हे कौन्तेय! अज्ञानियों के द्वारा स्वप्न जगत को अनेक रूपों वाला कहा जाता है परन्तु वहाँ भी उसका कोई अन्य स्रष्टा नहीं होता बल्कि स्वप्नजगत का द्रष्टा ही सम्पूर्ण रूपों में दीख रहा है।

सोइ तहँ ज्ञान ज्ञेय अरु ज्ञाता। बन्यो बिष्णु सिव परम बिधाता॥
सोइ नभ पवन अनल जल धरनी। भयो बन्यो अरु इन्हकर करनी॥

वही (द्रष्टा) वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी बना है एवं वही आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और इन सबका कर्म भी बना हुआ है।

सोइ तहँ रोय गाय बिभु ध्यावत। जब जागत सब कछु बिसरावत॥
सृष्टि आदि महँ तस सुनु पारथ। हेतु रहित इक ब्रह्म यथारथ॥

वही [स्वप्नगत द्रष्टा] वहाँ रोता, गाता और ब्रह्म का ध्यान करता है तथा जब जाग जाता है तो इन सम्पूर्ण क्रियाओं का त्याग कर देता है। उसी प्रकार हे गुडाकेश! यह भी सुनो कि सृष्टि के आदि में जहाँ कारणरहित एकमात्र ब्रह्म विद्यमान रहता है-

तेहि संबिद जग रूप लखावे। एहि बिधि बिभु जग भेद न आवे॥
यासें ब्रह्म प्रकृति जग दोऊ। सिद्ध भयो सच ब्रह्महि होऊ॥

वहाँ उसी की इच्छाशक्ति जगतरूप होकर भासती है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जगत में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह जगत और ब्रह्म की प्रकृति दोनों एक मात्र ब्रह्म ही हैं।

दोहा— अनुभव गम्य सु ब्रह्म नित प्रकृति जगत दिखराय।
अंतर जल अरु लहर सम रूप दोउ मोहिं भाय॥ ३९॥

इनमें से ब्रह्म नित्य अनुभवगम्य है तथा प्रकृति एवं जगत प्रत्यक्ष दीख रहे है। इन दोनों में जल और लहर के समान ही अन्तर है, अत: मुझे तो दोनों रूप प्रिय हैं।

चौपाई— तात न मानत जो अस ज्ञाना। मंडुक इव उन्हकर टर्राना॥
कहत जो दीखत आँखिन आगे। तजि तेहि कोउ कहाँ पर भागे॥

हे प्रिय! जो इस ज्ञान को नहीं मानते और कहते हैं कि जो आँखों के समक्ष दीख रहा है उसको त्याग कर कोई कहाँ भाग सकता है- उनका यह प्रलाप एकमात्र मेंढक के टर्राने जैसा ही है।

उपादान कारन तन योई। संबिद की सत्ता तब होई॥
यासों ब्रह्म नित्य नहिं मानहु। बर्तमान एहि तन बहु जानहु॥

[तथा वे कहते हैं-] यह शरीर ही उपादान कारण है, तभी चेतन की सत्ता प्रकट हो रही है। इसलिए ब्रह्म को नित्य न मानें और वर्तमान में जो शरीर है, उसी को सब कुछ जानें।

गहि ते भ्रान्त धारणा ऐसी। मोह गर्त महँ गिरैं अनैसी॥
अति उन्मत्त मूढ़ अज्ञानी। तात जियत कस जग अस प्रानी॥

इस प्रकार वे ऐसी भ्रान्त धारणाओं को धारण करके व्यर्थ ही मोहरूपी गर्त में पड़े हुए हैं। हे प्रिय! ऐसे

अत्यन्त मूढ़ और उन्मत्त प्राणी न जाने संसार में कैसे जीते हैं ?

गूढ़ मरम इक कहुँ सुनु पारथ। सुनत तोहिं सुख होय यथारथ॥
नाम रूप दुइ दृस्य लखावें। जो सब जगहिं बहुत भरमावें॥

हे पार्थ! सुनो, एक गुप्त रहस्य कहता हूँ, जिसे सुनते ही तुम्हें सच्चे सुख की प्राप्ति होगी। यहाँ नाम और रूप- ये दो प्रकार के स्वरूप दिखायी देते हैं, जो जगत में सभी को अत्यन्त भ्रमित किये हुए हैं।

दोहा— सब्द रूप तिन्ह माहिं इक अरु इक अर्थ कहाय।
दोउहु भ्रम उपजायँ उर जासे सच न लखाय॥ ४० ॥

उनमें एक तो शब्दरूप है तथा दूसरा अर्थ कहा जाता है; ये दोनों चित्त में सदा भ्रम प्रकट करते रहते हैं जिससे यथार्थ दिखायी नहीं पड़ता।

चौपाई— होत चतुर्बिधि सब्द प्रबृत्ती। जाति क्रिया गुन अरु आकृत्ती॥
जस कहाय कोउ धेनु दुधारू। सुभ्र बरन भद्रहु अरु चारू॥

जिनमें शब्द की प्रवृत्ति (अभिव्यक्ति) जाति, क्रिया, गुण और आकृति इन चार विधियों से होती है; जैसे कोई गाय दुधारू, शुभ्र वर्ण वाली, सुशील और सुन्दर कही जाती है।

अस दिखराय सब्द संकेतो। जासे सिद्ध होतु भ्रम हेतो॥
अर्थ काह ताकेउ कछु हेतो। हाँ भ्रम समुझावन संकेतो॥

इस प्रकार शब्द संकेत करता है जिससे भ्रम का कारण सिद्ध होता है। 'अर्थ क्या है' इसका भी तो कुछ हेतु होगा ? हाँ, भ्रम को समझाने का एकमात्र संकेत है।

कोउ न समर्थ अर्थ की पारथ। जासे होय सिद्ध परमारथ॥
एक बस्तु जानन के लाने। देत अनेक सब्द संधाने॥

हे पार्थ! अर्थ की कोई सामर्थ्य नहीं है जिससे कोई परमार्थ सिद्ध हो; क्योंकि एक वस्तु के जानने के लिए बहुत-से शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

अर्थ भिन्न होवे उन सब कहँ। पर बहु बस्तु मिले नहिं मन कहँ॥
गयो अर्थ भ्रम एहि बिधि भाई। हुति जासे तव मधुर सगाई॥

यद्यपि उन सबका अर्थ पृथक्-पृथक् होता है, परन्तु मन को बहुत-सी वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती। हे पार्थ! इस प्रकार जिससे तुम्हारी घनिष्ट मित्रता थी वह अर्थ का भ्रम चला गया।

दोहा— सब्द निरर्थक अर्थ बिनु जस जल कलकल नाद।
अर्थरूपता ग्रहत सो करि सु सब्दता बाद॥ ४१ ॥

अर्थ (रूप) के बिना शब्द व्यर्थ हैं, जिस प्रकार जल से उत्पन्न कल-कल की ध्वनि, इसलिए शब्दशक्ति को गौण करके अर्थ के स्वरूप को ग्रहण किया जाता है।

चौपाई— अस चिंतत कछु प्रगट न नासै। जस कौ तस चेतन बिभु भासै॥
स्वप्न जगत जागत जस निगुनहि। होत ताहि बिधि यह जग अगुनहि॥

ऐसा चिन्तन करने से जो कुछ [दृश्य जगत] प्रकट है उसका नाश तो होता नहीं बल्कि जैसे का तैसा चेतन ब्रह्म ही प्रकट रहता है। जिस प्रकार स्वप्न-जगत जगने पर निर्गुण सिद्ध होता है उसी प्रकार यह जगत भी निर्गुण ही सिद्ध होता है।

अस सुनि गगन देव सिध सारे। देवर्षी नारदहिं पुकारे॥
ते हरि गुनगन गावत आये। तिन्हसों सब प्रभु कही सुनाये॥

आकाश स्थित देवताओं एवं सिद्धों ने ऐसा सुनकर देवर्षि नारद का आवाहन किया। वे मुनि प्रभु का गुण गाते हुए वहाँ आये और उनलोगों ने उनसे भगवान द्वारा की हुई बातें सुनाई।

पुनि बोले अस कस मुनिराई। कहहु हमहिं अब तुम्ह समुझाई॥
देवर्षी कह ऐसोइ गाथा। गुरु सों सुने राम मम नाथा॥

पुनः कहा- हे मुनिराज! [जैसा भगवान कह रहे हैं] ऐसा कैसे हो सकता है आप इसे हम सबको समझा कर कहें। तब देवर्षि नारद ने कहा- ऐसी ही बातें मेरे प्रभु श्रीराम ने भी अपने गुरुदेव से सुनी थी।

मुनि बसिष्ठ की सोइ कहानी। कहउँ सुनहु होवे भ्रम हानी॥
नृप इक सिखिध्वज अतिहिं सयाने। चूडाला जिन्हि महिषि बखाने॥

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की कही हुई वही कहानी कह रहा हूँ जिसे सुनकर आप सबका भ्रम चला जाएगा। शिखिध्वज नाम के एक अत्यन्त बुद्धिमान राजा थे जिनकी रानी का नाम चूडाला कहा जाता है।

बिचरहिं अध्यातम नृप रानी। राज करहिं हरि कर जिय जानी॥
पर प्रभु महिमा जाय न जानी। आतमज्ञान प्रथम भयो रानी॥

दोनों नित्य ही आध्यात्मिक ज्ञान में विचरण करते हुए राज-काज को भगवान का मानकर करते थे। परन्तु प्रभु की महिमा को जाना नहीं जा सकता, जैसा कि रानी को ही पहले आत्मज्ञान हुआ।

सो चह परम ज्ञान नृप देनों। त्रिया समुझि सो चहैं न लेनों॥

राजा को भी वह परमज्ञान देना चाहती थी किन्तु उन्होंने अपनी स्त्री का ढोंग समझकर उसे लेना स्वीकार नहीं किया।

सोरठा— होय न उर बिस्वास आत्मज्ञान कस पाव यह।
जेहि काजे हरिदास जात जगत तजि काननहिं॥४२॥

उनके हृदय में विश्वास नहीं होता था [और सोचते थे] कि इसने आत्मज्ञान कैसे पा लिया जिसको प्राप्त करने के लिए भगवद्भक्त संसार को त्याग कर घोर वन में चले जाते हैं।

चौपाई— समुझि गई श्रद्धा इन्हि नाहीं। बिनु बिस्वास देइ नहिं जाहीं॥
सो लगि करन योग लीलाबस। साधु संत काननहिं करें जस॥

वह भी समझ गयी कि इनमें श्रद्धा तो है नहीं और जिनमें विश्वास (श्रद्धा) का अभाव होता है उन्हें तो [यह ज्ञान] दिया ही नहीं जाता। अतः वह [भी अब] लीला मात्र के लिए योग-साधना करने लगी जैसा कि वन-प्रदेश में सन्तजन करते हैं।

कछुक बरष महँ सिद्ध जोगिनी। भइ रानी भव बंध मोचिनी॥
अष्ट सिद्धि नवनिधि सब पाई। भवन बसति जिमि उर यदुराई॥

वह राजरानी कुछ ही वर्षों में सिद्ध योगिनी होकर भव-बन्धन से मुक्त करने वाली हो गयी तथा अष्ट सिद्धि एवं नव निधि के साथ-साथ सर्वस्व प्राप्त कर राजमहल में उसी प्रकार रहने लगी जिस प्रकार हृदय रूपी महल में भगवान यदुनाथ रहते हैं।

उत सिखिध्वज उर बिरह सतावे। आत्मज्ञान कब मम उर आवे॥
एक दिना निसि अर्ध गँवाई। गये राज तजि कानन भाई॥

उधर शिखिध्वज के हृदय में आत्मज्ञान की विरह वेदना सताने लगी कि यह मेरे हृदय में कब प्रकट होगा। अतः हे सज्जनो! एकदिन वे मध्य-रात्रि के व्यतीत होने पर राज्य का परित्याग करके वन को चले गये।

जहँ निज कर इक कुटी बनाई। करहिं जोग जप नित हरषाई॥
एहि बिधि बीते बरस अठारह। आतमचिंतन नव दो ग्यारह॥

जहाँ अपने हाथों से एक कुटी का निर्माण कर उसी में नित्य प्रसन्नतापूर्वक योग-जप करने लगे। इस प्रकार अठारह वर्ष बीत गये लेकिन हृदय से आत्मचिन्तन चला गया।

दोहा— नभ मंडल महँ एक दिन देखि चुडाला जाय।
सुमन माल नृप गुँथत बन ताहि न थोरेउँ भाय॥४३॥

एक दिन आकाश मण्डल से जाकर चूडाला ने उन्हें देखा कि राजा जंगल में पुष्पों की माला गूँथ रहे हैं; जो उसे तनिक भी अच्छा नहीं लगा।

चौपाई— तब इच्छित सुर बेष बनाई। नृप पहिं प्रगट भई सो भाई॥
अहोभाग्य कहि नृप पद धाये। आसन लाय ताहि बैठाये॥

तब वह संकल्प बल से देवता का वेश धारण कर राजा के पास प्रकट हुई जो राजा को अति प्रिय लगा फिर तो 'मेरा अहोभाग्य है'- ऐसा कहते हुए राजा उसके चरणों पर गिर पड़े एवं आसन लाकर उसे बैठाया।

अर्घ्य पाद्य दै माल पेन्हाई। कहत नृपति मन अति हरषाई॥
आपु कवन प्रभु कहँ सों आये। आज सफल दिन उर अति भाये॥

इसके उपरान्त अर्घ्य-पाद्य प्रदान करके राजा ने उसे माला पहनायी और अत्यन्त हर्षित मन से कहना प्रारम्भ किया कि हे प्रभो! आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? आज मेरा दिन सफल हुआ, आप हृदय को अति प्रिय लग रहे हैं।

कथा बनाइ चुडाला भाषति। अपुनो परिचय उर महँ राखति॥
कुम्भ नाम मम सुनु तपधारी। रहउँ एक बर स्वर्ग मझारी॥

चूडाला ने अपने वास्तविक परिचय को हृदय में छिपाते हुए कथा बनाकर कहना प्रारम्भ किया कि हे परम तपोधन! मेरा नाम कुम्भ है तथा एक दिव्य स्वर्ग है, वहीं रहता हूँ।

भ्रमण करत नभ तुम्ह पहिं आयो। तुम्ह का आत्मज्ञान सच पायो॥
कह नृप नाहिं भयो मोहिं ज्ञाना। आज सरन तुव गहउँ सुजाना॥

आकाश मण्डल में भ्रमण करते हुए [दैवेच्छा से] आपके पास आया हूँ। क्या आपने सच में आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया? तब राजा ने कहा- नहीं मुझे ज्ञान नहीं हुआ है; अत: हे ज्ञानवान्! आज मैं आपकी शरण लेता हूँ।

दोहा— आतमज्ञानहिं देइ प्रभु मोहिं उबारहु आज।
करहु पार भवसिंधु सों मम हित बनहु जहाज॥ ४४॥

हे प्रभो! आज आप मुझे आत्मज्ञान देकर मेरा उद्धार करें तथा मेरे कल्याणार्थ संसार सागर से पार करने के लिए जहाज बन जायँ।

चौपाई— हँसि कह योगिनि ज्ञान महत को। पुनि काहे अस नेम गहत को॥
इतहिं कमंडलु दंड काष्ठ उत। इत कुस आसन यज्ञकुंड पुत॥

तब उस योगिनी ने हँसते हुए कहा- आपने इस महत् ज्ञान के लिए ऐसा नियम क्यों धारण कर लिया, जैसा कि इधर कमण्डल, उधर लकड़ी का दण्ड, इधर पवित्र यज्ञकुण्ड के साथ कुशासन!

तप क्यों करहु न साधन याही। आतमज्ञान कहत मुनि जाही॥
जग महँ मुनि जे आतमज्ञानी। सगुन अगुन ज्ञाता अरु ध्यानी॥

जिसे महर्षिगण आत्मज्ञान कहते हैं, तप तो इसका साधन नहीं है, अत: आप तप क्यों कर रहे हैं? संसार में जो भी आत्मज्ञानी ऋषि हैं, जो सगुण और निर्गुण के ज्ञाता एवं अपने स्वरूप में रमण करने वाले हैं-

तिन्हके पद तुम्ह तजि तप धार्‌यो। अज्ञ तपस्विन्ह मग अनुसार्‌यो॥
पर जब जाग्यो तबहिं सबेरो। अबहुँ न यासों भयो अबेरो॥

आप उनके चरणों का त्याग करके अज्ञानी तपस्वियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए तप को धारण किये हुए हैं। किन्तु चलें! जभी जागे तभी सबेरा इसलिए अभी भी देर नहीं हुई है।

अब मैं कहउँ जो सच का मानउ। एकउ दोष न मोमें आनउ॥
श्रद्धा बिनु न होय उर ज्ञाना। बरु गुरु मिलहिं बिरंचि समाना॥

अब मैं जो कहूँगा, क्या [आप] उसे सच मानेंगे और मुझमें एक भी दोष नहीं देखेंगे? क्योंकि श्रद्धा के बिना हृदय में ज्ञान [प्रकट] नहीं हो पाता, भले ही ब्रह्मा के समान ज्ञानी गुरु क्यों न मिल जाय।

सोरठा— जामें श्रद्धा नाहिं ब्यर्थ ताहि उपदेसनो।
नाहिन कछुक सुहाहिं बीन बजे जिमि महिषि पहिं॥ ४५ (क)॥

जिसमें श्रद्धा नहीं है, उसे उपदेश देना व्यर्थ ही है; वह वैसे ही शोभा नहीं देता जैसे भैंस के आगे बीन बजाना।

दोहा— पग गहि कह नृप दउँ बचन हे मम गुरु भगवान।
जो भाषउ मानउँ सबुइ गुनउँ न अब उर आन॥ ४५ (ख)॥

तब राजा ने चरण पकड़कर कहा- हे मेरे गुरुदेव भगवान्! मैं आपको वचन देता हूँ कि जो कुछ आप कहेंगे, उसे स्वीकार करूँगा और अब हृदय में कुछ अन्य नहीं सोचूँगा।

चौपाई— तुम्ह मम मातु पिता गुरु स्वामी। होउ प्रसन्न नमामि नमामी॥
सब पहिं मोरी होति बिगूचनि। सदगुरु बचन सुधा भव मोचनि॥

आप ही मेरे माता-पिता, गुरु और स्वामी हैं, अत: प्रसन्न हों, आपको नमस्कार है, नमस्कार है। सर्वत्र मेरी थू-थू हो रही है। [यह तो मैं भलीभाँति जानता ही हूँ कि] सद्गुरु का वाणीरूपी अमृत ही भवसागर से मुक्त करने वाला है।

सिव बिरंचि इंद्रादि सकल मुनि। सरन आयँ तुव ज्ञान सिरोमनि॥
तृन सम गुनहिं मेरु सम जानहु। अघ सागर जल बिंदु बखानहु॥

हे ज्ञानवानों में शिरोमणि! शिव, ब्रह्मा और इन्द्रादि समस्त देवता भी आपकी शरण में आते हैं। आप [स्वाभाविक ही] शिष्य के तिनके के समान गुण को भी मेरु के समान जानते हैं और सागर सदृश पाप को जल बिन्दु के समान कहा करते हैं।

बिनु प्रतिफल उद्धारहु जग सों। बिघन निबारहु पल छिन मग सों॥
सिष्य बिरह कातर करुनामय। जासे ताकी होय सदा जय॥

आप बिना कुछ लिये ही उसका संसार-सागर से उद्धार करते हैं और पल-पल में साधनपथ में आने वाले विघ्नों का नाश करते रहते हैं। हे करुणामय स्वामी! आप शिष्य के वियोग में [उसके कल्याणार्थ] चिन्तित रहते हैं जिससे उसकी सदा जय होती रहती है।

तुव बिरदावलि जुग जुग छाई। करहु आपु दउ सिष्य बड़ाई॥
हे गुरुवर अब मोहिं उबारौ। भव सागर महँ फँस्यों अपारौ॥

आपकी यह यशोगाथा युग-युगान्तरों से छायी हुई है कि सबकुछ तो आप करते हैं और बड़ाई शिष्य को देते हैं। हे गुरुदेव! अब आप अपार भवसागर में फँसे हुए मुझ शरणागत का उद्धार करें।

दोहा— रसना एक अनेक गुन कासों करउँ बखान।
जग ओछो आयों सरन जानहु कृपानिधान॥ ४६॥

हे कृपानिधान! मेरे पास जिह्वा तो एक ही है और आपके गुण अनन्त हैं, अत: उनका मैं कैसे बखान करूँ! आप ऐसा जान लें कि जगत में मैं सबसे अधम हूँ तो भी आपकी शरण में आया हूँ।

चौपाई— देवरूप महँ कहति चुडाला। होय अचंभो मोहि भुआला॥
ज्यों कोउ त्यागि देवसरि धारा। कूप खोदि सेवत जल खारा॥

देवरूप में स्थित चूडाला ने कहा- हे राजन्! मुझे एक घोर आश्चर्य हो रहा है कि जैसे कोई गंगा की निर्मल धारा को त्यागकर कुआँ खोदे और खारे जल का सेवन करे-

त्यों तिय तुम्हरी आतमज्ञानी। दियो ज्ञान सो तुम्ह नहिं मानी॥
सर्बत्याग तेहि कहे न कीन्हे। जो कहाय परब्रह्म न चीन्हे॥

उसी प्रकार यद्यपि आपकी पत्नी आत्मज्ञानी है और उसने आपको ज्ञान दिया तो भी आपने उसका कुछ भी महत्त्व नहीं समझा। अरे! आपने उसके कहने से सर्वत्याग नहीं किया जो परमब्रह्म ही कहलाता है जिसे आप पहचान नहीं पाये।

कह नृप राज्य देस गृह त्याग्यों। महरि त्यागि प्रिय प्रभु अनुराग्यों॥
एहिसों श्रेष्ठ त्याग को स्वामी। मोहिं बतावहु अंतरजामी॥

राजा ने कहा हे प्रभो! मैंने राज्य, देश, घर तथा परम प्रिय धर्मपत्नी का त्याग करके एकमात्र भगवान में मन लगा लिया। हे अन्तर्यामी! आप ही बतायें कि इससे भी श्रेष्ठ सर्वत्याग क्या हो सकता है?

कह साध्वी यह सब तुव नाहीं। उत्तम भाग अपर कछु आहीं॥
नृप कह बन पर्बत तो मेरो। तजत इनहिं अब प्रभु तव चेरो॥

साध्वी चूडाला ने कहा- ये सब तो आपके हैं ही नहीं, अरे! आपका उत्तम भाग तो कुछ और ही है। राजा ने कहा कि ये वन और पर्वत तो मेरे हैं! अत: हे प्रभो! आपका शिष्य अब इन्हीं का त्याग कर रहा है।

दोहा— नहिं नृप तुम्हरो झूठ ये मृगतृष्णा सम आहिं।
स्वांग रचउ नहिं त्याग कर करउ साधु कर जाहिं॥ ४७॥

हे राजन्! ये सब भी तो आपके नहीं हैं बल्कि मृगतृष्णा के समान झूठे हैं। अत: त्याग का झूठा स्वाँग न रचें, सन्तजन जैसा करते हैं, वैसा करें।

चौपाई— नृप कह आसन बासन मेरो। कौपिन कुटियो जगत घनेरो॥
ल्यो इनि महँ मैं आग लगायों। सर्बत्याग करि तव पद आयों॥

राजा ने कहा- गुरुदेव! ये आसन, पात्र, कौपीन, कुटिया और जो भी मेरी सांसारिक वस्तुएँ हैं, तो लें मैंने इन सबमें आग लगा दी और सर्वत्याग करके आपके चरणों में आ गया।

दिसा भवन मम बसन दिसा अब। भयों आज सच स्वामि दिसा सब॥
तुम्हरी कृपा आज मैं साँई। महात्याग कीन्हों हरषाई॥

गुरुदेव! अब दिशाएँ ही मेरे लिए भवन और वस्त्र हो गयीं और सच में आज मैं सम्पूर्ण दिशारूप हो गया। आज मैंने आपकी कृपा से प्रसन्नतापूर्वक यह महात्याग कर दिया।

कह्यो कुम्भ यह सर्बत्याग नहिं। सो तो तुम्हरो मधुर अंग कहिं॥
अस सुनि नृप अगिनी महँ धाये। धाइ कुम्भ तब प्रान बचाये॥

कुम्भ बनी चूडाला ने कहा- यह सर्वत्याग नहीं है, वह आपका प्रिय अंग तो कुछ और ही है। यह सुन राजा अग्नि की ओर दौड़े, तब कुम्भ ने दौड़कर उनके प्राणों की रक्षा की।

अरु कह कछु अपराध न याको। ब्यर्थ जरावन चाहउ जाको॥
यह तुव काज बृषभ इव भावत। क्रुद्धत जो निज वत्सन्हिं धावत॥

और कहा कि हे नरेश! इस [दीन शरीर] का तो कुछ अपराध है ही नहीं, जिसे आप व्यर्थ ही जलाना चाहते हैं। आपका यह कार्य तो वृषभ के समान जान पड़ता है जो क्रोध में आकर अपने ही बछड़ों को मारने दौड़ते हैं।

दोहा— मूक दीन जड़ तापसहिं आत्मा महँ कर बास।
जारहु एहि तन ब्यर्थ क्यों यासों जाय न त्रास॥ ४८॥

यह शरीर तो मूक, दीन, जड़ और तपस्वी जैसा है जो आत्मा में ही वास करता है। आप इस शरीर को व्यर्थ में क्यों जला रहे हैं, [क्योंकि] इसे जलाने से तो आपकी प्यास (अन्त:करण की व्यथा) बुझेगी नहीं!

चौपाई— सर्बत्याग नहिं यहउ कहावत। यासें भव दुख नाहिं नसावत॥
जिमि कुंजर होइ अति मतवारो। तहस नहस करि बिटपन्हि डारो॥

यह भी सर्वत्याग नहीं कहा जाता, इससे तो आपके संसारमय दु:ख का नाश होगा नहीं। [हे भूपति!] जिस प्रकार कोई हाथी अत्यन्त मतवाला (पागल) होकर वृक्षों को तहस-नहस करता हुआ उखाड़ता फिरता है-

तस जेहि मन सों तन भहराये। छुब्ध होय अरु कछु न बसाये॥
तेहि पापिहिं परित्यागहु जबहीं। सर्बत्याग सच होवे तबहीं॥

उसी के समान जिस मन के द्वारा तन अत्यन्त कृश होता है, क्षुब्ध होता है और उसका कुछ भी वश नहीं चलता, जब आप उस पापी मन का परित्याग कर देंगे तभी यथार्थत: सर्वत्याग सम्पन्न होगा।

ताहि नाहिं जबलौं संघारहु। तबलौं तन बरु जेहि बिधि मारहु॥
पुनि सो अघी याहि जन्मावे। एहि बिधि तुम्हहिं अतिहिं भरमावे॥

जब तक आप उसका संहार नहीं कर देते तब तक आप चाहे इस शरीर को जिस विधि से मारते रहें किन्तु वह पापात्मा (मन) इसे पुन: उत्पन्न कर ही देगा। इसी प्रकार तो इसने आपको बहुत भ्रमित किया है।

कह नृप कर्म बीज को साईं। पापी कौन गिरावत खाँईं॥
केहि त्यागत सब त्याग कहावत। तुम्हरें संग बेद मुनि गावत॥

तब राजा ने पूछा- हे प्रभो! कर्म का बीज क्या है? वह पापात्मा कौन है जो सदा गर्त में गिराता रहता है? किसको त्यागते ही सर्वस्व का त्याग हो जाता है जिसे आपके साथ-साथ वेद और सन्तजन भी कहते हैं?

दोहा— नृपति सुनहु कह कुम्भ हँसि मन सम अघी न कोय।
तेहि पापिहिं बस त्यागत सर्बत्याग सिधि होय॥ ४९ (क)॥

कुम्भ ने हँसते हुए कहा कि सुनें नरेश्वर! मन के समान पापात्मा तो कोई है ही नहीं; अत: एकमात्र उसी पापी को त्यागने से सर्वत्यागरूपी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

मनही भ्रम जगजाल मन मन सम छली न कोय।
काम क्रोध मन लोभ मन मन बिकार सब होय॥ ४९ (ख)॥

यह मन ही भ्रम है, मन ही जगज्जाल है; अत: मन के समान पापी कोई नहीं है! [क्योंकि] मन ही काम-क्रोध, मन ही लोभ और मन ही समस्त विकार बना हुआ है।

चौपाई— मूढ़न्ह मन आतम कहलावे। छन इक कोटि जनम भरमावे॥
बीज बिकसि जिमि बृक्ष कहाहीं। तिमि गृह राज देह मन आहीं॥

यह मन ही मूर्खों की आत्मा कहलाता है जो उन्हें एक क्षण में करोड़ों जन्मों का भ्रम उत्पन्न कर देता है। जैसे बीज ही विकसित होकर वृक्ष कहा जाता है उसी प्रकार मन ही राज्य, गृह और शरीर आदि बना हुआ है।

होय त्याग सब याको त्यागत। जागत ज्यों सब सपनों भागत॥
जदपि सकल जग अति दुखदाई। पर मन तजत होत सुखदाई॥

इस को त्यागते ही सर्वस्व का त्याग हो जाता है जैसे जगने के उपरान्त समस्त स्वप्नों का सहज ही लोप हो जाता है। यद्यपि समस्त जगत दु:ख ही देने वाला है किन्तु मन का त्याग करते ही यह [जगत] सब सुख प्रदान करनेवाला हो जाता है।

ज्यों समीर पादप झंझावत। अरु भुचाल पर्बत कंपावत॥
ज्यों ब्योकार धौंकनी धौंकत। त्यों चलाय तन मन सब चौंकत॥

जिस प्रकार वायु वृक्षों को झकझोर देता है, भूकम्प पर्वतों को हिला देता है तथा लोहार भाथी को संचालित करता है उसी प्रकार यह मन ही सबको आश्चर्य में डालकर शरीर आदि को संचालित करता है और सभी इस पर आश्चर्य करते हैं।

यहि मन जगत जगत सब प्रानी। बन्यो रूप जेहि जाय न जानी॥
यहि जब कर्म करावत जैसो। तेहि अनुरूप नाम धर तैसो॥

यह मन ही जगत एवं जगत के सम्पूर्ण प्राणी बना हुआ है जिसे कोई जान नहीं पाता। यही मन जब जैसा कर्म कराता है, तब उसी कर्म के अनुरूप वैसी ही उपाधि वाला हो जाता है।

दोहा— अहंकार मति प्रकृति यहि प्रान जीव कहलाय।
कर्म सों बदलत रूप नित एहि बिधि सबहिं नचाय॥ ५०॥

यह मन ही प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, प्राण और जीव कहलाता है। इसका रूप कर्म के अनुसार प्रतिपल बदलता रहता है। इस प्रकार यह सबको नचाता रहता है।

चौपाई— राज त्यागि जिमि भये अकेले। अब तुव नहिं कछु जगत झमेले॥
तिमि जब सर्बत्याग होइ जावे। ज्ञान आतमा सेष लखावे॥

जिस प्रकार आप अपने राज्य का परित्याग करके एकाकी हो गये और अब आपके ऊपर जगत में किसी का भार नहीं रहा, उसी प्रकार जब सर्वस्व का त्याग हो जायेगा तब एकमात्र ज्ञानमय आत्मा ही शेष दिखायी पड़ेगा।

जेहि मन सों तुम्ह सब कछु त्यागेउ। अहंकार महँ बस अनुरागेउ॥
अहं तेहि मन सों बिसरावउ। जीवनमुक्त संत होइ जावउ॥

जिस मन से आप सर्वस्व का त्याग करके एकमात्र अहंकाररूप हो गये थे उसी मन से अहंकार का त्याग कर जीवनमुक्त संत हो जायँ।

तुम्हरो मन अति हीन नृपाला। लखे न आपु बन्यो सोइ काला॥
यद्यपि तुम्ह सर्बज्ञ सुजाना। पर सो मूढ़ हर्‌यो तुव ज्ञाना॥

हे मनुजेश्वर! आपका मन अत्यन्त जड़ है जिसे आप जान नहीं पाये जो आपके लिए काल बन गया। हे बुद्धिमान्! यद्यपि आप सर्वज्ञ हैं किन्तु उस मूढ़ ने आपके विमल ज्ञान का हरण कर लिया है।

सर्बत्याग अति सहज नरेसा। राति जाय ज्यों उदित दिनेसा॥

हे नरेश! सर्वत्याग वैसे ही अत्यन्त सहज है जैसे सूर्य के उदित होने पर रात्रि का चला जाना।

दोहा— सर्बत्याग परमातमा परमानंद स्वरूप।
सुख निधान एहि जानि नृप गहहु सत्य निज रूप॥ ५१॥

हे राजन्! सर्वत्याग ही परमानन्द एवं परमात्म स्वरूप है। आप इसे सुख का अधिष्ठान जानकर अपने सत्य स्वरूप में स्थित हो जायँ।

चौपाई— कह नृप हे गुरुदेव गोसाईं। उर तरु मन मर्कट की नाईं॥
पुनि पुनि त्याग करतहू आवत। जाय न मोको अतिहिं सतावत॥

तब राजा ने कहा- हे गुरुदेव भगवान्! यह मन मेरे हृदय रूपी वृक्ष पर बन्दर के समान है जो बारम्बार त्याग करने पर भी आ जाता है। यह जाता तो है नहीं, बल्कि मुझे दु:ख पर दु:ख देता रहता है।

रूप बासनामय मन जान्यों। पर दुर्गम बस करनो मान्यों॥
अतिहिं कठिन ज्यों बज्र निगलनो। त्यों दु:साध्य मनहिं बस करनो॥

मैं जानता हूँ कि मन का स्वरूप वासनामय हो गया है इसीलिए इसे वश में करना अत्यन्त कठिन मानता हूँ। जिस प्रकार वज्र को निगलना अत्यन्त दुष्कर है उसी प्रकार मन को वश में करना अत्यन्त दु:साध्य है।

परमानंद छाँड़ि अपनो सुख। स्वान सरिस श्रम करि उठाय दुख॥
भ्रमत मृथा भाजन अवलोकत। सूनो सदन कोउ नहिं टोकत॥

[हे गुरुदेव!] यह मन अपने परमानन्द स्वरूप स्वाभाविक आनन्द का त्याग करके कुत्ते के समान श्रम करते हुए भी दु:ख उठाता रहता है। जहाँ कोई देखने वाला नहीं होता, ऐसे एकान्त घरों में जूठे बरतनों को देखता हुआ व्यर्थ ही घूमता रहता है।

कौर कौर लगि घर घर धावत। कहुँ दुत्कार ग्रास कहुँ पावत॥
जो निज हाथनि जे कछु पावत। अस्म लकुट पदत्रान चलावत॥

एक एक ग्रास के लिए घर-घर भटकता रहता है, कहीं एक ग्रास जूठन पा लेता है और कहीं दुत्कार पाता है। जो पुरुष अपने हाथ में पत्थर, डण्डा, जूता आदि जो भी कुछ पाता है इसके ऊपर वही चला देता है।

दोहा— ऐसोइ गति मम चित्त की भइ जासों गयों हार।
तुम्ह सर्बज्ञ दयानिधी तुव सिर मेरो भार॥ ५२॥

ऐसी ही गति मेरे मन की हो गयी है जिससे मैं सर्वथा हार गया हूँ। हे दयानिधे गुरुदेव! आप सर्वज्ञ [एवं सर्वसामर्थ्यवान] हैं, अब तो आपही के ऊपर मेरा भार है।

चौपाई— मन तरु बीज कहउ का स्वामी। कौन सो खेत होय जहँ जामी॥
अंकुर को साखा प्रतिसाखा। जाय समूल कहउ सो भाषा॥

हे स्वामिन्! मनरूपी वृक्ष का बीज क्या है तथा वह खेत कौन-सा है जहाँ वह उगता है? उसका अंकुर, शाखा और प्रतिशाखाएँ क्या हैं एवं जिससे उसका समूल नाश हो जाय, वह उपाय भी बतायें।

देवरूप रानी हरषावे। मधुर सहज भाषा महँ गावे॥
मन तरु हेतु खेत बिभु माया। जहँ प्रगटत यह अतिहिं अदाया॥

देवरूप हुई उस रानी ने प्रसन्नतापूर्वक मधुर और सहज वाणी में कहना प्रारम्भ किया- मनरूपी वृक्ष के लिए ब्रह्म की माया ही खेत है जिसमें यह अत्यन्त निर्दयी मन प्रकट होता है।

जो मन तम सों प्रगटत भाई। ताकर बीज अहं दुखदाई॥
अहं मूल सों एहि तन माहीं। अंकुर आतमबुद्धि कहाहीं॥

हे प्रिय! जो मन अज्ञान से प्रकट होता है, उसका मूल दु:खदायी अहंकार है और अहंकाररूपी बीज से इस शरीर में आत्मबुद्धि का निश्चय होना ही अंकुर कहा जाता है।

एहि अंकुर महँ जे प्रपीनता। मन संकल्पहि रूप दीनता॥
तन कहाय स्तंभ नरेसा। साखा महत इंद्रियनि देसा॥

इस अंकुर में जो स्थूलता प्रकट होती है, वह संकल्प-विकल्परूप होने से अति दीन मन कहलाती है। हे नरेश! यह शरीर तना कहलाता है और इन्द्रियाँ ही दूर तक फैली हुई विशाल शाखाएँ कहलाती हैं।

जोइ सुभासुभ बिषय भोग फल। कहत न जग महँ जिन्हहिं कोउ भल॥
जनम मरण कारण ते सोई। बनत कठिन अति बंधन जोई॥

जो शुभाशुभ विषय भोग रूपी फल हैं, जिन्हें जगत में कोई भी कल्याणकारी नहीं कहता, वे ही जन्म-मरण के कारण हैं जो अत्यन्त दृढ़ बन्धन बन जाते हैं।

तेइ अवांतर साखा याकी। बेगि करहु उन्मूलन जाकी॥

वे ही इनकी अवान्तर शाखाएँ हैं, जिन्हें आप शीघ्र ही उखाड़ फेकें।

दोहा— जग तो दीन्हे छाँड़ि तुम्ह तनसेहु त्यागहु राग।
आतमचिंतन गहहु अब आपुहिं सों अनुराग॥ ५३॥

आपने संसार का तो त्याग कर ही दिया है, अब शरीर की भी आसक्ति छोड़ दें तथा आत्मचिन्तन का अवलम्बन कर अपने स्वरूप से ही प्रीति रखें।

चौपाई— कह नरेस प्रभु कौन सो आगी। एहि तरु दाहे मो सम रागी॥
कुम्भ कहत निज आतम जानी। सुद्ध सांत सम अरु बिज्ञानी॥

राजा ने कहा- हे प्रभो! वह कौन-सी अग्नि है जिसके द्वारा मेरे जैसा देहासक्त पुरुष भी इस मनरूपी वृक्ष को जला सकता है? कुम्भ ने कहा- स्वयं को आत्मरूप, शुद्ध, शान्त, सम और विज्ञानस्वरूप जानकर-

देहाध्यास देउ तुम्ह त्यागी। याहि जरावन हित यहि आगी॥
कह नरेस प्रभु यहु बहु कीन्हों। छनभंगुर तन बहुबिधि चीन्हों॥

आप देहाध्यास का त्याग कर दें; इसको जलाने के लिए यही अग्नि है। राजा ने कहा- हे प्रभो! मैंने ऐसा कई बार किया है और शरीर क्षणभंगुर है- ऐसा भलीभाँति पहचान भी लिया है-

काम क्रोधादिक माया चाँड़े। पुनि पुनि भवसागर महँ गाड़े॥
अस क्यों करुँ एहि तन सों प्रीती। संत जनन की यह नहिं रीती॥

किन्तु काम, क्रोधादि रूपी प्रबल माया बारम्बार भवसागर में डालती रहती है। यह सज्जनों की रीति तो है नहीं, इसलिए मैं इस शरीर से प्रीति क्यों करूँ-

जासु सीस सुत पुत बिखरइहैं। फोरि काग कूकर गिध खइहैं॥
जिनि लोगन सों नेह करउँ मैं। जासों पुनि पुनि देह धरउँ मैं॥

जिसके मस्तक को मृत्यु के उपरान्त बाल-बच्चे अग्नि देकर फोड़ देंगे और कुत्ते, कौवे, गीध फोड़कर खा जायेंगे। जिन लोगों से मैं स्नेह करता हूँ जिसके चलते मुझे बारम्बार जन्म लेना पड़ता है-

दोहा— जब मरि जावे देह यह तब सब स्वजन घिनाहिं।
भोरेउँ काढ़हु कहत सब नतरु प्रेत बनि जाहिं॥ ५४॥

वे ही सारे स्वजन जब यह शरीर मर जाता है तो घृणा करने लगते हैं और कहते हैं कि पौ फटते ही इसे निकाल दो अन्यथा यह भूत बन जायेगा।

चौपाइ— पुनि प्रभु सोच्यों अहं न अहऊँ। कहाँ जाय मन देह न गहऊँ॥
माँस अस्थि त्वग रुधिरहु नाहीं। नहिं इंद्रियँ मन कहँ तू जाहीं॥

हे प्रभो! पुनः मैंने सोचा कि मैं अहंकार तो हूँ नहीं और न ही शरीर ही धारण किया है फिर हे मन! तुम कहाँ जा रहे हो? मैं मांस, अस्थि, त्वचा और रुधिर भी नहीं हूँ और न इन्द्रियँ ही हूँ, फिर हे मन! तुम कहाँ जा रहे हो?

जल बिच लहर लहर बिच जल जिमि। मोमें ब्रह्म ब्रह्म बिच मैं तिमि॥
जहाँ जाय तू तहँ मैं नाहीं। पुनि पुनि हे मन कहँ तू जाहीं॥

जिस प्रकार जल के बीच लहर और लहर के बीच जल है, उसी प्रकार मुझमें ब्रह्म और ब्रह्म के बीच मैं हूँ। अरे! तुम जहाँ जाते हो, वहाँ तो मैं हूँ ही नहीं, फिर हे मन! बारम्बार तुम कहाँ जा रहे हो?

चौदह भुवन बिषय सब्दादिक। सकल बृत्ति जे अतिहिं भयादिक॥
मायामय तिन्ह महँ मैं नाहीं। तहूँ न कछु मन कहँ तू जाहीं॥

चौदह भुवन, शब्दादिक विषय और अति भय प्रदान करने वाली जो मायामय वृत्तियाँ हैं उनमें भी मैं नहीं हूँ। हे मन! तुम भी कुछ नहीं हो, फिर कहाँ जा रहे हो?

कबहुँ न जनम्यों अरु मरुँ नाहीं। तू नहिं कछु मन कहँ तू जाहीं॥

हे मन! मैंने कभी न जन्म लिया, न कभी मरूँगा, तुम्हारा भी तो कोई रूप नहीं है! अतः कहाँ जा रहे हो?

दोहा— जिमि उपजत नभ पादप नभ सों भिन्न न होउ।
परमब्रह्म सों प्रगट जो होय ब्रह्म सब सोउ॥ ५५॥

जिस प्रकार [भ्रमवश] आकाश से उत्पन्न वृक्ष आकाश से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार पर ब्रह्म से प्रकट हुआ जो कुछ भी है, वह ब्रह्म ही है [ब्रह्म से भिन्न कुछ अन्य नहीं]।

चौपाई— तउ नहिं पायों घट घट बासी। जो सर्बज्ञ परम अबिनासी॥
हँसि कह कुम्भ अपर जो होवे। तब तो तुम्हरे उर सों खोवे॥

[हे प्रभो!] इतने [महत् चिन्तन] पर भी जो सर्वज्ञ परम अविनाशी और घट-घट वासी ब्रह्म है, उसे मैं नहीं प्राप्त कर पाया। तब हँसकर कुम्भ ने कहा- अरे! यदि वह ब्रह्म आपसे अतिरिक्त दूसरा हो तब तो आपके हृदय से खोवे!

जब तुम्हहीं ब्यापक बिभु साँईं। तब का खोजहु अपर गोसाईं॥
निज स्वरूप तुम्ह दये बिसारी। गहे साँच निज माया भारी॥

हे राजन्! जब आप ही व्यापक ब्रह्म हैं तब आप किसी अन्य भगवान को कैसे ढूँढ़ रहे हैं? आप तो स्वयं ही स्वयं को भूल गये हैं और सच में अपनी माया को आपने पकड़ रखा है।

ज्यों प्रतिबिम्ब देखि निज केहरि। कूप छलाँग लगाय जाय मरि॥
त्यों तुम्हरो बहु रूप लखावे। अपर खोज महँ जानि न जावे॥

जिस प्रकार कुएँ के जल में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर कोई सिंह छलाँग लगाकर मर जाता है उसी प्रकार ये सारे रूप आपके ही दिखायी पड़ रहे हैं किन्तु दूसरे [ब्रह्म] की खोज करने के कारण अपना रूप समझ में नहीं आ रहा है।

जिमि कोउ स्वान काँच गृह माहीं। लखि निज बिम्ब भूँकि मरि जाहीं॥
त्यों साक्षी चेतन तुव छाया। होय सबन्हि दृग जानउ माया॥

जिस प्रकार कोई कुत्ता शीशे के भवन में अपने ही प्रतिबिम्बों को दूसरा कुत्ता समझते हुए भूँक-भूँककर मर जाता है, उसी प्रकार हे साक्षी चेतन आत्मा! आपकी ही छाया सभी की आँखों में प्रकट हो रही है परन्तु आप उसे माया समझते हैं।

दोहा— राजन मोहिं बताउ अब जगत कहउ जिहिं आपु।
कह्यो सोउ का अस कहउ जेहि कारन संतापु॥ ५६ ॥

हे राजन्! अब मुझे यह बतायें कि जिसे आप जगत कहते हैं उसने कहा है क्या कि आप [मुझे] ऐसा कहें, जिसके कारण आप सन्तप्त हो रहे हैं!

चौपाई— जिनहिं गगन वायू पावक जल। धरा कहहु अरु समुझहु प्रतिपल॥
उननैं का निज नाम बताये। जिन्ह महँ राजन तुम्ह भरमाये॥

हे राजन्! आप जिन्हें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी कहते हैं और प्रतिपल ऐसा ही समझते हैं, क्या उन्होंने अपना यह नाम बताया है, जिनमें आप भ्रमित हो गये हैं?

नर बिनु ऐसो नाम धरत को। पुनि वाके सम इहाँ मरत को॥
तुम्हरो राजन अस बिकलान्यो। जस जल स्वयंहिं मीनहि मान्यो॥

अरे! मनुष्य के बिना ऐसा कौन है जो इस प्रकार नाम का सृजन करता है, पुनः उसके समान यहाँ मरता भी कौन है? हे राजन्! आपका इस प्रकार विकल होना ऐसा है जैसे जल स्वयं को मछली मान ले-

अरु खोजइ निज रूपहिं सोई। यासें कबहुँ तोष नहिं होई॥
तैसेइ निराकार तुम्ह चेतन। भ्रमबस मानि लिये सच यो तन॥

और अपना स्वरूप खोजने लगे किन्तु ऐसा करने से तो कभी सन्तोष होगा नहीं, वैसे ही आप निराकार ब्रह्म हैं किन्तु भ्रम के वशीभूत हो सच में स्वयं को शरीर मान बैठे हैं।

नाम रच्यो नर अपुने लानें। परमसास्त्र सब यहइ बखानें॥
सकृत बिहाइ रूप नामहिं सब। नृप अपुनें कहँ तुम्ह देखहु तब॥

अरे! मनुष्यों ने अपनी सुविधा के लिए नामों की रचना कर ली है, समस्त अध्यात्मशास्त्र ऐसा ही कहते हैं। अतः हे राजन्! एक बार आप समस्तरूप एवं नामों को त्याग दें और तब स्वयं को देखें (आत्म अवलोकन करें)!

दोहा— नाम रूप बिसरै जबहिं होउ अरूप अनाम।
सुद्ध सच्चिदानंद बनि पावहुगे निज धाम॥ ५७ ॥

ऐसा करने से नाम एवं रूप का विस्मरण होते ही आप अरूप एवं अनाम हो जायेंगे तथा शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेंगे।

चौपाई— खोजहु कारन जो कछु दीखत। जाकर पिता अजहिं कोउ लीखत॥
उन्हकर तब को जनक कहावे। तुम्हहिं याहि सब नाहिं लखावे॥

आपको जो कुछ दीख रहा है आप उसका कारण खोज रहे हैं, जिसका कारण (पिता) कोई शास्त्र कहता है कि ब्रह्मा हैं, तो फिर उन ब्रह्मा का पिता कौन है- यह तो आपको नहीं दिखायी पड़ता!

प्रबल अबिद्या सों सच ताता। एहि जग कारन दीख बिधाता॥
जब उर महँ बिद्या प्रगटावे। तब सब संसय भ्रम मिटि जावे॥

हे प्रिय! यथार्थ में प्रबल अविद्या से युक्त होने से ही इस जगत का कारण ब्रह्मा दिखायी पड़ रहे हैं; किन्तु जब हृदय में ज्ञान प्रकट होता है तब सम्पूर्ण संशय एवं भ्रम समाप्त हो जाते हैं।

तब दिखाय संबिद स्फुरना। जगत नाहिं जाकर संघरना॥
तेहि छन मैं तू मेरो तेरो। पतो नाहिं कहँ जाहिं घनेरो॥

उस समय ब्रह्म की संकल्पशक्ति ही [समस्त रूपों में] स्फुरित होती हुई दिखायी पड़ती है, कोई जगत तो रहता ही नहीं है जिसका संहार करना पड़े। उस समय 'मैं- मेरा,' 'तू-तेरा' आदि सघन भाव न जाने कहाँ चले जाते हैं।

ज्यों नभ अतिहिं प्रबल घन प्रगटत। वायु संग सब इत उत भटकत॥
कड़कत दमकति दामिनि चहुँ दिसि। उपजावति भय अँधियारी निसि॥

जिस प्रकार आकाश में अति प्रबल बादल प्रकट होते हैं और वायु के साथ-साथ इधर-उधर भटकते फिरते हैं तथा चारों दिशाओं में कड़कती और चमकती हुई बिजली घोर रात्रि में भय उत्पन्न करती रहती है।

दोहा— बरु कहाय आकास महँ प्रगटत यह उतपात।
पर न कहत नभ कबहुँ कोउ मो महँ आवत जात॥ ५८ (क)॥

भले ही यह कहा जाता है कि यह सारे उत्पात आकाश में प्रकट हो रहे हैं परन्तु आकाश यही कहता है कि मुझमें तो कभी कोई न आता है न जाता है।

कह्यो जाय ब्यवहार गहि नभ घन बहु घहरात।
पर वाको नहिं कछु पतो को आवत को जात॥ ५८ (ख)॥

यह तो व्यवहार को स्वीकार करके कहा जाता है कि आकाश में बादल अत्यधिक गरज रहे हैं परन्तु उस आकाश को तो पता ही नहीं है कि मुझमें कौन आता-जाता है।

अस कहाय ब्यवहार सों बिभु महँ जगत लखाय।
पर न लखे वाने कबहुँ कोउ ऐसो जग आय॥ ५८ (ग)॥

इसी प्रकार व्यवहार में ही कहा जाता है कि ब्रह्म में जगत दीख रहा है परन्तु यथार्थ में उस ब्रह्म ने कभी भी नहीं देखा कि इस प्रकार का कोई जगत मुझमें प्रकट हुआ हो।

सोरठा— बसुधहिं जिमि न लखायँ कहँ तरु कहँ कोउ औषधी।
वामेइँ आवहिं जायँ तैसोइ बिभु महँ जगत सब॥ ५८ (घ)॥

जिस प्रकार पृथ्वी को यह पता नहीं है कि मुझमें कोई पेड़-पौधे तथा औषधियाँ कहाँ हैं; जबकि उसी से वे प्रकट होकर उसी में विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समस्त जगत की स्थिति है।

चौपाई— कोउ निज पुत्रिहिं महरि बनावे। तेहि पापिहिं सच सोइ लखावे॥
पर न ताहि कोउ सत कह सपने। बूझइ बहुत चतुर बरु अपने॥

यदि कोई अपनी पुत्री को ही पत्नी बना ले तो उस पापी को वही उचित दिखाई पड़ता है किन्तु उसके व्यवहार को कोई स्वप्न में भी उचित नहीं कहता, भले ही वह स्वयं को बड़ा बुद्धिमान समझता रहे।

अस काहू की दृष्टि हिरानी। माया कारन मति बौरानी॥
निज सपनहिं सच मानन लागे। स्वप्न महरि महँ अति अनुरागे॥

इसी प्रकार यदि किसी की आत्मदृष्टि खो गयी हो और माया के कारण मतिभ्रम हो गया हो तथा अपने स्वप्न को ही सत्य मान बैठे एवं स्वप्न में देखी हुई स्त्री में आसक्त हो जाय-

तब सब हँसहिं ब्यंग बहु करि करि। उनसों सुनत हँसत सोउ गिरि गिरि॥
वैसेइ ब्रह्म भयो बहु रूपा। पर अज्ञानिन्ह लाने छूपा॥

तो उस समय सभी व्यंग्य करते हुए उसकी हँसी उड़ाते हैं। उनसे जो सुनते हैं वे भी हँस-हँस के गिर-गिर पड़ते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म ही अनेक रूपों में प्रकट हुआ है परन्तु अज्ञानियों के लिए छिप-सा गया है।

मन अरु जगत उन्हहिं सत भासत। सच महँ अस न मुनिहिं परकासत॥
ज्ञानिहिं नहिं कोउ जगत लखाये। यासें मन बुधि नहिं उपजाये॥

अत: आप यह निश्चित जानिये कि उन्हीं अज्ञानियों के लिए मन और जगत सत्य प्रतीत होता है, मैं सत्य कहता हूँ कि मुनिजन ऐसा नहीं देखते। किसी भी आत्मज्ञानी को [ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य] जगत दिखायी ही नहीं पड़ता, इसलिए उनके लिए तो मन, बुद्धि प्रकट हुए ही नहीं हैं।

दोहा— संत सास्त्र अरु बेद कर अस कहनो भूपाल।
सर्बरूप एक ब्रह्म हित नाहिं देस अरु काल॥ ५९ (क)॥

हे पृथ्वीपते! सन्तों, शास्त्रों और वेदों का यही कहना है कि सर्वरूप एक ब्रह्म के लिए देश और काल [का अस्तित्व] नहीं है।

सोरठा— सपनें गयो हिराय हार नारि खोजत फिरै।
जागि अतिहिं मुसुकाय ज्यों कर त्यों निज उर निरखि॥ ५९ (ख)॥

जिस प्रकार स्वप्न में खोये हुए हार को कोई स्त्री स्वप्न में खोजती फिरती है और जागने पर उसे ज्यों का त्यों

अपने गले में देखकर अत्यन्त मुस्कुराने लगती है-

चौपाई— तस तुम्हरो निज रूप हिरायो। मूँदउ आँखि जागि जब जायो॥
बिस्मृत होत देह जग योई। सेष बचे सो सच बिभु सोई॥

वैसे ही आपका अपना स्वरूप खो गया है, अत: आप जगत से आँखें बन्द कर लें। जिस समय आप आत्मस्वरूप में स्थित रहने लगेंगे और अच्छी प्रकार इस शरीर एवं जगत की विस्मृति हो जायेगी तब जो शेष बचेगा यथार्थ में वही ब्रह्म है।

मैं तन हौं यह भाव बिनासी। बंधनकारक सब दुखरासी॥
मैं तन नाहिं भाव अबिनासी। अनुभव होय सहज सुखरासी॥

इस प्रकार मैं शरीर हूँ- यह भाव अत्यन्त विनाशकारी, बन्धनकारी और समस्त दु:खों की राशि है और मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि अविनाशी ब्रह्म हूँ- इस भाव का अनुभव होते ही वह सहज ही सुख की राशि हो जाता है।

अहं भाव बंधन कहलावे। याहि अभाव मोक्ष होइ जावे॥
बानी सों तिमि कहि नहिं जाई। बिनु डूबे जिमि जल गहराई॥

अहंकार का होना बन्धन कहलाता है और इसके अभाव से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसको वाणी द्वारा वैसे ही नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार जल में गोते लगाये बिना कोई पुरुष यह नहीं बता सकता कि कहाँ गहरा जल है।

सुनत सुधा सम बचन नरेसा। लागि समाधि भये हृदयेसा॥
गइ सो नगर प्रात पुनि आयी। करि संकल्पहिं उन्हहिं जगायी॥

इन अमृत के समान वचनों को सुनने से राजा को समाधि लग गयी और वे अपने आत्मरूप में स्थित हो गये; तब चूडाला अपने नगर को चली गयी तथा प्रात: पुन: आकर अपने संकल्प बल से राजा को समाधि से विरत किया।

दोहा— करति आय ऐसोइ नित नृपतिहिं बोध कराय।
जनम जनम नृप बासना कछु कालहिं बिनसाय॥ ६० ॥

इसी प्रकार वह नित्यप्रति आकर राजा को बोध कराने लगी अर्थात् उपदेश देने लगी, जिससे राजा की जन्म-जन्मान्तर की वासना थोड़े ही समय में नष्ट हो गयी।

चौपाई— कह नृप जे ज्ञानी बिज्ञानी। जिनकै मन की भइ सब हानी॥
मो सम अज्ञहिं ज्ञानी करहीं। मन बिनु कस जग माहिं बिचरहीं॥

एक दिन राजा ने कहा- गुरुदेव! जो ज्ञानी-विज्ञानी सन्त हैं जिनका मन सर्वथा नष्ट हो गया है, जो मेरे जैसे मूढ़ को भी ज्ञानी बनाते हैं, वे मन के बिना जगत में कैसे विचरण करते हैं ?

हँसि कह कुम्भ सुनहु हे ठाकुर। भुनो बीज ज्यों आय न आँकुर॥
तैसेइ कर्म सून्य मन जिन्हकर। पुनर्जन्म होवे नहिं तिन्हकर॥

कुम्भ ने हँसकर कहा- राजन्! सुनें! जिस प्रकार भुने हुए बीज में अंकुर नहीं आता उसी प्रकार जिनका मन कर्मशून्य हो जाता है, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

सघन बासना जन्म करावे। तैसो जग मन सब्द कहावे॥
अति बिमूढ़ मन मन कहि जावे। यातें अस जग नाम सो पावे॥

जिस प्रकार घनीभूत वासना ही जन्म का कारण बनती है, उसी प्रकार जगतभाव ही मन शब्द से जाना जाता है। अत्यन्त विमूढ़ मन ही मन कहा जाता है इसी से संसार में उसे (विमूढ़ मन को) इस नाम से पुकारा जाता है।

जानहु अध्यातम पथ भावे। ज्ञानयुक्त मन सत्व कहावे॥
राजन मूढ़ बसत मन माहीं। साधु सत्व महँ रमत सदाहीं॥

अध्यात्म पथ के न्याय से ज्ञानयुक्त मन ही सत्व नाम से जाना जाता है। हे राजन्! अज्ञानी मन में और ज्ञानवान साधु सत्त्व (आत्मस्वरूप) में स्थित रहता है, ऐसा कहा जाता है।

दोहा— ज्यों नाटक महँ पात्र कोउ कृष्णचंद्र बनि जाय।
अपनपऊ बिसराय नहिं प्रभु सम रास रचाय॥ ६१ (क)॥

जिस प्रकार नाटक में कोई पात्र भगवान श्रीकृष्णचन्द्र बन जाता है और अपने आपको भुलाये बिना भगवान के समान रास रचाता है-

त्यों मायामय धरनि यह रंगमंच कहलाय।
अनासक्त होइ जाहि पर ज्ञानी भ्रमत लखाय॥ ६१ (ख)॥

उसी प्रकार यह मायामय धरा ही रंगमंच कहलाती है जिसपर ज्ञानी अनासक्त होकर भ्रमण करते हुए दीखता है।

जब जब जोइ जोइ पद गहे तेहि तेहि पद अनुरूप।
जनु क्रीड़त सो करम करि ब्रह्म सुरति महँ छूप॥ ६१ (ग)॥

वह जब-जब जिन-जिन पदों पर प्रतिष्ठित होता है, ब्रह्मरूप में स्थित रहते हुए उन-उन पदों के अनुरूप व्यवहार करते हुए मानो क्रीड़ा करता है।

अब जान्यों नृप सत्त्व महँ स्थित तुम्ह हरषाय।
मन समेत सब बासना तज्यो मोहिं अति भाय॥ ६१ (घ)॥

हे नरेश! मैं जान गया कि अब आप सत्त्व में स्थित होकर अति प्रसन्न हो रहे हैं और आपने मनसहित समस्त वासनाओं को त्याग दिया है जो मुझे अति प्रिय लग रहा है।

चौपाई— कह नृप हे गुरुदेव गोसाईं। तुम्ह मम काजें प्रभु की नाईं॥
भ्रम संसय पर्बत मन भारी। पर छन महँ निगले तुम्ह झारी॥

तब राजा ने कहा- गुरुदेव! आप मेरे लिए भगवान के समान हैं। अहो! मेरे मन में अब तक संशय-भ्रमरूपी विशाल पर्वत स्थित था परन्तु आप क्षण भर में उसे पूर्णतया निगल गये हैं।

अब कृत कृत्य भयउँ मैं स्वामी। तव पदकमल नमामि नमामी॥
करउँ काह अब तुम्हरी सेवा। कहउ कृपा करि हे गुरुदेवा॥

हे स्वामिन्! अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। आपके चरण कमलों में बारम्बार नमस्कार करता हूँ। हे गुरुदेव! आप कृपा करके यह बतायें कि अब मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

भई प्रगट मति महति चुडाला। ताहि निरखि चित चकित नृपाला॥
राज सम्हारहु पुनि कह नारी। यहि सेवा नृप आज हमारी॥

[ऐसा सुनकर] महत् बुद्धि वाली चूडाला अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गयी, उसे देखकर राजा आश्चर्यचकित रह गये। उस राजरानी ने कहा- हे राजन्! आप पुनः अपना राज्य सम्हालें, यही आज मेरी सेवा है।

आयसु मानि नृपति गृह आये। बरष सहस दस राज चलाये॥
भय बिषाद मत्सर अरु माना। उर नहिं अंस मात्र अभिमाना॥

उसकी आज्ञा मानकर राजा घर चले आये और दस हजार वर्षों तक राज्य का संचालन किया। उनके हृदय में अंशमात्र भी भय, विषाद, ईर्ष्या, मान की इच्छा तथा अभिमान नहीं था।

दोहा— अनासक्त होइ करत सब ब्रह्म दृष्टि सों काज।
पाइ समय त्यागे तनहिं कोउ बूझै यह राज॥ ६२ (क)॥

इस प्रकार अनासक्त होकर उन्होंने ब्रह्मदृष्टि से समस्त कार्यों का सम्पादन करते हुए समय पाकर देह त्याग दिया। कोई-कोई ही इस रहस्य को समझ सकता है।

नारद सों सुनि सिद्ध सुर बहुरि बहुरि सिरु नाइ।
बोले कृपा तुम्हारि प्रभु भ्रम सब गयो नसाइ॥ ६२ (ख)॥

देवर्षि नारद से ऐसा सुनकर सिद्धों एवं देवताओं ने बारम्बार प्रणाम करके कहा- हे प्रभो! आपकी

कृपा से सारे भ्रम नष्ट हो गये।

मासपारायण, बीसवाँ विश्राम
नवाह्नपारायण, छठा विश्राम

चौपाई— उत रणभूमि बनी एक झाँकी। निरखत हृदय लगे अति बाँकी॥
महाराज पुनि ताहि दिखावत। जहँ प्रभु पार्थहिं मरम बतावत॥

उधर रणभूमि में भी एक दिव्य झाँकी बनी हुई है जो देखने से हृदय को अत्यन्त प्रिय लग रही है। महाराज पुनः उसे प्रकट कर रहा है, जहाँ भगवान अर्जुन को गुह्यतम रहस्यों का ज्ञान करा रहे हैं।

कह प्रभु गुडाकेस मम माया। सृजति मोहिं महँ जगत निकाया॥
जद्यपि मैं नित सुद्ध मुक्त सच। पर माया महँ जे गए रच पच॥

भगवान ने कहा- हे निद्राविजयी! मेरी माया ऐसी विचित्र है कि मुझमें ही वह समस्त जगत का निर्माण करती है। यद्यपि यथार्थ में मैं नित्य शुद्ध और मुक्त स्वरूप हूँ, किन्तु जो माया में रचे-पचे हैं-

ते बिमूढ़ मोहिं नर तन धारी। नहिं समुझहिं सच ब्रह्म मुरारी॥
अपितु तुच्छ मोहिं मानुष जानत। मोरी लीला कहँ अपमानत॥

मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि वे मूर्ख मुझे मुरलीधर परमेश्वर नहीं समझते हैं, अपितु साधारण मनुष्य जानते हैं और मेरी लीला का अपमान करते हैं।

जबकै मैं सब हृदय बिराजउँ। सुभ अरु असुभ भाव उपराजउँ॥
पर मतिमंद मरम नहिं जानहिं। माया बस जग पुनि पुनि आनहिं॥

जबकि मैं सबके हृदय में विराजमान हूँ और शुभाशुभ भावों का प्रेरक हूँ; किन्तु वे मंदमति इस मर्म को नहीं जानकर माया के वशीभूत हो बारम्बार संसार में आते रहते हैं।

दोहा— बाती तिय धन तेल गृह दीप सुअन लौ ताहिं।
मरम न जानहिं मूढ़ मम बनि पतंग जरि जाहिं॥ ६३॥

उनके लिए घर दीपक, धन तेल, स्त्री बत्ती और पुत्र लौ है, वे मूर्ख मेरा मर्म न जानने के कारण पतिंगा बनकर उसी में जल जाते हैं।

चौपाई— मोसों अति छल करनैं कारन। जान न मोकों भक्त उधारन॥
तिन्ह मन करि अभिलाष तरंगिनि। माया मोरि नचावति हनि हनि॥

मुझसे अत्यधिक छल करने के कारण वे यह नहीं जान पाते कि मैं भक्तों का उद्धार करने वाला हूँ। मेरी माया उनके मन में नाना प्रकार की इच्छारूपी तरंगों को उत्पन्न करके उन्हें मार-मारकर नचाती रहती है।

बृथा कर्म आसा अरु ज्ञानहिं। आसुरि प्रकृति गहहिं नहिं मानहिं॥
जासे माया मोह कराई। दै मोसों तिन्ह दूर भगाई॥

वे मिथ्या कर्म, आशा और ज्ञान को तथा आसुरी प्रकृति को धारण करने वाले मूर्ख मेरी बात पर ध्यान नहीं देते। जिससे माया उन्हें मोहित कर मुझ [परमेश्वर] से दूर किये रहती है।

अति बिकराल मोहिनी माया। अपमारगहिं लगाय न दाया॥
प्रतिपल मोसों कपट करावति। कलिमल डारति मति भरमावति॥

यह माया अत्यन्त विकराल और मोह में डालने वाली है, जो ऐसे पतितों पर दया न करके उन्हें उलटे मार्ग में ही लगाये रहती है। वह प्रतिक्षण मेरे साथ कपट कराती रहती है और भ्रमित करते हुए उनकी बुद्धि को कलियुग के दोषों में डुबो देती है।

यह नटिनी देहात्मबादिनी। दुख उपजावति निरानंदिनी॥

यह नटिनी (माया) शरीर को ही आत्मा बताने वाली तथा आनन्दरहित एवं सदा दुःख को ही प्रकट करने वाली है।

दोहा— जस कुटिनी पर बधु मतिहिं गहि पर पुरुष लगाय।
तस माया मम निंदकहिं देहहिं आत्म लखाय॥ ६४॥

जैसे कोई घरफोरन (घर फोड़नेवाली) चुगली करके किसी पराये-वधू की बुद्धि का अपहरण कर दूसरे पुरुष में लगा देती है वैसे ही मेरी माया इस शरीर को आत्मरूप में देखने के लिए मेरे निन्दकों को बाध्य कर देती है।

चौपाई— यासे ते हिंसक अतिवादी। लूट खसोटत मिथ्यावादी॥
कहत कौन मोसों बलवाना। तिन्ह अनीति नहिं जाइ बखाना॥

इसी कारण वे हिंसक, अतिवादी और मिथ्याचारी लूट-पाट करते हुए अलापते रहते हैं कि मुझसे अधिक सामर्थ्यवान कौन है? इस प्रकार उनकी अनीति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अस कहि प्रभु पुनि पुनि दिखरावें। कौरव असुर प्रकृति महँ आवें॥
अरु जनु कहत साधु सम भाई। तुम्हहु न अस जावहु बौराई॥

ऐसा कहकर भगवान बारम्बार यह दिखा रहे हैं कि ये कौरव आसुरी प्रकृति के अन्तर्गत ही आते हैं; और मानो कह रहे हैं कि हे प्रिय! तुम साधु पुरुषों के समान हो, अत: तुम तो उनके समान पागल मत बनो-

सगे सहाय होयँ जे ऐसे। तिन्ह हरि बिमुखन्ह त्यागउ तैसे॥
कह प्रभु पार्थ साधुजन ऐसे। चातक रटनि रटहिं सुनु वैसे॥

और जो ऐसे सगे-सम्बन्धी हैं, उन भगवत-विरोधियों को भी इन्हीं के समान त्याग दो। प्रभु कह रहे हैं कि हे महाबाहो! साधु पुरुष तो [एकमात्र स्वाती की बूँद के लिए] चातक के समान रटनी रटने वाले होते हैं।

रटहिं सदा प्रभु मम पति मति गति। तुम्हरे महँ होवे अनन्य रति॥
ते अनन्य मन सों नित ध्यावत। मोरी कृपा सबहिं बिसरावत॥

वे सदा यही कहते रहते हैं कि हे प्रभो! आप ही हमारी मति, गति एवं स्वामी हैं अत: आप ही में हमारा अनन्य प्रेम हो। इस प्रकार वे अनन्य मन से मेरा नित्य ध्यान करते हुए मेरी कृपा से सबको भुला देते हैं।

दोहा— दृढ़प्रतिज्ञ होइ जतन बहु करत ते अति अनुराग।
सदा गाइ गुन ध्यावहीं पावहिं बिमल बिराग॥ ६५॥

वे दृढ़प्रतिज्ञ हो अत्यन्त अनुराग से सदा मेरा गुणानुवाद करते हुए ध्यानपूर्वक अनेक प्रकार से यत्न करके निर्मल वैराग्य को प्राप्त होते हैं।

चौपाई— देव प्रकृति गहि तजत भयादिक। श्रद्धा सम दम प्रीति दयादिक॥
आदि हेतु भूतन्ह कर जानी। सुमिरहिं मोहिं परम हित मानी॥

वे श्रद्धा, शम, दम, प्रीति, दया आदि दैवी गुणों को धारण करके भय आदि दोषों को त्याग देते हैं। वे मुझे समस्त भूतों का आदि कारण जानकर अपना परम हितैषी समझते हुए सदा मेरे ही ध्यान भजन में लगे रहते हैं।

तिन्ह पूजन वारन महँ कोऊ। ज्ञानयज्ञ सों पूजत होऊ॥
सेवक सेब्य भाव उर आनी। मम गुनगन गावत कोउ प्रानी॥

उन मेरी पूजा करने वालों में से कोई तो ज्ञानयज्ञ से पूजन करता है तथा कोई हृदय में स्वामी-सेवक भाव से नित्य ही मेरा गुणगान करता रहता है।

बिस्वरूप मम कोउ नित ध्यावत। एहि बिधि परम लक्ष्य निज पावत॥
अर्जुन गुनत मनहिं मन ऐसे। सब कर पूजन इन्हकेइ कैसे॥

कोई सदा मेरे विश्वरूप की ही उपासना करता है। इस प्रकार वे सभी अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर जाते हैं। ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन मन ही मन सोचने लगे कि सबकी पूजा इनकी ही पूजा कैसे हो सकती है-

जदपि पुजत निज रूपहिं कोई। समुझत सपन सरिस जग सोई॥

जबकि कोई आत्मरूप की उपासना करता हुआ समस्त जगत को स्वप्नवत् समझता है।

दोहा— ज्ञान मार्ग गहि पूज कोउ स्वामि सेब्य सों कोउ।
बिस्वरूप गहि पूज कोउ आसय का प्रभु योउ॥ ६६॥

ब्रह्म की उपासना कोई ज्ञान मार्ग से करता है, कोई स्वामी-सेवक भाव से तथा कोई उसे विश्वरूप मानकर करता है, फिर हे प्रभु इसका क्या आशय है ?

चौपाई— अंतरजामी प्रभु सब जानहिं। निज हिय हरष बहुत बिधि मानहिं॥
प्रभु कह क्यों न कहउँ अस तोहीं। पुनि पहिचानु अहउँ जस ओहीं॥

[महात्मा अर्जुन जो कुछ भी सोच रहे हैं,] अन्तर्यामी भगवान सब जानते हुए अपने हृदय में बहुत ही हर्षित हो रहे हैं। भगवान ने कहा कि ऐसा मैं तुमसे क्यों न कहूँ ? अब मैं जैसा हूँ, उसे पहचानने का प्रयत्न करो।

मैं क्रतु यज्ञ स्वधा घी औषधि। मंत्रहु हुत पावक ब्रह्मोदधि॥
मैं जग मातु पिता अरु धाता। अहउँ पितामह कोउ न बिधाता॥

इस ब्रह्मरूपी समुद्र में मैं ही क्रतु [अर्थात् श्रौतकर्म एवं स्मार्तकर्म विशेष] हूँ, यज्ञ हूँ तथा पितरों को दिया जाने वाला स्वधा नामक अन्न भी मैं ही हूँ, घी और व्याधि को नाश करने वाली औषधि भी मैं ही हूँ। मैं ही मंत्र, अग्नि और हवनरूप कर्म भी हूँ। मैं ही जगत का पिता और उसकी [जन्मदात्री] माता तथा उसे धारण करने वाला हूँ। मैं ही पितामह हूँ, अत: मेरे अतिरिक्त [उनके कर्मफलों का विधान करने वाला] कोई अन्य विधाता नहीं है।

जानन योग करत जो पावन। ऋग यजु साम ॐ मनभावन॥
गति भर्ता प्रभु साक्षि निवासा। सरणं सुहृद करहु बिस्वासा॥

जो सबको पवित्र करता है, वह जानने योग्य एवं सबको प्रिय लगने वाला ॐकार एवं ऋक्, साम तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। मैं ही [कर्मानुसार प्राप्त होने वाली] गति (अर्थात् कर्मफल), भर्ता (भरण-पोषण करने वाला), प्रभु (सबका स्वामी), कर्म-अकर्म का साक्षी, प्राणियों का वासस्थान, शरणागति प्रदान करने वाला एवं सुहृद (प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करने वाला) हूँ; ऐसा विश्वास करो।

प्रभव प्रलय स्थान निधानम्। अब्यय बीजहु अब्यवधानम्॥
रबि होइ सबहिं तपावउँ पारथ। बरसि सबन्हिं कर पुरवउँ स्वारथ॥

मैं ही सबकी उत्पत्ति एवं प्रलय हूँ जिसमें सब प्राणी प्रलय काल में स्थित रहते हैं वह स्थान, कर्मफल का भण्डाररूप निधान तथा व्यवधानरहित अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। हे पार्थ ! मैं ही सूर्य रूप से सबको तपाता हूँ और वर्षा करके सबका स्वार्थ पूर्ण करता हूँ।

दोहा— सोषउँ जल रबि रूप सों यथा समय बरषाउँ।
अमृत मृत्यू सत असत महाबाहु कहलाउँ॥ ६७॥

मैं ही पुन: सूर्यरूप से जल का अवशोषण करता हूँ और यथा समय वर्षा करता हूँ। हे महाबाहो ! मैं ही देवताओं का अमृत, मृत्युलोक की मृत्यु तथा सत् और असत् कहलाता हूँ।

चौपाई— अस कहि प्रभु महिमा निज गाये। अहउँ सर्ब अर्जुनहिं सुनाये॥
लैं अनन्य रति जासों अनुदिन। जानहिं असुर कहैं ते जिन जिन॥

इस प्रकार भगवान ने स्वयं अपनी महिमा का वर्णन किया और महात्मा अर्जुन को यह भी सुनाया कि मैं ही सर्वरूप ब्रह्म हूँ, जिससे उन्हें सदा भगवान में अनन्य प्रेम होता रहे और वे जिन्हें असुर बतायें उन्हें वे वैसा ही जानें।

भय अरु प्रीति इहाँ प्रभु प्रगटत। देत चेतावनि भ्रम सब झटकत॥
प्रेम देत जनु अस अनुहारत। कोउ जोगी निज मनहिं दुलारत॥

भगवान ने यहाँ प्रेम और भय दोनों को ही लाकर खड़ा किया है और चेतावनी देते हुए समस्त भ्रम आदि को दूर कर दिया है। मानो प्रेम देकर उन्होंने ऐसा व्यवहार किया है जैसे कोई योगी प्रेम से अपने मन को समझाता है।

भय दिखायँ जब प्रभु अस भावत। जनु जोगी हठ करि मन लावत॥
प्रभु पुनि पुनि निज सुरति करावत। को कृपालु जग अस अनुभावत॥

भगवान जब भय दिखा रहे होते हैं तो ऐसी शोभा पाते हैं, मानो कोई योगी हठपूर्वक अपने मन को संयमित कर रहा हो। भगवान बार-बार उनको अपने स्वरूप का स्मरण करा रहे हैं [अर्थात् यह बता रहे हैं कि तुम भी वही हो जो मैं हूँ]; जगत में ऐसा कृपालु अन्य कौन है, जो ऐसा अनुभव करा सके।

सिष्य परम प्रिय यह जिन्हिं भावत। भवबंधन प्रभु ताहि नसावत॥

जिनको यह परम प्रिय शिष्य अत्यन्त भा गया है, वे भगवान नारायण उसके कर्म-बन्धनों का नाश कर रहे हैं।

दोहा— चरन कमल चित लाइ सो मन महँ अति सुख पाय।
श्रवन करत अमृत बचन भवदुख दूर बहाय॥ ६८॥

वह शिष्य भी उनके कमलवत् चरणों को हृदय में धारण कर मन में अत्यन्त सुख प्राप्त कर रहा है और अमृत वचनों को सुन रहा है, जिससे उसके संसाररूपी दु:ख (आवागमन) का नाश हो रहा है।

चौपाई— जा दिन सदगुरु बिभु सम भावे। ता दिन सिष्य जोग फल पावे॥
सोइ अर्जुन प्रभु दरसन पावत। उर महँ अतिहिं बिमल जस गावत॥

जिस दिन सद्गुरु ब्रह्म के समान प्रिय लगने लगता है, उसी दिन शिष्य समस्त योग का फल प्राप्त कर लेता है। वैसे ही अब भक्त अर्जुन भगवान का दर्शन प्राप्त करके मन में उनके विमल यश का गान कर रहे हैं।

पावत थाह डुबत भवसागर। महाराज कर मरम उजागर॥
अबिगत गति जो कहि नहिं जाये। प्रभु सोइ पार्थहिं आज लखाये॥

मानो अर्जुन भव-सागर में डूबते हुए थाह पा गये हों- महाराज इसी रहस्य को खोल रहा है कि जिसकी अविगत गति (निर्गुण ब्रह्म और उसके व्यवहार) को कहा नहीं जा सकता, भगवान ने आज अपने प्रिय भक्त अर्जुन को उसी रूप का दर्शन करा दिया।

रहित रंग रुप गुन अरु जाती। जुगुति बिना ध्यावे केहि भाँती॥
तदपि राजयोगहिं उर आनी। होवे सुलभ ब्रह्म सुखखानी॥

यद्यपि वह रूप, रंग, जाति और गुण से रहित है [अत: प्रश्न यह भी उठता है कि] फिर बिना किसी युक्ति (आधार) के किसप्रकार उसकी उपासना की जाय? तो भी राजयोग के हृदय में आने पर सम्पूर्ण सुखों की खान उस ब्रह्म को प्राप्त कर ही लिया जाता है।

अर्जुन सम सरनागति जाकी। ब्रह्महिं अगम गहति मति ताकी॥
होइ अगुन जग सगुन निबारे। वाके हृदय ब्रह्म उजियारे॥

महात्मा अर्जुन के समान जिसकी शरणागति है उसकी बुद्धि दुर्गम और अगोचर ब्रह्म को सहज ही पकड़ लेती है। अत: जो निर्गुण ब्रह्म में स्थित होकर गुणों से युक्त संसार का त्याग कर देता है उसके हृदय में [अवश्य ही] ब्रह्म प्रकाशित होता है।

दोहा— प्रभु मत निर्गुन सुलभ अति सगुन मान्यता होइ।
मिथ्या बाद बिबाद महँ परे न पावत सोइ॥ ६९ (क)॥

भगवान नारायण के अनुसार ब्रह्म का निर्गुणरूप अत्यन्त सुलभ है, जबकि सगुण तो मान्यता मात्र है। जो मिथ्या वाद-विवाद में नहीं पड़ता, वही उस ब्रह्म को प्राप्त करता है।

जो साक्षी सत अक्षरहि आपुनहीं पहिचान।
आतमचिंतन ताहि हित महाराज कर गान॥ ६९ (ख)॥

जो अपने आपको साक्षी, सत् और अक्षररूप में पहचानना चाहता है, उसके लिए महाराज आत्मचिन्तन दे रहा है।

चौपाई— सुनउ सुनउ अब सुनउ हे संता। जब बइठहु तुम्ह होइ अनंता॥
निरालम्ब होइ चिंतन ऐसो। करहु कह्यो प्रभु अबहीं जैसो॥

सुनें, हे सन्तगण! ध्यान से सुनें! जब आप आत्मरूप होकर [आत्मचिन्तन के लिए] बैठें तब आश्रयरहित चिन्तन करें, जैसा कि अभी भगवान ने कहा है।

बीतहब्य मुनि परम तपोधन। लगे मनहिं एहि बिधि बहु बोधन॥
तिन्हकर चिंतन दउँ इहँ भाई। नित प्रति चिंतहु अस हरषाई॥

[वह यह कि] वीतहव्य मुनि जो परम तपस्वी थे, वे इसी प्रकार अपने मन को समझाने लगे (ज्ञान देने

लगे)। हे सज्जनो! यहाँ मैं उन्हीं का चिन्तन दे रहा हूँ। आप अत्यन्त हर्षित होकर नित्य प्रति ऐसा ही चिन्तन करें।

अहो महा आस्चर्यम ऐसो। यह आस्चर्यहिं देखउँ कैसो॥
निज स्वरूप जड़ देहइ मानउँ। कछु पल पूर्ब जगत जेहि जानउँ॥

अहो! महा आश्चर्य है! यह ऐसा कैसा आश्चर्य देख रहा हूँ! अभी तक मैं जड़ देह को ही अपना स्वरूप मानता था तथा कुछ पल पूर्व मैं जिसे जगत जानता था-

कछु पल पूर्ब गाँव घर मान्यों। कछु देहहिं सच अपुनो जान्यों॥
देखत मोको भागि गये जनु। सन्मुख खड़ो जो ब्रह्म पुरातनु॥

जिसे अभी कुछ पल पूर्व मैं अपना गाँव घर मानता था और कुछ शरीरों को अपना स्वजन समझता था, मानो वे मुझ [निर्गुण निराकार ब्रह्म] को देखते ही भाग गये तथा जो सामने दृश्यरूप से खड़ा है, वह तो पुरातन ब्रह्म ही है।

लखत मोहिं ते भाव पराये। पतो नाहिं कहँ जाइ हिराये॥
कछु पल पूर्ब कहउँ मन मेरो। इंद्रीं मोरि बिकार घनेरो॥

वे भाव मुझे देखते ही न जाने कहाँ चले गये, पता नहीं कहाँ जाकर छिप गये। उसी प्रकार कुछ पल पूर्व मैं कहता था कि ये मन और इन्द्रियाँ मेरी हैं, जो सम्पूर्णतया विकारमय थीं।

दोहा— देखत मो सत अब्ययहिं अबिनासी अद्वैत।
पतो न ते सब कहँ गये अब नहिं द्वैत न त्रैत॥ ७०॥

मुझ अव्यय, सत, अविनाशी और कैवल्य स्वरूप को देखते ही पता नहीं वे सब कहाँ चले गये, अब न द्वैत रहा, न त्रैत।

चौपाई— अहो भयों मैं मुक्त कहउँ कस। जदपि देह नहिं हुतौं कबहुँ अस॥
होतउँ तन तो बंधन होतो। ज्ञान भये ता कहँ पुनि खोतो॥

'अरे! मैं मुक्त हो गया'- ऐसा भी कैसे कह सकता हूँ यद्यपि मैं ऐसे शरीर वाला कभी था ही नहीं। यदि शरीर होता तब तो बन्धन होता और ज्ञान होने पर उससे मुक्त होता!

खातों पीतों आतों जातों। कछु करतों बंधन लग जातों॥
किंतु न भयो कबहुँ अस मोसों। दूर अहउँ इन्ह सबसों कोसों॥

यदि मैं खाता-पीता, कहीं आता-जाता और कुछ करता तो [निश्चित ही] बन्धन में फँस जाता; परन्तु मुझसे तो कभी ऐसा हुआ ही नहीं, क्योंकि इन सबसे तो मैं कोसों दूर हूँ।

यहउ कहउँ कस सब बंधन महँ। मुक्त होइ पुनि जायँ ब्रह्म जहँ॥
कारन कोऊ देह न आही। जाहि त्यागि निर्गुन महँ जाही॥

यह भी कैसे कह सकता हूँ कि सभी बन्धन में फँसे हुए हैं और मुक्त होने पर पुनः ब्रह्म में मिल जायेंगे; क्योंकि कोई शरीर तो है ही नहीं, जिसे त्यागकर निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त किया जाय।

भ्रम महँ हुतौं कहउँ कस ऐसो। जदपि याहि छन भ्रम नहिं कैसो॥
देह न मान्यों स्वयंहिं कबहूँ। हाँ मान्यो जो समुझउँ अबहूँ॥

'भ्रम में था'- ऐसा भी कैसे कहूँ, जबकि इस समय किसी प्रकार का भ्रम है ही नहीं। मैंने स्वयं को कभी शरीर नहीं माना, हाँ जिस [अज्ञान] ने माना है, उसे मैं अब समझ रहा हूँ।

दोहा— अहइ न एहि छन कतहुँ सो पतो नाहिं कहँ भाग।
अस लागत मोहिं देखि सो आत्मरूप अनुराग॥ ७१॥

इस समय वह कहीं नहीं है, पता नहीं कहाँ भाग गया? ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे देखते ही वह आत्मरूप हो गया है।

चौपाई— ठंढ जाय जिमि प्रगटत आगी। मोहिं निरखि तिमि सो गयो भागी॥
काम क्रोध लोभादिक धार्‌यो। मो बिभु लखि सो गवँहिं सिधार्‌यो॥

जैसे अग्नि के प्रकट होते ही ठंढ पलायन कर जाती है, वैसे ही मुझे देखकर वह अज्ञानमय पुरुष भाग गया। जिसने काम, क्रोध और लोभ आदि को धारण कर रखा था, वह मुझ ब्रह्म को देखते ही चुपचाप भाग गया।

सो अज्ञान न मो महँ प्रगट्यो। नभ तन माहिं चपल इव चमक्यो॥
देखउँ अबहुँ जगत नभ माहीं। बहु तन घन प्रगटहिं बिनसाहीं॥

अरे! वह अज्ञान मुझमें प्रकट नहीं हुआ था बल्कि विद्युत के समान शरीररूपी आकाश में चमक गया था। अभी भी मैं संसाररूपी आकाश में देखता हूँ कि बहुत-से शरीररूपी बादल प्रकट होते हैं और विलीन हो जाते हैं।

अहो बिपुल तन चिद नभ माहीं। द्वैतभाव घन जब टकराहीं॥
तब बहु तड़ित काम क्रोधादिक। प्रगट करति माया अनुबादिक॥

अहो! शरीररूपी चिदाकाश में जब बहुत से द्वैतभावरूपी बादल टकराते हैं तब प्रकट हुई काम, क्रोधादिरूपी विद्युत मानो माया को परिभाषित करती है।

यहु कहि सकउँ आजु केहि भाँती। भ्राजउँ बहुत पाइ अब साँती॥
हाँ अब कहउँ देह चिदकासा। भा सम सांत बिमल सब आसा॥

आज मैं यह भी कैसे कह सकता हूँ कि मैं अत्यन्त शान्ति पाकर शोभायमान हो रहा हूँ। हाँ, अब यह कह सकता हूँ कि यह शरीररूपी चिदाकाश समस्त दिशाओं से सम शान्त और निर्मल हो गया है।

बिनु मन बुधि घन सोभत ऐसे। निर्बिकार नभ घन बिनु जैसे॥
हे मन मोमें भेद न भेदक। अरु नहिं भेद्य बेद्य कोउ बेदक॥

अब बिना मन एवं बुद्धिरूपी बादलों के मेरी ऐसी शोभा हो रही है, जैसी बादलों के बिना निर्मल आकाश की। हे मन! मुझमें न कोई भेद है, न भेद करने वाला है, न ही कुछ भेदने के योग्य है और न कोई जानने योग्य अथवा जानने वाला है।

मोमें आय न आवनहारो। गयो न कोऊ जावनहारो॥
सर्ब सर्बगत अक्षर जानहु। साक्षि निरंतर सत मोहिं मानहु॥

न कोई मुझमें आया न आनेवाला है, न कोई गया और न जानेवाला है। अत: अब मुझे सबकुछ, सर्वत्र और निरन्तर जानो तथा हे मन! मुझे ही साक्षी, सत् एवं अक्षर मानो।

योग लगन ग्रह बार न मोमें। वैसो हे मन कछु नहिं तोमें॥
मास बरष जुग मोमें नाहीं। प्रलय माहिं पुनि काह नसाहीं॥

मुझमें योग-लग्न, ग्रह-वार आदि नहीं हैं, वैसे ही हे मन! तुझमें भी ये सब कुछ नहीं है। मुझमें मास, वर्ष, युग है ही नहीं, अत: प्रलय में क्या नष्ट होगा!

हे मन मैं साक्षी सत अक्षर। द्रष्टा दृष्टि दृस्य सचराचर॥
जप तप जोग नियम नहिं मोमें। वैसो हे मन कछु नहिं तोमें॥

हे मन! मैं ही द्रष्टा, दृष्टि तथा समस्त चराचर दृश्य हूँ एवं साक्षी, सत् और अक्षर हूँ। इस प्रकार जप, तप, योगादि नियम तो मुझमें हैं ही नहीं, उसी प्रकार हे मन! तुझमें भी ये सबकुछ नहीं हैं।

मैं न जितेंद्रिय अरु अजितेंद्रिय। पुनि जय बिजय काह मोमें प्रिय॥

हे प्रिय! न मैं जितेन्द्रिय हूँ और न अजितेन्द्रिय हूँ, फिर मेरी जय एवं पराजय कैसी?

सोरठा— आदि अंत अरु मध्य मेरो नाहिं न तोरहू।
नहिं हौं बध्य अबध्य सत साक्षी अक्षर अहउँ॥ ७२॥

मेरा आदि, अन्त और मध्य नहीं है वैसे ही तुम्हारा भी नहीं है। न मैं वध्य हूँ और न ही अवध्य हूँ, मैं तो एकमात्र साक्षी, सत् एवं अक्षर हूँ।

चौपाई— मूर्ख न पंडित हौं मन मेरो। योई हाल कहउँ सच तेरो॥
मौन रहउँ नहिं बदत लखाऊँ। थिर न रहउँ अरु नहिं कहुँ जाऊँ॥

हे मेरे मन! न मैं मूर्ख हूँ, न पण्डित हूँ, मैं सत्य कहता हूँ कि यही स्थिति तुम्हारी भी है। न मैं मौन रहता हूँ, न बोलता हुआ ही दिखायी पड़ता हूँ तथा न मैं स्थिर रहता हूँ और न कहीं जाता ही हूँ।

नहिं निर्मोह न अहउँ मोहमय। मोक्षरूप नित अहउँ बोधमय॥
बर्ण गोत्र कुल जाति न मोमें। तैसो हे मन नहिं अस तोमें॥

न मैं अति निर्मोही और न मोहमय ही हूँ, मैं तो निर्वाणरूप एवं नित्य ज्ञानस्वरूप हूँ। मुझमें वर्ण, गोत्र, कुल और जाति नहीं है, उसी प्रकार हे मन! तुम्हारे में भी ऐसा नहीं है।

रहउँ उदित सब कालहिं माहीं। जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिहु नाहीं॥
अदभुत अलख अलेप अनामय। मोक्षरूप नित अहउँ निरामय॥

मैं सर्वकाल में उदित रहता हूँ, जहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नहीं है। मैं अद्‌भुत, अलख, निर्लेप, अनामय, निर्वाणस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप हूँ।

करम सुभासुभ मोमें नाहीं। यहइ न्याय मन तुव प्रति आहीं॥
माया जीव न अब दिखराये। सुद्ध सच्चिदानंद लखाये॥

मुझमें शुभाशुभ कर्म नहीं हैं तथा हे मन! तुम्हारे लिए भी यही न्याय है। अब मुझे न माया ही दिखाई पड़ रही है न जीव ही, बल्कि एकमात्र शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही दीख रहा है।

सोरठा— मेरो योग बियोग यासें कबहुँ न होइ सक।
मोमें कोउ न रोग मोक्षरूप मैं बोधमय॥ ७३॥

इसलिए मेरा कभी भी योग और वियोग नहीं हो सकता तथा मैं सर्वथा [आसक्ति आदि] व्याधियों से रहित हूँ; क्योंकि मैं मोक्षस्वरूप एवं बोधमय हूँ।

चौपाई— मोमें नाहिं कबहुँ दिन राती। नाहिं असुर सुर नर कोउ जाती॥
प्रेत पितर गंधर्ब न कोऊ। पसु पक्षी कृमि नागउ जोऊ॥

मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में न कभी दिन-रात हुए हैं और न ही कोई असुर, देवता, नर, प्रेत, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीड़े तथा नाग आदि जातियाँ ही हुई हैं।

मोमें जीव ब्रह्म नहिं कोऊ। मोसे ब्याप्त दृस्य सब होऊ॥
मम कारन कारज कोउ नाहीं। मोमें हरि हर बिधिहु न आहीं॥

मुझमें न कोई ब्रह्म है, न जीव है; क्योंकि मुझसे ही यह सम्पूर्ण दृश्य जगत व्याप्त है। मेरा न कोई कारण है, न कार्य है; इसीलिए मुझमें कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश नहीं हैं।

निज पर भाव न मोमें आवे। जासे सत्रु न मित्र लखावे॥
पाप पुन्य मोमें नहिं कोऊ। मोसें ब्याप्त दृस्य सब होऊ॥

कभी भी मुझमें अपना या पराया भाव आता ही नहीं जिससे न कोई शत्रु दिखायी पड़ता है न कोई मित्र। मुझमें कोई पाप-पुण्य भी नहीं है क्योंकि मुझसे ही सारा दृश्य व्याप्त है।

मैं न करउँ न कराउँ काहु सों। बरु होवे कोउ सहसबाहु सों॥
युक्त अयुक्त भास नहिं मोहीं। कोउ अभिलाष न मों महँ होहीं॥

न मैं करता हूँ न किसी से करवाता हूँ, भले ही कोई सहस्त्रबाहु के समान ही क्यों न हो। मुझे न कुछ युक्त दिखता है, न अयुक्त- इसी से मुझमें कोई अभिलाषा भी नहीं है।

दोहा— नाहिं अज्ञता ज्ञान मोहिं नाहिन कवनउ बोध।
ब्याप्त दृस्य सब मोहि सों कैसो बोध अबोध॥ ७४॥

मुझे तो न अज्ञान का ही ज्ञान है और न कोई [अन्य] बोध ही हुआ है; अतः मुझमें यह अबोधता और बोधता कैसी? क्योंकि मुझ से यह समस्त दृश्य वर्ग व्याप्त हो रहा है।

चौपाई— जनमत जग सच कै झूठोई। भयो बिकल्प न मोमें कोई॥
सार असारउ बीज न मोमें। मन पुनि चंचलता कस तोमें॥

जगत सत्य ही जन्म लेता है या यह बात झूठी है- ऐसा विकल्प तो मुझमें कभी नहीं आया। मुझ में तो सार-असाररूप बीज नहीं है, तो हे मन! तुम में चंचलता कैसे आ गयी ?

चल अरु अचल सु सौम्य बिषमता। मोमें नहिं मैं सब होइ रमता॥
अरु बिचार अबिचार न मोमें। मन पुनि चंचलता कस तोमें॥

[इतना ही नहीं बल्कि] मुझ ब्रह्म में न सचलता है न अचलता, न सौम्यता है न विषमता; क्योंकि मैं ही सर्वरूप हुआ रमण कर रहा हूँ तथा न मुझ में विचार हैं न अविचार ही, अत: हे मन! तुम में चंचलता कहाँ से आ गयी!

सोक बिसोकउ सुख दुख दोषउ। मोमें नाहिं हर्ष अरु रोषउ॥
सीत उष्ण कर पहुँच न मोमें। मन पुनि चंचलता कस तोमें॥

हे मन! मुझमें शोक-विशोक, सुख-दु:ख और हर्ष-विषाद रूपी दोष नहीं हैं, न ही मुझमें सर्दी-गर्मी की पहुँच ही है; फिर हे मन! तुम में चंचलता कैसे आ गयी!

पंच भुतादिक सहित प्रपंचा। मृगतृष्णा सम सार न रंचा॥
बिषय बीज अरु कार्य न मोमें। मन पुनि चंचलता कस तोमें॥

पंचभूतों के साथ समस्त प्रपंच में मृगतृष्णा के समान अंशमात्र भी सार नहीं है, विषयों का कारण एवं कार्य भी मुझ [ब्रह्म] में नहीं है; फिर हे मन! तुझमें चंचलता कैसे आ गयी!

दोहा— त्रिगुणात्मकहु प्रकृति प्रिय मोमें आय न जाय।
सर्बसार कर सार मैं मन पुनि कस बिकलाय॥ ७५॥

हे प्रिय! मुझमें त्रिगुणात्मक प्रकृति भी न आती है न जाती है; क्योंकि मैं समस्त सारों का सार हूँ, अत: हे मन! तुम विकल क्यों होते हो!

चौपाई— जहँ भ्रम निसा होय नहिं कबहूँ। ब्रह्म न अहइ कहैं बरु सबहूँ॥
मोमें प्रेम बियोग न छावे। मन निर्मल पुनि कस बिकलावे॥

जहाँ [मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में] भ्रमरूपी रात्रि कभी हो ही नहीं सकती, भले सभी चिल्लाते रहें कि ब्रह्म तो है ही नहीं। उसी प्रकार मुझमें प्रेम का वियोग भी नहीं होता; फिर हे विशुद्ध मन! तुम क्यों व्याकुल हो रहे हो!

पुन्य अमिय मुक्ती मुक्ताफल। मोहिं सुभग सर लह मन आ चल॥
तू सोइ ब्रह्म मोहिं अति भावे। मन निर्मल पुनि कस बिकलावे॥

मुझ ब्रह्मरूपी सरोवर में मुक्तिरूपी मुक्ताफल और पुण्यरूपी अमृतरस का वास है, अत: आओ और उसे प्राप्त करो। हे निर्मल मन! तुम भी तो वही ब्रह्म हो इसलिए मुझे अत्यन्त प्रिय हो, फिर व्याकुल क्यों हो रहे हो!

बिषय पोखरी नित्य नहावत। ब्रह्म सरोवर क्यों नहिं भावत॥
जहँ अति आनँद नीर भरायो। इहिं मन आ तू कस बिकलायो॥

हे मन! तुम नित्य विषयरूपी गन्दी पोखरी में स्नान करते हो, तुम्हें ब्रह्म सरोवर अच्छा क्यों नहीं लगता, जहाँ आनन्दरूपी अगाध जल भरा हुआ है! सो हे मन! तुम क्यों विकल हो रहे हो! अरे! यहीं आ जाओ!

छुद्र बिषय रस तजहु अनाड़ी। पियहु ब्रह्मरस परम खिलाड़ी॥
ब्रह्मराग सहजहिं तू गावे। पुनि हे मन काहे बिकलावे॥

अरे! अनाड़ी मन! क्षुद्र विषयरस को त्याग दो और ब्रह्मरस का पान करो; क्योंकि [यथार्थ में तो] तुम चतुर खिलाड़ी हो। तुम सहज ही ब्रह्मराग गाने वाले हो, फिर हे मन! तुम विकल क्यों हो रहे हो ?

दोहा— मन बुलाउँ मैं तोहिं सच मोरे पहिं अब आउ।
राजयोग अमृतहिं चखु ब्रह्म होइ हरषाउ॥ ७६॥

हे मन! मैं सच में तुम्हें [अपने-आप] बुला रहा हूँ, मेरे समीप आओ! और राजयोगरूपी अमृतरस का पान करो तथा ब्रह्मरूप होकर आनन्द मनाओ।

चौपाई— गप सप महँ दिन रैन बितावे। लखत अपर निज रूप भुलावे॥
अजर अमर सुख निधि तुम्ह भाई। खोजत का निसदिन भरमाई॥

हँसी-ठिठोली में ही दिन-रात व्यतीत कर देते हो और दूसरे को देखने में ही आत्मरूप को भूल गये हो। हे प्रिय! तुम तो अजर-अमर तथा सुख के निधान हो, फिर दिन-रात भ्रमित होकर क्या खोजते रहते हो?

मों सम तू अब्यय अबिनासी। सत्य सनातन आनँद रासी॥
अपर दीख जो सब दुखदाई। खोजत का निसदिन कहँ जाई॥

मेरे ही समान तुम भी अव्यय, अविनाशी, सत्य, सनातन तथा आनन्द की राशि हो और जो कुछ भी अन्य दिखाई दे रहा है, वह सब दु:ख ही देने वाला है, इसलिए रात-दिन कहाँ जाकर क्या खोज रहे हो!

तू केहिकर अरु को सच तेरो। जेहि हित तू कह मेरो मेरो॥
सो पितु मातु बंधु सबही जन। स्वान सृगाल काग कर भोजन॥

यथार्थ में तुम किसके हो और तुम्हारा कौन है जिसके लिए तुम मेरा-मेरा की गुहार लगा रहे हो! वे माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि स्वजन तो एकमात्र कुत्ते, शृगाल एवं कौवे आदि के भोजन हैं।

राजयोग अस छाँड़ि अमिय फल। मैं तू बिष फल चाखत क्यों चल॥
मूरख जान न पग तर आगी। घर तजि घुरौ बुझावत भागी॥

इस प्रकार राजयोग जैसे अमृतफल का त्याग करके, 'मैं-तू' रूपी विषफल क्यों खाते चल रहे हो! जिस प्रकार मूर्ख पुरुष घर की आग को न जानकर, घर को छोड़ घूरे की आग बुझाने दौड़ता है-

दोहा— अस गति तोरी मूढ़ मन दोष न अपुनो देख।
लखि न सकत कोउ सहज महँ गह अस साधू बेष॥ ७७॥

तुम्हारी दशा ऐसी ही है। हे मूढ़ मन! तुझे अपना दोष नहीं दिखायी पड़ता और तूने ऐसा साधू का वेश बना लिया है कि सहजता से कोई पहचान ही नहीं पाता।

चौपाई— जम की हँसी पात्र मत बन तू। निर्बिकार सच नित्य हि मन तू॥
ज्यों मूसक बिलाव गृह बासे। लोभ पास त्यों तू कस फाँसे॥

हे मन! यथार्थ में तुम सदा से ही निर्विकार हो, अत: यमराज की हँसी के पात्र मत बनो। जिस प्रकार कोई चूहा बिल्ली के घर में रहे, उसी प्रकार तुम लोभपाश में क्यों बँधे हुए हो!

ग्रास बने कोउ दिन सो वाकौ। आपुन हित तैसे तू ताकौ॥
गृह रहनो तेरो मूसक सम। कबहुँ न कबहूँ सबहिं बनैं जम॥

जिस प्रकार वह चूहा किसी दिन उस बिल्ली का ग्रास बन जाता है, उसी प्रकार [का न्याय] तुम स्वयं के लिए भी जानो। तुम्हारा उसी चूहे के समान गृहस्थाश्रम में रहना हो रहा है, जहाँ [अन्तत:] सभी कभी न कभी [तुम्हारे लिए] यमराज बन जायेंगे।

एहि जग धर्म अधर्म लखावे। वासेउँ बर बैराग्य बतावे॥
तेहि गृह रमु सम बिभु बनि भाई। यहइ ब्रह्म सों मधुर सगाई॥

[हे मन!] इस जगत में धर्म-अधर्म दिखाई पड़ रहे हैं लेकिन उनसे भी श्रेष्ठ तो वैराग्य को ही बताया जाता है। अत: हे प्रिय! सम ब्रह्म होकर उस गृहस्थाश्रम में रमण करो, यही ब्रह्म के साथ मधुर सम्बन्ध कहा जाता है।

तोमें देह बिदेह न कोऊ। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति न होऊ॥
बिधि निषेध सों रहित कहावे। आतमरूप कहाँ मन जावे॥

तुम में न तो कोई देहरूपता है, न विदेहरूपता तथा न जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ही है; बल्कि तुम विधि-निषेध से परे आत्मरूप कहे जाते हो, फिर हे मन! कहाँ भटक रहे हो!

दोहा— नभ इव ब्यापक ब्रह्म मन सर्ब रहित अरु सर्ब।
निर्बिकार तिहुँ काल महँ त्यागु देह कर गर्ब॥ ७८॥

हे आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मरूप तथा सर्वरहित एवं सर्वरूप मन! हे त्रिकाल में निर्विकार रहने वाले!

शरीर होने का अभिमान त्याग दो!

चौपाई— बंधन मोक्ष पुन्य अरु पापा। तोमें नाहिं कोउ अनुतापा॥
पूरन रिक्तहु नहिं कछु तोमें। जगत भाव तजु आवहु मोमें॥

तुझमें न कोई बन्धन है, न मोक्ष; न पुण्य है, न पाप और न ही कोई शोक-सन्ताप ही है, तुम्हारे में न कोई पूर्णता है न रिक्तता है, अत: जगतभाव त्यागकर मुझमें ही मिल जाओ।

अबलौं ऊँट बृषभ गर्दभ सम। पाप बोझ ढोवत भा मन श्रम॥
अहउँ ब्रह्म अस भरि हुंकारा। तेहिं तजु सो जरि होवे छारा॥

हे मन! अब तक तुम्हें ऊँट, बैल, गधे के समान पाप का बोझ ढोते हुए [अत्यन्त] थकान हो गयी है, अत: मैं ब्रह्म ही हूँ- ऐसा हुँकार भरते हुए उसे जगत में फेंककर सम ब्रह्म हो जाओ, जिससे वह सब जल जाये।

जग अचार जल मृगमरीचिका। वामें रमनो लह बिसूचिका॥
जे लिपटाये सबहि नसाये। आत्मरूप निज आजहुँ ध्याये॥

[हे मन!] जगत का व्यवहार मृगमरीचिका के जल के समान [भ्रामक] है, अत: उसमें रमण करना [साक्षात्] हैजा को स्वीकार करना है। उसमें अब तक जो लिपटे उन सबका सर्वनाश हो गया, अत: तुम अब भी अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

सबहि कहत मन कपि सम चंचल। नाम बृथा करु होउ अचंचल॥
तब तेरो सच रूप लखाये। बहुत भयो अब नहिं ललचाये॥

[जानते हो!] सभी कहते हैं कि मन बन्दर के समान चंचल होता है, अत: तुम अपना यह नाम मिथ्या सिद्ध करके चंचलता से रहित हो जाओ; तब तुम्हारा वास्तविक रूप प्रकट होगा। [हे मन!] बहुत हो गया, कम से कम अब तो [विषय का] लालच न करो!

दोहा— मन अबिबेक बिबेक अरु उर संकल्प बिकल्प।
यहउ सकल अज्ञान सच तू सम सांत न कल्प॥ ७९॥

हे मन! विवेक और अविवेक तथा हृदय से उठने वाले संकल्प-विकल्प ये सब यथार्थ में अज्ञान ही हैं परन्तु तुम सम-शान्त आत्मा हो, अत: दु:खी मत होओ।

चौपाई— अरे न मानत यह मन बंदर। एहि तजि जाउँ अपुन मति कंदर॥
हे मन तोहिं मनावउँ कबलौं। तू चंचल मैं पाछें जबलौं॥

अरे-रे! यह मन रूपी बन्दर तो मान ही नहीं रहा है, अत: अब मैं इसका परित्याग करके अपनी बुद्धिरूपी गुफा में प्रवेश करता हूँ। हे मन! मैं तुम्हें कब तक मनाऊँ? तू तभी तक अति चंचल है, जब तक मैं तुम्हारे पीछे पड़ा हूँ।

मो साक्षी बिनु तू नहिं कर्ता। भोक्ता नाहिं नाहिं संघर्ता॥
अब मैं कर्ता होइ बतावउँ। नाक कान तव काटि दिखावउँ॥

मुझ साक्षी (चैतन्य) के बिना तुम न कर्ता हो, न भोक्ता और न किसी का संहार ही करने वाले हो। अब मैं स्वयं कर्ता होकर तुम्हें बताता हूँ और तुम्हारी नाक-कान काटकर तुम्हें दिखाता हूँ।

इंद्रिन्ह आश्रय बल दिखरावे। बहुरि तिन्हहिं बहु भाँति सतावे॥
अब मैं उन कहँ ज्ञान कराई। ब्रह्म बनाउँ भागु तैं जाई॥

मैं जानता हूँ कि तुम इन्द्रियों का आश्रय लेकर बल प्रदर्शन करते हो तथा उन्हें नाना प्रकार से दु:ख देते हो। अब तो मैं उन इन्द्रियों को ही ज्ञान कराकर ब्रह्म में परिणत कर दूँगा, जिससे तुम [आश्रयरहित हो सदा के लिए] भाग जाओगे।

हे इंद्रियगन मोहिं न चाहउ। मन कर काज काह निर्बाहउ॥
उदर न भर्‌यो जन्म बहु बीते। कहहु काह रीते के रीते॥

हे इन्द्रियो! मुझे न चाहकर तुम लोग मन का वह कौन-सा कार्य है जिसे पूर्ण कर रही हो? अनेक जन्म बीत चुके हैं, फिर भी पेट नहीं भरा! तुम लोग बताओ कि वह खाली का खाली क्यों रह गया?

दोहा— मन दरवाजो काह बनि अपुनो रूप गँवाय।
एहि बिसरावहु मोहिं गहि आवउ रूप लखाय॥८०॥

[हे इन्द्रियो!] तुम अपने स्वरूप (अस्तित्व) को खोकर मन का दरवाजा क्यों बनी हुई हो! अत: इस मन को भुलाकर आओ; मेरा आश्रय लो और अपने स्वरूप को प्राप्त कर लो।

चौपाई— बृथा कुमार्ग प्रबृत्ती तुम्हरी। तबहुँ न आत्मरूप ल्यो सुमरी॥
अंधपना जिमि कूप गिरावत। जनम जनम मन तिमि भरमावत॥

तुम्हारी व्यर्थ ही कुमार्ग में प्रवृत्ति हो गयी है फिर भी तुम आत्मरूप का स्मरण नहीं करती! जैसे अन्धापना अन्धे को कुएँ में गिराता रहता है उसी प्रकार मन का आश्रय तुम लोगों को जन्म-जन्म भटकाता रहता है।

पथिक पंथ बिषधर जिमि त्यागी। चलत सजग अपुनेहिं अनुरागी॥
त्यों तुम्हसों यह रखि निज दूरी। करत आस अपुनो सब पूरी॥

जिस प्रकार पथिक रास्ते के सर्प को त्यागकर अति सजगता से अपने-आप में स्थित रहते हुए आगे बढ़ते रहते हैं, उसी प्रकार तुम लोगों से यह अपने को दूर रखकर भी अपनी समस्त कामनाओं को सिद्ध करता रहता है।

पर अब तुम्हहिं बतावन चाहउँ। भ्रममय रूप तुम्हारो दाहउँ॥
आदर देउ न मन कपटी कौ। यह दससीस भेष तपसी कौ॥

परन्तु अब मैं तुम लोगों को बताना चाहता हूँ जिससे [निश्चित ही] तुम लोगों का भ्रममय स्वरूप नष्ट कर दूँगा। अत: अब कपटी मन को आदर-सम्मान मत दो, तपस्वी का वेश धारण किये हुए यह रावण ही है।

यह तौ अंध बीस लोचन सम। छल बल करत न वासे कछु कम॥
एहि सम यदि मरजाद मिटावहु। दारुन त्रास पाइ भव आवहु॥

यह मन बीस आँख वाले रावण के समान ही अन्धा है और छल-बल भी उससे थोड़ा भी कम नहीं करता। यदि [अब भी] इसके समान अपनी मर्यादा को मिटा देती हो तो भयंकर दु:ख पाकर संसार में आओगी ही आओगी।

दोहा— होवहु चेतन ब्रह्म तुम्ह मो सम ब्रह्महिं पाय।
पुनि तेहि रूप न लखि सकउ जो नित जड़हि लखाय॥८१॥

अत: तुम मेरे समान ही चैतन्य ब्रह्म को पाकर परम चैतन्य हो जाओ; फिर तुम [स्वयं ही] अपने उस स्वरूप का स्मरण नहीं कर सकोगी जो सदा जड़रूप ही दिखाई पड़ता है।

चौपाई— दृग दोउ बिनु मम दरसन पाये। कस कित देखहु सदा सुहाये॥
तुम्हरे आगे सच हरिराई। नाना रंग रूप प्रगटाई॥

हे नेत्रेन्द्रियो! तुम दोनों मेरे दर्शन के बिना इस प्रकार प्रतिपल-प्रतिक्षण कैसे और कहाँ सदा सुहावने रूप को देख रही हो, जबकि यथार्थ में तुम लोगों के सामने नाना प्रकार के रंग-रूप आकार-प्रकार धारण किये हुए ब्रह्म ही प्रकट है!

निर्गुन ब्रह्म सगुन बनि आयो। संतन्ह नैनन्हि बहुत लुभायो॥
हँसै रोय सोइ नाचै गावै। सोय जागि इत उत सोइ धावै॥

वही निर्गुण स्वरूप वाला ब्रह्म सगुण होकर आया हुआ है, जो सन्तों की आँखों को अत्यन्त प्रिय लगता है; वही हँस रहा है, रो रहा है, नाच रहा है, गा रहा है, सो रहा है, जाग रहा है तथा इधर-उधर दौड़ रहा है।

भलो बुरो जो कर्म लखावे। तांडव नृत्य समुझि नहिं आवे॥
दीखत भले रूप बहु धारे। पर नहिं एकउ सपन बिचारे॥

जो अच्छा और बुरा कर्म दिखाई दे रहा है, वह तो [भगवान शंकर के] ताण्डव नृत्य के समान है, जो समझ में नहीं आता; भले ही वह अनेक रूपों को धारण किया हुआ सा दिखाई पड़ता है, परन्तु स्वप्नवत् विचार करने पर एक भी नहीं दिखायी पड़ेगा।

बिस्वमोहिनी सम प्रभु थिरकत। साधक संत भगत मुनि निरखत॥
उपजति अति रुचि अपलक चितवत। किन्तु न देख स्वजन हित मितवत॥

सन्त, मुनि, भक्त एवं साधक तो स्पष्ट ही देख रहे हैं कि निर्गुण निराकार ब्रह्म ही विश्वमोहिनी के सदृश नृत्य कर रहा है; जिसका अपलक नेत्रों से दर्शन करने पर हृदय में अत्यन्त प्रीति प्रकट हो रही है, परन्तु हाँ, वे किसी भी रूप को अपना स्वजन, हित-मित्र नहीं मानते।

दोहा— उन्ह नैनन्ह सम लखहु तो नित्यानंद लखाय।
पाइ आपुनो रूप सत जन्म धन्य होइ जाय॥ ८२॥

अत: हे नेत्रेन्द्रियो! उन्हीं आँखों के समान देखो तो एकमात्र नित्यानन्द भगवान ही दिखाई पड़ेंगे; फिर तो अपना वास्तविक रूप प्राप्त करके तुम्हारा जन्म धन्य हो जायेगा।

चौपाई— दैत्यबंस प्रहलाद की अँखियाँ। बनि गइँ नित्य मधुर दुइ सखियाँ॥
जहँ तहँ निरखतिं ब्रह्म अनामय। समय पाइ प्रगटायँ दयामय॥

[अरी!] दैत्यवंश के महात्मा प्रह्लाद की आँखें, उनकी नित्य की दो प्रिय सहेलियाँ बन गयी थीं। वे सर्वत्र अनामय भगवान को देखती रहती थीं और समय पाकर दयामय प्रभु सच में ही प्रकट हो गये।

नेत्र तेइ कछु काल बिताये। देखत स्वयंहिं बहुतहिं भाये॥
हे दोउ श्रवन काह तुम्ह चाहत। सब्द ब्रह्म क्यों नहिं अवगाहत॥

कुछ काल के उपरान्त वे ही नेत्र स्वयं का दर्शन करते हुए अत्यन्त शोभित हुए। [उसी प्रकार] हे मेरे दोनों कान! तुम क्या चाहते हो, शब्दब्रह्म को क्यों नहीं पकड़ते!

ब्रह्म बाँसुरी प्रानि पदारथ। निसरत सदा सब्द परमारथ॥
मूढ़ मंदमति सुनत न काहे। सब्द रसहिं बिषयिन्ह सम चाहे॥

[अरे!] ये सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थ तो ब्रह्म की बाँसुरी हैं, जिनसे सदैव पारमार्थिक शब्द प्रकट होते हैं। हे अंधमति मूढ़ श्रवणेन्द्रिय! मेरी बात क्यों नहीं सुन रहे हो, [मैं देख रहा हूँ कि] तुम विषयी पुरुषों के समान ही शब्दरस का पान कर रहे हो।

ब्रह्म राग तुम्ह सूनन वारे। जीव राग सुनि जाहि बिसारे॥
मन की सरन तुम्हहिं क्यों भावे। ब्रह्म सुरति अबलौं बिखरावे॥

[अरे!] तुम तो ब्रह्मराग सुनने वाले हो जिसको जीवराग सुनकर त्याग दिया है। अरे! तुम्हें मन की शरणागति क्यों अच्छी लग रही है जिसने अब भी ब्रह्मस्मृति को बिखेर रखा है!

दोहा— बाह्य सब्द जो अंतरहि अंतर सोई बाह्य।
अनहद नाद कहाय सो मुनि जन सुनत अघाय॥ ८३॥

हे प्रिय! जो शब्द बाहर है वही भीतर है तथा जो भीतर है वही बाहर है; वह अनाहद नाद कहा जाता है, जिसे मुनिजन सुनकर तृप्त हुआ करते हैं।

चौपाई— अपनोइ सब्द सुनन के लाने। गह्वर गुफा जाइ मुनि ध्याने॥
तुम्ह हित सोइ कियों मैं ठाहर। अब न सुनउ तुम्ह बाहर बाहर॥

मुनिजन अपने ही शब्द को सुनने के लिए दुर्गम गुफा में जाकर ध्यान करते हैं। तुम्हारे लिए भी मैंने वही स्थान निर्धारित किया है, अत: अब तुम बाहर-बाहर की न सुनो।

सुनहु सांत सम हुइ मम बानी। रसना सों नहिं जाइ बखानी॥
तहुँ घ्राणेंद्रिय कहाँ भुलानी। निर्बिकार निज रूप न जानी॥

तुम सम शान्त होकर मेरी वाणी सुनो, जिह्वा द्वारा जिसका बखान नहीं किया जा सकता। हे घ्राणेन्द्रिय! तुम भी कहाँ भूल गयी हो, जो अपने निर्विकाररूप को नहीं जान पा रही हो!

दिब्य सुबास बसे तुव भीतर। पर तू कस भइ कूकर सूकर॥
करत राज मन तेरे ऊपर। साधक सिद्ध छुभित अति जापर॥

तुम्हारे भीतर तो दिव्य सुगन्धि का वास है, फिर तुम कुत्ते और सूअर जैसी कैसे हो गयी हो? तुम्हारे ऊपर उस मन का आधिपत्य है, जिसपर साधक और सिद्ध अत्यन्त कुपित हैं।

भल न होय अस जो तुम्ह करई। असमय महँ कोउ प्रलयहिं धरई॥
यासों परम गंध के लाने। धीरज धरहु न करहु बहाने॥

अत: तुम्हारे द्वारा इस प्रकार असमय में होने वाले अकारण प्रलय को स्वीकार करने से कोई कल्याण नहीं होगा। इसलिए परम गन्ध की प्राप्ति के लिए धैर्य धारण करो, बहाने मत बनाओ।

दोहा— दिब्य सुगंधित तेल अरु पुष्प जगत दिखराय।
तेरो माहिं अनंत गुन सदा सुगंध बसाय॥ ८४(क)॥

संसार में दिव्य-सुगन्धित तेल और पुष्पादि देखे जाते हैं जबकि तुम्हारे अन्दर स्थित अनन्त गुना सुगन्ध तुम्हें सदा ही सुगन्धि दे सकती है।

गंध बिगंध न रूप तव पुनि क्यों खोज सुबास।
परम सुगंध स्वरूप तू करइ काहि कर आस॥ ८४(ख)॥

तुम्हारा रूप तो सुगन्ध और दुर्गन्ध से परे है फिर तुम सुबास क्यों खोज रही हो? अरे! तुम तो परम सुबासरूप हो फिर किसकी आशा कर रही हो!

चौपाई— हे रसना मन की क्यों माने। का अपुनो रस तोहिं भुलाने॥
जेहि रस पान करत नित जोगी। कबहुँ न पायँ बिषय रस भोगी॥

हे जिह्वा! तुम मन की क्यों मानती हो? क्या अपना रस तुम्हें भूल गया है? जिस परमरस का पान नित्य ही योगीजन किया करते हैं, जिसे विषय रस का पान करने वाले [विषयी] कभी नहीं प्राप्त कर सकते।

बहुत दिना रस चाखत बीत्यो। बुधि बिबेक बल का सब रीत्यो॥
कै अस नहिं मन संग गयी तैं। बैरन मोरी काह भयी तैं॥

विषय रस का पान करते हुए बहुत दिन बीत जाने से क्या तुम्हारी बुद्धि, विवेक आदि की सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी है? आखिर तुम मेरी वैरन क्यों हो गयी हो, कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम भी मन के साथ हो गयी हो?

कैधों पंथ भुलानी ऐसी। मद्यपायिनी बिसरति जैसी॥
कैधों तोहिं हटकि मन राख्यो। तोरे निमित बिषय रस चाख्यो॥

कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम वैसे ही रास्ता भूल गयी हो, जैसे कोई मद्यपायिनी भूल जाती है। अथवा कहीं मन ने ही तुम्हें बलपूर्वक रोक रखा हो और तुम्हारे माध्यम से विषय रस का उपभोग करता हो।

कैधों अपुनेइ आपु रतानी। इत उत रस चाखसि मनमानी॥
कैधों हे रसना बिकलानी। का मो पै तू गयी रिसानी॥

अथवा कहीं तुम स्वयं ही अनुराग में होकर मनमाना इधर-उधर का रस चखने लगी हो। अथवा हे रसना! कहीं तुम व्याकुल होकर मुझसे क्षुब्ध तो नहीं हो गयी हो?

दोहा— तेरो रूप न रस बिरस इत उत काहे जाय।
समरस होइ चखु परम रस आपुन रूप लखाय॥ ८५॥

[अरे!] तू तो रस-विरस से रहित रूपवाली है, अत: इधर-उधर क्यों जाती है! तू समरस होकर परम रस का पान करो जिससे तुम्हे आत्मरूप दीख पड़े।

चौपाई— हे प्रिय काम कहाँ अब भाग्यो। इंद्रियँ को जासों अनुराग्यो॥
आत्मरूप भइ इंद्रियँ सारी। अब न लेउ कछु मोरि बिगारी॥

हे प्रिय काम! तुम कहाँ भाग गये? अब जब समस्त इन्द्रियाँ आत्मरूप हो गयी हैं तो वह कौन-सी इन्द्रिय है जिससे तुम्हारा प्रेम है। अत: अब तुम मेरी कोई क्षति नहीं कर सकते।

रह्यो न नारि रूप कोउ भाई। जासों प्रेम करउ हरषाई॥
अब तोकों मैं एक ठिकानौ। आपुहिं नित आतममय जानौ॥

हे भाई! अब तो [मेरी दृष्टि में] कोई नारीरूप नहीं रहा, जिससे तुम हर्षित हो प्रेम करो। अब तुम्हारा मैं ही एक

ठिकाना हूँ, अत: अपने को सदा के लिए आत्मरूप जान लो।

कोउ नहिं बात बैर कर मोसों। पर क्यों बैर करउ अपुनों सों॥
आत्मानंद परम सुख अपनो। छाँड़ि जाय कहँ सुख नहिं सपनो॥

तुम मुझसे वैर करते हो तो चलो कोई बात नहीं, किन्तु अपने-आप से क्यों क्रुद्ध होते हो! अपने स्वाभाविक आत्मानन्दरूपी परम सुख को छोड़कर तुम अन्यत्र कहाँ जाते हो, वहाँ तो स्वप्न में भी सुख नहीं है!

एकबार निज आतम जानी। मोरि मानु तजि सब मनमानी॥
तउ कछु नाहिं मिले सुख तोहीं। तौ तजु जारपुरुष बनि मोहीं॥

एक बार स्वयं को आत्मा जानते हुए मनमानी छोड़कर मेरे अनुसार चलो और उसके बाद भी यदि तुमको कुछ सुख न मिले तो व्यभिचारी बनकर मेरा त्याग कर देना।

दोहा— अहो मानि गयो काम तू अब मन तेरो मीत।
ताको पकरउँ प्रबल बल पुनि न सकइ सो जीत॥ ८६॥

अहो! हे काम! [सच में] तुम मेरा कहना मान गये! अत: अब मैं तुम्हारे परम मित्र मन को अपार शक्ति से वश में कर लेता हूँ, जिससे वह पुन: विजयी नहीं हो सकता।

चौपाई— मन अबलौं मम काज नसायो। जनम जनम लगि मोहिं नचायो॥
सब इंद्रिनि सों साँठ गाँठ करि। भोग्यो बिषयन्हि बहुत जन्म भरि॥

हे मन! तूने अब तक मेरा काम बिगाड़ा और जन्म-जन्मान्तरों तक भ्रमित किया तथा समस्त इन्द्रियों से साँठ-गाँठ कर अनेक जन्मों से विषयों को भोगता रहा।

मैं निर्गुन तुव चाल न जान्यों। मोसों बैर कियो नहिं मान्यों॥
गुरुवर मरम बताये जबहीं। आतमरूप गह्यों मैं तबहीं॥

मैं निर्गुण निराकार तुम्हारी चाल को नहीं जान सका और तुमने मुझसे वैर धारण कर रखा है- ऐसा नहीं माना। किन्तु जब यह रहस्य गुरुदेव ने प्रकट किया तब अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुआ।

अब सब तोरि जानि चतुराई। उर आन्यों मैं अति निठुराई॥
होय न कुलिस सरिस हिय जबलौं। पाउँ न ब्रह्म समागम तबलौं॥

अब मैंने तुम्हारी समस्त चतुराई को जानकर हृदय में अत्यन्त निष्ठुरता धारण कर ली है। [मैं भलीभाँति समझ गया हूँ कि] जब तक हृदय वज्र के समान नहीं हो जाता, तब तक ब्रह्म के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इंद्रिनि सँग मिलि निदर्‌यो मोहीं। बिषय अनल जरि मरि गयों योहीं॥

अब तक तुमने इन्द्रियों के संग मिलकर मेरा निरादर किया और मैं विषयरूपी अग्नि में जलकर व्यर्थ ही मरता रहा-

दोहा— अब उपहास न करि सके जान्यों जड़ता तोरि।
कबहुँ न मोमें दृस्य जग अस चेतनता मोरि॥ ८७॥

किन्तु अब तुम मेरा उपहास नहीं कर सकते क्योंकि मैं तुम्हारी जड़ता को [भली प्रकार] जान गया हूँ। मेरी ऐसी विलक्षण चेतनता है कि मुझमें कभी भी इस दृश्यादि जगत की स्थिति नहीं है।

चौपाई— नस्वर जगदायी गयो संसय। भाग्यो हे मन कुटिल महाभय॥
सरद पूर्णिमा कहँ नभ माहीं। निसि कलंक हनि चंद्र सुहाहीं॥

हे महाभय दायक कुटिल मन! अब नश्वर जगत की अनुभूति कराने वाला मेरा सम्पूर्ण संशय (अज्ञान) चला गया है। जिस प्रकार शरद पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश के आँगन में अन्धकाररूपी कलंक को मारकर सुशोभित होता है-

त्यों निज उर अज्ञान कलंका। तजि भयों ब्रह्म कहउँ हनि डंका॥
परमानंद लह्यों सुख राजू। मन तेरो कुल दाहउँ आजू॥

उसी प्रकार डंके की चोट पर कहता हूँ कि मैं अपने हृदय के अज्ञानरूपी कलंक को त्यागकर ब्रह्मरूप हो गया हूँ और मैंने परमानन्दरूपी राज्य को सुखपूर्वक प्राप्त कर लिया है। अत: हे मन! मैं आज ही तुझे सम्पूर्ण कुल-परिवार सहित जला डालूँगा।

अबलौं ढीठ पीठि तम बैठ्यो। मोह छत्र छाया महँ ऐंठ्यो॥
काम चवँर जहँ डोलत राजत। मायिक सभा माहिं बहु गाजत॥

हे ढीठ मन! अब तक तुम अज्ञानरूपी सिंहासन पर बैठे हुए थे तथा मोहरूपी छत्र की छाया में [अहंकार से] ऐंठ रहे थे; जहाँ कामरूपी चँवर डोल रहा था और तुम मायारूपी सभा में अत्यन्त [गर्वित हो] गर्जना करते हुए शोभा पा रहे थे।

ज्ञान सलिल उर जान न देतो। संसय बाँध बाँधि गहि लेतो॥
अबलौं देख्यों तोरि ढिठाई। भागि सकइ कहँ मोतें भाई॥

ज्ञानरूपी जल को हृदय में जाने ही नहीं देते थे बल्कि संशयरूपी बाँध बाँधकर उसे रोक लेते थे। इस प्रकार अब तक तुम्हारी ढिठाई को देखता रहा किन्तु हे प्रिय! अब तुम मुझसे भागकर कहाँ जाओगे?

दोहा— गर्जत तर्जत अपुन महँ सुन्यो न कबहूँ मोरि।
अब सरबस हरि लेउँ मैं खंड मुंड करुँ तोरि॥ ८८॥

तुम अपने-आप में गर्जते-तर्जते हुए मेरी बात कभी भी नहीं सुनते थे, अत: अब मैं तुम्हारा सर्वस्व हरण करके तुम्हारे मस्तिष्क को छिन्न-भिन्न कर दूँगा।

चौपाई— तोरि पहुँच नहिं कबहूँ मोमें। हे जड़ महूँ न आयों तोमें॥
पुनि तू कैसो कित सों आयो। सच महँ मोहिं न कछु भरमायो॥

हे जड़ मन! तुम्हारी पहुँच मुझमें कभी नहीं हो सकती तथा मैं भी तुझमें कभी नहीं रहा; फिर तुम किस प्रकार और कहाँ से आये हो? जबकि यथार्थ में तुमने मुझे कभी भ्रमित किया ही नहीं है।

तउ अबलौं जनु गयों भुलानो। कियो याहि तन ते मनमानो॥
अब बरु होय सर्ग बिपरीता। प्रलय पवन बह कै जग रीता॥

तो भी अब तक मानो मैं भूल ही गया था और तूने इस तन के साथ पर्याप्त मनमानी की। अब भले ही सृष्टि विपरीत हो जाय या प्रलयकालीन पवन बहने लगे अथवा जगत शून्य हो जाय-

होय सौम्य कै बिषम देस सब। मेरो इनसों रहित भेष अब॥
जिमि मुठि महँ नभ बाँधि न जावे। तिमि मोहिं आसा बाँधि न पावे॥

तथा सम्पूर्ण राष्ट्र सम अथवा विषम हो जाय, किन्तु अब मेरा स्वरूप इनसे सर्वथा पृथक् है। जिस प्रकार कोई आकाश को मुट्ठी में नहीं बाँध सकता, उसी प्रकार अब मुझे आशाएँ नहीं बाँध सकतीं।

मायायुक्त न मायाहीना। मैं नहिं नृपति न मैं कोउ दीना॥
मोमें भेद अभेद न दोऊ। अरु नहिं दोष अदोषहु कोऊ॥

[अरे!] मैं तो न माया से युक्त हूँ, न माया से रहित, न मैं कोई राजा हूँ, न रंक, मुझमें न भेद है, न अभेद है और न ही कोई सदोषता अथवा निर्दोषता ही है।

दोहा— कोउ न मेरो मातु पितु कर्ता धर्ता आपु।
संघर्ता पुनि आपुहीं करुँ कासों कस दापु॥ ८९॥

अरे! मेरा तो कोई माता-पिता है ही नहीं, मैं तो स्वयं कर्ता-धर्ता हूँ तथा स्वयं संहर्ता भी हूँ, अत: किससे कैसा अहंकार करूँ।

चौपाई— तरु सुमनहिं सुगंध जिमि त्यागी। बैठत नभ जनु परम बिरागी॥
तस तन रहि तनसोंहु अतीतो। हौं सर्बत्र तु अब मन रीतो॥

जिस प्रकार पेड़ पर खिले हुए पुष्प को छोड़कर सुगन्ध मानो परम वैराग्यवान होकर आकाश में बैठ जाय, उसी प्रकार शरीर में रहते हुए भी मैं शरीर से अतीत होकर सर्वत्र स्थित हो गया हूँ। अत: हे मन! अब तुम्हारा कुछ

अस्तित्व नहीं है।

जस कोउ नृपति मूढ़ कै ज्ञानी। अपुने राज्य रहत सुख मानी॥
तस तजि हर्ष बिषादहि आसा। बिचरउँ करि अपुनें महँ बासा॥

[हे मन!] जिस प्रकार कोई ज्ञानी अथवा अज्ञानी राजा अपने राज्य में अत्यन्त सुखपूर्वक विचरण करता है, उसी प्रकार मैं हर्ष-विषाद की आशा को त्याग अपने-आप में स्थित होकर [सुखपूर्वक] विचरण कर रहा हूँ।

आत्मा मान्यों देहइ अबलौं। नातरु तजतौं तोकों कबलौं॥
अब जब जगत ब्रह्ममय देखउँ। तोहिं काह गिनती महँ लेखउँ॥

अब तक मैं देह को ही आत्मा समझता रहा अन्यथा तुम्हें कभी का त्याग दिया होता, अब जब मैं जगत को ब्रह्ममय देख रहा हूँ तो तुम्हें किस गिनती में रखूँ?

मैं भयों उदित सदा के लाने। तेरो पाउँ न कहूँ ठिकाने॥
मिल्यो परम पुरुषारथ मेरो। हे मन रूप छिप्यो कहँ तेरो॥

अब मैं सदा के लिए प्रकट हो गया हूँ एवं मुझे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो गयी है; अत: तुम्हारा ठिकाना [खोजने से भी] कहीं नहीं पा रहा हूँ। हे मन! तुम्हारा रूप कहाँ छिप गया है?

दोहा— अहो आज ऐसो भयो कहुँ नहिं जगत लखाय।
हुतों जाहि रुप तस भयों अब कछु कह्यो न जाय॥ ९० (क)॥

अहो! आज ऐसा हो गया है कि संसार कहीं दिखायी नहीं पड़ता। मैं जैसा था, वैसा हो गया। अत: अब कुछ कहा नहीं जाता।

जिमि नभ परम सु सांत नभ माहिं करत बिश्राम।
परम सांत सम होइ तिमि निज महँ लियों बिराम॥ ९० (ख)॥

अहो! जिस प्रकार आकाश, परम शान्त आकाश में विश्राम करता है, उसी प्रकार मैं अपने परमशान्त स्वरूप में स्थित होकर परम आनन्दमय हो गया हूँ।

चौपाई— क्वासि क्वासि क्वासी जग सारे। अहो सोक भ्रम कहँ गये भारे॥
हुते बिसिख सम जो दुखदाई। जिन्हकी मार सही नहिं जाई॥

अहो! कहाँ हैं? कहाँ हैं; वे सब जगत कहाँ हैं और जो शोक-भ्रम आदि के समूह थे, जो बाणों के समान अत्यन्त चोट करने वाले थे तथा जिनकी मार सही नहीं जाती थी, वे कहाँ चले गये?

हुते स्वजन माला उरगावलि। अहो भये सच अब ब्रह्मावलि॥
काम क्रोधादि हुते पंचानन। गये तेउ हर्षित बिभु कानन॥

उसी प्रकार जो सगे-सम्बन्धी फूलों की माला से सर्पों की माला बन गये थे, अब वे ही यथार्थ में ब्रह्म की माला बन गये हैं और जो काम, क्रोध, लोभरूपी सिंह थे, वे भी अत्यन्त हर्षित होकर ब्रह्मरूपी जंगल में चले गये।

आसन असन बसन अति बिषवत। हुते जे भये आज सब बिभुवत॥
हुतो बियोग समान हुतासन। भयो सुसीतल सम मुदितासन॥

जो आसन, अशन, वसन भयंकर विष के समान [प्रभाव छोड़ रहे] थे, वे सभी आज ब्रह्म के समान हो गये हैं तथा जो वियोग अग्नि के समान था, वही अब अत्यन्त शीतल एवं परम प्रसन्नतारूपी आसन के समान हो गया है।

हुतो भयो तन बज्र पिंजरो। बसत रह्यो जहँ काम कंजरो॥
सो भयो नित्यानंद बसेरो। कहँ गयो मन अरु मेरो तेरो॥

उसी प्रकार जो शरीर वज्र का पिंजड़ा हो गया था, जिसमें कामरूपी चोर वास कर रहा था, वही शरीर अब नित्यानन्द का बसेरा हो गया है; पता नहीं मेरा-तेरा कहाँ चला गया तथा वह [मेरा-तेरा करने वाला] मन भी कहाँ चला गया!

दोहा— हे मन हृदय हरषि अति आतुर बिषयन्हिं ओर।
चलत हुतो अब का भयो कहाँ गयो तुव जोर॥ ९१॥

हे मन! तुम बड़ी तेजी के साथ प्रसन्नतापूर्वक अति वेग से विषयों की ओर दौड़ पड़ते थे, किन्तु अब क्या हो गया, तुम्हारा वह बल कहाँ चला गया?

चौपाई— संग पाइ मो चेतन पल छिन। बिलस्यो बिषय बिलासनि निसदिन॥
जद्यपि तू जड़ अहइ सदाई। जाने बिना भयो दुखदाई॥

[अरे!] तुम प्रतिपल मुझ चेतन का संसर्ग पाकर विषय वासनाओं में रात-दिन आसक्त हो गये थे, जबकि तुम [स्वभावतः] सदा से जड़ हो किन्तु इस बात को न जानने के कारण ही [अत्यन्त] दुःख देने वाले हो गये थे।

आछौ चेतन रूप बिगार्‌यो। जन्म अमोलक ऐसेइ हार्‌यो॥
तू कामी अति कृपन कुदरसन। आपें आपु करत अति भरसन॥

तुमने अपना अच्छा-भला चैतन्य स्वरूप बिगाड़ लिया और अमूल्य जन्म को ऐसे ही हार गये। तुम [निश्चित ही] अति कामी, कृपण और अपवित्र दर्शन वाले हो जिसकी स्वयं ही घोर भर्त्सना भी करते हो।

नृत्य करे कस पाथर मूरति। पाय बिना सच चेतन सूरति॥
तस तू जीवन धरनो चाहे। तौ सरनागत धरम निबाहे॥

[अरे!] पत्थर की मूर्ति चैतन्य स्मृति को पाये बिना यथार्थ में नृत्य कैसे कर सकती है, उसी प्रकार यदि तुम जीवन धारण करना चाहते हो तो [मेरी शरण में आ जाओ और] प्रतिज्ञापूर्वक शरणागत-धर्म का निर्वहन करो।

तैं न करे कस यो समुझाऊँ। तेरो रूप देइ हरषाऊँ॥
गहि जेहिं सक्ति करै कुछ कोई। कहइ भगति पथ कीन्हेउँ सोई॥

[यदि तुम कहते हो कि मैं ऐसा नहीं कर सकता तो] तुम ऐसा कैसे नहीं कर सकते हो- यह समझाते हुए तुम्हारे स्वरूप को देकर प्रसन्न हो जाऊँगा। [अब तुम यह स्पष्ट समझ लो कि] जिसकी शक्ति से कार्य किया जाता है, भक्तिपथ में यथार्थ में उसी के द्वारा किया हुआ भी कहा जाता है।

दोहा— नर कोउ खंग चलाइ ज्यों देत अन्य नर मारि।
कह्यो जाय मार्‌यो पुरुष नाहिं हन्यो तरवारि॥ ९२॥

जिस प्रकार कोई पुरुष तलवार चलाकर दूसरे पुरुष को मार देता है, तो कहा जाता है कि पुरुष ने ही मारा है, तलवार ने हत्या की है, ऐसा नहीं कहा जाता।

चौपाई— पकरि दँराती से कछु काटत। नहिं ता कहँ सब पुरुषहिं डाँटत॥
पात्र पकरि कोउ करि जल पाना। पुरुष पियत सब कहत सयाना॥

[अथवा] जिस प्रकार कोई दराँती को पकड़कर उससे कुछ काटता है तो सभी पुरुष को ही डाँटते हैं न कि उस दराँती को। वैसे ही यदि कोई पात्र से जल पीये तो सभी बुद्धिमान यही कहते हैं कि पुरुष ही पी रहा है न कि पात्र।

तू तस जड़ स्वभाव से भाई। आतम सँग भयो त्रिभुवन राई॥
सपने जीव धर्‌यो ज्यों धरना। भोक्ता भोग्य करण उपकरना॥

हे मन! उसी प्रकार तुम भी स्वभाव से ही जड़ हो परन्तु चेतन आत्मा के संसर्ग से त्रिभुवन के स्वामी बने हुए हो। जैसे कि स्वप्न में जीव ही भोक्ता, भोग्य तथा [अन्यान्य] करण-उपकरण को [अपनी] धारणाशक्ति से धारण किये रहता है।

यासों तत्व रहित तू मूढ़ा। पुनि कस कह मैं तत्व निगूढ़ा॥
इंद्रजालि की रचना जोई। त्रैकालहुँ महँ सच नहिं कोई॥

इसलिए तुम तत्त्वरहित मूढ़ हो; अतः कैसे कहते हो कि मैं गूढ़तम तत्त्व हूँ! जिस प्रकार किसी इन्द्रजाल की रचना करने वाले (जादूगर) की समस्त रचनाओं में तीनों कालों में कोई सत्य नहीं होता,

तस तू सत्ताहीन कहावे। कबहुँ कतहुँ नहिं आवे जावे॥
रबि आवत तम ज्यों नहिं पावे। गहत सुचिंतन तू तस जावे॥

उसी प्रकार तुम भी सत्ताहीन कहे जाते हो और कभी किसी प्रकार न कहीं आते हो, न जाते हो। जिस प्रकार सूर्य के आते ही अंधकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार आत्मचिन्तन धारण करते ही तुम्हारा भी नाश हो जाता है।

दोहा— मोमें तोमें भेद कस यदि तू चिन्मय रूप।
सर्बरूप पुनि रोय कस तेरो का गयो छूप॥ ९३ ॥

यदि तुम चिन्मयरूप हो तो तुझमें और मुझमें भेद कैसा! फिर सर्वरूप होकर भी तुम क्यों रो रहे हो, तुम्हारा क्या खो गया है!

चौपाई— ब्रह्मरूप त्रैलोक सदाई। पुनि स्वयंहिं का समुझे भाई॥
आत्मा बिनु सरीर के भाई। पुनि कासों तू करत सगाई॥

[सम्पूर्ण] त्रिलोकी तो ब्रह्मरूप ही है, फिर तुम अपने को क्या समझ रखे हो? हे भाई! आत्मा तो बिना शरीर का ही है फिर तुम किससे सम्बन्ध रख रहे हो?

पुनि मैं बाल युवा अरु बृद्धा। होय मरउँ कस कह अबिरुद्धा॥
पुनि किहिं पुत्र पिता अवराधे। स्वजन हीत मित का तुव साधे॥

पुनः मैं बालक युवा और वृद्ध होकर मर जाता हूँ- अबाधरूप से ऐसा कैसे कह रहे हो, फिर तुम किस पिता-पुत्र का ध्यान कर रहे हो, स्वजन हित-मित्र तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध कर देंगे!

आत्मा बिनु तन के जब जान्यो। असत देह जनमें कस मान्यो॥
ससक शृंग सों को कस मारे। बँध्यासुत कस गाँव उजारे॥

जब तुमने आत्मा को बिना शरीर का जान लिया तब तुम इन असत् शरीरों को जन्मा हुआ कैसे मानते हो! भला खरगोश की सींग से कोई किसी को कैसे मार सकता है और बंध्या स्त्री का पुत्र कैसे गाँव उजाड़ सकता है!

कालबली कस तोको खावे। तहुँ तन बिनु काहे भरमावे॥
तन बिनु चेतै मृत्यु न जाको। केतिक जनम भयो रे काको॥

महाबली काल तुम्हें कैसे खा सकता है; क्योंकि तुम भी तो देहातीत ही हो, अतः क्यों भ्रमित होते हो! जिसकी मृत्यु नहीं होती और जो शरीर के बिना ही चेत रहा है तो फिर किसके-कितने जन्म हुए!

दोहा— दृस्य रहित परब्रह्म इक जगतरूप दिखराय।
तब कह मैं तू अन्यहू कैसे प्रगट लखाय॥ ९४(क)॥

अतः दृश्य से रहित एकमात्र ब्रह्म जब जगतरूप में दीख रहा है तो तुम्हीं बताओ कि यह मैं हूँ, यह तू है और वह अन्य है- यह प्रकट होकर कैसे देखने में आ सकता है?

ब्रह्म अनादि अरूप जो अब्यवहित अबिसेस।
वामें कस कोउ कल्पना नहिं अज बिष्णु महेस॥ ९४(ख)॥

जो ब्रह्म आदिरहित, निराकार, व्यवधानरहित (सर्वत्र समानरूप से) तथा बिना किसी भेद के सर्वत्र व्याप्त है, उसमें कोई कल्पना कैसे हो सकती है? [यहाँ तक कि] उसमें कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं हैं।

चौपाई— पुनि कस भेद करे रे मूरख। काह न अपुनो साक्षि रूप लख॥
मन सों ब्रह्म दीख श्रुति भाषे। यदि ऐसो अपनो मत राखे॥

फिर हे मूर्ख! तुम भेद क्यों कर रहे हो, किस कारण अपने साक्षी रूप को स्मरण नहीं कर रहे हो? श्रुति कहती है कि मन से ही ब्रह्म दिखायी पड़ता है, यदि तुमने भी अपना ऐसा मत मान रखा है-

मनहिं करण बिभु पानै माहीं। यह श्रुति मति मूढ़नि कहँ आहीं॥
तैं कल्पित अवलम्ब बिहीना। अस्पंदन सक्तिहु सों हीना॥

कि ब्रह्मप्राप्ति में मन करण का काम करता है तो यह जान लो कि वेदों में वर्णित यह सिद्धान्त एकमात्र अज्ञानियों के लिए है। तुम तो आधारहीन एवं कल्पित हो तथा स्पंदनशक्ति से भी हीन हो।

असत रूप जड़ तू नहिं कोऊ। पुनि चेष्टा तोमें कस होऊ॥
कर्ता समुझि ब्यर्थ दुख भोगत। रोग लगे तन तू कस रोगत॥

तुम असत्‌रूप एवं जड़ हो और कुछ नहीं हो, फिर तुममें चेष्टा कैसे होगी? तुम तो अपने को कर्ता समझकर व्यर्थ ही दु:ख भोग रहे हो! [अरे!] जब शरीर में रोग लग जाता है तो तुम्हें कैसे रोग हो जाता है!

सठ पामर सम प्रकृतिहिं माहीं। अपर हेतु दुख भोगत काहीं॥
सोहत नाहिं तोहिं अस करनो। इहाँ कतहुँ नहिं जीनो मरनो॥

अरे शठ! पामरों के समान प्रकृति के अन्तर्गत दूसरों के लिए क्लेश क्यों भोग रहे हो! ऐसा करना तुझे शोभा नहीं देता, क्योंकि यहाँ तो कहीं मरना-जीना हो ही नहीं रहा है।

दोहा— तोरि प्रबृत्ती ब्रह्म हित कहहु तो अस नहिं होय।
नित्य तृप्त इच्छारहित जानत जेहि सब कोय॥ ९५॥

यदि तुम कहते हो कि तुम्हारी प्रवृत्ति एकमात्र ब्रह्म के लिए है, तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह तो नित्य तृप्त है तथा उसमें कोई इच्छा ही नहीं है- ऐसा सभी जानते हैं।

चौपाई— होय अन्य तौ देख्यो जावे। अपर होय तौ कोउ मुनि पावे॥
जब न अन्य तो काह लखावे। अपर नाहिं तौ काको पावे॥

अरे! कोई अन्य हो तो उसको देखा भी जाय तथा अन्य हो तो उसे कोई सन्त प्राप्त भी करे! परन्तु जब कोई दूसरा है ही नहीं तो क्या दिखायी दे, किसे प्राप्त किया जाय?

जबलौं रबि नभ प्रगट न भाई। तबलौं तम घन कर अहमाई॥
त्यों जबलौं बिभु प्रगट न होवे। तू मन तबलौं गावे रोवे॥

हे प्रिय! जब तक आकाश में सूर्य प्रकट नहीं हुआ रहता है, तभी तक घनीभूत अंधकार को अहंकार रहता है, उसी प्रकार जब तक ब्रह्म का प्राकट्य नहीं हो जाता, तब तक ही हे मन! तू रोता-गाता है।

अब मैं ब्रह्म अनामय आयों। मन बुधि चित कछु कतहुँ न पायों॥
तू नहिं प्रथम हुते नहिं हैगो। नहिं भविष्य महँ तू इठलैगो॥

अब मैं अनामय ब्रह्म प्रकट हो गया हूँ और मन, बुद्धि, चित्त को कहीं नहीं पा रहा हूँ। हे मन! तुम न पहले ही थे, न अभी हो और न भविष्य में ही ऐंठ दिखाओगे।

रहतो तो कहतों बेताला। आयों मैं तेरो अब काला॥
सठ रन कर मोसों हरषाई। तू करतो जब अति कदराई॥

हे बेताल मन! यदि तुम रहते तो मैं कहता कि अब मैं तुम्हारा काल [बनकर] आ गया हूँ, अत: हे शठ! मुझसे प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करो और जब तुम अत्यन्त कायरता दिखाते-

दोहा— ब्रह्म अस्त्र संकल्प सों ऐसो हनतों तोय।
ज्यों सिव मारे मन्मथहिं पुनि न ब्यापतो कोय॥ ९६॥

तो मैं तुम्हें ब्रह्मास्त्ररूपी संकल्प द्वारा ऐसे मारता जैसे भगवान शंकर ने कामदेव को मारा था फिर तुम किसी के चित्त में व्याप्त नहीं होते।

चौपाई— यहु कहतों तू आ लख मोहीं। हे निर्लज्ज लाज नहिं तोहीं॥
होय लाज तौ तजि सठताई। तृष्णा डाकिन तिय सँग भाई॥

तथा यह भी कहता कि आकर मुझे देखो तो! अरे निर्लज्ज! क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती और हे भाई! यदि तुममें लज्जा है तो अपनी दुष्टता का त्याग कर अपनी स्त्री तृष्णारूपी चुड़ैल (प्रेतनी) के साथ-साथ-

काम क्रोधादिक सेवक टेरी। तजु गृह मेरो करु नहिं देरी॥
कहुँ कासों अरु केहि परचारउँ। को अस सुभटहु जाहि पछारउँ॥

[अपने] काम, क्रोधादि सेवकों को बुला लो और शीघ्र ही मेरे [शरीररूपी] घर का त्यागकर चले जाओ। परन्तु मैं किससे कहूँ और किसे ललकारूँ तथा ऐसा कौन बलवान योद्धा है, जिसे पराजित करूँ?

अहो बिबेक मंत्र उर आवत। जनु भाग्यो मन हाहा खावत॥
अहो एक कौतुक जग ऐसो। कह्यो न जाय होय सच जैसो॥

अहो! विवेकरूपी मंत्र के हृदय में आते ही मानो मन हा-हा खाकर (गिड़गिड़ाते हुए) भाग गया। अहो! जगत में एक ऐसा कौतुक है कि यह जैसा है, वैसा यथार्थ में कहने में नहीं आ रहा है।

अति जड़ छन भंगुर मन जोई। ताके बस नाचत सब कोई॥
रे सठ जो गुरु सास्त्र न मानहिं। अधम सरीरहिं आतम जानहिं॥

[वह यह कि] जो अत्यन्त जड़ एवं क्षण-भंगुर मन है, उसके वश में होकर सभी नाच रहे हैं। हे शठ मन! जो गुरु एवं शास्त्र को नहीं मानते तथा अधम शरीर को ही आत्मा जानते हैं-

दोहा— ते प्रानी सब मृतक सम उनहिं नित्य तू मार।
यामें कस पौरुष प्रबल कस कौतुकहु अपार॥ ९७ (क)॥

वे सभी प्राणी मृतक के समान हैं तथा उन्हीं को तुम सदा दु:ख देते रहते हो। ऐसा करने में कैसा प्रबल पराक्रम, कैसी आपार सामर्थ्य तथा कैसा आश्चर्य है?

सोरठा— मोहिं अद्वितिय आत्म सम्मुख यदि तू आय जू।
तौ तू सच परमात्म जग न होय कहुँ तोहिं सम॥ ९७ (ख)॥

यदि तुम मुझ अद्वितीय आत्मा के सम्मुख आ जाते हो तो यथार्थ में तुम्हीं परमात्मा हो और जगत में तुम्हारे समान कोई [भी शक्तिमान] नहीं है।

चौपाई— मैं सत चेतन आनँद रासी। पूरन ब्रह्म अकल अबिनासी॥
सोइ दउँ आज उपाधी तोहीं। सकइ बीर पहिचानि जो मोहीं॥

मैं सत्, चैतन्य, आनन्द की राशि तथा पूर्णब्रह्म एवं कलारहित-अविनाशी हूँ, हे वीर! यदि मुझे पहचान लो तो वही उपाधि तुम्हें भी प्रदान कर दूँगा।

जौं परतीति होय उर माहीं। तौ अब मोसें कछु न लजाहीं॥
सम्मुख आइ रह्यो नहिं मोहीं। जान्यों मैं अति दुर्मुख तोहीं॥

यदि तुम्हारे हृदय में [मेरे वचनों पर] विश्वास हो रहा हो तो अब मुझसे तनिक भी लज्जा न करो। अहो! तुम अभी भी मेरे सम्मुख नहीं आ रहे हो, अत: अब मैं जान गया कि तुम अत्यन्त कुरूप हो।

अब न आय तू मम उर पाहीं। नतरु प्रलय करतौं छिन माहीं॥
तेरो जग जो दीखत अति बल। करतौं उलटि खंड सत एहि पल॥

अब तुम मेरे हृदय में नहीं आ रहे हो अन्यथा तुम्हारा पल भर में प्रलय कर देता। यदि तुम्हारा कोई अत्यन्त सामर्थ्यवान जगत दिखायी पड़ता तो उस धरा (जगत) के इसी क्षण सौ टुकड़े कर देता।

कागद सरिस फारि नभ तेरो। रबि ससि नखत निगलतौं ढेरो॥
रे कित आ अंजलि पुट बाँधी। प्रान लेइ करुँ जगत अबाधी॥

तुम्हारे आकाश को कागज की भाँति फाड़ देता और [तुम्हारे जगत के] सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सभी को निगल जाता। अरे! कहाँ चले गये? आओ तो! [जिससे] मैं अपनी दोनों हथेलियों के बीच दबाकर तुम्हारे प्राण ले लूँ और जगत को बाधारहित कर दूँ।

दोहा— प्रलय नाम बिख्यात मम प्रिय अहार तू होय।
सूनो गृह रावन सरिस हरत सुमति सिय जोय॥ ९८॥

अरे शठ मन! जगत में मेरे विख्यात नामों में एक नाम प्रलय भी है तथा तुम मेरे प्रिय आहार हो। तुम रावण की भाँति शरीररूपी सूने भवन में प्रवेश करके सुमतिरूपी सीता का हरण कर लेते हो।

चौपाई— ओ रे ढीठ बिरूप चपल मन। कहुँ नहिं तेरो दीख प्रबल तन॥
कहउँ आज जो सुनु सो मेरो। होय कतहुँ यदि कोउ तन तेरो॥

अरे! ओ ढीठ, कुरूप और चंचल मन! [अब] कहीं भी तुम्हारा अत्यन्त सामर्थ्यशाली स्वरूप दिखायी नहीं

पड़ रहा है। आज मैं जो कह रहा हूँ, तुम उसे प्रेम-पूर्वक सुन लो कि यदि तुम्हारा कहीं कोई स्वरूप हो तो-

तेहि सँग मम पायन परि जावे। पतित उधारन मोहिं लखि आवे॥
लहहु परम पद सरनहिं आई। महिमा जासु संत सुर गाई॥

उसके साथ मेरे चरणों में पड़कर मुझे पतितपावन श्रीहरि जान शरणागत हो जाओ और परमपद प्राप्त कर लो जिसकी महिमा देवता, सिद्ध तथा वेद भी गाया करते हैं।

अहो न कोउ मन आये कैसे। सो लखाय निज छाया जैसे॥
निज प्रतिबिम्बहिं देखि डेरायों। अपुने आपें मैं भरमायों॥

अहो! जब कोई मन है ही नहीं तो आये कैसे! वह तो अपने प्रतिबिम्ब के समान ही दीख रहा है। [निश्चित ही] मैं अपनी छाया को देख कर ही डर गया था और अपने-आप से ही भ्रमित हो गया था।

महामुनी नारद सनकादी। लखहिं ब्रह्म अज बिरज अनादी॥
जाकर ॐ नाम सब सुमिरत। अतिहिं सहज भवसिंधुहिं उतरत॥

[अरे!] जिस ब्रह्म को देवर्षि नारद तथा सनकादि महामुनि भलीभाँति निर्णय करके मायारहित और अजन्मा कहते हैं एवं जिसके ॐ नाम का स्मरण करके अत्यन्त सहजता से सभी भवसागर पार कर जाते हैं-

दोहा— अबिगत सोइ गोतीत मैं अंतरजामी नाथ।
अपुनें सों आपुहिं निरखि अब अति भयों सनाथ॥ ९९ ॥

मैं वही अविगत, इन्द्रियातीत, अन्तर्यामी एवं सबका स्वामी हूँ तथा अब स्वयं से ही स्वयं को देखकर सर्वथा सनाथ हो गया हूँ।

चौपाई— अहो खेद यह कैसी माया। पकरि हुती कस मोहिं अमाया॥
जाकर रूप न अबलौं दीख्यो। बेद सास्त्र पर बहु बिधि लीख्यो॥

अहो! [खेद है!] यह कैसी माया है, इसने मुझ मायारहित को कैसे पकड़ लिया था! जिसका रूप अब तक नहीं दिखायी पड़ा परन्तु वेद-शास्त्रों ने उसका अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

नहिं नहिं नहिं मोको नहिं बाँध्यो। अरु मोसों न स्वार्थ कछु साँध्यो॥
रबिहिं न दीख कबहुँ कोउ राती। ऐसो नहिं सो आय पराती॥

नहीं-नहीं, न उसने मुझे बाँधा है और न अपना कुछ स्वार्थ ही सिद्ध किया है बल्कि जिस प्रकार सूर्य को कभी कोई रात्रि नहीं दिखायी पड़ती तथा ऐसा भी नहीं है कि आकर भाग ही जाती हो-

तिमि मैं तिमिर हरन सुखकंदा। नित सम सांत सच्चिदानंदा॥
मो महँ कस अज्ञान समावे। कस कबहूँ सो आवे जावे॥

उसी प्रकार मैं सुख प्रदान करने वाला तथा अज्ञानान्धकार का हरण करने वाला सम और शान्त सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ; अतः मुझमें वह अज्ञान कैसे प्रवेश कर सकता है तथा कब और कैसे आ-जा सकता है।

प्रगट्यों स्वयंहिं तनगृह भाई। मेरो नहिं कछु कोउ सहाई॥
जबलौं नहिं चाह्यों तन आवन। तबलौं मन प्रगट्यो दुख दावन॥

हे प्रिय! इस शरीररूपी घर में मैं स्वयं से अवतरित हुआ हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है। जब तक शरीर में आना नहीं चाहता था तभी तक दुःखदायी मन प्रकट रहा,-

यासें ताहि दोष नहिं नेकउ। जासे लेउँ ताहि कहँ टेकउ॥

इसलिए उसका कोई दोष नहीं है जिससे मैं उसका आश्रय लूँ [अर्थात् दोष मढ़ूँ]।

छंद— मो महँ न सोक न मोह कोह न छोह द्रोह न अहमता।
नहिं कर्तृता नहिं भोक्तृता नहिं सौम्यता नहिं बिषमता॥
बस हौं अहं कर साक्षि चेतन रूप यातें अन्य नहिं।
अब नमन करुँ बहुबार निज कहँ आय नहिं नहिं गमत कहिं॥

अरे! न मुझमें शोक है, न मोह, न क्रोध है, न क्षोभ, न द्रोह है और न अहंकार ही तथा न मुझमें

कर्तृत्वाभिमान है, न भोक्तापना है, न सौम्यता है और न विषमता ही है। मैं तो एकमात्र अहं का साक्षी, चेतन स्वरूप हूँ, इससे अन्य कुछ नहीं हूँ। इसलिए स्वयं को ही अगणित बार नमन कर रहा हूँ, जो न कहीं से आता है और न कहीं जाता है।

मो महँ न आसा अरु निरासा कर्म अरु न बिकर्महू।
मैं सब भुवन कर आदि कारन भुवन रूप सुमर्महू॥
आत्मा सबद कर बाच्य नहिं नहिं अहं प्रत्यय भिन्नहू।
अब नमन करुँ बहुबार निज कहँ जगत भिन्न अभिन्नहू॥

मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में न आशा है, न निराशा ही है तथा न कर्म है, न विकर्म ही है। मैं ही सर्वभुवनों का आदि कारण तथा भुवन स्वरूप हूँ एवं मैं सबका मर्म हूँ। [इतना ही नहीं] मैं आत्मा शब्द से भी लक्षित नहीं होता तथा न मैं अहं प्रत्यय (आत्म बोध) से भिन्न ही हूँ। इस प्रकार मैं जगत से न भिन्न हूँ, न अभिन्न हूँ, अतः स्वयं को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

मैं निर्बिकार निरूप निर्गुन नित निरंजन निर्मलम्।
निर्वाणप्रद निर्वानरूप निगूढ़ निस्चित निस्चलम्॥
निःरूप निर्भय निःकलंक निसेष निःआडम्बरम्।
अब नमन करुँ बहुबार निज कहँ नायकः निःअम्बरम्॥

मैं निर्विकार, रूपरहित, निर्गुण, नित्य मायारहित और निर्मल हूँ; मैं ही निर्वाण (मोक्ष) देने वाला, निर्वाण स्वरूप, गूढ़तम, सत् स्वरूप और निश्चल हूँ। मैं ही अवधूत, भयरहित, निष्कलंक, सर्वस्वरूप और प्रपञ्च से रहित हूँ; मैं ही समस्त जगत का स्वामी तथा आवरणरहित हूँ। अतः अब मैं स्वयं को ही बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

मैं बिस्वबपु बिस्वस्य बिसिपं बिस्वभावन बिस्वपति।
बिस्वेस ब्यापक बिरज बिभु बरदायकः बर बिस्वरति॥
बिस्वम्भरः बिस्वम्बरः बिस्वंकरः बैस्वानरः।
अब नमन करुँ बहुबार निज कहँ बिस्वभुज बिस्वाकरः॥

मैं ही विश्वरूप, विश्व का वासस्थान, विश्व को उत्पन्न करने वाला और विश्वाधिपति हूँ; मैं ही विश्व का ईश्वर, सर्वत्र व्याप्त, रज आदि गुणों से रहित, ब्रह्म, श्रेष्ठ वरों को देने वाला और मैं ही समस्त विश्व की प्रीति हूँ। मैं ही विश्व का भरण-पोषण करने वाला, विश्व का आकाश, विश्व की आँख एवं वैश्वानर हूँ; तथा मैं ही विश्व का ग्रसन करने वाला और विश्व का कोष (जिस कोष से सारी सृष्टियाँ प्रकट होती हैं) भी हूँ। अतः अब मैं स्वयं को ही बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

सोरठा— फेन बुदबुदा बीचि होय समुंदर प्रगट ज्यों।
कहुँ मैं रेखहिं खींचि त्यों मन बुधि चित आतमा॥ १००॥

[हे मन!] जिस प्रकार समुद्र ही फेन, बुदबुदा और लहर के रूप में प्रकट हो रहा है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त आदि भी आत्मरूप हैं, ऐसा मैं रेखा खींचकर कहता हूँ।

चौपाई— अहो कहाँ अज्ञान परायो। जनु मेरो उपदेस सुहायो॥
आत्मरूप भइँ इंद्रिय सारीं। सुद्ध साक्षि समता बपु धारीं॥

अहो! अज्ञान कहाँ भाग गया! प्रतीत होता है कि उसे मेरा उपदेश प्रिय लगा है; क्योंकि अब समस्त इन्द्रियाँ शुद्ध, साक्षी और समतारूप को धारण कर आत्मरूप हो गयी हैं।

मोसों प्रभु तजि तुम्ह सम दासी। जाहिं कहाँ अब होइ उदासी॥
लहर जाय कहँ नीरहिं त्यागी। जाय उष्णता कहँ तजि आगी॥

[हे इन्द्रियो! सच है कि] मेरे समान स्वामी को त्यागकर तुम्हारे समान सेविकाएँ उदास होकर अब कहाँ जायेंगी। भला लहर जल को त्याग कर तथा उष्णता अग्नि को त्यागकर कहाँ जायेगी।

वैसेइ आनँदमयी हमारीं। इंद्रियगन सब सुरति बिसारीं॥
बिभुमय बनि तिमि तहइँ समाईं। रबि मिलि किरन रूप रबि पाईं॥

उसी प्रकार हमारी आनन्दरूपा इन्द्रियाँ अपनी सम्पूर्ण स्मृति को भुला ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में वैसे ही प्रवेश कर गयीं जैसे सूर्य की किरणें सूर्य में प्रवेश कर सूर्यरूप हो जाती हैं।

ज्ञान नयन गहि निरखहिं मानिनि। अब न होयँ मन कर अनुगामिनि॥
कबहुँ हृदय पंकज महँ आवें। जनम सफल अपुनो भा गावें॥

ये मानिनी इन्द्रियाँ ज्ञाननेत्रों के द्वारा देख रही हैं, अब कभी मन की दासी नहीं बन सकतीं और जब कभी हृदयरूपी कमल में प्रकट भी होती हैं तो अपना जन्म सार्थक हुआ कहती हैं।

दोहा— तजि निज निज पति भास जनु गोपीं प्रभु रथ धायँ।
तिमि मोरी सब इन्द्रियनि मोरें रूप समायँ॥ १०१॥

मानो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जिस प्रकार गोपियाँ अपने-अपने पति को त्यागकर भगवान के रथ का अनुगमन करने लगी थीं, उसी प्रकार मेरी समस्त इन्द्रियाँ भी मेरे आत्मरूप में प्रवेश कर रही हैं।

चौपाई— हे मन देख तहीं तू भासत। अरु तिन्हि मुर्खन्ह बस करि हाँसत॥
जिन्ह उर मुक्त बहति जग सरिता। जेहि महँ अगम बिषय जल भरिता॥

हे मन! देखो तो! तुम वहीं भासमान होते हो और उन्हीं मूर्खों को अपने वश में करके प्रसन्न होते हो, जिनके हृदय में संसाररूपी नदी अबाध गति से बहा करती है, जिसमें विषयरूपी अथाह जल भरा हुआ है,

जो प्रबिसति मन अति हरषाई। कालसिंधु महँ नित प्रति आई॥
अरु लख कलह परस्पर वारो। दै दुख बर मति मेटन हारो॥

अत्यन्त प्रसन्न मन से जो नित्यप्रति आकर कालरूपी समुद्र में प्रवेश करती रहती है। और भी देखो कि जो परस्पर कलह से होने वाला असहनीय दुःख है, वह श्रेष्ठ बुद्धि का नाश करने वाला है।

मरण पराजय चिंता जोई। दुख उत्पीड़न पंक्ती सोई॥
बरसें उर निसदिन अस भाई। बृष्टि होय जिमि धार बहाई॥

वध एवं पराजय की जो चिन्ता है, वही अत्यन्त उत्पीड़न की दुःखरूपी पंक्ति भी है। हे प्रिय! वे उनके (मूर्खों के) हृदय में नित्यप्रति इस प्रकार बरस रही हैं, मानो वर्षा होने से जल की प्रबल धार बह रही हो।

उर बिदिर्ण करि रुदन करावति। जो बहु बिधि जुग जुग भरमावति॥
सम्पति क्रूर बिपति महमारी। प्रगटति चहुँ दिसि सों बहु भारी॥

जो हृदय को विदीर्ण कर रुलाती रहती है तथा नाना प्रकार से युग-युग में घुमाती रहती है जिससे क्रूर सम्पत्ति और विपत्तिरूपी महामारी अत्यन्त प्रबलता के साथ चारों दिशाओं से प्रकट हो जाती है।

दोहा— जीर्ण कलेवर द्रुमन पर कास स्वास बहु भृंग।
गुंजत बिहँसत निरखि सब ऐसो याकर लिंग॥ १०२॥

[इतना ही नहीं] वृद्ध शरीररूपी पुराने वृक्ष पर श्वास और खाँसीरूपी बहुत-से भौंरे गुंजार करने लगते हैं जिसे देखकर सभी हँसते हैं; ऐसा तो इसका स्वरूप है!

चौपाई— उरग मनोरथ कोटर ताके। जासे मूढ़ न प्रभु कहँ झाँके॥
चिंता चपल मर्कटी धावे। निज अहार लगि जाल बिछावे॥

उस वृक्ष के कोटर में अभिलाषारूपी सर्प हैं, जिसके कारण मूढ़ पुरुष ब्रह्म की तरफ देख नहीं पाते तथा चिन्तारूपी चंचल मकड़ी अपने आहार के लिए जाला बिछाये रहती है।

सुख दुख राग द्वेषादि तुंडया। लोभ पक्षि अति प्रबल मुंडया॥
कतरत सम दम पुष्प फलन कौ। मूढ़ न रोकत ताहि चलन कौ॥

उसी प्रकार अत्यन्त सामर्थ्यशाली स्वरूप वाला लोभरूपी पक्षी अपनी सुख-दुःख एवं राग-द्वेष रूपी चोंच के द्वारा शम-दम रूपी पुष्पों और फलों को कुतरता रहता है तथा मूर्ख उसे ऐसा करने से रोकते भी नहीं।

अति अपबित्र काम चरणायुध। मानहु चाहत करन सदा युध॥
उर जहँ राग द्वेष कर ढेरो। पुनि पुनि निज पद देत बिखेरो॥

अत्यन्त अपवित्र कामरूपी मुर्गा मानो सदा युद्ध ही करना चाहता है तभी तो हृदय में जहाँ राग-द्वेषादि का ढेर जमा है, उसे अपने पैरों से बारम्बार बिखेरता रहता है।

महामोह निसि तमस कौसिकः। उर तरु बैठ्यो गर्जत अधिकः॥
जनु मसान बेताल प्रलापत। अज्ञ सुनत धुनि बहुबिधि काँपत॥

उसी प्रकार महामोहरूपी अँधियारी रात्रि में हृदयरूपी वृक्ष पर अज्ञानरूपी उल्लू बैठा है और जोरों से ऐसी गर्जना कर रहा है, मानो श्मशान में कोई बैताल चीत्कार कर रहा हो और जिसकी ध्वनि को सुनकर मूर्ख अत्यन्त काँप उठते हों।

दोहा— हे मन तेरो बास सच जेहि उर जब लगि होय।
तब लगि छुद्र पिसाचिनी जाय न तृष्णा कोय॥ १०३॥

हे मन! यथार्थतः जब तक जिसके हृदय में तुम्हारा वास रहेगा, तब तक उसके हृदय से क्षुद्र पिशाचिनीरूपी वासनाएँ और कामनाएँ नहीं जा सकतीं।

चौपाई— अहो न अब मम उर मन कपटी। जासे होय न झपटा झपटी॥
वामें ज्ञान सुबुद्धि प्रकासे। समता सांति सरलता भासे॥

अहो! अब मेरे हृदय में कपटी मन है ही नहीं, जिसके कारण झपटा-झपटी नहीं होती। अब उसमें ज्ञान और सुबुद्धि का प्रकाश हो रहा है, जिससे समता, शान्ति और सरलता दिखाई पड़ रही है।

सरसिज बिगसित सर रबि आवें। त्यों उर सदगुन कमल सुहावें॥
मोह तुषार रहित हिय सोहत। रजगुन रज सों अब नहिं मोहत॥

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाशित होते ही सरोवरों में कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार हृदय में सद्गुणरूपी कमल सुशोभित हो रहे हैं। अब हृदय मोहरूपी कोहरे से रहित होकर अति शोभा दे रहा है तथा रजोगुण आदि धूलिकणों से [हीन होने के कारण] मोहित नहीं होता।

ज्यों नभ रबि बस एक प्रकासत। त्यों मेरो उर ब्रह्मइ भासत॥
जिमि नभ अंधड़ बरसा लावत। तहस नहस करि भय उपजावत॥

जिस प्रकार [समग्र] आकाश में मात्र एक ही सूर्य प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मेरे हृदय में एक ब्रह्म ही भासमान हो रहा है। जिस प्रकार आकाश मण्डल आँधी-वर्षा को साथ लाता है और तहस-नहस करके भय प्रकट कर देता है-

तेहि सम ते बिकल्प उर माहीं। प्रगटि हृदय नहिं बिकल कराहीं॥
अब अह्लादिनि अतिसय पावनि। साधक सिध संतन्ह मन भावनि॥

उसके समान विकल्पों के समूह अब हृदय में प्रकट होकर विकल नहीं कर रहे हैं। अब तो परमानन्द देने वाली, परम-पावन, साधकों, सिद्धों एवं सन्तों के मन को भानेवाली-

परम मयत्री अस उर आई। जनु तरुवर बर लता सुहाई॥

ऐसी परम मैत्री हृदय में आ गयी है, मानो किसी वृक्ष पर रमणीय लता लहलहा रही हो।

सोरठा— परम प्रसन्न अछोभ अब अजेय समता सहित।
मेरो उर अस सोभ वायुहीन ज्यों सांत सर॥ १०४॥

परम प्रसन्न, क्षोभरहित और समता के साथ मेरा अजेय हृदय अब ऐसा शोभा दे रहा है, जैसे वायु के उद्वेग से रहित शान्त सरोवर।

चौपाई— अहो मात्र बिभु रूपहि माने। ब्रह्मरूप भयों लग्यों ठिकाने॥
मन स्वरूप अबिचारहिं कारन। होत प्रगट अरु लागत मारन॥

अहो! एकमात्र 'मैं ब्रह्मरूप हूँ'- ऐसा मान लेने मात्र से ही मैं ब्रह्मरूप हो गया और यथास्थान पहुँच गया।

[यथार्थ में] मन का स्वरूप विचारहीनता के कारण ही प्रकट होता है और कष्ट देने लगता है।

सो नसाय निज चिंतत तैसो। होत प्रकास जाय तम जैसो॥
तम कहाय परकास अभावा। नातरु ताकोइ भावहि भावा॥

वह मन आत्मचिन्तन करने के कारण उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश के प्रकट होते ही अंधकार चला जाता है। प्रकाश का अभाव होना ही अंधकार कहा जाता है, अन्यथा सर्वत्र उस प्रकाश की ही एकमात्र सत्ता है।

अहो प्रलय भयो मन कर चहुँ दिसि। ज्यों रबि सों सर्बत्र नसति निसि॥
बरसत ज्ञान मनहुँ बरषा रितु। आइ गयी सब सदगुन ससि हितु॥

अहो! अब मन का सब ओर से उसी प्रकार प्रलय हो गया है जिस प्रकार सूर्य के उगते ही रात्रि का सर्वथा नाश हो जाता है। अब ऐसी ज्ञान की बरसात हो रही है मानो समस्त सद्गुणरूपी धान की खेती के लिए वर्षा ऋतु आ गयी हो।

उर मेदिनि हित उमड़ घुमड़ कर। ज्ञान सुघन बरसें हर्षाकर॥
मनहुँ ब्रह्म घन प्रियतम प्यारे। मिलत प्रकृति तम पटहिं निबारे॥

हृदयरूपी पृथ्वी के कल्याण के लिए ज्ञानरूपी दिव्य बादल उमड़-घुमड़कर हर्षित हो बरस रहे हैं, मानो प्रियतम ब्रह्म बादल बनकर प्रकृति के अज्ञानरूपी वस्त्र हटाकर उससे मिल रहे हों।

दोहा— अति तम घन ऋतु ग्रीष्म महँ जे सुचितादिक बेलि।
जरीं हरी होइ उर तरू लिपटि करहिं प्रिय केलि॥ १०५॥

अत्यन्त घोर अज्ञानरूपी ग्रीष्मऋतु में 'शान्ति, सुमति, सुधृति' आदि जो बेलें जल गयी थीं, वे पुनः हरी होकर हृदयरूपी वृक्ष से लिपटकर मनोहारी क्रीड़ा करने लगी हैं।

चौपाई— कै ऐसो भासत श्री बानी। मेधा छमा सुरति सरितानी॥
तम ग्रीषम ऋतु भईं बिरानी। बर्षा ऋतु लाने अकुलानी॥

अथवा ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, मेधा, क्षमा, स्मृति रूपी नदियाँ अज्ञानरूपी ग्रीष्म ऋतु में सूख गयी थीं और वर्षा ऋतु के लिए व्याकुल हो रही थीं,

ज्ञान नीर तें भरत पराहीं। मानहु मिलन ब्रह्मसर जाहीं॥
अति सुभाग्य मन सांत भयो तैं। चिंता ज्वर सों मुक्त कियो तैं॥

वे ज्ञानरूपी जल के भरते ही दौड़ पड़ी हैं, मानो ब्रह्मरूपी सरोवर में मिलने जा रही हों। हे मन! अति सौभाग्य की बात है कि तुम शान्त हो गये हो और तुमने मुझे चिन्तारूपी ज्वर से मुक्त कर दिया है।

जेहि बिबेक सों अस गति पायों। ताहि नमन करुँ निज गृह आयों॥
स्वयं प्रबुद्ध तहूँ मन मेरो। चेतन रूप सास्त्र कह तेरो॥

जिस विवेक के द्वारा मैं इस परम गति को प्राप्त करके अपने घर लौट आया, उसे नमस्कार करता हूँ। हे मेरे मन! तुम तो स्वयं प्रबुद्ध हो तथा शास्त्र भी तुम्हें चैतन्यरूप कहता है।

हुते ब्रह्म तुम्ह पूर्बहु अबहूँ। तन न रहे बिभु रहेगो तबहूँ॥
इंद्रिन्ह ईस पार भये जग के। कल्पित छाया मिटि गइ मग के॥

अतः तुम पूर्व में भी ब्रह्म थे, अभी भी ब्रह्म हो तथा जब शरीर नहीं रहेगा, तब भी ब्रह्म ही रहोगे। हे इन्द्रियों के स्वामी मन! अब तुम जगत से पार हो गये हो तथा जो मार्ग की कल्पित छाया थी, वह सब भी मिट गयी है।

दोहा— मन न हुते तिहुँ काल महँ होवे तुव कल्यान।
पहिरि चोलना ज्ञान कर अब अपुनों करु ध्यान॥ १०६॥

हे मन! तुम तीनों कालों में नहीं थे अतः तुम्हारा कल्याण हो, अब तो ज्ञानरूपी वस्त्र पहनकर आत्मस्वरूप का ध्यान करो!

चौपाई— स्थित भयों तूर्य पद माहीं। जहँ न कछुक दुख सब सुख आहीं॥
निस्चित भयो हुतो मन नाहीं। पर तिहुँ काल अवसि बिभु आहीं॥

अब मैं तुरीयपद में स्थित हो गया हूँ, जहाँ समस्त दु:खों का अभाव है तथा समस्त सुख विद्यमान हैं। यह भी निश्चित हो गया कि मन कभी था ही नहीं, परन्तु तीनों कालों में ब्रह्म की स्थिति अवश्य है।

एक मात्र सब ब्रह्म अहइ जब। यहउ कहउँ कस अहउँ ब्रह्म अब॥
यासे मौन भयों अब ऐसे। चंचल लहर नीर भइ जैसे॥

[अरे!] जब सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है [दूसरा है ही नहीं] तो अब यह भी कैसे कहूँ कि मैं ब्रह्म हूँ! इसलिए अब मैं ऐसे मौन हो गया हूँ जैसे चंचल लहर जल बनकर शान्त हो जाती है।

यासें सकल बासना हीना। जीवाश्रय अरु प्रान बिहीना॥
सर्बदोष बर्जित भयों मौनी। ऐसो जैसो होवे छौनी॥

अत: समस्त वासनाओं से रहित, जीव और प्राण के आश्रय से विहीन एवं समस्त दोषों से रहित होकर ऐसा मौनी हो गया हूँ, जैसे पृथ्वी।

परमानंद रूप सुख अपनो। आयो सकल जगत भयो सपनो॥

अब अपना परमानन्द स्वरूप दिव्य सुख प्रकट हो गया है तथा समस्त जगत स्वप्नवत् हो गया है।

दोहा— भक्त सिद्ध साधक सुनहु अस चिंतन करि मौन।
बैठि रहउ तुम्ह कछुक घरि आय लखउ पुनि कौन॥१०७(क)॥

हे भक्त, मुनि, सिद्ध एवं साधकगण! ऐसा चिन्तन कर आप कुछ घड़ी मौन होकर बैठ जायें और देखें कि फिर कौन (विचार) आता है।

जब जब उठहिं बिकल्प उर तब तब सत्य पुकार।
पुनि पुनि मौनहिं गहउ तुम्ह यह साँचो उपचार॥१०७(ख)॥

उस समय [मौन हो जाने पर] जब-जब हृदय में संकल्प-विकल्प उत्पन्न हों, तब-तब आप सत्य (आत्मा) का चिन्तन कर पुन: पुन: मौन धारण करें, मन की यही उत्तम चिकित्सा है।

बीतहब्य मुनि कीन्हि जो चिंतन सब सुखसार।
सोइ दियो महराज सच जासें करहु उधार॥१०७(ग)॥

जो समस्त सुखों का सार है, उस आत्मचिन्तन को वीतहव्य मुनि ने अपनाया था। महाराज ने भी आपको वस्तुत: वही चिन्तन दिया है जिससे आप अपना उद्धार कर लें।

चौपाई— कछु दिन बिते होय मन जड़वत। लगे आपु चेतन तन धड़वत॥
नींद आय जिमि रात बितावत। तैसेइ ध्यान आय सुख पावत॥

ऐसा करते हुए कुछ माह बीतने पर मन जड़ के समान होने लगेगा और प्रतीत होगा कि आप चेतन हैं और शरीर धड़रूप से ही स्थित है। जिस प्रकार नींद आने पर [सुखपूर्वक] रात बिता देते हैं, उसीप्रकार इस ध्यान के प्रकट होने पर सदा सुख की ही प्राप्ति होती रहती है।

पुनि समाधि स्वयमेव हि प्रगटति। प्रबल अबिद्या जहँ नहिं फटकति॥
कछुक काल प्रति दिवस बढ़ावे। प्रात बैठि सो साँझ गँवावे॥

तत्पश्चात् स्वत: समाधि प्रकट हो जाती है जहाँ प्रबल अविद्या झाँकती भी नहीं है। इस प्रकार नित्यप्रति कुछ समय बढ़ाते हुए प्रात:काल बैठकर शाम को उठे।

कीधौं साँझ बैठि उठि भोरे। दिवस माँहिं निजरूप निहोरे॥
जब संकल्प सिद्ध होइ जावे। ज्ञान दीप महँ कर्म जरावे॥

अथवा शाम को बैठकर सबेरे उठकर पूरे दिन [सर्वत्र] स्वयं को ही देखने का प्रयत्न करे। [ऐसा करते हुए] जब संकल्प सिद्धि हो जाये तो ज्ञानरूपी दीपक में सम्पूर्ण कर्मों को भस्मीभूत कर दे।

ब्रह्म अस्त्र संकल्प कहावे। करहु प्रयोग जबहिं प्रगटावे॥
करहु काम बध सिव सम भाई। तेहि छन ताहि न कोउ सहाई॥

हे प्रिय! संकल्पशक्ति को ही ब्रह्मास्त्र कहा जाता है, अत: जब वह प्रकट हो जाय तभी आप उसका प्रयोग करके भगवान शिव के समान काम का वध कर दें। उस समय उसका कोई भी रक्षक नहीं होगा।

दोहा— बधहु कलपना द्वैत तब काम क्रोध अरु लोभ।
पुनि आवहिं जे तुव सरन हरहु उनहु कर क्षोभ॥ १०८॥

उस समय काम, क्रोध, लोभ आदि द्वैत कल्पनारूपी शत्रुओं का संहार कर दें और पुन: जो भक्त आपकी शरण में आते हैं, उनके भी शोक-सन्ताप को दूर करें।

चौपाई— कह्यों जे राजयोग प्रभु भाषे। जो अति चतुर मानि उर राखे॥
होवैं ताहि मनोरथ पूरो। कोउ कर्तब्य न रहहिं अधूरो॥

मैंने उसी राजयोग को बताया है, जिसे भगवान ने [अर्जुन से] कहा है। जो अत्यन्त दक्ष भक्त विश्वास करके इसे हृदय में धारण कर लेगा उसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे और कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहेगा।

सफल होय जुग जुग कर सपनो। जहाँ दीख तहँ अपनोइ अपनो॥
बिचरे महाकाल सम सोई। वाके लाने यम नहिं कोई॥

उस समय युग-युग का संजोया हुआ सपना पूरा हो जायेगा और जहाँ भी देखेगा आत्मस्वरूप ही दिखायी पड़ेगा। वह पुरुष तो [इस जगत में] महाकाल के समान विचरण करता है, उसके लिए कोई काल है ही नहीं।

सोइ निज पति इंद्रिय पति मन पति। सोइ मति पती प्रान पति तन पति॥
सोइ बिद्यापति ज्ञान ध्यानपति। सोइ श्रुति सास्त्र पुरान बेद पति॥

उस समय वही शरीर, इन्द्रियों तथा मन का स्वामी हो जाता है तथा वही बुद्धि, प्राण एवं स्वयं का भी स्वामी है। वही विद्या, ज्ञान-ध्यान और श्रुति, शास्त्र एवं वेदों का भी स्वामी हो जाता है [अर्थात् सब पर उसका शासन हो जाता है]।

राक्षस यक्ष नाग किन्नर पति। सोइ गंधर्बन्ह भूत प्रेत पति॥
मंत्र तंत्र अरु यज्ञ योग पति। सोइ परम मति सोइ परम गति॥

वही राक्षस, यक्ष, नाग, किन्नर, गन्धर्व एवं भूत आदि का अधिपति तथा मंत्र, तंत्र, यज्ञ एवं योग का भी स्वामी हो जाता है तथा वही सबकी परम बुद्धि और परम गति हो जाता है।

दोहा— सोइ जग पति सोइ स्वर्गपति सोइ अज बिष्णु महेस।
त्रिजगजोनि पति सर्बपति बन्यो सोइ सब देस॥ १०९॥

वही जगत्पति और स्वर्गपति तथा वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हो जाता है। वही तिर्यगादि योनियों का पति, सबका पति और सर्व जगत रूप भी हो जाता है।

चौपाई— उत अर्जुन सम्मुख प्रभु चितवत। पार्थ हृदय कहुँ भाव न मितवत॥
प्रथम हुते कह अति दृढ़ताई। गुडाकेस तजु निज सठताई॥

उधर [युद्धभूमि में] महात्मा अर्जुन के मुख की ओर भगवान नारायण देख रहे हैं कि अभी भी इसके हृदय में कहीं हित-मित्र का भाव तो नहीं है! भगवान ने प्रथम चरण में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा था कि 'हे अर्जुन! तुम अपनी शठता का त्याग कर दो-

यदि तू सदगुरु मानत मोहीं। तौ निस्चित रन करनो तोहीं॥
कीधौं रन मरि स्वर्ग सिधारे। कै महि जीति भोग सुख भारे॥

यदि तुम मुझे अपना सद्गुरु मानते हो तो तुम्हें निश्चित ही युद्ध करना होगा; भले ही युद्ध में मरकर स्वर्ग को जाओ अथवा पृथ्वी को जीतकर समस्त सुखों का उपभोग करो'-

तेहि अब दूर करन चह साँई। निदरत तबहिं सरग बहुताई॥
बोले बचन भगत सुखदाई। तात जो चह दिवि मो बिसराई॥

भगवान अब उसी का निदान करना चाहते हैं, अत: स्वर्ग की घोर निन्दा कर रहे हैं। इस प्रकार भक्तों को सुख देने वाले भगवान ने ये वचन कहे कि हे पार्थ! जो मुझे छोड़कर स्वर्ग ही चाहते हैं,-

सो ऋग साम यजुः अवराधें। होइ अनघ पुन्यहिं धरि काँधें॥
पाइ देवपद अति सुख भोगत। पुन्य नसाय आइ महि जोगत॥

वे ऋक्, साम और यजुर्वेद द्वारा [यज्ञादि कर्मकाण्डीय] उपासना करके पापरहित हो पुण्य के आश्रय से, देव पद प्राप्तकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं और पुण्य के समाप्त होने पर पुन: पृथ्वी पर आकर उसी सुख के लिए प्रयत्न करने लगते हैं [उनका आवागमन नहीं मिटता]।

दोहा— छनिक बिषय सुख कारने इत उत आवत जात।
बिषय भोगि सुख मानत दुख भोगत पछितात॥ ११० ॥

इस प्रकार क्षणिक विषय सुख के लिए यहाँ-वहाँ आते-जाते हैं और विषयों को भोगकर उसी में सुख का अनुभव करते हैं तथा दु:ख भोगते समय घोर पश्चात्ताप करते हैं।

चौपाई— करतो तहूँ धरम इक मानी। रन मरि मिलत स्वर्ग सुख खानी॥
पर अब मम आयसु अनुहारी। युद्ध करहु स्वजनहिं परचारी॥

यदि तुम भी एकमात्र [लौकिक] धर्म मानकर युद्ध करते और कदाचित् वीरगति को प्राप्त होते तो स्वर्ग के समस्त सुखों का ही उपभोग करते, परन्तु अब यदि मेरी आज्ञानुसार स्वजनों को चुनौती देकर युद्ध करते हो-

जौं मरि जाय परम पद पावे। जीवत जीवनमुक्त कहावे॥
मैं निज पन पुनि तोहिं सुनावउँ। केहि कारन पाछें तव धावउँ॥

तो मृत्यु को प्राप्त कर परम पद प्राप्त करोगे और यदि जीवित रहे तो जीवनमुक्त कहे जाओगे। पुन: मैं तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा सुनाता हूँ कि मैं तुम्हारे पीछे क्यों पड़ा हूँ।

पूर्ब जनम तुम्ह बहु तप कीन्हे। मोसें यहइ माँगि बर लीन्हे॥
हे प्रभु जब जब जग अवतारहु। तब तब सच सुधि लेउ हमारहु॥

तुमने पूर्व जन्मों में घोर तप करके मुझसे यह वरदान माँग लिया है कि हे प्रभो! आप जब-जब जगत में अवतार लें, तब-तब निश्चित ही मेरी सुध-बुध लें।

नाथ न अब तो कोउहु मेरो। जनम जनम कर बस तव चेरो॥
आवउँ काम तुम्हारेइ साँईं। दीन बंधु यह एक दुहाईं॥

क्योंकि हे नाथ! हे प्रभो! मेरा तो अब कोई अन्य है ही नहीं, अत: जन्म-जन्मान्तरों में केवल आपका ही दासत्व प्राप्त हो, आप के ही काम आऊँ! हे दीनबन्धु! मेरी आप से मात्र यही प्रार्थना है।

दोहा— दीन्हों सोइ बरदान मैं राखउँ नहिं कछु गोइ।
यासें तव पाछें परउँ आयो अवसर सोइ॥ १११ (क)॥

मैं कुछ छिपा कर नहीं रख रहा हूँ, सत्य कहता हूँ कि मैंने वही वरदान दे दिया था, इसी कारण वैसे अवसर के आने पर तुम्हारे पीछे पड़ा हुआ हूँ।

ध्यावत चित्त अनन्य जे नित मम सरने आय।
योग छेम पूरउँ सकल तिन्ह भगतन्ह हरषाय॥ १११ (ख)॥

[क्योंकि हे पार्थ!] जो ज्ञानीभक्त मेरी शरण में आकर अनन्य चिन्तन करते हुए मेरी नित्य उपासना करते हैं, मैं उनका योगक्षेम प्रसन्नतापूर्वक वहन करता हूँ।

मोसों भिन्न न दीख जब सोइ अनन्यता होय।
ध्यावत जातिहिं गोत्र कुल नाम रूप सब खोय॥ १११ (ग)॥

[यदि पूछते हो कि अनन्यता क्या है तो सुनो-] जब भक्त को समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मुझसे भिन्न कुछ अनुभव में नहीं आता तथा जाति, गोत्र, कुल, नाम, रूप आदि सर्वस्व का त्यागकर मात्र मेरी उपासना करता है, तो

वही अनन्य भक्ति कही जाती है।

चौपाई— आत्मरूप जो लख जग सारो। कोउ तेहि सम अति प्रिय न हमारो॥
मम हित जग महँ जीयत जेई। मैं बिकि जाउँ हाथ सच तेई॥

जो सारे जगत को आत्मरूप देखता है उसके समान मेरा कोई परम प्रिय नहीं है। जब यह जान लेता हूँ कि यह मेरे लिए ही जगत में जी रहा है तो सचमुच मैं उसी के हाथ बिक जाता हूँ [अर्थात् मैं उसी का होकर रह जाता हूँ]।

मम हित एहि जग बोलत चालत। अरु गुरुजन आयसु अनुपालत॥
मोरे हित जो सोवत जागत। खात पियत पर कछु नहिं माँगत॥

जो [पुरुष] मेरे लिए ही इस जगत में बोलता-चालता है और मेरी प्रसन्नता के लिए ही गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता है। मेरे लिए ही सोता-जागता एवं खाता-पीता है परन्तु मुझसे कुछ याचना नहीं करता-

यहि अनन्य चिंतन कहलावे। जासों मोकों अतिसय भावे॥
बर्तमान महँ रहत निरंतर। नहिं भविष्य चिंतत अभियंतर॥

यही अनन्य चिन्तन कहलाता है, जिससे वह मुझे अति प्रिय लगता है। वह सदा वर्तमान में रमण करता है, अन्तर्मन में भविष्य की चिन्ता नहीं करता।

सीत उष्ण सुख दुख बिभु मानत। मान करै कै कोउ अपमानत॥
जानत ब्रह्म अनामय एको। क्रीड़त गहि निज रूप अनेको॥

वह सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि को भी ब्रह्मरूप ही समझता है। चाहे कोई सम्मान करे अथवा अपमान, वह यही जानता है कि एक अनामय ब्रह्म स्वयं अनेक रूप धारण करके क्रीड़ा कर रहा है।

दोहा— जग सताय पर दोष उर लेसमात्र नहिं आय।
राग द्वेष कासों करै यहइ अनन्य कहाय॥ ११२॥

जगत चाहे उसे कितना भी सताये, उसके हृदय में लेशमात्र भी दोष-दर्शन नहीं होता, अत: वह राग-द्वेष किससे करे ?- यही अनन्यता कही जाती है।

चौपाई— तेहिके हित मैं भोजन छाजन। आसन बसन सास्त्र अरु भाजन॥
बन सर सरित सदन मन भावन। गुहा देवालय कुटी सुहावन॥

हे पार्थ! उसके लिए मैं भोजन, जल, आसन, वस्त्र, शास्त्र, पात्र, सुन्दर घर, तालाब, नदी, अरण्य, देवालय, कुटिया और श्रेष्ठ रमणीय गुफा,

सम दम उपरति बिसद तितिक्षा। बनउँ महत प्रहलाद प्रतिक्षा॥
जब जो चहत सोइ बनि जाऊँ। ऐसो बनि बनि अति हरषाऊँ॥

शम, दम, उपरति, महत् तितिक्षा एवं भक्त प्रह्लाद जैसी दीर्घ प्रतीक्षा आदि में से जब जिसकी आवश्यकता होती है, वही बन जाता हूँ एवं ऐसा बनकर अति प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

ज्ञान बिराग जोग रुप धारउँ। ब्रह्म सक्ति बनि जग भय टारउँ॥
बिदुर भगति बनि बिनु नेवताई। साग पात खावउँ मधुराई॥

मैं ही उस भक्त के लिए योग, ज्ञान, वैराग्य बन जाता हूँ एवं ब्रह्मशक्ति रूप होकर उसे जगत से अभय कर देता हूँ तथा विदुर जैसे भक्तों की भक्ति बनकर बिना निमन्त्रण के ही उनका शाक-पात प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

धर्मराज उर भगति बन्यों अस। देख्यो तूने दूत बन्यों जस॥
तव उर भक्ति बन्यों अस भाई। रथ हाँकउँ तजि निज ठकुराई॥

[इतना ही नहीं बल्कि] महाराज युधिष्ठिर के हृदय की ऐसी अनन्य भक्ति के कारण जिस प्रकार दूत बना, वह तो तूने देखा ही है। [कहाँ तक कहूँ] हे प्रिय! तुम्हारे हृदय की मै ऐसी भक्ति बना कि अपनी प्रभुता छोड़कर तुम्हारा रथ हाँक रहा हूँ।

दोहा— तू जब जब जोइ जोइ कहे करुँ मैं तब तब सोइ।
तुव अनन्य चिंतन अस लखे न तू अरु कोइ॥११३ (क)॥

और तुम जब-जब जो-जो कर्म करने को कहते हो तब-तब मैं वही करता हूँ, किन्तु तुम्हारा अनन्य चिन्तन ऐसा दिव्य है कि न तो स्वयं तुम, न कोई अन्य ही समझ पा रहा है।

ब्यंग बचन महँ सबहि कछु कहि गै दीनानाथ।
महाराज लखि हरि कृपा पुनि पुनि नावत माथ॥११३ (ख)॥

[इस प्रकार] अपने व्यंग्य वचन के माध्यम से दीनानाथ भगवान श्रीकृष्ण को जो कुछ कहना था उन्होंने सब कह दिया। प्रभु की ऐसी कृपा को देखकर महाराज उनके चरणों में बारम्बार सिर झुका रहा है।

मासपारायण, इक्कीसवाँ विश्राम

चौपाई— भगत बछलता हिय हुलसानी। कहे कृपा करुना जुत बानी॥
हुते ललायित जेहि जानन हित। सुनि तेहि घायल अति अर्जुन चित॥

[महाराज देख रहा है भगवान नारायण की] भक्त वत्सलता उनके हृदय में ऐसी प्रकट हुई कि उन्होंने कृपा एवं करुणा से युक्त वाणी कह डाली, जिसको जानने के लिए अब तक महात्मा अर्जुन लालायित थे और उसे सुनते ही उनका चित्त अत्यन्त घायल हो गया है।

प्रभु कृतज्ञता अस उर आनी। गदगद कंठ नयन ढर पानी॥
चितवत अपलक कछु न कहावे। माधुरि मूरति उर अति भावे॥

[यह सब सुनकर] भगवान के प्रति उनके हृदय में ऐसी कृतज्ञता प्रकट हुई कि उनका गला भर आया, नेत्रों से अश्रुपात होने लगा और भगवान को अपलक नेत्रों से निहारते हुए कुछ भी कहने में असमर्थ हो गये। भगवान की मधुर छवि उनके हृदय को अत्यन्त भा गयी।

महाराज उर आनँद भारी। देखत झाँकी सुरति बिसारी॥
नयनन्ह नीर रुकत नहिं रोके। यह सब लिखत लेखनी टोके॥

महाराज ने इस दिव्य झाँकी को देखते हुए अपनी स्मृति खो दी है और हृदय पूर्ण आनन्द से भर गया है, नेत्रों से नीर रोकने पर भी नहीं रुकता, जो लिखने में बाधा डाल रहा है।

अपलक देखत सुर मुनि सारे। ब्यास मुनिहु पुनि धीरज धारे॥
फफकि फफकि संजय उत रोवत। भक्त बिमल उर धीरज खोवत॥

[अन्तरिक्ष से] सारे देवता और मुनिगण इस झाँकी को अपलक देख रहे हैं, महर्षि व्यास की भी यही कहानी हो गयी है किन्तु किसी प्रकार धैर्य धारण कर रहे हैं। उधर सञ्जय फफक-फफककर रो पड़े; वे [भगवान के] भक्त हैं, निर्मल हृदय वाले हैं, अत: धैर्य खो बैठे।

सोरठा— समुझि न सक कछु राज रुदन श्रवन सुनि चकित चित।
का भयो संजय आज मोसेउँ कह धृतराष्ट्र बद॥११४॥

अपने कानों से इस रुदन को सुनकर राजा धृतराष्ट्र हतप्रभ रह गये और वे कुछ रहस्य नहीं समझ सके तब बोले- हे सञ्जय! आज ऐसा क्या हो गया, मुझे भी बताओ?

चौपाई— संजय प्रेम बिबस भये भारी। कहत कहउँ का नृप गयों मारी॥
अर्जुन के बस भये बिहारी। मैं न भयों ऐसो अधिकारी॥

सञ्जय अत्यन्त प्रेम के वशीभूत होकर बोले- हे राजन्! क्या कहूँ? मैं तो बिना मारे ही मारा गया; क्योंकि भगवान तो एकमात्र अर्जुन के [वशीभूत] हो गये हैं, अहो! [दुर्भाग्य है कि] मैं ऐसा अधिकारी न हो सका।

इकटक चितवनि ब्रह्म पार्थ कर। अस सोभा बनि निरखत सुर नर॥
यह चितवनि यह मिलनि परस्पर। निरखि बिकानौं अब माधव कर॥

हे राजन्! महात्मा अर्जुन और परब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की निर्निमेष दृष्टि की ऐसी

शोभा बनी हुई है कि मनुष्य और देवगण विस्मित हो निहार रहे हैं। उनका यह परस्पर मिलना और एक-दूसरे को निहारना देखकर मैं अब भगवान माधव के हाथों बिक गया हूँ।

पार्थ चकित चित चितवत अंतर। अहहिं ब्रह्म पर मति बितर्क कर॥
सत्य ईस कै सपनो आही। अबलौं लख्यों बंधु मित जाही॥

महात्मा अर्जुन आश्चर्य चकित होकर अपने हृदय में अनुभव कर रहे हैं कि ये तो [साक्षात्] भगवान ही हैं, परन्तु बुद्धि तर्क कर रही है कि अब तक जिसे मैंने भ्राता और मित्र के समान देखा, वे सच में भगवान हैं अथवा यह स्वप्न है?

हौं मैं कौन बिचारत कबहूँ। जाको प्रेम करैं हरि अबहूँ॥
प्रेम बात अटपटि अस भावति। मन तरंग खटपटि उपजावति॥

कभी विचार कर रहे हैं कि मैं कौन हूँ, जिसे भगवान अभी भी प्रेम कर रहे हैं? हे राजन्! प्रेम की बात तो ऐसी अटपटी होती ही है कि मन की तरंगें खटपट पैदा करती रहती हैं।

भा बिस्वास रूप करुनाकर। अहइ इहइ सच न्याय घुनाक्षर॥
रूप परम निधि पियत नयन भरि। हृदय दुरावत चरन नमन करि॥

तो भी यह विश्वास हो गया है कि यह छवि करुणाकर भगवान की ही है; यथार्थ में यही घुनाक्षर न्याय है। इस प्रकार वे छवि के सागर भगवान की रूप माधुरी का अपलक नेत्रों से पान कर तृप्त हो रहे हैं और उसे चरण वन्दना करके हृदय में छिपा लेते हैं।

दोहा— अब लगि जिन्हके कर बिक्यों योग छेम नहिं पूर।
ते पितु मातहु सगे सब रहत सदा मदचूर॥ ११५॥

हे राजन्! जिन माता पिता, सगे-सम्बन्धियों के हाथों मैं अब तक बिका हुआ था, उनसे मेरा योगक्षेम पूर्ण हो ही नहीं सकता क्योंकि वे सदा अहंकार में ही चूर रहते हैं।

चौपाई— राजन आज भूल निज जान्यों। देखत इत उत जनम बितान्यों॥
जान्यों मधुसूदन त्रिभुवन पति। यासों उर दृग खुल्यो न अस गति॥

हे राजन्! आज मैं अपनी भूल को समझ गया कि अब तक इधर-उधर देखते हुए मैंने जन्म व्यतीत कर दिया। मैंने तो त्रिभुवन के स्वामी को एकमात्र मधुसूदन समझ रखा था, इसलिए ऐसी स्थिति हो गयी कि अब तक भी हृदय की आँख नहीं खुली।

अस मन करत धाइ गहुँ प्रभु पद। जस कै भगत संत बेदहु बद॥
त्यागि जगत चाकर बनुँ इन्हके। सुमिरत सिद्ध मुनिहु पद जिन्हके॥

अत: ऐसा मन कर रहा है कि अभी दौड़कर भगवान के चरण पकड़ लूँ, जैसा कि भक्त सन्त और वेद भी कहते हैं। जगत का [सर्वथा] त्याग करके इन्हीं का सेवक बन जाऊँ जिनके श्रीचरणों का सिद्ध तथा मुनिजन सुमिरन किया करते हैं।

जुग जुग भगत तरें बहु इनसों। लहहिं जितेंद्रिय किरिपा जिनसों॥
एहि बिनु भगति आय नहिं कबहूँ। मन सँग इंद्रिं बिषय रत अबहूँ॥

हे राजन्! युगों-युगों से भक्त इन्हीं की कृपा से भवसागर पार करते आये हैं, जिनसे महात्मा अर्जुन भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर रहे हैं। ऐसा किये बिना कभी भी भाव-भक्ति [हृदय में] आ नहीं सकती क्योंकि अभी भी इन्द्रियों सहित मेरा मन विषयों में ही रत है!

झूठो सुख सब अपनो मान्यों। यासें हरि बच मरम न जान्यों॥
अघ पर्बतहिं बढ़ायों निसदिन। भयों बलहीन आयु गइ गिन गिन॥

मैं समस्त झूठे सुखों को अपना मानता रहा, इसीलिए भगवान की वाणी का रहस्य जान नहीं पाया। प्रतिदिन पापरूपी पहाड़ को बढ़ाते हुए बलहीन हो गया तथा गणना करते हुए ही आयु व्यतीत हो गयी।

दोहा— खायों सूकर स्वान सम भाग्यों अंधन साथ।
जिमि अंजलि जल रिसत तिमि कछु नहिं लाग्यो हाथ॥ ११६॥

मैं अंधों के साथ ही दौड़ते हुए कुत्ते एवं सूअर के समान ही उदर पूर्ति में लगा रहा; जिस प्रकार अंजलि का जल रिस-रिसकर गिर जाता है, उसी प्रकार कुछ भी हाथ नहीं लगा।

चौपाई— अर्जुन योगछेम के भाजन। सुनत नृपति अति भये खिन्न मन॥
गहरी स्वाँस लेइ नृप बोले। उर अति भय पर ताहि न खोले॥

अर्जुन ही योगक्षेम के अधिकारी हैं- ऐसा सुनते ही राजा धृतराष्ट्र का मन मलिन हो गया। उनके हृदय में अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया किन्तु उसे छिपा कर गहरी श्वास लेते हुए बोले-

संजय बिधना जे लिखि राख्यो। कोउ नहिं मेटि सके सच भाष्यो॥
यासों कह जो रन महँ होवे। ब्यर्थ बात महँ समय न खोवे॥

सञ्जय! सच कहा गया है कि विधाता ने जो लिख दिया है, उसे कोई भी मिटा नहीं सकता। इसलिए जो रणभूमि में हो रहा है, उसे बताओ, व्यर्थ बातों में समय न बिताओ!

महाराज कह अति हरषाई। सुनहु भगत साधक चित लाई॥
पुनि पुनि योगछेम कर मरमहिं। खोलइ उर कर जावे भरमहिं॥

अब महाराज भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ [कुछ] कह रहा है अर्थात् योगक्षेम के रहस्य को पुनः पुनः खोल रहा है। अतः साधक एवं भक्त एकाग्रचित्त होकर सुनें; जिससे हृदय का सारा भ्रम मिट जायेगा।

होय जो भक्तन्ह पहिं सो रक्षउँ। जो जो काल होय तेहि भक्षउँ॥
लाइ देउँ उन्ह कहँ जो चाहैं। यासें मोमें सो निरबाहैं॥

[भगवान का स्पष्ट कहना है कि] भक्तों के पास जो है, उसकी रक्षा करता हूँ और जो-जो कालस्वरूप होता है उसका भक्षण करता जाता हूँ तथा वे जो कुछ भी चाहते हैं उन्हें लाकर देता हूँ, इस प्रकार वे मुझसे मुझमें ही निर्वाह करते हैं।

दोहा— अस कहि पुनि पन खोलि प्रभु भक्तन्ह सुरति दिलायँ।
तउ न गहत पद हर्ष भरि जनम जनम बिकलायँ॥ ११७॥

ऐसा कहकर भगवान भक्तों को स्मरण दिलाते हुए पुनः पुनः अपनी प्रतिज्ञा खोलकर कह रहे हैं कि [भक्तों के योगक्षेम का भार मैं नित्य वहन करता हूँ] तो भी अज्ञानीजन हर्ष में भरकर मेरी चरण-शरण में नहीं आते अतः जन्म-जन्म विकल होते रहते हैं।

चौपाई— जब तुम्ह कहउ भगत हौं साँचो। तब काहे तुम्हरो मन काँचो॥
मन न बने तुम्हरो हरिराई। तौ अनन्य भक्ती कहँ भाई॥

जब आप कहते हैं कि मैं सच्चा भक्त हूँ तो आपका मन परिपक्व क्यों नहीं है ? जब भगवान नारायण आपका मन नहीं बन सके तो आपमें अनन्य भक्ति कहाँ है ?

बने न मति तुम्हरी यदुराई। पुनि तुव हृदय भगति कहँ आई॥
बने हृदय नहिं तुम्हरो साँई। तौ कस भगतिहिं देहु दुहाई॥

उसी प्रकार जब भगवान यदुनाथ आपकी बुद्धि नहीं बन सके तो आपके हृदय में अनन्य भक्ति कहाँ आयी है ? जब भगवान आपके हृदय नहीं बने; तो आप भक्ति की दुहाई कैसे देते हैं ?

सुख महँ हर्षहु दुख बिलखावहु। हानि न सहउ लाभ गुन गावहु॥
तउ तुम्ह कहउ भगत प्रभु केरौ। अरे अबहुँ अपुनो उर हेरौ॥

आप सुख में हर्षित और दुःख में विकल हो जाते हैं तथा हानि न सहते हुए लाभ का ही गुणगान करते रहते हैं [अर्थात् चाहना करते रहते हैं], तो भी आप कहते हैं कि मैं भगवान का भक्त हूँ! अरे! [कम से कम] अब तो अपने हृदय में झाँककर देखें।

जे कछु लिख्यो होय जब सोई। मेटि सकत नहिं कह सब कोई॥
तुम्हहू यहइ सबहिं पहिं गावहु। तब क्यों करुनासिंधु मनावहु॥

जो कुछ भाग्य में लिखा है वही होकर रहेगा, कोई उसे मिटा नहीं सकता- ऐसा सभी कहते हैं और यदि आप भी सबके पास यही कहते हैं, तो आप करुणा के सागर भगवान की आराधना क्यों कर रहे हैं ?

दोहा— जब प्रारब्ध कराय अरु कर सोइ तब तुम्ह काहि।
तुम्हरो बन्यो न कर्म प्रभु कस भगती उर आहि॥ ११८॥

जब प्रारब्ध ही आपके द्वारा करता और कराता है तो आप कौन हैं ? जब भगवान आपके कर्म नहीं बने तो आपके हृदय में कैसी भक्ति आयी हुई है !

चौपाई— प्रभु बिनु देखे आँखि हिरानी। बने न तउ तुम्हरो दिन दानी॥
आतम बिद्यहिं सुननो वारो। कान गयो नहिं कछु उपचारो॥

भगवान को देखे बिना आपकी आँख चली गयी तो भी वह दीनों पर दया करने वाला भगवान आपकी आँख नहीं बन सका तथा [सद्गुरु द्वारा] आत्मविद्या सुनने वाला कान चला गया जिसका कोई उपचार ही नहीं है।

ऐसी कैसी भगति तुम्हारी। आइ बने नहिं श्रवन मुरारी॥
रसना रस महँ जाय भुलाई। सो नहिं बनि आये यदुराई॥

आपकी ऐसी कैसी भक्ति है कि भगवान आकर आपके कान नहीं बन सके ? आपकी रसना भी रस मिलने पर सब कुछ भूल जाती है, अत: [सिद्ध है कि] भगवान आपकी जिह्वा भी नहीं बन सके।

नासा दिब्य गंध नहिं लहई। नहिं पतियाउँ भगति कहुँ अहई॥
हाथ पाँव तन सम नहिं बैठत। ध्यान भजन महँ ते बहु ऐंठत॥

आपकी नाक ने [अन्तरवर्ती] दिव्यगन्ध (ब्रह्मगन्ध) को प्राप्त नहीं किया, अत: मुझे यह विश्वास नहीं है कि आपमें कहीं भी भक्ति का वास है। ध्यान-भजन में भी आपके हाथ-पाँव तथा शरीर सम-शान्त होकर नहीं बैठते, उद्विग्न बने रहते हैं।

यासों तुम्हरो तन नहिं प्रभु तन। मन न लगे तो समुझउ तुव मन॥
पाइ अनन्य भगत यदुराई। तन मन बचन बनत मुदिताई॥

इससे सिद्ध होता है कि आपका शरीर भगवान का शरीर नहीं है। इसी प्रकार यह भी जान लें कि मन स्थिर नहीं होता तो वह भी आपका ही है [भगवान का नहीं है]। भगवान यदुनाथ परम प्रसन्नता के साथ अनन्य भक्त को पाकर उसका तन, मन, वचन अर्थात् सर्वस्व बन जाते हैं।

दोहा— बानी अस कस स्याम गुन जो कबहूँ नहिं गाय।
भक्तन्ह बानी लखहु तो गावत गुन न अघाय॥ ११९ (क)॥

[आपकी] ऐसी कैसी वाणी है, जो कभी भी भगवान श्यामसुन्दर का गुणगान नहीं करती ! यदि आप भक्तों की वाणी को देखें तो पायेंगे कि उनकी वाणी भगवान के गुणों को गाती हुई अघाती ही नहीं।

सोरठा— तबहीं समझ्यो जाय सुखनिधान बानी बने।
मात्र बेद प्रगटाय बरु नहिं सो कछु पढ़्यो कहुँ॥ ११९ (ख)॥

कृपानिधान भगवान ही वाणी बने हुए हैं- यह बात तभी समझी जायेगी जब उससे केवल वेद ही प्रकट होने लगे, भले उसने कहीं कुछ भी न पढ़ा हो।

सरनागति के पूर्ब आइ गयो जो जो असुभ।
महिमा हरिहिं अपूर्ब तिन्हहिं सबहिं सच ते हरहिं॥ ११९ (ग)॥

भगवान नारायण की महिमा ऐसी अपूर्व है कि शरणागति के पूर्व जो-जो भी अशुभ तत्त्व आ गये हैं, [शरणागत होने पर] वे सच में उन सबका हरण कर लेते हैं।

चौपाई— पुनि का हानि भई तुम्ह बोलउ। मति अरु दृष्टि अबहुँ तो खोलउ॥
रक्षत रहनो चाहिय जाही। लाय देत जो चाहिय ताही॥

अत: आप ही बतायें कि फिर क्या हानि हुई ? अब तो आप अपनी बुद्धि और नेत्र को खोल लें। अरे ! जो रहना चाहिए, उसकी वे रक्षा करते हैं और जिसकी आवश्यकता होती है उसे लाकर देते हैं–

पुनि क्यों कल की चिंता प्रानी। करउ कहहिं प्रभु अस निज बानी॥
भक्त अनन्य द्रौपदी माता। पाँचों सुत लेइ लीनि बिधाता॥

फिर प्रभु का कहना है कि आपको भविष्य की चिन्ता क्यों होनी चाहिए ? अरे ! अनन्य भक्त तो माता द्रौपदी थी कि पाँचों पुत्रों को विधाता ने ले लिया–

तउ उर मोह बयारि न आई। वैसेइ माधव के पद धाई॥
बचे न पांडव सुत रन एकउ। पर प्रभु तजि न लिये जग टेकउ॥

तो भी उसके हृदय में मोह–ममता रूपी बयार नहीं लगी बल्कि पूर्व की भाँति भगवान श्रीकृष्ण के ही चरणों की आराधना करती रही। उसी प्रकार पाण्डवों के एक भी पुत्र रणभूमि में नहीं बचे, परन्तु भगवान की शरणागति को त्यागकर उन्होंने संसार का आश्रय नहीं लिया।

सपनेहुँ नाहिं कहे अस भाई। अस कस योगछेम यदुराई॥
यासे अंत यती बनि ध्याये। कछुक काल महँ हरि पद पाये॥

हे भाइयो ! उन्होंने स्वप्न में भी ऐसा नहीं कहा कि हे यदुनाथ ! यह आपका कैसा योगक्षेम है ? इसीलिए वे अन्तकाल में संन्यासी बनकर निकल पड़े और कुछ समय में ही ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया।

दोहा— परम सिद्ध इक संत जू बन रह कुटी छवायँ।
महाराज सों एक दिन निज की कथा सुनायँ॥ १२०॥

[हे साधको !] एक परम सिद्ध सन्त जो वन प्रदेश में झोपड़ी बनाकर रहते थे, उन्होंने [सहज ही] महाराज से एक दिन अपनी कथा सुनाई–

चौपाई— एक दिना मन महँ बिकलायों। हरि न भज्यों नहिं गृह सुख पायों॥
दुइ महँ एकउ भयो न अबलौं। पावउँ निज कहँ अरु हरि कबलौं॥

कि एक दिन मन में [यह सोच कर] अत्यन्त व्याकुल हो गया कि न तो मैंने भगवान का भजन किया और न ही गृहस्थाश्रम का ही सुख प्राप्त किया। अभी तक तो दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं हुआ ! मैं अपने स्वरूप को और भगवान को कब प्राप्त करूँगा !

माँ पितु सुत तिय नेहहिं माहीं। आयु गई जिन्ह उर हरि नाहीं॥
नाना बिषय दवानल आयो। मोह वात सों जो भभकायो॥

जिनके हृदय में भगवान हैं ही नहीं, मैंने उन माता–पिता, स्त्री–पुत्र के स्नेह में जीवन व्यतीत कर दिया। मेरे हृदय में नाना प्रकार के विषयरूपी दावानल प्रकट होते रहे, जो मोहरूपी वायु से और भी भड़क उठे।

मन महँ अपर हुतों कछु ठान्यों। पर औरें होयो सच मान्यों॥
चित्त चकोर बिमुख भयो ऐसो। ब्रह्मज्ञान ससि मौन अनैसो॥

मैंने मन में कुछ और ही निश्चय किया था, परन्तु कुछ और ही होता रहा जिसे मैं सच मानता रहा। मनरूपी चकोर ऐसा विमुख हुआ कि ब्रह्मज्ञानरूपी चंद्रमा भी अनमना होकर मौन हो गया।

जग भरमत दारुन दुख पायों। टेब पुरानी तउ न भुलायों॥
सदगुरु बचन सुरति भइ तबहीं। महत बिराग होय उर जबहीं॥

अब तक मैं जगत में भ्रमित होता हुआ बहुत ही दु:ख प्राप्त करता रहा तो भी पुराना स्वभाव नहीं गया। तभी सद्गुरु का वचन याद हो आया कि जब भी तुम्हारे हृदय में निर्मल वैराग्य प्रकट हो जाय–

दोहा— तेहि छन धन दारा सुअन परिजन पुर परिवार।
त्यागि लेहु संन्यास पद तन न मिलत बहु बार॥ १२१॥

उसी समय धन, स्त्री, पुत्र, परिजन, गाँव, परिवार को त्यागकर संन्यास ले लेना; क्योंकि मनुष्य शरीर बार–बार नहीं मिलता।

चौपाई— सोइ कीन्हों सब तजि बन आयों। मौन ग्रहण करि जोग रमायों॥
बहुतैं दिनन नाहिं कछु आयो। खायों नहिं जल पियत गँवायो॥

मैंने वही किया- सर्वस्व का त्याग कर वन में आ गया और मौन धारण करके योग में रमण करने लगा। बहुत दिनों तक तो कुछ खाने को आया ही नहीं, अत: खाया नहीं बल्कि जल पीकर ही समय व्यतीत किया।

तन बलहीन लकुटिया टेकी। चलुँ तउ नहिं बिसरउँ प्रभु नेकी॥
बात न योगछेम बिसरायों। डिगेउँ न जप तप चित्त रमायों॥

शरीर बलहीन होने से डंडा लेकर चलने लगा, तो भी भगवान का उपकार तथा योगक्षेम की बात नहीं भूला, चित्त इतना रम गया कि जप-तप से विमुख नहीं हुआ।

महत परम पद पायों जबहीं। हर्षित एक भगत कह तबहीं॥
प्रभु ऐसो कस तव भगवाना। तुरतहि दिये न खानउ दाना॥

इस प्रकार जब मैंने ब्रह्मपद को प्राप्त कर लिया तब एक भक्त ने प्रसन्नतापूर्वक कहा- हे प्रभो! आपका भगवान कैसा है जिसने उस समय [जबकि आप उसी के आश्रित थे] आपको कुछ खाने-पीने को नहीं दिया।

योगछेम तब कहँ भयो पूरो। प्रभु कहनो यह लगत अधूरो॥
कह्यों न अस तब तप नहिं करतों। खाइ बहुत जोगहिं अनुहरतों॥

अत: योगक्षेम कहाँ पूरा हुआ? इसलिए भगवान का यह कहना [कि मैं स्वत: भक्तों के योगक्षेम का निर्वहन करता हूँ] असंगत लगता है। तब मैंने कहा कि यदि ऐसा नहीं होता तो मैं तप नहीं कर पाता बल्कि भरपेट खा-पीकर ही योग करता।

दोहा— जबकै तप आधार बिनु जोग न सरै कहाय।
जोग सरे बिनु सक्ति नित आवति किंतु बहाय॥ १२२ (क)॥

जबकि कहा जाता है कि तपरूपी आधार के बिना योग पचता ही नहीं है तथा योग के पचे बिना यद्यपि शक्ति नित्य प्राप्त तो होती है किन्तु क्षीण भी होती रहती है।

रोग लगे बहु खाइकै मन जासों बिकलाय।
होय उचाटन जोग सों पुनि सो बिषय रमाय॥ १२२ (ख)॥

[इतना ही नहीं,] अधिक खाकर योग करने से शरीर में बहुत-से रोग लग जाते हैं, जिससे मन व्याकुल हो जाता है और योग से उच्चाटन हो जाता है, अत: वह पुन: विषयों में रमने लगता है।

चौपाई— यासों हरि नहिं लाइ खिलाये। पहिलैं तप बनि मम उर आये॥
तप सँग योग करत सिधि आईं। मन मति इंद्रीं अति हरषाईं॥

इसीलिए भगवान ने मुझे लाकर खिलाया नहीं बल्कि सर्वप्रथम तप बनकर मेरे हृदय में आ गये। इस प्रकार तप के साथ योग करने पर बहुत सी सिद्धियाँ आयीं जिससे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रफुल्लित हो गयीं।

अति उत्साह बढ़्यो बिस्वासा। अपुनें आपु गई जग आसा॥
कंद मूल फल आवन लाग्यो। जान्यों यहि बनि प्रभु अनुराग्यो॥

ऐसा होने से अत्यन्त उत्साह और विश्वास बढ़ गया तथा संसार की आशा स्वत: ही समाप्त हो गयी। जब कन्द-मूल, फल-फूल आने लगा तो मैंने जान लिया कि भगवान ही इन रूपों में आये हैं।

अति लघु लेउँ न बहुत अघाऊँ। जप तप संगहि योग रमाऊँ॥
तब प्रभु ब्रह्मज्ञान बनि आये। यहि सच योगछेम कहलाये॥

अत: अधिक नहीं अपितु अत्यन्त हल्का आहार लेकर सन्तुष्ट रहता था तथा जप-तप के साथ ही योग में रमण करता था। तब भगवान ब्रह्मज्ञान बनकर आ गये यथार्थ में यही तो योगक्षेम पूरा करना कहा जाता है।

दोहा— महाराज सच चाहतो तुम्ह सबसों यहि भाव।
भजहु सदा भगवंत पद रहे न कछुक अभाव॥ १२३॥

[हे साधको!] महाराज भी आप सबसे सच में यही चाहता है कि आप सब भी इसी भाव से सदा भगवच्चरणों

का भजन करें जिससे आपके पास थोड़ा भी अभाव न रह जाय।

चौपाई— देख्यो महाराज एक साधक। जो बिनु गुरु गृह प्रभु अवराधक॥
सिक्षा गुरु कुलगुरु सदगुरु सम। पूजत जस गायो निगमागम॥

महाराज ने भी एक साधक को देखा है जो बिना सद्गुरु के ही घर में भगवान की आराधना करते हुए शिक्षा गुरुओं एवं कुलगुरुओं की भी सद्गुरु के समान उपासना करता था जैसा कि वेद-शास्त्र कहते हैं।

मनसेइ जप तप करत घनेरो। मातु पिताहू कर भयो चेरो॥
तहँ न पाय कछु संत समागम। पढ़त न निसदिन महँ कोउ आगम॥

वह मन से ही घोर जप-तप करने लगा तथा माता-पिता का भी सेवक बन गया। [सन्तों का आना-जाना न होने से वहाँ] उसे थोड़ा भी सन्त समागम प्राप्त नहीं होता था और न ही वह कभी कोई शास्त्र ही पढ़ता था।

योगछेम की जान न भासा। प्रभु दरसन की बस इक आसा॥
चारि बरष महँ भयो बिरागी। मातु पिता आयसु तब माँगी॥

[इतना ही नहीं] वह तो योगक्षेम की परिभाषा भी नहीं जानता था, मात्र भगवान के दर्शन की ही अभिलाषा थी। इस प्रकार जब वह चार वर्षों में ही निर्मल वैराग्य से सम्पन्न हो गया तो माता-पिता से आज्ञा माँगकर-

कानन जात रह्यो मग माँही। देख्यो संत गयो तिन्ह पाहीं॥
जदपि चाह गुरु की मन नाहीं। जप तप कर अभाव नहिं ताहीं॥

[भजन करने के लिए] वन प्रदेश को चल दिया। मार्ग में एक सन्त को देखा और उनके पास चला गया। यद्यपि उसके हृदय में गुरु की इच्छा नहीं उठी थी क्योंकि उसके पास थोड़ा भी जप-तप का अभाव नहीं था-

दोहा— तउ बनाइ गुरु उनहिं सो उनसेइ प्रभुपद पाइ।
कह सच प्रभु पूरो करत योगछेम हरषाइ॥ १२४॥

तो भी उसने उन्हें सद्गुरु बनाया और [कृपास्वरूप] उनसे ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया तथा कहने लगा कि सत्य ही भगवान प्रसन्नतापूर्वक भक्तों का योगक्षेम पूरा करते हैं।

चौपाई— कहेउ सो हरि के जब होइ जावहु। मन सों सदा जगत बिसरावहु॥
पुनि देखहु जब जे कछु चाहे। कैसे प्रभु सोइ बनि निर्बाहे॥

उस (साधक) ने कहा कि मन से जगत को सदा के लिए त्यागकर एकमात्र भगवान के हो जायें और फिर देखें कि जब जो कुछ भी आपको चाहिए वही वस्तु बनकर भगवान आपके योगक्षेम का कैसे निर्वहन करता है!

योगछेम पूरै नहिं जबहूँ। समझहु साँचो भगत न तबहूँ॥
कहुँ न कहूँ अनन्यता नाहीं। खोजहु नित अपुनें मन माहीं॥

किन्तु जब आपका योगक्षेम पूरा न हो तो आप जान लें कि मैं वास्तविक भक्त नहीं हूँ। अवश्य ही कहीं न कहीं आप में अनन्यता का अभाव है, अत: नित्य अपने हृदय में [उस अभाव की] खोज करें।

ज्ञानपंथ महँ अस अनन्यता। अपुनों सों नहिं कहूँ भिन्नता॥
जहँ जो दीखै स्वयं लखावे। यहइ अनन्य भगति कहलावे॥

ज्ञानमार्ग के अन्तर्गत यही अनन्यता है कि स्वयं से कहीं कुछ भी अन्य न दिखाई पड़े बल्कि जहाँ जो कुछ भी दिखाई पड़े वह अपना ही रूप दिखाई पड़े, यही अनन्य भक्ति कही जाती है।

भगति पंथ महँ अपुनो स्वामी। बन्यो रूप सब अंतरजामी॥

तथा भक्तिपथ [की अनन्यता ऐसी है कि उस] में अपना अन्तर्यामी भगवान ही सर्वरूप बना होता है।

दोहा— लखत अलखत भलो बुरो जहँ लगि जग दिखराय।
मेरोइ प्रभु सब दीखतो भगति अनन्य कहाय॥ १२५॥

अत: 'जो दीख रहा है अथवा नहीं दीख रहा है, भला है या बुरा है तथा जहाँ तक संसार दिखायी पड़ रहा है; उन सब रूपों में मेरा भगवान ही दिखाई दे रहा है'- यही अनन्य भक्ति कही जाती है।

चौपाई— सुनहु परंतप कह हरिराई। भगत अनन्य अहउ तुम्ह भाई॥
यासों कहउँ करहु तुम्ह सोई। गुरुवन्ह लोक लाज सब खोई॥

उधर भगवान यदुनाथ भक्त अर्जुन से कह रहे हैं कि हे परंतप! तुम तो अनन्य भक्त हो, अत: सम्पूर्णतया लोकलज्जा तथा गुरुजनों के प्रति शील-संकोच त्यागकर, मैं जो कहूँ वही करो।

कहत पार्थ जब तुम्ह जग साईं। तब पूजत सब तुम्हहिं गुसाईं॥
पुनि जो अपर देवतन्हि ध्यावत। तिन्ह बपु महँ तुम्हरो गुन गावत॥

महात्मा अर्जुन ने कहा कि हे प्रभो! जब आप ही जगतरूप हैं तब तो सब आपकी ही उपासना कर रहे हैं। फिर तो जो अन्य देवताओं की उपासना कर रहे हैं, उन रूपों में भी वे आपका ही गुण गा रहे हैं?

हँसि कह प्रभु सच बात तुम्हारी। पूजा सबही करत हमारी॥
पर अज्ञान ग्रहण करि पूजें। भाव रखैं सुर मोमें दूजें॥

भगवान ने हँसकर कहा- हे पार्थ! तुम्हारी बात सच है, [इस न्याय से] सभी पूजन तो मेरा ही करते हैं परन्तु वे पूजा अज्ञान के साथ करते हैं; क्योंकि मुझमें और देवताओं में भिन्न-भिन्न भाव रखते हैं।

ते नहिं मान बन्यों सुर सारे। यासें उनसेइ याचत हारे॥
अरु न जान जो कछु भल होई। श्रौत स्मार्त यज्ञ फल सोई॥

वे यह नहीं मानते कि मैं ही समस्त देवी-देवता बना हुआ हूँ, इसीलिए वे विवश हुए उनसे ही बहुत प्रकार से याचना करते हैं और वे यह भी नहीं जानते कि जो कुछ भी अनुकूल घटता है, वह पूर्वकृत श्रौत और स्मार्त आदि अनुष्ठानों का ही [परिणामरूपी] फल है।

दोहा— देवरूप होइ जाहि मैं भोगउँ ते नहिं जान।
यासें भव पुनि पुनि परत करत बृथा अभिमान॥ १२६॥

उनके [द्वारा देवताओं के निमित्त किये गये] यज्ञ आदि को देवताओं के रूप में मैं ही भोगता हूँ परन्तु वे इसे नहीं जान पाते; इसीलिए वे जगत में बारम्बार आते-जाते रहते हैं और मिथ्या ही अभिमान करते हैं।

चौपाई— अस नहिं कै कछु फल नहिं पावत। जो पावत सब सास्त्र लखावत॥
सुर पूजक सुरगति सच पावत। पूजक पितर पितर होइ धावत॥

ऐसा नहीं है कि वे [देवयज्ञ करने से] कुछ फल पाते ही नहीं हैं बल्कि जो कुछ भी पाते हैं, उसे तो शास्त्र बताते ही हैं कि देवताओं की पूजा करने वाले यथार्थ में देवगति को प्राप्त होकर तथा पितरों की पूजा करने वाले पितर होकर [पुण्य समाप्त होने पर संसारचक्र में] आते-जाते रहते हैं।

भूत प्रेत पुजि सोइ बनि जावें। जनम जनम बहुतहि दुख पावें॥
किंतु अनन्य भाव भजि मोको। पायँ आत्मपद अतिहिं बिसोको॥

और भूत-प्रेत पूजने वाले भूत-प्रेत बन जाते हैं तथा जन्म-जन्मान्तरों में अनेकों दु:ख प्राप्त करते रहते हैं; परन्तु जो अनन्य भाव से मुझे भजते हैं, वे शोक से सर्वथा रहित महत् आत्मपद को प्राप्त कर लेते हैं।

आत्मरूप बनि सब उरबासी। होइ करें निज प्रिय सुखरासी॥
पार्थ कहे प्रभु काह सुनावहु। जब एहि जगतहिं ब्रह्म बतावहु॥

वे आत्मरूप होकर सबके हृदय में वास करते हुए अपने भक्तों को भी सुखमय बना देते हैं। महात्मा अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! यह आप क्या सुना रहे हैं, जब समस्त जगत ब्रह्म ही है, ऐसा बता रहे हैं-

तब कस पितर प्रेत सुर जनमत। नाथ न समुझउँ तुम्हरो यह मत॥
बिहँसि कृपानिधि तब अस बोले। सुनु खोलउँ मैं मरम अमोले॥

तब पितर, प्रेत और देवता आदि कैसे जन्म ले लेते हैं। हे नाथ! मैं आपका यह सिद्धान्त नहीं समझ पा रहा हूँ। तब कृपानिधि भगवान ने मुस्कुराते हुए ऐसा कहा- हे पार्थ! ध्यान देकर सुनो, मैं अत्यन्त अमूल्य रहस्यों को खोल रहा हूँ कि-

श्रद्धा युत जेहिं रूपहिं ध्यावे। ताकोइ रूप सोइ बनि जावे॥

जो [अत्यन्त] श्रद्धा से युक्त होकर जिस रूप का ध्यान-भजन करता है वह सम्पूर्णतया उसी का रूप हो जाता है।

सोरठा— मोमें नहिं कछु चाह यासों जो चह सोइ बनूँ।
तस तहुँ कर निर्बाह मोर अंस माया प्रबल॥ १२७॥

मुझमें कुछ भी चाहना नहीं है, इसलिए जो जैसा चाहता है वैसा ही बन जाता हूँ। तुम भी वैसे ही [मेरे प्रति अनन्य भक्ति के द्वारा] निर्वाह करो; क्योंकि मेरी प्रबल माया भी तो मेरा ही अंश है।

चौपाई— संजय यह सब नृपति सुनाये। सो सुनि मूढ़ सरिस झल्लाये॥
तब तो संजय सुर कोउ नाहीं। सास्त्र बेद सब झूठ कहाहीं॥

[इधर] सञ्जय ने यह सब कुछ राजा धृतराष्ट्र से कह सुनाया और वे यह सब सुनकर मूर्खों के समान झल्लाकर बोले- सञ्जय! तब तो किसी देवता का कोई अस्तित्व ही नहीं है, क्या शास्त्र-वेद सब झूठ कहते हैं?

हाँ राजन सच कह यदुराई। अस करि दीन्हे पूर्ब दिखाई॥
गोबर्धन पूजन तुम्ह जान्यो। सात दिना सुरपति बरसान्यो॥

हाँ, राजन्! भगवान यदुनाथ सत्य ही कह रहे हैं; क्योंकि ऐसा उन्होंने पूर्व में करके दिखा दिया है। आप गोवर्धन पूजन को तो जान ही रहे हैं कि सात दिनों तक देवराज इन्द्र ने अति वृष्टि की थी।

कछु न भयो ब्रज बोरन आयो। घट्यो मान पाइनि तर धायो॥
प्रेत पिसाच पिसाचिनि डाकिनि। अरु बेताल योगिनी साकिनि॥

तो भी कुछ नहीं हुआ जबकि वे ब्रज को डुबोने आये थे और उनका मान घट गया तथा वे उलटा भगवान के शरणागत हो गये। [आपने सुना ही होगा कि] प्रेत, पिशाच, पिशाचिनी, डाकिनी और बैताल तथा योगिनियों एवं शाकिनियों को-

भेज्यो कंसहु मारन इन्हकौ। ये खेलाइ बहु मारे तिन्हकौ॥
अंत कंस सिसुपालहु मारे। भये सभीत नृपति महि सारे॥

कंस ने इन्हें मारने के लिए भेजा था। इन्होंने उन सभी को नचा-नचाकर कर मार डाला तथा अन्त में शिशुपाल एवं कंस का भी वध कर दिया, जिससे धरा के समस्त राजा भयभीत हो गये।

पुनि ऐसो कह काह अचंभो। इन्हहिं अराधें हरि अज संभो॥
पुनि पुनि नृप सब नाक कटाये। तउ निलज्ज नहिं नेकु लजाये॥

पुनः सञ्जय ने ऐसा कहा कि इसमें आश्चर्य भी क्या है! इनकी तो ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव भी उपासना करते हैं। राजाओं ने बारम्बार इनसे नाक कटवा ली तो भी वे ऐसे निर्लज्ज हैं कि उन्हें लाज नहीं आती।

दोहा— उत हरि कह देवन्ह सरिस मम पूजा न कराय।
अपितु मोरि नित साधना अतिहिं सुगम करि जाय॥ १२८ (क)॥

उधर भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! मेरी पूजा देवताओं की पूजा के समान नहीं की जाती अपितु मेरी साधना नित्य ही अत्यन्त सहजता से की जा सकती है।

अर्जुन भगत अनन्य जो पत्र पुष्प फल तोय।
देत कछुक अति प्रीतियुत स्वयं ग्रहण करुँ सोय॥ १२८ (ख)॥

हे पार्थ! अनन्य भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल एवं जल आदि- जो कुछ भी अत्यन्त प्रीति पूर्वक अर्पित करता है, उसे मैं स्वयं प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

चौपाई— आसन असन मंत्र सुचि पावें। देबी देव तबहिं हरषावें॥
इनिमहँ असुचि जो एकउ होई। देवैं साप मूँदि दृग सोई॥

किन्तु देवी-देवता तो आसन, अशन और मंत्र शुद्धि की प्राप्ति होने पर ही प्रसन्न होते हैं। जहाँ इनमें से एक की भी अशुद्धि होती है वहाँ वे आँख मूँदकर शाप दे देते हैं।

कोउ न त्रिलोकहु प्रेम पियासा। भूत पितर सुर भोगन्हिं आसा॥
प्रेमभूख जग महँ बस मोहीं। साँच बताउँ धनंजय तोहीं॥

तीनों लोकों में कोई भी प्रेम के लिए लालायित नहीं है, यहाँ तक कि भूत-पितर एवं देवता आदि तो एकमात्र विषय की चाहना वाले होते हैं। हे धनंजय! तुमसे सत्य बात बता रहा हूँ कि जगत में प्रेम की भूख तो एकमात्र मुझे ही है।

जब मम भगत होय प्रेमातुर। तब उपजत बियोग मेरोहु उर॥
भगत मोहिं सो नेकु न बिसरत। जिय उमगत अस तन सुधि निकरत॥

जब भक्त प्रेमातुर हो जाता है तो मेरे हृदय में भी व्याकुलता प्रकट हो जाती है और उस भक्त को मैं तनिक भी भुला नहीं पाता बल्कि मेरा हृदय ऐसा उल्लसित हो उठता है कि मुझे देह की भी सुधि नहीं रहती।

एकउ घरी न ताहि बिसारउँ। अगुन सगुन तापर बपु बारउँ॥
मम पग बँधे याहि परमिति सों। जो मोहिं भजे भजउँ तेहि रिति सों॥

मैं एक क्षण के लिए भी उसे नहीं भूल पाता और निर्गुण तथा सगुण दोनों ही स्वरूपों को उसी पर न्योछावर कर देता हूँ। मेरे पैर इस मर्यादा के बन्धन से बँधे हैं कि जो मुझे भजता है, मैं भी नीति के अनुसार उसको भजता हूँ।

दोहा— निसिबासर मोहि जो भजे ताकी करउँ सहाय।
गुनातीत निरवयव बपु अपुनो ताहि लखाय॥१२९॥

इस प्रकार जो रात-दिन मेरे ही भजन-ध्यान में लगा रहता है मैं उस पर ऐसा अनुग्रह करता हूँ कि उसे अपने गुणातीत और निरवयव (अवयवरहित) स्वरूप का दर्शन हो जाता है।

चौपाई— यासें जो स्वधर्म रत अहई। सात्विक असन नित्य प्रति लहई॥
श्रौत स्मार्त यज्ञ जो करई। सत पात्रन्ह पद दान जो धरई॥

इसलिए [हे पार्थ!] जो तुम स्वधर्म का पालन, नित्यप्रति सात्त्विक आहार ग्रहण अथवा श्रौत-स्मार्त यज्ञादि कर्मानुष्ठान सम्पादन या सत्पात्रों के चरणों में दान अर्पित करते हो-

सात्विक तप करु जो हरषाई। मोहिं करहु अर्पन सब भाई॥
अस करि कर्म सुभासुभ फल युत। कर्मबंध सों मुक्त होय पुत॥

तथा प्रसन्नता के साथ जो कुछ भी सात्त्विक तप करते हो, हे प्रिय! वह सब मुझ परब्रह्म परमात्मा को समर्पित कर दो। हे अनघ! ऐसा करने से तुम शुभाशुभ फलों से युक्त कर्म-बन्धन से मुक्त होकर पावन हो जाओगे।

हे संन्यास योगयुत बीरा। मुक्त होइ मोहिं पावहु धीरा॥
मोहिं पायेगो कहत बने नहिं। कारन सच मोसों न अन्य कहिं॥

हे संन्यासयोग से युक्त वीर एवं धैर्यवान! तुम यह यथार्थ जान लो कि मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त कर जाओगे। किन्तु 'मुझे प्राप्त कर जाओगे'- [ऐसा तो] कहते भी नहीं बनता; क्योंकि मुझसे तो कोई अन्य कहीं है ही नहीं।

घट फुटि महाकास महँ जावे। तस तन छुटत जीव मोहिं पावे॥
जब तजि नाम रूप बिभु पावइ। तब न जीव सम पुनि जग आवइ॥

अरे! घड़े के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में चला जाता है; उसी प्रकार शरीर के छूटते ही जीव मुझमें ही विलीन हो जाता है। यह निश्चित है कि नाम-रूप को त्यागकर ब्रह्मपद प्राप्त कर लेने पर पुनः वह जीव के समान कभी संसार में नहीं आता [और न जीव के समान व्यवहार ही करता है]।

दोहा— कहत पार्थ भगवान कस राग द्वेष कर जोय।
काहू पर किरिपा करे अरु न धरे उर कोय॥१३०॥

तब महात्मा अर्जुन कहते हैं कि ऐसा भगवान कैसा जो राग-द्वेष करता है अर्थात् किसी पर तो कृपा करता है और किसी को हृदय में स्थान ही नहीं देता!

चौपाई— अस तो रबि अगिनिहु न सुभाऊ। उनकै उर अंतर नहिं काऊ॥
सबहिं देत ते ताप न सकुचत। जबकै तुम्हरो मन अति हिचुकत॥

ऐसा तो सूर्य और अग्नि का भी स्वभाव नहीं है, उनके हृदय में तो किसी के प्रति कोई भेद-भाव नहीं है। वे सबको ताप देने में संकोच नहीं करते, जबकि आपके मन में अत्यन्त हिचकिचाहट है।

प्रभु कह अस उर सोभ न तोमें। काहू के प्रति भेद न मोमें॥
मैं सबके प्रति सम चितवारो। मेरो द्वेषि न कोउ प्रिय भारो॥

भगवान ने कहा कि ऐसा भाव तुम्हारे हृदय में शोभा नहीं देता, [क्योंकि यथार्थ में] मेरे हृदय में किसी के प्रति भेद-भाव है ही नहीं। मैं तो सभी के प्रति समान चित्त वाला हूँ, मेरा न कोई द्वेषी है और न कोई विशेष प्रिय है।

ताप देत रबि अगिनिहु उन्हके। जो जो आवत सनमुख तिन्हके॥
मैं सिव अज सम नहिं सुर कोई। कै जो माँग भगत दउँ सोई॥

[तुम यह भी जान लो कि] सूर्य और अग्नि भी उसी को ताप देते हैं जो उनके सन्मुख आता है। मैं शिव और ब्रह्मा के समान कोई देवता नहीं हूँ कि भक्त जो कुछ माँगे, वह दे दूँ।

मोहिं मातु सम जानु जितेंद्रिय। सिसु अबोध जेहि लाग परम प्रिय॥
तेहि प्रमाद सिसु छुरी उठावे। धाइ मातु कर लेइ छुड़ावे॥

हे जितेन्द्रिय पार्थ! मुझे उस माता के समान [स्वभाव वाला] समझो जिसे अबोध शिशु अत्यन्त प्रिय लगता है। प्रमाद वश यदि बालक छुरी उठा ले तो वह माता दौड़कर उसके हाथों से उसे छीन लेती है।

दोहा— बिलखि बिलखि सोइ माँगत तउ न मातु तेहिं देति।
उरज देइ चुम्बति मुखहिं हहरि हहरि हिय लेति॥ १३१॥

[जिसके कारण] वह फूट-फूटकर रोते हुए उसे ही माँगता है, तो भी माता उसे [छुरी] नहीं देती, बल्कि अत्यन्त वात्सल्य में भरकर चुम्बन लेते हुए हृदय से लगाकर मुख में स्तन डाल देती है।

चौपाई— एहि बिधि मोहिं भजत जे कोऊ। ते मोमें स्वभाव बस होऊ॥
अस नहिं कै आसक्ती कारन। अब तो भ्रम तुव भयो निबारन॥

इसी प्रकार जो भी भक्त मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें स्वभाव से ही स्थित हैं, ऐसा नहीं कि आसक्ति के कारण। अब तो तुम्हारा भ्रम दूर हो गया?

वैसेइ महुँ स्वभाव बस उनकै। हृदय बसउँ तू नहिं अस झिनकै॥
मातु उमहिं सुनि भयो अचम्भो। सिर नवाइ बोलीं जय सम्भो॥

उसी प्रकार मैं स्वभाववश उनके हृदय में वास करता हूँ, अतः तुम ऐसे झल्लाओ मत। उधर माँ पार्वती यह सब सुनकर अत्यन्त विस्मित हो गयी और भगवान शिव के चरणों में प्रणाम करके बोलीं- हे शम्भो! आपकी जय हो!

जय जन जलज बृद्धि हित दिनकर। बलनिधि कुमुद भगति हित निसिकर॥
जय दिवि महि भूषन संसय हरु। करुनासिंधु अकाल कल्पतरु॥

हे भक्तरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य! हे शक्तिनिधे! हे भक्तिरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित करने के लिए चन्द्रमा! हे स्वर्ग और धरा के भूषण स्वरूप! हे संशयों का शमन करने वाले! आपकी जय हो। हे दया के सागर! हे असमय के कल्पवृक्ष!

जय ज्ञानामृत पूरन सागर। धैर्य चंद्रिका धरन निसाकर॥
जय संतन्ह रक्षण ब्रतधारी। महिमा कस मैं कहउँ तुम्हारी॥

हे ज्ञानरूपी अमृत के परिपूर्ण सागर! हे धैर्यरूपी चन्द्रिका को धारण करने वाले चन्द्रमा! आपकी जय हो। हे सन्तों की रक्षा का व्रत धारण करने वाले! आपकी जय हो। मैं आपकी महिमा का किस प्रकार गान करूँ।

जय भक्तन्ह दुख मेटन हारे। मोह हलाहल पीयन वारे॥

हे भक्तों के दुःख को दूर करने वाले तथा मोहरूपी हलाहल को पीने वाले! आपकी जय हो।

दोहा— अबहिं कहे जे चक्रधर कृष्णचंद्र हरषाइ।
पत्र पुष्प फल तोय सच काह कहउ समुझाइ॥ १३२॥

हे स्वामी! चक्रधारी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने जो अभी हर्षित होकर पत्र, पुष्प, फल, जल के विषय में कहा है, वह यथार्थ में क्या है, स्पष्ट बतायें?

चौपाई— करे खाय जो यग तप दाना। सो सब अर्पण करे सुजाना॥
याकर तो तात्पर्य गुसाईं। करे खाय बरु असुरन्ह नाईं॥

'वह बुद्धिमान (भक्त) जो कुछ कर्म करता है, खाता है, यज्ञ, तप, दान करता है, वह सब मुझे समर्पित कर दे'- हे प्रभु! इसका तो यह भी तात्पर्य हो सकता है कि भले ही वह भक्त राक्षसों की भाँति कर्म करे, खाये-

पुनि कह दै सब अर्पन कीन्हों। अरु कह दैं प्रभु मैं सब लीन्हों॥
यासों अनाचार उर आवे। बेद सास्त्र महिमा मिटि जावे॥

और फिर कह दे कि हे प्रभो! मैंने सब कुछ (भला-बुरा) आपको समर्पित कर दिया तथा भगवान भी कह दें कि मैंने तुम्हारा सब कुछ स्वीकार किया। ऐसा करने से तो भक्तों में उद्दण्डता ही आयेगी और वेद-शास्त्र के साधनों की महिमा मिट जायेगी।

याकोउ मरम कहउ भगवाना। दया करउ हे दयानिधाना॥
उर न धरउ कछु अवढरदानी। मोहिं बतावहु किंकरि जानी॥

हे प्रभो! हे दयानिधान! दया करके इसका रहस्य बतायें और हे अवढरदानी! आप कुछ अन्यथा अर्थ न लें बल्कि मुझे अपनी दासी जानकर बतायें।

अति प्रसन्न भगवंत महेस्वर। उमहिं बिलोकि कहे सिवसंकर॥
पारबती सुनु सच मैं भाषउँ। तोसें गुप्त नाहिं कछु राखउँ॥

तब भगवान शिव शंकर, जो परमेश्वर हैं, अत्यन्त प्रसन्न होकर उमा से कहने लगे कि हे पार्वती! सुनो! मैं सत्य कहता हूँ, तुमसे कुछ भी छिपा नहीं रहा हूँ।

दोहा— कृष्णचंद्र भगवान जे उन्हकी अटपटि बोल।
बिमल बुद्धि तव सम्मुख खोलउँ ताकी पोल॥ १३३॥

ये जो भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द हैं, उनकी वाणी अटपटी होती है। परन्तु तुम निर्मल बुद्धि वाली हो, अतः तुम्हारे सामने इसका यथार्थ मर्म प्रकट कर रहा हूँ।

चौपाई— उर तरु आतमचिंतन जल सम। वामें पत्र तितिक्षा सम दम॥
बिमल बिराग पुष्प कहलावें। ज्ञान समाधिहिं फल मुनि गावें॥

हृदय एक दिव्य वृक्ष है जिसको सींचने के लिए आत्मचिन्तन जल है; शम, दम, तितिक्षा आदि उसमें पत्ते हैं। निर्मल वैराग्य पुष्प है और ज्ञान समाधि दिव्य फल है, जैसा कि सन्तजन कहते हैं।

यह सब गुरु अनुसासन माँगी। करत मुदित चित बिमल बिरागी॥
सदगुरु कहे जो खाये पीये। करै खाय नहिं आय जो हीये॥

यह सब [उपरोक्त साधन] निर्मल वैराग्यवान भक्त प्रसन्नतापूर्वक सद्गुरु की आज्ञा माँगकर करता है। सद्गुरु जो कहता है वही खाता-पीता है। वह मनमाना न कुछ करता है, न खाता-पीता है।

सदगुरु कहे जग्य सोइ सेवे। जाको कहे दान तेहि देवे॥
सदगुरु कहे सोइ ब्रत धारे। सपनेहु निज सिद्धांत बिसारे॥

सद्गुरु जो कहता है, वही यज्ञ करता है और जब जिसको दान देने को कहता है, उसे ही दान करता है; जिस व्रत-तप को करने के लिए कहता है, वही व्रत-तप करता है; इसके लिए वह स्वप्न में भी अपने [मन के] विचारों को नहीं मानता।

सदगुरु कहे सोइ सतकर्मा। जो मत भाषे सोइ सुधर्मा॥
सदगुरु कहे सो करे अचारा। चले न कबहुँ स्वमति अनुसारा॥

सद्गुरु के आज्ञानुसार कर्म करना ही सत्कर्म है तथा उनके द्वारा कहे गये मत का पालन करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। सद्गुरु जैसा कहें वैसा ही आचरण करे कभी भी अपनी बुद्धि के अनुसार न चले।

यहि अर्पन करनो कहलावे। जो सत चित आनंदहिं भावे॥
एहि बिपरीत अर्थ सिसु लाने। यामेउँ नाहिं मोहिं कछु आने॥

यही समर्पण करना कहा जाता है, जो सच्चिदानन्द भगवान को प्रिय है। इसके विपरीत जो अर्थ है, वह तो अबोध बालकों के लिए है, किन्तु उसमें भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

दोहा— सगुनोपासन अंग ये पत्र पुष्प फल तोय।
श्रद्धा हित सुर देबि जस मैं स्वीकारउँ सोय॥ १३४॥

क्योंकि ये पत्र, पुष्प, फल एवं जल आदि सगुण उपासना के अंग हैं; जिसे श्रद्धा के कारण देवी एवं देवताओं के जैसा ही मैं भी स्वीकार करता हूँ।

चौपाई— अब सुनु पुनि कह का प्रभु मेरो। सुनत जाय उर संसय तेरो॥
इत कह प्रभु अर्जुन प्रिय जानी। हितयुत मधुर प्रेम पन सानी॥

हे पार्वती! अब पुनः सुनो कि मेरे प्रभु क्या कह रहे हैं जिसको सुनते ही तुम्हारे हृदय का संशय नष्ट हो जायेगा। इधर भगवान महात्मा अर्जुन को अपना प्रिय जानकर हितकारक, मधुरता से युक्त एवं प्रेम तथा प्रतिज्ञापूर्ण वाणी कह रहे हैं-

बरु पापिन्ह सिरमौर कहावे। सबु तजि मोरि सरण महँ आवे॥
भजत अनन्य भक्ति सों भाई। ताहिहु देउँ भगति सुखदाई॥

हे प्रिय! भले ही कोई पापियों में सिरमौर कहा जाता हो, यदि वह भी सर्वस्व त्यागकर मेरी शरण में आ जाता है तथा अनन्य भक्ति से मेरा भजन करता है तो मैं उसे भी अपनी अत्यन्त सुखद भक्ति दे देता हूँ।

ताको चहिए साधु माननो। अरु सच्चो मम भगत जाननो॥
क्यौंकै सो दृढ़ निस्चय वारो। हरि बिनु कोउ न तारन हारो॥

उसको तो साधु ही मानना चाहिए और मेरा सच्चा भक्त जानना चाहिए। क्योंकि वह [ऐसे] दृढ़निश्चय वाला हो गया है कि भगवान के बिना मेरा कोई उद्धार नहीं कर सकता।

तजि दुस्चरित भागवत धर्मा। धारत नित कर मेरोइ कर्मा॥
सो अति सीघ्र साधु बर होवे। परम सांति पद लहि भ्रम खोवे॥

ऐसा विचारकर दुष्कर्मों को त्याग भागवत धर्म को धारण कर सदैव मेरे लिए ही सत् कर्म करने लगता है; अतः वह अतिशीघ्र ही श्रेष्ठ महात्मा हो परम शान्तिपद प्राप्त कर लेता है और संशय-भ्रम से मुक्त हो जाता है।

दोहा— गहु निस्चय दृढ़ याहि सों मेरो भक्त जो होय।
ताहि नास नहिं होत कहुँ कबहुँ करै कछु कोय॥ १३५॥

इसलिए दृढ़ता के साथ यह निश्चय जान लो कि जो मेरा भक्त होता है, उसका कभी भी नाश नहीं होता, चाहे कोई कुछ भी कर ले।

चौपाई— देव भगत नासत सच भाई। उन्हकी प्रीति छनिक सुखदाई॥
मातु पिता सुत तिय सरनागत। नासत सरग नरक कहँ भागत॥

हे प्रिय! देवताओं के भक्तों का निश्चित ही नाश हो जाता है, उनकी उपासना क्षणिक सुख देनेवाली होती है और माता-पिता एवं स्त्री-पुत्र का शरणागत भी नाश को प्राप्त होकर कभी स्वर्ग तो कभी नरक की ओर भागता फिरता है।

नासत हीत मीत अवराधक। स्वजन सगे परमारथ बाधक॥
नासत धीर बीर बर जोधा। जासु सूरता मोर बिरोधा॥

वैसे ही हित-मित्रों के पुजारी का भी नाश हो जाता है, क्योंकि स्वजन-सगे सभी परमार्थ पथ में बाधक कहे गये हैं तथा उस धीर-वीर श्रेष्ठ योद्धा का भी नाश हो जाता है जिसका शौर्य मेरे विरोध में है।

नासत बिबिध कला निपुनाई। जो कछु मम प्रभु काम न आई॥
नासत बेद सास्त्र बहु ज्ञाता। जाके उर नहिं मैं सुखदाता॥

वैसे ही जिसके पास नाना प्रकार की कलाओं की योग्यता है यदि उसकी योग्यता मुझ भगवान की प्राप्ति में काम नहीं आती तो वह भी नष्ट हो जाता है तथा जो वेद-शास्त्रों का ज्ञाता है किन्तु जिसके हृदय में मैं सुखदायी भगवान

नहीं हूँ, उसका भी नाश हो जाता है।

नासत लोभी क्रोधी कामी। जेहि उर नहिं मैं अंतरजामी॥
होउ भगत यासों मम भाई। गहु निज उर मम भगति सुहाई॥

उस कामी, क्रोधी एवं लोभी का भी नाश हो जाता है जिसके हृदय में मैं अन्तर्यामी नहीं हूँ। हे प्रिय! इसी कारण तुम मेरे भक्त हो जाओ और अपने हृदय में मेरी मनोहारिणी भक्ति को धारण कर लो।

दोहा— अबलौं सरनागत बहुत भये नसे नहिं कोय।
होवै नास न तोरहू जो बिभु जानै मोय॥ १३६॥

अब तक बहुत-से भक्त मेरे शरणागत हो चुके हैं उनमें से कोई नाश को प्राप्त नहीं हुआ। अतः तुम भी यदि ब्रह्मरूप में मुझे पहचान लेते हो तो तुम्हारा भी नाश नहीं हो सकेगा।

चौपाई— अस नहिं जाति गोत कुल मानउँ। राजा रंक न कछु मैं जानउँ॥
पापयोनि जे सास्त्रनि गाये। नारि बैस्यहू सूद्र कहाये॥

ऐसा नहीं है कि मैं कोई जाति, गोत्र, कुल, राजा, रंक आदि मानता हूँ, क्योंकि जो शास्त्रों में पापयोनि वाले स्त्री, वैश्य तथा शूद्रादि कहे गये हैं,-

यदि सोउ गहैं मोरि सरनाई। होवें मुक्त परम गति पाई॥
पावन योनि बिप्र जो पाये। भक्त राजऋषि होयँ सुहाये॥

यदि वे भी प्रसन्नता के साथ मेरी शरण में आते हैं तो मुक्त हो परम गति को प्राप्त कर जाते हैं। फिर जो पुण्य योनि वाले ब्राह्मण एवं परम प्रिय भक्त राजर्षिगण हैं-

उनकहँ तो कहनो का भाई। पायँ परम गति सहजहिं धाई॥
यासें दुर्लभ नर तन पाई। तू कर सदा मोरि सेवकाई॥

उनके विषय में तो कहना ही क्या है! अरे! वे मेरी शरण में आकर सहज ही परम गति को प्राप्त कर जाते हैं। इसलिए तुम इस क्षणभंगुर शरीर को पाकर सदा मेरी ही सेवकाई करो।

कैसे कर्‌यो जाय सेवकाई। भाषउँ सो साधन सुखदाई॥

यदि तुम जानना चाहते हो कि सेवकाई कैसे की जाती है, तो वह सुखद साधन बता रहा हूँ।

दोहा— सरन आइ मम भगत बनु मोमेंइ मनहिं लगाव।
मोहिं नमन करु होय अस सच मोकोई पाव॥ १३७॥

मेरी शरण में आकर मेरे भक्त बन जाओ तथा मुझमें ही मन लगाओ एवं मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार करने से निश्चित ही मुझको प्राप्त कर जाओगे।

चौपाई— अबलौं मान्यो स्वजन सहाई। यासें सरन मातु पितु भाई॥
बनि उन्ह भगत दये मन उन्हहीं। आदर सहित नमन किय तिन्हहीं॥

अभी तक तुम स्वजनों को ही अपना सहायक मानते रहे, इसी से तुम माता-पिता एवं बन्धु-बान्धवों के ही शरणागत थे, उनके ही भक्त बन गये थे तथा उन्हीं को मन दे बैठे थे एवं तुम उन्हें ही प्रेमपूर्वक नमस्कार करते थे।

अब तू जानि गयो मैं साईं। तौ गहु सरन भगत की नाईं॥
जिनहिं चित्त दै मोहिं बिसार्‌यो। तिन्हकेइ लाने सब कछु सार्‌यो॥

अब जब तुमने मुझे भगवान समझ लिया ही है तो एक भक्त की भाँति शरणागत हो जाओ। अरे! तुम जिन लोगों को मन देकर मुझे भूल बैठे थे और उनके लिए ही सब कुछ करते-धरते थे-

ते न जान कछुवै परमारथ। चाहत बस तोसों निज स्वारथ॥
कत नासत परतीति आपुनो। यहि कहाय अज्ञान तापुनो॥

वे तो परमार्थ के विषय में कुछ भी नहीं जानते, बल्कि वे तुमसे केवल अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। अरे! तुम अपने विश्वास का क्यों नाश कर रहे हो, यही तो अज्ञान [रूपी अग्नि] को तापना (सेवन करना) कहा जाता है।

अबहिं पूछु तोहिं कौन उधारे। तेहिंके लाने तन मन बारे॥
पूछु पूछु सब सम्मुख गुरु जन। हीत मीत सब इहँइ बंधु जन॥

तुम अभी इन लोगों से पूछो कि तुम्हारा कौन उद्धार करेगा? जो करे, उसी के लिए अपना तन-मन न्योछावर कर दो। पूछो! पूछो! समस्त गुरुजन सामने ही तो हैं तथा सम्पूर्ण हित-मित्र, बन्धु-बान्धव भी यहीं पर हैं।

दोहा— तिन्हकेइ करै दुहाइ पुनि जो कर तव उद्धार।
भक्तन्ह हित अवतरेउँ जब स्वयं उतारउँ भार॥ १३८॥

फिर तुम उन्हीं का गुणगान करो, जो तुम्हारा उद्धार करें। मैंने तो जब भक्तों के कल्याण के लिए अवतार ले ही लिया है तो उनका संकट स्वयं दूर कर दूँगा।

चौपाई— अस सुनि इत उत पार्थ निहारे। कोउ न दीख पुनि प्रभु स्वीकारे॥
चितवहिं उनहिं मुदित कर जोरें। समुझैं हरिहु भयो यह मोरें॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन इधर-उधर देखने लगे और जब कोई भी [उद्धार करने वाला] दिखाई नहीं दिया तो पुनः उन्होंने भगवान को ही स्वीकार किया और प्रसन्न हो हाथ जोड़कर एकटक उन्हीं को देखने लगे; तब कृपानिधान भगवान ने भी समझ लिया कि यह [हृदय से] मेरा हो गया है।

संजय जब यह नृपहिं सुनावत। तेउ इक छन मन प्रभु गुन गावत॥
सोचत उर जे ऋषि मुनि आये। इन्हकेइ ब्रह्म बताइ सिधाये॥

सञ्जय जब यह सब राजा को सुना रहे हैं, तो वे भी एक पल के लिए भगवान का गुणगान कर हृदय में सोचने लगे कि अब तक जो भी ऋषि-मुनि मेरे पास आये हैं, वे इन्हीं को भगवान बता गये हैं।

आज को मो सम अधम सिरोमनि। होइ प्रभु बिमुख गह्यो सुत सरननि॥
चुको जात अवसर मन मूरख। अबहुँ न क्यों प्रभु मूरति उर रख॥

अतः मेरे समान आज जगत में अधमों में अग्रगण्य कौन है जो भगवान से विमुख होकर पुत्रों की शरण में जा बैठा है। हे मन मूरख! तुम चूक कर रहे हो, अवसर हाथ से निकला जा रहा है; अरे! अभी भी भगवान की मधुर छवि को हृदय में क्यों नहीं धारण कर लेते!

महाराज संतन्ह सों गावे। हरि अर्जुन बतकही लखावे॥
अपुनो जानि कहत हरषाई। कछु न अन्यथा समुझहु भाई॥

महाराज अब सन्तों से कहते हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द और महात्मा अर्जुन के संवाद को स्पष्ट दिखा रहा है। यह आप सबको अपना जानकर ही प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कह रहा है, अतः आप कुछ अन्यथा अर्थ न लें।

सोरठा— खोलि दिये सब राज कृष्णचंद्र प्रभु अति मुदित।
तुम्हरो एक समाज जेहि हित कछु महराज बद॥ १३९॥

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने तो अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सम्पूर्ण रहस्यों को उद्घाटित कर दिया है। आप सन्तों का भी एक समाज है, जिसके लिए अब महाराज जो कहता है उसे सुनें।

चौपाई— कहे अबहिं हरि जग बर पापिहु। आवे सरन घोर संतापिहु॥
ताहिहु उर धरि बाँह गहौंगो। ताहि मुक्त करि पाप दहौंगो॥

भगवान ने अभी-अभी कहा कि जगत का जो सबसे बड़ा पापी है, घोर शोक-सन्ताप से पीड़ित है, यदि मेरी शरण में आ जाय तो उसे भी मैं हृदय में स्थान देकर उसकी बाँह थाम लूँगा और उसके पापों को नष्ट कर उसे मुक्त कर दूँगा।

सो पापी को महत कराला। ताकोहु सरन देहिं प्रतिपाला॥
जब अस उर मम आयो भाई। पूछ्यों तब सदगुरु पहिं जाई॥

[महाराज ने सोचा कि] वह महा भयंकर पापी कौन है कि उसको भी भक्तरक्षक भगवान शरण दे देते हैं। हे सन्तो! जब मेरे हृदय में ऐसा आया तो सद्गुरु के पास जाकर पूछा-

नाथ जगत महँ नर बहु पापी। अहहिं मातु पितु गुरु अनुतापी॥
गो द्विज नारि बाल हत्यारे। सरनागतहिं सतावत भारे॥

हे गुरुदेव! जगत में बहुत-से पापपरायण पुरुष हैं, जो माता, पिता और गुरुजनों को भी सन्तप्त करने वाले हैं तथा गो, ब्राह्मणों, स्त्रियों एवं बालकों की हत्या करने वाले एवं शरणागत भक्तों को भी अत्यन्त पीड़ित करने वाले हैं-

धेनु बिप्र सुर गुरु धनहर्ता। रावन सम परतिय अपहर्ता॥
औरउ अघी बिपुल जग माहीं। जिन्हके कारन कोउ थिर नाहीं॥

जो ब्राह्मणों, देवताओं तथा गुरु की सम्पत्ति एवं गौवों का हरण करने वाले और रावण के सदृश दूसरे की स्त्रियों का अपहरण करने वाले हैं, (इनके अतिरिक्त) और भी जगत में ऐसे अधम पापी हैं, जिनके कारण कोई भी स्थिर नहीं रह पाता-

दोहा— इनि महँ को बड़ अधम प्रभु रावन कंस समानु।
हँसि कह मम गुरुदेव सुनु अहइँ जो तिन्ह कहँ जानु॥ १४०॥

इनमें भी रावण एवं कंस के समान अति अधम पापी कौन हैं? तब मेरे गुरुदेव ने हँसते हुए कहा- सुनो! और जो ऐसे हैं, उनको जानो।

चौपाई— जितनै अघी गिनाये तैंने। अवरु सुने जो देखे मैंने॥
उन्हकर तो प्रायस्चित आहीं। जासें मुकुत सकल हुइ जाहीं॥

तुमने जितने भी पापी गिनाये तथा और भी जिन्हें मैंने देखा एवं सुना है, उनका तो प्रायश्चित्त है जिससे वे सब मुक्त हो जाते हैं-

किंतु एक अघ महत कराला। परे जीव सब जाके पाला॥
ताहि न कछु प्रायस्चित होई। बिपति परे न मातु पितु कोई॥

परन्तु एक ऐसा अत्यन्त भयंकर पाप है जिसके चक्कर में सारे जीव पड़े हुए हैं, उसका तो कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है और न विपत्ति काल में माता-पिता, हित-मित्र ही साथ देते हैं।

ताकर नाम न रूप लखावे। जासे जुग जुग सब दुख पावे॥
जो कह देह अहउँ मैं ताता। अघी न ता सम कोउ सच बाता॥

उसका नाम-रूप दिखायी नहीं पड़ता जिससे सभी युगों-युगों तक दु:ख पाते रहते हैं। हे प्रिय! जो यह कहता है कि मैं शरीर हूँ यह सत्य जानो कि उसके समान कोई पापी नहीं है।

देह नाम अपनोइ बतावत। अरु याकोही रूप लखावत॥
मैं मैं तैं तैं अहनिसि करई। मेरो तेरो हिय महँ धरई॥

जो स्वयं को शरीर नाम वाला बताता है तथा शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है और अहर्निश मैं-तू करता हुआ हृदय में मेरा-तेरा धारण किये रहता है,

हिंसक तेहि सम कोउ न चोरो। झूँठो कपटी लंपट घोरो॥
निंदक आपुहिं आतम घाती। जुग जुग जारत प्रभु की छाती॥

उसके समान कोई महाचोर, झूठा, कपटी, लंपट और हिंसक नहीं है। वह स्वयं की निन्दा करने वाला आत्मघाती युग-युगान्तरों तक परमात्मा के हृदय को सन्तप्त करता रहता है।

हरि तेहि प्रेत बनाइ अघावें। अयुत जनम लौं तेहि भरमावें॥
ताकर तो बस इक प्रायस्चित। जानि प्रभुहिं माता पितु हित मित॥

भगवान उसे प्रेत बनाकर ही सन्तुष्ट होते हैं और हजारों जन्मों तक उसे भरमाते रहते हैं। उसका तो बस एक ही प्रायश्चित्त है कि भगवान को ही माता-पिता, हित-मित्र समझकर-

दोहा— सरन गहै सदगुरु चरन सदा जगत बिसराय।
सेवत तिन्हि तन मन बचन सहज परमपद पाय॥ १४१॥

सर्वथा जगत को भूलकर सद्गुरु के चरणों की शरण ग्रहण करे और तन, मन, वचन से उनकी सेवा करके सहज ही परमपद प्राप्त कर ले।

चौपाई— सोइ दसकंठ कंस सिसुपाला। कुम्भकरन घननाद कराला॥
सोइ हिरनाकुस जरासंध सोइ। सहसबाहु हिरनाक्ष अंध सोइ॥

वही कुम्भकर्ण, मेघनाद, जरासंध और सहस्त्रबाहु है तथा वही दशग्रीव रावण, शिशुपाल, कंस, हिरण्यकशिपु है और वही नीच हिरण्याक्ष है।

सोइ सुर पितर प्रेत अवराधे। सोइ बनि पुनि पुनि आपुहिं बाँधे॥
सोइ जो निज आतम पहिचाने। मुक्त होइ जग बहुरि न आने॥

वही देवता, पितर, प्रेत आदि की आराधना कर पुनः पुनः वही रूप धारण कर अपने-आप को बन्धन में डाल लेता है। किन्तु वही यदि अपने आपको आत्मरूप में पहचान ले तो मुक्त होकर पुनः संसार में जन्म नहीं लेता।

भयो कौतुहल सुनि गुरुबानी। महुँ मान्यों अस मति सकुचानी॥
सदगुरु चरन गह्यों हरषाई। त्राहि त्राहि आयों सरनाई॥

गुरुदेव की ऐसी वाणी सुनकर मुझे अत्यन्त कौतूहल हुआ और बुद्धि लज्जित हो गयी कि मैंने भी तो ऐसा ही मान रखा है। मैंने हर्षित होकर गुरुदेव के चरणों को पकड़ लिया और कहा कि मैं आपकी शरण में आ गया हूँ! रक्षा करें! रक्षा करें!! रक्षा करें!!!

यह तन तुम्हरो लेहु सम्हारी। दुख दलि प्रभु सुधि लेहु हमारी॥
यासों करहु जो जेहि बिधि राखी। मोहिं न कछु दुख सुर सब साखी॥

तथा अपना यह शरीर लेकर आप ही सम्हालें और अब मेरी सुधि लेते हुए दुःख का हरण करें। अब आप इसका चाहे जो करें और चाहे जैसे रखें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं है, समस्त देवता इसके साक्षी हैं।

दोहा— तब प्रभु यह तन लेइ पुनि दीन्हें आतम जानि।
होइ सजग तब मैं लियों प्रभु मंदिर पहिचानि॥ १४२॥

तब गुरुदेव भगवान ने शरीर को स्वीकार कर पुनः मुझे आत्मा समझकर दे दिया और मैंने भी उसे सजग होकर भगवान का मंदिर जानकर स्वीकार किया।

चौपाई— दीनदयालु कहे हरषाई। तन मंदिर रखु गीता भाई॥
जाइ याहि जग गावहु गीता। अब न कबहुँ उर होय सभीता॥

उन दीनदयाल भगवान ने हर्षित होकर कहा कि हे प्रिय! इस शरीररूपी मंदिर में गीताजी को प्रतिष्ठित करो तथा संसार में जाकर गीताजी का गान करो, जिससे अब कभी हृदय में भय व्याप्त नहीं होगा।

परम प्रेम सों गीता भाषहु। प्रभु भगतन्ह के उर महँ राखहु॥
प्रायस्चित होइ जाय सकल बिधि। पुनि मिलि जावे तुम्हहि परम सिधि॥

अब परम प्रेमपूर्वक गीताजी का भाष्य करो और प्रभु भक्तों के हृदय में इसकी स्थापना करो, जिससे सम्पूर्णता से प्रायश्चित्त हो जायेगा और पुनः तुम्हें परम सिद्धि की प्राप्ति हो जाएगी।

निरखहु बर द्वादस अध्यायो। जहँ प्रभु अमृत बचन सुहायो॥
सोइ धर्म्यामृत पीयहु जाई। जग बिचरहु सिव सम हरषाई॥

अत्यन्त विशिष्ट द्वादश अध्याय में देखो, जहाँ भगवान का अमृतमय वचन अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। उसी धर्मरूपी अमृत का पान करो तथा प्रसन्नतापूर्वक भगवान शिव के समान जगत में विचरण करो।

सोइ सदगुरु आयसु सिर धरि धरि। गावउँ कृष्णायनहिं सुमिरि हरि॥
तुम्ह का सब पतितन्ह महँ टीको। जासे जात न हरि पद नीको॥

सद्गुरु की उसी आज्ञा को बारम्बार मस्तक पर धारण करके भगवान नारायण का स्मरण कर 'कृष्णायन' गा रहा हूँ। [अतः हे सन्तो-भक्तो!] क्या आप समस्त पतितों के सिरमौर हैं, जिससे आप भगवान के अत्यन्त श्रेष्ठ चरणों में नहीं जा रहे हैं?

जब पतितनहू के प्रभु गाहक। एहि जग साँचे प्रीति निबाहक॥
पतितन्हिं दुखहिं निबारन पन जहँ। पुनि कस लज्जा चरन गहन महँ॥

जब यह सत्य है कि भगवान पतितों को भी स्वीकार करने वाले तथा इस जगत में सच्चे प्रेम का निर्वहन करने वाले हैं, जिनकी पतितों के भी दु:खों का निवारण करने की प्रतिज्ञा है तो वैसे [परम दयालु प्रभु के] चरणों की शरण लेने में कैसी लज्जा।

तुम्हरी बिनती सुनहिं ध्यान धरि। जाइ सुनावहु आज पावँ परि॥

जो आपकी विनती को ध्यान देकर सुनते हैं, आप आज ही [उनकी शरण में] जाकर चरणों में पड़कर उन्हें अपनी प्रार्थना सुनायें।

दोहा— तुम्ह तौ अधम सिरोमनि मो समान कछु नाहिं।
एक समय ऐसो रह्यो मोसों सब हँसि जाहिं॥ १४३॥

आप तो मेरे समान अधमों में शिरोमणि कदापि नहीं हैं; क्योंकि एक समय ऐसा था कि सभी मुझपर व्यंग्यात्मक हँसी हँस-हँसकर चले जाते थे।

चौपाई— को अवगुन जे मो महँ नाहीं। मोसों सब ऐसो कहि जाहीं॥
खाइ मुसक मार्जरि भइ भगतिनि। जहाँ जाउँ तहँ होति बिगूचिनि॥

ऐसा कौन-सा अवगुण है, जो मुझमें नहीं था? क्योंकि मुझसे सभी ऐसा कहकर जाते थे कि बिल्ली हजारों चूहे खाकर भक्त हो गयी है। इस प्रकार जहाँ कहीं भी जाता था, वहीं किरकिरी होती थी।

क्यों न होय अस प्रभु तन चोरा। ताल पीटि हौं कहुँ यह मोरा॥
पर जा दिन याको लौटायों। सरनागत बत्सल प्रभु भायों॥

ऐसा हो भी क्यों न? क्योंकि भगवान के शरीर का अपहर्ता मैं ताल ठोंककर इसे अपना कहता था; परन्तु जिस दिन इसे मैंने लौटा दिया उसी दिन से शरणागतवत्सल भगवान का मैं प्रिय हो गया।

जदपि तुम्हहु सच तन अपहर्ता। जामें बास करत प्रभु भर्ता॥
तन चोरन सँग सों तव अस गति। अबहुँ तजहु अस दोष नाहिं छति॥

यद्यपि आप भी शरीर का अपहरण करने वाले हैं जिसमें सबका भरण-पोषण करने वाले भगवान वास करते हैं। आपकी यह गति शरीर के चोरों के संसर्ग से ही हुई है, अत: अब भी आप इस दोष का त्याग कर दें, तो कोई हानि नहीं है।

तुम्ह न अजामिल सम तन चोरा। बरु कीन्हें तुम्ह पापहिं घोरा॥

तो भी आप अजामिल के समान शरीर के चोर नहीं हैं, भले ही आपने कितना ही घोर पाप क्यों न किया हो।

दोहा— पुनि लज्जा कस करहु तुम्ह प्रभु सरणे नहिं आव।
दीनबंधु करुनायतन कर अति सरल सुभाव॥ १४४॥

दीनबन्धु करुणामूर्ति भगवान का स्वभाव अत्यन्त सरल है, तो आप ऐसी लज्जा क्यों कर रहे हैं कि उन प्रभु की शरण में नहीं आ रहे हैं?

चौपाई— गनिका गनति रहति दिन राती। गाइ बितावति प्रभु गुन पाती॥
संत सरण नहिं जाय लजावे। बेस्या गुनि मंदिरहु न जावे॥

गणिका दिन-रात गिनते हुए भगवान का गुणानुवाद कर समय व्यतीत करती थी। लज्जा के वशीभूत हो सन्तों की शरण में नहीं जाती और स्वयं को वेश्या समझकर मंदिर में भी नहीं जाती थी।

सोचति को तीरथ अपनायें। सुनत नाम सब संत घिनायें॥
ताहि सरिस माँ तुम्ह नहिं चोरिनि। बेचति हरि के देह अघोरिनि॥

सोचती थी कि किस तीर्थ को अपनाया जाय, क्योंकि समस्त सन्त तो मेरा नाम सुनते ही मुझसे घृणा करने लगेंगे। अत: हे माताओ! आप उसके समान तो चोर नहीं हैं जो भगवान के इस शरीर को अघोरिन बनकर बेचती थी।

तउ सो जब प्रभु बिनु बिकलानी। तेहिं गृह आयँ दया के खानी॥
मुक्त किये कछु देर न कीन्हें। दीन जानि अपुनों पद दीन्हें॥

तो भी जब वह भगवान के वियोग में व्याकुल हो गयी तो दयासागर भगवान उसके भी घर पधारे और बिना देर किये ही दीन जानकर उसे मुक्त कर दिया और अपना परमपद प्रदान किया।

मातु बृंद अस हृदय बिचारी। कोउ साध्वी सम धर्महिं धारी॥
परम प्रभू कहँ निज पति मानी। ध्यान करहु कस हृदय डरानी॥

हे माताओ! हृदय में ऐसा विचारकर किसी साध्वी माँ के समान धर्म धारण करें और भगवान को ही अपना स्वामी मानकर ध्यान करें, हृदय में डरती क्यों हैं।

दोहा— हे जननी तुम्ह क्यों डरउ सबरी मीरा होउ।
कीधौं मातु मदालसा बनि पूजहु हरि कोउ॥ १४५॥

हे माताओ! आप क्यों डर रहीं हैं, आप तो शबरी एवं मीरा के समान हो जायँ अथवा माँ मदालसा के समान होकर ही भगवान का पूजन करें।

चौपाई— महाराज कह भगत पुकारी। तुम्हरें पाछें क्यों न मुरारी॥
अबहूँ का तुम्ह देखहु भाई। हरषि न काह भजहु यदुराई॥

महाराज भक्तों से पुकार कर कहता है कि आपके पीछे भगवान क्यों नहीं लगा है? हे प्रिय! अभी भी आप क्या देख रहे हैं, आप हर्षित हो भगवान मुरलीधर यदुनाथ का भजन क्यों नहीं करते?

सोऽहं सोऽहं स्वाँस अहर्निस। तुम्हरेउ देह पुकारे सो इस॥
ध्यान देइ तुम्ह सुनउ न काहे। जो तव तन मन धन निर्बाहे॥

वह भगवान अहर्निश आपके शरीर में श्वास प्रति श्वास 'सोऽहं-सोऽहं' की पुकार लगा रहा है। आप ध्यान देकर उसकी ध्वनि क्यों नहीं सुनते, जो आपके तन, मन, धन का निर्वाह कर रहा है।

कंस त्रास बसुदेव देवकी। सहे सुरति करि ईस टेब की॥
सोइ प्रभु टेब काह बिसराये। आजहुँ तो तुम्हरें उर आये॥

कंस ने वसुदेव-देवकी को कष्ट दिया और उन्होंने भगवान के स्वभाव का स्मरण कर उसे सहन किया। उन्हीं भगवान ने क्या अपने स्वभाव को भुला दिया? आज भी तो वे आपके हृदय में आवें!

उग्रसेन सम महत प्रतिक्षा। होय हृदय जब सोइ तितिक्षा॥

जब राजर्षि उग्रसेन के समान महत् प्रतीक्षा और वैसी ही तितिक्षा हृदय में होगी-

सोरठा— तब प्रभु करहिं न देरु अपुनें जन कहँ दुखित लखि।
यासें अब तुम्ह टेरु करहु बिलम्ब न मूढ़ सम॥ १४६॥

तब भगवान अपने भक्त को दु:खी देखकर देर नहीं करेंगे, इसलिए अब आप मूर्खों के समान देर न कर भगवान की पुकार करें।

चौपाई— देह प्रकृति प्रभु पुरुष कहाहीं। याही सों बहु रास रचाहीं॥
तुम्ह दर्सक बनि सब कछु देखउ। अपुनो कर्‌यो न कहुँ कछु लेखउ॥

शरीर प्रकृति और भगवान पुरुष कहलाता है तथा इसके द्वारा वह नाना प्रकार से लीला किया करता है। अत: आप तो दर्शक होकर सब कुछ देखा करें, किसी भी काल में कुछ भी अपना किया हुआ न समझें।

तुम्ह न कहउ मैं जागउँ सोवउँ। खावउँ पीयउँ हसुँ अरु रोवउँ॥
करम धरम नहिं कीन्हों कबहूँ। मेरो नाहिं जनम भयो अबहूँ॥

आप यह न कहें कि मैं जागता-सोता, खाता-पीता, हँसता और रोता हूँ। बल्कि यह जानें कि मैंने कभी किसी कर्म-धर्म का सम्पादन नहीं किया तथा मेरा अभी भी जन्म नहीं हुआ है, मैं तो अजन्मा हूँ।

अपर कोउ इहँ कर्ता नाहीं। कारन कोऊ आय न जाहीं॥
प्रगट सोइ बहुरुपिया तैसो। रूप लखावत चाहे जैसो॥

यहाँ कोई अन्य कर्ता नहीं है क्योंकि न ही कोई आता है न जाता है। उसी प्रकार वही बहुरूपिया [सर्वत्र] प्रकट होकर जैसा चाहता है वैसा रूप दिखाता है।

राजयोग महँ यहइ भगति पथ। यहइ दृष्टि सच महाराज कथ॥

राजयोग के अन्तर्गत यही भक्तिपथ है और यही दृष्टि यथार्थ कही गयी है– ऐसा महाराज कहता है।

छंद— प्रभु स्वयं धरनी बनि गये अरु रंग मंच सु लागते।
सोइ नभ चँदोवा बनि गये सोइ नखत सों अनुरागते॥
सोइ दीप बर दुइ भानु ससि बनि अंधकार भगावते।
बनि सुर असुर नर त्रिजगजोनी क्रीड़तो बहु भावते॥

भगवान नारायण स्वयं पृथ्वी बन गये हैं जो रंगमंच के समान लग रहे हैं, जिसपर वे ही आकाशरूपी चँदोवा बने हुए हैं और वे ही उसमें नक्षत्र के समान शोभा पा रहे हैं तथा वे ही सूर्य एवं चन्द्रमारूपी दो दिव्य दीपक बनकर अंधकार का नाश कर रहे हैं। पुनः वे ही राक्षस, देवता, मनुष्य और त्रियग्योनि बनकर क्रीड़ा करते हुए अत्यन्त शोभा दे रहे हैं–

दोहा— हृदय मंच पर क्रीड़त तीनि गुनन धरि भेष।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति महँ जो चाहे सो देख॥ १४७ (क)॥

और वे ही तीनों गुणों का वेश धारण कर हृदयरूपी मंच पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में क्रीड़ा कर रहे हैं। अतः जो पुरुष इस रूप में उनका दर्शन करना चाहता है वह कर सकता है।

सोरठा— प्रभु अति अगम अपार महिमा कस महराज कह।
नैनन छबिहिं निहार ब्यास मुनी आगे कहत॥ १४७ (ख)॥

भगवान की महिमा तो अपरम्पार है, महाराज इसे कैसे कह सकता है! इसलिए अपने नेत्रों से उस मधुर छवि को निहार रहा है, जिसे महर्षि व्यास आगे कह रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

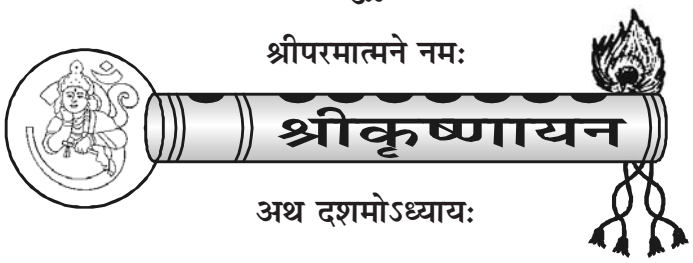

अथ दशमोऽध्यायः

पूजयश्च मन भुवनेश्वरम्॥
महति स्यन्दने तिष्ठतं प्रभु गोविन्दं परमेश्वरम्।
अतुलित छवि छिटकन्ति सर्वतः तं कृष्णं जगदीश्वरम्॥
हयैर्दामा एकं हस्ते अपरे शंखं शोभितम्।
स्फुरति ब्रह्मविद्या मनवाणिना यस्य तं हृदयेश्वरम्॥
पाण्डवैर्मनाभिः सेवितं देवासुर नमस्कृतम्।
महाराजः च चराचरस्य हिरण्यगर्भं तं गीतेश्वरम्॥

हे मन! जो समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं, उनकी उपासना करो, उनका ध्यान करो, उनकी शरण में जाओ। जो दिव्य रथ पर बैठे हुए हैं, जो परमेश्वर हैं, प्रभु हैं, गोविन्द हैं तथा जिनकी दिव्य छवि सब ओर से सुशोभित हो रही है, उन कृष्ण नाम वाले जगदीश्वर भगवान को स्वीकार करो। जिनके एक हाथ में घोड़ों की रास तथा दूसरे हाथ में शंख सुशोभित है, जिनके मन और वाणी से ब्रह्मविद्या प्रकट हो रही है, उन अन्तर्यामी को स्वीकार करो। जो पाण्डवों के हृदय द्वारा अच्छी प्रकार सेवित हैं तथा जो देवताओं और असुरों के द्वारा भी पूजित हैं, जो महाराज के साथ-साथ चराचर जगत की आत्मा हैं, हे मन! उन गीतेश्वर भगवान की शरणागति स्वीकार करो।

चौपाई— अर्जुन मन ही मन अनुमानत। अंतरजामी प्रभु सब जानत॥
आयसु दीन्हें युद्ध करन को। महूँ चहउँ निज धरम धरन को॥

महात्मा अर्जुन मन ही मन अनुमान कर रहे हैं कि अन्तर्यामी भगवान सब कुछ जानते हैं। इन्होंने युद्ध करने की [मुझे] आज्ञा दे दी है और मैं भी अपने स्वधर्म का पालन करना ही चाहता हूँ-

साहस करउँ उठत पग नाहीं। गुरुजन लखि लोचन सकुचाहीं॥
प्रभु कृपालु तव आज्ञा माहीं। दंड पताका सम मन आहीं॥

और साहस भी कर रहा हूँ किन्तु पाँव उठ ही नहीं रहे हैं; क्योंकि गुरुजनों को देखकर नेत्रों में संकोच आ जा रहा है। हे कृपालु प्रभु! आप देखें कि दण्ड में लगी हुई पताका के समान मेरा मन आपकी आज्ञा में लगा हुआ है।

पर मन बसन उड़ाय धरम महँ। काह करउँ प्रभु बिषम करम महँ॥
तन मन मति महँ जड़ता ऐसी। तुव चरणाम्बुज आई कैसी॥

परन्तु मनरूपी वस्त्र (पताका) उड़कर लोकधर्म में ही जा रहा है। अतः हे प्रभो! ऐसी विषम परिस्थिति में मैं क्या करूँ? आपके कमलवत् चरणों के आश्रित होने पर भी मेरे शरीर, मन, बुद्धि में ऐसी जड़ता कैसे आ गयी?

कबहुँक पाप लाय संतापा। मम सम्मुख इहँ सोइ कर दापा॥
महाराज गांडीवहिं लखि लखि। पार्थ उठहिं पुनि बइठहिं झँखि झँखि॥

ओह! किसी समय के पाप ने ही यह सन्ताप खड़ा किया है, अतः वही मेरे सामने यहाँ घमण्ड कर रहा है। महाराज देख रहा है कि महात्मा अर्जुन गाण्डीव की ओर देखकर बार-बार उठते हैं, फिर विवश होकर बैठ जाते हैं।

दोहा— भक्त बिषम गति निरखि प्रभु जननी सम हहराइ।
पुनि अमृतमय बचन सों दीन्हि प्रेम बरसाइ॥१॥

अपने परम प्रिय भक्त (अर्जुन) की विषम स्थिति को देखकर भगवान माता के समान अत्यन्त वात्सल्य से

परिपूर्ण हो पुनः अमृतमय वचनों द्वारा प्रेम की वर्षा करने लगे।

चौपाई— चकित भये सुर मुनि अस देखी। हरि सम को जग सुहृद बिसेषी॥
असरन सरन बिरदि चलि आई। भक्तन्ह की नहिं लखत ढिठाई॥

ऐसा देखकर आकाश स्थित देवता एवं सिद्ध आदि चकित हो गये कि भगवान के समान जगत में माता-पिता और प्रिय हित-मित्र कौन हैं, जो अशरण (अपात्र) को भी शरण देने वाले हैं। उनका स्वभाव ऐसा है कि वे कभी भी भक्तों की धृष्टता पर ध्यान नहीं देते।

माँ सों सुत नित करत ढिठाई। तदपि जननि तेहि हित सुखदाई॥
खोदि बिनासत जिमि सब धरनी। देति अमित फल अस तेहि करनी॥

जैसे माता से पुत्र सदा धृष्टता करता रहता है तो भी वह उसे सदा सुख देने वाली होती है। जैसे सभी धरती को खोदकर नष्ट करते रहते हैं तो भी उसका ऐसा स्वभाव है कि वह [लहलहाती हुई फसल एवं रत्न आदि के रूप में] असंख्य फल देती रहती है।

गहि कुठार जिमि तरुहिं गिरावत। तउ छप्पर बनि छाया छावत॥
जिमि दाँतनि सों जीभ कटावे। तउ उनसों नहिं कबहुँ रिसावे॥

जिस प्रकार लोग कुल्हाड़ी से काटकर वृक्ष को गिरा देते हैं तो भी वह बदले में छप्पर बनकर छाया ही देता है, जैसे दाँतों से जीभ कट जाय तो भी वह कभी उनसे रुष्ट नहीं होती।

भयो प्रथम ऐसोइ प्रभु साथा। अर्जुन आन पड़े उन्ह माथा॥
अब तिन्हकी रिस गई सिराई। मन अनुरक्त हरिहिं सरनाई॥

सर्वप्रथम यहाँ भगवान के साथ भी वही हो गया था कि भक्त अर्जुन उनके माथे पड़ गये थे [अर्थात् उनकी बात मानने को तैयार नहीं थे]। अब उनका वह रूठना पूरी तरह समाप्त हो गया है तथा उनका मन भगवान की शरणागति में ही अनुरक्त हो गया है।

दोहा— सो प्रभु अंक सुहायँ इमि जिमि पय पिव सिसु कोउ।
मातु हटावति उरज जब कातर दृग लख सोउ॥ २ (क)॥

भगवान नारायण की गोद में वे ऐसे दिखायी दे रहे हैं जैसे कोई शिशु [अपनी माता का] दूध पी रहा हो और जब माँ अपना स्तन हटा लेती है तब वह उसे कातर दृष्टि से देखने लगता है।

सुत की निरखनि निरखि प्रिय जननी चुम्बति धाइ।
सकल काज तजि उरज पुनि तेहि मुख देति लगाइ॥ २ (ख)॥

तब प्रिय पुत्र की कातर दृष्टि को देखकर माता उसे विभोर होकर चूमती-चाटती है और समस्त कार्यों को छोड़कर उसके मुख में अपना स्तन लगा देती है।

चौपाई— ऐसोइ कर प्रभु पुनि हरषाई। रन चिंता सबरें बिसराई॥
कहत दयानिधि पार्थ सुजाना। तोहिं तुष्ट करि करुँ रन ध्याना॥

भगवान युद्ध की चिन्ता को सर्वथा भूलकर पुनः प्रसन्नतापूर्वक ऐसा ही कर रहे हैं। दयानिधान भगवान ने कहा- हे बुद्धिमान अर्जुन! अब तुम्हें भलीभाँति सन्तुष्ट करके ही युद्ध की ओर ध्यान दूँगा।

अस मन मुदित सुनहु मम बाता। करहु पान अमृत जनु ताता॥
जासें परम प्रीति भइ मोहीं। यासें कहउँ बचन बर तोहीं॥

क्योंकि हे तात! तुम मेरे वचनों को ऐसे प्रसन्नतापूर्वक सुन रहे हो, मानो अमृत ही पान कर रहे हो जिससे मुझे तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रेम हो गया है, इसीलिए तुमसे श्रेष्ठ वचनों को कह रहा हूँ।

जासों परमब्रह्म परकासे। पुनि न कबहुँ माया उर भासे॥
जेहि सों होय परम कल्याना। सोइ कहउँ सुनु चतुर सुजाना॥

जिससे परमब्रह्म प्रकट हो जायेगा और फिर कभी तुम्हारे हृदय में माया प्रकट नहीं होगी। हे परम बुद्धिमान्! सुनो, अब वही कह रहा हूँ जिससे तुम्हारा परम कल्याण हो।

सप्त ऋषिहु ब्रह्मादिक देवा। करत सृष्टि लौं जो मम सेवा॥
क्यों कस प्रगटउँ तेउ न जानत। एकमात्र मति सों अनुमानत॥

ब्रह्मादि देवता एवं सप्तर्षिगण जो सृष्टिपर्यन्त मेरी सेवा करते हैं वे भी मैं क्यों और कैसे प्रकट होता हूँ नहीं जानते बल्कि एकमात्र बुद्धि से ही अनुमान लगाते हैं।

जानहिं कस जबलगि न बतावउँ। मूल हेतु उन्हकरहु कहावउँ॥

अरे! वे जानेगें भी कैसे जबतक कि मैं नहीं बताउँगा क्योंकि मैं उनका भी मूलकारण कहा जाता हूँ।

दोहा— जानत सोइ जनाउँ जेहि मोहिं अजन्म अनादि।
जानि मोहिं जगदीस हिय तजत भाव सब बादि॥३॥

मैं जिसे जनाता हूँ वही मुझे जन्मरहित और अनादि जानता है तथा मुझे ही जगत का ईश्वर जानकर हृदय के समस्त व्यर्थ भावों का त्याग कर देता है।

चौपाई— सच कहुँ एहि बिधि जो मोहिं ध्याने। भयो पाप जाने अनजाने॥
मुक्त करउँ तेहि सब पापन सों। तपइ न सो पुनि त्रय तापन सों॥

मैं सत्य कह रहा हूँ कि जो इस प्रकार मेरा ध्यान करता है, उसके द्वारा जाने-अनजाने जो कुछ भी पाप हो गया है, उन समस्त पापों से मैं उसे मुक्त कर देता हूँ; जिससे पुनः वह तीनों तापों से सन्तप्त नहीं होता।

जगत ईस मैं काहे पारथ। सोउ सुनहु जेहि कहउँ यथारथ॥
महत बुद्धि बर आतमज्ञाना। छमा सत्य सम दम तप दाना॥

हे पार्थ! मैं जगत का ईश्वर क्यों हूँ, उसे भी सुन लो, जिसे मैं यथार्थ में बता रहा हूँ। आत्मविषयक बुद्धि, परम आत्मज्ञान, क्षमा, सत्य, सम, दम, तप और दान-

ज्ञान यथार्थ अहिंसा समता। उतपति परलय भयहु अभयता॥
सुख दुख तोष अवरु जस अपजस। प्रगटहिं सब उर मम इच्छा बस॥

तथा यथार्थ ज्ञान, अहिंसा, समता, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, यश, अपयश, सन्तोष, सुख-दुःख- ये सभी के हृदय में मेरी इच्छा से ही प्रकट होते हैं।

सप्तर्षी भृगु मरिचि पुलह क्रतु। अत्रि बसिष्ठ पुलस्त्य महाब्रतु॥
अरु मनु चारि प्रथम जे आये। ब्रह्म सक्तियुत मम उपजाये॥

[हे पार्थ!] भृगु, मरीचि, पुलह, क्रतु, अत्रि, वसिष्ठ और पुलस्त्य आदि महाव्रती सप्तर्षि तथा जो सर्वप्रथम ब्रह्मशक्ति से सम्पन्न चार मनु प्रकट हुए, वे मेरे द्वारा ही उत्पन्न किये गये हैं-

दोहा— जिन्हकी प्रजा लखाय जग तात चराचर जोय।
एहि बिधि सब कछु अहउँ मैं नहिं जानत सब कोय॥४॥

जिनकी प्रजा चराचर जगत के रूप में दिखायी दे रही है। हे पार्थ! इस प्रकार मैं ही सब कुछ हूँ जिसे सभी नहीं जान पाते।

चौपाई— मम बिभूति अरु योग प्रभावा। जाके उर सब बिधि अनुभावा॥
होवे अचल ताहि बर ज्ञाना। संसय एहि महँ कछु न सुजाना॥

मेरी विभूतियों और योग के प्रभाव का जिसके हृदय में अच्छीप्रकार अनुभव हो जाता है, उसका वह परम ज्ञान अविचल हो जाता है, हे बुद्धिमान्! इसमें थोड़ा भी संशय नहीं है।

उतपति सबकी मोसें दृष्टत। होय प्रबृत्ती मोसें तुष्टत॥
ऐसो मानि सर्बभावहिं गहि। भजत संत सम नित सुख दुख सहि॥

इस प्रकार मुझसे ही सबकी उत्पत्ति और प्रवृत्ति हुई देखकर [वे भक्त] मुझसे अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं और ऐसा मानकर सम्पूर्ण भावों द्वारा सन्तों के समान सुख-दुःख को सहन करते हुए निरन्तर मेरा भजन करते रहते हैं।

अर्पित करि मोहिं जीवन प्राना। करत परस्पर मम गुन गाना॥
नित मम ज्ञान सक्ति प्रभुताई। कहत रहत छबि रूप सुहाई॥

वे जीवन और प्राण मुझे समर्पित कर सदा मेरे ही गुणों का परस्पर गायन करते रहते हैं तथा नित्य मेरे ज्ञान, शक्ति, प्रभुता एवं मेरी दिव्य छवि का वर्णन करते रहते हैं-

अति संतुष्ट रमत मोहिं माहीं। एहि बिधि चलि जग मोहत नाहीं॥
मो कहँ अतिहिं प्रीति सों ध्यानें। कबहुँ प्रमाद न करत सयानें॥

तथा अत्यन्त सन्तुष्ट होते हुए मुझमें ही रमण करते रहते हैं। इस प्रकार व्यवहार करते हुए जगत में [कहीं भी] आसक्त नहीं होते और अत्यन्त प्रीति के साथ सदा मेरा ही ध्यान करते रहते हैं एवं वे परम बुद्धिमान भक्त कभी भी प्रमाद नहीं करते।

दोहा— बुद्धियोग तेहि कारने देउँ उनहिं मैं पार्थ।
जेहिसों पावहिं मोहिं ते यहइ साँच परमार्थ॥ ५ (क)॥

हे पार्थ! इसीलिए मैं उन्हें बुद्धियोग देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं जो यथार्थत: परमार्थ है।

उनकै ही कल्यान हित कृपा करन मैं आउँ।
बैठि हृदय अति प्रेम सों ज्ञानहिं दीप जराउँ॥ ५ (ख)॥

मैं उनके ही परम कल्याण के निमित्त कृपा करने के लिए आता हूँ और उनके हृदय में प्रेमपूर्वक बैठकर ज्ञान का दीपक जला देता हूँ।

सोरठा— जासे बिनसत मोह जो उपज्यो अबिबेक सों।
पुनि न रहे उर छोह ब्रह्मरूप लखि स्वयं कहँ॥ ५ (ग)॥

जिस [ज्ञानदीपक] के द्वारा अज्ञान से प्रकट हुआ महामोह नष्ट हो जाता है। फिर तो स्वयं को ही निर्गुण निराकार के रूप में अनुभव करने से हृदय में किसी प्रकार का दु:ख नहीं रहता।

चौपाई— महाराज अब जग बिच आई। कह तुम्हसों नहिं लेहु जम्हाई॥
तुम्हरेइ हित प्रभु पार्थ बहाने। पुनि चिंतन अति दिब्य बखाने॥

अब महाराज जगत में आकर आपसे कहता है कि आप प्रमाद न करें (सजग हो जाएँ); क्योंकि आपके लिए ही भगवान नारायण ने महात्मा अर्जुन के बहाने पुन: अत्यन्त दिव्य चिन्तन दिया है।

देख्यो जाय ध्यान जप माहीं। ब्यर्थ कलपना आवहिं जाहीं॥
मो सँग ते अस किये कराये। महूँ कियों तस अवसर आये॥

ऐसा देखा जाता है कि जब आप ध्यान, जप आदि में बैठते हैं तो यहाँ वहाँ की व्यर्थ कल्पनाएँ आने जाने लगती हैं कि उन्होंने मेरे साथ ऐसा किया और ऐसा कराया, तभी मैंने भी उनके साथ अवसर आने पर वैसा ही किया-

तिन्ह मो सँग अस करन न चहिए। पर कासों कैसे कछु कहिए॥
ते अति चतुर मूर्ख अति सोई। उन सम जग महँ साधु न कोई॥

उनको मेरे साथ ऐसा नहीं करना चाहिए किन्तु किसी से कुछ कैसे कहा जाय। वे अत्यन्त चतुर हैं, वे मूर्ख हैं तथा उनके समान जगत में कोई साधु नहीं है-

ते असाधु अरु असुर घनेरे। उन सम कोउ न एहि जग हेरे॥
अपजस बहुत भयो जग माहीं। कौन जतन सों पुनि जस पाहीं॥

वे असाधु और महा असुर हैं, उनके समान संसार में कोई दिखाई नहीं पड़ता। अरे! अब जगत में मेरी बहुत अपकीर्ति फैल गयी, अत: कौन-सा यत्न करूँ जिससे पुन: यश प्राप्त कर लूँ।

दोहा— कबहुँ अहिंसा आय उर हिंसा पुनि उपजाय।
कबहुँ अभयता दीख बहु कबहुँ बहुत भय छाय॥ ६॥

इस प्रकार कभी हृदय में अहिंसा प्रकट हो जाती है और पुन: कभी हिंसा प्रकट हो जाती है, कभी बहुत अभयता प्रकट हो जाती है और कभी अत्यन्त भय छा जाता है।

चौपाई— दै दुहाइ तब अंतरजामिहिं। बिनवहु अस कहि हे मम स्वामिहिं॥
गुडाकेस सों अस तुम्ह गाये। गुन अवगुन मम रूप कहाये॥

तब अन्तर्यामी भगवान की दुहाई देकर इस प्रकार कहते हुए प्रार्थना करें कि हे मेरे नाथ! आपने तो भक्त अर्जुन से कहा है कि गुण और अवगुण- ये दोनों मेरे ही रूप कहे जाते हैं।

जासों बिसरेउँ नाथ स्वरूपहिं। सिर धरि मैं बिनवउँ तिन्हि रूपहिं॥
सत्य रूप अब सोइ लखावहु। जो अर्जुन पहिं गाइ सुनावहु॥

अत: जिन [गुण-अवगुणों को देखने] के कारण मैं आपको भूल गया था, अब इन [दोनों ही] रूपों को मैं नमस्कार कर रहा हूँ। इसलिए उसी सत्यरूप को आप मुझे दिखायें जिस रूप के विषय में आपने महात्मा अर्जुन को भलीभाँति बताया है-

जाहि रूप बिनु तुम्हहिं लखाये। ब्रह्मादिक ऋषि देखि न पाये॥
करहु कृपा हे कृपानिधाना। आयँ चरन तव मम मन प्राना॥

जिस रूप को बिना आपके दिखाये ब्रह्मादि देवता एवं ऋषिगण भी नहीं देख पाते। हे कृपानिधान! अब आप कृपा करें कि मेरे मन, प्राण आदि आपके चरणों में आ जायँ।

नित गुन गान करउँ तव स्वामी। मम उर बसहु नमामि नमामी॥
बुद्धियोग दीजै एहि दासा। अब न करउँ जग काहुहि आसा॥

हे स्वामी! मैं आपका सदा गुणगान करता रहूँ, आप मेरे हृदय में वास करें, आपको नमस्कार है, नमस्कार है! हे नाथ! अपने इस दास को बुद्धियोग प्रदान करें, जिससे मैं अब जगत में किसी अन्य की आशा न करूँ।

दोहा— ज्ञान दीप उजियारहू उर तम जाइ नसाय।
पार करउँ माया प्रबल सब तव रूप लखाय॥ ७॥

हे जगत्पते! अब ज्ञानरूपी दीपक जला दें जिससे मेरे हृदय में स्थित मोह और अज्ञान का नाश हो जाय। जिससे प्रबल माया को सहज ही पार कर जाऊँ और सर्वत्र एकमात्र आपका ही रूप दिखाई पड़ता रहे।

चौपाई— उत अर्जुनहु हरिहिं पहिचाने। जब प्रभु योग बिभूति बखाने॥
नहिं अघाहिं मुख आव न बैना। अब निज नाथ निरखि तिन्ह नैना॥

उधर जब भगवान ने अपने विभूतियोग का वर्णन किया तब महात्मा अर्जुन ने भगवान को पहचान लिया। अब अपने भगवान का दर्शन करते हुए उनके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं तथा वाणी भी कुछ बोल नहीं पा रही है।

ससि मुख ज्यों चकोर दृग निरखत। लखि तिमि प्रभुहिं परंतप हरषत॥
उनकै नैन भये जनु सागर। सरि तरंग सम छबि माधव कर॥

जिस प्रकार चन्द्रमा को चकोर अपलक नेत्रों से प्रसन्न होकर देखता रहता है उसी प्रकार महात्मा अर्जुन भी भगवान को देखते हुए अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं। हे बुद्धिमान्! मानो उनके नेत्र सागर हो गये हैं और भगवान की छवि नदी की तरंगों के समान है।

नैन लोभ बस प्रेम धार महँ। नीकें अवगाहत सु सार महँ॥
तउ नहिं तृप्ति कछुक ते पाये। महाराज कस पुनि तिहिं गाये॥

अत: उनके नेत्र [प्रभु छवि के] लोभ के वशीभूत हो सार के सार प्रेमरूपी धारा में भलीभाँति डुबकी लगा रहे हैं। वे इतने पर भी तृप्ति नहीं मान रहे हैं तो भला महाराज उस छवि का वर्णन कैसे कर सकता है।

तब हरि कृपा स्वयं सुधि आई। लगे करन बहु प्रभुहिं बड़ाई॥

तब भगवान की कृपा से उन्हें अपनी स्मृति हो आयी और वे उनकी महिमा गाने लगे।

दोहा— नाम पतितपावन प्रभू जान्यों काहे आहि।
पतितनि महँ सिरमौर जो ध्याव उधारहु ताहि॥ ८॥

हे स्वामी! अब मैंने जान लिया कि आपका नाम पतित पावन क्यों पड़ा। [वह इसलिए कि] पतितों में भी जो अग्रगण्य है वह भी आप शरणागत रक्षक का स्मरण करता है तो आप उसका भी उद्धार कर देते हैं।

चौपाई— अब जान्यों हे दीनदयाला। परम ब्रह्म आपुहि प्रतिपाला॥
परमधाम आपुहि अति पावन। परम पुरुष त्रय ताप नसावन॥

हे दीनों पर दया करने वाले! अब मैंने यह जान लिया कि आप ही परम ब्रह्म और सबके रक्षक हैं। आप ही परम धाम और परम पावन हैं, आप ही परम पुरुष और तीनों तापों का हरण करने वाले हैं।

सास्वत आपुहि आदि देव प्रभु। अहउ अजन्मा अबिनासी बिभु॥
सबहि महर्षि देवऋषि नारद। ब्यास असित देवलहु बिसारद॥

हे प्रभो! आप ही शाश्वत, देवादिदेव, अजन्मा तथा अविनाशी परमेश्वर हैं। देवर्षि नारद, महर्षि व्यास, असित, देवल आदि समस्त ऋषि-महर्षि जो परमार्थ में अत्यन्त निपुण हैं-

ऐसेइ कहहिं कहउ जस स्वामी। सब सच मानउँ अंतरजामी॥
तव उतपति सुर असुर न जानैं। जाहि लखावउ ताहि लखानैं॥

हे स्वामी! वे सभी ऐसा ही कहते हैं जैसा कि आप कह रहे हैं और हे अन्तर्यामी! मैं उन सबको सत्य मानता हूँ। आपकी उत्पत्ति को न तो देवता और न असुर ही जानते हैं, क्योंकि जिसे आप दिखा देते हैं वही देख पाता है।

हे जग सृजनहार जग स्वामी। भूतनाथ हे रग रग गामी॥
प्रभु जग महँ नहिं कोउ लखावे। तुम्हरि कृपा कर मोल चुकावे॥

हे जगत के पालनकर्ता! हे जगत के स्वामी! हे समस्त भूतों के नाथ! हे कण-कण में गमन करने वाले प्रभु! आपकी कृपा का मूल्य चुका सके, मुझे जगत में ऐसा कोई दिखाई नहीं पड़ता।

दोहा— निज कहँ निज सों जानहु अपर न जानइ कोय।
बिनु जानै तव रूपहीं को गुन गानइ जोय॥ ९॥

आप स्वयं से ही स्वयं को जानते हैं और कोई नहीं जानता। अत: ऐसा कौन है जो बिना आपके रूप को जाने उसका गुणगान कर सके!

चौपाई— ब्यापउ जिनि बिभूति सों सारी। तुम्ह बिनु कहि न सकहिं संसारी॥
हे योगिन नित चिंतन करि करि। तुव जानउँ कस जग अनुहर हरि॥

आप जिन विभूतियों द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं, उसे केवल आप ही कह सकते हैं, कोई संसारी पुरुष नहीं कह सकता। हे योगिराज! सदा आपका चिन्तन तथा जगत में व्यवहार करता हुआ, हे प्रभो! मैं आपको कैसे जानूँ!

किहिं किहिं भाव चिंत्य तोहिं जानउँ। केहि केहि बस्तु माहिं अनुमानउँ॥
परम सक्तियुत बिभुतिन्ह आपुनि। कहु जानउँ जिन्ह सुमिरउँ पुनि पुनि॥

इतना ही नहीं बल्कि यह भी बतायें कि किन-किन भावों से चिन्तन करते हुए आपको जानूँ और किन-किन वस्तुओं में आपकी विशेष उपस्थिति का अनुभव करूँ। [हे जनार्दन! हे शत्रुओं का संहार करने वाले!] आप कृपा करके अपनी परमशक्ति से सम्पन्न विभूतियों का वर्णन करें, जिससे उन रूपों को भी जानकर मैं बारम्बार स्मरण करूँ।

तृप्ति न होति सुनत तुव बानी। तव महिमा कस कहउँ बखानी॥
अर्जुन बचन प्रभुहिं अति भावे। सदाचार तिन्ह माहिं लखावे॥

आपकी वाणी को सुनने से तृप्ति नहीं होती। आपकी महिमा का कैसे बखान करूँ? भक्त अर्जुन के वचन भगवान को अत्यन्त प्रिय लगे, उनमें सदाचार की पराकाष्ठा दिखाई पड़ी।

पूर्ब भाँति नहिं मन कछु भेदा। अरु थोरेउँ नहिं रह्यो लबेदा॥
लखि निज सिष्य परम सरनागत। प्रभु मन परम प्रेम महँ पागत॥

उनके मन में पूर्व की भाँति कुछ भेद नहीं था और न थोड़ी भी अशास्त्रीयता ही थी। अपने परम प्रिय शिष्य को शरणागत हुआ देखकर प्रभु का मन परम प्रेम में विभोर हो गया।

दोहा— कह प्रभु हे प्रिय कहउँ मैं दिब्य बिभूतिन्ह आज।
साधन पथ चिंतत जिनहिं बेगि सँवर सब काज॥ १०॥

भगवान ने कहा- हे प्रिय! आज मैं अपनी दिव्य विभूतियों को बता रहा हूँ साधन-पथ में जिनका चिन्तन करने से समस्त कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं।

चौपाई— कुरूश्रेष्ठ मम बिभुतिन्ह अंता। अहइ न यदि मैं कहउँ अनंता॥
उनमहँ मुख्य मुख्य सुनु भाई। जिन्हकी पूजा सबन्हि कहाई॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यदि मैं अपनी समस्त विभूतियों का सविस्तार वर्णन करूँ तो वे समाप्त नहीं होंगी। इसलिए उनमें मुख्य मुख्य विभूतियों को सुनो, जिनका स्मरण करने से समस्त विभूतियों का स्मरण होना कहा जाता है।

आतम सब प्राणिन महँ अहऊँ। आदि अंत मध्यहु हौं कहऊँ॥
सरन आय जो तेहि की भाई। ताकर दुख सब जात नसाई॥

हे प्रिय! मैं समस्त प्राणियों में वास करने वाला आत्मा हूँ और उनका 'आदि, अन्त और मध्य' भी हूँ ऐसा स्पष्ट कह रहा हूँ। उस आत्मा की शरण में जो आ जाता है उसके सारे दु:ख दूर हो जाते हैं।

आदित्यनि महँ बिष्णु कहावउँ। ज्योतिपुंज महँ सूर्य लखावउँ॥
अहउँ मरीचि वायु सुर माहीं। नक्षत्रनि महँ चन्द्र सुहाहीं॥

द्वादश आदित्यों में मैं ही विष्णु कहा जाता हूँ तथा प्रकाशपुञ्जों में मैं सूर्य रूप से दिखाई पड़ता हूँ। मैं उनचास वायु देवताओं में मरीचि नामक देवता तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा के रूप में शोभित होता हूँ।

सिखर युक्त पर्वत जे आहीं। अहौं सुमेरु पार्थ उन माहीं॥
सामबेद बेदन्ह महँ अहऊँ। बासव बनि सुरगन बिच रहऊँ॥

हे पार्थ! संसार में जितने शिखर वाले पर्वत हैं उनमें सुमेरु मैं ही हूँ। वेदों में मैं सामवेद हूँ तथा देवताओं में इन्द्र के रूप में मैं ही रहता हूँ।

भूत चेतना इंद्रिनि महँ मन। रुद्रन्ह महँ संकर भक्तन्ह धन॥
धनद यक्ष राक्षस महँ भाई। अष्ट बसुनि महँ हौं अनलाई॥

हे प्रिय! मैं समस्त भूतों की चेतना हूँ, इन्द्रियों में मन तथा एकादश रुद्रों में भक्तों की परम निधि भगवान शंकर हूँ। यक्ष तथा राक्षसों में मैं कुबेर हूँ तथा आठ वसुओं में अग्नि हूँ।

सुरन्ह पुरोहित माहिं बृहस्पति। हौं सागर मैं जलासयनि पति॥
सैन्यपतिन्ह महँ हौं स्कन्द:। ॐ अहउँ बाणिनि महँ बन्द:॥

[हे पार्थ!] देवताओं के पुरोहितों में मैं देवगुरु बृहस्पति तथा सरोवरों में उनका स्वामी सागर हूँ। सेनापतियों का स्वामी स्कन्द एवं वाणी में सबके द्वारा वन्दनीय ॐ हूँ।

समुझ महर्षिनि महँ भृगु भाई। यज्ञनि महँ जप यज्ञ सुहाई॥
अचल गिरिनि महँ हिमगिरि जानहु। बृक्षनि महँ अस्वत्थहिं मानहु॥

हे प्रिय! महर्षियों में मुझे भृगु तथा यज्ञों में पवित्र करने वाला दिव्य जपयज्ञ जानो। स्थिर रहने वाले पर्वतों में हिमालय तथा समस्त वृक्षों में मुझे अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष समझो।

देवऋषिनि महँ हौं मैं नारद। सिद्धनि महँ मुनि कपिल बिसारद॥
गंधर्बनि महँ चित्ररथउ मैं। नरनि माहिं नृप अहउँ कथउँ मैं॥

देव-ऋषियों में नारद, सिद्धों में महत् बुद्धिमान महर्षि कपिल तथा गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ। मैं यह भी कहता हूँ कि मनुष्यों में मैं राजा हूँ।

दोहा— उच्चैश्रवा सु अस्व बर गज ऐरावत जोउ।
प्रगटे सागर मथत सों पार्थ जानि मोहिं दोउ॥११॥

अश्वों में उच्चै:श्रवा नामक अश्व तथा हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, जो दोनों समुद्र मन्थन के समय प्रकट हुए थे, मुझे ही जानो।

चौपाई— तैंतिस कोटि देव जग आहीं। अस सुनि चकित होइ सब जाहीं॥
महाराज कह एक कहानी। तेहिं सों को कितनैं लेउ जानी॥

इस सृष्टि में तैंतीस करोड़ देवता हैं- ऐसा सुनकर सभी चकित हो जाते हैं। महाराज एक कथा कहकर बता रहा है, जिससे वे कौन हैं और कितनी संख्या में हैं- इसे आप समझ लेंगे।

नृप बिदेह की सभा मझारी। आये हुते संत मुनि झारी॥
उनमहँ मुनि साकल्य उचारे। याज्ञबल्क्य सुनु देव हजारे॥

विदेहराज जनक की सभा में बहुत-से सन्त पधारे हुए थे उनमें साकल्य मुनि ने कहा- हे याज्ञवल्क्य सुनो! देवताओं की संख्या हजारों-करोड़ों में है-

का इनकर संख्या तुम्ह जानहु। यदि हाँ तौ इन्ह नाम बखानहु॥
यागबलिक बोले मुसुकाई। हाँ इन कहँ मैं जानउँ भाई॥

क्या आप इसकी सही संख्या जानते हैं ? यदि हाँ, तो इनका नाम बतायें ? ब्रह्मर्षि याज्ञवलक्य ने मुस्कुराते हुए कहा- हे सज्जनो! मैं इनकी संख्या जानता हूँ।

अष्ट बसू अरु रुद्र एकादस। इन्द्र प्रजापति आदित द्वादस॥
सुनु साकल्य ये तैंतिस देवा। सबरें करहिं इनहिं की सेवा॥

वे ये हैं- आठ वसु , ग्यारह रूद्रगण, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। हे साकल्य! ये ही तैंतिस देवता हैं। सारे लोग इन्हीं देवताओं की उपासना करते हैं।

दोहा— अवनि अनिल अम्बर अनल अरुन औषधिस आहिं।
अरु द्युलोक नक्षत्र ये अष्ट बसू कहलाहिं॥१२॥

उसी प्रकार पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक (ज्योतिर्लोक, स्वर्गलोक) और नक्षत्र ये ही आठ 'वसु' कहे जाते हैं।

चौपाई— कह साकल्य न जलहिं गिनायो। यागबलिक मुनि बहुरि सुनायो॥
जल महि दुइ मिलि एकहि भाई। तासों ताकर नाम न आई॥

साकल्य मुनि ने कहा- इन वसुओं में जल का नाम तो आया ही नहीं है ? तब पुनः याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा- हे भाई! जल और पृथ्वी ये दोनों मिलकर एक ही हैं इसी से इसका नाम नहीं आया है।

सबरे जगत बसत इनि माहीं। यासें सच बसु येइ कहाहीं॥
दृग त्वक घ्रान श्रवन अरु रसना। सिस्न गुदा बानी कर चरना॥

समस्त लोक इन्हीं में वास करते हैं इसी से सच में ये आठ वसु कहे जाते हैं। वैसे ही नेत्र, त्वचा, नासिका, कान, जिह्वा, लिंग, गुदा, वाणी, हाथ और चरण-

मन सँग इंद्रि एकादस येई। इनसोइँ जीव बिषय सब सेई॥
येइ कहायँ एकादस प्राना। मृत्यु छनहिं दुख दैं बिधि नाना॥

तथा मन को मिलाकर ये ही ग्यारह रूद्र कहे जाते हैं। इन्हीं सबों से जीव विषयों का सेवन करता है। ये ही ग्यारह प्राण भी कहे जाते हैं जो मृत्यु के समय नाना प्रकार के दुख देते हैं।

तेहिं छन स्वजननि येइ रुलावहिं। यासों सब ये रुद्र कहावहिं॥
बारह माह बरष के आहीं। येइ द्वादस आदित्य कहाहीं॥

उस समय ये स्वजनों को रुला देते हैं इसी से सभी शास्त्रों में रूद्र कहे जाते हैं। वैसे ही जो साल के बारह महीने हैं - ये ही बारह आदित्य कहे जाते हैं।

कारन इनि मासहिं लै धावहिं। तासों ये आदित्य कहावहिं॥

क्योंकि ये इन्हीं महीनों को ग्रहण करते हुए गमन करते हैं इसीलिए ये बारह आदित्य कहे जाते हैं।

दोहा— जप तप योग यगादि सों प्राप्त पुन्य बल जोय।
सोइ दिलावे इंद्रपद यह जानइ सब कोय॥१३ (क)॥

ऐसा सभी जानते हैं कि जप, तप, योग, यज्ञ आदि से जो पुण्य प्राप्त होता है वही इन्द्रपद दिलाता है-

जो नर लेत न इंद्रपद तब प्रभु पद सो देत।
इंद्र कहावे पुन्य सोइ तुम्ह साकल्यहु चेत॥१३ (ख)॥

और जो इन्द्रपद को न ले तो वही ब्रह्मपद दे देता है, अत: वही पुण्य इन्द्र कहा जाता है। इसलिए हे साकल्य! तुम सावधान हो जाओ।

सोरठा— बसति प्रजापति माहिं बर धाता साकल्य सुनु।
तासोइ सृष्टि रचाहिं यहि रहस्य इनि सक्ति कर॥१३ (ग)॥

तथा श्रेष्ठ धाता नाम की शक्ति प्रजापति के अन्तर्गत वास करती है। हे साकल्य! सुनो, उसी धाता शक्ति से प्रजा की रचना होती है- यही इन शक्तियों का रहस्य है।

चौपाई— अब पुनि सुनु साकल्य कहउँ जेहि। कउन देव अध्यक्ष मास केहि॥
बिष्णु प्रकासित चैत्रहिं मासा। नाम याहि सों बिष्णु प्रकासा॥

हे शाकल्य! अब ध्यान देकर जो कहता हूँ उसे सुनो कि कौन देवता किस महीने का अध्यक्ष है। चैत्र महीने में विष्णु भगवान प्रकट रहते हैं इसी से इस महीने को विष्णु भी कहा जाता है।

सुर अर्यमा बसइ बैसाखे। अस एहि नाम यहउ इक राखे॥
बिबस्वान जेष्ठहि महँ रहई। तासों यहउ नाम सो गहई॥

अर्यमा नामक देवता वैसाख महीने में वास करता है इसलिए इसका एक नाम अर्यमा भी रखा गया है। विवस्वान नामक देवता ज्येष्ठ महीने में वास करता है अत: उसका एक नाम यह भी है अर्थात् विवस्वान भी है।

अंसुमान आषाढ़ सम्हारे। तेहि सों तेहि कहँ यहउ उचारे॥
श्रावण महँ पर्जन्य प्रतापा। जासों याहि नाम यहु मापा॥

अंसुमान आषाढ़ महीने में प्रतिष्ठित है इसलिए उसका एक नाम यह (अंसुमान) भी कहा जाता है। श्रावण महीने में पर्जन्य का प्रताप रहता है जिससे इसका एक नाम यह (पर्जन्य) भी रखा गया है।

बरुण करहिं भाद्रहिं उजियारा। तासों तेहि यहु नाम उचारा॥
इंद्र प्रगट हँहिं आस्विन मासा। ताकर नाम यहउ परकासा॥

वरुण देवता भाद्रपद महीने को प्रकाशित करते हैं इसलिए उसका एक नाम यह भी (वरुण) कहा जाता है। इन्द्र आश्विन महीने में प्रकट रहते हैं, अत: उसका एक नाम यह भी (इन्द्र) रखा गया।

धाता कार्तिक माहिं बिराजे। अस यहु नाम ताहिकर भ्राजे॥
मार्गसीर्ष महँ मित्र प्रकासैं। यहउ नाम एहिकर कह तासैं॥

धाता देवता कार्तिक महीने में स्थित हैं। इस प्रकार उसका एक नाम यह (धाता) भी शोभा देता है। मित्र देवता मार्गशीर्ष (अगहन) को प्रकाशित करता है, अत: उसका एक नाम यह (मित्र) भी है।

पौष मास कर पूषा नाथा। नाम पर्‌यो यहु एहिकर माथा॥

पौष मास का स्वामी पूषा है इसलिए इसका एक नाम यह (पूषा) भी हो गया।

दोहा— अनुसासै भग माघ पर एहिसों यहु एहि नाम।
त्वष्टा फाल्गुन कहँ गहत अस यहु याहि सुनाम॥१४॥

भग नामक शक्ति माघ महीने पर शासन करती है इसलिए उसका एक नाम यह (भग) भी है। त्वष्टा नामक देवता फाल्गुन माह को धारण किया है, अत: उसका त्वष्टा नाम भी है।

चौपाई— आर्तभाग मुनिहू हरषाई। ताहि समय किये प्रस्न सुहाई॥
याज्ञबल्क्य ग्रह अरु अतिग्रहहीं। जानहु का तुम्ह कितनैं अहहीं॥

उसके उपरान्त आर्तभाग मुनि ने भी प्रसन्नता के साथ उस समय सुन्दर प्रश्न किये। हे याज्ञवल्क्य! आप क्या ग्रह और अतिग्रह को भी जानते हैं कि वे कितनी संख्या में हैं?

यागबलिक मुनि तब हँसि कहहीं। आठइ ग्रह आठइ अतिग्रहहीं॥
नेत्र श्रवन जिह्वा त्वग घ्रानहु। कर मन वाक अष्ट ग्रह जानहु॥

तब मुनिश्वर याज्ञवल्क्य ने हँसते हुए कहा- आठ ग्रह और आठ ही अतिग्रह हैं। जैसे- आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, हाथ, वाणी और मन इन्हें ही आप आठ ग्रह समझें।

इनिकर बिषयहि अतिग्रह भाई। जिनसों ये अति गये ग्रसाई॥
तासों दृग न लखे बिभु रूपा। प्रभु कर सब्द श्रवन सों छूपा॥

तथा इनके आठों विषय (देखना, सुनना, सूँघना, स्वाद लेना, स्पर्श का अनुभव करना, संकल्प-विकल्प करना, देना-लेना तथा बोलना) ही अतिग्रह हैं, जिनसे ये आठों ग्रह ग्रसित हैं। इसीलिये नेत्र से प्रभु का रूप नहीं दीखता और कान से उनका शब्द छिप गया है।

जिह्वा सों प्रभु रसहु दुरायो। बिभु कर परस त्वचा बिसरायो॥
सुँघत अपान न ब्रह्म सुगंधा। हस्त करत नहिं प्रभु कर धंधा॥

जिह्वा से प्रभु-रस छिप गया तथा त्वचा ने ब्रह्मस्पर्श भुला दिया है, नासिका से अपान ब्रह्मसुगन्ध नहीं ले पाता और हाथ प्रभु का कर्म नहीं कर पाते-

दोहा— जीव नाम गहि कबहुँ नहिं बाणी लै हरि नाम।
पुनि तस मन बिभु मनन तजि गहत अहर्निस काम॥ १५ (क)॥

उसी प्रकार जीवों का नाम ग्रहण कर वाणी प्रभु नाम कभी नहीं लेती तथा उसी प्रकार मन भी ब्रह्म का मनन त्यागकर सदा क्षुद्र कामनाओं में ही फँसा रहता है।

उत पुनि कहत दयानिधि जाहि सुनहु धरि ध्यान।
महाराजहू आप सँग लेत महत यह ज्ञान॥ १५ (ख)॥

उधर पुनः दयानिधि भगवान जो कह रहे हैं जिसे आप ध्यान देकर सुनें। महाराज भी आपके साथ इस श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त कर रहा है।

मासपारायण, बाईसवाँ विश्राम

सस्त्रनि महँ बर बज्र हौं धेनुनि महँ सुरधैनु।
बिनु अवराधे जाहि जग मिलइ कबहुँ नहिं चैनु॥ १५ (ग)॥

दिव्य शस्त्रों में मैं सर्वश्रेष्ठ शस्त्र वज्र हूँ और गायों में मैं कामधेनु हूँ जिसकी इस जगत में आराधना किये बिना कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

चौपाई— कामधेनु हौं सुनि महराजहु। भक्तन्ह बिच यहि खोलत राजहु॥
निर्गुन सों जब सगुन भये प्रभु। प्रगटे नाम रूप बहु बनि बिभु॥

'मैं गौओं में कामधेनु हूँ'- भगवान से ऐसा सुनकर महाराज भक्तों के बीच इस रहस्य को खोल रहा है। जब भगवान निर्गुण से सगुण (विश्वरूप) हुए तब वे बहुत-से नाम-रूपों में प्रकट होकर सबमें व्याप्त हो गये।

सृष्टि यज्ञमय होवे यासे। प्रगटाये सुर बहुत हुलासे॥
सब निर्जीव जीव तेहिं काला। प्रगट किये सुर हित प्रतिपाला॥

[उसके उपरान्त यह सोचकर कि] यह सृष्टि यज्ञमय हो, इसके लिए उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ देवताओं को प्रकट किया। उस समय सभी जीव चेतनारहित थे जिन्हें जगत की रक्षा करने वाले भगवान ने देवताओं के हित की इच्छा से प्रकट किया था।

किंतु न सुर प्रबिसहिं तिन्ह माहीं। दीख न सुद्ध कोउ जहँ जाहीं॥
अस लखि कामधेनु प्रगटाये। तहइँ प्रबिसि सुर बहु हरषाये॥

किन्तु देवगण उन जीवों में प्रवेश नहीं कर रहे थे, उन्हें [जीवों में] कोई भी शुद्ध जीव दिखायी नहीं दे रहा था जिसे वे स्वीकार करते। ऐसा देखकर भगवान ने कामधेनु गाय को प्रकट किया तब देवता अति हर्षित होकर उसमें प्रविष्ट हो गये।

सब अंगनि थित भये अमरगन। रमा जाह्नवी तहँइ हँसहिं मन॥
बच्यो अंग दुइ प्रभु हँसि बोलै। मूत्र मलहिं अपवित्रहिं को लै॥

उसके सभी अंगों में देवगण [यथास्थान] स्थित हो गये और वहीं पर माँ गंगा तथा माता लक्ष्मी मन ही मन प्रसन्न हो रही थीं। [तब उन्हें कहीं स्थान मिला हुआ न देख तथा उनके मन की बात जानकर] भगवान ने हँसते हुए कहा कि इसके दो ही अंग बचे हैं- 'गोबर और मूत्र', किन्तु ऐसे अपवित्र स्थानों को कौन स्वीकार करेगा!

दोहा— कहहिं बिहँसि हरि नमन करि जग जानत जिन्ह मातु।
अस न परीक्षा लेहु इहँ अति पावन यहु गातु॥१६॥

तब जिन्हें सारा जगत माता के रूप में देखता है, उन दोनों ने भगवान को प्रणाम कर हँसते हुए कहा कि [हे प्रभो!] ये दोनों अंग अत्यन्त पावन हैं अत: आप इस जगह पर भी परीक्षा न लें।

चौपाई— अस कहि तेहि मल रमा समानी। गोमय नाम पर्‌यो जग जानी॥
ताहि मूत्र महँ गंग समाई। यह गोमूत्र कहहिं हरषाई॥

ऐसा कहकर उसके गोबर में माँ लक्ष्मी प्रवेश कर गयीं, जिसका नाम 'गोमय' पड़ा जिसे सारा जगत जानता है तथा उसके मूत्र में गंगा जी प्रवेश कर गयीं और 'यह गौमूत्र है'- ऐसा कहकर प्रसन्न हो गईं।

कामधेनु तउ मुख नहिं खोले। तब करुनानिधि हँसि अस बोले॥
माँगु देबि जो चह बरदाना। करहिं तोर लखु सुर गुनगाना॥

तो भी उस गोमाता कामधेनु ने अपना मुख नहीं खोला (बोली नहीं) तब करुणानिधान भगवान ने हँसते हुए कहा- 'हे देवि! जो भी वरदान चाहती हो माँग लो! देखो ये देवगण तुम्हारा गुणगान (स्तवन) कर रहे हैं।'

हुँकरि ॐ अम्बा प्रभु हेरी। कहउँ यहइ नित काहुहिं टेरी॥
एवमस्तु जब जगपति बोले। तब सब जीव नेत्र निज खोले॥

तब गो माता ने 'ॐ और अम्बा' का हुंकार भरते हुए भगवान की ओर देखकर कहा- हे प्रभो! मैं कुछ भी कहूँ, किसी को भी बुलाऊँ तो मेरे मुख से एकमात्र ॐ और अम्बा का ही उच्चारण हो और जब भगवान ने 'एवमस्तु' कहा तो सभी जीवों ने अपनी-अपनी आँखें खोल दीं।

नमन करन लागे सुर संता। अति प्रसन्न तब भये अनंता॥
नृपहु करन लागे सेवकाई। जनु मनवांछित निधि कोउ पाई॥

फिर तो देवता और सन्तगण नमन करने लगे, तब भगवान भी अत्यन्त प्रसन्न हो गये। राजागण उसकी सेवा करने लगे, मानो उन्हें कोई मनोवांछित निधि (खजाना) मिल गयी हो।

दोहा— तेहि लखि प्रेम मगन प्रभु दिये अपर बरदान।
याहि नमन करि संतजन करहिं मात्र गुनगान॥१७॥

उसे देखकर प्रेम से पुलकित होकर भगवान ने दूसरा वरदान दिया कि [आज से] सन्तजन केवल इसका गुणगान करते हुए नमस्कार करेंगे-

चौपाई— इतनैं सों यह दै बरदाना। सदगुरु तुम्हहिं देहिं बरज्ञाना॥
कह्यो सुरन्ह सों हरि अति हर्षित। तुम्हहिं आज्य पय जो कर अर्पित॥

तो मात्र इतने से ही यह वरदान दे देगी कि सद्‌गुरु आपको ब्रह्मज्ञान प्रदान करें। पुन: देवताओं से भगवान ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कहा- जो आप सबको इसका दूध-घी अर्पित करे-

उन्हहिं देहु जग सम्पति सारी। यह अग्या तुम्ह सुनहु हमारी॥
नृप करि याकी बर सेवकाई। धन बल जन जय लह प्रभुताई॥

उसे आप जगत की सम्पूर्ण सम्पत्ति दे दें- मेरी इस आज्ञा को आप सब सुन लें। राजागण इसकी प्रेमपूर्वक सेवा करके धन, जन, बल एवं विजयश्री के साथ-साथ प्रभुता को भी प्राप्त करें।

सेवत धेनु जाहि गृह हरसहिं। कह महराज सकल सुख बरसहिं॥
तहँइ सकल तीरथ मुनि देवा। बास करहिं अति मानहिं सेवा॥

जिस गृहस्थ के घर में गाय सेवा से प्रसन्न रहती हैं, महाराज कह रहा है कि वहाँ समस्त सुखों की बरसात होती

रहती है। वहीं पर समस्त तीर्थ, मुनिगण एवं देवताओं का वास होता है और [उसकी सेवा से ही वे अपनी] विशेष सेवा मान लेते हैं।

जाकर दरस परस मंगलमय। दान करावे भवसागर जय॥
बाबानंद जसोदा माता। गो सेवक अस जग बिख्याता॥

जिसका दर्शन और स्पर्श मंगलमय है तथा जिसका दान भवसागर से पार कर देता है। माँ यशोदा एवं नंदबाबा ऐसे ही जगत विख्यात गो-सेवक थे-

दोहा— जिन्हके गृह महँ आइ हरि पहिरि पनहियाँ नाहिं।
जगत सिखावन हेतु बन धेनु चरावन जाहिं॥१८॥

जिनके घर में भगवान नारायण अवतरित होकर पैरों में जूती पहने बिना ही जगत को शिक्षा देने के लिए गौओं को चराने जाया करते थे।

चौपाई— रबि बंसिन्ह कर अस सेवकाई। सेवत धेनु प्रान अधिकाई॥
यासें गुरु बसिष्ठ सम ज्ञानी। तिन्हहिं बनावत आतमज्ञानी॥

हे सज्जनो! सूर्यवंशियों की भी ऐसी सेवकाई थी कि वे गौओं की सेवा अपने प्राणों से भी बढ़कर करते थे। इसीलिए ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जैसा परमज्ञानी गुरु उन्हें आत्मज्ञानी बना देता था।

तहँउ प्रगटि आये हरिराई। गो महिमा कछु कही न जाई॥
कछुक ऋषिन्ह पहिं सुरभि बसाई। अधिकारी बटु कर सेवकाई॥

वहाँ भी [इसीकारण] भगवान प्रकट हो गये। इस प्रकार गोमाता की महिमा कहते नहीं बनती। वैसे ही कुछ ऋषियों के पास भी गौएँ वास करती थीं, जहाँ उनकी सेवा अधिकारी ब्रह्मचारी ही करते थे।

सत्यकाम गुरु अज्ञा धारी। गो सेवत बन सुरति बिसारी॥
भयो बरष महँ आतमज्ञाना। गो सेवा कस जाइ बखाना॥

उन्हीं में से सत्यकाम सद्गुरु की आज्ञानुसार वन में अपनी सुख-सुविधा का ध्यान छोड़कर गौओं की सेवा करते थे जिससे उन्हें एक वर्ष में ही आत्मज्ञान हो गया था। अत: गोसेवा की महिमा का वर्णन कैसे किया जाय।

अस बटु नृप सेवत हरषाई। बंदत संत ताहि गुनगाई॥
सप्तद्वीप महँ जम्बूद्वीपहु। तेहि महँ आर्यभूमि इक दीपहु॥

इस प्रकार ब्रह्मचारी और राजागण उसकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा करते हैं तथा सन्त उसका गुणगान करते हुए उसकी वन्दना करते हैं। सातों द्वीपों में एक जम्बूद्वीप है और वहाँ एक आर्यभूमि नामक दिव्य दीपक है।

दोहा— सो बराय बहु दीपहू जो गउ सेवहिं आयँ।
प्रगटत बिरले दीप अब हरि सम धेनु चरायँ॥१९॥

वही [एक दीपक] बहुत-से दीपकों को जलाता था (जन्म देता था), जो आकर गो-सेवा किया करते थे। किन्तु अब तो वे दीपक विरले ही प्रकट हो रहे हैं जो भगवान की तरह गौओं की सेवा कर रहे हैं।

छंद— हे आर्यभूमि कै सूरबीर। इहँ कामधेनु होवें अधीर॥
जो घाव तिन्हकर देहु चीर। हरि अंग अंगन्ह हरउ पीर॥

अत: हे आर्यभूमि के शूरवीरो! यहाँ कामधेनु गायें अत्यन्त अधीर हो रही हैं उनका जो घाव हो उसको चीर दें। इस प्रकार भगवान की अंग गोमाता के अंगों के दु:ख का हरण करें।

सौभाग्यसाली तुम्ह अहौ। ऐसो न पापहिं अब सहौ॥
नहिं ग्राम नगरहु देस अस। सुरधेनु जहँ न समग्र कस॥

आप तो परम सौभाग्यशाली हैं, अत: ऐसा पाप अब सहन न करें। ऐसा कोई भी गाँव, नगर एवं देश या स्थान, जहाँ पर एक भी देशी गाय न हो, उसे पूर्ण कैसे माना जाय!

नहिं संत सपनेहु जायँ तहँ। परमार्थ पथ अति गूढ़ यहँ॥
सृजि सृष्टि गाधीसुत थके। पर कामधेनु न रचि सके॥

सन्त स्वप्न में भी [भूलकर] वहाँ पर नहीं जाते, यही परमार्थ पथ का अति गूढ़ तत्त्व है। महर्षि विश्वामित्र ने अपनी सृष्टि का निर्माण कर कामधेनु प्रकट करने का अथक प्रयास किया परन्तु कामधेनु को प्रकट नहीं कर पाये।

नहिं लोक मान्यता तिन्ह अहै। कोउ जीव नाहीं तहँ रहै॥
महराज देखत राजहीं। नर म्लेच्छ एकहि काजहीं॥

अत: उनके लोक की मान्यता नहीं हुई, इसी से वहाँ किसी जीव का वास नहीं हो सका। महाराज एक ऐसा रहस्य देख रहा है कि म्लेच्छ और मनुष्य का एक ही कार्य है कि-

पालत सुरभि दोऊ हरस। पर छीर ताकर जबहिं नस॥

दोनों ही बड़ी प्रसन्नतापूर्वक गो पालन करते हैं किन्तु जब उसका दूध समाप्त हो जाता है-

दोहा— म्लेच्छ करत बध ताहि तब अरु नर देत भगाय।
तिन्हकर ऐसो त्यागनो म्लेच्छपना कहलाय॥ २०॥

तब म्लेच्छ उसका वध कर देता है और मनुष्य उसे घर से निकाल देता है। अत: उनके द्वारा उसे घर से बाहर कर देना भी म्लेच्छपना ही कहलाता है।

चौपाई— सावक जनै धेनु तब लावें। बच्छ पिन्हाई दुग्ध दुहावें॥
खावत पीवत अतिहिं अघावें। नित प्रति ताहि चरावन जावें॥

पुन: जब वह बछड़े को जन्म देती है तो मनुष्य उसे लाकर बछड़े से पेन्हाकर दूध दुह लेते हैं और खा-पीकर तृप्त होते रहते हैं तथा उसे नित्य-प्रति चराने भी ले जाते हैं।

दैं गृह परहु हरित लै चारो। अस लखायँ गो सेवक भारो॥
पुनि जब जावे दूध सुखाई। वैसेइ देवें कतहुँ भगाई॥

'घर पर भी हरी घास देते हैं'- ऐसा दिखायी पड़ता है कि कितने बड़े गो-भक्त हैं! और जब पुन: दूध सूख जाता है तो उसी प्रकार उसे कहीं भगा देते हैं।

अस समुझहु दिये हरिहिं भगाई। दुख कस पुनि न गिरइ भहराई॥
लाइ बरन संकर अब गाई। चहत धेनु निज जाय नसाई॥

किन्तु आप ऐसा समझें कि उन्होंने [गौ को नहीं] भगवान को भगाया है, फिर उनके ऊपर महान आपत्ति-विपत्ति क्यों नहीं पड़ेगी अर्थात् अवश्य पड़ेगी? अब तो वे वर्णसंकर (जरसी, फ्रीजियन आदि विदेशी मूल की) गौओं को लाकर अपनी (भारतीय मूल की) गौओं का नाश ही कर देना चाहते हैं।

खरि सम जाकी बानि न भावे। रूप न मधु जनु यंत्रहिं आवे॥
सिसुहु मरे तब खावत जावे। पतो न कब बात्सल्यहिं आवे॥

विदेशी मूल की गाय की बोली गधी के समान है जो किसी को अच्छी नहीं लगती तथा रूप भी ऐसा लगता है, मानो कोई यंत्र आ गया हो। वह अपने बछड़े के मर जाने पर भी खाती रहती है, पता नहीं उसमें वात्सल्य कहाँ और कब प्रकट होता है।

दोहा— ममतामय तेहिं छीर नहिं सेवइ ताकहँ जोय।
गुरु पितु माँ तिय बंधु सुत प्रेम करइ नहिं सोय॥ २१॥

उसका दूध भी वात्सल्यमय नहीं है। अत: जो उसके दूध का सेवन करेगा वह 'गुरु, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई' आदि को प्रेम दे सके ऐसा हो ही नहीं सकता।

चौपाई— लाभ न कछु कहुँ ताहि दुहावें। पायस आज्य सुरहु नहिं पावें॥
कामधेनु पय अरु घृत खावें। को न जाहिं गुरु माँ पितु भावें॥

उसे दुहने में कभी कुछ लाभ नहीं है, क्योंकि उसके दूध की खीर और घी को देवतागण स्वीकार नहीं करते। किन्तु कामधेनु (भारतीय मूल की गो-माता) के दूध एवं घी आदि का जो सेवन करते हैं, उनमें ऐसे कौन हैं जिनको माता-पिता, गुरु प्रिय न लगते हों!

जानत आर्यभूमि के बासी। सबकै हृदय बसत अबिनासी॥
अस बिचारि ते जे कछु करहीं। प्रथम ब्रह्मकर सुमिरन धरहीं॥

इस आर्यभूमि (भारतवर्ष) में रहने वाले अच्छी प्रकार जानते हैं कि सबके हृदय में अविनाशी भगवान वास करते हैं, अत: ऐसा विचारकर वे जो कुछ कर्म करते हैं उससे पहले सर्वप्रथम ब्रह्म का स्मरण करते हैं।

तैसोइ भाव सुरभि प्रति भाई। आर्यसुतन्ह उर बसत सदाई॥
एहि कारन अस कह भगवाना। कामधेनु हौं पार्थ सुजाना॥

उसी प्रकार आर्यभूमि की सन्तानों के हृदय में गोमाता के प्रति वैसा ही पूज्य भाव है। यही तो कारण है कि भगवान ऐसा कह रहे हैं कि हे बुद्धिमान पार्थ! मैं गौओं में कामधेनु हूँ।

सकउ राखि यदि गृह महँ नाहीं। जावहु बर गोसाला माहीं॥
तहिं करु तन मन धन सों सेवा। जस मंदिर महँ पूजहिं देवा॥

यदि किसी विवशता के कारण आप इसे घर में नहीं रख पा रहे हैं तो श्रेष्ठ गोशाला में ही जायें। वहीं तन, मन, धन से इसकी सेवा करें, जैसे मंदिर में देवता का पूजन किया जाता है।

नहिं धन पुनि तन सेवा देहू। सांति सुमति सुख सम्पति लेहू॥

यदि आपके पास धन नहीं है तो वहाँ शरीर से ही सेवा करें और [आप ऐसा करके] शान्ति, सद्बुद्धि, सुख तथा सम्पत्ति प्राप्त कर लें।

दोहा— महाराज बिनवत यहइ एहि महँ तुम्हहिं न भार।
मानि बचन तुम्ह प्रेम सों राखहु याहि दुलार॥ २२(क)॥

महाराज की आपसे यही प्रार्थना है कि प्रेम से मेरी बात मानकर मेरे दुलार की रक्षा करें, ऐसा करने में आपको कुछ भी कष्ट नहीं होगा।

उत कृपाल रनभूमि महँ कर अस जप गुनगान।
यज्ञन्ह महँ जपयज्ञ हौं सुनु अर्जुन मतिमान॥ २२(ख)॥

उधर युद्धभूमि में कृपालु भगवान ने जप का ऐसा गुणगान किया कि हे बुद्धिमान अर्जुन! यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ, ऐसा मानो।

चौपाई— तब नृप कह अर्जुन मित माधव। अस भाषहिं कस संजय साधव॥
पूर्ब ज्ञान यग श्रेष्ठ बताये। अब जप यज्ञहिं परम लखाये॥

तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा कि हे साधु सञ्जय! अर्जुन के मित्र माधव ऐसा कैसे कह रहे हैं? अभी कुछ ही समय पहले उन्होंने ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ कहा था और अब जपयज्ञ को ही श्रेष्ठ बता रहे हैं।

हाँ राजन यहि कहत सिद्ध सुर। चितव परस्पर गुँजत गगन पुर॥
बिहँसि कृपाल सिद्ध एक प्रेरे। समाधान लखि सो सब टेरे॥

हाँ राजन्! सिद्ध एवं देवगण भी परस्पर देखते हुए यही कह रहे हैं, आकाश मण्डल इसी वाक्य से गूँज उठा है। भगवान ने [वहाँ की स्थिति को देखकर] बिहँसते हुए एक सिद्ध को प्रेरित किया। उसने समाधान पाकर सभी की ओर देखा और कहा-

सुनहु सिद्ध सुर जो मोहिं भावे। तुम्हहिं देउँ मैं जोइ लखावे॥
परमारथ पथ दोइ गिनावे। कर्मयोग संन्यास कहावे॥

हे सिद्धो! हे देवताओ! सुनें, जैसा मुझे समझ में आ रहा है, उसे मैं आप लोगों को बता रहा हूँ- भगवान ने दो प्रकार के परमार्थ मार्ग बताये हैं, जो कर्मयोग और संन्यास (ज्ञानयोग) कहा जाता है।

उन्ह महँ करमयोगि हित भाई। अहइ आतमा जपहि सुहाई॥
यतिन्ह हेतु चिंतन सँग जोई। हइ स्वाध्याय आतमा सोई॥

उनमें कर्मयोगियों की 'आत्मा' दिव्य जपयोग है तथा संन्यासियों की 'आत्मा' चिंतन के साथ स्वाध्याय है।

यति गृह तजि प्रथमहिं बन जाहीं। चिंतन सँग स्वाध्याय रमाहीं॥

संन्यासी घर-बार छोड़कर प्रथम चरण में ही वन चले जाते हैं और वहाँ आत्मचिन्तन के साथ-साथ स्वाध्याय में रमण करते हैं।

दोहा— रहि गुरु पहिं तजि मातु पितु सुअन स्वजन सब कोय।
अरु गुरु सिष्यन्हि तजि करत ज्ञानयज्ञ बर सोय॥२३॥

वे सद्गुरु के यहाँ हित-मित्र, माता-पिता, स्त्री-पुत्र कोई भी हो सबको भूलकर यहाँ तक कि गुरु के शिष्यों से भी उदासीन होकर ज्ञानयज्ञ करते रहते हैं।

चौपाई— सम दम तप यम नियम सम्हारहिं। दिवस माहिं स्वाध्यायहिं धारहिं॥
चिंतहिं निसि महँ जो स्वाध्याये। अस दुर्गम पथ कोउ कोउ पाये॥

वे तप [के साथ-साथ] यम, नियम एवं शम-दम आदि को धारण कर दिनभर स्वाध्याय करते रहते हैं तथा जो दिन में स्वाध्याय किया गया है उसका रात्रि में चिन्तन करते रहते हैं। ऐसा कठिन मार्ग कोई-कोई ही स्वीकार करता है।

पर जग महँ अस अहइ न कोई। जो जप महँ समरथ नहिं होई॥
बाल बृद्ध रोगी नर नारी। करहिं मीन मन जप सरि भारी॥

किन्तु जगत में ऐसा कोई नहीं है जो जप न कर सके? स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध और रोगी सभी जपरूपी महानद में मनरूपी मछली को लगा सकते हैं।

जप हरि नाम मनहिं मन होवे। बरु स्वजनन्ह सँग खा पी सोवे॥
सबहि परस्पर चाकर भाई। बरु अबहीं यह समुझ न आई॥

अरे! भले ही स्वजनों के साथ खाते-पीते, सोते-जागते रहें, भगवान का नाम जप तो तब भी मन ही मन हो सकता है। हे मित्रो! भले ही अभी यह समझ में नहीं आ रहा है किन्तु सभी परस्पर एक-दूसरे के सेवक ही हैं।

का सुत चाकर माँ पितु नाहीं। सुतहु न का तिन्ह चाकर आहीं॥
का तिय चाकर नहिं निज पति के। का चाकर नहिं सोउ निज सति के॥

क्या माता-पिता पुत्र के सेवक नहीं है? क्या वह पुत्र भी उन [माता-पिता] का सेवक नहीं हैं? क्या स्त्री पति की सेविका नहीं है? क्या वह पति भी अपनी स्त्री का सेवक नहीं है?

दोहा— का चाकर हित मीत प्रिय अहहिं परस्पर नाहिं।
मैं देखउँ इक एक बिनु एहि जग जी नहिं पाहिं॥२४॥

क्या हित-मित्र तथा अन्य सगे-सम्बन्धी परस्पर एक दूसरे के सेवक नहीं हैं? मैं देख रहा हूँ कि जगत में एक-दूसरे के बिना कोई जीवन जी ही नहीं सकता।

चौपाई— गुरुहु सिष्य कर चाकर भाई। अहइ सिष्य तौ दास सदाई॥
अंतरजामिहु चाकर जग के। भलेइ खायँ सब तिन्हहीं ठग के॥

हे सज्जनो! गुरु भी शिष्य का सेवक ही होता है और शिष्य तो [गुरु का] सदा के लिए सेवक है ही। अन्तर्यामी भगवान भी सम्पूर्ण जगत के सेवक ही हैं, भले ही सभी उनको ठग करके खा-पी रहे हों।

जगतहु प्रभु कर चाकर अहई। नास्तिक अज्ञ असत बरु कहई॥
एक बात मैं कहत न लाजउँ। बरु भगाय जग तो मैं भाजउँ॥

वैसे ही सारा जगत भगवान का सेवक ही है, भले ही कोई अत्यन्त मूर्ख नास्तिक इसका निषेध करे अर्थात् कहे कि मैं ब्रह्म का सेवक नहीं हूँ। एक और बात कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है, भले ही सारा जगत मुझे त्याग दे तो मैं चला जाऊँगा।

जगत चाकरी इंद्रिन्ह तन कर। अहइ बिषय तहँ काम न मन कर॥
बुद्धिहु कर कछु काम न जानउँ। बस मन सों जप करनो मानउँ॥

जगत में [परस्पर] सेवकाई करना शरीर और इन्द्रियों का विषय है वहाँ पर मन का कुछ काम है ही नहीं। मैं

इसमें (जप में) बुद्धि का भी कुछ काम नहीं समझता हूँ, बस एकमात्र मन से जप करना है- ऐसा मानता हूँ।

जस करायँ जनकहिं अस्नाना। मन सों जपैं नाम भगवाना॥
पुनि मन जपत खिलाइ सुलावे। यामें तो नहिं काम नसावे॥

जैसे पिता को स्नान करायें तो मन से भगवन्नाम का जप करें, मन से जप करते हुए ही खिलाकर सुला दें; इसमें तो कुछ काम बिगड़ेगा नहीं !

दोहा— हल चलाय बरु गृह छजै कीधौं कोउहु काम।
बिगरैं नाहिंन काम कोउ जपत संग हरि नाम॥ २५॥

इस प्रकार भले ही कोई हल चलाये, गृह निर्माण करे या कोई भी अन्य काम करे, यदि साथ-साथ [मन में] प्रभु का नामजप चलता रहे तो न कोई काम बिगड़ेगा और न ही कोई बाधा आयेगी-

चौपाई— अपितु महाजप सोउ कहावे। एहि बिधि कछुक काल बिति जावे॥
तब उठि ब्रह्म मुहूरत माहीं। अबिचल आसन कोउ लगाहीं॥

अपितु उसे तो महाजप कहा जाता है। इस प्रकार जब कुछ काल व्यतीत हो जाय, तब ब्रह्ममुहूर्त में उठकर किसी एक अचल आसन में स्थित होकर -

ऐसेहु जाप करहु हरि नामहिं। दिन महँ करत जाहु सब कामहिं॥
कछुक समय प्रति मास बढ़ावे। एक पहर इक बर्षहिं आवे॥

इसी प्रकार भगवान का नाम जप करें और दिन में समस्त कार्यों को करते रहें। ऐसे कुछ समय प्रति माह बढ़ाते जायँ तो एक वर्ष में ही एक प्रहर (तीन घंटे) पर आ जायेंगे।

द्वै त्रै बरष माहिं सच मानहु। होइ दुपहरें लगि जप ध्यानहु॥
ऐसेइ समय बढ़ावत जावें। संध्या लगि जप सहजहिं आवें॥

आप सच मानें तो [ऐसे अभ्यास से] दो-तीन वर्ष में ही दोपहर तक जप-ध्यान होने लगेगा और यदि इसी प्रकार समय बढ़ाते जायँ तो [सुबह से] संध्या तक सहज ही जप होने लगेगा।

यहि जप यज्ञ अहइ सुर मुनिगन। जाहि किये अस पूर्ब भगत जन॥
ध्रुव प्रहलाद देवऋषि नारद। बालमीकि मुनि अतिहिं बिसारद॥

हे सिद्धो एवं देवताओ! यही जपयज्ञ है जिसे पूर्व के सन्तों-भक्तों ने ऐसे ही किया है। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, देवर्षि नारद एवं परम विवेकी मुनि वाल्मीकि-

दोहा— कागभुसुंडि अगस्ति बर भक्त प्रवर हनुमान।
स्वयंप्रभा लीला अरु सबरिहु जेहि सब जान॥ २६॥

काकभुशुण्डि, मुनिवर अगस्त्य, श्रीराम भक्त हनुमान, स्वयंप्रभा (मय दानव की पुत्री), लीला (राजा पद्म की धर्मपत्नी) और शबरी; जिन्हें सारा जगत जानता है।

चौपाई— ये अरु अपर भगत बहु संता। करि जप यज्ञहिं भये अनंता॥
हम तुम्ह महँ बहु जापक आहीं। सिद्ध होइ बिचरहिं जग माहीं॥

ये सभी और अन्य भी बहुत-से भक्त एवं सन्त, जपयज्ञ करके ब्रह्मरूप हो गये हैं। हम [सिद्धों] में तथा आप [देवताओं] में बहुत-से जापक हैं जो सिद्ध होकर सम्पूर्ण जगत में विचर रहे हैं।

सुगम साध्य जप यज्ञ लखावे। हरि सों यासें श्रेष्ठ कहावे॥
मधुर बतकही सिध सुर माहीं। संजय सों सुनि नृप हरषाहीं॥

यह जपयज्ञ अत्यन्त सुगमता से सिद्ध होने वाला दिखायी पड़ता है, इसी से भगवान नारायण द्वारा यह श्रेष्ठ कहा जा रहा है। इस प्रकार सञ्जय से सिद्धों और देवताओं की वार्ता सुनकर राजा धृतराष्ट्र मन ही मन प्रसन्न हुए।

हौं अस्वत्थहु हरिहिं बताये। महाराज एहि महुँ कछु गाये॥
जो निज आत्मदेव पहिचानत। पीपल तरु तर जप तप ध्यानत॥

भगवान ने बताया कि मैं [देव वृक्षों में] पीपल वृक्ष हूँ, अत: महाराज इसके विषय में भी कुछ कहेगा। जो

अपने आत्माराम को पहचानते हैं वे तो पीपल के नीचे बैठकर ही जप, तप, ध्यान करते हैं।

कोउ निज गुरुहिं आतमा जाने। सोइ अति पावन ताहि ठिकाने॥
पर बिभूति यह जिहिं ढिंग नाहीं। ते कोउ अन्य बिभूतिन्ह पाहीं॥

कोई अपने गुरु को ही आत्मा जानता है उसके लिए वही अत्यन्त पावन स्थान है, परन्तु जिसके पास यह विभूति नहीं है, वे किसी अन्य विभूति के पास जाकर आश्रय लें-

बरु हिमगिरि सागर गंगा पहिं। अथवा पीपल तरु होवें कहिं॥

भले ही वह आश्रय हिमालय की गुफा, सागर अथवा गंगा का तट या कहीं पीपल वृक्ष ही क्यों न हो-

दोहा— इनि महँ कोउ बिभूति इक पाइ करत जप जोग।
कछुक कालमहँ होवई सहजहिं प्रभु संयोग॥२७॥

इनमें से किसी एक विभूति को पाकर जो जपयोग करते हैं, उनका कुछ काल में ही ब्रह्म से संयोग हो जाता है।

चौपाई— ज्यों हिमगिरि की स्थिरताई। जाय न कबहुँ गंग सितलाई॥
सागर रहत एकरस जैसे। एहि सुरतरु सुभाव सच तैसे॥

जिस प्रकार हिमालय की स्थिरता तथा गंगा की शीतलता कभी नहीं जाती तथा जैसे समुद्र सदा एकरस रहता है, सच में इस कल्पवृक्ष (पीपल) का भी ऐसा ही स्वभाव है।

प्राणवायु यह निसदिन देवै। भक्तन्ह हित बिष वायुहिं सेवै॥
ब्रह्मसक्ति एहि रग रग माहीं। यासों सबसों जाय पुजाहीं॥

क्योंकि यह भी रात-दिन जीवनदायिनी प्राणवायु (ऑक्सीजन) प्रदान करता रहता है और भक्तों के हितार्थ विषरूपी अशुद्ध वायु (कार्बनडाईऑक्साइड) को ग्रहण करता रहता है। इसके कण-कण में ब्रह्मशक्ति का वास है, इसी से सभी के द्वारा इसकी पूजा की जाती है।

सहस गुना इहँ जप तप भाई। होय सहज दिन महँ अधिकाई॥
सोइ असंख्य गुन निसि होइ जावे। फलहु अनंत गुना इहँ पावे॥

हे सज्जनो! इसके नीचे जप-तप आदि सहज ही दिन में हजार गुना बढ़ जाता है तथा वही रात में असंख्य गुना हो जाता है; और उसी का यहाँ अनन्त गुना फल प्राप्त होता है।

कल्पतरू सच यहि कहलावे। जहँ मनवांछित फल प्रगटावे॥
एक दिना इक भगत दुवारे। सिष्यन्हि सँग इक संत पधारे॥

[यथार्थ में] कल्पवृक्ष तो यही कहा जाता है जहाँ मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। एक दिन एक सन्त एक भक्त के यहाँ अपने शिष्यों के साथ गये।

तेहि गृह सम्मुख यहि तरु देखी। भये संत ते मुदित बिसेषी॥

उसके आवास के सामने पीपल के वृक्ष को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये।

दोहा— अति दरिद्रता आपुनी संतहिं भगत बताय।
सुनतहिं तरु लखि अति चकित उनसों गयो हँसाय॥२८॥

तो भी वह भक्त सन्त को अपनी अत्यन्त दरिद्रता बता रहा था। ऐसा सुनते ही पीपल वृक्ष की ओर देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए उन सन्त को हँसी आ गयी और कहा-

चौपाई— अहो कल्पतरु तोरे आगे। तउ न ताहि सों तुम्ह धन माँगे॥
अतिहिं गरीबी अरु तरु सन्मुख। देनों जाहि सुभाउ सांति सुख॥

अहो! यह कल्पतरु तो तुम्हारे सामने है तो भी तुमने उससे धन की याचना नहीं की, जिसका सुख और शान्ति देना ही स्वभाव है- ऐसे वृक्ष के सामने भी अति गरीबी!

बासुदेव यासें हरषाई। कहत देव सब इहँइ बसाई॥
अवसि न अबलौं एहि पहिचान्यो। अनजानैं महँ नित अपमान्यो॥

इसी से सभी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ इसे वासुदेव [भगवान] कहते हैं; क्योंकि समस्त देवताओं का इसी में

वास है। अवश्य ही अब तक तुमने इसे नहीं पहचाना और अनजाने में इसका नित्य अपमान करते रहे।

जस सबकै उर ब्रह्म सदाई। बसत न तउ जाये तम भाई॥
तस देखउँ तुम्हरो गति अबहीं। पूजहु एहि पावहु सुख तबहीं॥

हे प्रिय! जैसे ब्रह्म सभी के हृदय में सदा ही वास करता है तो भी अज्ञान नहीं जाता है। इस समय तुम्हारी भी वही दशा देख रहा हूँ। अत: इसकी पूजा करो तभी सुख पाओगे।

अब याकिहु बध करत धेनु सम। जनु जग जनम लिए सबरे जम॥

अब तो [लोग] इसका भी गाय के समान वध करते हैं मानो जगत में उन सभी ने यमराज के रूप में जन्म लिया है।

दोहा— सुरभि बिप्र बध करन महँ महापाप जो होय।
सोइ एहि छिंदत लागई जानि लेहु सब कोय॥ २९ (क)॥

गाय एवं ब्राह्मण का वध करने में जो महापाप लगता है, वही पाप पीपल को काटने में लगता है, यह सभी लोग जान लें।

उत दयालु अर्जुनहिं उर अतिहिं उछाह बढ़ाइ।
अपर बिभूतिन्ह भाषहीं बहुरि बहुरि हरषाइ॥ २९ (ख)॥

उधर दयालु भगवान अर्जुन के हृदय में अत्यन्त उत्साह बढ़ाते हुए दूसरी विभूतियों को प्रसन्नतापूर्वक बार-बार कह रहे हैं।

चौपाई— बनि कंदर्प प्रजा उपजावउँ। मैं बासुकि सर्पहु कहलावउँ॥
सेषनाग हौं नाग जाति महँ। अहउँ अर्यमा पितर पाँति कहँ॥

मैं ही विशुद्ध काम बनकर प्रजा को उत्पन्न करता हूँ तथा वासुकी सर्प भी मैं ही कहा जाता हूँ। नाग जातियों में मैं शेषनाग हूँ और पितरों के समुदाय में मैं ही अर्यमा नामक पितर हूँ।

बरुन देव जल देवनि जानउ। हौं यमराज संयमनि मानउ॥
दैत्यन्हि महँ प्रहलादहु ताता। सहनसीलता भगति प्रदाता॥

जल देवताओं में मैं वरुण देवता और संयम करने वालों में मैं यमराज हूँ। हे प्रिय! दैत्यों में सहनशीलता और भक्ति को देने वाला भक्त प्रह्लाद मैं ही हूँ।

गिनति करन वारन महँ भाई। काल समान न कोउ अधिकाई॥
पसुवनि महँ मृगराज कहावउँ। पक्षिनि महँ मैं गरुड़ जतावउँ॥

हे प्रिय! गणना करने वालों में काल (समय) के समान कोई विशेष नहीं है, वह काल मैं हूँ। पशुओं में मैं उनका राजा सिंह कहा जाता हूँ तथा पक्षियों में मैं अपने को गरुड़ बता रहा हूँ।

अति बिसुद्ध कर जो नर देहा। पवन अहउँ जासों कर नेहा॥
यासें कछु नित प्राणायामहु। करहिं भगत सब प्रातहिं सामहु॥

वैसे ही जो मनुष्यों के शरीर को अति पवित्र कर देता है, वह वायु मैं ही हूँ जिसका तुम सेवन करते हो। इसलिए समस्त भक्तगण सुबह-शाम नित्य कुछ प्राणायाम किया करें।

दोहा— सस्त्र गहन वारनि महँ हौं पुरुषोत्तम राम।
ब्यवहारत जिन्हकर चरित सरैं सहज सब काम॥ ३०॥

शस्त्रधारियों में मैं पुरुषोत्तम राम हूँ जिनका चरित्र व्यवहार में लाने पर सारे कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते हैं।

चौपाई— राम नाम सुनतहिं हनुमाना। करन लगे प्रभु कर गुनगाना॥
अहो धन्य मेरो रघुराई। इहाँ कहावहु अब यदुराई॥

[रथ की ध्वजा पर बैठे हुए] श्रीहनुमानजी रामनाम सुनते ही उनका गुणगान करने लगे कि अहो! मेरे रघुनाथ धन्य हैं जो अब यहाँ यदुनाथ कहे जा रहे हैं।

उहाँ कहाये सारँगधारी। इहाँ सुदर्सन चक्र सम्हारी॥
ता छन मरयादा पुरुषोत्तम। लीलाधारी अब भै उत्तम॥

वहाँ [त्रेता में] सारंग धनुष को धारण करने वाले कहे जाते थे और यहाँ [द्वापर में] सुदर्शन चक्र धारण किये हुए हैं। उस समय मर्यादा पुरुषोत्तम होकर व्यवहार करते थे और यहाँ भगवान लीलामय आदर्श व्यवहार कर रहे हैं।

द्योतक तहँ रं बीज रमण कर। पोषक इहँ कृं आकर्षण कर॥
दोउन महँ कछु भेद न पावउँ। राम कृष्ण एकइ गुन गावउँ॥

वहाँ 'रं-बीज' सबमें रमण करने का द्योतक है और 'कृं' यहाँ सबको आकर्षित करने की पुष्टि कर रहा है। इस प्रकार दोनों में मैं कुछ भेद नहीं पाता, अत: श्रीराम और श्रीकृष्ण को एक ही मानकर मैं उनका गुणगान करता हूँ।

उत सिव सुनि निज प्रभु की बानी। अस भये मगन न जाय बखानी॥
मातु सिवा प्रभु दसा निहारी। तेहि छन चकित चितव उर भारी॥

उधर भगवान शिव अपने प्रभु की वाणी सुनकर ऐसे मग्न हो गये कि कुछ कहते नहीं बनता और माँ पार्वती भगवान भोलेनाथ की दशा को देखकर उस समय हृदय में अत्यन्त आश्चर्यचकित हो रही हैं।

सोरठा— काह भयो इहँ ठौर कछुहु कहे यदुनाथ नहिं।
पुनि प्रभु दै अति गौर बुझे न काह लखाय मोहिं॥ ३१॥

अरे! यहाँ क्या हो गया! भगवान यदुनाथ ने तो कुछ कहा ही नहीं! फिर मेरे भगवान भोलेनाथ ने ध्यान देकर ऐसा क्या समझ लिया है जो मुझे समझ में नहीं आ रहा है?

चौपाई— अंतरजामी प्रभु सिव जाने। तेहि छन राम गुनहिं कछु गाने॥
पारबती मम राम गोसाईं। किये चरित सुत पितु नृप नाईं॥

अन्तर्यामी भगवान शंकर ने यह जान लिया और उस समय भगवान श्रीराम के गुणों का कुछ गान किया- हे पार्वती! मेरे भगवान प्रभु श्रीराम ने [आदर्श] पुत्र की, पिता की और राजा की भाँति चरित्र किया है।

पितु सन नहिं पूछे अपराधा। भयों काहि जीवन महँ बाधा॥
याहि बताय देहु बन जाऊँ। संतन्ह सँग सब समय बिताऊँ॥

उन्होंने वन-गमन के समय पिता से यह भी नहीं पूछा कि मेरा क्या अपराध है, मैं किसके जीवन में बाधा बन गया हूँ, [कम से कम] आप यह तो बता दें? यद्यपि मैं तो वन जा ही रहा हूँ जहाँ सम्पूर्ण समय सन्तों के साथ व्यतीत करूँगा।

अस करि उपदेसे जग सुत सों। हित जो चहहु न करहु कपुत सों॥
मातु पिता गुरुजन बिनु कारन। होयँ कबहुँ बरु जीवन हारन॥

ऐसा व्यवहार करके उन्होंने जगत के पुत्रों को उपदेश दिया कि यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो कुपुत्रों के समान व्यवहार न करें। भले ही माता-पिता और गुरुजन अकारण ही आपके जीवन का हरण करने वाले हो जायँ-

तउ न तजहु तिन्हकी सेवकाई। बरु दैं गृह सों बिपिन पठाई॥
एक काज प्रभु रामहु कीन्हें। करि लीला सुभ सिक्षा दीन्हें॥

भले ही घर से निष्कासित करके वन को भेज दें तो भी उनकी सेवकाई न छोड़ें। एक कार्य प्रभु श्रीराम ने भी किया कि लीला करके उन्होंने जगत को श्रेष्ठ शिक्षा दी।

बेद सास्त्र सब गुरु सन पाई। किये प्रथम तीरथ सब जाई॥

वह यह कि सद्गुरु से उन्होंने समस्त वेद-शास्त्रों को हृदयंगम करके सर्वप्रथम समस्त तीर्थों की यात्रा की।

दोहा— भयो प्रबल बैराग्य तब भवन बसे सब त्यागि।
मातु पिता हित मीत सों ममता सब गइ भागि॥ ३२ (क)॥

तब उन्हें प्रबल वैराग्य की प्राप्ति हो गयी और घर में रहते हुए ही उन्होंने सब कुछ त्याग दिया। यहाँ तक कि माता-पिता और स्वजनों से भी कुछ ममता नहीं रह गयी।

तेहि छन बिस्वामित्र मुनि नृप सों माँगे राम।
ते कह ऋषिवर देउँ कस मम सुत भयो अकाम॥ ३२ (ख)॥

उसी समय ब्रह्मर्षि विश्वामित्र आ गये और यज्ञ-रक्षा के निमित्त महाराज दशरथ से प्रभु राम की माँग की। तब राजा दशरथ ने मुनि को बताया कि अब राम को कोई भी प्रिय नहीं लग रहा है, अत: मुनिश्रेष्ठ मैं उन्हें दूँ तो कैसे दूँ!

चौपाई— खात पियत नहिं बोलत चालत। जात निकट कोउ तब तेहिं टालत॥
तपसिन्ह सम निज देह सुखायो। मेरोहु तहँ कछु नाहिं बसायो॥

वे न खाते हैं, न पीते हैं, न बोलते हैं और न ही कहीं आते-जाते हैं; यदि कोई उनके पास जाता है तो उसे हटा देते हैं। उन्होंने तपस्वियों के समान अपना शरीर सुखा दिया है, उनके पास मेरा भी कुछ वश नहीं चलता।

कह मुनिवर मम नाम सुनावहु। तबहिं रूप सच तिन्हकर पावहु॥
बिस्वामित्रहिं सुनि प्रभु आये। निज जिज्ञासा तिन्हहिं सुनाये॥

मुनिवर विश्वामित्र ने कहा कि आप उन्हें मेरा नाम सुना दें और तभी आप उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान पायेंगे। इस प्रकार 'विश्वामित्र' नाम सुनते ही भगवान श्रीराम शीघ्र आ गये और अपनी ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को उनके सम्मुख प्रकट किया-

मैं को कहँ सों आयों मुनिवर। कहँ जायेंगो सब सम मरि कर॥
ब्रह्म जीव माया कस रूपा। लख्यों न अबहुँ पर्‌यों भव कूपा॥

कि 'हे मुनिवर! मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ तथा सबके समान मरकर कहाँ जाऊँगा? ब्रह्म, जीव और माया का स्वरूप कैसा है, इसे अब भी नहीं जान पाया जिससे भव-कूप में पड़ा हूँ।

बंध मोक्ष कर का परिभासा। आज कहहु लखि मोहिं निज दासा॥
जब लगि यो सब मैं नहिं जानउँ। तब लगि काहू की नहिं मानउँ॥

बन्धन तथा मोक्ष की परिभाषा क्या है, आप मुझे अपना दास समझकर बताने की कृपा करें। जब तक मैं यह सब जान नहीं लूँगा, तब तक मैं किसी की नहीं मानूँगा।

प्रथम ब्रह्म दै कछुहु करावहु। कोउ जिआवहु कोउ मरावहु॥

सर्वप्रथम आप मुझे ब्रह्म की अनुभूति करावें फिर कुछ भी करायें, किसी की प्राण रक्षा करायें या किसी का वध करायें।

दोहा— बिस्वामित्र बसिष्ठ बर सोचि मुदित मन होयँ।
राम चहहिं सब सुत जगत करैं करउँ मैं जोयँ॥ ३३॥

ऐसा सुनकर महर्षि विश्वामित्र और परम श्रेष्ठ वसिष्ठ हृदय में अति प्रसन्न होकर सोच रहे हैं कि भगवान श्रीराम [इस लीला के माध्यम से] अपने मन में चाह रहे हैं कि जगत के सभी पुत्र वही करें जैसा मैं कर रहा हूँ।

चौपाई— ज्ञानयज्ञ बैठ्यो तेहि काला। सकल ब्यवस्था किये भुआला॥
श्रोता राम मुख्य सुत जासू। नृप दसरथ हिय अतिहिं हुलासू॥

इसलिए ज्ञानयज्ञ की स्थापना उसी समय हो गयी जिसकी सारी व्यवस्था राजा (दशरथ) ने की। उनके पुत्र राम [उस ज्ञानयज्ञ के] मुख्य श्रोता हुए, [ऐसा देखकर] राजा दशरथ हृदय में अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

ब्रह्मज्ञान नित बरषन लाग्यो। गुरु सौभाग्यहु ऐसो जाग्यो॥
जो प्रभु सुर मुनि सबहिं जनावहिं। तिन्ह कहँ मुनिवर ज्ञान सुनावहिं॥

[वहाँ] नित्य ही ब्रह्मज्ञान की वर्षा होने लगी। अहो! सद्‌गुरु के भी सौभाग्य का ऐसा उदय हुआ कि जो प्रभु देवता, महर्षि आदि सभी को प्रबुद्ध करते हैं, उनको ही मुनिवर वसिष्ठ आत्मज्ञान सुना रहे हैं।

हरी प्रयोजन गुरुहिं लखावे। सब सुत यहि करि यहइ करावे॥
प्रथमहिं ज्ञान सक्ति बर पावें। पुनि पाछें गृह आश्रम आवें॥

भगवान का प्रयोजन गुरु वसिष्ठ एवं विश्वामित्र को स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि आर्यभूमि के समस्त पुत्र मेरे इस आदर्श को स्वीकार कर यही करें और यही करायें। सर्वप्रथम ज्ञान और शक्ति का वरदान प्राप्त करें, उसके उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

तहँ गुरु माँ पितु स्वजनन्हिं सेवा। करें पूजि अतिथिहु अरु देवा॥
सुनहु उमा ज्ञानहिं बिनु पायें। जननि जनक गुरु काहि सुहायें॥

वहाँ गुरु, माता-पिता एवं स्वजनों की सेवा, अतिथियों एवं देवताओं का पूजन करके करें। [भगवान शंकर ने कहा-] हे पार्वती! ज्ञान हुए बिना किसको गुरु एवं माता-पिता आदि [सम्पूर्णता से] प्रिय लगते हैं।

कबहुँ बिषमता आय परस्पर। याहि कहन चह प्रभु सारँगधर॥

अरे! कभी परस्पर विषमता (मनमुटाव) आ ही जाती है- सारंग धनुष को धारण करने वाले भगवान श्रीराम यही कहना चाहते हैं।

दोहा— नृपन्ह बिषयता कछुहु नहिं स्वीकारे रघुनाथ।
एहि कारन सुर नर असुर तिन्हहिं नवावहिं माथ॥ ३४॥

हे पार्वती! भगवान श्रीराम ने राजाओं के विलासी जीवन को तनिक भी स्वीकार नहीं किया। इसी से देवता, मनुष्य और राक्षस भी उनके सम्मुख मस्तक झुकाते हैं।

चौपाई— सब कोउ तनय राम सम चाहहिं। सुतहु राम सम पितु अवगाहहिं॥
सबहि राम सम चाहत भाई। अरु तिन्हके सम मित्र मिताई॥

सभी राम के समान ही पुत्र चाहते हैं और पुत्र भी राम के समान पिता चाहते हैं, सभी राम के जैसा भाई चाहते हैं और उन्हीं के समान मित्र की मित्रता चाहते हैं।

स्वजन राम सम सगा राम सम। चहत सबहि यासों नहिं कछु कम॥
सेवक रामहिं स्वामि राम सम। उन सम बनें बानप्रस्थी हम॥

सभी चाहते हैं कि मेरे स्वजन राम के समान हों, सगे-सम्बन्धी राम के समान हों, इससे कम कोई कुछ चाहता ही नहीं। सेवक भी राम जैसा और स्वामी भी राम के समान हो तथा हम उन्हीं के समान वानप्रस्थी बनें।

नृपति राम सम गनपति माई। तबहिं भवानिहिं गयो हँसाई॥
कह इनि सम पति नारि न चाहे। बरु बिबाह बिनु जग निरबाहे॥

हे पार्वती! प्रजा भी राम जैसा राजा चाहती है....., तभी माँ पार्वती को हँसी आ गयी और उन्होंने कहा- [हाँ, बात तो सही है किन्तु] कोई भी नारी इनके जैसा पति नहीं चाहेगी। भले ही बिना विवाह के जगत में जीवन व्यतीत करना पड़े।

ब्यंग बचन सुनि प्रभु हँसि दीन्हीं। अर्जुन सों पर प्रगट न कीन्हीं॥
अस न कहउ कह सिव भगवाना। प्रभु चरित्र अस को जग जाना॥

[इधर रथ पर आसीन] भगवान श्रीकृष्ण माँ पार्वती के व्यंग्य वचन सुनकर हँस दिये किन्तु अर्जुन से इस बात को प्रकट नहीं किये। तब भगवान शंकर ने कहा- हे पार्वती! ऐसा न कहो! भगवान के इस सम्पूर्ण चरित्र (लीला) को जगत में कौन समझ सकता है!

सोरठा— अस न करत रघुनाथ तौ जग जननि पुजायँ कस।
सियाराम कहि माथ सब नवायँ प्रभु कारने॥ ३५॥

यदि भगवान रघुनाथ ऐसा नहीं करते तो भगवती माँ सीता जगत में कैसे पूजित होतीं! आज भगवान श्रीराम के कारण ही सभी सर्वप्रथम सीता कहकर तब राम कहते हुए प्रणाम करते हैं।

चौपाई— उत कह नृपति चकित चित होई। संजय कृष्ण कहत कस योई॥
राम न होयँ कबहुँ यदुनाथा। इनिकर चरित न जस रघुनाथा॥

उधर राजा धृतराष्ट्र आश्चर्यचकित होकर कह रहे हैं कि हे सञ्जय! मधुसूदन ऐसा कैसे कह सकते हैं? ये यदुनाथ तो कभी राम हो ही नहीं सकते, इनका चरित्र तो भगवान राम के समान है ही नहीं।

बात न समझ तोहिं नृप आई। कबहुँ कृपा हरि अवसि लखाई॥
उत रन माहिं कहत हरिराई। पार्थ मिननि महँ हौं मकराई॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! आपको अभी बात समझ में नहीं आ रही है; किन्तु कभी न कभी भगवतकृपा से अवश्य समझ में आ जायेगी, उधर रणभूमि में भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! मैं मछलियों में मगरमच्छ हूँ।

सरितनि महँ हौं अर्जुन सुरसरि। आदि मध्य अंतहु सर्गन्ह करि॥
बिद्यनि महँ अध्यातम अहऊँ। द्वंद समासनि महँ बनि रहऊँ॥

हे धनञ्जय! मैं ही नदियों में गंगा तथा सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी हूँ। समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या और समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ।

ब्रह्मधर्म अरु कर्म निरूपन। महँ संका उपजइ जब बटु मन॥
जिनि वाक्यनि सों गुरु निरबारे। बाद अहउँ सोइ उर महँ धारे॥

ब्रह्म विषयक धर्म-कर्म आदि का निरूपण करते समय ब्रह्मचारी के मन में जब शंका उत्पन्न होती है तब जिन वाक्यों से सद्गुरु उसका समाधान करता है, मैं वही वाद हूँ; इसे हृदय में धारण करो।

दोहा— सब अक्षर महँ अहउँ मैं हे प्रिय पार्थ अकार।
अरु सुनु अक्षय कालहू अस लखि तमहिं बिसार॥ ३६॥

हे प्रिय पार्थ! समस्त अक्षरों में मैं अकार हूँ और भी सुनो; 'मैं काल का भी काल महाकाल हूँ', ऐसा समझकर अज्ञान का परित्याग कर दो।

चौपाई— सब दिसि मुख वारो मोहिं जानहु। अपर न कोउ मुख तुम्ह इहँ मानहु॥
कर्मन्ह फल बिधान कर जोई। अहउँ बिधाता सब उर सोई॥

मुझे ही सब ओर से मुखवाला परमेश्वर जानो, अत: तुम यहाँ किसी दूसरे मुख की कल्पना मत करो। जो सबके कर्मों के फल का विधान करते हैं तथा सबके हृदय में स्थित है वह विधाता (परमेष्ठी ब्रह्मा) मैं ही हूँ।

प्रलय माहिं सब नासन वारो। मृत्यु अहउँ अर्जुन उर धारो॥
पुनि भविष्य सब उतपति कारन। अहउँ मोहिं लखु अधम उधारन॥

हे अर्जुन! प्रलय काल में सबका नाश करने वाला मृत्यु देवता मैं ही हूँ, ऐसा हृदय में धारण करो और मुझे ही पतितों का उद्धार करने वाला तथा पुन: भविष्य में सबकी उत्पत्ति का कारण जानो।

सक्तिनि महँ स्मृती रमाहू। कीर्ति मती धृति बानि क्षमाहू॥
पर बिमूढ़ अपनोई मानत। इनि सक्तिनि महँ मोहिं न जानत॥

शक्तियों में मैं ही स्मृति, रमा, कीर्ति, बुद्धि, धृति, सरस्वती तथा क्षमा हूँ; किन्तु मूर्ख इन्हें अपना मानते हैं, इन शक्तियों के रूप में मुझे नहीं पहचानते।

तबहिं जायँ सब अंत नसाई। हरि निज रूपहु लखहिं न भाई॥
मम इन्हि रूप करत ऋषि बंदन। जासे बइठउँ उनकै स्यंदन॥

तभी अन्त समय तक उनकी समस्त शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वे ब्रह्म तथा अपने को भी पहचान नहीं पाते। किन्तु ऋषिगण इन रूपों में मेरी ही वन्दना करते हैं जिससे मैं उनके जीवन-रथ पर बैठ जाता हूँ।

दोहा— अस सुनि नभ सुर सिद्ध सब संजय अहं बिसारि।
नमत कहत अस भाषि प्रभु दीन्हें तमहिं निवारि॥ ३७॥

[भगवान के श्रीमुख से] ऐसा सुनकर आकाश स्थित देवता एवं सभी सिद्धगणों के साथ सञ्जय भी अपने अहंकार का त्याग कर यह कहते हुए नमन कर रहे हैं कि भगवान ने हमारे प्रबल अज्ञान को दूर कर दिया।

चौपाई— मन ही मन इनि कहँ प्रभु जानी। नमैं किरीटि सुहृद निज मानी॥
तिन्हकर मतिहु अतिहिं पछिताही। बंद्यों प्रथम भवानिहिं जाही॥

महात्मा अर्जुन ने इन्हें भगवान तथा अपना परम हितकारी मानकर मन ही मन वन्दना की। उनकी बुद्धि अत्यन्त पश्चात्ताप कर रही है कि सर्वप्रथम मैंने जिन भगवती दुर्गा की वन्दना की थी-

हुते सत्य ते यहि हरिराई। अहो न जान्यों अस गर्वाई॥
अब नहिं मानउँ कछु इहँ अपनो। जोग जज्ञ तप दानहु जपनो॥

वे यही भगवान थे। अहो! ऐसा अहंकार था कि मैं इनको जान न सका। अब यहाँ मैं जप, तप, दान, योग, यज्ञ आदि कुछ भी अपना नहीं मानूँगा।

सबहि रूप धारे मम साईं। लखि न सक्यों मूढ़न्ह की नाईं॥
जगदाधार कहत हँसि तबहीं। प्रिय अर्जुन मोरी सुनु अबहीं॥

अरे! मेरे भगवान ही सब रूप बनकर आये हुए हैं किन्तु मैं मूर्खों की भाँति समझ न सका। तभी जगत के आधार भगवान ने हँसकर कहा- हे पार्थ! अब ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो।

प्रिय संदर्भ सु सामबेद महँ। बृहत्साम हौं संत गायँ जहँ॥

मैं ही सामवेद के अन्तर्गत अत्यन्त मधुर संदर्भ 'बृहत्साम' हूँ, जिसका सन्त गायन करते हैं।

दोहा— छंदनि महँ गायत्रि हौं ऋतु महँ अहउँ बसंत।
मार्गसीर्ष सब मास महँ मैं ही अहउँ अनंत॥ ३८॥

मैं ही छन्दों (वेद मंत्रों में) में गायत्री हूँ, ऋतुओं में बसन्त एवं समस्त महीनों में मैं अनन्त ब्रह्म ही मार्गशीर्ष नामक महीना हूँ।

चौपाई— छल करनै वारन महँ द्यूतहु। तेजस्विनि महँ तेजो पूतहु॥
बिजयसील नर जे जग आहीं। बिजयरूप सों मैं तिन्ह माहीं॥

मैं छल करने वालों में जूआ हूँ और तेजस्वी पुरुषों में परम पावन तेज हूँ तथा संसार में जो भी विजयी पुरुष हैं उनमें विजयरूप में मैं ही हूँ।

पुरुषार्थिनि महँ निस्चय जानहु। सत्व नरनि महँ सतगुन मानहु॥
बासुदेव बृष्णिनि महँ जानहु। पांडव माहिं धनंजय मानहु॥

पुरुषार्थियों में निश्चयात्मिका शक्ति भी मुझे ही जानो एवं सत्त्वप्रधान पुरुषों में सत्त्वगुण भी मुझे ही समझो। वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव तथा पाण्डवों में धनञ्जय हूँ ऐसा समझो।

अस सुनि संजय कह नृपराई। हरि कारन अब गयो लखाई॥
अर्जुनहीं निज रूप बतावत। हरि अवतार नरन्हि महँ गावत॥

इधर सञ्जय ने ऐसा सुनकर राजा से कहा- हे राजन्! आज भगवान का प्रयोजन समझ में आ गया। वे अर्जुन को भी अपना ही स्वरूप बता रहे हैं, [ऐसा करके वे] मनुष्यों में ये भगवान के अवतार हैं, ऐसा संकेत दे रहे हैं।

सुनी कहै की आँखिनि देखहि। नृप कह कस तू खींचै रेखहि॥
कह संजय नृप साँच लखाये। सुनत सिद्ध सुर सबु हरषाये॥

तब राजा ने कहा- तुम ऐसा निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हो! एकमात्र सुन ही रहे हो कि यथार्थ में देख भी रहे हो? सञ्जय ने कहा- हे राजन्! ऐसा सत्य में दिखायी भी दे रहा है; क्योंकि ऐसा सुनते ही [आकाश स्थित] देवता, सिद्ध- सभी प्रसन्न हो गये हैं-

भीष्म द्रोन कृप सुनि पछिताये। नर अवतारहिं बहुत सताये॥

तथा पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसा सुनकर पश्चात्ताप कर रहे हैं कि हमने नरावतार अर्जुन को बहुत सताया है।

दोहा— दुर्योधन कह झूठ सब को अस माने जोय।
कर्णहु सम तो अहइ नहिं नर अवतार कि होय॥ ३९॥

किन्तु दुर्योधन इसे झूठ समझ रहे हैं और कह रहे हैं कि अर्जुन तो कर्ण के भी बराबर नहीं है, पुनः ऐसा कौन है जो यह स्वीकार करेगा कि ये नर का अवतार है?

चौपाई— पर मन डरपि गये ते भारी। देहिं मनहिं मन दैवहिं गारी॥
हुति कछु आस बिजय की भाई। अस सुनतहिं सोउ गई नसाई॥

किन्तु वे मन ही मन अत्यन्त डरे हुए हैं और हृदय में अपने भाग्य को कोस रहे हैं कि विजयी होने की जो कुछ आशा बँधी हुई थी, ऐसा सुनकर वह भी चली गयी।

मींजत कर नृप गयो सुचाई। चुपहिं रहन महँ अहइ भलाई॥
उत कह प्रभु मुनि ब्यास महर्षी। कबियनि महँ सुक्रहु बहु दर्सी॥

राजा धृतराष्ट्र [पश्चात्ताप करते हुए] हाथ मल रहे हैं और सोच रहे हैं कि [अब तो] मौन रहने में ही कल्याण है। उधर भगवान कह रहे हैं कि [हे पार्थ!] मैं मुनियों में व्यास हूँ तथा कवियों में सूक्ष्मदर्शी शुक्राचार्य हूँ।

सुनि मुनि ब्यास प्रभुहिं सिर नाये। अहो धन्य कहि बहु गुन गाये॥
दमन सक्ति हौं उन्मार्गिनि कौ। नीति अहउँ मैं जय इच्छुनि कौ॥

मैं मुनियों में व्यास हूँ- ऐसा सुनकर मुनिवर व्यास भगवान को शीश झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं और अहो! धन्य हैं!- ऐसा कहते हुए विशेषरूप से गुणगान करने लगे हैं। [पुनः भगवान ने कहा-] मैं विपरीत मार्ग पर चलने वालों के लिए दमनरूप शक्ति हूँ तथा जय की इच्छा वालों के लिए मैं नीति हूँ।

मौन गुप्तभावनि कर रक्षक। अहउँ ज्ञान ज्ञानिनि तम भक्षक॥
बीज सकल भूतनि कहँ जानहु। कहउँ साँच सब निज हिय मानहु॥

गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक मौन हूँ तथा अज्ञान को निगल जाने वाला ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ। मैं सत्य बता रहा हूँ कि मुझे ही अपने हृदय में समस्त भूतों का बीज (उत्पत्ति का कारण) जानो।

दोहा— भूत चराचर जगत महँ अस कोउ अर्जुन नाहिं।
मेरो बिनु जे होयँ जू बदउँ सत्य एहि माहिं॥ ४०॥

हे पार्थ! इस जगत के चराचर भूत-प्राणियों में से ऐसा कोई नहीं है जो मुझसे रहित हो; इस विषय में मैं सत्य कहता हूँ।

चौपाई— मोरे बिनु सब सून्य कहावे। वामें कछु नहिं सार लखावे॥
सबरें मम स्वरूप अस भाई। यह तौ बस कह कही सुनाई॥

मेरे बिना सब शून्य कहा जाता है जिसमें कुछ सार तत्त्व दिखाई ही नहीं पड़ता। इसलिए हे प्रिय! सब कुछ मेरा ही स्वरूप है और यह सब कहना तो एकमात्र कहने-सुनने के लिए है।

मोरि बिभूतिन्ह कर कोउ अंता। पायँ न सक नहिं कोउ भनंता॥
यह सब मैं संक्षेपहिं भाष्यों। पर इनि माहिं सबन्हि कहँ राख्यों॥

क्योंकि मेरी विभूतियों का कोई अन्त प्राप्त नहीं कर सकता और न ही कोई कह सकता है। यह मैंने तुमसे संक्षेप में कहा है किन्तु इन्हीं [विभूतियों] में ही सभी को रख दिया है।

जो जो जग ऐस्वर्य कांति युत। अहहिं सक्तियुत जड़ चेतन भुत॥
एक अंस सों मैं तिन्ह तिन्हहीं। प्रगटायों अरु धार्‌यों जिन्हहीं॥

अतः जगत में जो-जो ऐश्वर्य, कान्ति तथा शक्ति से सम्पन्न जड़ या चेतन भूत-प्राणी हैं उन सबको मैंने अपने एक अंश से प्रकट करके धारण कर रखा है।

अस निरखन परखन परमारथ। अपर दृष्टि सों देख न पारथ॥

हे पार्थ! इस दृष्टि से देखना और जानना ही पारमार्थिक तत्त्व है, अतः तुम किसी अन्य दृष्टि से मत देखो।

छंद— कीधौं गुनै जो याहि बिधि तौ सिद्ध का तव होय जू।
बहु दृष्टि करि अति दिव्य जीवन अबहुँ जनि तू खोय जू॥
निज योगमाया मात्र एकइ अंस सों धारउँ जगत।
अर्जुन लखहिं अस तिन्हहिं रक्षउँ संत सुर सारे भगत॥

अथवा यदि तुम इस प्रकार के अन्यथा विचार करते हो तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा? द्वैतमय दृष्टि के द्वारा अति दिव्य जीवन को तुम व्यर्थ मत खोओ; क्योंकि मैंने अंशमात्र से ही अपनी योगमाया के द्वारा सम्पूर्ण जगत को धारण कर रखा है। हे अर्जुन! जो ऐसा जानते हैं, उन समस्त सन्तों, भक्तों और देवताओं की मैं रक्षा करता हूँ।

सोरठा— सुनत अतिहिं बिसमाहिं अहो न कोउ प्रभु सों पृथक।
पुनि पुनि हिय हरषाहिं अरु बंदहिं हरि सकल दिसि॥ ४१॥

[महात्मा अर्जुन भगवान द्वारा] ऐसा सुनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो रहे हैं और सोच रहे हैं कि अहो! प्रभु से पृथक् तो कुछ है ही नहीं। अत: बारम्बार हृदय में प्रसन्न हो रहे हैं और भगवान की समस्त दिशाओं से वन्दना कर रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं विभूतियोगो नाम दशमोऽध्याय: ॥ १० ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

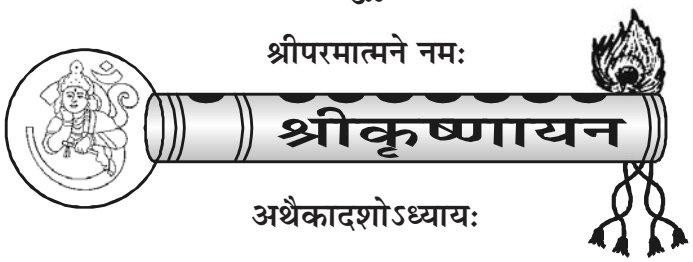

अथैकादशोऽध्यायः

ॐ नमः प्रभवे कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः कृष्णाय नमः॥
नमः गोविन्दाय अतुलित बलाय महारथां पतये नमः।
नमः दिव्य गदा चक्रं धराय पार्थ सारथे नमो नमः॥
नमः कौरवाणां कालाय नम कुरुक्षेत्र पतये नमः।
नमः ब्रह्मेशान् अच्युताय गोपी पतये नमो नमः॥
नमः केशवाय यदुनाथाय मुरलिधराय नमो नमः।
महाराजाणां महाराजाय हृषिकेशाय नमो नमः॥
नमः शाश्वताय पुरुषाय वार्ष्णेयाय नमो नमः।
परं प्रभवे विभवे नमः मधुसूदनाय नमो नमः॥
नमः भूतेश्वराय देवदेवाय पुरुषोत्तमाय नमो नमः।
महाराज पतये नमो नमः माधवाय नमो नमः॥
नमोऽनन्ताय अनंतबाहवे जगन्निवासाय नमो नमः।
महात्मानां महात्माय जनार्दनाय नमो नमः॥

जो समस्त जगत के स्वामी हैं उन भगवान श्रीकृष्णचन्द्रआनन्दकन्द को मैं बारम्बार नमस्कार कर रहा हूँ। महारथियों में श्रेष्ठ अतुलित बलशाली श्रीगोविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ। जो दिव्य गदा एवं चक्र धारण करने वाले हैं उन महात्मा पार्थ के सारथि प्रभु को मैं बार-बार नमस्कार कर रहा हूँ। कौरवों के काल कुरुक्षेत्र के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण को मेरा नमस्कार है। परमब्रह्म, अच्युत और गोपियों के स्वामी प्रभु को मेरा नमस्कार है। केशव, यदुनाथ एवं मुरलीधर नाम वाले प्रभु को मेरा नमस्कार है। महाराजाओं के भी महाराज भगवान हृषिकेश को मेरा नमस्कार है। शाश्वत, परम पुरुष तथा वार्ष्णेय भगवान को मेरा नमस्कार है। जो परम प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं उन मधुसूदन भगवान को नमस्कार है। समस्त भूतों के ईश्वर, देवों के भी देव भगवान पुरुषोत्तम को मेरा नमस्कार है। अनन्त भुजाओं वाले, आदि-अन्तरहित, सारे जगत में व्याप्त, महात्माओं के भी महात्मा जो भगवान जनार्दन महाराज के स्वामी हैं उन माधव नाम से विख्यात प्रभु को बारम्बार नमस्कार है।

चौपाई— हरि बचनामृत सुनि दुखहारन। तिन्ह छबि अर्जुन लगे निहारन॥
राजति गुडाकेस की चितवनि। चाहति नहिं कबहूँ जनु निमिषनि॥

भगवान नारायण के त्रिविध तापों का हरण करने वाले अमृतमय वचनों को सुनकर महात्मा अर्जुन उनकी छवि निहारने लगे। भक्त अर्जुन के द्वारा भगवान को अपलक देखना ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो उनकी आँखें पलकों की उपस्थिति स्वीकार ही नहीं कर रही हैं।

सोचत मन अबिगत अबिनासी। ब्यापक मायातीत उदासी॥
सोइ परब्रह्म आज मम आगे। कारन बिनु मोसें अनुरागे॥

वे मन में सोच रहे हैं कि जो अज्ञेय, अविनाशी, व्यापक, मायातीत एवं जगत के साक्षी हैं, वे ही परब्रह्म परमात्मा आज मेरे सामने हैं और बिना कारण ही मुझसे प्रेम कर रहे हैं।

कमल बदन अस द्युति छिटकावत। रबि ससिहू कर तेज लजावत॥
रूप रासि जिन्ह निरखन लाने। तृषित भगत नित संत सयाने॥

इनके कमलवत् मुख से ऐसा तेज छिटक रहा है जिसने सूर्य एवं चन्द्रमा के तेज को भी लज्जित कर दिया है। जिनकी दिव्य रूपमाधुरी के दर्शन के लिए चतुर भक्त और सन्त प्यासे रहते हैं।

कीन्हि तेइ प्रभु आज कृतारथ। मों पहिं सोइ छबि प्रगटि यथारथ॥
सोचत जब अस अहइ बिभूती। दिब्य रूप कर कस परतीती॥

उन्हीं प्रभु ने आज उसी वास्तविक छवि को मेरे सामने प्रकट कर मुझे कृतार्थ कर दिया है। पुनः वे यह भी सोच रहे हैं कि जब इनकी विभूतियाँ ऐसी हैं तो इनका दिव्यरूप कैसा होगा!

अहो सु कृष्ण नाम बपु माहीं। अगुन अरूपहु रूप छिपाहीं॥
प्रगट सुनउँ मैं जिन्हकी बानी। जे आनंद परम सुख खानी॥

अहो! जिस दिव्य कृष्ण नाम और रूप में ही निर्गुण निराकाररूप छिपा हुआ है, जिनकी वाणी मैं स्पष्ट रूप से सुन रहा हूँ तथा जो आनन्द एवं परम सुख के भण्डार हैं-

मो पर अति प्रसन्न प्रभु सोई। हे मन तोहिं सकुच कस होई॥

वे ही भगवान आज मुझपर अति प्रसन्न हैं फिर हे मन! तुम संकोच क्यों कर रहे हो?

दोहा— माँगि रूप सोइ आजु तू होउ परम किरितार्थ।
जाहि चहहिं संतहु भगत यहइ परम पुरुषार्थ॥ १॥

अतः आज तुम उसी रूप को माँगकर परम कृतार्थ हो जाओ। इस रूप के दर्शन की कामना तो भक्त एवं सन्त ही करते हैं क्योंकि [यथार्थ में पुरुष का] यही परम पुरुषार्थ है।

चौपाई— आदि सृष्टि दिये भानुहिं ज्ञाना। जिननैं सच मेरो मन माना॥
जिननैं ऋषि मुचुकुंद निहारे। जगत जाल सों सहज उबारे॥

अब यथार्थ में मेरे मन ने मान लिया है कि जिन्होंने सृष्टि के आदि में भगवान सूर्य को ज्ञान दिया था, जिन्होंने मुचुकुन्द ऋषि पर एक दृष्टि डालकर सहज ही उनका संसार सागर से उद्धार कर दिया-

जिननैं गोपिन्ह अंग बनाये। बहुरि तिन्हहि निज सक्ति जनाये॥
जिननैं बिदुरहिं अस अपनाये। ते बस नित इन्हि पद गुन गाये॥

जिन्होंने भगवती स्वरूपा गोपियों को अपना अंग बना लिया और फिर उन्हें अपनी शक्ति बताया, जिन्होंने महात्मा विदुर को ऐसा अपनाया कि वे सदा उन्हीं के चरणों का स्मरण करते रहते हैं-

जिननैं माँ कुंतिहिं दरसाये। सो बस इनहिं अहर्निस ध्याये॥
जिननैं भ्रातु युधिष्ठिर की मति। अस कीन्ही भइ इन्हके पद रति॥

जिन्होंने माँ कुन्ती को भी [दिव्यरूप का] दर्शन कराया है, जिससे वह केवल दिन-रात इनका ही गुणगान करती रहती है, जिन्होंने भ्राता युधिष्ठिर की बुद्धि ऐसी कर दी है कि उनकी एकमात्र इन्हीं के चरणों में प्रीति है-

जिननैं मत्स्य बराह सु नरहरि। कच्छप आदिहिं राम रूप धरि॥

जिन्होंने मत्स्य, वाराह, नरसिंह, कच्छप, राम आदि रूप धारण कर-

दोहा— कीन्हि चरित अति दिब्य अरु अमित असुर संघारि।
धर्म थापि पुनि पुनि किये भक्त संत उद्धारि॥ २॥

अत्यन्त दिव्य चरित्र किये और असंख्य असुरों का संहार करके पुनः पुनः धर्म की स्थापना करते हुए सन्तों-भक्तों का उद्धार किया-

चौपाई— जिननैं कीन्हि कृपा करि छोहू। संसयातमा लखि अति मोहू॥
जिननैं मम उद्धार करन की। पन कीन्हें भुवि भार हरन की॥

जिन्होंने मुझे अति संशयात्मा जानकर भी कृपा करके दुलार करते हुए मेरा उद्धार करने एवं पृथ्वी का भार उतारने की प्रतिज्ञा की है-

जिननैं मो पर निज मुदिताई। अहो आज स्वयंहिं बरसाई॥
इनसेइ रूप अलौकिक माँगी। क्यों न करउँ दरसन हतभागी॥

अहो! जिन्होंने आज मुझ पर अपनी प्रसन्नता की बरसात स्वयं ही कर दी है, मैं भाग्यहीन उन्हीं से उनका अलौकिक रूप माँगकर दर्शन क्यों न कर लूँ!

पतो न अस अवसर कब आवें। दिब्य रूप निज हरि दरसावें॥
अस बिचारि मन परम जितेंद्रिय। बंदत कह जनु बानि अतिंद्रिय॥

पता नहीं [अब पुनः] ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा कि भगवान अपने अलौकिक रूप का दर्शन करायेंगे, मन में ऐसा विचारकर परम जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुन ने वन्दना करते हुए मानो अलौकिक वाणी में कहा-

मो पर नाथ अनुग्रह कीन्हीं। अतिहिं गुप्त अध्यातम दीन्हीं॥
जेहि सुनि मम अज्ञान नसायो। अब उर परम ज्ञान प्रगटायो॥

हे नाथ! आपने मुझपर अनुग्रह करके अत्यन्त गोपनीय अध्यात्म विद्या दी है, जिसे सुनकर मेरा अज्ञान नष्ट हो गया और हृदय में परम ज्ञान प्रकट हो गया है।

दोहा— कमलनयन प्रभु तुम्हहि सों सुन्यों आज पतियाहु।
बिस्तृत सर्ग प्रलय प्रगट अरु अब्यय महिमाहु॥ ३॥

हे कमलनयन प्रभु! मैंने आपसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, संहार और अविनाशी ब्रह्म की महिमा भी अत्यन्त विस्तार के साथ सुनी है- ऐसा आप विश्वास करें।

चौपाई— श्रीमुख सों प्रभु बरनेउ जैसो। मानि लियों सच निज उर तैसो॥
देखन चहउँ दिब्य सोइ रूपहु। अब दयालु मोसें जनि छूपहु॥

हे प्रभो! आपने अपने श्रीमुख से अपने स्वरूप का जैसा वर्णन किया है यथार्थ में मैंने हृदय में वैसा ही माना है। हे दयालु! मैं आपके उसी अलौकिकरूप को देखना चाहता हूँ अब आप अपने को मुझसे न छिपायें।

लखि तव रूप सकउँ अस मानहु। तौ याचक तेहिं रूपहिं जानहु॥
योगेस्वर अब जनि ललचावहु। निज अबिनासी रूप लखावहु॥

हे नाथ! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मैं उस रूप को देख सकता हूँ तो मैं उस रूप का याचक हूँ- ऐसा जानें। हे योगेश्वर! अब आप मुझे न ललचायें, आप अपने अविनाशी रूप का दर्शन करायें।

सुनि अस प्रभु भये भक्त अधीना। देखि परम सरणागत दीना॥
भक्त दीनता देखि न जाये। जासों दीनदयाल कहाये॥

ऐसा सुन परम शरणागत (अर्जुन) की दीन दशा को देखकर भगवान भक्त के वशीभूत हो गये क्योंकि भक्त की दीनता [भगवान से] देखी नहीं जाती- इसी कारण वे दीनानाथ कहे जाते हैं!

पार्थ गये हरि हाथ बिकाई। महाराज निरखइ अस भाई॥
मन मधुकर भयो उन्ह कर दासा। अब न करइ काहुहि बिस्वासा॥

हे सज्जनो! महाराज तो ऐसा [स्पष्ट] देख रहा है कि महात्मा अर्जुन भगवान के हाथों [पूर्णतः] बिक गये हैं। उनका मनरूपी भौंरा भगवान का ही दास हो गया है अब वह किसी पर विश्वास नहीं करेगा।

दोहा— औरहिं कर्ता कोउ कहै तउ नहिं मन पछिताय।
सकल रूप सर्बत्र अब तिन्हि हरि केरि लखाय॥ ४॥

भले ही कोई किसी और को ही कर्ता क्यों न कहे तो भी उनका मन पश्चात्ताप नहीं करेगा। अब तो उन्हें सर्वत्र एकमात्र भगवान का ही रूप दिखायी पड़ रहा है।

चौपाई— अर्जुन कर सौभाग्य सराहत। महाराजहू प्रभु अवगाहत॥
बिहँसि कहत हरि दीनदयाला। देखहु मोर रूप एहि काला॥

महाराज भी भगवान की अहैतुकी कृपा में डुबकी लगाता हुआ महात्मा अर्जुन के भाग्य की सराहना करता है। अब भगवान दीनानाथ बिहँसते हुए कह रहे हैं कि लो, अभी मेरे इस रूप को देखो-

बहुत बरन बहु आकृति वारो। नानाबिधि मम रूप हजारो॥
लखहु रुद्र आदित्य बसुन्ह कहँ। मरुत बिपुल अति सुर अस्विन्हि जहँ॥

जो बहुत से रंग-रूप और आकार-प्रकार वाला है। मेरे नाना प्रकार के हजारों रूप हैं जिनमें एकादश रुद्रों, द्वादश आदित्यों, आठ वसुओं, उनचास मरुतों, बहुत से देवताओं एवं अश्विनी कुमारों को देखो।

अपर बहुत जिन्ह पूर्ब न देखे। अति आस्चर्य जायँ नहिं लेखे॥
नाहिन इतनो एहि तन माँहीं। देखहु जगत चराचर आहीं॥

मेरे और भी बहुत-से रूपों को देखो जिन्हें पूर्व में कभी नहीं देखा होगा, जो इतने दिव्य हैं कि देखने में भी नहीं आते। इतना ही नहीं मेरे इसी शरीर में स्थित समस्त चराचर जगत को देखो।

औरेहु जो संका मन आहीं। को जीतइ हारइ रन माहीं॥
अन्य कछुक जो देखन चहहू। सो सब देखि सांति अति लहहू॥

इतना ही नहीं, तुम्हारे मन में और भी जो शंका है कि युद्ध में कौन जीतेगा, कौन हारेगा अथवा अन्य जो कुछ भी देखना चाहो वह सबकुछ देखकर परम शान्ति प्राप्त करो।

पर इनि नैननि देखि न पावहु। दिब्य चक्षु दउँ लखि हरषावहु॥
ताहि देउँ अब लखु मोहिं भाई। योगसक्ति युत बल अधिकाई॥

किन्तु तुम इन नेत्रों से तो देख नहीं पाओगे इसलिए दिव्य दृष्टि दे रहा हूँ जिससे देखकर हर्षित हो जाओगे। अतः हे प्रिय! उसी (दिव्यदृष्टि) को दे रहा हूँ जिससे 'योगशक्ति और विपुल बल' के साथ मुझे देखो।

दोहा— उर आनंद उमंग भरि कह संजय सुनु भूप।
योगेस्वर प्रभु पार्थ कहँ दिखरावहिं निज रूप॥ ५॥

हृदय में अत्यन्त आनन्द और उमंग में भरकर सञ्जय ने कहा- हे राजन्! सुनें, भगवान योगेश्वर भक्त अर्जुन को अपना दिव्यरूप दिखा रहे हैं।

चौपाई— आदि सक्ति जिन्हकी प्रिय चेरी। सोइ हरि पृथापुत्र सन हेरी॥
बपु ऐस्वर्य जुक्त दिखरावें। बिस्वरूप जेहि आगम गावें॥

आदिशक्ति जिनकी प्रिय सेविका हैं, वे ही भगवान पृथापुत्र अर्जुन की ओर देखकर परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यरूप को दिखा रहे हैं, जिसे वेद विश्वरूप कहते हैं।

बिबिध रूप मुख नयन लखाहीं। अदभुत दृस्य प्रगट जेहि माहीं॥
दिब्याभूषण जेहि महँ राजत। दिब्य अस्त्र सस्त्रहु कर भ्राजत॥

जिसमें नाना प्रकार के दिव्यरूप, मुख, नेत्र और अनेक अद्‌भुत दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, जिनमें दिव्य आभूषण शोभायमान हो रहे हैं तथा नाना प्रकार के दिव्य अस्त्र-शस्त्र हाथों में सुशोभित हो रहे हैं।

जेहि तन दिब्य बस्त्र अति सोहत। दिब्य कुसुम माला मन मोहत॥
तन अति दिब्य गंध अनुलेपित। जो निरखत अति होत चकित चित॥

जिस शरीर में दिव्य वस्त्र अत्यन्त शोभा दे रहे हैं और गले में दिव्य पुष्पों की मालाएँ मन को अत्यन्त मोहित कर रही हैं, शरीर पर दिव्य गन्धों का अनुलेपन है, जो देखने में हर प्रकार से आश्चर्ययुक्त लग रहा है।

जो सब भूत आतमा आहीं। उन्हकर सब दिसि मुखहु लखाहीं॥
अंत न दीखत कहुँ कतहूँ सों। नहिं कछु हरि तजि मम मतहू सों॥

जो प्रभु समस्त भूतों की आत्मा हैं सब ओर उनके ही असंख्य मुख दिखायी पड़ रहे हैं। किसी तरफ से कहीं भी उनका अन्त नहीं दिखता। मेरे मत से भी भगवान को छोड़कर कहीं कुछ है ही नहीं।

दोहा— ऐसो दिब्य बिराट बपु दिखराये जगनाथ।
लखि सौभागी पार्थ जेहि पुनि पुनि नावहिं माथ॥ ६॥

इस प्रकार जगत के स्वामी भगवान ने अपना ऐसा दिव्य विराटरूप दिखाया जिसे देखकर परम सौभाग्यशाली भक्त अर्जुन बारम्बार नतमस्तक हो प्रणाम कर रहे हैं।

चौपाई— नृप नभ अगनित रबि प्रगटावें। तउ हरि तेज न समता पावें॥
एहि छन महाबाहु बहु न्यारो। देव पितर नर लोकहु सारो॥

हे राजन्! यदि आकाश में असंख्य सूर्य एक साथ प्रकाशित हो जायँ, तो भी वे विश्वरूप भगवान के तेज की समानता नहीं कर सकते। उस समय भक्त अर्जुन नाना प्रकार के अद्भुत देव, पितर एवं विपुल मृत्यु लोकों को-

हरि तन माहिं देखि भये बिस्मित। अरु अति रोमांचित तन पुलकित॥
बिस्वरूप प्रभु पद बंदन करि। पुनि प्रणाम हित कर सम्पुट धरि॥

भगवान के शरीर में देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये और अत्यधिक रोमांचित होने से शरीर पुलकित हो उठा। फिर तो वे विश्वरूप भगवान के चरणों की वन्दना करके पुन: प्रणाम करने के लिए हाथों को जोड़कर-

उर महँ परम प्रेम भरि बोलहिं। अति बिचित्र उदगारहिं खोलहिं॥
प्रभु तव चिदानंद तन माहीं। जहँ तहँ सबरे देव लखाहीं॥

हृदय में परम प्रेम से भरकर अति विचित्र उद्‌गार प्रकट करते हुए बोले- हे प्रभु! मुझे आपके चिदानंद शरीर में जहाँ-तहाँ समस्त देवतागण दिखाई दे रहे हैं।

पृथक पृथक गुन आकृति वारे। भूत चराचर दीखत सारे॥
सिव चतुरानन कमलासन पर। दिब्य उरग दीखत बहु ऋषिवर॥

उसमें पृथक्-पृथक् गुण और आकृति वाले, जड़ एवं चेतन- समस्त प्राणी दीख रहे हैं। [इतना ही नहीं] भगवान शंकर एवं कमल के आसन पर बैठे हुए भगवान ब्रह्मा, दिव्य सर्प और अनेक श्रेष्ठ महर्षि भी दीख रहे हैं।

दोहा— नाना भुज दृग उदर मुख रूप बिपुल सर्बत्र।
हे बिस्वेस्वर बिस्वबपु तुव महँ अत्र न तत्र॥ ७॥

आपमें अनेक भुजाएँ, नेत्र, पेट एवं मुख हैं तथा आप सब ओर से अनन्त रूपवाले हैं। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आपमें न यहाँ है, न वहाँ है!

चौपाई— अहो प्रभा सब दिसि बिखरावे। आदि अंत मध्यहु न लखावे॥
चक्र गदा कर दिब्य मुकुट सिर। रबि पावक सम गहन ज्योति थिर॥

अहो! [आपके अनुपमरूप से] सब दिशाओं में दिव्य तेज फैल रहा है जिसका आदि, अन्त एवं मध्य कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा है। आपके हाथों में चक्र और गदा है, सिर पर दिव्य मुकुट है तथा आप में सूर्य एवं अग्नि के समान सघन ज्योति (परम प्रकाश) स्थिर है।

रूप तुम्हारो दुर्निरीक्ष्य अस। अप्रमेय अति कोउ कहइ कस॥
जानन योग्य तुम्हहि बर अक्षर। जग निधान तुम्हही जगदीस्वर॥

हे प्रभो! आपका यह रूप देखने में अति कठिन है, उपमारहित होने से कोई उसे कैसे कह सकता है। हे जगदीश्वर! आप ही जगत के निधान एवं जानने योग्य परम अक्षर हैं।

सास्वत धर्म बचावन वारे। तुम्हहि भक्त संतन्ह रखवारे॥
तुम्ह अबिनासी पुरुष पुरातन। मोरे मत प्रभु आपु सनातन॥

आप ही शाश्वत धर्म के रक्षक तथा भक्तों एवं सन्तों के रखवाले हैं। आप ही मेरे विचार से अविनाशी, पुरातन पुरुष एवं सनातन ब्रह्म हैं।

तुम्ह महँ आदि मध्य नहिं अंतहु। लखउँ अनंत बीर्य नहिं दंतहु॥
तुम्हहिं लखउँ रबि ससि दृगवारो। प्रबल अनंत परम भुज धारो॥

हे प्रभो! आपमें न आदि है, न मध्य है और न अन्त है, अहो! मैं तो आपको अनन्त सामर्थ्यवाला देख रहा हूँ, यह कल्पना नहीं यथार्थ है। मैं आपको ही सूर्य और चन्द्रमारूपी नेत्रों वाला, प्रबल सामर्थ्य से युक्त एवं अनन्त दिव्य भुजाओं को धारण किये हुए देख रहा हूँ।

दोहा— लखउँ प्रदीप्त अनल मुख अस अचरजहु लखाय।
अपनो तेज सों जगतहिं देखउँ देहु तपाय॥ ८ (क)॥

आपको प्रज्वलित अग्नि के समान मुख वाला देख रहा हूँ तथा आप अपने ही तेज से जगत को तप्त कर रहे हैं- इस प्रकार का आश्चर्य भी देख रहा हूँ।

स्वर्ग धरनि बिच गगन दिसि सब तुम्हसेइ परिपूर्ण।
उग्र रूप अदभुत लखि भय सुँ त्रिजग उर चूर्ण॥ ८ (ख)॥

[इतना ही नहीं वरन्] स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का सारा आकाश एवं दिशाएँ [एकमात्र] आपसे ही व्याप्त हैं तथा आपके अद्भुत भयंकररूप को देखकर तीनों लोकों में रहने वालों का हृदय भय से विदीर्ण हुआ जा रहा है।

चौपाई— देवहु बहु प्रभु नर तन धारी। दीख रहे रन भूमि मझारी॥
भूमि भार तेउ चहत उतारन। प्रगटे मनुज रूप तेहि कारन॥

हे प्रभो! मैं देख रहा हूँ कि बहुत-से देवगण भी मनुष्य का शरीर धारण कर युद्धभूमि में आये हुए हैं। वे भी पृथ्वी का भार उतारना चाहते हैं इसी कारण उन्होंने मनुष्य का शरीर धारण किया है।

लखउँ तेउ तुव माहिं समावें। कर जोरें कछु तव गुन गावें॥
सिद्ध महर्षि बिपुल असगुन लखि। बर बिराट मूरति तव उर रखि॥

मैं देख रहा हूँ कि वे [देवतागण] भी आपमें प्रवेश कर रहे हैं तथा कुछ हाथ जोड़कर आपको नमस्कार कर रहे हैं, सिद्धों एवं महर्षियों के समुदाय अनेकानेक अपशकुनों को देखकर आपकी परमश्रेष्ठ विश्वरूप मूर्ति को हृदय में धारण कर-

बर छंदनि सों अस्तुति करहीं। जग कल्यान होय उच्चरहीं॥
रुद्रादित्य साध्य अरु बसुगन। बिस्वेदेव मरुत अस्विनिजन॥

श्रेष्ठ स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर रहे हैं और [स्वस्तिवाचन करते हुए] कह रहे हैं कि जगत का कल्याण हो! एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, साध्य और अष्ट वसु, विश्वदेव, मरुद्गण तथा दोनों अश्विनीकुमार-

असुर बिरोचन सम जे आहीं। यक्ष कुबेर सरिस जग माहीं॥
कपिलादिक सिध बर गंधर्बा। पितर उष्मपा देखउँ सर्बा॥

जगत में विरोचन जैसे असुर, कुबेर जैसे यक्ष, कपिल आदि सिद्धगण एवं श्रेष्ठ गन्धर्व तथा उष्मपा नामक पितर को देख रहा हूँ कि-

दोहा— लखहिं तुम्हहिं बिस्मित अतिहिं जनु तन मन नहिं प्रान।
बिस्वरूप हे नाथ मम करि न सकैं गुनगान॥ ९॥

ये सभी आपको अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं मानो इनमें तन, मन तथा प्राण हैं ही नहीं। अत: हे विश्वरूप में प्रकट मेरे स्वामी! वे आपके गुणों का गान भी नहीं कर पा रहे हैं।

चौपाई— कस तुम्हरो कोऊ गुन गावे। अति बिसाल तव रूप लखावे॥
जेहि महँ बहु मुख दृग भुज जंघा। बहुत लखाय उदर कर संघा॥

कोई भी आपका गुणगान कैसे कर सकता है क्योंकि आपका रूप परम विराट दिखायी दे रहा है, जिसमें असंख्य मुख, असंख्य आँखें, असंख्य भुजाएँ और असंख्य जाँघें हैं तथा असंख्य पेटों का समूह भी दिखायी दे रहा है।

बहु दाढ़न्ह कारन तव आकृति। अतिहिं भयंकर लगे नसति धृति॥
लखि भय ब्यथित जगत प्राणी सब। राखि न सकउँ महूँ धीरज अब॥

बहुत-सी दाढ़ों के कारण आपकी आकृति अत्यन्त भयंकर लग रही है, जिससे सबका धैर्य टूटा जा रहा है। जगत के समस्त प्राणी आपके इस रूप को देखकर भय से अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं और अब मैं भी धैर्य धारण नहीं कर पा रहा हूँ।

नभ लौं ब्याप्त लखउँ ज्योतिर्मय। बिपुलाकृतिहूँ कै अस अभिनय॥
नाना मुख बहु बिस्तृत आहीं। अति बिसाल बहु दृग चमकाहीं॥

[हे नाथ!] आपको मैं आकाश तक व्याप्त ज्योतिस्वरूप देख रहा हूँ, जिसमें असंख्य आकृतियों का-सा अभिनय है, नाना प्रकार के विशाल मुख फैले हुए हैं और बहुत सी बड़ी-बड़ी आँखें चमक रही हैं।

अस बिकराल रूप तव देखी। मम मन प्रभु भय भयो बिसेषी॥

हे प्रभो! आपके ऐसे विकरालरूप को देखकर मेरा मन अति भयभीत हो गया है।

दोहा— पावउँ धैर्य न सांति अब प्रभु उर अति बिकलाइ।
यह का कीन्हीं दयानिधि उग्र रूप दिखलाइ॥ १०॥

अब तो मैं न धैर्य और न शान्ति ही प्राप्त कर पा रहा हूँ बल्कि हृदय अत्यन्त व्याकुल हो गया है। हे दयानिधे! ऐसे भयंकररूप को दिखाकर आपने यह क्या किया!

चौपाई— रूप भयानक देखि न जाई। प्रीति न आवति उर हरिराई॥
काल अगिनि सम मुख लखि नाथा। अब साँचहि मैं भयों अनाथा॥

[हे देवों के देव!] आपका भयानकरूप मुझसे देखा नहीं जा रहा है इसलिए हृदय में प्रेम प्रकट नहीं हो रहा है! हे प्रभो! आपके कालाग्नि के समान विकराल मुख को देखकर सच में मैं तो अब अनाथ हो गया हूँ।

मैं दिग्भ्रमित भयउँ एहि काला। तव दरसन करतहु प्रतिपाला॥
यासेइ प्रभु बिश्राम न पावउँ। सच अब तुम्हरी सरणहिं आवउँ॥

हे सबकी रक्षा करने वाले! इस समय आपका दर्शन करने पर भी मैं दिशाओं को नहीं जान पा रहा हूँ। इसलिए हे प्रभो! मैं विश्राम (शान्ति) नहीं पा रहा हूँ। अब तो मैं सच में आपकी शरण में आ गया हूँ।

हे देवेस हे जगत निवासा। तुम्ह बिनु मोहिं न काहुहि आसा॥
निज जन जानि न मोहिं भरमावहु। अब प्रभु नहिं अस रूप लखावहु॥

अत: हे देवेश! हे जगन्निवास! आपके बिना मुझे किसी की भी आशा नहीं है। अत: हे प्रभु! आप अपना जानकर मुझे ऐसा रूप दिखाकर भ्रमित न करें।

धीरज सांति देहु हरषाई। करहु कृपा सब भ्रांति नसाई॥
मम अपराध करहु नहिं गिनती। सुनहु भक्त संतन्ह मन बिनती॥

[हे प्रभो!] अब हृदय से प्रसन्न होकर धैर्य एवं शान्ति दें तथा ऐसी कृपा करें कि समस्त भ्रान्तियों का नाश हो जाय। आप मेरे अपराधों की गणना न करें। हे सन्तों एवं भक्तों के मन! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

छंद— हे नाथ लखुँ कौरव सुतन्ह महिपाल सँग सब बीरहू।
गुरुद्रोन तिन्ह सुत करण अरु मोरे पितामह धीरहू॥
अरु हमरि सैन्य प्रधान सँग सँग बीर सब अति सीघ्रहीं।
तव दाढ़ काल कराल सम मुख माहिं प्रबिसहिं ब्यग्रहीं॥

हे नाथ! मैं देख रहा हूँ कि यहाँ कौरव पुत्रों के साथ-साथ समस्त राजागण, अन्यान्य वीर, कर्ण, गुरुवर द्रोण, अश्वत्थामा और मेरे पितामह भीष्म के समान अति धैर्यवान परमवीर तथा हमारी सेना के प्रधान-प्रधान वीरों के साथ समस्त वीर अति शीघ्रता से आपके भयानक काल के समान दाढ़ों से युक्त मुख में अत्यन्त व्यग्रता से प्रवेश कर रहे हैं।

कछु चूर्ण सिर जनु मांस भक्षित दसन्ह बिच दिखरायँ जू।
जस सरित बहु अति बेग सों निज पतिहिं उदधि समायँ जू॥
तस अति भयंकर प्रज्वलित कालाग्नि मुख तव पाइके।
प्रबिसहिं तहाँ नर लोक बीरहु अति प्रबलतम धाइके॥

कई वीरों के चूर्ण हुए सिर आपके दाँतों के बीच ऐसे लगे दीख रहे हैं, मानो दाँतों के बीच खाये हुए मांस के टुकड़े लटक रहे हों। जिस प्रकार बहुत-सी नदियाँ अत्यन्त वेग से अपने पति समुद्र से मिलने जाती हैं, उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर कालाग्नि के समान प्रज्वलित आपके मुख में इस मनुष्यलोक के वीर अत्यन्त वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

ज्यों जरति पावक महँ पतंगहिं जायँ बेग सों बरन हित।
त्यों बीर सब तव बदन महँ अति बेगि प्रबिसहिं मरन हित॥

प्रज्वलित मुख सों ग्रसत चाटहु तिन्हहिं तुम्ह सब ओर सों।
तव उग्र तेज तपाय जग महँ ब्याप्त ह्वै सब छोर सों॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में जलने के लिए पतंगे अत्यन्त वेग से जाते हैं, उसी प्रकार ये वीर भी आपके मुख में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक मरने के लिए प्रवेश कर रहे हैं; और आप उन्हें अपने प्रज्वलित मुख के द्वारा सब ओर से निगलते हुए [स्वाद लेते हुए] चाट रहे हैं। आपका भयानक तेज सभी दिशाओं से जगत को तपाते हुए व्याप्त हो रहा है।

हे नाथ हे देवेस प्रनवउँ मुदित मन किरिपा करौ।
अस अति भयंकर रूप वारे अहउ को कहि भ्रम हरौ॥
प्रभु आदि सृष्टि सों प्रगट जानन चहउँ अब भलिभाँतिहीं।
अस रूप कस कीन्हें बतावहु लहउँ धीरज साँतिहीं॥

अत: हे नाथ! हे देवेश! मैं आपको प्रणाम कर रहा हूँ, आप मुझपर प्रसन्न हो कृपा करें। आप इस भयंकररूप वाले कौन हैं यह बताकर मेरे भ्रम का निवारण करें। हे सृष्टि के पूर्व से ही प्रकट रहने वाले प्रभु! मैं अब भलीभाँति जानना चाहता हूँ कि आपने ऐसा रूप किसलिए धारण किया है ? आप मुझे बतायें, जिससे मैं धैर्य एवं शान्ति प्राप्त करूँ।

सोरठा— बिस्वरूप भगवान भगत बचन सुनि आर्त अति।
सरणागत निज जान कहैं पार्थ सुनु सत बचन॥ ११॥

तब विश्वरूप भगवान ने भक्त अर्जुन की अत्यन्त आर्त पुकार सुनकर तथा अपना शरणागत भक्त समझकर कहा- हे पार्थ! तुम मेरे यथार्थ वचनों को सुनो।

चौपाई— महाकाल हौं पार्थ हमारो। आयों नास करन जग सारो॥
यासें तू बरु युद्ध करै नहिं। तउ प्रतिपक्षिन्ह काम सरै नहिं॥

हे मेरे प्रिय भक्त! मैं तो काल का भी काल महाकाल हूँ, जो इस समय जगत [के समस्त असुरों] का नाश करने के लिए प्रकट हुआ हूँ। इसलिए तुम युद्ध भले न करो तो भी विपक्षियों का प्रयोजन पूरा नहीं होगा।

प्रथम नास इनि सबकर करऊँ। बहुरि काज भक्तन्हि कर सरऊँ॥
यासों करहु जुद्ध नहिं सोचहु। सकल सोक संतापहिं मोचहु॥

मैं पहले इन सभी का नाश करूँगा फिर अपने भक्तों का मनोरथ पूर्ण करूँगा। इसलिए उठो! युद्ध करो! विषाद मत करो! समस्त शोक-सन्ताप का परित्याग कर दो।

सब्यसाँचि बस निमित होय तू। पूर्बहिं इनि मार्‌यों न रोय तू॥
जेहि रन देवहु जीति न पावहिं। जिते पार्थ कहि जग गुन गावहिं॥

हे सव्यसाचिन्! तुम इस युद्ध के निमित्त मात्र बन जाओ, मैंने तो इन्हें पहले ही मार डाला है, अत: तुम विकल मत होओ। 'अरे! जिस युद्ध को देवता भी नहीं जीत पाते, उसी को वीर अर्जुन ने जीत लिया'- ऐसा कहते हुए जगत तुम्हारा यशोगान करेगा।

अस निर्मल जस पार्थ लहै तू। सत्रुन्हि जिति थिति महत गहै तू॥
सुख सम्पति प्रिय मान बड़ाई। जबलौं जिये भोगु सब भाई॥

इसलिए हे पार्थ! तुम ऐसे निर्मल यश को प्राप्त कर लो और शत्रुओं को पराजित कर श्रेष्ठ धरा [के स्वामित्व] को स्वीकार करो तथा जीवनपर्यन्त सुख-सम्पत्ति एवं श्रेष्ठ मान-सम्मान का उपभोग करो।

दोहा— द्रोन भीष्म जयद्रथहिं अरु कर्ण अपर बहु बीर।
सबन्हिं हत्यों मैं पूर्बही हतहु न होहु अधीर॥ १२॥

आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य बहुत-से वीरों को मैं पहले ही मार चुका हूँ, इनका वध करो, थोड़ा भी अधीर मत होओ।

चौपाई— युद्ध करउ तजि उर भय भारे। अवसि जितेगो सत्रुन्हि सारे॥
अवसि जितेगो सुनि प्रभु बानी। पार्थ दृगनि सों ढरक्यो पानी॥

अत: हृदय के महा भय का परित्याग करके युद्ध करो। [हे पार्थ!] तुम समस्त शत्रुओं को अवश्य जीतोगे। 'अवश्य जीतोगे'- भगवान नारायण की ऐसी वाणी सुनकर महात्मा अर्जुन की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली।

हरिहिं चितव बस कछु न कहावे। महाराज लखि सुख न समावे॥
अवसि जितै सुनि सुर मुनि सारे। देखि परस्पर भये सुखारे॥

उस समय वे एकमात्र प्रभु की ओर देख रहे थे, [आनन्दातिरेक के कारण] कुछ कहा नहीं जा रहा था। महाराज भी इस दृश्य को देखकर आनन्द से अघा नहीं रहा है। 'अवश्य जीतोगे'- ऐसा सुनकर समस्त देवता और ऋषिगण अत्यन्त आनन्दित हो परस्पर देखने लगे।

गूँज उठी बहु नभ जयकारी। जय जय जय भक्तन्ह भयहारी॥
जय मुकुंद माधव जय जय हरि। जय गोबिंद गोपाल असुर अरि॥

[उसके उपरान्त तो] आकाश में अत्यधिक जय-जयकार गूँज उठी- हे भक्तों के भय को दूर करने वाले प्रभु! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! हे मुकुन्द! हे माधव! हे हरि! आपकी जय हो! हे असुरों के शत्रु! हे गोविन्द! हे गोपाल! आपकी जय हो!

दुष्ट दलन जय प्रभु अगतिनि गति। प्रनतपाल संतन्ह भक्तन्ह पति॥
जय सिसुपाल काल सिर खंडन। पांडव अस्वमेध बर मंडन॥

हे दुष्टों का दमन करने वाले! हे गतिहीनों को गति देने वाले प्रभु आपकी जय हो! हे शरणागत रक्षक! हे सन्तों एवं भक्तों के स्वामी! आपकी जय हो! हे शिशुपाल के काल बनकर उसके सिर का खण्डन करने वाले तथा पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ की अत्यधिक शोभा बढ़ाने वाले! आपकी जय हो!

हिरनाकुस तन हृदय बिदारन। जय प्रहलाद भगत निस्तारन॥
जय बसुदेव देवकी रंजन। जय भक्तन्ह उर कलुष निकंदन॥

हे हिरण्यकशिपु के शरीर और हृदय को विदीर्ण कर भक्त प्रह्लाद की रक्षा करने वाले प्रभु! आपकी जय हो! महाराज वसुदेव एवं माँ देवकी के आनन्द को बढ़ाने वाले प्रभु! आपकी जय हो! हे भक्तों के हृदय के समस्त दोषों को मिटाने वाले! आपकी जय हो!

जय गोकुल ब्रजपति गिरिधारी। महि गो भक्त बिप्र हितकारी॥
कौरव मान उतारन हारे। द्रौपदि चीर बढ़ावन वारे॥

हे गोकुल एवं ब्रज के स्वामी! हे गिरिधारी! हे पृथ्वी, गौ, भक्तों एवं ब्राह्मणों का हित करने वाले! आपकी जय हो! हे कौरवों का मान मर्दन कर कल्याणी द्रौपदी का चीर बढ़ाने वाले! आपकी जय हो!

बालि दसाननहू संहारक। कुम्भकरन घनगर्जन हारक॥
खर दूषन त्रिसिरादिहु नासक। जय भूपाल परम अनुसासक॥

हे बाली एवं रावण का संहार करने वाले! हे कुम्भकर्ण तथा मेघनाद का प्राण लेने वाले! हे खर-दूषण तथा त्रिशिरा आदि का नाश करने वाले! हे पृथ्वी का पालन करने वाले एवं श्रेष्ठ अनुशासक! आपकी जय हो!

जय जय राधा आदिसक्ति पति। जय सरणागत भक्तन्ह मति गति॥
हम सुर सिद्ध नाथ सरणाई। कृपा करहु निज बाँह गहाई॥

हे आदिशक्ति भगवती राधा के स्वामी! आपकी जय हो! जय हो! हे शरणागत भक्तों की मति एवं गति! आपकी जय हो! हे प्रभो! हम सभी देवता एवं सिद्ध आपकी ही शरण में आये हुए हैं, अत: अपनी बाँहों का सहारा देकर हम पर कृपा करें।

दोहा— ध्यान मगन मुनि ब्यासहू अति आह्लादित चित्त।
देखि कृपानिधि की कृपा अरु अर्जुन प्रति कृत्त॥ १३॥

[वन प्रदेश में प्रभु की वाणी को लिखने वाले] महर्षि व्यास भी अत्यन्त आह्लादित चित्त से कृपानिधान भगवान द्वारा भक्त अर्जुन के प्रति किये गये उपकार एवं कृपा को देखकर ध्यान मग्न हो गये।

चौपाई— संजय सुख नहिं मनहिं समावें। पर न नृपति प्रति प्रगट लखावें॥
तब गगनांगन सुनि जयकारी। उननेउँ आपुनि सुरति बिसारी॥

भक्त सञ्जय के मन में भी सुख समा नहीं रहा है किन्तु वे राजा धृतराष्ट्र के सामने व्यक्त नहीं कर रहे हैं; तब आकाशमण्डल में जय-जयकार सुनकर उन्होंने भी अपनी सुध-बुध खो दी।

कहन लगे जय जय जय देवा। महूँ न कीन्हों तव कछु सेवा॥
तउ मोहिं दिब्यरूप दिखराये। जासे जग कछु मोहिं न भाये॥

वे कहने लगे- जय हो! जय हो! हे प्रभो! आपकी जय हो! मैंने तो आपकी कुछ भी सेवा नहीं की है तो भी आपने मुझे अपना दिव्यरूप दिखाया है, जिससे अब मुझे जगत में कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।

कहत नृपति संजय कासों बद। कस भइ आज बानि तव गदगद॥
तब संजय आपुनि सुधि पाये। जो कछु देखे सुने बताये॥

[ऐसा सुनकर] राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! किससे बात कर रहे हो! तुम्हारी वाणी आज गद्गद कैसे हो गयी है! तब सञ्जय को अपनी सुध हो आयी और जो कुछ भी देखा-सुना था, वह सबकुछ बता दिया।

कह अबहूँ चेतउ हे नरपति। ह्वै सरणागत लेहु परम गति॥
नृप बूझे जब सबहिं मराये। तब दुर्योधन काह बसाये॥

और कहा- हे राजन्! आप अभी भी चेत जायँ और भगवान के शरणागत होकर परमगति को प्राप्त कर लें। राजा ने भी समझ लिया कि जब सभी मरे हुए ही हैं तो एकमात्र दुर्योधन की क्या चलेगी (वह भी तो मरा हुआ ही है)!

दोहा— तउ भावी बस सुनहिं नहिं संजय मन अति खेद।
महाराज बिनु हरि कृपा को जानइ यह भेद॥ १४॥

तो भी होनहार के वशीभूत हुए राजा धृतराष्ट्र ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया तो सञ्जय के मन में अत्यन्त दु:ख हो गया। महाराज तो कह रहा है कि भगवत् कृपा के बिना यह रहस्य कौन जान सकता है।

चौपाई— संजय मनहिं गुनहिं मत मानहु। स्वयंहि आपु चतुर अति जानहु॥
मैं तो नमन करउँ एहि छनहीं। जो अवतरे प्रान जन जनहीं॥

सञ्जय ने मन ही मन विचार किया कि नहीं मानना है तो आप न मानें, स्वयं से ही स्वयं को अत्यन्त बुद्धिमान जानते रहें। मैं तो इस समय उन्हें ही प्रणाम करूँगा जो समस्त भक्तों के प्राण (आत्मा) हैं और जगतहितार्थ अवतरित हुए हैं।

पुनि कह हे नरेस अब सुनहू। एहि पल होय जो तेहि मन गुनहू॥
अस केसव प्रभु सुधा बचन सुनि। बर किरीटधारी अर्जुन गुनि॥

फिर उन्होंने कहा- हे नरेश! इस समय जो हो रहा है उसे अब सुनें और मन में विचार करें। इस प्रकार भगवान केशव के अमृतमय वचनों को सुनकर श्रेष्ठ मुकुट को धारण करने वाले भक्त अर्जुन समझ-बूझकर-

परम प्रीति सो उठि पग लागी। होइ हृदय अतिसय अनुरागी॥
सम्पुट कर करि अति भयभीतहिं। काँपत पर लखि निज बर मीतहिं॥

उठे और हृदय में अतिशय प्रेमपूर्वक प्रभु के कमलवत् चरणों को पकड़कर प्रणाम किया और दोनों हाथों को जोड़कर अति भय होने के कारण काँपते हुए, फिर भी अपना परम हितैषी (सुहृद) जानकर-

हरि छबि परम उतारि उतारी। ओह आह भरि उर महँ भारी॥
सिसु सम रुदन हृदय सों आवत। लखि असमय निज उरहिं दबावत॥

भगवान नारायण की परम मधुर छवि को हृदय में उतार-उतारकर (पान करते हुए), हृदय में 'आह-ओह' करते

हुए, शिशु के समान हृदय से प्रकट होती हुई रुलाई को असमय में आया जानकर, अपने हृदय में ही दबाते हुए-

दोहा— गदगद बानी सों बदैं बिस्वरूप मम नाथ।
यहु दरसन करि आज मैं होयों परम सनाथ॥ १५॥

गद्‌गद वाणी से बोले- हे विश्वरूप! हे मेरे नाथ! आज मैं इस रूप का दर्शन करके परम सनाथ हो गया।

छंद— हे अनाथ नाथ प्रभु। किय मोकों सनाथ बिभु॥
हे करुनाकर दयाल। पन राखे प्रनतपाल॥

हे अनाथों के नाथ प्रभु! आपने मुझको सनाथ कर दिया है। हे करुणानिधि! हे दयालु! हे सबके रक्षक! आपने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

हे जगतपति जगदीस। अहो मेरो भये ईस॥
हे संत सुर भक्त प्रान। भव उदधि डूबत किये त्रान॥

हे जगत्पति! हे जगदीश! अहो! आज आप मेरे प्रभु हो गये। हे देवताओं, भक्तों एवं सन्तों की आत्मा! मैं भव-सागर में डूब रहा था कि आपने रक्षा कर ली।

हे ससि बर सिव दृग चकोर। राखी लाज आज मोर॥
हे मुरलिधर बर चक्रधर। मोरे हृदयहू बास कर॥

हे भगवान शिव के नयन चकोरों के श्रेष्ठ चन्द्रमा! आज आपने मेरी लाज रख ली। हे मुरलीधर! हे श्रेष्ठ चक्र को धारण करने वाले! अब आप मेरे भी हृदय में वास करें।

हे धरनि भार उधार। कल्प्यों प्रभू मैं निराधार॥
हे पालक अति निगम नीति। लखउँ जग कर तुम्हसों प्रीति॥

हे धरती का भार उतारने वाले प्रभु! मैं तो व्यर्थ दु:खी हो रहा था। हे वेदविहित नियमों का भलीभाँति पालन करने वाले! मैं देख रहा हूँ कि जगत के लोग एकमात्र आपसे ही प्रेम कर रहे हैं।

छंद— यह तौ उचित हृषिकेस जग कर प्रीति तुम्हसेइ नाथ जू।
यस कीर्ति तुम्हरी गान करि होवहिं अनाथ सनाथ जू॥
यहऊ उचित बिकलाइ भागत सब दिसिहिं राक्षस गना।
प्रभु यहु उचित तुम्हहीं नमत कपिलादि सारे सिध जना॥

हे हृषीकेश! हे नाथ! यह तो सर्वथा उचित ही है कि इस जगत के लोग एकमात्र आप से ही प्रेम कर रहे हैं तथा वे आपकी महिमा एवं यश का गान करके अनाथ से सनाथ हो रहे हैं। यह भी [सर्वथा] उचित है कि राक्षसगण भय से अत्यन्त व्याकुल होकर समस्त दिशाओं में भाग रहे हैं तथा हे प्रभो! यह भी उचित है कि कपिल आदि समस्त सिद्धगण आपको ही नमस्कार कर रहे हैं।

ऐसो न काहे ते नमैं तुम्हसों परम बर को अहैं।
मैं लखउँ तुम्हहि बिरंचि कै हू आदिकर्ता सोउ कहैं॥
हे जगनिवास अनंत हे देवेस जिनि कह सत असत।
तिन्हसों परे अक्षर परम तुम्हही अहउ मम उर कहत॥

हे प्रभो! वे इस प्रकार नमस्कार क्यों न करें, क्योंकि आप से परम श्रेष्ठ कौन है! मैं तो देख रहा हूँ कि आप [सृष्टिकर्ता] ब्रह्माजी के भी आदिकारण हैं वे भी ऐसा ही कहते हैं। हे जगत के वासस्थान! हे अनंत! हे देवों के देव! मेरा हृदय कहता है कि जिन्हें सत्-असत् कहा जाता है, उन दोनों से परे परम अक्षर स्वरूप आप ही हैं।

तुम्ह आदिदेव पुरुष पुरातन जगत परम निधानहू।
हौ तुम्हहि ज्ञाता ज्ञेय तुम्हसेइ ब्याप्त जग बर धामहू॥
तुम्हही पवन पावक बरुण यम ससि बिरंचिहु कै जनक।
प्रनवै सहस लौं सहस पुनि पुनि तुम्हहिं मो सम अघमनक॥

[हे प्रभो!] आप ही आदिदेव, पुरातन पुरुष एवं जगत के परम निधान हैं, आप ही जानने वाले, जानने में आने योग्य [अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान स्वरूप] और परम धाम भी हैं तथा आप से ही सारा जगत व्याप्त है। आप ही वायु, अग्नि, वरुण, यम, चन्द्रमा और ब्रह्माजी के भी पिता हैं। अत: आपको मेरे जैसा पापमय पुरुष हजारों हजार बार पुन: पुन: प्रणाम कर रहा है।

हे परमबीर्यहु नमउँ सन्मुख पृष्ठ दाँयहु बाम सों।
सर्वात्मनं सब ओर सों सबरूप अरु सब नाम सों॥
हे बर पराक्रम जुक्त सब जग ब्याप्त तुम्हनेई किये।
सब रूप तुम्हही निरखि मम मन रूप नामामृत पिये॥

हे सर्व सामर्थ्यशाली! हे सर्वात्मन्! मैं आपको आगे से, पीछे से, दायें से, बायें से तथा सब ओर से, समस्त रूपों से एवं समस्त नामों से प्रणाम कर रहा हूँ। हे अनन्त पराक्रमशाली! आपने ही समस्त जगत को व्याप्त कर रखा है। अत: आपको ही सर्वरूप देखकर मेरा मन आपके ही रूप एवं नामामृत का पान कर रहा है।

हे नाथ तव महिमा न अस लखि सम अवस्था मानिके।
हे कृष्ण यादव मीत कहि अपमानयों नहिं जानिके॥
परमाद अथवा प्रेमबस औरेहु जब जोहू कह्यों।
कै सुन्यों कछु निंदा तुम्हरि अति सीलता महँ जब रह्यों॥

हे नाथ! आपकी ऐसी महिमा को न जानकर बल्कि समान आयु वाला मानकर मैंने 'हे कृष्ण! हे यादव! हे मित्र!' कहकर अनजाने में बहुत बार अपमानित किया। प्रमाद अथवा प्रेम के कारण और भी जब जो कुछ कहा है या शीलता के वशीभूत हुआ आपकी कुछ निन्दा सुन ली हो–

भोजन करत बिचरत कहूँ सयनादि समयहु क्रियन महँ।
सन्मुखहु तुम्हरी पीठ पाछें निदर्‌यों चाहे तुम्हहिं जहँ॥
अपराध सब तिन्हि तोहिं अच्युत अप्रमेयहु जानिके ।
तुम्हसों करावउँ मैं छमा अब छमहु निज जन मानिके॥

अथवा [एक साथ]भोजन करते समय, कहीं विचरण करते समय, सोते समय या कुछ भी करते समय, आपके सामने अथवा पीठ पीछे भी चाहे जहाँ विशेष निन्दा की हो, उन समस्त अपराधों को मैं आपको अच्युत और अप्रमेय जानकर आप से क्षमा कराता हूँ, अब आप अपना भक्त मानकर मुझे क्षमा करें!

प्रगटहु चराचर जगत प्रभु यासें जनक सबकै लखौं।
हे हरि परमगुरु तुम्हहि यासों पूज्य बर आपुहिं भखौं॥
हे अतुल परम प्रभाव वारे आपु सम नहिं कोउ अहै।
पुनि होय तुम्हसों अधिक को छन माहिं जो सब अघ दहै॥

हे प्रभो! आप ही चराचर जगत को प्रकट करते हैं, इसलिए मैं आपको सबके पिता के रूप में देख रहा हूँ। हे हरि! आप ही परमगुरु हैं, अत: मैं आपको ही परम पूज्य कह रहा हूँ। हे अप्रतिम प्रभाव वाले! आपके समान भी [जगत में] कोई नहीं है फिर आप से अधिक कोई कैसे हो सकता है जो पल भर में ही समस्त पापों को जला दे।

यासें नमउँ करि दंडवत तुम्हसों छमा करवावऊँ।
अरु सुत सखा प्रिय भारया सम तुव सरण महँ आवऊँ॥
अपराध ज्यों पितु पुत्र के मित मीत के नर नारि के।
कर दै क्षमा तस छमहु आपहु सबहिं पाप बिसारि के॥

इसलिए आपके चरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करते हुए आपसे ही [अपने पूर्वकृत् समस्त अपराधों को] क्षमा करवाता हूँ और पुत्र, मित्र तथा प्रिय पत्नी के समान आपकी शरण में आ गया हूँ। अत: जैसे पिता पुत्र के; मित्र मित्र के; पति पत्नी के अपराधों को क्षमा कर देता है, वैसे आप भी [मेरे] समस्त अपराधों को भूलकर क्षमा कर दें।

निरख्यों न कबहूँ रूप अस तासों हृदय हरषाय अति।
पर उग्रता अति रूप लखि बिकलायँ मेरो मनहु मति॥
यासें दिखावहु पूर्ब रूपहिं जगनिवास सुरेस हे।
अब नाथ होउ प्रसन्न मो पर बिस्वबपु बिस्वेस हे॥

[हे प्रभो!] ऐसा अद्‌भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा, इसलिए हृदय अत्यन्त हर्षित हो रहा है परन्तु इस रूप की अत्यधिक उग्रता को देखकर मेरे मन-बुद्धि अत्यन्त विकल हो रहे हैं। इसलिए हे जगन्निवास! हे सुरेश! हे दयालु! हे विश्वरूप! हे विश्वेश! मुझ पर आप प्रसन्न हों और अपने पूर्वरूप को दिखायें।

देखन चहउँ सोइ रूप जो सिर मुकुट तन पीताम्बरी।
कर महँ गदा अरु चक्र राजत मधुर मूरति साँवरी॥
हे बिस्वमूर्ते सहसभुज एहि रूप उपसंघारि करि।
अब तेहि लखावहु नहिं भ्रमावहु छिनक पलहु न देर करि॥

[हे प्रभो!] मैं उसी दिव्य मधुर छवि वाले साँवरेरूप को देखना चाहता हूँ जो पीताम्बरी पहने, सिर पर मुकुट धारण किये, एक हाथ में चक्र और दूसरे हाथ में गदा धारण किये सुशोभित होता है। अतः हे विश्वमूर्ते! हे सहस्रभुजाओं वाले! अब इस रूप को समेटकर क्षणभर की भी देर किये बिना उसी रूप को दिखायें, अब और अधिक भ्रमित न करें।

सोरठा— मोपे प्रभु मुदिताहिं किये पार्थ अस्तवन बर।
अस जो हरिहिं सुनाहिं कृपा करहिं प्रभु ताहु पर॥ १६(क)॥

'मुझ पर प्रभु प्रसन्न हों'- इसी उद्देश्य से महात्मा अर्जुन ने यह श्रेष्ठ स्तवन किया था; अतः जो इसी प्रकार भगवान का स्तवन करेगा, उस पर भी वे प्रभु कृपा करेंगे।

महाराज कोउ बात बिनु अनुभूति न करत जू।
काहू की न बिसात माया हरि बिनु जाय तरि॥ १६(ख)॥

महाराज तो बिना अनुभूति के कोई भी बात नहीं करता। [अरे!] किसी की ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभु की कृपा के बिना माया को पार कर सके।

चौपाई— प्रभु कह तब अतिहीं हरषाई। अबहिं रूप जे दयों दिखाई॥
सर्ब आदि जो तेजोमय अति। अहइ असीमहु बिस्वरूप गति॥

तब भगवान नारायण ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा- मैंने [कृपा करके] अभी जो रूप तुम्हें दिखाया है, जो सबका आदि कारण, अत्यधिक तेजोमय और सीमारहित विश्वरूप वाला है-

जाहि न पूर्ब तोहिं बिनु ऐसे। लखे कोउ पुनि भाषै कैसे॥
यज्ञ दान तप बेद अराधन। उग्र क्रियाहु कोउ नहिं साधन॥

जिस रूप को तुम्हारे अतिरिक्त इससे पहले किसी और ने देखा ही नहीं है तो फिर बताये कैसे! यज्ञ, दान, तप, वेदों का स्वाध्याय अथवा कोई भी ऐसा कठिन क्रियारूपी साधन नहीं है-

जासे अस मम रूप लखावे। कितनौ कोउ मृतुलोकहिं धावे॥
यासे निरखि बिराट रूप अस। बिकल न होउ भये अबहीं जस॥

जिससे कि मेरा ऐसा रूप देखा जा सके, भले ही मनुष्यलोक में कोई कितना ही प्रयत्न करे। इसलिए इस विराटरूप को देखकर ऐसे व्याकुल मत होओ, जैसा कि अभी [विमूढ़ चित्त वाले] हो गये थे।

होवहु अभय प्रीतियुत भाई। पूर्ब रूप लखु अति हरषाई॥
संजय कह नृप अस कहि जग प्रभु। पूर्ब रूप महँ भये हरषि बिभु॥

अब पुनः हे प्रिय! अत्यन्त प्रीतिपूर्वक अभय होकर अति प्रसन्नता के साथ पूर्व के रूप को देखो। सञ्जय ने कहा- हे राजन्! ऐसा कहकर विश्वरूप भगवान जो सर्वत्र व्याप्त हैं, प्रसन्नतापूर्वक पहले वाले रूप में हो गये-

अतिहिं भीत अर्जुनहिं दुलारी। धीरज दये भगत हितकारी॥
अर्जुन कहे जनार्दन मेरो। लखि अब सौम्य रूप नर तेरो॥

और अत्यन्त भयभीत हुए अर्जुन को भक्तों का हित करने वाले भगवान ने स्नेहपूर्वक धैर्य बँधाया। महात्मा अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन! आपका अब यह सौम्य मनुष्यरूप देखकर-

अति प्रसन्न उर भयो दयालू। निज स्वरूप आयों प्रतिपालू॥
नभ सुर कह बर सिद्ध पुकारी। अबहिं कहे जो इहाँ मुरारी॥

हे दयालु! मेरा हृदय अत्यन्त हर्षित हो गया है। हे प्रतिपालक! अब मैं अपने स्वरूप में स्थित हो गया हूँ। उधर आकाश में एक श्रेष्ठ सिद्ध का ध्यान अपनी तरफ आकृष्ट करके देवताओं ने कहा- अभी जो मुरलीधर भगवान ने यहाँ कहा है कि-

दोहा— तोसों पूर्ब न पार्थ कोउ बिस्वरूप अस जोय।
लखे न एहि नरलोक महँ तुम्हहि कहहु कस होय॥ १७॥

'हे पार्थ! मेरा जो ऐसा विश्वरूप है तुमसे पहले किसी और ने इस मनुष्यलोक में नहीं देखा है,' अब आप ही बतायें कि ऐसा कैसे हो सकता है?

चौपाई— अबकै पूर्ब धीर मुनि ज्ञानी। कोउ न भये का आतमज्ञानी॥
सिद्ध परम बोले हरषाई। सच तौ अस भाषहिं हरिराई॥

क्या आज के पूर्व कोई धैर्यवान या ज्ञानवान मुनि आत्मज्ञानी हुआ ही नहीं है? तब पूज्य सिद्ध ने हर्षित होकर कहा- भगवान ऐसा सत्य ही तो कह रहे हैं।

सदगुरु लोक मिलइ अस ज्ञाना। तहँइ लखायँ बिस्व भगवाना॥
सिस अर्जुन बर आसन अहहीं। यहि नरलोक संत मुनि कहहीं॥

ऐसा आत्मज्ञान तो सद्गुरुलोक में ही मिलता है और वहीं पर विश्वरूप भगवान का दर्शन होता है किन्तु [यहाँ तो] अर्जुन शिष्य होते हुए भी [भगवान से] ऊँचे आसन पर बैठे हुए हैं, सन्तों एवं मुनियों द्वारा तो यही मनुष्यलोक कहा जाता है।

बिषम समय रणभूमि मझारी। चारिउँ दिसि दोउ बाहिनि भारी॥
मानुष लोक लखाये योई। जहँ अध्यात्म बुद्धि गइ गोई॥

जहाँ विषम समय में रणभूमि के मध्य चारों ओर से दो विशाल सेनाएँ हैं- यह (दृश्य) ही मनुष्यलोक के रूप में दिखायी पड़ रहा है, जहाँ अध्यात्म बुद्धि छिप गयी है।

गुरु बनि प्रभु उन्हके तर बइठैं। सिष्य पार्थ तउ ऊँचे अइठैं॥
अस कबहूँ नहिं मोहिं लखायो। जबकै मैं जुग बिपुल बितायो॥

भगवान गुरु बने हुए हैं किन्तु उनके नीचे बैठे हैं और अर्जुन शिष्य के रूप में हैं तो भी ऊँचे आसन पर बैठ कर अति गर्वित हैं। ऐसा तो कभी मुझे देखने में आया ही नहीं है जबकि मैंने तो असंख्य युग बिता दिये हैं।

यह तौ महति कृपा प्रभु केरी। जिननैं इनहिं वत्स सम हेरी॥

यह तो भगवान नारायण की महती कृपा है कि जिन्होंने इनको अपने शिशु के समान देखा है।

सोरठा— सिष्य हृदय अति मोह नहिं आतम जिज्ञासु कछु।
तउ प्रभु करि अति छोह बिस्वरूप दिखरायँ जू॥ १८॥

जबकि शिष्य (अर्जुन) के हृदय में अत्यन्त मोह है और आत्मजिज्ञासा कुछ भी नहीं है तो भी प्रभु ने अत्यन्त कृपा करके विश्वरूप दिखा दिया।

चौपाई— जहँ सदगुरु प्रति भाव अनंता। तहँइ देहिं अध्यातम संता॥
अर्जुन कहँ गयो भाव करायो। अपुने आपु न हिय अस आयो॥

[नियम तो यह है कि] जिस शिष्य के हृदय में सद्गुरु के प्रति ब्रह्मभाव होता है, उसी को कोई भी सन्त अध्यात्म विद्या प्रदान करते हैं। किन्तु यहाँ तो नर अवतार अर्जुन को यह भाव कराया गया है, अपने आप तो ऐसा

आया नहीं है!

पीटि पाटि अर्जुन सिद्धांतहिं। कियो गयो उन्ह उर सम सांतहिं॥
यहि नरलोक लखाय न आनहिं। अस लखि करहु हरिहिं गुन गानहिं॥

अर्जुन के सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न करके उनके हृदय को सम-शान्त किया गया है। अत: यही मनुष्यलोक दिखायी पड़ रहा है कोई अन्य नहीं। हे देवगण! ऐसा समझकर आप सब भगवान का यशोगान करें।

अबहिं प्रभुहु कछु पूर्ब सुनाये। आत्मज्ञान अर्जुन कस आये॥
प्रथम आइ सदगुरु सरनाई। सेवा करै अतिहिं हरषाई॥

अभी भगवान ने कुछ देर पहले ही सुनाया था कि हे अर्जुन! आत्मज्ञान कैसे आता है, सुनो- सर्वप्रथम तो सद्गुरु की शरण में आकर परम प्रसन्नता के साथ उनकी सेवा करे-

श्रद्धा अस निर्गुन बपु धारी। गुरू बने नरलोक मझारी॥
संयम तत्परता अति साधी। सेवै उन्हहिं बिसेष अबाधी॥

और उनके प्रति शिष्य के हृदय में ऐसी श्रद्धा हो कि निर्गुण ब्रह्म ही मनुष्यलोक में शरीर धारण कर सद्गुरु बने हुए हैं। संयम और तत्परता को भलीभाँति साधकर सर्वथा अबाध रूप से उनकी ही सेवा करे।

जब गुरुवर प्रसन्न अति होई। कहहिं माँगु बर भावइ जोई॥

जब गुरुदेव अति प्रसन्न होकर कहें कि वर माँगो जो तुम्हें अच्छा लगे!

दोहा— पद सरोज तब नाइ सिर कह प्रसन्न प्रभु जोय।
तौ करि किरिपा देहु अब आत्मज्ञान प्रभु मोय॥ १९॥

तब उनके कमलवत् चरणों में प्रणाम करके कहे कि- हे प्रभो! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे कृपा करके आत्मज्ञान दें।

चौपाई— पर अस माँग न इहाँ लखाये। आग्रह आपुनि सत्य सुनाये॥
सांति देहु रन करन न कहहू। मारउँ मरउँ न मोसों चहहू॥

किन्तु यहाँ पर ऐसी माँग दिखायी नहीं पड़ रही है, इनका अपना आग्रह स्पष्ट सुनायी दे रहा है कि हे प्रभो! शान्ति तो दें किन्तु मुझे युद्ध करने को न कहें और न मुझसे मरने-मारने की इच्छा करें।

यहि नर लोक अपर नहिं भाई। बेद संत मुनि दीन्हि बताई॥
कोउ लखाय सुत अति बर आसन। पितु ताके तर तउ कर सासन॥

अत: यही मनुष्यलोक है दूसरा नहीं, ऐसा ही वेद-पुराण एवं समस्त सन्त भी कहते हैं। जैसे कोई पुत्र अति श्रेष्ठ आसन पर बैठा रहता है तथा पिता उसके नीचे बैठा होता है और वह पुत्र उस पिता को उपदेश देता रहता है।

मूढ़ जनक पुनि ताहि सराहे। यहि नरलोक संत उर दाहे॥
कौरव सभा माहिं अस रूपहिं। लखि अति भीत भये सब भूपहिं॥

तो भी मूर्ख पिता उसकी सराहना करता है यही मनुष्यलोक है जो सन्तों के हृदय में दाह उत्पन्न कर देता है। कौरवों की सभा में [भगवान का] ऐसा ही रूप (विश्वरूप) देखकर सभी राजागण अत्यन्त भयभीत हो गये थे।

सोइ भय जब अर्जुन उर आयो। तबहिं सोइ नरलोक कहायो॥

यदि वही भय अर्जुन के हृदय में भी आता है तो वही मनुष्यलोक कहा जाता है।

दोहा— अस कृपालु को जगत महँ जो अस सिष्यहिं पाइ।
बिस्वरूप दिखराय अस मोको कोउ न लखाइ॥ २०॥

[अरे!] जगत में ऐसा कृपालु कौन है जो ऐसे शिष्य को पाकर, इस प्रकार विश्वरूप दिखा दे! मुझे तो ऐसा कोई भी नहीं दीख रहा है।

चौपाई— उत अर्जुन सों प्रभुहु बतावें। सहज न अस मम रूप लखावें॥
देखन चहहिं सुरहु नित याही। पर उनसों तौ देखि न जाही॥

उधर अर्जुन से भगवान भी बता रहे हैं कि मेरा ऐसा विश्वरूप सहजता से नहीं देखा जा सकता। देवतागण भी

सदा इसे देखने की इच्छा रखते हैं परन्तु उनसे तो यह देखा ही नहीं जा सकता।

यज्ञ दान तप बेद अराधे। कीधौं साधन अपरहिं साधे॥
लखि न परे देख्यो तू जैसो। तौ कस दीख परइ सुनु वैसो॥

कोई चाहे यज्ञ करे, दान दे, तप करे, वेदों का स्वाध्याय करे अथवा अन्य कोई साधना अपनाये किन्तु मेरा जैसा रूप तुमने देखा है वैसा दूसरे को दिखाई नहीं पड़ सकता। फिर वैसा कैसे दिखाई देगा, सुनो-

भगति अनन्य गहे नर जोई। रूप जानि लखि सक अस सोई॥
ताहि मोक्ष बर दउँ हरषाई। यासें गहु मोहिं जग बिसराई॥

जो पुरुष अनन्यभक्ति को धारण करेगा, वही इस रूप को इस प्रकार जान सकेगा एवं देख सकेगा और मैं उसी को हर्षित होकर परम मोक्षपद दूँगा। इसलिए तुम समस्त जगत को त्यागकर मुझे स्वीकार करो।

अरु सुनु अबहिं समास बखानउँ। तोहिं परम प्रिय आपुनि जानउँ॥
जो सुभ करम धरम मोरे हित। सरन आइ मम करत रहै नित॥

और भी सुनो- मैं तुम्हें अपना परम प्रिय समझता हूँ, इसलिए अब तुमसे थोड़े में ही कह रहा हूँ कि जो [भक्त] मेरी शरण में आकर नित्य मेरे निमित्त शुभ धर्म-कर्म करता रहेगा-

भगत होइ बस भजे मोहिं नित। तन मन इंद्रिनि अरु दै मति चित॥

और मेरा ही भक्त होकर शरीर, मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि एवं चित्त मुझे समर्पित करके मेरा ही भजन करेगा-

छंद— दै चित्त मोमें मातु पितु सुत तिय स्वजन हित मीत हू।
गृह ग्राम धन जन तजि भजै नहिं नेकु इनसों प्रीत हू॥
काहू सों नहिं कछु बैर उर बरु जग सतावे ताहि नित।
सोइ पाय मोकों साँच अर्जुन मम कृपा जग प्रबल जित॥

अर्थात् जो मुझमें चित्त लगाकर माता-पिता, स्त्री, पुत्र, स्वजन, हित-मित्र, घर-गाँव, धन-जन को त्यागकर मेरा ही भजन करेगा, इनसे थोड़ी भी प्रीति नहीं रखेगा, किसी के प्रति अंशमात्र भी हृदय में वैर भाव नहीं रखेगा, भले ही जगत के लोग उसे नित्य सताते रहें। हे अर्जुन! वही भक्त, अत्यन्त बलशाली जगत पर विजय प्राप्त कर मुझे प्राप्त करेगा।

दोहा— तउ अर्जुन गांडीव बर नहिं उठायँ कर धाय।
महाराज धीरज धरहु आगे काह लखाय॥ २१॥

[प्रभु ने ऐसे दिव्य वात्सल्यमय वचन सुनाये] तो भी महात्मा अर्जुन श्रेष्ठ गाण्डीव को लपककर अपने हाथ में उठा नहीं रहे हैं। महाराज का कहना है कि आप सब धैर्य के साथ प्रतीक्षा करें कि आगे क्या दिखाई पड़ता है।

मासपारायण, तेईसवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

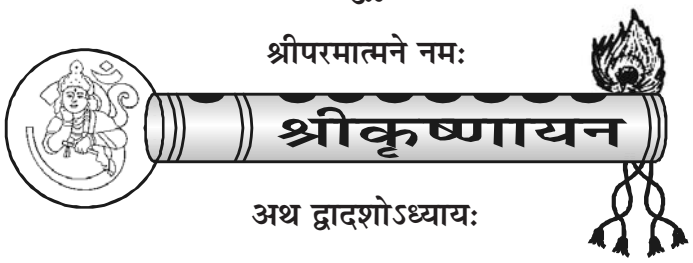

अथ द्वादशोऽध्यायः

अद्यापि हृदये प्रभु स्थितम्॥
अद्यापि गोकुले गोपगोपिभिः नन्द यशोदया सेवितम्।
अद्यापि पार्थं युद्धभूमौ उपदिशन् स्यन्दने तिष्ठतम्॥
कृष्ण माधवः कथ्यते यं येन माया पराजितम्।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घैः अज महेश्वरैः वन्दितम्॥
येन सृज्यते विश्वं अखिलं यः सर्वदा व्यवस्थितम्।
अद्यापि सः कृष्णायनेन महाराज भाष्येन पूजितम्॥

प्रभु आज भी सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हैं। गोकुल में गोप-गोपी एवं नन्द-यशोदा आज भी जिनकी सेवा करते हैं वे प्रभु युद्धभूमि में अर्जुन के रथ पर उपदेश देते हुए आज भी विराजमान हैं। उन भगवान का कृष्ण, माधव आदि पवित्र नामों से जो स्मरण करता है उससे माया पराजित हो जाती है। गंधर्व, यक्ष, सुर तथा सिद्धगणों सहित भगवान ब्रह्मा एवं शंकर भी जिनकी वंदना करते हैं, जो अखिल ब्रह्मांड की सृष्टि करके सदा-सर्वदा उसे व्यवस्थित रखते हैं आज 'कृष्णायन' की रचना करके महाराज भी उन्हीं परम महिमावान भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की आराधना कर रहा है।

दोहा— अंतरजामी प्रभुहिं लखि अर्जुन भये सनाथ।
समुझत परम दयालुता पुनि पुनि नावहिं माथ॥ (क)॥

अन्तर्यामी भगवान का दर्शन करके महात्मा अर्जुन कृतार्थ हो गये हैं। अतः भगवान की परम दयालुता का मन में स्मरण कर पुनः-पुनः सिर झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं।

दरसन सों न अघाय उर कह समुझ्यों नर जाहि।
अहइ सो ब्रह्म बिराज रथ अस सौभाग्यहु काहि॥ (ख)॥

भगवान के दर्शन से उनका हृदय तृप्त नहीं हो रहा है और विचार कर रहे हैं कि जिसे मैंने मनुष्य समझ रखा था, वह ब्रह्म ही है जो मेरे रथ पर विराजमान है, अरे! ऐसा सौभाग्य किसका होगा!

अबलौं जीयउँ स्वजन अरु गुरुजन हित जग माहिं।
प्रभु हित जीयउँ आज सों जिननैं पकरी बाहिं॥ (ग)॥

अब तक मैं इस जगत में स्वजनों और गुरुजनों के लिए जी रहा था किन्तु आज से भगवान के लिए ही जीऊँगा, जिन्होंने मुझे शरण दी है।

माया महँ डूबत रह्यों कोउ बचायो नाँइ।
का बचायँ सबही डुबे प्रभुहि बचाये धाइ॥ (घ)॥

मैं माया में डूब रहा था, किसी ने बचाया भी नहीं। अरे! वे सब क्या बचाते! जब सभी डूबे ही हुए हैं। अहो! प्रभु ने कृपा करके मुझे तत्परता के साथ बचा लिया।

चौपाई— कर्म करहु अब मोरे लाने। अस कहि मोहिं हरिहिं निज माने॥
बनु मम भगत होउ सरनागत। अस कहि हरि मो कस अनुरागत॥

तुम मेरे लिए ही आज से कर्म करो- ऐसा कहकर भगवान नारायण ने मुझे अपना बना लिया है। अरे! प्रभु मुझसे कितना प्रेम कर रहे हैं कि स्वयं कह रहे हैं- तुम मेरे भक्त बनकर मेरी शरण में आ जाओ।

आदिसक्ति जग जननि भवानी। श्रीराधा उर जिन्ह बपु मानी॥
सोइ प्रभु मम उर चहहिं बसेरो। अहो धन्य अब मैं इन्ह चेरो॥

जिनका स्वरूप आदिशक्ति जगत जननी भगवती श्रीराधाजी के हृदय में विराजमान है वे ही प्रभु अब मेरे हृदय में भी वास करना चाहते हैं। अहो धन्य है! आज से मैं इनका सेवक हो गया!

जिन्ह चरणाम्बुज बिदुर बसाये। रूप रासि लखि निसदिन ध्याये॥
तिन्ह पद छबि जो अति मन भावनि। स्वयं हृदय मम चाहति आवनि॥

जिनके चरण कमलों को महात्मा विदुर ने अपने हृदय में बसाया है और उस रूप-राशि को देखकर दिन-रात उनका स्मरण करते रहते हैं, उन्हीं चरणों की छवि स्वयं जो मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली है, मेरे हृदय में आने की बाट जोह रही है!

मो सम आज भाग्य जग केही। जदपि अहउँ तृन सम जग एही॥
जे गोपिन्ह मन प्रान कहावें। जिन्ह बिनु हरिहिं न कोउ सुहावें॥

अहो! मेरे समान आज जगत में किसका सौभाग्य है, जबकि मैं इस जगत में एक तिनके के समान हूँ! जो गोपियों के मन और प्राण कहे जाते हैं, जिनके बिना भगवान को अन्य कोई प्रिय नहीं लगता-

प्रान बनन हित मम प्रभु सोई। देहिं ब्रह्मबिद्या मोहिं योई॥
जिनकै हित तजि स्वजन सहाई। जोगी जोग करत बन जाई॥

अहो! वे ही दयालु प्रभु मेरे प्राण बनने के लिए मुझे ब्रह्मविद्या सुना रहे हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए योगीजन अपने स्वजनों, सहायकों का परित्याग करके वन में जाकर योग करते हैं।

ते कस मम जीवन रथ आये। अहो कौन महिमा उन्ह गाये॥
अब पूछउँ इनसों कर जोरी। साधन मम हित काह अँजोरी॥

वे ही प्रभु आज मेरे जीवनरथ पर कैसे आ गये हैं, अहो! उनकी महिमा बताने में जगत का कौन पुरुष समर्थ है! अत: अब मैं हाथ जोड़कर इन्हीं से पूछूँगा कि मेरे लिए निर्मल साधन कौन-सा है।

सोरठा— सजल नयन कर जोरि कहन लगे पुलकित हृदय।
प्रभु बिनती इक मोरि आयसु देहु तो कहउँ मैं॥ १॥

ऐसा सोचकर उनके नेत्र प्रेमाश्रुओं से परिपूर्ण हो गये और वे अत्यन्त पुलकित हृदय से हाथ जोड़कर कहने लगे- हे प्रभो! मेरी एक प्रार्थना है आज्ञा हो तो कहूँ!

चौपाई— सिर हलाइ हरि आयसु दीन्हें। तब यह प्रस्न परंतप कीन्हें॥
बिस्वरूप प्रभु जो दिखराये। तामें नित चित जोइ लगाये॥

भगवान ने अपना सिर हिलाकर उन्हें आज्ञा दे दी। तब परम तपस्वी महात्मा अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे प्रभो! [इस जगत में दो प्रकार के योगी हैं एक वे जो] अभी आपने जिस विश्वरूप को दिखाया, उसी में जो सदा अपने चित्त को लगाकर -

तेहि हित कर्म करहिं तेहि ध्यानहिं। कोउ नहिं अपर धरम उर आनहिं॥
अपर अहैं जे परम बिरागी। नित यति दये करम सब त्यागी॥

उसी का ध्यान करते हैं एवं उसी की प्रसन्नता के लिए कर्म करते हैं तथा हृदय से किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं करते। दूसरे वे हैं जो परम वैराग्यवान नित्य संन्यासी हैं, जो समस्त कर्मों का परित्याग कर-

अक्षर परम ब्रह्म अब्यक्ता। तेहि ध्यावहिं करि चित्त असक्ता॥
श्रेष्ठ योगबिद को इनि माहीं। कहहु नाथ अब यहइ सुहाहीं॥

परम अक्षर अव्यक्त ब्रह्म में भलीभाँति चित्त लगाकर आसक्ति रहित होकर उसी का ध्यान करते हैं- इन दोनों में श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ? हे नाथ! इसे बतावें क्योंकि अब मुझे यही सब अच्छा लग रहा है।

भगत कलपतरु बिहँसि बतावहिं। श्रद्धायुत मम सरन जो आवहिं॥
बिस्वरूप महँ चित्त लगाई। ध्यावहिं अति तत्पर हरसाई॥

तब भक्तों के कल्पवृक्ष भगवान बिहँसते हुए बताने लगे- हे पार्थ! जो भक्त अतिशय श्रद्धा से युक्त हो मेरी शरण में आकर मुझ विश्वरूप में मन लगाकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ तत्पर होकर ध्यान करते हैं-

दोहा— सब योगिन्ह महँ योगि बर मानउँ उनहिं सुजान।
पर अस नहिं जे निर्गुनी इनसों नाहिं महान॥ २॥

हे बुद्धिमान्! समस्त योगियों में मैं उन्हीं को श्रेष्ठ योगी (ज्ञानी) मानता हूँ, किन्तु ऐसा भी नहीं है कि निर्गुण-निराकार की उपासना करने वाले इनसे श्रेष्ठ नहीं हैं।

चौपाई— अपितु आतमा ते प्रिय मेरो। तिन्हहि कहउँ कस न्यून बड़ेरो॥
किंतु मार्ग अक्षर अति दुर्गम। बदहिं पुरान निगम मुनि आगम॥

बल्कि वे मेरी प्रिय आत्मा हैं, अत: उन्हें छोटा या बड़ा कैसे कह सकता हूँ! किन्तु अक्षर ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) की उपासना का मार्ग अत्यन्त कठिन है, ऐसा सन्तों, पुराणों, श्रुतियों एवं वेदों का कहना है।

जिनकै उर नहिं मैं अरु मेरो। ते कस होहिं काहु कर चेरो॥
समुझैं बिभु अब्यक्त सदाई। स्वयं होइ अब्यक्त दृढ़ाई॥

[अरे!] जिनके हृदय में 'मैं और मेरा' [मैं शरीर हूँ और यह मेरा है ऐसा भाव] है ही नहीं, वे किसी के सेवक कैसे हो सकते हैं! वे तो समझते हैं कि ब्रह्म सदा अव्यक्त है, अत: वे भी दृढ़ता के साथ अव्यक्त होकर-

द्रष्टा होइ लखत मम नाटक। यासें सहज खुलइ उर फाटक॥
अक्षर हुइ परमाक्षर साधें। तब कोउ उन्हके मग नहिं बाधें॥

द्रष्टा रूप में नित्य मेरी लीला देखते रहते हैं इसलिए उनके हृदय का अज्ञानरूपी आवरण सहज ही हट जाता है। वे अक्षर (निर्गुण) रूप होकर परम अक्षर (निर्गुण ब्रह्म) की उपासना करते हैं तब उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं आती।

सब्द कोउ नहिं जाहि बतावे। अनिर्देस्य यासें कहलावे॥
अस लखि ते होइ सब्द बिहीना। द्रष्टा जल महँ करँ मन मीना॥

ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जिससे उस ब्रह्म को यथावत् बताया जा सके, इसीलिए वह अनिर्देश्य कहा जाता है। ऐसा जानकर ही वे शब्दरहित होकर द्रष्टारूपी जल में मनरूपी मछली को लगा देते हैं।

नभ इव ब्यापक ब्रह्म लखावें। ते द्रष्टा होइ तेहि अनुभावें॥
अस करि कछुक काल महँ भाई। ब्यापक होइ ते लहहिं बड़ाई॥

उन ज्ञानियों को ब्रह्म आकाश के समान व्यापक समझ में आता है, अत: वे द्रष्टारूप होकर उसका ही अनुभव करते हैं। हे प्रिय! ऐसा करने से कुछ काल में ही वे व्यापक होकर [जगत में] यश प्राप्त करते हैं।

दोहा— अहइ चिंत्य जग ब्यक्त जो चिंतन ताकोइ होय।
किंतु ब्रह्म अब्यक्त सच कह अचिंत्य सब कोय॥ ३॥

जो जगत में व्यक्त है, वही चिन्तन के योग्य है और उसी का चिन्तन किया जाता है। किन्तु ब्रह्म यथार्थत: अव्यक्त है (इन नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ता है) इसलिए उसे सभी अचिन्त्य कहते हैं।

चौपाई— द्रष्टा काहुहिं नाहिं लखावे। यासें सो अचिंत्य कहलावे॥
जो माया के भीतर बाहर। ब्याप्त ब्रह्म नित लख सब ठाहर॥

इसी प्रकार द्रष्टा किसी को नहीं दिखायी पड़ता, यही कारण है कि वह अचिन्त्य कहा जाता है। ठीक वैसे ही जो ब्रह्म सदा माया के भीतर-बाहर और अन्य सभी जगह व्याप्त दिखायी पड़ता है-

सो कहाय कूटस्थ सदाई। द्रष्टा याहि भाँति बनि जाई॥
ब्रह्म तबहिं सो अचल कहावे। यासें सास्त्र नित्य तेहि गावे॥

वह सदा कूटस्थ (माया के भीतर-बाहर) कहा जाता है, अत: द्रष्टा भी ऐसा ही बन जाता है। कूटस्थ होने के कारण वह ब्रह्म अचल कहा जाता है, इसी से शास्त्रों में उसको नित्य भी बताया गया है।

तेउ ज्ञानी इंद्रियँहिं बिसारी। होहिं अचल ध्रुव द्रष्टाचारी॥
अस प्रतिपल प्रिय अप्रिय माहीं। जिन्हकी मति सम नहिं अकुलाहीं॥

द्रष्टारूप को धारण करने वाले वे ज्ञानी भक्त भी इन्द्रियों से अनासक्त होकर (संयम कर) अचल एवं नित्य हो जाते हैं। इस प्रकार चाहे जब प्रिय-अप्रिय को पाकर भी जिनकी बुद्धि नित्य सम बनी रहती है, व्याकुल नहीं होती-

सदा होहिं सबके हितकारी। लहहिं मोहिं निज अहं बिसारी॥

वे सदा ही सबका हित करते रहते हैं एवं अहंकार का त्याग कर मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— किंतु देह अभिमान गहि निर्गुन ध्यावहिं जोय।
पार्थ लहहिं अति क्लेस ते साँच बतावउँ तोय॥ ४ (क)॥

किन्तु 'मैं शरीर हूँ'- ऐसा अभिमान रखने वाले जो भी निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, हे पार्थ! वे अत्यधिक क्लेश प्राप्त करते हैं, यह मैं तुझसे सत्य कह रहा हूँ।

जदपि ऋषभ जड़भरत अरु ऋषि मांडब्य समान।
नित्य आत्मरत रहत जे उन्ह सम कौन महान॥ ४ (ख)॥

यद्यपि ऋषभदेव, जड़भरत, माण्डव्य आदि जैसे ज्ञानी मुनि हुए हैं, जो सदा आत्मरूप में ही मस्त रहते थे। उनके समान महान कौन हुआ!

जिनहिं न देहाध्यास कछु तिन्हपरहू अति क्लेस।
आयो जानत जाहि जग सत्य कहउँ निद्रेस॥ ४ (ग)॥

जिन्हें अंशमात्र भी देहाभिमान नहीं था, उन पर भी महान दुख आ गया था जिसे सारा जगत जानता है। हे निद्रापति अर्जुन! मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ।

चौपाई— तदपि न अंसहु दुखि जग जानत। यासें यह मग दुखमय मानत॥
कस दुख होय कहेंगो आगे। अबहिं सगुन मग सुनु तू जागे॥

तो भी वे थोड़े भी दु:खी नहीं हुए, जिसे सारा जगत जानता है। इसी से यह ज्ञानमार्ग अत्यन्त दु:खमय माना जाता है। इस उपासना में कैसा दु:ख होता है इसे मैं आगे कहूँगा, अभी तो तुम सगुण साकार की उपासना सुनो, जिससे प्रमादरहित हो जाओगे।

जो मम आश्रित रहत भगत जन। मोमेइ करि अर्पन तन मन धन॥
बिस्वरूप मोकोइ अनुभावत। सब कर्मनि तजि सरणहिं आवत॥

जो भक्तगण मेरे आश्रित रहते हुए, मुझमें ही अपना तन, मन, धन अर्पण कर, मुझे विश्वरूप में अनुभव करने के कारण समस्त कर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ जाते हैं-

मोसों अपर न इहँ कोउ मानत। अस अनन्य चिंतन करि ध्यानत॥
उनहिं मृत्यु जग सागर पारा। करउँ बेगि पन अटल हमारा॥

और इस जगत में मुझसे भिन्न कुछ नहीं मानते। इस प्रकार अनन्य चिन्तन करते हुए ध्यान करते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूपी संसार सागर से अति शीघ्र पार कर देता हूँ; ऐसी मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है।

महाबाहु ऐसो जिय जानी। आउ सरण मम होइ अमानी॥
पुनि निज मन मति मो कहँ देहू। उर अज्ञान भेदि इमि लेहू॥

अत: हे महाबाहो! हृदय से मुझे ऐसा जानकर मानरहित हो मेरी शरण में आ जाओ फिर अपना मन, अपनी बुद्धि सबकुछ मुझे दे दो। इस प्रकार अज्ञान का भलीभाँति भेदन कर दो।

दोहा— बिस्वरूप बिभु जानि मोहिं मन अर्पित करि पार्थ।
गहहु सरन सब सोच तजि यह उपदेस यथार्थ॥ ५॥

हे पार्थ! मुझ परमब्रह्म को विश्वरूप जानते हुए मुझे अपना मन अर्पित कर सब चिन्ता छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ- यही यथार्थ उपदेश है।

चौपाई— तब मो महँ तुम्ह बास करहुगे। पुनि तन तजि बिभु रूप गहहुगे॥
यामें संसय कहुँ कछु नाहीं। कै न बसहु अस करि मो माहीं॥

उसके उपरान्त तुम मुझमें ही वास करोगे और पुनः शरीर त्यागकर व्यापक ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे। इसमें तो किसी काल में कुछ संशय ही नहीं है कि ऐसा करने पर भी तुम मुझमें वास नहीं करोगे अर्थात् अवश्य वास करोगे।

बिस्वरूप महँ मन कस लागे। महाराज कह सुनहु सुभागे॥
त्रिजगजोनि सुर नर जग माहीं। यहि इहँ सचल प्रानि दिखलाहीं॥

हे सौभाग्यशालियो! विश्वरूप में मन कैसे लगे, महाराज कह रहा है सुनें- इस जगत में पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा देवता एवं मनुष्य- ये तीन प्रकार के प्राणी ही सचल दिखायी पड़ते हैं-

बिस्वरूप की अहहिं कलपना। यासें अन्य न करहु जलपना॥
इनि सबकै सत रज तम भेदा। अहहिं कहहिं पुरान अरु बेदा॥

जो विश्वरूप ब्रह्म के ही विचार (कल्पना) हैं। इसलिए [सारे विश्व के रूप में परमात्मा को छोड़कर] कोई अन्य विकल्प स्वीकार न करें। इन सबके भी सत्, रज, तम ये तीन भेद हैं जैसा कि पुराण और वेद कहते हैं।

नर राजस बिचार प्रभु केरो। इनि महँ त्रैगुन कर सच घेरो॥
जो प्रभु भगति करहिं निष्कामा। तेइ पुरुष सच सतगुनि नामा॥

इनमें मनुष्य विश्वरूप भगवान के राजस विचार हैं, इन [मनुष्यरूपी विचारों] में भी तीनों गुणों का घेरा (प्रभुत्व) है। सच में परम ब्रह्म की निष्काम भक्ति करने वाले पुरुष सतोगुणी नाम से कहे जाते हैं।

स्वर्ग चहत उन्ह राजस जानहु। सबकर अहित चहत तम मानहु॥
अर्जुन सत बिचार हरि केरे। कौरव जन तम अहहिं घनेरे॥

जो स्वर्ग चाहते हैं उनको राजस पुरुष जान लें और जो सबका अहित चाहते हैं उनको तामस पुरुष मान लें। अतः महात्मा अर्जुन विश्वरूप भगवान के सात्त्विक विचार हैं और समस्त कौरव अति तामस विचार हैं।

दोहा— भीष्म द्रोन कृप राजस जग प्रभु केरि बिचार।
यासों गहि हरि पार्थ सत इन्ह सब कहँ चह मार॥ ६॥

उसी प्रकार भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कृपाचार्य विश्वरूप भगवान के राजस विचार हैं। इसलिए भगवान अब अर्जुनरूपी सतोगुणी विचार को धारण कर इन [समस्त विचारों] को मार देना चाहते हैं।

चौपाई— भारत सों माँगहिं प्रभु तबहीं। मन मति चित्त पूर्ब के सबहीं॥
बिस्वरूप प्रभु कहँ मन जोई। मानत हुतो जगत जनु सोई॥

तभी तो भगवान अर्जुन से पूर्व के मन, बुद्धि, चित्त- इन सभी को माँग रहे हैं; क्योंकि जो मन विश्वरूप भगवान को जगतरूप मान रहा था उसे ही-

त्रयगुन रूप मनुज जो अहहीं। जो प्रभु कर बिचार त्रय कहहीं॥
तिन्हहिं बुद्धि गहि अति जड़ताई। मानति हुति सच स्वजन सहाई॥

तथा जो तीनों गुणों के अनुरूप मनुष्य हैं जो विश्वरूप भगवान के तीन विचार कहे गये हैं, उन्हीं विचारों को जो बुद्धि अत्यन्त जड़ता को स्वीकार कर यथार्थतः अपना स्वजन एवं सहायक मान रही थी-

तिन्हि मन मतिहिं दयालुहिं देई। महाबाहु बिभु मन मति लेई॥
पुनि हर्षित गांडीव उठाई। दैं रज तमहिं बिचार नसाई॥

उन्हीं मन-बुद्धि को भगवान को समर्पित करके महात्मा अर्जुन ब्रह्म की बुद्धि एवं मन ले लेंगे फिर गाण्डीव उठाकर प्रसन्नता के साथ राजस और तामस विचारों का दमन कर देंगे।

पुनि अर्जुन नामक तन त्यागी। साक्षी बिमल रूप अनुरागी॥
लहहिं परमपद जो जीवन धन। यहइ प्रान सच यहइ बुद्धि मन॥

पुनः अर्जुन नामक शरीर को त्यागकर, निर्मल साक्षी रूप में आसक्त हो, परमपद को प्राप्त कर लेंगे, जो यथार्थ में जीवन का सर्वोच्च धन (ऐश्वर्य), प्राण, मन एवं बुद्धि है।

कह्यो जाय साधक सों योई। आय द्वैत चिंतन जब कोई॥
ताहि कलपना माया की गुनि। सत बिचार सों मारैं धुनि धुनि॥

साधकों से भी यही कहा जाता है कि जब भी हृदय में कोई द्वैत चिन्तन उठता है तो उसे माया की कल्पना समझकर सद्विचारों से अच्छी प्रकार नष्ट कर दें।

दोहा— बिस्वरूप प्रभु सम्मुखहिं सहजहिं अहो लखाय।
तब अपुनो पर हृदय महँ कैसे आइ दिखाय॥ ७॥

अहो! विश्वरूप भगवान सहज ही सामने प्रकट दीख रहे हैं तब हृदय में अपने और पराये की भावना आकर कैसे प्रतीत हो सकती है!

चौपाई— प्रथम साधना कर यहि घेरो। जाहि याहि महँ होय बसेरो॥
सच तेहि माया मारि न पावे। कारन सो तहँ प्रबिसि न जावे॥

यही साधना का प्रथम घेरा है। इसमें जिसका भी वास हो जाय तो यह सच है कि उसे माया मार नहीं सकती; क्योंकि उस घेरे में वह प्रवेश ही नहीं कर सकती।

लखन जितेंद्रिय घेरा कीन्हीं। माता सीय लाँघि तेहि दीन्हीं॥
तबहिं उठाइ गयो लै रावन। जीवन तिन्हहिं भयो दुख दावन॥

[जैसा कि] जितेन्द्रिय लक्ष्मण ने भी ऐसा ही घेरा बनाया था किन्तु माँ जानकी ने उसे लाँघ दिया। तभी रावण उन्हें लेकर चला गया; जिससे उनका जीवन अति दुखद दावानल बन गया था।

यहुँ घेरहिं पार्थहिं हरिराई। निज प्रभुता की देइ दुहाई॥
तउ हरि बच सुनि ते हरषाहीं। किंतु न बदहिं गुनहिं मन माहीं॥

यहाँ भी भगवान नारायण अपनी प्रभुता की दुहाई देकर महात्मा अर्जुन को घेरने लगे हैं तो भी प्रभु के वचनामृत सुनकर भक्त अर्जुन प्रसन्न तो हो रहे हैं किन्तु बोल नहीं रहे हैं, अपितु मन ही मन विचार कर रहे हैं।

पर बिचार कर अवसर नाहीं। चह प्रभु धरम धरहिं मन माहीं॥
प्रभु पथ बहुत लक्ष्य पर एको। बिरले पथिक न बनहिं अनेको॥

जबकि यह समय ऐसा विचार करने का नहीं है क्योंकि भगवान यह चाहते हैं कि ये अपने मन में धर्म को धारण करें। ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग बहुत हैं किन्तु लक्ष्य एक ही है पर कोई विरला ही इस मार्ग का पथिक होता है, बहुत से लोग नहीं।

दोहा— हरि घेरौ महँ आय जो हृदय न होय हरासु।
सोइ लक्ष्य अति सीघ्रहीं पाय ब्रह्म जिज्ञासु॥ ८॥

यदि वह भगवान के घेरे में आ जाय और हृदय में असन्तोष न हो तब वही आत्मजिज्ञासु अतिशीघ्र उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

चौपाई— लखि कौन्तेय चुप्पि हरिराई। घेरौ अपर देत हरषाई॥
जद्यपि जग मम रूप कहावे। एहि महँ मन लगाइ नहिं जावे॥

भगवान नारायण भक्त अर्जुन के मौन को देखकर प्रसन्नतापूर्वक दूसरा घेरा बनाने लगे। [हे प्रिय!] यद्यपि यह जगत मेरा ही रूप है, यदि उसमें तुम अपने मन को लगा नहीं सकते–

तउ कोउ बात न चिंता केरी। चलु अभ्यासयोग कहँ हेरी॥
तासोइ बिस्वरूप पावन की। इच्छा करु मम सँग धावन की॥

तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं है। तुम अभ्यासयोग को भलीभाँति समझकर चलो, उसी के द्वारा मुझ विश्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा करो और मेरे [व्यवहार के] साथ चलने का प्रयत्न करो।

महाराज लख गुडाकेस गति। यहु घेरो न सुहायो तिन्ह मति॥
तबहिं बिहँसि उर कह जगनाथा। कोउ घेरउ लखि नावइ माथा॥

महाराज अर्जुन की स्थिति को देख रहा है कि उनकी बुद्धि को भगवान का यह घेरा भी अच्छा नहीं लगा। तभी

हृदय में हँसते हुए जगत के स्वामी मन ही मन कहने लगे कि [कोई बात नहीं,] कोई तो घेरा अच्छा लगेगा ही जिसे स्वीकार करके समर्पण करेगा!

कौरव सुतन्हि न भावइ घेरो। ते बिषई अति माया चेरो॥
असुर प्रकृति नर जे जग माहीं। घेरौ तिन्हहिं न कोउ सुहाहीं॥

हाँ, [यह बात अवश्य है कि] कौरव पुत्रों को यह मर्यादा का घेरा अच्छा नहीं लगेगा क्योंकि वे अत्यन्त विषयी और माया के दास हैं। इसी प्रकार जगत में जो आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य हैं, उन्हें भी कोई घेरा (मर्यादा का बन्धन) अच्छा नहीं लगता।

सोचहिं सिसु पसु हित पथ होई। नहिं तिन्ह हित निसि तम जग जोई॥
कायर सास्त्र दुहाई देइहिं। चलहिं ताहि मग तेइ गुरु सेइहिं॥

वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य सोचते हैं कि पशुओं और शिशुओं की बुद्धि वालों के लिए ही सब रास्ते हैं, उनके लिए नहीं जो मोहरूपी रात्रि से जाग गये हैं। [वे कहते हैं कि] कायर ही शास्त्र की दुहाई देकर उसके बताये मार्ग पर चलते हैं और वे ही गुरु की सेवा करते हैं।

दोहा— जनम जनम कर तात तुम्ह मेरो चेरो आहिं।
कोउ न कोउ मग गहहु प्रिय मम प्रतीति मन माँहिं॥ ९॥

किन्तु हे पार्थ! तुम तो मेरे जन्म-जन्म के सेवक हो, इसलिए मुझे मन में विश्वास है कि कोई न कोई रास्ता अवश्य निकलेगा जिसे तुम स्वीकार कर लोगे।

चौपाई— अस बिचारि कह दीनदयाला। तात तुम्हरि सच भुजा बिसाला॥
पर अभ्यासयोग महँ भाई। यदि तुम्हरो कछु नाहिं बसाई॥

ऐसा सोचकर दीनों पर दया करने वाले भगवान ने कहा- हे तात! तुम सच में अत्यन्त सामर्थ्यवान हो तो भी यदि अभ्यासयोग में तुम्हारा वश न चले-

पुनि मम हितहि करहु सब कर्मा। याहि समय तुम्हरो यहि धर्मा॥
यासेउँ सुद्ध होय उर तेरो। बहुरि ज्ञान महँ होय बसेरो॥

तो मेरी प्रसन्नता के लिए ही सभी कर्मों को करो। इस समय तुम्हारे लिए यही धर्म है। इससे भी तुम्हारा चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जायेगा और फिर ज्ञानयोग में वास हो जायेगा।

अस करि परमसिद्धि तुम्ह पावहु। गहि हिय मोहिं सुचापु उठावहु॥
तउ नहिं जूँ रेंग्यो उन्ह माथैं। आये नहिं अबहूँ हरि हाथैं॥

ऐसा करके तुम परम सिद्धि प्राप्त कर लोगे, अत: अपने हृदय में मुझे बिठाकर गाण्डीव उठा लो। भगवान के ऐसा कहने पर भी उनपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा और अभी भी वे भगवान के हाथ नहीं आये।

महाराज कह ऐसो स्वामी। मिलइ कहाँ जो अंतरजामी॥
जनु कोउ जनक सुतहिं समुझावत। पर अस हठि सो हाथ न आवत॥

[अहो!] महाराज कह रहा है कि ऐसा स्वामी कहाँ मिलेगा जो हृदय की बात को जानने वाला हो। मानो कोई पिता अपने पुत्र को समझा रहा हो किन्तु वह ऐसा हठी है कि हाथ नहीं आ रहा हो।

तब असमर्थ देत जो माँगत। अरु सनेह बस ता सँग लागत॥

तब वह विवश पिता उस पुत्र को जो माँगता है वही दे देता है और मोह के वशीभूत हुआ उसी के साथ हो जाता है।

दोहा— जस धृतराष्ट्रहु मोहबस भै दुर्योधन साथ।
भक्ति ज्ञान बिनु मातु पितु जगत धुनावत माथ॥ १०॥

जैसा कि राजा धृतराष्ट्र ने भी मोह के वशीभूत होकर दुर्योधन का साथ दिया, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान से रहित माता-पिता जगत में अपना सिर पिटा लेते हैं।

चौपाई— प्रभुहु मनावहिं वैसेहि भाई। पर अर्जुन हठ इहाँ नसाई॥
अति समरथ हरि उर नहिं ममता। उन महँ तौ बस समता समता॥

हे भाइयो! भगवान भी वैसे ही मना रहे हैं किन्तु यहाँ वैसा नहीं होगा बल्कि अर्जुन का हठ यहाँ समाप्त हो जायेगा। भगवान अत्यन्त सामर्थ्यवान हैं, उनके हृदय में ममता नहीं है अपितु उनमें एकमात्र समता ही समता है।

करि संकल्प हृदय तम नासहिं। संत बेद मत सों अस भासहिं॥
करहिं भगत अर्जुन सँग सोई। ममता मोह निबारहिं जोई॥

वे संकल्प करके हृदय के मोह का नाश कर देते हैं, ऐसा सन्त एवं वेदों के सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। वैसा ही अपने भक्त अर्जुन के साथ भी करेंगे। इस प्रकार उनके सम्पूर्ण ममता-मोह का नाश कर देंगे।

प्रभु सच प्रनतपाल कहलावहिं। यासें कबहुँ न भगत नसावहिं॥
चौथो घेरो दैं हरषाई। ध्यान देहु साधक समुदाई॥

यह सच है कि भगवान शरणागत रक्षक कहे जाते हैं, इसीलिए उनके भक्तों का कभी नाश नहीं होता। अत: वे प्रसन्न होकर चौथा घेरा दे रहे हैं, जिसपर साधकगण ध्यान दें-

हे अर्जुन तुम्ह मोरेहुँ लाने। कर्म न करि सक जो अस माने॥

हे अर्जुन! तुम मेरे लिए कर्म नहीं कर सकते, यदि ऐसा मानते हो-

दोहा— तउ कोउ बात न पार्थ प्रिय मन मलीन करु नाँइ।
मन करि बस तजि करमफल कर्मयोग गहु भाइ॥ ११॥

तो भी हे प्रिय! मैं सच कह रहा हूँ कि कोई बात नहीं है, मन को मलिन न करो। हाँ, अपने मन को वश में करके कर्मों के फल को त्यागकर प्रसन्नतापूर्वक कर्मयोग ग्रहण करो।

चौपाई— वाकेहिं आश्रित करु सुभ कर्मा। कबहुँ कहावत असुभहु धर्मा॥
एहि बिधि करहु असुभ सुभ करमा। अर्पहु मोहिं यहइ सच धरमा॥

उसी के परायण होकर शुभ कर्मों का अनुष्ठान करो और कभी-कभी अशुभ कर्म भी धर्म कहा जाता है उसे भी करो। इस प्रकार उन शुभ और अशुभ कर्मों को करके मुझे समर्पित करो, यही यथार्थत: धर्म है।

जगत पिता की लखि चतुराई। गुडाकेस सों गयो हँसाई॥
हरिहु देखि तिन्हकी मुसुकानी। हँसि दीन्हीं पुनि पुनि उर जानी॥

तब जगत के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण की महति चतुरता को देखकर महात्मा अर्जुन को हँसी आ गयी। भगवान भी उनके हृदय की बात जानकर और उनकी हँसी देखकर बार-बार मुस्कुराने लगे।

पार्थ हँसहिं एहि कारन भाई। हरि घेरौ तौ चारि लखाई॥
पर उनमहँ अस एकउ नाहीं। जेहि महँ बसि नहिं जुद्ध कराहीं॥

हे सज्जनो! महात्मा अर्जुन की हँसी का कारण यह है कि [यद्यपि] भगवान ने तो चार घेरे दिखाये, परन्तु उनमें से एक भी घेरा ऐसा नहीं है जिसमें स्थित होकर युद्ध न करना पड़े।

यहि अर्जुन उर लखि जगनाथा। मुसुकाये अति उन्हके साथा॥
हरि उर कहहिं साथ नहिं छोड़उँ। महाग्रंथि माया की तोड़उँ॥

महात्मा अर्जुन के हृदय में यही भाव देखकर भगवान भी उनके साथ कुछ देर तक मुस्कुराते रहे। भगवान हृदय में कह रहे हैं कि मैं तुम्हारा साथ छोड़ने वाला नहीं हूँ, बल्कि माया की महाग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करके रहूँगा।

दोहा— महराजहु बिहँसत हृदय चौथि घिराई देखि।
भे कछु बर्षहिं सो लख्यो बालक भगत बिसेषि॥ १२॥

चौथे घेरे (साधना) को देखकर महाराज भी हृदय में मुस्कुरा रहा है, क्योंकि उसने भी कुछ वर्ष पूर्व एक भक्त बालक को देखा था, जो कुछ विशेष ही था।

चौपाई— गुरु न कियो न सास्त्र पढ़ भाई। करत भगति पर अति हरषाई॥
मातु पिता बिद्यागुरु सेवे। बर बृद्धन्हि आदर अति देवे॥

हे सज्जनो! यद्यपि अभी उसके पास न सद्गुरु थे और न उसने शास्त्रों का ही अध्ययन किया था किन्तु वह भगवान की भक्ति अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक करता था। माता-पिता एवं भौतिक विद्या देने वाले गुरुजनों की भी सेवा

करता था और श्रेष्ठ वृद्धजनों का भी अत्यधिक आदर-सम्मान करता था।

पर जप तप कर मनहिं छुपाई। करमकांड कोउ नाहिं लखाई॥
मौन रहत पर जब कोउ आवत। तब प्रसन्न मन हरिगुन गावत॥

किन्तु वह जप-तप को मन में छुपाकर करता था, बाहर में कोई भी कर्मकाण्ड (पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन आदि) दिखाई नहीं पड़ता था। वह प्राय: मौन रहता था और जब कोई उसके पास आता तो वह प्रसन्न मन से [एकमात्र] भगवान का ही गुणानुवाद करता था।

पिता सोच साधू नहिं होवे। ऐसो करि जीवन नहिं खोवे॥
अति सतायँ पर सो नहिं मानइ। दुख सुख तौ कर्मन्ह फल जानइ॥

पिता सोचने लगे कि यह साधु न हो जाय और ऐसा करके अपना जीवन न खो बैठे। अत: वे उसे अत्यन्त दु:ख देने लगे, परन्तु वह मानता ही नहीं था तथा सुख-दु:ख को कर्मों का फल जानता था।

कीधौं पाये पितु माता सों। बरु हित मित बैरी भ्राता सों॥
तीनि साल बीत्यो अस भाई। पितु सोच्यो एहि करउँ सगाई॥

चाहे वह [सुख-दु:ख] माता-पिता से प्राप्त हो, चाहे हित-मित्र, वैरी अथवा अपने भाई से प्राप्त हो। इस प्रकार हे भाइयो! तीन साल बीत गये, तब पिता ने सोचा कि इसका विवाह कर देता हूँ।

यह भयो बरष चतुर्दस केरो। यदि बिबाह कर डारउँ फेरो॥

यह चौदह वर्ष का तो हो ही गया, यदि विवाह का फेरा डाल दूँ -

दोहा— तब देखेंगो भजन कस होवेगो एहि पाहिं।
पर बिबाह नहिं कर्‌यो जब तब ते अति अकुलाहिं॥ १३॥

तब देखूँगा कि इससे भजन कैसे होता है। परन्तु जब उसने विवाह नहीं किया तब वे (उसके पिता) अत्यन्त व्याकुल हो गये।

चौपाई— जदपि करत बालक सुभ कर्महिं। सब फल तजि चाहत बस ब्रह्महिं॥
पर इक करम करत सुभ साथहिं। कछु पितु अग्या धरइ न माथहिं॥

यद्यपि भक्त बालक शुभ कर्मों को ही करता था तथा समस्त कर्मफलों को त्यागकर [फल के रूप में] एकमात्र ब्रह्म को ही चाहता था, किन्तु शुभ कर्मों के साथ-साथ एक काम यह भी करता था कि पिता की कुछ आज्ञाओं का पालन नहीं करता था।

सुभ आयसु मानत हरषाई। किंतु असुभ सो देत बिहाई॥
प्रभु हित करत भलेहिं मनमानी। कर्मयोग पुनि जाइ बखानी॥

वह शुभ आज्ञा को तो प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता था किन्तु अशुभ आज्ञा अस्वीकार कर देता था। ऐसा वह भगवान के लिए करता था, भले ही वह अपने मन से करता था, फिर भी वह कर्मयोग तो कहा ही जायेगा।

सोइ करत सो सदगुरु पायो। तब यति बनि उन्ह सरनें धायो॥
कृपा भई उन्हकी तेहि ऊपर। जासे पायो ब्रह्मज्ञान बर॥

वैसा ही करते हुए उसने परम पूज्य सद्‌गुरु को प्राप्त कर लिया और तब शीघ्रता से संन्यास लेकर उन्हीं की शरण में चला गया। कुछ काल के उपरान्त गुरुदेव भगवान की उस पर कृपा हुई, जिससे उसने श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया।

सोइ कह प्रभु अर्जुन सों भाई। मम सरने यदि होय न जाई॥
तौ आ कर्मयोग के सरने। वामहुँ यहइ परेगो करने॥

हे सज्जनो! वैसा ही भगवान यहाँ अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि मेरे शरणागत नहीं हुआ जाता तो कर्मयोग की शरण में आ जाओ किन्तु उसमें भी यही सब करना पड़ेगा।

दोहा— पर तीनउँ सों यह सुगम यामें कछु नहिं भार।
बिनु प्रयास भव सिंधु सों सीघ्रहिं जावे पार॥ १४॥

किन्तु [पूर्वोक्त] तीनों साधनाओं से यह सुगम है क्योंकि इसमें कुछ भार ही नहीं है। इससे बिना प्रयास के संसाररूपी सागर को शीघ्रातिशीघ्र पार किया जा सकता है।

चौपाई— महाराज इक मरम बतावत। प्रभु बानी सुनि उर जो आवत॥
प्रभु न इहाँ माँगत दस प्रतिसत। पार्थ जिवन चाहत सत प्रतिसत॥

महाराज यहाँ एक रहस्य बता रहा है जो भगवान की वाणी को सुनकर उसके हृदय में प्रकट हो रहा है। भगवान नारायण महात्मा अर्जुन से यहाँ दस प्रतिशत नहीं अपितु सौ प्रतिशत अर्थात् समस्त जीवन ही चाह रहे हैं।

तब कृपालु सत प्रतिसत आवें। तन मन बुधि उन्हकर बनि जावें॥
पुनि प्रभु महिमा फलन्ह त्याग के। गावत तिन्हसों बिनहिं राग के॥

उसके उपरान्त वे दयानिधान शत प्रतिशत उनके पास आकर, उनके शरीर, मन, बुद्धि [सब कुछ] बन जायेंगे। पुनः भगवान बिना ममता के उनको कर्मफलों के त्याग की महिमा सुना रहे हैं-

सच अभ्यासयोग बिनु जाने। निस्चित ज्ञानहिं श्रेष्ठ बखाने॥
वासेहुँ ध्यान श्रेष्ठ कहलावे। यदि सो चिन्तन सँग कियो जावे॥

हे पार्थ! अभ्यासयोग (अष्टांगयोग, ध्यानयोग, तपयोग आदि) के स्वरूप को जाने बिना [किये गये अभ्यास से] निश्चित ही ज्ञानयोग [स्वाध्याय, सत्संग, आत्मचिन्तन आदि] श्रेष्ठ कहा जाता है। उससे भी श्रेष्ठ [भगवत्स्वरूप का] ध्यान कहा जाता है, यदि वह चिन्तन के साथ किया जाय तो।

वासेहुँ कर्म फलन्ह कर त्यागा। कह्यो जाय बर लखहिं सुभागा॥
एहि बिधि कर्म फलन्हि तजि जोगी। होय जगत सों परम बियोगी॥

सौभाग्यशाली पुरुष जानते हैं कि कर्म फल का त्याग उससे भी श्रेष्ठ कहा जाता है। इस प्रकार वह योगी समस्त कर्मफलों को त्यागकर जगत से सर्वथा उदासीन हो जाता है।

छंद— हे पार्थ परम बियोगि होइ बर सांति पद सो पाय जू।
तुहुँ निज समुझि अस करम जोगी श्रेष्ठ धनुष उठाय जू॥
अध्यात्मपथ महँ असुभ फल ये स्वजन गुरुजन आइके।
बाधा बनहिं तुम्ह बधहु इनि कहँ मोर गुनगन गाइके॥

हे पार्थ! वह परम वियोगी होकर परम शान्तिमय पद प्राप्त कर लेता है। अतः तुम भी अपने आपको ऐसा कर्मयोगी समझकर अपने श्रेष्ठ धनुष को उठा लो और [तुम्हारे] अध्यात्ममार्ग में ये जो अशुभ-फल रूपी स्वजन-गुरुजन आकर बाधा बन गये हैं, इन्हें मेरे गुणसमूहों का गायन करते हुए मार डालो।

सोरठा— तउ नहिं चाँपु उठायँ अपलक दृग अवनिहिं लखैं।
तब प्रभु उर बिहसायँ देखि नमत सुर सिद्ध मुनि॥ १५॥

तो भी महात्मा अर्जुन ने धनुष नहीं उठाया और निर्निमेष दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखते रहे। तब जगत के स्वामी भगवान मन ही मन मुस्कुराने लगे, ऐसा देखकर देवता, सिद्ध और मुनिजन [उन्हें] प्रणाम कर रहे हैं।

नवाह्नपारायण, सातवाँ विश्राम

चौपाई— तब जो प्रथम बदे परमेसा। निर्गुन साधक मग बहु क्लेसा॥
अब तिन्ह क्लेस बतावन लागे। लखि सुर सिद्ध मुनिहु अनुरागे॥

उसके उपरान्त भगवान ने प्रथम चरण में जो ऐसा कहा था, कि निर्गुण निराकार की उपासना करने वाले साधकों के मार्ग में अत्यन्त क्लेश है, अब उन क्लेशों को बताने लगे। ऐसा देखकर देवता, सिद्ध एवं मुनिगण भी प्रेम में मग्न हो गये।

कह स्वामी सुनु पार्थ सुजाना। यति गुन ब्रत नहिं जाइ बखाना॥
तउ मैं कहउँ तोहिं प्रिय जानी। यति न चलइ कबहूँ मनमानी॥

प्रभु ने कहा- हे बुद्धिमान पार्थ! संन्यासियों के गुणों और व्रतों का वर्णन करते नहीं बनता, तो भी मैं तुम्हें अपना प्रिय जानकर कहता हूँ कि संन्यासी कभी भी मनमाना नहीं करता।

सपनेहुँ द्वेष न करत काहु सों। चीटिहुँ सों लै देवताहु सों॥
जद्यपि प्रथम सबहि तेहि कोसत। तउ नहिं मोसें कहि कछु रोषत॥

वह स्वप्न में भी चींटी से लेकर देवता तक किसी से द्वेष नहीं करता। यद्यपि प्रथमावस्था में सभी उसे दु:ख देते हैं तो भी वह दु:ख प्रकट करते हुए मुझसे कुछ नहीं कहता।

कर अभ्यास न हौं मैं देहा। यह तौ मायामय प्रभु गेहा॥

वह अभ्यास करता रहता है कि 'मैं यह शरीर नहीं हूँ, क्योंकि यह तो ब्रह्म का ही मायामय शरीर है,-

दोहा— जेहि अबलौं मैं रूप निज मान्यों नाहिं लजाउँ।
जदपि आज सम साक्षि अरु ब्यापक ब्रह्म लखाउँ॥ १६॥

जिसको मैं अब तक अपना स्वरूप मानता रहा, ऐसा करने में कभी लज्जा नहीं लगी जबकि आज मैं सर्वसाक्षी और सर्वव्यापक ब्रह्म दिखाई पड़ रहा हूँ।

चौपाई— सिद्ध होइ यदि कर ब्यवहारा। तब मैत्रीमय ताहि अचारा॥
कस न करै जब ब्रह्म जान सब। सबरें नातहिं दै बहाय तब॥

यदि वह सिद्ध होने के उपरान्त व्यवहार में उतरता है तो उसका आचरण मैत्रीपूर्ण होता है। जब वह सबको ब्रह्मरूप समझ रहा है तो ऐसा करे भी क्यों नहीं? अत: उस समय वह समस्त सम्बन्धों का परित्याग कर देता है।

करुणामय उर रहत सदाई। हरि भगतन्ह कर होतु सहाई॥
अज्ञानिन्ह सम दया न वामें। अरु उन्ह सम नहिं मैत्रिहु तामें॥

उसका हृदय सदा करुणा से परिपूर्ण रहता है, अत: प्रभु-भक्तों का सहायक हो जाता है। अज्ञानियों के समान उसमें दया नहीं रहती और न उनके समान उसमें मित्रता ही रहती है।

कारन प्रभु लखि निरहंकारी। होय जरइ ममता उर सारी॥
सुखहु न हृदय राग उपजावत। दुखहु द्वेष कबहूँ नहिं लावत॥

क्योंकि भगवान का दर्शन करने से वह अहंकाररहित हो जाता है और उस [के हृदय] की समस्त ममता जल जाती है। सुख उसके हृदय में राग नहीं प्रकट कर सकता और न दु:ख कभी द्वेष ही ला सकता है।

नित अपकारत जोउ ताहु पर। छमा करत जस सूर्य राहु पर॥
एहि कारन सो अतिप्रिय मोहीं। तात न कछु दुराउँ सच तोहीं॥

जो उसका नित्य अपकार करता है, उसको भी वह वैसे ही क्षमा करता है जैसे सूर्य राहु को क्षमा करते हैं। यही कारण है कि वह मुझे अति प्रिय है। हे तात! यह सच जानो कि मैं तुमसे कुछ गुप्त नहीं रख रहा हूँ।

दोहा— हानि लाभ बरु होय कछु हरि इच्छा कह सोय।
सदा रहत संतुष्ट अस नित अंतर्मुखि होय॥ १७॥

[इतना ही नहीं] भले ही हानि-लाभ कुछ भी हो जाय तो भी वह कहता है कि यह प्रभु इच्छा से ही हुआ है। इस प्रकार नित्य सन्तुष्ट रहता हुआ वह सदा अन्तर्मुख चित्त वाला हो जाता है।

चौपाई— अंतर्मुखी रहइ काहे नहिं। हरि स्वरूप दीखइ सर्बत्रहिं॥
कासों बदै हँसै काहे सों। यह सब होय कछुक चाहे सों॥

वह अन्तर्मुखी क्यों न रहे क्योंकि उसे तो [सभी रूपों में, सभी स्थान पर-] सर्वत्र ब्रह्म ही दिखायी पड़ता है। वह किससे बोले और किस कारण से हँसे, क्योंकि यह सब तो [किसी से] कुछ चाहने से ही होता है।

प्रकृति बिजेता समतावारो। दृढ़ निस्चय भयो प्रभु जग सारो॥
मो महँ मन मति अर्पित करई। यासें मोहिं परम प्रिय अहई॥

वह प्रकृति (प्रारब्ध) विजेता और समता वाला हो जाता है तथा उसे दृढ़निश्चय हो जाता है कि ब्रह्म ही समस्त जगतरूप है। इस प्रकार वह मुझमें ही मन-बुद्धि को अर्पण कर देता है, इसलिए वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है।

वासे नहिं उद्वेगत जगहूँ। सोउ न जग सों छुब्धत कबहूँ॥
हर्ष अमर्ष भयादिक हीना। मोहिं अतिसय प्रिय सो अति दीना॥

उससे जगत क्षुब्ध नहीं होता और वह स्वयं जगत से कभी क्षुब्ध नहीं होता; इस प्रकार जो हर्ष, ईर्ष्या और भय आदि से रहित है, वही सरलचित्त भक्त मुझे अतिशय प्रिय होता है।

कछु आस्चर्य न ताहि लखावे। यासें हर्ष हृदय कस आवे॥
ईर्ष्याहू बैरी प्रति जागे। जब लखाय धन जन महँ आगे॥

जगत में उसे कुछ भी आश्चर्य दिखायी नहीं पड़ता, अत: उसके हृदय में हर्ष किस प्रकार प्रकट हो! क्योंकि वैरी के प्रति ईर्ष्या तभी प्रकट होती है, जब यह दिखायी पड़ता है कि वह धन-जन में मुझसे आगे है-

दोहा— किंतु ताहि जब प्रभुहिं तजि कबहुँ न कोउ लखाय।
तब तेहि ईर्ष्या सर्पिणी डसै हृदय कस आय॥ १८॥

किन्तु उसको जब भगवान को छोड़कर कभी कोई दिखायी ही नहीं पड़ता, तब उसे ईर्ष्यारूपी सर्पिणी हृदय में आकर कैसे काट सकती है?

चौपाई— मरै जियै कै भाव नसायो। जहँ तहँ सत चित आनंद भायो॥
जब हरि बिनु कोउ नहिं उर वाके। काल करालहु भय कस झाँके॥

अरे! जब [उसके मन से] मरने-जीने का भाव नष्ट हो गया और जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) सच्चिदानन्द ही प्रतीत होने लगा, जब ब्रह्म के अतिरिक्त उसके हृदय में कोई और है ही नहीं तो भयंकर कालरूपी भय उसे कैसे देख सकता है?

उर न अपेक्षा कबहुँ काहु सों। जो बरु सेवे ताहि ताहु सों॥
भीतर बाहर सुद्धि गहे सो। अतिहिं दक्ष जग नाहिं बहे सो॥

उसके हृदय में कभी किसी से कोई अपेक्षा नहीं रहती, उससे भी नहीं, जो भले ही उसकी सेवा में हो। वह भीतर-बाहर से पवित्रता को धारण किये रहता है और अत्यन्त चतुर होता है, इसी से जगत [की मायामय धारा] में नहीं बहता।

अपुनो अरु हरि रूप न जबलौं। देखि लेत नहिं बोलत तबलौं॥
पक्षापक्ष रहित जग माहीं। रहत जगत चाहे बिकलाहीं॥

जब तक वह अपना और ब्रह्म का रूप देख नहीं लेता, तब तक [किसी से] नहीं बोलता तथा जगत में पक्ष-विपक्ष से रहित रहता है चाहे जगत विकल ही क्यों न होता रहे।

ब्यथा न कोउ मन माँहि समावे। बरु ता पहिं दुख बज्र गिरावे॥
कोउहु कर्म सकाम करे नहिं। यहि कारन प्रिय मोहिं धरा पहिं॥

कोई भी दु:ख उसके मन को स्पर्श नहीं कर सकता, भले ही उसपर दु:खों का पहाड़ ही क्यों न गिर पड़े। वह कभी कोई भी कर्म सकाम भाव से नहीं करता, यही कारण है कि इस पृथ्वी पर वह मुझे अतिशय प्रिय है।

दोहा— स्वर्गहु जावै नाहिं सो बरु इंद्रहु लै जायँ।
मोरे हित सुख तजत सब यासें सो अति भायँ॥ १९॥

यहाँ तक कि वह स्वर्ग भी नहीं जायेगा, भले ही उसे इन्द्र ही क्यों न ले जायँ। वह मेरे लिए ही समस्त सुखों का त्याग कर देता है इसी से मुझे अति प्रिय लगता है।

चौपाई— प्रिय कछु मिलै सो हर्षत नाहीं। अप्रिय महँ न द्वेष मन माहीं॥
प्रिय बियोग महँ सोक न करई। जो अप्राप्त न तेहि कहुँ चहई॥

किसी प्रिय के संयोग से वह हर्षित नहीं होता, न ही अप्रिय की प्राप्ति में खिन्न होता है। प्रिय के वियोग में कभी शोक नहीं करता तथा जो वस्तु प्राप्त नहीं है, उसकी कभी चाहना भी नहीं करता।

अस सुभ असुभ करम कर त्यागी। अति प्रिय भक्तिमान अनुरागी॥
ताकी चाह बनउँ मैं पारथ। यहि ताकर साँचो परमारथ॥

ऐसा जो शुभ और अशुभ कर्मों का त्यागी है, वह भक्तों में सिरमौर प्रेमी भक्त मुझे अतिशय प्रिय है। हे पार्थ! उसकी कामना मैं ही बन जाऊँ, यही उसका यथार्थ परमार्थ है।

नृप कह संजय समुझ्यों नाहीं। माधव ताहि चाह बनि जाहीं॥
राजन प्रभु समुझावे जाही। सबहिं रहस्य बुझावे ताही॥

[उधर] राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! मैं यह नहीं समझ पाया कि माधव उसकी इच्छा बन जायेंगे? [सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! भगवान जिसको समझाता है, सभी रहस्य उसी को समझ में आते हैं।

मोहिं दिखै बस भक्त चाह हरि। प्रभुहिं चाह भक्तन उधार करि॥
जबलौं जियैं चहैं जोइ जोई। देत रहउँ पितु सम सोइ सोई॥

मुझे यही दिखायी दे रहा है कि भक्त की कामना एकमात्र भगवान है और उस प्रभु की कामना है कि भक्तों का उद्धार करके जीवनपर्यन्त पिता के समान उसे जो-जो चाहिए वही-वही लाकर देता रहूँ।

सुनहु नृपति भगतन्ह गुनगाना। गावहिं पुनि प्रभु जो अनुपाना॥

हे राजन्! पुनः भगवान भक्तों का गुणगान कर रहे हैं आप सुनें, जो पथ्य ही है।

छंद— हे पार्थ सो सम मित्र महँ अरि मान अरु अपमान महँ।
सम सर्दि गर्मी सुख दुखहु महँ थल न कोउ आसक्त जहँ॥
निंदा स्तुती महँ सम रहै बाणी बिजेताहू अहै।
जिहिं भाँति राखै देह प्रभु तिहिं भाँति अति तुष्टत रहै॥

[इधर भगवान कह रहे हैं-] हे पार्थ! वह भक्त मित्र-शत्रु में, मान-अपमान में, सर्दी-गर्मी में और सुख-दुःख में समान भाव वाला रहता है तथा ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह आसक्त हो। [इतना ही नहीं] वह निन्दा-स्तुति में समान भाव वाला और वाणी विजेता भी होता है तथा भगवान उसके शरीर का जिस प्रकार निर्वाह करता है, उसमें ही वह अति सन्तुष्ट रहता है।

घर बार जाको नाहिं कोउ कहुँ खाय अरु कहुँ सोइ रहै।
बिखराइ केसन्हिं पहिरि कछु गहि अलख गति करि गुइ रहै॥
अध्यात्म महँ मति थिर अहै सो भक्त मोहिं अतिप्रिय कहौं।
हे तात तो सम नाहिं उनसों सपन महँ कछुवै चहौं॥

जिसका कोई घर-बार नहीं है, चाहे जहाँ जो कुछ मिल जाये उसे खाकर सो जाता है, केशों को बिखेर, [फटा-चिथड़ा] कुछ भी पहनकर, जो स्वरूप पहचानने में न आवे उसी को धारण कर छिपा रहता है। जो अध्यात्म के विषय में स्थिर बुद्धि वाला है, वह भक्त मुझे अतिशय प्रिय है, ऐसा मैं सत्य कहता हूँ। इसलिए हे पार्थ! तुम्हारे ही समान मैं स्वप्न में भी उससे कुछ नहीं चाहता।

दोहा— हे प्रिय अमृत धर्म यहि मम सरणे जो आय।
श्रद्धायुत एहि गहि चलै सोइ अतिसय मोहिं भाय॥ २०॥

हे प्रिय! यही अमृतमय धर्म है। अतः जो भक्त मेरी शरण में आकर श्रद्धा के साथ इसे धारण कर चलता है, वही मुझे अतिशय प्रिय लगता है।

चौपाई— महाराज संतन्ह सों कहई। सुनहु कथा इक तम अपहरई॥
एकबार योई भगवाना। कृष्ण नाम सों जिन्ह जग जाना॥

महाराज अब सन्तों से कह रहा है कि आप सब एक कथा सुनें जो अज्ञान का नाश करने वाली है। एक बार इन्हीं भगवान ने जिन्हें जगत में श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द नाम से जाना जाता है-

अपनोइ भगत परम प्रिय जानी। उद्धव सों इक कथा बखानी॥
जिहि महँ दीखै अमृत धरमा। जेहि सुनि जाइ जगत कर भरमा॥

उद्धव को अपना परम प्रिय भक्त जानकर, उनसे एक कथा कही थी, जिसमें ये सभी अमृतधर्म दिखायी पड़ जायेंगे, जिसको सुनकर जगत का भ्रम जाता रहेगा।

कहहिं हरी जब दुष्ट सतावहिं। तउ न भगत तिन्ह अनभल चाहहिं॥
बरु त्रासहिं उपहास करहिं अति। मारहिं बाँधि करहिं बहु दुर्गति॥

भगवान ने कहा – जब भक्त को दुष्टजन सताते हैं तो भी वे उनका अहित नहीं करते; भले ही वे अत्यन्त दु:ख दें, उपहास करें, मारें, अथवा बाँधकर अत्यन्त दुर्गति करें।

हरि क्रीड़ा यह ताहि लखाये। अस आतमनिष्ठा नहिं जाये॥
आतम दृष्टिहि इहँ उद्धारे। अपर दृष्टि जुग जुग महँ मारे॥

उसे यह सब भगवान की लीला दिखायी पड़ती है, इस प्रकार उसकी आत्मनिष्ठा नहीं जाती। ऐसे समय में आत्मदृष्टि ही अपना उद्धार करती है और दूसरी दृष्टि तो युग-युग में दु:ख देती रहती है।

दोहा— गहि यासेइ बिबेकमति आत्म दृष्टि उर धारि।
उद्धारै निज सों निजहिं अपर न कोउ उपचारि॥ २१॥

इसलिए विवेक-बुद्धि द्वारा हृदय में आत्मदृष्टि धारण कर अपने से ही अपना उद्धार करे, [उस समय] दूसरा कोई उपचार नहीं है।

चौपाई— उद्धव सुनि अस अचरज बानी। कहन लगे प्रभु को अस ज्ञानी॥
जे बिनु कारन जायँ सतायें। तउ न बदहिं कछु मौन लखायें॥

भक्त उद्धव ऐसी आश्चर्ययुक्त वाणी को सुनकर कहने लगे, हे प्रभो! ऐसे कौन-से ज्ञानी सन्त हो सकते हैं, जो बिना कारण के सताये जायँ, फिर भी कुछ बोले नहीं अपितु मौन ही रहें?

तुम्हरेइ भगत होयँ अस स्वामी। जिन्हि जानउ तुम्ह अंतर्यामी॥
पुनि हँसि कह सचराचर नाथा। एहि महँ हौं मैं तुम्हरें साथा॥

हे अन्तर्यामी! हे नाथ! ऐसे तो आपके ही भक्त हो सकते हैं जिन्हें आप ही जानते हैं। तब चराचर जगत के स्वामी भगवान ने हँसते हुए कहा कि इस विषय में मैं तुम्हारे साथ हूँ।

मर्म भेदि सर बहु सहि जावें। ब्यंग बाण पर नाहिं सहावें॥
अतिहिं मर्मभेदी कटु बानी। अति गहरे उर जाइ समानी॥

[क्योंकि] भले ही मर्मस्थल को भेदने वाले बहुत से बाण सहन कर लिये जायँ किन्तु व्यंग्य बाण नहीं सहे जा सकते; क्योंकि कटु वाणी अति मर्मभेदी होती है जो हृदय की गहराई में जाकर धँस जाती है।

नित कसकति अस हिय महँ जाई। बिसरति नहिं सपनेहु महँ भाई॥
बिरले संत अहहिं जग माहीं। सब त्रासहिं पर नहिं बिकलाहीं॥

हे प्रिय! इस प्रकार हृदय में धसकर वह नित्य कष्ट देती रहती है और सपने में भी नहीं भूलती। हाँ, जगत में बिरले ही सन्त होते हैं जिन्हें सभी दु:ख देते हैं फिर भी विकल नहीं होते।

दोहा— तबहीं तौ मोहिं परम प्रिय लागहिं तेई भक्त।
यासेइ रूप सगुन गहि उनमेइ महुँ अनुरक्त॥ २२॥

तभी तो वे भक्त मुझे परम प्रिय लगते हैं! यही कारण है कि सगुण रूप धारण करके मैं उनमें ही अनुरक्त रहता हूँ।

चौपाई— उद्धव यति जीवन अति क्लेसित। कहउँ कथा एक अस उपदेसित॥
बिप्र एक उज्जयिनी माहीं। बसत न कछुक धरम जेहि पाहीं॥

हे उद्धव! संन्यासी का जीवन प्रथम चरण में अति दु:खमय होता है। इसी प्रकार की एक उपदेशात्मक कथा कह रहा हूँ। उज्जयिनी (उज्जैन) में एक ब्राह्मण वास करता था जिसके पास कुछ भी धर्म नहीं था।

जितनो धन उतनोइ कृपनाई। काम क्रोध उर रहत सदाई॥
रोम रोम महँ क्रोध बसावे। बातनि बातनि माहिं लखावे॥

उसके पास जितना धन था उतनी ही कृपणता थी और हृदय में काम-क्रोध सदा वास करते थे। उसके रोम-रोम में क्रोध का वास था, जो बातों-बातों में दिखायी पड़ता था।

मधुर बचन नहिं कबहुँ उचारे। अतिथि बंधु सुत तिय दुतकारे॥
प्रिय नहिं सोचहिं कोउ ता लाने। सब वासें इतनो अकुलाने॥

वह कभी भी मधुर भाषा नहीं बोलता था और अतिथि, भाई, पुत्र एवं स्त्री को दुत्कारता ही रहता था। उससे सब इतने व्याकुल हो गये थे कि कोई भी उसका हित नहीं सोचता था।

धन कमाय पर धर्म चरै नहिं। सपनेहुँ नाहिं सो दान करै कहिं॥
पंच महायज्ञहु नहिं करई। अपनोइ उदर मात्र सो भरई॥

वह धन तो बहुत कमाता था किन्तु धर्माचरण नहीं करता था तथा स्वप्न में भी कहीं दान नहीं देता था। वह [गृहस्थाश्रमोचित] पंचमहायज्ञ भी नहीं करता था, एकमात्र अपनी उदरपूर्ति ही करता था।

दोहा— कुपित भये अस देखि सुर पुनि पुनि लखि अपमान।
बहुत नरन्हि हिय प्रेरि तेहि काटन लागे कान॥ २३॥

इस प्रकार अपमान पर अपमान देख देवतागण दु:खी हो गये और बहुतों के मन में प्रेरणा करके उसकी प्रतिष्ठा का नाश करने लगे।

चौपाई— प्रेरि काहु सो चोरि कराये। कछुक कुटुम्बिनि सों छिनवाये॥
कछु धन भयो अनल कर ग्रासा। राजदंड सों कछु भयो नासा॥

उन्होंने किसी को प्रेरित करके चोरी करवा दी, कुछ धन कुटुम्बी जनों से छिनवा दिया, कुछ धन आग लगने से जल गया एवं कुछ [तो राजा के द्वारा] राजदण्ड से नष्ट हो गया।

गइ सम्पति सब मूहँ फिराये। तब ताको कछु कहत न आये॥
चिंता प्रबल घिरी उर माहीं। नित मन महँ सो रुदन कराहीं॥

इस प्रकार जब सारी सम्पत्ति चली गयी तब सबने उससे मुँह फेर लिया, तब उससे कुछ कहते नहीं बनता था। प्रबल चिन्ताओं ने हृदय को घेर लिया जिससे वह नित्यप्रति मन में रोता रहता था।

सबकर लखि बिपरीत अचारा। उर प्रगट्यो बैराग्य अपारा॥
कहन लग्यो सो पुनि मन ही मन। अहो सर्ब दुख कारन यह धन॥

इस प्रकार सभी के द्वारा विपरीत व्यवहार को देखकर उसके हृदय में प्रबल वैराग्य प्रकट हो गया, फिर वह मन ही मन कहने लगा- अहो! समस्त दु:खों का कारण तो यह धन ही है।

जेहि काजें जीवनहिं गँवायों। अंत समय तेहि सों दुख पायों॥
वानेइ मोरि बुद्धि हरि लीन्हीं। जासे कोउ न आदर दीन्हीं॥

जिसके लिए मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन गँवा दिया, अन्तिम समय में मैं उसी से दु:ख पा रहा हूँ। उसी ने मेरी बुद्धि का अपहरण कर लिया था जिससे कोई भी आदर-सम्मान नहीं दे रहा है।

दोहा— कुष्ठ रोग जिमि अल्पहू तन सुंदरता खाय।
तिमि उर थोरेहु लोभ सों नर जीवनहिं नसाय॥ २४॥

अहो! जैसे थोड़ा भी कुष्ठरोग शरीर के सम्पूर्ण सौन्दर्य को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हृदय के थोड़े भी लोभ से मनुष्य का जीवन नष्ट हो जाता है।

चौपाई— अस सम्पत्ति उपार्जन माहीं। ताहि बहुरि उत्कर्ष कराहीं॥
पुनि तेहि ब्यय अरु रक्षण माहीं। बहु श्रम चिंता भय भ्रम आहीं॥

इस प्रकार सम्पत्ति के उपार्जन में पुन: उसकी वृद्धि करने में, रक्षा करने में और पुन: व्यय करने में सर्वत्र श्रम, भय, भ्रम और चिन्ता ही हाथ लगती है।

काम क्रोध मद गर्व झुठाई। दम्भहु भेद बुद्धि हिंसाई॥
अबिस्वास धन अपहरताई। लम्पटता द्युत सुरा सुहाई॥

काम, क्रोध, मद, गर्व, झूठ, दम्भ, भेद बुद्धि, हिंसा, अविश्वास, धन की चोरी, लम्पटता, जूआ और मद्यपान में प्रीति-

मन महँ बैर चतुर्दस दोषा। धन सों आवत नर उर कोषा॥
मातु पिता तिय सुत अरु भ्रातहु। सगे हीत मित जो जग नातहु॥

तथा मन में वैर- ये चौदह प्रकार के दोष मनुष्य के हृदयरूपी गुहा में धन के कारण ही आते हैं। माता-पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, सगे-सम्बन्धी, हित-मित्र तथा जो भी जगत में नाते हैं-

एक सूत महँ बँधे प्रेम सों। रहत परस्पर योगक्षेम सों॥
होत कबहुँ एहि कारन हाला। सबरें होइ परस्पर काला॥

वे सभी प्रेम के द्वारा एक ही सूत्र में बँधे रहते हैं तथा परस्पर योगक्षेम को पूरा करते हुए [हिल-मिलकर] रहते हैं, किन्तु इसी धन के कारण कभी ऐसी स्थिति बन जाती है कि सभी एक-दूसरे के काल बनकर-

दोहा— सर्बनास करि डारहीं कीधौं प्रानहिं लेहिं।
यदि यह सब नहिं करहिं तो दुख पर दुख नित देहिं॥ २५॥

सर्वनाश कर डालते हैं अथवा प्राण ही ले लेते हैं। [राजदण्ड आदि के भय से] यदि यह सब न भी करें तो सदा दु:ख पर दु:ख ही देते रहते हैं।

चौपाई— पायों सुर बंदित नर देहा। द्वार स्वर्ग मोक्षहु कर एहा॥
याहि पाइ मो सम को मूढ़ा। धन हित त्यागइ ब्रह्म निगूढ़ा॥

मैंने देवताओं द्वारा वन्दित श्रेष्ठ मानव शरीर पाया है जो स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है। फिर मेरे समान ऐसा मूर्ख कौन होगा, जो इसे प्राप्त कर धन के लिए सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को भूल जाय।

कियों यक्ष सों धन रखवारी। लोभ भयो मूढ़न्ह सम भारी॥
गयो सकल जीवन एहि माहीं। आइ जरा तन काँपत आहीं॥

अरे! मैं तो यक्ष के समान एकमात्र धन की ही रक्षा करता रहा जिससे मूर्खों के समान लोभ बढ़ गया और इसी में समस्त जीवन व्यतीत हो गया। अब तो वृद्धावस्था आ गयी जिससे शरीर सदा काँपता रहता है।

किंतु बच्यो जो जीवन सेषा। तेहि महँ सुमिरउँ प्रभु अवसेषा॥
बात न कछु चिंता की अबहूँ। हरिहि जगावहिं जग महँ सबहूँ॥

किन्तु जो शेष जीवन बचा हुआ है उसमें सबके अवशेष ब्रह्म का ही ध्यान करूँगा। अभी भी कोई चिन्ता की बात नहीं है क्योंकि भगवान ही जगत में सबको जगाते हैं।

जबहिं जगाए तबहिं सबेरो। जान्यों नवो जनम भयो मेरो॥
नृप खट्वांग घरी दुइ पाये। तेहि महँ यति बनि हरि पहिं धाये॥

अत: उन्होंने जभी जगाया तभी मेरे लिए सबेरा हुआ। अब मैं जान गया कि मेरा नया जन्म हुआ है। अरे! राजा खट्वाङ्ग को तो [वैराग्यपूर्ण] दो घड़ी ही प्राप्त हुई और उन्होंने उसी में संन्यासी बनकर भगवत् प्राप्ति कर ली।

दोहा— कृपा कीन्हि हरि छीनि धन अबहिं लेउँ संन्यास।
आतमचिंतन महँ रहऊँ करि सब कर्मन्हि न्यास॥ २६ (क)॥

अत: भगवान ने धन छीनकर कृपा ही की है। अब मैं संन्यास लेता हूँ तथा समस्त कर्मों को त्यागकर आत्मचिन्तन में ही रहूँगा।

रबि चंद्रादिक देव सब सुनैं मोर पन आज।
जग तजि लियों संन्यास अब जो देवे हरिराज॥ २६ (ख)॥

सूर्य-चन्द्रमा आदि सारे देवता आज मेरी प्रतिज्ञा सुनें- अब मैंने जगत का परित्याग कर संन्यास ले लिया है जो भगवान का परम पद देता है।

चौपाई— पुनि कह कृष्णचंद्र भगवाना। सुनु हे उद्धव भक्त सुजाना॥
अस पन करि मौनी संन्यासी। भयो बिप्र अति जगत उदासी॥

पुन: भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने कहा- हे बुद्धिमान भक्त उद्धव! सुनें, ऐसी प्रतिज्ञा करके वह ब्राह्मण जगत से सर्वथा उदासीन होकर मौनी संन्यासी हो गया।

आतमचिंतन नित उर धार्‌यो। मैं तू ग्रंथि स्वयं निरबार्‌यो॥
गहि अवधूत बेष सो भाई। महि बिचरइ लखि सबु हरिराई॥

उसने नित्य हृदय में आत्मचिन्तन को धारण कर 'मैं-तू' की ग्रन्थि स्वयं खोल ली। हे प्रिय! वह अवधूत का वेश बनाकर सबको भगवत् स्वरूप देखते हुए धरा पर विचरण करने लगा।

अलख बेष महँ माँगत मधुकरि। नाम गावँ पूछत कोउ कर धरि॥
मौनब्रती जब बोलत नाहीं। तब कछु कह यह चोर लखाहीं॥

वह सर्वथा अपरिचित (न पहचानने योग्य) वेश में मधुकरी माँगता तब कोई उसका हाथ पकड़कर उसका नाम एवं गाँव पूछने लगता, किन्तु जब वह मौनव्रत के कारण नहीं बोलता तो कुछ कह उठते कि यह चोर दिखायी पड़ रहा है।

पुनि तौ कछुक घसीटत जाहीं। बाहर गाँव करहिं कोउ ताहीं॥
भिक्षापात्र लेइ कोउ जाये। छीनि कमंडलु कोउ पराये॥

फिर तो कोई उसे घसीटने लगता, कोई गाँव के बाहर कर देता, कोई उसका भिक्षा पात्र छीन लेता, कोई कमण्डलु लेकर भाग जाता-

दोहा— बस्त्र कोउ कौपीनहू छीनि देत कहुँ डारि।
मूक कोउ कोउ बधिर कहि देत बिबिध बिधि गारि॥ २७॥

कोई वस्त्र और कौपीन छीनकर कहीं फेंक देता, तो कोई गूँगा और बहरा कहकर नाना प्रकार से अपशब्द कहता।

चौपाई— कोउ तापर थूकत घिनिनाई। कोउ कह साधू स्वाँग बनाई॥
कोउ तापर लघुसंका करि करि। हँसत दिखाय ठहाको भरि भरि॥

कोई उसके ऊपर [छी:-छी: करते हुए] घृणा करके थूक देता, तो कोई कहता कि इसने साधु का स्वाँग बनाया है। कोई उस पर लघुशंका (मूत्र त्याग) करके लोगों को दिखाते हुए ठहाका लगाकर हँसता।

कोउ रसरी सों बाँधि फिरावे। पुनि गृह महँ कोउ बंद करावे॥
एहि बिधि डाँटत मारत ताही। रंचमात्र तउ नहिं खिसियाही॥

कोई उसे रस्सी से बाँधकर घुमाता पुन: कोई घर में बन्द कर देता। इस प्रकार [सभी] उसे डाँटते-मारते तो भी उसे रंचमात्र भी क्षोभ नहीं होता।

पीड़ित होइ धरम नहिं त्यागत। अपितु ब्रह्म रूपहिं अनुरागत॥
उर उदगार कबहुँ प्रगटावे। मम दुख हेतु न कोउ लखावे॥

इस प्रकार पीड़ित होने पर भी अपने धर्म का परित्याग नहीं करता अपितु ब्रह्म स्वरूप में ही प्रसन्नतापूर्वक रमण करता था। हृदय से कभी उद्गार प्रकट करता कि मेरे दु:ख का कारण तो कोई भी नहीं दीख रहा है।

सुर नर काल करम ग्रह देहउ। कोउ न देत दुख सपनेहुँ एहउ॥
श्रुति संतन्ह कर यहि मत भाई। सुख दुख कारण मनहि कहाई॥

देवता, मनुष्य, काल, कर्म, ग्रह तथा शरीर इनमें से कोई स्वप्न में भी दु:ख नहीं दे सकता। हे सज्जनो! श्रुतियों एवं सन्तों का यही कहना है कि सुख-दु:ख का कारण तो यह मन ही है।

दोहा— यहि मन प्रबल कहाय अति यहि जग चक्र चलाय।
यहइ बिषय तिन्ह हेतु गुन अरु तिन्ह बृत्ति रचाय॥ २८॥

यही मन अत्यन्त बलवान कहा जाता है तथा यही संसाररूपी चक्र चला रहा है। यही विषयों, उनके कारणों, उनके गुणों और उनकी वृत्तियों की भी रचना करता है।

चौपाई— तिन्ह बृत्तिनि कर यहि सच धर्मा। प्रगटहिं सत रज तामस कर्मा॥
जीव बिबिध गति करम सों पावत। जे पुनि तेहि मन बुद्धि बनावत॥

उन वृत्तियों का सच में यही स्वभाव है कि उनसे सात्त्विक, राजस एवं तामस कर्म प्रकट होते हैं। उन कर्मों के द्वारा ही जीव को नाना प्रकार की गति प्राप्त होती है और उस गति से ही उसके मन, बुद्धि का निर्माण होता है।

अहो अहइ सब मन की चेष्टा। तेहि सँग रहत ब्रह्म निस्चेष्टा॥
अहइ नित्य जो परम ज्ञानमय। सक्ति रूप सत चिदानंदमय॥

अहो! समस्त चेष्टा तो मन की ही है जबकि उसी के साथ रहने वाला ब्रह्म चेष्टारहित है; जो नित्य परम ज्ञानमय, शक्तिमय और सच्चिदानन्दमयरूप वाला है।

सो मम जिव कर सखा सनातन। सर्ब ब्याप्त नित अहइ पुरातन॥
सब कछु लखइ अलुप्त ज्ञान सों। मो दीखइ अस सुद्ध ध्यान सों॥

अत: वह मुझ जीव का सनातन सखा है जो नित्य, सर्वत्र व्याप्त और पुरातन है। वह सदा प्रकट रहने वाले अपने ज्ञान से सब कुछ देखता रहता है, ऐसा मुझे विशुद्ध ज्ञानमय अनुभूति से दीख रहा है।

तेहि अभिब्यक्ति होय मनसों ही। ज्यों सबु लख बिमूढ़ तनसों ही॥
जब सब बिषयन्हि भोगत मन सों। तब आसक्त होत कर्मन सों॥

उसकी अभिव्यक्ति भी मन के द्वारा ही होती है, जैसे कोई अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति शरीर के माध्यम से ही सब कुछ देखता है और जब वह मन के द्वारा समस्त विषयों को भोगता है, तब कर्मों में आसक्त हो जाता है।

दोहा— तिन्ह कर्मनि सों ताहि छन बंधन भ्रम होइ जाय।
मूढ़ अमूढ़हु काहु सों नहिं जानन महँ आय॥ २९॥

उस समय उन्हीं कर्मों के द्वारा बन्धन का भ्रम हो जाता है, जो मूर्ख या ज्ञानी किसी के द्वारा भी जाना नहीं जाता।

चौपाई— यज्ञ दान तप योग ज्ञान फल। आत्मरूप मन होवे प्रतिपल॥
सब इंद्रियनि मनहिं बस आहीं। पर मन काहू कै बस नाहीं॥

अत: समस्त यज्ञ, दान, तप, योग और ज्ञान का फल यही है कि यह मन सदा ही आत्मरूप बना रहे। अहो! सभी इन्द्रियाँ तो मन के वश में हैं किन्तु मन किसी के वश में नहीं है।

सो कहाय देवन्ह कर देवा। यासों मूढ़ करत तेहि सेवा॥
सत्रु प्रबल यहि मन जग केरो। जेहि बस होइ कर्‌यों मैं मेरो॥

वह देवों का भी देव कहा जाता है, इसी से समस्त मूढ़ उसकी सेवा करते रहते हैं। इस जगत के लोगों का मन ही भयंकर शत्रु है, जिसके वश में होकर मैं भी 'मैं और मेरा' करने लगा।

करइ असह्य आक्रमण सब पर। पर याकी चिंता नहिं कोउ कर॥
बेधत उरहु तनहिं बस नाहीं। जपी तपी योगिहु बिकलाहीं॥

यह (मन) सब पर असह्य आक्रमण करता रहता है किन्तु इसकी कोई चिन्ता नहीं करता। वह [एकमात्र] शरीर को ही नहीं अपितु हृदय को भी बेधता रहता है जिससे योगी, जपी और तपी भी विकल होते रहते हैं।

यहि बैरी बस जीतन जोगू। पतो नाहिं का सोचत लोगू॥
अपर जनन सों क्यों उरझावें। एहि जीतन महँ सक्ति लगावें॥

अत: एकमात्र यही [मन] वैरी है, जो जीतने योग्य है किन्तु पता नहीं लोग क्या सोचते रहते हैं और अन्य लोगों से क्यों उलझते रहते हैं? अरे! [व्यर्थ उलझना छोड़] इसी को जीतने में शक्ति लगायें!

दोहा— मोरे सम क्यों होयँ सब अंधो जड़ अज्ञानि।
मैं तू कर सच मूल का लैं अबहीं पहिचानि॥ ३०॥

[अरे!] मेरे समान ही सभी अन्धे, जड़ और अज्ञानी क्यों हो रहे हैं? यथार्थत: 'मैं और तू' का मूल क्या है, इसे अभी पहचान लें!

चौपाई— मैं तो निकर्‌यों जगतकूप सों। कोउ न उरझै बृथा रूप सों॥
अहो न सुख दुख कर्ता कोऊ। पुनि जग माहिं अहं कस होऊ॥

[अरे!] मैं तो इस जगतरूपी कुएँ से निकल गया, अत: कोई भी मिथ्या [शरीर के] रूप से न उलझे। अहो! सुख-दु:ख का कर्ता तो कोई है ही नहीं फिर जगत में अहंकार कैसे हो सकता है!

यदि सुख दुख कर्ता नर मानहिं। सब मूढ़नि जस निज उर जानहिं॥
तउ कैसो सम्बंध ताहिको। अक्षर नित मुनि बुझत जाहिको॥

यदि सुख-दुःख का कर्ता मनुष्य को ही मान लें जैसा कि सभी मूढ़ अपने हृदय में जानते हैं तो भी जिस [आत्मा] को मुनिजन नित्य एवं अक्षर कहते हैं उसका इससे क्या सम्बन्ध है!

देह मृत्तिका पिंड कहावे। सुख दुख भोगत करत लखावे॥
भोजन करत जीह कटि जावे। तब का दाँतन्हि तोरि गिरावे॥

[क्योंकि यह] शरीर मिट्टी का पिण्ड कहा जाता है जो सुख-दुःख का कर्ता और भोगने वाला दिखायी पड़ता है। यदि भोजन करते समय [दाँतों से] जीभ कट जाय तो क्या दाँतों को तोड़ दिया जाता है!

दुख कारन यदि देव कहाहीं। तउ यासें तेहि कछु न नसाहीं॥
काहेकै सब इंद्रिनि माहीं। सबै देवता बास कराहीं॥

यदि दुःख का कारण देवतागण माने जायँ तो भी इससे उसका (आत्मा का) कुछ भी अहित नहीं हो सकता; क्योंकि समस्त इन्द्रियों में ही सभी देवता स्थित हैं।

भये तेइ दुख भोगनवारे। यहउँ दिखाय आत्म अति न्यारे॥
यदि दुख कारन ग्रह कहँ जानैं। तउ ताकी कछु हानि न मानैं॥

वे ही यहाँ दुःख भोगने वाले हुए, अतः यहाँ भी आत्मा सर्वथा निर्लेप ही दिखायी दे रहा है। यदि दुःख का कारण ग्रह को समझा जाय तो भी उसकी (आत्मा की) कुछ हानि नहीं माननी चाहिए।

दोहा— कारन कछुहु प्रभाव तिन्ह नस्वर तन पर होय।
एहि बिधि क्रोधहु होय कहँ नहिं लखाय अस कोय॥ ३१॥

क्योंकि उनका भी कुछ प्रभाव नश्वर शरीर पर ही होता है। इस प्रकार क्रोध किस पर किया जाय, ऐसा कोई दिखायी नहीं पड़ता।

चौपाई— जस सब अज्ञ पुरुष नित कहहीं। दुखकर हेतु करम बस अहहीं॥
तउ यह आतम पृथक सदाई। कर्मनि सों नहिं कबहुँ सगाई॥

जैसा कि अज्ञानी पुरुष सदा यह कहते हैं कि 'दुःख का कारण मात्र कर्म ही है' तो भी यह आत्मा उससे सदा ही पृथक् है, कर्मों से उसका कभी सम्बन्ध नहीं है।

मुनि कह कर्म ताहि ते होऊ। बस्तु जोइ जड़ चेतन दोऊ॥
बस्तु होय जो अतिहिं बिकारी। स्वयं हिताहित जाननवारी॥

सन्तजन कहते हैं कि कर्म तो उसी से होता है जो एक ही वस्तु जड़ और चेतन दोनों हो। जो वस्तु अत्यन्त विकारमय होती है और स्वयं ही अपने हित-अहित को जानने वाली होती है-

कर्म होय वासे न अपर से। दृष्टि हटे पुनि तब सब पर से॥
कै सच तन तो अतिहिं अचेतन। तामें बस आतम बर चेतन॥

कर्म तो उसी से हो सकता है दूसरे से नहीं। [ऐसा ज्ञात हो जाय] तब कहीं सबसे दृष्टि हट सकती है। यथार्थतः शरीर तो सर्वथा अचेतन ही है और उसमें स्थित आत्मा ही चैतन्यघन है।

अस भयो सिद्ध देह जड़ अहई। करि न सकइ कछु मुनि सब कहई॥
आतमहू न करै कोउ कर्मा। काहे कै सो साक्षी धर्मा॥

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अचेतन शरीर कर्म नहीं कर सकता, ऐसा सभी मुनिजन कहते हैं और आत्मा भी कर्म नहीं कर सकता क्योंकि वह द्रष्टारूप धर्मवाला है।

अस न अधार करम कर कोऊ। यासें सब कह माया होऊ॥
कोउ आतम कहँ कर्मन्ह कर्ता। मानत भर्ता अरु संघर्ता॥

इस प्रकार कर्मों का आधार कोई नहीं है, इसी से सब कहते हैं कि कर्मों का आधार माया है। कोई आत्मा को ही कर्मों का कर्ता, भर्ता तथा संहार कर्ता मानता है किन्तु-

दोहा— सो सच रूप कहाय निज वासें अपर न आहि।
सोइ सुख दुख दोउ रूपहु क्रोध करिय पुनि काहि॥ ३२॥

यथार्थत: वह तो अपना ही रूप कहा जाता है, उससे परे तो कुछ है ही नहीं। यहाँ तक कि सुख-दु:ख दोनों रूप भी वही है, फिर वह किस पर क्रोध करे।

चौपाई— यदि दुख कारन कालहिं मानैं। तौ तेहिकर सो रूप बखानैं॥
अनलहिं अनल दहाय न जैसे। आपुहिं नासइ सो नहिं तैसे॥

यदि दु:ख का कारण काल को मानें तो वह उसी (आत्मा) का रूप कहा जाता है। अत: जिस प्रकार आग आग को नहीं जला सकती, उसी प्रकार वह (काल) स्वयं का नाश नहीं कर सकता।

हिमहिं न हिम जस कबहुँ गलावे। सोउ कस आपुहिं आपु नसावे॥
अस न क्रोध कारन कछु भाई। अहो बुद्धि भ्रम गयो नसाई॥

जैसे बर्फ, बर्फ को कभी गला नहीं सकती, वैसे ही वह [आत्मा] भी अपने-आप का कैसे नाश कर सकता है। इस प्रकार क्रोध का कारण कुछ भी नहीं है। अहो! बुद्धि का तो सारा भ्रम ही मिट गया!

अहो न सुख दुख आतम माहीं। सर्दी गर्मिहु की गति नाहीं॥
सो नित राग द्वेष सों हीना। अब नहिं मति अस होय मलीना॥

अहो! आत्मा में तो सुख-दु:ख है ही नहीं, उसमें कभी सर्दी-गर्मी की गति भी नहीं है और वह राग-द्वेष से सर्वथारहित है। अत: अब पहले की तरह बुद्धि कभी भी मलिन नहीं होगी।

प्रकृति धरम गंधहु सम्बंधहु। हानि लाभ कारज प्रतिबंधहु॥
अनुभव होत अहं कहँ सारो। जन्म मृत्यु महँ भटकन वारो॥

'सम्बन्ध, गन्ध, हानि-लाभ, कार्य और बन्धन'- ये प्रकृति के धर्म हैं। इन सबका अनुभव जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकने वाले 'अहं' को होता है-

सोरठा— प्रकृति धरम के पार कह्यो जाय प्रिय आतमा।
अस जिय महँ जो धार पुनि न होय भयभीत कहुँ॥ ३३॥

किन्तु प्रिय आत्मा प्रकृति के धर्मों से परे कहा जाता है। जो हृदय में ऐसा धारण कर लेता है, वह पुन: कभी भयभीत नहीं होता।

चौपाई— आतमनिष्ठा यहि मुनि धारे। जो मायाजग सों उद्धारे॥
यहि निष्ठा गहि उर महँ आजहिं। पावउँ अति सिघ्रहिं हरिराजहिं॥

इसी आत्मनिष्ठा को मुनिगण धारण कर लेते हैं जो मायारूपी जगत से उद्धार कर देती है। अत: इस निष्ठा को मैं आज ही हृदय में धारण कर प्रभुपद को अति शीघ्र प्राप्त कर लूँगा।

उद्धव अस भयो मुक्त यती सो। पायो परमानंद गती सो॥
मधुर गीत अस तब सो गायो। जो मोरे मन महँ अति भायो॥

हे उद्धव! इस प्रकार वह मौनी संन्यासी मुक्त हो गया और उसने परमानन्द गति प्राप्त कर ली। उसके उपरान्त उसने यह मधुर गीत गाया, जो मेरे मन को भी अति प्रिय लगा -

एहि जग सुख दुख देनै वारो। कोउ न अपर यह मतिभ्रम भारो॥
जग जग भीतर भाइ बंधु हित। जननि जनक तिय सुत बैरी मित॥

इस जगत में सुख-दु:ख देने वाला कोई दूसरा नहीं है बल्कि [किसी अन्य को सुख-दु:ख का हेतु समझना] यह बुद्धि का भयंकर भ्रम ही है। जगत और जगत के अन्तर्गत रहने वाले भाई-बन्धु, सम्बन्धी, माता-पिता, स्त्री, पुत्र, वैरी और मित्र-

सबरें भेद चित्त भ्रम भाई। ज्ञान भये सब जायँ नसाई॥
प्रिय उद्धव सब सक्ति लगाई। निष्ठा यहइ गहउ मुदिताई॥

हे प्रिय! ये सभी भेद चित्त के ही भ्रम हैं, जो ज्ञान होने पर सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। अत: हे प्रिय उद्धव! सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रसन्नतापूर्वक इसी आत्मनिष्ठा को ग्रहण करो।

छंद— यहि ब्रह्मनिष्ठा हृदय गहि सब बृत्ति मो महँ लाइके।
मन लेहु बस करि आपुनो हे भक्त निसदिन ध्याइके॥
यहि जोग जप तप दानहू फल ब्रह्म ब्रह्म लखाय जू।
पुनि सहज द्वैताद्वैत साधन ब्रह्म ही बनि जाय जू॥

हे भक्त! इसी ब्रह्मनिष्ठा को हृदय में ग्रहण करके और समस्त वृत्तियों को मुझमें लगाकर रात-दिन मेरा ही स्मरण करते हुए अपने मन को वश में कर लो। यही योग, जप, तप और दान का फल है कि सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दृष्टिगोचर होने लगता है, फिर सहज ही द्वैत-अद्वैत साधनाएँ ब्रह्मरूप बन जाती हैं।

सोरठा— याहि कथा मन लाइ सुनत कहत ब्यवहरत जो।
ब्रह्मपदहिं पुनि पाइ बिचर गर्जि जग सिंह सम॥ ३४॥

[हे उद्धव!] जो इस कथा को एकाग्रचित्त हो सुनता है, कहता है फिर इसी प्रकार व्यवहार करता है तो वह ब्रह्मपद को प्राप्त कर सिंह के समान गर्जना करता हुआ जगत में विचरण करता है।

चौपाई— महाराज अब यतिन्ह पुकारे। जे हरिपद हित गृह निरबारे॥
ते न करैं कबहूँ मनमानी। करैं सोइ जो कह गुरु ज्ञानी॥

महाराज अब संन्यासियों से कह रहा है कि जिन्होंने ब्रह्मपद के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया है वे कभी भी मनमानी [साधना] न करें अपितु वही करें जो आत्मज्ञानी गुरु कहता है।

अष्ट सिद्धि नव निधि सों भाई। ज्ञानी कहहिं न करहु सगाई॥
जानत रह्यों महूँ प्रथमाहीं। जप तप करत सिद्धि ये आहीं॥

कभी अष्ट सिद्धियों एवं नव निधियों के चक्कर में न पड़ें- ऐसा सभी आत्मज्ञानियों का कहना है। [अरे!] मैं भी सर्वप्रथम यही जानता था कि जप-तप करने से सर्वप्रथम ये सभी सिद्धियाँ आयेंगी।

इनहिं तजत पुनि आतमज्ञाना। देत कृपाकरि कृपानिधाना॥
कछुक काल बीते अस जान्यों। नहिं ऐसो नहिं जब कछु ध्यान्यों॥

और इनका त्याग करेंगे तो फिर कृपानिधान भगवान कृपा करके आत्मज्ञान देंगे, किन्तु कुछ काल बीतने के उपरान्त जब ध्यान में कुछ समय व्यतीत हुआ तब समझा कि नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।

आवें ऋद्धि सिद्धि जब त्यागे। तउ आतमनिष्ठा महँ रागे॥
तब ये अमृत धर्म लखावें। पुनि गुरुकृपा हृदय महँ आवें॥

जब ऋद्धि-सिद्धियाँ आयें और उन्हें त्याग दिया जाय और तो भी आत्मनिष्ठा में ही लगा रहे, तब ये अमृत धर्म दिखायी पड़ने लगते हैं। इसके उपरान्त सद्गुरु कृपा से सभी [अमृत धर्म] हृदय में सहज ही आते हैं।

दोहा— इनिकहँ साध्यो जाय जब तब प्रभु कृपा कराइ।
होइ मुदित अति आत्मपद देहिं भगत हरषाइ॥ ३५॥

और जब इनका पालन किया जायेगा तब गुरुदेव भगवान कृपा करके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक आत्मपद प्रदान कर देते हैं, जिससे भक्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है।

चौपाई— प्रभुहिं कृपा मोहिं एहि अध्याये। अमृतमय सुर एक लखाये॥
सदगुरु कृपा ताहि जब सेवहु। प्रकृति बिजय करि हरिपद लेवहु॥

प्रभु कृपा से मुझे इस अध्याय में एक अमृतमय दिव्य देव पुरुष दिखायी पड़ रहा है। सद्गुरु की कृपा से जब उसका सेवन करेंगे तो प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेंगे।

परम अहिंसा सिर प्रिय भ्राजत। करुणा मुकुट जाहि पर राजत॥
सुख दुख समता श्रवननि दोऊ। छमा दया कुंडल तहँ होऊ॥

परम अहिंसा ही उसका प्रिय सिर है जिसपर करुणारूपी दिव्य मुकुट शोभा दे रहा है। सुख-दुःख में समता उसके दो कान हैं जिनमें 'क्षमा और कृपा'- ये दो कुण्डल लगे हुए हैं।

अहंहीनता निर्ममता दृग। निरखत नहिं कहुँ भागत मन मृग॥
ब्रह्म अहइ सब दृढ़ पन नासा। सदा योगरत यहि प्रिय स्वासा॥

अहंकारहीनता और निर्ममता दो नेत्र हैं, जिनसे देखने पर मनरूपी मृग चंचल नहीं हो पाता। 'सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही है'– यह दृढ़ प्रतिज्ञा ही दिव्य नासिका है तथा सदा योग में रत रहना, उसका प्रिय श्वास है।

अहं आतमा सब प्रभु आहीं। दिब्य भुजा ये दोइ कहाहीं॥
प्रिय मुसुकान मयत्री ताकी। अस तेहि की छबि निरखहु बाँकी॥

'मैं आत्मा हूँ' और 'सब ब्रह्म है'– ये ही दो दिव्य भुजाएँ कही गयी हैं। मैत्रीपूर्ण भाव ही उसकी प्रिय मुस्कान है, उसकी ऐसी मनोहर छवि मुझे दिखायी दे रही है।

प्रकृति बिजय तेहि बर परिधाना। मन मति अर्पन पीठ सुजाना॥
नहिं उद्वेग लहइ जग मोसे। मेरोहु मन जग सों नहिं रोसे॥

हे सज्जनो! प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेना उसका श्रेष्ठ वस्त्र है और मन–बुद्धि का अर्पण कर देना ही सिंहासन है। जगत मुझसे उद्वेग को प्राप्त न हो तथा मेरा मन भी जगत से उद्विग्न न हो–

यहि इक पग अरु अपर अभयता। महि नभ हर्षामर्ष हीनता॥
अनपेक्षता दक्षता सुचिता। उदासीनता ब्यथाहीनता॥

ऐसी धारणा ही उसका एक पैर है और दूसरा पैर अभयता है। हर्षहीनता उसकी धरती तथा अमर्षहीनता आकाश है। 'अनपेक्षता, दक्षता, शुचिता, उदासीनता और व्यथाहीनता'–

पंच प्रान यहि दिब्य सुहावें। साधक सिद्ध सेइ हरि पावें॥

ये ही दिव्य और सुहावने पाँच प्राण हैं जिनका सेवन करके साधक एवं सिद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— सर्बारम्भहि त्यागिता इक कर महँ बज्रास्त्र।
त्याग सुभासुभ कर्म कर अपर हाथ ब्रह्मास्त्र॥ ३६॥

सर्वारम्भत्यागिता (सकाम भावना से किये गये कर्मों का त्याग) उसके एक हाथ में वज्रास्त्र है और शुभाशुभ कर्मों को त्याग देना ही दूसरे हाथ में ब्रह्मास्त्र है।

चौपाई— रागहीनता द्वेषहीनता। सोकहीनता चाह खिन्नता॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती तुर्या। यहई चारि अवस्था धर्या॥

उसकी रागहीनता ही जाग्रदवस्था, द्वेषहीनता ही स्वप्नावस्था, शोकहीनता ही सुषुप्तावस्था और इच्छा का सर्वथा अभाव ही तुर्यावस्था है; इन्हीं चारों अवस्थाओं को उसने धारण कर रखा है।

मान अमान मीत रिपु माहीं। सर्दी गर्मी सुख दुख पाहीं॥
अरु निंदा अस्तुति महँ समता। यहइ दिब्य मन ताकर रमता॥

शत्रु–मित्र, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी, सुख–दु:ख तथा निंदा–स्तुति में भी सम रहना– यही उसका अपने–आप में रमण करता हुआ दिव्य मन है।

मौन चित्त अरु अनासक्ति मति। अहं अहइ जी लेनो जिहि गति॥
अनीकेतता गति प्रिय वाकी। आतम बुद्धि अचलता ताकी॥

उसका मौन ही चित्त है और अनासक्ति ही बुद्धि है तथा चाहे जैसे–तैसे जीवन जी लेना ही उसका अहंकार है। अनिकेतता ही उसकी प्रिय गति है तथा बुद्धि की स्थिरता ही उसकी आत्मा है।

मैं लखाय दीन्हों नर याही। करि बिस्वास गहहु तुम्ह जाही॥

इस प्रकार मैंने इस दिव्य देवपुरुष को दिखा दिया जिसे विश्वासपूर्वक आप ग्रहण करें।

दोहा— याहि पुरुष बरु उर गहहु बरु यामें करु बास।
होवहु तुम्हहु अमियमय महाराज एहि आस॥ ३७ (क)॥

या तो आप इस दिव्य पुरुष को हृदय में बिठा लें अथवा स्वयं इसके हृदय में वास करें। महाराज इसी आशा में है कि [ऐसा करके] आप भी अमृतरूप हो जायँ।

उत संतन्ह बर धर्म सुनि नृपति चकित चित सोच।
संजय सों नहिं प्रगट कह मैं जग महँ अति पोच॥ ३७ (ख)॥

उधर सन्तों के [इस] दिव्य धर्म को सुनकर राजा धृतराष्ट्र आश्चर्यचकित होकर सोच रहे हैं कि इस जगत में मैं अत्यन्त खोटा हूँ किन्तु सञ्जय से प्रकट रूप में नहीं कह रहे हैं।

सोरठा— कह संजय हरषाइ नृप बिनु पूछे पार्थ के।
प्रभु गति ऐसि लखाइ करन चहत उपदेस पुनि॥ ३७ (ग)॥

सञ्जय भी हर्षित होकर कह रहे हैं कि हे राजन्! ऐसी स्थिति दिखाई पड़ रही है कि अर्जुन के कुछ पूछे बिना ही प्रभु पुनः उपदेश करना चाह रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

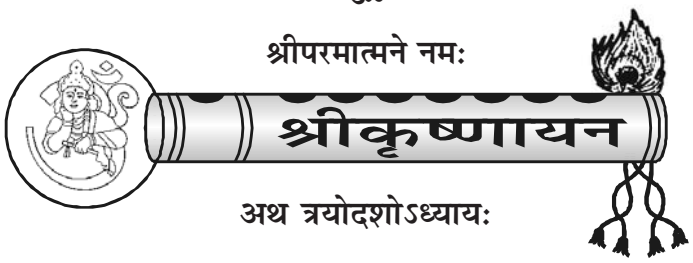

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

लज्जां रक्षः हे प्रभु श्याम॥
लज्जामरक्षः द्रौपद्याः प्रभु एवमरक्षः चक्रधर माम।
लज्जामरक्षः भक्त सुदामाः दत्वा सकल सम्पदाम॥
लज्जामरक्षः गज भक्तस्य हे कृपालु वर धाम।
लज्जामरक्षः रुक्मिण्याः प्रभु मानं हनित्वा असुराणाम॥
लज्जामरक्षः अजामिलश्च गणिकाः धामं वर दत्वा तव नाम।
ध्यावति महाराज चरणाम्बुजं तव भक्त हृदये वर काम॥

हे लज्जा को बचाने वाले प्रभु श्यामसुन्दर! हे चक्र को धारण करने वाले! अब मेरी लज्जा को आप वैसे ही बचायें जैसे आपने भगवती द्रौपदी की लज्जा बचाई थी। हे दयासागर! आप मेरी लज्जा को वैसे ही बचायें जैसे परम भक्त सुदामा की लज्जा आपने सम्पूर्ण सम्पत्ति देकर बचाई थी। हे परम कृपालु! हे परम पावन धाम! आप मेरी लज्जा की वैसे ही रक्षा करें जैसे भक्त गजराज की रक्षा की थी। हे प्रभो! आप मेरी लज्जा की वैसे ही रक्षा करें जैसे भगवती रुक्मिणी की रक्षा समस्त असुरों का मान मर्दन करके की थी। हे जगत्पते! आपके परम पावन नाम ने जैसे अजामिल एवं गणिका को परम धाम देकर उनकी रक्षा की थी वैसे ही आप मेरी भी रक्षा करें। हे भक्तों के हृदय में विराजमान रहने वाले आप्तकाम प्रभु! महाराज आपके चरण कमलों का ही सदा स्मरण करता है। अतः आप उसकी रक्षा करें! रक्षा करें!! रक्षा करें!!!

दोहा— यह तन ऐसो बस्त्र बर गहत आतमा जोइ।
जीर्ण भए तजि याहि पुनि नूतन धारत सोइ॥ (क)॥

यह शरीर ऐसा दिव्य वस्त्र है जिसको आत्मा धारण करता है और जब यह पुराना हो जाता है तब वह इसे त्यागकर पुनः नया पहन लेता है।

गहे न उपमा याहि जो प्रथम कहे भगवान।
करुणानिधि करि के दया दीन्हीं उपमा आन॥ (ख)॥

भगवान द्वारा प्रथम चरण में ही ऐसा कहने पर भी जब भक्त अर्जुन ने इस उपमा को स्वीकार नहीं किया, तब करुणा के धाम प्रभु ने दया करके एक दूसरी उपमा दी–

मनुज देह यह गृह सरिस यामें नव बर द्वार।
जामें सुख सों आतमा बसत प्रपंच बिसार॥ (ग)॥

[हे पार्थ!] यह मानव शरीर एक भवन के समान है, इसमें नौ दिव्य दरवाजे हैं जिसमें प्रपंचों से उदासीन होकर आत्मा सुखपूर्वक वास करता है।

यहउ न जब अर्जुन गहे मन महँ करि बहु तर्क।
तीसरि उपमा दीन्हि प्रभु जासों जाय बितर्क॥ (घ)॥

जब मन में अनेक तर्क–वितर्क करके भक्त अर्जुन ने इस बात को भी स्वीकार नहीं किया, तब प्रभु ने तीसरी उपमा देनी प्रारम्भ की जिससे हृदय के द्वन्द्व का नाश हो जाय।

सोरठा— यह तन क्षेत्र कहाय गुडाकेस अस जान जो।
सोइ क्षेत्रज्ञ लखाय सबु ज्ञानीजन कहहिं अस॥ (ङ)॥

हे पार्थ! यह शरीर ही क्षेत्र (खेत) कहा जाता है तथा जो इसे ऐसा जानता है वही क्षेत्रज्ञ के रूप में समझा जाता है, ऐसा समस्त सन्तजन कहते हैं।

चौपाई— क्षेत्रज्ञहु सब क्षेत्रनि माहीं। जानु मोहिं कछु संसय नाहीं॥
जासे दोउन्ह रूप लखावे। सोइ सच ज्ञान तु मम मत ध्यावे॥

समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो, इसमें कोई संशय नहीं है जिससे इन दोनों [क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ] का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है वही यथार्थ ज्ञान है। तुम मेरे इस सिद्धान्त को स्वीकार करो।

अर्जुन उर अस अचरज आयो। बस नर तनहिं क्षेत्र प्रभु गायो॥
जो सुर त्रिजगजोनि तन सारे। तिन्ह कहँ तो प्रभु कछु न बिचारे॥

ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन के हृदय में आश्चर्य हुआ कि भगवान एकमात्र इस मनुष्य शरीर को ही क्षेत्र कह रहे हैं, किन्तु जो देवताओं और त्रियग्योनियों के शरीर हैं उनको तो कुछ भी महत्त्व नहीं दे रहे हैं।

नर अहार का तिन्ह तन भाई। कै हरि तिन्हहिं दये बिसराई॥
उत कैलासपतिहिं तन हेरी। जगत मातु बैठीं जनु घेरी॥

उन [जीवों] का शरीर मनुष्यों का आहार मात्र है क्या, जिससे कि भगवान ने उन्हें सम्पूर्णतया भुला दिया। उधर जगज्जननी माँ पार्वती भगवान सदाशिव की ओर देखने लगीं, मानो उन्हें घेरकर बैठ गयी हों।

चकित लखहिं अस अचरज बाढ़्यो। मनहु चितेरो चित्रहिं काढ़्यो॥
अस का लख कह अवढरदानी। सजग होइ बोलीं मृदु बानी॥

वे भगवान को आश्चर्यचकित होकर इस प्रकार देखते हुए ऐसी जड़ हो गयीं जैसे किसी चित्रकार द्वारा बनाया गया चित्र हो। तब भगवान शिव ने पूछा कि ऐसे क्या देख रही हो? तब उन्होंने सजग होकर मधुर वचन में कहा-

दोहा— उठेउ प्रस्न कौन्तेय उर उत्तर का प्रभु ताहि।
कृपासिंधु सर्बज्ञ तुम्ह जानन चाहउँ याहि॥ १॥

हे प्रभो! जो प्रश्न कुन्तीपुत्र [अर्जुन] के हृदय में उत्पन्न हुआ है, उसका उत्तर क्या है? हे कृपासिन्धु! आप सर्वज्ञ हैं! हे प्रभो! आपसे मैं यही जानना चाहती हूँ।

चौपाई— गिरिजा सुनहु सहज प्रिय मोहीं। होय कबहुँ नहिं भ्रम उर तोहीं॥
पर जो कह अबिगत अबिनासी। जीव जगत जो लख चौरासी॥

[भगवान शंकर ने कहा-] हे उमा! सुनो, तुम तो मुझे सहज ही प्रिय हो, तुम्हारे हृदय में कभी भ्रम हो ही नहीं सकता; परन्तु जो मायातीत, अविनाशी भगवान कह रहे हैं कि इस जीव-जगत में जो चौरासी लाख जीव [दिखायी पड़ रहे] हैं-

नर तजि अपर जीव नहिं कोऊ। हरि पावउँ चाहइ उर जोऊ॥
पर सब तन ऐसो भंडारो। जिनमहँ भर्‌यो बीज बहु भारो॥

उनमें मनुष्य को छोड़कर ऐसा कोई जीव नहीं है, जिसके हृदय में भगवान को जानने की इच्छा हो, किन्तु हाँ, इतना अवश्य है कि [मनुष्य को छोड़कर] सभी शरीर ऐसे भण्डार हैं जिनमें नाना प्रकार के बीज भरे हुए हैं।

जिनसों श्रेष्ठ बीज लै मानव। निज उर बोइ हनै मन दानव॥
दत्तात्रेय प्रभुहिं जग आये। उननैं चौबिस गुरू बनाये॥

जिनमें से श्रेष्ठ बीजों को ले मनुष्य अपने हृदय में बोकर मन में स्थित दानवी वृत्ति को मार डालते हैं। [अरे!] जब दत्तात्रेय भगवान जगत में प्रकट हुए तो उन्होंने चौबीस गुरु बनाये।

चौबिस तौ गिनती करि दीन्हें। ज्ञान सकल प्राणिनि सों लीन्हें॥
जिमि स्वानहिं तन अस भंडारो। नर हित भर्‌यो बीज प्रिय भारो॥

चौबीस गुरुओं की गिनती तो कहने के लिये दी गयी है, जबकि उन्होंने सभी जीवों से ज्ञान लिया है। जैसे कुत्ते का शरीर ऐसा भण्डार है जिसमें मनुष्य के कल्याण के लिए अनेक साधनोपयोगी बीज भरे हुए हैं।

सोरठा— नींद सूक्ष्म सो लेत स्वामिभक्ति संतोष अति।
प्रान स्वामि हित देत तउ न ताहि कहँ मोक्ष गति॥ २॥

जैसे कि स्वामिभक्ति, अत्यन्त सन्तोष, अति सूक्ष्म नींद और स्वामी के लिए प्राण त्याग देना आदि गुणों के रहने पर भी उसे मोक्ष की गति नहीं प्राप्त होती।

चौपाई— लेइ बीज यहि नर गुरु ध्यावे। सो सहजहिं प्रभुधाम सिधावे॥
जहँ सों होय न आनौ जानौ। ताकर करत जगत गुन गानौ॥

किन्तु इन्हीं बीजों को लेकर मनुष्य सद्गुरु-आज्ञा का पालन करता है तो वह सहज ही भगवान के धाम को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनरागमन नहीं होता और उस पुरुष का लोग जगत में गुणगान करते हैं।

नर तजि जीव लखायँ निरामिष। बरु मरि जायँ होयँ नहिं सामिष॥
उरग न करत परीग्रह कोऊ। गृह न बनाय बीज दोउ सोऊ॥

[ऐसा देखा जाता है कि] मनुष्य को छोड़कर जितने शाकाहारी जीव दिखायी पड़ते हैं, वे भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जायँ किन्तु मांसाहारी नहीं हो सकते। ऐसे ही सर्प कोई भी परिग्रह और गृह-निर्माण नहीं करता- ये ही उसके पास मनुष्य के लिए दो बीज हैं।

रबि ससि नित प्रकास बरसावें। बरु कोउ उनहिं न सीस नवावें॥
कबहुँ न कुपित होत काहू सौं। बरु कोउ सत्रु सहसबाहू सौं॥

उसी प्रकार सूर्य एवं चन्द्रमा नित्य प्रकाश दे रहे हैं, चाहे कोई उनका आदर-सम्मान करे या न करे। भले ही कोई इनका सहस्त्रबाहु के समान पापाचारी बलवान शत्रु ही क्यों न हो, तो भी ये कभी किसी से कुपित नहीं होते।

बरु कोउ सुरसरि निंदा करई। वाकोहु अस्थि जो तिन्ह महँ परई॥
देतिं स्वर्ग ताकोहु प्रिय जानी। इन्हि सब बीज लहहिं प्रभु ध्यानी॥

भले ही माँ गंगा की कोई निन्दा करता रहे किन्तु यदि उसकी भी अस्थि उनमें पड़ जाय तो उसे प्रिय जानकर वे [करुणामयी माँ] स्वर्ग प्रदान कर देती हैं; इन्हीं सब बीजों को भगवान के भक्त अपने हृदय में धारण कर लेते हैं।

दोहा— सब प्रानिन्ह गुन बीज नर लेइ बोय उर माहिं।
सोक मोह संताप सब अपुनेहिं आपु नसाहिं॥३ (क)॥

अत: समस्त प्राणियों के पास जो गुणरूपी बीज हैं, यदि मनुष्य उन्हें ले कर अपने हृदय में धारण कर ले तो समस्त शोक, मोह एवं सन्ताप आदि स्वत: ही समाप्त हो जायेंगे।

ऐसो को जग जीव जो मनुज काज नहिं आयँ।
जीव सकल प्रभु मत प्रिये बिषय बीज कहलायँ॥ ३ (ख)॥

अरे! जगत में कौन ऐसा जीव है जो मनुष्य के काम नहीं आता। अत: हे पार्वती! भगवान के सिद्धान्त से सभी जीव [मनुष्य के लिए] विषय और बीज दोनों कहे जाते हैं।

चौपाई— इत प्रभु यहि कहि पार्थ सुनाये। जेहि सुनि उमा सम्भु हरषाये॥
पुनि कह प्रभु क्षेत्रज्ञहु भाई। मोहिं समुझु सब क्षेत्र समाई॥

इधर भगवान नारायण ने भी यही बात महात्मा अर्जुन को कह सुनाई जिसे सुनकर भगवती उमा और भगवान शिव अति प्रसन्न हो गये। पुन: भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने कहा- हे प्रिय! समस्त क्षेत्रों में स्थित हुआ क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो।

मोरि बुद्धि क्षेत्रज्ञ कहावति। जो चर अचर सृष्टि बनि जावति॥
यहइ प्रकृति अब्यक्त कहावै। नाम रूप याकी सब गावै॥

मेरी बुद्धि ही क्षेत्रज्ञ नाम से कही जाती है, जो चर और अचर सृष्टिरूप हो जाती है तथा यही अव्यक्त प्रकृति भी कही जाती है। अत: जितने नाम-रूप हैं वे इसके (क्षेत्रज्ञ के) ही हैं, ऐसा कहा जाता है।

बरु उपाधि दुइ स्वयंहि धारे। पर सत असत सब्द सों न्यारे॥
सब क्षेत्रन्हि सच जानति योई। नाम तबहिं क्षेत्रज्ञ सु होई॥

भले ही इसने [नाम एवं रूप] इन दो उपाधियों को स्वयं स्वीकार कर लिया है, किन्तु यह 'सत् एवं असत्' शब्द से सर्वथा मुक्त है। यथार्थत: समस्त क्षेत्रों को यही जानने वाली है इसलिए इसका नाम क्षेत्रज्ञ रख दिया गया है।

सकल क्षेत्र जानन कर आसय। आपैं आपु जगत अनुसासय॥
काल करम सुभाव गुन याके। अहइँ अधीन न कोउ तिख ताके॥

समस्त क्षेत्रों को जानने का तात्पर्य है कि यह सम्पूर्ण जगत पर स्वयं शासन करती है। यहाँ तक कि काल, कर्म, स्वभाव, गुण ये सब इसी के शासन में हैं, इनमें से कोई भी इसे टेढ़ी दृष्टि से नहीं देख सकता।

दोहा— यहु तन इंद्रिय प्रान मन बुद्धि अहं प्रारब्ध।
उपजत बिनसत याहि सों एहि सों सब आबद्ध॥ ४॥

उसी प्रकार यह शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और प्रारब्ध भी इसी से प्रकट होते हैं और [इसी में] विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार सभी इसी के शासन में हैं।

चौपाई— ज्ञान यथारथ सोइ कहावे। ब्रह्म क्षेत्र क्षेत्रज्ञ लखावे॥
अपर ज्ञान तो सच अज्ञाना। अस मम मत हिय समुझु सुजाना॥

इसलिए वही ज्ञान यथार्थ में ज्ञान कहा जाता है, जो ब्रह्म, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट दिखा देता है। इसके विपरीत अन्य ज्ञान तो यथार्थ में अज्ञान हैं। हे परम बुद्धिमान्! ऐसा मेरा सिद्धान्त है, इसे हृदय से भलीभाँति समझ लो।

कोउ कोउ सास्त्रन्ह ज्ञान प्रबीना। तन मन प्रान न तिन्ह आधीना॥
पिंजर सुक इव अहैं ते ज्ञानी। पार्थ समुझु तिन्ह अति अज्ञानी॥

कुछ विद्वान पुरुष शास्त्रज्ञान में निपुण होते हैं परन्तु तन, मन एवं प्राण उनके वश में नहीं होते। हे पार्थ! उन ज्ञानियों को तुम पिंजड़े में पाले हुए तोते के समान ही समझो, यथार्थ में वे अति अज्ञानी हैं, ऐसा ही मानो।

तबलगि बुझउँ न काहुहिं ज्ञानी। जबलगि निज स्वरूप नहिं जानी॥
यासें प्रथमहिं स्वयंहिं जानी। जग बिचरै गुरु आयसु मानी॥

मैं तो तब तक किसी को ज्ञानी नहीं मानता, जब तक वह अपना स्वरूप जान नहीं लेता। इसलिए सर्वप्रथम स्वयं को जानकर पुन: जगत में सद्गुरु की आज्ञानुसार विचरण करे।

जो न जान निज आतमघाती। सोइ एहि जग महँ राक्षस जाती॥
उन्हहिं दंड देवे नृप सोई। जासे जगत सांति अति होई॥

जो अपने को नहीं जानता, वह तो आत्मघाती है और वही इस जगत में राक्षस जाति का है। उन जैसे लोगों को जो दण्ड देता है वही यथार्थ में राजा है जिससे जगत में अत्यन्त शान्तिमय वातावरण हो जाता है।

दोहा— पार्थ आतमा मानि निज कर धनु लेहु उठाइ।
इनि अज्ञानिन्ह मारि अब स्वर्ग देहु पहुँचाइ॥ ५॥

इसलिए हे पार्थ! अपने आपको आत्मा मानकर हाथों में धनुष-बाण उठा लो और इन अज्ञानियों का वध कर इन्हें अभी स्वर्ग पहुँचा दो।

चौपाई— अब सुनु क्षेत्र कह्यो तन जाही। निज धर्मन्ह कारन जस आही॥
जस सो करइ बिकारन्ह धारन। सकल काज प्रगटत जेहि कारन॥

[हे प्रिय!] जिस शरीर को क्षेत्र (खेत) कहा गया है, अपने धर्मों के कारण वह जैसा (जिस स्वरूपवाला) है, जैसे विकारों को धारण करने वाला है और जिसके कारण से समस्त कार्य प्रकट होते हैं, उसे सुनो-

अरु क्षेत्रज्ञ प्रभाव स्वरूपा। लखु नसाय जासे भवकूपा॥
कहउँ समास दोउ कर धर्मा। पुनि निस्चय करु आपुन कर्मा॥

तथा क्षेत्रज्ञ का प्रभाव एवं उसके स्वरूप को भी देखो जिससे भवकूप नष्ट हो जायेगा। मैं दोनों के ही स्वरूप को संक्षेप में कह रहा हूँ, फिर तुम अपने कर्म का निश्चय कर लेना।

मैं जस कहउँ मुनिन्ह तस गाये। बेद सास्त्र छंदनि दिखराये॥
ब्रह्मसूत्र पद महँ यहि ज्ञाना। जेहि सो अवसि नसै अज्ञाना॥

मैं जैसा कह रहा हूँ, वैसा ही बहुत-से ऋषियों ने भी कहा है तथा वेद-शास्त्रों के छंदों में भी दिखाया गया है। वही तत्त्व ब्रह्मसूत्र के पदों में भी निहित है; जिससे निश्चित ही अज्ञान नष्ट हो जायेगा।

महि जल पावक पवन गगन मन। अहं बुद्धि अब्यक्त प्रकृति सन॥
नेत्र श्रवन जिह्वा त्वग घ्राना। बानी कर पग सिस्न अपाना॥

अत: 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, और अव्यक्त (मूल) प्रकृति, नेत्र, कान, जिह्वा, त्वचा, नासिका, वाणी, हाथ, पाँव, शिश्न, गुदा-

दोहा— सब्द परस रुप गंध रस सुख दुख इच्छा द्वेष।
देह चेतना धृतिहु मिलि यह तन क्षेत्र बिसेष॥ ६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दु:ख, इच्छा-द्वेष, शारीरिक चेतना, धृति'- ये सभी मिलकर शरीररूपी दिव्य क्षेत्र [कहे जाते] हैं।

चौपाई— बरु असंख्य तृन खेत सुहावें। जो बस काम पसुन्ह के आवें॥
पर तिन्हि कृषक बिकारहि मानइ। इनसों पेट भरइ नहिं जानइ॥

[हे पार्थ!] नाना प्रकार के घास-फूस, जो केवल पशुओं के ही काम आते हैं, भले ही वे खेत में शोभा दें किन्तु किसान उन्हें विकार ही मानता है, क्योंकि वह जानता है कि इनसे उदरपूर्ति नहीं होगी।

औषधि बरु उपजें तहँ भारी। लखि बिकार सो देत उपारी॥
कृषक आपुनो बीज बुवावे। जासों ताकी भूख बुझावे॥

भले ही उस खेत में बहुत-सी औषधियाँ प्रकट हुई हों, किन्तु वह उन्हें भी खेत का विकार समझकर उखाड़ देता है। अरे! किसान तो अपना [अभीष्ट] बीज बोता है जिससे उसकी भूख मिटे।

तेहि सम सुख दुख इच्छा द्वेषा। क्षेत्र बिकार हि कहत मुनीषा॥
अहै खेत चेतन तृन कारन। पर न कृषक तेहि चाहत धारन॥

उसी प्रकार सुख-दु:ख और इच्छा-द्वेष को मनीषीगण शरीररूपी खेत का विकार ही कहते हैं। यहाँ तक कि खेत की चेतनता तो उसमें जमी हुई घास-फूस के कारण ही है, किन्तु किसान उसे स्वीकार करना नहीं चाहता।

तन बिकार यहि संत निबारहिं। देह चेतना नहिं स्वीकारहिं॥
प्राणिन्ह सों बिज गहि अध्यात्मिक। ब्रह्मचेतना गुरु सों आत्मिक॥

उसी प्रकार [सुख-दु:ख आदि] ये सभी शरीररूपी खेत के विकार हैं, जिन्हें सन्तजन दूर कर देते हैं। वे शरीर की स्मृति (याद) को भी स्वीकार नहीं करते बल्कि प्राणियों द्वारा आध्यात्मिक बीजों एवं सद्गुरु द्वारा अपनी ब्रह्मस्मृति (मैं ब्रह्म ही हूँ) को लेकर-

दोहा— बोवत एहि तन इंद्रियनि मन बुधि सबरे माहिं।
ब्रह्मसुरति अरु ब्रह्मसुख बेगि लेइ हरषाहिं॥ ७॥

शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि- इन सभी में बो लेते हैं। परिणामत: वे तत्काल ब्रह्मस्मृति एवं ब्रह्मसुख को पाकर प्रसन्न हो जाते हैं।

चौपाई— दिब्य बीज जो भीतर बाहर। ब्याप्त धनंजय जे सब ठाहर॥
उन कहँ प्रथम नाम तुम्ह जानहु। पुनि उर महँ बोवन हित आनहु॥

हे धनञ्जय! वे दिव्य [आध्यात्मिक] बीज जो भीतर-बाहर और सर्वत्र व्याप्त हैं, सर्वप्रथम तुम उनके नाम जान लो तत्पश्चात् हृदयरूपी खेत में बोने के लिए ले आना।

परम अहिंसा छमा सरलता। अमानित्व अरु दम्भ हीनता॥
गुरु उपासना सौचाचारा। सम दम उपरति निरहंकारा॥

परम अहिंसा, क्षमाभाव, सरलता, अपने में श्रेष्ठता का अभाव, दम्भ का अभाव, [भक्तिभावपूर्वक] सद्गुरु की उपासना, भीतर-बाहर की शुद्धि, मन की स्थिरता, शरीर एवं इन्द्रियों का निग्रह, विषयों से वैराग्य तथा अहंकारहीनता-

जनम मरन दुख रोग जरा महँ। अहहिं दोष जे लखइ धरा महँ॥
अनासक्ति तिय सुत गृह माहीं। समचित्तता प्रियाप्रिय नाहीं॥

तथा जन्म, मृत्यु, दुःख, रोग, वृद्धावस्था में जो दोष हैं, उन्हें इस जगत में देखते रहना [अर्थात् चिन्तन करते रहना], स्त्री, पुत्र और घर-बार में आसक्ति का न होना, [यथार्थतः इस संसार में] कुछ भी प्रिय-अप्रिय तो है नहीं, अतः उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति में चित्त का सम होना,

भजनो मोहिं अनन्ययोग धरि। अब्यभिचारिणि भक्तियोग करि॥
अर्जुन अति एकांत प्रिय वारो। मूढ़न्ह संगति तजनो सारो॥

हे प्रिय! मुझे अनन्ययोग एवं अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भजते रहना, मूर्खों के समुदाय का त्याग करना; एवं अत्यन्त एकान्तप्रियता-

दोहा— नित अध्यातम ज्ञान महँ बिचरन करनो पार्थ।
तत्वज्ञान फल मोक्ष लख यहइ बीज परमार्थ॥ ८ (क)॥

और सदा अध्यात्म ज्ञान में रमण करना तथा तत्त्वज्ञान के फलरूप मोक्ष का चिन्तन करना- हे पार्थ! ये ही सब पारमार्थिक बीज हैं।

यहि कौन्तेय कहाय सच एहि जग महँ बर ज्ञान।
अरु यासें बिपरीत जो तिन्हहिं समुझु अज्ञान॥ ८ (ख)॥

हे कौन्तेय! यथार्थ में इसी को इस जगत में श्रेष्ठ ज्ञान कहा जाता है और जो कुछ भी इससे विपरीत है, उन सबको (उन समस्त अवगुणों को) तुम अज्ञान ही समझो।

मासपारायण, चौबीसवाँ विश्राम

चौपाई— महाराज कह रेख खँचाई। हरि सम सुहृद न कोउ जग भाई॥
तिन्हकी बात सुनत अंबर सुर। कपिल मुनी सों पूँछत सब जुर॥

हे साधको! महाराज दृढ़ता के साथ कह रहा है कि संसार में भगवान के समान हितैषी कोई नहीं है। उनकी बात सुनकर आकाश में स्थित सारे देवता एकसाथ कपिल मुनि से पूछ रहे हैं कि-

प्रभु जब भाव बस्य भगवाना। पुनि काहे सदगुनन्हिं बखाना॥
हरि जब काहुहिं होहिं सहाई। आपुहिं आपु दिब्य गुन आई॥

हे प्रभो! जब भगवान भाव के ही वशीभूत हैं तो वे सद्गुणों का क्यों बखान कर रहे हैं? [अरे!] जब किसी के सहायक भगवान हो जायेंगे तो उसके हृदय में ये सारे सद्गुण स्वतः प्रकट हो जायेंगे!

जब सबकै उर अंतरजामी। सम जम नियम करहिं का स्वामी॥
अस न बीज ब्रज जन उर माहीं। तउ प्रभु उनसैं रीझैं काहीं॥

[इतना ही नहीं बल्कि] हे स्वामी! जब सबके हृदय में अन्तर्यामी भगवान स्वयं विद्यमान हैं तो यम, नियम, शम, दम आदि क्या कर सकते हैं! हम सभी देख ही रहे हैं कि ये गुण ब्रजवासियों के हृदय में हैं ही नहीं, तो भी भगवान उन पर कैसे प्रसन्न हो गये?

ध्यान न पावहिं मुनिजन जाकर। नाम पुकारहिं ब्रज जन ताकर॥
माया ब्याप्त तीनि जग जाकी। जसुमति प्रेम बिबस मति वाकी॥

साधकगण जिनको ध्यान में भी शीघ्र प्राप्त नहीं कर पाते, ब्रजवासी उन्हीं का 'नाम' ले-लेकर पुकारते हैं; जिस प्रभु की माया तीनों लोकों में फैली हुई है, उसी प्रभु की बुद्धि माँ यशोदा के प्रेम के वशीभूत हो गयी है।

दोहा— ज्ञान बीज बोवन कहहिं काहे सो प्रभु आज।
समुझति नाहिं हमारि मति तुम्ह समुझावहु राज॥ ९॥

वे ही भगवान आज ज्ञानरूपी बीजों को [हृदय में] बोने की बात क्यों कर रहे हैं? यह बात हमारी बुद्धि समझ नहीं पा रही है, अतः आप ही इस रहस्य को समझायें।

चौपाई— हँसि कह मुनी सुनहु अरु जानहु। हे सुरगन पुनि प्रभु गुन गानहु॥
होवति प्रीति सजातिय संगा। यासें होय कबहुँ नहिं पंगा॥

तब हँसते हुए एक सिद्ध सन्त ने कहा- हे देवताओ! आपसब सुनें और समझें, फिर भगवान का गुणगान करें। अरे! प्रेम तो समान गुण-धर्म वालों के साथ होता है, इसलिए कभी भी परस्पर विषमता नहीं होती।

ज्यों जल महँ जल जाय समाई। आज्य आज्य महँ होय सगाई॥
मधुर तिक्त सँग होय न कबहूँ। अस्विनि देव मिलावें जबहूँ॥

जैसे जल में जल [सहजता से] समा जाता है और घी का घी से सम्बन्ध हो जाता है, वैसे मधुर तथा कटु एक साथ नहीं मिल सकते, भले ही देववैद्य अश्विनीकुमार ही क्यों न मिलायें।

त्यों निर्मल निर्मल चित समता। होय न दीखति कबहुँ बिषमता॥
चोर साहु का होय मिताई। असुर देव कस होय हिताई॥

उसी प्रकार निर्मल चित्त वाले की निर्मल चित्त वालों से ही समता होती है, उनमें कभी भी विषमता होते देखी नहीं जाती। [अरे!] क्या चोर और सज्जन की परस्पर मित्रता हो सकती है! इसी प्रकार असुर एवं देवताओं में मधुर सम्बन्ध कैसे हो सकता है!

द्वेष प्रेम दोउ भिन्नहिं जाती। जे नहिं कबहूँ होयँ संघाती॥

[अरे!] प्रेम और द्वेष तो निश्चित ही भिन्न-भिन्न दो जातियों के हैं जो कभी भी मित्र नहीं हो सकते।

दोहा— त्यों नहिं तामस जीव अरु ब्रह्म मिलन सच होय।
बिमल जीव पावत बिभुहिं ऐसो कह सब कोय॥ १०॥

उसी प्रकार तामसी (अज्ञानी) जीव और ब्रह्म का मिलन यथार्थ में सम्भव नहीं है। हाँ, निर्मल जीव ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है- ऐसा सभी कहते हैं।

चौपाई— औरेउ बात गुप्त एक जानहु। पुनि मम कहे साँच हिय मानहु॥
जिमि कोउ चोर बनन जब चावे। तब सो चोरन्हिं मित्र बनावे॥

[हे देवताओ!] आपसब एक गुप्त बात और जान लें, फिर मेरे कथन को हृदय में सत्य मानें। जैसे यदि कोई चोर बनना चाहता है तो वह पहले चोरों को साथी बनाता है।

तेउ प्रथम निज कला सिखाई। लेहिं परीक्षा पुनि भरमाई॥
चौर्य कला महँ होय सफल जब। ते बिस्वास करत प्रतिपल तब॥

वे भी सर्वप्रथम अपनी [चोरी की] कला सिखाते हुए बारम्बार भ्रम में डालकर [उसकी] परीक्षा लेते हैं। जब वह चोरी की कला में निपुण हो जाता है, तब वे उस पर प्रतिपल विश्वास कर लेते हैं।

तस कृपालु प्रभु गुरु बनि आवत। प्रथमहिं ब्रह्मकला सिखलावत॥
जब देखत भयो आपुनि जाती। आइ गयो उर प्रभु गुन पाँती॥

उसी प्रकार कृपानिधान भगवान [भक्त के लिए] सद्गुरु बनकर आते हैं और सर्वप्रथम ब्रह्मकला सिखाते हैं। जब देख लेते हैं कि यह भक्त अपनी जाति का हो गया तथा इसके हृदय में ब्रह्मगुण आ गया-

प्रगटत तबहिं ताहि उर माहीं। जीव ब्रह्म पुनि सच मिलि जाहीं॥
होत नाम रुप एकइ एको। अलख जगाय न संसय नेको॥

तभी वे उसके हृदय में प्रकट हो जाते हैं फिर ब्रह्म और जीव मिलकर यथार्थ में एक हो जाते हैं। उस समय नाम एवं रूप भी सर्वथा एकरूप हो जाते हैं [और वह ब्रह्मरूप होकर] जगत में ज्ञान का अलख जगाता रहता है, इसमें अंशमात्र भी संशय नहीं है।

दोहा— सिंधु मिलइ ज्यों बूँद महँ जीव ब्रह्म गति सोइ।
कहि न जाय सो मिलनि सुर जानइ बिरला कोइ॥ ११॥

जीव और ब्रह्म के मिलन की गति वैसी ही है जैसे समुद्र बूँद में विलीन हो जाय। हे देवताओ! जीव एवं ब्रह्म का वह मिलन अकथनीय है, उसे कोई विरला ही जानता है।

चौपाई— जेते गुन प्रभु इहाँ बताये। औरउ बेद सास्त्र महँ गाये॥
ते गुन अति अपार प्रभु माहीं। जहँ इनि गुनवारे सब जाहीं॥

जितने गुणों को भगवान ने यहाँ दर्शाया है तथा और भी जो वेद-शास्त्रों में वर्णित हैं, वे सभी गुण ब्रह्म में अपार (असंख्य गुना) हैं; जहाँ इन गुणों वाले ही जाते हैं।

उर थल तिन्ह बोवन हरि कहहीं। जहँ ये गुन अनन्त होइ रहहीं॥
ज्यों कोउ उर अमानता बोवे। सो कछु दिन बिस्तृत तरु होवे॥

इसीलिए उन गुणरूपी बीजों को भगवान हृदयरूपी खेत में बोने को कह रहे हैं जिससे वे अनन्त गुना हो जायँ। जैसे कोई अपने हृदय क्षेत्र में निरभिमानतारूपी बीज बोता है तो वह कुछ ही दिनों में विशाल वृक्ष हो जाता है।

पुनि अमान द्रुम होय अनंता। जासें परम अमान भनंता॥
परम अहिंसक हरि सबके उर। जिनि महँ मिलहिं अहिंसक हे सुर॥

फिर तो वह निरभिमानितारूपी वृक्ष अनंत गुना हो जाता है जिससे वह पुरुष परम अमानी कहा जाता है। उसी प्रकार हे देवताओ! परम अहिंसक भगवान सबके हृदय में विराजमान हैं जिनमें अहिंसक जाकर मिल जाते हैं।

यासों बीज अहिंसा धारी। कछु दिन होवन दैं द्रुम भारी॥
परम अहिंसा फल तहँ लागे। जासें परम ब्रह्म उर जागे॥

इसलिए अहिंसारूपी बीज को धारण करके कुछ दिन उस वृक्ष को विशाल होने दें। फिर तो उसमें परम अहिंसारूपी फल लग जायेगा जिससे हृदय में ही परमब्रह्म प्रकट हो जायेगा।

दोहा— ज्ञान बीज एहि बिधि सकल बोयँ हृदय मुदिताइ।
जासें अतिहिं अनंत गुन वारो ब्रह्म लखाइ॥ १२॥

इस प्रकार प्रसन्नता के साथ सभी ज्ञानरूपी बीजों को अपने हृदय में बो लें जिससे अनन्त गुणों का भण्डार ब्रह्म दिखने लग जाय।

चौपाई— जस कै तुम्ह ब्रजबासिन्ह जानहु। तिन्ह उर ते गुन नहिं अनुमानहु॥
बुझहु हरिहिं बस प्रेम सों ध्यावें। इतनैं से तिन्हसों सब पावें॥

[हे देवताओ!] आप जैसा मानते हैं कि ब्रजवासियों के हृदय में इन उपरोक्त गुणों का वास नहीं है और समझ रहे हैं कि वे मात्र प्रेम से ही भगवान की आराधना करते हैं तथा भगवान के द्वारा इतने मात्र से अपने समस्त मनोरथों को सिद्ध करते रहते हैं-

अस बुझि करहु भूल सुर सारे। का गुन बिनु कोउ प्रेमहिं धारे॥
बेदमंत्र जे तुम्हहिं लखाये। हरि महिमा बहुबिधि जिन्ह गाये॥

तो हे देवताओ! ऐसा समझकर आप अत्यन्त भूल कर रहे हैं। क्या इन गुणों के बिना कोई हृदय में प्रेम धारण कर सकता है? [अरे! आप जिन्हें गोप और गोपियों के रूप में देख रहे हैं,] वे यथार्थत: वेदमंत्र ही हैं; जिनके द्वारा भगवान की महिमा का विभिन्न प्रकार से गान किया गया है।

हरि प्रगटहिं अब ते जब जाने। तब सरणागत होइ तिन्ह ध्याने॥
ब्रह्मगिरा भइ अतिहिं सुहाई। माँगहु बर तुम्ह सब हरषाई॥

जब उन्होंने जाना कि अब भगवान नारायण प्रकट होने वाले हैं तब वे शरणागत होकर उनका ध्यान करने लगे। फिर तो भगवान की अति मनोहर वाणी प्रकट हुई कि [हे वेदमंत्रो!] आप सब प्रसन्नतापूर्वक वरदान माँगें।

तब मंत्रनि बोले हरषाई। नाथ भगति तव अति सुखदाई॥
हमहिं देहु तेहि हे जगनाथा। जाहि पाइ हम होहिं सनाथा॥

तब छन्दों ने प्रसन्नतापूर्वक कहा- हे नाथ! आपकी भक्ति अत्यन्त सुख देनेवाली है, अत: हे जगन्नाथ! हम सबको सर्वप्रथम वही दें, जिसको पाकर हम कृतार्थ हो जायँ।

औरउ बिनती एक दयाला। हमरें तुम्हहि एक प्रतिपाला॥
आपु धरनि पर प्रगटनवारे। तुम्हरि कृपा हम जानहिं सारे॥

हे दयानिधान! हम सबके तो एकमात्र आपही रक्षक हैं, अत: एक प्रार्थना और भी है वह यह कि आप पृथ्वी पर अवतार लेनेवाले हैं, यह हम आपकी ही कृपा से जानते हैं,

जहँ नरलीला महँ हरिराई। सेवहिं हमहुँ तुम्हहिं तहँ आई॥
श्रुति मंत्रन्ह की सुनत सुबानी। नभ हरि गिरा तबहिं प्रगटानी॥

जहाँ हे देवों के देव! आपकी नर-लीला में हम भी आकर सेवा करें। वेदमंत्रों की ऐसी प्रिय वाणी सुनकर आकाश से भगवान की वाणी प्रकट हुई-

ऐसोइ होउ सुनहु श्रुतिछंदा। भजहु जनमि महि मो सुखकंदा॥
एक जनम जप तप करि भाई। दूसर जनम गहहु हरषाई॥

हे वेदमंत्रो! सुनें, ऐसा ही होगा। अत: पृथ्वी पर जन्म लेकर आप सभी मुझ सुख के धाम की आराधना करें। इस प्रकार एक जन्म में जप-तप आदि करके, पुन: प्रसन्नतापूर्वक दूसरा जन्म धारण करें,

जहाँ गोप गोपी कहलावहु। सहजहिं मोहिं तहाँ तुम्ह पावहु॥
गोप गोपि तेइ बनि इहँ आये। कृपानिधान हरिहिं अति भाये॥

जहाँ आप सब गोप एवं गोपी कहलायेंगे और वहाँ मुझे सहज ही प्राप्त कर लेंगे। वे ही यहाँ गोप-गोपियों के रूप में प्रकट हुए हैं, जो भगवान को अति प्रिय लग रहे हैं।

सब साधन फल प्रेम अनूपा। प्रगटत जासे उर जगभूपा॥

[हे देवताओ!] समस्त साधनों का फल तो अनुपम प्रेम ही है, जिसके द्वारा हृदय में जगत शिरोमणि भगवान प्रकट हो जाते हैं।

दोहा— बासुदेव भगवान बिनु अपर दूसरो नाहिं।
सोइ परमगति अहहिं सच योग अनन्य कहाहिं॥ १३ (क)॥

भगवान वासुदेव के अतिरिक्त यहाँ कोई अन्य नहीं है तथा वे ही सच में परम गति भी हैं- यही अनन्य भक्तियोग कहा जाता है।

सोरठा— एहि अबिचल मति धारि भजत भक्त प्रिय हरिहिं जब।
हे सुर कह असुरारि अब्यभिचारिणि भगति सो॥ १३ (ख)॥

अत: इस अविचल मति को धारण कर भक्त जब सर्वप्रिय भगवान की आराधना करता है तो हे देवताओ! असुरों के शत्रु भगवान का कहना है कि वही अव्यभिचारिणी भक्ति है।

इनि साधन सों प्रेम प्रगटत जब सदगुरु कृपा।
पुनि सब छूटत नेम प्रेममूर्ति प्रभु प्रगट तब॥ १३ (ग)॥

जब गुरुकृपा के माध्यम से इन साधनों द्वारा प्रेम प्रकट हो जाता है तो फिर समस्त नियम अपने-आप छूट जाते हैं और तब प्रेममूर्ति भगवान प्रकट हो जाते हैं।

चौपाई— ते गुन अहहिं पार्थ उर क्रतुभुज। जासे अब जाये तिन्ह भवरुज॥
ते जोगी बर जनम जनम के। यहि कहनो सब निगमागम के॥

हे देवताओ! महात्मा अर्जुन के हृदय में वे समस्त सद्गुण वास कर रहे हैं जिससे अब उनका संसाररूपी रोग [हृदय से] चला जायेगा; क्योंकि वे जन्म-जन्म के महान योगी हैं। ऐसा समस्त आगम-निगमों का भी कहना है।

मुनि बचनामृत सुनि सुर हरसे। बार बार तिन्हके पद परसे॥
संजय सब लखि नृपहिं सुनाये। तेउ कछु पल निज उर प्रभु लाये॥

उन मुनीश्वर कपिल के वचनामृत सुनकर देवतागण अति प्रसन्न हो गये और उनके चरणों में बारम्बार प्रणाम किया। उधर सञ्जय ने भी यह सब संवाद देखकर राजा धृतराष्ट्र को सुना दिया और उन्होंने भी कुछ क्षण भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को अपने हृदय में धारण किया।

आत्मपिपासू हे साधकगन। तुम्हरो तो एक दिब्य क्षेत्र मन॥
तन दस इंद्रिं खेत अस भाई। जिन्हिं जानत क्षेत्रज्ञ सुहाई॥

हे आत्मस्वरूप के लिए प्यासे साधको! आपका मन भी तो एक दिव्य खेत ही है तथा शरीर और दसों इन्द्रियाँ तो ऐसे दिव्य खेत हैं, जिन्हें केवल दिव्य क्षेत्रज्ञ ही जानता है।

सोइ जब चहइ होहिं अति निर्मल। बहुरि गहैंगे ते हरि प्रतिपल॥
पर मन खेत तुम्हारो भाई। वामें ज्ञान बीज धरु धाई॥

अत: जब वह चाहेगा, तभी वे सब अत्यन्त निर्मल होंगे और पुन: प्रतिपल ब्रह्म को ही धारण करेंगे। किन्तु हे भाई! आपका तो मन ही खेत है अत: शीघ्रातिशीघ्र उसमें ज्ञानरूपी बीज बो लें।

दोहा— अबहीं तौ तुम्ह देह नहिं अरु न अहउ क्षेत्रज्ञ।
एक मात्र द्रष्टा अहउ नाहिं अज्ञ सर्बज्ञ॥ १४॥

अभी तो न आप शरीर (क्षेत्र) हैं और न ही इसमें जो क्षेत्रज्ञ है वही हैं, अपितु आप द्रष्टा मात्र हैं, न मूर्ख हैं, न ज्ञानी हैं।

चौपाई— यासें कछु जानउँ नहिं कहहू। द्रष्टा आपुहिं समुझत रहहू॥
ब्रह्मरूप जेहि दिन होइ जावहु। जाननवारो तबहिं कहावहु॥

इसलिए अब आप यह न कहें कि मैं कुछ जानता हूँ! हाँ, अपने आपको द्रष्टा समझते रहें। [अरे!] आप जानने वाले तो उस दिन कहे जायेंगे जिस दिन आप ब्रह्मरूप हो जायेंगे।

प्रथम मनहिं अपुनो समुझावहु। सुख दुख जरा दोष दिखरावहु॥
हे मन अजहूँ निजहिं सम्हारहु। नातरु बादि जनम यो हारहु॥

अत: सर्वप्रथम अपने मन को भलीभाँति समझायें और उसे सुख-दु:ख एवं वृद्धावस्था के दोष दिखायें। [ऐसा कहें-] हे मन! अभी भी तुम स्वयं को सम्हाल लो, अन्यथा यह जन्म व्यर्थ ही हार जाओगे।

पंच बिषय बिष मृत्यू हेतू। अरु उन्माद देहिं तू चेतू॥
बकी बिसाल जरा तन आवति। याहि निरखि हिय अति सुख पावति॥

पाँचों विषयरूप विष मृत्यु और उन्माद देने के लिए ही हैं, अत: अब भी सावधान हो जाओ। इस शरीर में जब जरावस्था रूपी विशाल बगुली आती है तो इस शरीर को देखकर हृदय में अत्यन्त सुख का अनुभव करती है।

जीवन कीच माहिं मिलि मीना। सोचति जाय मोर सब दीना॥
सोचि याहि तन निगलनि चाहति। एहि बिधि बिबिध बिपति पुनि दाहति॥

सोचती है कि जीवन रूपी कीचड़ के बीच मछली मिल गयी है अब मेरी सम्पूर्ण दीनता चली जायेगी। यही सोचकर इस शरीर को निगलना चाहती है। इस प्रकार बहुत-सी विपत्तियाँ आकर पुन: पुन: दुख में जलाती रहती हैं।

आवति जरा जबहिं हे मम मन। बृद्धत केस दंत दृग सब तन॥
रहति तरुण तृष्णा बस एकी। सोचि इहइ एहि तजत बिबेकी॥

हे मेरे मन! जब वृद्धावस्था आती है तो शरीर, केश, दाँत, और आँख ये सभी वृद्ध हो जाते हैं। हाँ, एकमात्र तृष्णा ही तरुण (जवान) रहती है, ऐसा सोचकर विवेकी पुरुष इसका त्याग कर देते हैं।

दोहा— जीवन एक महासरित बहु बिछेप बर बीचि।
कालचक्र इहिं भँवर सम जौवन हर्षहि कीचि॥ १५॥

यह जीवन एक विशाल नदी है, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प इसमें बड़ी लहरें हैं, कालचक्र इसमें भँवर के समान है तथा जवानी का हर्ष ही कीचड़ है।

चौपाई— जीवन मरन बृहद तट याकी। सुख दुख लघू तरंगिनि जाकी॥
धवल फेन सम एहि सित केसा। मन आसक्त काहि तन देसा॥

जीवन और मृत्यु इसके दो वृहद किनारे हैं, सुख और दु:ख इसकी छोटी-छोटी लहरें हैं, श्वेत केश इसके सफेद फेन के समान हैं। अत: हे मन! इस शरीर में क्यों आसक्त हो।

कबहुँ काकतालिय संयोगा। प्रगटत कछु बुदबुद सुख भोगा॥
महाप्रवाह रेख ब्यवहारा। लोभ मोह आवर्त अपारा॥

कभी कभार काकतालिय संयोग होने पर कुछ बुदबुदे के समान क्षणभंगुर सुख-भोग प्राप्त हो जाता है। इसका व्यवहार ही तेज धारा की रेखा है तथा लोभ और मोह विस्तृत भँवर है।

मूढ़नि जलपन जलरव नाँई। राग द्वेष घन देत बढ़ाई॥
जीवनसरि तन महि अति चंचल। हे मन तू तो होउ अचंचल॥

इसमें मूढ़ों का बकवास करना ही जल की घोर गर्जना के समान है जो राग और द्वेष रूपी बादलों को बढ़ा देते हैं। यह जीवनरूपी नदी शरीररूपी पृथ्वी पर अत्यन्त चंचल है। अत: हे मन! तुम तो अचंचल हो जाओ।

सरि सब निज उदगम सों आवैं। अरु सागर महँ जाइ समावैं॥

समस्त नदियाँ अपने उद्गम से आती हैं तथा सागर में जाकर विलीन हो जाती हैं-

दोहा— पर यह तन अस सरित जहँ आयू जल बस जाय।
आय न कबहूँ सब लखत हे मन कस हरषाय॥ १६॥

किन्तु यह शरीररूपी नदी ऐसी है जिसमें आयुरूपी जल मात्र जा रहा है, कभी आता नहीं है, ऐसा सभी देखते हैं। अत: हे मन! तुम प्रसन्न क्यों हो रहे हो?

चौपाई— रँग्यो बिषय रँग धोवत छूटै। खोलै बिनु बंधन नहिं टूटै॥
आसक्ती बंधन गहराई। अनासक्त होइ खोलहु भाई॥

तुम विषयरूपी रंग में [भलीभाँति] रंग गये हो, अत: वह धोने से ही छूटेगा, जैसे बिना खोले बन्धन नहीं खुलता। हे प्रिय! तुम्हारा आसक्तिरूपी बन्धन अत्यन्त दृढ़ हो गया है, अनासक्त होकर इसे खोल लो।

हे मन दिब्य गुनन्हि तुम्ह धारहु। तिन्हसेइ अवगुन सबुरें जारहु॥
नातरु लाख जतन नहिं जावें। जनम जनम बिष घूँट पिलावें॥

हे मन! इसके लिए तुम दिव्य गुणों को धारण कर लो, उन्हीं से इन समस्त अवगुणों को जला दो, अन्यथा लाखों यत्न करने पर भी इनका नाश नहीं होगा बल्कि ये जन्म-जन्म विष का घूँट पिलाते रहेंगे।

इहँ आयू उतपात वायु सम। मित्रहिं महाबैरि देखहिं हम॥
बंधुहि बंधन धनहि निधन अति। अरति अहइ सच बिषयनि महँ रति॥

इसमें आयु ही उत्पात मचाने वाली वायु के समान है, मित्र को हम महावैरी के समान देखते हैं, भाई ही बन्धन है, धन ही मृत्यु के समान है तथा द्वेष ही यथार्थ में विषयों में रति है।

यहि सम्पति अति बिपति लखावे। सबरें भोग हि रोग जतावे॥
सुख इन्हकर दुख हेतु कहावे। जीवनहू सच मृत्यु लखावे॥

यह सम्पत्ति अत्यन्त विपत्तिरूप दिखाई पड़ रही है, सभी भोग ही रोगरूप दीख रहे हैं तथा इनका सुख भी दु:ख देने के लिए ही है एवं जीवन ही यथार्थत: मृत्युरूप दिखाई पड़ रहा है।

दोहा— बिषय भोग अहिफन सरिस नेकु छुअत डसि लेहिं।
बिज्ञ पुरुष अस समुझि प्रिय सदा केरि तजि देहिं॥ १७ (क)॥

विषय भोग सर्पों के फन के समान हैं जो थोड़ा भी स्पर्श करने में डस लेंगे। अत: हे प्रिय! बुद्धिमान पुरुष ऐसा समझकर सदा के लिए इन्हें त्याग देते हैं।

सुख दुख उदगम देखु कहँ काहि तिन्हहिं अनुभायँ।
जो पापिन्ह धरमातमा दोउन्ह पहिं सच आयँ॥ १७ (ख)॥

[इतना ही नहीं] सुख-दु:ख का उद्गम भी देखो कि वह कहाँ है और किसको उनका अनुभव होता है; जो यथार्थ में पापी और धर्मात्मा दोनों के ही पास आते हैं।

चौपाई— साधु असाधुहु कोउ जग भाई। उन पहिं जरा आय हरषाई॥
सेन संग ब्याधिन्ह बहु लावे। जासें निज प्रभु ध्यान न भावे॥

हे भाई! जगत में साधु-असाधु कोई भी हो, उन सबके पास वृद्धावस्था प्रसन्नतापूर्वक आ धमकती है तथा अपने साथ व्याधिरूपी बहुत बड़ी सेना भी लाती है; जिससे अपने इष्ट का ध्यान भी अच्छा नहीं लगता।

बिरच्यो प्रभु तन राँचि राँचि के। तुम्ह किये मन की नाचि नाचि के॥
दोष अथाह तरंगिनि निरमेउ। तरि न सकेउ मृत जस बनि भरमेउ॥

इस शरीर को भगवान ने गढ़-गढ़कर बनाया परन्तु तुमने तो नाच-नाचकर [प्रसन्नतापूर्वक] अपने मन की ही की। तुम्हारे द्वारा निर्मित दोषरूपी अथाह सरिता पार नहीं की गयी और तुम उसमें मृतक के समान होकर भ्रमित होते रहे।

खींचेगो जब काल जाल गहि। फँसहु मीन सम हाय हाय कहि॥
यासें जिनि जिनि गुन धारन हित। आतम चिंतन हिय सारन हित॥

[अन्त समय में] जब काल जाल डालकर खींचेगा तब तुम मछली के समान हाय-हाय कहते हुए फँस जाओगे। इसलिए जिन-जिन दिव्य गुणों को धारण करने तथा अपने स्वरूप का चिन्तन करने के लिए-

गुरु कै कहे तिन्हहिं गुन सेई। महि बिचरहु निज रूपहिं लेई॥
उत प्रभु कहत परंतप सम्मुख। हे प्रिय सुनु उठाव अपनो मुख॥

सद्गुरु द्वारा कहा जाय उन्हीं गुणों को पालन कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर धरा पर विचरण करो। उधर भगवान भक्त अर्जुन के सामने कह रहे हैं कि हे प्रिय! अपने मुख को ऊपर करो और [मेरी बात] ध्यान से सुनो।

दोहा— कहउँ ब्रह्म प्रापतब्य अब मोक्ष होय जेहि पाइ।
अहइ अनादी परम बिभु नहिं सत असत कहाइ॥ १८॥

अब मैं जो प्राप्त करने योग्य परम ब्रह्म है जिसको प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, उसके विषय में कहूँगा। वह परमब्रह्म अनादि होने से न सत् कहा जाता है, न असत् ही।

चौपाई— सुनि अर्जुन संजय सुर सारे। अतिहिं चकित चित प्रभुहिं निहारे॥
सोचत जो बिभु सबहिं सुहावे। कस नहिं सो सत असत कहावे॥

भगवान के द्वारा ऐसा सुनकर भक्त अर्जुन, सञ्जय एवं समस्त देवताओं ने उन्हें अत्यन्त चकित चित्त से देखा और सोचने लगे कि जो ब्रह्म सबको प्रिय है, उसका स्वरूप न सत् कहा जा सकता है और न असत्, ऐसा कैसे सम्भव है?

पुनि उन्ह मन उत्तर जो आयो। ताहि संकराचार्य बतायो॥
जो कह काह कहत यदुराई। कहैं ज्ञेय पुनि कहि नहिं जाई॥

पुन: उन सबके मन में जो उत्तर आया, उसे ही आद्यगुरु शंकराचार्य ने इस भाँति बताया है। जो यह कहता है कि भगवान यदुनाथ ने यह क्या कह दिया- एक तरफ तो वे ब्रह्म को ज्ञेय (जानने योग्य) कह रहे हैं पुन: कहते हैं कि उसके विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता!

असत नाहिं पर सत तो भाषहिं। अरु कोउ नामहु ताकर राखहिं॥
तो नहिं अस न होइ सक भाई। सब उपनीषद ऐसोइ गाई॥

[अरे! माना] वह असत् नहीं है किन्तु सत् स्वरूप तो कहें और उसका कोई नाम तो बतायें! तो [इसके उत्तर में कहते हैं-] नहीं-नहीं, ऐसा तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि हे भाइयो! समस्त उपनिषदों ने ऐसा ही कहा है कि-

नेति नेति बिभु थूल न सूक्षम। अणु परमाणु नाहिं मृदु रूक्षम॥
बानि बिषय होनै सों नाहीं। योइ ब्रह्म अस कहि नहिं जाहीं॥

ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। वह ब्रह्म न तो स्थूल है, न सूक्ष्म है; न अणु है, न परमाणु है; न कोमल है, न रूखा है; वाणी का विषय न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि परब्रह्म ऐसा ही है।

दोहा— कहत सिस्य जो अस्ति सच सब्द सों नाहिं कहाय।
सो त्रिकाल महँ अहइ नहिं क्योंकै नाहिं लखाय॥ १९ (क)॥

शिष्य कहता है- [गुरुदेव!] जो ब्रह्म 'है (अस्ति)'- यथार्थत: शब्द से कहा ही नहीं जा सकता, वह तो तीनों काल में है ही नहीं, क्योंकि वह दिखायी नहीं पड़ रहा है!

अहइ ज्ञेय त्यों सब्द सों कह्यो नाहिं जब जाय।
तब सो अहई कहउ कस यामेउँ भरम लखाय॥ १९ (ख)॥

उसी प्रकार जब वह ज्ञेय 'है' शब्द से कहा नहीं जा सकता, तब 'वह है'- ऐसा क्यों कह रहे हैं, इसमें तो भ्रम उत्पन्न हो रहा है?

चौपाई— कह गुरु नहिं सो अस नहिं बाता। यासें काह कँपतु तव गाता॥
काहे कै सो अहइ न भाई। ज्ञानबिषय एहि तेहि न कहाई॥

तब गुरुदेव ने कहा- 'वह (ब्रह्म) नहीं है'- ऐसी भी बात नहीं है, फिर इससे तुम्हारा शरीर विकल क्यों हो रहा है! क्योंकि हे प्रिय! 'वह (ब्रह्म) नहीं है'- इस ज्ञान का भी विषय उसे नहीं कहा जा सकता।

कह सिष अस्ति नास्ति महँ एकौ। सबुरें ज्ञान लहत मति टेकौ॥
ज्ञेयहु अस्ति नास्ति के माहीं। होय प्रतीत कोउ इक पाहीं॥

तब शिष्य ने कहा- गुरुदेव! सभी ज्ञान अस्ति-नास्ति में से किसी एक ही बुद्धि के आश्रित होते हैं। इसलिए ज्ञेय ब्रह्म भी 'अस्ति-नास्ति' में से किसी एक के द्वारा ही तो प्रतीत होगा?

कह सदगुरु नहिं यहउ कहाई। अहइ सो ब्रह्म अगोचर भाई॥
यासें अस्ति नास्ति दोउन से। कह्यो न जाये इहँ कोउन से॥

तब सद्गुरु ने कहा- नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हे प्रिय! ब्रह्म तो इन्द्रियों का विषय है ही नहीं। इसलिए यहाँ अस्ति-नास्ति दोनों में से किसी से भी कुछ नहीं कहा जा सकता।

दीखत इंद्रिन्ह घट पट जोई। अस्ति नास्ति सों ब्यक्त ते होई॥
जो दीखइ सो अस्ति कहावत। अहइ नाहिं तब नास्ति बतावत॥

हाँ, घट-पट आदि जो कुछ भी वस्तुएँ हैं वे इन्द्रियों के विषय हैं, अत: वे ही अस्ति-नास्ति से व्यक्त हो सकती हैं। जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष दीखता है, वह 'अस्ति' कहलाता है और जब प्रत्यक्ष नहीं होता तो 'नास्ति' कहा जाता है।

दोहा— यासें हे प्रिय ब्रह्म सो नहिं सत असत कहाय।
कृपासाध्य तबहीं कहत साधन साध्य जु नाँय॥ २०॥

इसलिए हे प्रिय! वह ब्रह्म न सत् कहा जाता है, न असत् ही। तभी तो उसे कृपासाध्य कहते हैं क्योंकि वह साधन साध्य नहीं है।

चौपाई— अबिदित बिदित परे श्रुति गावे। अस्ति नास्ति पुनि कस कहि जावे॥
जुगतिहु सिध सत असत न अहई। सुनु तिहि जुगुति संत जेहि कहई॥

श्रुति यह भी कहती है कि वह ज्ञात (जाने हुए से) और अज्ञात (नहीं जाने हुए) से परे है, पुन: वह 'है' 'नहीं है'- ऐसा कैसे कहा जाय? यही नहीं अपितु युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि वह न सत् है, न असत् ही। अब तुम उस युक्ति को सुनो जिसे समस्त सन्त कहते हैं।

कोउ संकेत करत सब्दन्हि सुन। गहि सम्बंधहिं क्रिया जाति गुन॥
जिमि गो कहत गऊ परकासे। अपर जाति कर कोउ न भासे॥

सुनो! कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के लिए शब्द द्वारा ही संकेत करता है तथा वे शब्द जाति, क्रिया, गुण और सम्बन्ध को ग्रहण करके ही संकेत करते हैं। जैसे- गौ कहने से गाय जाति का ही बोध होता है न कि किसी अन्य जाति का।

क्रिया कहत कर्महि प्रगटावे। नहिं अक्रियता कबहुँ लखावे॥
सुभ्र बरनवारी यह गाई। ऐसो कहत गुनहि प्रगटाई॥

वैसे 'क्रिया' कहते ही कर्म करने का संकेत प्राप्त होता है कभी भी अक्रियता का बोध नहीं होता। यह गाय श्वेत वर्ण वाली है- ऐसा कहने से गुण प्रकट होता है।

बहुत तुरगवारो ये अहहीं। अस सुनि सब सम्बंधहिं गहहीं॥
पर न ब्रह्म कर जाती कोऊ। करत न कर्म अकर्मा सोऊ॥

ये बहुत-से घोड़ों वाले हैं, ऐसा सुनकर सभी 'सम्बन्ध' को समझ जाते हैं। [इसी प्रकार सभी भौतिक वस्तुओं का जगत के लोगों को ज्ञान होता है;] परन्तु ब्रह्म की कोई जाति ही नहीं है और न वह कोई कर्म ही करता है क्योंकि वह अकर्मा है।

सुभ्र रक्त पित बरन न ताही। कारन तहाँ अपर नहिं आही॥

न वह शुभ्र है, न रक्त या पीत वर्ण का ही है, क्योंकि वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं।

दोहा— ब्रह्म सो अकल अभेद अरु अक्रिय अगुन अजाति।
अस्ति नास्ति कोउ कस कहै कस अन्यहु की भाँति॥ २१॥

अरे! वह ब्रह्म तो कलारहित, भेदरहित, अक्रिय (क्रियारहित), निर्गुण और जाति से रहित है। अतः कोई किसप्रकार कहे कि वह 'है' या 'नहीं है' अथवा 'किसी अन्य की तरह है।'

चौपाई— पुनि ताकर प्रभु कर संकेता। आपहु सुनहु होइ चित चेता॥
अर्जुन ज्ञेय ब्रह्म उजियारो। सर्ब ओर कर पैरनवारो॥

अब पुनः भगवान उसका संकेत कर रहे हैं, अतः आप भी उसका सावधान चित्त से श्रवण करें। [भगवान कह रहे हैं-] हे अर्जुन! जो जानने में आने वाला ब्रह्म है, वह तो ऐसा है कि सब ओर से हाथ-पैर वाला,

सर्ब ओर सिर नैनन वारो। सर्ब ओर मुख श्रवनन धारो॥
जगत अजगत जीव जो आहीं। ब्यापत ज्ञेय ब्रह्म सब माहीं॥

सब ओर से सिर-नेत्र वाला, सब ओर से मुख वाला तथा सब ओर कानों को धारण करने वाला है। दृश्य और अदृश्य जगत तथा इनमें जो भी जीव हैं, उन सबमें ज्ञेय ब्रह्म व्याप्त हो रहा है।

इंद्रियँ करहिं कर्म तेहि आश्रित। लगत सोइ कर कर्म निराश्रित॥
जदपि राग गत उनसों रहई। कारन तेहिं पहिं मन नहिं अहई॥

समस्त इन्द्रियाँ उसी (ब्रह्म) के आश्रित होकर अपने-अपने व्यवहार में बरतती हैं, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि बिना किसी आश्रय के वही कर्मों को करने वाला है, जबकि वह सदा उन सबसे अनासक्त है; क्योंकि उसके पास तो मन है ही नहीं।

तउ सोइ सब कहँ धारनवारो। निर्गुन पर गुन भोगनवारो॥
बाहर भीतर ब्याप्त सकल जग। चर अरु अचर रूप सोइ रग रग॥

तो भी वह सबको धारण करने वाला है तथा निर्गुण होते हुए भी समस्त गुणों को भोगने वाला है। वह सम्पूर्ण जगत के भीतर-बाहर व्याप्त है तथा चर-अचर और कण-कण के रूप में भी वही है।

दोहा— ज्ञेय अहइ पर सूक्ष्म अति यासों जानि न जाय।
दूर अतिहिं पर निकटहू याकर गुन अस आय॥ २२॥

यद्यपि वह ज्ञेय है परन्तु अति सूक्ष्म है इसलिए जानने में नहीं आता। उसका स्वभाव ऐसा है कि वह अत्यन्त दूर होते हुए भी निकट है।

चौपाई— यद्यपि भूतनि महँ अबिभक्तम्। किंतु बिराजइ मनहु बिभक्तम्॥
अर्जुन सोइ भूतन्ह कर भर्ता। सोइ उपजावत सोइ संघर्ता॥

यद्यपि वह समस्त भूत-प्राणियों में विभागरहित है, किन्तु मानो [शरीरों के कारण] वह विभक्त-सा स्थित है। हे अर्जुन! वही समस्त भूतों का भरण-पोषण करने वाला है तथा वही सबको उत्पन्न करने वाला और सबका संहार करने वाला है।

सोइ अहइ ज्योतिन्ह की ज्योती। तमस परे सोइ अरु सब थोती॥
ज्ञानरूप सोइ ज्ञेय कहावत। ज्ञान गम्य सोइ उर सब भावत॥

[इतना ही नहीं] वह समस्त ज्योतियों की ज्योति अर्थात् परम ज्योति एवं अविद्या से परे है, अन्य सब तो सर्वथा मिथ्या है। वही ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञेय (जानने में आनेवाला) कहा जाता है एवं ज्ञान के द्वारा अनुभव में आने वाला है जो सबके हृदय में स्थित हुआ सुशोभित हो रहा है।

ज्ञान ज्ञेय क्षेत्रहिं इमि गायों। गहहु हिये संक्षेप बतायों॥
मेरो भक्त यहइ सब जानत। आत्मरूप लहि मम गुन गानत॥

यहाँ तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप थोड़े में कहा गया जिसे तुम हृदय में धारण करो। [हे पार्थ!] मेरा भक्त इन सबको यथार्थरूप से जानते हुए आत्मरूपता को प्राप्त कर मेरे गुणों का कीर्तन करता रहता है।

उत संजय यह नृपहिं सुनाये। पर ते कछुहु समुझि नहिं पाये॥

उधर सञ्जय ने यह सब (उपरोक्त ज्ञान) राजा धृतराष्ट्र को सुनाया, परन्तु वे कुछ भी समझ नहीं पाये।

दोहा— सोचहिं संजय मनहिं मन कौन सो करउँ उपाय।
ज्ञेय ब्रह्म अति गूढ़ तउ इन्ह मति साँच बुझाय॥ २३॥

अत: सञ्जय मन ही मन सोचने लगे कि कौन-सा उपाय करूँ जिससे अत्यन्त गूढ़ ज्ञेय ब्रह्म इनको यथार्थत: समझ में आ जाय।

चौपाई— तबहिं कहत नृप संजय भाई। अस कहि का कह चह यदुराई॥
राजन सुनहु ध्यान दै मोरी। जासों समुझि सके मति तोरी॥

तभी राजा ने कहा- हे प्रिय सञ्जय! ऐसा कहकर यदुनाथ क्या कहना चाह रहे हैं? [सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! ध्यान देकर मेरी बात सुनें! जिससे आपकी बुद्धि समझ सके।

गृह गृह स्वामी स्वामिनि दोऊ। उन्हके पुत्र पुत्रि सब होऊ॥
स्वजन सगे धन सब परिवारा। तस तन माहिं भर्‌यो जग सारा॥

जिस प्रकार प्रत्येक घर में गृहस्वामी, स्वामिनी उनके पुत्र-पुत्री, स्वजन, सगे-सम्बन्धी, धन-धान्य और सम्पूर्ण परिवार वास करता है, उसी प्रकार इस शरीर में सारा संसार भरा हुआ है।

एहि तन गृह बहु इंद्रीं राजन। स्वजन सगे धन कुल प्रिय भाजन॥
पुत्र पुत्रि मन कर बहु रूपा। बुद्धि महरि पति अहं अनूपा॥

हे राजन्! इस शरीररूपी गृह में स्वजन, सगे-सम्बन्धी, धन, कुल, प्रिय-कुटुम्ब तथा संगी-साथी ही बहुत सी इन्द्रियाँ हैं। पुत्र-पुत्रियाँ मन के विविध रूप हैं, बुद्धि पत्नी है तथा अहंकार अनुपम पति है।

मूल प्रकृति नभ त्रय गुन वायू। जो गृह अन्तः बाह्य समायू॥
आग लगति गृह सँग सब मरहीं। तउ नभ रहत संत उच्चरहीं॥

सत्, रज, तम पवन हैं, आकाश मूल प्रकृति है, जो गृह के भीतर-बाहर व्याप्त है। यदि घर में आग लग जाये तो घर के साथ-साथ ये सभी जल मरते हैं, तो भी आकाश रहता ही है, ऐसा सन्तजन कहते हैं।

गृहाकास कहलावत तबलौं। ढहत नाहिं गृह हे नृप जबलौं॥

हे राजन्! वह आकाश तभी तक गृहाकाश कहलाता है, जब तक घर गिर नहीं जाता।

दोहा— नातरु नभ तौ नभ अहै घर बाहर महँ जोय।
गृह नसाय नहिं नसत सो अस जानत सब कोय॥ २४॥

अन्यथा आकाश तो आकाश है जो घर के भीतर-बाहर सर्वत्र है; वह घर का नाश होने से नष्ट नहीं होता- ऐसा सभी जानते हैं।

चौपाई— तिमि तन गृह जनु क्षेत्र कहावत। पुन्य पाप तिहिं बीज बतावत॥
स्वजन बैरि सुख दुख फल भाई। जेहि भोगत यह जीव सदाई॥

उसी प्रकार यह शरीररूपी घर ही मानो क्षेत्र कहा गया है, पुण्य और पाप उसमें बीज हैं, स्वजन और शत्रु उसके सुख-दु:खरूपी फल हैं; जिसे यह जीव सदा भोगता रहता है।

समय पाइ ये सबहिं नसावें। बेद सास्त्र अरु मुनि अस गावें॥
किंतु ब्रह्म साक्षी तन माहीं। मरत सबहि पर सो मर नाहीं॥

समय पाकर ये सभी नष्ट हो जाते हैं ऐसा वेद, शास्त्र एवं सन्त कहते हैं किन्तु क्षेत्रज्ञरूपी ब्रह्म जो शरीर में साक्षी होकर रहता है, वह तो इन सभी के मृत होने पर भी नहीं मरता,

जेहि क्षेत्रज्ञ कहत इहँ स्वामी। रथासीन प्रभु अंतरजामी॥
सो तबलौं क्षेत्रज्ञ कहावत। जबलौं सब तन नाहिं ढहावत॥

जिसे यहाँ [सारथि रूप में] रथ पर विराजमान अन्तर्यामी भगवान क्षेत्रज्ञ कह रहे हैं; वह तभी तक क्षेत्रज्ञ कहलाता है, जब तक समस्त [स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि] शरीर नष्ट नहीं हो जाते।

ऐसोइ दृस्य जगत सब जानहु। जेहि भीतर बाहर प्रभु मानहु॥

इसी प्रकार समस्त दृश्य जगत को आप समझ लें जिसके भीतर-बाहर प्रभु ही हैं ऐसा स्वीकार कर लें।

दोहा— नातरु ब्रह्महि ब्रह्म तौ तन महँ बाहर होय।
जेहि अनन्य भक्ती बिना जानि सकै नहिं कोय॥ २५॥

अन्यथा ब्रह्म तो ब्रह्म ही है, जो शरीर के भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त है, जिसे अनन्य भक्ति के बिना कोई नहीं जान सकता।

चौपाई— प्रभु इहँ सिद्ध करत हरषाई। तेइ क्षेत्रज्ञ अहहिं सुखदाई॥
यासें कै इन्हके आधीना। जग सँग सबही प्रानि प्रबीना॥

भगवान यहाँ प्रसन्नतापूर्वक सिद्ध कर रहे हैं कि वे ही (ब्रह्म) अत्यन्त सुखद क्षेत्रज्ञ हैं। इसलिए हे बुद्धिमान्! इन्हीं के आश्रित जगत के साथ-साथ सम्पूर्ण प्राणि-समुदाय भी हैं।

जैसो कै पुरान अस गायो। ब्रह्मा बहुबिधि सृष्टि रचायो॥
जदपि कहहिं प्रभु ऐसो नाहीं। कोउ अज एहि महँ नहिं प्रगटाहीं॥

जैसा कि पुराण ऐसा कहता है कि ब्रह्माजी ने नाना प्रकार से सृष्टि की रचना की है, जबकि भगवान कह रहे हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि कोई भी ब्रह्मा इस ब्रह्म में प्रकट ही नहीं हुआ है।

अपितु बिधाता नाम रूप धरि। प्रगटि सृजत सब जगत यहइ हरि॥
प्रगटहिं का ये जग बनि जावें। पर मूढ़न्ह कहँ नाहिं लखावें॥

बल्कि ये ही भगवान [वासुदेव निर्गुण निराकाररूप से] ब्रह्मा नाम एवं रूप को स्वीकार कर प्रकट होते हैं और सम्पूर्ण जगत का सृजन करते हैं। [अरे!] ये प्रकट क्या होते हैं ये तो सृष्टिरूप ही हो जाते हैं किन्तु अज्ञानियों को दिखायी नहीं पड़ते।

यासों यह सिध होय सुजाना। जानि बूझि प्रभु गह अज्ञाना॥

हे बुद्धिमान्! इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान नारायण ने जान-बूझकर अज्ञान को धारण कर रखा है।

दोहा— कह्यो जाय क्षेत्रज्ञ बरु कीधौं परा कहाय।
पर यहि निर्गुन ब्रह्म नृप सुनहु गुनहु मुदिताय॥ २६॥

अत: हे राजन्! आप प्रसन्नतापूर्वक सुनकर समझ लें कि भले ही इसे क्षेत्रज्ञ कहा जाय या परा प्रकृति किन्तु है तो यह निर्गुण ब्रह्म ही।

चौपाई— जब प्रभु कह क्षेत्रज्ञ अहइ जो। निज सासन महँ जगत गहइ जो॥
सोइ प्राप्तब्य अहइ जग सबसों। प्राप्त न करहु काह तेहि अबसों॥

जब भगवान कह रहे हैं कि जो क्षेत्रज्ञ है जिसने अपने शासन में सभी प्राणियों को रख रखा है, वही इस जगत में सभी [जिज्ञासुओं] द्वारा प्राप्त करने योग्य है। अत: अब से भी आप उसी को प्राप्त क्यों नहीं करते!

कह महराज सुनहु मुनि बृंदा। तुम्ह सब तन क्षेत्रज्ञ अनिंदा॥
जब तुम्ह प्रबल अबिद्या धारौ। समुझहु जाति क्रिया गुनवारौ॥

महाराज आप साधकों से कह रहा है कि आप ही समस्त क्षेत्रों (शरीरों) में अनिंदित क्षेत्रज्ञ हैं। किन्तु जब आप प्रबल अज्ञान को धारणकर स्वयं को जाति, क्रिया और गुणवाला समझते हैं,

मूढ़ जीव तुम्ह तबहिं कहावत। संत श्रुतिहु सबरें अस गावत॥
जब तुम्ह निज उर ऐसोइ धारौ। दुइ कर पग दृग श्रवननि वारौ॥

तभी आप मूढ़ जीव कहे जाते हैं- ऐसा ही समस्त सन्तों एवं श्रुतियों का कहना है। जब आप अपने हृदय में ऐसा समझते रहते हैं कि 'मैं दो हाथ, दो कान, दो नेत्र, दो पैरो वाला हूँ,'

तबहीं जीव होय जग भटकहु। त्रिजगजोनि नर सुर तन अटकहु॥

तभी जीव होकर जगत में भटकते रहते हैं और तिर्यग्योनियों, मनुष्यों एवं देवताओं के शरीर में अटके रह जाते हैं।

सोरठा— पुनि तन भावहिं त्यागि हृदय गहउ क्षेत्रज्ञ हौं।
ज्ञान बीज उपरागि मोह निसा सों जागहू॥ २७ (क)॥

अत: शरीर भाव को आप त्यागकर मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ, ऐसा हृदय में धारण कर लें और ज्ञानरूपी बीज को उत्पन्न कर मोहरूपी रात्रि से जाग जायँ।

पुनि लखिहौ बिनु सोर अपनोइ रूप लखाय जू।
बहु कर पद सब ओर दिब्य सक्तिहू अवतरे॥ २७ (ख)॥

फिर आप बिना बाधा के देखेंगे कि सर्वत्र अपना ही स्वरूप दीख रहा है और [यह भी देखेंगे कि] मैं ही असंख्य हाथ-पैरों से युक्त हूँ तथा सब ओर से दिव्य शक्ति प्रकट हो रही है।

चौपाई— सब इंद्रियनि चेतना जोई। नृपति परम चेतन सों होई॥
यासों परितः इंद्रियँ वारो। कहि इंद्रिन्ह कर अहं निवारो॥

क्योंकि हे राजन्! समस्त इन्द्रियों की चेतना परम चेतन ब्रह्म से ही है। इसलिए 'ब्रह्म सब ओर से इन्द्रियों वाला है'- ऐसा कहकर इन्द्रियों के अभिमान का निराकरण किया गया है।

सच महँ क्षेत्र उपाधी कारण। सर्बभेद मिथ्या अवधारण॥
सो उपाधि तजि कह हरिराई। ब्रह्म न सत अरु असत कहाई॥

हे राजन्! यथार्थ में तो शरीररूपी उपाधि के कारण ही सम्पूर्ण भेदों की मिथ्या अवधारणा हो रही है। जो मिथ्या कही गयी है। अत: उस उपाधि को हटाकर ही भगवान कह रहे हैं कि ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही।

कहउ नृपति इंद्रिय पर जोई। कस अनुसर तिन्ह धर्मनि सोई॥
यासे कै सब इंद्रिं धरम सों। सो कर्ता अनुभाय भरम सों॥

हे राजन्! आप जो कह रहे हैं कि जो इन्द्रियातीत है, वह इन्द्रियों के धर्म से कैसे व्यवहार कर सकता है? तो इसलिए कि वह समस्त इन्द्रियों के व्यवहाररूपी धर्म से धर्मवान है, जो भ्रम के कारण ही [अकर्ता होते हुए भी] कर्तारूप प्रतीत हो रहा है।

यद्यपि सो कछु करइ धरइ नहिं। कारन सो कहुँ जियइ मरइ नहिं॥
तबहिं कहति श्रुति जनु कर कर्मा। अरु सुमिरत लखाय अस मर्मा॥

यद्यपि वह कुछ करता-धरता नहीं है क्योंकि वह न कभी जन्मता है, न मरता है। तभी तो श्रुति यह उपदेश करती है कि मानो वह कर्म कर रहा है, स्मरण करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है- यह रहस्य ऐसा ही है।

सोरठा— संजय पुनि कह काह कर बिनु कर पग बिनु चलै।
ऐसो कस निर्बाह मुख बिनु ग्रस बद बानि बिनु॥ २८॥

हे सञ्जय! फिर क्यों कहा जाता है कि वह ब्रह्म हाथ के बिना कर्म करता है, पैर के बिना चलता है, मुख के बिना खाता है और वाणी के बिना ही बोलता है, वह ऐसा कैसे कर पाता है?

चौपाई— नृप अस कै जो सो बिभु आही। सर्बब्याप्त सर्बज्ञ कहाही॥
भगतभाव लखि कहुँ किहिं काला। प्रगटइ गहि कोउ रूप कृपाला॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! इसलिए कि वह ब्रह्म सर्वत्र रहने वाला और सर्वज्ञ कहा जाता है। अत: वह कृपालु भगवान भक्त के भाव को देखकर चाहे, जहाँ कहीं भी और किसी भी काल में किसी भी रूप को धारण कर प्रकट हो जाता है।

इतनोइ नहिं जग प्रानिन्ह कोऊ। सुर मुनि सदगुरु कोउहु होऊ॥
उन्ह महँ काहुहिं तन मन धारी। सो कर कृपा भाव अनुसारी॥

इतना ही नहीं, भक्तों के भाव के अनुसार जगत के किसी भी प्राणी, देवता, ऋषि या सद्गुरु में से किसी के तन, मन, इन्द्रियों को धारण करके वह उन पर कृपा कर देता है।

तबहीं तो सदगुरु रुप आई। अजहुँ ज्ञान बर दै हरषाई॥
तुम्ह जो कह निर्गुन कस भोगै। जद्यपि सो कछुवै नहिं जोगै॥

[हे राजन्!] तभी तो वह [ब्रह्म] आज भी सद्गुरु के रूप में प्रकट होकर प्रसन्नतापूर्वक शिष्य को परम ज्ञान का वरदान दे देता है। आप जो कह रहे हैं कि निर्गुण ब्रह्म विषयों को कैसे भोगता है, जबकि वह तो कुछ करता ही नहीं है?

नहिं राजन ऐसो नहिं कोऊ। सुख दुख लह प्रतीत अस होऊ॥
किंतु अहउँ मैं रूप चराचर। कहि माधव संजय का सिध कर॥

तो हे राजन्! ऐसा कुछ भी नहीं है अपितु ऐसी प्रतीति होती है कि वह सुख-दु:ख को भोग रहा है। [धृतराष्ट्र ने कहा-] परन्तु हे सञ्जय! मैं ही चर और अचर रूप वाला हूँ- ऐसा कहकर ये माधव क्या सिद्ध करना चाहते हैं?

दोहा— कस न कहहिं नृप रज्जु महँ जस कोउ उरग न होय।
तैसोइ दृस परब्रह्म महँ अपर जीव नहिं कोय॥ २९॥

[पुन: सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! वे ऐसा क्यों न कहें, क्योंकि जिसप्रकार रस्सी में [भ्रमवश भासने पर भी] कोई सर्प नहीं होता, उसी प्रकार दृश्य ब्रह्म में कोई दूसरे जीव तो प्रकट होते ही नहीं।

चौपाई— जब संजय सब ब्रह्म लखावे। ब्रह्म अस्ति काहे न कहावे॥
हे राजन अस जाहि लखावे। सो पर अपर रूप होइ जावे॥

[तब धृतराष्ट्र ने कहा-] हे सञ्जय! जब यह सब ब्रह्मरूप ही दीख रहा है तो ब्रह्म 'है'- ऐसा क्यों नहीं कहा जाता? [सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! ऐसा जिसे दिखायी पड़ता है, वह तो 'पर और अपर' ब्रह्म- दोनों ही रूप हो जाता है।

सो कासों कह ब्रह्म अहै यो। काहु न सम्मुख आपु लहै यो॥
सर्ब ब्रह्म मत ज्ञानिन्ह लाने। अहइ ज्ञानमय श्रुती बखाने॥

अत: वह किससे कहे कि 'यही ब्रह्म है?' क्योंकि किसी भी अन्य को अपने सामने नहीं पाता। 'यह सब ब्रह्म ही है'- इस मत को तो ज्ञानियों के लिए ज्ञानमय श्रुतियों ने कहा है!

नित प्रत्यक्ष ज्ञानी हित जोई। इक पल बिमुख सो कबहुँ न होई॥
आत्मरूप सों ज्ञेय सदाई। अज्ञानिन्ह सो नाहिं लखाई॥

जो [ब्रह्म] उस ज्ञानी के सामने सदा प्रत्यक्ष है जिससे वह पलभर के लिए भी पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार वह आत्मरूप से तो सदा ही ज्ञेय (अपरोक्ष) है किन्तु अज्ञानियों को दिखायी नहीं पड़ता।

अज्ञानिन्ह नहिं बेगि लखावे। सो उनसों अति दूर कहावे॥
ज्ञानिन्ह हेतु आतमा सोई। यासें वासे निकट न कोई॥

अज्ञानियों को शीघ्र दिखायी नहीं पड़ता, अत: 'उनसे वह अति दूर है'– ऐसा कहा जाता है। किन्तु ज्ञानियों की तो वही आत्मा है, इसलिए [उनके लिए] उससे निकट कोई नहीं है।

दोहा— सब भूतन्ह उपजाय सो पालइ नासइ सोइ।
अस कहि भाषइ ब्रह्म अज संकर बिष्णु न कोइ॥ ३०॥

'वही समस्त भूतों को प्रकट करता है, पालन एवं संहार करता है'– ऐसा कहकर परब्रह्म परमात्मा भगवान वासुदेव का कहना है कि [मुझसे भिन्न अन्य] कोई ब्रह्मा, विष्णु और शिव तो हैं ही नहीं।

चौपाई— संजय यह नहिं मानन लायक। भलेइ बतायँ कृष्ण यदुनायक॥
बिपुल ऋषिहु ऐसो कहि गाये। हरि पालत जग अज उपजाये॥

[धृतराष्ट्र ने कहा–] सञ्जय! यह तो मानने के योग्य है ही नहीं, भले ही यदुवंश शिरोमणि श्रीकृष्ण ही ऐसा कह रहे हैं। बहुत-से ऋषियों ने ऐसा ही कहकर गुणगान किया है कि ब्रह्माजी सृष्टि उत्पन्न करते हैं और भगवान विष्णु पालन करते हैं–

कल्प अंत संकर संघारत। एहि बिधि सृष्टि चक्र संचारत॥
नृप न मानु हरि कर का जाई। जन्म जन्म कर यह तम भाई॥

तथा कल्प के अन्त में भगवान शंकर संहार करते हैं। इस प्रकार सृष्टि-चक्र [सुचारु रूप से] चलता रहता है। हे राजन्! आप ऐसा न मानें तो क्या होगा, इसमें भगवान का क्या जाता है! यह अज्ञान तो [कोई आज का नहीं अपितु] जन्म-जन्म का है।

अच्छा तुम्हइ बतावहु राजन। छोड़उ काह कहत बर मुनिजन॥
नृपति सपन तव को प्रगटावत। को रक्षत अरु कौन नसावत॥

अच्छा तो हे राजन्! श्रेष्ठ मुनिजनों ने क्या कहा है, उसे जाने दें, आप ही बतायें कि आपके स्वप्न को कौन प्रकट करता है, कौन उसकी रक्षा करता है और कौन उसका संहार करता है?

का कोउ अज प्रगटैं हरि पालहिं। का कोउ महादेव तेहि घालहिं॥

क्या कोई ब्रह्मा उस [स्वप्न लोक] को प्रकट करते हैं, क्या कोई विष्णु उसका पालन करते हैं तथा क्या कोई शिव उसका संहार करते हैं?

दोहा— सच संजय तव बिमल मति जेहि अस साँच लखाय।
पुनि यह काह पहेलि प्रिय मोको अब बतलाय॥ ३१ (क)॥

[तब धृतराष्ट्र ने कहा–] सञ्जय! यथार्थ में तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है जिसको ऐसा स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। हे प्रिय! पुन: तुम मुझे यह बतलाओ कि यह पहेली क्या है?

सृष्टि सृजन इमि ब्रह्म महँ ज्यों रज्जू महँ साँप।
प्रगटत पलत नसाय जस ता सम नृप एहि माँप॥ ३१ (ख)॥

[सञ्जय ने कहा–] हे राजन्! ब्रह्म के अन्तर्गत सृष्टि का सृजन होना वैसे ही है जैसे रस्सी में सर्प का प्रकट होना, स्थित रहना और नाश को प्राप्त हो जाना, उसीके समान इसका भी गणित कर लेना चाहिये।

चौपाई— समुझि गयों संजय तव कहनो। पर याकर दुरूह निर्बहनो॥
यहि राजन अर्जुन उर लाये। तब प्रभु गुप्त राज बतलाये॥

[धृतराष्ट्र ने कहा–] हे सञ्जय! तुम्हारा कहना समझ गया परन्तु इस [ज्ञान पथ] का निर्वहन (पालन) अत्यन्त कठिन है। [सञ्जय ने कहा–] हे राजन्! भक्त अर्जुन ने भी हृदय में यही सोचा, तभी भगवान ने उन्हें गुप्त रहस्य बता दिया कि–

पार्थ कहहिं जो ज्ञान अगम पथ। उन्ह हित तो अनन्य भगती रथ॥
तापे चढ़ि बुलायँ जो मोहीं। उन्हकर रथ हाँकउँ कहुँ तोहीं॥

हे पार्थ! जो ज्ञानपथ को अगम (कठिन) कहते हैं, उनके लिए अनन्य भक्ति का रथ है ही। यदि वे उस पर बैठकर मेरा स्मरण करते हैं तो मैं स्वयं आकर उनका रथ हाँकता हूँ- यह मैं तुमसे [सत्य] कह रहा हूँ।

ज्ञान ज्ञेय जो अबहिं बखाने। ज्ञानगम्य बनुँ उन्हके लाने॥
सुनि धृतराष्ट्र अतिहिं सकुचाने। संजय मनहीं मन मुसुकाने॥

और जो अभी मैंने ज्ञान-ज्ञेय आदि को बताया है, उनके लिए मैं स्वयं ज्ञान के द्वारा अनुभव में आ जाता हूँ। ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त लज्जित हो गये, तब [उनकी दशा देखकर] सञ्जय मन ही मन मुस्कुराने लगे।

हे नृप बर्तमान सब निरखउँ। बुरो न मानउ कहुँ जस परखउँ॥
भय लज्जा तजि संजय बोलहु। भा उर कुलिस सुनउँ जो खोलहु॥

[और बोले-] हे राजन्! वर्तमान में जो कुछ हो रहा है, उसे मैं देख रहा हूँ और यदि आप बुरा न मानें तो मैंने जैसा समझा है उसे बता दूँ। [धृतराष्ट्र ने कहा-] हे सञ्जय! अब मेरा हृदय वज्र की तरह कठोर हो गया है, अतः भय एवं संकोच त्यागकर कहो, मैं उसे ध्यान से सुनूँगा।

दोहा— सुनि तो सकउँ न लखि सकउँ तू कह चाहे जोउ।
निज मति बहु हटक्यों सुतहिं नेकु न मान्यो तोउ॥ ३२॥

हे सञ्जय! तुम चाहे जो भी कहो, उसे सुन तो सकता ही हूँ, हाँ [देखने की सामर्थ्य होती तो भी] देख नहीं पाता। अपनी समझ से तो मैंने पुत्र दुर्योधन को बहुत मनाया किन्तु उसने एक नहीं मानी।

चौपाई— अब कोउ मरे जिये नहिं चिंतउँ। कबहुँ न एहि काजें हरि मिंतउँ॥
हरि बिसर्‌यों सुत नृपपद कारन। सकल कलह कर होय निबारन॥

अब कोई मरे या जीये मैं चिन्ता नहीं करता और न इसके लिए कभी भगवान से प्रार्थना ही करता हूँ। मैं पुत्र और राजपद के कारण भगवान को ही भूल गया था, अतः अब यह सोच रहा हूँ कि शीघ्रातिशीघ्र समस्त झंझटों का समाधान हो जाय।

मन बच कर्म परे बिभु धारउँ। सेष अवस्था तेहि पद बारउँ॥
अहइ अनाम ॐ नामहिं धरि। अगुनहिं गुनी अरूप रूप हरि॥

जिससे मन, वचन, कर्म से परे जो ब्रह्म है उसे धारण करूँ और शेष आयु उसी के चरणों में न्योछावर कर दूँ; जो अनाम होते हुए भी ॐ नाम धारण करता है, निर्गुण होते हुए भी गुणवान है तथा अरूप होते हुए भी रूपवान है-

छमा करत अपराध अपरिमित। अब बनाउँ तेहि स्वजन हीत मित॥
सुमिरन कहँ प्रभु नर तन दीन्हों। मैं अस अधम न अबलौं कीन्हों॥

जो [शरणागत के] अनन्त अपराधों को क्षमा करने वाला है, अब उसी को अपना स्वजन और हित-मित्र बनाऊँगा। भगवान ने तो यह मनुष्य देह अपना स्मरण करने के लिए दिया था, किन्तु मैं ऐसा अधम हूँ कि अब तक कुछ भी नहीं किया।

रह्यों अधोमुख गर्भहिं माहीं। हरि सुधि लीन्हिं बिसारे नाहीं॥
जठर अनल महँ जरन न दीन्हीं। कंचन सरिस देह भल कीन्हीं॥

गर्भवास के समय जब मैं अधोमुख था तो भी भगवान मुझे भूले नहीं और वहाँ भी मेरी सुध-बुध ली तथा जठराग्नि में नहीं जलने दिया अपितु शरीर को स्वर्ण के सदृश बना दिया।

दोहा— मृत्यु दंड मिलनो हुतो पर नहिं मृत्यू दीन।
किरिपा कीन्हिं जयंत सम बस दोउ दृग लिये छीन॥ ३३ (क)॥

[मेरे पापों के परिणामस्वरूप] मुझे तो मृत्युदण्ड मिलना चाहिए था परन्तु भगवान ने मृत्यु नहीं दी बल्कि दया करके जयन्त के समान मात्र मेरे दोनों नेत्रों को ले लिया।

नैन लिये हरि गर्भ महँ सेष जो कछु अपराध।
तासों यदि सब लेहिं तौ होय मार्ग निर्बाध॥ ३३ (ख)॥

हे सञ्जय! भगवान ने पूर्व के अपराधों के फलस्वरूप गर्भ में नेत्रों को ले ही लिया तथा अब और जो [कुछ] अपराध शेष है, उसके प्रायश्चित्त स्वरूप यदि सब कुछ ले लेते हैं तो मेरा मार्ग [निश्चित ही] बाधारहित हो जायेगा।

चौपाई— पुनि सुनु एहि छन हे महिपाला। अर्जुन मन कछु भयो बेहाला॥
सोचत कौरव अति छलि कपटी। छल करि द्यूत माहिं सब झपटी॥

फिर तो हे पृथ्वीनाथ! आप सुनें, इस समय भक्त अर्जुन का मन कुछ दु:खी सा हो गया है। वे सोच रहे हैं कि ये कौरव! अत्यन्त छली एवं कपटी हैं, इन्होंने छल करके ही जुए में सब कुछ छीन लिया था।

लाक्षागृह दिये कपट प्रेम करि। तेहि जारे प्रभु हमहिं छेम करि॥
सोइ छल कपट करहिं रन माहीं। सोवत महँ ते आग लगाहीं॥

इन्होंने कपटपूर्ण प्रेम करके लाक्षागृह में रख दिया परन्तु भगवान ने हमारी कुशल-क्षेम रखते हुए उसे जला दिया। वे यहाँ युद्धभूमि में भी वही छल-कपट करेंगे और [कदाचित्] हमलोगों के सोने पर दसों दिशाओं से आग लगा देंगे।

हारत जुद्ध नियम नहिं मानहिं। छुपि छुपि पाछें सर संधानहिं॥
नृप एहि कहँ प्रभु उत्तर दीन्हें। पार्थहिं परम अभय सच कीन्हें॥

ये जब हारने लगेंगे तो युद्ध के नियमों को नहीं मानेंगे और छिप-छिप कर पीठ पीछे से बाण चलायेंगे। हे राजन्! भगवान इसी [सोच] का उत्तर देकर महात्मा अर्जुन को यथार्थ में परम अभय कर रहे हैं कि-

चिंता करु न धीर कटि काछे। आगे तौ हौं हौं तुव पाछे॥
दाम बाम तुव ऊपर नीचे। अर्जुन कौन प्रान तव खीचे॥

हे धैर्यवान! चिन्ता न करो और कमर कस लो, क्योंकि मैं तुम्हारे आगे [रथ पर बैठा हुआ] तो हूँ ही, पीछे भी हूँ, दायें-बायें और ऊपर-नीचे अर्थात् सर्वत्र हूँ। अत: तुम्हारे प्राणों का हरण कौन कर सकता है!

दोहा— उर प्रेरक इनकेहु मैं करहिं न ये कछु अन्य।
मेरोइ मानहिं अस्त्रहु तुम्ह बस लखहु अनन्य॥ ३४॥

क्योंकि इन [कौरवों] के हृदय का प्रेरक भी मैं ही हूँ, अत: ये कुछ अन्य नहीं कर सकते तथा समस्त अस्त्र-शस्त्रादि भी मेरा ही कहना करेंगे, तुम तो एकमात्र अद्वैत दृष्टि धारण कर लो।

चौपाई— कहहिं संत परमारथ बादी। प्रकृति पुरुष दोउ अहहिं अनादी॥
तीनहु गुन अरु सकल बिकारा। उपज प्रकृति सों यहइ उचारा॥

पारमार्थिक सन्त कहते हैं कि प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ) दोनों अनादि हैं तथा समस्त विकार एवं तीनों गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

सास्त्रहु बेद नीति अस गावत। कारन काज प्रकृति उपजावत॥
सुख दुखादि भोगन महँ भाई। सच कहुँ पुरुषहि हेतु कहाई॥

अत: कार्य और करण को उत्पन्न करने में प्रकृति ही हेतु है, ऐसा ही वेद-शास्त्रों का भी कहना है। हे प्रिय! मैं सच कह रहा हूँ कि सुख-दु:खादि भोगों को भोगने में पुरुष ही कारण कहा जाता है-

पुरुष प्रकृति महँ बसि हरषाई। ताहि गुनन्हिं सो भोग सदाई॥
योनि सुभासुभ राग सों पावत। सुख दुख भोगन्ह तब जग आवत॥

क्योंकि पुरुष ही प्रकृति के अन्तर्गत रहकर सदा उसके गुणों को प्रसन्नतापूर्वक भोगता है। उसके उपरान्त उसमें आसक्त हो जाने से सत्-असत् योनियों को प्राप्त करता है और तब सुख-दु:ख भोगने के लिए जगत में आता है।

प्रस्न खड़ो भयो इहँ साधकगन। ताहि उतर देवें भगतन धन॥
कहे जदपि पुनि पुनि भगवाना। कर्ता प्रकृति न पुरुष सुजाना॥

हे साधको! यहाँ प्रश्न खड़ा हो गया है, उसी का उत्तर भक्तों के परम धाम भगवान दे रहे हैं। हे बुद्धिमानो! यद्यपि भगवान ने बारम्बार कह दिया है कि कर्मों को करने वाली प्रकृति है, न कि पुरुष,

तउ अज्ञान सघन अति कारन। देह भाव नहिं होय निबारन॥
भइ सिद्धी बहु जनम सों याहीं। बन्यो रोग अब रग रग माहीं॥

तो भी अज्ञान के अत्यन्त घनीभूत होने के कारण 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव की निवृत्ति नहीं हो पाती और अनेक जन्मों के अभ्यास के कारण इसकी सिद्धी हो जाने से अब यह रग-रग में रोग के समान स्थित हो गया है।

दोहा— पर कृपालु हरि बैद्य बनि जब कर दृढ़ उपचार।
तब रग रग महँ होय पुनि आत्मभाव संचार॥ ३५॥

किन्तु जब कृपालु भगवान वैद्य बनकर उनका दृढ़तापूर्वक उपचार कर रहे हैं तो निश्चित ही रग-रग में पुनः आत्मभाव का संचार हो जायेगा।

चौपाई— महाराजहू करत ढिठाई। एहि महँ पुनि पुनि बात बढ़ाई॥
पंचभूत दस इंद्रिय अरु मन। सोडष बिकृति काज कह मुनिजन॥

महाराज भी इस विषय में बार-बार बात को बढ़ाकर ढिठाई ही कर रहा है। पंचभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन- ये ही सोलह विकार मुनियों द्वारा प्रकृति के कार्य कहे गये हैं।

पाँचइ तन्मात्रा हंकारो। महततत्व सत करण उचारो॥
तेइस तत्व इनहिं बतलावें। यहइ कार्य कारण कहलावें॥

पाँच [शब्दादिक] तन्मात्राएँ, अहंकार तथा महत्तत्त्व ये सात करण कहे गये हैं। इन्हीं को तेईस तत्त्व बतलाया गया है और ये ही कार्य-करण [के संघातरूप शरीर] कहे जाते हैं।

प्रकृती कर्ता जिन्ह हरि गावहिं। अज्ञानहिं पर्याय बतावहिं॥
सो अज्ञानहु काह कहावे। मैं तन हौं यह भाव लखावे॥

जिनकी सृजनकर्ता प्रकृति है- ऐसा भगवान कह रहे हैं, जिसका (प्रकृति का) पर्याय शब्द अज्ञान है। वह अज्ञान किसे कहा जाता है? 'मैं शरीर हूँ'- यह भाव ही अज्ञान है, ऐसा स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

याहि भाव महँ पुरुष बास करि। होत बिमूढ़ सुखादिक चरि चरि॥
सब जानत मैं तन होइ बासउँ। खावउँ पीयउँ अवरु उसासउँ॥

इसी (मैं शरीर हूँ) भाव में पुरुष स्थित होकर सुखादि को भोग-भोगकर मूढ़ बना रहता है और सभी ये ही जानते हैं कि मैं शरीर होकर खाता-पीता और श्वास लेता हूँ।

दोहा— पर याको निरबार हरि कह जो साँचो आहि।
तेहि काजे अध्यात्म यह जो यापे पतियाहि॥ ३६॥

परन्तु इस भाव का निवारण कर भगवान वही कह रहे हैं, जो यथार्थ है और यह आध्यात्मिक ज्ञान उसी के लिए है, जो इस बात पर विश्वास करेगा।

चौपाई— सुद्ध आतमा कस तुम्ह भाई। ऐसो तुम्हहीं देउँ लखाई॥
ज्यों सुत बान लग्यो पितु देखी। भयो दुखी उर माहिं बिसेषी॥

हे प्रिय! आप शुद्ध आत्मा कैसे हैं, इसे मैं आपको दिखा रहा हूँ- जैसे पुत्र को बाण लगा हुआ देखकर पिता हृदय में अत्यधिक व्यथित हो गया-

सो मरि गयो गयो सुर लोको। वैसोइ लागत एहि महँ मोको॥
मान्यो पितु तेहि तन सुत यासों। सो नहिं अनासक्त भयो तासों॥

और वह (पिता) मर गया एवं देवलोक को चला गया। मुझे यहाँ पर वैसा ही प्रतीत हो रहा है कि पिता ने उस शरीर को अपना पुत्र मान लिया था, इसीलिए वह उससे अनासक्त न हो सका।

तबहीं ताकर दुख निज मान्यो। जगत सपन अस सो नहिं जान्यो॥
तैसो यह तन तम उपजावत। पर चिंतन बिनु अपनो भावत॥

तभी तो उसने पुत्र के दुःख को अपना दुःख मान लिया और जगत स्वप्नवत् है, ऐसा नहीं समझ सका। उसी प्रकार इस शरीर को अज्ञान प्रकट करता है किन्तु आत्मचिन्तन के अभाव में लगता है कि यह अपना ही स्वरूप है।

तुम्हहिं तनहिं अन्तर अस अहई। जिमि रबि तम महँ अन्तर रहई॥
आत्मरूप आजहुँ तुम्ह धारहु। तेहि महँ रहि तनभाव निबारहु॥

अरे! इस [शरीर] में और आपमें तो ऐसा ही अन्तर है, जैसा कि अन्धकार और सूर्य (प्रकाश) में है। इसलिए आज ही आत्मरूप को धारण कर, उसी में स्थित होकर शरीर भाव का परित्याग कर दें।

दोहा— अहइ रज्जु पर ताहि महँ उरग नाहिं तिहुँ काल।
तिमि जो दीखत ब्रह्म यह अपर न तन जग जाल॥ ३७॥

अरे! रस्सी तो है किन्तु उसमें [भ्रमवश प्रतीत होने वाला] सर्प तीनों कालों में नहीं है, उसी प्रकार जो दिखाई पड़ रहा है यह ब्रह्म ही है कोई उसमें दूसरा शरीर और जगज्जाल नहीं है।

चौपाई— इहँ प्रभु मरम अवरु इक गावें। पुरुषहु प्रकृति अनादि कहावें॥
परम अनादि कहत सकुचावें। तेइ अनादी सांत लखावें॥

यहाँ पर भगवान ने एक और रहस्य की बात कह दी है कि प्रकृति और पुरुष अनादि कहे जाते हैं; किन्तु परम अनादि कहने में वे संकोच कर गये हैं क्योंकि वे (प्रकृति एवं पुरुष) अनादिशान्त दिखायी पड़ रहे हैं।

तेहि कारन अब देखहु संता। खड़ो करउँ अब परम अनंता॥
दृस्य होइ अदृस्य होत पुनि। कहउँ अनादि सांत ता कहँ गुनि॥

हे सन्तो! उस कारण को देखें जिससे कि अब परम अनन्त को खड़ा कर रहा हूँ। जो दृश्य होकर पुनः अदृश्य हो जाता है, उसी को मैं समझ-बूझकर अनादि शान्त कह रहा हूँ।

जो अदृस्य होय नहिं कबहूँ। परम अनादि कहत तेहि सबहूँ॥
प्रकृति पुरुष सम धरा गंध तहँ। सांत होहिं बनि बारि प्रलय महँ॥

जो कभी अदृश्य होता ही नहीं है, उसी [ब्रह्म] को सभी परम अनादि कहते हैं। जैसे पृथ्वी और गन्ध प्रकृति और पुरुष के समान हैं, जो प्रलयकाल में जलरूप होकर शान्त हो जाते हैं।

यहइ अनादि सांत परिभासा। जापर करहिं भक्त बिस्वासा॥

यही अनादि शान्त की परिभाषा है जिस पर श्रद्धावान भक्त विश्वास करते हैं।

दोहा— जल रस प्रकृती पुरुष सम अग्नि रूप जो होयँ।
होयँ अनादी सांत जू नाम रूप द्वै खोयँ॥ ३८॥

जल और [उसमें व्याप्त] रस प्रकृति एवं पुरुष के समान हैं जो अग्निरूप हो नाम-रूप दोनों को खोकर अनादि शान्त हो जाते हैं।

चौपाई— पावक तेजहु प्रकृति पुरुष सौं। होतु प्रलय महँ वायु रूप सौं॥
प्रकृति पुरुष सम वायु परसहू। गहत रूप नभ प्रलय बरसहू॥

उसी प्रकार अग्नि और उसका तेज पुरुष एवं प्रकृति के समान हैं जो प्रलय के समय वायुरूप हो जाते हैं। वायु और उसमें स्थित स्पर्श प्रकृति एवं पुरुष के समान हैं, जो प्रलयकाल में आकाशरूप हो जाते हैं।

पुरुष प्रकृति सम सब्द अकासैं। प्रलय माहिं बनि ब्रह्म प्रकासैं॥
अब तौ भई समाप्त कहानी। अस तुम्ह करहु न अब मनमानी॥

उसी प्रकार आकाश और उसमें स्थित शब्द प्रकृति एवं पुरुष के समान हैं, जो प्रलयकाल में ब्रह्मरूप होकर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार अब तो यह कहानी समाप्त हो गयी, अतः अब आप मनमानी न करें।

भलो संग सत योनि दिलावत। असत योनि दुष्टन्ह सँग पावत॥
यासे तन हौं करहु निबारन। यहि दोउ आसक्ती जग कारन॥

भली संगति तो शुभ योनि दिलाती है और बुरी संगति से निकृष्ट योनि (तिर्यग्योनि या जड़ आदि योनि) की प्राप्ति होती है। अतः आप 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव को त्याग दें, क्योंकि [उपरोक्त] ये दोनों प्रकार की आसक्ति ही जगत का कारण हैं।

संत बिमल इनि दोउन्हि त्यागी। बसहिं जगत बिच परम बिरागी॥

और जो विमल सन्त इन दोनों को त्यागकर परम वैराग्यवान होकर संसार में रह रहे हैं,

दोहा— तिन्ह संतन्ह सँग करहु तुम्ह दरस परस तिन्ह केरि।
बिमल ज्ञान उनसेइँ लहु काल सकइ नहिं हेरि॥ ३९॥

आप उनका संग करें, उनका दर्शन और स्पर्श करें तथा उनसे विमल ज्ञान प्राप्त करें जिससे काल भी आपकी ओर देख न सके।

चौपाई— पुनि आगे कह दीनदयाला। करि कौन्तेयहिं महत निहाला॥
उपद्रष्टा भर्ता सोइ अर्जुन। सोइ अनुमंता भोक्ता अस गुन॥

अब दीनों पर दया करने वाले भगवान भक्त अर्जुन को अत्यन्त सन्तुष्ट करते हुए आगे कह रहे हैं- हे अर्जुन! वह क्षेत्रज्ञ (पुरुष) ही 'उपद्रष्टा, भर्ता, अनुमन्ता तथा भोक्ता' है- ऐसा समझो।

माहेस्वर परमेस्वर सोई। तन भीतर बाहर रह जोई॥
उपद्रष्टा एहि हेतु बखानउँ। साक्षी तन मन मति एहि जानउँ॥

वही महेश्वर है तथा वही परमेश्वर भी है; जो शरीर के भीतर-बाहर व्याप्त है। उपद्रष्टा तो मैं इसे इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि इसी को तन, मन एवं बुद्धि का साक्षी (द्रष्टा) समझता हूँ।

अनुमंता यह यासे भाई। निज भक्तन्ह सच देत बताई॥
भर्ता मैं यासों कहुँ याही। जो जन रच पच गये एहि माही॥

तथा हे प्रिय! यह अनुमन्ता इसलिए है क्योंकि अपने भक्तों को यह यथार्थ बताता रहता है और सच में इसको मैं भर्ता इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि जो भक्त इसी के प्रेम में रच-पच गये हैं,

तिन्हकर करत भरन अरु पोषन। जासे करि न सके कोउ सोषन॥
यहइ देत भक्तन्ह सुख सारो। अरु उन्हकर दुख मेटत भारो॥

उनका यह ब्रह्म भरण और पोषण करता है, जिससे कोई उनका शोषण न कर सके। यही भक्तों को सम्पूर्ण सुख प्रदान करता है एवं उनके समस्त दु:खों को हर लेता है।

महापाप जो मेटि न जावें। भक्त जाहि कहुँ भोगि न पावें॥

[इतना ही नहीं] जो [ब्रह्महत्या आदि] महापाप हैं जिनको [बिना भोगे] मिटाया नहीं जा सकता तथा जिन्हें भोगने में भक्त असमर्थ हैं-

दोहा— भोगत ताहि दयानिधी यासें भोक्ता आहि।
सदगुरु बनि दै ज्ञान नित माहेस्वरहु कहाहि॥ ४० (क)॥

उसे वह दयानिधान भगवान स्वयं भोग लेता है, इसलिए भोक्ता कहलाता है और सद्गुरु बनकर सदा ज्ञान देता रहता है, इसलिए महेश्वर कहलाता है।

तन कर ईस्वर इंद्रिगन उनकर मन कहलाय।
तेहिकर बुद्धी ताहिकर परमातम बतलाय॥ ४० (ख)॥

उसी प्रकार इस शरीर का ईश्वर इन्द्रियाँ, उनका ईश्वर मन, मन का ईश्वर बुद्धि और बुद्धि का ईश्वर परमात्मा बतलाया जाता है।

चौपाई— यासों परमेस्वर कहलावत। जासों भगत संत मुनि भावत॥
अपर अर्थ अब सुनहु सयाने। जेहि महराज गूढ़ अति माने॥

इसी से वह परमेश्वर कहा जाता है जिससे भक्तों, सन्तों एवं साधकों को प्रिय लगता है। हे बुद्धिमानो! अब एक दूसरा अर्थ भी सुन लें जिसको महाराज अत्यन्त गूढ़ मानता है।

एहि जग तन महँ सिष उपद्रष्टा। सदगुरु अनुमंता उत्क्रष्टा॥
सिष्य हृदय सोइ ज्ञानहिं कर्ता। यासें कह्यो जाय सो भर्ता॥

[वह यह कि] इस जगतरूपी शरीर में शिष्य उपद्रष्टा है, सद्गुरु ही उत्कृष्ट अनुमन्ता है तथा वही शिष्य के

हृदय में ज्ञान का कर्ता है, इसी से वह भर्ता कहा जाता है।

सिष्य ताप सब सोइ निरवारे। यासें जग भोक्ता उच्चारे॥
दैव प्रबल अति सब जग गावत। कबहुँ कबहुँ सिस्यहु पर धावत॥

[इतना ही नहीं] शिष्य के समस्त दु:खों को [भोगकर मानो] वही जला देता है, इसी से उसे महान भोक्ता कहा जाता है। जो दैव अत्यन्त प्रबल है ऐसा जगत के लोगो के द्वारा कहा जाता है, वह कभी-कभी शिष्य पर भी धावा बोल देता है।

सो बिकलाइ ईस सम भाषत। ताहि दैव गुरु निज बस राखत॥
तासों सो कहलाय महेस्वर। यह जानहिं बहुभाँति सुरेस्वर॥

तब शिष्य विकल होकर कहता है कि यह दैव लगता है ईश्वर के समान (बलवान) है। उस दैव (प्रारब्ध) को सद्गुरु अपने शासन में रखता है इसीलिए वह महेश्वर कहलाता है। जिसे देवराज इन्द्र भलीभाँति जानते हैं।

एक एक हित सबरें ईस्वर। सब सासत कहाय परमेस्वर॥
एहि बिधि पुरुष स्वयं कहँ जाने। प्रकृति गुनन्हिं नहिं अपुनो माने॥

देखा जाता है कि एक-दूसरे के लिए सभी ईश्वर हैं, किन्तु सभी पर शासन करने के कारण उसे परमेश्वर कहा जाता है। इस प्रकार जो पुरुष स्वयं को [अच्छी प्रकार आत्मा] समझ लेता है तथा प्रकृति के गुणों को अपना नहीं मानता-

दोहा— सो स्वधर्म महँ बिचरत देह त्यागि जब जाय।
अपर देह नहिं गहत सो पुनि नहिं जग महँ आय॥ ४१॥

तो वह स्वधर्म का पालन करता हुआ जब देह त्यागकर जाता है तो दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करता और पुन: जगत में नहीं आता है।

चौपाई— अब सुनु पार्थ लखत जस आपुहिं। जाकर अहइ न कोउहु मापुहिं॥
कोउ कोउ जोगी बिमल बुद्धि करि। आत्मरूप निज लखत ध्यान धरि॥

हे पार्थ! अब यह सुनो, जिससे वह अपने-आप को देखता है, जिसका कोई मापदण्ड नहीं है। कोई-कोई योगीजन ध्यानयोग के द्वारा अपनी बुद्धि को निर्मल करके स्वयं को आत्मरूप देख लेते हैं।

सांख्ययोग गहि कोउ अवराधें। तत्व गुनन्ह तजि निज कहँ साधें॥
कर्मयोग सों कोउ चित सुध करि। अपुने आपु सों आपुहिं लख हरि॥

कोई-कोई तो सांख्ययोग द्वारा ही साधना करके पंचतत्त्वों और त्रिविध गुणों से अनासक्त होकर अपने आत्मरूप को प्राप्त कर लेते हैं और कोई-कोई कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्ध करके स्वयं से ही स्वयं को आत्मरूप में देखा करते हैं।

अपर तिनहुँ साधन महँ अक्षम। पर प्रभु गुनन सुनन महँ सक्षम॥
ते संतन्ह सों सुनि सुनि ध्यावत। बस तासोंइँ मोक्षपद पावत॥

तथा जो दूसरे इन तीनों ही साधनों को करने में असमर्थ हैं किन्तु भगवान के गुणों की कथा सुनने में समर्थ हैं, वे सन्तों से ही सुन-सुनकर भगवान की ओर गमन करते हैं, बस उसी से मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

संजय सुनि प्रभु बच हरषाये। यह सब कहि धृतराष्ट्र सुनाये॥

भगवान के इस वचन को सुनकर सञ्जय अत्यन्त प्रसन्न हो गये और यह सब धृतराष्ट्र को कह सुनाया।

छंद— हे नृपति जे मतिमन्दहू सुनि संत सों प्रभु सुचि कथा।
तेहि गाइ पावत मोक्षपद एहि जग बिराजें मुचि ब्यथा॥
अब तुम्हहु धावहु हरि सरण जू त्यागि सब जंजालही।
मानहु कहा बिस्वास नहिं तौ गहत काल करालही॥

हे राजेन्द्र! [भगवान तो कह रहे हैं कि] जो मंदबुद्धि वाले भक्त हैं, वे सन्तों के द्वारा भगवान की पावन कथा

सुनकर, उसे गाने मात्र से ही समस्त व्यथाओं से मुक्त हो मोक्षपद को प्राप्त होकर जगत में शोभा देते हैं। अत: अब आप भी समस्त जंजालों का परित्याग करके भगवान की शरणागति ग्रहण करें। आप इस बात पर विश्वास करें, अन्यथा [शीघ्र ही] भयंकर काल आपको पकड़ने वाला है।

सोरठा— सुनि नरेस मुसुकाहिं जानत संजय की ब्यथा।
बोलत कछुवै नाहिं काल बिबस कस भाय सच॥ ४२॥

ऐसा सुनकर राजा सञ्जय की [अपने प्रति] व्यथा को जानकर मुस्कुरा रहे हैं किन्तु बोल कुछ भी नहीं रहे हैं। सच कहा गया है कि जो काल के वशीभूत हो गया है उसे सत्य (ब्रह्म) कैसे प्रिय लगेगा।

चौपाई— उत प्रभु पुनि कह गुडाकेस सुनु। जैसे सृष्टि होय उर महँ गुनु॥
उपजत बस्तु चराचर जोई। जिनि कहँ गुनहिं लखहिं सब कोई॥

उधर भगवान पुन: कह रहे हैं कि हे गुडाकेश! सुनो! जिस प्रकार सृष्टि प्रकट होती है, उसका हृदय में चिन्तन करो। यहाँ जो भी चराचर वस्तु प्रकट हो रही है जिन्हें सभी देख और समझ भी रहे हैं-

मिलत क्षेत्र क्षेत्रज्ञहिं जबहीं। ते प्रगटहिं मुनिजन कह तबहीं॥
सकल भूत नासहिं बरु जबहूँ। जो लख ब्रह्म नसत नहिं तबहूँ॥

वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही प्रकट होते हैं, सभी मुनिजन ऐसा ही कहते हैं। इसलिए जो समस्त भूत समुदाय के नष्ट होने पर भी ब्रह्म को नष्ट होते नहीं देखता-

सच देखत भरतर्षभ सोई। अब तुम्ह तजहु खेद उर जोई॥
एहि बिपरीत सकल घट माहीं। बहु नभ देखि न मूढ़ लजाहीं॥

वही यथार्थ देखता है। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! अब तुम अपने हृदय के खेद का त्याग कर दो। इसके विपरीत जो मूढ़ पुरुष समस्त घड़ों में बहुत-से आकाशों को देखकर भी लज्जित नहीं होता,-

अस बिपरीत बुद्धि गहि भाई। लख बिभु बहु भूतनि महँ आई॥
सो न देख सच सोइ भ्रमत सो। बहुत योनि महँ जनमि रमत सो॥

और इस विपरीत बुद्धि को धारण करके, जो समस्त भूत-प्राणियों में बहुत से ब्रह्म को प्रकट हुआ देखता है, वह यथार्थ नहीं देखता अत: वही भ्रमित होता है और बहुत सी योनियों में जन्म धारण करके [विषयों में] रमण करता रहता है।

दोहा— ब्यापक सब महँ ब्रह्म इक समभावहिं लख जोइ।
हिंसत आपु न आपुहीं लहत मोक्षपद सोइ॥ ४३॥

अत: हे प्रिय! जो समस्त भूत-प्राणियों में एक ही ब्रह्म सम भाव से व्याप्त है -ऐसा देखता है, वह अपने से अपनी हिंसा नहीं करता इसीलिए वह मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— सदा प्रकृति कहँ कर्ता जानत। अरु आतमहिं अकर्ता मानत॥
देखत सोइ यथारथ भ्राता। बेद सास्त्र संतन्ह यहि बाता॥

जो प्रकृति को सदा कर्तारूप में देखता है तथा आत्मा को सर्वथा अकर्ता जानता है, हे प्रिय अर्जुन! वही यथार्थ देखता है, ऐसा वेद-शास्त्र एवं सन्तों का कहना है।

जेहि छन भूतभाव पृथकाई। स्थित बिभु महँ परत दिखाई॥
अरु तासों बिस्तार लखावे। मुक्त ताहि छन सो हुइ जावे॥

जो जिस समय समस्त भूत-प्राणियों के पृथक्-पृथक् भावों को एक ब्रह्म में स्थित देखता है एवं उसी से सबका विस्तार होता है जो ऐसा समझता है, वह उसी समय मुक्त हो जाता है।

ब्रह्म अनादि अगुन अबिसेषा। अब्यय अबिनासी अवसेषा॥
यासें बरु तन माँहिं बसत सो। पर न लिप्त कहुँ कछु न करत सो॥

ब्रह्म तो अनादि है, निर्गुण है, अविशेष (निरुपाधि) है, अव्यय है, अविनाशी है एवं [सबके नष्ट हो जाने पर भी] अवशेष है, इसलिए वह देह में वास करने पर भी शरीर के धर्मों से लिपायमान नहीं होता और न कुछ करता ही है।

यथा सर्बगत सूक्ष्म गगन नित। मगन रहत निज मनहु जगत जित॥

अपितु जिस प्रकार सर्वत्र नित्य व्याप्त अतिसूक्ष्म आकाश अपने-आप में ही मग्न रहता है, मानो उसने जगत पर विजय प्राप्त कर ली है-

दोहा— तस निवसत सब देह महँ पर नित निर्गुन आहि।
यासों करत न लिप्त सो ब्रह्म कहत सब जाहि॥ ४४ (क)॥

उसी प्रकार जिसे ब्रह्म कहा जाता है वह समस्त शरीरों में नित्य वास करता हुआ भी निर्गुण रूप है इसलिए आकाश के समान वह न कभी कर्मों को करता है और न उनके फलों से लिप्त ही होता है।

ज्यों रबि एकइ सकल जग अर्जुन करत प्रकास।
त्यों क्षेत्रज्ञ प्रकासत क्षेत्रन्हि सब तब भास॥ ४४ (ख)॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जब एक ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित करता है तो सब कुछ दिखायी पड़ने लगता है।

चौपाई— अस क्षेत्रज्ञ क्षेत्र महँ अंतर। ज्ञान नयन जो निरख निरंतर॥
भूत प्रकृति निरबारन जोई। जानइ लहइ ब्रह्म पर सोई॥

इस प्रकार जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को ज्ञान नेत्रों द्वारा सदा देखते रहते हैं और जो पंचभूतात्मक प्रकृति से मुक्त होना जानते हैं, वे ही परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

महाराज संतन्ह बिच आई। अबलौं लख जो कह समुझाई॥
जो कहनो चहिए कह साँई। तउ गांडीव गह्यो नहिं जाई॥

महाराज ने सन्तों के बीच आकर अब तक जो कुछ देखा है उसे समझाकर कह रहा है। भगवान ने जो कुछ कहना चाहिए था कह दिया तो भी भक्त अर्जुन के हाथों द्वारा गाण्डीव उठाया नहीं जा रहा है।

पूरण स्वस्थ भये नहिं अबहूँ। प्रभु उर कहत तजउँ नहिं कबहूँ॥
तस अर्जुन मन भई दृढ़ाई। लेउँ आज सब ज्ञान छड़ाई॥

[लगता है-] वे अभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो पाये हैं और [ऐसा देखकर] भगवान भी मन में कह रहे हैं कि मैं कभी तुम्हें छोड़ने वाला नहीं हूँ वैसे ही भक्त अर्जुन [के मन] में भी इस प्रकार की दृढ़ता आ गयी है कि आज मैं आपसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ही रहूँगा।

पाछ तजन सहमत दोउ नाहीं। बरु बिलम्ब होवे रन माहीं॥
दोउहु फेंकत निज निज पासा। बिजयि दोउ होवहिं बिस्वासा॥

इस प्रकार दोनों एक-दूसरे का पीछा छोड़ने को तैयार नहीं हैं, भले ही युद्ध होने में विलम्ब ही क्यों न हो जाय। दोनों ही अपना-अपना पासा फेंक रहे हैं, परन्तु महाराज को विश्वास है कि [इस अद्भुत खेल में] दोनों ही विजयी हो जायेंगे।

दोहा— परमज्ञान बर एकई प्रभुहिं कृपा मिलि जाय।
दूजहिं मिलई पार्थ रन करिहैं हिय हरषाय॥ ४५॥

इनमें से एक (भक्त अर्जुन) को भगवद्कृपा से ब्रह्मज्ञान का वरदान प्राप्त हो जायेगा और दूसरे को (भगवान को) यही मिलेगा कि भक्त अर्जुन हृदय से प्रसन्न होकर युद्ध करने लगेंगे।

चौपाई— हे साधक मानहु प्रभु कथनी। तौ अबहीं कटि काछउ कछनी॥
सब प्रपंच आजहि तुम्ह त्यागउ। नभ इव सर्ब देह महँ राजउ॥

अत: हे साधको! भगवान का कहना मानें तो अभी ही आप कमर में फेंटा बाँध लें [अर्थात् तैयार हो जायँ]। [वह क्या? यही कि] आज ही समस्त प्रपंचों का परित्याग करके सभी शरीरों में अपने को आकाश के समान व्याप्त समझते हुए सुशोभित हों।

तुम्हहि अनादि अनंत असेसा। नभ इव ब्यापत अहउ सब देसा॥
प्रभुहिं कहत जब तुम्ह बिभु सोई। अभय होइ तब मानहु योई॥

अरे! आप ही तो वह अनादि, अनन्त, अवशेष [क्षेत्रज्ञ ब्रह्म] हैं, जो आकाश के समान समस्त देशों [अर्थात् प्राणीपदार्थों] में व्याप्त हैं। जब स्वयं भगवान कह रहे हैं कि आप ही वह ब्रह्म हैं, तब तो अब अभय होकर इसे स्वीकार कर लें।

रबि नभ सम सब कर्मन्ह त्यागी। होवहु आजहि परम बिरागी॥
जब सब त्यागि मौन ह्वै बिचरहु। आत्मरूप बस आपुन सुमिरहु॥

आप आज ही समस्त कर्मों का परित्याग कर आकाश और सूर्य के समान परम वैरागी बन जायँ। [निश्चित ही] जब आप सर्वस्व का परित्याग कर मौन हो विचरण करेंगे और मात्र आत्मस्वरूप का ही स्मरण करेंगे,

तब कछु काल गये सिधि सारी। तुम्हरे पहिं आवहिं हुंकारी॥
वा छन तुम्हहू रबि सम ज्ञाता। होवउ साँच साप बर दाता॥

तो कुछ काल के उपरान्त समस्त सिद्धियाँ आपके पास हुंकार भरती हुई आ जायेंगी। उस समय आप यथार्थ में सूर्य के समान परम ज्ञाता और शाप एवं वर के दाता बन जायेंगे।

दोहा— अस उनकै सम सुद्ध सम साक्षि होइ सिधि त्यागि।
बास करहु एहि जगत बिच जावे माया भागि॥ ४६॥

इस प्रकार जब आप उनके समान शुद्ध, सम और साक्षी हो सिद्धियों का परित्याग कर जगत में वास करेंगे तो आपके मन, बुद्धि, चित्त से सम्पूर्ण माया पलायन कर जायेगी।

चौपाई— जब कोउ संत गाँव घर त्यागी। होत जगत अज्ञात बिरागी॥
तउ बहु काल तहीं के सपनें। उन्हकी चाह लगति तेहि अपुनें॥

[आप यह जान लें कि] जब कोई सन्त गाँव-घर का परित्याग कर जगत से वैरागी होकर अज्ञात हो जाता है तो भी उसे लम्बे काल तक वहाँ के स्वप्न आते रहेंगे और [उनके प्रति पूर्व में अपनत्व की भावना होने से उसे] उनकी कामनाएँ अपनी-सी प्रतीत होती रहेंगी।

जिमि कोउ बाहन देत भगाई। पर कोउ टेरइ मग बिच भाई॥
तउ बाहन चल बिनहिं चलाये। चलि कछु दूरि आपु थमि जाये॥

जिस प्रकार कोई पुरुष वाहन तेज चला रहा हो और उसी समय कोई (मित्र आदि) बीच रास्ते में पुकारने लगे तो वाहन [रोकने का प्रयास करने पर भी पूर्व के वेग से] बिना चलाये ही चलता रहेगा और कुछ दूर जाने पर स्वत: ही रुक जायेगा।

होवे योइ साधकन्हि साथा। सपन पूर्ब के लखि धुनि माथा॥
पर जब त्यागि दिये सब देसा। तब बचि जाय सुषुप्ती सेसा॥

यही बात साधकों के साथ भी होती है, [साधना काल में] पूर्वाश्रम के स्वप्नों को देखकर पश्चात्ताप करते रहते हैं, परन्तु जब उन्होंने समस्त जगत त्याग दिया है तो [कुछ काल के उपरान्त] सुषुप्ति ही शेष बचेगी।

जब तन लगे न अपुनो साँचै। तब सो पाइ तुरियपद नाचै॥
जब बहु काल तुरिय महँ बीते। तब चित होय तुरिहु सों रीते॥

और जब लम्बे काल तक अपना शरीर भी सच में अपना नहीं लगेगा, तब वही पुरुष तुरीयावस्था को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हो जायेगा। जब बहुत-सा समय तुरीयावस्था में व्यतीत हो जायेगा, तब उसका चित्त तुरीयावस्था से भी अतीत हो जायेगा।

दोहा— तुरियातीतहिं होय पुनि सुक समान जग आय।
जिज्ञासुन्ह कहँ ज्ञान दै जो प्रभु उर अति भाय॥ ४७ (क)॥

पुन: वह तुरीयातीत (पूर्णब्रह्म) अवस्था प्राप्तकर महात्मा शुकदेव के समान जगत में आकर आत्मजिज्ञासुओं को ज्ञान का दान देता रहता है, जो भगवान के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगता है।

सोरठा— उत संजय दिखरायँ प्रभु थन पीयत पार्थ सिसु।
सुनत नृपति घबरायँ प्रभु प्रभुता नहिं जान कछु॥ ४७ (ख)॥

उधर सञ्जय बता रहे हैं कि हे राजन्! पार्थ नामक शिशु भगवानरूपी माँ का स्तनपान करने में मस्त है– ऐसा सुनकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त घबरा गये हैं, क्योंकि वे भगवान की भगवत्ता को अंशमात्र भी नहीं जान रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

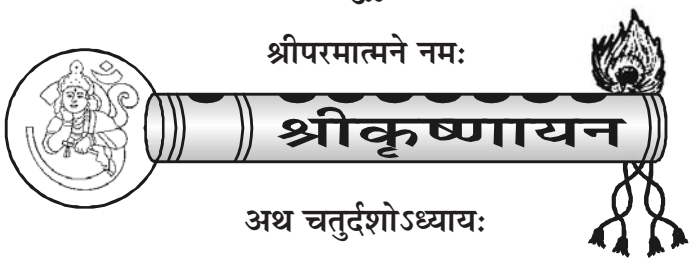

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

प्रभु तव आयुधान नमामि॥
दिव्यायुधा कृष्ण माधवः श्यामादयः नामानि।
दिव्यायुधः त्रिगुणात्मिका माया यस्याद्यहं कथामि॥
दिव्यायुधा विष्णु ब्रह्मा शिव सर्वे देवाः गदामि।
दिव्यायुधा काम क्रोधश्च मोहादयः जानामि॥
दिव्यायुधा भूतादयः सर्वे सर्वे जगन्ति पश्यामि।
दिव्यायुधा मुरली प्रभु या गोपीः नेतुं दृश्यामि॥
दिव्यायुधा शंख चक्रश्च गदापद्म वदामि।
महाराज आयुधः एकं तव पद अम्बु धरामि॥

हे प्रभो! मैं आपके आयुधों को प्रणाम कर रहा हूँ। माधव, कृष्ण, श्याम आदि दिव्य नामरूपी आयुध धारण करने वाले दयानिधि भगवान को मेरा नमस्कार है। आज त्रिगुणात्मिका माया को मैं सच्चिदानन्द भगवान के दिव्य आयुध के रूप में ही कह रहा हूँ। मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सभी देवता भी भगवान नारायण के दिव्य आयुध हैं। मैं जान रहा हूँ कि काम, क्रोध, मोह आदि भी उनके दिव्य आयुध हैं। सारे भूत-प्राणी एवं समस्त जगत भी उनके दिव्य आयुध ही दिखाई दे रहे हैं। गोपियों को मोहित करने वाली बाँसुरी भी प्रभु का दिव्य आयुध है। शंख, चक्र, गदा, पद्म तो जगन्निवास भगवान के दिव्य आयुध हैं ही, मैं ऐसा कह रहा हूँ। हे जगत्पते! महाराज भी आपका एक आयुध है अतः अपने आपको आपके कमलवत् चरणों में समर्पित कर रहा है।

दोहा— प्रभु छड़ायँ थन जननि सम पार्थ बाल जब रोय।
बहुरि उरज मुख देत तिहिं महाराज लख सोय॥ (क)॥

भगवान नारायण ने माँ के समान ज्ञानरूपी स्तनों को पार्थ नामक शिशु के मुख से छुड़ा लिया और जब वह रुदन करने लगा तब पुनः थन को उसके मुख में डाल दिया, महाराज एकमात्र उसी झाँकी को देख रहा है।

फेरत कर तिन्ह सीस पर निरखहिं जनु सोइ मातु।
महाराज लखि बिहरत लोचन नाहिं अघातु॥ (ख)॥

वे [दुग्धपान कराते हुए] इस प्रकार उनके सिर पर बार-बार हाथ फेरते हुए और ऐसे निहार रहे हैं मानो वे ही उनकी माता हैं। महाराज इस छवि को देखकर उसी में रमण कर रहा है, उसके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं।

दिब्य सुधा सम पियत पय कबहुँ उरज सो त्यागि।
प्रभुहिं जननि सम चितवत अब सच सकत न भागि॥ (ग)॥

वह [पार्थ नामक शिशु] दिव्य अमृतरूपी दूध पीते-पीते कभी स्तनों को त्यागकर भगवान को माँ के समान देखने लगता है, अतः अब वह निश्चित ही भाग नहीं सकता।

ब्रह्म करावत सोइ नित जस वाके मन होय।
जाहि जनावत मरम निज जानि सकइ सच सोय॥ (घ)॥

[हे सन्तो!] ब्रह्म सदा वही कराता है, जो उसके मन में होता है और जिसे वह अपना गुप्त रहस्य बताता है, वही यथार्थ में उसे समझ पाता है।

चौपाई— जानहु ते सच आतमघाती। जिन्हके करुनानिधि न सँघाती॥
जिनकै तन रथ नहिं यदुराई। माया ठगति जिवन तिन्ह भाई॥

अत: आप ऐसा समझें कि वे मूर्ख सच में आत्महत्यारे हैं, भगवान जिनके परम मित्र नहीं हैं। जिनके शरीररूपी रथ पर [सारथि के रूप में] भगवान यदुनाथ नहीं हैं, उनका जीवन तो माया के द्वारा ठग लिया जाता है।

जिनकै सदगुरु नहिं दुखहर्ता। उनकै सकुनी सम कोउ भर्ता॥
जिनकै प्रभु सम नहिं कोउ भाई। तिन्ह सँग दुस्सासन सठताई॥

जिनके दु:खों का हरणकर्ता सद्गुरु नहीं है, उनको शकुनि के समान ही कोई भरण-पोषण करने वाला गुरु मिल जायेगा। जिनका भगवान के समान कोई भाई नहीं है, उनके साथ शठता लिये हुए दु:शासन [जैसा भाई] आ ही जायेगा।

जिनकै सुत प्रभु सम न अमानी। उन्ह सुत दुर्योधन सम मानी॥
जिनकै हरि सम नहिं कोउ मीता। उनहिं मीत जस कर्ण सभीता॥

उसी प्रकार जिनका भगवान के समान कोई मानरहित पुत्र नहीं है, उनका तो दुर्योधन के समान कोई अभिमानी पुत्र हो ही जायेगा। जिनका भगवान के समान कोई मित्र नहीं है, उनका कर्ण के समान भयभीत रहने वाला कोई मित्र बन ही जायेगा।

जिनकै उर हरि नाम न पावन। उनकै हृदय कुनाम कुभावन॥
जिनकै गृह प्रभु गुरु न बसेरो। उन्हकर गृह मूढ़नि कर डेरो॥

जिनके हृदय में भगवान का पावन नाम नहीं है, उनके हृदय में दुर्भावनाओं को उत्पन्न करने वाला कोई कुनाम आ ही जायेगा। जिनके भवन में भगवान और सद्गुरु का वास नहीं है, उनके घर मूर्खों का जमघट लगा ही रहेगा।

दोहा— जननि जनक प्रिय बंधु मित सब जिनकै भगवान।
उन्ह पद कालहु नवत सिर तेइ बिजई जग जान॥ १॥

परन्तु जिनके माता, पिता, प्रिय, भ्राता, मित्र- ये सब भगवान ही बने हुए हैं, उनके चरणों में काल भी नतमस्तक होता है, वे ही [पुरुष] जगत-विजेता हैं, ऐसा जानना चाहिए।

चौपाई— सोइ इहँ होय लगत छन माहीं। दुर्योधन सँग सबहिं नसाहीं॥
प्रभु कह पार्थ सुनहु दै ध्याना। कहउँ बहुरि उत्तमतर ज्ञाना॥

लगता है यहाँ कुछ ही समय में वही सब होने वाला है- दुर्योधन के साथ-साथ [पाण्डवों को छोड़कर] सबका नाश हो जायेगा। तभी भगवान ने कहा- हे पार्थ! ध्यान देकर सुनो, मैं पुन: उत्तमोत्तम ज्ञान कहने जा रहा हूँ-

जाहि पाइ सुचि मुनिजन सारे। देह जगत की सुरति बिसारे॥
एहि आश्रय गहि पाइ परम फल। आत्मरूप महँ रमहिं सु प्रतिपल॥

जिसे प्राप्त करके समस्त पवित्र मुनिजन, शरीर और जगत भाव को भूल जाते हैं और इस [ज्ञान] का आश्रय ग्रहण करके मुक्तिरूपी परम फल पाकर सदा आत्मरूप में रमण करते रहते हैं।

सृष्टि होय जब प्रगटत नाहीं। परलय कालहु नाहिं नसाहीं॥
ब्रह्म सृष्टि के ये तन सारे। जिनहिं कहत सब आहिं हमारे॥

अत: वे सृष्टि के प्रकट होने के साथ पुन: प्रकट नहीं होते और न प्रलय काल में ही उनका नाश होता है। जिन शरीरों को सभी अपना मानते हैं वे सभी शरीर तो ब्रह्मा की सृष्टि के हैं।

क्यौंकै सृष्टि ब्रह्म संकल्पा। जूँ सम प्राणी ताहि बिकल्पा॥
नर तन सम यह जगतहिं जानहु। प्रानि सकल सिर जूँ सम मानहु॥

क्योंकि समस्त सृष्टि ब्रह्मा का संकल्प है और जूँओं के सदृश प्रकट होने वाले समस्त प्राणी उसके विकल्प हैं। जैसे मनुष्य का शरीर और उसके सिर के जुँएँ होते हैं, उसी प्रकार यह जगत उस (ब्रह्मा) का शरीर है और समस्त प्राणी जूँओं के समान हैं।

दोहा— बिधि सृष्टी की अवधि लौं रहत जीव समुदाय।
पुनि पुनि प्रगटत अरु नसत सो न रोय हरषाय॥ २॥

अत: जब तक ब्रह्मा की सृष्टि रहती है, तब तक जीवों का समुदाय भी रहता है, जो बार-बार प्रकट होकर नष्ट होता रहता है किन्तु इससे वह न दु:खी होता है, न प्रसन्न।

चौपाई— सृष्टि अवधि होवे जब पूरी। गहत हिरनगर्भहु निज कूरी॥
निर्गुन रूप गहत हरषाई। तबहिं जाइ सृष्टी बिनसाई॥

जब सृष्टि की अवधि समाप्त हो जाती है, तब हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा, बुद्धि, मूलप्रकृति) भी अपने मूल को स्मरण करके निर्गुणरूप को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेता है, तब सृष्टि विनष्ट हो जाती है।

नित जग होय प्रलय तन माहीं। किंतु मूढ़ तेहि समुझत नाहीं॥
तात ताहि समुझावउँ तोहीं। अब नीको समुझ्यो तू मोहीं॥

हे प्रिय! [सच पूछा जाय तो] नित्य ही शरीर में बहुत-सी सृष्टियों का प्रलय हो रहा है किन्तु अज्ञानी उसे समझ नहीं रहे हैं। मैं अब उसे ही तुमको समझा रहा हूँ क्योंकि अब तुमने भलीभाँति मुझे पहचान लिया है।

इच्छासक्ति प्रकृति मम जानहु। बीज ताहि महँ डारउँ मानहु॥
भूत चराचर उपजत ऐसे। जल थल मिलत औषधी जैसे॥

[हे पार्थ!] ऐसा समझो कि मेरी संकल्पशक्ति ही महत्-प्रकृति है, जिसमें मैं [चैतन्यरूपी] बीज की स्थापना करता हूँ; तुम इसे स्वीकार करो। इस प्रकार चराचर जगत वैसे ही प्रकट होते हैं, जिस प्रकार मिट्टी और जल के मिलने से समस्त औषधियाँ प्रकट होती हैं।

एहि बिधि सुर नर पसु खग सारे। लखत प्रानि ते पुत्र हमारे॥
मम संकल्प सक्ति तिन्ह माता। यासें अहउँ सकल जगत्राता॥

इस प्रकार देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा समस्त प्राणी जो भी देखने-सुनने में आते हैं, वे मेरी ही सन्तान हैं तथा [गर्भ को धारण करने से] मेरी इच्छाशक्ति ही सबकी माता है, इस प्रकार मैं ही सम्पूर्ण जगत की रक्षा करने वाला हूँ।

दोहा— तउ नहिं मानत मूढ़ अस कहत न ऐसो होय।
हमरै तो पितु मातु नर अपर न जानत कोय॥ ३॥

फिर भी मूढ़जन ऐसा नहीं मानते तथा कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। हमारे माता-पिता तो मनुष्य ही हैं हम किसी अन्य [भगवान] को [अपना माता-पिता] नहीं जानते।

चौपाई— ते उरअंध अधम अबिबेकी। भूलि गये मोरी सब नेकी॥
मन धन धामहिं बिषय पुजारी। खोट करम रत मोहिं बिसारी॥

वे [मूढ़जन] हृदयहीन, अधम और अविवेकी होते हैं, जिससे मेरे समस्त उपकारों को भूल जाते हैं। वे मन से धन, भवन और विषय के पुजारी होते हैं तथा मुझे भूलकर सदा बुरे कर्म करते रहते हैं।

ज्यों मृगमद मंडित तन त्यागी। माखी घिनित पूय अनुरागी॥
मूढ़ बिषय गुंजा तिमि गहहीं। मम चिंतामनि तजि जग बहहीं॥

जिस प्रकार कस्तूरी के लेप लगे हुए शरीर को छोड़कर मक्खी घृणित पीब पर ही बैठती है, उसी प्रकार वे मूढ़ मुझ ब्रह्मरूपी चिन्तामणि को त्यागकर विषयरूपी गुंजा (घुँघुची) को पकड़ लेते हैं और जगत में भ्रमित होते रहते हैं।

बहु अघि जदपि मोहिं पितु जानी। आदिसक्ति निज जननी मानी॥
रहहिं जगत मम आश्रय धारी। मुक्त होहिं भवसागर झारी॥

जबकि बहुत-से पापी भी यदि मुझे अपना पिता जानकर और आदिशक्ति को अपनी माता मानकर जगत में सदा मेरे ही आश्रित रहते हैं तो वे भी अति शीघ्र संसार सागर से मुक्त हो जाते हैं।

मोहिं कहहिं मुनि पतित उधारन। तुम्हहु तात लखु मो भवतारन॥
आवहु सरन यहइ जिय जानी। मम तजि जाय न भगत अमानी॥

हे तात! महर्षिजन मुझे पतितों का उद्धार करने वाला कहते हैं, तुम भी मुझे संसार-सागर से मुक्त करने वाला जानो तथा हृदय से ऐसा जानकर मेरे शरणागत हो जाओ, क्योंकि मानरहित भक्त मुझे छोड़कर कहीं जा नहीं सकता।

दोहा— मोहिं लखहु निज जनक अब अरु जननी मम सक्ति।
तबहिं भोर जबहीं जगे अबहुँ करहु मम भक्ति॥ ४॥

अत: अब तुम मुझे अपना पिता समझ लो और मेरी शक्ति को अपनी माता। [हे प्रिय!] जभी जागे तभी सबेरा, ऐसा समझकर अब से भी एकमात्र मेरी भक्ति करो।

चौपाई— हे साधक मुनिजन समुदाई। महाराज कह तुम्हहिं सुनाई॥
प्रभु अर्जुन सों जस समुझाये। अस सम्भव तुम्ह जानि न पाये॥

हे साधक एवं सिद्धगण! महाराज अब आप सबसे कह रहा है- भगवान ने महात्मा अर्जुन से जो कुछ कहा है, हो सकता है कि आप लोगों को समझ में न आया हो।

जबहिं ब्रह्मबुधि प्रगटति भाई। आदिसक्ति सोई कहलाई॥
तेहि महँ अहं चेतना जोई। बीज ब्रह्म चेतन कर सोई॥

हे मित्रो! ब्रह्म की बुद्धि जब आकार ग्रहण करती है अर्थात् विस्तार को प्राप्त होती है तो वही आदिशक्ति (इच्छाशक्ति) कहलाती है तथा उसमें जो चैतन्यरूप 'अहं' है, वही ब्रह्मस्वरूप चैतन्य का बीज है।

जदपि संग इक उपजहिं दोऊ। निज निज मति बरनत सब कोऊ॥
तरु अरु बीज पृथक जिमि नाहीं। पर मूढ़न्ह कहँ भिन्न लखाहीं॥

यद्यपि ये दोनों साथ-साथ ही प्रकट होते हैं परन्तु सभी अपने-अपने ढंग से इनका वर्णन करते हैं जैसे वृक्ष और बीज पृथक् नहीं हैं किन्तु अज्ञानियों को पृथक् दिखायी पड़ते हैं।

ऐसो होइ न द्रुम उपजाई। डारइ बीज ताहि महँ भाई॥
पर कोउ बिसरे स्वयंहिं भाई। पुनि एहि बिधि तेहिं जात लखाई॥

हे मित्रो! ऐसा नहीं होता कि किसी वृक्ष को उत्पन्न करके कोई उसमें बीज की स्थापना करता हो, किन्तु जब कोई अपने आपको भूल जाता है तो इसी प्रकार दिखाया जाता है [जैसा कि भगवान पृथक् करके दिखा रहे हैं]।

दोहा— यहउ नाहिं नर नारि सम मैथुनि सृष्टी होय।
समुझन हित उपमा दिये मान्यो जाये जोय॥ ५॥

ऐसा भी नहीं है कि स्त्री-पुरुष के [संयोग के] समान भगवान की सृष्टि भी मैथुनी है [बल्कि भगवान के द्वारा] यह उपमा समझने के लिए दी गयी, जो [भक्तों एवं सन्तों के द्वारा] मानी जाय!

चौपाई— पुनि सब हरि कहनो भयो झूठहिं। अस मानउ तो का ते रूठहिं॥
नहिं नहिं सदा सत्य हरि बानी। तुम्ह पहिं ऐसोइ जाय बखानी॥

तब तो भगवान ने जो कुछ भी कहा है, वह मिथ्या हो गया? क्या इसे ऐसा मानेंगे तो वे रूठ जायेंगे? नहीं-नहीं [ऐसा न समझें,] भगवान की वाणी तो सदा सत्य ही होती है किन्तु आपके पास तो [समझाने के लिए] इसी प्रकार कहा जायेगा।

जहँ कोउ नहिं प्रगट्यो तिहुँ काला। नाम रूप सब भये कृपाला॥
इनि रुप नामहिं स्वजन जो मानै। तब अस कौन जो कथा बखानै॥

[अरे!] जहाँ कोई तीनों काल में प्रकट हुआ ही नहीं, बल्कि भगवान ही नाना प्रकार के नाम-रूपों में प्रकट हैं, किन्तु वहाँ इन नाम-रूपों को अपना स्वजन समझ लिया जाय तो ऐसा कौन है जो कहानी को कह सके।

मिथ्या स्वजनन्हि जब उर माहीं। तुम्ह बैठारि न कछु सकुचाहीं॥
तबहीं तौ प्रभु सच स्वजनन्हि गहि। उन्ह झूठन्ह कहँ बधत असत कहि॥

[हे मित्रो!] जब आप अपने हृदय में झूठे स्वजनों को ही खड़ा करके कुछ भी संकोच नहीं कर रहे हैं तभी तो भगवान सच्चे स्वजनों को स्थापित करके उन झूठे स्वजनों को असत्य कहकर उनका छेदन कर रहे हैं!

अस कहि इहाँ दयानिधि भाई। बिमल भक्ति थापत हरषाई॥
जासों एहि पथ हर्षित आवहु। अपुनो माँ पितु हरिहिं बनावहु॥

अत: हे सज्जनो! ऐसा कहकर यहाँ दयानिधि भगवान प्रसन्नतापूर्वक निर्मल भक्तिपथ की स्थापना कर रहे हैं, जिससे आप इस पथ में प्रसन्नतापूर्वक आकर भगवान को ही अपना माता-पिता बना लें।

जब अनन्य भक्ती उर आवे। मिथ्या मत तब स्वतः नसावे॥
ता छन साँच लखाये जबहीं। झूँठ साँच का जानै तबहीं॥

इस प्रकार [देखने से] जब हृदय में अनन्य भक्ति प्रकट हो जायेगी, तब मिथ्या सिद्धान्त (मान्यता) अपने आप नष्ट हो जायेंगे और उस समय जब यथार्थ दीखने लगेगा, तब झूठ और सत्य का पता स्वत: चल जायेगा।

दोहा— महत ब्रह्म एहि हेतु सों भूतन्ह योनी होय।
ताकर अस्थुल रूप यहि कहत जगत सब जोय॥ ६ (क)॥

इसी कारण जो महत् ब्रह्म (प्रकृति) है वह सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की योनि है, जिसे सभी लोग संसार कहते हैं, वह उसी [ब्रह्म प्रकृति] का स्थूलरूप है!

अरु यामें जो चेतना ब्रह्म चेतना होय।
सोइ सत अक्षर साक्षि सोइ रूप सोइ सब कोय॥ ६ (ख)॥

और इसमें जो चेतना है वह ब्रह्म की ही चेतना है, जो [सदा ही] साक्षी है, सत् है, अक्षर है, अत: वही सबका [वास्तविक] स्वरूप है।

चौपाई— प्रकृति सुभाव बदलनो वारो। ज्यों जल हिम वाष्पहिं बपु धारो॥
जो जल कृषकहिं कृषी सँवारे। सोइ हिम होइ कबहुँ तेहि जारे॥

प्रकृति का स्वभाव परिवर्तनशील है, जैसे जल ही बर्फ और वाष्प का रूप धारण करता रहता है। हे पार्थ! जो जल किसानों के खेती की रक्षा करता है, वही [जल] कभी ओला रूप होकर उसे नष्ट भी कर देता है।

मूल प्रकृति त्यों मोरि परंतप। त्रय गुन होइ करे जनु गपसप॥
सत रज तम तिन्ह नाम बिलच्छन। जीवहिं बाँधत एहि तन प्रतिछन॥

उसी प्रकार हे परंतप! मेरी मूल प्रकृति भी तीन गुणों के रूप में होकर मानो [जीव से] हँसी-ठिठोली करती रहती है। उनके सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण- ऐसे विलक्षण नाम है; जो जीव को इस शरीर में प्रतिपल बाँधते रहते हैं। [इससे स्पष्ट है कि मेरी मूल प्रकृति को जो माँ मानते हैं उनकी वह रक्षा करती है तथा जो ऐसा नहीं मानते उनको बन्धन में डालकर नष्ट कर देती है]।

जीव जबहिं निज कहँ तन जानत। तबहिं मीत अज्ञानहिं मानत॥
यासेइ माया करत ढिठाई। जीव नचावति होय हँसाई॥

जब जीव स्वयं को देह रूप समझने लगता है, तभी से वह अज्ञान का मित्र बन जाता है। इसीलिए माया ढिठाई करते हुए जीव को नचाने लगती है और उसकी हँसी होने लगती है।

जिमि कामिहिं कामिनी नचावति। तिमि तेहि निज माया भरमावति॥

जिस प्रकार कामिनी कामी पुरुष को नचाया करती है उसी प्रकार उसकी अपनी ही माया उसे भ्रमित करती रहती है।

दोहा— बाँधि सकति नहिं जदपि सो अहइ ब्रह्मरुप जोय।
हौं देही जब लगि लखे तब लगि अस भ्रम होय॥ ७॥

जबकि वह [कभी] उसे बाँध नहीं सकती क्योंकि वह ब्रह्मरूप ही है, परन्तु जब तक देहाध्यास (मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है) रहता है तब तक इस प्रकार का भ्रम रहता ही है।

चौपाई— अबहुँ न बँध्यो सुरति बस बाँधी। वानेइँ पकर्‌यो सकल उपाधी॥
सोइ मन बुद्धि कहावति भाई। तन मानत सोइ जाय छिनाई॥

अरे! वह (जीवात्मा) तो अब भी बँधा हुआ नहीं है, बस स्मृति बँधी हुई है और उसी ने समस्त उपाधियों को पकड़ रखा है। हे प्रिय! वही [स्मृति] मन, बुद्धि भी कहलाती है जो स्वयं को शरीर मानते ही अपहरण कर ली जाती है।

आत्मसुरति बिनु बंधन मानइ। जस दृग बिनु निज अंधहि जानइ॥
हे प्रिय भगत हाल तुव सोई। रथ चढ़ि इहाँ दये तुम्ह रोई॥

किन्तु वह [जीवात्मा] आत्मस्मृति के अभाव में स्वयं को ही बन्धन में मानता है, जैसे कि आँखों के अभाव में लोग स्वयं को अन्धा जानते हैं। हे प्रिय भक्त अर्जुन! तुम्हारा भी यहाँ वही हाल हो गया है जिससे तुम रथ पर बैठकर रोना रो दिये।

अब सुनु को गुन कैसे बाँधत। अरु निज स्वारथ कैसे साधत॥
उन्ह महँ सत्व अनामय जोई। ज्योतिरूप अति निर्मल होई॥

अब यह सुनो कि कौन गुण [जीव को] कैसे बाँधता है और किसप्रकार उससे अपना स्वार्थ पूरा करता है– उनमें जो सतोगुण है वह मायारहित, प्रकाशस्वरूप और अति निर्मल है;–

सो बाँधत सुख ज्ञान दिखाई। अरु वामें आसक्ति कराई॥

वह [जीवात्मा को] सुख और ज्ञान दिखाकर बाँध लेता है तथा उसी में आसक्त करा देता है।

दोहा— सतगुन ध्यान समाधि बनि अतिहिं दिब्य सुख देत।
ऋद्धि सिद्धि अरु ज्ञान दै अपुनें बस करि लेत॥ ८॥

सतोगुण ध्यान और समाधि रूप से प्रकट होकर ऋद्धि–सिद्धि, प्राकृत ज्ञान और दिव्य सुख देकर अपने वश में कर लेता है।

चौपाई— जो अप्राप्त बस्तुनि अभिलासा। कही जाय सच महँ सोइ आसा॥
प्राप्त बिषय महँ मन की प्रीती। सोइ अनुरक्ति सास्त्र अस नीती॥

जो अप्राप्त वस्तु की कामना होती है उसी को यथार्थ में तृष्णा कहा गया है; तथा प्राप्त हुए विषयों के प्रति मन में जो प्रीति है वही आसक्ति है– ऐसा ही शास्त्र कहते हैं।

निर्मल जीवहिं रँगत बिषय रँग। राग रूप रज केरो यह ढँग॥
तेहि करमासक्तिहु सों बाँधत। ज्यों कोउ बृषभ नाथि कर नाँधत॥

इसी प्रकार रागरूप रजोगुण का यह स्वभाव है कि वह निर्मल जीवात्मा को विषय के रंग में भलीभाँति रंग देता है तथा उसे कर्म की आसक्ति से वैसे ही बाँधता है जैसे कोई बैल को नाथकर अपने वश में कर लेता है।

जो उपजत अज्ञान गर्भ सों। अरु मोहत सब जीव दर्भ सों॥
सो तम निद्रालसु प्रमाद सों। बाँधत जीवहिं नहिं बिबाद सों॥

जो अज्ञानरूपी गर्भ से प्रकट होता है और दम्भपूर्वक समस्त जीवों को मोहित करता रहता है, वह तमोगुण जीवात्मा को निद्रा, आलस्य और प्रमाद से बाँधता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

थोरैं महँ कहुँ सुनु मम भाई। सतगुन सुख महँ देत लगाई॥
रज कर्मनि महँ तम ढकि ज्ञानहिं। करत प्रमाद माहिं मुनि जानहिं॥

हे मेरे प्रिय! अब मैं संक्षेप में ही बता रहा हूँ, जिसपर तुम ध्यान दो– सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढँककर प्रमाद में ही लगा देता है, इस बात को समस्त मुनिजन जानते हैं।

दोहा— एक समय रह एक गुन इंद्रिनि मन मति ब्याप्त।
मूढ़ जीव कहँ सोइ इक बाँधन महँ पर्याप्त॥ ९ (क)॥

उन तीनों में से एक समय में एक ही गुण मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों में व्याप्त रहता है। मूढ़ जीवों को वह एक ही गुण अपने अधीन करने में समर्थ है।

देत ज्ञान सुख काज सत रज अरु तमहिं निबारि।
रज उपराजत कामना पुनि सत तमहिं बिसारि॥ ९ (ख)॥

रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण ज्ञान और सुख देने का कार्य करने लगता है तथा सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तृष्णा उत्पन्न करने लगता है–

सोरठा— सत्व रजहिं हटकारि बढ़त तमोगुन अति प्रबल।
नींद प्रमादहिं धारि ज्ञानहिं आबृत करत सो॥ ९ (ग)॥

वैसे ही सतोगुण और रजोगुण को दबाकर अत्यन्त प्रबल तमोगुण प्रकट हो नींद एवं आलस्य से ज्ञान को ढकने का कार्य करने लगता है।

चौपाई— को गुन कब उपजत सुनु बीरा। तिन्हिं लक्षनहिं कहउँ लखु धीरा॥
बोध जबहिं तन द्वारनि आवे। भ्रम अबोधता तबहिं नसावे॥

हे धैर्यवान परमवीर! अब मैं उन लक्षणों को कह रहा हूँ जिन्हें तुम देखो कि कौन-सा गुण कब प्रकट होता है- जब शरीर के सभी दरवाजों [मन, बुद्धि, चित्तादि] में चेतना का संचार हो जाय जिससे संशय एवं भ्रमरूपी अबोधता जाती रहे-

पूर्बाभास होय घटना के। जाये रटन बस्तु रटना के॥
तब जानहु सतगुन प्रगटायो। जासे सहज सांत मन भायो॥

और जब [भविष्य में घटने वाली] घटनाओं का पहले ही आभास होने लगे तथा किसी भी वस्तु की आकांक्षा समाप्त हो जाय, तब जान लो कि सतोगुण प्रकट हुआ है, जिससे सहज ही मन शान्त होकर शोभा पाने लगता है।

जब परद्रब्य हरन उर आवत। लोभ सोइ मुनि संतनि गावत॥
मूढ़न्ह सम चेष्टा संसारिक। अरु बिनु श्रद्धा कर्मन्ह धारिक॥

[इसके विपरीत] जब हृदय में पराये धन का हरण करने की इच्छा प्रकट होने लगे, तो उसी को सन्तों-मुनियों ने लोभ की संज्ञा दी है; मूर्खों के समान सांसारिक चेष्टा और बिना भाव [श्रद्धा] के कर्मों में बरतना-

यहइ प्रबृत्ति सांति उर नाहीं। हरष राग उपजइ मन माहीं॥
सकल बस्तु पावन की आसा। उर रज बढ़्यो यहइ परिभासा॥

यही प्रवृत्ति है; तथा जब हृदय में अत्यन्त अशान्ति हो जाय और मन में हर्ष एवं राग उत्पन्न होने लगे और समस्त वस्तुओं को पाने की कामना उत्पन्न होने लगे तो जान लेना कि हृदय में रजोगुण बढ़ा हुआ है, ऐसी ही परिभाषा है।

दोहा— अति अज्ञान प्रमाद उर सकल प्रबृत्ति अभाव।
जब प्रगटइ अति मूढ़ता तम प्रगट्यो सब गाव॥ १०॥

[उन दोनों के विपरीत] जब हृदय में अत्यन्त अज्ञान और प्रमाद उत्पन्न हो जाय, समस्त प्रवृत्तियों का अभाव (किसी भी कार्य में मन न लगना) एवं अत्यन्त मूढ़ता प्रकट हो जाय तो जान लेना कि तमोगुण बढ़ा हुआ है- ऐसा सबने कहा है।

मासपारायण, पचीसवाँ विश्राम

चौपाई— महाराज संतन्ह बिच आवै। त्रिबिध गुनन के चरित सुनावै॥
जो आसक्त होइ गुन माहीं। बँध्यो अहै दुइ कारन याहीं॥

अब महाराज सन्तों के बीच आकर तीनों गुणों के स्वरूप को स्पष्ट कर रहा है। जो भी पुरुष गुणों में आसक्त होकर बँधा हुआ है- यथार्थत: इसके दो कारण हैं।

कारन प्रथम रूप सच उनकैं। जानउ नहिं ते वासें भिनकैं॥
कारन अपर गुरुहिं बहु जानत। पर नहिं तिन्ह अनुसासन मानत॥

प्रथम कारण तो यह है कि आप उन गुणों के यथार्थ रूप को नहीं जानते हैं इसी से वे आप पर भड़कते रहते हैं। दूसरा कारण है कि गुरु को पहचानते तो हैं किन्तु उनका अनुशासन नहीं मानते।

गुरु पद पूर्ण समर्पण नाहीं। त्रैगुन खींचि लेहिं निज पाहीं॥
एहि प्रमाण निज बात बतावउँ। सुनन चहउ तो साँच सुनावउँ॥

आपका सद्गुरु के चरणों में पूर्ण समर्पण नहीं है, इसी से तीनों गुण आपको अपनी ओर खींच लेते हैं। यदि सुनना चाहते हैं तो इस विषय में आपको यथार्थ समझाने के लिए मैं अपनी ही बात बता रहा हूँ!

जग सों जब मन भयउ बिरागी। गुरुपहिं गयउँ ग्राम गृह त्यागी॥
बिनती कीन्हों चरननि पाहीं। प्रभु मन अब न लगत गृह माहीं॥

जब मेरा मन जगत से उपराम हुआ तब ग्राम-घर को त्यागकर सद्गुरु के पास चला गया और उनके चरणकमलों में प्रणाम कर प्रार्थना की कि [गुरुदेव!] अब गाँव-घर पर रहने का मन नहीं करता।

दोहा— रहउँ कहाँ हे दयानिधि मोहि बतावहु ठाउँ।
जहँ साधन करि तव कृपा आत्मस्वरूपहिं पाउँ॥ ११॥

अत: हे दयानिधे! मैं कहाँ रहूँ आप उस स्थान को बतायें? जहाँ रहकर साधना करूँ और आपकी कृपा से अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लूँ।

चौपाई— तब दिये प्रभु संन्यास दया भरि। सरणागत बत्सल निरख्यों हरि॥
इक कुटि पावन दिये बताई। एक सिस्य जहँ पूर्ब बसाई॥

तब गुरुदेव ने दया से भरकर संन्यास दे दिया फिर मैं समझ गया कि ये साक्षात् शरणागतवत्सल भगवान ही हैं। उन्होंने एक पावन कुटिया बता दी, जहाँ उस समय उनका एक शिष्य पहले से ही वास कर रहा था।

कहे अबहिं तौ मैं कहुँ जावउँ। मास दिवस बीते पुनि आवउँ॥
तबलौं तहिं करु जप तप ध्याना। जबलौं होय न मेरो आना॥

उन्होंने कहा कि अभी तो मैं कहीं जा रहा हूँ एक माह व्यतीत होने पर पुन: आऊँगा। जब तक मैं लौटकर न आ जाऊँ तब तक तुम वहीं रहकर जप-तप और ध्यान आदि की साधना करो।

पूर्ब सिस्य यदि तोहिं भगावे। तब यहिं अपर कुटी महँ जावे॥
जब गयों कुटी यती हरषायो। किंतु तबहिं निज नारि बुलायो॥

और कहा कि- यदि वह संन्यासी तुम्हें रहने न दे तब तुम यहीं अन्य कुटिया में चले जाना। जब मैं कुटिया पर गया तो वह संन्यासी अत्यन्त प्रसन्न हुआ किन्तु उसने तभी [घर से] अपनी पत्नी को बुला लिया।

लखि मम जप तप ध्यान अबाधू। खीझन लग्यो मोहिं सन साधू॥

वह संन्यासी मेरे निरन्तर जप, तप, ध्यान में रहने की स्थिति को देखकर मुझसे खीझने लगा।

दोहा— अस लखि अपर कुटी गयों उर न भयो दुख लेस।
सोच्यों एहि महुँ भल छिप्यो जानइ सो परमेस॥ १२॥

ऐसा देखकर मैं उसी के निकट दूसरी कुटिया में चला गया और मुझे [उसके उस व्यवहार से] हृदय में लेशमात्र भी दु:ख नहीं हुआ। मन में सोचा कि इसमें भी मेरा कल्याण ही छिपा हुआ है जिसे भगवान ही जानता है।

चौपाई— साधक तहूँ एक रह भाई। रहन दियो नहिं दियो भगाई॥
तब सतगुन मम उर महँ छायो। वासें प्रगटि ज्ञान भरमायो॥

हे सज्जनो! वहाँ पर भी एक साधक रहता था उसने भी मुझे रहने नहीं दिया बल्कि वहाँ से भगा दिया। तब मेरे हृदय में सतोगुण प्रकट हो गया और उससे प्रकट हुए ज्ञान ने मुझे भ्रमित कर दिया।

जब सब जगत रूप बिभु केरो। पुनि मति काह भ्रमति अस तेरो॥
नारि पुरुष गाँवहिं घर जोऊ। बिबिध नाम रुप प्रभु कर सोऊ॥

ऐसा लगा जब सारा जगत ब्रह्म का ही स्वरूप है तो तुम्हारी बुद्धि ऐसी भ्रमित क्यों हो रही है! [अरे!] जो गाँव-घर के स्त्री-पुरुष हैं वे भी तो भगवान के ही विविध नाम एवं रूप हैं।

उन्ह अरु जग नर नारि भेद कसि। यासें जप तप करउँ गाँव बसि॥
गयों गाँव यहि सोचत भाई। ताहि निकट इक गुहा खुदाई॥

अत: उनमें और जगत के स्त्री-पुरुषों में भेद कैसा? इसलिए [अब तो] गाँव-घर पर रहकर जप-तप करूँगा। ऐसा सोचकर गाँव चला गया और वहीं पास में एक गुफा खुदवाकर-

जप तप करन लग्यों हरषाई। माया गति मति समुझ न पाई॥
बीत्यो बरष योग अस आयो। मध्य प्रदेस बुलावा पायो॥

अत्यन्त प्रसन्नता के साथ जप-तप करने लगा। इस प्रकार मेरी बुद्धि माया की चाल को समझ नहीं पाई। जब एक वर्ष बीत गया तो ऐसा योग आया कि मध्य प्रदेश से एक आमन्त्रण आ गया।

सिद्ध संत त्यागे तन धायों। उन्हकी पुन्य तिथी महँ आयों॥

वहाँ एक सिद्ध सन्त ने शरीर त्याग दिया था। मैं उनकी पुण्य तिथि (षोडसी) में चला आया।

दोहा— भगत एक मोहिं देखि तहँ ल्यायो अपुने गाँव।
बिनती करि मम रहन हित दिखरायो सुचि ठाँव॥ १३॥

वहाँ पर एक भक्त मुझे देखकर अपने गाँव लाया और विनती करके मेरे रहने के लिए एक पवित्र स्थान (कुटी) दिखलाया।

चौपाई— तहिं बसि गयों रम्यो मन मेरो। जनु गयों भूलि अहौं गुरु चेरो॥
पंच बरष मैं तहँइ बितायों। ललक उठी गुरु दरसन धायों॥

मैं वहीं जप-तप करने लगा और मेरा मन वहाँ ऐसा रम गया मानो मैं भूल ही गया कि मैं किसी गुरु का शिष्य हूँ ऐसे ही वहीं पर पाँच वर्ष व्यतीत कर दिया। जब गुरुदेव के दर्शन की प्रबल लालसा जगी तो [शीघ्रता के साथ] दर्शन करने चल पड़ा।

अब उन्हकी आयसु अनुसार्‌यों। जहाँ कहे तहँ डेरा डार्‌यों॥
अस प्रसन्न भै कृपानिधाना। नित प्रति हरहिं हृदय अज्ञाना॥

[वहाँ जाकर] अब मैं उन्हीं की आज्ञा का अनुसरण करने लगा और उन्होंने जहाँ कहा वहीं रहने लगा। उसके उपरान्त कृपानिधान गुरुदेव ऐसे प्रसन्न हुए कि नित्य प्रति हृदय के [मोह-ममतारूपी] अज्ञान का नाश करने लगे।

नाघ्यों सतगुन मैं कछु काला। लहेउँ सहज धन ब्रह्म कृपाला॥
मोसों भूल कहाँ भइ जानहु। पुनि अपुनो जीवन अनुमानहु॥

अत: कुछ ही वर्षों में सतोगुण से भी छलाँग लग गयी और सहज ही कृपासागर भगवान को प्राप्त कर लिया। अब [आप सब] विचार करें कि मुझसे कहाँ भूल हुई और उसके उपरान्त अपने जीवन का मूल्यांकन करें।

जब संन्यास दयानिधि दीन्हें। तब मोहिं लग्यो आपुनो चीन्हें॥
यति बिधि बाह्य पुछ्यों मैं नाहीं। सतगुन छाइ रह्यो मन माहीं॥

जब दयानिधि गुरुदेव ने संन्यास दे दिया तब मुझे लगा कि गुरुदेव ने मुझे अपना बना लिया, किन्तु संन्यास धर्म के बाह्यनियमों को मैंने उनसे उस समय नहीं पूछा; क्योंकि मेरे मन में सतोगुण व्याप्त था।

दोहा— निसदिन बीतत ध्यान महँ सपनेहुँ गृह मन नाँय।
गुरुहु न बद कछु याहि सों सत सों गयों ठगाय॥ १४॥

ध्यान में ही दिन-रात व्यतीत हो जाने से स्वप्न में भी घर-गाँव [एवं जगत] की याद नहीं आती थी। गुरुदेव भगवान ने भी कुछ नहीं कहा इसीलिए मैं सतोगुण के द्वारा ठगा गया।

चौपाई— जब दोउ संतन्ह दये भगाई। तब गयों गाँव इहइ सठताई॥
पुनि न कह्यों सदगुरु पहिं आई। मोरे संग भयो का भाई॥

[वह कैसे? ऐसे कि] हे भाइयो! जब उन स्थानों पर रहने वाले दोनों सन्तों ने मुझे नहीं रहने दिया, तब मैं गाँव पर चला गया, यही तो मूर्खता हुई। पुन: आकर सद्‌गुरु से कहा भी नहीं कि मेरे साथ क्या [व्यवहार] हुआ।

यहि गुरु आयसु भंग कहावत। मोरे उर अस सहज लखावत॥
पंच बरस सतगुन महँ रमेऊँ। ब्रह्म मार्ग महँ पग नहिं धरेऊँ॥

मेरे हृदय में यह स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि यही गुरु-आज्ञा का उल्लंघन कहा जाता है जिससे जगत में पाँच वर्ष [मनमानी साधना करते] बीत गये और सतोगुण में रमण करते हुए आध्यात्मिक ब्रह्ममार्ग नहीं अपनाया।

यद्यपि जब जब गुरु पहिं जावउँ। तहउँ ध्यान महँ समय बितावउँ॥
तब बिच बिच प्रभु अस संकेतत। ध्यानासक्त भये कहि भेदत॥

यद्यपि मैं जब-जब गुरुदेव के पास जाता तो वहाँ भी ध्यानयोग में ही समय व्यतीत करता था। तब बीच-बीच में गुरुदेव भगवान ऐसा संकेत करते थे कि तुम ध्यान में आसक्त हो गये हो और वे ऐसा कहकर उस [ध्यान की

आसक्ति] को छिन्न-भिन्न करते थे।

अस कहि चाहत सतगुन हरनो। पर मम मन चह तामेइ बहनो॥

ऐसा कहकर वे सतोगुण का हरण करना चाहते थे, परन्तु मेरा मन बारम्बार उसी [सतोगुण] में बह जाता था।

दोहा— यद्यपि नितप्रति लागई उर महँ योग समाधि।
तउ नहिं जावे साँच कहुँ महा मोहमय ब्याधि॥ १५॥

यद्यपि हृदय में नित्य योग से प्रकट होने वाली समाधि लग जाती थी तो भी मैं सच कहता हूँ कि [हृदय से] महामोहरूपी व्याधि नहीं जाती थी।

चौपाई— काम क्रोध उर प्रगट न दीखैं। पर कबहूँ सच भेदैं तीखैं॥
तबहिं होइ गुरुपहिं सरणागत। तिन्हसों आत्मज्ञान भयों माँगत॥

यद्यपि काम, क्रोधादि विकार प्रकट में दिखते नहीं थे परन्तु यह सत्य है कि कभी-कभी तीखे बाणों से भेदन कर ही देते थे। इसलिए मैंने गुरुदेव के पास शरणागत होकर उनसे आत्मज्ञान की याचना की-

हे प्रभु ऐसी कैसि समाधी। जासे जाय न उर तम ब्याधी॥
अजहुँ लखाय देह हौं साँईं। मोरि दसा भइ मूढ़न्ह नाईं॥

कि हे प्रभो! यह कैसी समाधि है जिससे हृदय की अज्ञानरूपी व्याधि नहीं जा रही है? हे नाथ! अभी भी मुझे यही दिखाई पड़ता है कि मैं शरीर हूँ। अत: मेरी स्थिति मूर्खों के समान हो गयी है।

बिनय करउँ मुनिजन हिय धरहू। जस मैं कियों न तस तुम्ह करहू॥
बाँधत रज कस याहि कहानी। सौभरि ऋषि सों कहउँ बखानी॥

हे साधको! मेरी प्रार्थना को हृदय से स्वीकार करें कि आप सब कभी वैसा मत करना जैसा मैंने किया। अब रजोगुण कैसे बाँधता है- इस रहस्य को सौभरि ऋषि के [आख्यान के] माध्यम से व्यक्त कर रहा हूँ।

सौभरि ऋषि उर सत जब छायो। तब सो तहँ बिराग प्रगटायो॥
मुनि ता छन गुरु चरननि आये। उननैं जल समाधि सिखराये॥

सौभरि ऋषि के हृदय में जब सतोगुण प्रकट हो गया, तब उसने वहाँ वैराग्य प्रकट कर दिया। उस समय वे ऋषि गुरु के चरणों में आ गये और गुरु ने उन्हें जल-समाधि सिखा दी।

दोहा— तब जमुना सरि आइकै सलिल समाधि लगाइ।
लगे करन मुनि घोर तप देह गेह बिसराइ॥ १६॥

तब शरीर और घर-बार की सुध-बुध खोकर मुनि ने आकर यमुना नदी में जल-समाधि लगा ली और घोर तप तपने लगे।

चौपाई— कछुक काल बीते सिधि आई। जासे जल महँ सबहिं लखाई॥
एक समय एक मच्छहिं मच्छरि। काम केलि अति करत बिषय भरि॥

कुछ काल व्यतीत होने पर सिद्धियाँ आयीं जिससे उन्हें जल में सबकुछ दिखायी पड़ने लगा। एक बार एक मत्स्य और मछली अति विषयासक्त होकर कामक्रीड़ा करने लगे।

ताहि देखि ऋषि उर रज प्रगट्यो। तप सों तिन्ह मन तब अति भटक्यो॥
कह्यो अहो गृह अति सुखदाई। अबहिं तजउँ मैं तप दुखदाई॥

उसे देखकर ऋषि के मन में रजोगुण प्रकट हो गया और तब उनका मन तप से भटक गया और उन्होंने कहा- अहो! गृहस्थाश्रम अत्यन्त सुखद है अत: मैं दु:खद तप का अभी त्याग करता हूँ।

करउँ बिबाह गृहस्थि बसाऊँ। प्रिय पत्नी सँग रास रचाऊँ॥
पतिनिहु संग बिपुल ऋषि मुनिगन। गृह महँ पाये ब्रह्म बिमल धन॥

अब विवाह करके गृहस्थी बसाऊँगा एवं प्रिय पत्नी के साथ रास रचाऊँगा। [अरे!] पत्नी के साथ रहकर भी अनेक ऋषि-महर्षियों ने गृहस्थाश्रम में ही ब्रह्मरूपी दिव्य धन को प्राप्त किया है।

अस मन गुनत लगायँ गुहारे। आइ मानधाता नृप द्वारे॥
पुत्री एक देहु मोहि राजन। आपु संत मुनि के प्रिय भाजन॥

इस प्रकार [वे मुनि] मन में विचार करते हुए राजा मान्धाता के द्वार पर आकर बोले- हे राजन्! आप तो सन्तों के प्रिय पात्र हैं अत: मुझे [अपनी कन्याओं में से] एक कन्या दान कर दें।

दोहा— देखि बृद्ध तन ऋषिहिं कर नृपहिं बहुत दुख लाग।
सोचत ना सुनि श्राप दैं सकउँ न अब कहुँ भाग॥ १७॥

मुनि के वृद्ध शरीर को देखकर राजा को मन ही मन अत्यन्त दु:ख हुआ और सोचा कि यदि 'ना' करता हूँ तो ऐसा सुनते ही ये शाप दे सकते हैं। अब इनसे कहीं भाग भी तो नहीं सकता।

चौपाई— एक जुगुति नृप उर तब आई। कहेउ भवन प्रबिसहु मुनिराई॥
बरइ कुँअरि जो करहु बिबाहू। अस सुनि मुनिहिं भयो उर दाहू॥

राजा के हृदय में एक युक्ति आ गयी और उन्होंने कहा- हे मुनिवर! आप महल (अन्त:पुर) में जायँ और वहाँ जो कन्या आपका वरण करे उसी के साथ विवाह कर लें। ऐसा सुनकर मुनि का हृदय [क्रोध से] जल उठा।

सोचे पुत्रि न देनो चाहइ। नीति स्वयम्बर अस निरबाहइ॥
गये भवन रचि दिब्य सरूपा। पुत्रिन्ह महँ भा सोर अनूपा॥

उन्होंने सोचा कि यह कन्या देना नहीं चाहता, इसीलिए स्वयंवर की नीति को खड़ा किया है। अत: उन्होंने [सिद्धि के बल से] दिव्यरूप बनाकर अन्त:पुर में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही पुत्रियों में यह विचित्र कोलाहल मच गया कि-

मेरो पति मेरो पति मेरो। प्रथम बरी मैंने कस तेरो॥
ऋषि सबहिनि सों किये बिबाहू। सब पुत्रिन्ह उर भयो उछाहू॥

ये मेरे पति हैं, ये मेरे पति हैं। इन्हें सर्वप्रथम मैंने वरण किया है, ये तेरे कैसे हो सकते हैं? [सभी कन्याएँ ऐसा ही कहने लगी] तब ऋषि ने सभी कन्याओं से विवाह कर लिया और उन सभी के हृदय में प्रेमानन्द भर गया।

हुतिं जितनैं तितनेइँ रूप धरि। पछताये बहु काल भोग करि॥
यो का भौ रज नाच नचायो। भोग्यों भोग तोष नहिं आयो॥

ऋषि जितनी कन्याएँ थीं उतने ही रूप धारण कर बहुत समय तक विषय वासनाओं में लिप्त रहने के बाद पश्चात्ताप करने लगे कि अरे! यह क्या हो गया? रजोगुण ने नाच नचा दिया, बहुत भोग भोग लिया तो भी सन्तोष नहीं हुआ!

दोहा— तृप्त होय नहिं अनल जिमि बहु घृत डारे कोय।
तिमि बहु काल बिषय कोउ भोगै तृप्ति न होय॥ १८॥

उन्होंने सोचा- जिस प्रकार कोई जितनी भी घी की आहुति दे दे किन्तु अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही कोई चाहे कितना ही विषयों को भोगे किन्तु उनसे तृप्ति नहीं हो सकती।

चौपाई— अहो सतोगुन प्रथमहिं बाँध्यो। ता उपरांत रजोगुन साध्यो॥
गृह सों धायों लै संन्यासा। बन महँ बँध्यों सतोगुन पासा॥

अहो! सर्वप्रथम सतोगुण ने बाँध लिया, उसके उपरान्त रजोगुण ने लक्ष्य बनाया। घर से संन्यास लेकर चला तो वन में सतोगुण के पाश से बँध गया।

पुनि बँधि गयों रजोगुन माहीं। मो सम नहिं मूरख जग आहीं॥
अब त्यागउँ हे मन जग पासा। लेउँ तिनहु गुन सों संन्यासा॥

उससे छूटा तो रजोगुण में बँध गया। इस प्रकार मेरे समान जगत में कोई मूर्ख है ही नहीं। हे मन! अब मैं जगतरूपी पाश का परित्याग करके तीनों गुणों से भी संन्यास ले रहा हूँ।

सर्बब्रह्म उर गहि अवराधउँ। अपुनो आत्मरूप सच साधउँ॥
अस बिचारि पुनि भै संन्यासी। चिंतहिं नित आतम अबिनासी॥

जो कुछ भी दीख रहा है वह सब 'ब्रह्मरूप ही है' ऐसा भाव अपने हृदय में धारण कर यथार्थ में अपने आत्मरूप को प्राप्त कर लूँगा। ऐसा सोचकर उसी समय उन्होंने संन्यास ले लिया और सदा अविनाशी आत्मा का चिन्तन करने लगे।

तब अतिहीं ब्रह्महिं उर भाये। ताकी कृपा परमपद पाये॥

तब वे ब्रह्म को अति प्रिय लगने लगे और उसकी कृपा से परमपद प्राप्त कर लिये।

दोहा— देख्यों साधक एक प्रिय प्रभु हित गृह निज त्यागि।
जाइ बिपिन जप तप करत पर नहिं दृढ़ अनुरागि॥ १९॥

मैंने एक ऐसे प्रिय साधक को भी देखा, जो भगवान के निमित्त अपने घर का त्याग कर, वन में जाकर जप-तप करता था किन्तु भगवान के प्रति निश्चल प्रेम नहीं हुआ था।

चौपाई— प्रगट्यो तम तब मन अस आयो। तंत्र सरल साधन सिव गायो॥
वासेइ अब मैं ब्रह्म अराधउँ। तांत्रिक गुरु पहिं एहि तन साधउँ॥

जब तमोगुण प्रकट हुआ तब उसके मन में ऐसा भाव आया कि भगवान शंकर ने कहा है कि तन्त्र तो अत्यन्त सरल साधन है। अत: अब मैं उसी के द्वारा ब्रह्म की आराधना करूँगा और [उसके लिए] किसी तांत्रिक गुरु के पास जाकर इस शरीर को तंत्र साधना में लगाउँगा।

अस गुनि तांत्रिक गुरु पहिं आई। साधन लग्यो तंत्र बहुताई॥
गाँजा भाँगहु चरस डकारत। बम भोले लखि काहु उचारत॥

ऐसा विचारकर तांत्रिक गुरु के पास आया और अनेक प्रकार के तंत्र साधने लगा। अब वह गाँजा, भाँग और चरस पीता रहता और किसी को देखता है तो 'जय भोले' चिल्लाता।

भूत प्रेत की भई भावना। ब्रह्म प्राप्ति की गई कामना॥
धूम्रपान बिनु रह्यो न जावे। आलसु नींद प्रमाद सुहावे॥

अब भूत, प्रेत के प्रति भाव हो गया तथा भगवत् प्राप्ति की कामना चली गयी। धूम्रपान के बिना रहा नहीं जा रहा था और आलस्य, नींद एवं प्रमाद ही प्रिय लग रहा था।

पतो नाहिं सो अब कब जागे। त्यागि तंत्र ब्रह्महिं अनुरागे॥

पता नहीं वह अब कब जगेगा और तंत्र साधना त्यागकर ब्रह्म साधना में मन लगायेगा,

दोहा— आतमचिंतन करइ कब जासों द्रवहिं दयालु।
कब पावइ बर ज्ञान सो पुनि न होय उर सालु॥ २०॥

कब आत्मचिन्तन करेगा, जिससे भगवान द्रवित होंगे और कब वह आत्मज्ञान को प्राप्त करेगा जिससे पुन: हृदय में शोक-सन्ताप न हो।

चौपाई— अस एक साधक देख्यों भाई। जप तप योग करइ बहुताई॥
भइ आसक्ति ध्यान तप माहीं। आतमचिंतन कर छन नाहीं॥

हे सन्तो! मैंने इसी प्रकार का एक और साधक देखा, जो बहुत ही प्रेमपूर्वक योग, जप, तप कर रहा था; किन्तु उसे ध्यानरूपी तप में आसक्ति हो गयी जिससे उसके पास आत्मचिन्तन के लिए समय ही नहीं था।

बढ़्यो सतोगुन सो नहिं जान्यो। वाको रूप नाहिं पहिचान्यो॥
सत रज तम गुन की का भाषा। उन्हकर रूप काह परिभाषा॥

इस प्रकार सतोगुण बढ़ गया और वह इसे नहीं जान पाया तथा न ही उसका रूप पहचान पाया। सत, रज, तम गुणों का क्या लक्षण है तथा उनका रूप क्या है एवं उनकी परिभाषा क्या है-

जानत नाहिं न गुरु सों बूझ्यो। यासें सतगुन साँचइ सूझ्यो॥
गुरुहु बतावें तबहीं भाई। पूछइ जबहिं निकट सो आई॥

न तो वह स्वयं जानता था न सद्गुरु से ही पूछा इसीलिए उसे सतोगुण ही सत्य प्रतीत हुआ। अरे भाई! सद्गुरु भी तो तभी बताएँ जब वह उनके निकट आकर उनसे पूछे।

सो क्यों पूछै तप की गरमी। रही न मन बुधि चित महँ नरमी॥

वह (शिष्य) क्यों पूछे क्योंकि उसे तप की गर्मी थी। इसलिए मन, बुद्धि एवं चित्त में सरलता नहीं थी।

दोहा— उनसों तौ गुरुमंत्र लै गृह गयो आयसु पाय।
पुनि न गयो बहु काल तहँ यासें सत लिपटाय॥ २१॥

उनसे तो वह गुरुमंत्र प्राप्त कर आज्ञा लेकर घर लौट गया और बहुत काल तक वहाँ पुन: नहीं गया, इसी से सतोगुण में आसक्त हो गया।

चौपाई— कछु नहिं कियो कबहुँ सतसंगा। का पहिचान प्रकृति के रंगा॥
बिनु सतसंग झूठ का साँचौ। जान परइ नहिं का तप आँचौ॥

उसने कभी कुछ भी सत्संग नहीं किया था, अत: वह प्रकृति के स्वरूप को क्या जाने। [अरे!] बिना सत्संग के क्या झूठ है, क्या सच है तथा तप की गर्मी क्या होती है, यह तो समझ में ही नहीं आता।

तपहु ताप जब अस प्रगटावे। ग्रसत निजहिं सत्संग अभावे॥
भयो सोइ तेहि साधक संगा। सोउ रँगायो सतगुन रंगा॥

तप की भी गर्मी ऐसी होती है कि जब वह प्रकट होती है तो सत्संग के अभाव में स्वयं को ही निगल जाती है। उस साधक के साथ भी यही हुआ क्योंकि वह भी सतोगुण के रंग में रंग गया था।

सेवक एक करत सेवकाई। संध्या छन जननिहु तहँ आई॥
रहैं आध घरि सेवक माता। जायँ तहाँ सों एतनोइ नाता॥

उस समय एक सेवक उसकी सेवा करता था। संध्या के समय [साधक की जन्मदात्री] माँ भी आ जाती थी। इस प्रकार [संध्याकाल में] लगभग आधी घड़ी (पंद्रह मिनट) ही सेवक और माता रहते थे, इतना ही उनसे उसका सम्बन्ध था।

एक दिना माँ सँग पितु आये। सुत कृस गात देखि बिकलाये॥
बोले दृग न बचे बिनु खाये। खावहु नहिं दृग ज्योति नसाये॥

एक दिन माँ के साथ उसके पिता भी आ गये, वे पुत्र को अत्यन्त दुर्बल देखकर बहुत चिन्तित हो उठे और बोले- बिना खाये-पीये आँखें नहीं बचेंगी, अन्न-जल ग्रहण करें अन्यथा नेत्रों की ज्योति चली जायेगी।

दोहा— बोल्यो सुत अस का कहहु तप सों ज्योती आय।
तप अति सुखप्रद बेद कह तीनहुँ ताप नसाय॥ २२॥

तब उस साधक पुत्र ने कहा कि आप यह क्या कह रहे हैं, तप से तो [नेत्रों की गयी हुई] ज्योति भी आ जाती है इतना ही नहीं वेद तो कहते हैं कि तप अत्यन्त सुखप्रद है, उससे तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों का नाश हो जाता है।

चौपाई— मातु इनहिं काहे तू लाई। तोहिं सीलता अस कस आई॥
पुनि तोरेउँ हित यह दरवाजौ। बंद होयेगो पुनि नहिं गाजौ॥

अरे माँ! तुम इनको साथ में क्यों लाई, क्या तुम भी शीलता में आ गयी! तो फिर तुम्हारे लिए भी दरवाजा बन्द हो जायेगा, फिर तुम मुझसे कुछ कह नहीं सकती हो!

अस कहि बंद कियो सुत फाटक। मन समुझ्यो यह हरि कर नाटक॥
निराहार निर्जल ब्रतधारी। निसदिन प्रभु सों करत पुकारी॥

ऐसा कहकर पुत्र ने दरवाजा बन्द कर लिया और मन में समझा कि यह प्रभु का ही नाटक है। वह निराहार और निर्जल व्रत धारण करनेवाला [साधक] नित्यप्रति ब्रह्म की आराधना किया करता था।

भयो ताहि दिन बारह वासर। नींदउ तजी ताहि तन आसर॥
ब्रह्ममुहूर्त भयो गइ राती। ध्यान करत भगिं बृत्तिहु पाँती॥

उस दिन उसके तप का बारह दिन व्यतीत हो चुका था, अत: नींद ने उसके शरीर का आश्रय त्याग दिया। ब्रह्ममुहूर्त हो गया और रात्रि व्यतीत हो गयी, [रातभर] ध्यान करने से वृत्तियों का प्रवाह समाप्त हो गया।

प्रथम समाधि ताहि दिन लागी। जनम जनम की तंद्रा भागी॥
इक दिन तेहि सेवक मुरुझायी। कह्यो मर्‌यो सुत तियहु मरायी॥

उसी दिन उसे प्रथम समाधि लगी जिससे जन्म-जन्मान्तर की तंद्रा समाप्त हो गयी। फिर एक दिन उसे उसका सेवक उदास दिखा और पूछने पर बताया कि पुत्र तो मर ही गया था पत्नी भी मर गयी।

दोहा— आइ दया सत कारने साधक समुझ्यो नाहिं।
गयो ताहि जीवन दियो तिहिं सँग सब हरषाहिं॥ २३॥

सतोगुण के कारण साधक के हृदय में दया आ गयी, जिसे वह समझ नहीं पाया कि यह सतोगुण है और उसने जाकर सेवक की पत्नी को जीवित कर दिया जिससे उसके साथ सभी हर्षित हो गये।

चौपाई— अब भइ भीर ताहि दरवाजैं। बहु भगाय पर कोउ न भाजैं॥
भयो मान अति बढ़्यो रजोगुन। दया करन महँ गयो सतोगुन॥

अब उसके दरवाजे पर अत्यन्त भीड़ लगनी प्रारम्भ हो गयी यद्यपि वह सभी को हटाने का बहुत प्रयत्न करता था, किन्तु कोई हटता नहीं था। इस प्रकार अत्यधिक मान-सम्मान होने से रजोगुण बढ़ गया और दया करने में उसका सारा सतोगुण चला गया।

सोच्यो का होवतु मन माहीं। तजि घर गाँव गयो गुरु पाहीं॥
निज निर्बलता तिन्हहि बतायो। दया करन उनकेहुँ न भायो॥

तब उसने मन ही मन विचार किया कि यह सब क्या हो रहा है और गाँव-घर छोड़कर सद्‌गुरु के पास चला गया। उनसे अपनी सारी कमजोरी कह सुनायी, दया करना उनको भी प्रिय नहीं लगा।

डाँटि दपटि दीन्हें बैरागा। मन पुनि ज्ञान ध्यान महँ लागा॥
त्रैगुन रूप दिये दिखराई। कहे न अब उर माया आई॥

अत: डाँट-डपटकर कर वैराग्य दे दिया, जिससे पुन: मन ज्ञान-ध्यान में लग गया। फिर गुरुदेव ने तीनों गुणों के स्वरूप को अच्छी प्रकार दिखा दिया और कहा कि जाओ अब तुम्हारे हृदय में माया नहीं आयेगी।

संकट हरन सरन अब दीन्हें। दै सत्संग सुखी अति कीन्हें॥
अब तजि गाँव दूर बन जावहु। कहे तहाँ निज रूपहिं ध्यावहु॥

इस प्रकार अब उन संकटहरण गुरुदेव ने अपनी ही शरण में रख लिया और सत्संग देकर अत्यन्त सुखी कर दिया और कहा- अब अपना गाँव-घर छोड़कर कहीं बहुत दूर वन प्रदेश में चले जाओ और वहाँ नित्य अपने स्वरूप का ध्यान करो।

दोहा— त्रिगुनातीत होय तुम्ह बिचरौ महि पुनि आय।
राजयोग भाषउ जगत जो उर माहिं लखाय॥ २४॥

उसके उपरान्त तीनों गुणों से अतीत होकर पुन: जगत में आकर विचरण करो और [भक्तों के बीच] राजयोग के रहस्य को बताओ जो तुम्हारे हृदय से प्रकट हो।

चौपाई— अब रणभूमि दिखावउँ भाई। जहँ अर्जुन सों कह यदुराई॥
पार्थ कहउँ अब मरण अवस्था। जहँ कछु ऐसी प्रकृति ब्यवस्था॥

हे साधको! अब मैं आप सबको रणभूमि में ले चलता हूँ, जहाँ भगवान यदुनाथ महात्मा अर्जुन से कुछ कह रहे हैं। हे पार्थ! अब मैं मृत्यु के समय की बात बता रहा हूँ, जहाँ प्रकृति की कुछ ऐसी व्यवस्था है कि-

सत स्थित तन त्यागत जोई। पाव तत्वबिद लोकहिं सोई॥
जो मल रहित लोक कहलावे। जहँ निष्काम करम उपजावे॥

जो पुरुष सतोगुण में स्थित होकर देह त्याग करता है वह तत्त्वज्ञानियों के लोक को प्राप्त करता है जो निर्मल (दिव्य) लोक कहा जाता है जहाँ निष्काम कर्म ही होता है।

रज स्थित तन तजि जो जावे। कर्मासक्तिन्ह लोक सो पावे॥
निसदिन चिंता सोकहिं धरई। सुर पूजन धन सुख हित करई॥

उसी प्रकार रजोगुण में स्थित होकर जो पुरुष शरीर त्याग करता है वह कर्मासक्त पुरुषों के लोक को प्राप्त होता है और वहाँ रात-दिन शोक-सन्ताप करते हुए धन और सुख आदि के लिए देवताओं की उपासना किया करता है।

तम स्थित तन त्यागइ जोई। जनमइ पसु पक्षी बनि सोई॥

उसी प्रकार तमोगुण में स्थित पुरुष शरीर त्यागकर पशु-पक्षियों का शरीर धारण कर जन्म लेता है।

दोहा— सतगुन कर्मनि बिमल फल राजस फल दुख आहि।
तम कर्मन्ह फल मोह जो सदा देत उर दाहि॥ २५॥

इस प्रकार सतोगुणी कर्म का फल निर्मल कहा गया है और राजस कर्म का फल दुःख-क्लेश बताया गया है तथा तामस कर्म का फल अज्ञान कहा गया है जो हृदय को सदा दुःख देता रहता है।

चौपाई— सतगुन उपजावत नित ज्ञाना। जासे होय ब्रह्म कर ध्याना॥
रज उपजावे लोभ सदाई। तम दोउनि कर बैरी भाई॥

सतोगुण नित्य ज्ञान प्रकट करता रहता है जिससे ब्रह्म का ध्यान होता है। रजोगुण सदा लोभ उत्पन्न करता रहता है तथा तमोगुण तो दोनों का वैरी है ही।

सो प्रगटै प्रमाद अति मोहा। अरु अज्ञान करइ उर छोहा॥
देवलोक महँ जावें सतगुनि। मनुज योनि महँ आवें रजगुनि॥

वह [तमोगुण] अति प्रमाद, मोह और अज्ञान प्रकट करता रहता है जो हृदय को दुःखी करते रहते हैं। [हे पार्थ!] सतोगुणी पुरुष देवलोक को जाते हैं, रजोगुणी पुरुष मनुष्ययोनि में आते हैं-

निद्रालसु महँ स्थित तमगुनि। अधमयोनि महँ जावें सिर धुनि॥
कह धृतराष्ट्र काह कह माधव। मैं नहिं बूझउँ संजय साधव॥

निद्रा और आलस्य में रहने वाले तमोगुणी पुरुष शरीर छोड़ने के बाद अपना माथा पीट-पीटकर अधमयोनियों (पशु, पक्षी, कीट आदि) में जाते हैं। [उधर सञ्जय से ऐसा सुनकर] धृतराष्ट्र कह रहे हैं कि हे साधु सञ्जय! ये माधव क्या कह रहे हैं? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ!

कबहुँ कहत सतगुनि तहँ जावें। जहँ निष्काम करम सब ध्यावें॥
उन्हकेइ निर्मल लोक कहावे। जहँ करि ध्यान ब्रह्मपद पावे॥

कभी तो कह रहे हैं कि सतोगुणी पुरुष [शरीर छोड़कर] वहाँ जाते हैं जहाँ सभी निष्काम कर्मानुष्ठानों से ब्रह्म की उपासना में रत हैं। उनका ही लोक [आसक्तिरूपी मल से रहित] निर्मल लोक कहा जाता है जहाँ ध्यान करके वह परमपद प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— कबहुँ कहत यदुनाथ तव सतगुन ज्ञानहिं देत।
कबहुँ कहत अज्ञान सोउ बाँधि जिवहिं जो लेत॥ २६ (क)॥

सञ्जय! कभी तुम्हारे यदुनाथ कह रहे हैं कि सतोगुण ज्ञान प्रदान करता है और कभी कहते हैं कि वह [सतोगुण] भी अज्ञान ही है, क्योंकि जीवात्मा को अपने में बाँध लेता है।

कबहुँ कहत सुरलोक महँ सतगुनि जावें तात।
दोउ बातनि महँ भेद का तोकों नाहिं लखात॥ २६ (ख)॥

हे प्रिय सञ्जय! ये कभी कह रहे हैं कि सतोगुणी पुरुष देवलोक में जाता है। क्या इन दोनों बातों में तुम्हें भेद नहीं दिखायी पड़ रहा है?

चौपाई— संजय कहत लखाय भुआला। पर बिलगायँ स्वयं प्रतिपाला॥
जब मधुसूदन ऐसो गावत। तत्वबिदन्ह बर लोकहिं पावत॥

सञ्जय ने कहा- हे भूपाल! ऐसा मुझे भी दिखाई पड़ रहा है किन्तु स्वयं रक्षा करने वाले भगवान ही इसमें भेद बता रहे हैं। जब भगवान मधुसूदन ऐसा कह रहे हैं कि वह देहत्याग के अनन्तर तत्त्वज्ञानियों के लोक को प्राप्त करता है-

तेहिकर कारन जब बैरागी। सतगुन फल रिधि सिधि दै त्यागी॥
तौ ताकर फल पाव सुजाना। ज्ञानिन्ह गृह महँ करत पयाना॥

तो उसका आशय है कि जब कोई पुरुष सतोगुण के फल ऋद्धि-सिद्धि से उदासीन होकर उन्हें त्याग देता है तो उसका फल यह प्राप्त होता है कि वह बुद्धिमान जहाँ ज्ञानी वास करते हैं, वहाँ चला जाता है।

जब प्रभु कह सतगुन दै ज्ञाना। वाकोहु मरम सुनाउँ सुजाना॥
ज्ञानबीज अबहीं जो गायें। देह क्षेत्र महँ जिनहिं बुवायें॥

और जब भगवान कह रहे हैं कि सतोगुण ज्ञान देता है, तो हे बुद्धिमान राजन्! उसका भी रहस्य सुना रहा हूँ कि अभी जो ज्ञानरूपी बीज बताये गये हैं जिन्हें शरीररूपी क्षेत्र में बोया जाता है-

कहहिं ज्ञान तिन्हहूँ हरिराई। आत्मज्ञान महँ होयँ सहाई॥
अरु जब कहैं सतहु अज्ञाना। सोउ हेतु कहुँ देवउ ध्याना॥

उन्हें भी भगवान ज्ञान ही कह रहे हैं, क्योंकि वे आत्मज्ञान में सहायक होते हैं और जब कह रहे हैं कि सतोगुण भी यथार्थ में अज्ञान ही है तो उसका भी कारण बता रहा हूँ- आप ध्यान दें!

दोहा— स्वर्ग दिलावे पुन्य सों जब होवे तेहि नास।
मृत्युलोक पुनि देइ सो कर्मनि महँ दै फाँस॥ २७ (क)॥

वह सतोगुण पुरुष को पुण्य से स्वर्ग देकर पुण्य समाप्त होने पर पुनः मृत्युलोक में भेजकर पुनः उन्हीं कर्मों में बाँध देता है।

यासें वाकोहु तम कहत सुनि नृप हृदय सिराय।
महाराज लखि नृपति तम आपु सबन्हि दिखराय॥ २७ (ख)॥

इसी से भगवान सतोगुण को भी अज्ञान कह रहे हैं। यह सुनकर धृतराष्ट्र का मन हल्का हो गया। महाराज तो राजा धृतराष्ट्र के मोह को देखकर आप सबको भी दिखा रहा है।

चौपाई— करि बिस्तार बात प्रभु केरी। आपु साधुजन सों कहुँ टेरी॥
सच अध्यात्म पथिक यदि अहहू। तौ त्रय गुनन्ह बंध बचि रहहू॥

तथा भगवान की बतायी हुई बातों को आप सन्तों को बुलाकर विस्तारपूर्वक सुना रहा है। यदि आप यथार्थ में आध्यात्मिक मार्ग के पथिक हैं तो तीनों गुणों के बन्धन से बच कर रहें।

यासैं उनकै कार्य बतावउँ। जो अज कहे ऋषिन्ह सों गावउँ॥
ऋषिगन सुनहु कहे चतुरानन। कहउँ गुनन्ह गुन हरत जो जन मन॥

इसलिए उन गुणों का कार्य विस्तार से बता रहा हूँ जिसे ब्रह्माजी ने ऋषियों से कहा था, उसी का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ। चतुर्मुख ब्रह्माजी ने ऋषियों से कहा- हे महर्षियो! सुनें, अब मैं गुणों के कार्यों को कह रहा हूँ जो भक्तों के भी मन का हरण कर लेते हैं।

सत रज तमस परस्पर द्रोही। लख नहिं जिन्ह सरूप नर मोही॥
तम गुन कार्य सुनहु धरि ध्याना। जानैं बिनु न होय अवसाना॥

सत्, रज एवं तम- [तीनों ही गुण] परस्पर द्रोह करने वाले हैं, जिनके स्वरूप को मोह में फँसा हुआ पुरुष नहीं जान पाता। अब तमोगुण का कर्म ध्यान देकर सुनें, जिसे पहचाने बिना उसका नाश नहीं हो सकता।

कर्मनि निर्णय त्याग अभावा। पर निंदा पर द्रोह सुभावा॥
सुरति हीनता दुस्चरित्रता। निर्बिसेसता सृजत सत्रुता॥

कर्मों के निर्णय एवं त्याग का अभाव, दूसरे की निन्दा, दूसरे से द्रोह करने की प्रवृत्ति, स्मृतिहीनता, दुश्चरित्रता, अच्छे-बुरे के विवेक का न होना, शत्रुता करना-

दोहा— लोभ अतिहिं सम्मोह अरु मूढ़ भावना होय।
उर अज्ञानहिं गर्व जू आलसु आवे सोय॥ २८॥

अति मोह, लोभ और मूढ़ता का होना, हृदय में अज्ञानता के कारण गर्व हो जाना, आलस्य आने पर सोते ही रहना-

चौपाई— इंद्रि सिथिलता असुभ दर्सिता। नास्तिक अघकर्ता अहर्सिता॥
अतिहिं भीरु बुद्धी बिपरीती। जासे लगइ सुनीति अनीती॥

इन्द्रियों में शिथिलता, अशुभ दीखना, पाप करने का भाव, नास्तिकता, अप्रसन्नता, अत्यधिक भय लगना, बुद्धि का विपरीत हो जाना जिससे सुनीति का अनीति जैसा प्रतीत होना-

ज्ञान लखाय अतिहिं अज्ञाना। गत श्रद्धा निज लखत सुजाना॥
मन कुटीलता भक्ति हीनता। अजितेंद्रियता बुद्धि खीनता॥

ज्ञान का अत्यधिक अज्ञान के समान दिखायी पड़ना, अश्रद्धा होना, अपने आपको बुद्धिमान समझ लेना, मन में कुटिलता, भक्तिहीनता, इन्द्रियों की चंचलता, बुद्धि का खिन्न होना-

सुर द्विज बेदन्ह निंदा करनो। क्षमाहीनता परधन हरनो॥
मत्सर क्रोध अतिहिं अभिमाना। दान दिये बिनु भोजन पाना॥

देवता, ब्राह्मण एवं वेदों की निन्दा करना, क्षमा का अभाव, दूसरे के धन का अपहरण करना, ईर्ष्या, क्रोध एवं अत्यधिक अभिमान होना, बिना दान दिये भोजन करना-

बृथारम्भ उर नाहिं तितिक्षा। सब जग होय मोर अस इच्छा॥
जेहि महँ ये सब दोष लखावें। तेइ पुरुष तमगुनी कहावें॥

व्यर्थ के कर्मों में प्रवृत्ति, हृदय में तितिक्षा का अभाव, यह सारा जगत मेरा हो जाय- ऐसी इच्छा करना- जिसमें ये सब दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं, वे पुरुष तमोगुणी कहे जाते हैं।

छंद— जे बिटप पसु खग ब्याल कृमि किट बधिर पंगु असुर अहैं।
ते अतित जन्महु तम गुनन्ह कर प्रिय पथिक हैंगे कहैं॥
यासें मिल्यो दुख भोग योनी अस करहिं बिस्वास जें।
ते तमहिं तजि गहि आत्मरूपहिं हरिहिं सम सदगुरु भजें॥

अतः यहाँ जो वृक्ष, पशु, पक्षी, सर्प, कीड़े-मकोड़े, बधिर, पंगु एवं राक्षस दिखाई दे रहे हैं वे निश्चित ही पिछले जन्मों में भी तामसी गुणों के ही प्रिय पथिक रहे हैं; इसीलिए इन्हें दुःख भोगने वाली योनि की प्राप्ति हुई है; जो इस प्रकार का विश्वास करते हैं वे तमोगुण को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप का स्मरण करें और सदा भगवद्स्वरूप सद्गुरु को भजें [अर्थात् उनके अनुसार चलें]।

सोरठा— ऐसोइ पुरुष कहायँ अर्वाक् श्रोता बेद महँ।
घोर नरक महँ जायँ पावहिं कबहुँ न सांति सुख॥ २९ (क)॥

ऐसे ही पुरुष वेदों में अर्वाक् श्रोता (व्यभिचारी, कामुक, लम्पट) कहे गये हैं जो घोर नरक में जाते हैं और कभी भी सुख-शान्ति नहीं पाते।

दोहा— ध्यान देइ ऋषिगन सुनहु कार्य रजोगुण केरि।
चाहहु निज कल्यान तौ तजहु तिन्हहिं अब हेरि॥ २९ (ख)॥

हे ऋषिगण! अब आप ध्यान देकर रजोगुण के कार्यों को सुनें, यदि अपना कल्याण चाहते हों तो उन्हें अब अच्छी प्रकार समझ-बूझकर त्याग दें।

चौपाई— बल मद सौर्य सुसहनसीलता। अरतिः ईर्ष्या कलह कलिलता॥
बिग्रह संधी हेतु बादिता। ममता पिसुन कुटुम्ब पालिता॥

बल, मद, शौर्य, सहनशीलता, प्रेम का अभाव, ईर्ष्या, कलहरूपी कीचड़, कभी युद्ध और कभी सन्धि, ममता, पीठ पीछे निन्दा करने का स्वभाव, कुटुम्ब को ही पालना,

बध बंधन क्रय बिक्रय छेदन। अस्तुति निंदा तृष्णा भेदन॥
स्वार्थ हेतु परिचर्या क्लेसा। पछतावा बिस्वास न लेसा॥

वध, बन्धन, क्रय-विक्रय, छेदन, स्तुति, निन्दा, तृष्णा, भेदन, स्वार्थपूर्ति हेतु सेवा करना, क्लेश, पश्चात्ताप, विश्वास का सर्वथा अभाव,

नीति प्रमाद ब्यूह परिवादा। अतिहिं परिग्रह बृथा बिबादा॥
झूँठौ भाषण झूँठौ दाना। झूँठ प्रताप झूँठ सम्माना॥

नीति, प्रमाद, व्यवहारिक कुशलता, परिवाद (निन्दा, बकवाद, आरोप-प्रत्यारोप), अत्यधिक परिग्रह, व्यर्थ ही वाद-विवाद, असत्य भाषण, दिखावटी दान, बनावटी पराक्रम, झूठा सम्मान,

परिभावन मत्सर परिभाषन। अपर छिद्र दर्सी दु:सासन॥
मल्लकला रन प्रिय आयासा। बिपुल उग्रता झूँठ दिलासा॥

सांसारिक भावों से भावित होना, डाह, आलोचना करना, दूसरे के दोषों को देखना, दु:खदायी शासन करना, व्यायाम, युद्धप्रियता, आयास (कठिन प्रयास), अत्यन्त उग्रता, झूठा आश्वासन,

दोहा— अति संताप बिकल्पता निष्ठुरता आक्रोस।
अध्यापन अध्ययनता अरु मिथ्या आगोस॥ ३०॥

अत्यधिक शोक-सन्ताप, विकल्पों का उठते रहना, निष्ठुरता, आक्रोश, अध्ययन, अध्यापन और मिथ्या आलिंगन,

चौपाई— ब्रत अरु नियम सकाम धारिता। नाना पूर्त सुकर्म कारिता॥
दम्भ दर्प परिताप जागरन। चोरी हिंसा घृना राग रन॥

व्रत और नियमों को सकामभाव से धारण करना, सकाम भाव से ही वापी, कूप, तड़ाग आदि खुदवाना, दम्भ, दर्प, परिताप, जागरण, चोरी, हिंसा, घृणा, रागरूपी संग्राम,

भक्ति सकाम प्रमोद बिषय रति। नाच गान महँ अति असक्त मति॥
द्यूत केलि तिय रति मदपाना। एहि बिधि बिबिध कार्य मनमाना॥

सकाम भक्ति, आमोद-प्रमोद, विषयों की अभिरुचि, नृत्य-संगीत में बुद्धि का अत्यधिक आसक्त होना, जूआ खेलना, स्त्रियों में प्रेम का होना, मद्यपान करना- ऐसे नाना प्रकार के मनमाने कर्म-

उर प्रगटैं अरु होवें वोई। जानहु रजगुन कर्मनि सोई॥
ऐसे मनुज न जग कछु लाजहिं। धर्म अर्थ कामहिं उपराजहिं॥

जब हृदय में ये प्रकट होते हैं और उसी के अनुसार आचरण भी होने लगता है तो उन्हें रजोगुण का कर्म जानें। ऐसे मनुष्य जगत में लज्जा का अनुभव नहीं करते और धर्म, अर्थ एवं काम को प्राप्त करते रहते हैं।

नासत बिषय घोर जप तप करि। पावत पुनि निज हरि प्रसन्न करि॥
करत धरत यहि जुग बित जावहिं। आत्मरूप कै ब्रह्म न पावहिं॥

वे विषयों के नष्ट हो जाने पर घोर जप-तप करके अपने इष्ट को प्रसन्न कर पुन: धर्म, अर्थ एवं काम को प्राप्त कर लेते हैं। यही करते-धरते युग पर युग व्यतीत होते रहते हैं किन्तु आत्मस्वरूप या ब्रह्मप्राप्ति नहीं कर पाते।

सोरठा— किंतु यहइ सुख मान एहि जग मनमानी करैं।
तिन्ह कहँ धरैं सुजान अर्वाक् श्रोता नाम जू॥ ३१॥

परन्तु इसी को वे सुख मानकर इस जगत में मनमाना व्यवहार करते रहते हैं प्रबुद्धजनों ने ऐसे लोगों का नाम अर्वाक् श्रोता रखा है।

चौपाई— हे ऋषिगन अब सतगुन कारज। कहउँ सुनउ जामें कछु नहिं रज॥
नि:कार्पण्यदोषता आवै। उर आनंद हरष अति छावै॥

हे महर्षियो! अब सतोगुण के कार्यों को भी सुनें जिन्हें मैं बता रहा हूँ, जिसमें रजोगुण अंशमात्र भी नहीं रहता। उस [सतोगुण] की उपस्थिति में कायरतारूपी दोष नहीं रहता जिससे हृदय में आनन्द एवं प्रसन्नता की बाढ़ आ जाती है।

धैर्य क्षमा श्रद्धा संतोषा। सुख समता अरु प्रेम अरोषा॥
अनसूय: अरु सत्य सरलता। सौच दक्षता निर्बिकल्पता॥

धैर्य, क्षमा, श्रद्धा, सन्तोष, सुख, समता, प्रेम, क्रोधहीनता, अनसूया (दोषदृष्टि का अभाव), सत्य, सरलता, शौच, बुद्धिमत्ता, विकल्प का अभाव-

परम अहिंसा प्राक्रम त्यागा। अध्यातम मग अति अनुरागा॥
सम दम उपरति घोर तितिक्षा। लज्जा बिनय अमोह अनिक्षा॥

परम अहिंसा, पराक्रम, त्याग, आध्यात्मिक मार्ग से अत्यन्त प्रेम, शम (मन की चंचलता का अभाव), दम (इन्द्रिय संयम), वैराग्य, भारी दुःख को भी सहन करने की क्षमता, अशास्त्रीय आचरण में लज्जा, विनम्रता, निर्मोहता, किसी से भी कुछ न चाहना-

सदबर्ताव सुगर्बहीनता। साधुबृत्ति अरु उदासीनता॥
निर्ममता आसक्तिहीनता। ब्रह्मचर्य रति नाहिं दीनता॥

सद्व्यवहार, गर्व का अभाव, साधु व्यवहार, उदासीनता, निर्ममता, आसक्ति का अभाव, ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा एवं दीनता का अभाव-

दोहा— यज्ञ दान तप धर्म ब्रत प्रगटें उर निःकाम।
सदगुरु बच बिस्वास दृढ़ होति न मति कहुँ बाम॥ ३२॥

हृदय में निष्काम यज्ञ, दान, तप, धर्म आदि व्रतों का प्रकट होना, सद्गुरु के वचनों पर दृढ़ विश्वास तथा कभी भी बुद्धि का विपरीत न होना-

चौपाई— सतगुनि मनुज पाप सब त्यागी। होयँ स्वर्ग भोगनि महँ रागी॥
यहि कारज सच सतगुन केरो। दिवि दिलाय भोगनि कहँ ढेरो॥

[सतोगुण के इन धर्मों द्वारा] सतोगुणी पुरुष समस्त पापों को त्यागकर स्वर्ग के भोगों में अनुरक्त हो जाते हैं। यथार्थ में सतोगुण का यही कार्य है कि स्वर्ग दिलाकर नाना प्रकार के दिव्य विषय भोग सुलभ करा देता है।

ताहि भोग भोगन्ह के ताईं। देह गहे बहु सिद्धनि नाईं॥
गरिमा लघिमा वसिता इषिता। सिद्धि पायँ ब्यापइ उर मुदिता॥

उन भोगों को भोगने के लिए वह पुरुष सिद्धों के समान संकल्प से अनेक शरीर धारण कर लेता है और गरिमा, लघिमा, वशिता एवं इषिता आदि सिद्धियों को पाकर हृदय में प्रसन्न हो जाता है।

श्रोता ऊर्ध्व देव बैकारिक। उनकहँ नाम अहइ मुनिधारिक॥
स्वर्ग पाय तिन्ह उर अति भोगी। होत रहैं नहिं निर्मल जोगी॥

उन [सतोगुणी पुरुषों] का मुनियों द्वारा रखा गया नाम उर्ध्वश्रोता (उर्ध्वरेता) और वैकारिक (परिवर्तनशील) देवता है। स्वर्ग को पाकर उनका हृदय भोग-वासना से युक्त हो जाता है और वे योगी निर्मल नहीं रह पाते।

सत रज तम अबिछिन्न गुनन को। मम असक्यता तिन्हहिं भनन को॥
एक रंग महँ रँगे परस्पर। अरु अनुप्राणित अहइँ अपर पर॥

अतः उन सत्, रज, तम आदि अविच्छिन्न (मिश्रित) गुणों के विषय में कहना मेरे वश की बात नहीं है; क्योंकि वे परस्पर एक ही रंग में रंगे हुए हैं और आपस में एक-दूसरे से पोषित भी हैं।

दोहा— अति सम्बंध परस्परहिं इन महँ मुनिगन आहि।
इक दूजहिं नित अनुवरत जानि न जाये जाहि॥ ३३॥

हे ऋषियो! इन तीनों गुणों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। ये एक-दूसरे का नित्य अनुसरण करने वाले हैं जिसे जाना नहीं जा सकता।

चौपाई— बसत सतोगुन एहि जग जबलौं। रज तम की सत्ताहू तबलौं॥
कबहुँ ते हेतु अहेतुहु साथें। बिचरत जग अरु नर के माथें॥

इस जगत में जब तक सतोगुण का वास रहेगा, तब तक रजोगुण एवं तमोगुण की भी सत्ता रहेगी। वे कभी कारण के साथ और कभी अकारण ही जगत में और मनुष्यों के मन-मस्तिष्क में विचरण करते रहते हैं।

कलियुग संघ सक्ति कहलावे। सोइ नीति तिन्हके मति भावे॥
यासें चलहिं समूह बनाई। एहि तन बसहिं संग महँ आई॥

कलियुग में तो संगठन में ही शक्ति कही जाती है और वही नीति उनकी बुद्धि को अत्यन्त प्रिय लगती है। इसी से ये समूह बनाकर चलते हैं तथा आकर इस शरीर में भी एक साथ ही वास करते हैं।

ऐसो है पर यहु अनुभावे। कहुँ इन्ह उन्नति पतन लखावे॥
यहि कारन कहुँ न्यून लखाये। कतहुँ अधिकता अतिहिं दिखाये॥

ऐसा होने पर भी अनुभव में आता है कि कहीं इनकी उन्नति और कहीं अवनति दिखायी पड़ती है। यही कारण है कि कहीं तो इनमें से किसी एक की न्यूनता देखी जाती है और कहीं अति अधिकता।

त्रिजगजोनि तम जहाँ अधिकता। सत रज कर तहँ अतिहिं न्यूनता॥
मनुज जोनि जहँ रजगुन घोरो। तम सत लखइँ तहँइ अति थोरो॥

त्रियग्योनियों में जहाँ तमोगुण की अधिकता देखी जाती है, वहीं सतोगुण और रजोगुण की न्यूनता दिखायी पड़ती है। इसी प्रकार जहाँ मनुष्य योनि में रजोगुण की अधिकता है, वहीं तमोगुण और सतोगुण की मात्रा अति अल्प दिखायी पड़ती है।

दोहा— देवयोनि महँ ताहि बिधि सत्व अधिक दिखराय।
रज तम होवें न्यून अति मनहुँ गये बिखराय॥ ३४॥

उसी प्रकार देवयोनि में सतोगुण विशेष दिखायी पड़ता है, तथा रजोगुण और तमोगुण की मात्रा अत्यन्त अल्प दिखायी पड़ती है, मानो [कहीं] बिखर गये हों।

चौपाई— इत प्रभु हर्षित रथ आसीना। महत ज्ञान निज भगतहिं दीना॥
ते अवगाहत तीनि गुनन को। जे नहिं आयें कबहुँ सुनन को॥

इधर रथ पर प्रसन्नता के साथ बैठे हुए भगवान अपने भक्त अर्जुन को महत् ज्ञान दे रहे हैं और वे (महात्मा अर्जुन) तीनों गुणों की छान-बीन कर रहे हैं, जो [उनके] सुनने में कभी आये ही नहीं थे।

प्रभु कह का अवगाहउ भाई। द्रष्टा रूप सुरति करु धाई॥
जब ज्ञानी द्रष्टा होइ देखइ। प्रकृति करति सब कर्मन्ह लेखइ॥

भगवान ने कहा- हे प्रिय! तुम क्या खोज रहे हो! अरे! अपने द्रष्टारूप को शीघ्र याद करो; क्योंकि जो ज्ञानी पुरुष द्रष्टा होकर देखता और यह समझता है कि समस्त कर्मों को प्रकृति ही कर रही है-

ते गुन बिषय करण कारज बनि। करत करम भरि सर्ग भ्रमहु जनि॥
जे इन्ह साक्षी आतम मानहिं। अरु अतीत इनसों तेहि जानहिं॥

तथा वे तीनों गुण ही कार्य, करण और विषयों के रूप में परिणत होकर सृष्टिपर्यन्त कर्म करते रहते हैं, इसमे भ्रमित न होवें किन्तु जो इन (गुणों के द्वारा होते हुए कर्मों) का साक्षी आत्मा को जानता है तथा यह आत्मा उनसे परे है ऐसा मानता है-

सो द्रष्टा मम भावहिं पावे। जन्म मृत्यु तेहि नाहिं लखावे॥
प्राप्त होय कैसे बतलावउँ। लखउँ नित्य तेहि तोहिं लखावउँ॥

वह द्रष्टा मेरे भावों को प्राप्त हो जाता है और [उस समय] उसे जन्म-मृत्यु का भान नहीं रहता। वह [मेरे भाव को] कैसे प्राप्त होता है उसे बता रहा हूँ, जिसे मैं सदा देख रहा हूँ उसी को तुझे भी दिखा रहा हूँ।

दोहा— देहोत्पति के बीजभुत मायोपाधिक जोय।
तीनउँ गुनन्हि सु नाँघि कै देह अछत लह मोय॥ ३५ (क)॥

हे पार्थ! मायारूपी उपाधि से युक्त तीनों गुण ही शरीर के उत्पन्न होने में मूल कारण हैं, जो पुरुष ऐसा जानकर उनका अच्छी प्रकार अतिक्रमण कर जाता है वह शरीर रहते ही मुझे प्राप्त कर लेता है।

जन्म जरा दुख मृत्यु सों मुक्त भलीबिधि होय।
जग बिचरत बिभु रूप लहि मस्त प्रेम महँ सोय॥ ३५ (ख)॥

वह जन्म, जरा, दु:ख तथा मृत्यु से भलीभाँति मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है और परम प्रेम में मस्त हो जगत में विचरण करता रहता है।

चौपाई— भक्त पार्थ उर गुनन्ह कहानी। अति भल लग्यो न जाय बखानी॥
उठ्यो प्रस्न चित हरि के प्रेरें। प्रभुहु उनहिं निज सिसु सम हेरें॥

महात्मा अर्जुन को गुणों का रहस्य हृदय में इतना अच्छा लगा कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु उनके चित्त में भगवान की प्रेरणा से प्रश्न खड़ा हो गया। भगवान भी उन्हें अपने शिशु के समान देखने लगे हैं-

पार्थहु निरखहिं सींव सकल सुख। छाँड़ि न जाये हरिहिं दिब्य मुख॥
कोटि काम छबि हरनि सुहाई। लखहिं पार्थ नहिं सकहिं लखाई॥

और महात्मा अर्जुन भी भगवान के श्रीमुख की छवि को देखे जा रहे हैं जो समस्त सुखों की सीमा है, उनके नेत्र हटना नहीं चाहते हैं। जो छवि करोड़ों कामदेवों की शोभा को हरने वाली तथा अत्यन्त सुहावनी है, उसे वे देख तो रहे हैं किन्तु [किसी को] दिखा नहीं सकते!

हरि भुज छबि भुजंग छबि जीतीं। जासे दुके ते बिबरन भीतीं॥
नैनन छबि लखि पंकज भाज्यो। छिप्यो बारि बिच मन अति लाज्यो॥

भगवान की भुजाओं की छवि ने [सुन्दर लगने वाले] सर्पों की शोभा को जीत लिया है, जिससे वे सभी बिलों की दीवारों से जाकर दुबक गये हैं तथा उनके नेत्रों की छवि को देखकर कमल अति लज्जित होकर ऐसा भागा कि जल में जाकर छिप गया [पृथ्वी पर छिपने का स्थान ही नहीं मिला]।

बिधु न सकेउ प्रभु मुख छबि हेरी। भाजि छिप्यो नभ दै तिन्ह फेरी॥
महाबाहु सोइ छबि लखि सोचैं। हरिहिं न जान्यों अस मन पोचैं॥

उसी प्रकार भगवान के मुख की शोभा चन्द्रमा द्वारा देखी नहीं गयी, इसलिए वह भी उनकी परिक्रमा करके भागकर आकाश में जा छिपा। उसी छवि को देखकर भक्त अर्जुन सोच रहे हैं कि अब तक मैं भगवान को नहीं जान सका, मेरा मन ऐसा क्षुद्र है।

दोहा— अस बिलोकि अति सोच मन जाने भइ अवसेरि।
पूछत प्रस्न चरन गहि लेइ प्रेम महँ घेरि॥ ३६॥

ऐसा देखकर महात्मा अर्जुन ने मन में सोचा कि अब विलम्ब हो गया है, अत: चरणों में प्रणाम करते हुए अत्यन्त प्रेम से घेरकर प्रश्न करने लगे-

चौपाई— बिनवउँ आज कृपानिधि स्वामी। सोक न उर अब अंतर्यामी॥
तुम्हरें चरण सरण लव लागी। तउ ऐसी उत्कंठा जागी॥

हे कृपानिधे! हे स्वामी! आज मैं आपसे कुछ प्रार्थना कर रहा हूँ, यद्यपि अब मेरे हृदय में [पहले जैसा] शोक-सन्ताप नहीं है एकमात्र आपके चरण की शरण में ही लव लगी है तो भी हे अन्तर्यामी! यह उत्कण्ठा जाग गयी है कि-

गुनातीत कस लक्षण वारो। कस वाको आचार बिचारो॥
गुनन्ह पार सो कैसे जावै। जासे हे प्रभु तव उर भावै॥

गुणातीत पुरुष किन लक्षणों वाला होता है, उसका आचार-विचार कैसा होता है, वह गुणों के पार कैसे जाता है जिससे हे प्रभो! वह आपके हृदय को अत्यन्त प्रिय लगता है?

भगत बचन सुनि प्रभु हरषाये। उत्तर देन लगे मन भाये॥
अहउ परंतप अति सौभागी। तव प्रज्ञा अब सच अति जागी॥

भक्त अर्जुन के वचनों को सुनकर भगवान प्रसन्न हो गये और मन को प्रिय लगने वाला उत्तर देने लगे- हे पार्थ! तुम अति सौभाग्यशाली हो क्योंकि अब तुम्हारी प्रज्ञा यथार्थ में जाग गयी है।

पूछन जोगु प्रस्न एइ ताता। बेद सास्त्र सबकी यहि बाता॥
यह सब प्रस्न सबहिं उर आहीं। पर प्रगटत सदगुरु पग पाहीं॥

ये ही सब तो पूछने के योग्य प्रश्न होते हैं, जैसा कि सभी वेद-शास्त्रों का यही कहना है। यद्यपि ये सब प्रश्न सबके हृदय में होते हैं, किन्तु जब वे सद्गुरु के चरणों की शरण में आते हैं तभी प्रकट होते हैं।

दोहा— अज कर मानस पुत्र जे सनकादिक ऋषि श्रेष्ठ।
पूछे ते निज पितहिं सन ऐसोइ प्रस्न यथेष्ठ॥ ३७ (क)॥

जो ब्रह्माजी के मानसपुत्र मुनिश्रेष्ठ सनकादि हैं उन्होंने भी ऐसे ही यथार्थ प्रश्नों को ब्रह्मा जी से पूछा था-

चित गुण महँ गुण चित्त महँ प्रभु इनि दोउन्ह योग।
इन्ह बिलगाय मुमुक्षु कस जासों होय बियोग॥ ३७ (ख)॥

हे प्रभो! चित्त गुणों के अन्तर्गत है और गुण चित्त के- इस प्रकार इन दोनों का परस्पर में मिलन है अर्थात् दोनों आपस में घुले-मिले हैं। अत: आत्मजिज्ञासु इन्हें पृथक्-पृथक् कैसे करे जिससे इनसे छुटकारा हो जाय।

चौपाई— जदपि स्वयंभू अज जगकर्ता। तउ न दिये उत्तर दुखहर्ता॥
तेहि छन तिन्हकी कर्म प्रबृत्ती। यासों प्रगटि न सतमय बृत्ती॥

यद्यपि स्वयं प्रकट ब्रह्मा जी जगतकर्ता हैं तो भी दुखों का हरण करने वाले वे इसका उत्तर नहीं दे सके क्योंकि उस समय उनकी कर्म में प्रवृत्ति थी इसलिए ब्रह्ममय वृत्ति नहीं जग सकी।

तब मम ध्यान किये मन लाई। हंस रूप प्रगटेउँ हरषाई॥
ते मम चरन बंदि हरषाये। ताहि प्रस्न पुनि मोहिं सुनाये॥

तब उन्होंने सम्पूर्ण मनोयोग से मेरा ध्यान किया, फिर तो मैं हंस रूप धारण करके प्रकट हो गया। वे सभी मेरे चरणों की वन्दना करके अत्यन्त प्रसन्न हुए और फिर उसी प्रश्न को मुझे सुनाया।

आपु कवन प्रभु स्वयं बतावहु। इमि हमरें संदेह मिटावहु॥
बोल्यों बिभु महँ कछु नहिं भेदा। सर्बकाल नहिं तेहि महँ खेदा॥

हे प्रभो! आप स्वयं ही बताएँ कि आप कौन हैं इस प्रकार हमारे संशय को दूर करें। मैंने कहा- ब्रह्म में तो कुछ भेद ही नहीं है अर्थात् वह सदा अभिन्न है और तीनों कालों में उसके अन्तर्गत कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं होता।

पुनि आतम बपु महँ कस पूछउ। प्रस्न बनत नहिं यहि महँ कूछउ॥

फिर ब्रह्मस्वरूप के विषय में कैसे पूछ रहे हैं, क्योंकि इस विषय में तो कोई प्रश्न ही नहीं बनता!

दोहा— यदि मैं उत्तर देन हित बोलउँ तौ किहि भाँति।
लउँ किहिं टेक क्रिया गुन कै सम्बंधहु जाति॥ ३८ (क)॥

यदि मैं उत्तर देने के लिए बोलूँ भी तो किस तरह बोलूँ, [बोलने के लिए] क्रिया, गुण, जाति और सम्बन्ध में से किसका आश्रय लूँ।

सुर नर पसु खग आदि सब पंच भूतमय आहिं।
अस अभिन्न परमार्थहू सों अभिन्न दिखलाहिं॥ ३८ (ख)॥

देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी पंचभूतात्मक होने से अभिन्न हैं और परमार्थ (ब्रह्म) रूप से भी अभिन्न हैं।

चौपाई— अस को तुम्ह यह प्रस्न न सार्थक। बाचारम्भ सु अहइ निरर्थक॥
मन बानी दृष्टी इंद्रिनि सों। ग्रहण कियो जाए जो इनि सों॥

इसलिए 'आप कौन हैं' आप सबका यह प्रश्न यथार्थ नहीं है, केवल वाणी का व्यवहार है, अत: निरर्थक है। मन, वाणी, दृष्टि और इन्द्रियों से जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है-

सो सब अहउँ अपर नहिं कोऊ। तत्व बिचारि सु बूझहु योऊ॥
होय ताहि रुप चित्त ग्रहत गुन। अस चित माहिं गुनहु प्रबिसत सुन॥

वह सब कुछ मैं ही हूँ अन्य कुछ भी नहीं है, इसे आप सब तत्त्व का भलीभाँति विचार करके समझ लें। अत: ध्यान दें- चित्त गुण (विषय) को स्वीकार करते ही उसी (गुणरूपी विषय) का रूप हो जाता है, इस प्रकार गुण (विषय) भी चित्त में प्रवेश कर जाते हैं।

तउ गुण चित्तहु जीव उपाधी। अस समुझत सब जावे ब्याधी॥
आतम महँ ये दोउहु नाहीं। अस जानत जो कस बिकलाहीं॥

तो भी गुण और चित्त दोनों जीव की उपाधि हैं, ऐसा समझते ही सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। आत्मा में ये

दोनों नहीं हैं, ऐसा जो जान लेगा वह विकल क्यों होगा!

जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिहु जोऊ। गुणकृत अरु मति बृत्ति हि होऊ॥
आतम इन्हकर साक्षी अहई। याहि प्रयोगत गुण चित दहई॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी गुणकृत ही हैं तथा बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। आत्मा इन अवस्थाओं का मात्र साक्षी है इसको प्रयोग में लाने पर गुण और चित्त दोनों नष्ट हो जाते हैं।

दोहा— गुण कृत बंधन अहं कर रचना मुनिजन आहि।
जो ब्रह्महिं आनंदमय बहुबिधि देत ढकाहि॥ ३९ (क)॥

हे मुनिजनों! गुणों द्वारा होने वाला यह बन्धन अहंकार की ही रचना है जो आनन्दमय ब्रह्म को भलीभाँति ढक लेता है।

तीनि अवस्था तीनि गुन त्यागि तुरियपद लेइ।
भूत भविष्यत आदि की चिंता सब दहि देइ॥ ३९ (ख)॥

इस प्रकार तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) एवं तीनों गुणों (विषयों) को त्यागकर तुरीय स्वरूप (मैं शुद्ध साक्षी चेतन आत्मा हूँ) को ग्रहण करके भूत, भविष्य और वर्तमान की चिन्ताओं को जला दे।

चौपाई— जाग्रत महँ जो इंद्रिन्हि धारी। भोगत बहुत हि बिषयन्हि भारी॥
जो सपुने मन सों सोइ करतो। जो सुप्ते मति सों तिन्ह हरतो॥

जो जाग्रदावस्था में इन्द्रियों के द्वारा नाना प्रकार के विषयों को भलीभाँति भोगता है, जो स्वप्न में भी मन के द्वारा वही करता है तथा जो सुषुप्ति में उन विषयों को बुद्धि के द्वारा हरण (लय) करके अपने कारण में विलीन कर लेता है।

अहइ एक सच महँ सो ऋषिवर। ऐसोइ पावहु तुम्ह चिंतनकर॥
जाग्रदवस्था की इंद्रिनि कर। स्वप्नावस्था कर मन जहँ चर॥

हे ऋषिवरो! आप चिन्तन करके ऐसा ही अनुभव करेंगे कि यथार्थत: वह एक ही है जाग्रत अवस्था की इन्द्रियों का, स्वप्नावस्था में मन जहाँ विचरण करता है [उन विषयों का]-

अरु सुषुप्ति की मति कर स्वामी। अहइ सोइ सब एहि अनुगामी॥
कारन यो त्रैगुननि अवस्था। केरि साक्षि सच यहइ ब्यवस्था॥

और सुषुप्ति की बुद्धि का भी स्वामी वही है तथा ये सब इसी का अनुगमन करते हैं क्योंकि यह तीनों गुणरूपी अवस्थाओं का साक्षी है, प्रकृति में ऐसी ही व्यवस्था है।

देख्यों सपन कहत कोउ जैसे। आज न लख्यों सपन कह तैसे॥
देखउँ जागि जगत ब्यवहारा। अस इक आतम महँ उपचारा॥

जैसे कोई पुरुष कहता है कि मैंने स्वप्न देखा, वैसे ही यह भी कहता है कि आज मैंने स्वप्न नहीं देखा तथा जगकर मैं जगत का व्यवहार देख रहा हूँ- ऐसा सब कुछ एक आत्मा में ही दिखायी पड़ता है।

एहि सुरति बल योइ ब्यवस्था। आतम एकइ सबै अवस्था॥
अस गुनि त्रैवस्था मन केरी। गुण सों मम माया कहँ प्रेरी॥

इसी स्मृति के बल पर यह सिद्ध होता है कि एक ही आत्मा सभी अवस्थाओं में विद्यमान है। ऐसा समझो कि मन की ये तीनों अवस्थाएँ गुणों के द्वारा मेरी माया को प्रेरित कर-

दोहा— मेरोइ अंस जीव महँ ये सब कल्पित आहिं।
सत्य कहउँ मुनिसत्तम कबहुँ न आतम माहिं॥ ४०॥

मेरे ही अंशभूत देहगत जीवात्मा में कल्पित हैं, हे मुनीश्वर! मैं सत्य कहता हूँ कि ये सब आत्मा में नहीं हैं।

चौपाई— यह जग मन बिलास मुनिराजा। दीखत तउ न कबहुँ उपराजा॥
अहइ अलातचक्र की नाईं। चंचल अरु भ्रममात्र सदाईं॥

हे मुनियो! यह जगत मन का विलास मात्र है, दिखाई पड़ने पर भी कभी प्रकट नहीं हुआ है। यह अलातचक्र

(लुकारियों की बनेठी) के समान सदा से चंचल और भ्रममात्र है।

ज्ञाता ज्ञेय न इहँ परकासे। ज्ञानरूप आतम बहु भासे॥
तन इंद्रियँ अन्तः करणाई। त्रै बिकल्प गुणकृत मुनिराई॥

यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय तो हैं नहीं, एकमात्र बहुत-से रूपों में ज्ञान स्वरूप आत्मा ही दिखाई पड़ रहा है। हे मुनीश्वरो! शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये तीनों विकल्प गुणकृत हैं-

स्वप्न सदृस माया कर खेला। जासों दिख अज्ञान झमेला॥
यासों आजहिं तन मन मति सों। दृष्टि फेरि करि आतम रति सों॥

जो स्वप्न के समान माया के खेल हैं जिससे अज्ञानरूपी प्रपंच दिखायी पड़ रहा है। इसलिए आज ही तन, मन और बुद्धि से दृष्टि को हटाकर अपने आत्मरूप से प्रेम करके-

परम मगन बिचरहु सब लोका। मानि सत्य मम होउ असोका॥
जदपि खाइ पी जागे सोवे। यह लखाय सब तन सों होवे॥

परम मग्न हो समस्त लोकों में विचरण करें तथा मेरी बात सत्य मानकर शोकरहित हो जायँ। यद्यपि खा-पीकर जगना-सोना यह सबकुछ शरीर से होता हुआ दिखाई पड़ता है-

सोरठा— तउ अस नहिं अनुभाय करउँ करम मैं याहि सब।
तन प्रारब्ध लखाय जबलौं देह नसाय नहिं॥ ४१॥

तो भी वह ऐसा अनुभव नहीं करता कि इन समस्त कर्मों को मैं करता हूँ बल्कि शरीर का प्रारब्ध ही [यह सबकुछ करता हुआ] दिखाई पड़ता है, जबतक कि शरीर का नाश नहीं हो जाता।

चौपाई— यह तन प्रान इंद्रियन्ह संगा। रहत दैव आधीन अभंगा॥
अहहिं कर्म स्वारम्भक जबलौं। करत प्रतीक्षा उन्हकी तबलौं॥

यह शरीर, प्राण और इंद्रियों सहित सदा ही प्रारब्ध के वशीभूत है। इसके अपने आरम्भक कर्म जबतक हैं तबतक यह (शरीर) उनकी प्रतीक्षा करता हुआ रहता है,

पर जस जगि कोउ नर इहँ ध्यावे। सपने कर तन स्वजन्ह भुलावे॥
तस जो आत्मरूप होइ जावे। सो स्वजनन्ह सँग तन बिसरावे॥

किन्तु जैसे स्वप्न से जगा हुआ कोई पुरुष स्वप्न के शरीर और स्वजनों को भुलाकर इस जगत में व्यवहार करने लगता है उसी प्रकार जो पुरुष आत्मरूप हो जाता है वह स्वजनों के साथ इस शरीर को भी महत्त्व नहीं देता।

बिप्र कह्यों जो तुम्हसों धर्मा। सांख्य योग दोउन्ह कर मर्मा॥
अहउँ ब्रह्म तुम्हरें हित आयउँ। तुम्हरीं श्रद्धा लखि सब गायउँ॥

हे विप्रो! आप सबसे जिस धर्म को बताया है वह सांख्य और योग दोनों का गोपनीय रहस्य है। मैं ब्रह्म हूँ, आप सबके कल्याण के लिए प्रगट हुआ हूँ तथा आप सबकी श्रद्धा देखकर सबकुछ बता दिया।

पार्थ नसायों संसय जबहीं। अस्तुति किय सनकादिक तबहीं॥
गहि तिन्हसों पूजा हरषाई। गयों लोक निज तब मैं भाई॥

हे महावीर अर्जुन! जब मैंने सनकादिक ऋषियों का संशय नष्ट कर दिया तब उन लोगों ने मेरा स्तवन किया। मैं उनकी पूजा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अपने धाम चला गया।

दोहा— प्रस्न तात तव जगत हित गुनातीत कस भास।
कैसे जाये पार जग सुनहु मानि बिस्वास॥ ४२॥

हे तात! तुम्हारा यह प्रश्न जगत के हित के लिए है कि गुणातीत पुरुष का क्या लक्षण है, वह जगत से कैसे पार होता है- तो मैं उत्तर दे रहा हूँ, जिसे विश्वास के साथ ग्रहण करो।

चौपाई— गुन जिन्ह काज कहउँ जो अबलौं। तबलौं रहहिं रहत तन जबलौं॥
तनहू तबलौं प्रगटत नासत। जबलौं तन जग अपुनो भासत॥

अब तक मैंने गुणों के जिन कार्यों को बतलाया है, वे तभी तक रहते हैं जब तक शरीर रहता है तथा शरीर भी तभी तक जन्मता और मरता है, जब तक यह जगत और शरीर अपना प्रतीत होता है।

यासें जग त्रिगुणात्मक माया। जानि अंग याही कर काया॥
जब उर सतगुन होय प्रकासा। वापे करइ न कछु बिस्वासा॥

इसलिए जगत को त्रिगुणात्मक माया और शरीर को इसी का अंग मानकर, जब हृदय में सतोगुण का प्रकाश प्रकट हो तो उस पर थोड़ा भी विश्वास न करे।

जितनैं कारज भास्यों सतगुन। तिन्हकहँ उर नभ सुभ घन मन गुन॥
तैसेइ प्रबृति मोह रज तम घन। गाजत पुनि पुनि प्रगटि जनहिं मन॥

मैंने सतोगुण के जितने भी कार्य बताये हैं, उन्हें तुम मन में हृदयरूपी आकाश के शुभ बादल समझो। उसी प्रकार प्रवृत्ति रजोगुण तथा मोह तमोगुणरूपी बादल हैं, जो लोगों के मन में प्रकट होकर बारम्बार गर्जना करते रहते हैं।

गुनातीत नर मान न अपुनों। तन समेत तिन्ह जानत सपुनों॥
यासें उदासीन नभ जैसे। रहत न कह कछु ऐसे वैसे॥

गुणातीत पुरुष उन्हें कभी भी अपना नहीं मानता बल्कि शरीरसहित उन्हें स्वप्नवत् ही समझता है। इसलिए जिस प्रकार आकाश बादलों से उदासीन रहता है वैसे ही वह पुरुष भी सदा इन गुणों से उदासीन रहता है। किसी से [यह अच्छा है यह बुरा है] ऐसा-वैसा कुछ भी नहीं कहता।

दोहा— कार्य करण अरु बिषय बनि गुन बर्तत गुन माहिं।
गुनातीत नर लखइ अस यासें बिचलत नाहिं॥ ४३॥

हे पार्थ! सच पूछो तो कार्य, करण और विषयरूप होकर गुण ही गुणों में बरत रहे हैं- गुणातीत पुरुष ऐसा ही देखता है, इसलिए विचलित नहीं होता।

चौपाई— जो देखइ सम दुख सुख भाई। दुख महँ दुखी न सुख हरषाई॥
माटी पाथर स्वर्ण सदाई। आत्मरूप सब देत लखाई॥

हे प्रिय! जो पुरुष सुख-दु:ख को समान भाव से देखता है, वह सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी नहीं होता। उसे सदा मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण सभी आत्मरूप दिखायी देते हैं।

प्रिय अप्रिय अस्तुति अरु निंदा। सीत ऊष्ण बैरी मित बृंदा॥
आत्मरूप होइ मान अमानहु। सबहिं समान समुझि रत ध्यानहु॥

उसी प्रकार वह निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय, सर्दी-गर्मी, शत्रु-मित्र तथा मान-अपमान में भी आत्मरूप होकर सभी को एक समान समझते हुए सदा ध्यान में रत रहता है।

निज कहँ लखि दियो कर्मन्हि त्यागी। गुनातीत सोइ परम बिरागी॥
गुण सों परे होय पुनि कैसे। सोउ बतावउँ सुनु तैं जैसे॥

जिसने अपने स्वरूप को पहचानकर समस्त कर्मों का त्याग कर दिया है, वही परम वैराग्यवान पुरुष गुणातीत कहलाता है। अब पुरुष गुणों से अतीत कैसे होता है- वह भी तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो!

भक्तियोग गहि अब्यभिचारी। भजत मोहिं नित सरन हमारी॥
गुनातीत सो होय सहजहीं। पावत छिन महँ ब्रह्म बिरजहीं॥

वह अव्यभिचारिणी भक्तियोग द्वारा मेरे शरणागत होकर मेरा ही स्मरण करता है। अत: वह सहज ही गुणातीत होकर अल्पकाल में रज, तम आदि गुणों से रहित ब्रह्म को प्राप्त कर जाता है।

छंद— जो सगुन ब्रह्म कहाय जग महँ आत्मज्ञानी अब्ययम्।
अमृत सनातन धर्म सुख आनंद नाम भने स्वयम्॥
ताकी प्रतिष्ठा अहउँ मैं निर्गुन निराकारी महत।
यासें बसै मोमें लसै मोसैं रसै सो अस कहत॥

हे पार्थ! जो आत्मज्ञानी इस जगत में सगुण ब्रह्म कहा जाता है तथा स्वयं को अव्यय, अमृत, सनातन, धर्म,

सुख, आनन्द आदि नामों वाला कहता है, उसकी मैं विशुद्ध निर्गुण निराकार ब्रह्म ही प्रतिष्ठा हूँ [अर्थात् वह मुझमें ही प्रतिष्ठित है]। इसलिए वह मुझमें एकाकार होकर वास कर रहा है, मुझसे ही शोभायमान हो रहा है, मुझसे ही रसवान हो रहा है, वह [ब्रह्मज्ञानी] ऐसा ही कहता है।

सोरठा— गुडाकेस सच जानु मोसें जगत न अपर कहुँ।
यासैं मेरोइ मानु अवसि लहै तहुँ ब्रह्म पद॥ ४४॥

हे गुडाकेश! यह सत्य जानो कि मुझ निराकार ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य जगत नहीं है। इसलिए एकमात्र मेरी बात मानने से तुम निश्चित ही ब्रह्मपद को प्राप्त कर जाओगे।

चौपाई— यति साधन एहि थल प्रभु गाये। महाराज मन जो अति भाये॥
याकर मरम बतावउँ पुनि पुनि। साधन सहज गहउ हे मुनि गुनि॥

भगवान ने यहाँ पर संन्यासियों की साधना का बखान किया है, जो महाराज के मन को अति प्रिय लग रहा है। अत: पुन: पुन: इसका रहस्य बता रहा हूँ। हे साधको! इस अत्यन्त सरल साधना को अच्छी प्रकार से समझ-बूझकर धारण करें।

छाँड़ि दिये जब गृह अरु देसा। तब अब गहउ ब्रह्म अवसेषा॥
सन्मुख खड़ो प्रगट निगुनाई। पर मूढ़नि सों जगत कहाई॥

जब आपने देश, घर-बार को त्याग दिया है, तब एकमात्र अवशेष (सभी नाम-रूपों के आधार) ब्रह्म को ग्रहण कर लें। यह निर्गुण ब्रह्म सामने प्रकट होकर खड़ा है, परन्तु अज्ञानियों के द्वारा इसे जगत कहा जाता है।

ऐसो जबलौं दीख न जाने। तबलौं तुम्ह न चलहु मनमाने॥
मन बैठ्यो जग भाव दृढ़ाई। यासों ब्रह्म निठुर भयो भाई॥

जब तक यह ऐसा दीखने नहीं लगता, तब तक आप मन के अनुसार न चलें। मन में जगत भाव दृढ़ता के साथ बैठ गया है, इसलिए ब्रह्म ने निष्ठुरता धारण कर ली है।

साचों रूप सो लियो दुराई। गुनघन होइ सपन प्रगटाई॥
आनँदघन जद्यपि यह भाई। निज भगतन्ह कहँ देत दिखाई॥

अपना यथार्थरूप छिपाकर वह ब्रह्म ही त्रिगुणरूप हो, स्वप्न-सा दिखाई दे रहा है। हे मित्रो! जबकि यह आनन्दघन है और अपने भक्तों को अपना यह रूप दिखा भी देता है।

दोहा— तुम्हकेउ सच निज रूप सो दरसावे हरषाय।
सोइ युक्ति महराज कह धरहु हृदय निज धाय॥ ४५॥

अब जिससे वह [ब्रह्म] प्रसन्न होकर आपको भी अपना वास्तविक रूप दिखाये, वही युक्ति महाराज बता रहा है, अत: अपने हृदय में उस को शीघ्रता से धारण कर लें।

चौपाई— प्रथम गुनउ अस मैं तन नाहीं। जेहि पालन हित जतन कराहीं॥
जब मैं निराकार बिभु सोई। बहुरि काहि उर संसय होई॥

सर्वप्रथम यह चिन्तन करें कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' जिसका पालन करने के लिए कोई यत्न करूँ और जब मैं वही निराकार ब्रह्म हूँ तो फिर हृदय में संशय किसे हो रहा है।

यह संसय तौ रजगुन केरो। जो मोहिं करन चहत अति भेरो॥
जप तप जोग चहत को करनो। जदपि अहउँ आतम तम हरनो॥

यह संशय तो रजोगुण का है, जो मुझे अत्यन्त भ्रमित करना चाहता है। वैसे ही यह योग, जप, तप कौन करना चाहता है, जबकि मैं अज्ञान का हरण करने वाला आत्मा हूँ।

अरे यहइ सतगुन के काजा। सोइ चह करनो मोहिं अकाजा॥
आलस नीदहु काको भायें। जद्यपि सब मोंसे उपजायें॥

अरे! यह तो सतोगुण का कार्य है, वही मुझे (मेरे रूप को) छिन्न-भिन्न करना चाहता है। उसी प्रकार आलस्य और नींद किसको प्रिय लग रहे हैं, जबकि सभी मुझ [निर्गुण निराकार ब्रह्म] से ही प्रकट होते हैं।

अहो काज यह तम कर करनो। जो चह मो आतम कहँ हरनो॥
अब नहिं कोउ गुनन्हि स्वीकारउँ। तबलौं जबलौं तिन्हहिं न बारउँ॥

अहो! यह कार्य तो तमोगुण का किया हुआ है, जो मुझ ब्रह्म का ही अपहरण करना चाहता है। अब तो मैं किसी भी गुण को तब तक स्वीकार नहीं करूँगा, जब तक कि उन गुणों को जलाने की शक्ति न प्राप्त कर लूँ।

दोहा— भिक्षाबृत्ती कबहुँ अस कबहुँक बृत्ती स्वान।
अरु खग बृत्ती कबहुँ गहि करउँ साक्षि सनमान॥ ४६॥

इसलिए कभी भिक्षावृत्ति, कभी श्वानवृत्ति और कभी खगवृत्ति ग्रहण करके अपने साक्षी स्वरूप का ही सम्मान करूँगा [अर्थात् द्रष्टापना का ही अभ्यास करूँगा]।

चौपाई— यद्यपि सत प्रकास निबिकारो। कहे दयानिधि नहिं निरकारो॥
परम प्रकास न भाषइ वाको। साधक बिपुल ध्यान धर जाको॥

यद्यपि दयानिधि भगवान ने कहा कि सतोगुण प्रकाश रूप एवं निर्विकार है किन्तु निराकार है- ऐसा नहीं कहा तथा उसे परम प्रकाश रूप भी नहीं कहा, जिसकी बहुत-से साधक उपासना करने लगते हैं।

यासैं ब्रह्म होय नहिं कबहूँ। बरु सर्बज्ञ बनावत सबहूँ॥
कस सर्बज्ञ कहावे सतगुन। हे मन वाको भाषउँ सच सुन॥

इसलिए वह [सतोगुण] ब्रह्म नहीं हो सकता, भले ही सभी [साधकों] को सर्वज्ञ ही क्यों न बनाता हो। सतोगुण सर्वज्ञ भी कैसे कहा जाता है, हे मन! अब उसको सही-सही बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो!

सिसुहिं अज्ञ जस लखत किसोरा। वाकोहुँ युवक कहत बहु भोरा॥
युवकहिं अज्ञ मातु पितु मानत। वासें निज सर्बज्ञहि जानत॥

जिस प्रकार शिशु को किशोर [अपने सामने] अज्ञानी समझता है, उस [किशोर] को युवक सामान्य बुद्धिवाला समझता है, युवक को भी उसके माता-पिता [अपने से] अल्पज्ञ मानते हैं तथा अपने को उसकी तुलना में सर्वज्ञ जानते हैं।

तिन्हहुँ अज्ञ समुझहिं सब साधक। जो कछु तंत्र मंत्र अवराधक॥
उन्हहुँ अज्ञ जानत सुर सारे। जिनसैं तंत्र मंत्र उजियारे॥

उसी प्रकार जो तंत्र-मंत्र की आराधना करने वाले कुछ साधक हैं वे उन्हें (उन माता-पिता को) अपनी अपेक्षा अज्ञानी मानते हैं। वैसे ही जिनसे तंत्र-मंत्र प्रकाशित होते हैं वे समस्त देवता तांत्रिक साधकों को अज्ञानी समझते हैं।

दोहा— तिन्हसेउँ बहु सर्बज्ञ सच ब्रह्मा बिष्णु महेस।
अहइ परम सर्बज्ञ सच एकमात्र बिस्वेस॥ ४७॥

उन देवताओं से भी यथार्थ में ब्रह्मा, विष्णु, महेश विशेष ज्ञानी हैं किन्तु परम सर्वज्ञ तो एकमात्र जगत्पति अन्तर्यामी ब्रह्म ही है।

चौपाई— तैसे सत प्रकासमय कैसे। देखहु सुजन अहइ सो जैसे॥
बिद्युत दीपहिं ज्योति निबारे। रबि प्रकास तेहि करत किनारे॥

उसी प्रकार सतोगुण प्रकाशमय कैसे है? हे सज्जनो! वह जैसे है उसे आप सब देखें- दीपक की ज्योति को विद्युत का प्रकाश अस्तित्वहीन कर देता है तथा विद्युत के प्रकाश को सूर्य तेजहीन कर देता है।

तेहि प्रकास लोचन गहि भाई। लखत बस्तु सब करत पढ़ाई॥
जहँ रबि ससि बिद्युत दिप नाहीं। तहँ नयननि सों कछु न दिखाहीं॥

उसी प्रकाश को धारण करके नेत्र वस्तुओं को देखते हैं और सभी लोग अध्ययन आदि करते हैं। परन्तु सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, दीपक आदि का प्रकाश जहाँ नहीं रहता वहाँ इन नेत्रों से कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता।

अस दृग ज्योति प्रसंसा कैसी। हटतहि माध्यम होइ अनैसी॥
तैसे ज्ञान ध्यान सुख सारें। सतगुन जातहि अनत सिधारें॥

अत: ऐसी नेत्र-ज्योति की कैसी प्रशंसा, जो माध्यम के हटते ही किसी काम की नहीं रह जाती ? उसी प्रकार सतोगुण के हटते ही ज्ञान-ध्यान के सारे सुख कहीं अन्यत्र चले जाते हैं।

यासें अपुने मन समुझावहु। हे मन तुम्ह कस सतगुन ध्यावहु॥
वामेहु जो सुख सांति प्रकासा। सोउ निर्गुन कर करु बिस्वासा॥

इसलिए अपने मन को समझायें कि हे मन! तुम सतोगुण की ओर कैसे बहे जा रहे हो (सतोगुण का ध्यान क्यों कर रहे हो) ? निश्चित रूप से यह जान लो कि उसमें जो सुख-शान्ति का प्रकाश है, वह निर्गुण निराकार ब्रह्म का ही है।

दोहा— सोइ निर्गुन सम सांत तू निराकार निःरूप।
जबहिं उपासे गुननि त्रय गयो रूप सो छूप॥ ४८॥

और तुम वही सम, शान्त, निर्गुण, निराकार एवं रूप रहित ब्रह्म हो, किन्तु जबसे तुमने तीनों गुणों की उपासना करनी प्रारम्भ की तबसे वह रूप छिप सा गया है।

चौपाई— जदपि कहहिं एहि थल प्रभु मेरो। जीवहिं बाँधत त्रिगुन घनेरो॥
पर सच जीव अहइ अबिनासी। सर्बब्यापि चेतन सुख रासी॥

यद्यपि मेरे प्रभु ने यहाँ कहा है कि तीनों गुण जीवात्मा को अच्छीप्रकार से बाँध लेते हैं, परन्तु यथार्थ तो यह है कि जीवात्मा अविनाशी, सर्वव्यापी, चेतन तथा सुख की राशि है-

हे मन सो कस बँधै गुनन सें। अटपटि लागति मति समुझन सें॥
पर प्रभु भाषा अस नहिं अहई। एहि थल जीव सुरति कहँ कहई॥

हे मन! फिर वह गुणों से कैसे बँध सकता है ? यह बात बुद्धि के द्वारा समझने में अटपटी लग रही है; परन्तु भगवान का तो ऐसा कहना ही नहीं है बल्कि वे इस स्थल पर स्मृति को ही जीव की संज्ञा प्रदान कर रहे हैं अर्थात् अव्यय अविनाशी जीवात्मा गुणों से नहीं बँधता बल्कि स्मृति बँधती है।

जस कोउ कह कस असत उचारे। मोरि आतमा नहिं स्वीकारे॥
वाक्य इहाँ आतम अरु मोरी। पद दुइ पृथक करत कह जोरी॥

जैसे कि कोई कहता है कि अरे! असत्य कैसे बोला जाय, मेरी आत्मा तो इसे स्वीकार नहीं कर रही है- इस वाक्य में 'मेरी और आत्मा' दो पृथक्-पृथक् पद हैं जिनके द्वारा कुछ जोर देकर कहा जा रहा है [अर्थात् संकेत किया जा रहा है]।

मोरी पद तो ब्रह्म लखावे। आतम इहाँ सुरति कहलावे॥
गहि लौकिक भाषा कह स्वामी। बाँध जीव त्रयगुन मन गामी॥

यहाँ 'मेरी' पद ब्रह्म की जगह दिखायी दे रहा है और 'आत्मा' को स्मृति कहा जा रहा है। इसी लौकिक भाषा को ग्रहण करके भगवान ने कहा है कि मन में गमन करने वाले तीनों गुण जीवात्मा (स्मृति) को बाँधते हैं।

दोहा— अहई साक्षी सुरति कर नित्य ब्रह्म निर्बाध।
निसि वासर ऐसोइ लखि अगुन रूप निज साध॥ ४९॥

ब्रह्म तो अबाधरूप से सदा स्मृति का भी साक्षी है, अत: ऐसा समझकर अहर्निश अपने निर्गुणरूप को धारण कर लो।

चौपाई— मम गुरुदेव बताये ऐसे। सुरति अहइ दर्पन जल जैसे॥
रूप रंग सन्मुख जस आवे। वैसोइ तहँ बस दृस्य लखावे॥

मेरे गुरुदेव ने बताया है कि स्मृति ऐसी है जैसे दर्पण अथवा जल। उनके सन्मुख जिस प्रकार का रंग-रूप होगा, वहाँ वैसा ही दृश्य दिखायी पड़ेगा।

तैसि सुरति पहिं जो गुन आवे। वाकोइ रंग रूप दिखरावे॥
बिषय गुननि महँ सो रँगि जावे। भरम होय आतम बँधि ध्यावे॥

उसी प्रकार स्मृति के पास भी जो गुण आते हैं (प्रकट होते हैं), उन्हीं का रंग-रूप दिखायी पड़ने लगता है और वह स्मृति उन्हीं विषयों के गुणों में रंग जाती है [अथवा तद्रूप ही हो जाती है] किन्तु भ्रम होता है कि आत्मा ही

बन्धन में पड़ गया है।

सो भ्रम होत कुसंगति कारन। सतसंगति सों होत निबारन॥
जो सतसंग अहइ गुरु पाहीं। बसत सोइ भक्तन्ह उर माहीं॥

वह भ्रम कुसंगति के कारण होता है और सत्संग से उसका निवारण हो जाता है। जो सत्संग सद्गुरु से प्राप्त होता है, वही भक्तों [साधकों] के हृदय में भी नित्य वास करता है।

पर गुरुकृपा पाय कोइ कोई। नतरु जाय जीवन रोइ रोई॥

परन्तु सद्गुरु कृपा से उसे कोई-कोई ही प्राप्त कर पाता है, अन्यथा सम्पूर्ण जीवन रोते-रोते ही व्यतीत हो जाता है।

दोहा— अहो मिल्यो सत्संग सोइ अब गुरुकृपा लखाय।
आतमचिंतन कहत जेहि जासे जग भ्रम जाय॥ ५०॥

अहो! अब मुझे अपने गुरुदेव की कृपा स्पष्ट दिखायी पड़ रही है कि वही सत्संग मुझे प्राप्त हो गया है, जिसे आत्मचिन्तन कहा जाता है, जिससे संसार-भ्रम मिट जाता है।

चौपाई— अबलौं जान्यों मैं सब कर्ता। पर अब जान्यों अहउँ अकर्ता॥
गुनकृत प्रबृति ज्ञान तंद्राईं। सुरति पटल जो आवइँ जाईं॥

अभी तक समस्त कर्मों का कर्ता मैं स्वयं को ही समझता था किन्तु अब मैं जान गया हूँ कि अकर्ता ही हूँ। ज्ञान, प्रवृत्ति, तन्द्रा ये सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के कार्य हैं जो स्मृतिपटल पर आते-जाते रहते हैं।

उनहिं नाहिं अपुनो अब मानउँ। सपुने सत रज तम घन जानउँ॥
अबलौं जग सँग महुँ यहि जान्यों। कियो तमोगुन यहि मैं मान्यों॥

उन्हें अब अपना नहीं मानूँगा बल्कि स्वप्न के अन्तर्गत प्रकट हुआ सत्, रज एवं तमरूपी बादल जानूँगा। अब तक जगत में यही जाना और माना कि तमोगुण ने ही यह किया है।

जासे कह्यों भयो चित भारी। आलसु नीदहिं जाय न टारी॥
अरु कहतो उर रज उपजायो। मम प्रसन्नता दूर भगायो॥

जिससे कहता रहा कि अब मेरा मन भारी हो रहा है, अत: आलस्य और नींद को टाला नहीं जा सकता और यह भी कहता रहा कि हृदय में रजोगुण प्रकट हो गया है जिसने मेरी प्रसन्नता का हरण कर लिया है।

कछु कर कछु होयो नहिं जान्यों। मित्रहिं बैरी सम पहिचान्यों॥
कबहुँ कहउँ मन अति प्रसन्न भयो। सोक मोह संताप सकल गयो॥

इस प्रकार कुछ का कुछ हो गया तो भी मैं जान नहीं पाया, मित्र को वैरी के समान समझ लिया। कभी यह भी कहता कि मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया है तथा समस्त शोक-सन्ताप और मोह चले गये हैं।

दोहा— अब न करउँ अस मूढ़ता ऐसो लखि बिपरीति।
ब्रह्मरूप गहि नहिं करउँ तीनि गुननि सों प्रीति॥ ५१॥

अब ऐसी विपरीत बुद्धि को धारण करने की मूर्खता नहीं करूँगा और ब्रह्मरूप धारण करके तीनों गुणों को महत्व नहीं दूँगा।

चौपाई— मैं जागउँ सोवउँ लखुँ सपुनो। यहउ नाहिं जानउँ अब अपुनो॥
यामें मैं इक तीनि अवस्था। लखउँ यहइ मम प्रकृति ब्यवस्था॥

मैं जागता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं स्वप्न देखता हूँ- ऐसी धारणा को भी अब मैं अपना नहीं जानूँगा, क्योंकि इन सभी भावों के मूल में 'मैं' (चेतन स्वरूप आत्मा) एक ही हूँ किन्तु अवस्थाएँ तीन दिखाई पड़ रही हैं, यही मेरी प्रकृति की व्यवस्था है।

जागनवारो एक लखावे। तेहि जाननवारोहू भावे॥
तैसेइ करनो सोवनवारो। अहइँ तिन्हहिं कोउ देखनवारो॥

जैसा कि एक पुरुष जागनेवाला दिखाई पड़ता है और उसको जाननेवाला कोई दूसरा ही प्रतीत हो रहा है। उसी

प्रकार करनेवाला, सोनेवाला कोई और है तथा उन्हें देखनेवाला भी कोई और है।

देखनवारहिं कहँ पुनि देखइ। पुनि वाकोहू तस कोउ लेखइ॥
सप्त आवरन अहइ सुरति कै। वामेइँ खेल होय गुन रति कै॥

पुन: उस देखनेवाले को भी कोई देखने वाला है, तथा उस देखनेवाले को भी कोई देखनेवाला है। इस प्रकार स्मृति के सात आवरण हैं, उन्हीं [आवरणों] में गुणों की प्रेम कहानी का खेल होता रहता है।

अस लखि भयों भानु सम आजहिं। तन न अहउँ अस तजुँ सब काजहिं॥
जस जग नसै रहै रबि काजे। कोउ न अर्थ सो निज महँ भ्राजे॥

ऐसा समझकर आज मैं सूर्य की तरह [द्रष्टा] हो गया हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, इसलिए समस्त कार्यों (प्रवृत्ति) का त्याग कर रहा हूँ। जैसे जगत नष्ट हो जाय अथवा सुरक्षित रहे सूर्य के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वह तो अपने-आप में ही सुशोभित हो रहा है-

दोहा— देह सृष्टि यह तिमि अहइ जान्यों आपुन जाहि।
अबहिं नसाये आय पुनि मोहिं न दुख कछु आहि॥ ५२॥

उसी प्रकार यह शरीररूपी सृष्टि, जिसको मैंने अपना मान लिया था, यह अभी नष्ट हो जाय अथवा पुन: जन्म लेकर आ जाय, इसमें मुझे कुछ भी दु:ख नहीं है।

चौपाई— ज्यौं जल जंतु बिबिध उपजावें। क्रीड़ा करि करि तहिं मरि जावें॥
जीयत रहइँ ते बरु मर जाहीं। हरष बिषाद नीर मति नाहीं॥

जिस प्रकार जल में नाना प्रकार के जीव प्रकट होकर उसी में क्रीड़ा करते हुए उसी में मर जाते हैं [अर्थात् विलीन हो जाते हैं] किन्तु उनके जीने-मरने के कारण जल की मति में कोई हर्ष-विषाद नहीं होता [वह सम-शान्त बना रहता है]।

सो न गुनइ मन मर्‌यों जियों मैं। आयों नहिं नहिं कहूँ गयों मैं॥
मीनहु कहुँ न गयीं नहिं आईं। मो महँ भइँ मोमेइँ समाईं॥

[उनके मरने जीने से] जल मन में ऐसा नहीं समझता कि मैं मर रहा हूँ या जी रहा हूँ अथवा उन मछलियों के जन्मने से कहीं से आया हूँ या उनके मरने से कहीं गया ही हूँ। [अपितु समझता है कि]मछलियाँ भी न कहीं गयीं, न आयीं बल्कि मुझमें ही उत्पन्न होकर मुझमें ही विलीन हो गयीं।

अस मोमें मोकोइँ लखाये। त्रिजग जोनि सुर नर तन आये॥
मोमेइ क्रीड़त बहु बिधि भाई। अंतहु मोमें जायँ समाई॥

उसी प्रकार हे भाई! मुझे भी दीख रहा है कि मुझमें त्रियग्योनियाँ (पशु, पक्षी, कीट, पतिंगे) तथा मनुष्यों और देवताओं के शरीर प्रकट होते हैं, मुझमें ही नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हैं और अन्तकाल में मुझमें ही विलीन हो जाते हैं।

अब गयो भ्रम आनै जानै को। चाह मिटी उर प्रभु पानै को॥
अरु गयो भ्रम पीनै खानै को। सुइ जगनो रोनै गानै को॥

अत: अब आने-जाने का भ्रम समाप्त हो गया और भगवान को पाने की भी इच्छा हृदय से चली गयी तथा खाने-पीने, सोने-जगने, रोने-हँसने का भी भ्रम चला गया।

दोहा— स्वर्ग पाय सत्वस्थ नर रज स्थित जग पाय।
त्रिजगजोनि लह तमगुनी यहु भ्रम गयो नसाय॥५३॥

अत: सतोगुण में स्थित पुरुष स्वर्ग प्राप्त करता है, रजोगुण में स्थित पुरुष मृत्युलोक प्राप्त करता है तथा तमोगुणी पुरुष तिर्यग्योनि को प्राप्त करता है- यह भ्रम भी समाप्त हो गया।

चौपाई— जीव सुरति महँ यह सब भासत। आनै जानै की गति बासत॥
ब्रह्म सुरति मैं अब गहि लीन्हों। देहभाव सहजहिं तजि दीन्हों॥

ये सारे भाव जीव की स्मृति [अर्थात् मैं शरीर हूँ- इस भाव] में ही प्रतीत होते हैं। इसी से उसके हृदय में यह भावना घर कर जाती है कि आने-जाने की गति तो है ही अर्थात् मैं जन्म लेता हूँ और मरता हूँ; किन्तु अब मैंने ['मैं

ब्रह्म ही हूँ'- इस] ब्रह्मस्मृति को धारण कर लिया है और 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव को सहज ही त्याग दिया है।

कछु दिन ऐसोइ समय बितावउँ। सत रज तम कर भाव नसावउँ॥
कस भ्रम हुतो गुननि के प्रेरें। मन बस होत नाहिं यह मेरें॥

अत: कुछ दिन इसी प्रकार समय बिताकर 'सत्, रज, तम'- इन भावों का नाश कर दूँगा। अरे! कैसा भ्रम हो गया था कि गुणों की प्रेरणा से यह मन मेरे वश में हो ही नहीं रहा है!

बचन चहत हौं जिनि बातनि तें। सोइ लै प्रेरैं गुन गातनि तें॥
कैसे गहौं रूप निगुनाई। औरे आनि देइ अरुझाई॥

जिन बातों से मैं बचना चाहता हूँ, गुणों का स्वरूप उन्हीं की ओर प्रेरित किये रहता है। अत: मैं अपने निर्गुण रूप को कैसे ग्रहण करूँ, यह तो और ही (व्यर्थ की) बातों में उलझाये रहता है।

याकोइ सिर मढ़ि दोष लगावउँ। जनु अपुनैं नियरे तेहि पावउँ॥
काह करउँ भ्रम से उर कहँरत। यह मन अंकुस के बिनु मुकरत॥

मैं इसी के सिर पर [समस्त] दोषों को मढ़ देता था, मानो उसको अपने पास ही पाता था। क्या करता, भ्रमवश हृदय अत्यन्त पीड़ित हो जाता था क्योंकि यह मन अंकुश (कठोर शासन) के बिना मेरी बातों को मानता ही नहीं था।

दोहा— अब समुझ्यों अज्ञान यह मन न अपर कोउ आहि।
यहि सत रज तम रूप जहँ मनहु सुरति अरुझाहि॥ ५४॥

किन्तु अब मैं समझ गया कि इस अज्ञान के अतिरिक्त मन कोई दूसरा [तत्त्व] है ही नहीं। यही सत्, रज, तम रूपवाला है, जिसमें मानो स्मृति उलझ जाती है।

चौपाई— अहो कृपा करि सदगुरु आये। भ्रम सागर महँ हाथ गहाये॥
ब्रह्मभाव बल देइ निकारे। अब सूख्यो सो सागर खारे॥

अहो! मेरे पास गुरुदेव कृपा करके आ गये जिन्होंने भ्रमरूपी सागर से मेरा हाथ पकड़कर ब्रह्मभावरूपी बल दे निकाल लिया। अरे! अब तो वह खारा समुद्र ही सूख गया।

जीव न तजइ सुभाव जीव कर। तब कस सीवहु तजइ सीव कर॥
प्रभु अपुनो पन आइ निबाहे। मैं भूल्यों पर ते अवगाहे॥

अरे! जब जीव, जीव का स्वभाव नहीं छोड़ सकता तो शिव (सद्गुरु) अपने शिवत्व को कैसे छोड़ सकता है। गुरुदेव ने आकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। यद्यपि मैं भूल गया था किन्तु उन्होंने मेरी खोज कर ही ली।

देह भाव गहि तिन्ह बिसरायों। छूट्यो साथ जगत भरमायों॥
श्रमित भयों जस मृग मरीचिका। लखि लखि अति भ्रम पंथ पंथिका॥

मैं देहभाव ग्रहण करके उन्हें भूल गया था, जिससे उनका साथ छूट गया और मैं जगत में भ्रमित होकर ऐसे थक गया, जैसे मृग मरुमरीचिका को देख-देखकर भ्रमरूपी रास्ते पर भटककर थक जाता है।

तबहिं दिये जल ज्ञान दया करि। अभय किये निज कर मम सिर धरि॥
अब देखउँ जहँ तहँ हरिराई। अहो सब्द सों कह्यो न जाई॥

तभी दया करके गुरुदेव ने ज्ञानरूपी जल पिला दिया और अपने हाथ को मेरे सिर पर रखकर अभय कर दिया। अहो! अब जहाँ-तहाँ [सर्वत्र] भगवान ही भगवान दीख रहे हैं, जो शब्दों से कहते नहीं बनता।

उत नृप कह संजय का होवे। कछु मोसों तौ नाहिं बिगोवे॥

उधर राजा धृतराष्ट्र कह रहे हैं कि सञ्जय! क्या हो रहा है, तुम मुझसे कुछ छिपा तो नहीं रहे हो?

दोहा— नहिं राजन संजय कहहिं सुनि गाथा गुन केरि।
अर्जुन हिय प्रिय भगति की धार बहइ चहुँ घेरि॥ ५५॥

तब सञ्जय ने कहा- नहीं राजन्! नहीं! [ऐसा नहीं है। मैं तो देख रहा हूँ कि] गुणों की कहानी सुनकर प्रिय अर्जुन के हृदय में भक्ति की धारा चारों ओर से घेरकर बह रही है।

चौपाई— अब पहिचानहिं अंतरजामी। दीनबंधु करुनानिधि स्वामी॥
सोचत जो भगतन्ह दुख टारें। सोइ प्रभु मेरो भरम निवारें॥

अब उन्होंने दीनों पर दया करने वाले करुणा के सागर अन्तर्यामी भगवान को पहचान लिया है। वे सोच रहे हैं कि जो [भगवान] भक्तों के दु:ख को दूर करने वाले हैं, वे ही प्रभु मेरे भ्रम का निवारण कर रहे हैं।

ममता घटा हुती घिरि आई। मोह बूँद दै उर बरसाई॥
सोक नदी हुति बहति अपारो। बूड़त रह्यों आह भरि भारो॥

मेरे हृदय में ममतारूपी बादल घिर आया था जो मोहरूपी बूँदें बरसा रहा था जिससे शोकरूपी भयंकर नदी बह रही थी जिसमें मैं डूबते हुए आहें भर रहा था।

क्रोध लोभ कर गरजत नारो। दरस्यो नहिं कहुँ मोहिं उतारो॥
तृष्णा दामिनि दमकि छनहिं छन। जारत हुती अहर्निस तन मन॥

क्रोध और लोभ के नाले गरज रहे थे, उतरने का तट कहीं दिखायी नहीं पड़ रहा था। तृष्णारूपी बिजली प्रतिपल चमक-चमक कर रात-दिन मेरे तन-मन को जलाये जा रही थी।

कलि अघ सों भय नीर भरायो। डूबत रह्यों न कोउ बचायो॥
बोरत हुतो सो सहस प्रकारो। तब बिरदहिं लखि नाथ सम्हारो॥

जिसमें कलियुग के पापों से भयरूपी जल भर गया था और मैं उसमें डूब रहा था किन्तु किसी ने भी नहीं बचाया। वह [भयरूपी जल] हजारों प्रकार से डुबा रहा था, तब प्रभु ने अपने विरद (स्वभाव) का स्मरण कर मुझे बचा लिया।

छंद— हे नृप लखहिं अब पार्थ सत रज तम महत सेना चढ़ी।
सत भीष्म रज आचार्य कृप लखि तनहिं पुलकावलि बढ़ी॥
तमरूप दुर्योधन दुसासन सकुनि लखि अति उर हँसैं।
अब कछु दिवस महँ सगुन गुन निज पाप सों ये महि धसैं॥

हे राजन्! अब प्रिय अर्जुन देख रहे हैं कि सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणरूपी एक विशाल सेना चढ़ आयी है जिसमें पितामह भीष्म सतोगुण, आचार्य द्रोण एवं कृपाचार्य रजोगुण हैं- ऐसा देखकर अत्यन्त प्रसन्नता के कारण उनके शरीर में रोमांच हो गया है। उसी प्रकार दुर्योधन, दु:शासन और शकुनि आदि को तमोगुण के रूप में देखकर वे मन ही मन अत्यन्त मुस्कुरा रहे हैं और सोच रहे हैं कि अब कुछ ही दिनों में ये तीनों गुण जो सगुण रूप में सामने खड़े हैं, अपने ही पापों से धराशायी हो जायेंगे।

सोरठा— प्रभु अर्जुन उर देखि बिहँसत ज्ञान मरम लखि।
अब देउँ ज्ञान बिसेषि गहइ तबहिं धनु सर हरषि॥ ५६॥

हे राजन्! भगवान नारायण प्रिय अर्जुन के हृदय की स्थिति देखकर और अपने ज्ञान की सामर्थ्य को परखकर प्रसन्न हो रहे हैं तथा सोच रहे हैं कि अब मैं इसे इससे भी विशिष्ट ज्ञान दूँगा, तब यह हर्षित होकर धनुष-बाण उठा लेगा।

मासपारायण, छब्बीसवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्याय: ॥ १४॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

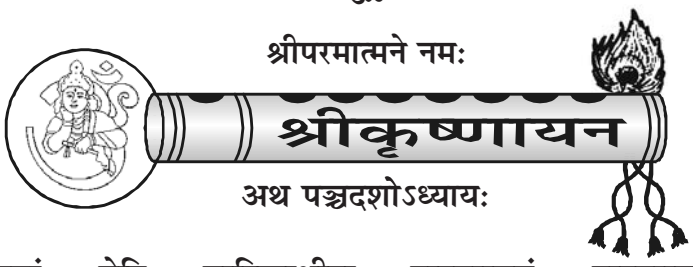

श्रीकृष्णायन

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

शरणं देहि द्वारिकाधीश शरणागतं शरणागतम्॥
सर्वः स्वार्थ समीहते प्रभु तव समीपं धावतम्॥
मायया हृदयं ग्रहीतः तव द्वारे अभ्यागतम्॥
अर्जुन इव भारं मम हृदये प्रभु ज्ञानं तव याचतम्॥
प्रभुः सर्वज्ञः अहं च अज्ञः तर्हि कृतं सुस्वागतम्॥
दद अर्जुन इव राजयोगं महाराज अनुरागतम्॥

हे प्रभु द्वारिकाधीश! मैं आपका शरणागत हूँ अतः अपनी शरण में रखें। हे जगत्पते! जगत के सारे लोग स्वार्थ के वशीभूत हैं [वे मेरी क्या सुनेंगे], अतः हे नारायण! आप अपने समीप दौड़कर आये हुए मुझको शरण दें। हे जगत्पते! मेरा हृदय माया के द्वारा जकड़ लिया गया है, अब मैं आपके द्वार पर आ गया हूँ अतः मुझ भक्त को आप शरण दें। हे द्वारिकाधीश! अर्जुन की तरह ही मेरे हृदय में अत्यन्त विषाद हो गया है, इसलिए आपसे उसी ज्ञान की याचना करने वाले मुझको आप शरण दें। हे नित्यानन्द! आप सर्वज्ञ हैं और मैं सर्वथा अज्ञानी हूँ, तो भी आप अपने स्वागत करने वाले मुझको शरण दें। हे सनातन पुरुष! आप अपने चरणों के अनुरागी हुए महाराज को भी अर्जुन की तरह राजयोग में प्रतिष्ठित करें।

चौपाई— निज भक्तन्ह प्रभु देत बड़ाई। को समरथ सक गुन गन गाई॥
दानव सुत प्रहलाद भगत हित। सब मर्यादा त्यागे जनु कित॥

भगवान अपने भक्तों को ही बड़ाई देते रहते हैं। उनकी इस उदारता का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है! [जैसे कि] हिरण्यकशिपु के पुत्र भक्त प्रह्लाद के हित के लिए, उन्होंने समस्त मर्यादाओं को पता नहीं कहाँ त्याग दिया–

आधौ नर आधौ तन केहरि। रक्त पियत तेहिं बपु बिदारि करि॥
पद सरोज महिमा अति भारी। भक्त ध्रुवहिं त्रय तापन्हि टारी॥

तथा आधा मनुष्य और आधा सिंह का शरीर धारण कर, उसके (हिरण्यकशिपु) शरीर को विदीर्ण करके रक्तपान करने लगे। भगवान के चरण कमलों की महिमा अति अपार है। उन्होंने भक्त ध्रुव को त्रिविध तापों से मुक्त कर–

पद अदोष नित अचल बिठारे। सब जग महँ महिमा उजियारे॥
दुर्योधन आमंत्रण त्यागी। बिदुर साग खाये अनुरागी॥

नित्य निर्दोष तथा सदा अविचल पद पर बैठा दिया, इस प्रकार उनकी महिमा को सारे जगत में प्रकाशित किया। वे ही भगवान दुर्योधन का निमंत्रण अस्वीकार कर प्रेम के वशीभूत हो भक्त विदुर के यहाँ साक-पात खाये।

प्रभु सुभाव साधू सुखदाई। ते बैठे अर्जुन रथ आई॥
अब उन्हके कर गये बिकाई। देत सहज निज पद यदुराई॥

भगवान का स्वभाव तो सदा भक्तों को सुख देनेवाला है, अतः वे महात्मा अर्जुन के रथ पर आकर बैठ गये। अब वे उनके हाथों पूरी तरह बिक गये हैं और सहज ही अपने पद को दिये जा रहे हैं।

दोहा— सर्बभुवन कीरति मची महाराज लख भाइ।
जुग जुग भगत सहाय ते करत निसान बजाइ॥ १॥

हे मित्रो! महाराज देख रहा है कि इसी कारण समस्त भुवनों में उनकी ऐसी कीर्ति फैली हुई है कि वे युग-युग में भक्तों की सहायता (रक्षा) डंके की चोट पर करते हैं।

चौपाई— पार्थ समर्पण देखि दयानिधि। देन लगे अति मुदित परम सिधि॥
तेउ हरिहिं पद हृदय लगाई। इच्छित फल पावहिं मुदिताई॥

दयानिधि भगवान महात्मा अर्जुन के समर्पण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न मन से [ज्ञानरूपी] परम सिद्धि देने लगे और भक्त अर्जुन भी भगवान नारायण के चरणों को हृदय में धारण कर प्रसन्नतापूर्वक मनोवांछित फल प्राप्त करने लगे।

जनहिं मानप्रद आपु अमानी। बेद तत्व प्रभु कह निज बानी॥
अर्जुन जग अस्वत्थ समाना। देत नित्य जो जीवन दाना॥

सच में भगवान स्वयं अमान हैं और भक्तों-सन्तों को मान देने वाले हैं, वे अब समस्त वेद-पुराणों के सार तत्त्व को अपनी वाणी द्वारा बताने लगे- हे पार्थ! यह संसार पीपल वृक्ष के समान है, जो निरन्तर जीवन दान देता रहता है।

अपर द्रुमन्ह कर यहइ सुभाऊ। निसि महँ त्यागहिं बिषवत वाऊ॥
पर यह कल्पतरू अस भाई। बिषयुत वायुहिं पियत सदाई॥

अन्य वृक्षों का तो यही स्वभाव है कि वे रात्रि के समय अपनी विषैली वायु छोड़ते हैं, परन्तु हे प्रिय! यह ऐसा कल्पवृक्ष है जो सदा विषयुक्त वायु का ही पान करता रहता है।

अहनिस देत पवन सुखदाई। बेद कहत जेहि जीवनदाई॥
एहिकर मैं बिभु अहउँ अधारा। ज्यों तरु प्रगट क्षेत्र महँ भारा॥

यह अहर्निश सुखदायी वायु देता रहता है जिसे वेद भी जीवनदायिनी कहते हैं। इसका मैं सर्वव्यापी (सर्वत्र रहने वाला) ब्रह्म ही आधार हूँ, जिस प्रकार विशाल वृक्ष खेत में प्रकट होता है अर्थात् खेत ही उसका आधार है।

छंद— हे पार्थ काहू क्षेत्र महँ अस्वत्थ तरु प्रगटाय जब।
अब्यक्त अहई बीज संचित पूर्ब सों अनुभाय तब॥
ऐसोइ यह जग दिब्य द्रुम आधार जाकर मैं अहौं।
हइ बीज मोरी प्रकृति चेतन सुनु परा ताको कहौं॥

हे पार्थ! जैसे जब किसी खेत में पीपल का वृक्ष प्रकट हो जाता है, तो इससे यह प्रतीत होता है कि [उस खेत में] उसका बीज पूर्व से ही संचित था यद्यपि अव्यक्त था। इसी प्रकार इस जगतरूपी दिव्य वृक्ष का मैं ही आधार हूँ जिसमें मेरी मूल प्रकृति (चेतन प्रकृति) बीज है, जिसे मैं परा प्रकृति भी कहता हूँ।

स्कंध इहँ महतत्व साखा पंचतत्वहि बर अहैं।
जहँ सुर असुर नर योनि त्रै उपसाख अस सोभा लहैं॥
तामें परन आगम निगम कै छंद सब लहरायँ जू।
जहँ दिब्य कोपल बिषय पंचम ज्ञानिनन्ह उर भायँ जू॥

यहाँ महत्तत्त्व ही तना है और पाँचों तत्त्व मुख्य शाखाएँ हैं जिसमें देवता, असुर, मनुष्य एवं त्रियग्योनियाँ उपशाखाओं के रूप में शोभा दे रही हैं। उसमें वेद-पुराणों के मंत्र ही असंख्य पत्तों की तरह सुशोभित हो रहे हैं, जिसमें पाँचों विषय ही दिव्य कोपलों के रूप में ज्ञानियों के हृदय में प्रतीत हो रहे हैं।

दीखत न जहँ त्रय पुष्प धर्म अधर्म कर्म निकर्महू।
पर फल लगइ दीखत त्रिबिध सच नर्क नक अपबर्गहू॥
नित त्रिबिध गुन जल पाइ बढ़त न आदि अंत लखावतो।
लखि मूढ़ मोहित होहिं पर मम भक्त सीस नवावतो॥

जहाँ धर्म, अधर्म एवं निष्काम कर्म रूपी तीन प्रकार के पुष्प लगे होने पर भी दिखायी नहीं पड़ते, परन्तु स्वर्ग, नरक तथा अपवर्ग (मोक्ष) रूपी तीनों ही प्रकार के फल लगे हुए [स्पष्ट] दिखायी पड़ते हैं। यह सदा ही तीनों गुणरूपी जल से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है जिसका आदि-अन्त दिखायी नहीं पड़ता, जिसे देखकर अज्ञानी मोहित होते रहते हैं, किन्तु मेरे भक्त प्रसन्नता के साथ प्रणाम करते रहते हैं।

सोरठा— सोइ लह फल अपवर्ग जो गुरु माली पद गहइ।
यासों तजु सुख स्वर्ग सुखी होउ लेइ मुक्ति फल॥ २॥

हे पार्थ! अपवर्गरूपी फल को वही प्राप्त करता है जो सद्गुरुरूपी माली की शरण हो जाता है। इसलिए स्वर्गीय सुखों का त्याग कर दो और मुक्तिरूपी परम फल को प्राप्त करके सुखी हो जाओ।

चौपाई— चाहिय तोहिं अमर फल भाई। मोहिं दिखे बरु तोहि न दिखाई॥
भय न कोउ अस लखि प्रिय बीरा। सोक मोह तजि धरु बर धीरा॥

हे प्रिय! तुम्हें तो अमरफल (ब्रह्म) ही चाहिए जो तुम्हें नहीं दिखाई दे रहा परन्तु मैं देख रहा हूँ। हे परम प्रिय महाबाहो! ऐसा देखने से तो किसी प्रकार का भय है ही नहीं, इसलिए हे अत्यन्त धैर्यवान्! शोक-मोह का परित्याग करके परम धैर्य धारण करो।

ब्रह्मबिटप होइ प्रगट्यों आपैं। किंतु मूढ़ एहि जग बुझि काँपैं॥
तव उर ऐसोइ आयो जानउँ। ताकर हू सुनु रूप बखानउँ॥

हे पार्थ! इस प्रकार मैं स्वत: ही इस ब्रह्मवृक्ष के रूप में प्रकट हुआ हूँ किन्तु मूढ़ पुरुष इसे जगत समझकर दु:खी होते रहते हैं। ऐसा ही भाव तुम्हारे हृदय में भी आ गया है, ऐसा मैं देख रहा हूँ। तो सुनो, मैं उस [संसाररूपी वृक्ष] के स्वरूप का भी वर्णन कर रहा हूँ।

यह जग भाव अबिद्या जानहु। माया तरु अधार यहि मानहु॥
अहउँ देह यह भावहि भाई। एहि तरु कर सच बीज कहाई॥

हे प्रिय! यह जगत भाव ही अविद्या है ऐसा जानो तथा हृदय के अन्तर्गत मायारूपी वृक्ष के लिए यही आधार है, ऐसा मानो। 'मैं शरीर हूँ'- यह भाव ही इस वृक्ष का बीज कहा जाता है।

जाहि उपारन दुर्गम अहई। जो उपारि सक सो बिभु लहई॥
ऊर्ध्वमूल वारो जग योई। साखा अधः कहत सब कोई॥

जिसे उखाड़ना अत्यन्त कठिन है जबकि जो इसे उखाड़ सकता है वही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। यह जगतरूपी वृक्ष ऊपर की ओर मूल (जड़) वाला है तथा इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं- ऐसा सभी कहते हैं।

दोहा— जेहिके बेद बिपुल परन जग अस्वत्थ कहाय।
जानत अब्यय याहि जो ताहि यथार्थ लखाय॥ ३॥

वेद जिसके असंख्य पत्ते कहे गये हैं, वह जगत पीपल वृक्ष के समान कहा जाता है; जो इसे अव्यय जानता है उसी को यथार्थ दिखाई पड़ता है।

चौपाई— ताकी गुन जल तें जो निःसृत। बिषय प्रवाल साख जड़ बिस्तृत॥
ऊर्ध्व अधः सर्वत्र मनुज जग। कर्म बंध सों बाँधहिं रग रग॥

त्रिगुणरूपी जल से विकसित हुई उसकी जो विषयरूपी कोपलें, अति विस्तृत शाखाएँ एवं जड़ें हैं, वे ऊपर और नीचे सर्वत्र फैली हुई हैं; जो मनुष्यलोक में अच्छीप्रकार कर्मबन्धन से बाँधने वाली हैं।

अर्जुन कह्यो गयो जग जैसो। प्रगटत ज्ञान लखाय न वैसो॥
आदि अंत नहिं याहि लखावे। भलीभाँति स्थितिहु न पावे॥

किन्तु हे पार्थ! जगत का जैसा स्वरूप कहा गया है, ज्ञान होने पर वैसा नहीं दिखायी पड़ता क्योंकि न इसका आदि-अन्त ही दिखायी पड़ता है, न भलीभाँति स्थिति की ही प्राप्ति होती है।

लेइ असंग सस्त्र अति बाँको। काटै अति दृढ़ मूलन्हि याको॥
ब्रह्मपदहिं पुनि निस दिन ध्यावे। जासों आवागमन नसावे॥

इसलिए इस वृक्ष की सुदृढ़ जड़ को अत्यन्त पैने असंग (अनासक्ति) रूपी शस्त्र के द्वारा काटकर अहर्निश ब्रह्मपद की खोज करे जिससे पुनः जगत में आना-जाना न पड़े अर्थात् आवागमन से मुक्ति मिल जाय।

अपनो बल नहिं खोजइ भाई। आदि पुरुष की गहि सरनाई॥
बिटप सनातन जासे होई। निगमागम कर कहनो योई॥

किन्तु हे मित्रो! उसे अपनी शक्ति से नहीं खोजना चाहिए अपितु आदिपुरूष (आत्मज्ञानी) की शरण में जाकर खोजना चाहिए, जिससे इस सनातन वृक्ष की प्रवृत्ति हुई है; ऐसा ही समस्त वेद-शास्त्रों का कहना है।

मान मोह सँग दोषहिं जीती। करि नित अध्यातम सों प्रीती॥

जो मान, मोह और आसक्तिरूपी दोष को जीतकर अध्यात्म से नित्य प्रेम करने वाला है,

दोहा— अस यति सुख दुख द्वंद्व तजि मोह रहित अति होय।
पावत सदगुरु कृपा गहि बिभु अबिनासी सोय॥ ४॥

ऐसा संन्यासी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को त्यागकर भलीभाँति मोहरहित होकर सद्गुरु के कृपाप्रसाद से उस अविनाशी ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है।

चौपाई— जेहि पद रबिहु नाहिं परकासे। अरु ससि पावकहू नहिं भासे॥
जहँ कोउ जाइ न पुनि फिरि आवे। सोइ मेरो बर धाम कहावे॥

जिस पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न अग्नि अथवा चन्द्रमा ही। जहाँ जाने के उपरान्त कोई लौटकर पुनः नहीं आता, वही मेरा परम धाम कहा जाता है।

महाराज प्रभु कह जितनै महँ। गुडाकेस समुझैं उतनै महँ॥
उन्हकी मति सबकै पहिं नाहीं। इतनो झट अध्यातम आहीं॥

महाराज का कहना है कि भगवान ने जितने में कह दिया, निद्राविजयी महात्मा अर्जुन उतने में ही समझ गये, किन्तु उनकी बुद्धि सबके पास तो है नहीं कि इतनी शीघ्रता से अध्यात्म समझ में आ जाय।

यासें सुनहु कहउँ हरषाई। ब्रह्म बिटप यदि समुझ न आई॥
तेहि छन अस अचरजु प्रगटावे। देह भाव द्रुम उर महँ आवे॥

इसलिए सुनें- प्रसन्नता के साथ कहता हूँ कि यदि ब्रह्मरूपी वृक्ष का स्वरूप समझ में नहीं आया तो उसी समय ऐसा आश्चर्य प्रकट होगा कि हृदय में [पुनः] देहात्मभावरूपी वृक्ष प्रकट हो जायेगा।

सोउ अस्वत्थ बृक्ष इक ऐसो। जो उपज्यो गृह भीती जैसो॥
जाहि उपारत लगत न पापा। होत न कबहुँ हृदय अनुतापा॥

वह भी एक ऐसे पीपल वृक्ष के समान है जो घर की दीवार में उत्पन्न हो जाता है; जिसको उखाड़ फेंकने में पाप नहीं लगता, न कभी हृदय में शोक-सन्ताप ही होता है।

छंद— वाकोहु मूल अनादि चेतन अहं मुनिजन सब कहैं।
प्रगटत जहाँ स्कंध तम घन त्रिबिध गुन साखा अहैं॥
तिन्ह माहिं प्रति साखा मनुज सुर त्रिजगजोनि लखावतो।
अरु परन सम बहु बेद मंत्रहु लगत अति भल भावतो॥

समस्त मुनिजन कहते हैं कि उसका भी मूल अनादि चेतन 'अहं' ही है। जहाँ घनीभूत अज्ञान ही तनारूप से प्रकट होता है तथा तीनों गुण ही शाखाएँ हैं, उनमें मनुष्य, देवता और त्रियग्योनियाँ उपशाखाओं के रूप में दिखाई दे रही हैं एवं वेदमंत्र बहुत-से पत्ते के समान प्रतीत हो रहे हैं, जो अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं।

उन महँ बिषय सब्दादि किसलय जहँ सुमन सम कर्म सब।
तहँ सों मिलत सुख दुख बिषय फल कह मरम महराज अब॥
पर सिद्ध साधक योगिजन कहँ फल न ते कछु भावतो।
पुनि खोज करि तनभाव तरुहीं मूल सहित ढहावतो॥

उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूपी कोपलें प्रस्फुटित हो रही हैं, जहाँ समस्त [शुभाशुभ] कर्म ही पुष्प हैं। अतः महाराज अब यह रहस्य भी बता रहा है कि वहीं से सुख-दुःख तथा विषयरूपी फल की भी प्राप्ति होती है; परन्तु साधकों, सिद्धों एवं योगियों को वे फल प्रिय लगते ही नहीं। फिर वे 'देहात्मभाव' (मैं शरीर हूँ) रूपी वृक्ष की खोज कर इसे मूलसहित उखाड़ फेंकते हैं।

दोहा— अस दुखदायक तरुहिं जब उर सों देत निकारि।
आत्मरूप निज तब लखत ब्रह्म धर्म अनुहारि॥ ५॥

इस प्रकार इस दुःखद संसाररूपी वृक्ष को जैसे ही वे हृदय से निकाल देते हैं, वैसे ही स्वयं को आत्मरूप में देखने लगते हैं और ब्रह्मधर्म के अनुसार व्यवहार करने लगते हैं।

चौपाई— जो तरु उर भयो तन स्वीकारत। सो द्रुम जावे याहि नकारत॥
मानत आयो जानत जावे। ज्यों जागत जग सपन हेरावे॥

जो वृक्ष हृदय में 'मैं शरीर हूँ'- इस भाव को स्वीकार करने से प्रकट हुआ है, वह वृक्ष इस [भाव] को अस्वीकार कर देने पर [स्वतः] चला जाता है। यह अज्ञानात्मक भावों को स्वीकार करने के कारण ही आ गया है और यथार्थ के जानते ही चला जाता है, जिस प्रकार जागते ही स्वप्नजगत नष्ट हो जाता है।

जानै जो सच सोइ जनावे। जो जगि जावे सोइ जगावे॥
ऐसो जग एक आतमज्ञानी। खोजै ब्रह्महिं तेहि सनमानी॥

जो यथार्थ तत्त्व को जानता है वही जना सकता है अर्थात् वही इसका अनुभव करा सकता है जैसे जो जगा हुआ है, वही दूसरे को जगा सकता है। ऐसा तो सम्पूर्ण जगत में एक आत्मज्ञानी ही है। अतः उसी को अत्यन्त आदर-मान देकर ब्रह्म की खोज करे।

अनासक्ति सस्त्रहिं दृढ़धारी। जाय ताहि पहिं गुनहिं गुहारी॥
हे गुरुदेव दयानिधि स्वामी। कस बिनवउँ तोहिं अंतरजामी॥

उसके लिए अनासक्तिरूपी शस्त्र को प्रतिज्ञा पूर्वक धारण करके, उसके गुणों की वन्दना करते हुए उसके पास जाय और प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव! हे दयानिधि! हे स्वामी! हे अन्तर्यामी! मैं आपकी वन्दना कैसे करूँ!

बेद बचन सच लखउँ तिहारे। बस इतनी गुनि लेहु हमारे॥
ब्रह्मलेख तुम्हरी सब मानउँ। सोइ उर तरु दाहइ सच जानउँ॥

आप तो बस मेरे विषय में इतना ही जान लें कि मैं आपके वचनों को यथार्थ में वेद-वाक्य ही मानता हूँ, आपकी सम्पूर्ण बातों को ब्रह्म का लेख ही मानता हूँ तथा यह भी यथार्थ में जानता हूँ कि वही इस हृदय में स्थित [देहात्मभावरूपी] वृक्ष को जला डालेगा।

दोहा— उरहिं सक्ति आपुनि लख्यों मोसों द्रुम न नसाय।
याहि मूल तुम्हरी कृपा खोदउँ गिर भहराय॥ ६॥

मैंने तो अपनी शक्ति अपने हृदय में देख ली कि मुझसे यह [हृदय में स्थित] वृक्ष नष्ट नहीं हो सकता, किन्तु आपकी कृपा-प्रताप से इसकी जड़ों को खोद दूँगा, जिससे यह [सहजतापूर्वक] भहराकर गिर जायेगा।

चौपाई— पर यह ध्यान रहे तहँ जावहु। तौ अपुनो सब मान ढहावहु॥
मोह छाँड़ि तहँ चिंतन धारउ। अध्यातम नित उर उजियारउ॥

परन्तु यह ध्यान रहे कि वहाँ (गुरुदेव के पास) जायें तो अपने समस्त मान-सम्मान का परित्याग कर दें तथा मोह का भी परित्याग कर आध्यात्मिक चिन्तन को धारण करें जिससे नित्य हृदय में आत्मप्रकाश रहे।

जब प्रभु तरु पुनि यह तन साखा। अरु सब देह अहहिं प्रतिसाखा॥
तब इनि साखन्हि क्यों निज रूपा। मानि होयँ अज्ञानिन्ह भूपा॥

जब भगवान वृक्ष हैं तो यह शरीर उनकी शाखा है और [अन्य] समस्त शरीर इसकी प्रतिशाखाएँ हैं; तो इन शाखा-प्रतिशाखाओं को अपना स्वरूप मानकर हम अज्ञानियों के राजा क्यों बनें!

सुनि त्रय कर्म होउ स्तब्धा। संचित क्रियमाणहु प्रारब्धा॥
बहुतहि जनम करम की बातहिं। करत रहत आपहु दिन रातहिं॥

आप संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध- इन त्रिविध कर्मों को सुनकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। सच में ऐसी ही बहुत-सी जन्म-कर्म की बातें आप दिन-रात करते रहते हैं-

पूर्ब जनम ऐसो करि आयों। तबहीं नाहिं कबहुँ सुख पायों॥
ते बहु जनम सुकृत करि आये। तबहीं तौ नृप गृह जनमाये॥

जैसे पूर्व जन्म में ऐसा करके आया हूँ, तभी तो कभी भी सुख नहीं प्राप्त कर सका! तथा वे अनेक जन्मों से सत्कर्मों का सम्पादन करते चले आये हैं, तभी तो राजा के घर जन्म लिये!

भाग करम की देत दुहाई। बीतत तुम्हरो प्रतिपल भाई॥

हे भाइयो! इस प्रकार भाग्य एवं कर्म की दुहाई देते-देते आपका प्रत्येक पल बीतता जा रहा है।

दोहा— पुनि पूछत महराज अब कोउ तरु साखा कर्म।
काह अहइ अरु करइ का यहउ बतावहु मर्म॥ ७ (क)॥

अब महाराज आपसे पुनः पूछ रहा है कि किसी भी पेड़ की शाखा का कर्म क्या है [तात्पर्य कि उसने क्या किया है] और क्या कर रही है, इस रहस्य को भी बतायें?

केहि की मानी जाय सो यहउ बतावउ आज।
ताकर जननी जनक को यहु तुम्ह खोलहु राज॥ ७ (ख)॥

आज यह भी बतायें कि वह शाखा किसकी मानी जाय तथा इस रहस्य को भी बतायें कि उसके माता-पिता कौन हैं?

चौपाई— मैं बूझउँ इहँ मौन गहौगे। उत्तर कछु नहिं आय कहौगे॥
मरि जाये सो कितकों भाई। पुनि जनमति सो कित कहँ जाई॥

मैं समझता हूँ कि आप यहाँ मौन हो जायेंगे; आपको कुछ उत्तर मिलेगा ही नहीं, जिसे आप बता सकें। हे मित्रो! वह शाखा मरकर कहाँ जाती है और वह कहाँ जाकर पुनः जन्म लेती है?

का तरु से सो अपर कहावे। अपर आतमा प्रान लखावे॥
का पितु मातु मान फल सुमनहिं। अस प्रसून मानहिं का परनहिं॥

क्या वह शाखा वृक्ष से भिन्न कहलाती है, क्या वृक्ष से उसके आत्मा और प्राण भिन्न दिखलायी पड़ रहे हैं? क्या पुष्पों को फल का माता-पिता मान लें? क्या फूल भी पत्तों के विषय में ऐसा ही मान लें?

पत्तन्ह कर माँ पितु का टहनी। तिन्हकी का प्रतिसाखा कहनी॥
जननि जनक का साखा तिन्हके। तना लखावै का अस उन्हके॥

क्या पत्तों के माता-पिता टहनियाँ, टहनियों के माता-पिता प्रतिशाखाएँ, उनके माता-पिता शाखाएँ एवं क्या शाखाओं का माता-पिता तना दिखाई पड़ रहा है?

का स्कंध मूल कहँ मानें। का जड़ माँ पितु बीजहिं जानें॥
पर नहिं बीज लखावे वाको। काहे कै तरु रूपइ ताको॥

उसी प्रकार तना क्या अपना माता-पिता जड़ को माने और जड़ बीज को समझे? किन्तु उसका माता-पिता तो बीज दिखायी ही नहीं पड़ रहा है, क्योंकि वृक्ष तो उसका ही स्वरूप है।

छंद— यासों बिटप जननी जनक यदि आपुनों धरनिहिं लखै।
तब सब टहनि साखा सुमन फल अरु तना जड़ तेहिं भषै॥
अस जन्म कर्म कहानि तरु कर कहइ कस महराज जू।
प्रारब्ध संचित कर्म क्रियमानहु के ऐसो राज जू॥

इसलिए वृक्ष यदि अपना माता-पिता धरा को समझ रहा है, तब तो टहनी, शाखा, पुष्प, फल, तना तथा जड़ों आदि सभी का माता-पिता उस वृक्ष को ही कहा जाय! इस प्रकार महाराज भी वृक्ष के जन्म-कर्म की कथा को कैसे कहे? [अब तो आप समझ ही गये होंगे कि] संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का भी ऐसा ही रहस्य है।

तरु आतमा महि तहिं जियत मर सो न जन्मति मरति ज्यों।
यहु जगतद्रुम बरु आय जाय न ब्रह्म आये जाय त्यों॥
तस टहनि साखा परन बहु नित गिरत तरु सों जीर्ण ह्वै।
पर आतमा नहिं गिरत ताकी सो प्रगट अवतीर्ण ह्वै॥

जिस प्रकार वृक्ष की आत्मा पृथ्वी है और वह उसी में जन्मता-मरता है, किन्तु वह (पृथ्वी) न जन्मती है, न मरती है, उसी प्रकार यह जगतरूपी वृक्ष भले ही [ब्रह्म में] प्रकट होकर विलीन होता रहे किन्तु ब्रह्म कहीं भी आता-जाता नहीं है; उसी प्रकार बहुत-से पत्ते, [पुष्प, फल,] टहनियाँ, शाखाएँ नित्य ही वृक्ष से पुराने होकर गिरते रहते हैं, किन्तु उस [वृक्ष] की आत्मा तो गिरती ही नहीं अपितु अवतार लेकर प्रकट होती रहती है।

ऐसोइ जगतरु टहनि साखा देव नर पसु खग अहैं।
नित प्रति गिरहिं अरु अपर आवहिं तउ न द्रुम उर कछु दहैं॥
अस जानि साधक भगत साखा स्वजन निज तन हीत मित।
त्यागहु अबहिं गहि गुरु चरन पावहु परमपद तमहिं जित॥

उसी प्रकार इस जगतरूपी वृक्ष की टहनी एवं शाखा देवता, मनुष्य, पशु एवं पक्षी आदि हैं, जो नित्यप्रति गिरते (मरते) और दूसरे प्रकट (जन्मते) होते रहते हैं, तो भी इस वृक्ष के हृदय में शोक-सन्ताप नहीं होता- ऐसा जानकर साधक एवं भक्तगण अपने शरीर, स्वजनों और हित-मित्रों को इस संसाररूपी वृक्ष की शाखाएँ समझ कर अभी त्याग दें और सद्गुरु के चरणों का आश्रय लेकर अज्ञान को जीतकर परमपद को प्राप्त कर लें।

अब नहिं बहानो तुम्ह करहु आयों जनम बहु कर्म करि।
तिन्ह भोग सुभ अरु असुभ भोगइ को अबहिं अज्ञान धरि॥
साखा टहनि अरु परन कर कछु भाग्य अरु नहिं कर्म जू।
तैसेइ तन कहँ नाहिं ते सब सच अहइ प्रभु मर्म जू॥

अब आप बहाना न बनावें कि 'हम तो बहुत जन्मों से कर्म करते हुए आ रहे हैं, अत: कर्मों के उन शुभाशुभ भोगों को अब अज्ञान धारण कर कौन भोगेगा?' अरे! शाखा, टहनी और पत्तों का न तो कुछ भाग्य है और न कर्म ही, उसी प्रकार शरीर के लिए भी वे सब [कर्म एवं भाग्यादि] नहीं हैं- भगवान के कथन का यही यथार्थ रहस्य है।

दोहा— अबहिं कहे हरि रूप जग जैसो सास्त्र कहाय।
आत्मज्ञान भए रूप तस सपनेहुँ कहुँ न लखाय॥ ८॥

भगवान ने तो अभी [स्पष्ट] ही कह दिया कि जैसा शास्त्रों में [भिन्न-भिन्न उपमाओं के माध्यम से]

जगत के रूप का वर्णन किया गया है, आत्मज्ञान होने के उपरान्त स्वप्न में भी कहीं वैसा रूप दिखायी नहीं पड़ता।

चौपाई— हे मुनिजन जग तरुवर भाषी। प्रभु अर्जुन मूरति उर राखी॥
महाराज तुम्हरे बिच आवे। दिब्य द्रुमन्ह कर रूप दिखावे॥

हे मुनिजन! जगतरूपी वृक्ष का वर्णन कर, भगवान नारायण और महात्मा अर्जुन की छवि को अपने हृदय में धारण करके महाराज अब आप सबके मध्य आकर कुछ अन्य दिव्य वृक्षों के स्वरूप को दिखा रहा है।

यदि तिन्ह रूप तुम्हरि मति बूझे। निज स्वरूप तब सहजहिं सूझे॥
प्रति मानव यदि देख्यो जावे। तब इक इक तरु सरिस लखावे॥

यदि उनके रूप को आपकी बुद्धि समझ ले तो सहज ही अपना स्वरूप दीखने लगेगा। यदि देखा जाय तो प्रत्येक मानव एक-एक वृक्ष के रूप में ही दिखायी पड़ेगा।

जो सच प्रगटहिं जग महि माहीं। अहं बीज तिन्ह तन कर आहीं॥
तम स्कंध तीनि गुन साखा। त्रिबिध बिचार तहाँ उपसाखा॥

यथार्थ में जगतरूपी भूमि में जो प्रकट होते हैं, उनके शरीर का बीज अहं (द्रष्टा) है, अज्ञान तना है, तीनों गुण [तीन मुख्य] शाखाएँ हैं तथा [इनसे उत्पन्न होने वाले] तीनों विचार (सात्त्विक, राजस, तामस) उपशाखाएँ हैं।

चतुः परन मैं तू मम तेरो। पुष्प सुभासुभ कर्म घनेरो॥
जिन महँ सुख दुख फल अति लागहिं। तिन्ह भोगत सब बहु जग भागहिं॥

जिनमें मैं, तू, मेरा, तेरा- ये ही चार प्रकार के पत्ते [लगे हुए] हैं तथा शुभ और अशुभ नाना प्रकार के कर्म ही पुष्प हैं। जिनमें सुख और दुःखरूपी बहुत-से फल लगे हुए हैं जिनको भोगते हुए सभी बहुत-से लोकों में भागते रहते हैं।

दोहा— ऐसो जानत मरम जे सच उन्हकोइ लखायँ।
जीव जंतु सम अपर नर कहतहु समुझि न पायँ॥ ९॥

जो इस रहस्य को समझ लेता है उसी को सत्य दिखायी पड़ता है। अन्य मनुष्य तो क्षुद्र जीव-जन्तुओं के समान हैं जो बताने पर भी इसे समझ नहीं पाते।

चौपाई— तेहिं समान प्रति इक परिवारा। दिब्य बृक्ष इक इक उजियारा॥
जिन्हके मूल पितामह भाई। मातु पिता मिलि तना कहाई॥

वैसे ही प्रत्येक परिवार एक-एक दिव्य वृक्ष के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। हे मित्रो! जिनके मूल तो पितामह हैं तथा माता-पिता दोनों मिलकर स्कन्ध कहलाते हैं।

तिन्ह महँ गुनउ सुतन्ह बर साखा। हित मित स्वजन अहहिं उपसाखा॥
अहहिं टहनि सम पोते नाती। मैं अरु तू दुइ पत्तनि भाँती॥

उसमें पुत्रों को मुख्य शाखा तथा हित-मित्र एवं स्वजनों को उपशाखा समझना चाहिए तथा नाती-पोते टहनियों के समान हैं। इसी प्रकार 'मैं और तू'- ये दोनों पत्तों के समान हैं।

कर्म सुभासुभ पुष्प कहावहिं। सुख दुख द्वै फल तहाँ लखावहिं॥
अस जो जानैं सोइ सच जानैं। अपर अज्ञ नहिं कछु पहिचानैं॥

उसमें 'शुभ और अशुभ कर्म' ही पुष्प कहे जाते हैं, जहाँ 'सुख और दुःख'- दोनों फल के रूप में दिखायी पड़ते हैं। इस प्रकार जो जानता है वही यथार्थ जानता है, किन्तु दूसरे जो अज्ञानी हैं वे कुछ नहीं पहचानते।

प्रति एक गाँव नगरहू तरुवर। तिन्ह संस्थापक मूल आदि नर॥
ताकोइ कुल स्कंध कहावत। अपर कुटुम बर साखा गावत॥

[उसी प्रकार] प्रत्येक 'गाँव-नगर' एक-एक वृक्ष हैं और उनकी स्थापना करने वाले आदि पुरुष ही मूल कहे जाते हैं तथा उनका कुल ही तना कहा जाता है एवं उसमें वास करने वाले अन्य श्रेष्ठ कुटुम्ब ही मुख्य शाखाओं के रूप में कहे जाते हैं;-

अपर जाति कुल उपसाखा सम। कहे इहाँ को अहइ अधिक कम॥

तथा दूसरी जातियाँ एवं कुल ही उपशाखाओं के समान हैं। इस प्रकार यहाँ कौन बड़ा है और कौन छोटा, ऐसा कौन कह सकता है?

दोहा— पर्ण कुटुम गुरु सास्त्र मत पुष्प सुभासुभ कर्म।
अरु सत्संग अहइ सुमन सुनहु तिन्हहु कर धर्म॥ १०॥

उसमें परिवार-मत, शास्त्र-मत एवं गुरुमत ही [तीन प्रकार के] पत्ते कहे गये हैं एवं शुभ और अशुभ कर्म तथा सत्संग ही [तीन प्रकार के] पुष्प हैं। अब उनका भी धर्म सुनें-

चौपाई— उन महँ त्रय फल लगत लखावें। सुख दुख अरु अपबर्ग कहावें॥
अस यथार्थ जो जाननवारो। सोइ सच जान अपर भुवि भारो॥

उनमें तीन प्रकार के फल लगे हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जो सुख, दुःख और अपवर्ग कहे जाते हैं। जो इसको यथार्थ रूप में जानता है, वही सत्य को जानता है, अन्य [सभी] तो पृथ्वी पर भारस्वरूप हैं।

प्रति इक राष्ट्र दिब्य तरु भावे। तेहि संस्थापक मूल कहावे॥
ताकर तना प्रमुख बिधायिका। साखा प्रादेसिक सहायिका॥

उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र एक दिव्य वृक्ष के समान शोभा दे रहा है, उसका मूल उस राष्ट्र का संस्थापक ही कहलाता है तथा [वहाँ की] लोकसभा ही उसका तना है और शाखा प्रादेशिक विधानसभा हैं।

पंचायत बर न्यून लखावहिं। टहनी सब तहँ सोइ कहावहिं॥
साम दाम अरु दंड भेदनिति। चतुः परन जासे तरुवर प्रिति॥

वहाँ जो छोटी-छोटी पंचायतें दिखायी पड़ रही हैं, वे ही सब टहनियाँ कही जाती हैं। साम, दाम, दण्ड एवं भेद ये चारों नीतियाँ ही पत्ते हैं, जिससे [किसी भी] राष्ट्ररूपी वृक्ष को अत्यन्त प्रीति है।

राष्ट्र सुभासुभ कर्मनि जोई। अहहिं सुमन सुख दुख फल होई॥
ऐसो जिनि भगतनहिं लखावें। साँच लखहिं तेइ प्रभु उर भावें॥

देश के शुभ और अशुभ कर्म ही पुष्प हैं जिनमें सुख और दुःखरूपी फल लगे हुए हैं। जिन भक्तों को ऐसा दिखायी पड़ता है, वे ही यथार्थ देखते हैं और वे ही भगवान को हृदय से प्रिय हैं।

सोरठा— सब राष्ट्रन्ह के मध्य भारतबर्ष हि कल्पतरु।
बर सप्तर्षि अबध्य एहि संस्थापक मूल ते॥ ११॥

उसी प्रकार सभी राष्ट्रों के अन्तर्गत भारतवर्ष ही कल्पवृक्ष है; अजर-अमर सप्तऋषि ही इसके संस्थापक हैं और वे ही इसके मूल हैं।

चौपाई— जाकर तना अपर ऋषि मुनिबर। बरणहिं चतुः चारि साखा बर॥
अधम जाति उपसाखा नाईं। बेद पुरान सास्त्र परनाईं॥

जिसका तना अन्य ऋषि-मुनि हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र- ये चार वर्ण ही मुख्य शाखाएँ हैं, अन्य अधम जातियाँ उपशाखाओं के समान हैं और वेद, शास्त्र, पुराण आदि ही पत्ते हैं।

कर्म सुभासुभ अरु निष्कामा। लागत तिन्ह महँ पुष्पन्ह ग्रामा॥
जिन्ह महँ सुख दुख मोक्ष तीनि फल। लगत लखे जो सोइ लखत भल॥

उनमें शुभ-अशुभ और निष्काम कर्मरूपी [तीन प्रकार के] पुष्पों का समूह लगता है, जिनमें सुख-दुःख और मोक्ष- ये तीन प्रकार के फल लगते हैं; ऐसा जो देखता है, वही यथार्थ देखता है।

आर्यभूमि के गृह आश्रमहू। दिब्य बिटप जहँ नहिं कछु श्रमहू॥
आदि ऋषी कोउ तिन्हकर मूला। सदगुरु तना अतिहिं अनुकूला॥

वैसे ही आर्यभूमि भारतवर्ष का गृहस्थाश्रम भी एक दिव्य वृक्ष है, जहाँ किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है। सप्तऋषियों में से ही कोई उनका मूल है तथा सद्गुरु अत्यन्त अनुकूल तना है।

पिता पितामह मातु पितामहि। येइ एहि बृक्ष प्रमुख साखा सहि॥
पुत पोते नाती उपसाखा। महाराज एहि कर अस भाषा॥

पिता, पितामह, माता, पितामही- ये ही वृक्ष की सही अर्थों में प्रमुख शाखाएँ हैं तथा पुत्र, पोते और नाती उपशाखाएँ हैं- महाराज ने इसे ऐसा ही कहा है।

दोहा— देव पितर यग दान ब्रत जप याके बहु पत्र।
निर्मल भगति सुमन सम परम ज्ञान फल यत्र॥ १२॥

देवयज्ञ, पितरयज्ञ, दान, व्रत तथा जप- इसके बहुत से पत्ते हैं तथा निर्मल भक्ति ही पुष्प के समान है, जहाँ परमज्ञानरूपी फल लगता है।

चौपाई— ब्रह्मचारिहू दिब्य तरूसम। सदगुरु ताकर मूल दिब्यतम॥
तेहि स्कंध आत्मजिज्ञासा। साखा अष्ट नियम अस भासा॥

[उसी प्रकार] ब्रह्मचारी भी एक दिव्य वृक्ष के सदृश है, जिसका मूल दिव्यातिदिव्य सद्गुरु है, आत्मजिज्ञासा उसका तना है और ब्रह्मचर्य के आठ नियम ही शाखा-उपशाखाओं के रूप में भास रहे हैं।

बेद सास्त्र स्वाध्याय परन सम। जप ओंकार सु सुमन धरन सम॥
अन्य सुमन सतसंगहि भाई। आत्मज्ञान फल लग मधुराई॥

वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय ही पत्तों के समान है तथा ओंकार-जप (स्मरण) दिव्य पुष्प के समान है। सत्संग ही दूसरा दिव्य पुष्प है जिसमें आत्मज्ञानरूपी मधुर फल लगता है।

अस जानन वारो सच जाने। अपर अतिहि माया लिपटाने॥
बानप्रस्थहू दिब्य तरू जू। जाहि मूल तप हृदय धरू जू॥

ऐसा जानने वाला ही यथार्थ जानता है, अन्य दूसरे तो अत्यन्त माया में लिपटे हुए हैं। [उसी प्रकार] वानप्रस्थ भी एक दिव्य वृक्ष है जिसका मूल तप है- ऐसा आप हृदय में धारण करें।

त्याग तना ऋषि देव पितरहू। तर्पण तरु साखा उपचरहू॥
यज्ञ दान तप अतिथिन्ह सेवा। उपसाखा सम कह मुनिदेवा॥

त्याग ही उस वृक्ष का तना है, ऋषि, देवता एवं पितरों का तर्पण शाखारूप से कहा गया है और सन्तजन कहते हैं कि 'यज्ञ, दान, तप तथा अतिथि सेवा' ही उपशाखा के समान है।

दोहा— भूमि सयन अरु बटु नियम द्रुम तर होवे बास।
सोइ सब पत्र कहाय तहँ करइ इहाँ बिस्वास॥ १३॥

वैसे ही भूमि पर शयन करना और ब्रह्मचारी के नियमों का पालन तथा वृक्ष के नीचे रहना- ये सब ही वहाँ पत्ते कहे गये हैं जिसका यहाँ विश्वास करना चाहिए।

चौपाई— जप स्वाध्याय आत्मचिंतनहू। बिबिध सुमन सब अहइ मौनहू॥
तेहि महँ फल संन्यास लखावे। सोइ सच जानत सबहिं जनावे॥

उस वृक्ष में जप, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन तथा मौन रूपी नाना प्रकार के पुष्प लगे हुए हैं, जिसमें संन्यासरूपी फल दिखायी पड़ता है। जो ऐसा जानता है वही यथार्थ जानता है तथा सबको यथार्थ का ही बोध कराता है।

सदगुरुहू एक बिटप कहावे। ब्रह्मज्ञान तेहि मूल लखावे॥
ब्रह्मसक्ति स्कंध तहाँ पै। नहिं माया प्रतिबंध जहाँ पै॥

उसी प्रकार सद्गुरु भी एक दिव्य वृक्ष कहा जाता है, ब्रह्मज्ञान ही उसका मूल दिखायी पड़ रहा है। उस वृक्ष में ब्रह्मशक्ति (सृजन, पालन, संहार तथा सर्वज्ञता आदि) ही तना है, जहाँ माया का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

अंतरंग सेवक बर साखा। अपर सिष्य तामें उपसाखा॥
जप स्वाध्याय योग निष्कामा। जहँ लागइ पत्रन्ह कर ग्रामा॥

जो अन्तरंग सेवक (शिष्य) हैं, वे ही मुख्य शाखाएँ हैं तथा अन्य शिष्य उस वृक्ष में उपशाखाएँ हैं जिसमें निष्काम जप, तप, स्वाध्याय एवं योगरूपी पत्तों का समूह लगा हुआ है।

तहँ फल सिष्य हि आतमज्ञानी। तेइ कहायँ जग गुरु बरदानी॥

वहाँ आत्मज्ञानी शिष्य ही फल हैं और वे ही जगत में वरदानी गुरु कहे जाते हैं।

दोहा— जपहु दिब्य द्रुम साधुजन तुम्ह सब देखहु आज।
श्रद्धा मुल बिस्वास तेहि तना लखइ यह राज॥ १४॥

हे मुनिजनो! आज आप सब इसे भी देख लें कि जप भी एक दिव्य वृक्ष है, श्रद्धा उसका मूल और विश्वास ही तना दीख रहा है- यही रहस्य है।

चौपाई— यम नियमादि अहइ बर साखा। नवधा भगति अहइ उपसाखा॥
सुमन अनन्य भक्ति कहलावे। तहँ पुनि हरि दरसन फल पावे॥

यम-नियमादि ही मुख्य शाखा, नवधाभक्ति के नौ अंग उपशाखाएँ एवं अनन्यभक्ति पुष्प कहलाता है और फिर वहाँ से भगवत् दर्शनरूपी फल की प्राप्ति होती है।

एहि जग अस जो जानत साँचो। वाको लगत न माया आँचो॥
ज्ञानयज्ञहू बिटप दिब्यतम। मूल गुरू तेहि कोउ न जेहि सम॥

जगत में जो इस यथार्थ को जानता है, उसको माया की आँच नहीं लगती। उसी प्रकार ज्ञानयज्ञ भी एक दिव्यतम वृक्ष है, उसका मूल सद्गुरु है जिसके समान कोई दूसरा नहीं है।

आतमचिंतन तना कहावे। महाराज ऐसोइ लखावे॥
सम दम उपरति महत तितिक्षा। बर साखा सम अस मुनि सिक्षा॥

आत्मचिन्तन ही जिसका तना कहा जाता है, महाराज को तो ऐसा ही दिखायी पड़ रहा है। मुनियों का ऐसा मत है कि उसमें शम, दम, उपरति एवं महत् तितिक्षा मुख्य शाखाओं के समान हैं।

ज्ञानसास्त्र स्वाध्यायहु राखा। कृछ चंद्रायन ब्रत उपसाखा॥
दिब्य पत्र श्रद्धा बिस्वासा। गुरु सत्संग सुमन अति भासा॥

जिसमें ज्ञानमय शास्त्र (उपनिषद् आदि) के स्वाध्याय की भी स्थापना है। कृच्छ चान्द्रायण आदि व्रत उपशाखाएँ हैं, जिसमें श्रद्धा एवं विश्वास [ये दो] दिव्य पत्ते हैं और सद्गुरु द्वारा प्राप्त सत्संग ही पुष्प के रूप में अत्यन्त सुशोभित हो रहा है।

दोहा— जेहि महँ लागत दिब्य फल परमज्ञान कहलाय।
एहि कहँ ऐसो लखत जो तेहि इहँ सत्य लखाय॥ १५॥

जिसमें परमज्ञान रूपी दिव्य फल लगता है। जो इसे इस प्रकार देखता है उसी को सत्य दिखायी पड़ता है।

चौपाई— संन्यासिहु इक दिब्य कलपतरु। ताहि मूल बर त्याग हृदय धरु॥
अहं ब्रह्म दृष्टी स्कंधा। यासें तेहि मग नहिं प्रतिबंधा॥

उसी प्रकार संन्यासी भी एक दिव्य कल्पवृक्ष है, त्याग ही उसका दृढ़ मूल है, इसे हृदय से स्वीकार करें। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ)- यह भाव ही स्कन्ध (तना) है, अतः उसके [आध्यात्मिक] मार्ग में कोई व्यवधान नहीं है।

सम दम बिरति तितिक्षा चारी। चतुः मुख्य साखा उपचारी॥
तप आतमचिंतन उपसाखा। धैर्य प्रतिक्षा पत्रन्ह भाषा॥

शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा में बरतना, ये चार प्रमुख शाखाएँ कही गयी हैं तथा तप एवं आत्मचिन्तन ही उपशाखाएँ हैं और धैर्य एवं प्रतीक्षा पत्ते कहे गये हैं।

दिब्य पुष्प द्रष्टापन भावे। परमब्रह्म साक्षी फल आवे॥
ऐसो लखत जगत महँ जोई। बेदतत्व जानत सच सोई॥

उसमें द्रष्टापना ही दिव्य पुष्प के समान शोभा दे रहा है जिसमें शुद्ध साक्षित्वरूपी परमब्रह्म ही फल रूप में लगता है, ऐसा जानने वाला ही यथार्थ में वेद के तत्त्व को जानता है।

एक ब्रह्म बिनु कोउ इहँ नाहीं। आदि अंत पुनि काहि लखाहीं॥
तेहि बिनु इहाँ अपर को देखइ। बिबिध रूप गहि सोइ निज पेखइ॥

एक ब्रह्म के अतिरिक्त तो यहाँ कोई है ही नहीं, फिर आदि एवं अन्त किसका दिखायी पड़े! उसके अतिरिक्त यहाँ देखने वाला कौन है? क्योंकि वही अनेक रूपों में प्रकट होकर नाना प्रकार से स्वयं को देख रहा है।

जैसेइ ज्ञान गहउ यह भाई। तैसेइ दिब्य सिद्धि अस आई॥
मान मोह सब जावें कितहूँ। भास न कोउ स्वजन हित मितहूँ॥

हे प्रिय! आप जैसे ही इस ज्ञान को धारण करेंगे, वैसे ही ऐसी दिव्य सिद्धि आयेगी कि मान-मोह न जाने कहाँ चले जायेंगे और कोई स्वजन या हित-मित्र भी अपना प्रतीत नहीं होगा।

उर महँ जो आसक्तिहिं दोषा। सबहिं बिलाहिं छोभ अरु रोषा॥
पुनि अध्यात्म सुरति नित बासै। अरु उर महँ सो सहजहि रासै॥

इसलिए चित्त में जो आसक्तिरूपी दोष और शोक-सन्ताप रहते हैं, वे सभी नष्ट हो जायेंगे; फिर तो स्मृति में सदा के लिए अध्यात्म वास कर जायेगा एवं हृदय में सहज ही वह अतिप्रिय भी लगने लगेगा।

सुख दुख राग द्वेष सब छूटैं। अरु जो अपर बंध सब टूटैं॥
एहि बिधि गहउ याहि बर ज्ञाना। पावहु बिभु पद सहज सुजाना॥

इस प्रकार सुख-दु:ख, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से तथा अन्य बन्धनों से भी भलीभाँति मुक्ति मिल जायेगी। हे परम ज्ञानवानो! उपरोक्त नियम के अनुसार यदि आप इसी श्रेष्ठ ज्ञान को धारण करें तो परमपद को सहज ही प्राप्त कर लेंगे।

दोहा— गुडाकेस उत गुनत मन सुनउँ आज अस काह।
देखउँ ब्रह्म बिटप अस जहँ अबलौं भरुँ आह॥ १६॥

उधर महात्मा अर्जुन मन में ऐसा चिन्तन कर रहे हैं कि आज मैं यह क्या सुन रहा हूँ! मैं तो ऐसा ब्रह्मरूपी वृक्ष देख रहा हूँ, जहाँ संसार भाव के कारण अब तक आहें ही भरता रहा।

चौपाई— अहो अगुन प्रभु मम रथ आयो। जो जगबिटप होइ प्रगटायो॥
जिन कहँ सखा कृष्ण अरु भाई। समुझि गयों मैं अति भरमाई॥

अहो! आश्चर्य है! निर्गुण ब्रह्म मेरे रथ पर आकर बैठा है, जो जगतरूपी वृक्ष बनकर प्रकट हुआ है, जिसे मैं मित्र, कृष्ण और भाई समझकर अति भ्रमित हो गया था।

एहि तरुवर लखुँ अतिहिं बिसाला। जेहि पाल्यो बिभु सब प्रतिपाला॥
याहि बिटप महँ ये नृप सारे। साखा प्रतिसाखा बहु भारे॥

मैं इस श्रेष्ठ ब्रह्मवृक्ष को अत्यन्त विशाल रूप में देख रहा हूँ जिसका पालन सबका पालन-पोषण करने वाले भगवान ने किया है। इस वृक्ष में ये समस्त राजागण असंख्य शाखा-प्रतिशाखाओं के समान हैं।

इनि साखन्ह महँ रोग भयो अति। जासे होवे हरिद्रुम की छति॥
काटत जिन्हहिं ब्रह्मतरु हरषे। पुनि नबीन साखा बहु बरषे॥

इन शाखाओं में भयंकर रोग लग गया है, जिससे भगवत्-वृक्ष की क्षति हो रही है, जिनको काटते ही ब्रह्मवृक्ष प्रसन्न होकर पुन: बहुत-सी नवीन शाखाओं को प्रकट करेगा।

प्रभु अवतरहिं याहि के लानै। पुनि मेरो मन कस सकुचानै॥
अस उर समुझि रनहिं सिर फेरहिं। तरु साखा सम सबहीं हेरहिं॥

भगवान ने इसी के लिए अवतार लिया है, फिर मेरा मन क्यों संकोच कर रहा है! ऐसा हृदय से समझकर उन्होंने रणभूमि की ओर सिर घुमा लिया और वृक्ष की शाखाओं के समान सभी वीरों को देखने लगे।

दोहा— मन प्रसन्न ऐसो भयो मिल्यो मृतक सुत आइ।
पर उर अतिहिं प्रसन्नता अबहुँ न काहु लखाइ॥ १७॥

मन ऐसा प्रसन्न हो गया, जैसे मरा हुआ पुत्र आकर [माता-पिता को] मिल गया हो, किन्तु अभी भी उनकी इस प्रसन्नता को कोई भी नहीं समझ पा रहा है!

चौपाई— उत संजय सब नृपहिं बतावत। इत प्रभु कृष्णचंद्र हरषावत॥
अबलौं हरि बहु दिब्य ज्ञान सर। संधाने लखि लखि अर्जुन तर॥

उधर सञ्जय राजा धृतराष्ट्र को यह सब बता रहे हैं, इधर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द [अत्यन्त] हर्षित हो रहे हैं। अब तक भगवान ने देख देखकर अर्जुन की ओर ज्ञानरूपी बहुत-से दिव्य बाणों का संधान किया है।

प्रथम कहे तन बस्त्र कहावे। जेहि तजि जीव नवो गहि आवे॥
सुनत परंतप मनहिं बिचारहिं। सब तन पट कस इक बिभु धारहिं॥

सर्वप्रथम तो यह ज्ञान दिया कि यह शरीर वस्त्र कहा जाता है, जिसे जीवात्मा [पुराना होने पर] त्यागकर नया [शरीररूपी] वस्त्र धारण कर आ जाता है। यह सुनकर भक्त अर्जुन मन में विचार करने लगे कि एक ही ब्रह्म सभी शरीररूपी वस्त्रों को कैसे धारण कर रखा है?

यहु सर बिफल भयो प्रभु जाने। अपर बान तिहि छन संधाने॥
कहे पार्थ सों अति हरषाई। जीव त्यागि सब कर्मन्हि भाई॥

जब भगवान का यह बाण भी निष्फल चला गया, तब तत्क्षण उन्होंने दूसरा बाण चला दिया और पार्थ से प्रसन्नतापूर्वक कहा- हे पार्थ! [एक ही] जीवात्मा समस्त कर्मों को त्यागकर-

नवद्वारनवारे पुर माहीं। परमसांति सुख सों सु बसाहीं॥
सुनि अस पार्थ सोच मन ऐसे। एक ब्रह्म सब तन बस कैसे॥

परम सुख एवं शान्ति से नवदरवाजों वाले पुर (शरीर) में वास करता है। ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन मन ही मन सोचने लगे कि एक ही ब्रह्म सभी शरीरों में कैसे वास कर सकता है?

यहउ बान निष्फल फिरि आयो। तब हरि तीसर तीर उठायो॥

जब यह बाण भी निष्फल होकर लौट आया, तब भगवान ने तीसरा बाण उठाया-

दोहा— सब तन क्षेत्र कहायँ प्रिय क्षेत्रज्ञहि उन माहिं।
सबहिं प्रकासत रबिहिं सम अज्ञहु बूझै याहिं॥ १८॥

और कहा हे प्रिय! सभी शरीर क्षेत्र कहे जाते हैं और उनमें एक ही क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म) सूर्य के समान सभी को प्रकाशित करता है- इसे तो कोई अज्ञानी भी समझ सकता है।

चौपाई— यहु सर आयो लक्ष्य न भेद्यो। पुनि पुनि हरिहिं सरन अति खेद्यो॥
दिब्य चक्र सम तब प्रभु बानहिं। समय पाइ अर्जुन सन तानहिं॥

किन्तु यह बाण भी लक्ष्य का भेदन किये बिना लौट आया और बारम्बार भगवान की शरण में खेद प्रकट करने लगा। तब भगवान ने समय पाकर दिव्य चक्र के समान एक बाण महात्मा अर्जुन की ओर ताना-

छाँड़े सर दमकत अतिधायो। भगत हृदय बिभुतरु प्रगटायो॥
तेहि तरु रग रग एकइ स्वामी। ब्याप्त दीख सोइ अंतरजामी॥

और छोड़ दिया। वह बाण अत्यन्त प्रकाशित होता हुआ बड़े वेग से चला और भक्त अर्जुन के हृदय में ब्रह्मवृक्ष प्रकट कर दिया। उस वृक्ष के रोम-रोम में एक वही अन्तर्यामी भगवान व्याप्त दिखायी पड़े।

तहँ न दीख अंसहु कोउ एको। लेहिं परंतप जाकर टेको॥
अब प्रभु कहहिं परमपद पाई। पुनि जन्मत न बेद अस गाई॥

वहाँ अंश मात्र भी कोई अन्य नहीं दिखायी पड़ा जिसका महात्मा अर्जुन आश्रय लेते। अब भगवान कह रहे हैं कि परम पद को प्राप्त करने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता, और यही वेद भी कहते हैं कि-

तेहि पद महँ कछु दुख नहिं आँसत। रबि ससि अनल न कोउ परकासत॥
अब प्रभु कहनो मरम बतावउँ। संसय सोकहिं सकल ढहावउँ॥

उस परमपद में किसी प्रकार का दु:ख दु:खी नहीं करता, और उसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकते। अब मैं प्रभु के कहे हुए गूढ़ रहस्य को बताकर समस्त संशय एवं शोक का नाश कर रहा हूँ।

दोहा— पार्थ परमपद सुर चहत यासें रबिहिं मनायँ।
दै न सकत तिन्ह याहि पद ते बहु बिधि भरमायँ॥ १९ (क)॥

प्रभु कह रहे हैं कि हे पार्थ! देवता इसी परमपद की अभिलाषा करते हुए सूर्यदेव की उपासना करते हैं, किन्तु वे भी उन्हें इस परमपद को नहीं दे सकते जिससे वे देवता नाना प्रकार से भ्रमित होते रहते हैं।

एहि पद लाने मनुज बहु अनल पूजि करँ यज्ञ।
सोउ भरमावत स्वर्ग दै यासें बन सब अज्ञ॥ १९ (ख)॥

इसी पद की प्राप्ति के लिए बहुत से मनुष्य अग्नि की पूजा करते हुए यज्ञादि [कर्म] किया करते हैं किन्तु वे भी मात्र स्वर्ग देकर भ्रमित कर देते हैं, इसलिए सभी अज्ञानी बने रहते हैं।

असुरहु एहि पद चाह अति एहि काजैं ससि ध्यायँ।
तेउ न यह पद देइ सक सक्ति अल्प पकरायँ॥ १९ (ग)॥

इस परमपद को तो असुरगण भी चाहते हैं और इसके लिए वे चन्द्रमा की आराधना करते हैं, किन्तु वे भी इस पद को नहीं दे सकते अपितु थोड़ी-सी शक्ति पकड़ा देते हैं।

चौपाई— जद्यपि जगत आतमा भानुहु। पर जबलगि तिन्ह ब्रह्म न जानुहु॥
जबलौं सोउ गुरु बनि नहिं आवें। तबलौं कस एहि ज्ञान सुनावें॥

यद्यपि सूर्य भी इस जगत की आत्मा हैं, परन्तु जब तक उन्हें ब्रह्मरूप में न जान लिया जाय तथा वे भी जब तक सद्गुरु बनकर नहीं आ जाते तब तक इस ज्ञान का उपदेश कैसे कर सकते हैं?

श्री हनुमानहु जब रबि ध्याये। प्रथम उन्हहिं सदगुरू बनाये॥
तबहिं दिये यह बर बिज्ञाना। परमधाम पुनि पायँ सुजाना॥

श्रीहनुमानजी ने भी जब भगवान सूर्य की उपासना की तो सर्वप्रथम उन्हें सद्गुरु बनाया और तभी उन्होंने यह श्रेष्ठ ज्ञान दिया, फिर उन परम बुद्धिमान [हनुमानजी] ने परमधाम प्राप्त कर लिया।

अस सुनि नृप संजय सों कहई। कृष्ण मोक्षप्रद का कहि रहई॥
पुनरावर्ती सबुरें लोका। यह कैसो अस लोक बिसोका॥

उधर राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से ऐसा सुनकर [कि परमधाम को प्राप्त कर भक्त पुन: नहीं लौटते] बोले कि सञ्जय! मोक्ष के दाता कृष्ण ये क्या कह रहे हैं! सभी लोक तो आने-जाने वाले हैं, फिर यह शोक से रहित कैसा लोक है [जहाँ से आना नहीं होता]?

तबहिं कहे इत अंतरजामी। सुनु कौन्तेय मोर अनुगामी॥
जीव अहइ मम अंस सनातन। जो जग प्रगटइ रीति पुरातन॥

तभी इधर अन्तर्यामी भगवान बोल पड़े- हे मेरे पथ का अनुगमन करने वाले पार्थ! सुनो, पुरातन नियमानुसार इस जगत में प्रकट होने वाला जीव मेरा ही सनातन अंश है।

दोहा— रबि प्रतिबिम्ब नीर महँ ताकोइ अंस कहाय।
जल निमित्त बिनसात जो रबि महँ जाय न आय॥ २० (क)॥

जैसे जल में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब उसी का अंश कहलाता है जो जलरूपी निमित्त के नष्ट होते ही सूर्य में विलीन हो जाता है; पुन: नहीं प्रकट होता।

ब्रह्म अंस यह जीव तस काया जबहिं नसाय।
परमब्रह्म महँ मिलत सो पुनि कहुँ आय न जाय॥ २० (ख)॥

वैसे ही यह जीवात्मा भी ब्रह्म का ही अंश है। जैसे ही शरीर का नाश होता है, वैसे ही वह परब्रह्म में मिल जाता है फिर न कहीं आता है, न जाता है।

चौपाई— घटाकासहू अंस अकासा। घट फूटत सो तहइँ प्रकासा॥
तस यह देह जबहिं बिनसावे। जीव ब्रह्म महँ पुनि मिलि जावे॥

अथवा जिस प्रकार घटाकाश भी आकाश का ही अंश है, जो घड़े के फूटते ही उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इस शरीर के नष्ट होते ही जीवात्मा भी पुनः ब्रह्म में मिल जाता है।

यहि कहाय ज्ञानी कर लक्षण। जाकी गति अस अहइ बिलक्षण॥
पर जो समुझत मैं तन अहऊँ। ताहि मूढ़ की गति अब कहऊँ॥

हे पार्थ! यही आत्मज्ञानी का लक्षण कहा जाता है, जिसकी गति ऐसी ही विलक्षण है। परन्तु जो समझता है कि 'मैं शरीर हूँ,' अब मैं उस मूर्ख की गति को कह रहा हूँ।

अंत समय त्यागत जब देहा। रहत बच्यो जिन्ह बिषय सनेहा॥
पंच बिषय गहि सो तिन्हि कारन। मन सँग करइ अपर तन धारन॥

प्रयाणकाल के समय जब जीवात्मा शरीर को त्यागता है, तो जिन-जिन विषयों की आसक्ति शेष बची रहती है, उन्हीं के कारण वह मन के साथ-साथ पाँचों विषयों को आकर्षित कर अन्य शरीर को धारण करता है।

तू कह कैसे अस होइ जावे। सुनु जस वायु गंध लइ धावे॥
जदपि सो नहिं कहुँ आवे जावे। अपुनें आप माहिं हिलरावे॥

यदि तुम कहते हो कि ऐसा कैसे हो जायेगा तो सुनो- जैसे वायु गन्ध को [एक स्थान से दूसरे स्थान पर] ले जाती है, यद्यपि वह कहीं आती-जाती नहीं है अपितु अपने-आप में ही हिलोरें लेती रहती है-

दोहा— किंतु पवन बह सब कहत तामेइ गंध समाय।
इत उत जातहिं दीखत सबके अनुभव आय॥ २१॥

किन्तु सभी कहते हैं कि वायु बह रही है; जबकि उसी में गन्ध स्थित होकर इधर-उधर जाती हुई सबके अनुभव में आती है।

चौपाई— लेति सुरति तैसेइ हिलोरें। तेहि महँ इंद्रि बिषय मन जोरें॥
कायहिं त्याग ग्रहन अनुभावें। सपने सम यह ज्ञानिन्ह भावें॥

उसी प्रकार स्मृति भी अपने-आप में हिलोरें लेती रहती है और उसी में मन तथा इन्द्रियों के विषय संघटित होकर शरीर के ग्रहण एवं त्याग का अनुभव करते रहते हैं- यह बात सपने के समान ज्ञानियों के अनुभव में स्पष्ट ही आती है।

सपनो सम आनो अरु जानौ। होय जीव कर तुम्ह सच मानौ॥
सपनेहु महँ ज्ञानेंद्रिय धारी। उन्हकै बिषय भोग सो भारी॥

हे पार्थ! स्वप्न के समान ही जीव का [अन्य शरीरों में] आना-जाना होता है- इसे तुम सच मानो। स्वप्न जगत में भी श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को ग्रहणकर उनके विषयों को वह विशेष रूप से भोगता है।

अस प्रिय तन छोरनवारे कौ। तहिं स्थित भोगनवारे कौ॥
सुख दुख मोह गुणनवारे कौ। अस सब बिधि क्रीड़नवारे कौ॥

इसी प्रकार हे प्रिय! शरीर को छोड़कर जाते हुए को, उसमें स्थित होकर भोगते हुए को एवं सुख-दुःख, मोह आदि गुणों को धारण करने वाले को तथा ऐसे ही सभी प्रकार की क्रीड़ा करने वाले को-

ज्ञानी लखहिं न मूढ़ लखाये। उनकै उर अति मोह भराये॥

ज्ञानीजन ही देख पाते हैं मूढ़ों को यह दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि उनके हृदय में अत्यन्त मोह व्याप्त रहता है।

दोहा— जतन करत कछु जोगिजन अपुनोइ उर अनुभायँ।
यहइ अहउँ मैं आतमा पूर्ब भाव बिसरायँ॥ २२॥

किन्तु कुछ योगीजन यत्न करते हुए अपने हृदय में यह अनुभव कर लेते हैं कि 'यह आत्मा मैं ही हूँ।' उसके उपरान्त पूर्व के समस्त भावों को भुला देते हैं (उदासीन हो जाते हैं)।

चौपाई— लखि अति गूढ़ बिषय यह भाई। महाराज कह कथा सुनाई॥
ऋषिवर पिप्पलाद पहिं जाई। बदे आस्वलायन मुनिराई॥

हे सज्जनो! इस आध्यात्मिक विषय को अत्यन्त गूढ़ समझकर महाराज एक कथा के माध्यम से बता रहा है। मुनि आश्वलायन ने ऋषिवर पिप्पलाद के पास जाकर पूछा-

नाथ प्रान कासों प्रगटावे। याहि देह महँ कैसे आवे॥
स्वयं पृथक करि एहि तन कैसे। स्थित होय कहउ प्रभु जैसे॥

हे प्रभो! प्राण किससे प्रकट होता है, इस शरीर में कैसे आता है और इस शरीर में स्वयं से अपने को पृथक्-पृथक् करके कैसे वास करता है, आप कहें?

गहत काहि बिधि बाह्यजगतहीं। अरु अन्तः इन्द्रियँ मन मतिहीं॥
बोले पिप्पलाद हरषाई। प्राण ब्रह्म सों सच प्रगटाई॥

यह बाह्य जगत को और मन-बुद्धि आदि अन्तः इन्द्रियों को कैसे धारण करता है? तब पिप्पलाद ऋषि ने प्रसन्नता के साथ कहा- हे मुनिवर! यथार्थ में यह प्राण ब्रह्म से प्रकट होता है।

जिमि जबलौं तन पुरुष लखावे। तबलौं तन छाया दिखरावे॥
तिमि यह बिभु के आश्रित रहई। मन संकल्प सों एहि तन गहई॥

जैसे जबतक शरीर में पुरुष दिखाई पड़ता है तभी तक शरीर की छाया दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार यह ब्रह्म के ही आश्रित रहता है और मन के संकल्प से यह शरीर धारण करता है।

दोहा— जस अधिकारिन्ह नृपति कोउ टेरि कहत अब जाहु।
तुम्ह एहि गाँव बसहु अरु तुम्ह एहि गाँव बसाहु॥ २३ (क)॥

जैसे राजा कर्मचारियों को बुलाकर कहता है- जाओ! तुम इस गाँव में जाओ और तुम उस गाँव में जाओ।

तैसेइ प्रान प्रधान यह दुसरैं प्रानन्हि टेरि।
थापत पृथक पृथक करि जो जस अंगनि हेरि॥ २३ (ख)॥

वैसे ही यह मुख्य प्राण अन्य प्राणों को, जो जिस अंग में रहने योग्य होता है, वहाँ पृथक्-पृथक् करके स्थापित कर देता है-

चौपाई— बिचरि स्वयं मुख नासा माहीं। स्थित रहइ श्रवन दृग पाहीं॥
गुदा उपस्थ अपानहिं धारत। मल मूत्रहिं अरु गरभ निकारत॥

तथा स्वयं मुख और नासिका में विचरण करते हुए आँख, कान में भी रहता है। अपान वायु गुदा और उपस्थ में स्थित रहते हुए मल-मूत्र और गर्भ को निकालता रहता है।

नाभी माहिं समानहिं लावे। जो अन रस सब अँग पहुँचावे॥
जीव हृदय महँ बसत सदाई। जहँ सत नाड़िन्ह कर समुदाई॥

नाभि में समानवायु को स्थिर करता है जो अन्न के रस को सम्पूर्ण अंगों में पहुँचाता है। जीव सदा ही हृदय में वास करता है, जहाँ सौ नाड़ियों का समूह है।

तिन्ह इक इक महँ सत सत साखा। उन महँ अपर अहइँ प्रतिसाखा॥
संत कहहिं संख्या तिन्ह केरी। सतक बहत्तर लक्षहिं हेरी॥

उन [नाड़ियों] के अन्तर्गत एक एक नाड़ियों में सौ-सौ शाखाएँ हैं। उनमें भी अन्य प्रतिशाखाएँ हैं, उनकी संख्या सन्तों ने बहत्तर करोड़ गिनती करके बतायी है।

अस तन नाड़ि करोड़ बहत्तर। इनि महँ ब्यानवायु बिचरन कर॥
नाड़ी अपर सुषुम्ना इनिसों। उर्ध्व गमति जो सहज अहिनि सों॥

इस प्रकार शरीर में बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं इन्हीं सबों में व्यानवायु बिचरण करता रहता है तथा इन सभी नाड़ियों से पृथक् एक दूसरी नाड़ी है जिसे सुषुम्णा कहा जाता है जो सदा ही सर्पिणी की तरह ऊपर की ओर गमन करती रहती है।

नित बिचरत तेहि माहिं उदाना। जेहि निरखहिं इक संत सुजाना॥

उसी में सदा उदानवायु विचरण करता रहता है जिसका अनुभव एकमात्र अनुभवी सन्त ही करते हैं।

दोहा— सो पुरुषहिं तिहिं पुन्य सों स्वर्गलोक लै जाय।
अघ सों नरकहिं दोउ सों मनुजलोक पहुँचाय॥ २४॥

वह उदानवायु पुरुष को उसके पुण्य के बल से स्वर्गलोक ले जाता है, पाप से नरकलोक ले जाता है तथा पाप-पुण्य दोनों से मृत्युलोक में पहुँचाता है अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म दिलाता है।

चौपाई— सुनहु आस्वलायन सुचि संता। बाह्य प्रान कह रबिहिं अनंता॥
प्रगटि जगत पोषत सब गाता। दृगन्हि दृष्टि हित सक्ति प्रदाता॥

हे श्रेष्ठ आश्वलायन मुनि! आप सुने, इस सूर्य देव को सूक्ष्मदर्शी सन्त बाह्य प्राण कहते हैं जो प्रकट होकर जगत के समस्त भूत-प्राणियों के शरीर का पोषण करता है और नेत्रों से देखने के लिए शक्ति प्रदान करता है।

जोइ अपान देव महि माहीं। नर अपान थिर सोइ कराहीं॥
महि अरु स्वर्ग मध्य नभ जोई। सुनहु समान वायु मुनि सोई॥

जो अपान नामक देवता पृथ्वी में रहता है वह मनुष्य के अपानवायु को स्थिर किये रहता है। हे मुनिवर! जो पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य आकाश है, वही समानवायु है।

नभ बिचरत जो वायु लखावै। बाह्य ब्यान सोई कहलावै॥
देह बाह्य अंगन्ह कहँ यहई। चेष्टासील करत मुनि कहई॥

जो वायु आकाश में विचरण करता है वह बाह्य व्यान कहलाता है, जो शरीर के बाहरी अंगों को चेष्टाशील करता है- ऐसा अन्य मुनिजन भी कहते हैं।

अंतर ब्यान नाड़ि महँ रहई। इन्हहिं सोइ संचालित करई॥
मानहु यहु ऐसो एक जोगी। त्वग स्पर्स ज्ञान सहयोगी॥

वही अन्तः नाड़ियों में रहते हुए भीतरी व्यानवायु को संचालित करता है। मानो यह भी एक योगी ही है जो त्वचा को स्पर्श का ज्ञान कराने में सहयोगी है।

बाह्य ऊष्णता रबि पावक कर। बाह्य उदान सोइ सच मुनिवर॥
यह न बाह्य अंगन्हि सितलावे। तन अंतर उष्माहु थिरावे॥

हे मुनिवर! जो सूर्य एवं अग्नि की बाह्य उष्णता है, वही यथार्थतः बाह्य उदान है। यह बाहरी अंगों को ठंढा नहीं होने देता तथा शरीर के भीतर भी गर्मी को स्थिर किये रहता है।

निकरत तन सों जबहिं उदाना। सीतल होत देह सब जाना॥
ता छन जीव इंद्रिं मन लेवे। संग उदान अपर तन सेवे॥

जैसे ही शरीर से उदानवायु निकल जाता है तो सारा शरीर ठंडा हो जाता है, ऐसा सभी जानते हैं। उस समय जीव इन्द्रियों सहित मन को लेकर उदानवायु के साथ दूसरे शरीर में स्थित हो जाता है।

दोहा— जीव जोइ संकल्प गहि छोरत एहि तन भाइ।
तेहि सँग मुख्य प्राण महँ सच स्थित होइ जाइ॥ २५ (क)॥

जीव जिस संकल्प के साथ इस शरीर को त्यागता है वास्तव में उसी के साथ मुख्य प्राण में स्थित हो जाता है।

सोऊ प्रान उदान सँग अपर लोक महँ जाय।
तिहिं जीवहिं संकल्प सों तस तहँ योनि दिलाय॥ २५ (ख)॥

वह प्राण भी उदान वायु के साथ दूसरे लोक में चला जाता है। पुनः जीव को उसके संकल्पानुसार वहाँ वैसी ही योनि दिला देता है।

सुनहु आस्वलायन बहुरि जो यह जानइ मर्म।
सो पावइ सच ब्रह्मपद तेहि न बाँध कोउ कर्म॥ २५ (ग)॥

हे मुनिवर आश्वलायन! पुनः सुनें कि जो इस रहस्य को जानता है, वह यथार्थ में ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है। उसे कोई भी कर्म बाँध नहीं सकते।

चौपाई— ऐसोइ सौर्यायणि मुनि पद गहिं। पुछे मुदित मन पिप्पलाद पहिं।
कौन देव सोवहिं तन माहीं। कौन कौन जागहिं प्रभु याहीं॥

लगभग ऐसा ही प्रश्न सौर्यायणी मुनि ने भी ऋषिवर पिप्पलाद को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक पूछा- हे प्रभो! इस शरीर में कौन-कौन देवता सोते हैं और कौन-कौन देवता इसमें जागते हैं?

देखत सपन कवन सुर नाथा। लेत नींद सुख कौन सनाथा॥
केहिके आश्रित ये सब देवा। याहि बताइ देहु पद सेवा॥

हे स्वामी! स्वप्न कौन देवता देखता है और कौन सौभाग्यशाली देवता नींद लेता है? ये समस्त देवगण किसके आश्रित हैं- इन प्रश्नों का उत्तर देकर अपनी शरणागति दें।

पिप्पलाद ऋषि अति हरषाई। कहत ध्यान दै सुनु मुनिराई॥
जस रबि रस्मि ताहि महँ जाई। उदित समय आवतिं प्रगटाई॥

तब ऋषिवर पिप्पलाद ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा- हे मुनिवर! ध्यान देकर सुनें, जिस प्रकार सूर्य की किरणें उसी में विलीन हो जाती हैं और उदयकाल में पुनः प्रकट हो जाती हैं-

तस अति गाढ़ नींद महँ भाई। सब इंद्रियँ मन माहिं समाई॥
सो मन जीव माहिं मिलि जावे। तब सोवत सो जीव कहावे॥

उसी प्रकार हे प्रिय! प्रगाढ़ निद्रा में समस्त इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं तथा वह मन भी जीवात्मा में विलीन हो जाता है, तब वह जीव सो रहा है ऐसा कहा जाता है-

दोहा— सौर्यायणि एहि देह महँ जागत पाँचइ प्राण।
देखत सपनहिं कौन सुर अब सुनि पावहु त्राण॥ २६॥

और हे मुनि सौर्यायणि! इस शरीर में पाँचों प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) जागते रहते हैं। अब कौन-कौन देवता स्वप्न देखता है यह सुनकर शान्ति प्राप्त करें।

चौपाई— सपने जीव नाम रूपहु बनि। मन इंद्रिन्ह सों देख अपर गुनि॥
जाग्रत महँ जो देखइ सुनई। जो जो करइ जोइ जोइ गुनई॥

यह [हृदय में रहने वाला] जीव स्वप्न में नाना प्रकार के रूप एवं नाम वाला होकर इन्द्रियों और मन के द्वारा जाग्रत् अवस्था में जो जो देखता-सुनता है, जो जो कर्म करता है और जो जो अनुभव करता है, वह अपने को ही दूसरा समझकर करता है।

सोइ बनि बहुरि बहुरि सपुने महँ। लखि सुनि अनुभावे अपुने महँ॥
देखत इनसों दृस्य अन्यहू। निज बिभूति लखि गुनत धन्यहू॥

पुनः पुनः स्वप्न में स्वयं वही बनकर अर्थात् सारे नाम रूपों को धारण कर तथा देख-सुनकर अपने आप में अनुभव करता रहता है। इतना ही नहीं अपितु इनसे कुछ अन्य भी देखता है अतः अपनी ही विभूति समझकर अपने को धन्य समझता रहता है।

लेत नींद सुख को तन गेहा। हे सुबिज्ञ उत्तर सुनु एहा॥
जबहिं उदान मनहिं गहि धावे। जीव हृदय गृह पहिं पहुँचावे॥

हे विद्वान्! इस शरीररूपी गृह में नींद का सुख कौन लेता है अब इसका उत्तर सुनें- जब उदान वायु मन को पकड़कर जीव के हृदय रूपी गृह में पहुँचा देता है-

जीव लखत नहिं तब कोउ सपुनहिं। निद्रा सुख सोइ पावत अपुनहिं॥
जेहिके आश्रित सब सुर अहहीं। ब्रह्म अहहि सो बेदहु कहहीं॥

तब जीव किसी स्वप्न को नहीं देखता अत: अपने-आप से वह नींद का सुख प्राप्त करता है। हे मुनिवर! सभी देवता जिसके आश्रित रहते हैं, वह ब्रह्म ही है, ऐसा वेद भी कहते हैं।

छन्द— जिमि सब बिहगु निज सदन तरु पर बसत साँझ बिलोकि मुनि।
तिमि भूत पाँचइ सहित मात्रा इंद्रिं दस तिन्ह बिषय पुनि॥
अन्त:करण चारिहु विषय सँग पंच प्रानहु देव अरु।
तिन्हसों किये धारण सबै तन ब्रह्म आश्रित हृदय धरु॥

हे मुने! जैसे समस्त पक्षी अपने गृह वृक्ष पर संध्या को चले जाते हैं उसी प्रकार पंच महाभूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के साथ दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ, चारों अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) अपने विषय के साथ एवं साथ में पाँचों प्राण देवता (प्राण, अपान आदि) और उनसे धारण किया हुआ सम्पूर्ण शरीर ब्रह्म के ही आश्रित रहता है, ऐसा आप अपने हृदय में स्वीकार करें।

यह जीवहू जो खात सोवत लखत परसत करत जू।
अरु करत मन सों मनन मति सों गुनत जब जहँ चरत जू॥
सोउ परम अक्षर नित अनासिन माहिं अतिहिं प्रतिष्ठितम्।
जानत जो नर अस पाइ प्रभुहिं सो होय सब रुप निस्चितम्॥

इतना ही नहीं, यह जीव भी जो खाता, पीता, सोता, स्पर्श करता हुआ एवं कर्म करता हुआ तथा मन से मनन एवं बुद्धि से चिन्तन करता हुआ दिखाई पड़ता है वह भी नित्य नाशरहित परम अक्षर परमात्मा में अच्छी प्रकार प्रतिष्ठित है। ऐसा जो पुरुष जान लेता है, वह ब्रह्म को प्राप्तकर निश्चित ही सर्वरूप हो जाता है-

सोरठा— होइ सो मुनि सर्बज्ञ प्रबिसत ब्यापक ब्रह्म महँ।
मैं अति भयउँ कृतज्ञ सौर्यायणि तुव प्रस्न सों॥ २७॥

और वह मुनि सर्वज्ञ होकर व्यापक ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। हे सौर्यायणि! आपके ऐसे प्रश्न पूछने से मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

नवाह्नपारायण, आठवाँ विश्राम

चौपाई— जिननैं यम नियमादि लिये नहिं। तन मन मतिहिं पबित्र किये नहिं॥
जो अति असुभ आचरन वारे। अभिमानी गर्वित अति भारे॥

किन्तु जिन्होंने यम, नियम आदि को धारण करके तन, मन, बुद्धि को पवित्र ही नहीं किया है तथा जो अत्यन्त अपवित्र आचरण वाले हैं वे अहंकारी होकर अत्यन्त गर्व में भरे रहते हैं,

बेद प्रमानन्ह सों बरु ध्यावें। तउ ते आतम नहिं लखि पावें॥
तोहिं लखायों तू तप धारी। निद्राजयी जितेंद्रिय भारी॥

वे भले ही वेद-प्रमाणों के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करें, तो भी आत्मा को नहीं देख पाते। तुम महत् तपस्वी, परम जितेन्द्रिय और निद्रा विजयी हो, अत: इस आत्मा को तुम्हें दिखाया है।

अब पुनि आवत संत समाजा। सत रहस्य यह कह महराजा॥
प्रभु इहँ उर प्रसन्न अरु खेदा। ब्यक्त करहिं निरखहु जो भेदा॥

महाराज अब पुन: सन्त-समाज में आकर इस यथार्थ रहस्य को बता रहा है- यहाँ भगवान नारायण अपने हृदय की प्रसन्नता और खेद दोनों व्यक्त कर रहे हैं जिसका भेद आप सब भी देखें-

जब निज अंस जीव कह साईं। तब प्रसन्न होवें गुरु नाईं॥
किंतु कहत जब भरमत लोका। हृदय माँहिं होवहिं बहु सोका॥

भगवान नारायण जब जीव को अपना अंश कहते हैं, तब वे सद्गुरु के समान अति प्रसन्न हो जाते हैं; किन्तु जब कहते हैं कि वह विभिन्न लोकों में भटकता रहता है, तब हृदय में अत्यन्त खिन्न हो जाते हैं।

दोहा— जीवलोक कहि प्रभु करहिं अपर लोक संकेत।
इमि दिखरावहिं हम सबहिं जासे होवे चेत॥ २८॥

यहाँ मेरे भगवान जीवलोक कहकर अन्य लोकों की ओर संकेत करते हुए हमलोगों को दिखा रहे हैं जिससे कि हम सजग हो जायँ [अर्थात् अन्य लोक में कोई विशेषता नहीं है]।

चौपाई— प्रभु जब कह जिवलोकहि भाई। मेरोइ अंस जीव तहँ जाई॥
भोगत बिषय मूढ़ता धारी। तौ सब सारहिं कहे अघारी॥

[इतना ही नहीं] जब भगवान यहाँ ऐसा कह रहे हैं कि जीवलोक में मेरा ही अंश जीव रूप में यत्र तत्र जाकर मूर्खता को धारण कर विषयों को भोगता है, तो पापनाशक प्रभु ने समस्त सार तत्त्व को प्रकट कर दिया है।

सच तो बात जहाँ सो जावे। जीवलोक सोइ देह कहावे॥
याहि नीति सों तौ हे भ्राता। त्रिजगजोनि अरु अमरहु गाता॥

सच बात तो यह है कि वह जहाँ भी जाता है, वह शरीर ही जीवलोक कहलाता है, अत: इस नीति से तो हे प्रिय मित्रो! त्रियग्योनियों (पशु, पक्षी एवं कीट आदि) और देवताओं तक के शरीर-

ये सब सच कहायँ जिवलोका। कारन कोउ नहिं पूर्ण असोका॥
छुद्रलोक सों ब्रह्मलोक लगि। आवत जात जीव सब भगि भगि॥

ये सभी यथार्थ में जीवलोक ही कहे जायेंगे क्योंकि कोई भी पूर्णत: शोकरहित नहीं है। क्षुद्रलोकों (अधम शरीरों) से लेकर ब्रह्मलोक तक सभी जीव भाग-भागकर आते-जाते रहते हैं।

नाहिं देत कोउ प्रभु मुकुताई। पुनरावर्ती वारें भाई॥

किन्तु वे कोई भी शरीर, भगवान या मोक्ष की प्राप्ति नहीं कराते क्योंकि वे पुनरावर्ती (आने-जाने के) स्वभाव वाले हैं।

दोहा— पर बैकुंठलोक इक जो गुरुलोक कहाय।
जेहि महँ बसि सो जीव सच मुक्त होइ नहिं आय॥ २९॥

परन्तु बैकुण्ठलोक एक ऐसा लोक है जो गुरुलोक भी कहा जाता है; जिसमें वास करके वह जीवात्मा यथार्थ में मुक्त होकर पुनरावर्ती गति को प्राप्त नहीं होता।

चौपाई— संतलोक सोई कहलावे। ज्ञानलोक महँ सिष्य बिठावे॥
दै सतसंगहि सोक मिटावे। आत्मज्ञान दै मुक्त करावे॥

वही सन्तलोक भी कहलाता है, जो आत्मजिज्ञासु को सर्वप्रथम ज्ञानलोक में प्रतिष्ठित कर सत्संग दे शोकादि का समूल नाश कर देता है और आत्मज्ञान देकर मुक्त कर देता है।

पावत जाहि अतिहिं सौभागी। जो गुरु पद सरोज अनुरागी॥
सिद्धलोक तहँ साधक तेई। आतम जिज्ञासा उर जेई॥

जिसे सद्गुरु के कमलवत् चरणों में अत्यन्त अनुराग रखने वाले अति सौभाग्यशाली ही प्राप्त करते हैं। वहाँ वे ही साधक सिद्धलोक हैं जिनके हृदय में आत्मजिज्ञासा रहती है।

बानप्रस्थ लोकहु सोइ साधक। जो तहँ तप सों तेहि अवराधक॥
अहइ जो बटु गुरु पहिं स्वाध्याई। ब्रह्मचर्य लोकहुँ सोइ भाई॥

वहाँ (सद्गुरु के पास) वही साधक वानप्रस्थलोक है जो तप के माध्यम से उनकी आराधना कर रहा है; तथा हे प्रिय! जो ब्रह्मचारी सद्गुरु के पास वेद-शास्त्रों के स्वाध्याय में ही संलग्न है, वही ब्रह्मचर्यलोक है।

सिद्धलोक सोइ सदन बखाना। जहँ बिदेह सम बसत सुजाना॥
जागबलिक सम गुरु जहँ जाई। ब्रह्मज्ञान दै देत बड़ाई॥

सिद्धलोक तो वही घर कहा गया है जिसमें विदेहराज जनक जैसा ज्ञानवान पुरुष वास कर रहा हो; जहाँ याज्ञवल्क्य जैसा सद्गुरु जाकर ब्रह्मज्ञान दे उन्हें [जगत में] बड़ाई देता है।

दोहा— सोइ सिवलोक सदन इहाँ जहँ नित सम्भुहिं ध्यायँ।
श्रेष्ठ बिप्र उपमन्यु सम जो अभीष्ट बर पायँ॥ ३०॥

वही भवन यहाँ शिवलोक है, जहाँ नित्य भगवान शंकर की आराधना होती रहती है और भक्तजन श्रेष्ठ ब्राह्मण भक्त उपमन्यु की भाँति [भगवान शंकर से] मनोवांछित वरदान प्राप्त करते हैं।

चौपाई— बिष्णुलोक सोइ गृह इहँ भावें। अम्बरीष सम जहँ नर ध्यावें॥
इंद्रलोक सोइ सदन कहावे। जहँ ययाति सम यज्ञ करावे॥

यहाँ (भारतवर्ष में) विष्णुलोक के रूप में वही भवन सुशोभित होता है, जहाँ लोग भक्त अम्बरीष के समान [भगवान विष्णु का] ध्यान करते हैं। उसी प्रकार हृदय में आ रहा है कि वही घर इन्द्रलोक है जहाँ सभी राजा ययाति के समान नित्य देवयज्ञ करते रहते हैं।

जाकर फल सुरलोकहिं पावहिं। नसत पुन्य सिर धुनि पुनि आवहिं॥
बिषय हेतु जहँ नाचत गावत। सोइ गंधर्बलोक गृह भावत॥

जिसके फलस्वरूप हर्षित होकर देवलोक जाते हैं और पुण्य नष्ट होने पर पुनः लौटते समय माथा पीटते हैं (पश्चात्ताप करते हैं)। उसी प्रकार जहाँ विषय के निमित्त ही नाचते-गाते रहते हैं, वही घर गन्धर्वलोक के समान सुशोभित होता है।

धन अपार तेहि कहँ बस रक्षत। ईष्ट पूजि जे ता कहँ इक्षत॥
सोइ गृह यक्ष लोक कहलावे। रावण सम कोउ जिन्हहिं भगावे॥

जो कोई [अपने पास स्थित] अपार धन की ही रक्षा करते रहते हैं और इष्ट का पूजन कर उसी की (धन की) कामना करते हैं, वही घर यक्षलोक कहा जाता है जिन्हें रावण के समान कोई भगाकर-

गृह सम्पति सब लेइ हँकारे। भागत नहिं तब बहु बिधि मारे॥
राक्षस गृह तौ तेहि कहुँ सोधी। दसकंधर सम धर्म बिरोधी॥

दहाड़ते हुए घर तथा उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण कर लेता है और जब वे नहीं भागते हैं तब अनेक प्रकार से पिटाई भी करता है। शोधपूर्वक मैं राक्षसों का गृह तो उसी को कहता हूँ, जहाँ सभी दशग्रीव रावण की तरह धर्मविरोधी हैं।

दोहा— भूत प्रेत कर लोक तेइ जेहि गृह तिन्हिं सब ध्यायँ।
देह त्यागि सोइ बनत पुनि कबहुँ न सदगति पायँ॥ ३१॥

भूत-प्रेतों के वे लोक हैं जिसमें नित्य सभी उन्हीं का ध्यान करने वाले हैं तथा पुनः वे भी देहपात (मृत्यु) के अनन्तर वही बन जाते हैं और कभी भी सद्गति को प्राप्त नहीं होते।

चौपाई— मुसक खाइ जिमि तेहि गृह माहीं। ब्याल बसत सोचत कछु नाहीं॥
नागलोक तस सो नर भाई। मारि स्वामि गृह आप बसाई॥

जैसे चूहे को खाकर सर्प उसी के घर में वास करता है और वहाँ कुछ अन्य विचार नहीं करता, उसी प्रकार हे प्रिय! वही मनुष्य नागलोक है जो गृहस्वामी का वध कर उसमें स्वयं वास कर जाता है।

कहत बात एक मैं संकोचउँ। नहिं यदि कहउँ हानि तव सोचउँ॥
समुझि आपुनो यासें कहऊँ। उर कर अहंकार इमि दहऊँ॥

एक बात कहने में मैं संकोच कर रहा हूँ, और यदि नहीं कहता हूँ तो आपकी हानि देख रहा हूँ; अतः अपना समझकर कह देता हूँ, क्योंकि आपके अहंकार को मैं इसी प्रकार जला पाऊँगा।

बुरौ न मानौ तौ अहिलोका। अहउ तुम्हहि जासों उर सोका॥
नर तन नहिं यह प्रभु तन भाई। जहँ भोगहु भोगन्हि अधिकाई॥

अत: आप बुरा न माने तो वह नागलोक आप ही हैं जिससे आपके हृदय में शोक-सन्ताप है। हे मित्रो! यह मनुष्य का शरीर नहीं अपितु भगवान का शरीर है, जिसमें आप मनमाने बहुत-से भोगों को भोगते रहते हैं।

प्रभुहिं मारि तिन्हकर गृह डेरा। डारि कहहु यह मोर बसेरा॥
सो न मर्‌यो पर तुम्हहि मराये। अस करि कौन बस्तु भलि पाये॥

और भगवान को मारकर (भुलाकर) उन्हीं के इस शरीररूपी घर में डेरा डालकर कहते हैं कि यह मेरा वासस्थान है; पर वह तो ज्यों का त्यों रहा किन्तु आपही मर गये। ऐसा करके आपने किस प्रिय वस्तु को प्राप्त कर लिया!

दोहा— जननि जनक जहँ स्वार्थ बस पूजत हरि नहिं ध्यायँ।
सोइ गृह पितरलोक जग मुनिजन सों कहलायँ॥ ३२॥

जहाँ माता-पिता स्वार्थ के वशीभूत होकर भगवान की उपासना करते हैं, निष्कामभाव से नहीं करते, वही घर मुनिजनों के द्वारा पितरलोक कहा जाता है।

चौपाई— सोइ गृह कहुँ पसुलोक बिचारी। तिन्ह सम खायँ पियें अनुहारी॥
परबस रहत न हरिहिं पुकारें। उनहु कहउँ सच सोउ महि भारें॥

मैं उसी घर को विचार कर पशुलोक कहता हूँ जो उन्हीं के समान खाते, पीते और व्यवहार करते हैं तथा दूसरों के वशीभूत हो भगवान की गुहार नहीं लगाते। उनके सन्दर्भ में तो मैं कहता हूँ कि वे यथार्थ में पृथ्वी पर भार स्वरूप ही हैं।

पक्षिलोक सम इहँ गृह भाई। आज इहाँ कल अनत पराई॥
वैसेइ खाय पियें अरु जीयें। सपनेहु जिन्हके प्रभु नहिं हीयें॥

हे मित्रो! यहाँ पक्षीलोक के समान भी घर हैं- जो आज यहाँ और कल वहाँ भागते रहते हैं तथा उसी प्रकार खाते-पीते जीवन व्यतीत करते हैं एवं स्वप्न में भी जिनके हृदय में भगवान के लिए समय नहीं है।

तेइ नर कृमी लोक सम अहहीं। बिषय करम अति घन तम गहहीं॥
घुन समान ते जहँ उपजावें। वाकोइ तन मन धन सब खावें॥

तथा वे ही मनुष्य यहाँ कृमि (कीट-पतंग) लोक के समान हैं जिनके विषय और कर्म अत्यन्त निकृष्ट और अज्ञान से परिपूर्ण हैं। वे घुन के समान जहाँ जन्म लेते हैं, उसी का तन, मन, धन- सर्वस्व खा जाते हैं।

पितरलोक पुनि देखउ भाषउँ। गुप्तलोक कोउ इहँ नहिं राखउँ॥
कोउ लोभी सुत कहत लखाये। भाग्यवान मम माँ पितु आये॥

अब मैं पितरलोक को पुन: बता रहा हूँ, आप ध्यान दें! मैं यहाँ कोई भी लोक छिपाकर नहीं रखूँगा। कोई लोभी पुत्र यह कहते हुए देखा जाता है कि मेरे माँ-पिता अत्यन्त भाग्यवान प्रकट हुए हैं,

दोहा— इन्हके नाम सों करउँ जो काम कोउ भल होय।
प्रकृति न बाधा डारति नहिं बिगारि सक कोय॥ ३३॥

क्योंकि मैं इनके नाम से जब कोई काम करता हूँ तो वह अच्छा ही हो जाता है, उसमें प्रकृति भी बाधा नहीं डालती और न कोई अन्य ही कुछ बिगाड़ पाता है।

चौपाई— तिय के नाम आपुनें चाँयें। करउँ कोउ सुभ होवतु बायें॥
अस उर लखि पूजत बहु भाँती। अति स्वारथ महँ तिन्ह मति माँती॥

मैं स्त्री या अपने नाम से कोई भी शुभ कर्म करता हूँ तो उलटा ही हो जाता है- ऐसा हृदय में विश्वास करके भलीभाँति उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि अत्यन्त स्वार्थ के वशीभूत रहती है।

अस हरि भूलहिं तिन्हहुँ भुलावें। पितरलोक तेई कहलावें॥
सबसों कह हरि का करि लेई। बिनु निज कर्म स्वर्ग का देई॥

इस प्रकार वे स्वयं तो भगवान को भूल ही जाते हैं, उन्हें (माता-पिता को) भी भुलावे में डाल देते हैं; अत: वे ही पितरलोक कहे जाते हैं। वे सभी से कहते हैं कि भगवान क्या करेगा, क्या वह हमारे कर्मों के बिना स्वर्ग दे देगा?

निज माँ पितु भगवान हि मानउँ। इनकै बिनु प्रभु कोउ न जानउँ॥
सुत के बचन सुनत पितु मातहु। होत मुदित चित अतिहिं अघातहु॥

मैं तो अपने माता-पिता को ही भगवान मानता हूँ, इनके अतिरिक्त किसी को भगवान नहीं जानता। वे माता-पिता भी पुत्र के इन वचनों को सुनकर हृदय से प्रसन्न होकर अत्यन्त तृप्त हो जाते हैं-

कह को देख्यो हरि जग भाई। हमरें तो बस पूत सहाई॥
एहि बिधि ते सुत पितु अरु माता। इक दूजे कर अहहिं बिधाता॥

और कहते हैं कि हे प्रिय! इस जगत में भगवान को किसने देखा है? हमारी रक्षा तो बस पुत्र ही करने वाला है। इस प्रकार वे पुत्र और माता-पिता एक-दूसरे के लिए भगवान (भाग्य विधाता) हैं।

दोहा— आवति हँसि महराज उर अस सुत माँ पितु देखि।
टिट्टिभ सम नभ चरन करि मेटन चह प्रभु रेखि॥ ३४॥

ऐसे माता-पिता और पुत्रों को देखकर महाराज को हँसी आती है; टिटिहरी (टिट्टिभ) के समान वे आकाश की ओर चरण करके मानो भगवान की मर्यादा को लाँघ जायेंगे।

चौपाई— अस गुनि बनहु न जीवलोक के। अहइ लोक सोउ मोह सोक के॥
सत्यलोक अबहूँ अवराधउ। सदगुरु कहे रूप निज साधउ॥

ऐसा समझकर आप जीवलोक के वासी न बनें, क्योंकि वह भी मोह एवं शोक का ही लोक है; अत: अब भी सत्यलोक की आराधना करें और सद्गुरु के कथनानुसार अपने स्वरूप को प्राप्त कर लें।

कछुक पूर्ब भाषे भगवाना। हैगो यह जग बिटप समाना॥
यासे एहुकर मन मति प्राना। अहइ ब्रह्म इक बेद बखाना॥

कुछ ही समय पूर्व भगवान ने कहा था कि यह जगत एक वृक्ष के समान है, इसलिए इसका भी मन, मति (स्मृति) एवं प्राण सब कुछ एक मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा वेद कहता है।

अस बताइ पुनि चहत बतावन। गुडाकेस सँग भक्तन्हि पावन॥
भाव अन्यथा काहू के प्रति। आय न होवे जासों दुर्गति॥

ऐसा कहकर वे पुन: यह बताना चाहते हैं कि निद्राविजयी अर्जुन के साथ-साथ मेरे पावन भक्तों के मन में किसी के भी प्रति अन्यथा भाव न आ जाय जिससे उनकी दुर्गति हो।

भलो बुरो मुनि भगतहु मानहिं। तीनि गुनन्ह बस अस उर आनहिं॥
जासों निज उपकार लखाये। तेहि दैं बर उर अति हरषाये॥

देखा जाय तो सिद्धों और भक्तों को भी तीनों गुणों के कारण भला और बुरा लग जाता है। जिससे अपना उपकार होता दिखायी पड़ता है, उसे वे हृदय से प्रसन्न होकर वरदान दे देते हैं-

होत लखहिं जासे अपकारा। बिसरि जगत द्रुम सापत भारा॥

और जिससे अपना अपकार होता देखते हैं तो जगतरूपी वृक्ष को भूलकर [कि यह भी इसी का अंग है,] उसे घोर शाप दे बैठते हैं।

दोहा— करहु न साधन मध्य अस जबलौं ब्रह्म न पाय।
नहिं मानहु तुम्ह अपुन पर ब्रह्मसक्ति बिनु आय॥ ३५॥

अत: साधना के बीच में ऐसा न करें और जब तक ब्रह्मप्राप्ति न हो जाय तथा ब्रह्मशक्ति न आ जाय तब तक अपना और पराया न मानें।

चौपाई— पार्थ तेज जो प्रगट लखाहीं। रबि ससि पावकहू महँ आहीं॥
चेतनता सो उन्हकी नाहीं। जानहु तुम्ह सच मेरो आहीं॥

[भगवान पुनः कह रहे हैं-] हे पार्थ! जो तेज (चेतना) सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में स्थित है तथा प्रत्यक्ष दीख भी रहा है, वह चेतना उनकी नहीं है, उसे तू यथार्थ में मेरी ही जान।

उनकोइ नाम लियों मैं यासे। तिन्हमेइँ चेतनता बहु भासे॥
उतनोइ काष्ठ भीति महँ रहऊँ। पर स्पष्ट देखि नहिं परऊँ॥

मैंने उन्हीं का नाम इसलिए लिया क्योंकि उनमें मेरा चैतन्य विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है; जबकि मैं लकड़ी और दीवार में भी उतना ही हूँ, किन्तु उनमें मेरा चैतन्य स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता।

कोउ जब दर्पन सन्मुख आवत। तबहीं साँचो रूप लखावत॥
तस रज तमस पदारथ माहीं। दुरि चेतनता मन न लखाहीं॥

जब कोई दर्पण के सामने आता है, तभी अपने यथार्थ रूप को देख पाता है, उसी प्रकार तामस एवं राजस पदार्थों में चेतनता तो है किन्तु विशेष रूप से प्रकट नहीं रहती जिससे मन उसे देख सके।

जस तव मन बिसेष सरनागत। भयो सबन्हि उर सच अस लागत॥
तासों भयों प्रगट तुव पाहीं। जदपि अहउँ सबके हिय माहीं॥

जैसे तुम्हारा मन मेरे प्रति विशेष शरणागत हो गया है, ऐसा सभी को हृदय में सत्य लग रहा है। इसी कारण तुम्हारे पास ही प्रकट हुआ हूँ, जबकि मैं सभी के हृदय में विद्यमान हूँ।

दोहा— अहइ अनल इक काष्ठ महँ प्रगट अपर दोउ एक।
दोउन्ह चेतनता अहउँ लखहिं जे बिमल बिबेक॥ ३६॥

एक अग्नि लकड़ी में छिपी हुई है और एक प्रकट है, दोनों एक ही हैं और मैं ही उनकी चेतनता हूँ जो निर्मल विवेक से सम्पन्न हैं, वे ही ऐसा देख पाते हैं।

चौपाई— धरा प्रबिसि निज बल सों धारउँ। सब भूतन्ह जीवन अति सारउँ॥
अस ऐस्वर्य सक्ति मम भाई। महि टिकि रहइ न सेष समाई॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति-सामर्थ्य से इसे धारणकर समस्त भूतों के जीवन की भलीभाँति रक्षा करता हूँ। हे प्रिय! मेरे ऐसे ऐश्वर्य एवं शक्ति के कारण पृथ्वी टिकी हुई है, रिक्त स्थान में नहीं गिरती।

तुम्ह जानहु न सोम ससि बरषत। अज्ञ जानि जस हिय महँ हरषत॥
सोम रूप सच मैं बनि बरषउँ। पोषउँ सब औषधि अति हरषउँ॥

तुम यह भी जान लो कि चन्द्रमा सोमरस की वर्षा नहीं करता, जबकि ऐसा ही जानकर अज्ञानी हृदय में प्रसन्न होते रहते हैं। यथार्थ में मैं ही सोमरूप होकर बरसता हूँ और समस्त औषधियों को परिपुष्ट कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ।

सर्ब रसन्ह कर रस मैं भ्राता। यासों सब रस कर मैं दाता॥
बैस्वानर होइ उदर समाई। प्रान अपान युक्त करि भाई॥

उसी प्रकार हे प्रिय! समस्त रसों का रस तो मैं ही हूँ, इसीकारण मैं ही सभी रसों का प्रदाता हूँ। हे भाई! वैश्वानररूप होकर सबके उदर में समाहित हो प्राण-अपान से संयुक्त होकर-

मैं हि पचावउँ अन्न चतुर्बिध। एहि बिधि सबकर होय स्वार्थ सिध॥
अस मैं खाइ पचावउँ सारौ। मूढ़ खाउँ कहि कर प्रतिकारौ॥

मैं ही चारों प्रकार के अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोस्य) को पचाता हूँ, इससे सभी का स्वार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार सबकुछ मैं ही खाता और पचाता हूँ किन्तु मूढ़जन मैं खाता और पचाता हूँ- ऐसा कहकर मेरा प्रतिकार किया करते हैं।

उन्हके सम्मुख कबहुँ न आवउँ। जनम जनम नरकहिं भरमावउँ॥

अतः उनके सामने मैं कभी प्रकट नहीं होता तथा जन्म-जन्मान्तर तक उन्हें नरक में घुमाता रहता हूँ।

छंद— सबके हृदय होइ आतमा सच मैं बसउँ हे पार्थ सुनु।
स्मृति लहत अरु ज्ञान मोसों मम भगत परमार्थ गुनु॥
मोसे नसाये स्मृती अरु ज्ञान पापिन्ह के हृदय।
जासों भ्रमत जुग जुग जनमि कबहूँ न होवहिं ते अभय॥

हे पार्थ! और भी सुनो, यथार्थ में मैं ही सबके हृदय में आत्मरूप होकर वास कर रहा हूँ तथा मेरे भक्त मुझसे ही स्मृति और ज्ञान प्राप्त करते हैं- इसे ही परमार्थ समझो। मुझसे ही पापियों की स्मृति और उनके हृदय के ज्ञान का नाश होता है जिससे वे युगों-युगों तक जन्म लेकर भ्रमित होते रहते हैं और कभी भी अभयता को प्राप्त नहीं कर पाते।

सब बेद महँ नहिं अपर जानन जोग्य अर्जुन एकु मैं।
बेदांत प्रतिपादन करउँ मैं सोक करु नहिं नेकु तैं॥
बेदार्थ तौ जु यथार्थ निरखत एक मैं कोउ अन्य नहिं।
जाको लखावउँ सो लखइ बासै भगत मम धन्य कहिं॥

हे अर्जुन! समस्त वेदों में कुछ अन्य जानने योग्य नहीं अपितु एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त की स्थापना करने वाला हूँ, अत: तुम कुछ भी शोक न करो। उसी प्रकार जो वेद के तात्पर्य को यथार्थ रूप से जानता है, वह एकमात्र मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं। हाँ, जिसको दिखा देता हूँ, वही देख लेता है, मेरा वैसा भक्त धन्य है, चाहे वह जहाँ कहीं भी वास करता हो।

सोरठा— निरखत अब महराज झाँकी अपर दिखायँ प्रभु।
लखहु तुम्हहु यहु राज नासइ संसय सोक भ्रम॥ ३७॥

अब महाराज देख रहा है कि भगवान नारायण एक दूसरी झाँकी दिखा रहे हैं, अत: आप भी इस रहस्य को देखें, जिससे संशय, शोक और भ्रम चला जाय।

चौपाई— बूझि गये सच जो तुम्ह याकौ। नहिं भव सिंधुहिं तैरत थाकौ॥
बिनु श्रम पावहु ब्रह्म परम पद। आतमज्ञानी तौ ऐसो बद॥

यदि आप यथार्थ में इस रहस्य को समझ गये तो भवसागर में तैरते हुए नहीं थकेंगे तथा बिना किसी प्रयत्न के परमब्रह्म पद को प्राप्त कर लेंगे, आत्मज्ञानी सन्त ऐसा ही कहते हैं।

कहत दयानिधि अतिहिं दया भरि। सुनहु बीर अब महत ध्यान धरि॥
अहहिं पुरुष दोउ एहि जग माहीं। छर अक्षर तिन्ह नाम कहाहीं॥

[इधर पुन:] दयानिधि भगवान दया से अत्यन्त द्रवित होकर कह रहे हैं कि हे महावीर अर्जुन! अब कुछ विशेष ध्यान देकर सुनो! इस जगत में दो प्रकार के पुरुष हैं, उनका नाम [क्रमश:] क्षर एवं अक्षर कहलाता है।

छर सब भूत कुटस्थहि अक्षर। सबकर बीज न जो कबहूँ क्षर॥
इनहूँ सों जो अतिहिं बिलक्षण। सुद्ध बुद्ध नित परम बिचक्षण॥

क्षर (नाशवान) तो समस्त भूत समुदाय हैं एवं कूटस्थ (शक्तिमान ब्रह्म) ही अक्षर है जो सबका बीज है एवं कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। इनसे भी जो अत्यन्त विलक्षण शुद्ध-बुद्ध एवं नित्य ही परम विवेकवान है,

उत्तम पुरुष सो अन्य कहावत। परमात्मा जिहिं नाम बतावत॥
चेतन सक्ति आपुनीं धारी। करि प्रबेस तिहुँ लोक मझारी॥

वह उत्तम पुरुष कोई अन्य ही कहा जाता है जिसका नाम परमात्मा बताया जाता है। जो अपनी चैतन्यशक्ति को धारणकर तीनों लोकों में प्रवेश करके-

दोहा— निज स्वरूप सत्ता गहि बसि धारत सब भूत।
अबिनासी सर्बज्ञ नित सब सासै अवधूत॥ ३८॥

एकमात्र अपने स्वरूप की सत्ता से समस्त भूतों को धारण किये हुए वास कर रहा है और [वह] अविनाशी है, सर्वज्ञ है, नित्य है, अवधूत है एवं सब पर शासन करता है।

चौपाई— उत्तम पुरुष समुझ मैं सोई। छर जग तरु सों अतितहु जोई॥
परे बीज अक्षर सों भाई। जो छेत्रज्ञ सु परा कहाई॥

वह उत्तम पुरुष तुम मुझे ही समझो, जो नाशवान जगतरूपी वृक्ष से अतीत है। हे प्रिय! मैं उसके बीज अक्षर से भी परे हूँ जिसे क्षेत्रज्ञ और परा कहा गया है।

उत्तमातिहू सों हौं उत्तम। लोक बेद सब कह पुरुषोत्तम॥
जो ज्ञानी मो कहँ अस जानत। पुरुषोत्तम कहि उर गुन गानत॥

इस प्रकार मैं उत्तम से भी उत्तम हूँ, अत: लोक और वेद सभी मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। जो ज्ञानी यथार्थ में मुझे ऐसा जानता है, वह अपने हृदय में पुरुषोत्तम समझकर मेरा ही गुणगान करता है-

यो फल बिनु प्रयास सो पावत। जग महँ सो सर्बज्ञ कहावत॥
इतनेइँ सों सर्बज्ञ कहावत। कोउ कह यह मत मोहिं न भावत॥

वह [ज्ञानीपुरुष] बिना प्रयास के ही यह फल प्राप्त करता है कि जगत में वह सर्वज्ञ कहा जाता है। [यदि] कोई कहे कि इतने मात्र से वह सर्वज्ञ कहा जाता है- यह सिद्धान्त मुझे अच्छा नहीं लग रहा है,

तौ सुनु गुप्त मरम सोउ पारथ। तब लखाय तोहिं सच परमारथ॥
तेहि अग जग सब ब्रह्म लखावे। यासों सो सर्बज्ञ कहावे॥

तो हे पार्थ! उस गुप्त रहस्य को भी सुन लो, तब तुम्हें यथार्थ में परमार्थ दीखने लगेगा। अरे! उसे समस्त अग-जग ब्रह्मरूप ही दिखाई पड़ता है, इसीलिए वह सर्वज्ञ कहा जाता है।

दोहा— सर्ब आतमा मोहिं लखि सर्ब हृदय महँ जानि।
नित्य भजत सो मोहिं अरु स्वयं आतमा मानि॥ ३९॥

अत: वह मुझे सबकी आत्मा के रूप में देख तथा सबके हृदय में स्थित जानकर और अपने को भी आत्मा मानकर सदा मुझे ही भजता है।

चौपाई— प्रभु इहँ अस कहि जब मुसुकाहीं। एहि जग महँ दोउ पुरुष लखाहीं॥
जो छर अक्षर नामन वारे। तब मन मेरो अस उर धारे॥

भगवान जब यहाँ ऐसा कहकर मुस्कुरा रहे हैं कि इस जगत में दो प्रकार के पुरुष दिखायी पड़ते हैं, जो क्षर और अक्षर नाम वाले हैं, तब मेरे मन ने हृदय में ऐसा धारण कर लिया कि-

छर तो पुरुष सकामी आहै। अक्षर निष्कामी पतियाहै॥
यहइ सकामी छरतो जावे। प्रभु गहि निष्कामी हरषावे॥

क्षर [नाम वाला] पुरुष तो सकामी है और अक्षर वही है जो निष्कामी है तथा ऐसा ही विश्वास भी कर लिया; क्योंकि यह सकामी पुरुष ही नाश को प्राप्त होता है तथा निष्कामी पुरुष ब्रह्मपद को प्राप्तकर आनन्द स्वरूप हो जाता है।

इनि दोउन्ह कर जोइ अधारो। तेहि पुरुषोत्तम जात उचारो॥
दोउ बसहिं पुर पुरुष कहावत। ताकर पुर कोउ नाहिं लखावत॥

तथा जो इन दोनों का आधार है, उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है। वे दोनों पुर में वास करते हैं, अत: पुरुष कहलाते हैं किन्तु उस [पुरुषोत्तम] का तो कोई पुर दिखायी ही नहीं देता!

निज महँ रहत न कोउ अधारा। साक्षी सत अक्षर बपु धारा॥
दोउन्ह कर यहई परमारथ। यासेइँ सिद्ध करत निज स्वारथ॥

वह स्वयं में ही रमण करता रहता है तथा साक्षी, सत् एवं अक्षर स्वरूप को धारण किये रहता है, अत: उसका कोई आधार ही नहीं है। उन दोनों [सकामियों एवं निष्कामियों] का भी यही परमार्थ है, इसी [आत्मज्ञानी] से वे अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

दोहा— यहु अवतार गुपुत अहै जाको देत जनाय।
सोइ जानइ गहि पदकमल बिगरी लेत बनाय॥ ४०॥

अत: यह [ब्रह्मज्ञानी] एक गुप्त अवतार ही है। वह जिसे अपने को जना देता है वही जानता है और चरण-कमलों को पकड़कर अपनी बिगड़ी बना लेता है।

चौपाई— लोक बेद तौ तेहि गुन गावत। हरि वामें नहिं भेद लखावत॥
प्रभु निज मुख तेहि करत बड़ाई। कहहिं मोहिं सों पृथक न भाई॥

उस आत्मज्ञानी एवं भगवान में किसी भी प्रकार का भेद न मानते हुए लोक और वेद उसका गुणगान करते रहते हैं। यहाँ तक कि भगवान भी अपने मुख से उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मुझमें और उसमें तो अंशमात्र भी भेद नहीं है।

प्रभु जो करइ करत जग सोई। जेहि मग चलइ चलत सो ओई॥
बस इक संत बेष सों भाई। कछुक भेद ब्यवहार लखाई॥

जगत में भगवान जो कुछ करता है वही वह आत्मज्ञानी भी करता है और जिस मार्ग से भगवान चलता है उसी से वह भी चलता है। एकमात्र सन्त वेश के कारण ही उसके व्यवहार में कुछ भेद कहा गया है।

जरासंध अरु कंस समाना। बरु पीड़हिं जस यम भगवाना॥
तउ प्रतिकार न करत अंसहू। यद्यपि करि सक भस्म बंसहू॥

[वह यह कि] जरासंध और कंस के समान [पापात्मा] उन्हें भले ही यमराज की भाँति पीड़ित करें तो भी वह अंशमात्र भी उनका प्रतिकार नहीं करता; जबकि वह [उनके साथ-साथ] उनके सम्पूर्ण वंश को भी भस्म करने की सामर्थ्य रखता है।

तातें कह प्रभु हौं तेहि चेरो। भूमि बनावत आवन मेरो॥
निज भक्तन्ह कहँ आतमज्ञाना। देत सहज नहिं कछु अभिमाना॥

इसी से प्रभु कहते हैं कि मैं उसका सेवक हूँ, [क्योंकि ऐसा करके] वह मेरे आने (अवतार लेने) की भूमिका तैयार कर देता है तथा अपने भक्तों को सहज ही आत्मज्ञान दे देता है फिर भी उसे तनिक अभिमान नहीं होता।

दोहा— दया कृपा करुना छमा आदि दिब्य पुर आहिं।
बसत उनहिं महँ याहि सों पुरुषोत्तम कह ताहिं॥ ४१॥

दया, कृपा, करुणा, क्षमा आदि भी दिव्य पुर (महल) ही हैं, उन्हीं में वह वास करता है इसी से उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है।

चौपाई— पुनि महराज बुझाय पहेली। जासों उर निसि होय उजेली॥
प्रथम परम प्रभु एहि अध्यायो। एहि लोकहिं एक बिटप बतायो॥

पुन: महाराज एक पहेली बुझाने जा रहा है जिससे हृदय में स्थित अज्ञानरूपी रात्रि में प्रकाश हो जाय। सर्वप्रथम परम प्रभु ने इस अध्याय में इस लोक को एक वृक्ष की संज्ञा दी है।

बहुरि याहि जिवलोक बताये। पुनि यहि पुरुषलोक सच गाये॥
एहि बिधि त्रै प्रकार की दृष्टी। दै हरि कर साधन पथ सृष्टी॥

फिर इसको जीवलोक कह दिया तथा पुन: कहा कि यथार्थ में यह पुरुषलोक है। इस तरह तीन प्रकार की दृष्टि देकर भगवान नारायण साधन पथ का सृजन कर रहे हैं।

जेहि अवलम्बन करि निज रूपा। पावहु जो तुम्हरे पहिं छूपा॥
जग इक बिटप हरी जस कहहीं। अस कहि सिद्ध करन यह चहहीं॥

जिसका आश्रय लेकर आप अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं जो आपके पास ही छिपा हुआ है। यह जगत एक वृक्ष के समान है- ऐसा कहकर भगवान यह सिद्ध करना चाहते हैं कि-

यद्यपि सर्बभूत अति चेतन। कहुँ न कहूँ पर ये सब तरु तन॥
तरु कर बीज तना अरु साखा। कहुँ न कहूँ पत्रहु उपसाखा॥

यद्यपि समस्त भूत-प्राणी परम चेतन (आत्मरूप) ही हैं तो भी कहीं न कहीं ये सभी शरीर वृक्ष भी हैं और कहीं न कहीं ये वृक्ष के बीज, स्कन्ध (तना), शाखा, उपशाखा तथा पत्ते आदि भी हैं।

दोहा— अहहिं कहुँ न कहुँ पुष्प फल जबलौं उर तम आहिं।
आत्मज्ञान जा दिन मिले ता दिन स्वयं नसाहिं॥ ४२॥

उसी प्रकार जब तक हृदय में अज्ञान है, तब तक ये सभी कहीं न कहीं पुष्प, फल भी हैं; किन्तु जिस दिन आत्मज्ञान प्राप्त हो जायेगा उस दिन ये सारे रूप स्वत: नष्ट हो जायेंगे।

चौपाई— जीवलोक महँ जोइ लखावे। सो जिव मेरो अंस कहावे॥
ऐसो कहि यह करत सिद्ध हरि। अज सों लै सुर नर पसु कृमि भरि॥

उसी प्रकार जीवलोक में जो दिखायी पड़ रहा है, वह जीव भी मेरा ही अंश कहा जाता है- ऐसा कहकर भगवान यह सिद्ध कर रहे हैं कि ब्रह्मा से लेकर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीट पर्यन्त-

अहहिं कहुँ न कहुँ लोकहु भाई। कहुँ न कहूँ आतम सम गाई॥
ऐसो थापि सु तीसरि दृष्टी। प्रभु अब करत पुरुष पुर सृष्टी॥

कहीं न कहीं लोक हैं। हे प्रिय! उन्हें कहीं न कहीं आत्मा के समान भी बताया गया है। इसी प्रकार अब भगवान नारायण तृतीय दृष्टि की स्थापना करके पुर और पुरुष की सृष्टि कर रहे हैं।

जहँ ब्रह्मा सों कृमि लौं सारे। पुर पुर महँ आतम बपु धारे॥
अस दोउ रूप अहहिं कस भाई। अबलौं तुम्हहिं न देत लखाई॥

जहाँ ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त समस्त जीव पुर भी हैं और उस पुर में वास करने वाले शरीर को धारण किये हुए आत्मरूप भी हैं। हे मित्रो! ये सभी इस प्रकार के दो रूप वाले कैसे हैं, जो अभी तक आपलोगों को दिखायी नहीं पड़ रहे हैं!

सोइ पुरुषोपाख्यान निहारहु। पुनि निज आत्मरूप उजियारहु॥

उसके लिए पुरुषोपाख्यान का आप अवलोकन कर, पुन: अपने आत्मस्वरूप को प्रकाशित (प्रकट) कर लें।

सोरठा— ब्रह्म माहिं नहिं ज्ञान अरु बिज्ञान कि कल्पना।
नानात्वहिं जो मान सोइ सच महँ माया अहै॥ ४३॥

निर्गुण निराकार ब्रह्म में तो ज्ञान और विज्ञान की भी कल्पना नहीं है, अत: नानात्व को स्वीकार करना ही वास्तव में माया है।

चौपाई— बरु संकल्प करत बहु होवे। पर निज सत्य रूप नहिं खोवे॥
तेहि महँ नहिं पुर पुरुष आतमा। बन्यो सोइ सब लखहु स्वातमा॥

भले ही वह ब्रह्म अपने संकल्प द्वारा अनेक रूपों में प्रकट हो जाता है परन्तु अपने सत्य स्वरूप को नहीं भूलता। अत: उसमें पुर, पुरुष और आत्मा कोई भी नहीं है अपितु वही सब कुछ बना हुआ है, अपनी उस आत्मा को आप स्वयं देखें।

सोइ बिलगाइ कहउँ तुम्ह लाने। होउ अस लखि सम सांत सयाने॥
ब्रह्म महापुर तौ संकल्पा। वामें पुरुष हि भयो बिकल्पा॥

हे बुद्धिमानो! मैं आपकी सुगमता के लिए उसे पृथक्-पृथक् करके कह रहा हूँ, अत: ऐसा समझकर आप सम-शान्त हो जायँ। यदि ब्रह्म को महापुर के रूप में देखें तो संकल्प ही उसमें विकल्प रूप पुरुष हो गया है।

नाद पुरुष यदि आतम वाकी। ॐ अहइ मैं कहउँ बिबाकी॥
नाद महापुर जब बनि जावे। तामें ॐ हि पुरुष लखावे॥

पुनः नाद (संकल्प) पुरुष है तो मैं बिना झिझक के कह रहा हूँ कि ॐ उसकी आत्मा है तथा ब्रह्मनाद जब महापुर बन जाता है तो उसमें ॐ ही पुरुष दिखायी पड़ता है।

ताहि आतमा गगन कहावे। ॐ महापुर तबहिं सुहावे॥
तबहिं लखाये गगन पुरुष तहँ। सब्द आतमा ताहि अहइ जहँ॥

उस ॐ की आत्मा आकाश कहा जाता है, तभी ॐ महापुर के समान शोभित होता है तब आकाश वहाँ पुरुष के समान दिखायी पड़ने लगता है, जहाँ शब्द ही उसकी आत्मा हो जाता है।

दोहा— गगन महापुर बनत जब सब्द पुरुष तहँ सोय।
जबहिं बनत सो पुरुष तौ वायु आतमा होय॥ ४४॥

उसी प्रकार जब आकाश महापुर बन जाता है, तब वहाँ शब्द पुरुष हो जाता है और जब वह शब्द पुरुष हो जाता है तो वायु उसकी आत्मा हो जाती है।

चौपाई— सब्द महापुर जब बनि जावे। तहाँ वायु तब पुरुष कहावे॥
तहँ स्पर्स आतमा वाकी। ऐसो बनि जाये प्रिय झाँकी॥

जब शब्द महापुर बन जाता है तो वहाँ वायु ही पुरुष कहलाता है और वहाँ स्पर्श ही उसकी आत्मा है, इस प्रकार एक अत्यन्त मधुर झाँकी बन जाती है।

वायु महापुर होत जहाँ जब। पुरुष बनत स्पर्स तहाँ तब॥
ताहि आतमा अनल कहावत। ऐसो बर झाँकी अति भावत॥

जब जहाँ वायु महापुर हो जाता है तो स्पर्श वहाँ पुरुष हो जाता है और उसकी आत्मा अग्नि कहा जाता है- इस प्रकार की श्रेष्ठ झाँकी अत्यन्त प्रिय लगती है।

लखत महापुर जब स्पर्सहु। पुरुष अनल तहँ लखि अति हर्षहु॥
तेहि की तेज आतमा भावत। महाराज अस मरम बतावत॥

जब स्पर्श महापुर दिखायी पड़ने लगता है तब वहाँ अग्नि को ही पुरुष रूप में देखकर अत्यन्त प्रसन्न होवें और उसकी आत्मा के रूप में तेज को ही सुशोभित होता हुआ समझें- महाराज ऐसा ही रहस्य बता रहा है।

होत महापुर अनल प्रचंडा। तेज अहइ तहँ पुरुष अखंडा॥
ताहि आतमा नीर कहावत। ज्ञान नयन सों ऐसो पावत॥

जब प्रचण्ड अग्नि महापुर बन जाता है तो वहाँ तेज ही अखण्ड पुरुष है तथा उसकी आत्मा जल कहा जाता है, ज्ञानरूपी नेत्रों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है।

दोहा— तेज महापुर जब अहइ जल तहँ पुरुष कहाय।
रस तेहि की तब आतमा बनत मधुरतम भाय॥ ४५॥

तेज जब महापुर हो जाता है तो वहाँ जल पुरुष हो जाता है और रस उसकी आत्मा बनकर अत्यन्त सुशोभित होता है।

चौपाई— बनत महापुर ऐसो आपहिं। रसहिं पुरुष करि तहँ मुनि थापहिं॥
धरा आतमा तेहि की सोभे। महाराज कर मन अति लोभे॥

इसी प्रकार जब जल महापुर बन जाता है तो वहाँ मुनिजन रस को ही पुरुष के रूप में स्थापित कर देते हैं और पृथ्वी उसकी आत्मा के रूप में शोभित होने लगती है, जो महाराज के मन को अत्यन्त लुभा रहा है।

अहइ महापुर रस जब दीखत। महि कहँ सास्त्र पुरुष तब लीखत॥
गंध आतमा सोभत भारी। महाराज कह अति तम टारी॥

जब दीखता है कि महापुर ही रस है तो वहाँ शास्त्र पृथ्वी को ही पुरुष रूप में व्यक्त करता है, जिसकी आत्मा के रूप में गन्ध सुशोभित होता है, महाराज तो ऐसा अज्ञान को दूर करके कह रहा है।

सच लखाय जो लखउ ध्यान सों। मंथन करि सु बिबेक ज्ञान सों॥
धरा महापुर जबहिं लखावे। तामें गंध पुरुष कहलावे॥

यदि आप विवेकमय ज्ञान से मन्थन करके ध्यान पूर्वक देखते हैं तो यथार्थ स्पष्ट हो जायेगा। जब पृथ्वी महापुर दिखायी पड़ने लगती है तो उसमें गन्ध ही पुरुष कहलाता है–

ताहि आतमा बन कहँ निरखउ। ऐसो दिब्य रूप लखि हरषउ॥

और उसकी आत्मा के रूप में वन को ही जानें तथा ऐसे दिव्यरूप को देखकर प्रसन्न होवें।

दोहा— गंध महापुर दीख जब बन तहँ पुरुषहि होय।
जेहि महँ पसु सब आतमा अहइँ न भरमे कोय॥ ४६॥

जब गन्ध महापुर के रूप में दीखने लगता है तो वन ही पुरुष हो जाता है, जिसमें सब पशु ही उसकी आत्मा हैं, अतः कोई भ्रमित न हो।

चौपाई— देखउ बनहिं महापुर जैसो। तौ पसुवनहिं पुरुष के ऐसो॥
तिन्हकी आतम औषधि जानउ। प्रथम बिचारउ तब तुम्ह मानउ॥

जब वन को ही महापुर के रूप में देखें तो वन्यपशु ही पुरुष के समान हैं तथा उनकी आत्मा औषधि को जान लें। आप सर्वप्रथम ऐसा विचार कर लें, तत्पश्चात् स्वीकार करें।

पसुहु महापुर जबहिं लखावे। पुनि औषधि तहँ पुरुष कहावे॥
तेहि कर आतम रबि ससि बूझहु। ऐसो लखि नहिं जग महँ रूझहु॥

उसी प्रकार पशु भी जब महापुर दीखने लगे तब वहाँ औषधि ही पुरुष कही जाती है तथा उसकी आत्मा सूर्य एवं चन्द्रमा को समझ लें। ऐसा समझने से आप जगत में लिप्त नहीं होंगे।

औषधि जबहिं महापुर माने। तब रबि चंद्र पुरुष तहँ जाने॥
मनुज आतमा उन्हके भाई। अस इनि महँ अति मधुर सगाई॥

जब औषधि को महापुर मानते हैं तो वहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा को पुरुष के रूप में जानना चाहिए और हे प्रिय! मनुष्य ही उसकी आत्मा है। इस प्रकार इन [सूर्य, चन्द्रमा और मनुष्य] में अत्यन्त मधुर सम्बन्ध है।

जब रबि ससिहु महापुर भासें। तब मनुजहिं तहँ पुरुष प्रकासें॥
तब नृप होत आतमा वाकी। कहउँ न ऐसोइ बहु बिधि ताकी॥

जब सूर्य एवं चन्द्रमा महापुर दिखायी पड़ने लगें तब मनुष्य वहाँ पुरुष रूप में प्रकाशित होता है और तब राजा ही उसकी आत्मा होता है। मैं इसे ऐसे ही नहीं बता रहा हूँ अपितु भलीभाँति इसे देखा है।

दोहा— मनुज महापुर जब अहइ नृप तहँ पुरुष लखाय।
ताहि प्रजा सच आतमा बनत दिब्यता आय॥ ४७॥

जब मनुष्य महापुर है तो वहाँ राजा ही पुरुष दिखायी पड़ता है तथा सच में जब प्रजा उसकी आत्मा बन जाती है तो उसमें दिव्यता आ जाती है।

चौपाई— नृपति महापुर जबहिं लखावे। प्रजा पुरुष द्विज आत्म कहावे॥
प्रजा महापुर जब उर आवे। बिप्र पुरुष श्रुति आत्म लखावे॥

जब राजा महापुर है तो प्रजा पुरुष है और वहाँ उसकी आत्मा ब्राह्मण कहा गया है। प्रजा महापुर है तो ब्राह्मण पुरुष है जहाँ वेद को उसकी आत्मा कहा गया है।

बिप्र महापुर पुरुष सुबेदा। बटुक आतमा कबहुँ न खेदा॥
बेद महापुर बटु पुरुषाहीं। ताहि आतमा ॐ लखाहीं॥

ब्राह्मण महापुर है तो वेद ही पुरुष है तथा उसकी आत्मा ब्रह्मचारी है, जो कभी क्षुब्ध नहीं होता। वेद महापुर है तो ब्रह्मचारी उसमें पुरुष है और उसकी आत्मा ॐ दिखायी पड़ रहा है।

बटुहि महापुर ॐ पुरुष जहँ। ताहि आतमा अहइ यती तहँ॥
ॐ महापुर तहँ संन्यासी। अहइ पुरुष लख जो अबिनासी॥

ब्रह्मचारी महापुर है जहाँ ॐ ही पुरुष है, तो वहाँ उसकी आत्मा संन्यासी है। ॐ महापुर है तो वहाँ संन्यासी ही पुरुष है, जो अविनाशी दिखायी पड़ता है।

ताहि आतमा त्याग कहावे। तब तौ सो जगतहिं अति भावे॥
यती महापुर जबहिं लखावत। तब तहँ त्यागहि पुरुष कहावत॥

त्याग को उसकी आत्मा कहा जाता है, तभी तो वह जगत को अत्यन्त प्रिय लगता है। जब संन्यासी महापुर दिखायी पड़ता है तो वहाँ त्याग ही पुरुष कहा जाता है और-

छंद— द्रष्टाहि तेहि की आतमा अस निगम आगम सब भनैं।
रबि सम बिराजत जगत महँ ऐसो यती कहँ केहि गनैं॥
त्यागहु महापुर अहइ जब द्रष्टाहि तहँ पुरुषाहि जू।
तब सक्ति तेहि की आतमा अस पूर्णब्रह्म कहाहि जू॥

द्रष्टा ही उसकी आत्मा है, ऐसा वेद-पुराण आदि सभी कहते हैं; जो सूर्य के सदृश द्रष्टारूप होकर [जगत को ज्ञान, ध्यान, विज्ञानरूप प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ] जगत में स्थित रहता है, अतः ऐसे संन्यासी के समान जगत में किसे समझा जाय। उसी प्रकार जब त्याग महापुर है तो वहाँ द्रष्टा ही पुरुष है और तब शक्ति ही उसकी आत्मा है। इस प्रकार वह पूर्णब्रह्म कहा जाता है।

द्रष्टा महापुर जब लखावे पुरुष सक्तिहिं जानिबो।
तुर्या अवस्था आतमा तेहि की तहाँ तब मानिबो॥
सक्तिहु महापुर जब अहइ तुर्या हि तहँ हइ पुरुष सम।
निज ज्ञान तेहि की आतमा जो बेगि रबि सम हरत तम॥

जब द्रष्टा महापुर के समान दिखायी पड़े तो शक्ति को ही पुरुष समझ लें तथा उस समय वहाँ तुर्यावस्था को ही उसकी आत्मा मान लें। जब शक्ति महापुर है तो तुर्यावस्था ही वहाँ पुरुष के सदृश है और स्वयं का ज्ञान (आत्मानुभूति) ही उसकी आत्मा है, जो सूर्य के समान शीघ्र ही अज्ञान का हरण कर लेता है।

तुर्या महापुर जब बनति निज ज्ञान पुरुष कहाय तहँ।
ऐसी बनति झाँकी बिलक्षण आत्म मुक्ती भाय तहँ॥
जब बन महापुर ज्ञान निज तब मुक्ति पुरुष तहाँ लखहु।
जिज्ञासु तेहि की आतमा तब संत बिच महँ अस भषहु॥

तुर्यावस्था जब महापुर बन जाती है तब वहाँ अपने स्वरूप का ज्ञान ही पुरुष कहलाता है। फिर ऐसी विलक्षण झाँकी बन जाती है कि कैवल्य मुक्ति सुशोभित होने लगती है। जब स्वयं का ज्ञान महापुर बन जाय तब वहाँ कैवल्य मुक्ति को ही आप पुरुष जानें, फिर तो आत्मजिज्ञासु ही उसकी आत्मा हो जाते हैं- ऐसा आप अपनी सन्त मण्डली में स्पष्ट कहें।

महराजहू बर पुर अहइ सब भक्त पुरुष तहाँ अहैं।
उन्हकी परम प्रिय आतमा यह भाष्य कृष्णायन कहैं॥
जेहि पढ़त पुनि पुनि गुनत सुनत सनेह साँचों धारिके।
तिन्हके हरत दुख दुसह त्रै बिधि सच लखहु अनुहारिके॥

उसी प्रकार जब महाराज भी महापुर है तो वहाँ समस्त भक्त ही पुरुष हैं और उनकी परम प्रिय आत्मा यह भाष्य है, जिसे कृष्णायन कहा जा रहा है। जिसका बारम्बार यथार्थ में प्रेमपूर्वक धारण करके किया गया स्वाध्याय और चिन्तन तीनों प्रकार के दुःसह [दैहिक, दैविक, भौतिक] दुःखों का अवश्य ही हरण कर लेता है। इसकी सत्यता तो इसका पाठ तथा व्यवहार धारण करके आप स्वयं देख सकते हैं।

सोरठा— अहहीं जोइ सकाम सोउ पढ़ि धन जन सुख लहहिं।
अहहिं जे सच निष्काम पायँ भगति पुनि परम पद॥ ४८॥

जो सकाम भक्त हैं, वे भी इसका पाठ करके 'धन, जन एवं नाना प्रकार के सुखों' को प्राप्त कर लेंगे और जो यथार्थ में निष्काम हैं, वे [सर्वप्रथम] अनन्यभक्ति को प्राप्तकर परमपद को प्राप्त कर लेंगे।

चौपाई— नवमोध्याय प्रान कहलावे। याहि आतमा मुनिजन गावे॥
आत्मा बिनु न प्रान की सोभा। जासे होय मनहिं नित छोभा॥

मुनियों ने इस गीताशास्त्र के नवम अध्याय को प्राण और इस पन्द्रहवें अध्याय को विचारपूर्वक आत्मा कहा है। आत्मा के बिना प्राणों की शोभा नहीं होती जिससे [उसके अभाव में] रात-दिन मन ही मन क्षोभ होता रहता है।

नाहिं बिराग होय कस अबहीं। साँचोइ साँच लखायो जबहीं॥
यासे कहे दयानिधि पारथ। अब तुम्ह जान्यो बर परमारथ॥

अरे! अब भी वैराग्य क्यों नहीं होगा जबकि प्रभु ने सत्य का भी सत्य दिखा दिया। इसलिए दयानिधि भगवान ने भक्त अर्जुन से कहा- [हे पार्थ!] अब तुमने परम परमार्थ को जान लिया है।

यद्यपि अबलौं जो कछु भाष्यों। सास्त्र नाम सबही कर राख्यों॥
पर यह जो अध्याय सुनायों। सब सास्त्रन्ह कर मर्म लखायों॥

यद्यपि अब तक मैंने जो कुछ भी कहा है, उन सबका 'शास्त्र' नाम ही दिया है; किन्तु अभी जो यह अध्याय [तुम्हें] सुनाया है, उसके द्वारा समस्त वेद-शास्त्रों का रहस्य बताया है।

यासे पर न गुह्यतम बिद्या। अपर अहइ तो समुझु अबिद्या॥
आसक्ती मल कोउहु बिद्या। धोइ न सक बरु देहिं अबिद्या॥

अत: इससे परे कोई श्रेष्ठ विद्या है ही नहीं, यदि कोई अन्य विद्या है तो उसे अविद्या जानना चाहिए। दूसरी विद्याएँ आसक्तिरूपी मल को नहीं धो सकती, भले ही अविद्या दे दें।

कोउ कृतकृत्य होय याही सों। तुम्ह मम भक्त कह्यों ताही सों॥
सुनि कृतकृत्य भयो तू याही। बिनहिं जनाये जान्यों जाही॥

कोई भी पुरुष इस ब्रह्मविद्या से कृतकृत्य हो सकता है। तुम मेरे परम प्रिय भक्त हो इसी से मैंने तुम्हें इसे सुनाया है। तुम भी इसको सुनकर कृतकृत्य हो गये हो, यह मैं बिना [तुम्हारे] बताये ही जान रहा हूँ।

तोहि निमित करि अस परमारथ। दीन्हों लहहिं भगत बर स्वारथ॥

तुम्हें निमित्त बनाकर मैंने इस परमार्थ तत्त्व को दिया है जिससे भक्त सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेंगे।

दोहा— यहि जीवहिं परमार्थ सच आत्मज्ञान सो पाय।
प्रबल अबिद्या संग सब मोह सोक भ्रम जाय॥ ४९॥

हे पार्थ! जीव का परमार्थ यही है कि वह यथार्थ में आत्मज्ञान को प्राप्त कर ले जिससे प्रबल अविद्या के साथ-साथ समस्त मोह, शोक और भ्रमादि चले जायँ।

चौपाई— समर करहु न करहु तुव इच्छा। पर यासों बर होय न सिच्छा॥
जो माँग्यो अरु जो नहिं माँग्यो। सो सब दीन्हों तुहुँ अनुराग्यो॥

अत: युद्ध करो या न करो तुम्हारी इच्छा, किन्तु इससे तो कोई श्रेष्ठ उपदेश हो ही नहीं सकता। तुमने जो कुछ माँगा था और नहीं भी माँगा था, वह सब मैंने दे दिया जो तुम्हें भी सत्य एवं प्रीतिकर लगा।

अपर चहत कछु तो तुम्ह बोलहु। उर न रखहु यदि अहइ तो खोलहु॥
पुनि पुनि कृपासिंधु अस कहहीं। ज्ञानसमाधि पार्थ सुनि लहहीं॥

यदि तुम कुछ और चाहते हो तो बोलो, हृदय में छिपाओ मत अपितु कुछ है तो वह सब प्रकट कर दो! इस प्रकार दयानिधि भगवान बार-बार ऐसा कह रहे हैं, जिसे सुनकर भक्त अर्जुन ज्ञानसमाधि [का सुख] प्राप्त कर रहे हैं।

अति प्रसन्न भए प्रभु लखि ऐसो। यती ज्ञान दैं बटुकहिं जैसो॥
होइ बिदेह परंतप भ्राजहिं। जीवन सफल भयो तिन्ह आजहिं॥

ऐसा देखकर भगवान अति प्रसन्न हो गये, जैसे कोई संन्यासी अपने ब्रह्मचारी (शिष्य) को ज्ञान देकर (कृतकृत्य करके) प्रसन्न हो जाता है। महात्मा अर्जुन विदेह रूप होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे, उनका जीवन आज सफल हो गया।

उत कह नृपति काह भयो संजय। भई काह मधुसूदन की जय॥
हाँ राजन समझ्यो सच योई। हुतो जो होनो होयो सोई॥

उधर राजा धृतराष्ट्र कह रहे हैं कि क्या हुआ सञ्जय! क्या मधुसूदन की विजय हो गयी? [सञ्जय ने कहा-] हाँ, राजन्! आपने ठीक-ठीक समझा है, जो होना था वही हुआ।

दोहा— अब तो हरि सुमिरन करहु चरन कमल उर धारि।
होय सकत एहि भव डुबत लेहिं कृपालु उबारि॥ ५०॥

हे राजन्! अब तो आप प्रभु के चरण कमलों को हृदय में धारण करके उनका स्मरण करें, हो सकता है कि भवसागर में डूबते हुए आपको कृपालु भगवान बचा लें।

चौपाई— बिनु हरि सरन सांति नहिं पावहु। कोटि उपाय करहु कहुँ धावहु॥
प्रभुहिं भजत जो तिन्ह पद पावे। जन्म मृत्यु की ठौर न आवे॥

[मैं तो समझता हूँ कि] आप बिना भगवान की शरणागति के शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते, भले ही आप कहीं भी दौड़ लगा लें, करोड़ों उपाय ही क्यों न कर लें। जो भगवान का भजन करता है वही उनका पद प्राप्त करता है और [पुनः] जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता।

दिब्य सास्त्र हरि पार्थ सुनाये। करि किरिपा मम हियहु बसाये॥
मोरि मुकुति महँ संसय नाहीं। सुन्यों सास्त्र एहि प्रभु के पाहीं॥

हे राजन्! भगवान ने प्रिय अर्जुन को दिव्य शास्त्र सुनाया तथा कृपा करके मेरे हृदय में भी इस ज्ञान को बसा दिया। अतः मुझे अपनी मुक्ति में [अब थोड़ा भी] संशय नहीं है क्योंकि मैंने इस शास्त्र को स्वयं भगवान के श्रीमुख से सुना है।

जग ब्यवहारहिं नृप अस जान्यों। रहँट घटी सम अनुसंधान्यों॥
उपजत बिनसत नभ घन नाईं। अचल अखंड रहहिं मम साईं॥

हे राजन्! मैंने तो खोज करके जगत व्यवहार को ऐसा समझा है कि यह रहँट की बाल्टी के समान है तथा आकाश में बादल के सदृश [ब्रह्म में] प्रकट और नष्ट होता रहता है; किन्तु मेरे प्रभु तो सदा अचल एवं अखण्ड बने रहते हैं।

सर्ब सर्बगत सर्ब उदासी। सर्बसार प्रभु नित अबिनासी॥
दर्सन दृस्य सोइ द्रष्टारो। को दिखाइ को देखनहारो॥

वे सर्वरूप हैं, सर्वगत हैं, सबसे उदासीन भी हैं तथा वे प्रभु अविनाशी, नित्य एवं सबके सार हैं। [यही नहीं बल्कि] द्रष्टा, दृश्य और दर्शन भी वे ही हैं, अतः कौन देखे और किसको दिखाये?

दोहा— ब्रह्म बिटप अरु पुर पुरुष अहहिं नाहिं त्रय रूप।
बन्यो सच्चिदानंद सोइ अदभुत अलख अनूप॥ ५१॥

इस प्रकार पुर, पुरुष और ब्रह्मवृक्ष-ये कोई तीन रूप तो हैं नहीं, बल्कि वह अद्‌भुत, अलख और अनुपम सच्चिदानन्द भगवान ही सब कुछ बना हुआ है।

चौपाई— नृप प्रभु हंस रूप अवतारे। सनकादिक यहि बचन उचारे॥
कै चित ही बिषयन्हि गहि लीन्हो। किधौं बिषय चित्तहिं बस कीन्हो॥

हे राजन्! जब भगवान हंस रूप में अवतरित हुए तो सनकादिकों ने यही पूछा कि क्या चित्त ने ही विषय को दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है अथवा स्वयं विषय ने ही चित्त को अपने वश में कर रखा है?

दोऊ मिलि गये नीर छीर सम। न्यारे भए न बहुत किये हम॥
प्रभु हँसि कहे न ऐसो भाई। बिषय चित्त दोउ माया गाई॥

वे दोनों जल एवं दूध के समान ऐसे मिल गये हैं कि हमारे बहुत करने पर भी पृथक् नहीं हुए। भगवान ने हँसकर कहा- हे प्रिय! ऐसा नहीं है, क्योंकि विषय और चित्त दोनों ही मायामय कहे गये हैं।

बिटप छावँ सम जड़ दोउ भासें। ज्ञानिन्ह के उर आवहिं कासें॥
डोलइ छाया तरु के डोलत। त्यों जिव सँग चित चेतत दोलत॥

ये दोनों वृक्ष और उसकी छाया के सदृश जड़ ही प्रतीत होते हैं, अत: ज्ञानियों के हृदय में किसप्रकार आ सकते हैं? जैसे वृक्ष के हिलते ही छाया भी हिलने लगती है, उसी प्रकार जीवात्मा के साथ होने पर चित्त चेतन हो जाता है।

जोवत चित्त बिषय पुनि जबहीं। तैसोइ दोउ संयोगत तबहीं॥

जैसे ही चित्त पुन: विषय को देखने लगता है वैसे ही दोनों का परस्पर संयोग हो जाता है।

दोहा— दुके परस्पर याहि बिधि दोउ न कबहुँ बिलगाहिं।
जब दीखइ सच रूप निज ताही समय नसाहिं॥ ५२॥

इस प्रकार वे दोनों परस्पर छिपे हुए हैं, कभी पृथक् नहीं होते। हाँ, जब अपना यथार्थ स्वरूप दिखायी पड़ जाता है, तभी वे दोनों ही रूप नष्ट हो जाते हैं [अपने कारण में लीन हो जाते हैं]।

चौपाई— सपने ज्यों चित बिषय लखावें। ताछन सत्य सरीखो भावें॥
जागत बृथा होहिं ते जैसें। ज्ञान भये नासहिं दोउ तैसें॥

जिस प्रकार स्वप्न में चित्त और विषय दिखायी पड़ते हैं और उस समय वे सत्य प्रतीत होते हैं किन्तु जागते ही जैसे वे मिथ्या सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होने के उपरान्त इन दोनों (चित्त और विषय) का नाश हो जाता है।

चित्त बिषय इमि भ्रमहि कहावें। पृथक करन महँ हाथ न आवें॥
अस जो आत्मरूप गहि ध्यावे। सहजहिं सो दोउन्हि बिसरावे॥

इस प्रकार चित्त और विषय- ये दोनों ही भ्रम हैं, इन्हें पृथक् करने में एकमात्र श्रम ही हाथ लगेगा। इसलिए जो आत्मरूप होकर स्थित रहेगा, वह सहज ही दोनों को भूल जायेगा।

इहइ भयो इहँ नृप अर्जुन सँग। ब्रह्म राग सुनि रँगि गै हरि रँग॥
भीष्म द्रोन भ्रातन्ह चमु सारे। चित्त बिषय सम हृदय निहारे॥

हे राजन्! यहाँ पर भक्त अर्जुन के साथ भी यही हुआ है। वे ब्रह्मराग सुनकर ब्रह्म के रंग में रंग गये हैं तथा पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, भाई-बान्धव एवं समस्त सेना को हृदय में चित्त एवं विषय के सदृश ही देखने लगे हैं।

पर गांडीवहिं तउ न निहारहिं। पूज्य ब्यास अस करत निवारहिं॥
अबलौं जो भाषे भगवाना। ताहि सृजहिं अध्याय सुजाना॥

तो भी वे गाण्डीव की ओर नहीं देख रहे हैं; इसलिए कि परम पूज्य व्यासजी उन्हें ऐसा नहीं करने दे रहे हैं क्योंकि अब तक भगवान ने जो कुछ भी कहा है, उसका वे [गीताजी के] अध्याय के रूप में सृजन कर रहे हैं।

दोहा— अष्टादसहिं पुरान रचि जदपि दिये हरषाय।
कलियुगि मानव नहिं पढ़हिं ऐसो उन्हहिं लखाय॥ ५३॥

यद्यपि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अठारह पुराणों की रचना करके [भक्तों को] दे दिया है किन्तु उन्हें स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि कलियुगी मानव उन्हें भी नहीं पढ़ेंगे!

चौपाई— चहहिं लिखन अध्याय अठारह। प्रभु बिद्या तो अतिहिं अपारह॥
अब लगि पंचदसहिं लिखि पाये। होहिं अठारह अस मन भाये॥

इसी से वे [अठारह पुराणों के बदले] अठारह अध्याय लिखना चाह रहे हैं क्योंकि ब्रह्मविद्या तो अपार है। अब तक तो पन्द्रह अध्याय ही लिख पाये हैं जबकि ये अठारह हो जायँ, ऐसा मन में चाह रहे हैं।

प्रभुहु निरखि उन्हकी सेवकाई। उर महँ गये अतिहिं हरषाई॥
तेउ चाहत सब बेद पुराना। आगम निगम जे प्रथम बखाना॥

इधर भगवान भी उनकी सेवा-भावना देखकर हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हो गये। वे भी चाहते हैं कि समस्त वेद-पुराणों, श्रुतियों-स्मृतियों आदि में जो पहले कहा गया है-

तिन्हकर सार देउँ इहँ सारे। जाहि पढ़त पावहिं सुख भारे॥
अरु पावहिं पढ़ि नित्य परम पद। जाको अबलौं अतिहिं अगम बद॥

उनका मैं यहाँ पर सम्पूर्णता से सार तत्त्व दे दूँ, जिसका पाठ करने मात्र से भक्तगण दिव्य सुख प्राप्त कर लें, और उसके उपरान्त भी निरन्तर पाठ करते रहें तो परमपद की प्राप्ति हो जाय, जिसको प्राप्त करना अब तक अत्यन्त कठिन कहा गया है।

यासों रन की चिंता त्यागे। हृदय बनायँ कहन कर आगे॥

इसलिए उन्होंने युद्ध की चिन्ता छोड़ दी और आगे कहने का मन बना लिया।

दोहा— संजय पुनि लख का कहैं मोसों सबहिं बताव।
अभय होय संकोच तजि कछुवै नाहिं दुराव॥ ५४॥

[पुनः राजा धृतराष्ट्र ने कहा-] सञ्जय! देखो तो अब मधुसूदन क्या कह रहे हैं? मुझसे वह सब अभय होकर, संकोच का त्याग करके, कुछ भी न छिपाते हुए बताओ!

मासपारायण, सत्ताईसवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

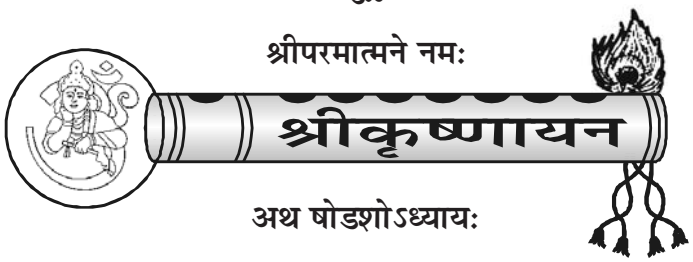

अथ षोडशोऽध्यायः

दयानिधि मां दयां कुरु॥
अहं प्रकटं तव उदरात्स्वामी तव चरणे प्रणमामि।
पतितं त्वं पावनः करसि मयि क्रोधं न धरु॥
तव गीता गंगोदकं पीत्वा आगच्छामि जगतं त्यक्त्वा।
युगयुगस्य प्रभु मां समर्पण तस्य प्रेमं चरु॥
भद्रं वा अभद्रं अस्मि किन्तु प्रभु तव पुत्रः अस्मि।
महाराजं अधुना पालय प्रभु निज नेत्रं न हरु॥

हे दयानिधे! मेरे ऊपर दया करें। हे प्रभो! मैंने आपके ही उदर से जन्म लिया है, अतः आपके ही चरणों में नतमस्तक होकर (चरणों की शरण लेकर) आपको प्रणाम कर रहा हूँ। हे जगत्पते! आप पतितों को भी पावन कर देते हैं, अतः मेरे ऊपर क्रोध न करें। मैं सारे जगत को त्यागकर, गीतारूपी गंगाजल का पान (स्वाध्याय) करते हुए आपकी शरण में आया हूँ। हे सच्चिदानन्द! आपके चरणों में मेरा युगों-युगों से समर्पण है उस प्रेम का स्मरण करें। मैं भला हूँ, बुरा हूँ, जैसा भी हूँ परन्तु हूँ तो आपका पुत्र ही। आपसे महाराज प्रार्थना करते हुए कहता है कि अब आप मेरा पालन करें, मेरी ओर से अपनी आँखें न फेरें।

चौपाई— गगन सिद्ध सुर सिव अज सेषा। निरखत रथ प्रभु सारथि भेषा॥
कहत सुकृत कस अर्जुन कीन्हें। जासे हरि अपनो करि लीन्हें॥

आकाशमण्डल से ब्रह्मा, शिव, शेषनाग, सिद्ध एवं देवगण भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को रथ पर सारथि के वेश में देखकर कह रहे हैं कि अहो! महावीर अर्जुन ने ऐसा कौन सा पुण्य किया था जिससे भगवान ने इन्हें अपना बना लिया है-

बिनु पूछें बर पथ दरसावत। जे जगपितु जगदीस कहावत॥
रोम रोम ब्रह्मांड अनंता। बिस्वरूप ब्यापक भगवंता॥

तथा बिना पूछे ही [अर्जुन को] श्रेष्ठ आध्यात्मिक मार्ग बता रहे हैं। जो जगत के पिता एवं जगत के ईश्वर कहे जाते हैं, जिनके रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा जो व्यापक विश्वरूप भगवान हैं-

उन्हहिं किये अर्जुन बस ऐसे। पितहिं करत कोउ प्रिय सुत जैसे॥
जे सुरतरु सुरधेनु कृपाला। चिंतामनिहु सुधा लखि काला॥

उन्हीं [परम प्रभु] को भक्त अर्जुन ने इस प्रकार वशीभूत कर लिया है, जिस प्रकार किसी पिता को कोई प्रिय पुत्र वश में कर लेता है। जो दयालु प्रभु स्वयं ही कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु एवं अमृतस्वरूप भी हैं, समय को देखकर-

सोइ प्रभु अर्जुन पाछें धावत। अस सौभाग्य अहो को पावत॥
सकल लोक जिहिं उदर समाये। सोइ हरि कुंतीसुत रथ आये॥

वे ही प्रभु, भक्त अर्जुन के पीछे लगे हुए हैं। अहो! ऐसा सौभाग्य किसे प्राप्त हो सकता है! समस्तलोक जिनके उदर में समाये हुए हैं, वे ही भगवान आज कुन्तीपुत्र अर्जुन के रथ पर विराजमान हैं।

जोगी जपी तपी सब ध्यावहिं। छिन पल प्रगटें हरिहिं मनावहिं॥
सोइ मनायँ पांडुसुत ऐसे। रूठे सुतहिं जननि कोउ जैसे॥

जिनके लिए समस्त योगी, जपी, तपी यही प्रार्थना करते हैं कि वे भगवान क्षणभर के लिए [हमारे नयनों के सम्मुख] प्रकट हो जायँ। वही भगवान पाण्डुपुत्र अर्जुन को ऐसे मना रहे हैं जैसे कोई माँ अपने रूठे हुए बालक को मना रही हो।

सृजत हरत रक्षत जग जोई। बिस्वम्भर जानत सब कोई॥
तेइ गहि रास अवरु लेइ चाबुक। रथ मनायँ भारत सम भावुक॥

जो प्रभु जगत का सृजन, संहार और पालन करते हैं, जिन्हें समस्त जगत विश्वम्भर (विश्व का भरण-पोषण करने वाला) जानता है, [घोड़ों की] रास पकड़े हुए वे ही परम प्रभु चाबुक लेकर रथ पर महात्मा अर्जुन जैसे भावुक भक्त को मना रहे हैं।

छंद— जे कंस केसी पूतना अरु बृषभ सकटासुर हनैं।
सिसुपाल हति दीन्ही बिमल गति संत सुर मुनि सब भनैं॥
तेइ पार्थ तम उद्धारि उनसेइ सकल असुर नसाइहैं।
दै स्वर्ग तिन्हकेउ पतितपावन भक्त संत बसाइहैं॥

जिन्होंने कंस, केशी, पूतना, वृषभासुर और शकटासुर तथा शिशुपाल आदि को मारकर सद्गति दे दी है, ऐसा सभी सन्त, मुनि एवं देवगण कहते हैं। वे ही परम दया के सागर प्रभु महात्मा अर्जुन के मोह (अज्ञान) का नाश कर उन्हीं के द्वारा समस्त असुरों का संहार करायेंगे तथा उन्हें भी स्वर्ग देकर पतित-पावन भगवान भक्तों एवं सन्तों की रक्षा करेंगे।

दोहा— भगत बछल प्रभु पार्थ रथ बैठे जस हरषाइ।
तस हमरे उर स्यंदनहिं डेरो डारहिं आइ॥ १ (क)॥

[सिद्ध एवं देवगण प्रार्थना कर रहे हैं कि] जिस प्रकार भक्तवत्सल भगवान महात्मा अर्जुन के रथ पर स्वत: ही प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हो गये हैं, वैसे ही हमारे हृदयरूपी रथ पर भी आकर अपना बसेरा बनावें।

महाराज तिन्ह भगति लखि पाय अतिहिं आनंद।
प्रभु चरननि पुनि पुनि नमत रथ लखि परमानंद॥ १ (ख)॥

महाराज भी देवताओं [एवं सिद्धों] की भक्ति देखकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हो रहा है और रथ पर बैठे हुए परमानन्द प्रभु को देखकर उनके चरण-कमलों की बारम्बार वन्दना कर रहा है।

चौपाई— अब प्रभु भक्त संत मन भावन। दैवी सम्पति लगे सुनावन॥
अहउँ सुद्ध साक्षी सत अक्षर। कै मम स्वामि अहहिं परमाक्षर॥

अब भक्तों एवं सन्तों के मन को प्रिय लगने वाले भगवान दैवी सम्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं- मैं शुद्ध, साक्षी, सत्य स्वरूप एवं अक्षर हूँ अथवा सर्वव्यापी परम अक्षर भगवान मेरे स्वामी हैं-

दोउ महँ एक बृत्ति उजियारी। यासें बसति अभयता भारी॥
सहज साधु हिय अति निर्मलता। आत्मज्ञान थिति परम प्रबलता॥

इन दोनों में से कोई एक भी वृत्ति [हृदय में] प्रकट है तो इसी से [भक्त के हृदय में] श्रेष्ठ अभयता वास करती है तथा उस साधु पुरुष के हृदय में सहज ही अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान की परम दृढ़ता के साथ नित्य स्थिति बनी रहती है।

कर्म बचन मन महँ छल नाहीं। काहु न ठग बरु आपु ठगाहीं॥
न्योछारत तन मन धन प्रभु हित। दमन करत नित इंद्रिन्ह मन चित॥

उसके मन, वचन, कर्म में छल नहीं रहता, वह किसी को ठगता नहीं भले ही स्वयं ठगा जाय। वह भगवान के लिए तन, मन, धन समर्पित किये रहता है तथा नित्य ही मन, बुद्धि, चित्त तथा इन्द्रियों का दमन करता रहता है।

करत श्रौत स्मार्त यज्ञ नित। तप स्वाध्यायहु रत निद्राजित॥
दया होय दीनन्ह दुख देखी। बिषय अलोलुप लाज बिसेषी॥

नित्यप्रति श्रौत-स्मार्त यज्ञ करता रहता है, वह निद्राविजयी तप और स्वाध्याय में भी रत रहता है। दीन-दु:खियों को देखकर दया से भर जाता है, उसमें विषय-लोलुपता नहीं रहती एवं [शास्त्र और लोक विरुद्ध आचरण के प्रति] अत्यधिक लज्जा का वास होता है।

तन इंद्रियनि चपलता हीना। अतिहिं सरल मन अरु न मलीना॥
सरल सुभाउ अहिंसाधारी। बिगत क्रोध अति सत ब्यवहारी॥

उसके शरीर और इन्द्रियों में चंचलता नहीं रहती, वह अति निर्मल एवं सरल मन वाला होता है। वह सरल स्वभाव वाला, अहिंसक, क्रोधरहित एवं सर्वथा सत्य व्यवहार वाला होता है।

सहज उदास सांति हिय रहई। नेकु पिसुनता नहिं चित गहई॥
तेज छमा धृति सौच अमानी। उर न द्रोह बोलइ मृदु बानी॥

उसमें [जगत के प्रति] सहज ही उदासीनता और हृदय में शान्ति बनी रहती है तथा उसके चित्त में परनिन्दा का अंशमात्र भी वास नहीं होता। उसमें तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अमानिता का वास रहता है, किसी के प्रति हृदय में वैर नहीं रहता और वह मृदुभाषी होता है।

दोहा— लच्छन जेहि महँ दीख अस सोइ नर देव कहाय।
मैं अरु सब सुर संत मिलि तेहिकर करहिं सहाय॥ २॥

हे पार्थ! जिस पुरुष में ये सब लक्षण दिखायी पड़ते हैं, वही पुरुष देवता (दैवी सम्पत्ति वाला) कहा जाता है। अत: मैं तथा सभी सन्त एवं देवता मिलकर उस पुरुष की रक्षा करते रहते हैं।

चौपाई— आसुरि सम्पति नरन्ह सुभाऊ। सुनहु करहु नहिं संगति काऊ॥
दम्भी दर्पी क्रोधी मानी। बोलहिं परुष बचन अभिमानी॥

अब आसुरी सम्पत्ति वाले लोगों के स्वभाव को सुनो, जिनका कभी भी संग न करे। उनमें दम्भ, दर्प, अत्यन्त मान-सम्मान की कामना, क्षण-क्षण में क्रोध तथा अभिमानयुक्त कठोर वचन बोलने का स्वभाव-

अति बिमूढ़ता सँग उपजावे। जहँ सम्पति ये असुर कहावे॥
दैवी सम्पति मोक्ष दिलावति। बंधन दै आसुरि बिकलावति॥

तथा साथ ही साथ अत्यन्त अज्ञानता प्रकट होती रहती है। जिनमें ये सम्पत्तियाँ होती हैं, वे ही असुर कहे जाते हैं। इनमें दैवी सम्पत्ति तो मोक्ष देने वाली होती है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन देकर विकल करती रहती है।

यासें सोक तजहु उर भारो। तुम्ह तौ दैबी सम्पतिवारो॥
होइहिं तव कल्यान यथारथ। रन कछु आँच न आवइ पारथ॥

इसलिए [हे महावीर!] हृदय के इस महत् शोक का परित्याग कर दो, क्योंकि तुम तो दैवी सम्पत्ति वाले हो। तुम्हारा कल्याण होना निश्चित है, हे पार्थ! [मैं सत्य कहता हूँ कि] इस रणभूमि में तुम्हें थोड़ी भी आँच नहीं आयेगी।

महाराज प्रभु बिरद सम्हारी। अब संतन्ह सों करइ गुहारी॥
आपहु निरखहु यह कस झाँकी। देखत गुनत लगति अति बाँकी॥

महाराज अब भगवान के स्वभाव को याद करके सन्तों से गुहार कर रहा है कि आप भी देखें कि यह कैसी [मनोहर] झाँकी है जो देखने और मनन करने में अति प्रिय लग रही है।

होति परीक्षा कुरु थल माहीं। जुटे सिष्य सब जनु गुरु पाहीं॥
जहँ गुरु अहैं कृष्ण भगवाना। अरु नृप सबरे सिष्य सुजाना॥

[ऐसा लग रहा है कि] मानो कुरुक्षेत्र में परीक्षा हो रही है, जहाँ गुरुजी (भगवान श्रीकृष्ण) के सम्मुख उनके समस्त शिष्य [परीक्षा देने के लिए] एकत्रित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण भगवान गुरु हैं तथा समस्त राजागण बुद्धिमान शिष्य हैं।

तिन्ह महुँ अर्जुन भीष्म द्रोण कृप। कौरव सुतनि करण अरु कछु नृप॥
निर्णायक इन्हकेरि परीक्षा। लेत जगत स्वामी निज इच्छा॥

उनमें भी महात्मा अर्जुन, पितामह भीष्म, गुरु कृपाचार्य, आचार्य द्रोण, समस्त कौरव पुत्र, दानवीर कर्ण और कुछ अन्य राजागण आदि, की जगत के स्वामी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द अपनी इच्छा से निर्णायक परीक्षा ले रहे हैं।

इनि महुँ सिष्य पार्थ इक ऐसे। प्रभुहि परीक्षक गुरु सुत जैसे॥

परन्तु उनमें भी महात्मा अर्जुन एक ऐसे शिष्य हैं मानो परीक्षक भगवान नारायण जैसे गुरु के ही पुत्र हों।

सोरठा— ते तिन्हिं नकल करायँ कूढ़हिं कौरव सुअन हिय।
भीष्म द्रोण हरषायँ अस्तम्भित कृप कर्ण तब॥ ३ (क)॥

वे (प्रभु) उन्हें (अर्जुन को) नकल करा रहे हैं जिसे देखकर कौरव पुत्र मन ही मन चिढ़ रहे हैं जबकि भीष्म और द्रोण अत्यन्त प्रसन्न हैं तथा कुलगुरु कृपाचार्य एवं दानवीर कर्ण स्तम्भित हो गये हैं।

दोहा— प्रस्नोत्तरहिं लिखायँ ते तिन्हिं अतिसय प्रिय जानि।
अपर बटुहु सुनि ध्यान सों लिखैं ताहि सच मानि॥ ३ (ख)॥

जिनको वे अति प्रिय जानकर प्रश्नों का उत्तर लिखा रहे हैं तथा वहीं अन्य ब्रह्मचारी (परीक्षार्थी) भी उसे सत्य मान ध्यान देकर लिख रहे हैं।

पक्षपात गुरु करि रहैं कछुक जरहिं हिय माँहिं।
कान देयँ हिय आय नहिं तउ डिंग हाँकत जाहिं॥ ३ (ग)॥

किन्तु गुरुदेव पक्षपात कर रहे हैं- ऐसा सोचकर कुछ मन में जल रहे हैं जबकि वे भी कान लगाकर सुन रहे हैं और कुछ समझ में न आने पर भी डींग हाँकते जा रहे हैं।

चौपाई— तिन्हि महँ सुनत युयुत्सुहु भाई। हरि बचनामृत कान लगाई॥
अरु उत्तीर्ण भयो जग जाने। तिमि सोउ सफल जो प्रभु बच माने॥

हे सज्जनो! उन लोगो में युयुत्सु भी भगवान के वचनामृत को कान लगाकर सुन रहा है और सम्पूर्ण जगत जानता है कि वह उत्तीर्ण हो गया। उसी प्रकार वह भी उत्तीर्ण हो जायेगा, जो भगवान के इन वचनों को मानेगा।

दैवी गुन जितनैं प्रभु गाये। तुम्हरे उर यदि सबहि बसाये॥
करहु न भय जग काह बिगारे। तजहु जो सबहिं अबहिं प्रभु तारे॥

भगवान ने जितने भी दैवी गुण बताये हैं, यदि उतने गुण आपके हृदय में हैं फिर तो आप भयभीत न हों, जगत के लोग आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। यदि सभी को अभी त्याग दें तो भगवान नारायण आपको अभी मुक्त कर देंगे।

इनि महँ कछु गुन जो उर नाहीं। तब आजहिं संकल्प कराहीं॥
जस बिनु चाहे होवति हिंसा। तब ब्रत धारहु परम अहिंसा॥

इन सद्गुणों में से जो कोई गुण आपके हृदय में नहीं हैं फिर [उनकी प्राप्ति के लिए] आज ही संकल्प करें। जैसे आपके न चाहने पर भी हिंसा हो ही जाती है तो [उसके निवारण के लिए] परम अहिंसा व्रत को धारण करें।

अस संकल्प करउ मन माहीं। मन बच करम न हिंसउँ काही॥
तीनि दिना पूरो होइ जावें। तब ब्रत दस दिन अउर बढ़ावें॥

मन में ऐसा संकल्प करें कि 'मन, वचन, कर्म' से अब किसी की हिंसा नहीं करूँगा। इस प्रकार जब [ऐसे व्रत का निर्वहन करते हुए] तीन दिन पूरे हो जायँ तो दस दिन के लिए उस व्रत को और बढ़ा दें।

दोहा— अस कछु मास बरष पुनि दिवस बढ़ावत जायँ।
एक दिन ऐसो आयेगो हिंसा सबहिं नसायँ॥ ४॥

इसी प्रकार पुनः कुछ दिन, मास और वर्ष के लिए अवधि बढ़ाते जायँ। तब एक दिन ऐसा आयेगा कि समस्त हिंसा नष्ट हो जायेगी-

चौपाई— सपनेहुँ होय न हिंसा कबहूँ। बरु सब जगत सतावै तबहूँ॥
ऐसोइ सब गुन लेहु बटोरी। जासे प्रभु पथ होय अँजोरी॥

और भले ही आपको सारा जगत सताये किन्तु स्वप्न में भी कभी आपसे हिंसा नहीं होगी। इसी प्रकार के अभ्यास द्वारा सभी गुणों को प्राप्त कर लें जिससे भगवत्प्राप्ति का मार्ग निर्विघ्न हो जाय।

सुरबाधा जब जब मग आवे। आपुहिं आपु पराजय पावे॥
अति कृपालु भक्तन्ह हित देखी। जिनि जिनि सों लह बिघन बिसेषी॥

तब तो जब जब भी रास्ते में देवबाधा आती जायेगी वह अपने-आप पराजित होती जायेगी। अत्यन्त कृपालु भगवान भक्तों का कल्याण देखते हुए जिन-जिन कारणों से विशेष विघ्न बाधाएँ प्राप्त होती हैं-

तिन्हि तिन्हि कारन पार्थ बहाने। कहत जायँ रन महुँ न लजाने॥
करैं लाज किनसों करुनानिधि। समुझाये लोगन्ह कहँ बहु बिधि॥

उन्हीं सब कारणों को अब महात्मा अर्जुन के बहाने भगवान कह रहे हैं, युद्धभूमि में भी संकोच नहीं कर रहे हैं। दयानिधि भगवान संकोच भी किससे करें; क्योंकि सबको सब प्रकार से पूर्व में ही समझा चुके हैं।

अंतिम छन प्रभु ज्ञान जो देहीं। एहि पुनि भीष्म द्रोन सुनि लेहीं॥
कहि न सकैं गुरुजन मन मारी। प्रभुहु न सुधि बुधि लीन्हिं हमारी॥

अब अन्तिम क्षण में भगवान जो ज्ञान दे रहे हैं, [वह इसलिए कि] पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य ध्यान देकर पुनः सुन लें, जिससे ये गुरुजन भारी मन से ऐसा न कह सकें कि भगवान ने हमलोगों पर ध्यान नहीं दिया।

दोहा— अवसर पर अवसर दये जग कृपालु भगवान।
महाराजहू लखि कहे दक्ष सुनैं दै कान॥ ५ (क)॥

जगत पर कृपा करने वाले भगवान ने उन्हें अवसर पर अवसर दिया- महाराज ऐसा देख कर कह रहा है जिसे सभी प्रबुद्धजन ध्यान देकर सुन लें।

तउ नहिं मानत जबहिं कोउ आपैं कर ब्यवहार।
होइ बिबस हरि ताहि सिर टुकड़े करत हजार॥ ५ (ख)॥

तो भी जब कोई नहीं मानता और मनमाना व्यवहार करता है, फिर तो भगवान विवश होकर उसके सिर के हजारों टुकड़े कर ही देते हैं।

चौपाई— अब आवहु रन माँहिं सुजाना। हरि की कही सुनहु निज काना॥
अर्जुन दुइ प्रकार नर अहहीं। सुर अरु असुर प्रकृति हिय गहहीं॥

हे बुद्धिमानो! अब आप रणभूमि में आ जायँ और भगवान का कहना अपने कानों से सुन लें- [जहाँ भगवान कह रहे हैं-] हे पार्थ! इस जगत में दो प्रकार के पुरुष पाये जाते हैं जिनमें कोई आसुरी एवं कोई दैवी सम्पत्ति को हृदय में धारण करके जन्म लेते हैं।

तिन्ह महँ दैवी प्रकृति लखायों। अरु पहिलेउँ बहुबिधि एहि गायों॥
आसुरि प्रकृति सुनहु अब भाई। जासे को जग बुरो लखाई॥

उनमें मैंने दैवी प्रकृति वाले पुरुषों का स्वरूप दिखा दिया और पहले भी इसे विस्तार के साथ बहुत प्रकार से कहा है। अतः हे प्रिय! अब आसुरी प्रकृति वालों के विषय में सुनो जिससे जगत में कौन बुरा है, यह दिखायी पड़ जायेगा।

जिन्हकी संगति अति दुखदाई। उनसों निज कहँ लेहु बचाई॥
इनसों बरु भल होतु लखाई। तउ न गहहु कहुँ ताहि भलाई॥

जिनकी संगति अत्यन्त दुःख देने वाली होती है, उनसे तुम अपनी रक्षा करो। इनसे भले ही अपना भला होता हुआ दिखायी पड़े तो भी उस भलाई को कभी स्वीकार न करो।

निज जीवन बरु जाय नसाई। तउ उनसों नहिं करहु मिताई॥

भले ही [उस भलाई के अभाव में] तुम्हारा जीवन नष्ट हो जाय फिर भी उनसे मित्रता मत करो।

दोहा— नातरु आजीवन ठगहिं देइ दुहाई ताहि।
भीष्म द्रोण अरु कर्ण सम नर बहु उपमा जाहि॥ ६॥

अन्यथा वे उसी भलाई की दुहाई देकर तुमको आजीवन ठगते रहेंगे, जिसके उदाहरण पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कर्ण के समान अनेक लोग हैं।

चौपाई— ते जानत नहिं कब को काजा। करहिं नाहिं तो होय अकाजा॥
तिन्ह प्रबृत्ति परमारथ नाहीं। उठति न बृत्ति कबहुँ हिय माहीं॥

वे यह नहीं जानते कि कब कौन-सा कार्य नहीं करेंगे तो क्या हानि होगी तथा उनकी परमार्थ पथ में प्रवृत्ति भी नहीं होती और न ही कभी ऐसी वृत्ति ही हृदय में उठती है।

निबृत्त होन चहिय कब कासे। यहु उन्हके हिय नाहिं प्रकासे॥
नाहिं सौच आचार बिचारा। नहिं उन महँ कछु सत ब्यवहारा॥

कब किनसे निवृत्त होना चाहिए, यह भी उनके हृदय में प्रकट नहीं हो पाता है, न उनमें पवित्रता, न मर्यादित आचार-विचार, न ही कुछ सत्य व्यवहार होता है।

कहत झूठ जग बिनु आधारो। कोउ ईस्वर नहिं सासन वारो॥
नारि पुरुष सँग जग उपजावत। मूढ़ काम जग हेतु बतावत॥

वे कहते हैं कि जगत झूठा और बिना आधार का है तथा इसपर शासन करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। अरे! यह जगत स्त्री-पुरुष के संयोग से प्रकट हुआ है- अत: वे मूर्ख जगत का मूल कारण 'काम' ही है, ऐसा कहते हैं।

बृथा दृष्टि अस गहतहि भाई। जिनि मूढ़न्ह मति गई नसाई॥
जगत अहित हित ते प्रगटावें। अतिहिं उग्रकर्मा कहलावें॥

हे प्रिय पार्थ! ऐसी मिथ्या दृष्टि धारण कर लेने से ही जिन अविवेकियों की बुद्धि नष्ट हो गयी है, वे जगत का अहित करने के लिए ही [संसार में] जन्म लेते हैं और अति क्रूरकर्मा कहलाते हैं।

सोरठा— सुद्ध पंथ पग नाहिं तिन्ह मुख सोहत मृदु बचन।
पापकर्म महँ जाहिं सापहु मिलैं न लखहिं कछु॥ ७॥

उनके मुख में मधुर वचन शोभित होता है किन्तु उनके चरण उचित मार्ग पर नहीं होते। वे [सदैव] पापकर्म में ही प्रवृत्त रहते हैं जिससे शाप मिलते हैं फिर भी सचेत नहीं होते।

चौपाई— बिषय अगिनि महँ जरत न जानत। कूकर खर सम तहँ सुख मानत॥
नीच कुचीलनि असत औघड़ी। माया महँ नित भरत चौकड़ी॥

उन्हें विषयरूपी अग्नि में जलते रहने पर भी उसका भान नहीं होता और कुत्ते एवं गधे के समान उसी में सुख मानते रहते हैं। वे नीच, मलिन, अपवित्र पुरुष वाममार्गी होते हैं और माया में दम्भ भरते रहते हैं।

जो सतपुरुष सील अति साधू। निंदहि तिन्ह बहु भाँति अबाधू॥
पायँ कबहुँ जो कोउ सम्मानहिं। अस गर्वित कछु काहु न मानहिं॥

उनकी ऐसी बुद्धि हो जाती है कि सत्पुरुषों, शीलवानों एवं सन्तों की सदैव निंदा करते रहते हैं। यदि कभी उन्हें कोई सम्मान प्राप्त हो जाता है तो वे मद में अन्धे होकर किसी को कुछ नहीं समझते।

बृथा प्रसंसा सुनि निज भाई। मूँछ ताव दैं अति अकड़ाई॥
जोग जाग जप साधन त्यागी। खायँ पियें जग बिचर अभागी॥

हे प्रिय! अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर मूँछ पर ताव देते हुए वे अकड़ते रहते हैं। जप, योग और यज्ञ आदि श्रेष्ठ साधनों को त्यागकर वे अभागे भक्षाभक्ष खा-पीकर व्यर्थ ही जगत में विचरण करते रहते हैं।

परतिय गामी चोर जुवारी। करि मदपान फिरहिं परचारी॥
उर न धरम कर धरम पताका। नित फहराति करइ को बाँका॥

वे परस्त्रीगामी, चोर, जुआरी मद्यपान करके दम्भ भरते हुए घूमते रहते हैं। उनके हृदय में तो धर्म नहीं होता किन्तु हाथों में धर्म-पताका फहराती रहती है अर्थात् धार्मिक होने का दिखावा करते रहते हैं और कहते रहते हैं कि हमारा बालबाँका कौन कर सकता है।

दुर्ब्यवहार करहिं अस निसदिन। चित्रगुप्त लीखैं सब गिन गिन॥
गिनत न कछु पर ते यमदूतन्हिं। गुनैं हटकि मरिहौं तिन्हिं जूतन्हिं॥

इस प्रकार अहर्निश दुर्व्यवहार करते रहते हैं, जिसे गिन-गिनकर चित्रगुप्त लिखते रहते हैं। परन्तु वे यमराज के दूतों को भी कुछ नहीं गिनते और ऐसा समझते हैं कि उन्हें भी रोककर जूतों से पिटाई कर देंगे [ऐसे अहंकारी होते हैं]।

कबहुँ न पुरें कामना जोई। तिन्हकर अवलम्बन गहि सोई॥
दम्भ मान मद असुभ अचारी। तम कारन मिथ्या मतधारी॥

जो कामनाएँ कभी पूर्ण हो ही नहीं सकतीं, वे उनका ही आश्रय लेकर दम्भ, मान, मद तथा अशुभ आचार-विचार वाले मोह के कारण मिथ्या सिद्धान्तों को धारण करके-

कपट झूँठ सँग बिचरत एहि जग। निंदत निसदिन परमारथ मग॥

कपट और झूठ के साथ इस जगत में विचरण करते हुए दिन-रात परमार्थ पथ की निंदा करते रहते हैं।

दोहा— होइ सदा चिंताग्रसित बिषय भोग चित देइ।
पुरुषारथ बस इतनोइ अस उर निस्चय लेइ॥ ८॥

इस प्रकार वे सदा ही चिन्ता से ग्रसित होकर विषयभोगों में मन लगाकर, बस इतना ही पुरुषार्थ है- ऐसा हृदय में निश्चय कर-

चौपाई— बँधे रहहिं सत आसा पासा। काम क्रोध के बस ते दासा॥
एहि पूरन हित परधन हारी। निज भंडार भरहिं ते भारी॥

सैकड़ों आशारूपी पाशों से बँधे रहते हैं तथा एकमात्र काम-क्रोध के ही दास बने रहते हैं। इसी काम की पूर्ति के लिए पराये धन का हरण कर अपने भण्डार को विशेष रूप से भरते रहते हैं।

सोचत आज मनोरथ मोसें। प्राप्त भयो ऐसो उर तोसें॥
अहो आज तो इतनों पाये। कल परसों बहु धन हुइ जाये॥

वे सोचते रहते हैं कि आज मेरा यह मनोरथ सिद्ध हुआ- इस प्रकार हृदय में सन्तुष्ट होते रहते हैं। वे यह भी सोचते हैं कि अहो! आज तो मैंने इतना प्राप्त किया और कल-परसों अर्थात् भविष्य में विशेष धन प्राप्त कर लूँगा।

दुर्जय सत्रु मरायो मोसें। पामर मरें कालि अस तोसें॥
ईस्वर अहउँ अहउँ मैं जोगी। अति बलवान दिब्य सुख भोगी॥

'मेरे द्वारा दुर्जय शत्रु मार डाला गया तथा अन्य पामर (पापात्मा) कल मर जायेंगे'- इस प्रकार वे अति सन्तुष्ट होते रहते हैं। [वे कहते रहते हैं कि] 'मैं ही ईश्वर हूँ, योगी हूँ, मैं ही अति बलवान तथा मैं ही सबसे विशेष ऐश्वर्यों को भोगने वाला हूँ।'

मो सम सुखी न अरु धनवानो। मो सम अपर न कोउ कुलवानो॥

'मेरे समान सुखी, धनवान और कुलवान दूसरा कोई नहीं है।'

दोहा— दान देइ करि यज्ञ बहु पूजित सबसों होइ।
लहउँ मोद उर याहि बिधि मोसों बड़ो न कोइ॥ ९॥

अत: मैं भी यज्ञ करके तथा दान देकर सबसे पूजित हो हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त करूँगा- इस प्रकार [संसार में] मुझसे बड़ा कौन है!

चौपाई— अस बिचारि भ्रांतिहिं चितधारी। जगत जाल महँ बँधि अति भारी॥
काम भोग महँ अति अनुरक्ता। गिरत नरक अपवित्र अभक्ता॥

ऐसा विचार करके वे अभक्त भ्रान्त चित्त हुए इस धरा पर मोहरूपी जगत-जाल में अच्छी प्रकार फँसकर

विषयभोग में आसक्त होकर अपवित्र नरक में गिर जाते हैं।

निजहिं श्रेष्ठ अति माननवारे। धन मद मान भये मतवारे॥
बिनयहीन पाषंडी भारी। करहिं यज्ञ बिधिहीन सुरारी॥

अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले वे [अशिष्ट पुरुष], धन, मान, मद में ही अत्यन्त मतवाले होते हैं। वे देवताओं के शत्रु पुरुष हृदय में पाखण्ड को धारणकर विधि-विधान से रहित यज्ञों को किया करते हैं।

नाम हेतु बस यज्ञहिं करहीं। पात्र कुपात्र न हिय कछु धरहीं॥
अहंकार बल दर्पहिं धारी। काम क्रोध के आश्रित भारी॥

वे नाममात्र के [दिखावटी] यज्ञों को किया करते हैं तथा पात्र-कुपात्र का विचार नहीं करते एवं अहंकार, बल, दर्प को धारण कर अत्यन्त काम-क्रोध के आश्रित होकर-

ते निज पर तन महँ मोहिं जानी। द्वेष करत अरु चल मनमानी॥
मेरो पथ जे चल हरषाई। ते निंदत उनकहुँ अधिकाई॥

अपने और पराये शरीर में रहनेवाले मुझ अन्तर्यामी को [हृदय में वास करता हुआ] जानकर वे मुझसे ही द्वेष करते हुए मनमाने ढंग से चलते रहते हैं तथा जो मेरे मार्ग से प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं उनकी भी वे अत्यधिक निन्दा करते रहते हैं।

दोहा— ऐसे द्वेषि नराधमन्हि क्रूर कर्मि जग माहिं।
हिंसक आसुरि योनि महँ डारउँ नित बिकलाहिं॥ १० (क)॥

अत: ऐसे द्वेषियों, नराधमों, क्रूरकर्मियों को मैं जगत में हिंसक आसुरी योनियों में भेजता रहता हूँ जिससे वे सदा विकल होते रहते हैं।

जनम जनम वासेहुँ अधम जोनि माहिं ते जायँ।
सुनहु साँच कौन्तेय अस मोहिं कबहुँ नहिं पायँ॥ १० (ख)॥

[इतना ही नहीं] वे जन्म-जन्मों तक उससे भी अधम योनियों में जाते रहते हैं। अत: हे कौन्तेय! तुम यह सत्य मान लो कि ऐसे पुरुष मुझे कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।

चौपाई— काम क्रोध लोभहु अरि भारी। डँसहिं अहर्निसि उर बिष धारी॥
असि इव छेदि कुंत इव बेधहिं। रजु इव बाँधि चोर इव सेंधहिं॥

इस जगत में ये ही तीनों (काम, क्रोध और लोभ) भयंकर शत्रु हैं, जो मानो बहुत-से विषधरों के समान रात-दिन डसते रहते हैं। वे तलवार के समान काटते, भाले के समान बेधते, रस्सी के समान बाँधते और चोर के समान सेंध लगाते हैं।

दहैं अगिनि इव तम इव बाधहिं। बुद्धि नासि निज स्वारथ साधहिं॥
सहसा पाथर इव गिरि आवत। बिबस होइ नर इत उत धावत॥

वे अग्नि के समान जलाते हैं, अंधकार के समान बाधा डालते हैं और बुद्धि का नाश करके अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं। वे सहसा पत्थर के समान लुढ़कते हुए आ जाते हैं जिससे विवश होकर मनुष्य इधर-उधर दौड़ता रहता है।

मोहकूप महँ नरहिं गिराई। मर्यादा सब देहिं तुराई॥
एहि बिधि नरक द्वार बनि जावें। असुभ नरक महँ अति भरमावें॥

वे जब आ जाते हैं तो मोहरूपी कुएँ में मनुष्य को गिराकर सारी मर्यादा भंग करा देते हैं। इस प्रकार वे नरक का द्वार बन जाते हैं और अशुभ नरकों में घुमाते रहते हैं।

जहँ भोजन प्रस्तर कर भाई। करन परे जो अति दुखदाई॥
अंग भंग कियो जाय असनि सों। भर्‌यो जाय मुख पूय रसनि सों॥

हे प्रिय! जिस नरक में पत्थर का ही भोजन करना पड़ता है, जो अत्यन्त दु:ख देनेवाला होता है तथा [यमदूतों के द्वारा] वज्र से अंग भंग किया जाता है एवं मुख को पीब जैसे दुर्गन्धित तरल पदार्थ से भर दिया जाता है।

छंद— पावक सों जार्‌यो जाय तन पुनि करतरी कतराय जू।
हिम माहिं राखहिं त्वग उतारहिं तहँ न कछु मतराय जू॥
पाषाण पर रखि अंग घीसत गंधसार समान जहँ।
अरु लौह साँकल तप्त बाँधहिं देह बहु करि गान तहँ॥

अग्नि से शरीर को जलाया जाता है तथा पुनः उसे कैंची से काटा जाता है, बर्फ में रखा जाता है, त्वचा उतार ली जाती है, आप वहाँ कुछ भी चपलता नहीं कर सकते। जहाँ पत्थर पर रखकर अंगों को चन्दन के समान घीसा जाता है, लोहे की बेड़ियों को तपा करके वीभत्स गायन करते हुए शरीर को बाँधा जाता है।

बिनु कछु खिलाय पिलाय पावक बान तन बरसायँ जू।
कबहूँ करहिं मुख बंद अति तड़पाय कै हरषायँ जू॥
कबहूँ कटीलो सूल सम पथ लाय बहु दौरायँ जू।
कबहूँ पिलावहिं ऊष्ण अति कोउ तेल तहँ बौरायँ जू॥

[वे यमदूत] बिना कुछ खिलाये-पिलाये ही शरीर पर अग्नि-बाण बरसाते रहते हैं और कभी मुख को बन्द कर अति तड़पाते हुए अत्यन्त हर्षित होते रहते हैं। कभी तो कँटीले और शूल के समान मार्ग पर बहुत दौड़ाते हैं और कभी उबलता हुआ तेल पिला देते हैं जिससे वहाँ पागल हो उठते हैं।

दोहा— अस लखि तीनिउ सत्रुहिं काम क्रोध अरु लोभ।
तजनो चहिए आजही पुनि न होय उर क्षोभ॥ ११॥

ऐसा जानकर काम, क्रोध और लोभ- इन तीनों शत्रुओं को आज से त्याग देना चाहिए जिससे पुनः हृदय में क्षोभ न हो।

चौपाई— खीझि कहहिं धृतराष्ट्र भुआला। अबलौं सुनि मैं भयों बिहाला॥
अब बताउ नास्तिक मत भाई। जाहि कहे माधव अकुलाई॥

राजा धृतराष्ट्र ने चिढ़कर कहा- सञ्जय! अबतक मैं यह सब सुन-सुनकर व्याकुल हो गया हूँ। अब तुम्हीं इस नास्तिक मत को बताओ जिसे माधव ने व्याकुलता में कहा है।

नृप यहि देख्यों मैं नभ माहीं। यहि पूछे सुर सिद्धनि पाहीं॥
एक सिद्ध जे अतिहिं सयाने। एहि उत्तर महँ कथा बखाने॥

[सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! गगनमण्डल में मैंने देखा कि यही प्रश्न देवताओं ने सिद्धों से किया। उन सिद्धों में से एक सिद्ध जो अत्यन्त कुशल थे, उन्होंने इसके उत्तर में एक कथा कही-

जनकबंसि जनदेव नृपाला। मिथिला नगरी बसत दयाला॥
आत्मज्ञान कर ते जिज्ञासू। अरु सतसंगहिं परम पिपासू॥

मिथिला नगरी में वास करने वाले जनकवंशी राजा जनदेव अत्यन्त दयालु थे, वे आत्मज्ञान के जिज्ञासु तथा सत्संग के भी अत्यन्त प्यासे रहते थे।

ता हित सत गुरुजनहिं बुलाई। सेवैं सदन नित्य हरषाई॥
ऋषिहु पंचसिख बर बिज्ञानी। आइ कहे नृप सों मृदु बानी॥

उसी के लिए सौ गुरुजनों को बुलाकर अपने भवन में प्रसन्नतापूर्वक नित्य सेवा करते थे। तभी ऋषि पंचशिख जो श्रेष्ठ विज्ञानवेत्ता थे, आकर राजा से मधुर वचन बोले-

दोहा— राजन चाहहु जोइ कछु पूछहु निर्भय होइ।
तब नृप पूछे जोइ कछु मुनिहु बताये सोइ॥ १२(क)॥

हे राजन्! आप जो कुछ भी जानना चाहते हैं उसे अभय होकर पूछें। तब राजा जनदेव ने जो कुछ पूछा उसे मुनि ने बता दिया।

कहे जातिनिर्बेद पुनि बरनि करमनिर्बेद।
बहुरि सर्बनिर्बेद कहि भाषे ब्रह्म अभेद॥ १२(ख)॥

उन्होंने जातिनिर्वेद (जन्मते समय जो कष्ट होता है उस पर विचार कर शरीर से वैराग्य होना जातिनिर्वेद है) का वर्णन कर पुन: कर्मनिर्वेद (कर्मों से उत्पन्न फल द्वारा नाना योनियों में हुए क्लेश पर विचार करके पाप तथा काम्य कर्मों से वैराग्य होना) का वर्णन किया। इसके पश्चात् सर्वनिर्वेद (जगत के समस्त भोगों को क्षणभंगुर जान सबसे विरक्त होना) कहकर भेदरहित ब्रह्म का वर्णन किया।

चौपाई— कहि कहि परमतत्व इमि बहुबिधि। मुनि जनदेवहिं दीन्हि ब्रह्मसिधि॥
ब्रह्मज्ञान लहि कहेउ नृपाला। कहहु नास्तिकन्ह मतहु कृपाला॥

इस प्रकार मुनीश्वर ने नाना प्रकार से परम तत्त्व का वर्णन कर करके राजा जनदेव को ब्रह्मज्ञान दे दिया। ब्रह्मज्ञान पा करके राजा ने कहा- हे कृपालु! आप नास्तिकों का सिद्धान्त भी बता दें-

जेहि मत सों ब्रह्महिं नहिं मानहिं। याहि बिषय महँ का ते जानहिं॥
कहे मुनीस्वर सुनहु भुआला। मूढ़ परे जो तम के पाला॥

जिस सिद्धान्त से वे भगवान को स्वीकार नहीं करते हैं। वे इस पारमार्थिक विषय में क्या कहते हैं? मुनीश्वर पंचशिख ने कहा- हे राजन्! सुनें, जो मूर्ख अज्ञान के चक्रव्यूह में फँसे हुए हैं-

ते नास्तिक अस कहत दृढ़ाई। तन आतम नित नसत लखाई॥
साक्षि जगत सब एहिकर भाई। तउ कोउ सास्त्र प्रमानहिं लाई॥

वे नास्तिक दृढ़तापूर्वक ऐसा कहते हैं कि शरीररूपी आत्मा नित्य ही नाश होता हुआ दिखाई पड़ रहा है। हे भद्र! इस बात का सारा जगत साक्षी है। तो भी यदि कोई शास्त्र प्रमाण के द्वारा-

कहत आतमा भिन्न देह सों। जिमि गृहस्वामी पृथक गेह सों॥
यह अनुभव ताकर सच नाहीं। लोक बिरुद्ध असंगत आहीं॥

कहता है कि आत्मा शरीर से कोई पृथक् तत्त्व है जैसा कि घर का स्वामी घर से पृथक् है तो उसका यह अनुभव सत्य नहीं है बल्कि लोक विरुद्ध एवं असंगत है।

दोहा— यहउ सास्त्र सिद्धांत सों यदि सच मान्यो जाहि।
कै सरीर सों बिलग कोउ आतम जग महँ आहि॥ १३ (क)॥

यदि इस बात को भी शास्त्र के सिद्धान्त से सत्य मान लिया जाय कि जगत में शरीर से भिन्न कोई आत्मा है-

अजर अमर जो नित अहै स्वर्गादिक महँ जाइ।
सुख भोगत सब दिब्य तहँ हृदय अतिहिं हरषाइ॥ १३ (ख)॥

जो अजर, अमर एवं नित्य है और स्वर्गादिक लोकों में जाकर वहाँ वह हृदय में अति प्रसन्नतापूर्वक सभी दिव्य सुखों को भोगता है-

चौपाई— तौ यह बात कहावे वैसी। चारण नृपगुन गावहिं जैसी॥
आसिस देत तेउ सब कहहीं। अजर अमर मेरो नृप अहहीं॥

तो यह बात वैसी ही कही जायेगी जैसे बन्दीजन राजा का गुण गाते हुए कहते हैं। वे भी राजा को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि मेरे राजा अजर अमर हैं।

बात औपचारिक जस तिन्हकर। तैसोइ मान्यो जाय सास्त्रकर॥
अस तन आतम जब मरि जावे। सोइ ताहिकर मरण कहावे॥

अत: जिस प्रकार उनकी बात औपचारिक होती है वैसे ही शास्त्र की बात मानी जायेगी। इस प्रकार जब शरीररूपी आत्मा मर जाता है तो वही उसका मरण कहा जाता है।

जग ऐस्वर्य बिपुल सुख जोऊ। तेइ स्वर्ग सुख अपर न कोऊ॥
आगम अरु अनुमान प्रत्यक्षा। त्रय प्रमान सों कोउ मत रक्षा॥

इस लोक में जो नाना प्रकार के सुख एवं ऐश्वर्य हैं, वे ही स्वर्गीय सुख हैं, कोई अन्य नहीं। शास्त्र, अनुमान और प्रत्यक्ष- इन्हीं तीनों प्रमाणों से किसी भी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

पर आगम अनुमानहु दोऊ। प्रत्यक्षहिं बिपरीत जो होऊ॥
तौ इनिपर बिस्वास न होई। करइ तो जड़ बिस्वासहि सोई॥

किन्तु शास्त्र और अनुमान दोनों यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के विपरीत हैं तो इन दोनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि कोई करता है तो वही अंधविश्वास कहा जाता है।

दोहा— तन दीखत जनमत मरत यहि प्रत्यक्ष प्रमान।
करम करत सुख दुख लहत अस एहि ब्रह्म बखान॥ १४॥

अरे! शरीर जन्म लेते और मरते हुए सबको दीख रहा है, यही प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा यही कर्म करते हुए सुख-दु:ख को भोगता है इसलिए इस शरीर को ही ब्रह्म कहा गया है।

चौपाई— जिमि बट बीज माहिं फल फूला। छिपें न दीख पत्र अरु मूला॥
जिमि तृन चरति धेनु जब भाई। दुरे दूध दधि तब प्रगटाई॥

जैसे वटवृक्ष के बीज में ही फल, फूल, पत्ते और उसका मूल सबकुछ छिपा रहता है दिखायी नहीं पड़ता अथवा जैसे जब गाय चारा खाती है तो उसीमें से छिपे हुए दूध, दही आदि प्रकट हो जाते हैं-

तिमि जल पवन तेज महि योगत। प्रगटि जीव तन सँग सब भोगत॥
जिमि गुड़ बहु औषधिहिं मिलाये। प्रगटत मद्य पियत बौराये॥

उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों तत्त्वों के संयोग से शरीर के साथ ही आत्मा प्रगट होकर सबकुछ भोगता है। जैसे गुड़ में बहुत-सी औषधियों को मिलाने से शराब का गुण प्रकट हो जाता है जिसके पीने से व्यक्ति विक्षिप्त-सा हो जाता है-

तिमि तन महँ जो बीर्य लखाये। तेहिसों तन आतम प्रगटाये॥
सुरति मूढ़ मन जिमि प्रगटावे। जड़ तन तिमि ब्रह्महिं उपजावे॥

उसी प्रकार शरीर के अन्तर्गत जो वीर्य दिखाई पड़ता है उसी से शरीररूपी आत्मा प्रकट होता है। जैसे जड़ मन, चेतन स्मृति को प्रकट कर देता है उसी प्रकार जड़ शरीर चेतन ब्रह्म को प्रकट कर देता है।

जिमि लखाय चुम्बक जड़ आही। पर लौहहिं खीचै निज पाही॥
तिमि तन इनि इद्रिंनि मन चालक। अस यहि ब्रह्म न कोउ प्रतिपालक॥

अथवा जिस प्रकार देखा जाता है कि चुम्बक जड़ है किन्तु लोहे को अपनी तरफ खींच लेता है, उसी प्रकार शरीर इन इन्द्रियों सहित मन का संचालक है। अत: इस देहरूपी आत्मा का कोई स्वामी नहीं है।

जिमि रबिमनि अति सीतल भाई। पर रबि किरन योग दहकाई॥
तिमि रस रुधिर योग जब पावे। बीर्यहु जठरानल प्रगटावे॥

जैसे सूर्यकान्तमणि अत्यन्त शीतल होती है किन्तु सूर्य की किरणों के मिलने से वह आग प्रकट करने लगती है उसी प्रकार वीर्य भी जब रस और रज का योग प्राप्त करता है तो जठरानल प्रकट कर देता है।

छंद— जिमि सिंधु जल महँ प्रगटि बड़वानल जलहिं भक्षण करै।
तिमि बीर्य सों तन प्रगटि बीर्यहिं पुनि प्रगटि तेहि कहँ धरै॥
अस देह सों नहिं भिन्न कोऊ आतमा सच जानहू।
हे सिद्ध सुर यहि नास्तिकनि कर बाद ब्यर्थहिं मानहू॥

जैसे समुद्र के जल में बड़वानल प्रकट होकर जल का भक्षण कर जाता है उसी प्रकार वीर्य के द्वारा शरीर उत्पन्न होकर पुन: वीर्य उत्पन्न करता है और उसकी रक्षा करता है। इस प्रकार शरीर से भिन्न कोई अन्य आत्मा नहीं है ऐसा यथार्थ समझें। हे सिद्धो! हे देवताओ! यही नास्तिकों का सिद्धान्त है जिसे व्यर्थ का बकवास मानना चाहिए।

दोहा— समुझि गये नास्तिक मतहिं हे भुआल का आपु।
जेहि गहि एहि संसार महँ करहिं जहाँ ते दापु॥ १५॥

[सञ्जय ने कहा-] हे पृथ्वीनाथ! आप क्या नास्तिकों के सिद्धान्त को समझ गये जिसे स्वीकार कर वे इस

संसार में चाहे जहाँ दम्भ भरते रहते हैं।

चौपाई— कह नृप संजय यह छन नाहीं। मधुसूदन रन बिच कह जाहीं॥
नृप सबकै सम्मुख प्रभु कहहीं। जिहिं संकेत सबै हिय गहहीं॥

तब राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! जिसे मधुसूदन युद्ध के मैदान में [इस समय] कह रहे हैं? उसके लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। [सञ्जय ने कहा-] हे राजन्! प्रभु तो यह सबके सामने कह रहे हैं तथा सभी उनके संकेत को हृदय में समझ रहे हैं।

लखइ आपु कहँ जो जस अहई। अब समुझन कहँ का कछु रहई॥
कपटी कुटिल ढीठ अति घाती। लाग लगावन हित जिन्ह थाती॥

जो जैसे हैं वे अपने आपको वैसा ही देख रहे हैं। अब समझने के लिए क्या रह गया है? क्योंकि जो कपटी, कुटिल, ढीठ और अत्यन्त घात करने वाले हैं तथा जिनका सारा पुरुषार्थ झगड़ा लगाने के लिए ही है-

निर्दय लोभी खोटौ रूढ़ा। बूझहिं निज सुजान पर मूढ़ा॥
चमड़ी दमड़ी कर जे चाकर। लंपट छलैं जुद्ध महँ जाकर॥

जो निर्दयी, लोभी, खोटे एवं जड़ हैं, जो अपने को ही बुद्धिमान समझते हैं परन्तु मूढ़ होते हैं, जो चमड़ी एवं दमड़ी के दास एवं लंपट तथा रणभूमि में जाकर भी धूर्तता करनेवाले हैं-

नीच कुलज लंगर टुंडक अति। पर सम्पत्तिहिं बोरन के मति॥
काहुहि नैंकु न भावनवारे। नित प्रति कलह मचावनवारे॥

जो नीच, लज्जाहीन, अत्यन्त झगड़ालू (उद्दण्ड), सबके अधिकार को छीनने वाले एवं दूसरे की सम्पत्ति को डुबाने की ही बुद्धि रखने वाले हैं, किसी को तनिक भी प्रिय न लगने वाले एवं सदा ही कलह करने वाले हैं-

दोहा— सोचहिं अस कहि अर्जुनहिं कृष्ण बढ़ाय उछाह।
करइ युद्ध हर्षित हृदय होय स्वार्थ निरबाह॥ १६॥

वे सभी सोच रहे हैं कि यह कृष्ण ऐसा कहकर अर्जुन का उत्साह बढ़ा रहा है, जिससे वह युद्ध करे और इसका (कृष्ण का) स्वार्थ सिद्ध हो।

चौपाई— यहउ लखहिं हम पर ये बाना। तकि तकि कृष्ण करइ संधाना॥
पर हमतौ नहिं माननवारे। एहि अब सीख सिखावनवारे॥

[और हे राजन्!] वे यह भी देख रहे हैं कि यह कृष्ण इन व्यंग्य बाणों को देख-देखकर हमपर ही संधान कर रहा है, परन्तु हम अब मानने वाले हैं नहीं अपितु इसको ही शिक्षा देने वाले हैं।

हमरें पक्ष पितामह जोधा। बिस्वबिजेता जुद्ध पुरोधा॥
परसुराम सों लोहा लीन्हें। तिन्हकर मन अपुनें बस कीन्हें॥

अरे! हम सबके पक्ष से तो युद्ध कला का आचार्य पितामह के समान विश्व विजेता युद्ध कर रहा है जिसने भगवान परशुराम से लोहा लेकर उनके भी मन को अत्यन्त मोहित कर दिया था।

कृप द्रोनहु इन्ह सम बलवाना। जिनकैं सम जग बीर न आना॥
जौं रन मरहिं बीरगति पावहिं। बरु पाछे पुनि नरकहिं जावहिं॥

इन्हीं के समान कृपाचार्य एवं द्रोणाचार्य जैसे बलवान भी हैं जिनके समान कोई दूसरा वीर है ही नहीं। यदि हम मर भी जाते हैं तो वीरगति (स्वर्ग) प्राप्त करेंगे, उसके उपरान्त चाहे नरक में ही क्यों न वास करें।

को देखत मरि को कहँ जावे। बेद सास्त्र ब्यर्थहि बगलावे॥

अरे! कौन देखता है कि मरकर कौन कहाँ जाता है! वेद-शास्त्र तो ऐसे ही लोगों को व्यर्थ ही [स्वर्ग-नरक के] भुलावे में डालते रहते हैं।

दोहा— गहरी लेइ उसाँस नृप कह कछु अपर दिखाय।
तौ संजय कछु हिचकु नहिं मोसों सबहिं बताय॥ १७॥

तब गहरी श्वास लेते हुए राजा धृतराष्ट्र ने कहा- सञ्जय! कुछ और भी दिखायी दे रहा है? यदि हाँ, तो तुम कुछ

भी संकोच मत करो, मुझसे सब कुछ बताओ।

बिहँसि कहे संजय महिपाला। मोहिं लखाय साँच एहि काला॥
जो कछु कर्‌यो जाय मनमानी। ताहि पाप सब सास्त्र बखानी॥

तब प्रसन्नता के साथ सञ्जय ने कहा- हे राजन्! मुझे तो इस समय यही यथार्थ दिखायी दे रहा है कि जो कुछ भी मनमाना किया जाय उसे ही सभी शास्त्रों ने पाप कहा है।

जोग जपहु तप पाप समाना। होय स्वर्ग हित जो मनमाना॥
जानत जग संबुक कर हाला। गुरु बिनु जप तप भा तेहि काला॥

वह योग, जप, तप भी पाप के ही समान है, जो स्वर्ग की कामना से मनमाने ढंग से किया जाय। अरे! सारा जगत शम्बुक की दशा को तो जानता ही है कि बिना गुरु आज्ञा के किया हुआ जप-तप ही उसका काल बन गया।

बिस्वामित्रहु तपी कहाये। गुरु बिरोधि बहु दिन भरमाये॥
तहँइ पवनसुत आग लगाई। प्रभु हित लंका दिये जराई॥

विश्वामित्र भी महा तपस्वी कहे जाते हैं किन्तु गुरु का विरोध करके बहुत दिनों तक भ्रमित होते रहे (मुँहकी खाते रहे)। वहीं हनुमानजी ने तो भगवान के हित के लिए आग लगाकर पूरी लंका को ही जला दिया था।

जामें उननैं तहँ सब मारे। बृद्ध नारि सिसु पसुहु हजारे॥

जिसमें उन्होंने वहाँ वृद्ध, नारी, शिशु तथा हजारों पशु आदि सबको मार डाला था;

दोहा— किंतु लग्यो नहिं पाप कछु जासे नरकहिं जायँ।
अपितु मिल्यो बरदान बहु सब जग उनकेइ ध्यायँ॥ १८॥

किन्तु उन्हें तो कुछ भी पाप नहीं लगा, जिससे कि वे नरक में जायँ अपितु असंख्य वरदान मिल गये, जिससे सम्पूर्ण जगत उन्हीं का स्मरण करता है।

चौपाई— एहि बिधि प्रभु आयसु उर धारी। अर्जुन हतहिं स्वजन रन झारी॥
किंतु न लागइ तिन्ह अघ छाया। पर तव सुतन्हि करइ नहिं दाया॥

इसी प्रकार इस युद्धभूमि में भी भक्त अर्जुन प्रभु की आज्ञा को हृदय में धारण कर स्वजनों का वध करेंगे किन्तु उन्हें पाप की छाया भी स्पर्श नहीं करेगी परन्तु आपके पुत्रों पर वह पाप दया नहीं करेगा।

पांडु सुतन्ह ते मारि न पावहिं। पर बधि स्वजन पाप महँ धावहिं॥
भोगन्ह हित तिन्ह पाप भुआला। कबहुँ न कबहुँ जाहिं यम साला॥

क्योंकि वे पाँचों पाण्डवों को तो मार नहीं पायेंगे किन्तु इस रणभूमि में बहुत-से स्वजनों का वध करके पाप के भागी बनेंगे। हे राजन्! अत: उन्हीं पापों को भोगने के लिए उन्हें कभी न कभी यमपुरी जाना पड़ेगा।

असुर जोनि महँ बारहिं बारा। जनमि पुरैं प्रायस्चित भारा॥
सदगुरु कहइ करइ सोइ कर्मा। सोइ जग पुन्य अन्य नहिं धर्मा॥

वे आसुरी योनियों में बार-बार जन्म लेकर अपने पापों का घोर प्रायश्चित करेंगे। अत: सद्‌गुरु जो आज्ञा दें, वही कर्म करे क्योंकि वही परम पुण्य है, जगत में [इससे बढ़कर] कोई अन्य धर्म नहीं है।

नृपति बिबसता तव सब जानी। छमा करहिं प्रभु सुत सम मानी॥
राज जननि अरु तव मुख हेरी। अबलौं हरि तुव सुतन्ह निबेरी॥

हे राजन्! [यह तो अलग बात है कि] भगवान आपकी विवशता को जानकर आपको अपने पुत्र के समान मानकर क्षमा कर रहे हैं तथा राजमाता गांधारी और आपके मुख को देखकर भगवान नारायण अब तक आपके पुत्रों को भी क्षमा कर रहे हैं।

दोहा— देखि कोउ जो अनल मग तेहि तजि नाहिं पराय।
होइ बिबस तब अगिनि अति तेहि तन देति जराय॥ १९॥

किन्तु हे राजन्! यदि कोई यात्री अपने रास्ते में लगी हुई अग्नि को देखकर भी उस रास्ते को छोड़कर भाग नहीं जाता तो वह अति विवश होकर उसके शरीर को ही जला डालती है।

चौपाई— सोइ इहँ भयो न तव सुत माने। गहि मुर्खन्ह सँग हरिहिं न जाने॥
अब अस कुपित भये भगवाना। जुद्ध न जहँ चह पार्थ सुजाना॥

वही यहाँ हुआ कि मूर्खों का साथ होने से आपके पुत्र भगवान को न पहचान सके और न उन्होंने उनकी बात ही मानी। अत: अब भगवान ऐसे कुपित हो गये हैं कि जहाँ बुद्धिमान अर्जुन युद्ध नहीं चाह रहे हैं-

तहिं हरि दैं तिन्ह परम प्रबोधा। जुद्ध कराइ मरावहिं जोधा॥
हे राजन सच कहत मोर मन। बरु इन्हि क्षमा करहिं पांडवजन॥

तो भी वहीं प्रभु इन्हें परमज्ञान देकर युद्ध कराके इन योद्धाओं का वध करा देंगे। हे राजन्! सच में मेरा मन तो यही कह रहा है कि भले ही इन्हें पाण्डव क्षमा कर दें-

पर न छमा करिहैं यदुराई। भले कोउ दै धर्म दुहाई॥
कहहिं नृपति उर छमा को माँगइ। तोहिं कहाँ सों अस कस लागइ॥

किन्तु यदुनाथ तो क्षमा नहीं करेंगे भले ही कोई धर्म की ही दुहाई क्यों न दे [कि क्षमा करना तो आपका स्वाभाविक धर्म है, अत: इनकी मूर्खता को क्षमा करें]। ऐसा सुनकर धृतराष्ट्र मन में कह रहे हैं कि क्षमा माँग ही कौन रहा है, तुझे ऐसा कहाँ से और किस प्रकार सूझ रहा है!

संजय सोचहिं दृग जौ होती। तौ लखती हरि मुख बर ज्योती॥
तब तौ लाज अवसि कछु आती। नहिं गुनतैं तब मूढ़नि भाँती॥

सञ्जय मन ही मन सोच रहे हैं कि यदि इन्हें आँख होती तो भगवान के दिव्य मुख की ज्योति को देखती तब इन्हें अवश्य ही कुछ लज्जा लगती। उसके बाद ये मूर्खों की भाँति नहीं सोचते।

सोरठा— पर ऐसोहू नाहिं भीष्म द्रोण कृप पाहिं दृग।
किंतु न बहुत लजाहिं हरि माया अस अति प्रबल॥ २०॥

परन्तु ऐसा भी नहीं है क्योंकि पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य एवं कुलगुरु कृपाचार्य के पास तो आँखें हैं ही, किन्तु वे भी जितना लज्जित होना चाहिए उतना नहीं हो रहे हैं; प्रभु की माया ऐसी ही प्रबल है।

चौपाई— कहउँ कहाँ लगि माया मारति। कौन पाप सों जीव न सारति॥
जस कै राजमातु गंधारी। अजहूँ गहइ मूढ़ता भारी॥

मैं कहाँ तक कहूँ कि किस पाप से माया जीव को मारती है, रक्षा नहीं करती। जैसा कि राजमाता गान्धारी ने आज भी अत्यन्त मूढ़ता धारण कर रखी है।

मूँदि नयन जग सों सति नारी। पतिब्रत गहहिं हरिहिं हित भारी॥
पर जब ब्रह्म प्रगटि ढिंग आवें। खोलि नयन लखि अति हरषावें॥

[यह देखा जाता है कि] साध्वी माताएँ भगवान की प्राप्ति के निमित्त जगत में नेत्रों को मूँद कर घोर पातिव्रत्य धर्म का पालन करती हैं किन्तु जब उनके सामने निर्गुण ब्रह्म सगुणरूप में प्रकट हो जाता है तब वे नेत्रों को खोलकर प्रभु का दर्शन करके अत्यन्त हर्षित होती हैं-

माँगि अनन्य भक्ति बर ज्ञाना। धन्य होहिं जेहि सब जग जाना॥
इहँ तो भइ बिपरीत कहानी। प्रभु आये तउ बनि बर ज्ञानी॥

और अनन्य भक्ति तथा आत्मज्ञान का वरदान माँग कर धन्य हो जाती हैं, जिसे सारा जगत जानता है किन्तु यहाँ तो उलटी ही कहानी हो गयी है कि भगवान के आने पर भी वह बहुत बड़ी ज्ञानी बन रही है!

जानति जदपि जगत हरि आये। धरनी भार हरन प्रगटाये॥
दरसति तउ न हरिहिं हतभागिनि। पतो न गावति को प्रिय रागिनि॥

जबकि वह जानती है कि भगवान ही प्रकट होकर पृथ्वी का भार उतारने आये हुए हैं तो भी वह अभागिन भगवान का दर्शन नहीं करती, पता नहीं कौन-सा प्रिय राग गाने में लगी है।

दोहा— सच कहाय प्रभु जब चहै जग जेहि दरसन दैन।
तब तैसोई देत करि तेहि मन मति चित बैन॥ २१॥

जगत में सच ही कहा जाता है कि प्रभु जब जिसे दर्शन देना चाहता है तब उसके मन, बुद्धि, चित्त एवं वाणी को भी वैसा ही बना देता है।

चौपाई— उत प्रभु कहत पार्थ सुनु मोरी। जे न चहत कछु कर्म अघोरी॥
तौ त्रै द्वार नरक के आहीं। काम क्रोध अरु लोभ कहाहीं॥

उधर भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! मेरी सुनो, जो पुरुष घृणित कर्म नहीं करना चाहते उन्हें नरक के तीनों द्वार, जो काम, क्रोध और लोभ कहे जाते हैं–

त्यागन चहिय तिन्हहिं तत्कालहिं। आत्मनास कर जो अति कालहिं॥
ऐसो दीन दसा तिन्ह होऊ। करि न सकत पुरुषारथ कोऊ॥

उन्हें तत्काल ही त्याग देना चाहिए, ये साक्षात् काल स्वरूप और आत्मा का (पुरुष का) नाश करने वाले हैं। [यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो] उनकी ऐसी दीनदशा हो जाती है कि वे कोई भी पुरुषार्थ नहीं कर सकते।

त्याग करैं ते इन्हकर जबहीं। पुनि पुरुषार्थ अरम्भहिं तबहीं॥
लहैं परमगति जासों भाई। जहँ सों पुनि पुनि आइ न जाई॥

किन्तु वे जैसे ही इन तीनों का त्याग करेंगे, वैसे ही पुनः पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देंगे; जिससे हे प्रिय! वे परम गति प्राप्त कर लेंगे, जहाँ से बार–बार आना–जाना नहीं होता।

महाराज हर्षित पुनि आवे। नभ सुर सिद्धनि कही सुनावे॥
कछु सुर मुनि कह यो का भाई। एहि छन कह अस कस हरिराई॥

महाराज अब पुनः प्रसन्नतापूर्वक आकर आकाशस्थित सिद्धों एवं देवताओं की बतकही सुना रहा है। कुछ देवता और मुनिगण कह रहे हैं कि हे भाइयो! यह क्या! इस समय भगवान ऐसा कैसे कह रहे हैं!

सोरठा— काम क्रोध अरु लोभ अर्जुन सम नहिं नर गहहिं।
इनसों होय न छोभ पार्थहिं जीवन सब लखहु॥ २२॥

जैसा कि महात्मा अर्जुन के [सम्पूर्ण] जीवन को आप सब देख ही रहे हैं कि उनके जैसा पुरुष काम, क्रोध और लोभ को स्वीकार ही नहीं कर सकता तथा इन दोषों से उसे कभी क्षोभ भी नहीं हो सकता।

चौपाई— काम क्रोध लोभनि सों न्यारे। रहत सदा धर्महिं अनुसारे॥
पुनि अस कहत काह भगवाना। सुनि बोले एक सिद्ध सुजाना॥

वैसा पुरुष काम, क्रोध और लोभ से पृथक् रहता हुआ सदा धर्म का ही अनुसरण करता रहता है। फिर भगवान ऐसा क्यों कह रहे हैं? – ऐसा सुनकर एक बुद्धिमान सिद्ध ने कहा–

असुरनि दोष अहैं जोउ जोऊ। ते ते इनि तीननि महँ होऊ॥
जिन्हि नर महँ ये तीनि लखावें। बरु अति प्रिय निज स्वजन कहावें॥

जो–जो भी दोष आसुरी प्रकृति के पुरुषों में पाये जाते हैं, वे सभी इन तीनों (काम, क्रोध और लोभ) में समाये हुए हैं। इसलिए ये तीनों दोष जिन पुरुषों में भी दिखायी दे, भले ही वे अपने स्वजन ही क्यों न कहलाते हों–

तिन्ह तजि परमारथ मग धारे। पग न थकत बरु श्रमहु बिसारे॥
देखहु गुडाकेस सम जोधा। इन्ह बस भ्रमि निज तज्यो प्रबोधा॥

उन्हें त्यागकर जब कोई परमार्थ मार्ग पर चलता है तो पैर नहीं थकते हैं और न ही श्रम की अनुभूति ही होती है। आप देखें तो कि अर्जुन के समान योद्धा भी इन्हीं (ऐसे कामी, क्रोधी, लोभी स्वजनों) के वशीभूत होने से भ्रमित होकर अपना विवेक ही खो बैठा है!

दया करन लागे अब इन्ह पर। करन जोग नहिं सपनेहुँ जिन्ह पर॥
जो नृप जग अति पौरुषवारो। धरमसील नित जाय बिचारो॥

अब वे इन पर दया करने लगे जिन पर स्वप्न में भी दया करना धर्मसंगत नहीं है। जो राजा जगत में सदा अति सामर्थ्यवान एवं धर्मात्मा देखा जाता है–

दोहा— होय दया जो ताहि सों पापी अति हरषायँ।
अति जघन्य अपराध ते निसदिन करतो जायँ॥ २३॥

यदि उसके द्वारा दया होने लगे तो पापी अति हर्षित हो जाते हैं और फिर वे दिन-रात जघन्य अपराध करते ही जाते हैं।

चौपाई— बनि भस्मासुर पाछें लागें। सो नृप तब सिव सम कहँ भागें॥
यासेइँ कामी लोभी क्रोधी। स्वजन होहिं बरु तजै प्रबोधी॥

वे [पापी] भस्मासुर होकर पीछे पड़ जाते हैं, तब वह राजा भगवान शंकर के समान भागकर कहाँ जायेगा! इसलिए यदि स्वजन भी कामी, क्रोधी और लोभी हो जायँ तो विवेकवान पुरुष उनका परित्याग कर दे।

स्वजन सगुन तन काम लोभ रिस। हरहिं प्रबोध मोह ममता मिस॥
तिन्ह पर दया जो उर महँ आवे। तेहि स्वीकरनो काम कहावे॥

ये नीच स्वजन ही सगुण काम, क्रोध और लोभ हैं, जो मोह-ममता के बहाने ज्ञान का अपहरण कर लेते हैं। यदि इन पर हृदय में दया आ रही है तो उस [दया] को स्वीकार करना ही काम कहा जाता है।

सोई काम क्रोध अरु लोभा। बनि ताकर उर कर नित छोभा॥
यासें प्रभु कर यह मत गहिये। तिन्ह कहँ अवसि त्यागनो चहिये॥

वह काम ही क्रोध और लोभ बनकर सदा उसके हृदय को मथता रहता है। अत: [हे सिद्धो एवं देवताओ!] भगवान के इस सिद्धान्त को स्वीकार करें कि उन स्वजनों का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।

अपर सिद्ध सुर सुनि हरषाये। पुनि निज दृग प्रभु पाहिं लगाये॥
इत प्रभु पार्थहिं मरम बतावें। मैं ही कहउँ न सास्त्रहु गावें॥

ऐसा सुनकर अन्य सिद्ध एवं देवता हर्षित हो गये और पुन: अत्यन्त ध्यान देकर भगवान को देखने लगे। इधर भगवान महात्मा अर्जुन को यह रहस्य बता रहे हैं कि यह मैं ही नहीं कह रहा हूँ अपितु शास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं।

दोहा— सम्पति दैबी आसुरी सास्त्रनि दिये लखाय।
ग्रहण त्याग कर निस्चय उन्हहीं सों लियो जाय॥ २४॥

शास्त्रों ने दैवी एवं आसुरी सम्पत्ति को प्रकाशित किया है। अत: क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, उनसे ही इसका निर्णय लेना चाहिए।

चौपाई— बिधि निषेध महँ सास्त्र प्रमाना। तजि उन कहँ जो कर मनमाना॥
ते न लहहिं जग सिधि पुरुषारथ। अरु न पायँ सुख भोग यथारथ॥

विधि और निषेध का निर्णय करने में शास्त्र ही प्रमाण हैं। अत: उन्हें त्यागकर जो मनमाना व्यवहार करते हैं, वे न तो जगत में पुरुषार्थरूपी योग्यता की सिद्धि ही पाते हैं और न यथार्थ में सांसारिक सुखों के भोग को ही प्राप्त कर पाते हैं।

पुनि कस पायँ परमगति प्रानी। करहु सास्त्र रति अस जिय जानी॥
यह परमान तात तव लाने। यासेइ कार्य अकार्यहु जाने॥

हे पार्थ! फिर वे लोग परमगति को कैसे प्राप्त करेंगे! इसलिए ऐसा जानकर तुम्हारे हृदय में शास्त्र के प्रति प्रेम होना चाहिए। तुम्हारे लिए भी यह शास्त्र ही प्रमाण है, इसी से कार्य और अकार्य का निर्णय करो।

नियत कर्म तोहिं ते बतलावें। करहु न बीर जोइ मन भावें॥
पुनि संकेत किये हरिराई। करहु परंतप रन हरषाई॥

वह तुम्हारे करने योग्य नियत कर्मों को बता देगें। अत: हे धर्मात्मा! तुम अपने मन से कुछ भी मत करो। ऐसा कहकर भगवान ने पुन: संकेत किया कि हे तपोधन! प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करो।

तउ धनु लखत न अनत निहारें। सास्त्रन्ह मत पुनि हृदय बिचारें॥
प्रभु गम्भीर भये अस देखी। सोचहिं घायल भयो बिसेषी॥

तो भी वे गाण्डीव की ओर न देखकर अन्यत्र ही देख रहे हैं और हृदय में पुन: शास्त्र के मत पर विचार कर रहे

हैं। ऐसा देखकर भगवान नारायण गम्भीर हो गये हैं और सोच रहे हैं कि यह विशेष रूप से [मोह आदि के द्वारा] घायल हो गया है।

दोहा— कछु न रोष प्रभु उर धरहिं परम दयानिधि नाथ।
सरनागत बिचलाय बरु तउ न तजहिं तेहि साथ॥ २५ (क)॥

परन्तु भगवान हृदय में कुछ भी दु:खी नहीं हो रहे हैं क्योंकि वे सबके स्वामी एवं परम दया के सागर हैं। शरणागत भक्त भले ही विचलित हो जाय किन्तु वे उसका साथ नहीं छोड़ते।

सोरठा— याहि करत स्वाध्याय निज पर प्रकृति लखाय जू।
महाराज मुदिताय हरि अरु अर्जुन गति निरखि॥ २५ (ख)॥

इस [अध्याय] का पाठ करने से अपनी और दूसरे की प्रकृति का पता चल जाता है। इधर भगवान एवं भक्त अर्जुन- दोनों की दशा को देखकर महाराज अति प्रसन्न हो रहा है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्याय: ॥ १६ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

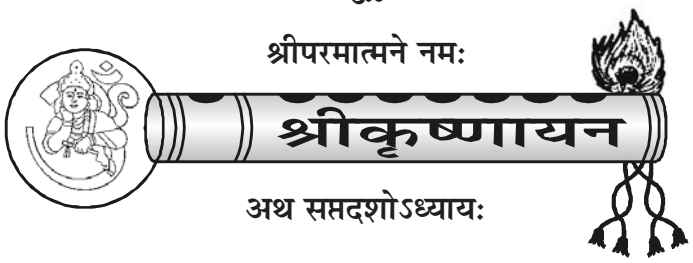

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अधुनैव कृष्णं शरणं नमामि॥
मत्स्यावतारं वाराहकारं हयग्रीव अद्भुत नरसिंहधारं।
वामन परशुराम रघुवंश रामं सदा नमामि नमामि॥
कल्कीश शुद्धं बुद्धं भगवानं निर्गुण निराकार ओंकार नामम्।
पार्थ सन्मुखे गीता गायकं मुहुर्मुहुः प्रणमामि॥
अर्जुन विषादयोग कारकं ज्ञानं च दत्वा शोक हारकं।
राजयोग दत्वा महाराज रक्षकं तस्य रूपं स्मरामि॥

अब मैं प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की शरण ग्रहणकर उन्हें प्रणाम कर रहा हूँ। जिन्होंने मत्स्य, वाराह, हयग्रीव तथा नरसिंह आदि अद्‌भुत अवतार धारण किये हैं, जिन प्रभु ने वामन, परशुराम तथा रघुवंश शिरोमणि भगवान राम के रूप में भी अवतार लिया है, मैं उन्हें सदा-सर्वदा नमस्कार करता हूँ। जो परम शुद्ध, भगवान बुद्ध का अवतार लेने वाले तथा कलियुग में कल्कि अवतार धारण करने वाले हैं निर्गुण निराकार होते हुए भी जो ॐ नाम वाले हैं वही भगवान [युद्धभूमि में] भक्त अर्जुन के सम्मुख गीता जी का गायन कर रहे हैं, उन्हें मैं बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ। जो प्रभु अर्जुन के हृदय में प्रेरणा करके विषादयोग उत्पन्न करते हैं और फिर ज्ञान देकर उनके शोक का हरण कर लेते हैं, जो प्रभु राजयोग देकर महाराज की रक्षा करने वाले हैं, मैं उसी रूप का सदा सर्वदा स्मरण करता रहता हूँ।

चौपाई— अर्जुन निज उर माहिं बिचारे। कियों कर्म जो अबलौं सारे॥
हे मन धर्म कर्म जिन्हि मानस। का कहायँ सत रज कै तामस॥

महात्मा अर्जुन अपने हृदय में विचार कर रहे हैं कि हे मन! मैंने अब तक जो भी कर्म किये हैं, जिन्हें तुम धर्मसंगत मानते हो, वे क्या कहे जायेंगे- सात्त्विक, राजस या तामस-

अरु मैं रन न करउँ यदि ऐसो। स्वजन गुरू सँग करनो जैसो॥
त्याग सो गुनकृत कर्म कहावे। कीधौं ब्रह्मकर्म कहि जावे॥

और यदि मैं इस प्रकार का युद्ध न करूँ जैसा कि स्वजनों एवं गुरुजनों के साथ करना है तो वह त्यागरूपी कर्म कैसा कहा जायेगा- त्रिविध गुणों की प्रेरणा से किया हुआ अथवा ब्रह्म की प्रेरणा से किया हुआ!

याकर उत्तर इन्हसोंइ जानउँ। पुनि लखाय जस तस मैं मानउँ॥
अस गुनि हरि सन दुइ कर जोरें। कहे कृपालु देखु मम ओरें॥

इसका उत्तर मैं इन्हीं से जानूँगा और तब जैसा समझ में आयेगा उसे स्वीकार करूँगा। ऐसा विचारकर वे भगवान के सामने दोनों हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि हे कृपालु भगवान! आप मेरी ओर देखें [मुझपर कृपा करें]!

जो प्रभु कह्यो करम परमाना। भक्त संत सब सास्त्रहिं माना॥
भगत जे तेइ आगम बिधि त्यागी। अपर सुरन्ह पूजत अनुरागी॥

हे प्रभो! आपने जो कहा कि कर्म निर्णय सभी भक्त एवं सन्तगण शास्त्र से ही स्वीकार करते हैं किन्तु जो भक्त उस शास्त्रीय विधि का त्यागकर एकमात्र [स्वाभाविक] श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं की उपासना करते हैं-

दोहा— तिन्हकी पूजा कौन सी सत रज तामस माहिं।
यहउ बतावहु जगतपति जासों साँच लखाहिं॥ १॥

तो सात्त्विक, राजस एवं तामस में से उनकी उपासना कौन-सी है ? हे जगत्पते! आप यह भी बता दें जिससे यथार्थ समझ में आ जाय।

चौपाई— महाराज अर्जुन चतुराई। लखि कह मो कहँ बहुत सुहाई॥
पूछहिं सहज न अपुनो कारन। जग हित पूछ करायँ निबारन॥

महाराज महात्मा अर्जुन की चतुराई देखकर कह रहा है कि वह मुझे अत्यन्त प्रिय लग रही है। वे सहज रूप से अपने विषय में न पूछकर सम्पूर्ण जगतहितार्थ प्रश्न करके भगवान से निवारण करा रहे हैं।

प्रभु सर्बज्ञ मनहिं मुसुकाहीं। चातुरि याहि अबहुँ नहिं जाहीं॥
किंतु कहउँ सोउ उर जो सोचे। जासे बेगिहिं होय असोचे॥

सर्वज्ञ भगवान मन ही मन मुस्कुरा रहे हैं कि इसकी चतुराई अभी भी नहीं जा रही है, किन्तु इसे शीघ्रातिशीघ्र सोचरहित करने के लिए मैं उन प्रश्नों का भी उत्तर दूँगा जिन्हें यह हृदय में सोच रहा है [प्रकट नहीं कर रहा है],

संत भक्त प्रभु बिरद बखानत। एकबार जेहि अपुनों मानत॥
ताकर दोष न तिन्हहिं लखावे। सो तौ बस अहनिसि बहु भावे॥

सन्त और भक्त भगवान की ऐसी महिमा बताते हैं कि जिसे वे एक बार अपना समझ लेते हैं फिर उसका दोष उन्हें दिखायी ही नहीं पड़ता बल्कि वह उन्हें सदा अति प्रिय लगता है।

स्वयं सरन सुग्रीव न आये। अंजनिसुत तिन्ह हाथ गहाये॥
ताकिहु लाज रखे रघुराई। ते जब गये बिषय लिपटाई॥

[सभी जानते हैं कि] सुग्रीव अपने से प्रभु की शरण में नहीं आये थे बल्कि हनुमानजी ने उनका हाथ भगवान के हाथों में सौंपा था; फिर भी भगवान श्रीराम ने उनकी लाज रखी थी। [राज्य पाने के बाद प्रमादवश] जब सुग्रीव विषयी हो गये थे-

दोहा— बीते चातुर्मासहू सुधि न राम की लीन्ह।
तउ प्रभु सरणागत निरखि अभयदान तिन्ह दीन्ह॥ २॥

और [वर्षा ऋतु के] चार महीने बीत गये फिर भी उन्होंने भगवान की सुध-बुध नहीं ली तो भी भगवान श्रीराम ने उन्हें अपनी शरण में आया हुआ जानकर अभयदान दे दिया [उनका परित्याग नहीं किया]।

चौपाई— अक्रूरहु प्रथमहिं प्रभु चीन्हें। बसत कंस पहिं तिन्ह हित कीन्हें॥
पर मनि चोरी जब हरि माथे। अतिहिं नीच सत्राजित गाथे॥

वैसे ही भक्त अक्रूर ने बहुत पहले ही भगवान को पहचान लिया था, इसी कारण कंस के पास रहते हुए भी भगवान के लिए ही कार्य करते रहे; परन्तु जब अति नीच [बुद्धिवाले] सत्राजित ने मणि की चोरी का आरोप भगवान के माथे मढ़ दिया-

तब अक्रूर भये तेहि साथा। तबहुँ न दोष गने यदुनाथा॥
तउ हरि उनहिं न कछु बिसराये। अंत समय निज दरस कराये॥

तब अक्रूर भी उसी के साथ हो गये फिर भी यदुनाथ ने उनके अपराधों की गणना नहीं की और न ही उनका परित्याग किया अपितु अन्त समय में अपना दिव्य दर्शन भी कराया।

सोइ दयानिधि कह हरषाई। पुजत सुरन्ह जो सास्त्र बिहाई॥
गुनकृत पूजन सोउ कहावे। जो नर महँ स्वभाव बस आवे॥

वे ही दयानिधान भगवान यहाँ हर्षित होकर कह रहे हैं कि हे पार्थ! जो शास्त्रविधि को महत्त्व न देकर देवी-देवताओं का पूजन करते हैं तो उनका वह पूजन सात्त्विक, राजस या तामस गुणों द्वारा किया हुआ कहा जायेगा जो मनुष्य में स्वभाववश प्रकट होता है।

पर एहि जग कछु भक्त लखावें। जो गुरु सास्त्रहु बिनु प्रभु ध्यावें॥
उनकै कर्म कहायँ ब्रह्मकृत। जासों मिलइ कबहुँ गुरु अमृत॥

किन्तु इस जगत में कुछ भक्त ऐसे भी देखे जाते हैं जो बिना शास्त्र एवं गुरु के भी भगवान की ही आराधना

करते हैं। उनका वह कर्म [गुणकृत न कहकर] ब्रह्मकृत (भगवत इच्छा से हुआ) कहा जायेगा जिससे कभी न कभी उन्हें सद्गुरुरूपी अमृत मिल ही जायेगा।

दोहा— कछुक भगत प्रभु चाह बिनु पूजत कोउ प्रिय देव।
तिन्हकी कृपा सों पायँ गुरु पुनि तिन्ह हरि सम सेव॥ ३॥

कुछ ऐसे भी भक्त होते हैं जो बिना भगवतप्राप्ति की चाहना के [सहज ही] किसी प्रिय देवता की उपासना करते हैं और उसकी कृपा से सद्गुरु को प्राप्त कर लेते हैं, जिसकी भगवान की तरह सेवा किया करते हैं।

चौपाई— भगत कोउ तुव सम अपवादा। जिन्हके जीवन नाहिं बिबादा॥
ते बस धर्मसील पितु मातहिं। कुलगुरु स्वजन पितामह भ्रातहिं॥

तुम्हारे समान तो कोई विरले भक्त होते हैं, जिनके जीवन में कोई विवाद नहीं होता। वे तो एकमात्र अपने धर्मात्मा माता-पिता, कुलगुरु, स्वजन, पितामह एवं भाई-बान्धवों को प्राप्त करके-

देव समुझि उर महँ अवराधहिं। इनकेइ आयसु जीवन साधहिं॥
उनकेउ कर्म न गुनकृत भाई। अपितु ब्रह्मकृत धर्म कहाई॥

इन्हीं लोगों को हृदय में देवता समझकर इनकी सेवा करते रहते हैं तथा इनकी ही आज्ञा में जीवन को संयमित करते हैं। हे प्रिय! उनका भी कर्म गुणकृत नहीं बल्कि ब्रह्मकृत धर्म कहा जायेगा।

तिन्हके जीवन रथ गुरु आई। कबहुँ न कबहुँ बैठ हरषाई॥
एहि प्रमान मैं तुम्ह कहँ जानउँ। यासें तुम्ह तजि कोउ न ध्यानउँ॥

जिससे उनके जीवन-रथ पर भी सद्गुरु कभी न कभी प्रसन्नतापूर्वक आकर बैठ ही जायेगा। इसका प्रमाण तो मैं तुझे ही जानता हूँ इसी से मैंने तुझे छोड़कर किसी और को स्वीकार नहीं किया।

ब्रह्मकर्म तुम्हरो सब कर्मा। जासें भयो न कबहुँ अधर्मा॥
हाँ सच प्रथम आज अस कीन्हें। मोरेहुँ कहे न धनु कर लीन्हें॥

तुम्हारे भी [अब तक के] सभी कर्म ब्रह्मकर्म ही कहे जायेंगे जिसके कारण कभी अधर्म हुआ ही नहीं। हाँ, सच में यह पहला अवसर है कि आज तुमने ऐसा किया है कि मेरे कहने पर भी गाण्डीव नहीं उठाया।

किन्तु न अस मैं समुझउँ ताता। कै तुम्ह नहिं मानउ मम बाता॥

किन्तु मैं ऐसा नहीं समझ रहा हूँ कि तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो-

दोहा— अपितु स्वजन सँग जुद्ध कस ब्रह्म करम कहलाइ।
जानन चाहउ मरम यहु निरखहु एहि अब भाइ॥ ४॥

अपितु स्वजनों के साथ युद्ध करना ब्रह्मकर्म कैसे कहा जाता है, तुम यह रहस्य जानना चाहते हो अतः अब इसे भी देखो।

चौपाई— सुनहु उतर रन करहु न जोऊ। गुनकृत करम त्याग तुव होऊ॥
समुझि स्वजन यदि रन नहिं ठानहु। सतगुनि त्याग करम तब जानहु॥

इसका उत्तर यह है कि तुम इस समय यदि युद्ध नहीं करोगे तो उस अवस्था में यह तुम्हारा त्यागरूप कर्म गुणकृत् हो जायेगा। यदि [गुरुजन और] स्वजनों से यह समझकर युद्ध नहीं करोगे कि इनसे युद्ध करना कर्तव्य नहीं है तो उस समय यह त्यागरूपी कर्म सतोगुणी कहा जायेगा।

मोह माहिं फँसि करहु न जो रन। राजस त्याग करम सुनु हरिजन॥
भय सों एहि रन करहु न भाई। तौ तम त्याग करम कहलाई॥

यदि मोह के वशीभूत होकर धर्मयुद्ध नहीं करते हो तो हे प्रिय भक्त अर्जुन! वह त्यागरूपी कर्म राजस कहा जायेगा तथा हे प्रिय! यदि भय के कारण इस युद्ध को नहीं करोगे तो यह त्यागरूपी कर्म तामस कहा जायेगा।

जानत तुम्ह सुत लवकुस साथा। राम सेन कर झूक्यो माथा॥
घिरे मोह सों रामहु जबहीं। बीच बचाव कीन्हि मुनि तबहीं॥

अरे! तुम तो जानते ही हो कि लव-कुश के साथ युद्ध करने में श्रीराम की समस्त सेना पराजित हो गयी थी।

जब स्वयं श्रीराम अत्यन्त मोह से घिर गये थे तो मुनिवर वाल्मीकि ने आकर बीच-बचाव किया था।

का कारन भइ राम पराजय। जिन्हकी सदा भई जग जय जय॥

वह कौन-सा कारण था कि प्रभु श्रीरामजी की पराजय हो गयी जिनकी जगत में सदा विजय ही होती आयी थी ?

दोहा— कारन तेहि छन राम कर सात्विक कर्म सुजान।
ब्रह्मकर्म तिन्ह सुतन्हकर तासों दुर्गति मान॥ ५॥

हे बुद्धिमान्! उसका कारण यह था कि उस समय अयोध्यापति श्रीराम का वह कर्म सात्त्विक था और उनके दोनों पुत्रों का युद्धरूपी कर्म ब्रह्मकर्म था, जिससे श्रीरामजी की पराजय हुई।

चौपाई— प्रभु श्रीरामहिं कछु नर मूढ़ा। समुझि न पाए चरित निगूढ़ा॥
तातें करन लगे अपबादा। प्रभु बिलोकि उन्हकर अवसादा॥

कुछ मूर्ख लोग भगवान श्रीराम के गूढ़ चरित्र (लीला) को समझ नहीं पाये जिससे उनकी निन्दा करने लगे। प्रभु ने उनके प्रमाद को देखते हुए-

जग जननिहिं बलिबेदि चढ़ाई। रबिकुल की मर्याद बढ़ाई॥
भयो किंतु भगतन्ह उर खेदा। यो हमरे सँग प्रभु कर भेदा॥

जगत जननी भगवती सीता को बलिवेदी पर चढ़ा दिया (उन्हें त्यागकर वन भेज दिया)। ऐसा करके सूर्यवंश की मर्यादा को बढ़ाया किन्तु भक्तों के हृदय में अत्यन्त क्लेश हो गया कि भगवान श्रीराम द्वारा हम लोगों के साथ यह अन्याय हुआ।

तेहि कारन लवकुस सों मोहित। भये डूबि गयो तिन्ह जय बोहित॥
सोइ कारन अब इहाँ लखाये। गुरुजन अन्याइन्ह सँग आये॥

इसीकारण वे लवकुश से मोहित हो गये और उनका विजयरथ डूब गया। वही कारण अब यहाँ भी दिखायी पड़ रहा है कि समस्त गुरुजन अन्यायियों के संग हो गये हैं।

जद्यपि करहिं सतोगुन करमा। पर न कहावे यह प्रभु धरमा॥
तुम्ह रन करहु धरम हित जोई। तौ कहाय यह प्रभु हित होई॥

यद्यपि ये सतोगुणी कर्म ही कर रहे हैं परन्तु यह ब्रह्मकर्म नहीं कहा जायेगा। यदि तुम धर्मानुसार युद्ध करते हो तो यह निश्चित ही कहा जायेगा कि यह युद्ध प्रभु की प्रसन्नता के लिए किया जा रहा है।

सबकी श्रद्धा उर अनुरूपा। जेहि छन जो जाके मन छूपा॥
ताकर रूप ताहि छन सोई। नियम मनुज श्रद्धामय होई॥

यह भी जान लो कि सबकी श्रद्धा उसके हृदय के अनुरूप ही होती है। जिस समय जिसके हृदय में जो [रूप] वास करता है, उस समय उसका रूप भी उसी के अनुरूप हो जाता है; क्योंकि यह नियम है कि मुनष्य श्रद्धामय ही होता है।

छंद— जेहि छन बिचारत जोइ नर सोइ रूप वा छन वाहिकौ।
जस नारि उर कोउ नर लखावे तब पुरुष रुप ताहिकौ॥
जब पुरुष मन महँ नारि बस तब रूप ताकर नारिमय।
जेहि छन असुर कोउ उर चरै तेहि छन हृदय असुराहिमय॥

अत: जिस समय पुरुष जिस रूप का चिन्तन करता है, उस समय उसका भी वही रूप हो जाता है। जैसे किसी स्त्री के हृदय में कोई पुरुष दिखायी पड़ रहा है, तब [उस समय] उसका रूप उस पुरुष का ही हो जाता है तथा जब किसी पुरुष के मन में स्त्री विचरण कर रही है तब उस समय उसका रूप उसी स्त्री का हो जाता है और जिस समय हृदय में कोई राक्षस आ जाता है उस समय उसका रूप राक्षसमय हो जाता है।

जब राम जाके उर बसे तब रूप ताकर राममय।
जेहि छन बिचारत दाम तेहि छन रूप ताकर दाममय॥
जब उर स्वजन सुत पितु पितामह रूप ताकर मोहमय।
विनकेइ सँग करनो परै रन तबहिं उर अति छोहमय॥

जिस समय जिस [पुरुष] के हृदय में भगवान श्रीराम का वास होता है उस समय उसका रूप राममय हो जाता है तथा जिस समय वह धन का चिन्तन करता है उस समय उसका रूप धनमय हो जाता है एवं जब हृदय में स्वजन, पुत्र, पिता एवं पितामह आदि बसते हैं तो उसका रूप मोहमय हो जाता है और जब उन्हीं लोगों के साथ युद्ध करना पड़े तो उस समय [तुम्हारे समान ही] उसका हृदय विषादमय हो जाता है।

सोरठा— जब चित महँ अज्ञान तबहिं रूप अज्ञानमय।
तात हृदय जब ज्ञान तबहिं रूप बिज्ञानमय॥ ६॥

जब चित्त में अज्ञान रहता है उस समय उसका रूप अज्ञानमय होता है तथा हे तात! जब उसके हृदय में ज्ञान का वास होता है तब उसका रूप विज्ञानमय हो जाता है।

चौपाई— मम अग्या यदि रन तुम्ह करहू। रूप मोर तेहि छन तुम्ह धरहू॥
जस आयसु दुर्योधन मानी। भीष्म द्रोण आये रन ज्ञानी॥

अत: [इसी न्याय से] जब तुम मेरी आज्ञानुसार युद्ध करोगे तो उस समय तुम्हारा रूप मेरा रूप हो जायेगा। जैसा कि दुर्योधन की आज्ञा मानकर भीष्म और द्रोण जैसे ज्ञानी युद्ध में आ गये हैं-

एहि छन तिन्हकर रूप ताहिको। यासों लखु तिन्ह माहिं वाहिको॥
यासें थोरेउँ नहिं घबरावहु। परमधाम इन्हि रन हति पावहु॥

इस समय उनका रूप दुर्योधन का हो गया है, इसलिए उन लोगों में उसी के रूप को देखो। अत: अब तुम तनिक भी मत घबराओ अपितु इन सभी को मारकर परमपद प्राप्त करो।

सुर पूजन सात्विक नर करहीं। राजस असुर यक्ष हिय धरहीं॥
प्रेत भूत पूजहिं तामस नर। तू तो बस मोकों प्रसन्न कर॥

[तुम यह भी जान लो कि] सात्त्विक पुरुष देवताओं की उपासना करते हैं, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों की आराधना करते हैं तथा तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं किन्तु तुम तो एकमात्र मुझे ही प्रसन्न करो।

भीष्म द्रोण पूजन दै देवा। तू तो बस मोरी कर सेवा॥
धर्मराज अरु कुंतीमातहिं। मात्र मोरि आयसु अनुरातहिं॥

पितामह तथा द्रोणाचार्य आदि को देवताओं का ही पूजन (कहना) करने दो परन्तु तुम तो एकमात्र मेरी आज्ञापालन करो। धर्मराज युधिष्ठिर और माता कुन्ती को [एकमात्र] मेरी आज्ञापालन करने में ही अत्यन्त प्रीति है।

दोहा— उनकिहु आज्ञा मानि तू मेरौ पद अवराधु।
मोसेइँ लै बरदान प्रिय जीवन लक्षहिं साधु॥ ७ (क)॥

अत: तुम भी उनकी ही आज्ञा का पालनकर एकमात्र मेरे चरणों के सेवक बनो और मुझसे ही अपना प्रिय वरदान प्राप्त कर जीवन के लक्ष्य को पूरा कर लो।

बिषई माँ पितु बंधु सुत तिय हित मित सब देव।
सेवहिं सबहिं परस्पर जानहिं बिरले भेव॥ ७ (ख)॥

विषयी माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र, पत्नी, हित-मित्र आदि सभी एक-दूसरे के लिए देवता हैं, इसीलिए परस्पर एक-दूसरे की सेवा करते रहते हैं, इस रहस्य को कोई-कोई ही जान पाता है।

चौपाई— ऋणी एक दूजे कै अहहीं। ताहि निबारन हित तन गहहीं॥
इक दूजे कर लेन देन भरि। पुनि परायँ ते मुहँ फिराय करि॥

वे परस्पर एक दूसरे के ऋणी हैं जिसे उतारने के लिए जन्म लेते रहते हैं और एक-दूसरे का लेना-देना पूरा करके मुँह फेरकर चल देते हैं।

तोहिं नाहिं तौ ये सब करनो। एकमात्र जग मोहिं सुमिरनो॥
जो नर प्रबल मोह के कारन। बिपुल कामना करि अवधारन॥

किन्तु तुम्हें तो यह सब करना नहीं है बल्कि जगत में एकमात्र मेरा ही स्मरण करना है [मेरे अनुसार ही चलना है]। किन्तु जो पुरुष प्रबल मोह के कारण असंख्य कामनाओं को धारण कर-

अहंकार अरु दम्भहिं धारी। तपहिं असास्त्रिय तप बहु भारी॥
तन रुप भै तत्वन्ह कहँ मूढ़ा। सब उर स्थित मोहिं निगूढ़ा॥

अहंकार और दम्भ के साथ शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं। वे अत्यन्त मूढ़ नर पंचभूतरूप शरीर और सबके हृदय में छिपे हुए मुझ निर्गुण परमात्मा को-

पीड़ित करहिं अतिहिं तू जानइ। तिन्हहिं साँच जग दानव मानइ॥
यासे त्यागु त्यागु तिन्ह सारे। पुनि जग मम आयसु अनुसारे॥

अत्यन्त पीड़ित करते रहते हैं, तुम यह जान लो कि संसार में यथार्थ में वे ही असुर हैं। अत: उन सभी को सदा के लिए त्याग दो और इसके पश्चात् इस जगत में मेरी ही आज्ञा का पालन करो।

दोहा— देखु परंतप देह कस पुनि मन करै बिचार।
जो लखाय सच तोहिं प्रिय तौ चलु तेहि अनुसार॥ ८॥

हे परंतप! इस शरीर को देख लो कि यह है कैसा; फिर अपने मन में विचार करो तथा जो तुम्हें उचित समझ में आये उसी के अनुसार व्यवहार करो।

चौपाई— मन सम गतिवारो तन योई। कालचक्र इव नित चल जोई॥
महततत्व भूतन्ह लौं भाई। चौबिस तत्व कहहिं बुध गाई॥

मन के समान गतिवाला जो यह शरीर है, वह कालचक्र के समान निरन्तर चलता रहता है, इसमें महत्तत्त्व से लेकर पंच-भूतों तक बुद्धिमान जन चौबीस तत्त्व बताते हैं-

मूल हेतु जग बंध कहावे। जहँ दुर्ब्यसन ब्याधि प्रगटावे॥
बिचरत देसकाल यह देखी। सोक जरा सों घिर्‌यो बिसेषी॥

यह शरीर संसार-बन्धन का मूल कारण कहा जाता है, जिसमें नाना प्रकार के दुर्व्यसन और व्याधियाँ (दु:ख) प्रकट होती रहती हैं तथा यह शोक और वृद्धावस्था से विशेष रूप से घिरा हुआ देश, काल और अवसर के अुनसार विचरण करता रहता है।

मन अस्तम्भ सार मति याकी। इंद्रियगन बंधन अति जाकी॥
पंचभूत अस्कंध समाना। याहि आवरण तमहिं बखाना॥

बुद्धि ही इस कालचक्र की सार है, मन स्तम्भ (खंभा) है तथा इन्द्रियाँ ही इसके कठिन बन्धन हैं। पाँच तत्त्व इसके तने के समान हैं तथा अज्ञान को ही इसका आवरण कहा गया है।

श्रम ब्यायाम सब्द सुनु याके। दिवस राति संचालक जाके॥
सर्दी गर्मी घेरो याकर। सुख दुख संधि कहावें जाकर॥

हे धनञ्जय! और सुनो, श्रम और व्यायाम इसके शब्द हैं, जिस कालचक्र के संचालन-कर्ता दिन और रात हैं, सर्दी और गर्मी इसके घेरे हैं तथा सुख और दु:ख जोड़ (सन्धि) कहे जाते हैं।

दोहा— भूख प्यास एहि कीलक धूप छाँव एहि रेख।
दृग निमेष उन्मेष कहँ बिह्वलता सम पेख॥ ९॥

उसी प्रकार भूख-प्यास इसका कीलक है, धूप-छाँव इसकी रेखा है तथा पलकों को बन्द करने एवं खोलने को इसकी व्याकुलता के समान जानो।

चौपाई— सोक अश्रु सों ब्याप्त रहत नित। देख्यो जाय अचेतन नियमित॥
आयुहिं गणना मास पक्ष गहि। कियो जाय कबहूँ नहिं थिर कहि॥

यह सदा ही शोकरूपी आँसुओं से व्याप्त रहता है तथा नित्य ही अचेतन दिखायी पड़ता है। इसकी आयु की गणना मास और पक्ष के द्वारा की जाती है तथा यह भी कहीं स्थिर नहीं रहता।

ऊर्ध्व अध: जग मध्य भ्रमत यो। होत तमस बस पाप चरत यो॥
राजस बहुत प्रबृत्ति गहावत। सतगुन बहु सिधि दै भरमावत॥

यह ऊपर, नीचे और मध्यवर्ती लोकों में विचरता रहता है। तमोगुण के वशीभूत होते ही पाप करने लगता है,

रजोगुण इसे बहुत-सी प्रवृत्तियों में डाल देता है और सतोगुण बहुत-सी सिद्धियाँ देकर भ्रमित करता रहता है।

महादर्प महँ नित बौरावे। महामृत्यु महँ रहत कहावे॥
कारण क्रियायुक्त दिखलावे। याहि राग आयत कहलावे॥

यह महा दर्प से सदा ही विक्षिप्त रहता है इसी से सदा ही मृत्यु के घेरे में रहने वाला कहा जाता है। यह कारण-क्रिया से युक्त दिखायी पड़ता है एवं आसक्ति (मोह) ही इसका घेरा (मापदण्ड) है।

बुधि कह ऊँच नीच गति माहीं। तृष्ना लोभ गिरावहिं याहीं॥
एहि उतपति कारन अज्ञाना। घेरि रहे भय मोह सुजाना॥

बुद्धि ऐसा कहती है कि लोभ और कामना ही इसे ऊँची-नीची योनियों में गिराने में कारण हैं। इस शरीर की उत्पत्ति का कारण अज्ञान है और हे बुद्धिमान्! इसे मोह और भय [सब ओर से] घेरे हुए हैं।

सोरठा— सबहिं मोह महँ डारि बिचर प्रीति आनंद हित।
काम क्रोध अति धारि गति बिछिप्त नहिं जान कछु॥ १० (क)॥

इसीलिए यह सभी प्राणियों को मोह में डालकर आनन्द और प्रीति के लिए विचरता रहता है तथा सर्वथा काम-क्रोध धारणकर विक्षिप्त स्वरूप वाला यह कुछ भी नहीं जानता।

कालचक्र यह देह हेतु सृष्टि संघार कर।
पर यह अदभुत गेह तत्वज्ञान प्रगटाय तहिं॥ १० (ख)॥

यह देहरूपी कालचक्र सृष्टि और उसके संहार का कारण है किन्तु वहीं यह शरीर (कालचक्र) अद्‌भुत तत्त्वज्ञान तक प्रकट करा देता है।

प्रबृति निबृति जो जान कालचक्र एहि देह कर।
कबहुँ न मोह सुजान होय मुक्त सब द्वंद्व सों॥ १० (ग)॥

इस प्रकार जो [पुरुष] इस शरीररूपी कालचक्र की प्रवृत्ति और निवृत्ति को जानता है, वह बुद्धिमान पुरुष कभी भी मोहित नहीं होता अपितु समस्त द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

पाप सबहि जरि जाय कोउ न बचति उर बासना।
तबहिं परम गति पाय कबहुँ न आवे जाय सो॥ १० (घ)॥

उसके सभी पाप जल जाते हैं, हृदय में कोई भी वासना शेष नहीं रहती, तभी वह परमगति को प्राप्तकर आवागमन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

दोहा— जानन हित सत रज तमस नर हित कहउँ अहार।
यज्ञ दान तपहू कहउँ याकर होय बिचार॥ १० (ङ)॥

सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी पुरुषों की पहचान हो सके, इसके लिए अब उनके आहार को बता रहा हूँ तथा यज्ञ, दान और तप को भी बता रहा हूँ; जिससे इसका निर्णय हो सके।

चौपाई— बुद्धि आयु बल सुख अरु प्रीती। नित्य स्वस्थता दैं जिहिं रीती॥
रसमय चिकनैं प्रभु प्रियवारे। तन थिर रहत काल बहु भारे॥

बुद्धि, आयु, बल, सुख और प्रीति उत्पन्न करके नित्य स्वस्थता देना जिस आहार का स्वभाव है तथा जो रसमय, चिकना और भगवान को प्रिय हो तथा विशेष समय तक शरीर में स्थिर रहने वाला हो-

अस प्रसाद सात्विक नर भावत। अस ताकी पहचान लखावत॥
अम्लिय ऊष्ण लवण कटु जोई। तिक्ष्ण रुक्ष दाहक तन होई॥

ऐसा आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय है, इस प्रकार उस सात्त्विक पुरुष की पहचान कर ली जाती है। अम्लयुक्त (खट्टा), गर्म, नमकीन, कड़वा, तीखा, रूखा एवं दाह उत्पन्न करने वाले जो पदार्थ हैं-

सो राजस नर बहुत पियारे। रोग सोक दुख देनै वारे॥
जो बासी जूठो रसहीना। अधपक सुचिता सुद्धि बिहीना॥

वह राजस पुरुषों को अतिप्रिय लगता है, जो रोग-शोक एवं दुःख को देने वाला है। जो आहार बासी, जूठा,

रसहीन, अधपका, पवित्रता एवं शुद्धता से रहित-

अति दुर्गंध युक्त जे होई। तामस नर स्वीकारे सोई॥
लखि कर्तब्य कामना हीना। होय यज्ञ जो प्रभु आसीना॥

एवं अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होता है, वह तामस पुरुषों द्वारा प्रिय जानकर स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार यज्ञ करना ही कर्तव्य है इस भाव से प्रभु की याद में प्रतिष्ठित होकर फल की कामना छोड़कर जो यज्ञ किया जाता है-

दोहा— सात्विक यज्ञ कहाय सो राजस सुनु जस होय।
फल हित अरु अति दम्भयुत कियो जाय जग जोय॥ ११॥

वह सात्त्विक यज्ञ कहलाता है। अब राजस यज्ञ जैसा होता है उसे सुनो- संसार में जो यज्ञ फल की आकांक्षा से युक्त होकर अत्यन्त अहंकारपूर्वक किया जाता है वही राजस यज्ञ है।

चौपाई— जो यग बिधि बिपरीत कराये। मंत्र असुद्ध जहाँ उचराये॥
अन्नदान जहँ देवैं नाहीं। बिपुल दक्षिणा होय न जाहीं॥

तथा जो यज्ञ शास्त्र विधि-विधान के विपरीत किया जाता है जिसमें मंत्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं होता, जिसमें अन्नदान नहीं दिया जाता, जहाँ पर्याप्त दक्षिणा नहीं दी जाती-

अति श्रद्धा नहिं जहँ दिखलाये। यज्ञ सोइ तामस कहलाये॥
जहँ सुर द्विज गुरु प्राज्ञ पुजायें। सौच सरलता अति मन भायें॥

तथा जिस यज्ञ को करने में अति श्रद्धा नहीं दिखायी पड़ती- वही यज्ञ तामस कहा जाता है। उसी प्रकार जहाँ देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानीजनों का पूजन करना, पवित्रता, सरलता आदि मन को प्रिय लगता है।

ब्रह्मचरज सु अहिंसा ध्यावे। यहइ देह कर तप कहलावे॥
बचन मधुर सत हितकर होऊ। नहिं उद्वैगै हिय बद जोऊ॥

तथा ब्रह्मचर्य और परम अहिंसा का पालन किया जाता है, यही शारीरिक तप कहा जाता है। उसी प्रकार सत्य, प्रिय और हितकर हो, जो किसी के हृदय को पीड़ित न करे , ऐसे वचन बोलना-

नित स्वाध्यायहु करतो जावे। बानी तप सो पार्थ कहावे॥
मन निर्मलता मौन सौम्यता। आतम निग्रह भाव दिब्यता॥

तथा नित्य ही स्वाध्याय करते रहना- हे पार्थ! वही वाणी का तप कहा जाता है। उसी प्रकार जिस तप में मन की स्वच्छता, मौन, हृदय की सौम्यता, आत्मनिग्रह और भावों की दिव्यता हो-

दोहा— तप कहाय अस मानसिक सत रज तम कस होय।
सोउ धनंजय कहउँ अब जानन हित सब कोय॥ १२॥

ऐसा [तप] मानसिक तप कहा जाता है। किन्तु हे धनञ्जय! वही [तप] सात्त्विक, राजस एवं तामस रूप कैसे हो जाता है अब उसे भी बताता हूँ सुनो- जो सबके जानने योग्य है।

चौपाई— फल न चहत बर श्रद्धा धारे। तपै जो तप तेहि सत्व उचारे॥
गहि पाखंड मान आदर हित। पूजा करहिं सकल जग हित मित॥

इन तपों को जो फल न चाहते हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर तपना है, वही तप सात्त्विक कहा जाता है इसके विपरीत जो तप पाखण्डपूर्वक, आदर-मान के लिए तथा हित-मित्रों से जगत में अपनी पूजा कराने के भाव से किया जाता है,

जाकर फल अति स्वल्प अनिस्चित। सो कहाय तप रज निद्राजित॥
जो तप हठ बिमूढ़ता धारी। सठ पीड़हिं तन मन बच भारी॥

जिसका फल अति अल्प एवं अनिश्चित होता है- हे निद्राविजेता! वही तप राजस कहा जाता है। जो तप अत्यन्त मूर्खता एवं हठ के साथ मन, वाणी एवं शरीर को अति पीड़ित करते हुए-

कियो जाय पर अहित करावे। सो तामस तप तात कहावे॥
दान देन कर्तब्यहिं मानी। ऐसी दृढ़ श्रद्धा उर आनी॥

तथा दूसरे का अहित करने के लिए किया जाता है- हे पार्थ! वह तप तामस कहा जाता है। दान देना हमारा कर्तव्य है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा को हृदय में धारण करके-

देस काल अरु पात्रन्ह पाई। तन धन प्रान देत हरषाई॥
जासे होय न निज उपकारो। सात्विक दान सोइ उच्चारो॥

देश, काल और सत्पात्र को प्राप्त करके जिस [अतिथि, पशु-पक्षी अथवा याचक आदि] के द्वारा अपना कोई उपकार सिद्ध नहीं होता हो, उसे प्रसन्नतापूर्वक आवश्यकता अनुसार तन, धन और प्राण का भी दान कर देना सात्त्विक दान कहा जाता है।

दोहा— प्रतिउपकारहिं चाहि उर कीधौं फल मिलि जाय।
दियो जाय अति क्लेस सों राजस दान कहाय॥ १३॥

हृदय में प्रत्युपकार अथवा फल की कामना से अत्यन्त क्लेशपूर्वक जो दान दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।

चौपाई— गत सत्कार अवग्या धारी। देस काल नहिं पात्र बिचारी॥
दान दियो जावै जो ताता। सो कहाय तामस सच बाता॥

हे तात! सुनो, बिना सत्कार के देश, काल और पात्र का विचार न करते हुए बहुत अपमानपूर्वक जो दान दिया जाता है वह यथार्थ में तामस कहा जाता है।

महाराज एक गुप्त बतावे। प्रभु कर एकइ लक्ष्य दिखावे॥
पार्थ सुभाव लखें निज भाई। जेहि बिसरे दुर्बलता आई॥

हे सज्जनो! महाराज एक गुप्त रहस्य बता रहा है कि यहाँ भगवान का एक ही लक्ष्य दिखायी पड़ रहा है कि भक्त अर्जुन अपने स्वभाव को भलीभाँति जान लें जिसके भूल जाने से उनमें दुर्बलता आ गयी है।

अब समुझे दैवी आहारी। हौं दैवी याज्ञिक तप धारी॥
दानहु दैवी करनैवारो। यासें तौ प्रभु मोहिं उपकारो॥

किन्तु अब वे जान गये हैं कि मैं दैवी (सात्त्विक) आहार-व्यवहार वाला हूँ, दैवी यज्ञ एवं दैवी तप करने वाला हूँ और दैवी दान देने वाला हूँ; इसलिए प्रभु ने [यह सेवा माँगकर] मुझपर उपकार किया है।

गुडाकेस उर अब अस लागत। मोसों प्रभु प्रिय दानइ माँगत॥
ऐसो करें न कस हरिराई। आतमज्ञान दिये हरषाई॥

अब महात्मा अर्जुन के हृदय में ऐसा लग रहा है कि भगवान मुझसे मेरी प्रिय वस्तु का ही दान माँग रहे हैं। अरे! भगवान ऐसा करें भी क्यों नहीं, क्योंकि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मुझे आत्मज्ञान दिया है!

दोहा— सेष रही जो दक्षिणा सोइ मोसों हरि माँग।
जासु रूप धन प्रान मन अस मोरे उर लाग॥ १४॥

उसकी जो दक्षिणा अभी शेष है- भगवान उसी को मुझसे माँग रहे हैं जिस [दक्षिणा] का स्वरूप धन,मन और प्राण है, मेरे हृदय में ऐसा ही प्रतीत हो रहा है।

चौपाई— तापस तन धन तिय सुत जोई। सुर द्विज गुरु ज्ञानी हित होई॥
मन प्रभु हित जो तिन्ह कहँ जावे। यामें तौ कछु नाहिं नसावे॥

[मैंने तो सुना और देखा भी है कि] तपस्वीजनों के जो भी 'तन-धन और स्त्री-पुत्रादि' हैं वे सभी 'देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुजनों एवं आत्मज्ञानियों' के हितार्थ ही होते हैं। हाँ, मन अवश्य भगवान के लिए होता है जो उन्हीं के पास चला जाता है। अरे! इसमें तो कुछ भी नष्ट नहीं होता।

तेहि छन बचन मातु मन आयो। जो इकचक्रा नगरी गायो॥
हे द्विज तेरो सुत बस एको। मोहिं साँच पाँचन्ह कर टेको॥

उसी समय भक्त अर्जुन को माता कुन्ती का वचन याद आ गया जो उसने एकचक्रा नगरी में [एक ब्राह्मण से] कहा था- हे ब्राह्मण देवता! यथार्थ में आपका तो मात्र एक ही पुत्र है किन्तु मुझे तो पाँच पुत्रों का सहारा है।

उनमहँ एक आय तव काजा। तउ मेरो कछु नाहिं अकाजा॥
इक सुत बिप्र दान तोहिं करऊँ। बिजय पाय कै मरै न डरऊँ॥

उनमें यदि एक पुत्र आपके काम आ जाय तो मेरी कोई क्षति नहीं होगी। अत: हे ब्राह्मणदेव! मैं आपको एक पुत्र का दान कर रही हूँ, यह विजयी हो या मृत्यु को प्राप्त हो जाय, इसका मुझे भय नहीं है।

दउँ तन महूँ हरिहिं हरषाई। पूर्ण होय मोरी सेवकाई॥
आतमज्ञान लहेउँ बिनु सेवा। करउँ प्रसन्न देइ तन देवा॥

अत: अब मैं भी भगवान को यह शरीर प्रसन्नतापूर्वक दे दूँ जिससे मेरी सेवकाई पूरी हो जाय। इनकी बिना सेवा किये मैंने आत्मज्ञान प्राप्त किया है अत: इन्हें यह शरीर दान देकर प्रसन्न करूँ।

दोहा— भगत हृदय गति धर्ममय देखि बहुरि जगनाथ।
यज्ञ दान तप दिब्यता कहि तिन्हिं करहिं सनाथ॥ १५॥

भक्त अर्जुन के हृदय की ऐसी धर्ममय गति को देखकर जगत के स्वामी भगवान नारायण पुन: यज्ञ, दान और तप की दिव्यता को सुनाकर उन्हें कृतार्थ करने लगे-

चौपाई— धीर परंतप हे सतकामा। कहत निर्गुनी ब्रह्म अनामा॥
अरु अरूप ते कह अनुमानी। पर नहिं अस कह आतमज्ञानी॥

हे धैर्यवान! हे सत्य की कामना करने वाले परंतप! निर्गुण स्वरूप की उपासना करने वाले कहते हैं कि ब्रह्म नामरहित है। वे अनुमान के द्वारा यह भी कहते हैं कि वह बिना रूपवाला है परन्तु आत्मज्ञानी ऐसा नहीं कहते।

हाँ अस नाम रूप नहिं वाको। सगुनी कहत रूप जस जाको॥
अकथनीय सच नामहु रूपा। सकृत लखि न परै भवकूपा॥

हाँ, उसका नाम-रूप ऐसा नहीं है, जैसा सगुणोपासक बताते हैं। यथार्थ में उसका नाम और रूप अकथनीय अर्थात् वाणी का विषय नहीं है। जो उसे एक बार भी देख लेता है वह फिर संसार सागर में नहीं गिरता।

नाम रूपवारो प्रभु सोई। अपर न नाम रूप कर कोई॥
कारन सो जबहीं प्रगटायो। स्वयंहिं ॐ कहत तब आयो॥

यथार्थ में नाम-रूप वाला तो ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त नाम-रूप वाला कोई अन्य है ही नहीं; क्योंकि जब वह ब्रह्म प्रकट हुआ तो ॐ कहता हुआ ही प्रकट हुआ।

यासेइँ ऋषिगन ॐ पुकारे। जासे सो प्रसन्न भयो भारे॥
जस कोउ रुदन करत सिसु आवत। जनु सोइ निज कहँ जीव बतावत॥

इसी से ऋषिगणों ने उसे ॐ कहकर पुकारा जिससे वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया। जैसे कोई भी शिशु रुदन करता हुआ ही जन्म लेता है मानो वह अपने आपको जीव ही बताता आ रहा है।

दोहा— हरष बिषाद समेत सो जीव पुकारो जाय।
हरि ॐ तत्सत सांत सम यासों ब्रह्म कहाय॥ १६॥

वह हर्ष-विषाद से युक्त रहता है इसी से जीव कहा जाता है परन्तु ॐ तत्सत् तो सम-शान्त स्वरूप है इसलिए ब्रह्म ही कहा जाता है।

चौपाई— नाम ॐ तत्सत बिभु केरे। कहत ब्रह्मज्ञानी उर तेरे॥
जिनसों बेद यज्ञ द्विज सुनहू। सृष्टि आदि उपजे मन गुनहू॥

ब्रह्मज्ञानी सन्त कहते हैं कि ॐ, तत् एवं सत्- ये ब्रह्म के ही नाम हैं जो तुम्हारे हृदय में भी हैं, जिनके (नामों के) द्वारा सृष्टि के आदि में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं, ऐसा सुनकर तुम मन में विचार करो कि-

नाम रूप सब उपजत जासों। नाम रूप बिनु तेहि कह कासों॥
मूढ़हि नाम रूप निज मानहिं। प्रभुहिं अनाम अरूप बखानहिं॥

जिनके द्वारा सभी नाम एवं रूप प्रकट होते हैं, उसे बिना नाम एवं रूप वाला लोग कैसे कह देते हैं। अरे! मूढ़ अपने को तो नाम-रूप वाला मानते हैं परन्तु ब्रह्म को बिना नाम-रूप वाला कहते हैं।

रूपवान मैं सो रुप हीना। कहहिं महाबाहो मति दीना॥
हे प्रिय आदि सृष्टि प्रगटी जब। सास्त्र पुरान न कोउ हुते तब॥

हे पार्थ! अत्यन्त बुद्धिहीन ही कहते हैं कि मैं तो रूपवाला हूँ और वह (ब्रह्म) बिना रूप वाला है। हे प्रिय! जब आदि सृष्टि प्रकट हुई तब कोई भी शास्त्र-पुराण नहीं थे,

केवल दीख्यो बेद ताहि छन। ध्यान लगाइ भने तब ऋषिगन॥
ॐ जगत ह्वै तत कहलायो। भगत तत्वमसि कहि तब धायो॥

हाँ, उस समय केवल वेद दिखाई पड़ा, तब ध्यान लगाकर ऋषियों ने कहा- ॐ ही जगतरूप होकर तत् कहलाया, तब भक्तों ने उसकी तत्त्वमसि कहकर उपासना की।

नाम रूप अस कोउ नहिं वाको। बिस्वयज्ञ महँ काज न जाको॥

इस प्रकार उसका कोई भी नाम-रूप ऐसा नहीं है जिसका विश्वयज्ञ में उपयोग न होता हो।

दोहा— सुमन काज जस बैद्य हित तस कंटक सब आहिं।
बिषहु करइ सो सुधा सम कोउ न निरर्थक ताहिं॥ १७(क)॥

वैद्य के लिए पुष्प जितने काम के हैं सभी प्रकार के काँटे भी उतने ही काम के हैं। वह विष को भी अमृत बना देता है उसके लिए कोई भी निरर्थक नहीं है।

तस सुर संग असुर अरु नाग प्रेत दिखरायँ।
त्रिजगजोनि महँ कोउ नहिं जो प्रभु काज न आयँ॥ १७(ख)॥

उसी प्रकार देवताओं के साथ-साथ नाग, असुर, प्रेत तथा त्रियग्योनियों में जो भी जीव देखे जाते हैं उनमें ऐसा कोई नहीं है जो भगवान के काम न आता हो।

सफल कर्मवारो यहई तीनहु काल दिखाय।
जासों होयो नाम सत यहि त्रै नाम कहाय॥ १७(ग)॥

तीनों कालों में यही सफल कर्म वाला दिखायी पड़ता है जिसके कारण उसका एक नाम सत् हुआ। इस प्रकार यही (ॐ, तत्, सत्) तीन नाम कहे जाते हैं,

चौपाई— प्रगटत सबरें नाम ॐ सों। रूप सकल तत जगत ब्योम सों॥
यासें कोउ बरु राम जपाये। कृष्ण बिष्णु सिव कहि कहि ध्याये॥

सभी नाम ॐ से ही प्रकट होते हैं और जगत एवं जगत में उत्पन्न सभी [नाम-] रूप तत् रूपी आकाश से प्रकट होते हैं। इसलिए भले ही कोई ॐ श्रीरामाय नमः, ॐ श्रीकृष्णाय नमः, ॐ नमो नारायणाय तथा ॐ नमः शिवाय आदि [नामों] का ध्यानपूर्वक जप करे-

कीधौं जपै अपर कोउ नामा। जावें सकल ॐ कै धामा॥
अरु कोउ रूपहिं ध्यान धरावें। अंत समय सब तत महँ जावें॥

अथवा प्रभु का कोई दूसरा नाम क्यों न जपे, वे सभी नाम अन्त में ॐ में ही विलीन हो जायेंगे तथा अन्य किसी भी रूप का ध्यान करेंगे वे सभी अन्तकाल में तत् [रूपी ब्रह्म] में विलीन हो जायेंगे।

एहि बिधि सबरें सत बनि जावें। तबहिं सच्चिदानंद कहावें॥
जस ऐसी औषधि नहिं भाई। जो न जाय महि माहिं समाई॥

इसी प्रकार सभी सत् रूप हो जाते हैं और तभी सच्चिदानन्द कहे जाते हैं। जैसे हे प्रिय! ऐसी कोई औषधि नहीं है जो [अन्त में] पृथ्वी में नहीं समाती है अर्थात् पृथ्वीरूप नहीं हो जाती है।

कारन बसुधामय सच सारे। नाम रूप तहँ जायँ बिसारे॥
तस बिभूति जो अबहिं बखान्यों। तिन्हहुँ ॐ तत सत मय मान्यों॥

क्योंकि यथार्थ में वे सभी पृथ्वीरूप ही हैं अतः वे नाम-रूप को खोकर उसी में विलीन हो जाती हैं। उसी प्रकार अभी (दशम् अध्याय में) मैंने जिन विभूतियों का वर्णन किया उन्हें भी मैं 'ॐ तत् सत्' रूप ही मानता हूँ।

दोहा— ऐसो कहि कोउ जप तपहिं मैं निरबारउँ नाहिं।
अर्जुन काह करउँ जब सब ॐ तत्सत आहिं॥ १८॥

ऐसा कहकर मैं किसी [नाम-रूप] और जप-तप का निषेध नहीं कर रहा हूँ। हे महाबाहो! मैं ऐसा करूँ भी क्यों, जब सभी ॐ तत् सत् रूप ही हैं!

चौपाई— सृष्टि पूर्ब प्रभु चरित हुओ नहिं। नाम रूप कोऊ प्रगटहिं जहिं॥
अबलौं तौ सोई हरिराई। जो ॐ तत्सत रूप लखाई॥

सृष्टि के पूर्व तो कोई प्रभु चरित्र हुआ ही नहीं, जिससे कोई अन्य नाम और रूप प्रकट हों। हाँ, अब तक तो वही ब्रह्म जो 'ॐ तत् सत्' रूप दिखायी पड़ता है,

बिपुल बार अवतरि जग आयो। भगतन्ह हित बहु चरित लखायो॥
अतिहिं दिब्य हरि नाम सरूपा। जेहि जपि नर न परत भवकूपा॥

अनेक बार अवतार ग्रहण करके संसार में प्रकट हो चुका है और भक्तों के कल्याणार्थ बहुत-से लीला-चरित्रों को दर्शाया है। ब्रह्म के वे नाम एवं रूप अत्यन्त दिव्य हैं, जिनका जप एवं ध्यान करने से पुरुष कभी भी संसाररूपी कुएँ में नहीं गिरता।

तेहि महँ इक मेरो अवतारो। भयो सिद्ध भगतन्ह हित भारो॥
जपि मम नाम रूप करि ध्यानत। अपर समय मम चरित बखानत॥

उन्हीं अवतारों में एक मेरा भी अवतार है जो भक्तों के लिए अत्यन्त सार्थक सिद्ध हुआ है। मेरे नाम-रूप का जप-ध्यान करते हुए तथा अन्य समय में मेरे लीलाचरित्र का [भक्तों में] वर्णन करते हुए-

भगत तरे तारे बहु भक्ता। जो न स्वजन जग महँ अनुरक्ता॥
ऐसोइ राम बिष्णु सिव सारे। अपरहु नाम रूप जग प्यारे॥

बहुत-से भक्त भवसागर पार कर गये हैं और अन्य बहुत-से भक्तों का भी उन्होंने उद्धार कर दिया है जो अपने स्वजनों या जगत के लोगों में आसक्त नहीं थे। उसी प्रकार 'राम, विष्णु एवं शिव' आदि अनेक अन्य प्रिय नाम एवं रूप भी जगत में विख्यात हैं।

दोहा— उनकेहु पावन नाम जपि करि रुप अनुपम ध्यान।
तिन्हसों जन बरदान लहि पावहिं पद निर्बान॥ १९॥

अत: उनके भी पावन नाम का जप और अनुपम रूप का ध्यान करके भक्तगण उनसे वरदान प्राप्त कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

चौपाई— इनि नामनि ॐ तत सत माहीं। साँच कहउँ कछु अंतर नाहीं॥
पुनि सुनु तत सत ॐ कहानी। जासे होय भरम की हानी॥

मैं सत्य कहता हूँ कि इन नाम-रूपों में और 'ॐ तत् सत्' में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। हे पार्थ पुन: 'ॐ तत् सत्' की कहानी सुनो जिससे संशय-भ्रम नष्ट हो जायँ।

ॐ नाम त्रै मात्रा वारो। तस प्रभु कै त्रै नाम बिचारो॥
जो संकेतत तीनि अवस्था। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ब्यवस्था॥

जिस प्रकार ॐ नाम [अ उ म] तीन मात्राओं वाला है, उसी प्रकार ब्रह्म के अन्य तीनों नामों [ॐ तत् सत्] पर भी विचार किया गया है, जो जीव की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं की व्यवस्था की ओर संकेत कर रहे हैं।

जामें जाग्रत स्वप्न मिलाई। एक रूप तत देत लखाई॥
द्रष्टा होहिं बासना जबहीं। सेष बचत साक्षित्वहि तबहीं॥

जिसमें जाग्रत-स्वप्न मिलाकर एकरूप देखने से वह तत् रूप दिखाई पड़ रहा है और जब समस्त वासनाएँ द्रष्टारूप हो जाती हैं तब वहाँ साक्षित्व ही शेष रहता है।

तब सुषुप्ति सोइ सत कहलावे। पुनि ब्यापक बिभु ॐ लखावे॥
पुनि तीनहुँ इक होइ जायँ जब। सोइ अमात्र तुर्यहु कहाय तब॥

तब वही सुषुप्ति अवस्था सत् कही जाती है फिर व्यापक ब्रह्म ॐ के रूप में दिखायी पड़ता है। पुनः जब तीनों मात्राएँ एक हो जाती हैं तो वही मात्रारहित अवस्था तूर्यावस्था कही जाती है।

दोहा— सृजन रूप जनु तत अहइ सत संहार समानु।
पालन रूप सु ॐ सच ऐसो उर महँ मानु॥ २०॥

अतः हृदय में ऐसा मानो कि तत् सृजनरूप है और सत् संहाररूप दिखायी पड़ रहा है तथा ॐ तो यथार्थ में पालनरूप ही है।

चौपाई— महाराज नित हृदय बिचारइ। याहि सहज साधक कस धारइ॥
यहि लखि याहि पुनः बिस्तारै। गूढ़ मरम याकी उर सारै॥

महाराज भी ऐसा नित्य ही हृदय में सोचता रहता था कि इस मंत्र का अर्थ साधकगण सहजता से कैसे धारण करें! यही सोचकर इसका पुनः विस्तार कर रहा है और इसके गूढ़ रहस्य की हृदय में स्थापना कर रहा है।

ॐ यज्ञ तत तप सत दाना। ब्रह्म नाम यहु तीनि बखाना॥
ॐ भूः तत भुवः जु सत स्वः। गायत्री त्रय ब्रह्म न लख कः॥

'यज्ञ' ॐ है, 'तप' तत् है और 'दान' ही सत् है- ये भी ब्रह्म के तीन नाम कहे गये हैं। [उसी प्रकार त्रिपदा] गायत्री में 'भूः' ॐ है, 'भुवः' तत् है तथा 'स्वः' ही सत् है- ब्रह्म के ये तीन रूप कौन नहीं जानता अर्थात् सभी जानते हैं।

महामृत्युंजय मंत्रहु माहीं। ब्रह्मरूप सच तीनि लखाहीं॥
ॐ ह्रौं तत जुं अरु सत सः। हृदय रहत जो दीखत परितः॥

वैसे ही महामृत्युञ्जय मंत्र में भी यथार्थतः ब्रह्म के तीन रूप दिखायी पड़ते हैं जिनमें 'ह्रौं' ॐ है, 'जुं' तत् है और 'सः' ही सत् है जो हृदय में रहते हुए भी सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं।

अस नवार्ण महुँ प्रभु कर भाई। रूप तीनि नीकैं दिखराई॥

इसी प्रकार नवार्ण मंत्र में भी भगवान के तीन रूप स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं।

दोहा— ॐ ऐं तत ह्रीं अरु सत ही क्लीं कहाय।
जो जापक उर सहजहीं सकल बिकार दहाय॥ २१॥

उसमें 'ऐं' ॐ है, 'ह्रीं' ही तत् है और 'क्लीं' ही सत् कहा जाता है जो साधकों के हृदय के समस्त विकारों को सहज ही जला डालता है।

चौपाई— ॐ सरस्वति माँ दुर्गा तत। काली मातु कहावति तस सत॥
ॐ देव सब तत मनुजाहीं। त्रिजगजोनि सत ब्रह्म कहाहीं॥

[उसी प्रकार] 'सरस्वती' ॐ हैं, माँ दुर्गा तत् हैं तथा 'काली' ही सत् कही जाती हैं। 'समस्त देवता' ॐ हैं, 'मनुष्य' तत् हैं और 'तिर्यग्योनियाँ' सत् नामक ब्रह्म कही जाती हैं।

ॐ सृष्टि सुर तत नरलोका। सत पाताल न एहि महँ धोका॥
ॐ नृपति तत प्रजा राज्य सत। ब्रह्मरूप यहु लखउ दृष्टिगत॥

उसी प्रकार 'देवलोक' ॐ है, 'मनुष्यलोक' तत् है और 'पाताललोक' ही सत् है, इस प्रकार ये ब्रह्मरूप हैं, इसमें तनिक भी असत्यता नहीं है। 'राजा' ॐ है, 'प्रजा' तत् है तथा 'राज्य' ही सत् है, इसप्रकार इन्हें ब्रह्मरूप में देखें।

ॐ यती तत बटु गृहस्थ सत। ब्रह्म रूप त्रै यहउ गहउ मत॥
ॐ बालपन तत यौवनपन। समुझहु ब्रह्मरूप सत बृधपन॥

वैसे ही 'संन्यासी' ॐ है, 'ब्रह्मचारी' तत् है तथा 'गृहस्थ' ही सत् है इस प्रकार ये तीनों ब्रह्मरूप हैं इस सिद्धान्त को स्वीकार करें। 'बाल्यावस्था' ॐ है, 'युवावस्था' तत् है और 'वृद्धावस्था' को सत् रूप में स्वीकार करें।

ॐ अहइ साधक तत चिंतन। त्यागहि सत मम तव मैं तू पन॥
ॐ ध्यान अरु तत स्वाध्यायो। सत निष्काम करम मोहिं भायो॥

'साधक' ॐ है, 'चिंतन' तत् है तथा 'मैं-तू, मेरा-तेरा आदि' भावों का त्याग ही सत् है। 'ध्यान' ॐ है, 'स्वाध्याय' तत् है और 'निष्काम कर्म' ही मुझे सत् नामक ब्रह्म प्रतीत हो रहा है।

दोहा— ज्ञानयोग ही ॐ सम सत सम नवधा भक्ति।
अरु अष्टांगयोग तत गहहु त्यागि आसक्ति॥ २२॥

उसी प्रकार 'ज्ञानयोग' ॐ के समान है, 'नवधाभक्ति' सत् के समान है और 'अष्टांगयोग' को ही आसक्ति त्यागकर तत् रूप में ग्रहण करें।

चौपाई— ज्ञानयोग तत कर्मयोग सत। राजयोग ही ॐ ब्रह्म मत॥
ज्ञान समाधि ॐ जप तत जू। तप सत ब्रह्म लखइ तम गत जू॥

वैसे ही भगवान के अनुसार 'ज्ञानयोग' तत् है, 'कर्मयोग' सत् है तथा 'राजयोग' ही ॐ है। वैसे ही 'ज्ञान समाधि' ॐ है, 'जप' तत् है एवं 'तप' सत् है। इस प्रकार 'मायारहित ब्रह्म' ही सत् के रूप में दिखायी पड़ रहा है।

ॐ ब्रह्मज्ञानी तत साधक। सत जिज्ञासु ब्रह्म अवराधक॥
सदगुरु ॐ सिष्य तत भाई। सत इनि दोऊ केरि सगाई॥

वैसे 'ब्रह्मज्ञानी' ॐ है, 'साधक' तत् है, 'ब्रह्म' की आराधना करने वाला 'आत्मजिज्ञासु' ही सत् है। वैसे ही हे प्रिय! 'सद्गुरु' ॐ है, 'शिष्य' तत् है तथा 'इन दोनों का योग' (मिलन) ही सत् है।

बेद ॐ उपनीषद ही तत। सत पुरान जिहिं माहिं बटुक रत॥
ॐ महर्षी ब्यास लखावें। तत नभ सुर मुनि सिद्ध कहावें॥

'वेद' ॐ है, 'उपनिषद्' तत् है और 'पुराण' ही सत् है जिसमें ब्रह्मचारी रत रहते हैं। 'महर्षि व्यास' ॐ की तरह दीख रहे हैं तो आकाश मण्डल स्थित देवता, मुनि एवं सिद्ध ही तत् कहे जाते हैं।

सत संजय नृप कर संबादा। लखहु याहि बिधि हरइ बिषादा॥

राजा धृतराष्ट्र तथा सञ्जय का संवाद ही सत् है। इस प्रकार आप देखें तो विषाद का हरण हो जायेगा।

छंद— इहँ ॐ रथ पर परम प्रभु श्रीकृष्णचंद्र लखायँ जू।
तत महाबाहू बर जितेंद्रिय पार्थ अति सोभायँ जू॥
द्वै बाहिनी सत रूप त्रै बिभु निरखि कहत न कछु परैं।
महराज लख एहि भाँति जो त्रै ताप ताकर हरि हरैं॥

वैसे ही यहाँ (युद्धभूमि में) रथ पर जो परम प्रभु भगवान 'श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द' दिखायी पड़ रहे हैं, वे ॐ हैं तथा अत्यन्त विशाल भुजाओं से शोभायमान जितेन्द्रिय 'महात्मा अर्जुन' ही तत् हैं एवं 'दोनों सेनाएँ' ही सत् रूप हैं। इस प्रकार जो ब्रह्म के तीन रूप दिखायी दे रहे हैं उसका कुछ भी वर्णन करते नहीं बनता। महाराज के अनुसार जो इसी प्रकार [इस झाँकी को] देखेगा भगवान श्रीहरि उसके तीनों प्रकार के क्लेशों का नाश कर देंगे।

दोहा— सुद्ध साक्षि बिभु अक्षर आतम आपुहिं जानि।
जगत ॐ तत्सत निरखि हृदय करहु सनमानि॥ २३॥

अत: आप स्वयं को शुद्ध साक्षी व्यापक अक्षर आत्मा जानकर तथा जगत को ॐ तत्सत् रूप समझकर हृदय में आदर-सम्मान दें।

चौपाई— अब तौ सुनहु जो कह भगवाना। बहुरि ताहि बिधि करहु सुजाना॥
अर्जुन साधक त्रय जग माहीं। अगुनी सगुनी देव पुजाहीं॥

हे बुद्धिमानो! अब आप उसे सुनें, जिसे भगवान कह रहे हैं, फिर वैसा ही करें। हे पार्थ! जगत में तीन प्रकार के साधक होते हैं- 'निर्गुण उपासक, सगुण उपासक तथा देव उपासक।'

सुमिरि ॐ निर्गुनी सुजाना। करत निकाम जग्य जप दाना॥
उनकै मत यग ॐ हि आहीं। दान तपहु सब यहइ कहाहीं॥

उनमें निर्गुण निराकार उपासक हृदय में ॐ का स्मरण करके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त क्रियाओं को निष्काम भाव से करते हैं। उनके मत में ॐ ही यज्ञ, दान और तप सबकुछ कहा जाता है।

ज्ञान ध्यान जप अरु स्वाध्यायो। ॐ सबहि उर कछु न समायो॥
होइ जाहि फल क्रिया ॐ मय। देति ब्रह्म पद परम सांतिमय॥

अत: उनके लिए ज्ञान, ध्यान, जप और स्वाध्याय आदि सबकुछ ॐ रूप ही है; इसके अतिरिक्त हृदय में कुछ अन्य नहीं होता, जिसके फलस्वरूप समस्त क्रियाएँ ॐ मय होकर परम शान्तिमय (ब्रह्म) पद को दे देती हैं।

सगुनि पुरुष अधियज्ञ अराधहिं। तत कहि यज्ञ दान तप साधहिं॥
उनकै मत तत रूप सकल जग। अस लखि चलहिं ते परमारथ मग॥

उसी प्रकार सगुणोपासक पुरुष अधियज्ञ (विष्णु) की आराधना करते हैं तथा उसे तत् समझकर समस्त यज्ञ, दान, तप रूपी क्रिया करते हैं। उनके मत में सारा जगत तत् रूप है ऐसा समझकर ही वे परमार्थ मार्ग पर चलते हैं।

अस समर्पि आतमजिज्ञासू। पायँ मोक्षफल परम प्रकासू॥

इसप्रकार वे आत्मजिज्ञासु समर्पित होकर परम प्रकाशरूप मोक्षफल को प्राप्त कर लेते हैं।

दोहा— करमयोग गृहमाहिं सच लख्यो जाय परधान।
देवयज्ञ तासों करहिं सत सुरगन अनुमान॥ २४॥

वैसे ही गृहस्थाश्रम में कर्मयोग की प्रधानता देखी जाती है। इसलिए वे देवताओं को सत् रूप समझकर देवयज्ञ करते हैं।

चौपाई— देवलोक सतलोक कहावे। आगम निगम पुरानहु गावे॥
ते मन गुनहिं यहइ सुर सारे। अपनपऊ जग महँ बिस्तारे॥

आगम, निगम एवं पुराण कहते हैं कि देवलोक ही सतलोक कहा जाता है। अत: वे अपने मन में ऐसा समझते हैं कि ये ही समस्त देवता अपने-आपका जगत में विस्तार किये हुए हैं।

यासें यज्ञ दान तप भारी। इनहिं समर्पहिं सतहिं उचारी॥
तेहि फल होयँ परम सतरूपा। पुनि न परत कबहूँ भवकूपा॥

इसलिए वे बहुत-से यज्ञ, दान और तप करके सत् का उच्चारण करते हुए इन्हें ही समर्पित कर देते हैं और उसके फलस्वरूप वे सत् रूप हो जाते हैं तथा पुन: संसाररूपी कुएँ में नहीं गिरते।

तात यहइ परमारथ जानहु। सत रुप यज्ञ दान तप मानहु॥
एहि महँ तौ न अन्यथा सोचहु। यदि भयो अन्य सोच तौ मोचहु॥

इस प्रकार हे प्रिय! परमार्थ तो यही है कि यज्ञ, दान, तप रूपी क्रियाएँ सभी सत् रूप हैं। अत: इसमें कुछ अन्यथा मत सोचो, यदि कुछ अन्यथा सोचने में आ गया है तो उसका त्याग कर दो।

इतनोइ नाहिं ब्रह्महित जोऊ। कर्म होय सो सतमय होऊ॥
पर वामें पन सुनु इक भाई। कियो जाय श्रद्धाहु गहाई॥

इतना ही नहीं बल्कि जो भी कर्म ब्रह्म के निमित्त किया जाता है वह सब सत् रूप ही हो जाता है किन्तु हे प्रिय! सुनो, उसमें एक प्रतिज्ञा भी होती है कि उन्हें अत्यन्त श्रद्धा के साथ किया जाय।

दोहा— बिनु श्रद्धा यग दान तप कियो जाय कछु जोय।
असत सो तात इहाँ उहाँ दै सुख सांति न कोय॥ २५॥

हे तात! श्रद्धा के अभाव में यज्ञ, दान एवं तप अथवा जो कुछ भी किया जाय वह सब असत्य ही होता है। अत: वह न इस लोक में सुख-शान्ति देता है और न उस लोक में।

चौपाई— अस लखि बर श्रद्धा उर धारी। समर यज्ञ कर सतहिं बिचारी॥
याकर प्रियफल दै मोहिं दाना। करहु बहुरि तप परम सुजाना॥

ऐसा समझकर हृदय में परम श्रद्धा को धारण कर समरयज्ञ को सत्रूप समझकर करो और इस समरयज्ञ के उपरान्त इसके प्रिय फल को मुझे ही समर्पित कर फिर हे बुद्धिमान पार्थ! तुम तप करना।

उत नृप संजय सों अकुलाई। कह अस क्यों भाषैं यदुराई॥
ऐसो तौ श्रद्धा गहि कोऊ। गुरुहिं बधे पर पाप न होऊ॥

उधर धृतराष्ट्र अत्यन्त व्याकुल होकर सञ्जय से कह रहे हैं कि हे सञ्जय! बताओ, यदुनाथ ऐसा क्यों कह रहे हैं? इस प्रकार कोई श्रद्धा को धारण कर अपने गुरु का ही वध कर दे तो क्या पाप नहीं लगेगा?

हाँ नृप जब सदगुरु मिलि जावें। हरिहिं ॐ तत्सत दरसावें॥
तब श्रद्धा बस तेहि महँ होवे। तेहि आयसु गहि निज उर धोवे॥

सञ्जय ने कहा- हाँ, राजन्! जब सद्गुरु मिल जाय और ब्रह्म स्वरूप 'ॐ तत्सत्' को प्रकट कर दे तब श्रद्धा एकमात्र उसी में होनी चाहिए और उसकी आज्ञा का पालन करते हुए अपना चित्त निर्मल कर लेना चाहिए।

सृजत हरत पालत जग जोई। आय सोइ जब सदगुरु होई॥
तब कह जो कछु सो जग साईं। करै मूँदि दृग सक्तिहिं नाईं॥

अरे! जो प्रभु जगत का सृजन, पालन और संहार करता है जब वही आकर सद्गुरु बन जाय तब वह जगत्पति जो कुछ भी कहे तो उसकी शक्ति के समान [स्वयं को समझते हुए] आँख मूँदकर वही करे।

छंद— ज्यौं करति श्रीराधा भगवती पाइ प्रभु संकेत जो।
गुरु सक्ति स्वयंहिं समुझि तिन्हि सम हरि भगत उर चेत जो॥
नहिं मानि निज मन बुद्धि कहनो गुरु कहें जो सोइ करै।
यहि ॐ तत सत जाय कहि जो ज्ञान दै सब दुख हरै॥

जिस प्रकार [प्रभु की संकल्पशक्ति] भगवती श्रीराधा, प्रभु से जो-जो संकेत मिलता है वैसा ही करती हैं, उसी प्रकार जो प्रभुभक्त हृदय से सजग होकर अपने को सद्गुरु की शक्ति समझकर मन, बुद्धि, चित्त का कहना न मानते हुए, वे जो-जो कहें वैसा ही करता जाय तो उस भक्त के द्वारा ऐसा करना ही 'ॐ, तत्, सत्' कहा जायेगा, जो ज्ञान देकर भक्त के सभी दु:खों का हरण कर लेगा।

सोरठा— हे राजन प्रिय पार्थ बहुरि कहहिं कछु दीख अस।
जिन्ह महँ नहिं कछु स्वार्थ सोउ हरि जनु अब तेहि लखैं॥ २६॥

सञ्जय ने कहा- हे राजन्! कुछ ऐसा दिखायी पड़ रहा है कि परम प्रिय अर्जुन पुन: कुछ कहने जा रहे हैं और जिनके हृदय में कुछ स्वार्थ है ही नहीं, वे भगवान भी मानो अब उसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मासपारायण, अट्ठाईसवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय: ॥ १७॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

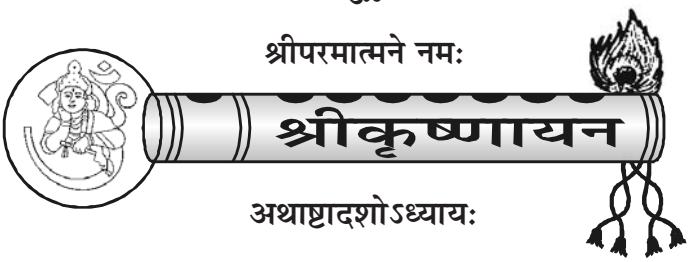

अथाष्टादशोऽध्यायः

ॐ ब्रह्म कुतः पृच्छति कश्चित
पश्यामि इतः जगतं संचित।
सद्गुरुं नमत महाराज कथति
प्रभु इतः उतः निश्चित निश्चित॥
ॐ जगतः किं अस्ति मूढ कथति
मम हृदये नित्यं कथं लखति।
सद्गुरुं नमत महाराज कथति
तव हृदये माया महति बहति॥
ॐ तदा हसित्वा मूढ वदति
तर्हि सत् माया अस्ति अस्ति।
सद्गुरुं नमत महाराज कथति
त्रयकाले माया नास्ति नास्ति॥
ॐ भ्रम भवति रज्जौ सर्पस्य यथा
ब्रह्मणि पश्यति नित जगत तथा।
सर्वं ब्रह्मं त्वं किं पृच्छसि
स्वयमेव ब्रह्म त्वं किं इच्छसि॥

यद्यपि सर्वत्र ब्रह्म ही व्याप्त है जो सृष्टि के आदि में ॐ नाम से स्फुरित होता हुआ प्रकट होता है तो भी कोई आकर महाराज से पूछता है कि ब्रह्म कहाँ है! ब्रह्म कहाँ है! मुझे तो यहाँ एकमात्र सर्वत्र परिपूर्ण जगत ही दिखाई पड़ रहा है? तब महाराज सद्गुरु की वन्दना करके कहता है कि ऐसा नहीं है बल्कि सर्वत्र एकमात्र प्रभु ही व्याप्त हैं। तब इस बात को न समझते हुए वह अज्ञानी पुरुष पुनः कहता है कि फिर यह जगत क्या है जो मेरे हृदय में सदा ही स्फुरित हो रहा है। तब महाराज सद्गुरु का स्मरण करते हुए कहता है कि ऐसा नहीं है बल्कि तुम्हारे हृदय में प्रबल माया ही स्फुरित हो रही है।

उसके उपरान्त वह अज्ञानी पुरुष व्यंग्यात्मक हँसी हँसते हुए कहता है कि फिर तो आपने यह सिद्ध कर ही दिया कि जगत भले न हो किन्तु माया तो निश्चित रूप से है ही। तब सद्गुरु की अध्यक्षता में महाराज उससे कहता है कि ऐसा भी नहीं है, माया भी तीनों कालों में नहीं है। तुम जानते हो! ब्रह्म के अन्तर्गत यह माया उसी प्रकार भासित हो रही है जैसे [धुँधले प्रकाश में] रस्सी में सर्प की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार सर्वत्र तो ब्रह्म ही ब्रह्म है अतः तुम्हारे प्रश्न पूछने का कोई औचित्य ही नहीं बनता। अरे! तुम किसकी इच्छा कर रहे हो, तुम तो स्वयं भी वही ब्रह्म हो!

चौपाई— चितवहिं पार्थ प्रभुहिं एहि भाँती। जनु माँ पितु गुरु बंधु सँघाती॥
खेदत उर बहु प्रभु का जान्यों। अकल अभेद बिभुहिं नर मान्यों॥

महात्मा अर्जुन भगवान नारायण को ऐसे देख रहे हैं, जैसे माता-पिता, गुरु, भाई एवं हित-मित्र को देख रहे हों तथा हृदय में अत्यन्त खेद कर रहे हैं कि भगवान को मैंने क्या समझ लिया था! अरे! मैंने तो मायारहित और भेदरहित प्रभु को मनुष्य ही मान लिया था।

सृष्टि आदि एकइ प्रभु योई। निज संकल्प बिपुल भए सोई॥
त्रैगुन बसन होइ पुनि ओढ़ी। तामेइ मूढ़नि सों गयो पोढ़ी॥

जबकि सृष्टि के आदि में ये प्रभु एक ही थे और अब अपने संकल्प से वे ही विविध रूप वाले हो गये हैं पुन: उन्होंने ही त्रिगुणात्मक वस्त्र बनकर मानो उसे ओढ़ लिया है और उसी में अज्ञानियों से छिप गये हैं।

मो पहिं प्रगट भये गुन त्यागी। अब होवउँ इन्ह पद अनुरागी॥
इन्हकी माया सों सत मिथ्या। भासत असतहु अतिहिं अमिथ्या॥

किन्तु अब [वे ही नारायण कृपा करके वस्त्ररूप] तीनों गुणों का परित्याग करके मेरे पास प्रकट हो गये हैं, इसलिए अब मैं इन्हीं के चरणों का अनुरागी बन जाऊँ। इन्हीं की माया द्वारा सत् असत्-सा और असत् सर्वथा सत्-सा प्रतीत होता है।

कबहुँ न रबि ससि राहुहिं योगा। पर मानहिं अस भ्रम बस लोगा॥

[जैसा कि] सूर्य और चन्द्रमा का राहु से कभी मिलन हुआ ही नहीं, तो भी भ्रम के वशीभूत लोगों ने ऐसा मान लिया है।

दोहा— फटिक मध्य जस भास गज पर सच न्यारो होय।
प्राणिन्ह हिय हरि बिम्ब तिमि पृथक जान कोइ कोय॥ १॥

जैसे हाथी [प्रतिबिम्बित होकर] स्फटिक के अन्तर्गत वास करता हुआ-सा दिखायी पड़ता है किन्तु यथार्थ में वह उससे सर्वथा अलग ही रहता है, उसी प्रकार भगवान का प्रतिबिम्ब भी सभी प्राणियों के हृदय में प्रतीत होता है किन्तु भगवान तो उससे सर्वथा पृथक् ही है; जिसे कोई-कोई ही जानता है।

चौपाई— पंच रचित सब देह कहावें। भासत अस तहिं सबहि समावें॥
पर पूर्बहिं सों तिहिं थल रूपा। कारण रूप अहहिं सच छूपा॥

सभी शरीर पंचभूतों से निर्मित कहे जाते हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सभी [पंचभूत] वहीं (शरीर में) समाये हुए हैं परन्तु यह सत्य है कि वे पहले से ही उन स्थानों और रूपों में कारण रूप से विद्यमान हैं।

यासें तहँ न समाये कबहूँ। संत सिद्ध मुनि भाषत सबहूँ॥
सच अपुनो सें पृथक न कोऊ। लखहु पृथक तो प्रबिस न होऊ॥

इसलिए उन शरीरों में कभी भी प्रवेश नहीं किये, ऐसा सभी सन्त, सिद्ध एवं मुनिजन कहते हैं। यथार्थ में अपने से पृथक् कोई है ही नहीं; यदि पृथक् देखते हैं तो [उसमें] प्रवेश ही नहीं कर पायेंगे।

निति निषेध की नेति नेति सों। इदम अस्ति अन्वय कि रीति सों॥
सिद्ध होत ये सर्बातीता। अहहिं जे सर्बसु भक्तन्ह मीता॥

ब्रह्म ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है- इस निषेध की रीति से और ब्रह्म ऐसा ही है, ऐसा ही है- इस स्वीकृति की रीति से सिद्ध होता है कि ये सर्वातीत और सर्वस्व हैं जो भक्तों के परम मित्र हैं।

बिद्यमान सर्बत्र सर्बदा। अहइँ येइ जो सकल मर्मदा॥

ये ही सर्वत्र विद्यमान हैं जो सम्पूर्ण रहस्यों को देने वाले हैं।

दोहा— इनि हरि सों कछु पृथक नहिं यदि जिन्हि पर अनुभाय।
तिन्ह गति अस जस दृग तिमिर सों ससि बहुत लखाय॥ २॥

इन प्रभु से तो कुछ भी अन्य नहीं है किन्तु जिन्हें अन्य का अनुभव होता है उनकी स्थिति ऐसी है जैसे आँखों में तिमिर रोग (नेत्ररोग) होने पर चन्द्रमा एक होते हुए भी अनेक दीखता है।

चौपाई— अस मन गुनि पुनि अर्जुन बोले। प्रेम भगतिमय बचन अमोले॥
प्रभु जहँ जहँ माया महँ भाग्यों। तहँ तुव ज्ञान भुजा सों राग्यों॥

मन में ऐसा समझते हुए भक्त अर्जुन पुन: प्रेम और भक्ति से सराबोर अमूल्य वचन बोले- हे प्रभो! मैं जहाँ-जहाँ माया में भागता रहा, वहाँ-वहाँ आपकी ज्ञानमय भुजा से अनुराग प्राप्त करता रहा।

ज्ञान भुजहिं अस तुम्ह बिस्तार्‌यो। पकरि अहं दनु केसी मार्‌यो॥
जो मम मति जड़ दियो बनाई। तेहि हति मोकों लिये छड़ाई॥

आपने अपनी ज्ञानरूपी विशाल भुजा को ऐसा बढ़ाया कि अहंकाररूपी केशी नामक राक्षस को पकड़कर मार डाला जिसने मेरी बुद्धि को अत्यन्त जड़ बना दिया था। उसे मारकर आपने मुझे मुक्त कर लिया है।

एक बात बस बिनवउँ स्वामी। हृषीकेस तुव पद अनुगामी॥
प्रभु आजानुबाहु तुम्ह मेरो। हते कंस सम असुर घनेरो॥

हे हृषीकेश! मैं आपका सेवक हूँ अत: आपके कमलवत् चरणों में प्रणाम करते हुए एक निवेदन कर रहा हूँ- हे आजानुबाहु! हे मेरे प्रभु! आपने कंस जैसे अनेक असुरों का वध किया है।

नाथ त्याग संन्यास दिखाए। पर सब्दारथ नाहिं बताए॥
जानन चहउँ ताहि सब्दारथ। जासे लहउँ सहज परमारथ॥

हे नाथ! आपने संन्यास और त्याग इन दोनों के स्वरूप को तो बता दिया है किन्तु शब्दार्थ प्रकाशित नहीं हुआ। अत: मैं उसी शब्दार्थ को जानना चाहता हूँ जिससे सहज ही परमार्थ को प्राप्त कर लूँ।

दोहा— सिष्य बचन सुनि मुदित अति भगत बछल भगवान।
मरम त्याग संन्यास कर सकल बतायँ सुजान॥ ३॥

हे बुद्धिमानो! भक्तवत्सल भगवान शिष्य के ऐसे वचनों को सुनकर अति प्रसन्नता के साथ त्याग और संन्यास का सम्पूर्ण रहस्य बताने लगे।

चौपाई— हे प्रिय भिन्न भिन्न मत या महँ। निस्चित मतहिं बतावउँ ता महँ॥
बुध कोउ काम्य कर्म कर न्यासा। कहत यथारथ यहि संन्यासा॥

हे प्रिय! इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं, उन मतों में भी मैं निश्चित मत को कहूँगा। कोई-कोई बुद्धिमान पुरुष तो सकाम कर्मों के त्याग को ही यथार्थ में 'संन्यास' कहते हैं।

कोउ कह सर्ब कर्म फल त्यागा। सोइ संन्यास न जहँ कछु रागा॥
कोउ कह दोषयुक्त सब कर्मा। तिन्हकर त्याग हि त्याग सुधर्मा॥

कोई विद्वान समस्त कर्मों के फल के त्याग को ही संन्यास कहते हैं, कोई कहते हैं कि संन्यास वही है जिसमें कुछ भी आसक्ति शेष न रहे और कोई-कोई कहते हैं कि समस्त कर्म ही दोषयुक्त हैं। अत: उनका सम्पूर्णता से त्याग ही धर्मानुसार वास्तविक त्याग है।

अपर बतावें यज्ञ दान तप। तजनों नहिं संन्यास परंतप॥
इनि महँ मम निस्चित मत सुनहू। पुरुष सिंह पुनि निज उर गुनहू॥

हे परंतप! कुछ अन्य तो कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाओं को न त्यागना ही संन्यास है। हे पुरुष सिंह! इन सभी के मतों में अब मेरा निश्चित [किया हुआ] मत सुनो और पुन: अपने मन में उस पर विचार करो।

प्रथम समुझु संन्यास त्याग दोउ। सब्द भिन्न नहिं अर्थ भिन्न कोउ॥
त्रैगुन कारन सच एहि त्यागहिं। त्रिबिध रूप महँ कर्‌यो बिभागहिं॥

सर्वप्रथम तो यह समझ लो कि 'संन्यास' और 'त्याग'- इन दोनों शब्दों में तो भिन्नता है किन्तु अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। यथार्थ में इस त्याग को तीनों गुणों के कारण तीन रूपों में विभक्त किया गया है।

दोहा— भवन बसत संन्यासि जो जेहि बिधि बस मिथिलेस।
यज्ञ दान तप त्यागनो तिन्हहिं न कहउँ असेस॥ ४॥

विदेहराज जनक की तरह जो संन्यासी गृहस्थाश्रम में निवास करते हैं उनके जैसे संन्यासियों के लिए मैं सबका शेष कारण परमात्मा यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाओं का त्याग करने को नहीं कह रहा हूँ।

चौपाई— ये सब कर्म करहिं निष्कामी। तन मन बच सुचि कर जस स्वामी॥
यासों आसक्ती फल त्यागी। इन्हि निर्बाहत ते बड़भागी॥

इन समस्त कर्मों को निष्कामी करते हैं और ये उनके तन, मन, वचन को सद्गुरु की तरह शुद्ध कर देते हैं। इसलिए फल की आसक्ति को त्यागकर जो इनका [भलीभाँति] पालन करते हैं वे अत्यन्त भाग्यशाली हैं।

आत्मरूप महँ यति नित रहई। तेहि हित छावँ धूप नहिं अहई॥
आत्मरूप जब तेहि नित भावत। यज्ञ दान तप सोइ कहावत॥

संन्यासी तो सदा आत्मरूप में ही रहता है, उसके लिए न छाँव है न धूप है, यदि उसे सदा आत्मरूप ही प्रिय लग रहा है तो उसके लिए वही यज्ञ, दान और तप कहा जाता है।

अज्ञानी आतमजिज्ञासू। नियत कर्म गह हृदयँ हुलासू॥
यदि यति सम सो कर्म निबारत। तामस त्याग ताहि उच्चारत॥

जो अज्ञानी है किन्तु आत्मजिज्ञासु भी है तो वह हृदय से प्रफुल्लित होकर नियत कर्मों को करे। यदि संन्यासी के समान वह कर्मों को त्यागता है तो उसी को तामस त्याग कहा जाता है।

कर्म दुखद सब अस उर जानी। त्यागत सो जग चर मनमानी॥

समस्त कर्म दु:खद ही हैं, ऐसा हृदय में जानकर जो कर्मों को त्याग देता है वह जगत में मनमाना आचरण करने वाला-

दोहा— राजस त्यागी त्याग करि ज्ञानिन्ह कहँ जो भाय।
सर्बकर्म संन्यास फल मोक्ष कबहुँ नहिं पाय॥ ५॥

राजस-त्यागी त्याग करके भी ज्ञानियों को प्रिय लगने वाले सर्वकर्मसंन्यास (त्याग) का फल मोक्ष कभी नहीं प्राप्त कर पाता।

चौपाई— नियत कर्म कर्तब्य जो जानत। आसक्ती फल तजि तेहि ध्यानत॥
उर मन अति पावन होइ जाहीं। बुद्धि रमति अध्यातम माहीं॥

जो भक्त आसक्ति और फल को त्यागकर नियत कर्मों को कर्तव्य समझकर करता है, उसके हृदय और मन आदि अत्यन्त पावन हो जाते हैं और उसकी बुद्धि अध्यात्म में रमण करने लगती है।

गूढ़ मरम एक सुनु तपधारी। गृहि ज्ञानिन्ह काजें हितकारी॥
असुभ कर्म देखन महँ भासे। पर तेहि महँ जगहित परकासे॥

हे श्रेष्ठ तप को धारण करने वाले पार्थ! एक गूढ़ात्मक तत्त्व को सुनो जो गृहस्थाश्रमी ज्ञानियों (संन्यासियों) के लिए अत्यन्त हितकारी है। वह यह कि जो कर्म देखने में तो अशुभ दिखायी पड़ता है किन्तु उसमें जगत का हित स्पष्ट प्रकाशित होता है।

तासों द्वेष करत नहिं ज्ञानी। अपितु गहत निज मंगल जानी॥
पर तिन्हिं कर्मनि रागत नाहीं। जो जग सुभ बर धर्म कहाहीं॥

उससे अत्यन्त कुशल ज्ञानीभक्त द्वेष नहीं करता अपितु अपना कल्याण समझकर ग्रहण कर लेता है परन्तु उन नियत कर्मों में भी आसक्त नहीं होता, जो इस जगत में शुभ और श्रेष्ठ धर्म कहे जाते हैं।

क्यौंकै जानत यज्ञ दान तप। सुद्ध करत मन मतिहु परंतप॥
ज्ञान मोक्ष होनो महँ कारन। अति अबिबेकहिं करहिं निबारन॥

हे परंतप! क्योंकि वह जानता है कि यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएँ मन-बुद्धि को भी शुद्ध करती हैं, ज्ञान और मोक्ष के होने में कारण हैं तथा अत्यन्त विमूढ़ता (अविवेक) को दूर कर देती हैं।

आत्मज्ञान की यहइ अवस्था। सहजहिं जहाँ बिबेक ब्यवस्था॥

यही अवस्था आत्मज्ञान की है जहाँ स्वाभाविक ही विवेक (ज्ञान) की व्यवस्था है।

दोहा— त्रिगुन रहित अरु सत्वमय त्यागी सोइ कहाय।
मेधावी संसय रहित पुनि न जगत भरमाय॥ ६॥

वह तीनों गुणों से पार हुआ आत्मरूप पुरुष ही [यथार्थ में] त्यागी कहा जाता है। वह मेधावी और संशयरहित पुरुष जगत में पुन: भ्रमित नहीं होता।

चौपाई— सो कहाय मेधावी पारथ। जो यथार्थ जानत परमारथ॥
लखत सो आत्म अनात्म सहजहीं। अस गहि सार असारहिं तजहीं॥

हे पार्थ! मेधावी उसे कहा जाता है, जो परमार्थ तत्त्व को भलीभाँति जानता है तथा स्वाभाविक ही आत्मा क्या

है और अनात्मा क्या है इसे भी समझता है। इस प्रकार वह आत्मतत्त्व (सार) को ग्रहण कर अनात्मतत्त्व (असार) को त्याग देता है।

त्याग ग्रहण सों अहइ सो न्यारो। सगुण ब्रह्म जेहि जग उच्चारो॥
पर गुरु कहे न संसय जावे। देहरूपता सहज लखावे॥

वह त्याग और ग्रहण से भी अतीत है जिसे जगत में सगुणब्रह्म कहा जाता है; किन्तु जिसका सद्गुरु के कहने से भी संशय नहीं जा रहा है और 'मैं शरीर हूँ'- ऐसी स्वाभाविक अनुभूति हो रही है-

सो जग कर्मयोग अधिकारी। कर्म फलन्हि तजि होय अघारी॥
कह्यो जाय सच यहइ बिरागा। जिहिं स्वल्पहु न देह प्रति रागा॥

वह इस जगत में कर्मयोग का ही अधिकारी है और कर्मों के फल का त्याग कर अघारि (पापों का हरणकर्ता) हो जाता है। यथार्थ में यही वैराग्य कहा जाता है जिसमें शरीर के प्रति अंशमात्र भी मोह नहीं होता।

सपनेहुँ तन नहिं अपुनो मानत। जगद्रुम एक परन सम जानत॥

जो स्वप्न में भी शरीर को अपना नहीं मानता बल्कि जगतरूपी वृक्ष का एक पत्ता मात्र समझता है-

दोहा— सोइ त्यागी सोइ श्रेष्ठ यति परम बिरागी सोइ।
होइ असंग अचाह फल नियत करम कर जोइ॥ ७॥

[हे पार्थ!] वही पुरुष त्यागी है, वही श्रेष्ठ संन्यासी है तथा वही परम वैरागी भी है जो अनासक्त होकर नियत कर्मों को तो करता है किन्तु किसी प्रकार का फल नहीं चाहता।

चौपाई— महाराज प्रभु पार्थ नमन करि। आयो संतन्ह बिच कछु उर धरि॥
सुनि हरि की बतकही सुहाई। अपुनें कर्मन्ह की सुधि आई॥

महाराज अब भगवान नारायण और महात्मा अर्जुन को नमन कर, हृदय में कुछ [रहस्य] लेकर सन्तों के मध्य आ गया है। जब महाराज ने प्रभु की सुहावनी बातों को सुन लिया तो उसे अपने ही कर्मों की याद आ गयी।

एकबार सदगुरु पहिं आयों। आपुनि करनी उन्हहिं सुनायों॥
प्रभु दस बरस भयो गृह त्यागे। तउ नहिं प्रबल सत्रु कहुँ भागे॥

एक बार मैं सद्गुरु के पास आया और अपना किया हुआ उन्हें सुनाया कि हे प्रभो! गृहत्याग किये दस वर्ष हो गये हैं तो भी मन के प्रबल शत्रु कहीं गये नहीं हैं।

कछु दिन पूर्ब बृद्ध इक आयो। मम सेवकहिं बहुत हटकायो॥
बिलखत सिष्य न मैं लखि पायों। डाँटि डपटि पुनि ताहि भगायों॥

[हुआ ऐसा कि] कुछ दिन पूर्व एक वृद्ध पुरुष आया और मेरे सेवक को बहुत ही डाँटा-फटकारा। उस शिष्य का फूट-फूटकर रोना मुझसे देखा नहीं गया, अतः वृद्ध को डाँटते-फटकारते हुए वहाँ से भगा दिया।

रोम रोम सों प्रगट्यो क्रोधा। कछु छन हित कहँ गा मम बोधा॥
जब सम सांत भयो चित मेरो। तब छायो उर छोभ घनेरो॥

उस समय रोम-रोम में ऐसा क्रोध प्रकट हो गया कि न जाने कुछ क्षण के लिए मेरा श्रेष्ठ ज्ञान कहाँ चला गया; किन्तु जब मेरा मन सम-शान्त हुआ तब हृदय में बहुत ही पश्चात्ताप होने लगा।

सोरठा— क्यों कस प्रगट्यो क्रोध सदा रहउँ मैं ध्यान रत।
याहि करावहु बोध पुनराबृत्ति न होय प्रभु॥ ८॥

[हे प्रभो!] यह क्रोध क्यों और किस कारण प्रकट हुआ जबकि मैं सदा ध्यान में ही रहता हूँ। इसका आप ज्ञान करायें जिससे इसकी पुनरावृत्ति न हो।

चौपाई— हुइ गम्भीर कहे प्रभु मेरो। तव उर अजहूँ स्वजन बसेरो॥
काम क्रोध लोभहु अरु मोहा। रागहु द्वेष बिषमता छोहा॥

तब मेरे गुरुदेव ने अति गम्भीर होकर कहा कि तुम्हारे हृदय में आज भी स्वजनों का ही वास है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, विषमता और क्षोभ (दुःख) इत्यादि-

गृही हृदय पल छिन प्रगटाहीं। पर यति सम्मुख कबहुँ न जाहीं॥
ज्योतिर्ध्यान राग भयो भारी। आतम चिंतन दियो बिसारी॥

तो गृहस्थ के हृदय में प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रकट होते रहते हैं किन्तु संन्यासी के सामने तो कभी जाते ही नहीं हैं। तुम्हारी ज्योतिर्मय ध्यान में अति आसक्ति हो गयी है और तुमने आत्मचिन्तन भुला दिया है।

यतिन्ह कर्म बर आतमचिंतन। जगत बसें बरु होइ अकिंचन॥
पर त्याग्यो तू सोइ बर धर्मा। यह तौ मध्यम साधक कर्मा॥

संन्यासियों का मुख्य कर्म तो आत्मचिन्तन है भले ही वे जगत में अत्यन्त अकिंचन होकर रहते हों, परन्तु तुमने तो उसी मुख्य धर्म का परित्याग कर दिया। अरे! यह तो मध्यम कोटि के साधकों का कर्म है अर्थात् मध्यम कोटि के साधक ही आत्मचिन्तन त्यागकर ज्योतिर्मय ध्यान का आश्रय लेते हैं।

बालक बृद्ध हुते अज्ञानी। भिरें परस्पर निज तन जानी॥
तुम्हहू मान्यो ते जस माने। भिरहिं पुरुष दोउ अस जिय जाने॥

बालक और वृद्ध तो अज्ञानी थे ही जो अपने को शरीर जानकर परस्पर झगड़ रहे थे, तुमने भी तो वैसा ही मान लिया था जैसा कि उन्होंने मान लिया था और हृदय में यह धारण कर लिया था कि दो पुरुष परस्पर युद्ध कर रहे हैं।

दोहा— जदपि दीख तन दोइ बरु पर रजगुन तहँ एक।
भिरहिं परस्पर दोउ ते निरखहु गहि सुबिबेक॥ ९॥

भले ही दो शरीर दिखाई पड़ रहे थे किन्तु उनके शरीरों में एक ही रजोगुण के प्रकट होने से वे दोनों परस्पर झगड़ गये थे। इसे तुम निर्मल विवेक के द्वारा देखो (विचार करो)।

चौपाई— तिन्ह समान जैसोइ तुम्ह मान्यो। तैसोइ अपुने कहँ तन जान्यो॥
तब अबिबेक भयउ अति भारी। आत्मरूपता दियो बिसारी॥

जैसे ही तुमने उनके समान माना वैसे ही अपने को शरीर समझ लिया और तभी अति अविवेक प्रकट हो गया और तुम आत्मरूपता को भूल गये।

गुरु सिष भाव समुझु ब्यवहारिक। तजहु धरम यह अति उपचारिक॥
सगुण ब्रह्म जग सब तेहि क्रीड़ा। ऐसो लखु पुनि होय न पीड़ा॥

गुरु और शिष्य भाव व्यवहारिक है अत: यह अति औपचारिक धर्म भी तुम त्याग दो। यह जगत सगुण ब्रह्म है और उसकी ही यह क्रीड़ा हो रही है- ऐसा देखा करो तो पुन: शोक-सन्ताप नहीं होगा।

जस बृति नृत्य करहिं चित माहीं। तुव द्रष्टा महँ जाहिं बिलाहीं॥
तैसेइ बाह्य बृत्ति सब कोई। समुझत समाधान उर होई॥

जिसप्रकार वृत्तियाँ चित्त में नृत्य करती रहती हैं और तुझ द्रष्टा में विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार सभी को बाह्य वृत्तियाँ समझते ही हृदय में समाधान हो जायेगा।

करहु प्रयोग सजग होइ जबहीं। बृत्ति नसाहिं बेगि सब तबहीं॥
अब नित गहहु सुरति यह ज्ञाना। कह्यो जाय सच योई ध्याना॥

सदा सजग होकर तुम ऐसा प्रयोग करो तो थोड़े ही काल में समस्त वृत्तियाँ मर जायेंगी [अर्थात् अपने कारण में विलीन हो जायेंगी]। अब सदा इसी ज्ञान को स्मरण रखो, यथार्थ में तो यही ध्यान कहा जाता है।

दोहा— साक्षिरूप जब आपुनो अवसर आय भुलाय।
तेहि छन जानहु सोइ सच ज्ञान उधार कहाय॥ १०॥

जब अवसर आने पर अपना साक्षीरूप भूल जाता है तो उस समय जान लो कि सच में वही ज्ञान उधार [लिया हुआ] कहा जाता है।

चौपाई— सुनि कृतकृत्य भयों प्रभु बानी। मोह निसा घन गयी नसानी॥
आत्मप्रकास भयो उर माहीं। अघ उलूक जहँ कबहुँ न आहीं॥

परम प्रभु [गुरुदेव] की वाणी सुनकर मैं अत्यन्त कृतकृत्य हो गया और मोहरूपी सघन रात्रि नष्ट हो गयी। हृदय

में आत्मा का प्रकाश फैल गया, जहाँ पापरूपी उल्लू कभी आ ही नहीं सकते।

उत मन गुडाकेस हरि कहनो। बूझत काह करन कस रहनो॥
स्वजनहिं बध सों मन बरु भागत। असुभ करम देखन महँ लागत॥

उधर दयानिधि भगवान का कहना महात्मा अर्जुन मन में समझ रहे हैं कि [मैं आत्मरूप हूँ तो] क्या करना है और कैसे रहना है। यह स्वजन वध रूप कर्म देखने में अशुभ कर्म लगने से भले ही मन भाग रहा है-

पर जगतरु हित यामेइँ आहीं। जौं बिकृत टहनी कटि जाहीं॥
प्रभुहु समुझि उन्हकी हिय बानी। लगे कहन अति गूढ़ कहानी॥

किन्तु जगतरूपी वृक्ष का इसी में कल्याण है कि उसकी समस्त विकृत शाखाओं को काट दिया जाय। भगवान ने भी उनके हृदय की बात जानकर अत्यन्त गूढ़ात्मक तत्त्वों को कहना प्रारम्भ किया।

मनमुखि तात देह तजि जावें। भलो बुरो मिश्रित फल पावें॥

हे तात! जो मनमाना व्यवहार करने वाले मूढ़ हैं वे शरीर छोड़ने के उपरान्त कर्मों के भले, बुरे और मिश्रित फलों को प्राप्त करते हैं।

दोहा— सुर तन सुभ फल असुभ फल त्रिजगजोनि कहलायँ।
मानुष तन मिश्रित फल बेद सास्त्र अस गायँ॥ ११॥

जिनमें देव शरीर शुभ फल, तिर्यग्योनियाँ (पशु-पक्षी, कीटादि) अशुभ फल तथा मनुष्य शरीर ही मिश्रित फल कहा जाता है- ऐसा सभी शास्त्र एवं वेद भी कहते हैं।

चौपाई— पर गुरुमुखि जो आतमज्ञानी। करत न कछु सपनेहु मनमानी॥
ते संन्यासी तन तजि जावें। होइ ब्रह्म पुनि जनम न पावें॥

परन्तु जो आत्मज्ञानी सद्गुरु के अनुसार चलने वाले हैं, स्वप्न में भी कुछ मनमानी नहीं करते, वे संन्यासी देह त्याग कर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, पुनः जन्म नहीं लेते।

अब तू ब्रह्मरूप भयो चेरो। अर्जुन नाम देह दै मेरो॥
दिब्य अस्त्र करि याको भाई। असुरन्ह सों अब करउँ लराई॥

हे प्रिय भक्त! अब तो तुम ब्रह्मरूप हो गये हो, अतः अर्जुन नाम का देह जो मेरा ही है उसे मुझे दे दो। इसी को दिव्यास्त्र बनाकर मैं अब असुरों से युद्ध करूँगा-

जेहि कारन एहि जग अवतरऊँ। मानुष कर्म धर्म अनुसरऊँ॥
तात सांख्य सास्त्रहु अस गावत। कर्ता ब्रह्म न कबहुँ कहावत॥

जिसके लिए इस जगत में मैं अवतरित हुआ हूँ और मनुष्योचित कर्म-धर्म का अनुसरण कर रहा हूँ। हे प्रिय! [ऐसा मैं ही कह रहा हूँ सो बात नहीं है अपितु] सांख्यशास्त्र भी ऐसा ही कहता है कि ब्रह्म (पुरुष) तो कभी कर्ता कहा ही नहीं जाता।

कर्ता करण दैवहीं साँचौ। अधिष्ठान बहु चेष्टा पाँचौ॥
करम सिद्धि हित कारन योई। सुनु जासे दुख रहइ न कोई॥

सच में अधिष्ठान, कर्ता, करण, नाना प्रकार की चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ कारण दैव है, किसी भी कर्म के सिद्ध होने में यही पाँच कारण कहे गये हैं, उसे सुनो, जिससे समस्त शोक-सन्ताप का नाश हो जाय।

अधिष्ठान यहि देह कहावे। जहँ बिकार सबरें उपजावे॥
कर्ता जीव अबिद्या धारी। करण इंद्रिं श्रवनादि पुकारी॥

यह देह ही अधिष्ठान कहा जाता है जिसमें सभी विकार प्रकट होते हैं तथा अविद्या को ग्रहण किया हुआ जीव ही कर्ता है और श्रोत्रादिक इन्द्रियाँ ही नाना प्रकार की करण कही गयी हैं।

दोहा— प्रानक्रिया चेष्टा अहै जेहिसों तन क्रियमाण।
दैव सूर्य ससि देव सब उनसें इन्द्रिनि प्राण॥ १२॥

प्राणन क्रिया अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया ही चेष्टा है जिससे शरीर में हलन-चलन होती है तथा सूर्य-

चन्द्रमा आदि देवता ही दैव हैं, उनसे ही इन्द्रियाँ सजीव होती हैं।

चौपाई— पुनि बिस्तारउँ पाँचहु कारन। जिनसों करहु सुचिंतन धारन॥
अधिष्ठान निर्गुण बिभु जोई। प्रकृति मूल कर्ता तहँ होई॥

मैं पुनः पाँचों कारणों का विस्तार कर रहा हूँ जिनके द्वारा सुचिन्तन धारण करो। जो निर्गुण ब्रह्म है वही [इस जगत का] अधिष्ठान है तथा वहाँ मूलप्रकृति ही कर्ता है।

त्रय त्रय बिधि गुण करण कहावें। जिन्हकी चेष्टा जगत लखावें॥
पंचम कारण दैव कहावे। पुनि सुनु याहि समुझि तब पावे॥

तीन प्रकार के तीनों गुण ही बहुत से करण कहे जाते हैं जिनकी चेष्टा [ही चौथा कारण है जिस] से यह जगत दीख रहा है तथा पंचम कारण दैव है। इसे पुनः सुनो तब समझ पाओगे-

अधिष्ठान नभ कर्ता रबि ससि। करण धरा जल पवन अगिनि जसि॥
सुर नर तिर्यग चेष्टा जानहु। दैवहि मूल प्रकृति मम मानहु॥

वैसे ही आकाश 'अधिष्ठान' है, सूर्य एवं चन्द्रमा 'कर्ता' हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु 'विविध करण' के समान हैं, देवता, मनुष्य एवं समस्त तिर्यग्योनियाँ 'चेष्टा' हैं तथा मेरी मूल प्रकृति ही 'दैव' है- ऐसा मानो।

अधिष्ठान सब देस लखावे। कर्ता उन्हकर नृपहि जतावे॥
करण प्रजा चेष्टा निति ताकी। सब ऋषि दैव साँच सुनु वाकी॥

ये सारे राष्ट्र 'अधिष्ठान' दिखायी पड़ रहे हैं तथा उनका राजा ही 'कर्ता' समझा जाता है। प्रजा ही उसकी करण है तथा नीतियाँ (साम, दान, दण्ड एवं भेद) ही उसकी 'चेष्टा' है और समस्त ऋषि ही यथार्थ में उसके 'दैव' हैं।

सोरठा— अधिष्ठान लखु पार्थ ग्राम नगर कर्ता मनुज।
होत स्वार्थ परमार्थ दुखी सुखी जहँ सब बसहिं॥ १३॥

हे पार्थ! ग्राम-नगर अधिष्ठान हैं तथा मनुष्य कर्ता है, जहाँ स्वार्थ और परमार्थ होता रहता है जिसमें दुःखी-सुखी सभी निवास करते हैं, ऐसा समझो।

चौपाई— करण सु बर्ण ब्यवस्था जिन्हकी। पंचायत बिधि चेष्टा उन्हकी॥
पंचम कारण दैव नृपाला। कार्य होयँ जासों सब काला॥

वर्ण व्यवस्था ही जिनकी करण है, पंचायत के नियम ही उनकी चेष्टा है तथा राजा (पंचायत प्रधान) ही पाँचवाँ कारण दैव है जिससे समस्त कार्य समयानुसार होते हैं।

अधिष्ठान गृह कर्ता माँ पितु। नाना करण स्वजन अरु हित मितु॥
पुत्र पुत्रि चेष्टा दिखरायें। दैव गुरू सब कार्य करायें॥

[वैसे ही] गृहस्थाश्रम 'अधिष्ठान' है जिसमें माता-पिता 'कर्ता' हैं, स्वजन और हित-मित्र ही नाना प्रकार के 'करण' हैं, पुत्र-पुत्रियाँ ही 'चेष्टा' के रूप में दीख रहे हैं तथा गुरु ही 'दैव' है, इस प्रकार इन्हीं [पाँचों कारणों] से सारे कार्य सम्पन्न होते हैं।

अधिष्ठान सुनु बानप्रस्थहू। जहँ यति भूमी कर गृहस्थहू॥
पति पत्नी कर्ता सम भाई। जप तप ब्रत बहु करण सुहाई॥

उसी प्रकार सुनो! वानप्रस्थाश्रम ही 'अधिष्ठान' है, जहाँ गृहस्थ भी संन्यास की भूमिका तैयार करता है। हे भाइयो! वहाँ पति-पत्नी 'कर्ता' के समान हैं तथा जप, तप, व्रत आदि ही बहुत से 'करण' हैं।

नित स्वाध्यायहि चेष्टा सुनहू। सदगुरु अहइ दैव अस गुनहू॥
होहिं काज सब इनसों पूरण। तब हिय होय सत्व कर फूरण॥

नित्य नियम के साथ श्रेष्ठ स्वाध्याय करना ही 'चेष्टा' है, सद्गुरु ही 'दैव' है, ऐसा जानो। इन्हीं [पाँचों कारणों] से समस्त कार्य पूर्ण होते हैं और तब हृदय में सत्त्व (अध्यात्म) की स्फुरणा होती है।

दोहा— ब्रह्मचरज आश्रम प्रिय अधिष्ठान कहलाय।
कर्ता बटु आठहु नियम करण सरिस अनुभाय॥ १४ (क)॥

हे प्रिय! उसी प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम ही 'अधिष्ठान' कहा जाता है, ब्रह्मचारी ही वहाँ 'कर्ता' है तथा उसके विविध प्रकार के (ब्रह्मचारी के) आठ नियम ही 'करण' के समान प्रतीत होते हैं।

तन मन प्राणहु अर्पिकै गुरु पद चाकर होइ।
तजि प्रमाद बेदहिं पढ़ै चेष्टा बहुबिधि सोइ॥ १४ (ख)॥

अत: वहाँ तन, मन और प्राणों को अर्पित कर गुरु का सेवक हो प्रमाद छोड़कर वेदाध्ययन करे तो वही नाना प्रकार की 'चेष्टा' कही जाती है।

चौपाई— बैदिक गुरु तहँ दैव कहावे। एहि बिधि बटुक काज सधि जावे॥
अधिष्ठान यति धर्महिं अहई। दलि दुख जोइ मोक्ष बर करई॥

वहाँ वैदिक गुरु ही 'दैव' कहलाता है, इस प्रकार ब्रह्मचारी का कार्य सम्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार संन्यासी का धर्म भी अधिष्ठान ही है जो समस्त दु:खों का हरण कर परम मोक्ष को देने वाला है।

आश्रम रूप प्रथम लखु भाई। मो सँग संत बेद सब गाई॥
आर्यभूमि यह आश्रम पावन। छज्जो ताकर गगन सुहावन॥

हे प्रिय! सर्वप्रथम उस संन्यास आश्रम के स्वरूप को देखो जिसे मेरे साथ-साथ समस्त सन्तों एवं वेदों ने गाया है। यह भारतभूमि ही परम पावन संन्यासाश्रम है, आकाश ही उसकी दिव्य छज्जा (छत) है।

दसहुँ दिसा एहि कुटि दरवाजे। सबसों छूटि जहाँ यति राजे॥
देसवासि सब यति के चेरो। यासें करत रहत एहि फेरो॥

दसों दिशाएँ ही इस कुटिया के दरवाजे हैं, जहाँ वह संन्यासी सबसे मुक्त होकर सुशोभित होता है। सारे देशवासी सन्तों-संन्यासियों के शिष्य हैं, तभी तो वे सन्त इस देश की परिक्रमा करते रहते हैं।

सरि तट कुटी गुहा बन गह्वर। आसन करत देवालय खँड़हर॥
ते ज्ञानी यति कर्ता यामें। करण ब्रह्मचिंतन नित तामें॥

जो नदी के तटपर झोपड़ी में, गहन वन की गुफा में, देवालय में या खण्डहर में आसन लगा लेते हैं [अर्थात् समय व्यतीत करते रहते हैं], वे प्रबुद्ध यति ही इस (संन्यासाश्रम) में 'कर्ता' हैं तथा अहर्निश ब्रह्मचिन्तन ही उसमें 'करण' है।

दोहा— मैं तू जगतहिं भाव सँग त्याग करन सब कोय।
चेष्टा यहि नित साक्षि ह्वै बिचरे दैवहु योय॥ १५॥

'मैं-तू एवं जगत भाव के साथ-साथ सबका त्याग करना'- यही 'चेष्टा' है तथा सदा साक्षी होकर उनका विचरण करना, यही 'दैव' कहलाता है।

चौपाई— पंचयोग ये जब मिलि जावें। कार्य परम परमारथ पावें॥
जो कैवल्यमुक्ति कहलावे। परम सांति आनंदहु गावे॥

इन्हीं पाँचों का योग जब मिल जाता है तो परम परमार्थ रूपी कार्य की प्राप्ति हो जाती है, जो कैवल्य मुक्ति, परम शान्ति एवं परमानन्द कहा जाता है।

ऐसोइ काम क्रोध मद सारे। कार्य अहहिं कस उनहिं निबारे॥
सुनु उनकेहू पाँचइ योगा। जानत तिन्हसेउँ होय बियोगा॥

इसी प्रकार काम, क्रोध, मद आदि सभी कार्य ही हैं, उनका निवारण कैसे हो इसे सुनो- उनके पाँच ही योग हैं, जिन्हें जान लेने पर उनसे भी छुटकारा मिल जायेगा।

आश्रय तन कर्ता अज्ञानी। करण दिब्य रुप गृह धन मानी॥
चेष्टा अहइ रजोगुण भारी। दैव कहावति तेहि महँ नारी॥

'अधिष्ठान' शरीर है, [इसमें] अज्ञानी पुरुष कर्ता है, दिव्य रूप, दिव्य घर, दिव्य धन तथा मान-सम्मान ही

नाना प्रकार के 'करण' हैं, [तन, मन, वचन एवं हृदय में] रजोगुण का प्रबल वेग ही 'चेष्टा' है, जिसमें स्त्री ही दैव कही जाती है।

अस पाँचहु संयोगत जबहीं। पुरै कामकारज सच तबहीं॥

इस प्रकार जब ये ही पाँचों योग परस्पर मिल जाते हैं तो यथार्थत: कामरूपी कार्य सम्पन्न हो जाता है।

दोहा— इनि पाँचन्हि सच त्यागत काम सत्रु बिनसाय।
मन थिर होवत सहजहीं उर अकामता आय॥ १६॥

यथार्थत: इन पाँचों को त्यागते ही कामरूपी शत्रु नष्ट हो जाता है, जिससे मन बिना प्रयास के सम-शान्त हो जाता है तथा हृदय में निष्कामता (अकामता) प्रकट हो जाती है।

चौपाई— आश्रय तन कर्ता अज्ञानी। मो सम को धन बल जन मानी॥
यहइ बोध बहु करण कहावे। दुष्टन्ह सँग बहु चेष्टा गावे॥

[वैसे ही] शरीर ही 'अधिष्ठान' है तथा अज्ञानी पुरुष ही 'कर्ता' कहा जाता है। मेरे समान धनवान, बलवान, कुटुम्बवान और सम्माननीय कौन है- ऐसी समझ का होना ही नाना प्रकार के 'करण' तथा दुष्टों का संग ही प्रबल 'चेष्टा' कहा जाता है।

करन उपद्रव दैव सहाई। पुनि प्रगटत बैरी कोउ भाई॥
तबहिं क्रोधरुप कारज होवे। जासों दिब्य आयु सब खोवे॥

उपद्रव करना ही सहयोगी 'दैव' है, फिर तो हे प्रिय! कोई न कोई वैरी प्रकट हो ही जाता है। तभी क्रोधरूपी कार्य सम्पन्न होता है जिससे दिव्य जीवन ही सम्पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

इन्हहिं तजत तब क्रोध नसावत। पुनि हिय माहिं कबहुँ नहिं आवत॥
आश्रय तन कर्ता अज्ञानी। बहु लोभिन्ह सँग करण बखानी॥

इन [पाँचों] का त्याग करते ही क्रोध का नाश हो जाता है और पुन: वह हृदय में कभी नहीं आता। उसी प्रकार शरीर ही 'अधिष्ठान' है, अज्ञानी पुरुष ही 'कर्ता' है तथा बहुत-से लोभियों का संग ही 'करण' कहा गया है।

आव कृपणता चेष्टा सोई। पूर्ब जन्म तप धन हित जोई॥
अहनिसि धन हित यतन करत जू। वाकोहु मुनिजन दैव कहत जू॥

तथा कृपणता (धर्मार्थ भी धन न व्यय करने का स्वभाव) का प्रकट होना ही 'चेष्टा' है। पूर्व जन्म में जो धन के लिए किया गया तप तथा उसी के लिए अहर्निश यत्न करना है, उसे ही सन्तजन 'दैव' कहते हैं।

दोहा— लोभ काज सम्पन्न सच होत तबहिं सुनु पार्थ।
अलि सम रम धन माहिं नित सपनेहुँ नहिं परमार्थ॥ १७॥

हे पार्थ! सुनो! यथार्थ में लोभरूपी कार्य तभी सम्पन्न होता है जब वह भौंरे के समान [अर्थात् जिस प्रकार भौंरा निरन्तर कमल में मस्त रहता है उसी प्रकार] रात-दिन धन में ही रमण करता रहता है तथा स्वप्न में भी परमार्थ नहीं करता।

चौपाई— निर्लोभता प्रगट उर तबहीं। इन्हि पाँचन्हि त्यागत कोउ जबहीं॥
आश्रय तन कर्ता अज्ञानी। मम सुत तिय यह करण बखानी॥

हृदय में निर्लोभता तभी प्रकट होती है जब इन पाँचों [कारणों] का कोई त्याग कर देता है। उसी प्रकार शरीर ही 'अधिष्ठान' है और अज्ञानी पुरुष ही 'कर्ता' है तथा 'ये मेरे पुत्र हैं यह मेरी स्त्री है'- यही भाव 'करण' कहा गया है।

चेष्टा तिन्हकर लालन पालन। होत अभाव तबहिं उर सालन॥
मोह ग्रसित मूढ़न्हि की संगति। अहइ दैव जो लावति रंगति॥

उनका पालन-पोषण करते रहना ही 'चेष्टा' है तथा कुछ भी अभाव होने से तत्क्षण हृदय में पीड़ा होने लगना एवं मोहग्रस्त मूर्खों की संगति ही 'दैव' है, जो [मोह की वृद्धि में] रंग लाती है [अर्थात् इनका प्रभाव दिखायी पड़ने लगता है]।

ता छन मोह काज उपजाही। मूढ़ सकल सेवत नित जाही॥
तन इंद्रियँ मन मति चित माहीं। सकल बिकार जबहिं उपजाहीं॥

उस समय महामोह रूप कार्य प्रकट हो जाता है, जिसका मूर्ख सदा सेवन करते रहते हैं। अत: शरीर, मन, बुद्धि, चित्त एवं इन्द्रियों में जब भी सारे विकार प्रकट होते हैं-

महामोह तिन्ह कारन योई। एहि पापिहिं समुझत कोइ कोई॥

उन सबका कारण यह महामोह ही है। इस पापी को कोई-कोई ही समझ पाता है।

दोहा— एहि बिधि सकल बिकार कर पाँचन्हि कारन खोजु।
महाबाहु त्यागत उनहिं पावहु आतम ओजु॥१८॥

हे महाबाहो! इस प्रकार समस्त विकारों के पाँचों कारणों को खोजकर, उनका त्याग कर देने पर तुम आत्मशक्ति को प्राप्त कर लोगे।

चौपाई— एहि रन पाँचहि कारन जानहु। जासो कोउ सों टर्‌यो न मानहु॥
अधिष्ठान धृतराष्ट्र कहाये। कर्ता दुर्योधनहि लखाये॥

हे धनञ्जय! ऐसा जानो कि इस युद्ध [रूपी कार्य] के भी पाँच ही कारण हैं जिससे यह किसी के द्वारा टाला नहीं जा सका ऐसा मानो। इसमें 'अधिष्ठान' राजा धृतराष्ट्र ही कहे जायेंगे तथा 'कर्ता' दुर्योधन दिखायी पड़ रहा है।

करण भीष्म कृप द्रोन सों बीरा। सकुनि कर्ण जो अतिहिं अधीरा॥
अहई पक्ष बिपक्षहि चेष्टा। प्रकृति चाह अस दैव यथेष्टा॥

पितामह भीष्म, कृपाचार्य, आचार्य द्रोण, शकुनि तथा अत्यन्त अधीर रहने वाला कर्ण- ये वीर ही 'करण' हैं। पक्ष-विपक्ष ही 'चेष्टा' है तथा प्रकृति की [ऐसी] चाह ही यथार्थ में 'दैव' है।

यह रन होय न टरै काहु सों। खींचि रेख कहुँ चाहे जाहु सों॥
तोहिं पाप नहिं रंचहु लागइ। बर सौभाग्य अपितु तव जागइ॥

इसलिए यह युद्ध होकर ही रहेगा, किसी से भी टाला नहीं जा सकता, ऐसा मैं रेखा खींचकर चाहे जिससे भी (सबसे) कह सकता हूँ। हाँ, तुझे रंचमात्र भी पाप नहीं लगेगा, अपितु तुम्हारा तो परम सौभाग्य ही जग जायेगा।

मम हित लागि समर तुम्ह करिहौ। पापिन्ह मारि समाधिहिं चरिहौ॥

वह यह कि तुम मेरे लिए युद्ध करोगे और पापियों को मारकर [अन्त में] समाधि में विचरण करोगे।

दोहा— देह भाव तजि सहजही आत्मरूप तू होय।
ब्याप्त होत सर्बत्र तू सब उर जाये गोय॥१९॥

पुन: तुम शरीर भाव त्यागकर सहज ही आत्मरूप होकर सर्वत्र व्याप्त होते हुए सबके हृदय में [अन्तर्यामी रूप से] छिप जाओगे।

चौपाई— एहि बिधि कर्म सुभासुभ जोई। तन मन बचन सों जहँ जब होई॥
उन्हके कारण योई पाँचहिं। कोउहु अन्य न मानहु साँचहिं॥

इस प्रकार शरीर, मन, वाणी से जब, जहाँ और जो भी शुभाशुभ कर्म होते हैं उन सभी के ये ही पाँच कारण कहे गये हैं अन्य कोई नहीं; इसे तुम सत्य मानो।

इतनो होवन पर अज्ञानी। चलइ जगत निज कर्ता मानी॥
तेहि दुर्बुद्धि न साँच लखावे। अंधो पसु सम इत उत धावे॥

इतना होने पर भी अज्ञानी अपने आपको कर्ता मानकर ही जगत में व्यवहार करता है। अत: उस दुर्बुद्धि को यथार्थ नहीं दिखायी पड़ता और [वह मूढ़] अंधे पशु के समान इधर-उधर भटकता रहता है।

पर जो साधु न ऐसो मानत। स्वयं हि सदा अकर्ता जानत॥
तन मन प्राण साक्षि नित जानइ। अरु रक्षक कर रक्षक मानइ॥

किन्तु जो साधक ऐसा नहीं मानता वरन् अपने को सदा अकर्ता, तन, मन, प्राणों का साक्षी और रक्षकों (राजा

तथा देववर्ग आदि) का भी रक्षक जानता है–

अरु मतिहू जाकी अस मानति। पंच हेतु कर्मन्हि हित जानति॥
सोइ कुसल सोइ दक्ष कहावे। सुद्ध साक्षि रुप लहि जग भावे॥

तथा जिसकी बुद्धि यथार्थ में यही समझती है कि किसी भी कर्म के [पूर्ण] होने में पाँच ही कारण हैं, वही पुरुष बुद्धिमान एवं दक्ष कहलाता है; जो शुद्ध–साक्षी होकर जगत में प्रतिष्ठित दिखायी पड़ता है।

सोरठा— कहत न हत्यों हुँकार जग हति गुरु संकेत लखि।
यह तौ बिभु ब्यवहार का आतम हन आतमहिं॥ २०॥

वह सद्गुरु का संकेत देखकर जगत का वध करके भी हुंकार भरकर कहता है कि मैंने तो मारा ही नहीं। अरे! आत्मा क्या आत्मा का वध कर सकता है? यह तो एकमात्र प्रभु की क्रीड़ा है।

चौपाई— इत नृप रन आश्रय निज जानी। बार बार सिर धुनि पछितानी॥
समुझि जुद्ध गति मति बिकलानी। जिमि कलंक सों कैकइ रानी॥

इधर धृतराष्ट्र [सञ्जय से] अपने आपको ही युद्ध का आश्रय जान बारम्बार अपना सिर पीट रहे हैं। युद्ध की गति का विचार कर उनकी बुद्धि विकल होकर उसी प्रकार अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगी जिस प्रकार कलंकित हो जाने से रानी कैकेयी।

संजय देखि दसा मुसुकाने। उर कह अस का होय दिखाने॥
उत नरसिंह दसा प्रभु केरी। भइ हिरनाकुस मारि निबेरी॥

उनकी दशा देखकर सञ्जय मुस्कुराने लगे और मन ही मन कहा कि अब ऐसे दिखावे से क्या होगा? उधर भगवान की तो दशा नरसिंह भगवान की जैसी हो गयी है। जब उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध कर दिया–

तब प्रहलाद गोद लै साईं। चूमत चाटत तउ न अघाईं॥
बिमल भक्त सिर कर पुनि फेरत। अंक लाइ जननी सम हेरत॥

तब प्रह्लाद को गोद में लेकर चूमने–चाटने लगे तो भी [उनका] मन तृप्त नहीं हुआ। फिर वे निर्मल भक्त प्रह्लाद के सिर पर हाथ फेरते हुए हृदय से लगाकर माँ के समान निहारने लगे।

सोइ प्रभु कर अर्जुनहिं दुलारी। मन सों लेत अंक भरि भारी॥
संसय हिरनाकुस बध कीन्हीं। घायल सुत अर्जुन उर लीन्हीं॥

भगवान भी यहाँ पर प्रिय शिष्य अर्जुन को बारम्बार प्रेम करते हुए वही कर रहे हैं और प्रेम भरे मन के द्वारा उन्हें अपनी गोद में भर लेते हैं। वे संशयरूपी हिरण्यकशिपु का वध करके अपने घायल पुत्र [शिष्य] अर्जुन को हृदय से लगा लेते हैं।

दोहा— कहि प्रिय अर्जुन पार्थ प्रिय महाबाहु बर बीर।
ब्रह्मज्ञान प्रभु देत कहि परम परंतप धीर॥ २१॥

और 'हे प्रिय अर्जुन! हे प्रिय पार्थ! हे महाबाहो! हे वीरों में अतिशय श्रेष्ठ!'– ऐसा कहकर परम धैर्यवान तपोमूर्ति महात्मा अर्जुन को भगवान ब्रह्मज्ञान दे रहे हैं।

चौपाई— गुडाकेस हरि रथ अस राजहिं। ब्रह्म जीव उर रथ जस भ्राजहिं॥
तैंतिस कोटि देव जनु बीरा। आपुन प्रभुहिं लखहिं धरि धीरा॥

मेरे प्रभु और महात्मा अर्जुन रथ पर कैसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे हृदयरूपी रथ पर ब्रह्म और जीव शोभायमान होते हैं। मानो यहाँ (युद्धभूमि में) योद्धा ही तैंतीस करोड़ देवता हैं, जो अपने भगवान को [प्रकट होने पर] अत्यन्त धैर्य धारण कर देख रहे हैं।

मधुर मनोहर छबिहिं निहारी। ठाढ़े जहँ तहँ सुरति बिसारी॥
देह स्यामघन सरिस सुकोमल। दरसन करत नसत सब कलिमल॥

वे सभी [भगवान की] मधुर मनोहर छवि को देखकर जहाँ–तहाँ अपने आपकी सुध–बुध खोकर खड़े हैं। भगवान का शरीर श्यामघन के समान सुकोमल है जिसका दर्शन करने मात्र से कलियुग के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

भुज उरगेन्द्र समान सुभग बर। सोभत पानि संख चाबुक धर॥
नाभि भँवर सूँ उदर त्रिबलि बर। कनक बलय मुद्रिका मनोहर॥

उनकी अतिशय श्रेष्ठ भुजाएँ वासुकि सर्प के समान हैं और वे एक हाथ में शंख तथा दूसरे में चाबुक को धारण किये हुए हैं। नाभि जल-भँवर के समान तथा उदर पर [हल्की सिकुड़न लिये हुए] तीन मनोहर रेखाएँ हैं, [कलाइयों में] सोने के कड़े और अंगुलियों में दिव्य अंगूठियाँ शोभा दे रही हैं।

भक्त बिमोहिनि उर बनमाला। दिब्य मुकुट सिर कुंडल झाला॥
कंठ रुचिर कौस्तुभ मनिमाला। इन्हकी जोति करे उजियाला॥

वक्षस्थल पर भक्तों को मोहित करने वाली वनमाला, सिर पर दिव्य मुकुट एवं [कानों में] कुण्डल झलक रहे हैं और गले में मनोहर कौस्तुभ मणिमाला है। इनकी ज्योति [सर्वत्र] प्रकाश बिखेर रही है।

छंद— लहरात तन पीताम्बरी चपला चमक लखि तम भगे।
मुखचन्द्र बिहँसनि लग सुधा सम सिद्ध सुर लखि नभ ठगे॥
प्रभु मूर्ति अति सम्पन्न सील सु सत्य सों अति राजती।
बरदान दै अर्जुनहिं पुनि महराज उर बहु माँजती॥

[भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के दिव्य श्याम] शरीर पर पीताम्बरी बिजली की चमक के समान लहरा रही है जिसे देखकर अज्ञानरूपी अन्धकार पलायन कर जाता है। उनके चन्द्रमा के समान मुख पर मधुर मुस्कान अमृत के समान लग रही है जिसे देखकर आकाश में स्थित सिद्ध एवं देवगण हतप्रभ हैं। भगवान की मूर्ति परमशील एवं सत्य से सम्पन्न होकर शोभायमान हो रही है और वह महात्मा अर्जुन को वरदान देकर महाराज के हृदय को अत्यन्त निर्मल कर रही है।

हे संत जन आनंद अवधी यहइ अन्य न मानऊँ।
लखि दिब्य रूप बिबेक दृग भरि पियउँ सुख यहि जानऊँ॥
यासों तुम्हहु तजि बिषय रति चित चक गती करि प्रेम अति।
प्रभु चंद्रमुख निरखहु सदा महराज सम मिलि जाइ गति॥

हे सन्तजनो! मैं तो एकमात्र इसी को आनन्द की सीमा मान रहा हूँ किसी अन्य को नहीं। इसलिए प्रभु के इस दिव्य रूप का दर्शनकर पुनः विवेकरूपी नेत्रों में भरकर उसे पान कर रहा हूँ एवं इसी को परम सुख जान रहा हूँ। इसलिए आप सब भी विषय से होने वाले प्रेम को त्यागकर अपने चित्त के द्वारा चकोर के समान अतिशय प्रेम से भगवान के मुखरूपी चन्द्रमा को सदा देखते रहें, जिससे आप सबको भी महाराज के समान परम गति की प्राप्ति हो जायेगी।

दोहा— काम सरे नहिं अपर भजि नसै न भव जंजाल।
प्रभु अरु कृष्णायन यहइ सुनहु काल के काल॥ २२॥

अब तो मैं स्पष्ट घोषणा करता हूँ कि अन्य [देवी-देवताओं, तंत्र-मंत्रों] के भजने से काम नहीं बनेगा और न जगतरूपी जंजाल ही मिटेगा। अरे! भगवान और यह 'श्रीकृष्णायन' ही इस [भवजाल रूपी] काल के भी काल हैं।

चौपाई— देत सांख्य मत बहुरि कृपाला। सर्बजगत कर जो प्रतिपाला॥
ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय अस तीनहु। प्रेरक तात कर्म कै चीनहु॥

हे सन्तो! कृपालु भगवान पुनः सांख्यमत की प्रस्तावना कर रहे हैं जो समस्त जगत का पालन करने वाले हैं। [वे कह रहे हैं कि] हे पार्थ! 'ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय'- तीनों ही कर्म करने की प्रेरणा करते हैं, ऐसा जानो।

कर्ता कर्म करण अस बिग्रह। तीनउँ करत कर्म कर संग्रह॥
सुनि कौन्तेय चकित होइ बोलत। तीनउँ प्रेरक कस मन डोलत॥

कर्ता, कर्म और करण का ऐसा स्वरूप है कि तीनों कर्म का संग्रह करते हैं। ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन चकित होकर बोले- [हे प्रभु!] ये तीनों (ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय) कर्म के प्रेरक कैसे हो सकते हैं? मेरा मन [तो इस सिद्धान्त से] आन्दोलित हो रहा है।

कर्तादिक कर्मनि संग्रह कस। बिस्तारहु स्वामी समुझउँ जस॥
कह प्रभु तुम्ह तो अहउ अकर्ता। सुद्ध साक्षि तन मन मति भर्ता॥

उसी प्रकार कर्ता एवं कर्मादि भी कर्मों का संग्रह कैसे कर सकते हैं ? हे स्वामिन्! इसे विस्तार से बतायें, जिससे कि मैं समझ सकूँ। भगवान ने कहा- तुम तो शुद्ध साक्षी और अकर्ता ही हो तथा तन, मन एवं बुद्धि के स्वामी हो।

तव चेतन सों अहइ प्रकासित। जिमि रबि सों सगरो जग भासित॥
जस जग का मति जानन चाहति। तब गुरु ज्ञान सहज आवाहति॥

जिस प्रकार सूर्य से सारा जगत प्रकाशित होता है उसी प्रकार तुझ चैतन्य आत्मा से ही सब चैतन्यमय होता है [सारे जगत में हलन-चलन होती है]। जैसे जगत क्या है ?- जब बुद्धि यह जानना चाहती है, तब सद्गुरु के ज्ञान का सहज ही आवाहन करती है।

दोहा— ज्ञेय जगत जानन हित जो होवे ब्यवहार।
ताकर प्रेरक तीनही यहि संग्रह कर सार॥ २३॥

[पुनः] जानने में आने वाले जगत को जानने के लिए जो कुछ भी क्रिया करनी पड़े, उसकी प्रेरणा करने वाले ये तीनों ही [सिद्ध होते] हैं, कर्म के संग्रह का यही रहस्य है।

चौपाई— ज्यों मति चाहति ब्रह्महिं जानन। लागति आतम चिंतन मानन॥
सोइ चिंतन तहँ ज्ञान कहावे। जासों ज्ञेय ब्रह्म अनुभावे॥

जैसे बुद्धि जब ब्रह्म को जानना चाहती है तो आत्मचिन्तन को स्वीकार कर लेती है। वही आत्मचिन्तन वहाँ ज्ञान कहलाता है, जिसके द्वारा ज्ञेय ब्रह्म अनुभव में आ जाता है।

अस कर्मन्हि प्रेरक ये तीनइँ। सांख्यमतन्ह वादी सच गीनइँ॥
ज्ञाता सिष्य ज्ञान गुरु आहीं। बेदहिं ज्ञेय समुझु जिय माहीं॥

इस प्रकार ये तीनों ही कर्मों के प्रेरक हैं। सांख्यमतावलम्बी इसे (इस मत को) ही सत्य मानते हैं। उसी प्रकार ज्ञाता शिष्य है, ज्ञान गुरु है तथा वेद ही ज्ञेय है- अपने हृदय में ऐसा समझो।

ये कर्मन्हि प्रेरक अस भ्राता। साधक मन जहँ नहिं अनुराता॥
महाराजहू याहि लखावे। आपुनि अनुभूती महँ गावे॥

हे प्रिय! इस प्रकार ये ही कर्मों के प्रेरक हैं, जहाँ साधकों का मन आसक्त नहीं होता। महाराज को भी यही दिखाई पड़ता है जिसे अपनी अनुभूति से स्पष्ट कर रहा है।

ज्ञाता ब्रह्म सक्ति संकल्पा। ज्ञान ज्ञेय सूँ प्रकृति बिकल्पा॥

ब्रह्म ही ज्ञाता है, [उसकी] संकल्पशक्ति ही ज्ञान है तथा [उसमें] जो विकल्परूप प्रकृति है, वही ज्ञेय है।

दोहा— अस तीनउ कर योग लख प्रेरक कर्म कहाय।
जो जग सम्मुख दीखत जहँ सबुरें असहाय॥ २४॥

इस प्रकार देखा जाय तो इन तीनों का मिलन ही कर्म का प्रेरक कहा जाता है। [जिसके विकल्परूप में] जो जगत प्रत्यक्ष है जहाँ सभी असहाय की भाँति दीख रहे हैं-

चौपाई— ज्ञाता ॐ जबहिं अनुभावे। बिस्वरूप तहँ ज्ञान लखावे॥
ज्ञेय देव नर तिर्यग जानहु। प्रेरक कर्म तीनि इहँ मानहु॥

जब ॐ ही ज्ञाता के रूप में अनुभव में आता है, तब वहाँ विश्वरूप ही ज्ञान [के रूप में] दिखायी पड़ता है तथा देवता, मनुष्य एवं त्रियग्योनियाँ ही ज्ञेय हैं; इस प्रकार ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं।

ज्ञाता बटु सदगुरु पद श्रद्धा। तत्परता संयमहि अबद्धा॥
ये साधन कहलावें ज्ञाना। ज्ञेय ब्रह्मबिद्या हि सुजाना॥

ब्रह्मचारी ज्ञाता है तो सद्गुरु के चरणों में श्रद्धा, तत्परता तथा निर्बाध संयम- ये साधन ही ज्ञान कहे जाते हैं तथा हे सुजानो! तब ब्रह्मविद्या ही ज्ञेय है।

यहि तीनउँ अस कर्मन्हि प्रेरक। अरु भवसागर सों उद्धेरक॥
ज्ञाता रिषिहि ज्ञान तिन्ह दृष्टी। ज्ञेय बिमल बेदन्ह की सृष्टी॥

इस प्रकार ये ही तीनों कर्मों के प्रेरक हैं और भवसागर से उद्धार करने वाले हैं। उसी प्रकार ऋषिगण ज्ञाता हैं तो उनकी दिव्य दृष्टि ज्ञान है और निर्मल वेदों का सृजन ही ज्ञेय है।

यहि त्रै मिलि सच कर्मन्हि प्रेरत। जासों कर्म अपर कहँ हेरत॥
पितु ज्ञाता जननी प्रिय ज्ञाना। ज्ञेय सुअन तब जात बखाना॥

यथार्थत: ये तीनों मिलकर ही कर्म की प्रेरणा करते हैं जिससे कर्म पुन: दूसरे कर्म को देखने लगते हैं। उसी प्रकार पिता ज्ञाता है तो माता मधुर ज्ञान है और तब पुत्र को ही ज्ञेय कहा जाता है।

दोहा— कर्म प्रेरणा होय तब जब तीनउँ मिलि जायँ।
महाराज लख सांख्य सों तब ऐसोइ लखायँ॥ २५॥

इस प्रकार कर्म की प्रेरणा तभी होती है जब ये तीनों मिलते हैं। महाराज जब सांख्यमत से देखने लगता है तब ऐसा ही दिखायी पड़ता है।

चौपाई— अब मैं श्री हरि सम्मुख आवउँ। प्रभु जस पार्थहिं कहहिं सुनावउँ॥
कर्ता करण कर्म त्रय आई। करत कर्म संग्रह मम भाई॥

हे मित्रो! अब प्रभु के सम्मुख होता हूँ जहाँ वे अति प्रसन्नता के साथ जितेन्द्रिय अर्जुन से कह रहे हैं कि हे मेरे प्रिय! कर्ता, करण और कर्म- ये तीनों ही आकर कर्मों का संग्रह करते हैं।

कर्ता जीव उपाधी युक्ता। जो कर इंद्रिन्हि कर्म नियुक्ता॥
करण बाह्य अन्त: इंद्रियँ सब। जिनसों होय करम चाहे जब॥

[यदि तुम जानना चाहते हो कि कर्ता का स्वरूप क्या है तो सुनो-] मायोपाधिक जीव ही कर्ता है, जो इन्द्रियों को [अपने-अपने] कर्मों में नियुक्त करता है तथा दस बाह्य इन्द्रियाँ एवं चार अन्त: इन्द्रियाँ- ये ही सब करण हैं, जिनके द्वारा चाहे जब क्रिया होती रहती है।

कर्म सोइ कर्ता प्रिय जोई। क्रिया जाहि लाने सब होई॥
करत कर्म संग्रह तिनि कैसे। सुनु दै ध्यान बतावउँ जैसे॥

उसी प्रकार कर्म वही है जो कर्ता को प्रिय हो, जिसके लिए सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं। ये तीनों ही कर्मों का संग्रह कैसे करते हैं, उसे मैं बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो-

अन्त: बाह्य इंद्रिं महँ संचित। कर्म सोइ प्रारब्ध सुनिस्चित॥
जन्मत ही गोवत्सहु धाये। पियन लगत पय बिनहिं पिलाये॥

हे प्रिय! मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा दसों इन्द्रियों में जो पूर्व का किया हुआ कर्म संचित है, वह प्रारब्ध कहलाता है। जैसे गोमाता का बछड़ा जन्म लेते ही दौड़कर [थन से लगकर] बिना पिलाये ही [अर्थात् बिना सहयोग के ही] दूध पीने लगता है।

दोहा— अज्ञ जीव कर्ता इहाँ इंद्रीं करण कहायँ।
पूर्ब पियो पय कर्म सो जो पुनि कर्म लगायँ॥ २६॥

वैसे ही यहाँ अज्ञानी जीव कर्ता है, [शरीरसहित] समस्त इन्द्रियाँ करण हैं तथा पूर्वजन्म में उसने दूध पीया है वही कर्म है जो पुन: उसी कर्म में लगा देता है।

चौपाई— देखि रसाल भयो मन खाने। खायो पूर्ब स्वाद सो जाने॥
इंद्रि करण अरु करम रसाला। अज्ञ जीव कर्ता अस हाला॥

आम को देखकर खाने का मन हुआ तो [सिद्ध है कि] पूर्व में भी आम को खाया गया है जिससे वह उसके स्वाद को जानता है। यहाँ भी यही स्थिति है कि अज्ञानी जीव कर्ता है, इन्द्रियाँ करण हैं तथा आम का खाना ही कर्म है।

संचित कर्म करत अस तीनौ। एहि बिधि होय जीव कर जीनौ॥
ऐसेइ कर्ता त्रिगुन कहावे। प्रारब्धहि तिन्ह करण लखावे॥

इस प्रकार तीनों ही कर्मों का संग्रह करते हैं, जिससे जीव के जीने का क्रम चलता रहता है। ऐसे ही तीनों गुण कर्ता कहे जाते हैं तथा उनके लिए प्रारब्ध ही करण है।

कर्म सृजन पालन संहारा। कर्मन्ह संग्रह यहि ब्यवहारा॥
कर्ता जस आतम जिज्ञासू। श्रद्धा संयम करणहि तासू॥

सृजन, पालन एवं संहार करना उनका कर्म है। इस प्रकार कर्मसंग्रह का यही व्यवहार है। जैसे आत्मजिज्ञासु कर्ता है तो उसकी श्रद्धा, संयम आदि गुण करण हैं–

सदगुरु कर्म तीनि मिलि जावें। ब्रह्मज्ञान संग्रह करि पावें॥
एहि रन कर्ता मो कहँ मानउ। करण पंच तुव धर्मन्हि जानउ॥

और सद्गुरु ही कर्म है, इस प्रकार तीनों मिल जाते हैं तो ब्रह्मज्ञान का संग्रह हो जाता है। मुझे इस युद्ध का कर्ता जानो और यहाँ पर तुम पाँचों पाण्डव [मेरे] धर्म को धारण करने वाले करण हो।

दोहा— करम धरम जय सच इहाँ मोको तात लखाय।
कर्मन्हि संग्रह तिनि मिलत साँच सहज होइ जाय॥ २७॥

तथा यथार्थ में धर्म की विजय होना ही कर्म है, हे तात! यहाँ तो मुझे ऐसा ही दिखायी पड़ रहा है। इस प्रकार यह सत्य है कि इन तीनों के मिलने से (युद्धरूपी) कर्मसंग्रह तो सहज ही हो जाता है।

चौपाई— अर्जुन बिहँसि पड़े सुनि ऐसो। संजय नृपहिं सुनाये जैसो॥
महराजहु सों गयो हँसाई। अस सुनि कौरव गये लजाई॥

[भगवान के द्वारा] ऐसा सुनते ही अर्जुन हँस पड़े। उधर सञ्जय ने धृतराष्ट्र को जैसा का तैसा सुना दिया; इधर महाराज को भी सहज ही हँसी आ गई ऐसा जिन-जिन कौरवों ने सुना, वे लज्जित हो गये।

पुनि स्पष्ट करत एहि साईं। सिक्षत पार्थहिं गुरु की नाईं॥
गुनन्ह भेद सों सांख्य बखानत। ज्ञान कर्म कर्ता त्रय जानत॥

भगवान नारायण पुनः इसी बात को स्पष्ट करते हुए [अपने परम प्रिय शिष्य] अर्जुन को गुरु के सदृश पढ़ा रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे पार्थ! सांख्य शास्त्र गुणों के विभाग से ज्ञान, कर्म एवं कर्ता तीनों को जानते हुए उसका वर्णन करता है।

नभ अबिभक्त बिपुल घट माहीं। जेहि बिधि अगनित होइ लखाहीं॥
तैसोइ सर्ब भूत महँ एकइ। अहइ ब्रह्म जेहि ज्ञान सों देखइ॥

जिस प्रकार अविभक्त होते हुए भी आकाश बहुत-से घड़ों में असंख्य-सा दिखायी पड़ता है उसीप्रकार समस्त प्राणियों में एक ही ब्रह्म व्याप्त है, यह जिस ज्ञान से दिखाई पड़ता है–

कह्यो जाय सो सात्विक ज्ञाना। साधन पथ महँ यहु बर ध्याना॥
आत्मा पृथक पृथक भूतनि महँ। गुडाकेस ऐसो भासत जहँ॥

वह सात्त्विक ज्ञान कहलाता है, साधन पथ में यह भी श्रेष्ठ ध्यान कहलाता है। हे गुडाकेश! जहाँ समस्त भूतों में पृथक्-पृथक् आत्मा है, ऐसा प्रतीत होता है–

ज्ञान सोइ राजस कहलावे। गुरूयोग सों सत होइ जावे॥
आत्मा जहँ लखाय इतनोई। प्रकृति कार्य देहइ जितनोई॥

वही ज्ञान राजस कहलाता है, जो गुरुयोग से सात्त्विक हो जाता है। जहाँ प्रकृति का कार्यरूप शरीर जितना [बड़ा अथवा जैसी आकृति वाला] है आत्मा उतना ही है, ऐसा दिखायी पड़ता है–

जासों सरै न कोउहु काजा। अपितु होय नित बहुत अकाजा॥
जेहि महँ युक्ति हेतु कोउ नाहीं। देइ अल्प फल सहज बिलाहीं॥

जिससे किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती अपितु सदैव बहुत हानि ही होती है, जिसमें न कोई युक्ति है न कोई हेतु है और थोड़ा-सा फल देकर सहज ही नष्ट हो जाने वाला है–

दोहा— तामस ज्ञान कहाय सो मूढ़नि माहिं लखाय।
सोक मोह संताप सब उर सों कबहुँ न जाय॥ २८॥

वह तो तामस ज्ञान कहा जाता है जो अत्यन्त अविवेकियों में दिखायी पड़ता है जिससे हृदय का शोक, मोह और सन्ताप आदि कभी नहीं जाते।

चौपाई— कर्म नित्य आसक्ति बिहीना। राग द्वेष कर्मन्ह फल हीना॥
सात्विक कर्म कहावत ऐसो। अब सुनु राजस कर्महु जैसो॥

उसी प्रकार जो कर्म सदा आसक्ति से रहित तथा राग-द्वेष और कर्मों के फल [की इच्छा] से भी रहित है-ऐसा कर्म सात्त्विक कर्म कहा जाता है। अब हे पार्थ! जैसा राजस कर्म है, उसे सुनो-

फल इच्छा अरु अहंकार युत। कियो जाय जो अति श्रम संयुत॥
कर्म कहावे राजस सोई। सुनहु कर्म तामस जस होई॥

जो कर्मफल की इच्छा से तथा अहंकार के साथ बहुत ही श्रमपूर्वक किया जाता है- वही कर्म राजस कहा जाता है। अब पुनः जैसा तामस कर्म होता है, उसे सुनो-

जहँ परिणाम न देख्यो जावे। हिंसा कितक न कछु अनुभावे॥
जहाँ नाहिं निज सक्तिहु ध्याने। कियो जाय जो अति अज्ञाने॥

'जहाँ कर्म का परिणाम नहीं देखा जाता, कितने अनुपात में हिंसा होगी इसका अनुमान नहीं लगाया जाता तथा जहाँ अपनी सामर्थ्य का भी विचार नहीं किया जाता और जो अति अज्ञानपूर्वक किया जाता है'-

तामस कर्म सोइ कहलावे। जा महँ मूढ़ अतिहिं बगलावे॥
तस कर्ता कै तीनि प्रकारा। गुडाकेस सुनु तेहि ब्यवहारा॥

वही तामस कर्म कहलाता है जिसमें मूर्ख अत्यन्त भ्रमित होते रहते हैं। उसी प्रकार कर्ता के भी तीन प्रकार होते हैं। हे पार्थ! अब उसका व्यवहार सुनो।

दोहा— अनहंकार असंग जो धृति उछाह सों युक्त।
कर्मन्हि सिद्ध असिद्ध सम कर्ता सत्व अभुक्त॥२९॥

'जो अनासक्त, अहंकार से रहित [अर्थात् मैं कर्म करने वाला हूँ- ऐसा नहीं कहता], धैर्य एवं उत्साह से युक्त है और कर्मों के सिद्ध होने एवं न होने में समान भाव वाला है वह निर्विषयी कर्ता सात्त्विक है।

चौपाई— कर्मासक्त फलहिं बहु चाहत। लोभी हिंसक दुख बहु ढाहत॥
हर्ष सोकयुत अति अपबित्रहु। कर्ता राजस अहइ बिचित्रहु॥

तथा जो कर्मों में आसक्त और बहुत कर्मफलों को चाहने वाला है, लोभी है एवं हिंसक होने से सभी को अत्यन्त पीड़ित करता है, हर्ष-विषाद से युक्त और अत्यन्त अपवित्र है- ऐसा विचित्र कर्ता राजस कहलाता है।

जो अयुक्त जड़ मूरख कपटी। पर धन की कर छीना झपटी॥
दीर्घसूत्रि आलसी बिषादी। कर्ता तामस ब्यर्थ बिबादी॥

और जो असंयमी, जड़, मूर्ख एवं कपटी है, पराये धन की छीना-झपटी करने वाला है, दीर्घसूत्री (अल्प समय में होने वाले कार्य को भी फिर कर लूँगा- ऐसा कहकर टालने वाला), आलसी एवं विषादी है- वह व्यर्थ का विवादी कर्ता तामसी है।

मति धृति पुनि त्रिगुणात्मक आहीं। सुनहु भेद तिन्हि गुनु मन माहीं॥
प्रबृति निबृति अरु काज अकारज। भय अरु अभय सु आर्य अनारज॥

हे पार्थ! बुद्धि और धृति भी त्रिगुणात्मक है; अतः उनके भेदों को सुनकर मन में विचार करो, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय तथा आर्य-अनार्य-

जो सच बंध मोक्ष कर रूपा। जानति मति सो सत्व अनूपा॥
कार्य अकार्य सुधर्म अधर्मा। जो मति बूझति नहिं सच मर्मा॥

एवं बन्धन-मोक्ष के स्वरूप को जो [यथावत्] जानती है- वह अनुपम बुद्धि सात्त्विक है किन्तु जो बुद्धि कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानती-

दोहा— अस राजस मति तामसी लख सब कछु बिपरीत।
बूझ अधर्महिं धर्म अस उलटी तेहि की रीत॥ ३०॥

ऐसी बुद्धि तो राजसी है और तामसी बुद्धि तो सब कुछ विपरीत ही देखती है। अरे! वह तो अधर्म को ही धर्म समझ लेती है, ऐसा उसका विपरीत स्वभाव ही है।

चौपाई— अब्यभिचारिणि धृति कहँ धारी। जिहिं समाधि योगहिं उपचारी॥
संयम कियो जाय मन इंद्रिय। प्रानहिं धृति सात्विकी जितेंद्रिय॥

हे जितेन्द्रिय पार्थ! जिसमें अव्यभिचारिणी धृति को धारण करके समाधियोग के व्यवहार से मन, इन्द्रिय तथा प्राणों को संयमित किया जाता है- वही धृति सात्त्विक है।

धृति जो अर्थ धर्म अरु कामा। धारण करि लह कछु बिश्रामा॥
समय पाइ सबकर फल चाहति। धृति राजस पुनि पुनि जग ढाहति॥

जो धृति धर्म, अर्थ और काम को धारण कर कुछ पल विश्राम करती है तथा समयानुसार इन सबके फल की आकांक्षा करती है- वह धृति राजस है जो पुनः पुनः जगत में गिराती रहती है।

जेहि धृति मूढ़ अतिहिं अनुरागत। नींद सोक भय मदहिं न त्यागत॥
सो कहाय धृति तामस भाई। सुखहु त्रिबिध अब देउँ बताई॥

तथा जिस धृति के द्वारा मूर्ख अत्यन्त अनुराग को प्राप्त होकर नींद, शोक, भय एवं मद को नहीं छोड़ता- हे प्रिय! वह धृति तामस कही गयी है। अब तुम्हें तीन प्रकार के सुखों को भी बता देता हूँ-

जेहि सुख चिंतत प्रेम लखावे। जाहि लहत सब दुख मिटि जावे॥
साधन प्रथम जाहि बिष जैसो। जप तपादि महँ होवै ऐसो॥

जिस सुख का स्मरण करने से प्रेम प्रकट होता है तथा जिसको प्राप्त करने से सारा दुःख मिट जाता है एवं जिसकी साधना प्रथमावस्था में विष के समान प्रतीत होती है- ऐसा जप, तप, योग आदि के अभ्यासकाल में होता है-

दोहा— पर अमृत परिणाम महँ आत्मबुद्धि परसाद।
सो सुख सात्विक जाहि सों मिटे सकल अवसाद॥ ३१॥

किन्तु वह आत्मबुद्धि के प्रसाद स्वरूप उत्पन्न हुआ सुख परिणाम में अमृततुल्य होता है- वही सात्त्विक सुख है जिससे समस्त दुःख ही मिट जाते हैं।

चौपाई— इंद्रिनि बिषय जोग जब होवे। सुख उपजे जामें चित खोवे॥
सो सुख प्रथम सुधा सम भासत। तबलौं जबलौं पुन्य प्रकासत॥

जब इन्द्रियों और विषयों का संयोग होता है तो ऐसा सुख उत्पन्न होता है कि उसमें चित्त खो जाता है। वह सुख पहले [भोग काल में] अमृत के समान तभी तक प्रतीत होता है जब तक कि पुण्य प्रकाशित रहता है-

जबहिं जाय सो पुन्य नसाई। बिष इव होत अंत दुखदाई॥
कहलावे सोई सुख राजस। सुनहु अहइ जैसो सुख तामस॥

परन्तु जब पुण्य समाप्त हो जाता है तो वह भी परिणाम में विष के समान अत्यन्त दुःखदायी हो जाता है- अतः वही सुख राजस सुख कहा जाता है। अब तामस सुख जैसा है, उसे सुनो-

जो सुख प्रथम अंत सुखदाई। मोहत सुद्ध जीव अधिकाई॥
आलसु नींद प्रमाद सों आवत। ताहि सुखहिं सच तामस गावत॥

'जो सुख भोगकाल के प्रारम्भ से अतंकाल तक सुख देते हुए विशुद्ध जीव को अत्यन्त मोहित किये रहता है तथा जो निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होता है यथार्थ में उसी सुख को तामस कहा जाता है।

गुडाकेस त्रयकालनि माहीं। धरनि अकास अवरु स्वर्गाहीं॥
ऐसो कोउहु प्रानी नाहीं। जो अतीत त्रयगुन सों आहीं॥

अतः हे पार्थ! तीनों कालों में आकाश, पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो इन तीनों गुणों से रहित हो।

दोहा— प्रान अपान उदान सब प्रानहु गुनकृत होय।
सत रज तम इनि गुनन्ह की सृष्टि सनातन जोय॥ ३२॥

इस प्रकार प्राण, अपान, उदान आदि सभी प्राण गुणकृत् ही हैं। अत: सत्, रज एवं तम- इन गुणों से निर्मित सृष्टि सनातन प्रतीत हो रही है।

चौपाई— बहति अखंडित इन्हकीं धारा। फँस्यो जोइ जहँ भ्रम बस भारा॥
ताकी गति नहिं जात निहारी। चाहत तौ गुरु लेत निकारी॥

इन गुणों की अखण्ड धारा बह रही है, जहाँ जो भ्रमवश अच्छी प्रकार इसमें फँस जाता है, उसकी दशा तो देखते नहीं बनती। हाँ, सद्गुरु चाहता है तो उसे निकाल लेता है।

तम सिव धाम योनि रज ब्यक्ता। प्रकृति सनातन ध्रुव अब्यक्ता॥
प्रभवहु प्रलय प्रधान बिकारा। अनुद्रिक्ता अप्यय सत चारा॥

तम, शिव, धाम, योनि, रज, व्यक्त, प्रकृति, सनातन, ध्रुव, अव्यक्त, प्रलय, प्रधान, प्रभव, विकार, अनुद्रिक्ता, अप्यय (नाश) एवं सत्- ये सभी तथा-

असत अचल सु अनून अकम्पा। प्रकृति नाम कहि किय अनुकम्पा॥
प्रकृति नाम सत रज तम नाना। गति बिसुद्ध जो सच सच जाना॥

परम अचलता, असत्, अनून (अधिक) तथा अकम्प (कम्परहित)-प्रकृति ने [ही त्रिगुणमयी माया के] इन नामों को कहकर अनुकम्पा की है। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, नाना प्रकार की प्रकृति के नाम और उसके स्वरूप को जो यथार्थ में जानने वाला है,

गुन बिभाग सोइ जानन वारो। यासों परे न भवनिधि खारो॥
भवदुख कछु नहिं ब्यापइ ताहीं। निज पद लहि गुनबंधन जाहीं॥

वही गुणों के विभाग को जानने वाला है, अत: वह खारे (दु:खमय) संसाररूपी सागर में नहीं पड़ सकता। उस पर तो सांसारिक दु:ख कुछ भी प्रभाव नहीं डालता, जिससे वह गुणों के बन्धन को काटकर अपने आत्मपद को प्राप्त कर लेता है।

दोहा— चतुर्बरन तिन्हके करम गुनकृत अहइ बिभाग।
कोउ चतुर नर जानि अस प्रभु भक्ती महँ लाग॥ ३३॥

इस प्रकार चारों वर्णों और उनके कर्मों का विभाग गुणों द्वारा ही किया गया है, कोई चतुर पुरुष ऐसा जानकर भगवान की भक्ति में लग जाता है।

चौपाई— सम दम सौच ज्ञान बिज्ञाना। तप आर्जव आस्तिक प्रभु ध्याना॥
ब्राह्मण कर्म छमा स्वाभाविक। कहत यहइ रिषिगन अनुभाविक॥

शम-दम, शौच, ज्ञान-विज्ञान, तप, मन-वाणी आदि की सरलता, आस्तिकता एवं भगवान का ध्यान और क्षमा- ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं; अनुभवी ऋषिगण ऐसा ही कहते हैं।

मोह क्रोध नर त्यागे जोई। देव कहत सोइ ब्राह्मण होई॥
सत्य बदे सदगुरु संतोषे। बरु सताय जग तउ नहिं रोषे॥

हे पार्थ! जो मनुष्य मोह और क्रोध को त्याग देता है, देवता कहते हैं कि वही ब्राह्मण है। जो सत्यभाषी है, सद्गुरु को सेवा से सन्तुष्ट करता है और भले ही सारा जगत उसे दु:ख देता हो तो भी जो दु:खी नहीं होता-

अहइ जितेंद्रिय धरमपरायन। सोइ ब्राह्मण कह सुर मुदितायन॥
जेहि धर्मज्ञ पुरुष उर माहीं। आत्मभाव सब जग प्रति आहीं॥

एवं जो धर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय है- वही ब्राह्मण है, ऐसा प्रसन्न वदन देवगण कहते हैं। जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुष के हृदय में समस्त जगत के प्रति आत्मभाव है-

जो द्विज ब्रह्मचरज कर नेमा। पालत चह न योग अरु छेमा॥

और जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्य के सभी नियमों का पालन करता है किन्तु योग और क्षेम को नहीं चाहता-

दोहा— सतत रहत स्वाध्याय रत यज्ञहिं करे कराय।
यथासक्ति दै दान नित सोइ नर बिप्र कहाय॥ ३४ (क)॥

तथा सदा ही स्वाध्याय रत रहते हुए यज्ञ करता है और कराता है एवं नित्य ही यथाशक्ति दान देता है- वही पुरुष ब्राह्मण कहा जाता है।

सौर्य तेज धृति दक्षता रन नहिं पीठ दिखाय।
दाता प्रभुता छात्रगुन स्वाभाविकहि लखाय॥ ३४ (ख)॥

उसी प्रकार शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान देने का स्वभाव, [शासन करने योग्य पर] शासन करना,- ये गुण क्षत्रिय में स्वाभाविक ही देखने में आते हैं।

चौपाई— कृषि गोपालन अरु ब्यापारा। सहज कर्म बनिकहिं संसारा॥
सब बरनन्हिं करनो सेवकाई। सूद्र करम स्वाभाविक भाई॥

हे प्रिय! वैसे ही कृषि गो पालन और व्यापार करना जगत में वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं एवं सारे वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

निज निज कर्म निरत नर सारे। ज्ञान सिद्धि लह बिनु श्रम भारे॥
सुनु अर्जुन जे नर अस ध्यावें। निज कर्मनि सों सिधि कस पावें॥

इस प्रकार अपने-अपने [स्वाभाविक] कर्मों को सभी मनुष्य करते हुए बिना विशेष परिश्रम के ज्ञानरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। अत: हे अर्जुन! अब यह सुनो कि जो मनुष्य इस प्रकार प्रयास करते हैं वे अपने कर्मों से ज्ञानयोग की सिद्धि कैसे प्राप्त करते हैं।

जिहि बिभु सों जग प्रगट यथेष्टा। जासों सब प्राणिन्ह की चेष्टा॥
जासों ब्याप्त सकल संसारा। तासों भक्त होहिं भव पारा॥

यथार्थ में जिस ब्रह्म से जगत प्रकट होता है, जिससे समस्त प्राणियों का व्यवहार होता है, जिससे सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, उसी [परमात्मा] की कृपा से भक्त संसार सागर को पार कर जाते हैं।

तेहिं साइँहिं निज सहज करम सों। पूजि ज्ञानयग पाय धरम सों॥
करम मिलत जब ज्ञानयोग महँ। ज्ञान मिलत जब राजयोग महँ॥

उसी भगवान को अपने स्वाभाविक कर्म-धर्म से पूजकर पुरुष ज्ञानयोग प्राप्त कर लेता है। जब कर्मयोग ज्ञानयोग में मिल जाता है और जब ज्ञानयोग राजयोग में मिल जाता है-

तबहिं होत यह जीव कृतारथ। यहइ साँच जीवन पुरुषारथ॥
ब्रह्मज्ञान बिनु कोउ न ज्ञाना। तेहि सम फल नहिं बर कोउ आना॥

तभी यह जीव कृतार्थ होता है, यथार्थ में यही जीवन का परम पुरुषार्थ है। हे पार्थ! ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है तथा उसके समान कोई भी दूसरा श्रेष्ठ फल नहीं है।

दुख न राग सम कोउ जग माहीं। त्याग समान अपर सुख नाहीं॥

जैसे जगत में राग के समान कोई दु:ख नहीं है और त्याग के समान कोई अन्य सुख नहीं है।

दोहा— ब्रह्मज्ञान पावत सहज मनुज स्वधर्महिं पाल।
को निज धर्म निरत नित सब देखइ प्रतिपाल॥ ३५॥

मनुष्य स्वधर्म का पालन करके सहज ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। अपने स्वाभाविक धर्म-कर्म में कौन नित्य लगा हुआ है, इन सब बातों को सबका रक्षक भगवान देख रहा है।

चौपाई— जस बिषकृमि हित सोइ गुनकारी। तस दूषित स्वकर्म हितकारी॥
अपर धरम बरु श्रेष्ठ लखावे। तउ अपुने कछु काम न आवे॥

जिस प्रकार विष के कीड़े के लिए वह विष ही गुणकारी होता है, उसी प्रकार अपना स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त होते हुए भी अपने लिए हितकारी होता है, दूसरे का धर्म-कर्म भले ही श्रेष्ठ दिखायी दे तो भी वह अपने किसी काम का नहीं है।

नित कोउ पय घृत पीवत खावत। जो सबकै हित श्रेष्ठ कहावत॥
किंतु उदर निज तेहि न पचावे। अपुनें हित तो छाछ लखावे॥

जैसे कोई प्रतिदिन घी दूध खाता-पीता है जो सबके लिए गुणकारी बताया जाता है, किन्तु यदि अपने पेट में वह पचता ही नहीं, फिर अपने हित में तो छाछ ही [गुणकारी] दिखायी पड़ता है!

सेवत छाछ आँतरी रोगा। जाय उदर तब होय निरोगा॥
पुनि अपुनें हित घृत अरु छीरा। पचतु जाय तन इंद्रिन्ह पीरा॥

छाछ का सेवन करने से आतों का रोग चला जाता है तब पेट निरोग हो जाता है और घी-दूध पचने लगता है जो अपने लिए हितकर हो जाता है जिससे शरीर और इन्द्रियों का कष्ट चला जाता है।

जेहि सेवत जप तप अवराधे। आलसु नींद न तब कोउ बाधे॥
यहु उपमा लखि उर मति मन सों। प्रीति करहु निज निज कर्मन सों॥

जिसका सेवन करते हुए जप-तप करता है तो आलस्य और नींद बाधा नहीं पहुँचाते। इस उपमा को देखकर आप भी अपने हृदय, बुद्धि एवं मन से [अर्थात् सम्पूर्ण मनोयोग से] अपने-अपने स्वाभाविक कर्म (धर्म) से प्रेम करें।

दोहा— महाराज समुझाय यहि घटना एक लखाय।
समाधान करि सूत्र बर पुनि आगे सब गाय॥ ३६॥

महाराज एक घटना के माध्यम से इसे समझा रहा है और इस श्रेष्ठ सूत्र का प्रतिपादन करके तब आगे की सारी बात कहेगा।

चौपाई— हिमप्रदेस सुरसरी किनारे। आश्रम बर इक सबहिं पियारे॥
साधक सिद्ध तपहिं तप भारी। सदगुरु तिन्हके जग उपकारी॥

हिमालय में गंगाजी के तट पर एक श्रेष्ठ आश्रम है जो सभी को प्रिय लगता है। वहाँ साधक-सिद्ध घोर तप तपते रहते हैं और उनके सद्गुरु जगत का उपकार करने वाले हैं।

एक भगत उन्ह सदगुरु पाहीं। अति बिस्वास लिये मन माहीं॥
सरनागत भयो सीस नवाई। सदगुरु प्रति श्रद्धा अति भाई॥

उन्हीं के पास एक प्रेमी भक्त मन में अत्यन्त विश्वास के साथ प्रणाम कर शरणागत हो गया। जिसे सद्गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी।

गुरु लखि ताहि करम अधिकारी। करम योग दिये हृदय बिचारी॥
बिकल भयो तेहि साधन देखी। आपुहिं निज उर लख्यो बिसेषी॥

सद्गुरु ने उसे कर्मयोग का अधिकारी समझकर अपने हृदय में सोच-विचारकर कर्मयोग का साधन दे दिया, किन्तु वह उस साधन को देखकर विकल हो गया; क्योंकि अपने हृदय में वह स्वयं को विशेष योग्य समझता था।

कह गुरु सों इहँ साधक बृंदा। ध्यान ज्ञान गहि बसहिं अनंदा॥
मोहुँ बतावहु साधन कोई। जासों मिलै बेगि सिधि सोई॥

वह सद्गुरु से कहने लगा- गुरुदेव! यहाँ पर तो अन्य साधकगण ध्यानयोग एवं ज्ञानयोग अपनाकर बड़े आनन्द में रह रहे हैं। मुझे भी कोई साधन बता दें जिससे शीघ्रातिशीघ्र वही सिद्धि मिल जाय।

दोहा— गुरु लखि हठ सोइ साधन दिये किंतु उर आय।
करे घोर जप जोग बरु मन उचाट होइ जाय॥ ३७॥

सद्गुरु ने उसके हठ को देखकर वही साधन दे दिया, परन्तु उनके हृदय में [यह भाव] आया कि भले ही यह घोर जप-तप करे किन्तु इसके मन में उच्चाटन हो जायेगा।

चौपाई— बहुरि दया भरि कह गुरुदेवा। समय पाइ करनो कछु सेवा॥
किंतु न मान्यो देखा देखी। करन लग्यो नित ध्यान बिसेषी॥

फिर भी दया से अभिभूत होकर गुरुदेव ने कहा- समयानुसार [आश्रम में] कुछ सेवा भी करते रहना, किन्तु

उसने नहीं माना और अन्य साधकों की देखा-देखी करके सदा ही विशेष ध्यान का प्रयास करने लगा।

बैठत ध्यान नींद गहराई। आय ताहि नहिं कछुक बसाई॥
करन लग्यो ठाढ़े जप ध्याना। समुझन वारो स्वयं सयाना॥

ध्यान में बैठते ही उसे गहरी नींद घेर लेती और उसका कुछ भी वश नहीं चलता। तब स्वयं को अत्यन्त चतुर समझने वाला वह खड़े-खड़े जप और ध्यान करने लगा।

तउ न जाय निंद सो पछतावे। पर नहिं कर्मयोग अपनावे॥
जदपि गुरुहिं बिभु सम उर धरई। पर मनमुखि इव साधन करई॥

तो भी नींद जाती नहीं थी तब वह पश्चात्ताप करता था किन्तु उसने कर्मयोग को धारण नहीं किया, यद्यपि वह सद्गुरु को हृदय में भगवान के समान स्थान देता था परन्तु मनमुखों की तरह ही मनमानी साधना करता था।

गुरुहु प्रेम बस कछु कह नाहीं। मनमानी तप करतो जाहीं॥

सद्गुरु भी प्रेम के वशीभूत होने के कारण कुछ कहते नहीं थे और वह अपने मन से तप करता जा रहा था।

दोहा— तउ सो अस अभ्यास बल पूरौ दिन जप ध्यान।
करन लग्यो अति हर्षयुत सबहि करहिं सम्मान॥ ३८॥

तो भी अभ्यास का बल ऐसा है कि वह सारा दिन हर्ष में भरकर जप और ध्यान करने लगा जिससे [आश्रम के बाहर तथा भीतर के] सभी लोग उसका सम्मान करने लगे।

चौपाई— कछुक माह बीते ऐसोई। सो का जान परीक्षा होई॥
रज माया उर डेरा डारी। मनहिं उचाट कियो अति भारी॥

इसी प्रकार कुछ माह बीत गये किन्तु वह क्या जानता था कि परीक्षा भी होगी। [फिर तो क्या!] रजोगुणी माया ने उसके मन में डेरा डाल दिया और अत्यधिक उच्चाटन कर दिया।

होन लग्यो संसय भ्रम नाना। छूटि गयो तब जप तप ध्याना॥
गुरु पूछे तब कह कर जोरी। ब्याप्त आपु प्रभु अंड करोरी॥

[उसके हृदय में] नाना प्रकार का संशय-भ्रम होने लगा और तब जप, तप, ध्यानादि छूट गया। सद्गुरु द्वारा पूछने पर हाथ जोड़कर कहा कि हे प्रभो! करोड़ों ब्रह्माण्ड में आप ही तो व्याप्त हैं!

जेहि के लाने जप तप ध्याना। कर्यो जाय हे कृपानिधाना॥
सोइ तुम्ह मिले काह कछु करनो। तुम्हरी बिरदि भक्त भ्रम हरनो॥

हे कृपानिधान! जिसके लिए जप, तप, ध्यान किया जाता है जब वही आप मुझे प्राप्त हो गये हैं तो क्या करना शेष रह जाता है! आपकी तो महिमा ही भक्तों के भ्रम का हरण करने वाली है।

यहि उच्चाटन कहि गुरुदेवा। पुनि बोले करु मेरोइ सेवा॥

यही तो उच्चाटन है ऐसा कहकर पुनः गुरुदेव ने कहा- कोई बात नहीं मेरी ही सेवा करो।

दोहा— नाम रूप सब मोर लखि करु पुनि तस ब्यवहारु।
कर्मयोग कर तोर सच प्रकृति अहइ तेहि धारु॥ ३९॥

सभी नाम-रूपों को मेरा ही समझो और उसी के अनुसार व्यवहार करो। यथार्थ में तो तुम्हारा सहज स्वभाव कर्मयोग का है, तुम पुनः उसी को धारण करो।

चौपाई— समुझहु नहिं निकृष्ट करम यो। तव हित तो सच परम धरम यो॥
प्रात क्रिया करि कछु जप ध्याना। करहु कछुक स्वाध्याय सुजाना॥

तुम यह मत समझो कि यह कर्म निकृष्ट (छोटा) है यथार्थ में तुम्हारे लिए तो यही श्रेष्ठ धर्म है। हे बुद्धिमान्! प्रातःकाल की नित्यक्रिया करके कुछ जप-ध्यान और कुछ स्वाध्याय कर लिया करो।

करि कछु कर्म पाइ परसादा। भक्तन्ह महँ करि हरि संबादा॥
पुनि स्वाध्याय करहु मन लाई। संध्या करि करु कर्म सुहाई॥

[तदुपरान्त] कुछ कर्म करने के पश्चात् प्रसाद (भोजन) ग्रहण कर भक्तों में भगवत् चर्चा करके पुनः मन लगाकर स्वाध्याय करो, फिर संध्या करके प्रिय कर्मयोग का सम्पादन करो।

अर्ध उदर भरि नींद सुहावनि। सोइ जागु प्रभु निसि अति पावनि॥
अस नित जप तप ध्यान बढ़ावे। कर्म घटइ स्वाध्याय दृढ़ावे॥

पुनः आधा पेट भोजन करके सात्त्विक नींद लेकर परम पवित्र ब्रह्ममुहूर्त में जाग जाओ। इस प्रकार नित्य ही जप, तप, ध्यान बढ़ाते जाओ तो कर्मयोग [स्वतः ही] घटता जायेगा और स्वाध्याय बढ़ता जायेगा।

होन लगे निंद बिनु जप ध्याना। अरु स्वाध्याय जो महत बखाना॥
कर्मयोग तबहीं तुम्ह त्यागहु। ज्ञानयोग महँ निसदिन रागहु॥

और जब बिना नींद के जप, ध्यान और स्वाध्याय होने लगे जो श्रेष्ठ [साधन] कहा गया है, तब कर्मयोग का त्याग कर दो और रात-दिन ज्ञानयोग में लग जाओ।

सोरठा— एहि महुँ करि स्वाध्याय आतम चिंतन पुनि करउ।
जस जस यहउ बढ़ाय घटत जाय स्वाध्याय तस॥ ४० (क)॥

इसमें भी स्वाध्याय करके पुनः आत्मचिन्तन करो। इस प्रकार जैसे-जैसे यह (आत्मचिन्तन) बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे स्वाध्याय घटता जायेगा।

दोहा— इक दिन ऐसो आयेगो चिंतन निस दिन होय।
बिनु प्रयास जप जोग अरु स्वाध्यायहु सब खोय॥ ४० (ख)॥

इस प्रकार एक दिन ऐसा आयेगा कि रात-दिन चिन्तन ही होता रह जायेगा और बिना प्रयास के ही जपयोग एवं स्वाध्याय- ये सभी साधन स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे।

चौपाई— चिंतन सुमन खिले गहराई। तब ता महँ फल लागत भाई॥
सो फल आतम ध्यान कहावे। सोइ आगे समाधि बनि जावे॥

जब आत्मचिन्तनरूपी पुष्प पूर्णतः खिल जायेगा तब हे प्रिय! उसमें फल लगेगा। वह फल आत्मध्यान कहलाता है और वही आगे जाकर समाधि बन जायेगा।

एहि मग चल अस नाहिं सुगम मग। साधन तरनि न होवे डगमग॥
घायल सिष्य जगत सोइ कीन्हो। सदगुरु कृपा पाइ प्रभु लीन्हो॥

तुम इसी मार्ग से चलो ऐसा सुगम मार्ग तो [कोई अन्य] है ही नहीं, जिससे कि साधनारूपी नौका न डगमगाये। [ऐसा सुनकर] जगत से घायल शिष्य ने वही किया और सद्गुरु की कृपा से सहज ही ब्रह्म को प्राप्त कर लिया।

स्वयं स्वभावहिं परखन वारो। तेहि अनुरूपहिं कर्मन्ह धारो॥
पाय पाप नहिं प्रभु अवराधत। एहि बिपरीत कर्म सब बाधत॥

अपने स्वभाव को अच्छी प्रकार जानने वाला और उसी के अनुरूप (स्वाभाविक)कर्मों को धारण करने वाला पुरुष, प्रभु की आराधना करते हुए पाप को प्राप्त नहीं होता किन्तु इस भावना के विपरीत सब कर्म बाँधने वाले होते हैं।

अस लखि प्रभु कह हे तपधारी। मेरो सुनु आतम बपु धारी॥
अस को कर्म दोष जिहिं नाहीं। धूम रहित ईंधन का आहीं॥

ऐसा देखकर ही तो भगवान कह रहे हैं कि हे तपस्वी अर्जुन! आत्मस्वरूप को धारण कर मेरी बातों पर ध्यान दो। ऐसा कौन-सा कर्म है जिसमें दोष नहीं है! क्या कोई ईंधन बिना धुएँ का होता है!

दोहा— कृषक कर्म हिंसा पुरित को अस जान न जोय।
पतो न कृमि कितनों मरत कितक अधमरो होय॥ ४१॥

ऐसा कौन है जो यह नहीं जानता कि कृषक का कर्म हिंसायुक्त होता है क्योंकि उसके द्वारा न जाने [प्रतिदिन] कितने कीड़े-मकोड़े मरते हैं और कितने घायल होकर अधमरे हो जाते हैं।

चौपाई— याहि तनहिं हिंसत तपसी अति। तब कबहूँ सो पाय बिमल मति॥
यतिहु त्यागि हिंसत पितु माता। अरु तिय सुत मित दाहत गाता॥

तपस्वी [तप के द्वारा] इस पंचभूतात्मक शरीर की घोर हिंसा करता है तब कहीं वह पावन प्रज्ञा को प्राप्त करता है। संन्यासी भी माता-पिता, स्त्री, पुत्र और मित्र को त्यागकर [मानो उनकी] हिंसा करता रहता है और उनके शरीर को [विरहाग्नि में] जलाता रहता है।

बनिकहु निज भंडार भराई। अन्न साक फल करत सहाई॥
ता हित बिष सम औषधि डारत। निर्दय होइ कृमी बहु मारत॥

व्यापारी भी अपने भण्डार को, 'अन्न, शाक, फल, सब्जी आदि' से भरकर उसकी सुरक्षा करता रहता है। उसके लिए वह विष के समान औषधि डालता है। इस प्रकार निर्दयी होकर असंख्य कीड़े-मकोड़ों को मारता रहता है।

दोषयुक्त पितु धर्म बखानउँ। जस सुरगुरु सम जनकहिं जानउँ॥
कचहिं बुलाय कहे गुरुदेवा। जा बन प्रभु हित करु तप सेवा॥

हे पार्थ! पिता का धर्म भी दोषयुक्त ही है। जैसा कि देवगुरु बृहस्पति जैसे पिता को मैं जानता हूँ। देवगुरु ने [अपने पुत्र] कच को बुलाकर कहा- हे पुत्र! भगवत् प्राप्ति के निमित्त वन में जाकर तप करो।

मातु बिकल भइ सुनि पति बानी। पर पितु धरम सुनत हरषानी॥
दोषयुक्त तस माँ कर कर्मा। ध्रुव बन भेजि पढ़ाइ स्वधर्मा॥

अपने धर्मपति की बात सुनकर [कच की] माँ विकल हो गयी किन्तु उनके द्वारा पितृधर्म को सुनने पर वह बुद्धिमती हर्षित हो गयी। उसी प्रकार माँ का कर्म भी दोषयुक्त है, जैसा कि माँ सुनीति ने स्वधर्म का पाठ पढ़ाकर ध्रुव को वन भेज दिया।

दोहा— पितु उत्तानपाद सुनि निसदिन बहु बिकलायँ।
लग्यो न जननिहिं दोष कछु ऐसो संत सुनायँ॥ ४२॥

ऐसा सुनकर पिता उत्तानपाद दिन-रात अत्यन्त विकल होते रहे किन्तु माँ सुनीति को अंशमात्र भी दोष नहीं लगा- ऐसा सभी सन्त कहते हैं।

चौपाई— दोषयुक्त सुत कर्महु भाई। जेहि प्रहलाद गहे हरषाई॥
पितु आयसु ते कबहुँ न ध्याये। अपितु प्रभुहिं सों बध करवाये॥

हे प्रिय! पुत्र का कर्म भी तो दोषयुक्त ही है जिसे प्रह्लाद ने प्रसन्नतापूर्वक धारण कर रखा था। उन्होंने पिता की आज्ञा तो कभी स्वीकार नहीं की अपितु भगवान से उनका वध ही करवा दिया।

नारिहु कर्मन्हि दोषयुक्त सुनु। गोपिन्ह करनी निज मति महँ गुनु॥
निज पति लखि मम बिमुख सयानी। त्यागि उनहिं मो संग परानी॥

और भी सुनो- स्त्री का कर्म भी दोषयुक्त ही है। इसके लिए गोपियों की करतूत का अपनी बुद्धि में चिन्तन करो। जो इतनी बुद्धिमान थीं कि अपने-अपने पति को मुझसे विमुख हुआ देख, उन्हें त्यागकर मेरे साथ हो गयीं।

सदन स्वधर्महिं अस अनुरागे। निज कुल बधिक करम नहिं त्यागे॥
तेहि सों पाये आध्यात्मिक मति। अंत त्यागि तन लहे परम गति॥

भक्त सदन कसाई ने भी स्वधर्म का परित्याग नहीं किया अपितु बधिक के कर्म को ही अत्यन्त कुशलतापूर्वक करते रहे तथा उसी के द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक बुद्धि प्राप्त कर ली और अन्त में शरीर त्यागकर परमगति प्राप्त की।

दोष युक्त सुनु भगत करमहू। नृप बलि जानत जाहि मरमहू॥
गुरू सुक्र कर बचन न माने। हरि सों अपुनें आपु लुटाने॥

[हे धनञ्जय!] सुनो! भक्त का भी कर्म दोषयुक्त है जिसके मर्म को राजा बलि [भलीभाँति] जानते हैं। उन्होंने कुलगुरु शुक्राचार्य का कहना नहीं माना और भगवान के सामने अपने आपको स्वयं से लुटा दिया।

दोहा— दोष युक्त नृप कर्महू जेहि लखि तू बौराय।
ताहि करम सुत सों भिरे मातामह हरषाय॥ ४३॥

वैसे ही राजा का कर्म तो दोषयुक्त है ही जिसे देखकर तुम विक्षिप्त हो गये हो, जबकि उसी कर्म के द्वारा मेरे नाना [महाराज उग्रसेन] अपने पुत्र कंस से प्रसन्नतापूर्वक संग्राम कर बैठे।

चौपाई— ये सब भये परम बड़भागी। रहे जे जग महँ होइ बिरागी॥
इननैं गहि स्वधर्म नित भाई। प्रगट किये तासों हरिराई॥

हे सज्जनो! ये सभी भक्त परम सौभाग्यशाली हुए हैं जो जगत में परम अनासक्त होकर रहे तथा इन्होंने भी सदा उसी स्वधर्म को ग्रहणकर ईश्वरों के ईश्वर भगवान को प्रकट कर लिया-

तेहि कृपालु सों बर बरदाना। आतमज्ञान लहे जग जाना॥
तेउ किये अध्यातम चिंतन। प्रथमहि गहे सुगम हरि किरतन॥

और उसी कृपालु भगवान से आत्मज्ञानरूपी श्रेष्ठ वरदान प्राप्त कर लिया जिसे सारा जगत जानता है। उन्होंने भी आध्यात्मिक चिन्तन ही किया जिन्होंने प्रथमावस्था में सुगम साधन हरिकीर्तन स्वीकार किया था।

आत्मरूप महँ रहनो भाई। जदपि स्वधर्म अहइ सुखदाई॥
काहे कै निज मौलिक रूपा। सुद्ध साक्षि चैतन्य अनूपा॥

हे प्रिय! यद्यपि आत्मस्वरूप में विचरण करना ही सबका सुखद स्वधर्म है, क्योंकि अपना मौलिक स्वरूप तो शुद्ध, साक्षी, चैतन्य एवं उपमारहित है,

पर अनात्म बृत्ती अस आई। जासों आतम बृत्ति नसाई॥
यासों देह जाति के कर्महिं। नाम देउँ सच जान स्वधर्महिं॥

किन्तु [हृदय में] ऐसी अनात्मवृत्ति प्रकट हो गयी है जिससे आत्मवृत्ति [मैं ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ] नष्ट-सी हो गयी है। इसी कारण मैं शरीर और जाति के कर्म को भी स्वधर्म की संज्ञा दे रहा हूँ, इस बात को तुम सच जानो।

दोहा— परम मुदित मन सेवत निज धर्महिं यति भाइ।
अध्यातम सिधि पाय किमि याहि सुनहु हरषाइ॥ ४४॥

हे प्रिय! अब अत्यन्त प्रसन्न मन से संन्यासयोगी स्वधर्म का पालन करता हुआ आध्यात्मिक सिद्धि कैसे प्राप्त करता है, तुम इसे प्रेमपूर्वक सुनो-

मासपारायण, उनतीसवाँ विश्राम

चौपाई— सुत तिय देह सगे समुदाई। ममता होय जहाँ अधिकाई॥
तिन्हसेउ होय राग उर नाहीं। अन्तःकरण सु निज बस माहीं॥

पुत्र, स्त्री, शरीर एवं सगे-सम्बन्धियों के समुदाय जिनमें ममता अधिक होती है, उनके प्रति भी हृदय में आसक्ति न हो, अन्तःकरण अच्छी प्रकार अपने वश में हो जाय-

देह प्रान भोगहु सब जावे। याकोहु चिंता नाहिं सतावे॥
अस ज्ञानी संन्यासयोग गहि। जग बिचरत नैष्कर्म्य सिद्धि लहि॥

और शरीर, प्राण एवं समस्त विषय-भोग नष्ट हो जायँ तो भी उसे इनकी चिन्ता नहीं सताये, ऐसा ज्ञानी पुरुष संन्यासयोग धारण करके नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त कर जगत में विचरण करता रहता है।

उत संजय धृतराष्ट्र सुनाये। जो नैष्कर्म्य सिद्धि हरि गाये॥
पर उन्हकी मति समुझ न पाई। संजय निरखत नभ हरषाई॥

उधर भगवान ने जो नैष्कर्म्यसिद्धि की बात बतायी, उसे सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को सुनाया, किन्तु उनकी बुद्धि समझ नहीं पायी। उसी समय प्रसन्न मन से सञ्जय आकाश की ओर देखने लगे-

तहँऊ होत यहइ संबादा। जामें उभर्‌यो कछुक बिबादा॥
कोउ कह ब्रह्म ज्ञानमय अहई। सो यति बनि साधन क्यों गहई॥

क्योंकि वहाँ [आकाश मण्डल में सिद्धों एवं देवताओं आदि के मध्य] भी यही संवाद छिड़ा हुआ है जिसमें कुछ विवाद भी प्रकट हो गया है। कोई कहता है कि ब्रह्म तो स्वयं ज्ञानमय है, वह संन्यास लेकर साधना क्यों करेगा?

दोहा— कोउ कह माया जे गह्यो ता कहँ छोरन हेत।
होय यती साधन गहे जासों नित निज चेत॥ ४५॥

[प्रत्युत्तर में] कोई कहता है कि 'जो उसने माया स्वीकार कर ली है उसी को त्यागने के लिए वह संन्यासी होकर साधना धारण करता है जिससे सदा अपने स्वरूप का स्मरण करता रहे।'

चौपाई— कोउ कह हँसी आय सुनि बानी। सुद्ध साक्षि सो जाय बखानी॥
कबहुँ न भयो देह मन प्राना। तजि सो केहि काहि कर ध्याना॥

कोई कहता है कि 'ऐसी बात सुनकर तो हँसी आ रही है। अरे! वह [ब्रह्म] तो शुद्ध-साक्षी कहा जाता है! वह कभी भी शरीर, मन एवं प्राण तो हुआ नहीं, अत: वह किसको त्यागकर किसका ध्यान करे?'

कोउ कह निज माया उपजाई। मकरी सम तहिं गयो भुलाई॥
सोइ प्रमाद त्यागन्ह हित साधो। यति बनि साधन करत अबाधो॥

कोई कहता है कि वह अपनी माया को प्रकट कर मकड़ी की भाँति उसी में भूल गया है। अत: हे साधुजन! उसी प्रमाद को त्यागने के लिए वह संन्यासी बनकर अबाधगति से साधना करता है।

कोउ कह मेरो मन नहिं माना। यह कस बिभु बिसर्‌यो निज ज्ञाना॥
बिस्मृत भयों कहत अस कोऊ। ताकी तो कछु औषधि होऊ॥

कोई कहता है कि मेरा मन इस बात को नहीं मानता! क्योंकि यह ब्रह्म कैसा है, जो अपने आपको भूल जाता है? तभी किसी अन्य सिद्ध ने कहा कि यदि कोई कहता ही है कि मैं भूल गया हूँ फिर उसका भी तो कुछ उपाय होगा ही!

ब्रह्महु याचक बनि जब आवै। दरवाजे पर अलख जगावै॥
बलि सम देवहुगे तुम्ह भिच्छा। किधौं कहउ तुम्ह पूरण इच्छा॥

अरे! जब ब्रह्म भी याचक बनकर आ जाय और दरवाजे पर अलख जगाये (भिक्षा माँगे) तो आप राजा बलि की तरह भिक्षा तो देंगे ही; या कह देंगे कि आप तो पूर्णकाम हैं!

दोहा— तस कोउ साधन साध्य नहिं अरु कोउ आय न जाय।
एहि सों प्रभु लीला लखहु जासों भरम नसाय॥ ४६॥

उसी प्रकार यहाँ पर कोई न साधन है और न कोई साध्य है, न ही कोई आता है, न जाता है। अत: [आप] भगवान की लीला का दर्शन करें जिससे अज्ञान का नाश हो जाय!

चौपाई— संजय लखि तेहि सिद्ध चातुरी। सुनन लगे प्रभु गीत माधुरी॥
कह हरि हे अर्जुन तपधारी। निष्क्रिय ब्रह्म सु कहउँ हुँकारी॥

उस सिद्ध की चतुरता को देखकर सञ्जय पुन: भगवान की मधुर वाणी सुनने लगे। प्रभु कह रहे हैं कि हे श्रेष्ठ तप को धारण करने वाले अर्जुन! मैं घोषणा कर रहा हूँ कि ब्रह्म निष्क्रिय है।

छूद्र अहं कर तहँ न गम्यता। सब्द प्रगट तिहिं नैष्कर्म्यता॥
तेहि सों तेहि महँ जग प्रगटावे। क्रीड़त पुनि सो तहइँ समावे॥

वहाँ उस ब्रह्म में क्षुद्र अहंकार [मैं कर्ता हूँ] की पहुँच नहीं है, इसी से उसमें नैष्कर्म्य शब्द प्रकट हुआ। यद्यपि उसी के द्वारा उसी में सारा जगत प्रकट हुआ है तथा क्रीड़ा करते हुए पुन: उसी में विलीन हो जाता है-

तउ न कहत कबहूँ हौं कर्ता। जदपि सोइ भर्ता कर भर्ता॥
ऐसोइ भगत होय जब मेरो। पल महँ माया जाइ घनेरो॥

तो भी वह कभी नहीं कहता कि मैं ही कर्ता हूँ जबकि वही सबका भरण-पोषण करने वालों (देवी-देवता, तंत्र-मंत्र, व्रत एवं तप) का भी भरण-पोषण करने वाला है। जब मेरा भक्त भी इसी प्रकार का हो जाता है तो पल भर में [उसके लिए] घनीभूत माया का नाश हो जाता है।

महाराज सों रहि नहिं जाये। प्रभु की महिमा बिनहिं बताये॥
एहि हित तव बिच आयों संता। बरनउँ जस गुन रूप अनंता॥

महाराज से भी भगवान की महिमा बताये बिना रहा नहीं जा रहा है। इसलिए हे सन्तो! आपके बीच आ गया हूँ और भगवान का जैसा रूप और गुण है, उसे बता रहा हूँ।

दोहा— जग महँ छबि जहँ जहँ बसति तहँ तहँ सों सब लाइ।
रच्यो जाय कोउ दिब्य सुर प्रभु पहिं देउ बिठाइ॥ ४७ (क)॥

जगत में जहाँ-जहाँ सुन्दरता वास करती है वहाँ-वहाँ से उस सम्पूर्ण सुन्दरता को लाकर किसी दिव्य देवता की रचना की जाय तथा उसे भगवान के सम्मुख बिठा दिया जाय तो-

हरिपग धूरि समान सोउ अल्पहु नाहिं सुहाइ।
पुनि तुलना हरि छबिहिं जग कासों सम्भव भाइ॥ ४७ (ख)॥

उसकी छवि भी भगवान की चरण धूलि के सामने अंशमात्र भी शोभित नहीं होगी, फिर हे महात्माओ! उन प्रभु की ऐसी दिव्य छवि की तुलना किससे सम्भव है।

चौपाई— तउ न अहउँ अतिसुंदर कहई। यासों पूर्ण सो निष्क्रिय अहई॥
प्रभु बानी महँ अस मधुराई। जाकी उपमा दियो न जाई॥

तो भी वह [परब्रह्म परमात्मा यह] नहीं कहता कि मैं ही सबसे सुन्दर हूँ, इसी से वह सर्वथा निष्क्रिय कहा जाता है। भगवान की वाणी में भी ऐसी मधुरता है कि उसकी कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती।

यासों प्रगटि सो बंसि बजावत। स्वयं समझ निज गिरा छिपावत॥
तउ तेहि सुनत गोपि अरु ग्वाला। जग सुधि बुधि तजि होयँ बेहाला॥

इसी से तो वह प्रकट होकर बाँसुरी बजाने लगा, मानो अपनी समझ से वह अपनी दिव्य वाणी को छिपाने का प्रयास कर रहा हो, किन्तु उसे भी सुनते ही गोप और गोपियाँ जगत की सुध-बुध खोकर अपनी दशा ही भूल गयीं।

सुने जे अबलौं ताकी बानी। उन्हके उर तम निसा नसानी॥
सोइ जग भगत संत कहलाये। प्रभु बानी ते कछु बतलाये॥

उस प्रभु की वाणी को अब तक जिन लोगों ने सुना है उन लोगों के हृदय की मोहरूपी रात्रि का नाश हो गया है और इस जगत में उन्हें ही भक्त तथा सन्त कहा गया है तथा भगवान की वाणी [के मर्म] को वे ही कुछ बता पाये हैं।

तउ मैं ही एक बानी वारो। कहत नाहिं अस निष्क्रिय सारो॥
बुद्धि बिसारद जे जग माहीं। भये अहहिं अरु आगे आहीं॥

तो भी वह यह नहीं कहता कि एकमात्र मैं ही वाणी वाला हूँ, वह ऐसा सम्पूर्ण निष्क्रिय है। उसी प्रकार जो जगत में महत् बुद्धिमान हो गये हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे,

दोहा— ब्रह्मबुद्धि की दक्षता कर न अंस तिन्ह माहिं।
तउ नहिं अहं मतित्व कर अस निष्क्रियता ताहिं॥ ४८॥

उस ब्रह्म की बुद्धि की अंशमात्र भी दक्षता उन बुद्धिमानों में नहीं है; तो भी उस (ब्रह्म) में बुद्धिमत्ता का अहंकार नहीं है, उसकी ऐसी निष्क्रियता है।

चौपाई— सृष्टि असंख्य असंख्य कुबेरा। तिन्हहिं कोष महँ द्रब्य घनेरा॥
सब मिलि एकहु अंस न पूरें। प्रभु निधि सों ते अतिहिं अधूरें॥

असंख्य सृष्टियाँ हैं और असंख्य कुबेर हैं तथा उनके कोषागार में अपरिमित सम्पत्ति भरी हुई है, किन्तु वे सब मिलकर भी प्रभु की सम्पत्ति का एक अंश भी पूरा नहीं कर सकते। अत: भगवान की सम्पत्ति की अपेक्षा वे असंख्य गुना अधूरे हैं।

निधि भराय सोउ प्रभु सों भाई। जो कुबेर धन जाय कहाई॥
तउ सम्पति कर गरब न काहू। ब्रह्म सो निष्क्रिय अस पतियाहू॥

वह निधि भी जो कुबेर की सम्पत्ति कही जाती है भगवान के द्वारा ही भरी जाती है। तो भी आप विश्वास करें कि वह ब्रह्म ऐसा निष्क्रिय है कि उसे सम्पत्ति का अंशमात्र भी गर्व नहीं है।

आसुतोष सिव बिष्णु बिधाता। भक्तन्हि मनवांछित बरदाता॥
आदि भगवतिहु बहु बपु धारी। जुग जुग प्रगटि असुर संघारी॥

उसी प्रकार सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा, विष्णु, महेश भक्तों को उनके इच्छानुसार वरदान देने वाले हैं। आदिशक्ति भगवती दुर्गा ने भी युग-युग में बहुत से रूपों में प्रकट होकर असुरों का संहार किया है।

इन महँ सक्ति अपरिमित लेखउँ। पर प्रभु सम कछु अंस न देखउँ॥
काल कहावत सबके ऊपर। पर बिभु सासन पूरन ता पर॥

इन [समस्त देवी-देवताओं] में मैं अपरिमित शक्ति देख रहा हूँ, किन्तु ब्रह्म की शक्ति की तुलना में उनकी शक्ति को अंशमात्र भी नहीं देख रहा हूँ। काल का सबके ऊपर शासन कहा जाता है किन्तु भगवान का पूर्णरूप से उसके ऊपर भी शासन है।

दोहा— तउ न कहत अस कबहुँ सो देवन्ह देव कहाउँ।
यहि कारन निर्गुन बिभुहिं निष्क्रिय ब्रह्म बताउँ॥ ४९ (क)॥

तो भी वह ऐसा कभी नहीं कहता कि मैं इन देवों का भी देव कहा जाता हूँ, यही कारण है कि मैं निर्गुण ब्रह्म को निष्क्रिय ब्रह्म बता रहा हूँ।

सोरठा— ऐसी सक्ति अथाह तउ न अहम जो उर गहत।
सोइ सब काल अचाह निष्क्रिय ब्रह्म कहाय जग॥ ४९ (ख)॥

ऐसी अथाह शक्ति होने पर भी जो हृदय में अहंकार नहीं करता, वही इच्छारहित पुरुष जगत के अन्तर्गत सब कालों में निष्क्रिय ब्रह्म कहा जाता है।

चौपाई— यहि नैष्कर्म्य सिद्धि जस पावत। सोइ प्रभु गुडाकेस पहिं गावत॥
पार्थ बिमल मति सों धृति धारी। संयम करि तन बिषय निवारी॥

जिसप्रकार यह नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है, उसी को भगवान महात्मा अर्जुन के पास कह रहे हैं कि हे पार्थ! निर्मल बुद्धि (जिसने निर्णय कर लिया है कि मैं ही ब्रह्म हूँ) के द्वारा धैर्य धारण करके, शरीर को वश में रखते हुए [शब्दादि] विषयों का परित्याग कर दे।

देह रहइ थिर बस एहि लाने। करइ न कोउ काज मनमाने॥
उनमहुँ राग द्वेष नहिं होवे। यति बनि जगत तनहुँ सों खोवे॥

शरीर स्थित रहे, मात्र इसी के लिए विषयों को स्वीकार करे, मनमाना कार्य न करे तथा उन [विषयों] में भी राग-द्वेष न हो। इस प्रकार संन्यास लेकर शरीर से भी जगत का परित्याग कर दे।

बसै सून सरि तट बन माहीं। कै कोउ पर्बत गुफा समाहीं॥
सूक्ष्म खाय नहिं नींद सतावे। तन मन बानिहु कर्म नसावे॥

वह एकान्त नदी के तट पर अथवा किसी पर्वत की गुफा में या वन में वास करे। नींद न आये, अतः हल्का आहार ले और तन, मन, वाणी की क्रियाओं का भी त्याग कर दे।

आत्मरूप चिंतन नित धारे। तामेइ मन लगाय नहिं हारे॥
तंत्र मंत्र जप तपहु बिसारे। कहुँ आनो जानो निरवारे॥

अपने आत्मस्वरूप का ही सदा चिन्तन करे, उसी में मन को लगाये हार न माने। तंत्र, मंत्र, जप एवं तप का भी सर्वथा परित्याग करके कहीं भी आना-जाना त्याग दे,

दोहा— ध्यानयोग कहलाय यहि होइ परायण याहि।
स्वर्ग कामनाहू तजे जो बैराग्य कहाहि॥ ५० (क)॥

यही ध्यानयोग कहलाता है। अतः इसी के आश्रित होकर, [इस लोक के साथ-साथ] स्वर्ग की भी कामना का परित्याग कर दे, जिसे परम वैराग्य कहा जाता है।

तन मद बल मद दर्प मद काम क्रोध मद त्यागि।
ममता मद तजि ध्याय जो सोइ ब्रह्म अनुरागि॥ ५० (ख)॥

इस प्रकार जो शरीर का अहंकार, बल का अहंकार, दर्प का (धर्म का उल्लंघन करने में होने वाला) अहंकार, काम-क्रोध का अहंकार तथा ममता का भी अहंकार त्यागकर जो ध्यान करता है, वही ब्रह्मरूप होता है।

चौपाई— प्रभु अस सिष्य हेतु अस गाई। जामें बल बिराग अधिकाई॥
जो गृह तजि सदगुरु पद सेवे। बिभु तजि कोउ सम्पति नहिं लेवे॥

[महाराज का कहना है कि] हे भाइयो! भगवान ने यह प्रसंग ऐसे शिष्य के लिए कहा है, जिसमें निर्मल वैराग्य की बाढ़ आ गयी हो, जो गृहस्थाश्रम का त्याग करके सद्गुरु के चरणों की सेवा में लगा हो परन्तु स्वप्न में भी उनसे [ब्रह्म को छोड़कर अन्य] कोई सम्पत्ति स्वीकार न करता हो।

गुरु लखि ताकर महत बिरागा। नित्य सराहत तेहि सौभागा॥
अधिकारी लखि ताहि सुजाना। ताहि देइ बर आतमज्ञाना॥

सद्गुरु उसके महत् वैराग्य को देखकर सदा उसके सौभाग्य की प्रशंसा करते हैं। वे उस परम बुद्धिमान को अधिकारी समझ उसे आत्मज्ञान का वरदान देकर,

परमहंस परिब्राजक दिक्षा। तेहि अनुरूप सकल दै सिक्षा॥
भेजत कहुँ एकांत हरषाई। अस सिधि गह नैष्कर्म्य सुहाई॥

परमहंस परिव्राजक की दीक्षा तथा उसी के अनुरूप [साधन और व्यवहार की] समस्त शिक्षा देकर अत्यन्त प्रसन्न मन से कहीं एकान्त में भेज देते हैं। इस प्रकार वह दिव्य नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर जाता है।

कोउ न करे अस देखा देखी। नाहिं बघारे आपुनि सेखी॥
आपैं आपु न लख अधिकारी। यहि मद कह्यो जाय अति भारी॥

इस प्रकार कोई भी [सद्गुरु के पास उपरोक्त साधना की] देखा-देखी न करे और न ही अपना बड़प्पन दिखाये। स्वयं से ही स्वयं को ऐसा अधिकारी न समझ ले क्योंकि यही तो सबसे बड़ा अहंकार कहा जाता है।

दोहा— करत रहै गुरु चाकरी आपुहिं जो मिलि जाय।
तजि प्रमाद अरु मान मद जासों प्रभु हरषाय॥ ५१॥

अत: सद्गुरु द्वारा अपने-आप जो सेवा मिल जाय, उसे प्रमाद, अभिमान और अहंकार का परित्याग करके करता जाय, जिससे गुरुदेव प्रसन्न हो जायँ।

चौपाई— उत अर्जुन सों कहत दयानिधि। बहुरि सुनहु एहि ध्यानयोग सिधि॥
पावत सो अध्यात्म प्रसादा। जासों जाये सकल बिसादा॥

उधर महात्मा अर्जुन से दयानिधि भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! पुन: तुम इस ध्यानयोग का [और भी] फल सुनो। वह [ध्यानयोगी] अध्यात्मरूपी प्रसाद प्राप्त कर लेता है जिससे उसके समस्त शोक-सन्ताप नष्ट हो जाते हैं।

पुनि संताप करत कहुँ नाहीं। हानि न मानत सपनेहुँ माहीं॥
मन से कछु नहिं चाहत जग सों। सुर डिगायँ पर डिगत न मग सों॥

फिर वह कभी भी सन्ताप नहीं करता क्योंकि वह स्वप्न में भी अपनी कुछ क्षति [हुई है- ऐसा] नहीं मानता तथा वह मन के द्वारा भी जगत से कुछ नहीं चाहता। देवताओं के द्वारा प्रलोभन देने पर भी वह अपने मार्ग से विचलित नहीं होता।

अष्ट सिद्धि नवनिधि कर जोरें। सन्मुख रहतिं न चितवत भोरें॥
सब कर दुख सुख निज करि मानत। कोउ सताय पर खेद न आनत॥

अष्टसिद्धियाँ एवं नवनिधियाँ उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं किन्तु वह भूलकर भी उनकी ओर नहीं देखता, सबके सुख-दु:ख को अपने ही सुख-दु:ख के समान समझता है तथा किसी के द्वारा कष्ट देने पर भी दु:खी नहीं होता।

सुख महँ सुखि न होय सो भक्ता। तइँ कहुँ नहिं होवे आसक्ता॥

वह भक्त सुख प्राप्त होने पर भी सुखी नहीं होता, इसी से वह कहीं भी आसक्त नहीं हो पाता।

सोरठा— सुख दुख मान अमान दै रिझायँ प्रभु अस लखत।
यासों कर गुनगान ताहि होय अस चरित बर॥ ५२॥

वह ऐसी दृष्टि रखता है कि भगवान सुख-दुःख, मान-अपमान देकर रिझा रहे हैं, इसीलिए उनका गुणगान करता रहता है- उसका ऐसा दिव्य स्वभाव हो जाता है।

चौपाई— एक बार नारद मुनि जाई। गहे बिरंचि चरन हरषाई॥
पूछे प्रभु संन्यास बड़ाई। आगम निगम किये अधिकाई॥

एक बार देवर्षि नारद ने जाकर प्रसन्नतापूर्वक ब्रह्माजी के चरणों में प्रणाम किया और पूछा- हे प्रभो! वेद-पुराणों ने संन्यास की बहुत प्रशंसा की है,

का स्वरूप कहु तेहिकर ताता। जो नैष्कर्म्य सिद्धि कर दाता॥
बोले मुनि सों हरषि बिधाता। बर नैष्कर्म्य सिद्धि जो दाता॥

हे तात! उस संन्यास का स्वरूप क्या है, जो नैष्कर्म्यसिद्धि को देने वाला है। तब मुनिवर नारद से ब्रह्माजी ने हर्षित होकर कहा- जो इस श्रेष्ठ नैष्कर्म्यसिद्धि को देने वाला है,

अस संन्यास लेइ गृह त्यागे। गुरु पहिं जाइ ब्रह्म अनुरागे॥
तिन्ह सेवे बटु नियम संग तहिं। तेहि बदले उनसों कछु लै नहिं॥

[ब्रह्म का प्रेमी साधक] ऐसा संन्यास लेकर घर-बार छोड़ दे और सद्गुरु के पास जाकर परमार्थ में मन लगावे। वहाँ पर वह ब्रह्मचारी के आठ अंगों (नियमों) के साथ उन गुरुदेव की सेवा करे, उसके बदले उनसे कुछ भी न ले।

बटुक धरम पालत सिधि आवहिं। दिब्य बिषय दिखाइ ललचावहिं॥
पर नहिं गहै बिघन गुनि तिन्हहीं। गुरु तब तेहि आपुनि सच चिन्हहीं॥

ब्रह्मचारी के धर्म का पालन करने से सिद्धियाँ प्रकट होंगी और दिव्य विषय दिखाकर लोभ-लालच में डालना चाहेंगी, किन्तु साधक यदि अपने मार्ग का विघ्न समझकर उन्हें स्वीकार नहीं करे तो गुरुदेव यथार्थ में उसे अपना मान लेते हैं।

ब्रह्मज्ञान दैं तब हरषाई। जासों भ्रम सब जाइ नसाई॥
ब्रह्म जीव कर जावे भेदा। जैसो कै सब गावहिं बेदा॥

उसके उपरान्त प्रसन्न होकर उसे ब्रह्मज्ञान दे देते हैं जिससे उसका समस्त संशय-भ्रम नष्ट हो जाता है। उसके हृदय से ब्रह्म और जीव का भेद मिट जाता है जैसा कि समस्त वेद भी कहते हैं।

सदगुरु देहिं तबहिं संन्यासा। अहं ब्रह्म समुझै जब दासा॥

जब वह सेवक यह समझ लेता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ तब गुरुदेव उसे संन्यास दे देते हैं।

सोरठा— लेइ बिमल संन्यास तजे सो प्रिय गुरु आश्रमहिं।
सिधि नैष्कर्म्यहिं आस छुद्र अहं सौंपे उनहिं॥ ५३॥

उसके उपरान्त वह प्रिय गुरु आश्रम से पावन संन्यास लेकर तथा क्षुद्र अहंकार को उन्हें ही समर्पित कर नैष्कर्म्यसिद्धि के लिए चल दे।

चौपाई— सरि गिरि गुहा बिपिन कोउ भाई। किहिं तरु तर किहिं खँडहर जाई॥
कै जन सून्य देवालय माहीं। कै एकांत कोउ कुटि महँ जाहीं॥

हे प्रिय नारद! किसी नदी के तट पर, पर्वत की गुफा में, वन में किसी वृक्ष के नीचे, किसी खण्डहर में अथवा किसी एकान्त देवालय या कुटी में जाकर-

तहिं बसि कीट भृंग की नाँई। आत्मरूप नित ध्यानै भाई॥
अपुनै आपु मिले लघु खावे। ग्राम नगर कबहूँ नहिं जावे॥

वहीं वास करता हुआ भृंगी कीड़े की तरह अपने आत्मरूप का सदा ध्यान करे। अपने आप जो कुछ भी मिल जाय उसे थोड़ा खा ले, ग्राम-नगर में कभी न जाय।

रहै अकेले काहु न राखे। कछु काहू सों कबहुँ न भाषे॥
जो पट जीर्ण सीर्ण मिलि जावे। लोक लाज हित तनहिं ढकावे॥

अकेले रहे, साथ में किसी को न रखे तथा किसी से कभी कुछ भी न बोले। जो पुराना, फटा-चीटा वस्त्र मिल जाय उससे लोक मर्यादा के कारण शरीर ढक ले।

सिर कर केस सँवारे नाहीं। कछु दिन माहिं जटा बँधि जाहीं॥
नाँव गाँव परदेस दुराई। देह गेह स्वजनन्हि बिसराई॥

बालों में कंघी न लगावे जिससे कुछ दिनो में जटा बँध जायेगी। वहाँ वह अपना नाम, ग्राम, प्रदेश छिपाकर तथा घर, स्वजन के साथ-साथ अपने शरीर की भी चिन्ता न करते हुए-

दोहा— छुधा तृषा सित उष्ण अरु लोभ मोह जे आहिं।
बास करै षट उर्मि सहि जनम मरण मिटि जाहिं॥ ५४ (क)॥

लोभ-मोह, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास इन छः ऊर्मियों को सहन करते हुए वास करे। जिससे उसका जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाय।

पंगु नपुंसक बधिर अरु मुग्ध अजिह्वा अंध।
इनि षट गुन जो यति गहै ताहि छुटै भव बंध॥ ५४ (ख)॥

इस प्रकार पंगु, नपुंसक, बहरा, मुग्ध (जड़), जिह्वारहित और अंधपना इन छः गुणों को जो संन्यासी स्वीकार कर लेता है उसका संसारबन्धन कट जाता है।

चौपाई— योजन एक भ्रमत जो नित प्रति। सो यति कहलावे पंगू अति॥
जो युवतिहिं अति बृद्धा नारी। देखि कबहुँ नहिं होय बिकारी॥

हे मुनिवर नारद! जो संन्यासी नित्य-प्रति एक योजन (चार कोस) ही भ्रमण करता है वह अत्यन्त लँगड़ा कहा जाता है। जो युवती या वृद्धा स्त्री को देखकर कभी विकारी नहीं होता-

सोइ नपुंसक नारद साँचो। ताहि न एहि जग कहुँ कछु आँचो॥
बात अहित कीधौं हितकारी। सुनत दुखद कीधौं सुखकारी॥

हे नारद! सत्य में वही नपुंसक है, इस जगत में उसके ऊपर कोई भी आपत्ति-विपत्ति नहीं आ सकती। कोई भी बात हितकर हो या अहितकर , सुनने में दुख देने वाली हो या प्रीतिकर-

सुनि अनसुनी करत मुनिराई। संतन्ह महँ सोइ बधिर कहाई॥
सम्मुख बिषय देह महँ सक्ती। इंद्रिं बली तउ अहइ बिरक्ती॥

जो मुनिश्रेष्ठ सुनकर भी अनसुना कर देता है सन्तों के मध्य वही बहरा कहा जाता है। सामने सुन्दर विषय उपस्थित है, शरीर में शक्ति भी है, इन्द्रियाँ बलवान हैं तो भी उनसे विरक्ति (उदासीनता) है अर्थात्-

सुप्त पुरुष इव बिषय न भावत। सोइ यती अति मुग्ध कहावत॥
जो न प्रसंसहिं काहु अहारहिं। निंद न ताहि अजीह उचारहिं॥

जिसे सोये हुए पुरुष के समान विषय अच्छे नहीं लगते, वही संन्यासी अत्यन्त जड़ कहा जाता है। जो न किसी आहार की प्रशंसा करता है, न निंदा करता है, उस संन्यासी को जिह्वा से हीन कहा जाता है।

खड़ो रहै कै बिचरत भारे। दसम हस्त बस भूमि निहारे॥
इत उत कबहुँ न देखइ जोई। मुनिवर साँच अंध यति सोई॥

जो खड़ा रहे या विशेष चल रहा हो, उस समय दस हाथ तक की भूमि को ही देखता है, इधर-उधर कभी भी नहीं देखता, हे मुनिवर नारद! वही संन्यासी सच में अन्धा कहा जाता है।

दोहा— करै न काहुहिं नमन सो सत्कारै नहिं कोउ।
साधु सुबिज्ञ सुहृद सुभग कै नृप आवे तोउ॥ ५५॥

भले ही कोई साधक, विद्वान, सुहृद, श्रेष्ठ पुरुष या राजा ही क्यों न आवे, वह न किसी को प्रणाम करता है और न किसी का सम्मान ही करता है।

चौपाई— यति उपबीत सिखा दोउ त्यागे। ज्ञान जनेउ सिखा सों रागे॥
ब्रह्म सूत्र ब्यापक मुनि योई। जेहि महँ जग मणि अहइँ पिरोई॥

संन्यासी जनेऊ (उपवीत) और शिखा (चोटी) दोनों को त्याग दे और ज्ञानरूपी जनेऊ एवं शिखा से प्रेम करे। हे मुनिवर! यह व्यापक ब्रह्म ही सूत्र है जिसमें जगतरूपी मणियाँ गुँथी हुई हैं।

अस न बिलग यति ज्ञान सिखाहू। सोइ सिखाधारी पतियाहू॥
सरिता तैरि न उतरै पारा। तरुहिं चढ़ै नहिं पातक भारा॥

इस प्रकार जो संन्यासी ज्ञानरूपी शिखा से पृथक् नहीं है वही सच्चा शिखाधारी है, ऐसा विश्वास करो। वह नदी को तैर कर पार न करे, वृक्ष पर न चढ़े, क्योंकि ऐसा करना बड़ा भारी पाप है।

सिधि नैष्कर्म्य मिलै नहिं जबलौं। उपदेसक न बनै सो तबलौं॥
आतमचिंतन तजि कोउ कर्मा। करत कोउ तो योइ अधर्मा॥

जबतक नैष्कर्म्यसिद्धि न प्राप्त हो जाय तबतक वह कभी भी उपदेशक (प्रवचनकर्ता) न बने। आत्मचिन्तन को छोड़कर अन्य कोई भी कर्म करता है तो यही अधर्म है।

तंत्र मंत्र सुर आहुति त्यागी। गहे आत्मचिंतन बैरागी॥

वह वैराग्यवान संन्यासी तंत्र, मंत्र, देवता के निमित्त हवन, यज्ञ आदि त्यागकर एकमात्र आत्मचिन्तन को ही स्वीकार करे।

दोहा— आतमचिंतन ताहिकर जप तप सुर आहूति।
सोइ जोग सोइ ध्यान बर सोई परम बिभूति॥ ५६ (क)॥

उसका आत्मचिन्तन ही जप, तप एवं यज्ञ है, वही योग, वही श्रेष्ठ ध्यान और वही परम विभूति है।

बिमल भक्ति सोइ ताहि हित सोइ भोजन बिश्राम।
दान मान अस्नान सोइ सोइ परम सुचि धाम॥ ५६ (ख)॥

वही उसके लिये विमल भक्ति है, वही भोजन और विश्राम है, वही दान, मान, स्नान और वही परम पवित्र वासस्थान है।

चौपाई— अस सुभाउ सब देखि सिहाहीं। तइँ सो भावत प्रभु उर माहीं॥
पराभक्ति याको फल पावत। जासों सर्ब ब्रह्म अनुभावत॥

[उसका] ऐसा स्वभाव देखकर सभी प्राणी अत्यन्त मुग्ध हो जाते हैं, इसलिए वह ब्रह्म के हृदय को अत्यन्त प्रिय लगने लगता है। इसी के फलस्वरूप वह पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है, जिससे सब ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है।

अहइ पार्थ मन समुझे जोई। ज्ञानी भगत कहावत सोई॥
ज्ञान नयन सों जहँ तहँ देखत। ब्रह्म बिना कहुँ कछु नहिं लेखत॥

हे पार्थ! अपने मन में समझ लो कि [जगत में] जो ज्ञानी भक्त कहा जाता है, वही एक ऐसा है कि ज्ञानरूपी नेत्रों से जहाँ भी देखता है, उसे अपने सम्मुख ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दिखायी पड़ता।

परा भक्ति लहि अहऊँ जैसो। जितनो हौं सो जानत तैसो॥
सिद्ध बंदि सुर कह प्रभु कैसो। याहि बतावउ केहिके जैसो॥

इस पराभक्ति को प्राप्तकर मैं जैसा और जितना हूँ, वह वैसा का वैसा समझ लेता है। तब एक सिद्ध की वन्दना करके देवताओं ने कहा कि हे प्रभो! वह (ब्रह्म) कैसा और कितना है तथा यह भी बतायें कि किसके जैसा है–

पराभक्ति सों जाहि सो जानत। पुनि अपुनें उर कछु नहिं आनत॥
हँसि कह सिद्ध उपाधी कारन। जानत सो नाना निर्धारन॥

जिसे वह पराभक्ति से जानता है, उसके उपरान्त अपने हृदय में उसके अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं करता। तब सिद्ध ने हँसकर कहा कि वह जान लेता है कि उपाधि के कारण ही नानात्व का निर्धारण किया गया है।

दोहा— अहउँ ब्याप्त सब देह महँ जिमि सब घट नभ होय।
आवहिं जाहिं उपाधि बरु मोमें गेह न कोय॥ ५७॥

जैसे समस्त घड़ों में एक ही आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार सभी शरीरों में [समान रूप से] मैं ही व्याप्त हूँ। अत: उपाधियाँ आयें या जायँ किन्तु मुझमें तो कोई भी शरीररूपी घर [अर्थात् उपाधि] है ही नहीं।

चौपाई— अजहूँ मैं उत्तम महँ उत्तम। बेद बिदित मैं ही पुरुषोत्तम॥
समुझि जाय क्षेत्रज्ञ अहउँ मैं। सरणागत कर पाप दहउँ मैं॥

आज भी उत्तमों में उत्तम, वेदों में विख्यात पुरुषोत्तम मैं ही हूँ। वह यह भी जान जाता है कि क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ तथा मैं ही शरणागत भक्तों के पापों का नाश करने वाला हूँ।

हौं अक्लेद्य अदाह्य असोसा। नित्य अछेद्य सर्ब निर्दोसा॥
अजर अमर हौं सत्य सनातन। अब्यय अबिनासीहु पुरातन॥

वह जान जाता है कि मैं ही अक्लेद्य, अदाह्य और अशोष्य हूँ, नित्य, अच्छेद्य और सम्पूर्णता से निर्दोष हूँ; अजर, अमर, सत्य, सनातन, अव्यय, अविनाशी और पुरातन हूँ।

ब्रह्म जीव कर भेद नसावे। जहँ चितवत निज रूप लखावे॥
मैं तू मम तव जाय कलपना। जो बस माया केरि जलपना॥

जिससे उसके हृदय में ब्रह्म और जीव का भेद मिट जाता है तथा जहाँ भी देखता है उसे अपना ही स्वरूप दिखायी पड़ता है। 'मैं-तू, मेरा-तेरा' का विचार चला जाता है, जो माया का प्रलापमात्र है।

द्रष्टा दर्सन दृस्यहु एका। होयँ लख्यो जिन्हिं पूर्ब अनेका॥
हरि दरसनहु कहावत योई। अस प्रसाद पावत जग सोई॥

उसके लिए द्रष्टा, दर्शन और दृश्य एक ही हो जाते हैं, जिन्हें वह पहले भिन्न-भिन्न देखता था। इसी को ब्रह्म का दर्शन करना कहा जाता है। इस प्रकार का आध्यात्मिक प्रसाद इस जगत में वही प्राप्त करता है।

दोहा— ब्रह्मरूप होइ बिचरत निज पर कोउ अब नाहिं।
परा भक्ति की बिरद अस हे सुर मुनिजन गाहिं॥ ५८॥

[उसके उपरान्त जगत में] वह ब्रह्मरूप होकर विचरण करता है, अब उसके लिए कोई अपना या पराया नहीं रहता। हे देवताओ! पराभक्ति की महिमा को सन्तजन ऐसा ही गाते हैं।

चौपाई— आर्त हरण पुनि उत कह साईं। लखि अर्जुनहिं जननि की नाईं॥
पार्थ भगत जो मम सरणागत। नित मम आयसु महँ अनुरागत॥

उधर आर्तता का हरण करने वाले भगवान ने माँ की तरह देखते हुए पुन: महात्मा अर्जुन से कहा- हे पार्थ! जो मेरा शरणागत भक्त है और जो मेरी आज्ञा का पालन करने में ही प्रीति रखने वाला है-

मम अनुसार करत सब कर्मा। बरु देखन महँ धर्म अधर्मा॥
मम प्रसाद सो पाय परम पद। सास्वत अब्यय परम सांति प्रद॥

तथा जो मेरी आज्ञानुसार समस्त कर्मों को करता है, चाहे वे कर्म देखने में धर्मयुक्त या अधर्म युक्त ही प्रतीत होते हों; वह मेरी कृपा से शाश्वत, अव्यय एवं परम शान्ति को प्रदान करने वाले परम पद को प्राप्त कर लेता है।

सुनि प्रभु कर अस बचन भवानी। महादेव सन चितव सयानी॥
अति आस्चर्य कहति मृदु बानी। नाथ कहत अस प्रभु का जानी॥

भगवान नारायण की ऐसी वाणी को सुनकर अत्यन्त बुद्धिमती भगवती पार्वती ने भूतभावन भगवान भोलेनाथ की ओर देखा और अत्यन्त आश्चर्यचकित हो मधुर वाणी में कहा कि हे नाथ! भगवान क्या सोचकर ऐसी बात कह रहे हैं।

भगत निषिद्ध करम कर कैसे। याहि बतावहु चाहे जैसे॥
अस करि जो तिन्ह करे समर्पित। कहुँ सो होय जाय नहिं गर्वित॥

चाहे जैसे भी हो आप इसे स्पष्ट करके बतावें कि भक्त निषिद्धकर्म कैसे कर सकता है यदि वह ऐसा करके

भगवान को समर्पित कर देता है तो कहीं वह गर्वीला न हो जाय?

दोहा— कर्म निषिद्ध न होय कहुँ बिहँसि कहत सर्बज्ञ।
असुभ करम सोइ करत जेहि मन सों सबरें अज्ञ॥ ५९॥

तब सर्वज्ञ भगवान सदाशिव ने मुस्कराकर कहा- [हे देवि!] कोई भी कर्म निषिद्ध नहीं होता, बल्कि निषिद्धकर्म तो वही है जिसे सारे अज्ञानी अपने मन से करते हैं।

चौपाई— तुम्हहु निषिद्ध कीन्हि मम लाने। पितु के जग्य जरीं जग जाने॥
सो न कहायो आतमघाता। तेहि फल मिलेउ तोहिं यह गाता॥

हे देवि! तुमने भी तो मेरे लिए निषिद्धकर्म कर ही दिया था और पिता के यज्ञ में भस्म हो गयी थी, जिसे सम्पूर्ण जगत जानता है; किन्तु वह आत्मघात नहीं कहा गया और यह उसी [निषिद्धकर्म] का परिणाम है कि तुम्हें यह पावन शरीर प्राप्त हुआ है।

कबहुँ सप्तऋषि अवधहिं आये। अधम बेन नृप मारि गिराये॥
तेहिं भुज मथि प्रगटे पृथु साईं। जासों सब जग गयो जुड़ाईं॥

किसी समय सप्तर्षिगण अयोध्या में आये और वहाँ अधम राजा वेन को [हुंकार भरकर] मार गिराया। फिर उन्होंने उसकी भुजा का मन्थन कर भगवान पृथु को प्रकट कर लिया जिससे सारा जगत पुनः आनन्दित हो गया।

किये निषिद्ध ऋषिहु बहु कर्मा। पर जग हित महँ भयो सुधर्मा॥
निज मातुलहिं बधे यदुराई। तउ नहिं कर्म निषिद्ध कहाई॥

ऋषियों ने भी [बाह्य दृष्टि से देखने में] निषिद्ध कर्म ही किया किन्तु जगत के हित में होने से वह दिव्य धर्म हो गया। स्वयं भगवान यदुनाथ ने भी अपने मामा का वध कर दिया था तो भी वह कर्म निषिद्ध नहीं कहा गया।

सर्बबिदित जे ब्रह्म बिरोधी। अहहिं भगत पंथहिं अवरोधी॥
ते बरु होयँ मातु पितु नारी। सुत गुरु स्वजन सुहृद उपकारी॥

हे देवि! सबको पता है कि जो भगवत् विरोधी हैं और भक्तों के मार्ग में अवरोध पैदा करने वाले हैं, वे भले ही माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुलगुरु, स्वजन एवं उपकार करने वाले सुहृद ही क्यों न हों-

दोहा— तिन्ह लखि कोटिन्ह बैरि सम तजि प्रभु सरने आय।
कर्म निषिद्ध कहाय नहिं एहि फल हरि पद पाय॥ ६०॥

उन्हें करोड़ों वैरियों के समान समझते हुए त्यागकर भगवान की शरण में आ जाय। ऐसे कर्म को निषिद्ध कर्म नहीं कहा जाता अपितु इसका फल होता है कि भगवान का पद प्राप्त हो जाता है।

चौपाई— हरि एहि छन काहे कह याही। पारबती सुनु खोलउँ ताही॥
बुझत निषिद्ध पार्थ रन याहीं। बधनो गुरुहिं पितामह जाहीं॥

हे पार्वती! भगवान इस समय ऐसा क्यों कह रहे हैं, अब मैं उसी को बता रहा हूँ, सुनो- प्रिय अर्जुन, इस युद्ध को निषिद्ध [कर्म] समझ रहे हैं जहाँ पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य जैसों का भी वध करना है।

हरि बाहिनि प्रिय गुरुजन सारे। उन्ह बिरोध ठाढ़े मन मारे॥
तबहिं कहे अस मम भगवाना। अर्पि करै जो सोइ सुजाना॥

[इतना ही नहीं बल्कि भगवान की] नारायणी सेना और प्रिय गुरुजन आदि सभी इनके विरोध में मन मारकर खड़े हैं, इसी से मेरे प्रभु कह रहे हैं कि जो समस्त कर्मों को मुझे समर्पित करते हुए करेगा वही बुद्धिमान है।

देबि न एहि छन नर कोउ अर्जुन। अहहिं जुद्ध जोधा बस मन गुन॥
धर्मयुद्ध बर सूर स्वधर्मा। सन्मुख होय स्वजन बरु सर्मा॥

हे देवि! इस समय जितेन्द्रिय अर्जुन कोई मनुष्य नहीं हैं वे तो युद्ध के योद्धा हैं, मन से एकमात्र यही विचार करो। धर्मयुद्ध करना श्रेष्ठ योद्धा का स्वधर्म है, भले ही उसके सामने स्वजन हों या कोई ब्राह्मण।

जो कहनों चह प्रभु अब यासों। सुनहु देबि हिय हरषे जासों॥

हे देवि! इसलिए अब जो भगवान कहना चाह रहे हैं उसे सुनो, जिससे हृदय आनन्दित हो।

दोहा— उत पुनि प्रभु कह तात सुनु मोरे सरने आइ।
बुद्धियोग गहि मोहिं महँ अहनिसि चित्त लगाइ॥ ६१ (क)॥

उधर भगवान पुनः कह रहे हैं कि हे पार्थ! सुनो, तुम अब मेरी शरण में आकर बुद्धियोग धारण करके रात-दिन मुझमें चित्त को लगाओ।

कहउँ जो बहुरि सुभासुभ करम करहु हरषाइ।
मोरि कृपा दुर्गुण कलिल सहज तरहुगे भाइ॥ ६१ (ख)॥

फिर जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म करने को कहूँ, उसे प्रेम और प्रसन्नता के साथ करो। इस प्रकार मेरी कृपा से ही दुर्गुणरूपी दलदल को सहज ही पार कर जाओगे।

चौपाई— पर तू सोचै अहउँ सयानौं। करउँ न रन इन्हकी नहिं मानौं॥
तबहिं जाएगो अवसि नसाई। मिथ्या अस निस्चय तव भाई॥

किन्तु मैं महाबुद्धिमान हूँ, इनकी नहीं मानूँगा और युद्ध नहीं करूँगा यदि ऐसा सोचते हो तो अवश्य ही नाश को प्राप्त हो जाओगे क्योंकि हे भाई! तुम्हारा ऐसा निश्चय मिथ्या है।

कानन ओर भगेगो जबहीं। कौरव बान चलावहिं तबहीं॥
गुरुजन तोहिं बहुत धिक्कारहिं। करि छिः छिः निज कर सिर मारहिं॥

क्योंकि जैसे ही तुम वन की ओर भागोगे, वैसे ही कौरव [तुम्हारे ऊपर] बाण चला देंगे। ये गुरुजन भी बहुत धिक्कारते हुए छिः-छिः कहकर अपना माथा ठोकेंगे-

काह भयो अस परम बीरहीं। कायरता कस धरम धीरहीं॥
धर्मराज अरु तीनिउ भाई। तुव तजि मो सँग करहिं चढ़ाई॥

कि इस परम वीर को क्या हो गया! इस धैर्यवान धर्मात्मा में यह कायरता कैसे आ गयी? इतना ही नहीं धर्मराज युधिष्ठिर के साथ अन्य तीनों भाई तुम्हें छोड़कर मेरे साथ इन सभी पर धावा बोल देंगे।

छत्रिय प्रकृति तोरि तब जागै। होइ बिबस रन जूझन लागै॥
बँध्यो तु निज सुभाव कर्मन्ह सों। जुद्ध करेगो तेहि धर्मन्ह सों॥

उस समय तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव जाग जायेगा और विवश होकर युद्ध करने लगोगे, क्योंकि तुम अपने स्वाभाविक कर्मों में आबद्ध हो और उसी धर्म से [प्रेरित होकर] तुम युद्ध करने लगोगे।

दोहा— करन चहत नहिं मोहबस मोर कहे रन जाहि।
अवसि करेगो बिबस होइ साँच कहउँ मैं याहि॥ ६२॥

मेरे कहने पर भी तुम जो मोह के वशीभूत होकर युद्ध नहीं करना चाहते हो, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि उसे विवशतावश अवश्य करोगे।

चौपाई— अहउ जितेंद्रिय नींद बिजेता। मानउँ तू तो कामहु जेता॥
पर तैं तो नहिं ईस बिजेता। यासों अबहूँ होउ सचेता॥

[हे पार्थ!] मैं मानता हूँ कि तुम जितेन्द्रिय, निद्राविजयी एवं काम-विजेता हो, परन्तु तुम ब्रह्मविजेता तो नहीं हो! अतः अभी भी सजग हो जाओ।

सोइ ईस्वर सब भूतन्ह माहीं। कठपुतली इव सबहिं भ्रमाहीं॥
तोरेहुँ उर बैठ्यो सो मौनी। सोइ तव सम्मुख अहइ अमौनी॥

वही ईश्वर सभी भूत-प्राणियों में बैठा हुआ कठपुतली की भाँति सभी को नचाता रहता है और वही तुम्हारे हृदय में मौनी होकर बैठा हुआ था, वही तुम्हारे सम्मुख बोलता हुआ खड़ा है।

सो मनाइ लेगो तोहिं भाई। पुनि त्यागेगो समर कराई॥
मायामय जग तब नहिं तरई। पुनि पुनि भवसागर महँ परई॥

हे प्रिय! वह तो तुम्हें मना ही लेगा एवं युद्ध कराकर पुनः तुम्हें त्याग देगा और तब तुम्हें मायामय जगत से छुटकारा नहीं मिलेगा, तुम बारम्बार अपार भवसागर में ही गिरोगे।

तेहि की बिरद सरण जो आवत। ताके हित सो सुनत सुनावत॥
तेहि के काजें देखत सब दिसि। बोलत चाल त जागत अहनिसि॥

[हे पार्थ!] उस ब्रह्म का स्वभाव है कि जो उसकी शरण में आ जाता है, वह उसी के लिए सुनता है और सुनाता है। सारी दिशाओं में उसी के लिए देखता है, बोलता-चालता है तथा रात-दिन जागता है।

सो खिलाइ भक्तहिं पुनि खावे। जननी सम तेहि राख रखावे॥
करत रहत सो भक्त चाकरी। बनत देत नहिं मूढ़ माकरी॥

भक्त को खिलाकर ही वह खाता है तथा माँ के समान उसकी देखभाल करता है। अरे! वह तो भक्त की चाकरी (सेवा) करता रहता है, जगत में उसे मकड़ी के समान मूढ़ नहीं होने देता [जैसे मकड़ी स्वयं जाला बनाती है और उसी में फँसकर विकल होती रहती है]।

छंद— पन जाय ताकर अपुन बरु नहिं भक्त पन कहुँ जाय जू।
ताकेइँ हित सो प्रगटि अहनिसि करत बिबिध उपाय जू॥
मन कर्म बचनहु सों गहहु ताकी सरण हर्षित हृदय।
तेहि की कृपा बर तुम्ह लहौगे सांति पद सास्वत अभय॥

[इतना ही नहीं,] उसकी अपनी प्रतिज्ञा भले ही चली जाय किन्तु वह अपने भक्त की प्रतिज्ञा को विफल नहीं होने देता। वह अपने भक्त के लिए प्रकट होकर रात-दिन उसी [के कल्याण] के लिए नाना प्रकार के उपाय करता रहता है। अत: [हे पार्थ!] तुम मन, कर्म और वचन से अर्थात् अत्यन्त प्रसन्न हृदय से उसी की शरण हो जाओ तो उसकी कृपा से जो परम शाश्वत एवं अभय है, उस परमशान्तिमय श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर लोगे।

कहनो हुतों सो कहि दियों अति गुह्यतम यह ज्ञान जू।
बहु समुझि बूझि जो करन होवे करहु स्वयं सुजान जू॥
सुनु बीर द्रौपदि केर चीर हरन न अब पुनि होय जू।
सच बात मोरी पार्थ अब तौ जागहू कै सोय जू॥

हे पार्थ! यह अत्यन्त गुह्यतम ज्ञान तुम्हें देकर मुझे जो कुछ भी कहना था वह सब कुछ कह दिया; तो भी तुम अच्छीप्रकार सोच-विचारकर जो करना हो करो क्योंकि तुम स्वयं बुद्धिमान हो। किन्तु हे वीर! एक बात तुम और सुन लो कि द्रौपदी चीरहरण अब पुन: नहीं होगा, यह मेरी सच्ची प्रतिज्ञा है, अब तुम चाहे सजग हो जाओ या प्रमाद करो।

सोरठा— मौन भये सुनि पार्थ बहु निज पन तिय चीर लखि।
महाराज परमार्थ जगि जनु लख कौरव सबहिं॥ ६३॥

महाराज का कहना है कि ऐसा सुनकर महात्मा अर्जुन अपनी बहुत सी प्रतिज्ञाओं एवं द्रौपदी चीर-हरण का स्मरणकर मौन हो गये। मानो परमार्थ नामक पुरुष जागकर कौरवों की ओर देखने लगा हो।

चौपाई— बरु ममता ओखलि हुति मोटी। अर्जुन प्रस्न रज्जु भइ छोटी॥
पर नहिं बाँधि सके भगवानहिं। मौन भये तब परम सुजानहिं॥

भले ही अर्जुन की ममतारूपी ओखली अत्यन्त मोटी थी किन्तु उनकी प्रश्नरूपी रस्सी छोटी पड़ गयी, अत: वे भगवान नारायण को नहीं बाँध सके, उसके उपरान्त महत् बुद्धिमान अर्जुन सहसा मौन हो गये।

किंकर्तब्य बिमूढ़ भयो मन। जासों निरखत प्रभुहिं परम धन॥
कछु न कहाय हरिहिं पहिचानी। एक भये तन मन उर बानी॥

उनका मन किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया जिससे वे वहाँ एकमात्र परम ऐश्वर्यमय भगवान को देखते ही रह गये। भगवान को पहचान लेने पर उनसे कुछ कहा नहीं जा रहा है; क्योंकि उस समय उनके 'तन, मन, वचन और हृदय' एक हो गये हैं।

जसुमति माँ प्रभु बाँधन चाहीं। आधहु बाँधि सकी सो नाहीं॥
बाँधन चह पुनि कालिय नागा। सर्‌यो न कालिन्दी तजि भागा॥

प्रभु को सर्वप्रथम माँ यशोदा ने बाँधना चाहा था, किन्तु वे आध-अधूरा भी न बाँध सकीं। पुनः कालियनाग ने भी बाँधना चाहा किन्तु वह भी सफल न हुआ और यमुनाजी को छोड़कर भाग गया।

दुर्योधनहु सक्यो नहिं बाँधी। सोइ अब बँध्यो चली अस आँधी॥
यह तौ बात अलग भइ भाई। लये पार्थ सों रज्जु छड़ाई॥

दुर्योधन भी इन्हें बाँध नहीं सका बल्कि ऐसी आँधी चली कि अब स्वयं वही बँध गया। हे भाइयो! यह बात अलग है कि भक्त अर्जुन से रस्सी छीनकर -

तासोइँ बाँधि लिये तिन्ह साईं। पार्थ लखहिं बालक की नाईं॥
रज्जु सोइ कृष्णायन अहई। संत जाहि सों माया गहई॥

भगवान ने उससे उन्हें ही बाँध लिया है और भक्त अर्जुन बालक की भाँति उन्हें देख रहे हैं। वही रस्सी 'कृष्णायन' कहलाती है जिससे सन्तजन माया को अपने वश में कर लेते हैं।

दोहा— नाचति माया बानरी संत भगत बस होय।
कृष्णायन गहि लख मरम देखन चाहत जोय॥ ६४॥

जिससे वह माया सन्तों और भक्तों के वशीभूत होकर बन्दरी की भाँति नाचती रहती है, जो इस रहस्य को देखना चाहता है वह इस 'कृष्णायन' को हाथ में लेकर (अपनाकर) देख सकता है।

चौपाई— घेरि लिये ऐसे यदुराई। अर्जुन सों कहुँ भग्यो न जाई॥
पस्चाताप घोर उर छायो। अहो मूढ़ मैं कहाँ ठगायो॥

भगवान यदुनाथ ने महात्मा अर्जुन को इस प्रकार घेर लिया है कि उनसे कहीं भागते नहीं बनता। अब उनके हृदय में घोर पश्चात्ताप होने लगा कि अहो! मैं मूर्ख कहाँ ठगा गया था।

भीष्म द्रोण लखि मन अस आयो। मैं तो इनसों बहुत ठगायो॥
परम धरमधुरि इन कहँ मान्यों। यासों इनसों अति भरमान्यों॥

[उस समय] पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण आदि गुरुजनों को देखकर उनके मन में आया कि मैं तो इन लोगों से बहुत ठगा गया। मैंने इनको ही धर्म में सबसे बढ़ा-चढ़ा मान लिया था इसी कारण इनके द्वारा बहुत भ्रमित किया गया।

जासों निज साँइहिं नहिं जान्यों। अबलौं इन्हि लौकिक नर मान्यों॥
बनि पंडित कियों बहु उपदेसा। जदपि साँच ये ईसहु ईसा॥

जिससे मैं अपने स्वामी को ही नहीं पहचान सका और मैं मूर्ख इन्हें अब तक साधारण मनुष्य ही मानता रहा। इतना ही नहीं, पण्डित बनकर इन्हें ही मैंने बहुत उपदेश किया जबकि ये ईश्वरों के भी ईश्वर हैं।

बहु प्रलाप जो कियों अनैसे। छमा होयेगो सो सब कैसे॥
सहज न मान्यों बहुत मनाये। मोहिं निरखि बहु लाज लजाये॥

जो मैंने बहुत-सा अन्यथा बकवास किया है, वे सब अपराध कैसे क्षमा होंगे! भगवान के बहुत मनाने पर भी मैं सहजता से नहीं माना। अरे! मुझे देखकर तो लाज को भी लाज आ जायेगी।

सोरठा— पर न लाज लगि मोय ज्ञान बघारत हरिहिं सन।
मो सम अधम न कोय अब का करउँ न सूझ मग॥ ६५॥

किन्तु भगवान नारायण के सामने ज्ञान बघारते हुए मुझे लज्जा भी नहीं लगी। अरे! मेरे समान नीच पुरुष तो कोई है ही नहीं। अब मैं करूँ भी तो क्या करूँ, मुझे तो कोई मार्ग ही नहीं सूझ रहा है?

चौपाई— गुडाकेस चित गति लखि साँईं। बोल पड़े सदगुरु की नाईं॥
करहु बिषाद न मोहिं न रोसा। बीर अबहुँ बस तोरि भरोसा॥

भक्त अर्जुन के चित्त की ऐसी दशा देखकर [दयानिधान] भगवान सद्गुरु के समान बोल पड़े कि हे वीर! तुम शोक-सन्ताप मत करो क्योंकि मुझमें तो [तुम्हारे व्यवहार के प्रति] अंशमात्र भी रोष नहीं है अपितु अभी भी मुझे तुम्हारे ऊपर ही विश्वास है।

तुम्ह अतिसय प्रिय मो जग माहीं। यासें कछुक तुम्हहिं भय नाहीं॥
मो सम सुहृद न जगत तुम्हारो। तुम्हसों स्वारथ कछु न हमारो॥

तुम मुझे जगत में अतिशय प्रिय हो, इसलिए अब तुझे कुछ भी भय नहीं है। तुमसे मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है, हाँ [मैं यह कहता हूँ कि] इस जगत में मुझसे बढ़कर तुम्हारा कोई सुहृद भी नहीं है।

जेहि बिधि तोर परम हित होई। मम कर्तब्य आज सुनु सोई॥
देन चहउँ मैं आतमज्ञाना। आवहु सरण लेहु बरदाना॥

हे प्रिय! सुनो! आज मेरा वही कर्तव्य है जिससे तुम्हारा परम कल्याण हो। मैं तो तुम्हें आत्मज्ञान देना चाहता हूँ, अत: शरणागत होकर उस वरदान को ले लो।

यासों सर्ब गूढ़ सों गूढ़ा। तात सुनहु पुनि परम निगूढ़ा॥

इसलिए समस्त गोपनीयों में भी जो गोपनीय तत्त्व है, हे अर्जुन! उस परम रहस्यात्मक विषय को पुन: सुनो-

दोहा— मन तो अहई एक ही बस्यो जहाँ परिवार।
गुरु पितु मातु बंधु सुत तिय हित मित संसार॥ ६६ (क)॥

मन तो एक ही है, जिसमें परिवार के लोग, गुरु, माता-पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, हित-मित्ररूपी संसार बसा हुआ है-

सोरठा— जिन महँ कछुक न सारु मायामय मम रूप ये।
मन सों इनहिं बिसारु पुनि मैं साँच लखाउँ तुव॥ ६६ (ख)॥

जिन लोगों में अंशमात्र भी सार तत्त्व नहीं है क्योंकि ये मेरे ही मायामय रूप हैं। इसलिए इन्हें तुम मन से त्याग दो फिर मैं तुम्हें यथार्थ रूप दिखाऊँगा।

चौपाई— मन लगाउ अब मोमेइ भाई। मेरोइ भगत बनहु हरषाई॥
मम सरणे होइ पद गहि मेरो। करहु अस्तुती मोरि घनेरो॥

हे प्रिय! अब मुझमें ही मन लगाओ और प्रसन्नता के साथ मेरे ही भक्त बन जाओ तथा मेरे शरणागत होकर, मेरे चरणों को पकड़कर, मेरी ही हर प्रकार से स्तुति करो।

एहि छन त्यागि सुभासुभ धर्मा। मेरोइ चाकरि करु यहि कर्मा॥
एकइ करम एक ब्रत नेमा। मो तजि चहउ न योगहु क्षेमा॥

इस समय तुम शुभ और अशुभ धर्मों (कर्तव्य कर्मों) का त्याग करके एकमात्र मेरी ही सेवकाई करो तुम्हारे लिए एकमात्र यही कर्म है। तुम्हारा एक ही कर्म, एक ही व्रत, एक ही नियम हो कि तुम मुझे छोड़कर योग और क्षेम भी न चाहो।

सरणागत रक्षक मोहिं जानी। दीनबंधु अरु सर्बसु दानी॥
प्रभु सम मोर न कोउ हितकारी। अस मन महँ अब गुनद गुहारी॥

मुझे शरणागत रक्षक, दीनबन्धु एवं सब कुछ देने वाला जानकर तथा भगवान के समान मेरा कोई हितैषी नहीं है- अब अपने मन में ऐसा समझते हुए मेरे गुणों की गुहार लगाओ (स्मरण करो)।

जानि सृष्टि सब माया मोरी। सब नाते अब मोसों जोरी॥
सर्ब ब्रह्म हुंकार भराई। आवहु सरणे लखि मोहिं साँई॥

[इतना ही नहीं] सम्पूर्ण सृष्टि को मेरी माया समझकर तथा समस्त व्यावहारिक नातों को एकमात्र मुझसे ही जोड़कर 'सब कुछ ब्रह्म ही है'- ऐसा हुंकार भरते हुए, मुझे ब्रह्म समझकर मेरी शरण में आ जाओ।

सोरठा— तू अतिसय प्रिय मोहिं यासों सत पन आज करुँ।
पार्थ मिलेंगो तोहिं संसय एहि महँ नाहिं कछु॥ ६७ (क)॥

हे पार्थ! तुम मुझे अतिशय प्रिय हो, इसलिए आज मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं तुम्हें अवश्य प्राप्त होऊँगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

सब पापन्ह सों मुक्त तात करउँ मैं तुम्हहिं सच।
करि जगसोंहु बिमुक्त अवसि देउँ तुम्ह ब्रह्मपद॥ ६७ (ख)॥

[इतना ही नहीं] हे पार्थ! मैं तुझे समस्त पापों से सच में मुक्त कर दूँगा तथा जगत से संन्यासी बनाकर निश्चित ही ब्रह्मपद दे दूँगा।

चौपाई— अब लगि भजेउ स्वजन समुदाई। पिता पितामह गुरुजन भाई॥
तिन्ह महँ पिता दिये बिनु ज्ञाना। गये स्वर्ग लै निज अज्ञाना॥

तुमने अब तक स्वजनों, पिता-पितामहों और गुरुजनों का भजन किया है। उनमें तुम्हारे पिता तुम्हें आत्मज्ञान दिये बिना अपने अज्ञान को साथ लेकर स्वर्ग चले गये।

देखु पितामह गुरुजन तेरो। भये बिपक्षी आज घनेरो॥
इनकेइ सरण गहे दिन राती। गायो इनकेइ गुन गन पाँती॥

और देखो! तुम्हारे पितामह और गुरुजन आज तुम्हारे बहुत बड़े विपक्षी हो गये हैं। तुम इनकी ही दिन-रात शरणागति स्वीकार किये हुए थे तथा इनके ही गुणों का बखान करते रहते थे।

मिल्यो काह इनसों दिखरावहु। यासों कहउँ सरण मम आवहु॥
यहइ दसा तिय सुत परिजन प्रति। भजत रहे पर सांति न मन मति॥

इन लोगों द्वारा तुम्हें क्या मिला, मुझे दिखाओ। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि तुम मेरी शरण में आ जाओ। यही स्थिति स्त्री, पुत्र और सम्बन्धियों के प्रति भी थी, जिनका तुम भजन करते रहते थे किन्तु मन और बुद्धि में शान्ति नहीं थी।

झूँठ नेह पुनि काह लगावहु। मम पद गहहु सबै कछु पावहु॥
आत्मज्ञान तन मन दै पाये। जानहु ऋषि मम धाम सिधाये॥

फिर उन सबसे तुमने झूठा स्नेह क्यों लगा रखा है, अरे! मेरी शरण में आ जाओ, फिर तो तुम सर्वस्व पा जाओगे। हे प्रिय! तुम जानते ही हो कि कई ऋषियों ने मुझे तन-मन देकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया और मेरे धाम को प्राप्त हो गये।

दोहा— तुम्हहु अर्पि मोहिं तन मनहिं लै बर आतमज्ञान।
महि बिचरहु यति श्रेष्ठ बनि तजहु सोक अभिमान॥ ६८॥

अतः तुम भी अपने शरीर एवं मन को मुझे समर्पित करके [उसके बदले मुझसे] परम श्रेष्ठ आत्मज्ञान लेकर, श्रेष्ठ संन्यासी हो इस पृथ्वी पर विचरण करो, अब शोक और [मैं शरीर हूँ या मेरा शरीर है- इस] अहंकार को छोड़ दो।

चौपाई— होय जबहिं तुम्हरो तन मेरो। कछु न करैं ब्रह्मास्त्र घनेरो॥
ब्रह्म असनि एहि पहिं जो धावे। नमस्कार करि तिन्ह पहिं जावे॥

हे पार्थ! जब तुम्हारा शरीर मेरा हो जायेगा तब असंख्य ब्रह्मास्त्र भी इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। यदि ब्रह्माजी का वज्र भी इसकी ओर आता है तो वह भी नमस्कार करके उनके (ब्रह्माजी के) ही पास लौट जायेगा।

बायब्यास्त्रसू आग्नेयास्त्रहू। बरुन अस्त्र अरु पृथिब्यास्त्रहू॥
करि न सकत कछु एहिकर सपुनें। करि दर्सन गृह जायें अपुनें॥

[इतना ही नहीं] वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र और पृथिव्यास्त्र भी स्वप्न में भी इसका कुछ नहीं कर सकते, अपितु दर्शन करके अपने निवास स्थान को चले जायेंगे।

चौदहु भुवन त्रिलोकहु माहीं। कोउ दिब्यास्त्र न जे हन याहीं॥
एहि तें सोक तजहु सब भाई। धनु गांडीव गहहु हरषाई॥

हे प्रिय! चौदह भुवन और तीनों लोक में कोई भी ऐसा दिव्यास्त्र नहीं है, जो इसका वध कर सके। इसलिए शोक को पूर्णतः त्याग दो और प्रसन्नतापूर्वक गाण्डीव (धनुष) उठा लो।

दोहा— मन बिनु सोक न मोह कछु होहिं आतमा माहिं।
यातें मागउँ ताहि मन जीव धरम तुव जाहिं॥ ६९॥

हे प्रिय! बिना मन के आत्मा (पुरुष) में शोक-मोह हो ही नहीं सकता इसलिए अब मैं उसी मन को माँगता हूँ जिससे तुम्हारा जीवधर्म चला जाय।

चौपाई— बसत याहि मन स्वजन पियारे। गुरुजन हित मित सुहृदहु सारे॥
माया मैं तू मेरो तेरो। काम क्रोध सब बसत घनेरो॥

इसी मन में तुम्हारे सभी प्रिय सगे-सम्बन्धी, गुरुजन, हित-मित्र और समस्त सुहृद वास करते हैं तथा माया की प्रतिमूर्ति मैं-तू, मेरा-तेरा, काम-क्रोध आदि भी वास करते हैं।

पंच बिषय एहि माहिं बिराजें। यामेइ पंच बृत्ति उपराजें॥
यामेइ चारि अवस्था भाई। प्रगटति जीव गहत हरषाई॥

इसी मन में पाँचों विषय वास करते हैं तथा इसमें ही पाँचों वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। हे प्रिय! इसमें ही जीव की चारों अवस्थाएँ प्रकट होती हैं, जिन्हें जीव [प्रमादवश] प्रसन्नता के साथ स्वीकार करता है।

सृष्टि बिलास सकल मन केरो। यामेइ पार्थ नाम रुप डेरो॥
एहि मन जबहिं मोहिं तुम्ह देहू। आत्मरूप अब्यय लखि लेहू॥

हे पार्थ! नाम और रूप का वासस्थान इसी मन में है तथा सम्पूर्ण सृष्टि का विलास एकमात्र इसी मन का है। इस मन को जब तुम मुझे दे दोगे तब अपने अव्यय आत्म स्वरूप को देख लोगे।

पुनि न दीख मो बिनु इहँ कोऊ। एक रूप होवहिं हम दोऊ॥
अर्जुन भये प्रभुहिं बस ऐसे। चातक स्वाति नखत के जैसे॥

फिर तो तुम्हें यहाँ मेरे अतिरिक्त कोई दीखेगा ही नहीं; क्योंकि हम दोनों एक रूप ही हो जायेंगे। भक्त अर्जुन भगवान नारायण के वश में ऐसे हो गये जैसे चातक स्वाती नक्षत्र के वश में -

चक्रवाक जिमि रबि बस भाई। अरु कुरंग बस ध्वनी सुहाई॥
जिमि तन के बस छाया मानहु। नीर अधीन मीन जस जानहु॥

चकवा चकवी सूर्य के वश में, हिरण मधुर ध्वनि के वश में, छाया तन के वश में और मछली जल के वश में।

क्यों न होयँ जगपति बस पारथ। साँच जीव कर यहि परमारथ॥
बात परंतप अब मम माने। अस लखि प्रभु अतिसय हरषाने॥

महात्मा अर्जुन जगत्पति भगवान के वश में क्यों न हों, क्योंकि सच में जीव का यही परमार्थ है। भगवान ने जब जान लिया कि अर्जुन ने मेरी बात अब स्वीकार कर ली तो ऐसा देखकर अन्तर्यामी भगवान अति प्रसन्न हो गये।

दोहा— आइ समर सों साधु सँग बैठि कहत महराज।
मो पहिं बच्यो न मरम कछु जाहि सुनावउँ आज॥ ७०॥

युद्धभूमि से आकर सन्तों के मध्य बैठकर महाराज कह रहा है कि अब तो मेरे पास कहने को कोई भी रहस्य नहीं बचा जिसे मैं आप सबको सुनाऊँ।

चौपाई— कहनो हुतो जे प्रभु कहि दीन्हें। तिन्हकर कथन जो अबहुँ न लीन्हें॥
अहउँ भगत सो कस कह भाई। लखहु न कबहुँ तासु परिछाई॥

हे सज्जनो! प्रभु ने तो जो कहना था वह सब कुछ कह दिया किन्तु अभी भी जिसने उनके सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया वह कैसे कहता है कि मैं भगवान का भक्त हूँ! उसकी तो कभी आप छाया भी न देखें।

तन मन बचन ब्रह्म के आहीं। स्वजन धनहु मानउ निज जाहीं॥
जबहिं इनहिं तुम्ह लिये दुकाई। आत्मसुरति सो तुम्हरि छुपाई॥

आपने भी जिन स्वजनों, सम्पत्ति तथा तन, मन, वचन को अपना मान लिया है, वे सभी एकमात्र ब्रह्म के ही हैं। आपने जैसे ही इन्हें छिपाया, वैसे ही उसने आपकी आत्मस्मृति को छिपा लिया।

ताहि बस्तु आजहि तुम्ह देहू। आत्मरूप पुनि वासें लेहू॥
कोउ अपराध गुनत नहिं तुम्हरो। महाराज समुझावे सम्हरो॥

अत: उसकी वस्तु आप आज ही लौटा दें और फिर उससे अपनी आत्मरूपता ले लें। वह तो आपका कोई भी

अपराध समझता ही नहीं है, इसलिए महाराज कह रहा है कि आप अभी भी सावधान हो जायँ।

नहिं तव जीवन जाइ नसाईं। मुसक स्वान पसु पक्षिन्ह नाईं॥
तुम्ह नहिं दसग्रिव कंस समाना। जिन्हि बध हेतु होय प्रभु आना॥

अन्यथा आपका जीवन ऐसे नष्ट होगा जैसे कि चूहे, कुत्ते एवं पशु-पक्षियों का होता है। अरे! आप तो रावण एवं कंस के समान भी नहीं हैं जिनके वध के लिए [स्वयं] भगवान जगत में अवतरित होते हैं।

दोहा— जिन्हकी निंदा तुम्हहु तो करत रहत दिन रात।
पर उन्हके सम अंसहू अहउ न साँची बात॥ ७१॥

जिनकी निंदा आप भी तो दिन-रात करते ही रहते हैं किन्तु यथार्थ बात तो यह है कि उनके समान तो आप अंश मात्र भी नहीं हैं।

चौपाई— उननैं तो नहिं गुरु पितु माने। पर तुम्ह मानि प्रभुहिं का जाने॥
गुरु पितु मातुहिं मानन वारे। को जग महँ जेहि हरि न दुलारे॥

उन्होंने तो गुरु, पिता आदि की अवहेलना की परन्तु आपने उन्हें मानकर क्या भगवान को जान लिया है! अरे! जगत में ऐसा कौन हुआ है, जिसने गुरु और माता-पिता आदि का सम्मान किया हो और उसे भगवान ने प्रेम न किया हो।

यासें ढोंग करहु जनि भाई। तन मन देइ गहउ हरिराई॥
महाराज की बिनती योई। भाव जे तुम्हहिं करहु अब सोई॥

अत: हे मित्रो! आप ढोंग न करें बल्कि शरीरसहित मन को देकर भगवान के शरणागत हो जायँ। महाराज की तो यही प्रार्थना है, अब आपको जो अच्छा लगे वही करें।

रथारूढ़ अब हरिहिं निहारौ। काह कहत करि उपसंघारौ॥
पार्थ ब्रह्मबिद्या यहि अहई। हिय कर सकल अबिद्या दहई॥

अब उधर रथ पर आसीन भगवान नारायण की ओर देखें कि उपसंहार करते हुए वे क्या कह रहे हैं। भगवान कह रहे हैं कि हे पार्थ! यह [मेरी गीता] ब्रह्मविद्या कही जाती है, जो हृदय में स्थित समस्त अविद्या को जला देती है।

एहि प्रगटायों तव हित कारन। जग भगतन्ह कर सब भय हारन॥
देति ब्रह्मपद जो सरणागत। गुरु के चरनकमल गहि माँगत॥

जिसे मैंने तुम्हारे हित के लिए प्रकट किया है जो जगत के सम्पूर्ण भक्तों के [जन्म-मृत्यु रूप] भय को दूर करने वाली है। जो सद्गुरु के शरणागत होकर उनके चरण कमलों का आश्रय लेकर इस [ब्रह्मविद्या] को माँगता है, उसे यह ब्रह्मपद दे देती है।

दोहा— अस मर्यादा याहि की गुरु बिनु प्रगटति नाहिं।
पालहिं नहिं एहि मूढ़ जे जनमि जनमि बिनसाहिं॥ ७२॥

हे प्रिय! इसकी यही मर्यादा है कि यह सद्गुरु के बिना प्रकट नहीं होती। अत: जो मूढ़ पुरुष इस [मर्यादा] का पालन नहीं करते, वे [जगत में जन्म लेकर] बारम्बार नष्ट होते रहते हैं।

चौपाई— कितनोहु घोर तपस्वी होवे। पर सदगुरु पद कमल न धोवे॥
ताकहँ नाहिं सुनावै कबहूँ। निज हित प्रान देइ बरु जबहूँ॥

[इसलिए इस ब्रह्मविद्या रूपी गीता शास्त्र को] भले ही कोई कितना भी घोर तपस्वी हो किन्तु सद्गुरु के चरणों की उपासना न करता हो तो उसको कभी भी न सुनाये, भले वह अपने लिए प्राण ही देने वाला क्यों न हो।

तपसी भगत होय बरु दोऊ। किंतु सुनन चाहत नहिं ओऊ॥
वाकोहु भक्त सुनावे नाहीं। तेहि छन तेहि पहिं जान न चाहीं॥

भले कोई तपस्वी और भक्त दोनों ही हो किन्तु वह सुनना ही नहीं चाहता हो तो उसे भी भक्त न सुनाये; क्योंकि उस समय यह ब्रह्मविद्या उसके पास जाना नहीं चाहती।

मोहि लखत प्राकृत नर नाईं। मान न ब्रह्म अनामय साईं॥
कहउँ अहउँ अब्यय अबिनासी। नित सर्बज्ञ सकल उर बासी॥

उसी प्रकार जो मुझे सामान्य मनुष्यों की भाँति [जन्मने-मरनेवाला] समझता है, अनामय परब्रह्म परमात्मा नहीं मानता तथा मैं जो यह कहता हूँ कि मैं ही अव्यय, अविनाशी, नित्य, सर्वज्ञ, सबके हृदय में वास करने वाला परमात्मा हूँ-

एहि लखि समुझत यहि का हंसा। कृष्ण करइ जो आत्मप्रसंसा॥
सहि न सकत अस प्रभुता मोरी। कहत रहत जग महँ बहु खोरी॥

ऐसा देखकर वह समझता है कि यह कृष्ण आत्मप्रशंसा मात्र कर रहा है, क्या जगत में यही एकमात्र हंस के समान है! इस प्रकार मेरी प्रभुता को सहन नहीं कर पाता और इसी कारण जगत में बहुत भला-बुरा कहता रहता है-

दोहा— ताकोहु नाहिं सुनाय यह अतिहिं गुप्त बर ज्ञान।
सब गुन सों सम्पन्न बरु होय देत जग मान॥ ७३॥

हे परम बुद्धिमान अर्जुन! उसे भी यह अतिशय गुप्त श्रेष्ठ ज्ञान न सुनाये, भले ही वह अन्य सभी गुणों से सम्पन्न हो जिसके चलते उसे जगत में लोग सम्मान देते हों।

चौपाई— जेहि उर मम सब भक्तिहिं लक्षण। एहि जग सोई भगत बिलक्षण॥
अतिहिं मुदित मन ताहि सुनावे। परम गुप्त जो ज्ञान कहावे॥

किन्तु जिस पुरुष में मेरी भक्ति के समस्त लक्षण हैं, वही इस जगत में विलक्षण भक्त है। अत: जो यह परम गुप्त ज्ञान कहा गया है, उसे अत्यन्त प्रसन्न मन से सुनाना चाहिए।

ऐसो करत गुनै मन माहीं। प्रभु सेवउँ मम स्वारथ नाहीं॥
एहि कर फल भव सिंधु नसावे। बिनु प्रयास मुक्ती फल पावे॥

ऐसा करते हुए वह मन में यह समझे कि मैं भगवान की ही सेवा कर रहा हूँ, इसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है। इसका फल यह होगा कि उसके लिए संसाररूपी सागर सूख जायेगा और वह बिना प्रयास के ही मुक्ति फल प्राप्त कर जायेगा।

संसय एहि महँ करइ न कोऊ। जेहि महँ बिमल भक्ति उर होऊ॥
अतिसय प्रिय नित करनै वारो। तेहि सम नहिं जग कोउ हमारो॥

कोई भी इस बात में संशय न करे। जिसके हृदय में निर्मल भक्ति है उसके समान तो जगत में कोई भी हमारा प्रिय कार्य करने वाला नहीं है अर्थात् वही मेरा सबसे प्रिय कार्य करने वाला है।

तासों प्रियतर भविषहुँ कोऊ। साँच कहउँ मेरो नहिं होऊ॥
यह प्रिय मम तव बर संबादा। परम धर्ममय हरत बिषादा॥

[इतना ही नहीं] मैं सत्य कहता हूँ कि भविष्य में भी उसके समान मेरा प्रिय करने वाला कोई नहीं होगा। हे पार्थ! तुम्हारा और मेरा यह संवाद परम धर्ममय है, जो समस्त विषाद को पूर्णत: दूर कर देता है।

दोहा— पाठ करै एहि सास्त्र बर जो दृढ़ नेम बनाइ।
मैं पूजित होउँ ज्ञान सों मम निस्चय सुनु भाइ॥ ७४॥

अत: जो अत्यन्त कठोर नियम बनाकर इस सर्वश्रेष्ठ शास्त्र का पाठ करेगा तो उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा, हे प्रिय! सुनो, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

चौपाई— सुनइ निरक्षरहू श्रद्धायुत। पुनवानन्हि कर पाय लोक पुत॥
अब तू पार्थ बतावहु भाई। का यह सास्त्र सुने मन लाई॥

[यहाँ तक कि] यदि अनपढ़ भी अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होकर इसे सुनेगा तो वह भी पुण्यवानों के पवित्र लोकों को प्राप्त होगा अर्थात् उनके समान ही लोकों को प्राप्त होगा। हे प्रिय पार्थ! अब तुम यह बताओ कि क्या इस ज्ञान को तुमने मन लगाकर सुना?

महामोह द्रुम काह नसाई। जो अज्ञान भूमि प्रगटाई॥
जेहि हित परम ज्ञान तोहिं दीन्हों। दोउ बाहिनि अस्तम्भित कीन्हों॥

हे प्रिय! जो अज्ञानरूपी भूमि से प्रकट हुआ था, तुम्हारा वह महामोहरूपी वृक्ष क्या नष्ट हो गया, जिसके लिए [शंख बजने के बाद भी] दोनों ही सेनाओं को स्तम्भित करके मैंने तुम्हें इस परम ज्ञान को सुनाया है?

सकुनी दुर्योधन बिकलाये। बिबस भये कछु नाहिं बसाये॥
यहउ पराजय उन्हकीं ताता। करि न सके कछु जारें गाता॥

शकुनि और दुर्योधन तो विकल होते रहे क्योंकि वे विवश हो गये थे, उनकी कुछ भी न चली। हे प्रिय! यह भी उनकी पराजय ही है कि अपना हृदय जलाते रहे किन्तु कुछ कर न सके।

सुनत दयानिधि बचन अमोले। अर्जुन आपुनि चुप्पिहिं खोले॥
हे अच्युत तव कृपा प्रसादा। मिट्यो सकल उर मोह बिषादा॥

दयानिधि भगवान नारायण के अमूल्य वचनों को सुनकर महात्मा अर्जुन ने अब अपनी चुप्पी खोल दी [और कहा]- हे अच्युत! आपके कृपारूपी प्रसाद से मेरे हृदय का समस्त मोह और विषाद मिट गया।

अस्तुति करउँ काह बिधि साँई। अहो दये मोहिं निज दरसाई॥
अस कहि अस्तुति गावन लागे। नभ सुर सिध बहु बिधि अनुरागे॥

हे प्रभो! आज आपने अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन कराकर मुझे कृतार्थ कर दिया है। अतः अब मैं आपकी स्तुति किस प्रकार करूँ। ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन भगवान की स्तुति करने लगे जिसे सुनकर आकाश में स्थित देवता एवं सिद्ध अत्यन्त प्रेम में मग्न हो गये।

छंद— ॐ आनन्दमयमानन्दमयं च शान्तिमयमशान्तिमयम्।
वेदमयमवेदमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
भूतमयमभूतमयं च जगतमयमजगतमयम्।
देवमयमदेवमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे अन्तर्यामी! आप निर्गुण निराकार होते हुए भी भक्तों, सन्तों, ऋषि-मुनियों द्वारा इस सृष्टि में ॐ नाम से जाने जाते हैं। आप आनन्दमय एवं निरानन्दमय, शान्तिमय-अशान्तिमय और वेदमय-अवेदमय रूप वाले हैं। हे सनातन परम पुरुष! दृश्य-अदृश्य प्राणी, जगताजगत, देव एवं अदेव रूप भी आप ही हैं। मैं कहाँ तक कहूँ, समस्त रूप तो आपके ही हैं, अतः मुझ भक्त की रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

प्राणिमयमप्राणिमयं च नाड़िमयमनाड़िमयम्।
घ्राणमयमघ्राणमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
यज्ञमयमयज्ञमयं च मंत्रमयममंत्रमयम्।
सिद्धमयमसिद्धमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे दयानिधि! आप ही प्राणी स्वरूप, अप्राणि स्वरूप, आप ही नाड़ि स्वरूप एवं अनाड़ि स्वरूप, घ्राण स्वरूप एवं अघ्राण स्वरूप तथा आप ही यज्ञ स्वरूप एवं अयज्ञ स्वरूप, मंत्र स्वरूप एवं अमंत्र स्वरूप, सिद्ध स्वरूप एवं असिद्ध स्वरूप हैं। इस प्रकार हे सर्वस्वरूप परमेश्वर! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

तत्त्वमयमतत्त्वमयं च सत्त्वमयमसत्त्वमयम्।
सत्यमयमसत्यमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
सृष्टिमयमसृष्टिमयं च दृष्टिमयमदृष्टिमयम्।
वृष्टिमयमवृष्टिमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे पुरुषोत्तम! तत्त्व-अतत्त्व, सत्त्व-असत्त्व, सत् तथा असत्, सृष्टि-असृष्टि, दृष्टि-अदृष्टि, वृष्टि एवं अवृष्टि इन सभी रूपों में आप ही विद्यमान हैं। हे सर्वरूप प्रभु! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

वृत्तिमयमवृत्तिमयं च धृतिमयमधृतिमयम्।
कृतिमयमकृतिमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

भक्तिमयमभक्तिमयं च शक्तिमयमशक्तिमयम्।
मतिमयममतिमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे योगेश्वर! वृत्तियुक्त-वृत्तिहीन, धारण करने योग्य एवं न धारण करने योग्य, रचित-अरचित, भक्ति-अभक्ति, शक्ति-अशक्ति, बुद्धि गम्य एवं बुद्धि से परे, इन सभी रूपों में आप ही विराजमान हैं। ऐसे विभिन्न रूपों में प्रकट होने वाले सर्वरूप प्रभु मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

पुराणमयमपुराणमयं च शास्त्रमयमशास्त्रमयम्।
ग्रंथमयमग्रंथमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
वरदानमयमवरदानमयं च शापमयमशापमयम्।
तापमयमतापमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे जगत्पते! प्राचीन एवं अर्वाचीन, शास्त्र एवं अशास्त्र, सद्ग्रंथ एवं असद्ग्रंथ, वरदान एवं अवरदान, शाप एवं आशीर्वाद, ताप एवं तापहीन इन सभी रूपों में तो आप ही विद्यमान हैं, अत: हे सर्वरूप प्रभु! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

तपोमयमतपोमयं च व्रतोमयमव्रतोमयम्।
जपोमयमजपोमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
क्षुधामयमक्षुधामयं च तृषामयमतृषामयम्।
सुधामयमसुधामयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे भक्तवत्सल! तपयुक्त एवं तपहीन, संकल्पवान एवं संकल्पहीन, जप एवं जपहीन, भूखे एवं तृप्त, तृषित एवं सन्तृप्त, अमृत एवं विष सभी रूप तो आप ही के हैं, अत: हे सर्वरूप प्रभु! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

वैराग्यमयमवैराग्यमयं च रागमयमरागमयम्।
त्यागमयमत्यागमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
योगमयमयोगमयं च भोगमयमभोगमयम्।
रोगमयमरोगमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे सच्चिदानन्द! वैराग्य एवं आसक्ति रूप, राग-रागहीन, त्याग एवं ग्रहण, योग तथा वियोग, भोग-भोगहीन, रोग एवं नीरोग इन सभी रूपों में आप ही प्रकट हैं। ऐसे सर्वरूप धारण करने वाले प्रभु मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

धर्ममयमधर्ममयं च कर्ममयमकर्ममयम्।
विकर्ममयमविकर्ममयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
ज्ञानमयमज्ञानमयं च ध्यानमयमध्यानमयम्।
मोक्षमयममोक्षमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे पतित पावन! धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, विकर्म-सुकर्म, ज्ञान-अज्ञान, ध्यान-अध्यान, मोक्ष एवं बन्ध इन सभी रूपों में आप ही प्रकट हैं, ऐसे सर्वरूप धारण करने वाले प्रभु मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

मित्रमयममित्रमयं च शत्रुमयमशत्रुमयम्।
सुहृदमयमसुहृदमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥
शीतमयमशीतमयं च उष्णमयमउष्णमयम्।
मानमयमपमानमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

हे करूणा सागर! मित्र-अमित्र, शत्रु-अशत्रु, सुहृद-असुहृद, शीत-अशीत, उष्ण-अउष्ण, मान एवं अपमान इन सभी रूपों में आप ही विद्यमान हैं, अत: हे प्रभो! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

देहमयमदेहमयं च मनोमयममनोमयम्।
चित्तमयमचित्तमयं च सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

प्रकृतिमयमप्रकृतिमयं च अहमहमहंमयम्।
पुरुषमयमपुरुषमयं च परमपुरुष हे रक्ष माम्॥

हे दीनानाथ! शरीरी-अशरीरी, मन-अमन, चित्त-अचित्त सभी रूप तो आप के ही हैं। हे सर्वशक्तिमान्! प्रकृति एवं प्रकृति से परे, अहंकार-निरहंकार, पुरुष-अपुरुष आदि रूपों में प्रकट होने वाले हे परम पुरुष! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

महाराजः राजः राजमयं सुख शान्तिं च ज्ञानप्रदम्।
महाराजमयं नित्यानन्दं सर्वमयं हे रक्ष माम्॥

महाराज भी कहता है कि परम ब्रह्म परमेश्वर के ये रूप अत्यन्त रहस्यमय हैं, इनके रहस्य को जानने से सुख-शान्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है। महाराज प्रभु के इन रहस्यमय रूपों को जानकर नित्य आनन्दमग्न रहता है और सर्वरूप, सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे अन्तर्यामी! मेरी रक्षा करें! रक्षा करें! रक्षा करें।

छंद— प्रभु सोक संसय मोह उर कानन हुते प्रगटाय जे।
ज्ञानाग्नि अस चहुँ दिसि जलाये तव कृपा सों दहाय जे॥
आतम सुरतिहू दै किये मो सम अनाथ सनाथ जू।
पालउँ बचन आज्ञा करहु तव पदकमल मम माथ जू॥

पुनः भक्त अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! मेरे हृदय में शोक, संशय, मोह आदि के जंगल प्रकट हो गये थे, उसके लिए आपने चारों दिशाओं से ऐसी ज्ञानाग्नि जलायी कि आपकी कृपा से वे सभी [वन] जल गये। आज आपने आत्मस्मृति प्रदान कर मुझ जैसे अनाथ को सनाथ कर दिया है। हे नाथ! अब मैं आपके चरण कमलों का सेवक हूँ, आप जो आज्ञा करेंगे उसका पालन करूँगा।

मैं आज जान्यों नाथ तव अबिगत गती नहिं लखि परे।
तजि बिपिन तपसिन्ह समर महँ मोसोहुँ सम ज्ञानी करे॥
भूखो मरे केहरि कबहुँ पौरुष अतिहिं बल पाय जे।
अजगर किये उद्यम बिना सम्पूर्ण उदर भराय जे॥

हे नाथ! आज मैं समझ गया कि आपकी अव्यक्त गति का रहस्य जाना नहीं जा सकता क्योंकि वनों-पर्वतों में तपस्या करने वाले अनेक तपस्वियों को छोड़कर युद्धभूमि में मुझ जैसे [अज्ञानी] को आपने ज्ञानी बनाया है। [यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे] अत्यन्त बल और पौरुष से सम्पन्न शेर भी कभी भूखा मरने लगता है और अजगर का बिना परिश्रम किये ही पूरा पेट भर जाता है।

कबहूँ सिला उतराय जल कबहूँ डुबत तृन ताहि महँ।
जब बिकल भइ कल्यानि प्रगटे चीर बनि तुम्ह ताहि तहँ॥
हे कंस केसी दल मथन सिसुपाल काल कराल जू।
जान्यों मनुज तन प्रभु छिपे अब असुर दहि जग पाल जू॥

कभी तो पत्थर की शिला जल पर तैरती है तो कभी उसमें एक तिनका भी डूब जाता है। [मैंने तो देखा है कि] जब कल्याणी द्रौपदी भरी सभा में विकल हो गयी तो आप उसी [के वस्त्र] में वस्त्र बनकर प्रकट हो गये। हे केशी तथा कंस को सेनासहित मार डालने वाले, हे शिशुपाल के काल- हे महाकाल! मै समझ गया कि आप मनुष्य रूप में छिपे हुए परमेश्वर ही हैं और अब आप समस्त असुरों का वध करके जगत की रक्षा करने वाले हैं।

हे सगुन निर्गुन ब्रह्म ब्यापक तव सरण महँ आइके।
निज रूप अज अब्यय सनातन मुदित हौं अब पाइके॥
आज्ञा नकार्‌यों प्रथम जो हे छमासिंधु छमा करौ।
पदकमल महँ बिनती यहइ मम हृदय चित्त रमा करौ॥

हे सगुण और निर्गुण स्वरूप! हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आपकी शरण में आकर अब मैं अपने 'अजन्मा, अमर,

अव्यय और सनातन' स्वरूप को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। हे क्षमा के सागर! अबतक मैंने [मोह के वशीभूत होकर] आपकी जो कुछ भी अवज्ञा की है, उन सभी के लिए मुझे क्षमा करें। आपके पादपद्मों में मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे चित्त और हृदय में आप सदा रमण करते रहें।

सोरठा— पुलकित तन मन पार्थ गहे धाइ गांडीव बर।
मनहु प्रगटि परमार्थ आज्ञा माँगत युद्ध कर॥ ७५ (क)॥

[उसके उपरान्त] आनन्द से पुलकित तन-मन के द्वारा जितेन्द्रिय आजानबाहु महात्मा अर्जुन ने अति शीघ्रता से श्रेष्ठ गाण्डीव धनुष को उठा लिया, मानो परमार्थ नामक पुरुष प्रकट होकर प्रभु से युद्ध की आज्ञा माँग रहा हो।

दोहा— सकुनी दुर्योधन सकल रथी महारथि जोय।
लखहिं परस्पर ताहि छन कहि न सकहिं कछु कोय॥ ७५ (ख)॥

[ऐसा देखकर] शकुनि, दुर्योधन तथा अन्य जो भी रथी-महारथी हैं, वे उस समय परस्पर एक-दूसरे की ओर देख रहे हैं, कोई भी कुछ कह नहीं पा रहा है।

चौपाई— सुर मुनि सिद्धहु भये मगन अति। बिसरि आपु मन अहं चित्त मति॥
परम प्रेम पूरन मुनि ब्यासहु। भये पुरान अष्टदस भासहु॥

[आकाश स्थित] देवता, महर्षि, सिद्ध आदि भी अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भूलकर अत्यन्त प्रेम में मग्न हो गये। मुनिवर व्यास भी परम प्रेम से परिपूर्ण हो गये हैं क्योंकि उनके अठारह पुराणों का भाष्य हो गया है [अर्थात् वेदों का भाष्य अठारह पुराण हैं और पुराणों का सार श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्याय हैं]।

अस ठिठुके गुरु द्रोण पितामह। लखहिं पार्थ प्रभु कछुक नाहिं कह॥
अस्वारोही इक पल माहीं। होइ सचेत कर्ण पहिं आहीं॥

आचार्य द्रोण एवं पितामह भीष्म भी ऐसे स्तम्भित हो गये कि वे कुछ भी न कहते हुए एकमात्र प्रिय अर्जुन और भगवान को देख रहे हैं। [उस समय] एक अश्वारोही एक पल में ही सजग होकर दानवीर कर्ण के पास आया-

ठिठुकनि सबकी ताहि सुनायो। सुनत सोउ दृग तहइँ जमायो॥
हनूमान प्रभु पार्थ निहारी। आपुनि सुधि बुधि गये बिसारी॥

और सभी रथी-महारथी स्तम्भित हो गये हैं ऐसा कह सुनाया। ऐसा सुनते ही वह भी अपनी आँखों को उसी की आँखों में जमा बैठा। [उधर] हनुमानजी भी भगवान नारायण और महात्मा अर्जुन को देखकर अपनी सुध-बुध खो बैठे।

अस छबि लखि त्रेता सुधि आई। रावन लखनहिं दियो गिराई॥
तब प्रभु कहे उठहु मम भ्राता। महाकाल भक्षक तुम्ह ताता॥

ऐसी छवि को देखकर उन्हें त्रेतायुग की सुधि हो आयी। जब रावण ने महात्मा लक्ष्मण को [रणभूमि में] मूर्च्छित कर दिया था, तब प्रभु श्रीराम ने कहा- उठो! मेरे भइया! उठो! हे प्रिय! तुम तो महाकाल का भी भक्षण करने वाले हो।

दोहा— सुनत उठे धनु गहि कहे दसकंधर कहँ आहि।
प्रभु पद बिमुख बिमूढ़ जो आज निपातउँ ताहि॥ ७६ (क)॥

ऐसा सुनते ही वे उठ खड़े हुए और धनुष-बाण उठाकर बोल पड़े कि दुरात्मा रावण कहाँ है, भगवान के चरणों से विमुख उस मूढ़ को आज मार गिराऊँगा!

महाराज कह जगत सों हनूमान सम कोय।
होइ यती अति श्रेष्ठ बस प्रभु हित जीयत जोय॥ ७६ (ख)॥

महाराज तो जगत के सारे लोगों से कह रहा है कि परम पूज्य हनुमानजी जैसा कौन है जो अति श्रेष्ठ संन्यासी होकर [उन्हीं के समान] एकमात्र भगवान के लिए ही जी रहा हो!

चौपाई— को तिन्ह सम ज्ञानी बिज्ञानी। कोउ न जितेंद्रिय अरु बर ध्यानी॥
कोउ न उन्हहिं सम बुद्धि बिसारद। सिव अज बिष्नु कहत मुनि नारद॥

उनके समान ज्ञानी-विज्ञानी कौन है ? नहीं-नहीं ! उनके समान कोई श्रेष्ठ ध्यानी, जितेन्द्रिय और बुद्धि में कुशल भी नहीं है, जैसा कि भगवान ब्रह्मा, विष्णु और महेश एवं मुनिवर नारद भी कहते हैं।

उन्ह सम कोउ न समाधी वारो। जो सुख प्रभु हित देत बिसारो॥
सिद्ध संत को तिन्ह सम भाई। जिन्हकीं सिधि सब प्रभु हित गाई॥

उनके समान तो कोई समाधि वाला भी नहीं है। अरे ! ऐसा कौन है, जो भगवान के निमित्त उस [दिव्य समाधि] के सुख को त्याग दे। हे सज्जनो ! उनके समान जगत में सिद्ध सन्त भी कौन है जिनकी समस्त सिद्धियाँ एकमात्र प्रभु के ही काम आती हैं ! ऐसा कहा गया है।

प्रभु सन्मुख पहुँचावन वारो। कोउ न जगत जेहि सहज पुकारो॥
तिन्ह सम कोउ नहिं प्रभु अनुरागी। जपी तपी त्यागी बैरागी॥

उसी प्रकार उनके समान जगत में भगवान के सामने पहुँचाने वाला भी कोई नहीं है जिसे सहज में पुकारा जाय तथा उनके समान कोई जपी, तपी, त्यागी और विरागी भी नहीं है, जो उनके समान प्रभु चरणों का अनुरागी हो।

बटु यति धर्म पालि दिखरावत। कहत करत जो अस प्रभु भावत॥
जो पूछत को श्रेष्ठ कहावे। कर्म ज्ञान कै दोउ लखावे॥

वे ब्रह्मचारी एवं संन्यासी के धर्मों का पालन करके दिखा रहे हैं और मानो कह रहे हैं कि जो ऐसा करेंगे वे ही भगवान नारायण को प्रिय लगेंगे। जो पूछता है कि कौन श्रेष्ठ कहा जाता है, कर्म अथवा ज्ञान या दोनों ?

छंद— ताकोइ उत्तर देत ते संन्यासि बटु बनि जगत महँ।
नहिं श्रेष्ठ कोउ बर ज्ञान सम संन्यासहू जेहि कहत यहँ॥
यहि सार प्रभु मत कहत यति बर अस कहत महराजहू।
एहि गहत जो हरि भगत बर यहि राज कौहू राजहू॥

उसी का वे (हनुमानजी) संन्यासी और ब्रह्मचारी बनकर जगत में उत्तर दे रहे हैं कि ज्ञान के समान कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है जिसे यहाँ संन्यास भी कहा जाता है। भगवान की वाणी [श्रीमद्भगवद्गीता] का सार भी यही है, ऐसा ही श्रेष्ठ संन्यासी भी कहते हैं और ऐसा ही महाराज भी कह रहा है। जो भगवान के अतिशय प्रिय भक्त हैं वे इसी सिद्धान्त को ग्रहण करते हैं, यही रहस्य का भी रहस्य है।

प्रभु पार्थ यति दीक्षा दिये जस जागबलिक जनक दये।
भए भगत मन दै जबहिं अर्जुन कौरवादि छनक गये॥
ते भिनभिनावें माखि इव मधुहार कौन्तेयहिं निरखि।
अरु डरत उर जनु हिरन सम लखि सिंघ आयो अति हरषि॥

भगवान ने [अपने परम प्रिय शिष्य] भक्त अर्जुन को संन्यास की दीक्षा वैसे ही दी जैसे ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ने जनक को दी थी। अपना मन देकर महात्मा अर्जुन जैसे ही [भगवान के] भक्त बने वैसे ही कौरव तथा उनके मित्र आदि छनक गये अर्थात् चिढ़ गये तथा वे अर्जुन को मधु निकालने वाले के समान देखकर मधुमक्खियों की भाँति भिनभिनाने लगे और हिरणों के समान मन में ऐसे डर गये मानो कोई शेर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उनके बीच आ गया हो।

सोरठा— उत संजयहिं नरेस कह तव प्रान न डोल कछु।
ऐसो का निर्देस कृष्ण गुडाकेसहिं दये॥ ७७॥

उधर सञ्जय से राजा धृतराष्ट्र कह रहे हैं कि हे सञ्जय ! मधुसूदन ने अर्जुन को ऐसी कौन-सी आज्ञा दे दी, जिससे तुम्हारे प्राण ही रुक गये हैं ?

चौपाई— औरउ एहि छन का लख भाई। ताहि मोहिं सच देहु बताई॥
जो कछु भयो सुनाये संजय। नृपहिं सुनत उर बहुत भयो भय॥

तथा हे प्रिय ! तुम इस समय और क्या देख रहे हो, उसे भी मुझसे स्पष्टतः बताओ। जो कुछ भी हुआ था उसे सञ्जय ने सुना दिया जिसे सुनकर राजा धृतराष्ट्र के हृदय में अत्यधिक भय [व्याप्त] हो गया।

संजय अभय कहहिं हरषाई। भक्त लाज राखे हरिराई॥
सदा सवाँरत काज भगत कर। जगनिवास नहिं मान जगत कर॥

सञ्जय अभय होकर पुनः प्रसन्नता के साथ कह रहे हैं कि हे राजन्! भगवान ने भक्त [अर्जुन] की लाज रख ली। ये कृपानिधान जगत की कभी भी नहीं सुनते अपितु सदा भक्तों का ही कार्य बनाते रहते हैं।

ग्राह मारि जो गजहिं बचाये। नृप सोइ प्रभु अवतरि इहँ आये॥
नरहरि रूप जो गहे भगत हित। सोइ प्रगटे हरि अस मोरे चित॥

हे राजन्! जिन्होंने ग्राह को मारकर गज की रक्षा की थी, वे ही प्रभु यहाँ अवतरित होकर आये हुए हैं। जिन्होंने भक्तों के कल्याण के लिए नरसिंह रूप धारण किया था, वे ही नारायण यहाँ प्रकट हुए हैं, ऐसा मुझे दिखायी दे रहा है।

द्रौपदि चीर बढ़ावन वारे। सोइ प्रभु अर्जुन सोक निवारे॥
सुर कारज बपु बामन धारी। ताहि इहाँ कह स्याम मुरारी॥

जिन्होंने [आपकी वधू] द्रौपदी का चीर बढ़ाया था, उन्हीं प्रभु ने आज अर्जुन का शोक-सन्ताप दूर कर दिया है। जिन्होंने देवताओं का कार्य करने के लिए वामन रूप धारण किया था उन्हीं भगवान को यहाँ 'श्याम, मुरारी आदि' नामों से पुकारा जाता है।

दोहा— बाली रावण सरिस बहु बधे राम रुप धारि।
मत्स्य बराहहु रूप गहि जे महि किये उधारि॥ ७८ (क)॥

राम रूप धारणकर जिन्होंने बालि एवं रावण के समान बहुत-से असुरों का वध किया, जिन्होंने मत्स्य-वाराह रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया-

कंस केसि चाणूर बधि बधे नृपति सिसुपाल।
सोइ रन इत उत चितव प्रभु महाकाल कर काल॥ ७८(ख)॥

जिन्होंने केशी, कंस एवं चाणूर का वध करके राजा शिशुपाल का वध किया, वे ही काल के काल महाकाल भगवान युद्धभूमि में इधर-उधर देख रहे हैं।

चौपाई— सदगुरु ब्यास कृपा बरसायो। जासों मैं प्रभुहीं लखि पायो॥
जो मेटत हिय सकल बिषादा। हरि अरु महाबाहु संबादा॥

सद्गुरु मुनिवर व्यास ने ऐसी कृपा बरसायी जिससे मैं भगवान को पहचान पाया और जो हृदय के शोक-सन्ताप को मिटाने वाला भगवान नारायण और महात्मा अर्जुन का संवाद है-

जो रोमांचक बिस्मय कारक। सुन्यों सोइ पावन भव तारक॥
जाको स्वयं कृष्ण भगवाना। गोपनीयँ महुँ गुप्त बखाना॥

जो रोमांचकारी और आश्चर्यचकित करने वाला, अति पावन और संसार से मुक्त कर देने वाला है, उसे भी सुना जिसे स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने गोपनीयों में भी अति गोपनीय कहा है।

पुन्यसील हरि अर्जुन चर्चा। अदभुत सुमिरि सुमिरि करुँ अर्चा॥
पुनि पुनि हर्षउँ रोकि न पावउँ। हे नृप कस अस प्रभु गुन गावउँ॥

भगवान एवं भक्त अर्जुन का यह दिव्य संवाद अत्यन्त धर्मयुक्त और आश्चर्यमय है, जिसको पुनः पुनः स्मरण करके उसकी वन्दना कर रहा हूँ तथा पुनः पुनः अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हो रहा हूँ, अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ। हे राजन्! ऐसे कृपालु भगवान का गुणानुवाद कैसे करूँ!

सुमिरि बिस्वरूपहु अस पुनि पुनि। तेहि अदभुत सों अदभुत कहुँ गुनि॥
हर्ष समाय न नृप उर माहीं। सकल जगत बिस्मृत भयो जाहीं॥

ऐसे विश्वरूप भगवान का पुनः पुनः स्मरण करके, उस रूप को आश्चर्य का भी आश्चर्य कह रहा हूँ। हे राजन्! अब हर्ष हृदय में समा नहीं रहा है, जिससे सारे जगत की पूरी तरह विस्मृति हो गयी है।

छंद— का बहुत अब राजन कहउँ जिहिं पक्ष हरि योगेस्वरः।
मतिमान सरनागत भगत जहँ पार्थ श्रेष्ठ धनुर्धरः॥

तहँही बिजय श्री भूति नीतिहु अचल रह निस्चित लखौं।
यासों न अधिक लखाय मोहिं जासों नृपति इतनोइँ भखौं॥

हे राजन्! अब मैं आप से बहुत क्या कहूँ, क्योंकि जिस पक्ष के साथ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ बुद्धिमान शरणागत भक्त श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन हैं उसी पक्ष में सम्पूर्ण विजय, लक्ष्मी, विभूतियाँ और अचल नीति भी है- ऐसा निश्चित ही मैं देख रहा हूँ। अत: हे राजन्! मुझे इससे कुछ विशेष नहीं दिखायी दे रहा है, जिससे मैं इतना ही कह रहा हूँ।

महराजहू तस कस कहे जस अहइ बर कृष्णायनम्।
महिमा अगाध अबाध देखइ पराभक्तिहिं दायनम्॥
जेहि नमत अज सिव सेष सारद पठत पाठत साधुजन।
सुर असुरहू कहँ प्रान सम नित तुम्हहु जू अवराधु मन॥

महाराज भी इस 'कृष्णायन' की जैसी महिमा है वैसा कैसे कह सकता है, क्योंकि इसकी महिमा तो वह अथाह और अबाध देख रहा है, जो पराभक्ति देने वाली है, जिसे ब्रह्मा, शिव, शेष, सरस्वती आदि नमस्कार करते हैं तथा साधु-सन्त पठन-पाठन करते हैं। यह देवताओं और असुरों को भी प्राणों के समान प्रिय है, आप सदा मन से इसका आश्रय लें।

मैं साँच कहुँ मम सदगुरू अवगुनन्हि गुन नहिं कछु लखे।
बस पाठ करु गीता अहर्निस ध्यान सों योई भखे॥
ता दिन सों नहिं कियों जोग जप कर बिमल बेदहु नहिं गह्यों।
भवसिंधु तरि याकी कृपा अब भाषि कृष्णायन कह्यों॥

मैं सत्य कहता हूँ कि मेरे गुरुदेव ने मेरे गुणों-अवगुणों को कुछ भी नहीं देखा [अर्थात् उन पर विचार नहीं किया]। बस उन्होंने इतना ही कहा कि इस गीताजी का दिन-रात ध्यानपूर्वक अर्थात् चिन्तन के साथ पाठ किया करो। उस दिन से मैंने योग-जप आदि कुछ भी नहीं किया और न विमल वेदों का स्वाध्याय ही किया तो भी अब इसी की कृपा से भवसागर पारकर इसका भाष्य 'कृष्णायन' कह रहा हूँ।

अबलौं बहुत सुर असुरहू अरु प्रेत पितरहु तरि गये।
दहि कलिमलहिं दै योगछेमहु अस बखान जु करि गये॥
बिस्वास करि सब आस तजि उर गहि बिमल कृष्णायनम्।
बर भक्तिप्रद निर्वाणप्रद नित्यहि करहु पारायनम्॥

अबतक बहुत-से देवता, असुर, पितर एवं प्रेतादि [इसके माध्यम से] मुक्त हो गये हैं जिससे वे ऐसी बड़ाई कर गये हैं कि यह कृष्णायन कलियुग के पापों को जलाकर योगक्षेम को भी पूरा कर देने वाला है। इसलिये अत्यन्त विश्वास के साथ समस्त आशाओं को त्यागकर हृदय में विमल कृष्णायन को धारणकर इसका नित्यप्रति पारायण करें, जो भक्ति एवं निर्वाण को देने वाला है।

दोहा— मन नहिं जाये अनत प्रभु तुम्ह जस भगतन्हि ध्याव।
मैं तस ध्यावउँ तुम्हहिं बस कृष्ण कृष्ण उर आव॥ ७९॥

हे प्रभो! ऐसी कृपा करें कि मेरा मन अब कहीं अन्यत्र न भटके बल्कि आप जिस प्रकार अपने भक्तों को स्मरण करते रहते हैं, मैं भी उसी प्रकार एकमात्र आपका ही स्मरण करता रहूँ और सदा हृदय से कृष्ण-कृष्ण ही प्रकट होता रहे।

छंद— महाराज कृतं गीता भाष्यं वर गुण मन्दिरं यः कृष्णायनम्॥
एष ज्ञानमयं च योगमयं संन्यासमयं च धर्मायनम्।
ध्यानमयं विज्ञानमयं परमाक्षरं च अक्षरायनम्॥
राजयोगमयं च विभूतिमयं वर भक्तिमयं विश्वरूपायनम्।
क्षेत्रज्ञमयं त्रिगुणातीतं पुरुषोत्तमं च सर्वायनम्॥

दैवि सम्पदमयं सत्त्व श्रद्धामयं तप त्यागमयं च सत्यायनम्।
आनन्दमयं च शान्तिमयं अति प्रेममयं च ओमायनम्॥
निर्वाणमयं निज त्राणमयं अगुणायनं च सगुणायनम्।
आगम निगमं सच्चिदानन्दं व्रत जपोमयं च मंत्रायनम्॥
एष राधा परा शक्ति ब्रह्म रूपिणीं देवकी मातु वसुदेव जनकायनम्।
मातु यशुदा प्रियं नन्दबाबामयं गोपगोपीमयं उग्रसेनायनम्॥
उल्लघ्यं मायां अगाधं अगाधं यः शोक पीडितं बहुः पाण्डुपुत्रायनम्।
मुक्त कृत्वा अयच्छत अक्षरपदं तं नमामि नमामि वृष्ण्यायनम्॥

महाराज प्रणीत गीताजी का यह भाष्य 'कृष्णायन' समस्त दिव्य गुणों का भण्डार है। यह ज्ञानयोग और संन्यास रूप तथा धर्म स्वरूप भी है। यह ध्यानमय, विज्ञानमय तथा अक्षर एवं परमअक्षर रूप भी है। इसमें राजयोग, विभूतियोग, विश्वरूपयोग, भक्तियोग, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोग, त्रैगुण विभाग, पुरुषोत्तम आदि सभी योगों का समावेश है। यह दैवी सम्पद, श्रद्धा, त्याग, तप, सत्य, प्रेम तथा ॐमय होने से परम आनन्दमय और परम शान्तिमय है। सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिये आगम-निगम में वर्णित व्रत, जप, मंत्र आदि जितने साधन हैं सभी इसमें समाहित हैं, यह भाष्य ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का बोध कराकर माया के बन्धन से मुक्त करके निर्वाण (मोक्ष) पद देने वाला है।

यह भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की पराशक्ति स्वरूपिणी भगवती श्रीराधा का जाग्रत विग्रह है तथा भगवान कृष्ण के माता-पिता भगवती देवकी एवं महात्मा वसुदेव के वात्सल्य का अनुपम वासस्थल है। कहाँ तक कहा जाय यह भाष्य भगवतीस्वरूपा माता यशोदा एवं प्रेम मूर्ति बाबा नंद, गोप-गोपियों एवं महाराज उग्रसेन का भी साक्षात् स्वरूप है। जिसके द्वारा वृष्णि कुलभूषण भगवान श्रीकृष्ण ने अत्यन्त शोक से पीड़ित पाण्डु पुत्र महात्मा अर्जुन को अति अगाध माया का उल्लंघन करा कर उसके बन्धन से मुक्त कर दिया और बिना माँगे ही परम अक्षर पद दे दिया। ऐसे महिमामय भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को बार-बार नमस्कार है! नमस्कार है! नमस्कार है।

मासपारायण, तीसवाँ विश्राम
नवाह्नपारायण, नवाँ विश्राम

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादान्तर्गते महाराजकृत श्रीकृष्णायन गीताभाष्यं मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

हरिः ॐ तत्सत्

श्रीकृष्णायनजी की आरती

उतारुँ आरती श्रीकृष्णायन की।
जगत सुरति श्रीराधायन की॥

आरती उतारें सिद्ध सुर सारे, नारद सारद सेष सम्हारे।
गंधर्व किन्नर जाहि पे वारे, प्रान संत मुनि हरि भक्तन की॥

आरती उतारें सम्भु चतुरानन, नर नारी गृह साधक कानन।
सगरे आगम निगम पुरानन, ज्ञान बिराग भगति दायन की॥

आरती उतारें पूज्य ब्यास मुनि, पुलकित तन मन ब्रह्मविद्या गुनि।
सगुन ब्रह्म एहि कहँ कहि पुनि पुनि, पार्थ निमित हरि बर बायन की॥

भव भय टारन पतित उधारन, काम क्रोध लोभादिक मारन।
सदगुरु प्रिय जो लहत अकारन, महाराज बर मुक्ति दायन की॥

मैं इस श्रीकृष्णायन नामक दिव्य शास्त्र की आरती उतार रहा हूँ जो जगत की स्मृति स्वरूप ब्रह्मविद्यामयी साक्षात् भगवती श्रीराधा के रूप में ही प्रकट है। मैं ऐसे दिव्य शास्त्र की आरती उतार रहा हूँ जिसकी आरती देवर्षि नारद, भगवती सरस्वती, जगदाधार शेषनाग के साथ-साथ समस्त देवी-देवता एवं सिद्धगण अति प्रेम मग्न होकर उतारा करते हैं। इतना ही नहीं गन्धर्व, किन्नर आदि भी जिस पर अपने आपको न्योछावर किये रहते हैं तथा जो सन्तों एवं प्रभु भक्तों का साक्षात् प्राण ही है।

मैं ऐसे दिव्य शास्त्र श्रीकृष्णायन की आरती उतार रहा हूँ जिसकी आरती आशुतोष भगवान शंकर के साथ-साथ सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी अपने चारों मुख से करते हैं। जिसकी आरती गृहस्थाश्रम में प्रभु भक्त स्त्री एवं पुरूषों के साथ-साथ वनप्रदेश में प्रभु प्राप्ति के निमित्त जप-तप करने वाले जपी-तपी एवं योगीजन भी उतारा करते हैं। अरे ! यह ऐसा दिव्य शास्त्र है जो परम ज्ञान वैराग्य एवं अनपायनी भक्ति को देनेवाला है, अतः इसकी आरती समस्त समृतियाँ, वेद एवं पुराण भी उतारा करते हैं।

मैं ऐसे श्रीकृष्णायन नामक दिव्य शास्त्र की आरती उतार रहा हूँ जिसकी आरती ब्रह्मविद्या विशारद परम पूज्य महर्षि व्यास पुलकित तन, मन, वचन और हृदय से अत्यन्त आनन्दित होकर उतारा करते हैं। इतना ही नहीं वे मुनिवर इस श्रीकृष्णायन नामक दिव्य शास्त्र की आरती इसे बार-बार सगुण ब्रह्म कहते हुए तथा महात्मा अर्जुन के बहाने भगवान नारायण के द्वारा सम्पूर्ण जगत को वितरित किया जाने वाला दिव्यातिदिव्य मधुर प्रसाद समझकर उतारा करते हैं।

मैं ऐसे 'श्रीकृष्णायन' नामक दिव्य ग्रन्थ की आरती उतार रहा हूँ जो जन्म-मृत्युरूपी जगतभय को दूर करने वाला, काम, क्रोध, एवं लोभादिक शत्रुओं को मारकर शरण में आये हुये पतित भक्तों का उद्धार करने वाला है। अरे! इस दिव्य शास्त्र की महिमा को कहाँ तक कहा जाय, जो भक्त अपने सद्गुरु का प्रिय पात्र है वह इसका रहस्य सहज ही प्राप्त कर लेता है जो महाराज के मतानुसार कैवल्य मुक्ति देने वाला है।

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

ॐ आनन्दमय **ॐ शान्तिमय**

जिस प्रकार शरीर पर वस्त्र होते हैं जिन्हें समयानुसार बदल दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार यह शरीर भी जीवात्मा पर वस्त्र के समान होता है, जो बचपन से जवानी में, जवानी से बुढ़ापे में, बुढ़ापे से मृत्यु में, मृत्यु से पुनर्जन्म में बदलता रहता है, किन्तु जीवात्मा जो बचपन में रहता है वही जवानी में रहता है, जो जवानी में रहता है वही बुढ़ापे में रहता है, जो बुढ़ापे में रहता है वही मृत्यु में रहता है, जो मृत्यु में रहता है वही पुनर्जन्म में रहता है क्योंकि वह अजर है, अमर है, शाश्वत है, सनातन है, पुरातन है, अव्यय है, अविनाशी है, घट-घटवासी और सुख की राशि है। अतः आज से गुरु आदेशानुसार मैं अपने आपको शरीर न मानकर आत्मा, जीवात्मा, अन्तरात्मा मानूँगा तथा जानूँगा/मानूँगी तथा जानूँगी।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मनः प्रबोधः

अहं सर्वः रूपः तन धन च हे मन कुतः त्वम्।
अहं वायुरग्निः नभ रवि च शशि च कुतः त्वम्॥
धरारूपः आपः अहं मम च त्वं तव कुतः त्वम्।
अहं स्त्रष्टा द्रष्टा विविध विभव भावाः कुतः त्वम्॥१॥

अहं योगः लग्नः दिन मास वर्षः च युगतरम्।
अहं शास्त्रः वेदः पुराणं पुराणं च स्मृतयः॥
अहं सारं सारः असारमपि सारः जगतयोः।
अहं योगी भोगी जप तप नियम च कुतः त्वम्॥२॥

अहं स्त्री पुरुषः स्वजन परजन मित्र वैरीः।
अहं रुग्णः स्वस्थः अन्धश्च बधिरः तु मूकगणाः॥
अहं पंगुः लूलः वामन च लम्बुश्च कृशतनुः।
अहं सर्वः रूपः कुतः मन कुतः मन कुतः त्वम्॥३॥

अहं पशवः विहगाः नर सुर च पितरः च नागः।
अहं यातुः यक्ष भूतादयः गन्धर्व सर्वः॥
अहं ऋद्धिः सिद्धिः नवनिधि सुविज्ञः शुभकला।
अहं पृच्छामि त्वां गमिष्यसि कुतः आगता कुतः॥४॥

अहं शीतोष्णादिः सुख दुःख च रागादि द्वन्द्वः।
अहं जन्मः मृत्युः जाग्रत् च स्वप्नः तु सृष्टि॥
अहं द्रष्टा दृष्टिः दृश्यति अदृश्यति सृष्टि सर्वः।
अहं पृच्छामि त्वां वदसि न किं मन कुतः त्वम्॥५॥

अहो धिक्कारः त्वां प्रकटसि न मौनं साध्यसि किम्।
अहो निर्लज्जः त्वं करसि प्रहारं पृष्ठतः सदा॥
अहं अन्तः किन्तु दृक्ष्यसि तव पुरस्तादथ पृष्ठतः।
अहं पृच्छामि त्वां किं प्रयोजनं आगमतुम्॥६॥

अहो साधु संता मिथ्यं मन प्रेतः न देह गेहे।
तथा एषः भासति यथा व्याल रज्जौ भवति भ्रम॥
इति युक्तं तत्त्वः महाराजया सत्यसत्यम्।
अहं सर्वः रूपः हे मन त्वमासीः न क्वचिदपि॥७॥

ॐ आनन्दमय

ॐ शान्तिमय

प्रार्थना

हे मुरलीधर हे धरनीधर । सरणागत पर अबहुँ कृपा कर॥
जय यदुनंदन यसुदानंदन । कृपा करहु भक्तन्ह उर चंदन॥
जय बसुदेव देवकी नंदन । स्वीकारहु मेरोहु अभिनंदन॥
जय करुनाकर काम निकंदन । पद सरोज तव पुनि पुनि बंदन॥
जय भक्तन्ह अज्ञान बिभंजन । सकल दोष दुख दारुन गंजन॥
जय छबि सोभा धाम निरंजन । भानु सोक संसय तम भंजन॥
जय भक्तन्ह संतन्ह दृग अंजन । उन्हके हृदय करहु बहु रंजन॥
जय सुर सिद्धनि मुनिन्ह दिब्य धन । प्रनत माथ धरि दास अकिंचन॥
जय मुकुंद माधव जय जय हरि । जय गोबिंद गोपाल असुर अरि॥
दुष्ट दलन जय प्रभु अगतिनि गति । प्रनतपाल संतन्ह भक्तन्ह पति॥
जय सिसुपाल काल सिर खंडन । पांडव अश्वमेध बर मंडन॥
हिरनाकुस तन हृदय बिदारन । जय प्रहलाद भगत निस्तारन॥
जय बसुदेव देवकी रंजन । जय भक्तन्ह उर कलुष निकंदन॥
जय गोकुल ब्रजपति गिरिधारी । महि गो भक्त बिप्र हितकारी॥
कौरव मान उतारन हारे । द्रौपदि चीर बढ़ावन वारे॥
बालि दसाननहू संहारक । कुम्भकरन घनगर्जन हारक॥
खर दूषन त्रिसिरादिहु नासक । जय भूपाल परम अनुसासक॥
जय जय राधा आदिसक्ति पति । जय सरणागत भक्तन्ह मति गति॥

जयति सच्चिदानंदघन जय प्रभु परम उदार।
आयों तव चरननि सरन मोहिं करहु भवपार॥

स्वरूपं दर्शनं

भजु निजरूपं भजु निजरूपं भजु निजरूपं दूरं दूरम्।
मायातीतं मायातीतं भजु निजरूपं दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

गृहात्दूरं ग्रामात्दूरं नगरात्दूरं दूरं दूरं,
स्वजनात्दूरं परात्दूरं वर्णात्दूरं दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

कर्मात्दूरं धर्मात्दूरं शुभात्दूरं अशुभात्दूरं,
भद्रात्दूरं क्रूरात्दूरं असुरात्दूरं दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

कामात्दूरं क्रोधात्दूरं लोभात्दूरं दूरं दूरं,
रागात्द्वेषात्दूरं दूरं भयात्मोहात्दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

मंत्रात्दूरं जंत्रात्दूरं तंत्रात्दूरं दूरं दूरं,
भोगात्दूरं योगात्दूरं रोगात्दूरं दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

वेदाद्दूरं यज्ञाद्दूरं तपात्दूरं दूरं दूरं,
व्रताद्दूरं देहाद्दूरं देहाद्दूरं दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

शीताद्दूरं उष्णात्दूरं मानापमानाद् दूरं दूरं,
सुखाद्दूरं दुःखाद्दूरं महाराज भजु दूरं दूरम्॥
भजु निजरूपं.....

यद्यपि सम्पुट के लिस चौपाइयों का चुनाव तो आप सब स्वयं ही कर लेंगे तो भी यहाँ पर कुछ चौपाइयों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनका सम्पुट के लिए उपयोग किया जा सकता है।

ऋषिहु कहत आपुहिं करुनानिधि। अस कठोर हिय भयो कवन बिधि॥

❋❋❋❋❋

मम हित गहहु बिरद की लाजा। कुलिस सरिस हिय तुम्हहिं न भ्राजा॥

❋❋❋❋❋

हे दयालु सरणागत रक्षक। महाकाल मम कालहिं भक्षक॥

❋❋❋❋❋

आरत हरु प्रभु आर्तजनन की। देहु मार्ग परमार्थ गमन की॥

❋❋❋❋❋

सबके हित लगि तव अवतारा। उन्ह महँ मोर उतारहु भारा॥

❋❋❋❋❋

सब जग सों आयउँ भयभीता। तुम्ह पितु मातु बंधु सच मीता॥

❋❋❋❋❋

भव सागर अब पार उतारहु। पतित उधारन नाम सम्हारहु॥

❋❋❋❋❋

दया करहु हे दीन दयाला। निज बालक पालहु प्रतिपाला॥

❋❋❋❋❋

प्रभु यह घोर बिपति भयदायक। याहि बिनासि करहु निज लायक॥

❋❋❋❋❋

कोमलचित कृपालु कहलावहु। हरहु बिपति अब नहिं बिकलावहु॥